यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०
मंत्री—प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ-समिति,
टीकमगढ़
(सी० आई०)

मूल्य
दस रुपया
अक्तूबर १९४६

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद





श्री नाथूराम प्रेमी

समर्पण

जिन्होंने अपनी विद्वत्ता और सतत
साधना से हिन्दी की अपूर्व
सेवा की है, उन्हीं
श्री नाथूराम जी
प्रेमी के कर-
कमलों
में



श्रद्धांजलि

[कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर

विषय-सूची

पृष्ठ

चित्र-सूची

* इस विभाग में स्फुट लेखों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लेख भी दिये गये हैं, जो देर से प्राप्त होने के कारण उक्त विभागों में नहीं जा सके।

पृष्ठ

आयोजना और उसका इतिहास

श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी को अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने का विचार वास्तव में उस दिन उदय हुआ, जब आदरणीय पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने श्री रामलोचनशरण विहारी की स्वर्ण-जयंती के अवसर पर प्रकाशित और श्री शिवपूजनसहाय जी द्वारा सम्पादित 'जयंती-स्मारक-ग्रंथ' आगरे के 'साहित्य-मण्डार' में देखा। लौट कर उन्होंने वह ग्रंथ पटने से मँगाया और हमें दिखा कर कहा कि ऐसे ग्रंथ के अधिकारी प्रेमी जी भी हैं, जिन्होंने हिन्दी की इतनी ठोस सेवा की है और जो विज्ञापन से सदा बचते रहे हैं। इसके कुछ ही दिन बाद जैन-पत्रों में समाचार छपा कि जैन-छात्र-संघ (काशी) की ओर से प्रेमी जी को एक अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया गया है। इस पर टीकमगढ़ के साहित्य-सेवियों की ओर से एक पत्र उक्त संघ को भेजा गया, जिसमें संघ से हम लोगों ने अनुरोध किया कि चूंकि प्रेमी जी हिन्दी-जगत् की विभूति हैं, अतः यह सम्मान उन्हें समस्त हिन्दी-जगत् की ओर से मिलना चाहिए। इस आशय का एक वक्तव्य हिन्दी के प्रमुख पत्रों में प्रकाशित हुआ। छात्र-संघ ने हमारी बात को स्वीकार कर लिया।

अभिनंदन के संबंध में हिन्दी के विद्वानों की सम्मति ली गई तो सभी ने उसका स्वागत करते हुए अपना सहयोग देने का वचन दिया। कतिपय विद्वानों और साहित्यकारों के उद्‌गार यहाँ दिये जा रहे हैं :

मैथिलीशरण जी गुप्त : "श्री नाथूराम जी प्रेमी के अभिनंदन का मैं हृदय से समर्थन करता हूँ। वे सर्वथा इसके योग्य हैं। ऐसे अवसर पर मैं उन्हें सप्रेम प्रणाम करता हूँ।"

पं० सुन्दरलाल जी : "मेरा हार्दिक आशीर्वाद इस शुभकार्य में आपके साथ है।"

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : "श्री नाथूराम जी प्रेमी के अभिनंदन के लिए जिस प्रबंध-संग्रह-ग्रंथ के तैयार करने की चेष्टा हो रही है, उसके साथ मेरी पूरी सहानुभूति है।"

पं० माखनलाल चतुर्वेदी : "श्रीयुत प्रेमी जी अभिनंदन से भी अधिक आदर और स्मरण की वस्तु हैं। आपके इस आयोजन से मैं सहमत हूँ। आपने श्रेष्ठतर कार्य किया है।"

श्री सियारामशरण गुप्त : "श्री नाथूराम जी प्रेमी को अभिनंदन-ग्रंथ अर्पित करने का विचार स्वयं अभिनंदनीय है। प्रेमी जी हिन्दी-भाषियों में सुरुचि और ज्ञान के अप्रतिम प्रकाशक हैं। उनका अध्यवसाय, उनकी कर्म-निष्ठा और उनका निरंतर आत्मदान अत्यन्त व्यापक हैं। इसके लिए सारा हिन्दी-समाज उनका ऋणी है। मेरी विनम्र श्रद्धा उनके प्रति सादर समर्पित है।"

श्री जैनेंद्रकुमार : "श्रद्धेय प्रेमी जी को अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने के विचार से मेरी हार्दिक सहमति है और मैं आपको इसके लिए बधाई देना चाहूँगा।"

श्री व्यौहार राजेन्द्रसिंह : "प्रेमी जी को अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने की बात सुन्दर है।"

डा० रामकुमार वर्मा : "श्रीमान् श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी को अभिनंदन-ग्रंथ देने के निश्चय के साथ मेरी पूर्ण सहमति और सद्भावना है। प्रेमी जी ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह स्थायी और स्तुत्य है।"

श्री देवीदत्त शुक्ल : "श्रीमान् प्रेमी जी का अवश्य अभिनंदन होना चाहिए। प्रेमी जी के उपयुक्त ही अभिनंदन का समारोह हो। प्रेमी जी के द्वारा हिन्दी के प्रकाशन में एक नई क्रांति हुई है। वे सुरुचि के ज्ञाता साहित्यिक भी हैं।"

श्री गुलाबराय : "हिन्दी के प्रति प्रेमी जी की जो सेवाएँ हैं, वे चिरस्मरणीय रहेंगी। उन्होंने व्यक्ति रूप

से जितना प्रकाशन-कार्य को आगे बढ़ाया है, उतना कोई संस्था भी नहीं कर सकती थी। उन्हें अभिनंदन-ग्रंथ दिया जाना उपयुक्त ही है।"

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी : "मैं आपके अभिनंदन-कार्य का अभिनंदन करता हूँ; क्योंकि वह एक साहित्यिक साधक को अर्घ्यदान देने का अनुष्ठान है।"

उपर्युक्त विद्वानों और साहित्यकारों के अतिरिक्त अन्य साहित्य-सेवियों ने, जिनमें श्रद्धेय बाबूराव विष्णु पराड़कर, रायकृष्णदास, डा० मोतीचंद, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य पद्मनारायण, श्री कृष्णकिंकरसिंह प्रभृति के नाम उल्लेखयोग्य हैं, इस प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन किया। जैन-विद्वानों में आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, मुनि जिनविजयजी, महात्मा भगवानदीन, पं० सुखलाल जी, डा० हीरालाल जैन, पं० बेचरदास जी० दोशी, प्रो० दलसुख मालवणिया, डा० ए० एन० उपाध्ये, पं० कैलाशचंद्र जी, पं० फूलचंद्र जी आदि ने भी इस आयोजना का पूर्ण स्वागत किया।

हिन्दी के कई पत्रों ने इस बारे में अपने विचार प्रकट किये। काशी के दैनिक **'संसार'** ने लिखा : "हिन्दी पर—हमारी मातृ-भाषा और राष्ट्र-भाषा पर—नाथूराम जी का जो उपकार-भार है, उसे हम कभी भी नहीं उतार सकेंगे। हमारा कर्तव्य है कि उनका अभिनंदन करने की जो योजना की गई है, उसमें हम यथाशक्ति हाथ बटावें और ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने पर उसका प्रत्येक साक्षर घर में प्रचार करें।"

शुभचिंतक (जबलपुर) : "श्री नाथूराम जी प्रेमी हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ लेखक और प्रकाशक हैं। उनकी हिन्दी-सेवा स्तुत्य है। बंगला का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी-भाषा-भाषियों को उनके प्रयत्नों से ही उपलब्ध हो सका है। इसके अतिरिक्त उनकी हिन्दी-सेवा भी अपना एक विशेष स्थान रखती है।"

जाग्रति (कलकत्ता) : "जिस माँ-भारती के लाल ने साहित्यिक कोष को भरने के लिए मौलिक ग्रंथ दिये तथा उसके भण्डार को अन्य उन्नत भाषाओं के अनुवाद-ग्रंथों से पूर्ण करने का प्रयत्न किया, उन श्री नाथूराम प्रेमी के अभिनंदन-प्रस्ताव का कौन मुक्तकण्ठ से समर्थन न करेगा? आज अगर हिन्दी में उसके लेखकों का सम्मान बढ़ा है तो उसका श्रेय श्री प्रेमी जी द्वारा संचालित 'हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर-कार्यालय', बम्बई को है।"

एक ओर यह आयोजन चल रहा था, दूसरी ओर प्रेमी जी ने अपने २७ दिसम्बर १९४२ के पत्र में चतुर्वेदी जी को लिखा :

"काशी के छात्रों ने तो खैर लड़कपन किया, पर यह आप लोगों ने क्या किया? मैं तो लज्जा के मारे मरा जा रहा हूँ। भला मैं इस सम्मान के योग्य हूँ? मैंने किया ही क्या है? अपना व्यवसाय ही तो चलाया है। कोई परोपकार तो किया नहीं। आप लोगों की तो मुझ पर कृपा है; पर दूसरे क्या कहेंगे? मेरी हाथ जोड़ कर प्रार्थना है कि मुझे इस संकट से बचाइए। यह समय भी उपयुक्त नहीं है।"

अनंतर ४ फ़रवरी १९४४ के पत्र में यशपाल जैन को लिखा :

"एक जरूरी प्रार्थना यह है कि आप चौबे जी को समझा कर मुझे इस अभिनंदन-ग्रंथ की असह्य वेदना से मुक्त करा दें। उसके विचार से ही मैं अत्यन्त उद्विग्न हो उठता हूँ। मैं उसके योग्य कदापि नहीं हूँ। मुझे वह समस्त हिन्दी-संसार का अपमान मालूम होता है। मैं हाथ जोड़ता हूँ और गिड़गिड़ाता हूँ, मुझे इस कष्ट से बचाइए।"

प्रेमी जी अत्यन्त संकोचशील हैं और सभा-सोसायटी तथा मान-सम्मान के आयोजनों से सदा दूर ही रहते हैं। अतः इस आयोजन से उन्होंने न केवल अपनी असहमति ही प्रकट की, अपितु उससे मुक्ति भी चाही; लेकिन उस समय तक योजना बहुत आगे बढ़ चुकी थी और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के विद्वानों का आग्रह था कि उसे अवश्य पूरा किया जाय।

इसके बाद चतुर्वेदी जी, भाई राजकुमार जी साहित्याचार्य तथा यशपाल जैन ने इस संबंध में कई स्थानों की यात्रा की और विद्वानों के परामर्श से निम्नलिखित कार्य-समिति का संगठन किया गया :

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ..	..	अध्यक्ष
पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ..	..	उपाध्यक्ष
श्री जैनेन्द्रकुमार ..	..	,,
यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०	..	मंत्री
स० सिं० धन्यकुमार जैन ..	..	संयुक्त मंत्री
महात्मा भगवानदीन जी ..	..	सदस्य
पं० माखनलाल चतुर्वेदी ..		
प्रो० हीरालाल जैन ..		
श्रीमती सत्यवती मल्लिक ..		
डा० रामकुमार वर्मा ..		
पं० कैलाशचंद्र जैन सिद्धान्तशास्त्री		

ग्रंथ के निम्नलिखित अठारह विभाग रखे गये तथा उनके सम्पादन का भार विभागों के सामने उल्लिखित विद्वानों को उनकी अनुमति लेकर सौंपा गया :

विभाग		सम्पादक
१. संस्मरण और जीवनी—	..	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी (संयोजक)
		श्री जैनेन्द्रकुमार
२. भारतीय संस्कृति—	..	डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (संयोजक)
		श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन
		डा० बेनीप्रसाद
३. जैन-दर्शन— ..	..	प्रो० दलसुख मालवणिया (संयोजक)
		मुनि जिनविजयजी
		पं० सुखलाल संघवी
		पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
४. संस्कृत और प्राकृत-साहित्य—	..	डा० हीरालाल जैन (संयोजक)
		डा० जगदीशचन्द्र शास्त्री
		पं० बेचरदास दोशी
५. भाषा-विज्ञान— ..	..	डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (संयोजक)
		डा० मंगलदेव शास्त्री
		आचार्य पद्मनारायण
६. कला— ..	..	श्री जयभगवान जैन
		डा० बेनीप्रसाद
७. पुरातत्व— ..	..	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (संयोजक)
		डा० मोतीचन्द्र
८. हिन्दी-साहित्य (गद्य)—	..	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (संयोजक)
		श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
		श्री रामचन्द्र वर्मा

९. हिन्दी-काव्य—	.. ..	पं० हरिशंकर शर्मा (संयोजक)
		श्री सियारामशरण गुप्त
		डा० रामकुमार वर्मा
१०. जैन-साहित्य—	.. ..	आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार (संयोजक)
		पं० फूलचन्द्र जैन शास्त्री
		पं० परमेष्ठीदास जैन
		पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री
११. बंगला-साहित्य—	.. ..	आचार्य क्षितिमोहन सेन (संयोजक)
		श्री धन्यकुमार जैन
१२. गुजराती-साहित्य—	..	पं० बेचरदास जी० दोशी
१३. मराठी-साहित्य—	.. ..	प्रो० प्रभाकर माचवे
१४. अंग्रेजी—		प्रो० ए० एन० उपाध्ये
१५. साहित्य-प्रकाशन—	..	यशपाल जैन (संयोजक)
		श्री कृष्णलाल वर्मा
१६. बुन्देलखण्ड—	.. ..	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी (संयोजक)
		श्री व्योहार राजेन्द्र सिंह
		श्री वृन्दावनलाल वर्मा
१७. समाज-सेवा—	.. ..	श्री अजितप्रसाद जैन (संयोजक)
		महात्मा भगवानदीन
		बैरिस्टर जमनाप्रसाद जैन
१८. नारी-जगत्—	.. ..	श्रीमती सत्यवती मल्लिक (संयोजिका)
		,, सुभद्राकुमारी चौहान
		,, कमला देवी चौधरी
		,, रमारानी जैन

इस विभाजन के पश्चात् कार्य-समिति के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने ग्रंथ के प्रत्येक विभाग के लिए एक उपयोगी योजना तैयार की, जिसे सब सम्पादकों की सेवा में भेजा गया। योजना इस प्रकार थी :

"'संस्मरण और जीवनी' जितने संयत और संक्षिप्त ढंग से लिखी होगी, उतनी ही बढ़िया होगी। मैं इसके लिए तीस पृष्ठ पर्याप्त समझता हूँ। 'भारतीय संस्कृति-विभाग' में अन्य लेखों के अतिरिक्त एक लेख 'भारतीय संस्कृति का विदेशों में विस्तार' शीर्षक से रहे तो बहुत अच्छा है। इस विभाग में सौ पृष्ठ की सामग्री हो सकती है। 'जैन-दर्शन-विभाग' में जैन-दर्शन के ऐतिहासिक तिथि-क्रम पर एक लेख बहुत उपयुक्त होगा। 'संस्कृत और प्राकृत-साहित्य-विभाग' में अधिकांश अप्रकाशित या अज्ञात साहित्य का परिचय देना चाहिए। इस विभाग में तीन सौ पृष्ठ हों—सौ संस्कृत के लिए और दो सौ प्राकृत के लिए। गुप्त-काल से लेकर लगभग अकबर के समय तक जैन, बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य की जो प्रमुख सेवा की, उसका परिचय तीन लेखों में अवश्य रहना चाहिए, जिनमें ग्रंथों के नाम परिचय सहित, रचयिताओं के नाम और उनके समय का निर्देश होना चाहिए। संस्कृत-कथा-साहित्य, विशेषकर जैन-कहानी-साहित्य या तो इस विभाग में या जैन-साहित्य वाले विभाग में रखना चाहिए।

"प्राकृत-साहित्य को खास जगह देने की जरूरत है। उसके लिए दो सौ पृष्ठ दिये जायें तो अच्छा है; क्योंकि प्राकृत-साहित्य के विषय में हिन्दी-जगत् को अभी बहुत-कुछ परिचय देने की आवश्यकता है। भविसयत्त कहा, समराइच्च कहा, पाउमचर्य कहा सदृश प्राकृत-ग्रन्थों के परिचय देने वाले आधे दर्जन लेख रहें। बीस पृष्ठों में जैन-प्राकृत-साहित्य के प्रमुख ग्रंथों की प्रकाशित और अप्रकाशित एक तालिका ऐतिहासिक तिथि-क्रम के अनुसार दे दी जाय तो बहुत लाभप्रद होगी।

"'भाषा-विज्ञान-विभाग' में पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा द्वारा हिन्दी भाषा का स्वरूप किस प्रकार विकसित हुआ है, इसी पर दो-तीन लेखों में ध्यान केन्द्रित किया जाय तो सामयिक उपयोग की वस्तु होगी। इस विभाग के लिए साठ पृष्ठ और '**कला-विभाग**' के लिए चालीस पृष्ठ पर्याप्त हैं। कला के अन्तर्गत अपभ्रंश कालीन चित्रकला पर एक लेख और दूसरा शिल्प-साहित्य के विषय-परिचय के बारे में हो। मथुरा, देवगढ़ और आबू की शिल्प सामग्री के परिचयात्मक लेख भी हो सकते हैं। '**पुरातत्त्व-विभाग**' में पचास पृष्ठ और दो लेख रहेंगे।

"'**हिन्दी-साहित्य**' (गद्य) और '**हिन्दी-काव्य**' के लिए सौ-सौ पृष्ठ पर्याप्त समझता हूँ। हिन्दी-साहित्य-विभाग में पुरानी हिन्दी के काल की साहित्यिक कृतियों और धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय विशद रूप से हो, जो श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का मुख्य अध्ययन-विषय है और जिसके सम्बन्ध में हिन्दी-जगत् का ज्ञान अभी अधूरा है। जायसी पर भी एक लेख हो तो अच्छा है। 'हिन्दी-काव्य' के अन्तर्गत नवीन कृतियों के प्रकाशन की अपेक्षा प्राचीन हिन्दी, मैथिली, राजस्थानी आदि के काव्यों का प्रकाशन अच्छा होगा। विद्यापति और हिन्दी में रासो-साहित्य पर भी दो लेख रह सकते हैं।

"'**जैन-साहित्य-विभाग**' के अन्तर्गत अपभ्रंश साहित्य का भरपूर परिचय देना चाहिए। जैन-भंडारों में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों के परिचय पर भी एक लेख रहना अच्छा होगा। श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने इस सम्बन्ध में 'अनेकान्त' द्वारा उपयुक्त सूचियाँ प्रकाशित की हैं, किन्तु उनके मथे हुए सार से हिन्दी-जगत् को अधिक परिचित होने की आवश्यकता है।

"'**बंगला-साहित्य**', '**गुजराती-साहित्य**' और '**मराठी-साहित्य**' विभागों में प्रत्येक के लिए पचास पृष्ठ का औसत रखिए। इन निबन्धों में साहित्य का प्राचीन काल से अबतक का संक्षिप्त इतिहास और विकास, आधुनिक प्रवृत्तियाँ, साहित्य का काम करने वाली संस्थाओं का परिचय यदि हो तो हिन्दी के लिए काम की चीज होगी। '**साहित्य-प्रकाशन**' के विभाग में भारतीय साहित्य और संस्कृति एवं इतिहास का प्रकाशन करने वाली देशी-विदेशी प्रधान ग्रंथ-मालाओं का परिचय देना उपयोगी होगा। भावी कार्य-क्रम की योजनाओं और कार्य के विस्तृत क्षेत्र पर भी लेख हो सकते हैं।

"'**अंग्रेजी-साहित्य**' तो बहुत बड़ी चीज है। उसको केवल एक दृष्टि से हम इस ग्रंथ में देखने का प्रयत्न करें, अर्थात् भारतवर्ष की भूमि, उस भूमि पर बसने वाले जन और उस जन की संस्कृति के सम्बन्ध में जो कार्य अंग्रेजी के माध्यम से हुआ है, पच्चीस-तीस पृष्ठों में उसका इस दृष्टि से परिचय कि हिन्दी में वैसा कार्य करने और उसका अनुवाद करने की ओर हमारी जनता का ध्यान आकर्षित हो।

"'**बुन्देलखण्ड-प्रांत-विभाग**' के लिए सौ पृष्ठ रक्खें। उनमें बुन्देलखण्ड की भूमि, उस भूमि से सम्बन्ध रखने वाली विविध पार्थिव सामग्री, बुन्देलखण्ड के निवासी एवं उनकी संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाला अत्यन्त रोचक अध्ययन हमें प्रस्तुत करना चाहिए, जिसमें इस प्रदेश के जनपदीय दृष्टिकोण से किये हुए अध्ययन का एक नमूना दिया जा सकता है। '**समाज-सेवा**' और '**नारी-जगत्**' विभागों के लिए पचास-पचास पृष्ठ काफ़ी होंगे। 'समाज-सेवा' के अन्तर्गत हमारे राष्ट्रीय और जातीय गुणों और त्रुटियों का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण देना चाहिए। सामाजिक संगठन में जो प्राचीन परम्पराओं की अच्छाई है और हमारे जीवन का जो भाग विदेशी प्रभाव से अब तक अछूता बचा है उसको जनता के सम्मुख प्रशंसात्मक शब्दों में रखना आवश्यक है। पश्चिमी देशों में सामाजिक विज्ञान परिषदें

(इन्स्टीटयूट ऑव सोशल साइंसेज़) जिस प्रकार का प्राणमय अध्ययन करती हैं उसका सूत्रपात् हमारे यहाँ भी होना आवश्यक है। एक-दो लेखों में उसकी कुछ दिशा सुझाई जा सके तो आगे के लिए अच्छा होगा।"

इसी रूप-रेखा के आधार पर हम ग्रंथ की सामग्री का संग्रह कराना चाहते थे; लेकिन इसके लिए समय अपेक्षित था। दूसरे कई एक सम्पादकों के पास समय की इतनी कमी थी कि इच्छा रखते हुए भी वे हमें विशेष सहयोग न दे सके। डा० वेनीप्रसाद जी ने हमें आश्वासन दिया था कि यदि हम उनके 'कला'-विभाग की सामग्री एकत्र कर दें तो वे उसका सम्पादन कर देंगे और एक लेख अपना भी दे देंगे; लेकिन काल की क्रूर गति को कौन जानता है! वे बीच में ही चले गये। इसी प्रकार प्रेमी जी के निकटतम बंधु बाबू सूरजभानु जी वकील का देहावसान हो गया और वे भी हमें कुछ न भेज सके।

ग्रंथ में अठारह विभाग रक्खे गये थे और एक हज़ार पृष्ठ; लेकिन जब काग़ज़ के लिए हमने लिखा-पढ़ी की तो युक्त-प्रांत के पेपर-कन्ट्रोलर महोदय ने पहले तो स्वतंत्र रूप से ग्रंथ-प्रकाशन की अनुमति देने से ही इन्कार कर दिया; लेकिन बाद में जब उनसे बहुत अनुरोध किया गया तो उन्होंने कृपा-पूर्वक अनुमति तो दे दी; पर काग़ज़ कुल सात सौ पृष्ठ का दिया। लाचार होकर हमें सामग्री कम कर देनी पड़ी और कई विभागों को मिला कर एक कर देना पड़ा। हमें इस बात का बड़ा ही खेद है कि बहुत सी रचनाओं को हम इस ग्रंथ में सम्मिलित नहीं कर सके और इसके लिए लेखकों से क्षमाप्रार्थी हैं।

सवा वर्ष के परिश्रम से ग्रंथ जैसा बन सका, पाठकों के सामने है। वस्तुतः देखा जाय तो प्रेमी जी तो इस ग्रंथ की तैयारी में उपलक्ष मात्र हैं। उनके बारे में केवल ६२ पृष्ठ रक्खे गये हैं। शेष पृष्ठों में विभिन्न विषयों की उपादेय सामग्री इकट्ठी की गई है। इसके संग्रह में हिन्दी के जिन साहित्यकारों ने सहयोग दिया है, उन्हें तथा अपने सम्पादक-मण्डल को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं। गुजराती, मराठी तथा बंगला के विद्वान लेखकों के तो हम विशेष रूप से आभारी हैं, जिन्होंने इस आयोजन को अपना कर हमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया। कार्यसमिति के अध्यक्ष डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने कई दिन देकर पूरे ग्रंथ की सामग्री को देखा, उसके सम्पादन में हमें योग दिया और समय-समय पर उपयोगी सुझाव देते रहे, तदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं। समिति के अन्य पदाधिकारियों को भी हम धन्यवाद देते हैं।

ग्रंथ को चित्रित करने के लिए सर्वश्री असितकुमार हलदार, कनु देसाई, रावल जी, रामगोपाल विजयवर्गीय, जे० एम० अहिवासी प्रभृति कलाकारों ने रंगीन चित्र देना स्वीकार कर लिया था—अहिवासी जी तथा श्री सुधीर खास्तगीर ने तो रंगीन चित्र भेज भी दिये—लेकिन पर्याप्त साधन न होने के कारण हम उनकी कृपा का लाभ न ले सके। श्री सुधीर खास्तगीर ने कई चित्र हमें इस ग्रंथ के लिए दिये हैं, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। श्री रामचंद्र जी वर्मा को भी हम धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से लेखों के अंत में देने के लिए कई ब्लॉक उधार दिलवा देने की कृपा की।

हम उन साधन-सम्पन्न बंधुओं के भी अनुग्रहीत हैं, जिनकी उदार सहायता के बिना ग्रंथ का कार्य पूर्ण होना असंभव था। बन्धुवर धन्यकुमार जी जैन ने स्वयं एक हज़ार एक रुपये देने के अतिरिक्त धन-संग्रह में हमें पर्याप्त सहायता दी और हर प्रकार से बराबर सहयोग देते रहे। लेकिन वे हमारे इतने नज़दीक हैं कि धन्यवाद के रूप में हम कुछ कह भी तो नहीं सकते।

प्रारंभ से लेकर अंत तक प्रेरणा, सुझाव और सहयोग देने वाले श्रद्धेय पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी तो इस आयोजन से इतने अभिन्न हैं कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना महज़ धृष्टता होगी।

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस के प्रबंधक श्री कृष्णप्रसाद जी दर तथा उनके कर्मचारियों का भी हम आभार स्वीकार करते हैं, जिनकी सहायता से ग्रंथ की छपाई इतनी साफ़ और सुन्दर हो सकी।

इस जनपद की प्रकृति के भी हम ऋणी हैं, जिसके निकट साहचर्य में हमें इस अनुष्ठान के करने की स्फूर्ति और प्रेरणा मिली।

अंत में हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि प्रेमी जी दीर्घायु हों और साधना-पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहने की शक्ति उन्हें प्राप्त होती रहे।

पंचवटी
कुण्डेश्वर

—यशपाल जैन
मंत्री

आभार

हम निम्नलिखित महानुभावों के आभारी हैं, जिनकी उदार सहायता से इस ग्रंथ का कार्य सम्पन्न हुआ है :

१. साहु शांतिप्रसाद जी जैन	..	..	(डालमिया नगर)	..	१००१)
२. स० सिं० धन्यकुमार जैन	..	..	(कटनी)	..	१००१)
३. रा० ब० लालचंद जी सेठी	..	..	(उज्जैन)	..	१०००)
४. रा० ब० हीरालाल जी काशलीवाल	..	..	(इंदौर)	..	१०००)
५. सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी	..	..	(भेलसा)	..	१०००)
६. साहु श्रेयांसप्रसाद जी	..	..	(बंबई)	..	५००)
७. श्री छोटेलाल जी जैन	..	..	(कलकत्ता)	..	३००)
८. स्व० विश्वम्भरदास जी गार्गीय	..	..	(झाँसी)	..	१०१)
९. श्री बालचन्द्र जी मलैया	..	..	(सागर)	..	१०१)
१०. वैद्य कन्हैयालाल जी	..	..	(कानपुर)	..	१०१)
११. श्री विजयसिंह नाहर	..	..	(कलकत्ता)	..	२५)

—मंत्री

निवेदन

जो किसान खेत पर घोर परिश्रम करके अपने खून को पसीना बना कर अन्न उत्पन्न करते हैं, जो मज़दूर लोकोपयोगी धंधों में अपना जीवन खपाते हुए भावी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए अपनी शक्ति तथा समय को अर्पित करते हैं, जो ग्रामीण अध्यापक मगज़ पच्ची करके पचासों छात्रों को अक्षर-ज्ञान कराते हैं, जो बढ़ई अथवा लुहार जनता के नित्यप्रति काम आने वाली चीज़ें बनाते हैं, अथवा जो पत्रकार या लेखक नाना प्रकार के कष्टों को सहते हुए सर्वधासारण को सात्विक मानसिक भोजन देते हैं वे सभी अपने-अपने ढङ्ग पर वन्दनीय हैं, अभिनन्दनीय हैं। परिश्रमी लेखक, निष्पक्ष अन्वेषक और ईमानदार पुस्तक-प्रकाशक की हैसियत से प्रेमी जी का सम्मान होना ही चाहिए।

इन अभिनन्दनों में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है: एक तो यह कि सम्मान-कार्य उस व्यक्ति की रुचि, दृष्टिकोण तथा लक्ष्य को ध्यान में रख कर किया जाय और दूसरी यह कि अभिनन्दन कार्य के पीछे एक निश्चित लोक-कल्याणकारी नीति हो। पाठक देखेंगे कि प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में इन दोनों बातों का खयाल रक्खा गया है। प्रेमी जी के विषय में कुल जमा ६२ पृष्ठ हैं। शेष पृष्ठ अन्य आवश्यक विषयों को दे दिये गये हैं। सच तो यह है कि प्रेमी जी के बार-बार मना करने पर भी उनकी इच्छा के सर्वथा विरुद्ध इस आयोजना को जारी रक्खा गया है।

जनता की श्रद्धा से लाभ उठाये बिना इस ग़रीब मुल्क में हम अपने जनोपयोगी कार्य नहीं चला सकते, फिर साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक यज्ञों का संचालन तो और भी कठिन है। दरअसल बात यह है कि प्रेमी जी के प्रति लोगों की जो श्रद्धा है उसका सदुपयोग हमने इस ग्रन्थ में कर लिया है। दान-सूची तथा लेख-सूची से पाठकों को पता लग जायगा कि प्रेमी जी के प्रति श्रद्धा रखने वालों की संख्या पर्याप्त है। यद्यपि जो पैसा इस यज्ञ में व्यय हुआ है वह सब जैन-समाज के प्रतिष्ठित सज्जनों का ही है—ग्रन्थ के शरीर के निर्माण का श्रेय उन्हीं को है—तथापि ग्रन्थ की आत्मा का निर्माण सर्वथा निस्वार्थ भाव से प्रेरित विद्वानों ने ही किया है।

इस यज्ञ के प्रधान होता डाक्टर वासुदेवशरण जी अग्रवाल रहे हैं, जो अपनी उच्च संस्कृति, परिष्कृत रुचि तथा तटस्थ वृत्ति के लिये हिन्दी जगत् में सुप्रसिद्ध हैं। ग्रन्थ का तीन-चौथाई से अधिक भाग उनकी निगाह से गुज़रा है और शेष सामग्री को उनके विश्वासपात्र व्यक्तियों ने देख लिया है। श्री अग्रवाल जी जनपदीय कार्य्य क्रम के प्रवर्तक हैं और इस विषय में उनके अनुयायी बनने का सौभाग्य हमें कई वर्षों से प्राप्त रहा है। विचारों के जिस उच्च धरातल पर वे रहते हैं, वहाँ किसी भी प्रकार का अविवेक, पक्षपात अथवा निरर्थक वाद-विवाद पहुँच ही नहीं सकता। ग्रन्थ में यदि उपयोगी मसाले का चुनाव हो सका है तो उसका श्रेय मुख्यतया अग्रवाल जी को ही है।

यदि काग़ज़ की कमी न हो गई होती तो कम-से-कम चार सौ पृष्ठों की सामग्री इस ग्रन्थ में और जा सकती थी। खास तौर पर बुन्देलखंड के विषय में और भी अधिक लेख तथा चित्र इत्यादि देने का हमारा विचार था।

इस ग्रन्थ के विषय में हमें जो अनुभूतियाँ हुई हैं उनके बल पर हम निम्नलिखित प्रस्ताव भावी अभिनन्दन ग्रन्थों के विषय में उपस्थित करते हैं—

(१) अभिनन्दन ग्रन्थ में इक्यावन फ़ीसदी पृष्ठ वन्दनीय व्यक्ति के जनपद के विषय में होने चाहिए, पैंतालीस फ़ीसदी उसकी रुचि के विषयों पर और शेष चार फ़ीसदी उसके व्यक्तित्व के बारे में।

(२) विद्वत्तापूर्ण लेखों के साथ-साथ प्रसाद-गुणयुक्त सजीव और युगधर्म के अनुकूल रचनाएँ छापी जायँ। भावी सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक तथा साहित्यिक आयोजनाओं को उचित स्थान दिया जाय।

(३) मानव जगत् ही नहीं, पशु-पक्षी, वन-वृक्ष, नदी-सरोवर, ग़रज़ यह कि चारों ओर की प्रकृति को ग्रन्थ में स्थान मिले। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अभिनन्दन ग्रन्थ को हम बिजली के सजीव तार की तरह स्पन्दनशील और जाग्रत बनाने के पक्ष में हैं। उदाहरण के लिए हम एक लेख सागर की दो देन—'प्रेमी' जी और जामनेर (नदी)—इस ग्रन्थ के लिए लिखना चाहते थे। जामनेर नदी का उद्गम सागर ज़िले में ही है और उसके दो सुन्दर दृश्य इस ग्रन्थ में दिये भी गये हैं। पुरुष तथा प्रकृति का यह मिलन ही हमें आनन्द-प्रद तथा जन-कल्याणकारी प्रतीत होता है। हमें अपने विस्तृत देश का पुनर्निर्माण करना है और यह तभी सम्भव है जब हम छोटे-छोटे जनपदों का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण प्रारम्भ कर दें। जो महत्त्व आज इने-गिने शहरी व्यक्तियों को प्राप्त है वही हमें जानपद जनों को देना है और—प्रेमी जी निस्सन्देह एक जानपद जन हैं—ठेठ ग्रामीण व्यक्ति। साधारण जन-समाज से उठकर उन्होंने असाधारण कार्य कर दिखाया है। उनका अभिनन्दन करते हुए हम सामान्य जन (Common-man) का सम्मान कर रहे हैं। उन जैसे सैकड़ों-सहस्रों व्यक्ति प्रत्येक जनपद के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न हों, अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वे अपना सर्वोत्तम मातृभूमि के चरणों में अर्पित करें और इस प्रकार विश्व-कल्याण के बहुमुखीन कार्यक्रम में सहायक हों, यही हमारी हार्दिक अभिलाषा है।

आम्रनिकुंज
कुण्डेश्वर

बनारसीदास चतुर्वेदी

उपकृत

श्री सियारामशरण गुप्त

अपने इस कर से उस कर ने पाया हो जो दान,
दिया तुम्हारा था वह ऐसा, गया न जिस पर ध्यान!
पौ फटती धुँधली वेला में मग में पग थे मन्द,
गया न ध्यान कि गति में आई सुगति कहाँ स्वच्छन्द।
अन्तरिक्ष में दूर कहीं से आया जो आलोक,
जान पड़ा भीतर-बाहर ज्यों निज का ही आनन्द!
किया स्वयं अपने को हमने उसका श्रेय प्रदान,
दिया तुम्हारा था वह ऐसा, गया न जिस पर ध्यान!

× × ×

दिया प्रथम जिस प्रात पवन ने नव गति का उद्बोध,
हो कैसे जीवन में उसके उस ऋण का परिशोध।
बसा हुआ है तन में, मन में उसका सुरभि-पराग,
फूँक गया वह धूम-पुंज में धग्-धग् करती आग।
अब इस दोपहरी में फिर-फिर देकर स्मृति-संस्पर्श,
रक्षित रक्खे है वह मेरे चलने का अनुराग!
उसका भार-वहन देता है हलकेपन का बोध,
ऋणी रहूँ चिरकाल, यही है उसका ऋण-परिशोध!

चिरगाँव]



आयोजन का स्वागत

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री नाथूरामजी प्रेमी को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। प्रेमीजी स्वयं विद्वान् है और उन्होंने उच्च कोटि के बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। उन ग्रन्थों के द्वारा उन्होने हिन्दी-प्रकाशन-क्षेत्र में उच्च आदर्श स्थापित किया है। मुझे मालूम हुआ है कि उनके प्रकाशन-गृह, 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर', का हिन्दी-जगत् में बड़ा सम्मान है।

मैं इस आयोजन की सफलता चाहता हूँ।

बनारस]

अभिनंदन

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन

श्री नाथूराम जी प्रेमी ने हिन्दी की स्मरणीय सेवा की है। उन्होंने हिन्दी में ऊँचे स्तर के ग्रन्थ-प्रकाशन की कल्पना उस समय की जब इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान था। हिन्दी-साहित्य की वृद्धि में और उसके प्रचार में उनका जो भाग रहा है, उसके लिए वह हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। उनके सम्मानार्थ प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ और उसकी सफलता चाहता हूँ।

इलाहाबाद]

सौमनस्य के दूत

श्री काका कालेलकर

श्री नाथूराम जी प्रेमी स्वयं एक बड़ी संस्था हैं। उनकी की हुई हिन्दी की सेवा हिन्दी के उपासक कभी भी भूल नहीं सकेंगे। उनका किया हुआ संशोधन मारके का है। अनुवाद-ग्रंथों में भी उन्होंने अच्छी अभिरुचि बताई है। गुजराती, बंगला, मराठी और हिन्दी, इन प्रधान भाषाओं के वे सौमनस्य के दूत (Ambassador of goodwill and understanding) हैं। ऐसे व्यक्ति का अभिनंदन अवश्य होना चाहिए था।

मदरास में सन् १९३४ के क़रीब स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी के साथ वे आये थे। तब मैंने प्रेमीजी से प्रार्थना की थी कि प्रेमचन्द जी के ग्रन्थों में अरबी-फ़ारसी के जो शब्द आते हैं, उनका हिन्दी में अर्थ देने वाला एक नागरी-कोष हमें दीजिए। बड़ी ही स्फूर्ति से उन्होंने हमें देवनागरी उर्दू-हिन्दी-कोष तैयार करवा कर दिया। इस कोष ने राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी की उत्कृष्ट सेवा की है। इसके लिए हम प्रेमीजी के बहुत ही कृतज्ञ हैं। मुझे उम्मीद है कि प्रेमीजी से, इसी प्रकार, बहुत-कुछ सेवा हमें मिलेगी।

वर्धा]

प्रेमी जी : जीवन-परिचय

सवाई सिंघई धन्यकुमार जैन

श्री नाथूरामजी प्रेमी के पूर्वज मालवा-प्रदेश में नर्वदा-कछार की ओर के थे। वहाँ से चलकर वे दो श्रेणियों में बँट गये। कुछ तो बुन्देलखण्ड की ओर चले आये और कुछ गढ़ा-प्रान्त (त्रिपुरी) की ओर चले गये। अतएव स्वयं प्रेमीजी के वंशीय 'गढ़ावाल' कहलाते थे। वे गढ़ा-प्रान्त के निवासी थे और वहाँ से चलकर चेदि राज्य के सागर जिलान्तर्गत 'देवरी' नामक क़स्बे में रहने लगे। वहीं अगहन सुदी ६ संवत् १९३८ को प्रेमीजी का जन्म हुआ।

प्रेमीजी के पिता स्व० टूँडेलालजी तीन भाई थे और उनके दो बहनें थीं। पहली माँ से एक भाई और दूसरी से दो। दादी का व्यवहार इतना सरल और स्नेहशील था कि पारस्परिक भेद-भाव का कभी किसी को आभास तक नहीं हुआ। बाद में तीनों चाचियों में अनबन हो जाने के कारण सब अलग हो गये।

उन दिनों का उद्योग-धन्धा खेती-बारी और साहूकारी था; लेकिन पिताजी इतने सरल और सीधे थे कि साहूकारी में जो कुछ लगाया, उसे वे कभी भी वसूल न कर सके। लहना-पावना सब डूब गया। खेती की सुरक्षा और प्रबन्ध के तरीक़ों से अनभिज्ञ होने के कारण खेती भी चौपट हो गई। धीरे-धीरे गृहस्थी की हालत इतनी बिगड़ गई कि खाने-पीने तक का ठिकाना न रहा। बंजी-भौंरी कर शाम को जब पिताजी दो-एक 'चौथिया'[1] अनाज लेकर लौटते तो भोजन की समस्या हल होती। एक लम्बे अरसे तक यही सिलसिला चलता रहा। ऐसी संकटापन्न स्थिति में प्रेमीजी ने देवरी की पाठशाला में विद्यारम्भ किया।

विद्याभ्यास और जीविका—

प्रेमीजी की बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। पढ़ने-लिखने में इतने तेज थे कि अपनी कक्षा में सदा प्रथम या द्वितीय रहते। गणित और हिन्दी में उनकी विशेष रुचि थी। होशियार बालकों पर मास्टर स्वभावतः कृपालु रहते हैं। अतः प्रेमीजी को भी अपने अध्यापकों का कृपा-पात्र बनते देर न लगी।

छठी की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर प्रेमीजी को पहली कक्षा पढ़ाने के लिए डेढ़ रुपये मासिक की मानीटरी मिल गई। इस काम को करते हुए स्कूल के हैडमास्टर श्री नन्हूरामसिंह ने, जो बाद में नायब, फिर तहसीलदार और अन्त में ऐक्स्ट्रा असिस्टैंट कमिश्नर होकर खनियाधाना स्टेट के दीवान हो गये, प्रेमीजी को अपने घर पढ़ाकर टीचर्स ट्रेनिंग की परीक्षा दो वर्ष में दिला दी। उसी समय स्कूल में एक नायब का स्थान खाली हुआ। उन दिनों नायब मुदर्रिस को छः-सात रुपया मासिक वेतन मिलता था। प्रेमीजी ने जी-तोड़ प्रयत्न किया। हैडमास्टर ने भी सिफ़ारिश की; लेकिन उन्हें सफलता न मिली और वह स्थान म्यूनिसपल मेम्बर के किसी स्नेहपात्र को मिल गया। इससे प्रेमीजी को बड़ी निराशा हुई। पर करते क्या? परिवार के बोझ को हल्का करने की लालसा मन-की-मन में ही रह गई। फिर भी वे प्रयत्नशील रहे।

इन्हीं दिनों प्रेमीजी में कविता करने की धुन समाई। साहित्यिक सहयोगियों की एक मण्डली बनी और कविता-पाठ होने लगा। देवरी के प्रसिद्ध साहित्यकार स्व० सैयद अमीर अली 'मीर' उस मण्डली के प्रधान तथा मार्ग-दर्शक थे। प्रेमीजी को 'मीर' साहब बहुत चाहते थे। प्रेमीजी की रचनाएँ पं० मनोहरलाल के सम्पादकत्व में कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'रसिकमित्र', 'काव्यसुधाकर' तथा 'रसिकवाटिका' पत्रिका में छपने लगीं। 'प्रेमी' उपनाम तभी का है, परन्तु प्रेमीजी इस क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़े।

---

[1] अनाज नापने का सवासेर का बर्तन।

उन्नति के लिए वे निरन्तर उद्योग करते रहे। अन्त में उन्हें खुरई से आठ मील दूर खिमलासा नामक ग्राम में नायब मुदर्रिस की जगह मिल गई। गई-बीती हालत में भी मोहवश माता-पिता इकलौते बेटे को अपने से अलग करने के लिए तैयार न थे; पर मीर साहब के समझाने-बुझाने पर वे राज़ी हो गये। यह सन् १८९८-९९ की बात है। उस समय प्रेमीजी की अवस्था सत्रह-अठारह वर्ष की थी।

पोस्टमास्टरी—

इसी समय स्कूल के हैडमास्टर के छुट्टी जाने पर स्थानापन्न का कार्य करते हुए प्रेमीजी को स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस की पोस्टमास्टरी भी कुछ दिन सँभालनी पड़ी।

इन दिनों प्रेमी जी का मासिक खर्च तीन रुपया था। शेष चार रुपये वे घर भेज देते थे।

कर्म-निष्ठ प्रेमी जी—

छः मास खिमलासा और छः मास ढाना में रहने के बाद प्रेमीजी ने नागपुर के एग्रीकल्चर स्कूल में वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र और कृषि-शास्त्र का अध्ययन किया। लेकिन घुटने में वात का दर्द हो जाने के कारण परीक्षा दिये बिना ही घर लौट आना पड़ा और तब दो-तीन महीने के बाद आपका तबादिला बंडा तहसील में कर दिया गया। वैसे भी वे आत्मिक विकास के साधन चाहते थे, जो यहाँ उपलब्ध न थे। अतः बाहर जाकर किसी उपयुक्त स्थान में कार्य करने का विचार करने लगे। भाग्य की बात कि बम्बई प्रान्तिक सभा में एक क्लर्क की जगह खाली हुई। पच्चीस रुपयें मासिक वेतन था। प्रेमीजी ने पं० धन्नालालजी काकलीवाल के पास आवेदन-पत्र भेज दिया। स्वीकृति आ गई, पर जेब में बम्बई जाने के लिए रेल-किराया तक न था। जैसे-तैसे उनके परिचित सेठ खूबचन्दजी ने टीप लिखा कर दस रुपये उधार दिये।

इसी समय चाँदपुर के मालगुज़ार ने लगान न चुकने के कारण घर की कुड़की करवा ली। ऐसी विषम परिस्थिति में धैर्य धारण किये नये क्षेत्र में परीक्षण करने के लिए प्रेमीजी बम्बई को रवाना हुए।

क्लर्की का जीवन—

यह सन् १९०१ की बात है। तीन वर्ष तक प्रेमीजी ने इस पद पर काम किया। बम्बई प्रान्तिक-सभा में 'जैनमित्र' के सिवाय उपदेशकीय तथा तीर्थ-क्षेत्र-कमेटी का दफ़्तर भी शामिल था। उन सबका काम भी प्रेमीजी को ही करना पड़ता था।

उन दिनों सभा का आफ़िस भोईवाड़े में था, जिसकी देखभाल पं० धन्नालालजी कासलीवाल करते थे। वे विद्वान्, गम्भीर और समझदार व्यक्ति थे। श्री लल्लूभाई प्रेमानन्द एल० सी० ई० प्रान्तिक सभा के मन्त्री और चुन्नीलाल जवेरचन्द जौहरी तीर्थक्षेत्र कमेटी के मन्त्री थे।

इसी काल में हाथरस का एक नवयुवक कार्यालय में आने-जाने लगा। वह बड़ा चलता-पुर्ज़ा था। कुछ दिन बाद जब परिचय बढ़ गया तो एक रोज़ उसने सेठ माणिकचन्द्रजी से कहा कि प्रेमीजी तिजौरी में रक्खे धन का अपने काम में अनुचित उपयोग करते हैं। बात कुछ ऐसे ढंग से कही गई कि सेठजी प्रभावित हो गये और एक दिन चुपचाप पहुँचकर तलाशी लेने की बात निश्चित हो गई। निश्चय के अनुसार एक दिन लल्लूभाई प्रेमानन्द एल० सी० ई० और चुन्नीलाल जवेरचन्दजी कार्यालय पहुँचे। जब वे गुजराती में कुछ कानाफूसी करते ऊपर की मंज़िल पर चढ़ रहे थे, प्रेमीजी नीचे पानी पी रहे थे। वे भाँप गये कि कुछ दाल में काला है। पानी पीकर ऊपर पहुँचे तो वे दोनों महानुभाव पूछ-ताछ कर रहे थे। प्रेमीजी के पहुँचते ही इन्होंने रोज़नामचा माँगकर देखा और तिजौरी खुलवाकर उस रोज की रोकड़बाक़ी मिला देने को कहा। तिजोरी खोली गई तो रोकड़ में दसबीस रुपये अधिक निकले। प्रश्न हुआ कि रोकड़ क्यों बढ़ती है? उत्तर में प्रेमीजी ने अपनी निजी हिसाब की नोट-बुक उनके सामने फेंक दी। रोकड़ आना-पाई से ठीक मिल गई।

इतने अपमान के बाद प्रेमीजी के लिए वहाँ कार्य करना असम्भव था। उन्होंने तिजौरी की चाबियाँ काशलीवाल जी के सामने रख दीं और कहा, "मैं कल से यहाँ काम नहीं करूँगा। एक बार जब अविश्वास हो गया तो फिर काम कैसे हो सकता है?"

ग्रंथ-सम्पादन—

कार्यालय में क्लर्की करते हुए प्रेमीजी को 'जैनमित्र' के सम्पादन से लेकर पत्र डाक में छोड़ने तक का काम करना पड़ता था। पूज्यवर पं० गोपालदासजी वरैया बैंक का काम छोड़कर मोरेना विद्यालय में चले गये थे। 'जैन-मित्र' के सम्पादक वही थे। सम्पादकीय लेख के लिए विषय-निर्देश कर देते थे, लेकिन लिखना सब प्रेमीजी को ही पड़ता था। इस कार्य-भार को वहन करते हुए प्रेमीजी ने 'ब्रह्मविलास' की भूमिका लिखी। यह ग्रन्थ उन दिनों छप रहा था। इसके अतिरिक्त प्रेमीजी ने 'दौलतपदसंग्रह', 'जिनशतक' तथा 'बनारसीविलास' आदि का सम्पादन किया।

प्रेमीजी की प्रतिभा के विकास के साधन अब निरन्तर जुटने लगे। इतना काम करते हुए भी प्रेमीजी ने संस्कृत पढ़ने का समय निकाला और जैन-मन्दिर की पाठशाला में सुबह डेढ़ घंटे संस्कृत का अभ्यास करने लगे। इसी समय उन्होंने गुजराती और मराठी भी सीखी और पं० बाकलीवालजी से बँगला का ज्ञान प्राप्त किया। वस्तुतः बाकलीवालजी ने प्रेमीजी को बड़ा सहारा दिया। यही कारण है कि प्रेमीजी उन्हें गुरुतुल्य मानते थे और आज भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

सन् १६०४ या ५ में एक घटना और घटी। शोलापुर के श्री नाथारंगजी गांधी ने सबसे पहले ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ कराया था और पचास हज़ार के दान से एक प्रकाशन-संस्था खोली थी। उस समय शास्त्रों, पुराणों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों के छापे जाने के विरोध में जोर से आन्दोलन चल रहा था। सेठ रामचन्द्रजी नाथा ने अपने प्रकाशित हुए 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा', 'पंचाध्यायी' आदि ग्रन्थों की कुछ प्रतियाँ भेज दी थीं, जो 'जैन-मित्र'-कार्यालय की अलमारी में रख दी गई थीं। उन दिनों प्रत्येक जिनालय में प्रकाशित ग्रन्थ रखने पर प्रतिबन्ध था। 'जैनमित्र' का दफ़्तर भोईवाड़े के जैनमन्दिर के ऊपरी भाग में था। मन्दिर में जो लोग पूजा करते थे, उनमें से अधिकांश का पेशा दलाली था और वे सेठों और मुनीमों के दर्शन करने आते ही तैयार किये हुए अर्घ्य-पात्र उनके हाथों में थमा देते थे। प्रेमीजी ने उनकी इस चेष्टा पर एक व्यंग्यपूर्ण लेख 'पुजारीस्तोत्र' नाम से लिखा, जो 'जैनमित्र' के मुख-पृष्ठ पर छपा। उसे पढ़कर पुजारी आग-बबूला हो गये और उनमें से मन्दिर के मुख्य पुजारी ने 'जैनमित्र' की वह प्रति रूढ़िवादी सेठों को दिखाई। अंक में श्रीमंतों की भी आलोचना थी। इतना ही नहीं, पुजारी ने अलमारी में रक्खे प्रकाशित ग्रन्थ भी सेठों को दिखाये। परिणाम यह हुआ कि सेठों ने अलमारी से निकालकर ग्रन्थों को तो सड़क पर फेंका ही, साथ ही आफ़िस का सामान भी बाहर फेंक दिया।

सेठ माणिकचन्द्रजी प्रान्तिक सभा के अध्यक्ष थे। हीराबाग उस समय बनकर तैयार ही हुआ था। उन्होंने तुरन्त सभा के कार्यालय का हीराबाग में प्रबन्ध कर दिया, जहाँ वह आज तक चल रहा है।

स्वतंत्र जीवन और अध्यवसाय—

प्रेमीजी ने अब स्वतन्त्र रूप से कुछ करने का निश्चय किया और प्रान्तिक सभा से त्याग-पत्र दे दिया। पं० पन्नालालजी काशलीवाल ने बहुतेरा समझाया, पर वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। जब श्री गोपालदासजी वरैया ने भी बहुत दबाव डाला तो प्रेमीजी ने सिर्फ़ 'जैन-मित्र' के सम्पादन कर देने का कार्य स्वीकार कर लिया।

सभा की नौकरी छोड़ते ही प्रेमीजी को अनुवाद का बहुत-सा काम मिल गया। रामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला के स्तम्भ मनसुखलाल रवजी भाई ने गुजराती की 'मोक्षमाला' नाम की पुस्तक का अनुवाद उनसे कराया। प्रेमीजी ने डेढ़ सौ पृष्ठ की पुस्तक का अनुवाद पन्द्रह-बीस दिन में कर दिया और विशेषता यह कि गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद किया। पारिश्रमिक के रूप में सत्तर-अस्सी रुपये प्रेमीजी को मिले। आशा से यह रक़म कहीं अधिक

थी। इससे हर्ष के साथ प्रेमीजी का साहस भी वढ़ा। प्रेमी जी के स्वतन्त्र जीवन की सफलता के प्रथम अध्याय का श्रीगणेश यहाँ से ही हुआ। वह पाण्डुलिपि वाद में खो गई।

प्रेमीजी 'जैनमित्र' का सम्पादन व प्रकाशन वड़ी लगन और तत्परता से करते रहे और वरैयाजी ने जो कुछ पारिश्रमिक दिया, उसे विना 'ननुनच' किये लेते रहे। पहले वर्ष में सवा सौ, दूसरे में डेढ़ सौ आदि।



१. स्व० हेमचंद्र २. श्री नाथूराम प्रेमी ३. हेमचंद्र की माता स्व० रमावाई
(सन् १९१३)

इसके वाद प्रेमीजी पर 'जैनहितैषी' के सम्पादन का दायित्व भी आ पड़ा, जिसे उन्होंने ग्यारह-वारह वर्ष तक योग्यतापूर्वक वहन किया। 'जैनहितैषी' के सम्पादन-काल में ही उन्होंने माधवराव सप्रे ग्रन्थ-माला के द्वितीय पुष्प 'स्वाधीनता' को 'मुंवई वैभव' प्रेस से छपवा कर प्रकाशित किया और उसी समय (सन् १९१२ में) 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की स्थापना की। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सीरीज का 'स्वाधीनता' ही प्रथम ग्रन्थ वनाया गया। यह कार्यालय आज अपनी विकसित अवस्था में हिन्दी-जगत् के सम्मुख विद्यमान है।

प्रेमीजी ने अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की है और प्राचीन जैन-साहित्य के अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। तीन-चार संस्कृत ग्रन्थों का उन्होंने अनुवाद भी किया है। बँगला, गुजराती और मराठी के भी अनेक उपयोगी ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर स्वयं किया है और अपने सहयोगियों से करवाया है। कुल मिलाकर प्रेमीजी की तीस-बत्तीस पुस्तकें हैं।

अपने यहाँ से पुस्तकों के प्रकाशन में प्रेमीजी बड़े सजग रहे हैं और उनके चुनाव में लोक-हित की दृष्टि को प्रधानता दी है। यही कारण है कि 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से एक भी हल्की चीज़ आज तक प्रकाशित नहीं हुई।

परिवार : दुर्घटनाएं—

प्रेमीजी को बनाने में बहुत-कुछ हाथ उनकी पत्नी का था। वे बड़ी ही कष्ट-सहिष्णु और सेवा-परायण थी। कष्ट-काल में उन्होंने सदैव प्रेमीजी को ढाढ़स बँधाया और समाज-सुधार के कार्यों में उत्साहित किया। २२ अक्तूबर १९३२ को उनका देहान्त हो गया।

प्रेमीजी ने अपनी आशाएँ अपने एकमात्र पुत्र हेमचन्द्र पर केन्द्रित की और बड़े लाड़-प्यार से उनका लालन-पालन किया। हेमचन्द्र विलक्षण बुद्धि के थे। अल्पायु में ही उन्होंने अनेक विषयों में दक्षता प्राप्त कर ली थी और साहित्य का गहन अध्ययन किया था; लेकिन ३३ वर्ष की अवस्था में १९४२ की मई मास की १६ तारीख को वे भी चले गये। अब प्रेमीजी के परिवार में उनकी पुत्रवधू चम्पादेवीजी तथा दो नाती यशोधर और विद्याधर हैं।

प्रेमी जी : एक अनुपम देन—

प्रेमीजी का एक निजी व्यक्तित्व है। अपनी कार्य-क्षमता, श्रमशीलता और पाण्डित्य से हिंदी-जगत् को उन्होंने जो कुछ भेंट किया है उससे साहित्य की मर्यादा बढ़ी है। प्रेमीजी जीवन के चौंसठ वर्ष पार कर चुके हैं। इस सुदीर्घ काल में उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की है। जाने कितने आघात उन्होंने धैर्यपूर्वक सहन किये हैं और अनेक संकट-ग्रस्त बंधुओं को ढांढ़स बँधाया है।

अध्ययनशीलता प्रेमीजी का व्यसन है। उचित उपायों द्वारा धनोपार्जन के साथ-साथ अपने बौद्धिक विकास में सतत उद्यमशील रहना वे कभी नहीं भूले।

अनेक उदीयमान लेखकों को पथ-प्रदर्शन द्वारा उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़ाया है। उत्तम ग्रन्थ प्रकाशन, पुरस्कार-वितरण, लेखकों, अनुवादकों और सम्पादकों को उनकी रचनाओं पर पारिश्रमिक-दान, विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति, कठिनाइयों में पड़े बंधुओं की सहायता द्वारा वे अपने धन का सदुपयोग करते रहते हैं। उनका द्वार छोटे-बड़े सबके लिए हर घड़ी खुला रहता है।

कटनी]



मार्ग-दर्शक प्रकाशक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रेमीजी हिन्दी के उन थोड़े-से आरम्भिक प्रकाशकों में हैं, जिनमें आदर्शवादिता, सहृदयता व व्यापारिकता का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उन्होंने जो कुछ साहित्य हिन्दी-संसार को दिया है, उससे हिन्दी-पाठकों की आत्मा पुष्ट ही हुई है और हिन्दी-प्रकाशकों के लिए वह दिशा-दर्शक रहा है। अपनी सेवाओं के कारण वे हिन्दी-जगत् में आदरणीय हैं और इस शुभ अवसर पर मैं भी अपना सम्मान उनके प्रति प्रदर्शित करते हुए आनन्द व गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

अजमेर]

श्री नाथूराम जी प्रेमी

पं० बेचरदास जी० दोशी

प्रेमीजी बुन्देलखंडी हैं, मैं काठियावाड़ी; उनकी भाषा हिन्दी है, मेरी गुजराती; वे जन्म से दिगम्बर जैन हैं, मैं श्वेताम्बर। इतना भेद होते हुए भी हम दोनों में विचार-प्रवाह की अधिक समानता है। अतः **'समानशील व्यसनेषु सख्यम्'** के अनुसार हमारे बीच अन्योन्य अजर्य मित्रता बनी हुई है। एक समय था जब मैं कट्टर साम्प्रदायिक था, यहाँ तक कि श्वेताम्बर साहित्य के सिवाय इतर किसी भी साहित्य को पढ़ना मेरे लिए पाप-सा था। बनारस में कई साल रहा। तो भी जिस वृत्ति से श्वेताम्बर मन्दिर में जाता, उस वृत्ति से कभी भी दिगम्बर मन्दिर में नहीं गया। कभी गया भी तो दिखावे की भावना से। हमारी पाठशाला की स्थापना के बाद दिगम्बर पाठशाला, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी की स्थापना हुई। उस समय बम्बई के श्रीमान् विद्याप्रेमी श्री माणिकचन्द सेठ काशी पधारे थे और काशी में कम्पनी बाग के सामने दिगम्बर मन्दिर में दिगम्बर पाठशाला का स्थापन-समारम्भ था। वहाँ भी हमारी सारी मंडली गई थी, परन्तु दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सहोदर भाई हैं, इस वृत्ति से नहीं। केवल बाह्य उपचार और दिखावे का व्यवहार ही हमारे जाने का कारण था। काशी में मैं न्याय, प्रधानतः जैन न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि पढ़ चुका था और प्राकृत अर्थात् मागधी, शौरसेनी भाषाओं का मेरा अध्ययन पूर्ण हो चुका था। बाद में मैं यशोविजय-जैन-ग्रन्थमाला के सम्पादन-कार्य में जुट गया। उस समय मैं कोई बीस-इक्कीस वर्ष का था। मागधी भाषा का ज्ञान होने के कारण मैं श्वेताम्बर मूल जैन-आगमों को स्वयं पढ़ने लगा, समझने लगा और कंठस्थ भी करने लगा। जब मैंने आचारांग आदि अंग ठीक तरह से पढ़े तब मेरे चित्त में परम आह्लाद का अनुभव हुआ और मेरी सारी साम्प्रदायिक कट्टरता एकदम रफूचक्कर हो गई। यद्यपि मैं जैन साधुओं के सहवास में अधिक रहा हूँ, उनकी सेवा भी काफ़ी की है, उनके बताये हुए अनेक-विध क्रियाकांडों में रस भी लिया है, परन्तु स्वयमेव मूल जैन-आगम पढ़ने पर और उनका मर्म समझने पर मेरी जड़-क्रियाकांड में अरुचि एवं साधुओं के प्रति अन्ध-भक्ति का लोप हो गया और स्वयं शोध करने की तरफ़ लक्ष गया। साधुओं के प्रति व्यक्तिशः नहीं, परन्तु समूह संस्था की तरफ़ मेरी अरुचि हो गई और मुझको स्पष्ट मालूम हुआ कि आगम वचन दूसरे प्रकार के हैं, पर अपने को आगमानुसारी मानने वाले संघ की प्रवृत्ति अन्य प्रकार की है। प्रचलित क्रियाकांडों का उद्देश्य ही विस्मृत-सा हो गया है। मेरे मन में ये भाव उठने लगे कि लोगों के सामने आगम वचनों को रक्खा जाय और उनका अच्छी तरह अनुवाद करके प्रकाशित किया जाय, जिससे व्यर्थ के आडम्बर के चक्कर में फँसी हुई जनता वस्तु-तत्त्व का विचार कर सके। अब तक मुझको यह मालूम नहीं था कि हम श्रावक लोग आगमों को स्वयं नहीं पढ़ सकते अथवा आगमों का अनुवाद भाषा में करना पाप-सा है, क्योंकि जब मैं पाठशाला में आगमों का अध्ययन करता था तब किसी ने मुझको मना नहीं किया था। अतः मैंने ठान लिया कि पाठशाला से बाहर निकल कर आगमों के अनुवाद का कार्य ही सर्व-प्रथम करूँगा। इन दिनों पूज्य गांधीजी भारतवर्ष में आये हुए थे और सारे देश के वातावरण में क्रान्ति की लहरें हिलोरें लेने लगी थीं। जब मैंने आगमों के अनुवाद की प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया तो जैन साधुओं ने उसका बड़े जोरों से विरोध किया। विरोध क्या किया, उस प्रवृत्ति को बन्द करने के लिए भयानक आन्दोलन इन साधुओं ने किये और मुझ पर तो घोर आक्षेपों की वृष्टि होने लगी। मेरे कुटुम्ब वाले और मेरी माता जी भी स्वयं कहने लगीं कि अनुवाद के काम की अपेक्षा आत्मघात करके मर जाना अच्छा है। व्यवहार के क्षेत्र में मेरा प्रथम ही प्रवेश था और मेरे सामने साधु-समाज और श्रावक-समाज का विरोध भी भयंकर था। तब भी मैं अपने निश्चय से टस-से-मस नहीं हुआ। मैंने आगमों के वचनों का जो आस्वाद लिया था उसका अनुभव आम जनता भी करे, यही मेरा एक निश्चय था। सेठ पुंजाभाई हीराचन्द अहमदाबाद वालों ने मेरे निश्चय में बल प्रदान किया। अतः उनके सहारे मैं आगमों के अनुवाद की प्रवृत्ति के लिए बम्बई आया। यहाँ उस समय श्री प्रेमीजी से सर्व-प्रथम परिचय उनकी हीराबाग वाली दुकान में हुआ। उन्होंने मुझको

बड़ा प्रोत्साहन दिया। उन दिनों वे 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' चलाते थे और हीराबाग के पास ही चन्दावाड़ी में रहते थे। शायद 'माणिकचन्द-जैन-ग्रन्थमाला' के भी संचालक थे और 'परमश्रुत प्रभावक मंडल' से भी उनका सम्बन्ध था। इस प्रकार श्री प्रेमीजी से हमारी मित्रता क़रीब आज सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष से चली आई है और जब तक हमारी चेतना जागरूक है तब तक चलती रहेगी। केवल प्रेमीजी से ही नहीं, अपितु उनके कुटुम्ब के साथ भी हमारे कुटुम्ब की मित्रता बन गई है। प्रेमीजी कुटुम्ब-वत्सल, मूक भाव से क्रान्ति के प्रेरक, सामाजिक कुरूढ़ियों के भंजक, स्वच्छ साहित्य के प्रचारक और प्रामाणिक व्यवसायी हैं। एक बार जब मैं अपनी पत्नी के साथ पूने में था तब प्रेमी जी भी वहाँ निवास के लिए आये थे। साथ में उनकी पत्नी स्व० रमाबहिन और उनका पुत्र स्व० हेमचन्द्र भी था। रमाबहिन अत्यन्त नम्र, मर्यादाशील एवं कुटुम्ब-वत्सल गृहणी थीं और हेमचन्द्र तो मनोहर मुग्ध सतयुग का बालक था। हम दो थे और प्रेमीजी का कबीला तीन व्यक्तियों का था। हम पाँचों जने 'भांडारकर प्राच्य मन्दिर' के पीछे



स्व० हेमचंद्र (१९१२)

की पहाड़ियों पर नित्य प्रातःकाल घूमने जाते और अनेक प्रकार की बातें होतीं। अधिकतर सामाजिक कुरूढ़ियों की और धार्मिक मिथ्यारूढ़ियों की चर्चा चलती थी। स्व० हेमचन्द्र भी 'दद्दा दद्दा' कहकर मनोहर बालसुलभ बातें पूछा करता। किसी टेकरी पर चढ़ने में स्त्रियों को अपनी पोशाक के कारण बाधा आती तो दोनों यानी रमाबहिन और मेरी पत्नी कच्छा लगाकर टेकरी पर चढ़ जातीं। उस समय हम लोगों ने जो सुखानुभव किया, वह फिर कभी नहीं किया। प्रेमीजी साहित्य और इतिहास के कीट होने पर भी कितने कुटुम्ब-वत्सल थे, उसका पता वहाँ टेकरी पर ही लगता था। उन दिनों प्रेमीजी 'जैन-हितैषी' चलाते थे। उसमें साहित्य, इतिहास इत्यादि के विषय में बड़ी आलोचना-प्रत्यालोचना रहती थी। 'जैन-हितैषी' के मुख-पृष्ठ पर एक चित्र आता था, जिसमें ध्वज-दंड सहित एक देवकुलिका थी और उसके शिखर में रस्सी को फाँसकर एक तरफ़ श्वेताम्बर खींच रहा है, दूसरी तरफ़ दिगम्बर। यह हाल जैन-समाज का आज तक भी वैसा ही बना हुआ है। इस चित्र से प्रेमीजी के अन्तःस्थित क्रान्तिमय मानस

का पूरा पता चलता है। वैसे तो प्रेमीजी ने जोशीले व्याख्यान नहीं दिये और जोशीले लेख भी नहीं लिखे, परन्तु उन्होंने मूक भाव से क्रान्ति की प्रेरणा की है। उसका दूसरा उदाहरण बाबू सूरजभानु वकील द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'सत्योदय' नामक मासिक है। सूरजभानु जी भी प्रेमीजी के असाधारण मित्र हैं[1]। कोई भी विचारक प्रेमीजी के संसर्ग में आवे और उनसे प्रशान्त भाव से शास्त्रीय व सामाजिक रूढ़ियों की चर्चा करे तो उनके क्रान्तिमय विचारों का पता उसे ज़रूर लगेगा। प्रेमीजी दृढ़ संकल्प से रूढ़ियों का भंजन करते रहे हैं। प्रेमीजी के प्रयत्न से ही शास्त्र छपवाने के विरोधी दिगम्बर-समाज में भी जैन-साहित्य का अच्छा मुद्रण-प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमाला' में अनेक अच्छे-अच्छे ग्रन्थ प्रेमीजी की देखभाल में सुसम्पादित होकर प्रकाशित हुए। अब तो यह कार्य इतना अग्रसर हुआ है कि जो ग्रन्थ आज तक मूड़बिद्री में केवल पूजे ही जाते थे और यात्रियों के केवल दर्शन विषय बने हुए थे, वे धवला इत्यादि ग्रन्थ भी भाषान्तर के साथ छप कर प्रकाश में आने लगे हैं। इतना ही नहीं, परन्तु कई पंडित नये युग के रंग में रँगकर दिगम्बर श्वेताम्बर के ऐक्य की खोज में लग रहे हैं और यहाँ तक विचार किया जाने लगा है कि दोनों सम्प्रदाय में कोई विरोध नहीं है। मेरी समझ में श्री प्रेमीजी और उनके मित्रों ने जो क्रान्तिके बीज बोये थे, वे उगे और उन्होंने वृक्षों का रूप धारण कर लिया है। अभी फल कच्चे हैं, परन्तु जब पक जायँगे तब सारे जैन-समाज को अपूर्व प्रमोद होगा। प्रेमीजी ने जैन-साहित्य की तो सेवा की ही, परन्तु उन्होंने विशाल और व्यापक दृष्टि रखकर सारे हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिए तत्पर होकर अपना 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' के रूप में परिणत कर दिया और उसके द्वारा हिन्दी भाषा में शुचि और स्वस्थ साहित्य प्रकाशित करना शुरू कर दिया। कहानी, इतिहास, वाचनमाला, विज्ञान, धर्म, समाज-व्यवस्था, अर्थशास्त्र, राजकारण आदि अनेक विषयों पर सुन्दर साहित्य उन्होंने प्रकाशित किया और आज तक कर रहे हैं। यद्यपि व्यवसाय की दृष्टि से उन्होंने सैकड़ों हिन्दी के ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं तो भी ग्रन्थों को देखने से व्यवसाय की अपेक्षा उनकी साहित्य-सेवा की ही दृष्टि झलकती है। व्यवसायी लोग तो जनता की अधोभूमिका का लाभ लेकर शृंगारमय बीभत्स साहित्य भी प्रकाशित कर ग़रीबों का धन हर ले जाते हैं, परन्तु प्रेमीजी के ग्रन्थ-रत्नाकर में ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं मिल सकती। इस प्रकार श्री प्रेमीजी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में हीरा हैं तो हमारे जैन-साहित्य-क्षेत्र में वे उज्ज्वल मणि के समान हैं। अपने इकलौते पुत्र श्री हेमचन्द्र के अवसान के कारण प्रेमीजी को भारी आघात हुआ है और इसी कारण उनकी देह अब अधिक जर्जरित हो गई है। अतः अस्वास्थ्य के कारण अब वे अनुत्साहित से दीख पड़ते हैं, फिर भी महात्मा बनारसीदासजी[2] की तरह वे ठीक अन्तर्मुख हैं। इसी कारण अपनी साहित्य-सेवा की प्रवृत्ति से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए हैं। भले ही उनका वेग मन्द हुआ हो, परन्तु प्रवृत्ति चलती ही रहती है। अभी उनकी 'जैन-साहित्य का इतिहास' तथा 'अर्धकथानक' पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। वे उनकी अन्तर्मुखता की गवाही हैं।

अन्त में प्रेमीजी की एक अनुकरणीय बात कहकर इस लेख को समाप्त करूँगा। प्रेमीजी ने अपना सारा बोझ अपने ही कन्धे पर ढोते हुए समाज-सेवा, क्रान्तिप्रचार, रूढ़ि-भंजन, सुधार-प्रवृत्ति और साहित्य-सेवा आदि प्रशंसनीय प्रवृत्तियाँ आज तक की हैं। इसी प्रकार हम लोग भी अपना बोझ समाज व राष्ट्र पर न डालकर स्वयं उसे सँभालते हुए यथासाध्य कार्य में लगें तो अवश्य ही अच्छा कार्य कर सकेंगे। प्रेमीजी बाहर से सीधे-सादे और अन्तरंग से गम्भीर चिन्तक हैं। आज तक उन्होंने जो काम किया है, स्थिरभाव से, स्थितप्रज्ञ की-सी वृत्ति से। क्रान्ति का उतावलापन या रूढ़िप्रियता का शोर-गुल उनमें नहीं है। 'कालः कालस्य कारणम्' समझ कर जो बना, वह सचाई और ईमानदारी के साथ कर दिया, यही उनका स्वभाव है।

अहमदाबाद]

---

[1] खेद है कि अब श्री सूरजभानु जी का स्वर्गवास हो गया है।

[2] 'अर्धकथानक' आत्मचरित के लेखक, जिन्हें अपनी नौ सन्तानों का वियोग अपनी आँखों देखना पड़ा था।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' और उसके मालिक

स्व० हेमचन्द्र मोदी

[यह लेख बहुत ही सुन्दर और रोचक है। 'पिता-पुत्र' के सम्बन्ध के होते हुए भी लेखक ने कहीं अपने को सत्य से बहकने नहीं दिया है। इसमें सर्वत्र हेमचन्द्र जी की पैनी बुद्धि की छाप है। जान पड़ता है कि सत्य के राज-मार्ग पर चलने की उनकी एक आदत-सी बन गई थी। विशेष घटनाओं का उल्लेख करते हुए उनके पीछे जो सामान्य सत्य है उसकी ओर इस लेख में कई स्थानों पर बहुमूल्य सुझाव दिये गए हैं। हर्ष की बात है कि श्री नाथूराम जी का ऐसी सद्विवेकिनी शैली से लिखा हुआ चरित्र उपलब्ध हो सका। स्व० हेमचन्द्र के सिवा सम्भवतः इस कार्य को कोई दूसरा इतने अच्छे ढंग से पूरा न उतार सकता था। —वासुदेवशरण अग्रवाल]

बम्बई का 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' हिन्दी में एक ऐसी प्रकाशन-संस्था रही है, जिसने लोगों का बहुत-कुछ ध्यान आकर्षित किया है। इसके बारे में ज्यादा जानने के लिए लोग उत्सुक भी रहे हैं, पर इस विज्ञापनबाज़ी के ज़माने में न जाने क्यों इसके संचालक हमेशा आत्म-विज्ञापन की ओर इस तरह उपेक्षा दिखलाते रहे हैं कि लोगों की उत्सुकता खुराक के अभाव में अभिज्ञता के रूप में नहीं पलट पाई। कोशिश करने पर लोग इसके बारे में इसके नाम के अलावा इतना ही जान पाये हैं कि इसके मालिक श्री नाथूराम प्रेमी नामक कोई व्यक्ति विशेष हैं। हाँ, कोई आठ-दस साल पहले व्यक्तिगत चिट्ठियों में सवाल-पर-सवाल पूछकर पूज्य पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी कुछ जानकारी पा गये थे, जिसे उन्होंने 'विशाल भारत' में छाप दिया था। पर इसके द्वारा लोगों की उत्सुकता बढ़ी थी, घटी नहीं थी।

मैं पिताजी को न जाने कब से 'दादा' कहता आया हूँ और मेरी देखादेखी निकट परिचय में आने वाले हिन्दी के बहुत से लेखक भी उन्हें 'दादा' कहने और पत्रों में लिखने लगे हैं। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के साथ वे इस तरह संश्लिष्ट हैं कि जो लोग थोड़े भी परिचय में आये हैं, वे दोनों में भेद नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, मेरा कई साल का अनुभव है कि वे स्वयं भी अपने आपको चेष्टा करने पर भी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से अलग नहीं कर पाते। अपने कार्य से इतना अधिक एकात्म्य दुनिया में बहुत कम लोग अनुभव करते हैं। यह एकात्म्य यहाँ तक रहा है कि कभी-कभी मुझे यह भासने लगता है कि जिस पितृ-स्नेह का मैं हक़दार था, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा इसने चुरा लिया है और मुझे याद है कि मेरी स्वर्गीया माँ भी अनेक बार इसमें अपनी सौत का दर्शन करती रही हैं; परन्तु मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' कोई चीज नहीं है। मेरे निकट तो बस मेरे दादा हैं। मैं यहाँ अपने दादा का ही परिचय दूँगा; क्योंकि मेरे लिए वे ही सब कुछ हैं। मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' है तो केवल उनके एक प्रतीक के रूप में। मुझे विश्वास है कि पाठक भी जड़ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की अपेक्षा चेतन 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को ही जानने के लिए ज्यादा उत्सुक होंगे।

पर इसका मतलब यह नहीं है कि दादा मुझे चाहते नहीं हैं या मेरी माता के प्रति उनका व्यवहार उचित नहीं था। सच पूछो तो दादा मेरी माँ को चाहते नहीं थे, उनकी भक्ति करते थे। जब वे किसी चीज के लिए कहती थीं तब वह माँग उन्हें इतनी तुच्छ प्रतीत होती थी कि उनके ख्याल से उन जैसी देवी को शोभा न देती थी। उन्होंने इस बात का ख्याल नहीं किया कि एक देवी के शरीर में भी मनुष्य का हृदय रह सकता है। उनकी मृत्यु के आठ साल बाद आज भी जब वे उनका स्मरण करते हैं तब उनका हृदय दुख से भर उठता है। आप कहेंगे, "यह तुमने अच्छा झगड़ा लगाया। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से तुम्हारी माँ का क्या सम्बन्ध ?" पर मेरा विश्वास है कि दादा ने जो

भी कुछ किया, 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को आप जैसा कुछ देखते हैं, उसमें अगर यह कहा जाय कि दादा की अपेक्षा मेरी माँ का अधिक हिस्सा है तो शायद कुछ ज़्यादा अतिशयोक्ति न होगी। पुरुष कितना ही त्याग-वृत्ति का हो, सेवा-परायण और कर्तव्यनिष्ठ हो, पर अगर स्त्री अपने पति के व्रत को अपना व्रत नहीं बना लेती तो अवश्य ही उस पुरुष का पतन होता है। कार्लमार्क्स कितने ही सिद्धान्तवादी होते, पर उनकी पत्नी लोभी, विलासेच्छु होती तो वे कभी के पूंजीवादियों के मायाजाल में फँस जाते। बड़े-बड़े होनहार देश-भक्तों, त्यागियों और महापुरुषों का पतन उनकी पत्नी के अपातिव्रत्य के कारण ही हुआ है। अपने पति के व्रत को वे अपना व्रत न मान सकीं।

जब कभी हम लोग फ़ुर्सत के वक़्त दादा के पास बैठते हैं तब वे अपने जीवन की स्मरणीय घटनाओं और बातों को कहते हैं। उनको सुनने और उन पर विचार करने पर हमें मालूम होता है कि उनके चरित्र और स्वभाव के किन गुणों ने उन्हें आगे बढ़ाया और उस कार्य के करने के लिए प्रेरित किया और किन परिस्थितियों ने उसमें मदद पहुँचाई।

दादा की बातों में सबसे पहली बात जो ऊपर तैर आती है वह अत्यन्त दरिद्रता की है। दादा के पिता अर्थात् मेरे आजे का नाम था टूँडे मोदी। हम लोग देवरी ज़िला सागर (मध्य प्रान्त) के रहने वाले परवार बनिये हैं। परवार लोग अपने मूल में मेवाड़ के रहने वाले थे। पहले हथियार बाँधते थे, पर बाद में और बहुत-सी क्षत्रिय जातियों की तरह व्यापार करने लगे और वैश्य कहलाने लगे। पुराने शिला-लेखों में इस जाति का नाम 'पौरपट्ट' मिलता है और ये मेवाड़ के पुर या पौर क़सबे के रहने वाले हैं और सारे बुन्देलखंड में बहुतायत से फैले हुए हैं। मगर हमारे आजे टूँडे मोदी महाजनों में अपवाद-रूप थे। अपनी हार्दिक उदारता के सबब वे अपने आसामियों से क़र्ज़ दिया हुआ रुपया कभी वसूल न कर सकते थे और किसी को कष्ट में देखते थे तो पास में रुपया रखकर देने से इन्कार न कर सकते थे। इस कारण वे अत्यन्त दरिद्रता के शिकार हो गये। देखने को हज़ारों रुपये की दस्तावेज़ें थीं, पर घर में खाने को अन्न का दाना नहीं था। दादा सुनाते हैं कि बहुत दिनों तक घर का यह हाल था कि वे जब घोड़े पर नमक, गुड़ वग़ैरह सामान लेकर देहात में बेचने जाते थे और दिन भर मेहनत करके चार पैसे लाते थे तब कहीं जाकर दूसरे दिन के भोजन का इन्तज़ाम होता था। वे क़र्ज़दार भी हो गये थे। एक बार की बात है कि घर में चूल्हे पर दाल-चावल पक कर तैयार हुए थे और सब खाने को बैठने ही वाले थे कि साहूकार कुड़की लेकर आया। उसने वसूली में चूल्हे पर का पीतल का बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा कि भाई, थोड़ी देर ठहर। हमें खाना खा लेने दे। फिर बर्तन ले जाना। पर उसने कुछ न सुना। बर्तन वहीं राख में उडेल दिये। खाना सब नीचे राख में मिल गया और वह बर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्ब को उस दिन फ़ाक़ा करना पड़ा।

ऐसी ग़रीबी में गाँव के मदरसे में दादा पढ़े, ट्रेनिंग की परीक्षा पास की और मास्टरी की नौकरी कर ली। वे कई देहाती स्कूलों में मास्टर रहे। मास्टर होने के पहले कुछ दिन उन्होंने डेढ़ रुपया महीने की मानीटरी की नौकरी की। मास्टरी में उन्हें छः रुपया महीना मिलता था। बाद में सात रुपया महीना मिलने लगा था। इसमें से वे अपना खर्च तीन रुपये में चलाते थे और चार रुपया महीना घर भेजते थे। इन दिनों जो कम-ख़र्ची की आदत पड़ गई, वह दादा से अभी तक नहीं छूटती। एक तरफ़ तो उनमें इतनी उदारता है कि दूसरों के लिए हज़ारों रुपये दे देते हैं, पर अपने खर्च के लिए वे एक पैसा भी मुश्किल से निकाल पाते हैं। अन्य गुणों के साथ मिलकर इस आदत का असर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के संचालन पर भी गहरा पड़ा है। किताबों की बिक्री का जो भी कुछ पैसा आता रहा, वह कुछ व्यक्तिगत खर्च निकाल कर नये प्रकाशनों में ही लगता गया। बम्बई के जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा उन्होंने दस-बारह रुपये महीना किराये के मकानों में ही निकाल दिया है, जब कि उनकी हालत ऐसी थी कि खुशी से पचास रुपया महीना किराया खर्च कर सकते थे। इस आदत के कारण ही उन्हें कभी किसी अच्छे ग्रन्थ को छपाने के लिए, जिसकी कि वे आवश्यकता समझते हों, रुपयों का टोटा नहीं पड़ा और न कभी आज तक क़र्ज़ में किसी का पैसा लेकर धन्धे में लगाया। कभी किसी प्रेस वाले का या काग़ज़ वाले का एक पैसा भी उधार नहीं रक्खा। यही आदत उन्हें सभी क़िस्म के व्यसनों से और लोभ से भी बचाये रही। सट्टेबाज़ मारवाड़ियों के बीच रहकर भी हमेशा वे सट्टे के प्रलोभन

से बचे रहे। उन्होंने कभी किसी ऐसी पुस्तक को नहीं छापा, जिसका उद्देश्य केवल पैसा कमाना हो और न लोभ में पड़ कर कभी कोई ऐसा कार्य किया, जो नीति की दृष्टि से गिरा हुआ हो। कभी ऐसा मौक़ा आता है तो वे कह देते हैं, "ज़रूरत पड़ने पर फिर मैं एक बार छः रुपये महीने में गुजारा कर लूँगा, पर कमाई के लिए यह पुस्तक न छापूँगा।"

यहाँ मुझे यह भी कहना चाहिए कि अल्पसन्तोषिता से एक बुराई भी पैदा हो गई है। वह यह कि अन्य पुस्तक-प्रकाशक अपनी पुस्तक बेचने के लिए जितनी कोशिश कर पाते हैं और कभी-कभी जितनी ज्यादा बेच लेते हैं, उतनी हम नहीं कर पाते। बिक्री की दौड़ में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सदा पीछे ही रहा है, पर इनमें बहुत से अति प्रयत्नशील प्रकाशक चार दिन चमक कर अस्त हो गये, पर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' अपनी कछुए की चाल से चला ही जा रहा है।

क़रीब दो साल दादा मास्टरी करते रहे। इसी ज़माने में देवरी में स्वर्गीय अमीर अली 'मीर' के संसर्ग से दादा को कविता करने का शौक़ हुआ और उन्होंने 'प्रेमी' के उपनाम से बहुत-सी कविताएँ लिखीं, जो उस ज़माने में समस्यापूर्ति के 'रसिक मित्र', 'काव्य-सुधाकर' आदि पत्रों में छपा करती थीं। पढ़ने का भी शौक़ हुआ और आस-पास में जो भी पुस्तकें हिन्दी की मिलती थीं, सभी पढ़ीं। कोई दो साल मास्टरी की नौकरी करने के बाद सरकार ने उन्हें नागपुर कृषि-कालेज में पढ़ने भेज दिया। उन दिनों उस कालेज में हिन्दी में पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया था। पर नागपुर में वे अधिक दिन स्वस्थ न रह सके। बीमार पड़ गये और घर लौट जाना पड़ा। अपने विद्यार्थी-जीवन की सबसे अधिक स्मरणीय बात वे उस स्वावलम्बन की शिक्षा को समझते हैं, जो उस समय उन्हें मिली। उस ज़माने में कालेजों के साथ आजकल की तरह बोर्डिंग नहीं थे। सब विद्यार्थियों को अपने हाथ से ही रोटी बनानी पड़ती थी। दादा को रोटी बनाने में आधा घंटा लगता था। दादा बोर्डिंगों की प्रथा को बहुत बुरी प्रथा समझते हैं, जिससे उनमें विलासिता घर कर जाती है।

'मीर' साहब के संसर्ग में जो उन्हें काव्य-साहित्य का शौक़ हुआ सो हमेशा ही बना रहा। साथ ही ज्ञान की पिपासा जाग्रत हो गई। खुद सुन्दर कविता करने लगे, पर इससे अधिक अपने अन्य कवियों की कविताओं का उत्तम संशोधन करने का बहुत अच्छा अभ्यास हो गया। आगे चलकर इस अभ्यास की ऐसी वृद्धि हुई कि कई अच्छे कवि अपनी कविता का संशोधन कराने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। दादा का कहना है कि उनको कविता प्रयत्नपूर्वक बनानी पड़ती है। वे स्वभावतः कवि नहीं हैं। इसलिए उन्होंने बाद में कविता लिखना बन्द कर दिया। वे 'प्रेमी' उपनाम से कविता करते थे और इसी नाम से वे प्रसिद्ध हो गये। पर कविता के संशोधन और दोष-दर्शन में जितनी कुशलता उन्हें हासिल है, उतनी कुछ इने-गिने लोगों को होगी। कहीं कोई शब्द बदलना हो, कहीं कोई क़ाफ़िया ठीक न बैठता हो तो वे तुरन्त नया शब्द सुझा देते हैं और क़ाफ़िये को ठीक कर देते हैं।

इसी समय एक अख़बार में विज्ञापन निकला कि 'बम्बई-प्रान्तिक-दिगम्बर-जैन-सभा' को एक क्लार्क की ज़रूरत है। दादा ने अपना आवेदन-पत्र इस जगह के लिए भेज दिया। उनका आवेदन मंजूर हुआ और बम्बई आने के लिए सूचना आ गई। पर आप जानते हैं कि उनका आवेदन मंजूर होने का मुख्य कारण क्या था? आवेदन-पत्र तो बहुतों ने भेजे थे, पर उनका आवेदन मंजूर होने का मुख्य कारण उनकी हस्त-लिपि की सुन्दरता थी। आजकल लोग हस्त-लेख को सुन्दर बनाने पर बहुत कम ध्यान देते हैं। दादा के मोती सरीखे जमे हुए अक्षर आज भी बहुतों का मन हरण कर लेते हैं। दादा के अक्षर सुन्दर न होते तो उनका बम्बई आना न होता और न 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का उनके हाथों जन्म ही होता। बचपन में उन्होंने अपनी हस्तलिपि की सुन्दरता के लिए काफ़ी प्रयत्न किया था और क़स्बे के सरकारी स्कूल के सारे तख़्ते उन्हीं के हाथ के लिखे थे। अकसर देखा जाता है कि जिन लड़कों के अक्षर अच्छे होते हैं, वे पढ़ने में पिछड़े होते हैं, पर दादा अपनी कक्षा में हमेशा पहले दो लड़कों में रहे।

बम्बई में आकर उन्हें अपनी शक्तियों के विकास का भरपूर अवसर मिला। यहाँ आते ही उन्होंने संस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती सीखना शुरू कर दिया। छः-सात घंटे आफ़िस का काम करके बचत के समय में वे इन भाषाओं का अभ्यास करते थे। दफ़्तर में एकमेवाद्वितीय थे। चिट्ठी-पत्री लिखना, रोकड़ सम्हालना और 'जैनमित्र'

नामक मासिक पत्र के सम्पादन से लेकर पत्रों को लिफ़ाफ़ों में बन्द करना, टिकट चिपकाना, डाकखाने में जाकर डाल आने तक का काम उनका था और मिलता था उनको इसके बदले में सिर्फ़ पच्चीस रुपया माहवार। जिस काम को उन्होंने अकेले किया, उसी के लिए बाद में कई आदमी रखने पड़े।

अपने नौकरी के जीवन की सबसे स्मरणीय बात जो दादा सुनाते हैं, वह यह कि जब कभी जितनी भी तनख्वाह उन्हें मिली, हमेशा उससे उन्हें बेहद सन्तोष रहा। उन्होंने हमेशा यही समझा कि मुझे अपनी लियाक़त से बहुत ज्यादा मिल रहा है। कभी तनख्वाह बढ़वाने के लिए कोई कोशिश नहीं की और न कभी किसी से इसकी शिकायत की, पर साथ ही अपनी योग्यता बढ़ाने की सतत कोशिश करते रहे। एक सामाजिक नौकरी करते हुए भी कभी किसी सेठ-साहूकार की खुशामद नहीं की और हमेशा अपने स्वाभिमान की रक्षा करते रहे। स्वाभिमान पर चोट पहुँचते ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी। जिन सेठ साहब की देख-रेख में दादा काम करते थे, उनके कुछ लोगों ने कान भरे कि दादा रोकड़ के रुपयों में से कुछ रुपये अपने व्यक्तिगत काम में ले आते हैं। एक दिन सेठ साहब अचानक दफ़्तर में आ धमके और बोले कि तिजोरी खोलकर बताओ कि कितने रुपये हैं। दादा ने तिजोरी खोलकर रुपये-आने-पाई का पूरा-पूरा हिसाब तुरन्त दे दिया और फिर तिजोरी की चाबी उन्हीं को देकर बाहर चले गये और कह गये कि आपको मेरा विश्वास नहीं रहा। इसलिए अब मैं यह नौकरी न करूँगा। आप दूसरा आदमी रख लीजिए। बहुत आग्रह करने पर भी दादा ने नौकरी तो न की, पर 'जैनमित्र' की सम्पादकी का काम करते रहे।

उस समय बम्बई के जैनियों में पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल नामक एक त्यागी व्यक्ति थे। उन्होंने आजन्म समाज-सेवा का, विशेष करके जैन-साहित्य की सेवा का, व्रत लिया था और आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की थी। वे लोगों में 'गुरुजी' के नाम से प्रसिद्ध थे और अपने ज़माने में जैन-समाज के इने-गिने विद्वानों में से थे। वे बहुत वर्ष बंगाल के दुर्गापुर (रंगपुर) नामक स्थान में अपने भाई की दुकान पर रहे थे और दादा ने उनसे बंगाली भाषा सीख ली थी। दादा पर उनके चरित्र का, उनकी निस्पृहता का और समाज-सेवा की भावना का भी बड़ा गहरा असर हुआ और उनसे उनका सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया। उन्होंने जैनियों में शिक्षा के प्रसार के लिए और जैन-ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए **'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय'** नामक एक प्रकाशन-संस्था की स्थापना की थी। इससे **'जैन-हितैषी'** नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था और बहुत-सी जैन-पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। दादा ने भी धीरे-धीरे उनके इस काम में हाथ बटाना शुरू किया। दादा की योग्यता और परिश्रम का गुरुजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा और थोड़े ही समय बाद वे सारा काम दादा को सौंपकर चले गये। पहले दादा को अपने परिश्रम के बदले में किताबों की बिक्री पर कुछ कमीशन मिलता था। कुछ दिनों बाद 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' में दादा का आधा हिस्सा कर दिया गया। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' में किताबों की शक्ल में जो पूँजी थी, वह अधिकांश क़र्ज़ की थी, जिसका ब्याज देना पड़ता था, पर जिनकी वह पूँजी थी वे ऐसे व्यक्ति नहीं थे, जो एकाएक कभी आकर अपने रुपये तलब करने लगें। बाद में दादा ने और छगनमलजी ने यह सारा रुपया कमाकर चुकाया।

कुछ दिन बाद गुरुजी ने अपनी जगह पर अपने भतीजे श्री छगनमलजी बाकलीवाल को रख दिया। दादा और छगनमलजी दोनों मिलकर जैन-ग्रन्थों के प्रकाशन में जुट गये। दुकान का प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा काम छगनमल जी सम्हालते थे और ग्रन्थों का सम्पादन, संशोधन और 'जैन-हितैषी' के सम्पादन का काम दादा सम्हालते थे। इस समय क़रीब साठ-पैंसठ जैन-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किये। 'जैन-हितैषी' ने समाज में सबसे ज़्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त की। उसका सम्पादन इतना अच्छा होता था कि उस ज़माने की 'सरस्वती' से ही उसका मुक़ाबिला किया जा सकता था। कोई भी जातीय पत्र उसका मुक़ाबिला न कर सकता था। गुरुजी का सारा क़र्ज़ धीरे-धीरे अदा कर दिया गया और थोड़ा-सा खर्च जाकर जो बचने लगा सो प्रकाशन में ही लगने लगा।

इस ज़माने की सबसे ज़्यादा स्मरणीय बात है स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र पानाचन्द्र की सहायता। दिगम्बर-

जैन-समाज का जितना अधिक उपकार सेठ माणिकचन्द्र जी कर गये, उतना शायद ही किसी एक व्यक्ति ने किया हो। यह उपकार उन्होंने कोई धर्मादा संस्थाओं को बहुत-सा रुपया देकर किया हो, सो बात नहीं। उन्होंने जितनी संस्थाएँ क़ायम कीं उनका बहुत सुन्दर प्रबन्ध करके ही उन्होंने वह कार्य किया। जितना काम उन्होंने एक रुपये के खर्च से किया, उतना दूसरे धनवान् व्यक्ति सौ रुपया खर्च करके भी न कर पाये। इस सफलता का रहस्य उनमें कार्यकर्ताओं के चुनाव की जो जबरदस्त शक्ति थी, उसमें निहित है। साथ ही और लोग जहाँ दान में अपनी सारी सम्पत्ति का एक छोटा हिस्सा ही देते हैं वहाँ वे अपनी लगभग सारी सम्पत्ति दान में दे गये। बम्बई का हीराबाग़, जिसमें कि शुरू से आज तक 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का दफ़्तर रहा है, उनके दिये दान की एक ऐसी ही संस्था है।

जैन-ग्रन्थों के प्रकाशन में वे इस रूप में सहायता देते थे कि जो भी कोई उत्तम ग्रन्थ कहीं से प्रकाशित होता था, उसकी दो-तीन सौ प्रतियाँ एक साथ तीन-चौथाई क़ीमत में खरीद लेते थे। प्रत्येक प्रकाशक के लिए यह बहुत काफ़ी सहायता थी, जिसमें छपाई का क़रीब सारा खर्च निकल आता था। दादा को भी इस तरह काफ़ी सहायता मिली। पुस्तक-प्रकाशन में सहायता का यह ढंग इतना सुन्दर है कि दादा का कहना है कि अगर हिन्दी में उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के लिए यह ढंग अख्तियार किया जाय तो हिन्दी-साहित्य की बहुत कुछ कमी बात-की-बात में दूर हो सकती है। इसमें लेखक और प्रकाशक दोनों को उत्साह मिलता है। सिर्फ़ लेखकों को पुरस्कार देने की अथवा प्रकाशन के लिए नई प्रकाशन-संस्थाएँ खोलने की जो रीति है, उसमें खर्च के अनुपात से लाभ नहीं होता। हिन्दी में अधिकारी लेखकों का अभाव नहीं है, पर प्रकाशकों का जरूर अभाव है। जबतक बिकने की आशा न हो तबतक प्रकाशक अच्छी पुस्तकें निकालते सकुचाते हैं। पुस्तक अच्छी होगी तो लेखक जरूर पुरस्कार प्राप्त करेगा, पर प्रकाशक को उससे क्या लाभ होगा? यूरोप की तरह यहाँ तो पुरस्कार की बात सुनकर उस लेखक की पुस्तक लेने को तो दौड़ेंगे नहीं। ऐसी परिस्थिति में या तो लेखक को स्वयं ही प्रकाशक बनकर पुस्तक छपानी पड़ती है और यह वह तभी करता है जब कि उसे पुरस्कार प्राप्त करने का निश्चय होता है और या किसी प्रकाशक को किसी तरह राजी कर पाता है। पर प्रकाशक इस तरह राजी नहीं होते। वे हमेशा कुछ टेढ़े तरीक़े से लाभ उठाने की बात सोचते हैं और प्रायः इस तरह कालेजों के प्रोफ़ेसरों की और टेक्स्ट-बुक-कमेटी के मेम्बरों की ही किताबें छप पाती हैं। अन्य योग्य लेखक यों ही रह जाते हैं। नई सार्वजनिक प्रकाशन-संस्थाएँ खोलने पर प्रकाशन तो पीछे शुरू होता है, पर आफ़िस आदि का खर्च पहले ही होने लगता है और जितना खर्च वास्तविक कार्य के पीछे होना चाहिए, उससे ज्यादा खर्च ऊपर के आफ़िस आदि के ऊपर होता है और कहीं उसने पत्र निकाला और प्रेस किया तो समझिये कि वह बिना मौत ही मर गई। पुरानी प्रकाशन-संस्थाओं के होते हुए नई प्रकाशन संस्थाएँ पैदा करना दोनों को भूखा मारने के बराबर होता है और असंगठित रूप से नये-नये प्रकाशक रोज़ होने से न उनकी पुस्तकों की बिक्री का ठीक संगठन ही होता है और न पढ़ने वालों को पुस्तकें मिल पाती हैं।

स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र जी के प्रति दादा का जो कृतज्ञता का भाव था, उससे प्रेरित होकर उनके स्वर्गवास के बाद उन्होंने **'माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला'** नाम की संस्था खड़ी की, जिसका कार्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के लुप्तप्राय प्राचीन जैन-ग्रन्थ सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करना है। इस समय तक इसमें सिर्फ़ बीस हजार का चन्दा हुआ है और चालीस ग्रन्थ निकल चुके हैं। दादा इस माला के प्रारम्भ से ही अवैतनिक मन्त्री रहे हैं और उसका कार्य इस बात का उदाहरण रूप रहा है कि किस प्रकार कम-से-कम रुपये में अधिक-से-अधिक और अच्छे-से-अच्छा काम किया जा सकता है; क्योंकि ग्रन्थों की क़ीमत लागत-मात्र रक्खी जाने के कारण और एक-मुश्त सौ रुपया देने वालों को सारे ग्रन्थ मुफ़्त दिये जाने के कारण बिक्री के रूप में मूल रक़म वसूल करने की आशा ही नहीं की जा सकती। बहुत से ग्रन्थों का सम्पादन दादा ने खुद ही किया है और बहुतों का दूसरों के साथ और शेष का अच्छे आदमियों को चुनकर करवाया है। पहले तो इस कार्य के योग्य विद्वानों का ही अभाव था। बाद में जब विद्वान मिलने लगे तब रुपयों का अभाव हो गया। यहाँ इतना कहना जरूरी है कि अपने प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित करने की ओर

दिगम्बर-जैन-समाज का बहुत ही दुर्लक्ष्य है। बड़ी मुश्किल से उसके लिए रुपया मिलता है। प्राचीन जैन-इतिहास का अध्ययन और इन ग्रन्थों के सम्पादन में दिलचस्पी के कारण दादा को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का इतना काफ़ी ज्ञान हो गया है कि इन भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वान् उनकी वाक मानते हैं। ब्रज-भाषा का सुन्दर ज्ञान तो दादा को अपने कवि-जीवन से ही है।

'जैन-हितैषी' का सम्पादन करते हुए और जैन-पुस्तकों का प्रकाशन करते हुए दादा हमेशा बँगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी की बाहरी पुस्तकें बहुत-कुछ पढ़ा करते थे। इन सब के साहित्य को पढ़कर उन्हें यह बात बहुत खटकती थी कि हिन्दी में अच्छे ग्रन्थों का अभाव है और ये भाषाएँ बराबर आगे बढ़ रही हैं। उस समय उनके पढ़ने में पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा अनुवादित जॉन स्टुआर्ट मिल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिबर्टी' आया, जो 'स्वाधीनता' के नाम से स्वर्गीय पं० माधव राव सप्रे की 'हिन्दी-ग्रन्थ-प्रकाशन-मंडली' से प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़कर दादा की इच्छा हुई कि इसकी सौ-दोसौ प्रतियाँ लेकर जैनियों में प्रचार करें, ताकि उनकी कट्टरता कम हो और वे विचार-स्वातन्त्र्य का महत्त्व समझें। पर तलाश करने पर मालूम हुआ कि वह ग्रन्थ अप्राप्य है। तब इसके लिए उन्होंने द्विवेदी जी को लिखा। उस समय तक दादा को गुमान भी नहीं था कि वे किसी दिन हिन्दी के भी प्रकाशक बनेंगे। उन्होंने तो अपने कार्यक्षेत्र को जैन-ग्रन्थों के प्रकाशन और जैन-समाज की सेवा तक ही सीमित रख छोड़ा था। द्विवेदीजी ने बताया कि गवर्नमेंट देशी भाषाओं में इस तरह का साहित्य छापना इष्टकर नहीं समझती। इसलिए इसके प्रकाशन में जोखम है। पर दादा राजनैतिक साहित्य खूब पढ़ते थे और उन्हें बड़ा जोश था। उन्होंने उसे छापने का बीड़ा उठा लिया। प्रेस-सम्बन्धी कठिनाइयाँ आई, पर वे हल हो गई और द्विवेदीजी के आशीर्वाद और उनकी 'स्वाधीनता' के प्रकाशन से ता० २४ सितम्बर १९१२ को **'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-ग्रन्थमाला'** का जन्म हुआ।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सबसे पहली ग्रन्थमाला थी, जो हिन्दी में प्रकाशित हुई। मराठी वग़ैरह भाषाओं में उस समय कई ग्रन्थमालाएँ निकल रही थीं। उन्हीं के अनुकरण में इन्होंने भी स्थायी ग्राहक की फ़ीस आठ आना रक्खी, जो पोस्टेज बढ़ जाने के कारण बाद में एक रुपया कर दी गई। यह ग्रन्थ-माला हिन्दी में सब तरह का साहित्य देने के उद्देश्य से निकाली गई थी। उस समय लोगों में यह भावना थी कि हिन्दी में जो भी नवीन साहित्य छपे, सब खरीदा जाय, क्योंकि उस समय हिन्दी में नवीन साहित्य था ही कितना! उस समय लोगों में साहित्य को अवलम्बन देने का भाव भी था। इसलिए धीरे-धीरे माला के डेढ़ दो हज़ार ग्राहक आसानी से हो गये और हरेक पुस्तक का पहला संस्करण दो हज़ार का निकलने लगा। लगभग डेढ़ हज़ार तो पुस्तक निकलते ही चली जाती थीं, बाक़ी धीरे-धीरे बिकती रहती थीं। समालोचना का उन दिनों यह असर था कि 'सरस्वती' में एक अच्छी समालोचना निकलते ही पुस्तक की सौ-डेढ़-सौ प्रतियाँ तुरन्त ही बिक जाती थीं और विज्ञापन का भी तत्काल असर होता था। महायुद्ध के ज़माने में बारह आने पौण्ड का काग़ज़ खरीद कर भी ग्रन्थमाला बराबर चालू रक्खी गई। पर इस ज़माने का लाभ दादा बहुत समय तक और पूरा न ले सके। कई सख्त और लम्बी बीमारियाँ उन्हें झेलनी पड़ीं। साथ ही उन्हें जैन-समाज की और साहित्य की सेवा करने की धुन ज्यादा थी। ज़्यादा वक़्त ऐतिहासिक लेख लिखने और 'जैन-हितैषी' के सम्पादन में ख़र्च होता था। जितना परिश्रम और खर्च उन्होंने 'जैन-हितैषी' के सम्पादन में किया, उससे आधे परिश्रम में हिन्दी का अच्छे-से-अच्छा मासिक पत्र चलाया जा सकता था और सम्पादक और लेखक के तौर पर बड़ा यश कमाया जा सकता था। सिवाय इसके विज्ञापन का एक बहुत सुन्दर साधन भी बन सकता था।

पर इस सब समाज के लिए की गई मेहनत का परिणाम क्या हुआ है? दादा तब उग्र और स्वतन्त्र मिज़ाज के व्यक्ति थे। किसी से भी दबना उनके स्वभाव के खिलाफ़ था और ऐसी व्यंग और कटाक्ष भरी लेखनी थी कि जिसके खिलाफ़ लिखते थे उसकी शामत आ जाती थी। इसके सिवाय सेठ लोगों के वे हमेशा खिलाफ़ लिखते थे। पहले 'जैन-हितैषी' की ग्राहक-संख्या खूब बढ़ी। इतनी बढ़ी कि जैन-समाज में किसी भी सामाजिक पत्र की कभी उतनी नहीं हुई। दादा के विचार अत्यन्त सुधारक थे और छापे का प्रचार, विजातीय विवाह वग़ैरह के कई आन्दोलन उसमें शुरू

किये, पर जब उन्होंने विधवा-विवाह के प्रचार का आन्दोलन उसमें शुरू किया तो उसका चारों ओर से बहिष्कार प्रारम्भ हुआ। उसके विरुद्ध प्रचार करने के लिए कई उपदेशक रक्खे गये। इन सामाजिक लेखों के अलावा उसमें ऐतिहासिक लेख बहुत होते थे, जिनकी क़ीमत उस समय नहीं आँकी गई, पर उनके लिए आज उसके पुराने अंकों के लिए सैकड़ों देशी और विलायती संस्थाएँ दस गुनी क़ीमत देने को राजी हैं, लेकिन आज वे बिलकुल ही अप्राप्य हैं। विधवा-विवाह के प्रचार के लेख ही दादा ने नहीं लिखे, बल्कि अनेक विधवा-विवाहों में वे शामिल हुए और अपने भाई का भी विधवा-विवाह उन्होंने कराया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें कई जगह जाति से बहिष्कृत होना पड़ा तथा समाज में उनका सम्मान बिलकुल ही कम हो गया, पर इससे वे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। आखिर समाज को ही उनसे हार माननी पड़ी। पर हाँ, बीमारी और घाटे के सबब उस समय पत्र बन्द कर देना पड़ा। सब मिलाकर वह पत्र ग्यारह वर्ष चला। उसका सारा खर्च और घाटा 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' खुद ही बर्दाश्त करता रहा। किसी से एक पैसे की सहायता नहीं ली।

स्थायी ग्राहक बनने का सिलसिला तभी तक रहा, जबतक कि डाक-व्यय की दर कम रही। पहले एक-दो रुपये तक की वीपियों को रजिस्टर कराने की ज़रूरत नहीं होती थी और इसलिए जहाँ भी किसी एकाध रुपये की पुस्तक का भी विज्ञापन ग्राहक देखता था या समालोचना पढ़ता था कि तुरन्त कार्ड लिखकर आर्डर दे देता था और बहुत कम खर्च में उसे घर बैठे पुस्तक मिल जाती थी। उस ज़माने में इतने आर्डर आते थे कि उनकी पूर्ति करना मुश्किल था और छगनमल जी अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें बेचने के लिए रखते नहीं थे। फिर भी साल में क़रीब पाँच-छः हज़ार वीपियाँ जाती थीं। यह बात 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के पुराने रजिस्टरों से बखूबी सिद्ध की जा सकती है कि जिस अनुपात में डाक-व्यय की दर बढ़ती गई, ठीक उसी अनुपात में जाने वाली वीपियों की संख्या घटती गई। दादा का ख्याल है कि अगर हमें देश में स्थायी साक्षरता और संस्कृति का विस्तार करना है तो सबसे पहले पुस्तकों के लिए पोस्टेज की दर कम कराने का आन्दोलन करना चाहिए। कांग्रेस का ध्यान भी इस तरफ़ पूरी तरह से नहीं खींचा गया है। चिट्ठियों और कार्डों पर डाक-महसूल की दर भले ही कम न हो, पर किताबों पर जरूर ही कम हो जानी चाहिए। अगर यह नहीं होगा तो कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। चाहे समाजवाद हो, चाहे राष्ट्रवाद हो और चाहे गांधीवाद, जबतक उसका साहित्य सस्ते पोस्टेज के द्वारा घर-घर न पहुँच सकेगा तबतक किसी में सफलता न होगी। किताबों की क़ीमत सस्ती रखकर कुछ दूरी तक साहित्य के प्रचार में सहायता पहुँचाई जा सकती है, पर वह अधिक नहीं। एक रुपये की पुस्तक मँगाने पर अगर आठ-दस आने पोस्टेज में ही लग जावें तो पुस्तक के सस्तेपन से उसकी पूर्ति कैसे की जा सकती है? ऐसी परिस्थिति में तो सभी यह सोचेंगे कि पुस्तक फिर कभी मँगा ली जायगी और फिर कभी का समय नहीं आता। हाल में ही 'मॉडर्न-रिव्यू' में जब रामानन्द बाबू का पोस्टेज के बारे में अमेरिका के प्रेसीडेंट रुज़वैल्ट की डिक्री पर नोट पढ़ा तब मुझे इसका ख्याल हुआ कि अमेरिका जैसे धनवान देश में किताबों के लिए डाकखाने ने पोस्टेज का रेट फ़ी पौण्ड तीन पैसा (२ सेंट) रख छोड़ा है तब हिन्दुस्तान का चार आने फ़ी पौण्ड से ऊपर का रेट कितना ज़्यादा है। मेरे ख्याल से इसके लिए अगर एक बार सत्याग्रह-आन्दोलन भी छेड़ा जाय तो भी उचित ही है।

पोस्टेज के रेट बढ़ने पर धीरे-धीरे हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज़ के और उसके अनुकरण में निकलने वाली अन्य मालाओं के ग्राहक टूट गये। बाद को सब ने बहुत कोशिश की, नियमों में बहुत-सी ढील डाली गई, पर कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। इस तरह पुस्तक-बिक्री का पुराना संगठन नष्ट हो गया और नया पैदा भी नहीं होने पाया। साहित्यिक पुस्तकों की बिक्री के लिए बड़े-बड़े शहरों में भी अबतक कोई उचित प्रबन्ध नहीं हो सका है और होना बड़ा मुश्किल है; क्योंकि साहित्यिक पुस्तकों की इतनी बिक्री अभी बहुत कम जगह है कि उससे किसी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता का पेट भर सके। फिर कमीशन की नियमितता ने इसकी जो कुछ सम्भावना थी उसे भी नष्ट कर दिया है। स्कूली पुस्तकें बेचने वाले विक्रेता सब जगह हैं, धार्मिक और बाज़ारू पुस्तकें बेचने वाले भी हैं, पर वे साहित्यिक पुस्तकें रखना पसन्द नहीं करते।

ख़ैर, पोस्टेज की कमी के सबब से 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को अपनी उन्नति में जो सहारा मिला, उसे तो हम निमित्त कारण कह सकते हैं, भले ही वह निमित्त-कारण कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो ! उसकी उन्नति के प्रमुख कारण दूसरे ही हैं। मेरी समझ में नीचे लिखे कारण उसमें मुख्य हैं—

(१) ग्रन्थों का चुनाव—दादा अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों का चुनाव बड़ी मेहनत से करते हैं। प्रकाशनार्थ जितने ग्रन्थ हमारे यहाँ आते हैं, उनमें से सौ में से पिचानवे तो वापिस लौटा दिये जाते हैं। फिर भी लोग बहुत ज़्यादा अपनी पुस्तकें दादा के पास भेजते हैं। हिन्दी में अन्य प्रकाशकों के यहाँ से प्रकाशित हो जाने वाली अनेक पुस्तकें ऐसी होती हैं जो हमारे यहाँ से वापिस कर दी गई होती हैं। चुनाव के वक़्त दादा तीन बातों पर ध्यान देते हैं—

(अ) प्रथम श्रेणी की पुस्तक हो, चाहे उसके बिकने की आशा हो, चाहे न हो।

(आ) पुस्तक मध्यम श्रेणी की हो, मगर ज़्यादा बिकने की आशा हो।

(इ) लेखक प्रतिभाशाली हो तो उसे उत्साह देने के लिए।

अधम श्रेणी की किताब को, चाहे उसके कितने ही बिकने की आशा हो, वे कभी नहीं प्रकाशित करते। अनुचित प्रलोभन देकर जो लोग अपनी पुस्तक प्रकाशित करवाना चाहते हैं, उनकी पुस्तक वे कभी नहीं छापते। एक दफ़े की बात मुझे याद है कि एक महाशय ने, जिनका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के परीक्षा-विभाग से सम्बन्ध था, दादा को पत्र लिखा कि मैं अपना अमुक उपन्यास और कहानी-संग्रह आपको भेज रहा हूँ। इसे आप अपने यहाँ से प्रकाशित कर दीजिए। मैं भी आपके लिए काफ़ी कोशिश कर रहा हूँ। आपकी तीन पुस्तकें मैं मध्यमा के पाठ्यक्रम में लगा रहा हूँ। कहना न होगा कि दादा ने उनका उपन्यास और कहानी-संग्रह बैरंग ही वापिस भेज दिया। सम्मेलन का पाठ्यक्रम छपते-छपते उसमें से भी पाठ्यक्रम में लगी पुस्तकों के नाम ग़ायब हो गये। बाद में कभी भी दादा की कोई पुस्तक नहीं ली।

(२) उत्तम संशोधन और सम्पादन—हिन्दी के बहुत से प्रसिद्ध लेखक अबतक भी शुद्ध भाषा नहीं लिखते। कुछ दिन हुए एक पुराने लेखक ने हमारे यहाँ एक पोथी छपने भेजी थी, जिसमें हिन्दी की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में की व्याकरण और रचना-सम्बन्धी हज़ारों ग़लतियाँ संगृहीत की गई थीं, पर उस पोथी को दादा ने छापा नहीं। जो भी पुस्तकें 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से प्रकाशित होती हैं, उनका संशोधन बड़े परिश्रमपूर्वक किया जाता है और अन्तिम प्रूफ़ लेखक की सम्मति के लिए उसके पास भेज दिया जाता है। संशोधन में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि उससे लेखक की लेखन-शैली में फ़र्क़ न होने पावे। संशोधन में दादा ने स्वर्गीय पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के ढंग को बुरी तरह अपना लिया है। जान स्टुअर्ट मिल को द्विवेदी जी ने जिस तरह संशोधित किया था उसे दादा ने अपने मानस-पटल पर रख छोड़ा है। अनुवाद-ग्रन्थों के प्रकाशित करने के पहले मूल से अक्षर-अक्षर दादा अपने हाथ से मिलाते हैं या मुझसे मिलवाते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध अनुवादक भी ऐसी भद्दी ग़लतियाँ करते हैं कि क्या कहा जाय। एक ही अनुवादक की 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से निकली पुस्तक में और अन्यत्र से निकली पुस्तक में बहुत बार बड़ा अन्तर दीख पड़ेगा। यह सब मेहनत करके भी सम्पादक या संशोधक के रूप में अपना नाम देने का दादा को शौक़ नहीं है।

(३) छपाई-सफ़ाई—किताबों की छपाई-सफ़ाई अच्छी हो, इस पर दादा का बड़ा ध्यान रहता है। उनका कहना है कि बम्बई में वे इसीलिए पड़े रहे हैं कि यहाँ वे अपने मन की छपाई-सफ़ाई करवा सकते हैं। एक दफ़े उन्होंने घर का प्रेस करने का विचार किया था और विलायत को मशीनरी का आर्डर भी दे दिया। पर उसी समय दो ऐसी घटनाएँ हो गईं, जिन्होंने उनके मन पर बड़ा असर किया और तुरन्त ही उन्होंने घाटा देकर प्रेस की मशीनें बिकवा दीं। उस समय मराठी में स्वर्गीय श्री काशीनाथ रघुनाथ मित्र का मासिक पत्र 'मनोरंजन' बड़ा लोकप्रिय था और क़रीब पाँच-छः हज़ार खपता था। उसे वे पहले 'निर्णय-सागर' प्रेस में और बाद में 'कर्नाटक-प्रेस' में छपवाते थे। प्रेस में काम की अधिकता के कारण कभी-कभी उनका पत्र लेट हो जाता था। कर्नाटक प्रेस के मालिक स्वर्गीय श्री गणपति राव कुलकर्णी ने खास उनके काम के लिए क़र्ज़ लेकर एक बहुत बड़ी क़ीमत की मशीन मँगाई। इसी बीच में मित्र महाशय को खुद ही अपना प्रेस करने की सूझी और उन्होंने प्रेस कर लिया। प्रेस कर लेने के बाद बाहर के

काम के लोभ के कारण और प्रेस पर ध्यान बँट जाने के कारण 'मनोरंजन' जहाँ पहले एकाध महीना लेट निकलता था वहाँ अब दो-दो महीने लेट निकलने लगा और कार्याधिक्य और चिन्ता के कारण उनकी मृत्यु हो गई। यहाँ कर्नाटक प्रेस की वह मशीन बेकार पड़ी रही और क़र्ज़ की चिन्ता के मारे गणपति राव की मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने दादा पर बड़ा प्रभाव डाला। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अपनी जिन्दगी में मैं कभी प्रेस नहीं करूँगा। घर का प्रेस होने पर उसमें चाहे छपाई अच्छी हो या बुरी अपनी पुस्तकें छापनी ही पड़ती हैं। दूसरे उस पर ध्यान बँट जाने पर अपना संशोधन वग़ैरह का कार्य ढीला पड़ जाता है। तीसरे प्रेस को हमेशा काम देते रहने की चिन्ता के कारण अच्छी-बुरी सभी तरह की पुस्तकें प्रकाशित करनी पड़ती हैं और इस तरह यश में बट्टा लगता है। नियमित काम देने पर जो रेट किसी भी प्रेस से पाये जा सकते हैं वे हमेशा उससे कम होते हैं, जो रक़म का व्याज बाद देने पर घरू प्रेस करने पर घर में पड़ सकते हैं।

(४) सद्व्यवहार—दादा का व्यवहार अपने लेखकों, अपने सहयोगी प्रकाशकों और मित्रों से अच्छा रहा है। इस व्यवहार की कुंजी रही है ग़म खाना। पर वे कभी किसी से दबे नहीं हैं, न कभी किसी की चापलूसी ही उन्होंने की है। प्रकाशकों को उन्होंने अपना प्रतिस्पर्धी नहीं समझा। अनेक बार ऐसा हुआ है कि कोई नई पुस्तक प्रकाशन के लिए आई है और उसी वक़्त कोई प्रकाशक-मित्र उनके पास आये हैं। उन्होंने कहा है कि यह पुस्तक तो प्रकाशन के लिए मुझे दे दीजिए और उसी वक़्त खुशी-खुशी दादा ने वह पुस्तक उन्हें दे दी। कभी कोई पुस्तक ख़ुद न छपा सके तो दूसरे प्रकाशकों से प्रबन्ध कर दिया। इसी तरह सब शर्तें तै हो जाने पर लेखक का हक़ न रह जाने पर भी अगर कभी लेखक ने कोई उचित माँग की है तो उन्होंने उसे तुरन्त पूरा किया है। किसी भी लेखक की कोई पुस्तक उन्होंने दबाकर नहीं रक्खी। पढ़कर उसे तुरन्त वापिस कर दिया है। हमेशा उन्होंने सब से निर्लोभिता और उदारता का व्यवहार रक्खा है।

अन्त में अब मैं 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कराना उचित समझता हूँ।

'हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकर' में हिन्दी के अधिकांश लेखकों की पहली चीज़ें निकली हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी की सबसे पहली रचनाएँ 'नव निधि' और 'सप्तसरोज' क़रीब-क़रीब एक साथ या कुछ आगे-पीछे निकली थीं। जैनेन्द्र जी, चतुरसेन जी शास्त्री, सुदर्शन जी वग़ैरह की पहली रचनाएँ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से ही निकलीं। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के नाम की इतनी प्रतिष्ठा है कि हमें अपनी पुस्तकें बेचने के लिए न आलोचकों की खुशामद करनी पड़ती है और न विशेष विज्ञापन ही करना पड़ता है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का नाम ही उसके लिए उत्तम चीज़ का प्रत्यय होता है। लेखक की पहले से विशेष प्रसिद्धि हो, इसकी भी ज़रूरत नहीं होती। हमारे यहाँ आकर लेखक अपने आप प्रसिद्ध हो जाता है। आलोचनार्थ पुस्तकें भी हमारे यहाँ से बहुत कम भेजी जाती हैं। हिन्दी के बहुत से बड़े आदमी अपना हक़ समझते हैं कि आलोचना के बहाने उन्हें मुफ़्त में किताबें मिला करें। ऐसे लोगों से दादा को बड़ी चिढ़ है। उन्हें वे शायद ही कभी किताब भेजते हैं। पत्रों के पास भी आलोचना के लिए किताबें कम ही भेजी जाती हैं। पहले जब आलोचनाओं का प्रभाव था और ईमानदार समालोचक थे तब ज़रूर दादा उनकी बड़ी फ़िक्र करते थे और आलोचनाओं की कतरनें रखते थे और सूचीपत्र में उनका उपयोग भी करते थे। अब केवल ख़ास-ख़ास व्यक्तियों को, जिन पर दादा की श्रद्धा है, आलोचना के लिए किताबें भेजी जाती हैं। इसकी ज़रूरत नहीं समझी जाती कि वह आलोचना किसी पत्र में छपे। उनका हस्तलिखित पत्र ही इसके लिए काफ़ी होता है और ज़रूरत पड़ने पर उसका विज्ञापन में उपयोग कर लिया जाता है।

बम्बई]

मेरा सद्भाग्य

श्री जैनेन्द्रकुमार

प्रेमीजी का नाम बहुत छुटपन में पुस्तकों पर देखा था। उसी आधार पर सन् '२६ में अपनी 'परख' उनके पास भेजने का साहस कर बैठा। साहस को समझाना मुश्किल है। मैं लेखक न था और इस कल्पना से ही जी सहम जाता था कि किताब छप सकती है। किताबों पर छपे लेखकों के नाम अलौकिक लगते थे और प्रकाशकों के बारेमें तरह-तरह की कथाएँ सुनी थीं। तो भी प्रेमीजी के नाम पर मन में साहस बाँधकर मैंने लिखे काग़ज़ों का पुलिन्दा बम्बई भेज दिया।

जानता था कि कुछ न होगा। किताब तो छपेगी ही नहीं, उत्तर भी न आयेगा। एक नये प्रकाशक के पास यही काग़ज़ छः महीने पड़े रहे थे। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' तो उन्हें पूछेगा ही क्यों ? पर चौथे रोज़ पाण्डुलिपि की पहुँच आ गई। पत्र खुद प्रेमीजी के हाथ का था। लिखा था कि जल्दी पुस्तक देखकर लिखूँगा। चार-पाँच रोज़ बीतते-न-बीतते दूसरा पत्र आ गया कि पुस्तक को छापने को तैयार हैं और अमुक महीने में प्रेस में दे सकेंगे। बात उतनी ही लिखी गई, जितनी की गई और समय का अक्षरशः पालन हुआ।

इस अनुभव ने मुझे बड़ा सहारा दिया। मैं जगत् को अविश्वास से देख रहा था। धारणा थी कि अपरिचित के लिए दुनिया एक बाज़ार है, जहाँ छल और सौदा है। अपने-अपने लाभ की सबको पड़ी है और एक का ख्याल दूसरे को नहीं है। लेखक और प्रकाशक के बीच में तो उस बाज़ार के सिवा कुछ है ही नहीं। लेकिन प्रेमीजी के प्रथम सम्पर्क ने मुझे इस नास्तिकता से उबार लिया। उनकी प्रामाणिकता से मैंने अपने जीवन में यह गम्भीर लाभ प्राप्त किया।

इसके बाद से तो मैं उनका हो रहा। यह कभी नहीं सोचा कि अपनी किताब किसी और को भी जा सकती है। अपना लिखा उन्हें सौंप कर खुद मैं निश्चिन्त रहा। लिखी सामग्री कब छपती है, कैसे छपती है, कैसी बिकती है और क्या लाभ लाती है, इधर मैंने ध्यान ही नहीं दिया। कभी इसमें शंका नहीं हुई कि उनके हाथों मेरा हित उससे अधिक सुरक्षित है कि जितना मैं खुद रख सकता हूँ।

लोग हैं जो बाज़ार में नहीं हैं और नीतिनिष्ठ हैं। लेकिन दुकान लेकर यह अत्यन्त दुर्लभ है कि सामने की अज्ञानता का लाभ लेने से चूका जाय। व्यवसाय में यह अन्याय नहीं है और कुशलता है। व्यवसाय किया ही द्रव्योपार्जन के लिए जाता है। कर्म-कौशल के तारतम्य से ही उसमें लाभ-हानि होती है। हानि वाला अपने को ही दोष दे सकता है और लाभ जो जितना कर लेता है, वह उसकी चतुराई है। व्यवसाय में इस तरह मानों एक अटूट 'कर्म-सिद्धान्त' व्याप्त है। जो जितनी ऊँची कमाई करता है, कर्म की दृष्टि से वह उतना ही पात्र है। उसे अपने शुभ कर्मों का ही इस रूप में फल-भोग मिलता है।

उसी बाज़ार में दूसरे के हित का यथोचित मान करने वाली प्रामाणिकता एक तरह अकुशलता भी है। पर देखते हैं कि प्रेमीजी ने मानों उस अकुशलता को स्वेच्छा से स्वीकार किया है।

पहली पुस्तक 'परख' सन् '३० में छप आई। मैं तब जेल में था। वहाँ प्रेमीजी की ओर से तरह-तरह की पुस्तकें मुझे भेजी जाती रहीं। परोक्ष के परिचय में से ही इस भाँति उनका वात्सल्य और स्नेह प्रत्यक्ष होकर मुझे मिलने लगा। जेल के बाद कराँची-कांग्रेस से उसी स्नेह में खिंचा मैं बम्बई जा पहुँचा। मेरे जेल रहते प्रेमीजी खुद मेरे घर हो आये थे। लेकिन मेरे लिए बम्बई में उनका यह प्रथम दर्शन था। पर साक्षात् के पहले ही रोज़ से उनके यहाँ तो मैंने अपने को घर में पाया ! क्षण को भी न अनुभव किया कि महमान हूँ या पराया हूँ।

वहाँ उनके काम करने का ढंग देखा। एक शब्द में, अथ से इति तक, वह प्रामाणिक हैं। मालिक से अधिक वह श्रमिक हैं। पूरा-पूरा लाभ मालिक को आता है। इसलिए अचरज नहीं कि मालिक भी श्रम पूरा-पूरा करे। लेकिन नहीं, प्रेमीजी की बात और है। श्रम उनके स्वभाव में है। मालिकों की अक्सर नीति होती है काम लेना। बड़े व्यवसायी और उद्योगपति इस करने की जगह काम लेने की नीति से बड़े बनते हैं। वे श्रम करते नहीं, कराते हैं और सबके श्रम के फ़ायदे का अधिक भाग अपने लिए रखते हैं। व्यवस्थापक इस तरह अधिकांश श्रमिक नहीं होते, चतुर होते हैं। प्रेमीजी की त्रुटि कहिए कि विशेषता कहिए, वे बड़े व्यवसायी नहीं हैं और नहीं हो पाये। कारण, वे स्वयं औरों से अधिक श्रम करने के आदी और अभ्यासी हैं।

पुस्तक उनके हाथों आकर सदोष नहीं रह सकती। भाषा देखेंगे, भाव देखेंगे, पंक्चुएशन देखेंगे और छपते समय भी छपाई और गैटप आदि का पूरा ध्यान रक्खेंगे। कहीं किसी ओर प्रमाद नहीं रह पायगा। अपनी पुस्तक के सम्बन्ध में इतनी सावधानी और सयत्नता रखने वाला प्रकाशक दूसरा मेरे देखने में नहीं आया।

बस, उनके लिए घर और दुकान। दुकान से शाम को घर और घर से सवेरे दुकान। इस स्वधर्म की मर्यादा से कोई तृष्णा उन्हें बाहर नहीं ला सकी। यही सद्गृहस्थ का आदर्श है। बेशक वह आदर्श आज की परिस्थिति की माँग में कुछ ओछा पड़ता जा रहा है; लेकिन अपनी जगह उसमें स्थिर मूल्य है और प्रेमीजी उस पर अत्यन्त संयत और अडिग भाव से क़ायम रहे हैं। घर-गिरिस्ती में अपने को बाँटकर रहना, शेष के प्रति सद्भाव रखना और न्यायोपार्जित द्रव्य के उपभोग का ही अपने को अधिकारी मानना, सद्गृहस्थ की यह मर्यादा है। प्रेमीजी का गुण-स्थान वही है और भावना से यद्यपि वे ऊँचे पहुँचते रहे, व्यवहार में ठीक वहीं रहे। उससे नीचे मेरे अनुमान में कभी नहीं उतरे।

उनका आरम्भ जैन जिज्ञासु के रूप से हुआ; लेकिन साम्प्रदायिकता ने उन्हें नहीं छुआ। जैनत्व से आत्मिक और मानसिक के अलावा ऐहिक लाभ लेने की उन्होंने नहीं सोची। धर्म से ऐहिक लाभ उठाने की भावना से व्यक्ति साम्प्रदायिक बनता है। वह वृत्ति उनमें नहीं हुई, फलतः हर प्रकार का प्रकाश वह स्वीकार करते गये। उनकी जिज्ञासा बन्द नहीं हुई, इससे विकास मन्द नहीं हुआ। सहानुभूति फैलती गई और सत्साहित्य की पहचान उनकी सहज और सूक्ष्म होती चली गई।

उनकी यही आन्तरिक वृत्ति कारण थी कि बिना कहीं पढ़े अपने व्यवसाय में रहते-सहते विविध विषयों का गम्भीर ज्ञान वह प्राप्त कर सके और निस्सन्देह एक से अधिक विषयों के ऊँचे-से-ऊँचे कोटि के विद्वानों के समकक्ष गिने जाने लगे। वह ज्ञान उनमें संचित न रहा, उन्हें सिद्ध हो गया। उसे उन्हें स्मरण न रखना पड़ा, वह आप ही समुपस्थित रहा। इसी में उनके स्वभाव की प्रामाणिकता आ मिली तो उनकी सम्मति विद्वानों के लिए लगभग निर्णीत तथ्य का मूल्य रखने लगी। कारण, इनके कथन में पक्ष न होता, न आवेश, न अतिरंजन, न अत्युक्ति।

एक बात का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अपने को साधारण से भिन्न समझते मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। कभी उन्होंने अपने में कोई विशिष्टता अनुभव नहीं की। इस सहज निरभिमानता को मैं अत्यन्त दुर्लभ और महान गुण मानता हूँ। मेरे मन तो यही ज्ञानी का लक्षण है। जो अपने को महत्त्व नहीं देता, वही इस अवस्था में होता है कि शेष सबको महत्त्व दे सके। इस दृष्टि से प्रेमीजी को जब मैंने देखा है, विस्मित रह गया हूँ। उनकी इस खुली निरीह साधारणता के समक्ष मैंने सदा ही भीतर से अपने को नत मस्तक माना है और ऐसा मानकर एक कृतार्थता भी अनुभव की है। ऐसा अनुभव इस दुनिया में अधिक नहीं मिलता कि जहाँ सब अपने-अपने को गिनने के आदी और बाक़ी दूसरों को पार कर जाने के आकांक्षी हैं।

उनकी सहज धर्म-भीरुता के उदाहरण यत्रतत्र अनेक मिलेंगे। एक सज्जन ने हिसाब में भूल से एक हज़ार की रक़म ज़्यादा भेज दी। वह जमा हो गई और हिसाब साल-पर-साल आगे आता गया। तीन-चार साल हो गये। दोनों तरफ़ खाता बेबाक़ समझा जाता था। एक अर्से बाद पाया गया कि कहीं से एक हज़ार की रक़म बढ़ती है। खोज-पड़ताल की गई। बहुत देखने पर पता चला कि अमुक के हिसाब में वह रक़म ज़्यादा आ गई है। तुरन्त उन

सज्जन को लिखा गया कि वह कृपया अपना हिसाब देखें। साधारणतः उन सज्जन ने लिख दिया कि हिसाब तो साफ़ है और बेबाक़ है; लेकिन प्रेमीजी की ओर से उन्हें सुझाया गया कि तीन-चार वर्ष पहले की हिसाब-बही देखें, हमारे पास एक हज़ार की रक़म ज़्यादा आ गई है। इस तरह अपनी ओर से बढ़ी रक़म को पूरे प्रयत्न से जानने के बाद कि वह यथार्थ में किसकी है और मालूम होने पर तत्काल उसे उन्हीं को लौटाये बिना प्रेमीजी ने चैन नहीं लिया। यह अप्रमत्त ईमानदारी साधना से हाथ आती है। पर प्रेमीजी का वह स्वभाव हो गई है।

उनका जीवन अन्दर से धार्मिक है। इसी से ऊपर से उतना धार्मिक नहीं भी दीखे। यह धर्म उनका श्वास है, स्वत्व नहीं। प्राप्त कर्त्तव्य में दत्तचित्त होकर बाहरी तृष्णाओं और विपदाओं से अकुण्ठित रहे हैं। पत्नी गईं, भर-उमर में पुत्र गया। प्रेमीजी जैसे संवेदनशील व्यक्ति के लिए यह वियोग किसी से कम दुस्सह नहीं था। इस विछोह की वेदना के नीचे उन्हें बीमारी भी भुगतनी हुई, लेकिन सदा ही अपने काम में से वह धैर्य प्राप्त करते रहे। प्राप्त में से जी को हटा कर अप्राप्त अथवा विगत पर उन्होंने अपने को विशेष नहीं भरमाया। अन्त तक काम में जुटे रहे और भागने की चेष्टा नहीं की। मैंने उन्हें अभी इन्हीं दिनों काम में व्यस्त देखा है कि मानों श्रम उनका धर्म हो और धर्म उनका श्रम।

ऐसे श्रमशील और सत्परिणामी पुरुष के सम्पर्क को अपने जीवन में मैं अनुपम सद्भाग्य गिनता हूँ।

दिल्ली]



मेरी भाषा के निर्देशक

श्री किशोरीदास वाजपेयी

सन् १९२० या '२१ में जलियाँवाले बाग़ के सम्बन्ध में मैंने एक आख्यायिका लिखी थी। एक प्रकार का उपन्यास कहिए। उसे प्रकाशनार्थ "हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय" (बम्बई) को भेजा। उत्तर में श्री नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा—

"आपकी चीज़ अच्छी है; पर हम प्रकाशित न कर सकेंगे। हमारे यहाँ से स्थायी साहित्य ही प्रकाशित होता है। परन्तु आपकी भाषा मुझे बहुत अच्छी लगी। एक शास्त्री की ऐसी टकसाली सरल भाषा प्रशंसनीय है। यदि आप कुछ जैन-ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद कर दें तो मैं भेज दूँ। उन्हें 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' प्रकाशित करेगा। पहले 'प्रद्युम्न-चरित', 'अनिरुद्ध-चरित' तथा 'पार्श्वनाथ-चरित' का अनुवाद होगा। प्रति पृष्ठ एक रुपये के हिसाब से पारिश्रमिक दिया जायगा। इच्छा हो तो लिखें।

आपकी लिखी पुस्तक वापिस भेज रहा हूँ।"

इस पत्र से मैंने समझा कि लोग कैसी भाषा पसन्द करते हैं। इससे पहले मुझे इसका ज्ञान न था। जैसी प्रवृत्ति थी, लिखता था। इससे मैंने अपनी भाषा का स्वरूप सदा के लिए स्थिर कर लिया। इस प्रकार प्रेमीजी मेरी भाषा के दिशा-निर्देशक हैं।

प्रेमीजी ने तीन ग्रन्थ मेरे पास भेजे। पहले मैंने 'प्रद्युम्न-चरित' और 'अनिरुद्ध-चरित' देखे। वैष्णव-भावना थी और इनके कथानक की कल्पना मुझे पसन्द नहीं आई, विशेषतः रुक्मिणी के पूर्वजन्म की कथा। अतः अनुवाद करने की मेरी प्रवृत्ति न हुई। वह मेरी भावुकता ही थी, अन्यथा आर्थिक लाभ और साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में नामार्जन, कुछ कम प्रलोभन न था।

मैंने प्रेमीजी को लिख भेजा कि ग्रन्थों में कथानक-कल्पना मेरे लिए रुचिकर नहीं है। इसलिए अनुवाद मैं नहीं कर सकूँगा। इसके उत्तर में प्रेमीजी ने लिखा—

"आपने शायद ठीक नहीं समझा है। जैन-सिद्धान्त में कर्म का महत्त्व बतलाने के लिए ही महापुरुषों के पूर्व-जन्मों का वैसा वर्णन और क्रम-विकास है। आप फिर सोचें। मेरी समझ में तो आप अनुवाद कर डालें। अच्छा रहेगा।"

परन्तु फिर भी मेरी समझ में न आया और मैं अनुवाद करना स्वीकार न कर सका।

इस पत्र-व्यवहार से मेरे ऊपर प्रेमीजी की गहरी छाप पड़ी। मैंने उनके मानसिक महत्त्व को समझा। आगे चलकर मेरी दो पुस्तकें भी उन्होंने प्रकाशित कीं, जिनमें से 'रस और अलंकार' बम्बई सरकार ने सन् १९३१ में ज़ब्त कर ली; क्योंकि उसमें उदाहरण सब-के-सब राष्ट्रीय थे। पुस्तक तो ज़ब्त हो गई, लेकिन पारिश्रमिक मुझे पूरा मिल गया। इस विषय में प्रेमीजी आदर्श हैं। मुझे तो पेशगी पारिश्रमिक भी मिलता रहा है।

वास्तव में प्रेमीजी का जीवन ऐसी भावनाओं से परिपूर्ण है, जिनका चित्रण करना हर किसी के लिए सम्भव नहीं। मैं प्रेमीजी को एक आदर्श साहित्य-सेवी और उच्च विचार का एक ऐसा व्यक्ति मानता हूँ, जिसके प्रति स्वतः ही श्रद्धा का उद्रेक होता है।

कनखल]

पं० नाथूराम जी प्रेमी

श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

पंडित प्रेमीजी एक सच्चे अन्वेषणकर्त्ता और साहित्य-सेवी है। जिन्हें उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला है, वे उनकी तृप्त न होने वाली ज्ञान-पिपासा तथा विद्या-वृद्धि के लिए हार्दिक सचाई से तत्काल प्रभावित हुए होंगे। अपने विचारों के प्रति उनमे हठधर्मी नही है और न नये ज्ञान का स्वागत करते हुए वे कही थमे है। उनका मस्तिष्क सदैव ताजा और चुस्त है। समस्त नवीन बातों का वे इच्छापूर्वक स्वागत करते है और एक खिलाड़ी की भाँति अपनी स्थिति की जाँच-पड़ताल करते रहते है। उनके वृद्ध शरीर में युवा मस्तिष्क एवं स्नेही हृदय निवास करता है और इन्हें क्रूर पारिवारिक दुर्घटनाओं तथा लम्बी-लम्बी बीमारियों के बाद भी उन्होंने सुरक्षित रक्खा है। वे सच्चे कार्यकर्त्ताओं को और बढ़िया काम करने के लिए सदैव प्रोत्साहन देते है। उनका दृष्टिकोण व्यापक है और उनकी वृत्ति विश्व के प्रति मैत्री-भाव से परिपूर्ण है। उनका स्वभाव निश्चित रूप से मानवीय है। उनकी कृपा और आतिथ्य का द्वार उनके प्रेमियों तथा आलोचकों के लिए भी हमेशा खुला रहता है। दोषों को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, लेकिन दोषी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते है और उसके सुधार के निमित्त मन से प्रयत्न करते है। पुरातन और नवीन दोनों के प्रति वे सदैव विवेकपूर्ण संतुलन रखते है। नवीन अथवा पुरातन, दोनों में से किसी के प्रति भी उनमें कट्टरता नही है। वे नैतिकता एवं उच्च मानवीय मूल्यों की कसौटी पर प्रत्येक चीज़ को कसकर देखते है। अपने शब्दों के प्रयोग में वे बहुत नपे-तुले रहते है और जो कहते है, वही उनकी भावना भी होती है।

पंडित जी दुर्लभ गुणों के मूर्तिमान स्वरूप हैं और यही कारण है कि वे अनेकों अन्वेषकों और साहित्य-सेवियों के सखा और मार्ग-दर्शक है।

कोल्हापुर]

जुग-जुग जियहु

[प्रेमीजी के बाल-बन्धु की शुभ कामना]

'प्रेमी' प्रभु-पद-पद्म के, नेमी तत्त्व-विचार।
जियहु-जियहु, जुग-जुग जियहु, सह 'श्रावक'-आचार ॥

देवरी]

—वृद्धिलाल 'श्रावक'

सैंतीस वर्ष

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(१)

स्व० द्विवेदी जी से लेकर जैनेन्द्र तक हिन्दी-साहित्य की जो विकास-गाथा है, उसी में प्रेमीजी के भी साहित्य-जीवन की कथा है। गत सैंतीस वर्षों में देश में स्वाधीनता की जाग्रति के बाद लोगों ने अपनी यथार्थ स्थिति की समीक्षा की और उसी समीक्षा के बाद साम्यवाद को लेकर वर्तमान क्रान्ति-युग आया है। ये तीनों बातें स्वाधीनता, देश-दर्शन और साम्यवाद के क्रमशः प्रकाशन से प्रकट हो जाती हैं। कल्पना के क्षेत्र में 'प्रतिभा', 'नवनिधि', 'वातायन' और 'घृणामयी' में हिन्दी के कथा-साहित्य की पूर्ण कथा है। इनके आदर्श में भी समाज की वही भावनाएँ स्फुट हुई हैं। साहित्य के क्षेत्र में एक ओर सृजन का कार्य होता है और दूसरी ओर प्रचार का। सृजन-कार्य की महत्ता के विषय में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, पर प्रचार का काम भी कम महत्त्व का नहीं है। जिन कलाकारों की सृष्टि देश और काल की सीमा को अतिक्रमण कर सदैव चिर नवीन बनी रहती है उनको भी प्रकाश में लाने के लिए सुयोग्य प्रकाशकों की आवश्यकता होती है। यदि लेखकों के प्रयास स्तुत्य हैं तो प्रकाशकों के भी कार्य अभिनन्दनीय हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य के क्षेत्र में एकमात्र लेखक या सम्पादक ही काम नहीं करते। साहित्य के निर्माण, प्रचार, उन्नति और वृद्धि में जो लोग सम्मिलित हैं उन सभी के कार्य प्रशंसनीय हैं। हिन्दी की वर्तमान स्थिति में तो प्रकाशकों के कार्य विशेष गौरवपूर्ण हैं। सच तो यह है कि यदि लेखक साहित्य का निर्माण करते हैं तो प्रकाशक ही लेखकों का निर्माण करते हैं। साहित्य का संचालन-भार प्रकाशक पर ही रहता है और इसीलिए प्रकाशक का काम विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण है।

यह तो स्पष्ट है कि पुस्तक-प्रकाशन भी अन्य व्यवसायों की तरह एक व्यवसाय है। व्यवसाय का पहला सिद्धान्त यही होता है कि कम-से-कम के द्वारा अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जाय। इसी में व्यवसाय की सफलता मानी जाती है। हिन्दी-साहित्य की अभी ऐसी स्थिति है कि उसमें साधारण योग्यता के लेखकों को ही अधिक कार्य करना पड़ता है। जो उच्च कोटि के लेखक हैं, वे अपने पद-गौरव के कारण प्रकाशकों से भले ही सम्मानित हों, पर उनकी साहित्य-सेवा अभी तक अगण्य ही है। इसी प्रकार एकमात्र अपनी कृति की लोक-प्रियता के ऊपर निर्भर रहने वाले साहित्य-सेवी दो ही चार हैं। हिन्दी के अधिकांश लेखकों में यह क्षमता नहीं है कि वे स्वयं कुछ कर सकें। उन्हें प्रकाशकों के आश्रय पर ही निर्भर होना पड़ता है। यही कारण है कि अधिकांश लेखक यह समझते हैं कि प्रकाशक उन्हें ठग रहे हैं, अधिक-से-अधिक काम करा कर कम-से-कम पारिश्रमिक दे रहे हैं। प्रकाशक यह समझते हैं कि लेखक उन्हें ठग रहे हैं, कम-से-कम काम कर अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक ले रहे हैं। पाठक यह समझते हैं कि प्रकाशक और लेखक दोनों ही उन्हें ठग रहे हैं। रद्दी किताबों के लिए उनसे अधिक-से-अधिक मूल्य ले रहे हैं। आजकल पत्रों में लेखकों के द्वारा प्रकाशन के सम्बन्ध में जो एक असन्तोष की भावना प्रकट हो रही है, उसका मूल कारण यही है। हिन्दी में पाठकों की संख्या परिमित होने के कारण साधारण ग्रन्थों का अधिक प्रचार नहीं होता। पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा प्रकाशकों को जो लाभ होता है वह किसी भी उच्च कोटि की रचना प्रकाशित करने से नहीं होता। इसी कारण अधिकांश को अपने व्यवसाय की सफलता के लिए ऐसी नीति का भी अवलम्बन करना पड़ता है, जो विशेष गौरव-जनक नहीं! क्षुद्र भावों की ही प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य में कभी-कभी जो दल बन जाते हैं उनसे केवल कटुता और वैमनस्य की ही वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति में हिन्दी की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति के लिए ऐसे प्रकाशकों की बड़ी आवश्यकता

है, जो केवल व्यवसायी न हों, जो लेखकों के मित्र हों, सहचर हों, पथ-प्रदर्शक हों और सच्चे सहायक हों। प्रेमी जी में यही सब बातें हैं। प्रेमीजी ने स्वयं जो साहित्य की सेवा की है उसका मूल्य तो विज्ञ ही निर्दिष्ट करेंगे, पर अपने प्रकाशन-कार्य के द्वारा उन्होंने साहित्य के क्षेत्र को जितना विस्तृत किया है, लेखकों को प्रोत्साहित कर उनकी ठीक योग्यता के अनुसार उनके लिए साहित्य-सेवा में जितनी अधिक सुविधाएँ कर दी हैं और जितना अधिक मार्ग-प्रदर्शन कर दिया है, पाठकों की जितनी अधिक रुचि परिष्कृत कर दी है और उनमें जितना अधिक सत्-साहित्य की ओर अनुराग उत्पन्न कर दिया है, वह मेरे जैसे पाठकों और लेखकों के लिए विशेष अभिनन्दनीय है। इसी दृष्टि से आज मैं यहाँ इन्हीं के जीवन को लक्ष्य कर सैंतीस साल की साहित्य-गति पर विचार करना चाहता हूँ।

(२)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अभी निर्माण हो रहा है। भारतेन्दु जी से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य की गति में किसी भी प्रकार का अवरोध नहीं हुआ है। क्रमशः उन्नति ही होती जा रही है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में कितने ही विज्ञों के नाम लिये जा सकते हैं। उन सभी की सेवाएँ स्तुत्य हैं। तो भी यदि हम आधुनिक साहित्य की तुलना हिन्दी के प्राचीन साहित्य से करें तो हमें यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि प्राचीन साहित्य में जो स्थायी ग्रन्थ-रत्न हैं उनके समान ग्रन्थों की रचना आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अभी अधिक नहीं हुई है। आधुनिक लेखकों में जिनकी रचनाएँ अधिक लोक-प्रिय हैं उनकी महत्ता को स्वीकार कर लेने पर भी यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी रचनाओं में कितना स्थायित्व है। साहित्य के प्रारम्भिक काल में नवीनता की ओर अधिक आग्रह होने के कारण अधिकांश लोग किसी की भी नवीन कृति के सम्बन्ध में उच्च धारणा बना लेते हैं। पर जब वही नवीन रचना कुछ समय के बाद अपनी नवीनता खो बैठती है तब उसके प्रति लोगों में आप-से-आप विरक्ति का-सा भाव आ जाता है। काव्य के क्षेत्र में पंडित श्रीधर पाठक, पंडित नाथूराम शंकर शर्मा, पंडित रामचरित उपाध्याय, सनेहीजी, आदि कवियों की रचनाएँ कुछ ही समय पहले पाठकों के लिए केवल आदरणीय ही नहीं, स्पृहणीय भी थीं, परन्तु अब यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य के विकास में उनका एक विशेष स्थान होने के कारण वे अब आदरणीय ही हैं। आजकल मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, सियारामशरण गुप्त, निराला, पन्त, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, बच्चन, दिनकर आदि कवियों की रचनाएँ स्पृहणीय अवश्य हैं, पर नवीन काव्य-धारा के प्रवाह में उनकी रचनाओं का गौरव कबतक बना रहेगा, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कवि-सम्मेलनों में नये कवियों की रचनाओं की ओर नवयुवकों का जो आग्रह प्रकट होता है वह आग्रह उक्त लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की रचनाओं के प्रति नहीं देखा जाता। कुछ विज्ञ यह भी अनुभव करने लगे हैं कि अब हिन्दी में उत्तम एवं साधना-सम्पन्न साहित्य-सृजन तथा निष्पक्ष और निर्भीक समालोचना की बड़ी अवहेलना होती है। इस कथन में चाहे जितना सत्य हो, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में अभी परिष्कृत लोक-रुचि का निर्माण नहीं हुआ। यही कारण है कि लोग अभी उच्च कोटि के साहित्य की ओर अनुरक्त नहीं होते। साहित्य के क्षेत्र में जबतक उच्च आदर्श को लेकर ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं होगा तबतक सर्व-साधारण की रुचि परिष्कृत नहीं होगी।

जिस लोक-शिक्षा के भाव से हिन्दी में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन किया था उसी लोक-शिक्षा के भाव से प्रेरित होकर प्रेमीजी ने 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का प्रकाशन किया था। साहित्य के क्षेत्र में जो परिवर्तन 'सरस्वती' के द्वारा हुआ है, वही 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के द्वारा भी हुआ है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के ग्रन्थों का सर्व-साधारण पर कितना प्रभाव पड़ा है, यह उसकी लोक-प्रियता से ही प्रकट हो जाता है। उस समय मैं छात्र था। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा सबसे पहले द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' का प्रकाशन हुआ। उसके बाद 'प्रतिभा' और फिर 'फूलों का गुच्छा' निकला। कितने ही लोग 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के स्थायी ग्राहक हो गये। १९१२ से लेकर १९१६ तक मेरे घर में भी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के सभी ग्रन्थ आते रहे। १९१६ में मेरे

सौभाग्य से उसी ग्रन्थमाला में मेरा 'प्रायश्चित' नामक एक नाटक भी प्रकाशित हो गया। तभी मैं प्रेमीजी से विशेष परिचित हुआ। इसी समय जबलपुर में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ। वहीं पर मैंने प्रेमीजी को पहली बार देखा। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' में काम करूँ। प्रेमीजी को मैंने कई बार लिखा और उन्होंने सभी समय मुझे बम्बई आने के लिए लिखा, परन्तु बम्बई में गया कितने ही वर्षों के बाद। इस तरह अपनी छात्रावस्था से लेकर अभी तक प्रेमीजी के 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से मेरा सम्बन्ध बना हुआ है। मेरे समान साधारण पाठकों के हृदय में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का क्या स्थान है, यही बतलाने के लिए मैं यहाँ अपनी छात्रावस्था का वर्णन कर रहा हूँ।

(३)

छात्रावस्था में सभी को अपने भविष्य के लिए अध्ययन करना पड़ता है। यह अध्ययन काल सभी के लिए एक समान नहीं है। कोई चार-पाँच वर्ष ही पढ़कर अपना छात्र-जीवन समाप्त कर डालते हैं, कोई आठ-दस सालतक पढ़ते हैं और कोई पन्द्रह-सोलह वर्षों तक अध्ययन में लगे रहते हैं। जिसकी जैसी स्थिति होती है उसी के अनुसार उसका छात्र-जीवन निर्दिष्ट होता है। कुछ उच्च शिक्षा पा लेते हैं और अधिकांश उस शिक्षा से वंचित रहते हैं। पर एक बार जीवन-क्षेत्र में प्रविष्ट होते ही फिर सभी को उसी में आजीवन संलग्न रहना पड़ता है।

एक विद्वान का कथन है कि छात्रावस्था में खूब परिश्रम के साथ हम जो कुछ पढ़ते हैं, उसे भूल जाने के बाद ज्ञान का जो अंश अवशिष्ट रह जाता है, उसी से हमारी मानसिक अवस्था की उन्नति होती है। इसमें सन्देह नहीं कि छात्रावस्था में हम लोगों को कितनी ही बातें याद करनी पड़ती हैं। उन बातों का जीवन में क्या उपयोग होता है, यह तो हम लोग नहीं जानते। पर इसमें सन्देह नहीं कि छात्र-काल में उन्हीं बातों के लिए अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। सन् १६०२ से लेकर १६१६ तक मुझे अपना छात्रजीवन व्यतीत करना पड़ा। वह समय मेरे लिए जैसे निर्माण-काल था, वैसे ही भारतवर्ष के लिए भी निर्माणकाल था। इन चौदह वर्षों के भीतर भारतवर्ष में एक नये ही युग का निर्माण हो गया। क्या समाज, क्या साहित्य और क्या राजनीति, सभी क्षेत्रों में विलक्षण परिवर्तन हुआ। एक के बाद एक भारत में जो घटनाएँ हुई हैं, उनसे देश उन्नति के पथ पर ही अग्रसर हुआ है। वह सुरेन्द्रनाथ, गोखले, तिलक और अरविन्द का समय था। वह रवीन्द्रनाथ का युग था। हिन्दी में वह बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, और महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का काल था। एक ओर जब भारतवर्ष में उन्नति की यह लहर बह रही थी तब मैं अपने ही छात्र-जीवन की समस्याओं को लेकर उलझा हुआ था। देश में जब बंगभंग, स्वदेशी आन्दोलन और बायकाट की खूब चर्चा हो रही थी तब मैं इलाहाबाद के विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के प्रश्न-पत्रों को लेकर व्यस्त था। मेरे लिए भूगोल, इतिहास, गणित, संस्कृत और अंगरेजी ये भिन्न-भिन्न प्रश्न देश के राजनैतिक प्रश्नों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते थे। मुझे उनके लिए सतत् प्रयत्न करना पड़ता था। पर समाचार-पत्रों में भिन्न-भिन्न लेख पढ़ने के लोभ को भी मैं नहीं रोक सकता था। शिवशंभु शर्मा के पत्र 'भारत-मित्र' में प्रकाशित होते थे। उन्हें मैं खूब ध्यान से पढ़ता था। जब 'हिन्दी-केसरी' का प्रकाशन हुआ तब हम लोगों के प्रान्त में भी एक धूम-सी मच गई। 'महात्मा तिलक के ये उपाय टिकाऊ नहीं हैं', 'देश की बात' आदि लेखों को मैंने भी पढ़ा था। उसी समय सप्रेजी की ग्रन्थमाला में द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' निकली। पर अपने मस्तिष्क को मैंने इतिहास, रेखागणित, जामेट्री आदि विषयों से ही भर लिया था। उस समय अपनी परीक्षा के लिए जितनी बातें मुखाग्र याद करनी पड़ीं उनमें से शायद एक भी बात मेरे मस्तिष्क में नहीं है। छात्रावस्था में जिन पाठों को मैंने परिश्रम के साथ स्वायत्त किया था वे भी न जाने कहाँ विलीन हो गये हैं। यही नहीं, साहित्य के जिन प्रसिद्ध ग्रन्थों को उस समय मुझे परिश्रम से पढ़ना पड़ा था उनसे अब न जाने क्यों विरक्ति-सी हो गई है। अब उन्हें फिर से पढ़ने की इच्छा तक नहीं होती है।

सचमुच यह नहीं जान पड़ता कि हम लोगों के जीवन पर किन ग्रन्थों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। आज जब मैं यह विचार करने बैठता हूँ कि मेरे जीवन पर किन ग्रन्थों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है तो मुझे यही ज्ञात होता है कि उनमें एक भी मेरी पाठ्य पुस्तकों में नहीं है। आज जो सर्वथा अगण्य हैं, उन्हीं 'चन्द्रकान्ता', 'परीक्षागुरु' और 'देवीसिंह' ने मेरी कल्पना-शक्ति को जितना उत्तेजित किया, उतना अन्य किसी उपन्यास ने नहीं किया। पर रचना की ओर मेरी प्रवृत्ति हुई 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के ग्रन्थों से। इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रतिभा', चौबे का चिट्ठा, बंकिम निबन्धावली को मैंने पचास बार से अधिक पढ़ा होगा। उनके कारण एक विशेष शैली को अपनाकर हिन्दी-साहित्य में लिखने की ओर मेरा ध्यान गया। कुछ समय पहले हिन्दी-साहित्य के एक प्रेमी सज्जन ने मुझसे पूछा कि हिन्दी के किन-किन उपन्यासों पर मेरा विशेष अनुराग है। इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए बड़ा कठिन हो गया है। बात यह है कि अवस्था की वृद्धि के साथ जैसे हम नये लोगों से परिचय नहीं बढ़ाना चाहते, वैसे ही नये उपन्यासों से भी हमें अनुराग नहीं होता। जो लोग समीक्षक या आलोचक होते हैं उनकी बात दूसरी है। पर साधारण पाठकों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे नवीन कलाकारों की नवीन कृतियों को पढ़ें। अधिकांश पाठकों के लिए विशेष लेखक इतने प्रिय हो जाते हैं कि वे अन्य लोगों की कृतियों को पढ़ ही नही सकते। मेरी भी यही स्थिति है। अपनी छात्रावस्था में जिन ग्रन्थों पर मेरा अनुराग हो गया था और जिन्हें मैंने बार-बार पढ़ा है, उन चन्द्रकान्ता, परीक्षागुरु, और देवीसिंह को छोड़ कर प्रायः सभी अनुवाद ग्रन्थ हैं और वे सभी प्रायः 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित हुए हैं। 'प्रतिभा', 'फूलों का गुच्छा', 'आँख की किरकिरी', 'अन्नपूर्णा का मन्दिर', 'चौबे का चिट्ठा', 'बंकिम निबन्धावली'—यही सब तो मेरे विशेष प्रिय ग्रन्थ बने हैं। इन्हीं के कारण मैं यह समझता हूँ कि प्रेमीजी के 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से मेरा जीवन कितने ही वर्षों से सम्बद्ध हो गया है। प्रेमीजी के कारण साहित्य की ओर मेरी अनुराग-वृद्धि हुई और उन्हीं के कारण मैं हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में 'प्रायश्चित' नामक नाटक लेकर प्रविष्ट भी हुआ।

यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि किसी भी साहित्य का महत्त्व उसके मौलिक ग्रन्थों पर निर्भर है। पर हिन्दी-साहित्य के समान अनुन्नत साहित्य में तो अनुवाद की ही विशेष आवश्यकता है। हिन्दी-साहित्य में अभी तक लब्ध-प्रतिष्ठ विज्ञों की रचना नहीं है। हिन्दी-साहित्य के सेवकों में अधिकांश अपनी विद्या और ज्ञान का अभिमान नही कर सकते। अनुवादों में सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उससे ज्ञान का प्रसार बड़ी सरलता से हो जाता है, उच्च आदर्शों का प्रचार सुगमता से होता है और भाषा आप-से-आप परिष्कृत होती है। अनुवाद का यह काम कष्ट-साध्य है। हिन्दी-साहित्य में अभी तक भावों को स्पष्ट रीति से सरलता-पूर्वक व्यक्त करने में कठिनता होती है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से जो अनुवाद-ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उनके द्वारा भाषा की यथेष्ट उन्नति हुई है। कितने ही लेखकों पर उसका स्थायी प्रभाव पड़ा है। आधुनिक नाटक, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्ध तो अपना मूल उन्हीं में पा सकते हैं। मैंने भी अनुवाद से ही अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया है और मुझे प्रेमीजी और द्विवेदीजी के समान योग्य सम्पादकों के कारण अपने काम में विफलता नहीं मिली।

(४)

कुछ समय तक मैं बम्बई में प्रेमीजी के साथ रह भी चुका हूँ। उस समय मुझे पाठ्य पुस्तकें तैयार करनी पड़ीं। मैंने तब यह देखा कि प्रेमीजी कितने मनोयोग से अपना काम करते हैं। प्रेमीजी खूब परिश्रम किया करते हैं। वे खूब ध्यान से लेखों को पढ़ते हैं और खूब ध्यान से उन्हें छपवाते हैं। प्रूफ़ देखने में वे और भी विशेष सावधान रहते हैं। उनकी सावधानता के कारण किसी भी प्रकार की भूल नहीं हो सकती। उन्होंने पुस्तकों के बाह्य रूप पर भी विशेष ध्यान दिया है। यही कारण है कि उनकी पुस्तकों का विशेष आदर होता है और मेरे समान कितने ही लेखकों की यही लालसा बनी रहती है कि उनकी रचनाएँ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित हों।

विश्व के कर्मक्षेत्र में मनुष्य अपने प्रयासों के द्वारा जो सफलता या विफलता प्राप्त करता है उसी के अनुसार लोग उसके जीवन में सार्थकता देखते हैं। संसार में कीर्ति अथवा अपकीर्ति, यश अथवा अपयश मनुष्य-मात्र के उन्हीं प्रयासों का पुरस्कार है, जो संसार की ओर से उसे प्राप्त होता है। परन्तु अपने जीवन-संग्राम में उसे जो कष्ट झेलना पड़ता है, जो वेदना सहनी पड़ती है, जो दुर्वह भार उठाना पड़ता है उसकी तीव्रता का अनुभव केवल वही करता है। सरोवर के वक्षःस्थल पर खिले हुए कमलों के सौन्दर्य और सौरभ पर हम सभी मुग्ध होते हैं, पर उन कमलों के विकास के भीतर जो पंक छिपा हुआ है, उस पर किसी की भी दृष्टि नहीं जाती है। शंकरजी के विषपान की तरह सरोवर भी सारे पंक को उदरस्थ कर देता है। अपने व्यवसाय की उन्नति और साहित्य-सेवा के मार्ग में प्रेमी जी ने भी कष्ट सहा है, विघ्नों और आपत्तियों को झेला है और यातनाओं का अनुभव किया है। उन्हें अपने यश-सौरभ के लिए जो प्रयास करना पड़ा है, उसमें उनके धैर्य, सहिष्णुता, परिश्रम-शीलता और निपुणता आदि गुणों की कठोर परीक्षा हुई है। पर वेदना के जिस तीव्र आघात को वे हृदय पर सह कर चुपचाप शान्त और गम्भीर होकर अपने कार्यों में निरत हैं, उसे केवल वही अनुभव कर सकते हैं।

खैरागढ़]

प्रेमी जी

श्री रामचन्द्र वर्मा

मैंने पहले-पहल प्रेमीजी को उसी समय जाना था, जब उन्होंने 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का प्रकाशन आरम्भ किया था और उस माला में पहले पुष्प के रूप में आचार्य द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' प्रकाशित हुई थी। 'स्वाधीनता' ने हिन्दी-जगत् को मुग्ध कर लिया था। मैं भी उसी हिन्दी-जगत् के एक कोने में बैठा हुआ मन-ही-मन प्रेमीजी के उस प्रयत्न की प्रशंसा करता था और अपने मन में इस कामना का पोषण करता था कि हिन्दी में इस प्रकार की अनेक आदर्श पुस्तक-मालाएँ प्रकाशित हों।

जब ग्रन्थ-रत्नाकर से थोड़े ही समय में कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ सज-धज से और उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित हुए तब हिन्दी के बहुत से लेखक उसमें अपने ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए उतावले होने लगे। उन्हीं में से मैं भी एक था, पर सोचता था कि ग्रन्थ-रत्नाकर से प्रकाशित होने के योग्य पुस्तक मैं लिख भी सकूँगा या नहीं? बहुत-कुछ सोच-विचार के बाद मैंने 'सफलता और उसकी साधना के उपाय' नाम की एक छोटी पुस्तक लिखकर प्रेमीजी के पास भेजी। जल्दी ही प्रेमीजी की स्वीकृति आ गई और थोड़े ही समय में पुस्तक छप भी गई। ग्रन्थ-रत्नाकर से अपनी पुस्तक प्रकाशित होने का मुझे गर्व-सा हुआ। उससे भी बढ़कर हर्ष इस बात का हुआ कि प्रेमीजी सरीखे सुयोग्य और सज्जन व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ।

यह परिचय वर्षों तक बराबर बढ़ता रहा, पर केवल पत्र-व्यवहार के रूप में। धीरे-धीरे उनसे प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता मन में बढ़ने लगी। सोचता था कि कब अवसर मिले और कब प्रेमीजी से भेंट हो। संयोग से वह अवसर भी आ गया। जबलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। वहीं मैंने सुना कि प्रेमीजी भी आये हैं। मैं उनसे मिलना चाहता था। अकस्मात् एक दिन सवेरे उन से भेंट हुई। वे नल पर से स्नान करके लौट रहे थे और मैं स्नान करने जा रहा था। एक मित्र ने बतलाया कि यही प्रेमीजी हैं। मैं आगे बढ़कर उनसे मिला। उन्हें अपना परिचय दिया, पर एक-दो बातें होकर रह गई। वे अपने रास्ते चले गये और मैं अपने रास्ते।

मैं अत्यन्त दुखी और निराश हुआ। जिन प्रेमीजी को मैं अबतक बहुत ही सज्जन और सहृदय समझ रहा था, वे इस पहली भेंट के समय मुझे नितान्त रूखे और सौजन्य-विहीन जान पड़े। मैं मन में अप्रसन्न भी हुआ और रुष्ट भी। उसी रोष के कारण मैंने उनसे फिर मिलने का प्रयत्न भी न किया। इस प्रकार पहली भेंट नितान्त निराशापूर्ण हुई।

काशी लौटने पर चार-पाँच दिन बाद प्रेमीजी का पत्र मिला। उसमें फिर वही सौजन्य और वही सहृदयता भरी थी, जो पहले पत्रों में रहा करती थी। यद्यपि मैं सोच चुका था कि अब उनसे कोई विशेष सम्पर्क न रक्खूँगा; पर उस पत्र का उत्तर देना ही पड़ा। फिर वही पत्र-व्यवहार चलने लगा। पर मेरी समझ में न आया कि आखिर प्रेमीजी किस तरह के आदमी हैं।

समझ में आता भी कैसे? प्रेमीजी थे सतजुगी महापुरुष और मैं था किंचित् कलजुगी। उनके सौजन्य पर नम्रता और आत्म-गोपन के जो बड़े-बड़े आवरण चढ़े हुए थे, उन्हें भेदकर उनके अन्तःकरण में छिपी हुई महत्ता तक पहुँचना सहज नहीं था। इसके लिए कुछ अधिक घनिष्ट परिचय की आवश्यकता थी।

कुछ दिनों बाद वह अवसर भी आ गया। मुझे नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक आवश्यक कार्य के लिए पहले जयपुर और फिर बम्बई जाना पड़ा। जयपुर से बम्बई जाने के पहले मैंने प्रेमीजी को अपने बम्बई पहुँचने की सूचना दे दी थी, पर वह सूचना थी केवल औपचारिक। मैं अपने मित्र स्व० श्री मदनगोपाल जी गाड़ोदिया के यहाँ ठहरना चाहता था। सोचा था कि प्रेमीजी से भी मिल लूँगा। पर बम्बई पहुँचने पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

स्टेशन पर न तो गाड़ोदिया जी दिखाई दिये और न उनका कोई आदमी। (उन्हें मेरा पत्र ही मेरे वम्बई पहुँचने के सात-आठ घंटे वाद मिला था।) हाँ, प्रेमीजी मुझे अवश्य इधर-उधर ढूँढ़ते हुए दिखाई पड़े। सवेरे छः वजे का समय। जाड़े का दिन। आकाश में कुछ वादल और कुहरा-सा छाया हुआ। ऐसे समय में मैं स्वप्न में भी आशा नहीं करता था कि प्रेमीजी मुझे स्टेशन पर दिखाई देंगे। पर वे मुझे जिस तत्परता से ढूँढ़ रहे थे, उसी का मुझ पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उस दिन से आज तक मेरा और उनका भाइयों का-सा व्यवहार चला आता है।

प्रेमीजी ज़वरदस्ती मुझे अपने घर ले गये। रास्ते में ही जो वातें हुईं, उनसे मैंने समझ लिया कि जवलपुर में प्रेमीजी को पहचानने में मुझसे वड़ी भूल हुई थी। प्रेमीजी को मैं जितना सज्जन और सहृदय समझता था, उससे वे कहीं अधिक वढ़कर निकले। पछताते हुए मैंने अपनी भूल उन पर प्रकट की। सुनकर वोले, "वर्मा जी, मैं सीधा-सादा आदमी हूँ। आजकल की व्यवहार-चातुरी मुझमें नहीं है। इसलिए कोई कुछ समझ लेता है, कोई कुछ।" उन्हीं 'कोइयों' में मैं भी एक 'कोई' था। पर आज उस वर्ग से निकल कर और प्रेमीजी के अन्तस्तल तक पहुँचकर मैंने उसका पूरा-पूरा निरीक्षण किया। साथ ही यह प्रतिज्ञा की कि आगे से मैं किसी के व्यक्तित्व के सम्वन्ध में इतनी जल्दी कोई धारणा न वना लिया करूँगा। यह पहली शिक्षा थी, जो प्रेमीजी से पहली भेंट में मुझे प्राप्त हुई। पर मैं नहीं जानता था कि अभी मुझे इनसे और भी वहुत-सी वातें सीखने को मिलेंगी।

प्रेमीजी के घर पहुँचते ही मैं अवाक् रह गया। वहुत ही छोटा-सा अँधेरा घर। मैं समझता था कि प्रेमीजी ने प्रकाशन कार्य से पचीस-पचास हज़ार रुपये कमाये हैं। वे कुछ तो ठाठ-वाट से रहते होंगे, पर वहाँ ठाठ-वाट का नाम नहीं था। घर की सभी वातें वहुत ही साधारण थीं। पर मैंने तुरन्त अपने आपको सँभाला। मैंने सोचा कि यहाँ भी प्रेमीजी का वही सीधापन अपना परिचय दे रहा है, जिसकी चर्चा उन्होंने स्टेशन से आते समय की थी। और वात भी वही थी। यों प्रेमीजी मितव्ययी तो हैं ही, पर इससे भी वढ़कर वे सरल और नितान्त सात्विक वृत्ति के पुरुष हैं। वे अपनी आवश्यकताएँ वहुत ही कम करके इस सिद्धान्त का उज्ज्वल उदाहरण हमारे सामने रखते हैं कि जिसकी आवश्यकताएँ जितनी ही कम हों, वह ईश्वर के उतना ही समीप होता है।

प्रेमीजी का घर देखने में तो वहुत ही साधारण था, पर मुझे सुख मिला स्वर्ग का-सा। उनकी स्वर्गीय साध्वी पत्नी का नितान्त निश्छल और निष्कपट स्वागत-सत्कार वहुत अधिक प्रभाव डालता था। वालक हेमचन्द्र, जिसकी दुःखद स्मृति ने वहुतों के हृदय में स्थायी रूप से घर कर लिया है, उस समय दस-ग्यारह वर्ष का था। उसकी सरलता और सहृदयता तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार मानों प्रेमीजी के इन सव गुणों को भी मात करने वाला था। आठ ही दस घंटों में मुझे वहाँ घर से वढ़कर सुख और आनन्द मिलने लगा। पर उस सुख का मैं अधिक उपभोग न कर सका। सन्ध्या होते ही गाड़ोदिया जी मोटर लेकर आ पहुँचे और मुझे ज़वरदस्ती अपने निवास-स्थान पर (दादर) उठा ले गये। पर अपने प्रायः एक मास के वम्वई प्रवास में प्रेमीजी के आकर्षक प्रेम के कारण मेरा आधा समय हीरावाग़ में ही वीता।

इसके वाद कई वार वम्वई जाने का अवसर मिला है और हर वार मैं प्रेमीजी के यहाँ ही ठहरा हूँ। मैं ही क्यों, प्रेमीजी के प्रायः सभी मित्र और अधिकांश हिन्दी-प्रेमी उन्हीं के यहाँ ठहरते हैं। जो लोग कभी किसी कारण से दूसरी जगह जा ठहरते हैं, उन्हें भी प्रेमीजी विवश करके अपने यहाँ ले आते हैं। यह प्रेमीजी का स्वाभाविक गुण है। इस सोने में एक सुगन्ध भी आन मिलती थी। वह सुगन्ध थी उनके वाल-वच्चों का स्नेहपूर्ण और घर का-सा व्यवहार। पर हाय! हेमचन्द्र के चले जाने से वह सुगन्ध ही नहीं उड़ गई, वल्कि सोना भी गरम राख की वड़ी तह के नीचे दव गया!

× × ×

बहुत-से लोग प्रेमीजी को केवल प्रकाशक के रूप में जानते हैं। कुछ लोग उन्हें हिन्दी के लेखक के रूप में भी जानते हैं। उन्हें इस तरह जानने वाले सभी लोग उनकी सत्यशीलता, सद्व्यवहार, सदाचार, नम्रता आदि गुणों से इतने अधिक परिचित हैं कि इस सम्बन्ध में विशेष कहना बाहुल्य-मात्र है। फिर भी वैयक्तिक तथा नैतिक क्षेत्र में प्रेमीजी में इतने अधिक गुण हैं कि उनका पूरा और ठीक वर्णन करना कठिन है। प्रेमीजी अपनी सैकड़ों-हज़ारों की हानि बिलकुल चुपचाप सह लेंगे, पर किसी से लड़ना-झगड़ना कभी पसन्द न करेंगे। यदि कोई उन्हें ज़बरदस्ती किसी तरह की लड़ाई में घसीटने में समर्थ भी हुआ तो वे सदा जल्दी-से-जल्दी पीछा छुड़ाने का ही प्रयत्न करेंगे और विशेषता यह कि अपने परम शत्रु के लिए भी किसी प्रकार के अमंगल या अहित का स्वप्न में भी विचार नहीं करते। उनके इस गुण का परिचय मुझे कई बार मिल चुका है। उनकी सज्जनता से चाहे कोई कितना ही अनुचित लाभ उठा ले, पर किसी के अपकार करने का विचार भी वे अपने मन में नहीं ला सकते।

साधारणतः प्रेमीजी के जीवन का यही सबसे बड़ा सार्वजनिक अंग समझा जाता है, पर वस्तुतः उनके जीवन का इससे भी एक बड़ा अंग है, जिससे अपेक्षाकृत कम ही लोग परिचित हैं। प्रेमीजी उच्च श्रेणी के विचारशील विद्वान् हैं। विशेषतः प्राकृत के वे अच्छे पंडित हैं और अपना बहुत-सा समय अध्ययन और विद्या-विषयक अनुसन्धान में लगाते हैं। उनमें यह कमी है कि वे अँगरेज़ी बहुत कम जानते हैं, पर अपनी इस कमी के कारण वे अपने कार्य-क्षेत्र में कभी किसी से पीछे नहीं रहते। जैन-इतिहास के वे अच्छे ज्ञाता हैं और इस विषय के लेख आदि प्रायः लिखते रहते हैं। वे अनेक विषयों की नई खोजों के, जो प्रायः अँगरेज़ी में ही निकला करती हैं, विवरणों की सदा तलाश में रहते हैं और जब उन्हें इस तरह की किसी नई खोज का पता चलता है तब वे अपने किसी मित्र की सहायता से उसका वृत्त जानने का प्रयत्न करते हैं। उनका यह विद्या-प्रेम प्रशंसनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है।

प्रेमीजी में एक और बहुत बड़ा गुण है। वे कभी अपने आपको प्रकट नहीं करना चाहते—कभी प्रकाश में नहीं आना चाहते। हाँ, यदि प्रकाश स्वयं ही उन तक जा पहुँचे तो बात दूसरी है। वे काम करना जानते हैं, परन्तु चुपचाप। अनेक विषयों का वे प्रायः अध्ययन और मनन करते रहते हैं और कभी कुछ लिखने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की सामग्री भी एकत्र करते रहते हैं, पर जब उन्हें पता चलता है कि कोई सज्जन किसी विषय पर कुछ लिखने लगे हैं तब वे उनके उपयोग की अपनी सारी सामग्री अपनी स्वाभाविक उदारता से इस प्रकार चुपचाप उन्हें देते हैं कि किसी को कानोंकान भी खबर नहीं होती।

प्रेमीजी के अनेक गुणों में ये भी वे थोड़े-से गुण हैं, जिनके कारण वे बहुत ही सामान्य अवस्था से ऊपर उठते हुए इतने उच्च स्तर पर पहुँचे हैं।

बहुत ही दुःख की बात है कि ऐसे सुयोग्य और सज्जन विद्वान का पारिवारिक तथा शारीरिक जीवन प्रायः कष्टों से और वह भी बहुत बड़े कष्टों से सदा भरा रहा! हो सकता है कि ये शारीरिक और पारिवारिक कष्ट ही उनके स्वर्ण-तुल्य जीवन को तपाकर निखारने वाली अग्नि के रूप में विधाता की ओर से प्राप्त हुए हों! अपनी गति वही जाने!

बनारस]



स्मरणाध्याय

आचार्य पं० सुखलाल संघवी

मेरे स्मरणग्रन्थ में प्रेमीजी का स्मरण एक अध्याय है, जो अति विस्तृत तो नहीं है; पर मेरे जीवन की दृष्टि से महत्त्व का और सुखद अवश्य है। इस सारे अध्याय का नवनीत तीन बातों में है, जो प्रेमीजी के इतने लम्बे परिचय में मैंने देखी है और जिनका प्रभाव मेरे मानस पर गहरा पड़ा है। वे ये हैं—

(१) अथक विद्याव्यासंग।

(२) सरलता और

(३) सर्वथा असाम्प्रदायिक और एकमात्र सत्यगवेषी दृष्टि।

प्रेमीजी का परिचय उनके 'जैनहितैषी'-गत लेखों के द्वारा शुरू हुआ। मैं अपने मित्रों और विद्यार्थियों के साथ आगरे में रहता था। तब सायं-प्रातः की प्रार्थना में उनका निम्नलिखित पद्य रोज़ पढ़े जाने का क्रम था, जिसने हम सबको बहुत आकृष्ट किया था :—

दयामय ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवन की कल्याण-कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय ॥१॥
औरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का करूँ उपाय॥
अपने दुख सब सहूँ किन्तु, परदुख नहिं देखा जाय ॥२॥
अधम अज्ञ अस्पृश्य अधर्मी, दुखी और असहाय॥
सबके अवगाहन हित मम उर, सुरसरि सम बन जाय ॥३॥
भूला भटका उलटी मति का, जो है जन समुदाय॥
उसे सुझाऊँ सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय ॥४॥
सत्य धर्म हो सत्य कर्म हो, सत्य ध्येय बन जाय॥
सत्यान्वेषण में ही 'प्रेमी', जीवन यह लग जाय ॥५॥

प्रेमीजी के लेखों ने मुझको इतना आकृष्ट किया था कि मैं जहाँ-कहीं रहता, 'जैन-हितैषी' मिलने का आयोजन कर लेता और उसका प्रचार भी करता। मेरी ऐतिहासिक दृष्टि की पुष्टि में प्रेमीजी के लेखों का थोड़ा हिस्सा अवश्य है। प्रेमीजी के नाम के साथ 'पण्डित' विशेषण छपा देखकर उस जमाने में मुझे आश्चर्य होता था कि एक तो ये पण्डित हैं और दूसरे जैन-परम्परा के। फिर इनके लेखों में इतनी तटस्थता और निर्भयता कहाँ से? क्योंकि तबतक जितने भी मेरे परिचित जैन-मित्र और पण्डित रहे, जिनकी संख्या कम न थी, उनमें से एक-आध अपवाद छोड़कर किसी को भी मैंने वैसा असाम्प्रदायिक और निर्भय नहीं पाया था। इसलिए मेरी ऐसी धारणा बन गई थी कि जैन पण्डित भी हो और निर्भय असाम्प्रदायिक हो, यह दुःसम्भव है। प्रेमीजी के लेखों ने मेरी धारणा को क्रमशः ग़लत साबित किया। यही उनके प्रति आकर्षण का प्रथम कारण था।

१९१८ में मैं पूना में था। रात को अचानक प्रेमीजी सकुटुम्ब मुनि श्री जिनविजय जी के वासस्थान पर आये। मैंने उक्त पद्य की अन्तिम कड़ी बोल कर उनका स्वागत किया। उन्हें कहाँ मालूम था कि मेरे पद्य को कोई प्रार्थना में भी पढ़ता होगा। इस प्रसंग ने परिचय की परोक्षता को प्रत्यक्ष रूप में बदल दिया और यही सूत्रपात दृढ़ भूमि बनता गया। उनके लेखों से उनकी बहुश्रुतता और असाम्प्रदायिकता की छाप तो मन पर पड़ी ही थी। इस

प्रत्यक्ष परिचय ने मुझे उनकी अकृत्रिम सरलता की ओर आकृष्ट किया। इसीसे मैं थोड़े ही दिनों वाद जब वम्बई आया तो उनसे मिलने गया। वे चन्दावाड़ी में एक कमरा लेकर रहते थे। विविध चर्चा में इतना डूवा कि आखिर को अपने डेरे पर जाकर जीमने का समय न देखकर प्रेमीजी से मैंने कहा कि मैं और मेरे मित्र रमणिकलाल मोदी यहीं जीमेंगे। उन्होंने हमें उतनी ही सरलता और अकृत्रिमता से जिमाया और परिचयसूत्र पक्का हुआ। फिर तो मेरे लिए वम्वई में आने का एक अर्थ यह भी हो गया कि प्रेमीजी से अवश्य मिलना और नई जानकारी पाना।



स्व० हेमचंद्र (१९३२)

वम्वई में मेरे चिर परिचित और निकट मित्र सेठ हरगोविन्ददास रामजी रहते हैं। प्रेमीजी के भी वे गाढ़ सखा वन गये थे। यहां तक कि उन दोनों का वासस्थान एक था या समीप-समीप। घाटकोपर, मुलुन्द जैसे उपनगरों में भी वे निकट रहते थे। अतएव मुझे प्रेमीजी की परिचय-वृद्धि का वड़ा सुयोग मिला। मैं उनके घर का अंग-सा वन गया। उनकी पत्नी रमावहन और उनका इकलौता प्राणप्रिय पुत्र हेमचन्द्र दोनों के सम्पूर्ण विश्वास का भागी मैं वन गया। घाटकोपर की टेकरियों में घूमने जाता तो प्रेमीजी का कुटुम्व प्रायः साथ हो जाता। आहार सम्वन्धी मेरे प्रयोगों का कुछ असर उनके कुटुम्व पर पड़ा तो तरुण हेमचन्द्र के नव प्रयोग में कभी मैं भी सम्मिलित

हुआ। लहसुन डालकर उबाला दूध पीने से पेट पर अच्छा असर होता है। इस अनुभवसिद्ध आग्रहपूर्ण हेमचन्द्र की उक्ति को मानकर मैंने भी उनके तैयार भेजे वैसे दुग्धपान को आज़माया। कभी मैं घाटकोपर से शान्ताक्रूज जुहू तट तक पैदल चलकर जाता तो अन्य मित्रों के साथ हेमचन्द्र और चम्पा दोनों भी साथ चलते। दोनों की निर्दोषता और मुक्त हृदयता मुझे यह मानने को रोकती थी कि ये दोनों पति-पत्नी हैं। जब कभी प्रेमीजी शरीक हों तब तो हमारी गोष्ठी में दो दल अवश्य हो जाते और मेरा झुकाव नियम से प्रेमीजी के विरुद्ध हेमचन्द्र की ओर रहता। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि विषयों में प्रेमीजी का (जो कभी स्कूल-कॉलेज में नहीं गये) दृष्टिबिन्दु मैंने कभी गतानुगतिक नहीं देखा, जिसका कि विशेष विकास हेमचन्द्र ने अपने में किया था। आगरा, अहमदाबाद, काशी आदि जहाँ-कहीं से मैं बम्बई आता तो प्रेमीजी से मिलना और पारस्परिक साहित्यिक एवं ऐतिहासिक चर्चाएँ खुल करके करना मानों मेरा एक स्वभाव ही हो गया था। आगरे से प्रकाशित हुए मेरे हिन्दी ग्रन्थ तो उन्होंने देखे ही थे; पर अहमदाबाद से प्रकाशित जब मेरा 'सन्मतितर्क' का संस्करण प्रेमीजी ने देखा तो वे मुझे न्यायकुमुदचन्द्र का वैसा ही संस्करण निकालने का आग्रह करने लगे और तदर्थ उसकी एक पुरानी लिखित प्रति भी मुझे भेज दी, जो बहुत वर्षों तक मेरे पास रही और जिसका उपयोग 'सन्मतितर्क' के संस्करण में किया गया है। सम्पादन में सहकारी रूप से पण्डित की हमें आवश्यकता होती थी तो प्रेमीजी बार-बार मुझे कहते थे कि आप किसी होनहार दिगम्बर पण्डित को रखिए, जो काम सीख कर आगे वैसा ही दिगम्बर-साहित्य प्रकाशित करे। यह सूचना पं० दरबारीलाल 'सत्यभक्त', जो उस समय इन्दौर में थे, उनके साथ पत्र-व्यवहार में परिणत हुई। प्रेमीजी माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमाला का योग्यतापूर्वक सम्पादन करते ही थे; पर उनकी इच्छा यह थी कि न्यायकुमुदचन्द्र आदि जैसे ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' के ढंग पर सम्पादित हों। उनकी लगन प्रबल थी; पर समय-परिपाक न हुआ था। बीच में वर्ष बीते, पर निकटता नहीं बीती। अतएव हम दोनों एक-दूसरे की सम्प्रदाय विषयक धारणा को ठीक-ठीक समझ पाये थे और हम दोनों के बीच कोई पन्थ-ग्रन्थि या सम्प्रदाय ग्रन्थि फटकती न थी।

एक बार प्रेमीजी ने कहा, "हमारी परम्परा में पण्डित बहुत हैं और उनमें कुछ अच्छे भी अवश्य हैं; पर मैं चाहता हूँ कि उनमें से किसी की भी पन्थ-ग्रन्थि ढीली हो।" मैंने कहा कि यही बात मैं श्वेताम्बर साधुओं के बारे में भी चाहता हूँ। श्रीयुत जुगलकिशोर जी मुख्तार एक पुराने लेखक और इतिहासरसिक हैं। प्रेमीजी का उनसे खासा परिचय था। प्रेमीजी की इच्छा थी कि श्री मुख्तार जी कभी संशोधन और इतिहास के उदात्त वातावरण में रहें। आन्तरिक इच्छा सूचित करके प्रेमीजी ने श्रीयुत मुख्तार जी को अहमदाबाद भेजा। वे हमारे पास ठहरे और एक नया परिचय प्रारम्भ हुआ। गुजरात-विद्यापीठ के और खासकर तदन्तर्गत पुरातत्त्वमन्दिर के वातावरण और कार्यकर्ताओं का श्रीयुत मुख्तार जी के ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा, ऐसी मुझे उनके परिचय से प्रतीति हुई थी, जो कभी मैंने प्रेमीजी से प्रकट भी की थी। प्रेमीजी मुझसे कहते थे कि मुख्तार साहब की ग्रन्थि-शिथिलता का जवाब समय ही देगा। पर प्रेमीजी के कारण मुझको श्रीयुत मुख्तार जी का ही नहीं, बल्कि दूसरे अनेक विद्वानों एवं सज्जनों का सुभग परिचय हुआ है, जो अविस्मरणीय है। प्रेमीजी के घर या दूकान पर बैठना मानों अनेक हिन्दी, मराठी, गुजराती और विशिष्ट विद्वानों का परिचय साधना था। पं० दरबारीलाल जी 'सत्यभक्त' की मेरी मैत्री इसी गोष्ठी का अन्यतम फल है। मेरी मैत्री उन लोगों से कभी स्थायी नहीं बनी, जो साम्प्रदायिक और निबिड़-ग्रन्थि हों।

१९३१ के वर्षाकाल में पर्यूषण व्याख्यानमाला के प्रसंग पर हमने प्रेमीजी और पं० दरबारीलाल जी 'सत्यभक्त' को सकुटुम्ब अहमदाबाद बुलाया। उन्होंने असाम्प्रदायिक और सामयिक विविध विषयों पर विद्वानों के व्याख्यान सुने, खुद भी व्याख्यान दिये। साथ ही उनकी इच्छा जाग्रत हुई कि ऐसा आयोजन बम्बई में भी हो। बम्बई के युवकों ने अगले साल से पर्यूषण व्याख्यानमाला का आयोजन भी किया। प्रेमीजी का सक्रिय सहयोग रहा। मेरे कहने पर उन्होंने पुराने सुधारक वयोवृद्ध बाबू सूरजभानु जी वकील को बम्बई में बुलाया, जिनके लेख मैं वर्षों पहले पढ़ चुका था और जिनसे मिलने की चिराभिलाषा भी थी। उक्त बाबू जी १९३२ में बम्बई पधारे और व्याख्यान भी दिया। मेरी यह अभिलाषा एकमात्र प्रेमीजी के ही कारण सफल हुई।

उधर हेमचन्द्र की उम्र बढ़ती जाती थी और प्रेमीजी की चिन्ता भी बढ़ती जाती थी कि यह अनेक विषयों का धुनी प्रयोगवीर जोगी कारोबार कैसे सँभालेगा। पर मेरा निश्चित विश्वास था कि हेमचन्द्र विरज विभूति है। प्रेमीजी हैं तो जन्म से सी० पी० के और देहाती संकीर्ण संस्कार की परम्परा के, पर उनकी सामाजिक मान्यताएँ धार्मिक मान्यताओं की तरह बन्धनमुक्त बन गई थीं। अतएव उनके घर में लाज-परदे का कोई बन्धन न था और आज भी नहीं है। हेमचन्द्र की पत्नी, जो उस समय किशोरी और तरुणी थी, वह उतनी ही स्वतन्त्रता से सबके साथ पेश आती, जितनी स्वतन्त्रता से रमाबहन, हेमचन्द्र और प्रेमीजी खुद। प्रेमीजी पूरे सुधारक हैं। इसीसे उन्होंने अपने भाई की पुनः शादी विधवा से कराई और रूढ़िवादियों के खफ़ा होने की परवाह नहीं की। प्रेमीजी के साथ चम्पा का व्यवहार देखकर कोई भी अनजान आदमी नहीं कह सकता कि यह उनकी पुत्रवधू है। उसे आभास यही होगा कि वह उनकी इकलौती और लाड़िली पुत्री है। जब कभी जाओ, प्रेमीजी के निकट मुक्त वातावरण पाओगे। रूढ़िचुस्त और सुधारक दोनों इस बात में सहमत होंगे कि प्रेमीजी खुद अजातशत्रु हैं।

प्रेमीजी ग़रीबी की हालत और मामूली नौकरी से ऊँचे उठकर इतना व्यापक और ऊँचा स्थान पाये हुए हैं कि आज उनको सारा हिन्दी संसार सम्मान की दृष्टि से देखता है। **इसकी कुंजी उनकी सच्चाई, कार्यनिष्ठा और बहुश्रुतता में है।** यद्यपि वे अपने इकलौते सत्यहृदय युवक पुत्र के वियोग से दुःखित रहते हैं, पर मैंने देखा है कि उनका आश्वासन एकमात्र विविध विषयक वाचन और कार्यप्रवणता है। वे कैसे ही बीमार क्यों न हों, वैद्य, डॉक्टर और मित्र कितनी ही मनाई क्यों न करें, पर उनके बिस्तरे और सिरहाने के इर्द-गिर्द वाचन की कुछ-न-कुछ नई सामग्री मैंने अवश्य देखी है। प्रेमीजी के चाहने वालों में मामूली-से-मामूली आदमी भी रहता है और विशिष्ट-से-विशिष्ट विद्वान् का भी समावेश होता है। अभी-अभी मैं हरकिसनदास हॉस्पीटल में देखता था कि उनकी खटिया के इर्द-गिर्द उनके आरोग्य के इच्छुकों का दल हर वक़्त जमा है।

प्रेमीजी परिमितव्ययी और सादगीजीवी हैं, पर वे मेहमानों और स्नेहियों के लिए उतने ही उदार हैं। इसीसे उनके यहाँ जाने में किसीको संकोच नहीं होता।

१९३३ की जुलाई की तीसरी तारीख को मैं जब हिन्दू यूनिवर्सिटी में काम करने के लिए बम्बई से रवाना हुआ तब प्रेमीजी ने उस पुरानी लगन को ताज़ा करके मुझसे कहा कि काशी में तरुण पं० महेन्द्रकुमार जी हैं। आप उनसे नई पद्धति के अनुसार न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन अवश्य करवाएँ। प्रथम से ही परिचित पं० कैलाशचन्द्र जी काशी में थे ही। महेन्द्रकुमार जी नये मिले। दोनों से प्रेमीजी का विचार कहकर उस काम की पूर्वभूमिका का विचार मैंने कहा। दोनों तत्काल कृतनिश्चय हुए और हिन्दू यूनिवर्सिटी में आने लगे। चिन्तन-गोष्ठी जमी। समय आते ही प्रेमीजी की इच्छा के अनुसार उक्त दोनों पंडितों ने न्यायकुमुदचन्द्र का सुसंस्कृत सम्पादन करके उसे माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमाला से प्रकाशित कराया। पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य मेरे काम में भी सहयोगी बने और व्यापक अध्ययन चालू रक्खा। फलतः उन्होंने 'सिन्धी-जैन-सीरीज़' में स्वतन्त्र भाव से अकलंक ग्रन्थत्रय का और सहकारी रूप से प्रमाण-मीमांसा आदि ग्रन्थों का सम्पादन किया, जिससे प्रेमीजी की इच्छा अंशतः अवश्य पूर्ण हुई है; परन्तु मैंने देखा है कि प्रेमीजी उतने मात्र से सम्पूर्ण सन्तुष्ट नहीं। उनकी उत्कट अभिलाषाएँ कम-से-कम तीन हैं। एक तो वे अन्य सात्विक विद्वानों की तरह अपनी परम्परा के पण्डितों का धरातल इतना ऊँचा देखना चाहते हैं कि जिससे पण्डितगण सार्वजनिक प्रतिष्ठा लाभ कर सकें। दूसरी कामना उनकी सदा यह रहती है कि जैन-भण्डारों के—कम-से-कम दिगम्बर-भण्डारों के—उद्धार और रक्षण का कार्य सर्वथा नवयुगानुसारी हो और पण्डितों एवं धनिकों की शक्ति का सुमेल इस कार्य को सिद्ध करे। उनकी तीसरी अदम्य आकांक्षा यह देखी है कि फ़िरक़ों की और खासकर जाति-पाँति की संकुचितता और चौकाबन्दी खत्म हो एवं स्त्रियों की खासकर विधवाओं की स्थिति सुधरे। मैंने देखा है कि प्रेमीजी ने अपनी ओर से उक्त इच्छाओं की पूर्ति के लिए स्वयं अथक प्रयत्न किया है और दूसरों को भी प्रेरित किया है। आज जो दिगम्बर परम्परा में नवयुगानुसारी कुछ प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं उनमें साक्षात् या परम्परा से

प्रेमीजी का थोड़ा-बहुत असर अवश्य है। पुराने विचार के जो लोग प्रेमीजी के विचार से सहमत नहीं, वे भी प्रेमीजी के सद्गुणों के प्रशंसक अवश्य रहे हैं। यही उनकी जीवनगत असाधारण विशेषता है।

प्रेमीजी में असाम्प्रदायिक व सत्यगवेषी दृष्टि न होती तो वे अन्य बातों के होते हुए भी जैन-जैनेतर जगत् में ऐसा सम्मान्यस्थान कभी नहीं पाते। मैंने तत्त्वार्थ और उमास्वाति के बारे में ऐतिहासिक दृष्टि से जो कुछ लिखा है, प्रेमीजी की निर्भय गवेषक दृष्टि ने उसका केवल समर्थन ही नहीं किया, बल्कि साम्प्रदायिक विरोधों की परवाह बिना किये मेरी खोज को और भी आगे बढ़ाया, जिसका फल सिंघी स्मृति अंक भारतीय विद्या में विस्तृत लेखरूप से उन्होंने अभी प्रकट किया है। आजकल प्रेमीजी मेरा ध्यान एक विशिष्ट कार्य की ओर साग्रह खींच रहे हैं कि 'उपलब्ध जैन-आगमिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन तथा भारतीय संस्कृति और वाङ्मय में उसका स्थान' इस विषय पर साधिकार लिखना आवश्यक है। वे मुझे बार-बार कहते हैं कि अल्पश्रुत और साम्प्रदायिक लोगों की ग़लत धारणाओं को सुधारना नितान्त आवश्यक है।

कोई भी ऐतिहासिक बहुश्रुत विद्वान हो, प्रेमीजी उससे फ़ायदा उठाने से नहीं चूकते। आचार्य श्री जिनविजय जी के साथ उनका चिर परिचय है। मैं देखता आया हूँ कि वे उनके साथ विविध विषयों की ऐतिहासिक चर्चा करने का मौक़ा कभी जाने नहीं देते।

अन्त में मुझे इतना ही कहना है कि प्रेमीजी की सतयुगीन वृत्तियों ने साम्प्रदायिक कलियुगी वृत्तियों पर सरलता से थोड़ी-बहुत विजय अवश्य पाई है।

बम्बई]



प्रेमी जी के व्यक्तित्व की एक झलक

राय कृष्णदास

प्रेमीजी को मैं निकट से नही के वरावर जानता हूँ। फिर भी उनके व्यक्तित्व को मैं जितना जानता हूँ, सम्भवतः उससे अधिक उनके अत्यन्त निकटवर्ती भी न जानते होंगे। इसके पीछे एक घटना है, जिसकी स्मृति आज पच्चीस वरस वाद भी टटकी है।

प्रेमीजी जिस समय प्रकाशक के रूप में हिन्दी-जगत् के सामने आये, उस समय वह परपट पड़ा हुआ था। आज की तरह न प्रकाशकों की भरमार थी, न ग्रन्थों की। पाठक ग्रन्थों के लिए लालायित हो रहे थे, हिन्दी के शुभैषी उसके भण्डार को ग्रन्थ-रत्नों से भरा-पूरा देखना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' एक वरदान के रूप में अवतरित हुआ। उसके प्रकाशित वँगला के अनुवाद ही तव पाठकों के लिए सव कुछ थे। ज़मीन तैयार हो रही थी। उतने ही मे हिन्दी वाले फूले न समाते थे। इसके पहले कई प्रकाशन-योजनाएँ चालू हुई थी और अंकुरित हो-होकर मारी गई थीं। अतएव प्रेमीजी का समारम्भ उनके लिए तो साहस और आत्म-विश्वास का काम था ही, वाचकों के लिए भी वह धड़कते हुए हृदय की एक वहुत वड़ी आशा थी।

जहाँ प्रकाशक और वाचक ऐसी परिस्थिति में थे, वहाँ एक तीसरा वर्ग भी था, जो वड़ी सतृष्ण दृष्टि से प्रकाशनों की ओर देख रहा था। यह वर्ग था उन लेखकों का, जो मासिक पत्रों तक तो किसी भाँति पहुँच पाते थे, किन्तु उसके आगे जिनकी रसाई न थी। वह आज का ज़माना न था जव लेखकों और पत्रों की भरमार तो है ही, सम्पादकीय अनुशासन भी ऐसा-ही-वैसा है। वह द्विवेदीयुग था, जव लेखकों के लिए मासिक पत्र का द्वार वहुत ही अवरुद्ध और कंटकाकीर्ण था। इसका यह तात्पर्य नही कि लेखक किसी प्रकार हतोत्साह किये जाते थे। वात विलकुल उलटी थी। उस समय तो आचार्य द्विवेदी जी और उनके अनुकरण में अन्य सम्पादक लेखकों के तैयार करने में लगे हुए थे। फिर भी द्विवेदी जी ने लेखन का स्तर इतना ऊँचा कर रक्खा था कि सहसा किसी के लिए लेखक वन जाना सम्भव न था और न दूसरे पत्रकार ही अपने पत्र का स्तर गिराने का साहस कर सकते थे। वे यथासम्भव 'सरस्वती' को ही मानदण्ड वनाकर अपना पत्र चलाते थे। यही कारण था कि उन्ही लेखकों की कुछ पूछ थी, जो अपना स्थान वना चुके थे अथवा जिनमें किसी विशेषता का अंकुर था। ऐसे लेखकों के लेख यद्यपि पाठको के ज्ञानवर्द्धन की अच्छी सामग्री होते तो भी उनमें स्थायी महत्त्व के इने-गिने ही होते थे। फिर भी उनके लेखक चाहते कि उनकी कृति पुस्तक रूप में निकल जाय। ऐसे ही एक महाशय ने '. . . .शास्त्र' पर एक लेखमाला 'इन्दु' में निकाली।

यहाँ 'इन्दु' का थोड़ा-सा परिचय दे देना अनुचित न होगा। प्रसाद जी सन् १६०८ के अन्त में नई भावनाएँ लेकर हिन्दी-संसार में आये। उनका सुरती का पैतृक समृद्ध व्यापार भी था, जिसके कारण उनका कुल-नाम 'सुघनीसाव' पड़ गया था। सो अपनी नई भावनाओं को व्यक्त करने के लिए, साथ ही अपने पैतृक कारवार के विज्ञापन के लिए, उन्होंने अपने भानजे स्व० अम्विकाप्रसाद गुप्त से 'इंदु' को सन् १६०६ के आरंभ में निकलवाया था। इस मासिक पत्र की एक अपनी हस्ती थी। प्रसाद जी की रचनाओं के सिवा उनसे प्रभावित और प्रोत्साहित कितने ही नये लेखक इसमें लिखा करते थे। यद्यपि इसकी छपाई-सफ़ाई का दर्जा वहुत ही साधारण था, फिर भी लेखों के नाते यह एक नये उत्थान का सूचक था।

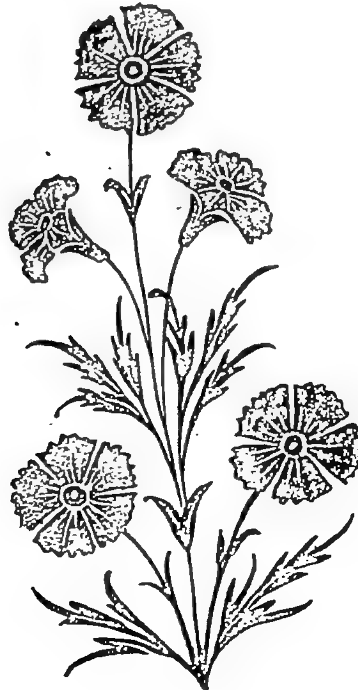
इसी 'इन्दु' में वे '. . . .शास्त्र' वाले लेख धारावाहिक रूप में निकले थे। विषय नया था। अतएव उसकी ओर अनेक लोगों का ध्यान गया और पत्रों में कुछ चर्चा भी हुई। जव यह लेखमाला पूरी हो गई तव लेखक महाशय ने उसका स्वत्व प्रेमीजी को दे दिया और उन्होंने उसे पुस्तकाकार निकाल दिया। उस समय के विचार से उसकी अच्छी

माँग हुई और एकाधिक संस्करण भी हुए। तब लेखक महाशय की नीयत में फ़ितूर आया और उन्होंने प्रेमीजी से और ऐंठने का बांवनू बांधा। प्रेमीजी थे सच्चे और खरे आदमी। उन्होंने यह मामला पंचायत में डाल दिया। सर्वश्री डा० भगवानदास, स्व० शिवप्रसाद गुप्त, श्रीप्रकाश, रामचन्द्र वर्मा और मैं, उसके सदस्य थे। पंचायत ने क़दम-क़दम पर पाया कि लेखक महाशय ने जिस रूप में मामला खड़ा किया था, उसमें उनकी ज़बरदस्ती ही नहीं, बहुत बड़ी जघन्यता भी थी। सच बात तो यह है कि उन्होंने जो हरकत की थी उसके लिए उलटे प्रेमीजी को हरजाना मिलना चाहिए था, किन्तु उन दिनों लेखक महाशय ने राष्ट्रीय बाना धारण कर लिया था। अतएव वे कुछ पंचों की निगाह में 'कोई चीज़' हो गये थे। निदान, 'दयापूर्ण' फ़ैसला यह हुआ कि यद्यपि उन्होंने काम तो अनुचित किया है फिर भी उन्हें प्रेमीजी अमुक रक़म प्रदान करें। प्रेमीजी ने तत्काल बिना किसी ननुनच के इस 'न्याव' की तामील कर दी। लेखक महाशय को प्रेमीजी से लिखित क्षमा माँगने की आज्ञा भी हुई थी। सो मानों उक्त रक़म उसी क्षमा-प्रार्थना की फ़ीस चुकवाई गई थी! प्रेमीजी आरम्भ से ही निर्लिप्त रहे। वे तो धरमोधरम यहाँ तक तैयार थे कि कापी-राइट तथा छपी प्रतियाँ लेखक महाशय को यों ही दे दें। उन्होंने न कभी लांछित करने वाले कर्म किये थे, न करना चाहते थे। यही उनका जीवन-व्रत है, जिस पर वे आज भी समारूढ़ हैं।

इस घटना में मैंने दो बातें पाईं। पहली तो प्रेमीजी के निखरे हुए व्यक्तित्व की एक झलक और दूसरे यह कि गोसाईं जी की ये पंक्तियाँ सवासोलह आने सच हैं—

"लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥"

बनारस]



वे मधुर क्षण !

श्री नरेन्द्र जैन एम० ए०

श्रद्धेय प्रेमीजी का नाम तो बहुत दिनों से सुना था; लेकिन साक्षात्कार हुआ उस समय, जब मैं कॉलेज की अध्यापकी पाने की आशा में बम्बई गया। घर पर पहुँचा तो प्रेमीजी भोजन कर रहे थे। उन्हें देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि दुर्दैव के प्रहारों से वे झुक अवश्य गये हैं, पर उसे चुनौती देने की क्षमता मानों अब भी उनमें शेष है। रुग्णा पुत्रवधू अस्पताल में थीं। इससे कुछ चिन्तित थे। मैंने उन्हें नारियल की तरह पाया। ऊपर से कठोर, पर अन्तर में कोमल।

प्रेमीजी की सहायता से नौकरी प्राप्त हो जाने पर फिर तो अनेकों बार उनसे भेंट और बातचीत करने का अवसर मिला और अब भी मिलता रहता है। जी नहीं लगता तो प्रायः उनके पास चला जाता हूँ। उनके छोटे-से परिवार के कई मधुर चित्र मेरे सामने हैं। एक दिन जस्सू (पौत्र) अपनी किताबों का बस्ता ट्राम में भूल आया। मैंने कहा कि चलो, छुट्टी हुई। लेकिन जस्सू बहुत सुस्त था। आँखों में आँसू झलकने लगे। दादा (प्रेमीजी) उसकी व्यथा को ताड़ गये। बोले, "बेटा, तू क्या फ़िकर करता है ! अरे, दुकान तो तेरी ही है। तेरे लिए एक-एक छोड़ दो-दो किताबें अभी मँगाये देता हूँ।" यह आश्वासन पाकर जस्सू उछलने लगा।

एक रोज़ बोले, "अरे बेटा चम्पा,[1] बच्चे बारिश में भीगते जाते हैं। उनके लिए एक-एक बरसाती खरीद दे।"

चम्पा बोलीं, "दादा, इनके पास छतरी है तो। फिर बरसाती की क्या जरूरत है ?"

"लो भई बेटा पस्सू,[2] कहीं बारिश छतरी से भी रुकती है ! यह माँ कैसी बातें करती हैं ?" प्रेमीजी ने हँसते हुए कहा।

पस्सू खिलखिला पड़ा। बोला, "हाँ, दादा, देखो, माँ कितनी मक्खीचूस है !"

कहने की आवश्यकता नहीं कि शीघ्र ही दो बढ़िया बरसाती आ गई।

यों ही बैठे हुए एक दिन मैंने पूछा, "यह रेडियो कितने में खरीदा था ?"

बोले, "पता नहीं। सब वही (हेमचन्द्र) लाया था। हमने तो यह शास्त्र पढ़ा ही नही।"

अपने व्यवसाय में प्रेमीजी जितने सजग और कुशल हैं, घर-गृहस्थी की चीज़ों के बारे में उतने ही अनभिज्ञ। चीज़ों का मोल-तोल करना उनसे आता ही नही।

एक दिन जस्सू बिक्री के पाँच रुपये बारह आने हाथ में खनखनाता उछलता हुआ आया।—"मेरा बटुआ कहाँ है ? बटुआ कहाँ है ?" उसने हल्ला मचा दिया।

प्रेमीजी बोले, "बड़ा दुकानदार बना है ! अरे, रोटी तो खा ले, बेटे ! मुझे क्यों सताता है ?"

पर जस्सू सुनने वाला आसामी नहीं।

प्रेमीजी फिर चिल्लाए, "बेटा चम्पा, इसके कान तो पकड़। रोटी नही खाता।"

जस्सू अपनी धुन में मस्त रहा और जब पैसे बटुए में भर लिये तब रोटी खाने बैठा। थाली आते ही लगा चिल्लाने, "चावल लाओ, चावल !"

प्रेमीजी ने हँसते हुए कहा, "अरे, यह क्या होटल है ! वाह, बेटा वाह, मेरे घर को तो तूने होटल ही बना दिया !"

हम सब खिलखिला कर हँस पड़े।

---

[1] पुत्रवधू। [2] पौत्र।

प्रेमीजी ने अपनी दुकान की किताबें पढ़नेकी छूट मुझे दे रक्खी है। एक दिन 'शाहजहाँ' (डी० एल० राय कृत) नाटक लेकर ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने लगा। प्रसंग था कि जिहनखाँ दारा का सिर काटने आता है। दारा का बेटा सिपर पिता को नहीं छोड़ता और जल्लादों से कहता है कि तुम उन्हें नहीं मार सकते। दृश्य बड़ा ही करुण था। पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखें गीली हो आईं। निगाह ऊपर उठी तो देखता हूँ कि प्रेमीजी के टपटप् आँसू गिर रहे हैं। वास्तव में प्रेमीजी बहुत ही नरम दिल के हैं। ऐसे प्रसंगों पर उन्हें अपने हेम की याद भी हो आती है !



१. चि० विद्याधर (पस्सू) २. चि० यशोधर (जस्सू)
३. चंपाबाई (स्व० हेमचंद्रके पुत्र और पत्नी।)

प्रेमीजी में विनोदप्रियता भी खूब है। अपनी हँसी आप ही उड़ाना, यह उनके स्वभाव की विशेषता है। बुन्देलखण्ड का एक ग्राम-गीत—"डुकरा तोकों मौत कतऊँ नइयाँ"—बड़े लहजे के साथ गाया करते हैं। कभी-कभी पस्सू मचल जाता है। कहता है, "दादा, हम तो वही कहानी सुनेंगे।"

जानते हुए भी दादा पूछते हैं, "कौन-सी कहानी भैया ?"

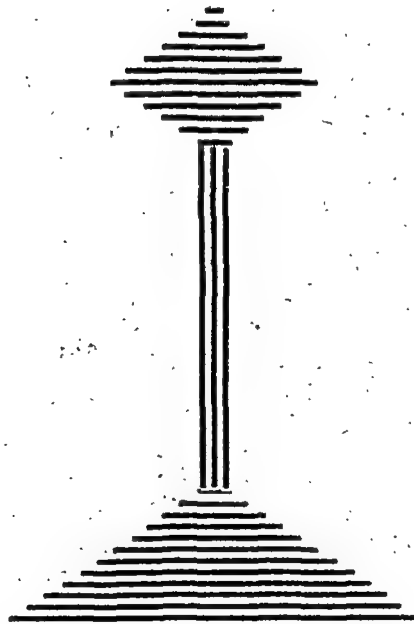
"अरे, वही—अल्ला मियाँ बड़े सयाने। पहले ही काट लिये दो आने।"

हँसते-हँसते दादा पूरी कहानी सुना देते हैं। कभी जब पस्सू किसी से नाराज होकर रोने लगता है तो प्रेमीजी उसके कान में वही अल्ला मियाँ वाला मन्त्र फूंक देते हैं और वह खिलखिलाने लगता है।

इस प्रकार की अनेकों घटनाएँ उस घर में देखता हूँ। ये घटनाएँ छोटी अवश्य हैं, पर ऐसी घटनाओं से हमारे परिवारों में मधुर रस का संचार होता है।

प्रेमीजी की आशा अपने इन्हीं दोनों पोतों पर निर्भर है। वे योग्य हो जायँ तो उनके कन्धों पर सारा दायित्व सौंपकर चुपचाप दुनिया से विदा ले लें, यही उनकी अभिलाषा जान पड़ती है।

बम्बई]



कुछ स्मृतियाँ

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

सन् १९०९ या १० की बात है। उस समय मैं केसली में मास्टर था। दिसम्बर की छुट्टी में घर आया था। अभी तक प्रेमीजी से मेरी घनिष्टता नहीं हुई थी। साधारण परिचय मात्र था। एक दिन सन्ध्या समय मैंने देखा कि बाजार की एक दहलान में प्रेमीजी को घेरे हुए बहुत से मास्टर बैठे हैं और कुछ लिख रहे हैं। कौतूहलवश मैं भी वहाँ जा पहुँचा। मालूम हुआ, प्रेमीजी बम्बई से आये हैं। कुछ दिन यहाँ रहेंगे। मास्टरों के आग्रह पर प्रति-दिन बँगला भाषा सिखाया करेंगे। इस समाचार ने मुझे हर्ष-विषाद के गम्भीर आवर्त में डाल दिया। हर्ष इस बात का कि एक नई भाषा सीखने का अवसर है। विषाद इसलिए कि मैं इस अवसर से लाभ उठाने में असमर्थ था। मेरी छुट्टी समाप्त हो चुकी थी और मुझे दूसरे दिन प्रातःकाल केसली जाना था। मैंने अपनी अभिलाषा और कठिनाई प्रेमीजी को कह सुनाई। कठिनाई की इस विषम गुत्थी को एक सुदक्ष पुरुष की नाई उन्होंने तत्काल सुलझा दिया। बँगला भाषा के 'साहित्य' नामक पत्र की एक फ़ाइल उनके सामने रक्खी थी। उसे मेरी ओर बढ़ाते हुए उन्होंने कहा, "आप इसे ले जाइए। मैं बँगला वर्णमाला की पहिचान कराये देता हूँ। बाक़ी अभ्यास से आप स्वयं सीख जावेंगे।" फ़ाइल लेकर मैं उसके पन्ने इधर-उधर पलटने लगा। मोटे-मोटे शीर्षक के अक्षरों में प्रेमीजी ने बतलाया कि देखो, यह अ है, यह ख और यह भ। इत्यादि। प्रेमीजी बतलाते गये और मैं पेंसिल से उन पर हिन्दी में लिखता गया। दूसरे दिन मैं केसली चला गया। थोड़े ही दिन के अभ्यास से मैं उस फ़ाइल के लेख पढ़ने लगा। अभ्यास से कुछ-कुछ मतलब भी समझ में आने लगा। जब किसी शब्द का अर्थ मालूम न पड़ता तब उस शब्द को घंटों खोजता कि वह कहाँ और किस अर्थ में आया है। इस तरह उसके शब्दों, विभक्तियों आदि से परिचित होता गया। एक महीने पीछे मैंने प्रेमीजी को बँगला में एक पत्र लिखा। वे उस समय बम्बई पहुँच चुके थे। प्रेमीजी की दूकान के साझीदार श्री छगनमल जी बाकलीवाल को बहुत समय बंगाल में रहने का अवसर मिला था। वे बँगला अच्छी तरह लिख और बोल सकते थे। उन्होंने मेरे पत्र का उत्तर बँगला में दिया। मेरे परिश्रम की सराहना करते हुए उन्होंने बँगला की तीन-चार गद्य-पद्य की पुस्तकें मेरे अभ्यास के लिए भेज दीं। कुछ समय पीछे मैंने प्रेमीजी की दी हुई 'साहित्य' की फ़ाइल में से 'कञ्चुका', 'जयमाला' आदि गल्पों का अनुवाद करके उनके पास भेजा। ये गल्पें 'जैन-हितैषी' मासिकपत्र में प्रकाशित हुईं और पश्चात् 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से प्रकाशित 'फूलों का गुच्छा' नामक कहानी-संग्रह में भी सम्मिलित की गईं।

× × ×

मध्य-प्रदेश के तत्कालीन चीफ़ कमिश्नर बेञ्जामन राबर्टसन दौरे पर देवरी आ रहे थे। यह सन् १९१८ की बात है। उनकी रसद के इन्तज़ाम के नाम पर तहसील के सिपाहियों ने देवरी तथा निकटवर्ती देहातों में खूब लूट मचा रक्खी थी। लकड़ी, घास, खाट-पलंग, बर्तन आदि अनेक वस्तुएँ संग्रह की जा रही थीं। गाड़ी-बैल, भैंसे बेगार में दस-पन्द्रह दिन पहले से ही पकड़े जा रहे थे। सिपाही लोगों के घर जा खड़े होते और यदि उनके हाथ गरम न कर दिये जाते तो वे उनकी वस्तुएँ बलात् ले जाते थे। साहब बहादुर के चले जाने के पश्चात् रसद का बचा हुआ सामान नीलाम किया गया। स्थानीय हलवाइयों को खूब खोवा बेचा गया। उस समय सौभाग्य से प्रेमीजी देवरी आये हुए थे। ग़रीब लोगों की यह तबाही उनसे न देखी गई। उन्होंने इस विषय में **"देवरी में नादिरशाही, चीफ़ कमिश्नर का दौरा और प्रजा की तबाही"** शीर्षक एक लेख 'प्रताप' में भेज दिया। लेख छपते ही अफ़सरों में खलबली मच गई। तहसीलदार और छोटे साहब दौड़े आये। तहक़ीक़ात की गई। लेख लिखने वाले पर मुक़द्दमा चलाने की

धमकी भी दी गई। पर बात सच थी। बेचारे क्या करते ? अन्त में उचित मावजा देकर लोगों को शान्त कर दिया। कुछ सिपाही बरखास्त कर दिये गये और प्रबन्धकर्ता तहसीलदार की बदली हो गई। देवरी के इतिहास में इस तरह के राजकर्मचारियों की ज्यादती का प्रतिरोध समाचार-पत्र द्वारा करने का यह पहला ही अवसर था।

× × ×

प्रेमीजी विधवा-विवाह के समर्थक है। उन्होंने जैन-समाज में इसके प्रचार के लिए समय-समय पर यथेष्ट आन्दोलन किया है। उनके लघु भ्राता सेठ नन्हेलाल जी की पत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर उन्होंने ९ दिसम्बर १९२८ को उनका विवाह हनोतिया ग्राम-निवासी एक बाईस वर्षीय परवार-विधवा के साथ करके अपने विधवा-विवाह-विषयक विचारों को अमली रूप दिया। उस समय विरोधियों ने विरोध करने में कुछ कसर नहीं रक्खी। जैन-जाति के मुखियों को विवाह में भाग लेने से रोका गया, सत्याग्रह करने तक की धमकी दी गई; पर प्रेमीजी के अदम्य उत्साह और कर्त्तव्यशीलता के कारण विरोधियों की कुछ दाल न गली। विवाह सागर में चकराघाट पर एक सुसज्जित मंडप के नीचे किया गया था। चार-पाँच हज़ार आदमी एकत्र हुए थे। सागर के प्रायः सभी वकील, जैन जाति के बहु-संख्यक मुखिया और सागर के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति इस विवाह में सम्मिलित हुए थे। जैन-अजैन बीसों वक्ताओं के विधवा-विवाह के समर्थन में भाषण हुए।

विवाह के पश्चात् देवरी में प्रेमीजी ने १२ दिसम्बर को एक प्रीति-भोज दिया। उसी दिन स्थानीय म्यूनिसिपैलिटी के अध्यक्ष पं० गोपालराव दामले बी० ए०, एल-एल० बी० की अध्यक्षता में उक्त विधवा-विवाह का अभिनन्दन करने के लिए एक सार्वजनिक सभा की गई। सभा में सैय्यद अमीरअली 'मीर', दशरथलाल श्रीवास्तव, शिवसहाय चतुर्वेदी, बुद्धिलाल श्रावक, व्रजभूषणलाल जी चतुर्वेदी और नाथूराम जी प्रेमी के भाषण हुए। सभापति महोदय ने ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा विधवा-विवाह का समर्थन किया और सभा विसर्जित हुई।

कहने का तात्पर्य यह कि स्वर्गीय सैय्यद अमीरअली 'मीर' और श्री नाथूराम जी प्रेमी के सत्संग से देवरी-निवासियों में विद्याभिरुचि तथा अन्याय के प्रति विरोध करने का साहस उत्पन्न हुआ। प्रेमीजी के **'प्रजा की तबाही'** वाले लेख के पश्चात् स्थानीय अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता और अन्याय के विरुद्ध बहुत से लेख लिखे गये, जिसके फलस्वरूप अन्याय की कमी हुई और अनेक युवकों मे कविता करने तथा साहित्यिक लेख लिखने की रुचि उत्पन्न हुई।

देवरी]



स्वावलम्बी प्रेमी जी

श्री लालचन्द्र वी० सेठी

लगभग सन् १९१२ की बात है, जब प्रथम बार बम्बई में श्री प्रेमीजी से मेरी भेंट हुई। उस समय 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का कार्य-संचालन करते हुए उन्होंने 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का भी कार्य प्रारम्भ कर दिया था और उस समय तक 'स्वाधीनता' व 'फूलों का गुच्छा' ये दो पुस्तकें प्रकाशित भी हो चुकी थीं। उन दिनों प्रेमीजी बड़ी योग्यता के साथ 'जैन-हितैषी' का सम्पादन कर रहे थे। मैं उसे बड़ी रुचि से पढ़ता था। जितने समय तक प्रेमीजी ने इस पत्र का सम्पादन किया, बड़ी निर्भीकता और विचार-स्वातन्त्र्य के साथ किया। 'जैन-हितैषी' की फ़ाइलों में उनके युग-सन्देश-वाहक तथा युक्तिपूर्ण लेख आज भी पढ़ने योग्य हैं। प्रेमीजी की उन्नत विचारशीलता, चरित्र-निष्ठा और सुधारक मनोवृत्ति का परिचय हमें उनकी लेखनी से लिखे गये लेखों में बराबर मिलता है।

जैनियों में सर्व-प्रथम श्री प्रेमीजी ने ही जैन-इतिहास पर क़लम उठाई। उन्होंने अपने गम्भीर और विशाल अध्ययन के द्वारा जैन-आचार्यों का परिचय प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे वे उनका समय-निर्णय करने लगे और बाद को तो वे एक पूरे इतिहासज्ञ ही बन गये। आज समाज में जैन-इतिहास की जो इतनी विशद चर्चा दिखाई देती है, उसका प्रधान श्रेय प्रेमीजी को ही है।

'श्री माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' का प्रारम्भ एक छोटी-सी पूँजी से हुआ था, पर प्रेमीजी ने अपनी कुशलता और अविश्रान्त परिश्रम से लगभग पैंतालीस अलभ्य और अनुपम ग्रन्थों का प्रकाशन कर उन्हें सर्वत्र सुलभ कर दिया है। आज से तीस वर्ष पूर्व संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्राचीन प्रतियों का प्राप्त करना, उनकी प्रेस-कापी कराना, छपाई की व्यवस्था करना, प्रूफ़-संशोधन करना आदि कितना गुरुतर कार्य था, यह भुक्तभोगी लोगों से अविदित नहीं है। मगर अपनी सच्ची लगन और दृढ़ अध्यवसाय के द्वारा प्रेमीजी ने इस दिशा में एक आदर्श उपस्थित किया। उसीसे प्रेरणा पाकर आज अनेकों ग्रन्थमालाएँ चालू हैं। 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' के अवैतनिक मन्त्री होते हुए भी प्रेमीजी ने निःस्वार्थभाव और केवल प्राचीन ग्रन्थों के उद्धार को दृष्टि में रखकर इतने मितव्यय से इसका कार्य किया है कि जिसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है।

प्रेमीजी आत्म-प्रशंसा और प्रसिद्धि से सदैव दूर रहे हैं, यहाँ तक कि मैंने उन्हें कभी किसी सभा-सोसाइटी में जाते या सभापति बनते और व्याख्यान देते हुए नहीं देखा। पर जो भी व्यक्ति निजी तौर पर उनसे मिला, उन्होंने उससे बड़ी स्पष्टता और ठोस युक्तियों के साथ शान्तिपूर्वक अपने विचारों का प्रतिपादन किया। प्रेमीजी ने जिस बात या विचार को सच समझा, बिना किसी संकोच के स्पष्ट कहा और लिखा। व्यक्तिगत विरोध या बहिष्कार की उन्होंने कभी कोई चिन्ता नहीं की और न उसके कारण उन्होंने अपने विचारों को दबाया ही।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से आज तक सवा सौ से भी ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें कई-एक पुस्तकें तो बिलकुल नवीन लेखकों की हैं। प्रेमीजी ने नवीन लेखकों को सदैव प्रोत्साहन दिया है। बहुत सी पुस्तकों में भाषा, भाव, अनुवाद आदि की दृष्टि से पर्याप्त संशोधन स्वयं करते हुए भी उन्होंने सारा श्रेय लेखक को ही दिया है। संशोधक या सम्पादक के रूप में अपना पूर्ण अधिकार होते हुए भी उन्होंने कभी किसी पुस्तक पर अपना नाम नहीं दिया। यही कारण है कि उनके कार्यालय की निन्दा आज तक किसी लेखक से सुनने में नहीं आई, प्रत्युत स्व० श्री प्रेमचन्द्र जी, श्री बख्शी जी, श्री जैनेन्द्रकुमार जी आदि के द्वारा प्रेमीजी के खरे, पर प्रेममय निर्मल व्यवहार की प्रशंसा ही सुनने को मिली है। प्रेमीजी के यहाँ से जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, वे सब छपाई, सफ़ाई, संशुद्धि, काग़ज़, रूप-रंग आदि की दृष्टि से सर्वोत्तम रही हैं। शरत्-साहित्य-माला, मुंशी-साहित्य, आदि जो सस्ती मालाएँ

प्रेमीजी ने प्रकाशित की है, वे हिन्दी के लिए ही नही, अपितु अन्य भाषाओं के लिए भी आदर्श है। उत्तम विचारों के प्रचार की दृष्टि से प्रेमीजी ने इन ग्रन्थ-मालाओं का प्रारम्भ किया था।

गत वर्षों में मुझे बम्बई अनेक बार जाना पड़ा है और मैं प्रत्येक प्रवास में प्रेमीजी से मिले बग़ैर नही रहा हूँ। मैंने उन्हें नये लेखकों को सदैव सत्परामर्श देते और उत्साह के साथ उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हुए देखा है। मैं जब-जब उनसे मिलने गया हूँ, वे अपना सब काम छोड़कर बड़े प्रेम के साथ मिले हैं। विविध विषयों पर घंटों विचार-विनिमय होता रहा है। उनके विचार मुझे हिन्दी और अंग्रेजी के बड़े-बड़े विचारक विद्वानों से भी उच्च प्रतीत हुए। उनके विचारों की दूरदर्शिता का इसीसे पता लग सकता है कि जिन बातों को उन्होंने आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व कहा या लिखा था, वे आज कार्यरूप में परिणत हो रही हैं। प्रेमीजी अपने विचारों के स्वयं आदर्श हैं। यदि उन्होंने कभी 'विधवा-विवाह' का समर्थन किया तो स्वयं अपने छोटे भाई श्री नन्हेलाल का सर्वप्रथम उसी प्रकार विवाह कर दिखाया।

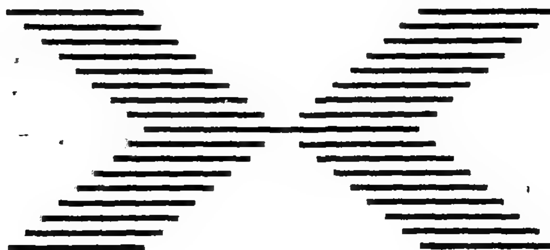
प्रेमीजी का ध्येय 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का संचालन, नवीन साहित्य का अध्ययन और सर्जन, पुराने साहित्य की शोध, नवीन लेखकों को प्रोत्साहन, आगन्तुकों को सत्परामर्श देना एवं स्वयं सत्य का अन्वेषण करते रहना है। आज इस उत्तरावस्था में अपने एकमात्र पुत्र के चिर-वियोग जैसे वज्राघात के होने पर भी वे अपना अध्ययन बराबर करते रहते हैं और नित नई खोजों से जैन-आचार्यों का इतिहास प्रकाश में लाकर जैन-साहित्य का भंडार भर रहे हैं।

विगत वर्षों में जब-जब प्रेमीजी से मिला तब-तब उनके सुपुत्र स्व० हेमचन्द्र से भी मिला हूँ। वह अपने पिता के समान अध्ययनशील, सरल और निश्छल था। विविध विषयों को पढ़ने और लिखने की रुचि आदि अनेक ऐसे गुण थे, जो उसने अपने पिता से प्राप्त किये थे। यदि वह जीवित रहता तो निःसन्देह सुयोग्य पिता का सुयोग्य पुत्र निकलता, पर दैवगति के सामने किसकी चलती है!

प्रेमीजी स्वावलम्बी और अपने पैरों खड़े होने वाले व्यक्ति हैं। उन्होंने बहुत छोटी-सी पूंजी से पुस्तक-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया था। आज उनके अदम्य उत्साह, सच्ची लगन, अनवरत परिश्रम और कर्तव्य-परायणता से उनके कार्यालय को सचमुच 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' कहलाने का गौरव प्राप्त है। मुझे आज लगातार उनसे मिलते हुए तीस वर्ष हो गए, मगर उन्होंने आज तक कभी किसी प्रकार के निजी स्वार्थ का प्रस्ताव नहीं रक्खा। यह विशेपता मैंने बहुत कम व्यक्तियों में पाई है। मेरी समझ से स्वावलम्बी होकर दूसरों की सेवा करना ही सच्ची समाजसेवा है।

ऐसे आदर्श साहित्य-सेवी और समाज-हितैषी व्यक्ति के सम्मान में जो भी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोड़ी है।

उज्जैन]



विद्वान् और आदर्श प्रकाशक

श्री भानुकुमार जैन

मेरी धारणा है कि जो प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता साहित्यिक नहीं है, वह सफल पब्लिशर अथवा बुकसेलर नहीं हो सकता। पुस्तक-व्यवसाय को मैं राष्ट्र या समाज का विकास करने वाला धन्धा मानता हूँ। दुर्भाग्य से अब यह धन्धा अनैतिक हो गया है। येनकेन प्रकारेण पैसा कमाना ही इसका ध्येय रह गया है।

मुझे हर्ष है कि मेरी आँखों के सामने एक ऐसा व्यक्ति है, जो प्रकाशन के इस क्षुद्रतापूर्ण उद्देश्य को अपने आचरण में नहीं आने देता, जो खर्च करने में अत्यन्त संकोचशील है, पर रुपये का कैसा भी प्रलोभन उसे अपनी ईमानदारी से नहीं डिगा सकता। बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी यदि उससे कहता है, "भाई, रुपये ले लो, लागत भी हमारी और बढ़िया-से-बढ़िया छपाई करो, पर हमारी किताब अपने यहाँ से प्रकाशित कर दो" तो वह उत्तर में चुपचाप पाण्डुलिपि लौटाकर विनयपूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट कर देता है।

मैं नित अपनी आँखों देखता हूँ और दावे के साथ कहता हूँ कि प्रेमीजी की कमाई का एक-एक पैसा ईमानदारी का पैसा है। प्रकाशन में उनका बेजा स्वार्थ कभी नहीं रहा और अवसर-वादिता का आश्रय लेकर उन्होंने कभी भी लाभ नहीं उठाया। वे रातदिन परिश्रम करते हैं। किसी भी महान् लेखक या अनुवादक की कृति क्यों न हो, स्वयं जबतक शब्दशः मूल से मिलाकर संशोधित, परिमार्जित और शुद्ध नहीं कर लेते तबतक कोई भी पाण्डुलिपि प्रेस में नहीं जाती। किसी रचना को स्वीकार भी तब करते हैं, जब वह उनकी अपनी कसौटी पर खरी उतर आती है। बड़े नामों के प्रति उन्हें कोई आकर्षण नहीं है और पसन्द आ जाय तो साधारण लेखक की चीज़ भी स्वीकार करने में उन्हें झिझक नहीं होती। हिन्दी के माने हुए आचार्यों और विद्वानों की रचनाएँ कसौटी पर खरी न उतरने के कारण उन्होंने लौटा दीं और उन ग्रन्थकारों के कोपभाजन बने। व्यक्तिगत रूप से ऐसे आदमियों द्वारा प्रेमीजी की आलोचना सुनने में आ जाती है, पर ये महानुभाव यह नहीं सोचते कि प्रेमीजी के इस स्वस्थ और निष्पक्ष दृष्टिकोण के कारण ही हिन्दी की प्रकाशन-संस्थाओं में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन-संस्था मानी जाती है।

प्रेमीजी ने भर्ती के ग्रन्थ नहीं छापे। स्वयं ही हर किताब के प्रूफ़ देखे हैं। पुस्तकों की छपाई-सफ़ाई में बाज़ार का ध्यान रखकर उन्होंने आडम्बरयुक्त सजावट की बात कभी नहीं सोची।

यह तो हुआ उनका व्यावसायिक पहलू। अब एक दूसरा पहलू और देखें।

प्रेमीजी जैन विद्वान् हैं। 'जैन-साहित्य और इतिहास' में उनके वे खोज-सम्बन्धी लेख हैं, जिनके लिए आज से तीस वर्ष पूर्व उतनी सामग्री सुलभ नहीं थी, जितनी आज है। आज तो विद्वान् लोग भी प्रेमीजी के इन लेखों का सहारा लेते हैं। 'महाकवि स्वयम्भू' को प्रकाश में लाने का श्रेय महापंडित राहुल सांकृत्यायन को दिया जाता है; लेकिन आज से पच्चीस वर्ष पूर्व दो लेख प्रेमीजी ने उसके बारे में 'जैन-हितैषी' में लिख दिये थे, जो उनकी 'जैन-साहित्य और इतिहास' पुस्तक में संकलित हैं। यदि प्रकाशन के कार्य में ही प्रेमीजी का समय न चला गया होता तो निश्चय ही वे स्वयं अपनी बहुत-सी मूल्यवान रचनाओं से हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि कर सकते थे।

कौटुम्बिक दुखों से प्रेमीजी पिस गये हैं। इकलौता, निर्भीक, चरित्रवान और विद्वान् बेटा हेमचन्द्र चल बसा। उसके पहले प्रेमीजी की पत्नी की मृत्यु हो गई थी। इस पर श्वास जब-तब परेशान कर डालता है। अनवरत परिश्रम और अध्ययन ने भी प्रेमीजी के स्वास्थ्य को बहुत क्षति पहुँचाई है; पर उनके मनोबल, सतत्

जागरूकता के संकल्प और दो छोटे पोतों ने उन्हें जीवित रक्खा है और मानसिक दृढ़ता से वे अस्वस्थता पर विजय पाये हुए हैं।

हमारी कामना है कि प्रेमीजी अभी बहुत दिनों तक अपने परिपक्व अनुभव तथा ज्ञान के द्वारा हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें।

बम्बई]

हार्दिक कामना

श्री मामा वरेरकर

वंगीय और गुर्जर भाषा में से चुनिन्दा साहित्य हिन्दी भाषियों को सुलभ कर देने के कार्य में जिन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया तथा जिन्होंने अत्यंत सुबोध हिन्दी भाषा में चुने हुए साहित्य-ग्रंथ अनुवादित कराकर सर्वसाधारण पाठक को सस्ते मूल्य में प्राप्य करा दिये और इस प्रकार स्वार्थत्यागपूर्ण पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय चलाया, युद्ध से उत्पन्न भयानक परिस्थिति में भी जिन्होंने मराठी या अन्य प्रकाशकों की भांति अपनी पुस्तकों की कीमतें बहुत अधिक नही बढ़ाई और अपने ग्राहकों को ऐसी दशा में भी संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया, और इस प्रकार हिंदी भाषा का वैभव तथा हिंदी भाषियों के साहित्यप्रेम को जिन्होंने उपयुक्त रीति से बढ़ाया—ऐसे श्री नाथूराम 'प्रेमी' को दीर्घायु-रारोग्य प्राप्त हो, ऐसी हृदय से कामना करता हूं। मेरे मित्र स्व० शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय का साहित्य हिंदी में अनूदित कर उन्होंने बंगला तथा हिंदी दोनों भाषाओं पर जो उपकार किया है, वह वाङ्मय के इतिहास की दृष्टि से अमूल्य है। उसी भांति भाषा का अधिकृत वाङ्मय हिंदी भाषियों को सुपरिचित करा देने की ओर भी आगामी काल में उनका ध्यान आकृष्ट हो, ऐसी मैं आशा प्रदर्शित करता हूं।



इतिहासकार 'प्रेमीजी'

श्री० गो० खुशाल जैन एम्० ए०

पाश्चात्य विद्वानों का यह आरोप था कि भारतीय विद्वानों में ऐतिहासिक चेतना नहीं थी। अतः उनकी कृतियों के आधार पर किसी वंश, परम्परा, स्थान आदि का इतिहास तैयार नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, उन लेखकों के प्रामाणिक जीवन-चरित भी उनकी रचनाओं के आधार पर नहीं लिखे जा सकते। लेकिन विदेशी तथा भारतीय पुरातत्त्व-विशारदों की सतत् साधना से उद्भूत गम्भीर और सूक्ष्म शोधों ने उक्त कथन की निस्सारता को ही सिद्ध नहीं किया है, अपितु प्राचीन भारत का सर्वाङ्ग सुन्दर राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भी प्रस्तुत कर दिया है। भारत की प्राचीन संस्कृतियों में से अन्यतम जैन-संस्कृति के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए जिन विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उनमें प्रेमीजी का ऊंचा स्थान है।

प्रेमीजी के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात कुछ आगे-पीछे 'जैनहितैषी' के सम्पादकत्व, 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' के मन्त्रित्व और 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' के स्वामित्व के अनुसंग से हुआ है। उनकी चिन्ता मौलिक, तलस्पर्शी और उदार है। अतएव वे 'जैनहितैषी' में उस समय की प्रथा के अनुसार चालू वस्तु देकर ही अपने सम्पादकीय दायित्व की इतिश्री नहीं कर सके। इस युग का प्रधान लक्षण युक्तिवाद उन्हें प्रत्येक परिणाम और मान्यता की गहराई में प्रवेश करने की प्रेरणा करता था। उन्होंने जबलपुर में हुए सातवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में 'जैन-हिन्दी-साहित्य'[1] शीर्षक निबन्ध पढ़ा था। यह निबन्ध उनकी शोधक वृत्ति का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। इससे स्पष्ट है कि प्रेमीजी ने प्रारम्भ से ही अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक तथा कालक्रमानुगत बनाने के लिए अथक परिश्रम किया तथा इस दिशा में लेखनी चलाने के पहले विविध शास्त्र-भंडारों में बैठ कर बहुमूल्य सामग्री संकलित की। 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थ-माला' के संचालन ने उनकी जिज्ञासा को और भी प्रखर कर दिया था। हस्त-लिखित ग्रन्थों को केवल छपवा कर निकाल देने में ही प्रेमीजी को कोई रस न था, गोकि जैनसमाज में प्रकाशन की यह पद्धति पहले थी ही नहीं, आज जो है। उनकी जागरूक चेतना उन आचार्यों के स्थान, पूर्वज, गुरु, काल, सहकर्मी, प्रशंसक तथा रचनाओं को जानने के लिए व्याकुल हो उठी, जिनके प्रत्येक वचन में संसार की उलझी गुत्थियों को सुलझाने के उपाय हैं। इस मानसिक भूख को शान्त करने के लिए जब प्रेमीजी ने पुरातत्त्व की ओर दृष्टि फेरी होगी तो विविध साहित्य से परिपूर्ण नाना शास्त्र-भंडारों, देवालयों, मूर्तियों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, पट्टावलियों, लोकोक्तियों आदि विशाल सामग्री को देख कर अवश्य ही कुछ क्षणों के लिए वे द्विविधा में पड़ गये होंगे। लेकिन कठिनाइयों से घबराना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। अतः धैर्यपूर्वक संयत भाव से उस विपुल सामग्री का अध्ययन करके उन्होंने आचार्यों का परिचय देने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

इसके बाद जैन-समाज में प्रकाशन का एक नया युग प्रारम्भ हुआ, जिसका श्रेय 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' को और उसके कर्णधार प्रेमीजी को ही है। मंगलाचरण, गुरु तथा श्रेष्ठ पुरुषों के स्मरण और उदाहरण स्वरूप आये पुरुषों के उल्लेख तथा प्रशस्तियों के प्रामाणिक एवं आलंकारिक वर्णन में प्रेमीजी ने कमाल कर दिखाया। साहित्य समाजोद्भूत होते हुए भी उसकी जीवन-धारा का अक्षय स्रोत है। अतएव उसमें आये विविध सांस्कृतिक विषय भी प्रेमीजी की पैनी दृष्टि से नहीं बच सके। फलस्वरूप उन्होंने अनेक प्रकार की ऐतिहासिक रचनाएँ कीं, जिन्हें सुविधा के विचार से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) जैनसाहित्य का इतिहास तथा (आ) स्फुट जैन-सांस्कृतिक इतिहास।

---

[1] 'जैन हितैषी' भ० १२ पृ०, ५४१-५६८, भ० १३ पृ० १०-३५

जैन साहित्य का इतिहास—जैनसाहित्य का भण्डार अत्यन्त समृद्ध है। अतः यह देख कर आश्चर्य होता है कि प्रेमीजी ने (१) साहित्यकारों के इतिहास, (२) ग्रन्थों का विशेष अध्ययन तथा (३) कतिपय ग्रन्थों की व्यापक तुलना करने के लिए पर्याप्त समय कहाँ से निकाला होगा ! इस पर भी विशेषता यह कि प्रेमीजी की लेखनी ने एक-दो विषय के विद्वानों के ही शब्द-चित्र नहीं खींचे हैं, अपितु धर्मशास्त्री, नैयायिक, वैयाकरण, समालोचक तथा स्रष्टा कवि, पुराण-निर्माता, टीकाकार, आयुर्वेदशास्त्री, तान्त्रिक आदि सभी के चरित्र उनकी शोध और लेखनी के सहारे मूर्तिमान हुए हैं।

साहित्यकारों का इतिहास—'कवि चरितावली' सर्व प्रथम 'विद्वद्रत्नमाला'[1] के रूप में प्रकाश में आई थी। इसमें पुराणकार महाकवि जिनसेन गुणभद्र, धर्मशास्त्री आशाधर तथा अमितगति, सर्वशास्त्र चक्रवर्ती वादिराज, नाटककार मल्लिषेण तथा नैयायिकों के दीक्षागुरु स्वामी समन्तभद्र के जीवन संकलित हैं। इन निबन्धों में प्रेमीजी ने प्रत्येक आचार्य की जन्मभूमि, विद्यास्थल तथा ग्रन्थ निर्माण क्षेत्र का वर्णन किया है, विविध स्रोतों के सहारे पूर्वजों का परिचय दिया है और उनका समय-निर्धारण किया है। साथ ही उनकी प्राप्य-अप्राप्य रचनाओं का भी परिचय दिया है। तत्पश्चात् यह धारा 'जैन-हितैषी' तथा अन्य शोधक पत्रों के लेखों तथा ग्रन्थमाला के ग्रन्थों की भूमिका के रूप में प्रवाहित हुई। फलस्वरूप आचार्य वीरसेन[2], अमृतचन्द्र,[3] शिवार्य,[4] अमितगति,[5] आशाधर[6] आदि धर्मशास्त्रकार विद्वानों के इतिहास निर्मित हुए हैं। आचार्य वीरसेन की कृतियाँ जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं, उसी प्रकार उनके सम्बन्ध की जो सामग्री प्रेमीजी ने संकलित की है, वह भी विशाल और बहुउपयोगी है। पंडिताचार्य आशाधर जी के विषय में प्रेमीजी ने जो कुछ लिखा है, वह उनके पांडित्य पर ही प्रकाश नहीं डालता, अपितु अन्य लेखकों के लिए उपयोगी सामग्री भी उपस्थित करता है। उन्होंने अध्यात्म-रहस्य, योगशास्त्र, राजमिती विप्रलम्भ आदि सभी विषयों पर सफलतापूर्वक लेखनी चलाई थी।

स्वामी समन्तभद्र,[7] आचार्य प्रभाचन्द्र,[8] देवसेनसूरि,[9] अनन्तकीर्ति[10] आदि नैयायिक थे। प्रेमीजी के लेखों को देखने पर इनकी विद्वत्ता का मानचित्र सामने आ जाता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने सभी विषयों पर लिखा है, किन्तु उनकी कीर्ति-पताका न्याय के ग्रन्थों पर ही लहराती है।

आचार्य जिनसेन, गुणभद्र,[11] चामुण्डराय[12] आदि अपने समय की अनुपम विभूतियाँ थीं। इनका प्रभाव केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही नहीं प्रतिफलित हुआ था, अपितु सर्वव्यापी था। आचार्य जिनसेन की पुराण-निर्माण शैली तो शतियों तक पुराण-निर्माताओं के लिए आदर्श थी। आचार्य पुष्पदन्त[13] तथा विमलसूरि[14] ने प्राकृत

---

[1] बम्बई, जैनमित्र कार्यालय, १९१२
[2] जैनहितैषी १९११
[3] जैनहितैषी १९२०
[4] अनेकान्त १९३१
[5] जैनहितैषी १९०८
[6] जैनहितैषी १९०९
[7] विद्वद्रत्नमाला पृ० १५९
[8] अनेकान्त १९४१
[9] जैनहितैषी १९२१
[10] जैनहितैषी १९१५
[11] जैनहितैषी १९११
[12] जैनहितैषी १९१६
[13] जैनसाहित्य संशोधक १९२३
[14] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २७२

भाषा में पुराणों की रचना करके जन-साधारण के लिए धर्मकथा का मार्ग खोल दिया था। दिनोंदिन प्रकाश में आने वाली कृतियाँ इनके साहित्यिक क्षेत्र को विस्तृत ही करती जा रही हैं। इनके तथा स्वयंभू, त्रिभुवन स्वयंभू[1] प्रभृति प्राकृत कवियों के विषय में जो कुछ लिखा गया है उससे पता चलता है कि प्रेमीजी ने अपभ्रंश भाषाओं का कितना सूक्ष्म अध्ययन किया है। प्रेमीजी के उद्योग से ही कवि चतुर्मुख[2] की स्थिति स्पष्ट हो सकी है। अपभ्रंश के अध्ययन-मार्ग के तो प्रेमीजी एक प्रकार से प्रवर्तक ही हैं।

कविराज हरिचन्द्र,[3] वादीभसिंह,[4] धनंजय,[5] महासेन,[6] जयकीर्ति,[7] वाग्भट[8] आदि कवि थे। इनकी रचनाएँ संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। जहाँ धनंजय का 'द्विसन्धान काव्य' समस्त कवियों को निरस्त्र कर देता है, वहाँ हरिचन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' सरलता से ". . . .सन्ति त्रयो गुणः" को चरितार्थ करता है।

पूज्यपाद देवनन्दि[9] तथा मुनि शाकटायन[10] शब्दशास्त्री थे। मल्लिषेण[11] तथा वादिचन्द्र[12] नाटककार थे। टीकाकार श्रुतसागर[13], नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेवसूरि[14] तथा आध्यात्मरसवेत्ता आचार्य शुभचन्द्र[15] अपने ढंग के निराले विद्वान थे। इनकी कृतियाँ अपने-अपने विषय की अनुपम रचनाएँ हैं। इन सब को प्रकाश में लाने का श्रेय प्रेमीजी को ही है।

ग्रन्थ परिचय—कितने ही संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करके प्रेमीजी ने उनका महत्त्व प्रकट किया। इस प्रकार के अध्ययन की बदौलत ही 'आराधना' की अनेक टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। 'नीतिवाक्यामृत' का अनुशीलन केवल प्रेमीजी की उदार समालोचक वृत्ति का ही परिचायक नहीं है, अपितु ग्रन्थ की महत्ता को भी सुस्पष्ट कर देता है। उन्होंने इसकी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साथ जो तुलना की है, वह तो अपने ढंग की एक ही है। इसी प्रकार लोकविभाग तिलोयपण्णत्ति[16] तथा जम्बूद्वीप पण्णत्ति[16] के विश्लेषण जैनाचार्यों की तीक्ष्ण भौगोलिक अभिरुचि के परिचायक हैं।

प्रेमीजी की बहुमुखी साहित्यिक एवं ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का इस लेख में विस्तृत परिचय देना सम्भव नहीं। प्राप्य, अप्रकाशित तथा अप्राप्य[17] ग्रन्थों का परिचय देकर उन्होंने साहित्य की महान सेवा की है। वे केवल संस्कृत तथा प्राकृत के कवियों को ही ख्याति में नहीं लाये हैं, कर्णाटक[18] आदि प्रान्तीय भाषाओं के कवियों को भी उन्होंने प्रकाशित किया है। अतएव प्रेमीजी की कृतियों को स्व० विण्टरनित्स के जैन-साहित्य के इतिहास[19] का पूरक ही नहीं, परिवर्द्धक भी कहना उचित ही होगा।

---

[1] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३७०
[2] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४७२
[3] क्षत्रचूणामणि (भूमिका) १९१०
[4] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४६४
[5] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १२३
[6] अनेकान्त १९३१
[7] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८२
[8] जैनहितैषी १९२१
[9] जैनहितैषी १९१६
[10] विद्वद्रत्नमाला पृ० १५४
[11] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २६७
[12] जैनहितैषी १९२१
[13] जैनसाहित्य संशोधक १९२३
[14] अनेकान्त १९४०
[15] जैनहितैषी १९१७
[16] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २५१
[17] हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर कलकत्ता वि० वि० १९३३
[18] कर्णाटक जैन कवि, बम्बई १९१४
[19] हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर कलकत्ता वि० वि १९३३

स्फुट सांस्कृतिक इतिहास की ओर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि प्रेमीजी ने संस्कृति के इनेगिने अंगों का ही पोषण नहीं किया है, बल्कि तीर्थक्षेत्र, वंश, गोत्र आदि के नामों का विकास तथा व्युत्पत्ति, आचारशास्त्र के नियमों का भाष्य, विविध संस्कारों का विचार, दार्शनिक मान्यताओं का विश्लेषण आदि सभी विषयों का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया है। "हमारे तीर्थक्षेत्र",[1] "दक्षिण के तीर्थक्षेत्र"[2] तथा "तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार"[3] इन निबन्धों के द्वारा पौराणिक वर्णन, निर्वाणकाण्ड, शिलालेख, प्रतिष्ठाप्रशस्ति, तीर्थमाला आदि उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रेमीजी ने तीर्थों की तीर्थता का कारण, उनके भेद, मूल स्थान तथा प्राचीनता का विशद विवेचन किया है। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक विकास की धारा का निरूपण करके यह भी सिद्ध कर दिया है कि उनके लिए झगड़ना संस्कृति-विरोधी ही नहीं है, सर्वथा निस्सार भी है।

सिंघई, सिगई, संघवी, संघी[4], साधु, साहु[5], पतिपत्नी के समान नाम[6] आदि टिप्पणियाँ जितनी रोचक हैं, उससे अधिक पथ-प्रदर्शक भी हैं। उनसे गोत्र आदि के शुद्ध जैनस्वरूप को समझने की प्रेरणा मिलती है। परिग्रह परिमाण के दास-दासियों का प्रखर परीक्षण,[7] जैनधर्म की अनीश्वरवादिता का पोषण[8] तथा यज्ञोपवीत और जैनधर्म[9] का सम्बन्ध-विचार—प्रेमीजी की परिश्रमपूर्ण खोज के द्योतक हैं।

आचार्यों के समय, स्थान, प्रेरक, श्रोता, आदि के विवेचन के प्रसंग में प्रेमीजी ने अनेक राजाओं, शिलालेखों आदि का उल्लेख किया है। यथा—आचार्य जिनसेन के साथ भण्डिकुल भूषण महाराज इन्द्रायुध, राष्ट्रवंशी श्री वल्लभ-गोविन्द द्वितीय, प्रतीहारवंशी वत्सराज का विवेचन, मुनि शाकटायन के प्रकरण से महाराज अमोघवर्ष तथा शक राजाओं का निरूपण, पण्डिताचार्य आशाधर जी के सम्बन्ध में परमार विन्ध्य वर्मा, सुभट वर्मा, अर्जुन वर्मा, देवपाल तथा जयसिंह द्वितीय का उल्लेख, आचार्य सोमदेव के अनुसंग से राष्ट्रकूट कृष्णराज तृतीय की सिंहल, चोल, चेर विजयों का वर्णन, श्रीचन्द्र के साथ परमार भोज, आचार्य प्रभाचन्द्र के साथ परमार जयसिंह, आदि का विवेचन। इन खोजों से केवल आचार्यों के समय तथा स्थान, आदि का ही निर्णय नहीं हुआ है, अपितु इन आचार्यों के निर्देशों के द्वारा इन वंशों के इतिहास की अनेक मान्यताओं का पोषण, परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। इस प्रकार प्रेमीजी ने इतिहास की भी पर्याप्त सेवा की है। यापनीय साहित्य[10] के विषय में प्रेमीजी की खोजें अत्यन्त गम्भीर और प्रमाणों से परिपुष्ट हैं। यापनीय संघ के प्रारम्भ, भेद, आचार्य-शिष्य परम्परा आदि सभी अंगों का प्रेमी जी ने विविध दृष्टियों से विवेचन किया है। इसके अनुसंग से पंचस्तूप, सेन आदि अनेक अन्वय भी प्रकाश में आ गये हैं।

---

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर १९३९

[2] अनेकान्त १९४०

[3] जैन हितैषी १९२१

[4] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४०

[5] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४१

[6] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४२

[7] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४६

[8] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५६२

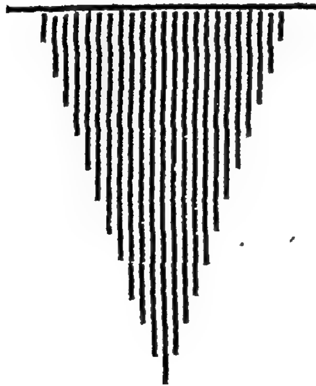
[9] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५२९

[10] इण्डियन एण्टीक्वायरी भ० २७, १८९८, ६७-८१, ९२-१०४, १२२-१३६

स्पष्ट है कि प्रेमी जी की प्रवृत्ति इस क्षेत्र में सर्वतोमुखी है। इतना होने पर भी प्रेमीजी शुद्ध जिज्ञासु रहे हैं। उन्हें किसी भी मान्यता में पक्षपात नहीं है। किसी भी साधन का उपयोग करते समय उनकी दृष्टि वस्तु-स्थिति पर ही रहती है, अपने अभीष्ट परिणाम पर नहीं। उनके सभी निष्कर्ष तटस्थ रहते हैं। दृष्टि उदार है, इसीलिए जाति, धर्म, देश, आदि का विचार उनके अनुशीलन को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करता। नवीन सामग्री के प्रकाश में वे अपने प्राचीन मन्तव्यों को सहज ही परिवर्तित कर देते हैं। यही कारण है कि 'जैन-साहित्य तथा इतिहास,'[1] में हम उनकी अधिकांश पूर्व प्रकाशित रचनाओं को सर्वथा नूतन तथा परिष्कृत रूप में पाते हैं। उनकी सरल, सुबोध और सरस शैली ने इतिहास जैसे शुष्क विषय को भी रोचक बना दिया है।

प्रेमीजी की इन कृतियों से जैन-संस्कृति पर तो प्रकाश पड़ा ही है, साथ ही हिन्दी-साहित्य भी उनसे समृद्ध हुआ है।

आरा]



[1] 'हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित १९४२

प्रेमीजी की देन

पं० देवकीनन्दन

प्रेमीजी से मेरा बहुत पुराना परिचय है। मेरे विचार से उनके लेखों से जैन-जनता की मनोवृत्ति में जितना परिवर्तन हुआ है, उतना अन्य कारणों से नहीं। उन्होंने किसी भी शिक्षा-प्रेमी को, चाहे वह सुधारक हो, अथवा स्थितिपालक, अपनी दृष्टि से शिक्षा देने का प्रयत्न नहीं छोड़ा। उनका मत मान्य होता है या नहीं, इसकी उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की। अपने मत की पुष्टि संयत ढंग से निरन्तर करते रहे हैं। इन बातों से निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमीजी अपने विचारों में दृढ़ हैं और प्रभावशाली ढंग से उनका प्रचार करते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे अपने विचारों का भाषण द्वारा नहीं, बल्कि वैयक्तिक परिचय एवं सम्पर्क द्वारा दूसरों पर प्रभाव डालते हैं। जैन-समाज में शायद ही कोई ऐसा विद्वान हो, जिसने प्रेमीजी के समान अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा एवं प्रामाणिकता के द्वारा देश के विद्वानों में इतना नाम कमाया हो।

सन् १९०७ में प्रेमीजी अपने पुस्तक-सम्बन्धी किसी मामले में काशी गये थे। मैं भी वहाँ पहुँचा। उस समय स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्रों के समक्ष भाषण देते हुए प्रेमीजी ने कहा था—केवल अंग्रेजी पढ़-लिखकर ही कोई सुधारक नहीं बन सकता। सच्चा सुधारक तो वही हो सकता है, जो संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने विचारों को पुष्ट करे। आज के ये पंडित लोग कालान्तर में सुधारक बन जायँगे। प्रेमीजी के इस कथन को इतने वर्ष बाद आज मैं स्वयं अपनी आँखों सत्य होते देख रहा हूँ।

प्रेमीजी की सदा से यह भावना रही है कि विद्यालयों में प्राकृत और अपभ्रंश का पठन-क्रम रक्खा जाय तथा इन भाषाओं के व्याकरण एवं कोष छपाये जायँ। इससे जिज्ञासुओं को जैनागमों का रहस्य समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इस प्रयत्न में प्रेमीजी को पूरी सफलता तो नहीं मिली, लेकिन साहित्य-प्रेमियों का ध्यान भाषा और विज्ञान के अध्ययन की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ है।

प्रेमीजी ने अपने ज्ञान का अर्जन स्वयं किया है। उनके जीवन की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वे प्रारम्भ से ही स्वावलम्बी रहे हैं और सात्विक दृष्टि से विविध विषयों का अध्ययन करके लगन और परिश्रम के साथ उन्होंने पाठकों को स्वस्थ मानसिक भोजन प्रदान किया है।

कारंजा]



आभार

मुनि जिनविजय

सुहृद्वर प्रेमीजी के साथ मेरा प्रथम परिचय सन् १९१२-१३ के लगभग पत्र-व्यवहार द्वारा हुआ। प्रेमीजी उस समय 'जैनहितैषी' नामक छोटे-से हिन्दी मासिक पत्र का सम्पादन करते थे, जिसमें जैन-इतिहास और साहित्य-विषयक लेख विशेष ढंग से लिखे जाते थे। मेरे प्रारम्भिक अध्ययन की रुचि भी इन्हीं विषयों में अधिक थी। जब से मुझे पता चला तब से मैंने प्रेमीजी द्वारा सम्पादित उस मासिक को नियमित रूप से पढ़ना प्रारंभ कर दिया और उसमें प्रेमीजी के साहित्य एवं इतिहास-सम्बन्धी लेखों को मनन-पूर्वक पचाने का प्रयत्न करने लगा। ज्यों-ज्यों प्रेमीजी के लेख पढ़ता था, मेरी उस विषय की जिज्ञासा बढ़ती जाती थी। मैं भी उस विषय में कुछ लेखन और संशोधन करने का मनोरथ करने लगा, पर उस समय मेरी तद्विषयक अध्ययन-क्षमता बहुत ही स्वल्प थी और उसके बढ़ाने की उत्कट अभिलाषा होने पर भी वैसी कोई साधन-सामग्री मुझे प्राप्य नहीं थी; लेकिन प्रेमीजी के लेख पढ़ कर जैन-साहित्य और इतिहास विषयक लेख हिन्दी में लिखने की योग्यता प्राप्त करना मेरे जीवन का ध्येय बन गया और मैंने यथाशक्ति एवं यथा-साधन अपनी ज्ञान-साधना का लक्ष्य-बिन्दु उस दिशा में स्थिर कर लिया। कैसी अबोधावस्था में प्रेमीजी के लेखों ने मुझे प्रेरणा दी और किस प्रकार मैं अपने जीवन-लक्ष्य के निकट पहुँचने की स्वल्प योग्यता प्राप्त कर सका, इसका स्मृति-चित्र मेरे मानस-पट पर, जब मैं प्रेमीजी के बारे में अपने दीर्घकालीन स्मृति-चित्रों का सिंहावलोकन करने बैठता हूँ तो सबसे पहले उठ आता है। मेरे हृदय के विशिष्ट कोने में मेरे जीवन के प्रारम्भ से ही प्रेमीजी ने कैसा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रक्खा है, उसकी स्पष्ट कल्पना करने के लिए यहाँ कुछ निजी बातें अंकित करना आवश्यक है।

मैं उन दिनों सर्वथा प्रथमाभ्यासी की दशा में था। न हिन्दी लिखना जानता था और न गुजराती। कारण कि मेरा अध्ययन किसी स्कूल या पाठशाला में नहीं हुआ था। मेवाड़ के एक छोटे-से गाँव में एक अपढ़ राजपूत-घर में मैंने जन्म पाया था और नौ-दस वर्ष की अवस्था में मुझे वहाँ से उठा कर एक जैन यति की शरण में रख दिया गया था। यति जी महाराज ने मुझे सर्व प्रथम **'ओं नमः सिद्धम्'** सिखाया और वर्णमाला का परिचय कराया। उस जमाने में राजपूताने के ग्रामीण विद्यालयों में सर्वत्र प्रचलित **'सिद्धो वर्णः'** से प्रारम्भ होने वाला वह सूत्रपाठ रटाया जाता था, जो कातन्त्र व्याकरण का प्रथम पादरूप है और संस्कृतानभिज्ञ शिक्षकों की अज्ञानता के कारण इतना भ्रष्ट हो गया है कि उसका अर्थ न किसी शिक्षक की समझ में आता था और न किसी शिष्य की। फिर मुझे पट्टी-पहाड़े पढ़ाये गये। बस इतने ही में मेरी प्राइमरी शिक्षा पूरी हो गई। अनन्तर यति जी ने जैनधर्म के **'णमोकार मन्त्रः'** आदि पढ़ाना शुरू किये। साथ ही चाणक्य नीति के श्लोकों का भी पाठ कराया। **'अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मुन्मीलितं येन'** .... इस सुप्रसिद्ध श्लोक में जिसे प्रथम गुरु बतलाया गया है, मेरे प्रथम गुरु वे यति जी ही थे। बस उतना-सा चक्षुरुन्मीलन कर वे स्वर्ग सिधार गये और मैं आश्रयहीन होकर किसी अन्य गुरु की शोध में इधर-उधर भटकने लगा। भटकते-भटकते स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के एक साधु से भेंट हो गई, जिनके पास मैंने दीक्षा ले ली। पाँच-सात वर्ष तक उनकी सेवा की और जो कुछ ज्ञान-लाभ करने का अवसर मिला, प्राप्त किया। लेकिन यह ज्ञान केवल सम्प्रदायोपयोगी और सर्वथा एकदेशीय था। अतः मेरी ज्ञानपिपासा यत्किंचित भी शान्त न होकर और भी अधिक तीव्र हो उठी। अन्त में मैंने उस सम्प्रदाय का त्याग कर दिया और मूर्तिपूजक-सम्प्रदाय के एक प्रज्ञांसपदधारक मुनि महाराज की सेवा में जा पहुँचा। इस सम्प्रदाय में विद्याध्ययन का क्षेत्र अपेक्षाकृत कुछ विशाल था और उसके साधन भी कुछ अधिक रूप में सुलभ होने से मैंने अपनी ज्ञानपिपासा को अधिकाधिक सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया।

अज्ञात को ज्ञात करने की मेरी उत्कट अभिलाषा ने मुझे इतिहास के विषय की ओर प्रेरित किया। जैन-धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के स्थानकवासी और मूर्तिपूजक पक्ष के पारस्परिक मतभेदों का वास्तविक मूल क्या है और उसके साथ ही जैन-शास्त्रों में भारतवर्ष आदि के पुरातन युग के विषय में जो बातें लिखी हुई हैं उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इसके जानने की मुझे स्वाभाविक ही बड़ी उत्कंठा होने लगी। उसके समाधान के लिए कौन-सा साहित्य है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं था। जैन साधुओं की तद्विषयक कोई पुस्तक मिलती तो मैं उसका विचारपूर्वक मनन करता रहता था। इस समय तक मैं हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाएँ ठीक-ठीक समझने लगा था, परन्तु अपने सम्प्रदाय के सिवाय इन भाषाओं में लिखी गई अन्य पुस्तकें पढ़ने या देखने का कोई अवसर नहीं मिला था। एक दिन अकस्मात एक बहुत ही विद्वान समझे जाने वाले महामुनिराज के अत्यन्त प्रिय शिष्य के पास हिन्दी-गुजराती की उक्त प्रकार की पुस्तकों का ढेर पड़ा देखा, जिनमें टॉड के राजस्थान का हिन्दी रूपान्तर भी था। उस पुस्तक को मैंने आद्योपान्त पढ़ा और पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानों मैंने कोई अद्भुत ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अपनी जाति के परमारवंश तक का मुझे अबतक कुछ भी ज्ञान न था। टॉड का राजस्थान पढ़ कर मुझ में अपनी जाति के गौरव की अहन्ता जाग्रत होने लगी। इसी ग्रन्थ में जैन-समाज और जैन-धर्म के इतिहास के भी कुछ उल्लेख यत्र-तत्र पढ़ने में आये, जिससे जैन-जातियों और तीर्थों आदि के इतिहास की ओर भी मेरी जिज्ञासा बढ़ने लगी।

इसके बाद से तो मैं इतिहास की पुस्तकों के प्राप्त करने की कोशिश में निरन्तर लीन रहने लगा। उक्त साधु महाराज के पास से 'सरस्वती' के कुछ अंक प्राप्त करके पढ़े। उनमें सभी विषय के अच्छे-अच्छे विद्वानों द्वारा लिखे लेख थे। यद्यपि उन सब लेखों को मैं नहीं समझ सका तथापि जो भी मेरी समझ में आये, उन्हें मैंने कई बार पढ़ा। कुछ समय पश्चात् मुझे पाटण आदि के पुरातन जैन-भंडारों का समुद्धार करने वाले इतिहास-प्रेमी पूज्यपाद प्रवर्तक श्री कान्तिविजय जी महाराज की सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यहाँ मुझे पाटण के भंडारों तथा 'सरस्वती' पत्रिका के अंकों को देखने का अवसर मिला। प्रेमीजी द्वारा सम्पादित 'जैनहितैषी' मैंने सर्वप्रथम यहीं पर देखा। उसके सब अंक, जो वहाँ सुलभ हो सके, बड़े चाव से पढ़ गया। तब से 'सरस्वती' और 'जैनहितैषी' की हिन्दी को मैंने अपनी भावी आदर्श भाषा के रूप में निश्चित किया। 'जैन-हितैषी' में जैन-इतिहास और साहित्य विषयक छोटे-बड़े लेख प्रेमी जी नियमित रूप से लिखा करते थे। उन्हें पढ़-पढ़ कर मैं भी वैसे ही लेख लिखने का प्रयत्न करने लगा। इस बीच प्रेमीजी का एक छोटा-सा लेख जैन शाकटायन व्याकरण पर लिखा हुआ मेरे पढ़ने में आया। उन शाकटायनाचार्य के विषय में एक नवीन प्रमाण मुझे श्वेताम्बर ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ था, जिसके आधार पर मैंने एक छोटा-सा लेख तैयार किया। उस लेख को पहले तो 'जैनहितैषी' में छपने के लिए भेजने की इच्छा हुई, लेकिन विचार हुआ कि प्रेमीजी दिगम्बर सम्प्रदायानुयायी होने के कारण शायद मेरा लेख अपने पत्र में छापना पसन्द न करें। प्रेमीजी से उस समय तक मेरा कोई विशेष परिचय न था। केवल इतना ही जानता था कि वे 'जैन-हितैषी' के सम्पादक हैं और हिन्दी के एक अच्छे लेखक माने जाते हैं। अतः 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ वह लेख मैंने पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के पास भेज दिया। कोई दस-बारह दिन बाद मुझे द्विवेदी जी के हाथ का लिखा एक पोस्टकार्ड मिला। लिखा था—

"श्रीमन्,

शाकटायनाचार्य पर का आपका लेख मिला। धन्यवाद। लेख अच्छा है। छापूंगा।

विनीत

म० प्र० द्विवेदी"

'सरस्वती' के अगले अंक में वह लेख आ गया। उसके दो-एक महीने बाद प्रेमी जी का एक पोस्टकार्ड मिला, जिसमें लिखा था—

"मान्यवर मुनि महाराज,

'सरस्वती' में शाकटायनाचार्य पर लिखा हुआ आपका लेख पढ़ कर मुझे बड़ी खुशी हुई। आपने बड़े अच्छे प्रमाण खोज निकाले हैं। कभी 'जैनहितैषी' में भी कोई लेख भेजने की कृपा करेंगे तो बहुत अनुग्रहीत हूँगा. . . .।"

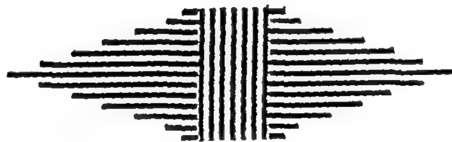
बस इसी पोस्टकार्ड द्वारा प्रेमीजी से मेरे स्नेह-सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ। प्रेमीजी का यह कार्ड मेरे लिए बहुत ही प्रेरणादायक और उत्साहवर्धक सिद्ध हुआ। 'सरस्वती' में प्रकाशित उस प्रथम लेख के छापने की स्वीकृति की सूचना देने वाला पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का पोस्टकार्ड प्राप्त कर जो मुझे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त हुआ था, उससे कहीं अधिक आनन्द मुझे प्रेमीजी के इस पोस्टकार्ड से मिला। उससे मुझे विशिष्ट स्फूर्ति मिली, क्योंकि मेरा आदर्श प्रेमी जी की तरह जैन-इतिहास और साहित्य के बारे में लिखना था। मुझ में आत्मविश्वास पैदा हुआ।

इसके बाद प्रेमीजी के साथ मेरा पत्रव्यवहार प्रारम्भ हुआ। जैन-इतिहास और साहित्य के विषय में परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होने लगा और दोनों के बीच काफ़ी स्नेहभाव बढ़ गया।

सन् १९१६ की जून में श्री कान्तिविजय जी महाराज के साथ पादभ्रमण करता हुआ मैं भी बम्बई में चातुर्मास करने के निमित्त आया। जिस दिन गौडी जी के जैनमन्दिर के उपाश्रय में हमने प्रवेश किया उसी दिन दोपहर को दो बजे प्रेमीजी मुझसे मिलने आये और वहीं उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ।

उस बात को आज लगभग तीस वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। इन तीस वर्षों में हम दोनों का पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही रहा है। प्रेमीजी मेरे निकट एक अत्यन्त आत्मीय जन जैसे बन गये हैं। इस सुदीर्घकालीन सम्बन्ध का संक्षिप्त परिचय देना भी यहाँ शक्य नहीं है। मेरे हृदय में प्रेमी जी का क्या स्थान है और मेरे जीवन के कार्य-क्षेत्र में उनका कौन-सा भाग है, यह सब इस लेख से स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

बम्बई]



सुधारक प्रेमीजी

श्री कृष्णलाल वर्मा

(१)

सन् १९१२ में जब दिल्ली में पंचम जार्ज का राज्यारोहण-उत्सव हुआ था, लाखों की भीड़ इकट्ठी हुई थी। जैनियों के भी अनेक विद्वान् आये थे। प्रेमीजी भी पधारे और गुरुवर्य स्व० अर्जुनलाल जी सेठी के साथ मैं भी गया। इसी अवसर पर जैन-विद्वानों के स्वागतार्थ पहाड़ीधीरज पर ला० जग्गीमल जी के मकान पर एक सभा हुई; जिसमें प्रेमीजी भी उपस्थित थे। उनसे प्रथम परिचय इसी सभा में हुआ। सभा की समाप्ति पर सब लोग बाहर आये। भोजन की उस दिन वहीं व्यवस्था की गई थी, लेकिन प्रेमीजी नहीं ठहरे। जाने लगे तो सेठी जी ने ला० जग्गीमल से कहा, "प्रेमीजी जा रहे हैं। उन्हें रोकिये।"

प्रेमीजी आगे बढ़ गये थे। लाला जी ने अपने गुमाश्ते को उन्हें बुलाने के लिए भेजा। गुमाश्ते ने पुकारा, "ओ, म्याँ पंडिज्जी! ओ म्याँ पंडिज्जी!" लेकिन प्रेमीजी नहीं रुके। उन्हें क्या पता था कि 'म्याँ पंडिज्जी!' कह कर उन्हीं को पुकारा जा रहा है। अन्त में गुमाश्ता दौड़ कर प्रेमीजी के सामने गया और बोला, "अजी साहब, आपको लाला जी बुला रहे हैं।'

प्रेमीजी लौट आये और 'म्याँ पंडिज्जी' सम्बोधन पर खासी दिल्लगी रही।

× × ×

खास-खास जैनी भाइयों के लिए दिल्ली वालों ने एक स्थान पर भोजनशाला की व्यवस्था कर दी थी। पहले ही दिन बुन्देलखंड के एक सिंघई को साथ लेकर भोजनशाला का पता लगा कर प्रेमीजी वहाँ पहुँचे तो देखते क्या हैं कि पाजामा पहने नंगे बदन कई आदमी रसोई बना रहे हैं। उन्हीं जैसे और भी आदमी काम में लगे थे। सिंघई जी को सन्देह हुआ। बोले, "अरे, यहाँ तो मुसलमान भरे हुए हैं। कहीं हम लोग भूल तो नहीं गये?"

प्रेमीजी ने कहा, "नहीं, ये अग्रवाल जैनी हैं।"

"जैनी!" सिंघई जी आश्चर्य से बोले, "ये कैसे जैनी हैं कि जिनके सिर पर चोटी भी नहीं है और बदन पर धोती के बजाय पाजामा पहने हैं!"

प्रेमीजी उन्हें मुश्किल से समझा सके।

(२)

सन् १९१३ की बात है। मैं उस समय वर्द्धमान विद्यालय जयपुर में पढ़ता था। एक दिन स्व० अर्जुन लाल जी सेठी के स्व० पुत्र प्रकाशचन्द्र जी का जन्मोत्सव मनाया गया। उस अवसर पर समाज-सुधारक और राष्ट्रीय क्रान्तिकारी लोग ही सम्मिलित हुए थे। उनके प्रगतिशील विचारों के आधार पर एक लेख तैयार करके मैंने 'जैन हितैषी' में छपने के लिए प्रेमीजी के पास भेज दिया। आशा तो न थी कि छप जायगा; लेकिन कुछ दिन बाद ही प्रेमीजी का पत्र मिला। लिखा था—

"लेख मिला। छप जायगा। लिखते समय भाषा का ध्यान रक्खा करो। इस तरह के लेख जब मौक़ा मिले, अवश्य भेजो।"

इस पत्र में यह भी बताया गया था कि लेख लिखने में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। पूरे दो पन्ने की चिट्ठी थी। उससे मुझे अपने विकास का मार्ग निश्चित करने में बड़ी सहायता मिली और मुझमें आत्म-निर्भरता उत्पन्न हुई।

जब वह लेख छपा तब मैंने देखा कि मेरी भावना रूपी बेडौल मूर्ति को चतुर कारीगर ने छीलछाल कर सुडौल और सुन्दर बना दिया है और आश्चर्य यह कि मुझे ही उसका निर्माता बताया है।

(३)

प्रेमी जी विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के प्रचारक और पोषक रहे हैं। उन्होंने सर्वप्रथम विधवा-विवाह का आन्दोलन अहमदाबाद-निवासी स्व० मणिलाल नभूभाई द्विवेदी के एक गुजराती लेख का अनुवाद प्रकाशित करके प्रारंभ किया। मुद्दत तक पक्ष-विपक्ष में लेख निकलते रहे। इन लेखों से प्रभावित होकर और अपनी बिरादरी की कोई क्वारी लड़की शादी के लिए न मिलने के कारण स्व० पं० उदयलाल जी काशलीवाल ने विधवा-विवाह करने का इरादा किया। उनके परमस्नेही वर्धा निवासी सेठ चिरंजीलाल जी बड़जात्या ने पहले तो क्वारी लड़की ही तलाश करने का प्रयत्न किया; लेकिन सफलता न मिली तो पंडित जी ने एक विधवा से ही शादी कर ली। समारोह में श्वेताम्बर और दिगंबर समाज के अनेक प्रतिष्ठित महानुभाव उपस्थित थे। प्रेमीजी ने भी पर्याप्त सहायता की। संस्कार-विधि सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक स्व० पं० अर्जुनलाल जी सेठी ने कराई।

शादी तो हो गई; लेकिन तुरंत ही भूलेश्वर (बंबई) के दिगंबर जैनमंदिर में खंडेलवालों की पंचायत हुई। विवाह में भाग लेने वाले सभी व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया था। स्व० सेठ सुखानन्द जी और पं० धन्नालाल जी पंचायत के मुखिया थे।

बहुत वाद-विवाद के बाद सेठ सुखानन्द जी ने पूछा, "अब हम लोगों के साथ आपका कैसा बर्ताव रहेगा ?"

सब चुप थे। जाति से अलग होने का साहस किसी में भी नहीं था। प्रेमीजी बोले, "हम गरीब आदमी धनिकों के साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहते।"

सेठ जी ने कहा, "अगर आप लोग माफी माँग लें और प्रतिज्ञा करें कि भविष्य में कभी ऐसे काम में शामिल न होंगे तो आप लोगों को माफ किया जा सकता है।"

इस पर प्रेमीजी से न रहा गया। बोले, "माफ़ी ! माफ़ी वे माँगते हैं, जो कुछ गुनाह करते हैं। हमने कोई गुनाह नहीं किया। विधवा-विवाह को मैं समाज के लिए कल्याणकारी समझता हूँ। जैन समाज में एक तरफ हजारों बाल-विधवाएँ हैं और दूसरी तरफ हजारों गरीब युवक क्वारे फिर रहे हैं। उन्होंने समाज के जीवन को कलुषित कर रक्खा है। आये दिन भ्रूण-हत्याएं होती रहती हैं। इनसे छुटकारा पाने का सिर्फ एक ही इलाज है और वह है विधवा-विवाह।"

इतना कहकर प्रेमीजी वहाँ से चल दिये। कहना न होगा कि वे और उनके समर्थक पंचायत से अलग कर दिये गये।

कुछ समय पश्चात् प्रेमी जी ने अपने छोटे भाई नन्हें लाल की शादी एक विधवा से की। इस बार परवारों की पंचायतों ने उन्हें भाई-सहित जाति-च्युत कर दिया। कुछ लोगों ने प्रेमीजी को सलाह दी कि कह दीजिये कि नन्हें-लाल के साथ आपका खानपान का संबंध नहीं है। लेकिन प्रेमीजी ने कहा, "यद्यपि मैं बंबई में रहता हूँ और नन्हेंलाल अपने गाँव देवरी में, इससे साथ खानेपीने का प्रश्न ही नहीं उठता, तथापि मैं ऐसी कोई घोषणा नहीं कर सकता। घोषणा करने का मतलब यह है कि मैं अपने सिद्धान्त पर कायम नहीं रह सकता हूँ। डरपोक हूँ और स्वयं अपनी बात पर आचरण न कर समाज को गुमराह कर रहा हूँ।"

इतना ही नहीं, यह जाहिर करने के लिए कि उनका नन्हेंलाल के साथ पहले जैसा ही संबंध है, प्रेमीजी लगभग एक मास देवरी जाकर रहे।

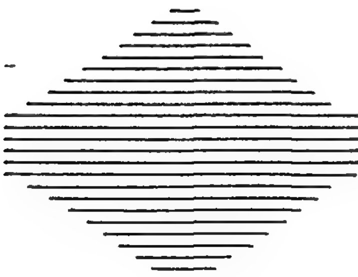
(४)

प्रेमी जी अंतर्जातीय विवाह का भी आन्दोलन करते थे। जिस प्रकार विधवा-विवाह संबंधी अपनी मान्यता को अमली जामा पहनाने का प्रश्न उनके सामने रहता था, उसी प्रकार अन्तर्जातीय विवाह संबंधी अपनी मान्यता को भी व्यावहारिक रूप देने के लिए वे उत्सुक थे। अतः जब उनके पुत्र स्व० हेमचन्द्र के विवाह की बात आई तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि उसके लिए परवार-समाज से बाहर की लड़की देखी जाय। लेकिन प्रेमीजी के मित्रों का आग्रह हुआ कि शादी परवार लड़की से ही की जाय। इससे विधवा-विवाह के विरोधी लोगों को पता लग जायगा कि वे चाहे जितना विरोध करें, चाहे जितने प्रस्ताव पास करें; लेकिन समाज विधवा-विवाह करने वालों के साथ है।

प्रेमी जी बड़े असमंजस में पड़े। एक ओर तो अपने सिद्धांतों की रक्षा का प्रश्न था और दूसरी ओर यह प्रमाणित करने का प्रलोभन कि समाज विधवा-विवाह के समर्थकों के साथ है। बहुत सोचा-विचारी के बाद उन्होंने यही निश्चय किया कि परवार कन्या के साथ ही शादी की जाय और दमोह के चौधरी फूलचंद जी की लड़की के साथ सगाई पक्की कर दी।

जब यह समाचार बंबई पहुँचा तो प्रेमी जी के एक अत्यन्त श्रद्धापात्र पंडित जी ने परवार-समाज के एक नेता को लिखा कि आपको इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि प्रेमीजी के समधी को भी बिरादरी से अलग कर दिया जाय और शादी में परवार-समाज का एक बच्चा भी शामिल न हो। इस पर उन्होंने विशेष रूप से दौरा करके सागर, दमोह और कटनी आदि की पंचायतों में प्रस्ताव पास कराए कि शादी में कोई भी सम्मिलित न हो; लेकिन इसका कोई भी परिणाम न निकला। समाज और बाहर के कई सौ प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित हुए और विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। विरोधी मुँह ताकते रह गये।

बम्बई]



: २ :

भाषा-विज्ञान
और
हिन्दी-साहित्य

भारतीय आर्य-भाषा में बहुभाषिता

श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एम्० ए० (कलकत्ता), डी०-लिट्० (लंदन)

नव्य भारतीय आर्यभाषा के शब्द निम्नांकित वर्गों में से किसी एक के अंतर्गत आते हैं—

(१) उत्तराधिकार-सूत्र से प्राप्त भारतीय आर्य (इंदो-यूरोपीय) शब्द (शब्द, धातु तथा प्रत्यय), जो प्राकृतज या तद्भव रूप में मिलते हैं।

(२) संस्कृत से उधार लिए हुए शब्द, जो **तत्सम** और **अर्ध-तत्सम** शब्द कहलाते हैं।

(३) भारतीय अनार्य शब्द, ठेठ **देशी** रूप, जो भारतीय आर्य-भाषा में आद्य भारतीय आर्य-काल से लेकर नव्य भारतीय आर्य-भाषा के निर्माण-काल तक प्रचलित रहा। इस श्रेणी के अंदर उन शब्दों का एक बड़ा समूह आता है, जिनकी उत्पत्ति वास्तव में इंदो-यूरोपीय नहीं है, और जिनके लिए उपयुक्त अनार्य (द्राविण तथा ऑस्ट्रिक) संबंधों का पता लगाया गया है।

(४) विदेशी भाषाओं के शब्द, जो आद्य भारतीय आर्य-काल से (जिसका प्रारंभ वैदिक शब्दों में कुछ मैसोपोटैमियन शब्दों के मिलने से होता है) लेकर बाद तक प्रचलित मिलते हैं। इन शब्दों में प्राचीन ईरानी, प्राचीन ग्रीक, मध्य ईरानी, एक या दो प्राचीन चीनी, नवीन ईरानी (अथवा आधुनिक फ़ारसी, जिनमें तुर्की और अरबी भी हैं) पुर्तगाली, फ्रेंच, डच और अंग्रेजी गिने जाते हैं।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ अज्ञातमूलक शब्द हैं, जो न तो भारतीय आर्य-भाषा के हैं और न विदेशी हैं;-किंतु जिनका संबंध, जहाँ तक हमें ज्ञात है, भारत की अनार्य-भाषाओं के साथ भी निश्चय रूप से नहीं जोड़ा जा सकता।

ऊपर के पाँच वर्गों में भारतीय आर्य-भाषा के सम्पूर्ण शब्द आ जाते हैं। नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के वे शब्द अपने या निजी हैं, जो वर्ग (१) के अन्तर्गत हैं, और भारतीय-उत्पत्ति-वाले उच्चकोटि के निजी संस्कृत-गर्भित शब्द द्वितीय वर्ग के अन्दर आते हैं। वर्ग (३), (४) और (५) के शब्द बाहरी बोलियों से लिये गये हैं, चाहे वे देशी हों या विदेशी। उत्तर भारत के अनार्यों ने आर्य-भाषाओं को उस समय से अपनाना प्रारम्भ कर दिया था, जब आर्य-भाषा-भाषी पंजाब में बस कर अपने प्रभाव को फैला रहे थे और जब कि ब्राह्मण्य धर्म और संस्कृति की स्थिति पहली सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम भाग में गंगा की उपत्यका में दृढ़ हो गई थी। यह हालत आज तक जारी रही है, जब कि उत्तर भारत में अनार्य-भाषा-भाषी धीरे-धीरे आर्य-भाषाओं को अपना रहे हैं और जिसके फलस्वरूप कुछ शताब्दी में अनार्य-भाषा के सभी रूपों का लोप हो जाना अवश्यम्भावी दीख पड़ रहा है। जब पूर्व वैदिक काल में आर्यों और अनार्यों का सम्मिलन प्रारम्भ हो गया था तब यह अपरिहार्य था कि अनेक अनार्य शब्द तथा अनार्यों के कुछ बोलचाल के रीति-रिवाज, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष या गुप्त रूप से, आर्य-भाषाओं में मिल जायें। आद्य तथा मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं तथा नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं में अनार्य शब्दों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। उन विदेशी भाषा-भाषियों से, जो भारत में विजेता के रूप में आकर यहीं बस गये, यहाँ के निवासियों का मेलजोल होने के कारण पारस्परिक सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा, और इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं में अनेक विदेशी शब्दों का प्रादुर्भाव हो गया।

जो शब्द भाषा में किसी कमी की पूर्ति करता है, वह प्राकृतिक रूप से शीघ्र ही उस भाषा का अंग बन जाता है। जहाँ पर दो भाषा-भाषियों का सम्पर्क घनिष्ठ हो जाता है, वहाँ उस सम्पर्क के प्रभाव से एक दूसरे की भाषा के कुछ शब्दों से परिचित हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के भाषा-सम्बन्धी पारस्परिक प्रभाव के आरम्भ में यह

आवश्यक या अपरिहार्य है कि एक भाषा का प्रयोग करने वाले के लिए दूसरी भाषा के शब्दों के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या दी जाय जिससे वह उन शब्दों को भली प्रकार समझ सकें। मान लीजिये कि किसी देशी भाषा-भाषी को कोई ऐसा विदेशी शब्द समझाना है; जिसे केवल उस विदेशी शब्द के उच्चारण-मात्र से वह नहीं समझ सकता, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उस विदेशी शब्द का अनुवाद देशी भाषा में इस प्रकार दिया जाय कि देशी-भाषा-भाषी उसे समझ सके। इस प्रकार के **अनुवादमूलक-समास या समस्त पद** (Translation-compounds) सभी भाषाओं में मिलते हैं, जो किसी जीवित भाषा के सम्पर्क में आकर उनसे प्रभावित हुई हैं।

उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी भाषा को लीजिए। प्राचीन मध्य-अंग्रेज़ी-काल में, जब कि नार्मन-फ्रेंच तथा अंग्रेज़ी इंग्लैंड में साथ-साथ बोली जाती थी, तत्कालीन लिखित साहित्य में इस प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं—जैसे कि लगभग १२२५ ईस्वी में लिखी हुई पुस्तक *Ancrene Riwle* में:—*Cherité* thet is *luve;* in *desperaunce* that is in *unhope* and in *unbileave* forte beon iboruwen; understondeth thet two *manere temptaciuns*—two *kunne vondunges*—beoth; *pacience* thet is *tholemodnesse*, *lecherie* thet is *golnesse*, *ignoraunce* that is *unwisdom* and *unwitenesse*; इत्यादि (देखिए—Jespersen, 'Growth and Structure of the English Language,' Oxford, 1927, p. 89).

जब इंग्लैंड में फ्रेंच का विशेष चलन था और उसके शब्द अधिकांश में अपनाये जा रहे थे, तब शायद उपर्युक्त रीति अधिक प्रचलित हो गई थी, जिससे बाहरी भाषाओं के उपयुक्त शब्दों को भाषा में चालू किया जा सके। मध्य-अंग्रेज़ी काल के कवि (Chaucer) चॉसर ने ऐसे दर्जनों जुमले इस्तेमाल किये हैं, जिनमें कोई भाव फ्रेंच शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है और फिर उसी की व्याख्या और अनुवाद एक अंग्रेज़ी शब्द द्वारा किया गया है, या एक अंग्रेज़ी शब्द की पुष्टि फ्रेंच शब्द के द्वारा करा दी गई है (देखिए, येस्परसेन, वही पृ० ९०); उदाहरणार्थ—he coude songes *make* and wel *endyte; faire* and *fetisly; swinken* with his handes and *laboure;* of studie took he most *cure* and most *hede; poynaunt* and *sharp; lord* and *sire*. वैसे कैक्स्टन (Caxton) के ग्रंथों में—*honour* and *worship; olde* and *auncyent; advenge* and *wreke; feblest* and *wekest; good* ne *proffyt; fowle* and *dishonestly; glasse* or *mirrour;* इत्यादि। अंग्रेज़ी में फ्रेंच शब्द बिलकुल स्वाभाविक हो गये हैं, और अब इस बात की आवश्यकता नहीं है कि इन शब्दों को समझाने के लिए अंग्रेज़ी में व्याख्या दी जाय।

भारतीय आर्य-भाषाओं में विदेशी शब्दों को किसी देशी या अन्य ज्ञात शब्द के द्वारा स्पष्ट करने की प्रथा मिलती है। इनमें अनेक समस्त-पद (Compounds) पाये जाते हैं, जिनमें दो शब्द होते हैं और दोनों प्रायः एक ही अर्थ के सूचक होते हैं। नव्य भारतीय आर्य-भाषा के अनुवाद-मूलक शब्दों में वे पद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें एक शब्द विदेशी होता है, या एक ऐसा नया विदेशी शब्द होता है, जिसकी व्याख्या एक प्राचीन या प्रचलित शब्द के द्वारा दी होती है। इन **अनुवादमूलक समस्त-पदों** में प्रायः बड़ी शक्ति होती है और कभी-कभी वे किसी बात को विशिष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। विदेशी या नये शब्द किसी अभिप्राय के नवीन दृष्टिकोण को सूचित करते हैं। यहाँ बँगला भाषा से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

चा-खड़ी=चाक (ब्लैकबोर्ड पर लिखने के लिए)। यह अंग्रेज़ी के उस **चौक्** या **चोक** शब्द का समस्त-पद है, जो पहले-पहल आमतौर पर लोगोंकी समझ में नहीं आता था, और जिसका अंग्रेज़ी में उच्चारण **चाक्** तीन या चार पीढ़ियों पहले था। इसके साथ बँगला की **खड़ी** (खड़िया) शब्द मिलाने से **चाक खड़ी** या **चाखड़ी** हो गया।

पाउँ-रुटी (=हिन्दी पाउँ-रोटी)=पुर्तगाली pão, paon **पाओ** (=रोटी, उच्चारण पाउं)+ बँगला रुट्टी, हिन्दुस्तानी **रोटी** (=चपाती) समास का पद अंग्रेज़ी तन्दूर की रोटी या खमीर दी हुई रोटी के अभिप्राय में आता है, जो हिन्दुस्तान में प्रचलित **चपाती** से भिन्न है।

काज-घर=वटन का छेद। casa (उच्चारण काज़ुअ)=मकान+बँगला में घर मकान। अतः घर (वटन के लिए)।

सील-मोहर=किसी व्यक्ति की धातु की मोहर जिस पर उसका नाम या चिह्न अंकित रहता है; अंग्रेज़ी के सील+फ़ारसी के मुहर के योग से बना है, और बंगला में सिर्फ़ मोहर के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

फ़ारसी तथा भारतीय शब्दों के योग से मिले हुए शब्द काफी संख्या में मिलते हैं। यहाँ बँगला से कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा। (हिन्दुस्तानी तथा भारत की अन्य भाषाओं में ऐसे या इनसे मिलते-जुलते और कभी-कभी बिलकुल एक जैसे ही रूप अवश्य मिलेंगे)।

आशा-सोटा=गदा : फ़ारसी-अरबी का शब्द असा+हिन्दुस्तानी सोटा : सोटा=डंडा या गदा।

खेल-तमाशा=खेल-कूद आदि : हिन्दुस्तानी खेल+फ़ारसी तमाशा।

शाक-सब्ज़ी=हरी तरकारी : संस्कृत शब्द शाक=हरी तरकारी, जड़ी-बूटी+फ़ारसी सब्ज़ः=हरी भाजी।

लाज-शरम या लज्जा-सरम : हिन्दुस्तानी लाज (आर्य-भाषा का प्राकृतज शब्द) और लज्जा (संस्कृत)+फ़ारसी शर्म। दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है।

धन-दौलत=सम्पत्ति : हिन्दुस्तानी+फ़ारसी (फ़ारसी-अरबी)।

जन्तु-जानवर=भारतीय जंतु+फ़ारसी जानवर।

राजा-बादशाह=राजा, शासक : हिन्दुस्तानी राजा+फ़ारसी बादशाह।

लोक-लश्कर=नौकर-चाकर : हिन्दुस्तानी लोक (लोगों का समूह)+फ़ारसी लश्कर (फ़ौज, दल)।

हाट-बाज़ार=बाज़ार, मेला : हिन्दुस्तानी हाट+फ़ारसी बाज़ार। दोनों का एक ही अर्थ है।

झांडा-निशान=झंडा, ध्वजा : हिन्दुस्तानी झंडा+फ़ारसी निशान (=बंगला का झांडा-निशान, हिन्दी झंडी-निशान)।

हाड़ी-मुर्दफ़राश=झाड़ू लगानेवाले, मसान या गोरस्थान में शवों के सत्कार करने वाले : हिन्दुस्तानी हाड़ी (महतरों का अछूत वर्ग)+फ़ारसी मुर्दा-फ़रोश=मुर्दा ढोनेवाले।

लेप-कांथा=ढकने का वस्त्र, रज़ाई आदि : लेप=फ़ारसी लिहाफ़+बँगला कांथा=संस्कृत कंथा (पुराने कपड़ों की सिली हुई कथरी)।

आदाय-उसूल=क़र्ज़ या भाड़े का उगाहना : संस्कृत आदाय+फ़ारसी-अरबी का वसूल।

कागज़-पत्र=कागज़ात : फ़ारसी कागज़+संस्कृत पत्र।

गोमस्ता-कर्मचारी=प्रतिभू या कर्मचारी : फ़ारसी गुमाश्ता+संस्कृत कर्मचारी।

निरीह-बेचारा=सीधा-सादा, गरीब व्यक्ति : संस्कृत निरीह+फ़ारसी बेचारा।

ऊपर के उदाहृत अनुवाद-मूलक समस्त-पदों के अतिरिक्त जिनमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट है, कुछ और पद हैं जिनके दोनों भागों में देशीपन मिलता है। उदाहरणार्थ—

पाहाड़ (पहाड़) पर्वत=देशी पाहाड़ (उत्पत्ति का मूल अज्ञात)+संस्कृत पर्वत।

घर-बाड़ी=घर (मकान)+बाड़ी (∠गृह+वाटिका ∠वृत—)।

गाछ-पाला=पौदे : गाछ ∠गच्छ+पाला ∠पल्लव।

हाँड़ी-कुँड़ी=मिट्टी के वर्तन, हाँड़ी ∠भाण्ड+कुण्ड।

ऐसे उदाहरण अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं से बहुशः दिये जा सकते हैं। इनमें से कुछ द्वन्द्व समास सरीखे हैं, जिनमें संयोग या सम्मेलन का भाव होता है। उदाहरणार्थ—

कापड़-चोपड़=कपड़े और डलियाँ : कापड़ ∠कर्पट=कपड़े, चीथड़े+चोपड़; मिलाओ चुपड़ी, चोपड़ी =डलिया।

संभवत: पहले द्वन्द्वात्मक भावना यहाँ थी, किन्तु बहुत से स्थानों में हम शब्दों को एकार्थी होने के कारण एक-दूसरे की व्याख्या करते हुए पाते हैं। जैसे बँगला **बाक्स-पेंड़ा**=**बकसे और पिटारे**, अंग्रेज़ी box (जिसका उच्चारण एक शताब्दी पहले bāks था)+बंगला **पेंट्रा, पेंड़ा**∠**पेटक**=हिन्दी **पेटी**।

कुछ बँगला के शब्दों में देशीपन साफ झलकता है। उदाहरण के लिए बँगला **पोला-पान**=**बच्चे** (पूर्वी बँगला की बोली में प्रयुक्त)—यहाँ **पोला** संस्कृत **पोत-ल** से है, और **पान** आस्ट्रिक शब्द प्रतीत होता है, जो संथाली (कोल) में **हॉपॉन** रूप में मिलता है; **पान** इस शब्द का सादा रूप है। इसी प्रकार बँगला **छेले-पिले** का भी अर्थ **लड़के-बच्चे** हैं और इसकी उत्पत्ति प्राचीन बँगला **छालिया-पिला** से है। [छालिया या छावालिया=प्राचीन भारतीय आर्य **शाव**+—**आल**+—**इक**+—**आक** और पिला, जो उसी रूप में उड़िया भाषा में प्रयुक्त होता है और जिसके माने हैं लड़का, बच्चा या जानवर का बच्चा—इसका संबंध द्राविड़ भाषा के साथ जोड़ दिया गया है (मिलाओ तामिल **पिल्लै** शब्द)]।

इस प्रकार नव्य भारतीय आर्य-भाषा में हमें भाषा-संबंधी सम्मिश्रण का पता चलता है, जो प्रचलित भाषाओं में प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार के शब्दों—जैसे **छेले-पिले, चाखड़ी, पाव-रोटी, राजा-बादशाह** आदि के विश्लेपण से पता चलता है कि वे अपने **समस्त-पद मूलक** शब्द हैं और वे अपने रूप को कायम रखते हुए भी एक मामूली बात को ही सूचित करते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार विभिन्न भाषाओं के शब्दों ने मिलकर नव्य भारतीय आर्य-भाषा के निर्माण में योग दिया है। भारतीय प्राकृत तथा संस्कृत से आये हुए शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ हम यहाँ 'देशी' या अनार्य भाषाओं के तथा फ़ारसी, अरबी, पुर्तगाली और अंग्रेज़ी के भी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग पाते हैं। इन शब्दों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि नव्य भारतीय आर्य-काल में भारतीय लोगों में **बहुभाषिता** प्रचलित हो गई थी।

जब हम मध्य-भारतीय आर्य तथा आद्य भारतीय आर्य-भाषाओं में, जिनका साहित्य अनेक प्रकार की प्राकृतों तथा संस्कृत में है, उपर्युक्त बात का पता लगाते हैं तो उनमें भी वही स्थिति पाई जाती है। इस समय थोड़े ही प्राकृत और संस्कृत शब्दों की बाबत हमें मालूम है, जिनसे पता चलता है कि १५००, २००० या २५०० वर्ष पहले भी भारत में न केवल भारतीय आर्य-भाषाएँ ही प्रचलित थीं, अपितु अनार्य-बोलियाँ तथा विदेशी बोलियाँ भी बोली जाती थीं, जो बहुत ही चालू हालत में थीं, और जिनका भारतीय आर्य-भाषा पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। हम यहाँ कुछ ऐसे संस्कृत और प्राकृत शब्दों पर विचार करेंगे, जो वास्तव में **अनुवादमूलक समस्त-पद** हैं।

(१) संस्कृत **कार्षापण**=पाली **कहापन**, प्राकृत **कहावण**, बँगला **काहन**: 'एक प्रकार का **बाँट**', 'एक **कार्ष** की तोल का सिक्का'। यह शब्द दो शब्दों के योग से बना है—**कार्ष** तथा **पण**। पहले शब्द का मूल **कर्ष** है, जिसका अर्थ है एक नाप या तोल। मालूम होता है कि **कर्ष** शब्द हख़ामनी (Achaemenian) ईरान का ह, जिस देश का प्राचीन भारत की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर काफी प्रभाव पड़ा था। **पण** शब्द को डा० प्रबोधचंद्र बागची ने संख्यासूचक शब्द माना है, और इसकी उत्पत्ति ऑस्ट्रिक (कोल) भाषा से मानी है। इस प्रकार **कार्षापण** शब्द एक व्याख्यात्मक समास-पद है, जिसमें प्राचीन ईरानी भाषा तथा आर्य-भाषा-प्रभावित ऑस्ट्रिक का सम्मिलित रूप दृष्टिगोचर है।

(२) **शालि-होत्र**—यह दूसरा मनोरंजक शब्द है, जो संस्कृत से मिलता है। 'यह शब्द प्राचीन काव्य में **अश्व** का द्योतक है,' ऐसा मानियर विलियम्स (Monier-Williams) ने अपने संस्कृत अभिधान में लिखा है। पुराने ढंग के विद्वानों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि घोड़े का **शालि-होत्र** नाम इस कारण है कि उसे शालि (धान) भोजन (होत्र) के लिए अर्पित किया जाता है। अश्व को **शालि-होत्रिन्** भी कहा जाता है। पालतू जानवरों की बीमारियों के संबंध में एक ऋषि ने एक ग्रंथ लिखा था, उन ऋषि का नाम भी **शालिहोत्र** मिलता है। इस अर्थ में यह शब्द भारतीय सेना में अब भी चालू है, जिसमें घुड़सवार सेना के घोड़ों का चिकित्सक **सोलत्री** कहलाता

है। हिन्दुस्तानी में यह शब्द शारोतरी या सालोतरी लिखा जाता है। शालिहोत्र शब्द द्वन्द्व है, और इसके दोनों शब्द भिन्न-भिन्न बोलियों के होते हुए भी एक ही अर्थ के सूचक हैं। संस्कृत शब्द शालि का, जिसका अर्थ चावल है, मूल दूसरा है। यहाँ शालि-होत्र का शालि शब्द निस्संदेह वही है, जो हमें शालि-वाहन में मिलता है। शालि का दूसरा पाठ सात (सातवाहन) में भी मिलता है। ज्याँ प्रुशेलुस्कि (Jean Przyluski) ने यह सिद्ध किया है[1] कि शालि या सात शब्द प्राचीन कोल (ऑस्ट्रिक) का शब्द है, जिसका प्रयोग घोड़े के अर्थ में होता है (संथाली भाषा में इसे साद्-ओम्, सादोम बोला जाता है)। प्राचीन भारत की चालू बोलियों में साद या सादि (=घोड़ा) के प्रयुक्त होने का प्रमाण संस्कृत शब्द साद '(घोड़े की पीठ पर) बैठना या चढ़ना' में मिलता है। इसके अन्य रूप सादि, सादिन्, सादित् (मिलाओ अश्व-सादि=घोड़े पर चढ़ने वाला) भी मिलते हैं। यही शब्द निस्संदेह शालि-वाहन, सात-वाहन तथा शालिहोत्र के साथ जुड़ा हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि शालि शब्द, जिसका अर्थ अश्व है, मूलतः ऑस्ट्रिक भाषा का शब्द है। होत्री, होत्र शब्द का अर्थ भी संभवतः यही होगा। यह शायद एक ऐसा शब्द है, जिसे हम द्राविड़ों के साथ संबंधित कर सकते हैं। घोड़े के लिए इंडो-यूरोपीय शब्द जो संस्कृत में मिलता है, वह अश्व ही है। बाद में अश्व के लिए घोट शब्द भी प्रयुक्त होने लगा, जिसका मूल अज्ञात है।

भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त की पिशाच या दरद भाषाओं में एक या दो को छोड़कर भारत में अश्व शब्द का प्रयोग अन्यत्र नहीं पाया जाता। घोट तथा उससे निकले हुए अन्य शब्द, जो अश्व के लिए प्रयुक्त होते हैं भारतीय आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में पाये जाते हैं। घोट शब्द मूलतः प्राकृत का मालूम होता है। इसके प्राचीन रूप घुत्र और घोत्र थे। इन रूपों से द्राविड़ भाषा के अश्व-वाचक शब्द काफ़ी मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ, तामिल कुतिरै, कन्नड़ कुदुरे, तेलगु 'गुर्र्-मु'। घुत्र, घोट तथा कुतिरै शब्दों का मूल अनिश्चित है; पर ये काफ़ी प्राचीन शब्द हैं और इनका प्रचलन पश्चिम-एशिया के देशों में बहुत अधिक है। घोड़े के लिए प्राचीन मिस्री (Egyptian) भाषा का एक शब्द, जो निस्संदेह एशिया (एशिया-माइनर या मैसोपोटैमिया) से आया है हतर (ḥtr) है, जो घुत्र का एक दूसरा रूप प्रतीत होता है। गधे के लिए आधुनिक ग्रीक शब्द गदैरोस् (gadairos) तथा खच्चर के लिए तुर्की शब्द कातिर (Katyr) घुत्र-हतर शब्द से ही संबंधित जान पड़ते हैं। इस स्थान पर हम इस शब्द को भारत से बाहर का (एशिया-माइनर का ?) यानी अनार्य भाषा का कह सकते हैं, जिसे संभवतः द्राविड़ लोग यहाँ लाये। हो सकता है कि यह असली द्राविड़ शब्द है और यह भी विचारणीय है कि स्वयं द्राविड़ शब्दों की मूल उत्पत्ति शायद भूमध्यसागर के आसपास या क्रीट द्वीप से हुई। शालिहोत्र शब्द के दूसरे पद में घोट का प्राचीन रूप घोत्र का विकार होत्र भी दिखाई पड़ता है। शालिहोत्र=अश्व=घोड़े के लिए प्रयुक्त ऑस्ट्रिक शब्द साद+उसका समानार्थी द्राविड़ शब्द घोत्र। इस दशा में अश्व-सादि शब्द आर्य तथा ऑस्ट्रिक भाषाओं का सम्मिलित अनुवादमूलक समस्त-पद होगा।

(३) पिछले संस्कृत-साहित्य में पालकाप्य मुनि का नाम हाथियों को शिक्षित करने के संबंध में लिखे हुए एक ग्रंथ के प्रणेता के रूप में आता है। उसके संबंध में कुछ कथाएँ भी मिलती हैं, जिनसे पता चलता है कि वे अंग्रेजी औपन्यासिक रुडियर्ड किपलिंग (Rudyard Kipling) द्वारा वर्णित एक प्रकार के मावग्ली (Mowglie) थे; मावग्ली ऐसा लड़का था, जो कि बचपन से लक्कड़बाघों के द्वारा पालित हुआ था, और पालकाप्य का भी हाथियों द्वारा पालन हुआ था, और वे हाथियों के बीच में रहा करते थे। पालकाप्य नाम की व्याख्या इस प्रकार दी गई है कि पाल वैयक्तिक नाम है और काप्य गोत्र का नाम है। काप्य की उत्पत्ति कपि से हुई है, जिसका संस्कृत में प्रायः बंदर के लिए प्रयोग होता है। परन्तु जान पड़ता है कि पालकाप्य एक अनुवादमूलक समस्त-पद है, जो बिलकुल शालि-होत्र शब्द के ही समान बना है। पालकाप्य के दोनों शब्द दो भिन्न भाषाओं से लिये गये हैं और प्रत्येक शब्द हाथी के लिए

---

[1] देखिए JRAS., 1929, p. 273

प्रयुक्त हुआ है, और जिस प्रकार **शालिहोत्र** शब्द वैयक्तिक नाम का सूचक है, उसी प्रकार **पाल-काप्य** संज्ञा एक ऐसे ऋषि की दी हुई है, जो हाथी के पालन आदि के संबंध में अच्छे ज्ञानी और अधिकारी लेखक समझे जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि **शालि-होत्र** और **पाल-काप्य** जैसे साधारण शब्द भी किस प्रकार व्यक्ति-विशेष के सूचक शब्द बन सकते हैं। द्राविड़ भाषाओं में **पाल** शब्द हाथी और हाथी-दांत का सूचक है। इनमें इस शब्द के अनेक रूप मिलते हैं।[1]

इस बारे में एक बात और जान लेनी है कि **पाल-काप्य** ऋषि का एक अन्य नाम **करेणु-भू** (=हथिनी का पुत्र) भी मिलता है, जिससे पता चलता है कि ऋषि के नाम का कुछ संबंध हाथियों से अवश्य है। **काप्य** शब्द की व्युत्पत्ति श्री प्रबोधचंद्र बागची ने अपने लेख में दी है और उन्होंने यह साफ दिखा दिया है कि **कपि** शब्द हाथी का भी सूचक है, कम-से-कम हाथी के समानार्थक शब्द के रूप में उसका प्रयोग मिलता है। डा० बागची ने **गज-पिप्पली** शब्द के लिए **करि-पिप्पली, इभ-कण, कपि-वल्ली** तथा **कपिल्लिका** आदि अनेक समानवाची शब्द दिये हैं, जिनमें **गज, करि, इभ** तथा **कपि** शब्द निस्संदेह एक ही अर्थ के बोधक हैं। जंगली कैथा का एक नाम कपित्थ (मिलाओ **अश्वत्थ** =पीपल) पाया जाता है। इस फल को हाथी बड़े शौक से खाते हैं और संस्कृत में एक लोकोक्ति है—**गज-भुक्त कपित्थवत्** (=एक ऐसे कपित्थ फल के समान, जिसे हाथी ने खाया हो। यह कहा जाता है कि जब हाथी कपित्थ फल को निगल लेता है तब उस फल का ऊपरी कड़ा गोला वैसे-का-वैसा ही बना रहता है और फल का गूदा हाथी के पेट में चला जाता है। इस प्रकार फल का ऊपरी ढक्कन ही बाहर रह जाता है।) क्या इस बात से हम यह कह सकते हैं कि **कपित्थ** का **कपि** शब्द भी हाथी का सूचक है? इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि कुछ पश्चिम एशियाई तथा आसपास के देशों की भाषाओं—उदाहरणार्थ हिब्रू तथा प्राचीन मिस्री (Egyptian)—में एक समानवाची शब्द हाथी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिब्रू में हाथीदांत के लिए **शेन्-हब्बीम्** (Shen-habbim) शब्द है। **शेन** का अर्थ 'दांत' और **हब्बीम** का अर्थ 'हाथी' है: यह शब्द **हब्ब्** बन जायगा। प्राचीन मिस्री भाषा में हाथी के लिए **हब्** या **हब्ब्** शब्द है। हिब्रू तथा मिस्री शब्दों—**हब्ब्** और **हब्** की तुलना **कपि** शब्द से की जा सकती है। **कपि=हब्** शब्द का मूल अज्ञात है। संभवतः यह उसी प्रकार का है, जैसे **घोट-घुत्र-कुतिरै-ह्तुर्-गदैरीस्-कातिर** शब्द। मेरा यह अनुमान है कि **पाल-काप्य** द्राविड़ तथा भारत-बहिर्भूत और किसी अनार्य भाषा के दो पदों से मिलकर बना हुआ एक **अनुवादमूलक समस्त-पद** है, असंगत न ठहरेगा।

(४) गोपथ ब्राह्मण में **दन्तवाल धौम्र** नामक एक ऋषि का उल्लेख है, जो जन्मेजय के समकालीन थे। यह नाम **दन्ताल धौम्य** से भिन्न है, जो जैमिनीय ब्राह्मण में जनक विदेह के समकालीन कहा गया है।[2] **धौम्र** अपत्य नाम है; पर **दन्तवाल** शब्द का, जो कि एक वैयक्तिक नाम है, क्या अर्थ हो सकता है? क्या यह **दन्त-पाल** के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दूसरा **दन्ताल** नाम है? उसका अर्थ 'लंबे या बड़े दांतों वाला' हो सकता है। पर **वाल∠पाल** प्रत्यय ('जो रखने वाला' या 'पालने वाला' के अर्थ को सूचित करता है) भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में अपभ्रंश वाली स्थिति के पहले नहीं पाया जाता। अतः वह बहुत प्राचीन नहीं है। मेरा अनुमान है कि **दन्त-वाल** शब्द **दन्त-पाल** के लिए ही प्रयुक्त हुआ है और आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में एक-एक पद से मिल कर बना हुआ **समस्त-पद** है, जिसका अर्थ **हाथी** या **हाथी का दांत** है। इसमें दंत संस्कृत शब्द है, और पाल द्राविड़।

(५) भारतीय इतिहास के **शक-काल** में अनेक शक (तथा अन्य ईरानी) नाम और विरुद शकों के द्वारा

---

[1] इस संबंध में विशेष जानकारी के लिए देखिए—J. Przyluski, *Notes Indiennes*, Journal Asiatique, 1925, pp. 46-57 तथा श्री प्रबोधचंद्र बागची का Indian Historical Quarterly, 1933, pp. 258 में प्रबंध।

[2] डा० हेमचंद्रराय चौधुरी का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरा ध्यान इन नामों की ओर आकर्षित किया है।

भारत में लाये गये। एक ऐसा ही नाम **मुरुण्ड** है, जिसका अर्थ शक-भाषा में **राजा** है। भारतीय शकों के अभिलेखों में **मुरुण्ड-स्वामिनी** शब्द मिलता है, जो उपर्युक्त समानार्थक समास-पद का एक उदाहरण है।

(६) इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द भी विचारणीय हैं; परन्तु अभी तक उन शब्दों की उत्पत्ति तथा उनके तुलनात्मक विचार के संबंध में विद्वानों का ध्यान नहीं गया। प्राग्ज्योतिष के राजा वैद्यदेव (११वीं शती का उत्तर-भाग) के कमौली से मिले हुए ताम्र-पत्र में **जउगल्ल** नामक एक छोटी नदी का उल्लेख है। यह शब्द दो पदों से मिल कर बना है—**जउ** ∠संस्कृत **जतु**='लाख या लाह'+**गल्ल** (बँगला का **गाला**), जिसका भी अर्थ **लाख** है (बँगला भाषा में भी **जतु**—**जउ** का **जौ** रूप मिलता है)। शायद **गल्ल** के माने पहले-पहल **गलाई हुई लाख** रहा हो, परन्तु ऊपर जो उदाहरण दिये जा चुके हैं, उनसे इस प्रकार शब्दों का गड्डमड्ड समझ में आ सकेगा।

(७) महावस्तु में **इक्षु-गंड** नामक एक शब्द ईख या गन्ने के लिए प्रयुक्त हुआ है। नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं में **इक्षु** के रूप में **ईख, आख, आउख, ऊख, ऊस** मिलते हैं। **गण्ड** शब्द का नव्य भारतीय आर्य-भाषा (हिंदुस्तानी) में **गन्ना** या **गंडेरी** रूप है। इस प्रकार हम यहाँ भी दो समानार्थक शब्दों को जो प्राचीन भारत में प्रचलित दो भिन्न भाषाओं में से लिये गये हैं, सम्मिलित रूप में प्रयुक्त पाते हैं।

(८) इसी प्रकार महावस्तु में एक दूसरा शब्द **गच्छ-पिण्ड** है। यह एक विचित्र समास है और इसका अर्थ **वृक्ष** है। **गच्छ** शब्द बँगला में (तथा उससे संबंधित पूर्व भारत की भाषाओं में) **गाछ**='वृक्ष' के रूप में आता है। मूलतः इस शब्द का अर्थ 'संवर्धन' है, जो एक पौदे के ऊँचे उठने या बढ़ने का सूचक है (संस्कृत धातु √**गम्-गच्छ** से)। **पिण्ड** का अर्थ समूह या ढेर है। इस प्रकार **गच्छ पिण्ड** का अर्थ 'बढ़ता हुआ ढेर' बहुत विचित्र मालूम पड़ेगा। परन्तु एक पौदे या वृक्ष जैसी मामूली वस्तु के लिए ऐसा टेढ़े अर्थ वाला शब्द क्यों प्रयुक्त किया गया? हमें याद रखना चाहिए कि **पिण्ड** शब्द का ही हिंदुस्तानी में प्रचलित रूप **पेंड़** है, जो वृक्ष के लिए आता है। इस **पेंड़** शब्द का मूल क्या है? नव्य भारतीय आर्य-भाषा द्वारा हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि **गच्छ-पिण्ड** का और कोई शाब्दिक अर्थ न होकर केवल 'वृक्ष-वृक्ष' है।

(९) **गच्छ-पिण्ड** तथा अन्य शब्दों के समान ही अपभ्रंश का शब्द **अच्छ-भल्ल** है, जो रीछ या भालू के लिए प्रयुक्त होता है। **अच्छ** शब्द आर्य या इंदो-यूरोपीय है। संस्कृत में **ऋक्ष** शब्द है (जिसका हिंदुस्तानी में प्राचीन अर्धतत्सम-रूप **रीछ** है)। **भल्ल** नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के भल्लक वाचक कुछ शब्दों का मूल रूप है, जिससे **भालू** (हिंदुस्तानी) तथा **भालुक, भाल्लुक** (बंगला) शब्द बने, जिन सबका अर्थ 'रीछ' है। कुछ लोगों ने **भल्ल** को आद्य भारतीय आर्य-भाषा के **भद्र** शब्द का रूप माना है। ऐसा मानने पर **अच्छ-भल्ल** का अर्थ अच्छा या सीधा 'भालू' होगा। वह भी असंभव नहीं, क्योंकि प्रायः बुरे या भयंकर जानवरों का केवल नाम लेना प्रशस्त नहीं समझा जाता (इस प्रकार के जानवरों का नाम लेने से यह माना जाता है कि वह जानवर निकट आ जायगा)। इसी विचार के आधार पर शायद रीछ का नाम **भल्ल**='अच्छा या सीधा जानवर' रक्खा गया, और धीरे-धीरे यही नाम उस जानवर का हो गया। ऐसी ही बात रूसी भाषा में है, जिसमें रीछ को **मेद्‌वेद्** ('मधु खाने वाला', मिलाओ सं० **मध्वद्**) कहते हैं। इस बात का अनुसंधान कि **भल्ल** शब्द का संबंध भारतीय आर्य-भाषाओं के बाहर किसी भाषा में मिलता है या नहीं, शायद मनोरंजक सिद्ध होगा।

(१०) संस्कृत के शब्द **कञ्चूल, कञ्चूलिका** (=कंचुकी, जाकट) **चोलिका** शब्द से मिलाये जा सकते हैं, जिसका भी अर्थ वही है। ये शब्द भारत की आधुनिक प्रचलित भाषाओं में भी मिलते हैं। **कञ्चूल** या **कञ्चुकी** पहले पहल 'स्तनों के ऊपर बाँधे जाने वाले वस्त्र' के सूचक थे। **चोलिका पट्ट** का अर्थ 'मध्य भाग के लिए प्रयुक्त वस्त्र' है। **कञ्चूल, कञ्चूलिका**—**कन्**+**चोलिका** इन दो शब्दों से मिल कर बने हुए जान पड़ते हैं। **कन्** ऑस्ट्रिक शब्द है जिसका बँगला का रूप **कानि**='चीथड़ा' है (मिलाओ मलायन शब्द **काइन्**=(Kain) कपड़ा)। **चोल** शब्द **चेल** (=वस्त्र) से संबंधित हो सकता है। **चेल** शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है।

(११) **कायस्थ-प्रभु**—महाराष्ट्र में यह एक जाति का नाम है। कायस्थ प्राचीन काल में लेखकों के वर्ग का नाम था, राष्ट्र के कुछ अन्य दीवानी अफ़सर भी इसी जाति के होते थे, परंतु **कायस्थ** शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह शब्द मूलतः ईरानी है, प्राचीन फारसी में राजा के लिए **खशायथिय** (Khshāyathiya) शब्द मिलता है। इससे प्राचीन प्राकृत का रूप **खायथिय** बना होगा, जिससे **कायत्थ** बन सकता है, और उससे संस्कृत रूप **कायस्थ** हो गया होगा। एक केंद्रित शासन में छोटे अफ़सरों, क्लर्कों तथा मंत्रियों आदि के लिए सम्मानार्थ प्रयुक्त कायस्थ शब्द संभवतः उस काल की ओर संकेत करता है जब उत्तर-पश्चिम भारत में ईरानी शासन की प्रभुता थी। अतः महाराष्ट्र में प्रचलित **कायस्थ-प्रभु** शब्द **मुरुंड-स्वामिनी** शब्द की तरह, (ऊपर न० ५), एक **अनुवाद-मूलक समस्त-पद** सिद्ध होगा।

(१२) संस्कृत का **गौर** शब्द एक प्रकार की भैंस के लिए प्रयुक्त होता है। **गौर** का शाब्दिक अर्थ 'सफ़ेद' है। किंतु भैंस काली होती है, और उसके साथ इस विशेषण को संबद्ध करना असंगत प्रतीत होता है। **गवय, गवल** तथा **गोण** अन्य संस्कृत नाम हैं, जो भैंस और बैल के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनकी उत्पत्ति **गौ** या **गव्** से हुई है। हो सकता है कि **गौर** एक **अनुवादमूलक समस्त-पद** है, जो आर्य-भाषा के **गौ, गो** तथा ऑस्ट्रिक (कोल) के **उर** (=जानवर) शब्दों से मिलकर बना है। संथाली और मुंडारी भाषाओं में **उरि** शब्द गाय और भैंस के लिए प्रयुक्त होता है।

(१३) संस्कृत **तुंडि-चेल**='एक प्रकार का वस्त्र'। ऐसे वस्त्र का उल्लेख बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यावदान' में मिलता है। **चेल** आर्य-भाषा का शब्द है, जिसका संबंध **चीर** शब्द से है, जो उसी धातु से निकला है, जिससे हिंदी का **चीरना** और बंगला का **चिरा**। इस प्रकार **चीर, चेल** का अभिप्राय 'वस्त्र के टुकड़े' से है। **तुंडि-चेल** के पहले पद का मूल रूप द्राविड़ भाषाओं में मिलता है (तामिल **तुंटु** या **तुंडु**, कन्नड़ **तुंडु**, तेलगु **तुंट**='टुकड़ा, कपड़े का एक छोटा टुकड़ा, तौलिया')।

(१४) संस्कृत **मुसार-गल्व**='एक किस्म का मूंगा, एक प्रकार का चमकीला क़ीमती पत्थर'। मैंने अन्यत्र **मुसार** शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विस्तार से लिखा है। मेरे मत से यह शब्द प्राचीन चीनी भाषा से भारत में आया है, जिसमें कीमती या मामूली पत्थर के लिए **म्वा-सार** (mwa-sar) शब्द आता है। प्राचीन चीनी भाषा में इस शब्द का संबंध फ़ारसी और अरबी के **बिस्सद** और **बुस्सद** (bissad, bussad) (=मूंगा) शब्दों से जान पड़ता है।

[आधुनिक चीनी में इसका उच्चारण है **मू-सा** (mu-sa) प्राचीन चीनी में इसका उच्चारण था **म्वा-सार** (mwa-sar) और **ब्वा-साध्** (bwa-sadh)]। दूसरा पद **गल्व**, जिसका रूप **गल्ल** भी मिलता है, मेरे विचार से पत्थर के लिए साधारणतः प्रयुक्त द्राविड़ शब्द है। तामिल में इसका रूप **कल्**, तेलगु में **कल्लु** और ब्राहुई में **ख़ल्** मिलता है। सिंहली भाषा में **गल्ल** शब्द आता है, जो प्राचीन द्राविड़ भाषा के **गल** या **गल्ल** से लिया गया है। इस प्रकार **मुसार-गल्ल** शब्द चीनी तथा द्राविड़ भाषाओं का सम्मिलित **अनुवादमूलक** रूप है, जिसे प्राचीन भारत में पहले प्राकृतों में और फिर संस्कृत में अपना लिया गया है।

यद्यपि स्पष्ट तथा भलीभांति प्रमाणित उदाहरणों की संख्या बहुत नहीं है, तो भी आद्य भारतीय आर्य (संस्कृत) तथा मध्य भारतीय आर्य (प्राकृत) भाषाओं के जिन थोड़े से शब्दों का विवेचन ऊपर किया गया है, उससे हम इस उपपत्ति पर पहुँच सकते हैं कि **प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओं के बीच आदान-प्रदान जारी था।** अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थीं और उनकी शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उसके बाद तक बहुत प्रबल थी और भारतीय आर्य-भाषाओं के ब्राह्मण्य, जैन तथा बौद्ध धर्म-संबंधी साहित्य में उनका प्रभाव दृष्टिगोचर है। इस ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। अनार्य भाषाओं से अनेक शब्दों और नामों का भारतीय आर्य-भाषाओं में आना जारी था। पीछे जब कि असली अनार्य भाषाओं का लोप हो गया, तब साथ ही उनके महत्त्व का भी अंत हुआ, सिवा इसके कि कहीं-कहीं भूले-भटके उनका अस्तित्व अब भी मिल जाता है। विदेशी भाषाएँ—ग्रीक, प्राचीन फ़ारसी और अन्य अनेक

ईरानी भाषाएँ—लोग बड़ी संख्या में बोलते थे और उनका प्रचलन बहुत विस्तृत था। इन भाषाओं से भी भारतीय आर्य-भाषाओं में शब्द लिए जा रहे थे। निस्संदेह ऐसे शब्दों की संख्या तत्कालीन प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं में उन शब्दों से कहीं अधिक थी, जिन्हें हम वर्तमान परिस्थिति में संस्कृत तथा साहित्यिक प्राकृतों में पा रहे हैं। वास्तव में, प्राचीन भारत में प्रचलित भाषाओं के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है, जैसी इस समय है। केवल उस समय अनार्य-भाषाओं का क्षेत्र आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक था। जैसा कि आर्यावर्त में हम आज पाते हैं, संभवतः प्राचीन काल में भी जनता के अधिकांश भाग में अनार्य-भाषाओं (द्राविड़ तथा ऑस्ट्रिक) का प्रभाव आर्य-भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक था। वस्तुतः दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारत में बहुभाषिता का प्रचलन लगभग उतना ही था, जितना कि वर्तमान भारत में है।

कलकत्ता]



'बीच' की व्युत्पत्ति

श्री आर्येन्द्र शर्मा एम्० ए०, डी-फ़िल०

हिन्दी का 'बीच' शब्द "मध्य, केन्द्र, अन्तर, अवकाश, स्थान" आदि अर्थों में तथा अधिकरण कारक में, 'में' के स्थान पर, प्रयुक्त होता है। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी यह शब्द, इन्ही अर्थों में, वर्तमान है—पंजाबी में 'विच्च', गुजराती में 'वचे', 'विचे', 'वच्चे', नेपाली में 'विच', इत्यादि। व्रजभाषा तथा अवधी में भी 'विच' अथवा 'बीच' का प्रयोग बराबर मिलता है।

इन सब शब्दों का मूल प्राकृत (तथा अपभ्रंश) का 'विच्च', (सप्तमी एक० में 'विच्चम्मि', 'विच्चि', 'विच्चे') शब्द है। हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण[1] में दो स्थलों पर 'विच्च' शब्द का उल्लेख है—अध्याय ४, सूत्र ३५० तथा सूत्र ४२१। इनके अतिरिक्त, पाइयसद्दमहण्णवो[2] के अनुसार, पुष्पमाला प्रकरण ४२७, निशाविरामकुलक १६, कुमारपालचरित तथा भविसत्तकहा ५६.११ में भी 'विच्च' शब्द मिलता है। पाइयसद्दमहण्णवो में 'विच्च' के दो अर्थ दिये गये है, "बीच, मध्य" तथा "मार्ग, रास्ता"। दूसरे अर्थ ("मार्ग") के उदाहरणों के लिए पा० स० म० ने हेमचन्द्र के उपर्युक्त दोनों सूत्रों तथा कुमारपालचरित और भविसत्तकहा के स्थलों का निर्देश किया है। वास्तव में पा० स० म० ने "मार्ग" अर्थ हेमचन्द्र के—

"विषण्णोक्तवर्त्मनो वुन्नवुत्तविच्चम्। ४. ४२१।

(अपभ्रंश में संस्कृत के 'विषण्ण', 'उक्त' तथा 'वर्त्मन्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'वुन्न', 'वुत्त' तथा 'विच्च' शब्दों का आदेश होता है)।"

इस सूत्र के आधार पर दिया है। किन्तु, जैसा आल्सडोर्फ[3] ने सिद्ध किया है, इन सभी स्थलों पर प्रकरण, सन्दर्भ आदि की दृष्टि से 'विच्च' का अर्थ "मध्य" अथवा "अन्तर" ही हो सकता है, "मार्ग" नहीं। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के सं० 'वर्त्म'=प्रा० 'विच्च', इस समीकरण में ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी कठिनता भी स्पष्ट है। 'व-' के स्थान पर 'वि-' आदेश और -'म'- के लोप को किसी भी तरह नियमानुकूल नही कहा जा सकता। 'वर्त्म-' के '-र्त्-' के स्थान पर '-च्च्-' हो जाना भी सम्भव नही। नियम के अनुसार सं० '-र्त्-' का प्राकृत में '-ट्ट-' होना चाहिए[4]। स्वयं हेमचन्द्र ने अध्याय २, सूत्र ३० में यही नियम बता कर सं० 'कैवर्त-'>प्रा० 'केवट्ट', सं० 'वर्ति-'>प्रा० 'वट्टी' आदि उदाहरण दिये हैं। फिर पाली में सं० 'वर्त्म-' का परिवर्तित रूप 'वटुम'- ("दीघनिकाय", भाग २, पृ० ८, तथा "संयुत्तनिकाय", भाग ४, पृ० ५२) पहले ही से वर्तमान है, जो, गाइगर ("पाली लितरातूर उंद् श्प्राखे" § ५८·२) के अनुसार, 'वर्त्म-' से *'वट्टम-', *'वट्टम-' से *'वट्म-', और *'वट्म-' से स्वरभक्ति द्वारा 'वटुम-', इस प्रकार विकसित हुआ है। स्वयं प्राकृत में भी सं० 'वर्त्मन्-' से सम्बद्ध 'वट्ट-' (<*सं० 'वर्त-', हिन्दी 'बाट')

---

[1] पिशेल् (Pischel) द्वारा सम्पादित, हाले (Halle), जर्मनी १८७७—८०।

[2] पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, वि० सं० १९७९—८५।

[3] 'अपभ्रंश-ष्टूडिएन', लाइप्सिश ((Apabhramsa-Studien, Leipzig), १९३७; पृष्ठ ७७—७८।

[4] पिशेल्, 'ग्रामाटिक् देर प्राकृत-श्प्राखेन्, ष्ट्रासबुर्ग् (Pischel, 'Grammatik der Prākrit-Sprachen,' Strassburg), १९००, §२१८—आदि; गाइगर, 'पाली लितरातूर उंद् श्प्राखे' (Geiger, 'Pali Literatur und Sprache')—अंग्रेजी अनुवाद डा० बटकृष्ण घोष, कलकत्ता, १९४३, § ४२ और §६४।

शब्द उपलब्ध है।[1] फलतः प्रा० 'विच्च-' सं० 'वर्त्म-' का परिवर्तित रूप नहीं हो सकता। यह व्युत्पत्ति असम्भव है।

पिशेल् ("ग्रामाटिक् देर् प्राकृत-श्प्राखेन्" § २०२) प्रा० 'विच्च-' की व्युत्पत्ति एक दूसरे प्रकार से करते हैं। इनके अनुसार 'विच्च-' का विकास प्रा० 'वच्चइ' (<सं० 'व्रजति') "जाता है" से हुआ है। स्पष्ट है कि यह व्युत्पत्ति 'विच्च-' के "मार्ग" अर्थ के आधार पर ही सोची गई है। किन्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'विच्च-' का अर्थ "मार्ग" नहीं हो सकता। अतः 'विच्च-' का उद्भव 'वच्चइ' से होना भी नहीं माना जा सकता।[2] "जाना" और "मध्य, अन्तर, अवकाश" अर्थों में कुछ भी सम्बन्ध नहीं बनता।

एक तीसरी व्युत्पत्ति "हिन्दी-शब्द-सागर" तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा के "हिन्दी भाषा का इतिहास" (इलाहाबाद, १९३३; पृ० २४९) में बताई गई है। इनकी सम्मति में हिन्दी 'बीच' का सम्बन्ध संस्कृत की 'विच्' ("पृथक् करना") धातु से है। दोनों ग्रन्थों में केवल 'विच्' धातु का संकेत किया गया है; 'विच्' से 'बीच' का विकास, अर्थ और ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से, कैसे हुआ, इसकी विवेचना नहीं की गई। अनुमानतः, 'बीच' (मध्य) किसी वस्तु को दो भागों में पृथक् करता है, इस आधार पर, अथवा, 'बीच' के दूसरे अर्थ "अन्तर, अवकाश" के आधार पर, इसका सम्बन्ध 'विच्'="पृथक् करना" से जोड़ा गया है। किन्तु यह सम्बन्ध "खींचातानी" ही है। "मध्य" में "पृथक् करने" का अर्थ असन्निहित है। पृथक् करना तो तीन या चार या अधिक भागों में भी हो सकता है। हाँ, "अन्तर, अवकाश" और "पृथक् करना" में कुछ सम्बन्ध बन सकता है, किन्तु 'बीच' का मुख्य, प्रारम्भिक अर्थ "मध्य" है, "अन्तर, अवकाश" अर्थ का विकास बाद में हुआ है (देखिए, पृ० ६६)। इसके अतिरिक्त संस्कृत की 'विच्' धातु सामान्यतया किसी एक वस्तु का विभाग करने के अर्थ में नहीं, अपितु दो संश्लिष्ट वस्तुओं (जैसे अन्न और भूसी) को एक-दूसरी से पृथक् करने (sift) के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[3] संस्कृत के 'विवेक', 'विवेचन' आदि शब्दों के प्रयोग ('नीर-क्षीर-विवेक', 'गुण-दोष-विवेचन' आदि) पर ध्यान देने से 'विच्' का तात्त्विक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'बीच' में इस अर्थ की छाया अलभ्य है।

ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से, हिन्दी 'बीच' का विकास 'विच्' धातु से बने हुए किस संस्कृत-शब्द से हुआ, इसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है, किन्तु "हिन्दी-शब्द-सागर" अथवा "हिन्दी भाषा का इतिहास" में इस विषय में कुछ भी संकेत नहीं किया गया। प्रा० 'विच्च' का तो दोनों ग्रन्थों में निर्देश भी नहीं है। फिर भी केवल ध्वनि की दृष्टि से हि० 'बीच' का सम्बन्ध सं० 'विच्' से माना जा सकता है। किन्तु अर्थ-सम्बन्धी कठिनता के कारण अन्त में इस व्युत्पत्ति को भी मान्य-कोटि में नहीं रक्खा जा सकता।

हिन्दी 'बीच' के पूर्वज प्रा० 'विच्च' की एक अन्य व्युत्पत्ति टर्नर ने ("नेपाली डिक्शनरी") नेपाली 'बिच' (=बीच) शब्द की विवेचना में दी है। इनकी सम्मति है कि प्रा० 'विच्च' का उद्गम सं० *'वीच्य-' शब्द से होना सम्भव है। तुलना के लिए टर्नर ने सं० के 'उरुव्यञ्च्-' ("सुविस्तृत, दूर तक फैला हुआ") तथा 'व्यत्रस्-' ("विस्तृत स्थान") शब्दों का निर्देश किया है। साथ ही उन्होंने प्रा० 'विच्च' के अर्थ "मध्य" तथा "मार्ग" दोनों दिये हैं।

ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से सं० *'वीच्य-' का प्रा० 'विच्च' हो जाने में कोई बाधा नहीं है।[4] सं० 'वीच्य-'

---

[1] देखिये, "पाइयसद्दमहण्णवो" में 'वट्ट' नं० ४। हेमचन्द्र-कृत "देशीनाममाला" (पिशेल् द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९३८, द्वितीय संस्करण) के अनुसार 'वट्टा' (="मार्ग") शब्द देशी है।

[2] दे० आल्सडोर्फ़, "अपभ्रंश-स्टूडिएन" पृ० ७९।

[3] देखिये मॉनियर विलियम्स कृत "संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी" (ऑक्सफ़ोर्ड, द्वितीय संस्करण, १८९९), पृ० ९५८।

[4] सं० स्पर्शव्यञ्जन+'य' के स्थान पर प्राकृत में सामान्यतया स्पर्शव्यञ्जन+स्पर्शव्यञ्जन हो जाता है।

को टर्नर स्पष्ट ही 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु अथवा 'व्यच्-' धातु से बनाते हैं, क्योंकि तुलना के लिए उनका दिया हुआ 'उरुव्यञ्च्-' शब्द 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु से और 'व्यचस्'- 'व्यच्' धातु से बना हुआ है।[1] इनमें से 'वि+अच् (अञ्च्)' से *'वीच्य-' का बनाना सरल है, क्योंकि "निर्बल" रूपों में 'अच्-(अञ्च्)' का 'अ-' लुप्त हो जाता है, और उसके पूर्ववर्ती 'इ-' 'उ-' दीर्घ हो जाते हैं।[2] किन्तु 'व्यच्' धातु से *'वीच्य'- बनाने में कुछ कठिनता है। 'व्यच्' का दूसरा, "निर्बल", रूप 'विच्' मिलता है,[3] 'वीच्' नहीं, और 'विच्' से 'विच्य-' बन सकता है, 'वीच्य-' नहीं। हाँ, एक तरह से टर्नर की बात का समाधान भी हो सकता है। संस्कृत व्याकरण में 'व्यच्' एक स्वतन्त्र धातु है, किन्तु आधुनिक विद्वानों की सम्मति है कि यह धातु वास्तव में 'वि+अच् (अञ्च्)' का ही समस्त रूप है, पृथक् धातु नहीं।[4] 'व्यच्' का अर्थ है "अपने में समेट लेना, घेर लेना, अपने में समा जाने देना, अपने अन्दर अवकाश या स्थान देना" तथा "धोखा देना, छलना"। 'अच्' अथवा 'अञ्च्'[5] का अर्थ है "जाना, चलना, मुड़ना, झुकना, रुझान होना" और 'वि+अच् (अञ्च्)' का अर्थ है "विविध दिशाओं में जाना, इधर-उधर हट जाना, विस्तार करना" तथा "इधर-उधर चलना, दोहरी चाल चलना, धोखा देना"। इस प्रकार 'व्यच्' और 'वि+अच् (अञ्च्)' के अर्थों में पर्याप्त सादृश्य है। रूप में तो दोनों तुल्य हैं ही। अतः इन दोनों को मूल में एक मान लेने में कोई बाधा नहीं। इतनी बात अवश्य है कि संस्कृत भाषा में वैदिक काल से ही 'व्यच्' का अपना पृथक् अस्तित्व बन गया है। अस्तु। 'वि+अच् (अञ्च्)' अथवा 'व्यच्' धातु से सं० *'वीच्य-' और सं० *'वीच्य-' से प्रा० 'विच्च' की उत्पत्ति, ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से, किसी न किसी तरह सम्भव मानी जा सकती है।

किन्तु अर्थ की कठिनता टर्नर की व्युत्पत्ति में भी रह जाती है। प्रा० 'विच्च' का अर्थ "मार्ग" करना असंगत है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। फिर "मार्ग" का 'व्यच्' अथवा 'वि+अच् (अञ्च्)' धातुओं के उपर्युक्त अर्थों से कोई सीधा सम्बन्ध भी नहीं बनता और न इन धातुओं के अर्थों से "मध्य" अर्थ की ही संगति बनती है। 'विच्च' के अन्य अर्थ "अन्तर, अवकाश" से 'व्यच्' और 'वि+अच् (अञ्च्)' के "विस्तार करना, अवकाश देना" अर्थों का सम्बन्ध अवश्य बन सकता है। (तुलना के लिए दिये गये 'उरुव्यञ्च्-' तथा 'व्यचस्' शब्दों से भी यही संकेत मिलता है)। किन्तु "अन्तर, अवकाश" 'विच्च' का मुख्य अर्थ नहीं है (दे० पृ० ६६)।

अन्त में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि टर्नर ने प्रा० 'विच्च' के दो चकारों के कारण इसके पूर्वज संस्कृत शब्द को *'वीच्य-' कल्पित किया है; क्योंकि संस्कृत के दीर्घस्वर+व्यञ्जनसंयोग के स्थान पर प्राकृत में ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसंयोग, अथवा दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन हो जाता है,[6] जैसे सं० 'मार्ग-'>प्रा० 'मग्ग-', सं० 'दीर्घ'>प्रा० 'दीघ-' इत्यादि। किन्तु सं० *'विच्य-' का भी प्रा० में 'विच्च' ही बनेगा। फिर *'वीच्य-' की कल्पना करना सर्वथा अनावश्यक है। प्रत्युत 'व्यच्' धातु से *'विच्य-' बनाना ही सरल, नियमानुकूल है, *'वीच्य-' बनाने में

---

[1] देखिये ग्रासमन्, "वुइर्तर्-बुख् त्सुम् ऋग्वेद" (Woerter-buch zum Rig-Veda, लाइप्सिश, द्वितीय संस्करण, १९३६) में यही दोनों शब्द।

[2] विशेष विवरण नीचे, पृ० ६६ पर। सं० का 'वीचि'–("छल, कपट, लहर, तरङ्ग") शब्द भी सम्भवतः 'वि+अञ्च्' धातु से बना है। देखिये, मॉनियर विलियम्स में 'वीचि' शब्द।

[3] देखिये, ह्विट्ने, "एँ संस्कृत ग्रैमर", §६८२।

[4] देखिये, ह्विट्ने, "एँ संस्कृत ग्रैमर", §१०८७ (f), तथा मॉनियर विलियम्स, "इंग्लिश-सं० डिक्शनरी" में 'व्यच्' धातु।

[5] वास्तव में 'अच्' और 'अञ्च्' एक ही धातु हैं। 'अञ्च्' "प्रबल" रूप है और 'अच्' "निर्बल"। देखिये, नीचे पृ० ६६ तथा मॉनियर विलियम्स में यही दोनों धातुएँ।

[6] देखिये, पिशेल् "ग्रामाटिक् देर् प्राकृत-श्प्राखेन्" §§६२-६५, ७४-७६।

कठिनता है (देखिए पृष्ठ ६४)। और यदि प्रा० 'विञ्च' के मूलभूत संस्कृत शब्द को 'व्यच्' धातु से न बनाकर, 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु से बनाना आवश्यक माना जाय, तो भी *'वीच्य-' की कल्पना करना अनावश्यक है। प्रा० 'विञ्च' का विकास सं० *'वीच-' से भी हो सकता है; क्योंकि संस्कृत के दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन के स्थान पर भी कभी-कभी प्राकृत में ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसंयोग (द्वित्व) हो जाया करता है, जैसे सं० 'नीड-'>प्रा० 'णिड्ड-', सं० 'पूजा-'> प्रा० 'पुज्जा-'।[1] 'विञ्च' के अर्थ "अन्तर, अवकाश" से 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु के अर्थ का सम्बन्ध बनाने के लिए भी *'वीच्य-' की अपेक्षा *'वीच-' ही अधिक उपयुक्त है। सामान्यतया *'वीच्य-' का अर्थ होगा "विस्तार करने योग्य" और* 'वीच-' का "विस्तार"। सारांश यह कि प्रा० 'विञ्च'- के लिए *'विच्य-' ('व्यच्' धातु) अथवा *'वीच-' ('वि+अच्' धातु) की ही कल्पना करना अधिक सरल मार्ग है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि टर्नर की व्युत्पत्ति अब तक दी हुई सब व्युत्पत्तियों से अधिक संगत और भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुकूल है, फिर भी इसे सर्वथा सन्तोष-जनक नहीं कहा जा सकता।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त चारों व्युत्पत्तियों में से कोई भी उपादेय सिद्ध नहीं होती। नीचे की पंक्तियों में एक नई व्युत्पत्ति[3] विद्वानों के विचार के लिए उपस्थित की जाती है। (किन्तु इन पंक्तियों के लेखक को अपनी व्युत्पत्ति की 'मान्यता' के विषय में कोई आग्रह नहीं है। इस प्रकार की व्युत्पत्तियों के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है)।

संस्कृत में 'अच्' अथवा 'अञ्च्' ("जाना, मुड़ना, झुकना") धातु से बने हुए अनेक विशेषण-वाचक शब्द हैं, जिनमें 'अञ्च्' का अर्थ "—की ओर" अथवा "—की ओर आने (या जाने) वाला" होता है। उदाहरण के लिए 'अधराञ्च्-' ('अधर+अञ्च्') "नीचे की ओर" अथवा "नीचे की ओर जाने वाला"; 'अन्वञ्च्-' ('अनु+अञ्च्') "किसी के पीछे जाने वाला, अनुगामी"; 'उदञ्च्'- ('उत्+अञ्च्') "ऊपर (उत्तर) की ओर" अथवा "ऊपर की ओर जाने वाला"; 'न्यञ्च्-' ('नि+अञ्च्') "नीचे की ओर" अथवा "नीचे की ओर जाने वाला"; 'प्राञ्च्-' ('प्र+अञ्च्') "आगे की ओर (पूर्व)" अथवा "आगे की ओर जाने वाला"; 'प्रत्यञ्च्-" ('प्रति+अञ्च्') "विरुद्ध दिशा, पीछे की ओर (पश्चिम)" अथवा "विरुद्ध दिशा की ओर जाने वाला"; 'सम्यञ्च्' ('समि+अञ्च्', 'समि'='सम्')

---

[1] वास्तव में यह परिवर्तन "भ्रम-मूलक" है। बात यह है कि पाली तथा प्राकृत का यह एक सामान्य नियम है कि दीर्घस्वर के बाद केवल एक व्यञ्जन रह सकता है, व्यञ्जनसंयोग नहीं; किन्तु ह्रस्व स्वर के बाद एक व्यञ्जन भी रह सकता है, और व्यञ्जनसंयोग भी। फलतः संस्कृत के दीर्घस्वर+व्यञ्जनसंयोग के स्थान पर ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसंयोग अथवा दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन हो जाता है। संस्कृत का दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन प्राकृत में भी दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन रह सकता है। किन्तु उपर्युक्त नियम की व्यापकता के कारण कभी-कभी इसका "दुरुपयोग" भी हो जाता है—संस्कृत के दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन को प्राकृत में ज्यों का त्यों रखा जा सकने पर भी, ह्रस्वस्वर+दो व्यञ्जन में परिवर्तित कर दिया जाता है।—फिर भी इस "दुरुपयोग" के आधार पर भी सं० *'वीच'-को प्रा० 'विञ्च'-में परिवर्तित करना सम्भव है ही। विशेषतः इसलिये कि अर्थ की दृष्टि से *'वीच'-("विस्तार") अधिक उपयुक्त है।

[2] देखिये, आल्स्डोर्फ़, "अपभ्रंश-ष्टूडिएन", पृ० ७९—"टर्नर की व्युत्पत्ति मुझे मान्य नहीं जँचती। किन्तु मैं इसके स्थान पर कोई अन्य अधिक उचित, व्युत्पत्ति रखने में भी असमर्थ हूँ"।

[3] यह व्युत्पत्ति यद्यपि टर्नर की व्युत्पत्ति से मिलती-जुलती है, और उसके आधार पर किसी को सूझ सकती है, फिर भी मैं इसे "नई" इसलिये कह सका हूँ कि मैंने टर्नर की व्युत्पत्ति देखने से कई मास पूर्व इसे सोचा था और "नोट्" करके पड़ा रहने दिया था। इस लेख के लिये मसाला इकट्ठा करते समय ही मुझे टर्नर की व्युत्पत्ति का पता चला। इसके अतिरिक्त, टर्नर की व्युत्पत्ति और इस व्युत्पत्ति में, ध्वनि-विकास की आंशिक समानता होते हुए भी अर्थ-विकास का विवेचन बिलकुल भिन्न है।

"एक साथ" अथवा "एक साथ जाने वाला"; 'विष्वञ्च्-' ('विषु+अञ्च्') "विभिन्न दिशाओं की ओर, सब ओर" अथवा "विभिन्न दिशाओं में जाने वाला"; 'देवाञ्च्-' ('देव+अञ्च्') "देवताओं की ओर" अथवा "देवताओं की ओर जाने वाला"—इत्यादि।

इन शब्दों की विभिन्न विभक्ति आदिकों में 'अञ्च्' के तीन रूप मिलते हैं—'-अञ्च्', '-अच्' और '-च्'। '-अञ्च्' को "प्रवल" रूप, '-अच्' को "मध्यम" रूप और '-च्' को "निर्वल" रूप कहा जाता है। "प्रवल" और "मध्यम" रूपों में '-अञ्च्' अथवा '-अच्' का '-अ-' अपने पूर्ववर्ती स्वर से सामान्य सन्धि-नियमों के अनुसार मिल जाता है, किन्तु "निर्वल" रूपों में लुप्त हुआ '-अ-' अपने से पूर्ववर्ती 'इ-' 'उ-' को दीर्घ वना जाता है।[1] ऊपर दिये हुए शब्द "प्रवल" रूपों के हैं। "मध्यम" रूपों में यही शब्द 'अवराच्', 'अन्वच्', 'न्यच्', 'प्रत्यच्' आदि वन जाते हैं और "निर्वल" रूपों में 'अवराच्',[2] 'अनूच्', 'नीच्', 'प्रतीच्' आदि।

इन शब्दों में से अधिकांश के पूर्व-पद उपसर्ग ('प्र, परा, नि, प्रति' आदि) हैं, किन्तु कुछ के पूर्वपद विशेषण अथवा संज्ञाएँ भी हैं, जैसे 'अवराञ्च्-' और 'देवाञ्च्-' में। सभी शब्द दिशा-वाचक अथवा आपेक्षिक-स्थिति-वाचक हैं, यह स्पष्ट ही है।

इन विद्यमान 'अञ्च्-' विशेषणों के आधार पर अन्य विशेषण भी कल्पित किये जा सकते हैं। प्रा० 'विच्च' ("मध्य") आपेक्षिक-स्थिति-वाचक शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति के लिए एक नया 'अञ्च्-' विशेषण, 'द्वि+अञ्च्', कल्पित कर लेना शायद असंगत न होगा। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'द्वि+अञ्च्' का "निर्वल" रूप 'द्वीच्-' वनेगा जैसे 'नि+अञ्च्' का 'नीच्-' और 'प्रति+अञ्च्' का 'प्रतीच्-' वनता है। 'द्वीच्-' के 'द्वी-' अंश की तुलना सं० 'द्वीप-' शब्द से की जा सकती है। 'द्वीप-' 'द्वि+अप्' ("जल") से वना है। '-अञ्च्' की तरह '-अप्' के निर्वल रूपों में भी '-अ-' का लोप हो जाता है और उसके पूर्ववर्ती 'इ-', 'उ-' दीर्घ हो जाते हैं, जैसे 'अनूप-' ('अनु+अप्') और 'नीप-' ('नि+अप्') में।[3] इस प्रकार 'नीच-' और 'द्वीप-' शब्दों के आधार पर 'द्वीच-' ('द्वि+अञ्च्+अ') शब्द की कल्पना कर लेने में कुछ भी वाधा नहीं है।

*'द्वीच-' का अर्थ होगा "दोनों ओर जाने वाला, दोनों ओर पहुँचने वाला", अर्थात् "दोनों ओर (दोनों भागों से) सम्वद्ध", अर्थात् "मध्य"। "मध्य" अर्थ से "दो के मध्य में स्थान, दो के वीच का अन्तर" यह अर्थ, और इस अर्थ से "अन्तर, अवकाश" आदि अर्थ सहज ही विकसित हो सकते हैं। (किन्तु, ध्यान देने की वात है कि इसके विपरीत "अन्तर, अवकाश" अर्थों से "मध्य" अर्थ का विकास होना कठिन है। इसका प्रमाण स्वयं 'मध्य' शब्द के अर्थ-विकास का इतिहास है। 'मध्य' के अर्थ वेद-ब्राह्मणादि ग्रन्थों में "वीच में, वीच का, मध्यतम, केन्द्र" हैं। "दो के वीच का अन्तर, अवकाश" अर्थ पहले-पहल महाभारत में मिलता है।[4]) "दो का मध्य" से "अनेक का मध्य, केन्द्र (वीचोंवीच)" वन जाना भी स्वाभाविक ही है।

अर्थों के विषय में *'द्वीच-' की तुलना उपर्युक्त 'अञ्च्-' विशेषण 'विष्वञ्च्-' और उससे सम्वद्ध 'विषुवत्-' शब्द से की जा सकती है। इन दोनों शब्दों के मूल में 'विषु-' शब्द है, जिसका अर्थ है "दोनों ओर, विविध ओर, सब ओर"।[5]

---

[1] देखिये, व्हिट्ने, "संस्कृत ग्रैमर" §§४०७-४१०।

[2] -'अञ्च्' के पूर्व वाला शब्द यदि अकारान्त हो तो "मध्यम" और "निर्वल" रूप एक से बनते हैं।

[3] देखिये, मॉनियर विलियम्स में यही शब्द।

[4] दे० मॉ० वि० में 'मध्य' शब्द।

[5] ग्रासमन् ("वुइर्तरवुख़ त्सुम ऋग्वेद") के अनुसार 'विषु'-शब्द के मूल में 'वि'-उपसर्ग है, और मॉ० वि० के अनुसार 'विषु'-का सम्वन्ध 'विश्व'- ("सब") शब्द से है। किन्तु क्या यह सम्भव नहीं कि 'विषु-' का सम्वन्ध 'द्वि-' (>'वि-') शब्द से हो? मॉ० वि० तो 'वि-' उपसर्ग को भी 'द्वि-' से उद्भूत मानने को तैयार हैं।

फलतः 'विष्वञ्च्-' का अर्थ होता है "दोनों ओर, सब ओर, सर्वत्र" अथवा "दोनों ओर (सब ओर) जाने वाला, सर्वत्र व्याप्त"। इसी प्रकार 'विषुवत्-' शब्द के अर्थ हैं "दोनों ओर तुल्य भाग वाला, दो के मध्य में स्थित, सबके मध्य में स्थित, केन्द्र", जो *'द्वीच-' के उपर्युक्त अर्थों से पूरी-पूरी समानता रखते हैं और उनकी युक्ति-युक्तता सिद्ध करते हैं। 'विषुवद्-रेखा-' "पृथ्वी की मध्यरेखा" और 'विषुवद्-दिन-' "वह दिन जब सूर्य मध्यरेखा पर आता है, और रात तथा दिन बराबर होते हैं" भी ध्यान देने योग्य हैं।

सारांश यह कि अर्थ की दृष्टि से *'द्वीच-' को प्रा० 'विच्च' का पूर्वरूप मानना सभी तरह से संगत और न्याय्य है।

ध्वनि की दृष्टि से भी सं० *'द्वीच-' का प्रा० 'विच्च' में परिवर्तित हो जाना नियमानुकूल है। प्राकृत के अनेक शब्दों में संस्कृत के 'द्वि-' के स्थान पर 'वि-' अथवा 'बि-' और संस्कृत 'द्वा-' के स्थान पर 'वा-' अथवा 'बा-' हो गया है।[1] उदाहरण के लिए सं० 'द्वि-' > प्रा० 'वि' ('बि') "दूसरा"; सं० 'द्विक-' > प्रा० 'विअ-' ('बिअ-') "युग्म, जोड़ा"; सं० 'द्वितीय-' > प्रा० 'विइज्ज-' ('बिइज्ज-') "दूसरा"; सं० 'द्वादश-' > प्रा० 'वारस-' 'बारस-', 'वारह-', 'बारह-'; सं० 'द्वाविंश-' > प्रा० 'वावीस-', 'बावीस-' "बाईस"; सं० 'द्वार-' > प्रा० 'वार-' ('बार-') "द्वार"; सं० 'द्वारका-' > प्रा० 'वारगा-' 'बारगा-' इत्यादि। फलतः सं० *'द्वीच-' का भी प्रा० में *'वीच-' अथवा *'बीच-' बन सकता है। इसके बाद 'नीड' > 'णिड्ड' की तरह (पृ० ६५ तथा टि० १)* 'बीच-' का 'विच्च-' बन जाना भी सर्वथा सम्भव है।

इस प्रकार अर्थ और रूप दोनों दृष्टियों से प्रा० 'विच्च' को सं०* 'द्वीच-' से विकसित माना जा सकता है।

प्रा० 'विच्च' का विकास आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कई रूपों में हुआ है—हिन्दी में 'बीच', 'बिच', पंजाबी में 'विच्च', गुजराती में 'विचे', 'वचे', 'वच्चे', नेपाली में 'बिच' इत्यादि। इनमें से 'विच्च' > 'बीच' तो, प्राकृत का ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसंयोग > हिन्दी आदि में दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन, इस अत्यन्त व्यापक नियम के अनुसार, स्वाभाविक ही है।[2] पंजाबी 'विच्च' भी, पंजाबी भाषा की, प्राकृत के ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसंयोग को अपरिवर्तित रखने की सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल है।[3] इसी प्रकार ब्रज०, अवधी और नेपाली के 'बिच' में पूर्वस्वर को दीर्घ किये बिना एक 'च्-' का लोप भी असाधारण नहीं है।[4] गुजराती 'वच्चे' प्रा० 'विच्चे' (='विच्च' में) का और 'वच' ('वच-मां'="बीच में") 'विच' का परिवर्तित रूप है।

'बीच' और 'में' के अर्थ में ब्रज० में 'बिसे, बिसै, बिसें, बिषे, बिषै, बिखे, बिखै' और गुज० में 'विशे', 'विषे' का भी प्रयोग होता है।[5] इस शब्द का प्रारम्भिक रूप यदि 'बिषै' 'बिषे' है तब तो स्पष्ट ही इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'विषय'

---

[1] पिशेल् §§ ४४३ आदि। प्राकृत में 'व' : 'ब' का विनिमय सुप्रसिद्ध है।

[2] तुलना के लिये, प्रा० 'कम्म' > हि० 'काम', प्रा० 'हत्थ' > हि० 'हाथ', प्रा० 'विस्स' > हि० 'बीस' इत्यादि। इस ध्वनि-परिवर्तन का परिणाम कभी-कभी यह होता है कि प्राकृत से विकसित हिन्दी आदि के शब्द उलट कर फिर उन संस्कृत शब्दों के सरूप हो जाते हैं, जिनसे प्राकृत शब्द विकसित हुए थे, जैसे सं० 'पूजा-' > प्रा० 'पुज्जा' > हि० 'पूजा', सं० 'एक-' > प्रा० 'एँक्क' > हि० 'एक', सं० 'तैल-' > प्रा० 'तिल्ल' > हि० 'तेल', सं० 'नीच-' > प्रा० 'णिच्च' > हि० 'नीच' इत्यादि। इसी प्रकार का परिवर्तन 'बीच' में माना जा सकता है— सं० * 'द्वीच-' > प्रा० *'बीच-' > 'विच्च-' > हि० 'बीच', जो ठीक 'नीच-' > 'णिच्च' > 'नीच' के ही समान है।

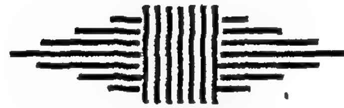
[3] देखिये, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, "इंडो-आर्यन् ऐंड हिन्दी" (अहमदाबाद, १९४२), पृ० ११४,१७०।

[4] देखिये, सु० चाटुर्ज्या, "ऑरिजिन ऐंड डेवलप्मेंट ऑव् द बेंगाली लैंग्वेज" (कलकत्ता, १९२६), पृ० १६०।

[5] किन्तु आश्चर्य है कि यह शब्द न तो "हिन्दी-शब्द-सागर" में और न डा० धीरेन्द्र वर्मा के "व्रजभाषा व्याकरण" (इलाहाबाद, १९३७) में दिया गया है। प्रयोग के उदाहरण के लिये देखिये "सतसई-सप्तक" (श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद, १९३१), पृ० २८८, दोहा १६।

शब्द से है। किन्तु यदि[1] 'विसे', 'विसें' को प्रारम्भिक रूप और 'विशे' 'विषे' 'विषै' को 'विसे' का "पंडिताऊ" रूप तथा 'विखे' 'विखै' को इस "पंडिताऊ" रूप से परिवर्तित माना जाय, तो इस शब्द को भी प्रा० 'विच्च' से सम्बद्ध किया जा सकता है। क्योंकि 'च', 'छ' और 'स', 'श' के विनिमय के अनेक उदाहरण पाली, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मिलते हैं।[2] पाली-प्राकृत में सं० 'च्च' तथा 'च्छ' के स्थान पर 'स' अथवा 'स्स' देखने में आता है, जैसे सं० 'पृच्छति' > प्रा० 'पुंछइ', 'पुंसइ' तथा 'पुसइ'; सं० 'चिकित्सा-' > प्रा० 'चिकिछा-' तथा 'चिकिसा-'; सं० 'उच्च-' > प्रा० 'उस्स' इत्यादि।[3] आधुनिक भाषाओं में बंगाली, मराठी, गुजराती तथा राजस्थानी के अनेक शब्दों में 'च' के स्थान पर 'स' 'त्स' अथवा 'श' का उच्चारण प्रचलित है। उदाहरण के लिए सं० 'चुक्र' > बं० 'शुक्र' (सिरका);[4] सं० 'चोर' > म० 'त्सोर', सं० 'उच्च' > गु० 'उसो', हि० 'चक्की' > राज० 'सक्की' आदि।[5] सिंहली भाषा के तो प्रायः सभी शब्दों में 'च' के स्थान पर 'स' हो गया है—सं० 'चत्वारः' > सिं० 'सतर', सं० 'पञ्च' > सिं० 'पस' इत्यादि।[6] इसी प्रकार के विनिमय ने 'विचे' (="बीच में") को 'विसे' बना दिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। 'विसे' का 'विसें' 'विसै', 'विसैं' आदि बन जाना साधारण बात है।

हैदराबाद]



---

[1] प्रारम्भिक रूप कौन सा है, इसका निर्णय तभी हो सकता है, जब इस शब्द के प्रयोग के समस्त उदाहरण प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों से संगृहीत किये जायें और उनकी विवेचना की जाय। इस सामग्री की अलभ्यता होते हुए प्रारम्भिक रूप का निर्णय करना मेरे वश के बाहर की बात है।

[2] विस्तृत विवेचना के लिए देखिये, सु० चाटुर्ज्या "बेंगाली.." पृ० ४६६-६७, पिशेल्, 'ग्रामा० प्रा० श्प्रा०" § ३२७ आदि।

[3] सु० चाटुर्ज्या, "बेंगाली-..", पृ० ४६६।

[4] सु० चाटुर्ज्या, "बेंगाली..", पृ० ५५१।

[5] दे० ग्रियर्सन का लेख, "जर्नल ऑव् द रॉयल एशियाटिक् सोसाइटी", १९१३, पृ० ३९१—।

[6] दे० गाइगर, "लितरातूर उंद् श्प्राखे देर् सिंहालेजन" श्ट्रासबुर्ग् (Literatur und Sprache der Singhalesen, Strassburg), १९००, §§ १४ (६), २३ (१)।

अश्वों के कुछ विशिष्ट नाम

(ई० पूर्व के १००० से १२०० तक)

श्री पी० के० गोडे एम्० ए०

हेमचन्द्र (१०८८ से ११७२) ने अपने अभिधानचिन्तामणि शब्द-कोश में वर्णानुसार अश्वों के निम्नलिखित नामों का उल्लेख किया है—

क्रम	नाम	वर्ण	हेमचन्द्र की व्याख्या
१.	कर्क:	सित	करोति प्रमोदं कर्क: "कृगो वा" (उणा–२३) इति क: (अमरकोष में 'कर्क' का उल्लेख श्वेत अश्व के लिए आया है—"सित: कर्क:")
२.	कोकाह: (ज[1]–१)	,,	कोकवत् आहन्ति भुवं कोकाह:
३.	खोङ्गाह: (ज–२)	श्वेतपिङ्गल	खमुद्गाहते खोङ्गाह:, पृषोदरादित्वात्, श्वेतश्चासौ पिङ्गलश्च श्वेतपिङ्गल:
४.	सेराह: (ज–६) (स[2]–५)	पीयूषवर्ण	पीयूषं अमृतं दुग्धं वा तद्वद्वर्णोऽस्य पीयूषवर्ण: तत्र सीरवदाहन्ति भुवं सेराह:
५.	हरियाः (ज–३)	पीत	हरिं वर्णं याति हरिय:
६.	खुङ्गाह: (ज–२)	कृष्णवर्ण	खुरैर्गाहते खुङ्गाह:
७.	क्रियाह:	लोहित	क्रियां न जहाति
८.	आनील: (ज–८) (स–७)	नीलक	नील एव नीलक:
९.	त्रियूह: (ज–९)	कपिल	त्रीन् यूथानि त्रियूह:
१०.	वोल्लाह: (ज–२१)	कपिल और पाण्डु केशर वालधि	अयं त्रियूह: एव व्योम्नि उल्लङ्घते वोल्लाह:
११.	उराह: (ज–१४) (स–१३)	मनाक् पाण्डु और कृष्णजंघ	उरसा आहन्ति उराह:

[1] ज—जयदत्त।   [2] स—सोमेश्वर।

क्रम	नाम	वर्ण	हेमचन्द्र की व्याख्या
१२.	सूरूहकः (देखिये सरुराहक) (ज–२१)	गर्दभाम	सुखेन रोहति सुरूहकः
१३.	वोरुखान (ज–१५)	पाटल	वैरिणः खनति वोरुखानः
१४.	कुलाहः (ज–१३)	मनाक्पीतः कृष्णः स्यात् यदि जानुनि	कुलम् आजिहीते कुलाहः
१५.	उकनाहः (ज–१६)	पीतरक्तच्छायः और कृष्णरक्तच्छायः	उच्चै नह्यते उकनाहः। सण्व उकनाहः। कृष्णरक्तच्छायः सन् क्वचिदुच्यते।
१६.	शोणः	कोकनदच्छविः	शोणः शोणवर्णः
१७.	हरिकः (ज–३)	पीतहरितच्छायः	हरिरेव हरिकः
१८.	हालकः	,,	हलति क्ष्मां हालकः
१९.	पङ्गुलः देखिये पिङ्गल (स–२०)	सितकाचाभः	पङ्गून् लाति पङ्गुलः
२०.	हलाहः (ज–११) (स–१८)	चित्रितः	चित्रितो कर्बूरवर्णो हलवदाहन्ति हलाहः

हेमचन्द्र ने विभिन्न घोड़ों की उक्त सूची (भूमिकाण्ड, छन्द ३०३ से ३०९) को निम्नलिखित टिप्पणी देकर पूर्ण कर दिया है—

"खोङ्गाहादयः शब्दा देशीप्रायाः। व्युत्पत्तिस्त्वेषां वर्णानुपूर्वी निश्चयार्थम्" (खोङ्गाह तथा दूसरे नाम प्रायः देशी हैं। निश्चय अर्थ में उनकी व्युत्पत्ति घोड़ों के विभिन्न वर्णों के आधार पर की गई है।) हेमचन्द्र के इस कथन से कि विभिन्न वर्णों के अश्वों के ये नाम 'देशीप्रायाः' हैं, पता चलता है कि हेमचन्द्र विश्वस्त नहीं थे कि ये निश्चित रूप से देशी शब्द ही हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि इन नामों का प्रचलन हेमचन्द्र के समय अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी में था। अब हम देखें कि ये नाम या इनमें से कुछ हेमचन्द्र के समय में अथवा उसके निकटवर्ती वर्षों में रचे गये अन्य संस्कृत ग्रन्थों में मिलते हैं या नहीं। वस्तुतः चालुक्य वंशी राजा सोमेश्वर द्वारा सन् ११३० ई० के लगभग (जबकि हेमचन्द्र क़रीब ४२ वर्ष के थे) रचित 'मानसोल्लास'[1] (अथवा 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि') नामक विश्वकोश के पोलो-अध्याय में, जिसे 'वाजिवाह्यालीविनोद' कहा गया है, हमें कुछ नामों का उल्लेख मिलता है। इस अध्याय में अधिकारी अफ़सर द्वारा लाये गये अनेक प्रकार के घोड़ों, उनकी नस्लों और वर्णों की परीक्षा करने के लिए राजा को परामर्श दिये गये हैं। राजा को घोड़ों की नस्ल का निर्णय जिन देशों से वे आये थे, उनके आधार पर करना था। विभिन्न देशों के नाम, जिनमें घोड़ों की उत्पत्ति हुई थी, सोमेश्वर ने दिये हैं। उन्होंने घोड़ों के शरीर के विशिष्ट चिह्नों का भी उल्लेख किया है और वर्णों तथा जाति के आधार पर, जो कि संख्या में चार हैं, वर्गीकरण किया है। उन्होंने

---

[1] गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज बड़ोदा में प्रकाशित, भाग २ (१९३९) पृ० २११—तथा भूमिका, पृ० ३४।

विभिन्न प्रकार के घोड़ों की विशेषताओं पर भी, जिनमें घोड़ों के शरीर की गठन भी सम्मिलित है, प्रकाश डाला है। यहाँ उन्होंने 'पंचकल्याण' तथा 'अष्टमङ्गल' घोड़ों का उल्लेख किया है। तदनन्तर घोड़ों की गति—अधिक, मध्यम और धीमी—का विभाजन किया है। दोषपूर्ण घोड़ों के चिह्न भी उन्होंने दिये हैं। घोड़ों को सजा देने तथा शिक्षण योग्य बनाने के तरीक़ों को भी बताया है। शिक्षण पूर्ण हो जाने पर ये घोड़े राजा के काम आते थे। सर्वोत्तम अश्वों को सर्वोत्तम ज़ीन तथा आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था और राजा उन पर सवारी करते थे।

वर्णों के आधार पर घोड़ों के नाम देने के पूर्व सोमेश्वर लिखते हैं—

"श्वेतः कृष्णोऽरुणः पीतः शुद्धाश्चत्वार एव हि।
मिश्रास्त्वनेकवा वर्णास्तेषां भेदः प्रवक्ष्यते ॥८२॥"

(अर्थात् सफ़ेद, काले, लाल और पीले, ये ही चार विशुद्ध वर्ण हैं। उनके मिश्रण तो अनेक हैं। उनके भेदों को आगे बताया जायगा)।

विभिन्न वर्णों तथा जातियों के घोड़ों के सोमेश्वर द्वारा उल्लिखित नामों का नीचे दी हुई तालिका पर एक निगाह में ही आभास हो जायगा—

नं०	नाम	वर्ण	जाति	विवरण
१	कक (र्क) (ह–१)	श्वेत	विप्र	केशा वालाश्च रोमाणि वर्म चैव खुरास्तथा। श्वेतैरेतैर्भवेदश्वः कका(र्का)ह्वो विप्रजातिजः ॥८३॥
२	कत्तल	शुक्ल या श्वेत	,,	पूर्ववत्सर्वशुक्लाङ्गस्त्वचा कृष्णो भवेद्यदि। वर्णनाम्ना स विज्ञेयः कत्तलोऽयं तुरङ्गमः ॥८४॥
३	काल	कृष्ण	शूद्र	लोमभिः केशवालैश्च त्वचा कृष्णः खुरैरपि। काल इत्युच्यते वाजी शूद्रः शौर्याधिकस्तथा ॥८५॥
४	कपाह (कवाह) (ह–७)	रोहित	क्षत्रजाति	केशप्रभृति वालान्तः सर्वाङ्गे रोहितो यदि। कयाह इति विख्यातः क्षत्रजाति तुरङ्गमः ॥८६॥
५	सेराह (ह–४)	काञ्चनाभ	वैश्य	केशैस्तनुरुहैर्वालैः काञ्चनाभैस्तुरङ्गमः। सेराह इति विख्यातः वैश्यजाति समुद्भवः ॥८७॥
६	चोर	सित+लोहित	,,	सितलोहित रोमाणि सर्वाङ्गे मिश्रितानि च। मुखाङ्घ्रि वालकेशेपु लोहितश्चोर उच्यते ॥८८॥
७	नील (ह–८)	सितकृष्ण	,,	केशवालाङ्घ्रितुण्डे च मेचको रुरुसन्निभः। नील इत्युच्यते वाजी सितकृष्णे तनूरुहे ॥८९॥
८	क या(पा)ह	कृष्ण इत्यादि	,,	पाटलीपुष्पसंका(शो)शानलकेपु सितेतरः। कृष्णग्रन्थिकया(पा)होऽश्वः सङ्ग्रामे विजयप्रदः ॥९०॥
९	मोह	मधूक वल्कल	,,	मधूकवल्कलच्छायो मोह इत्युच्यते हयः।
१०	जम्ब	पक्वजम्बूफल	,,	पक्वजम्बूफलच्छायो जम्ब इत्यभिधीयते ॥९१॥
११	हरित (ह–५) (ह–१७)	पीत+लोहित	,,	केशवालेपु पीतश्च लोहितो हरितो मतः।
१२	सप्त(प्ति)रुन्दीर	उन्दुरवर्ण	,,	उन्दुरेण समच्छायः सप्त(प्ति)रुन्दीर उच्यते ॥९२॥
१३	उराह (ह–११)	मेचक+पीत+लोहित	,,	केशकेसर पुच्छे च जानुनोऽवश्च मेचकः। सर्वाङ्गलोहितैः पीतैरुराहः कथ्यते हयः ॥९३॥

नं०	नाम	वर्ण	जाति	विवरण
१४	गण्ठि(मण्ठ)वर्ण	शोण इत्यादि	वैश्य	शेप(शोण)स्तेष्वेव देशेषु सर्वाङ्गे किञ्चिदुज्वलः। रक्तरेखाङ्कितः पृष्ठे **गण्ठि(मण्ठ)**वर्णस्तुरङ्गमः ॥९४॥
१५	पञ्चकल्याण	पाण्डुर	,,	येनकेनापि वर्णेन मुखे पुच्छे च(पादेपु)पाण्डुरः। **पञ्चकल्याण** नामायं भाषितः सोमभूभुजा ॥९५॥
१६	अष्टमण्ठा(ङ्ग)ल	पाण्डुर	,,	केशेषु वदने पुच्छे वंशे पादे च पाण्डुरः। **अष्ट मण्ठा(ङ्ग)ल** नामा च सर्ववर्णेषु शस्यते ॥९६॥
१७	धौतपाद	श्वेत इत्यादि	,,	श्वेतः सर्वेषु पादेषु पादयोर्वापि यो भवेत्। **धौतपादः** स विज्ञेयः प्रशस्तो मुखपुण्ड्रकः ॥९७॥
१८	हलाह (ह–२०)	श्वेत इत्यादि	,,	विशालैः पट्टकैः श्वेतैः स्थाने स्थाने विराजितः। येन केनापि वर्णेन **हलाह** इति कथ्यते ॥९८॥
१९	तरंज	चित्रित	,,	चित्रितः पार्श्वदेशे च श्वेतविन्दुकदम्बकैः। यो वा को वा भवेद्वर्णस्तरञ्जः कथ्यते हयः ॥९९॥
२०	पिङ्गल	सित+कृष्ण इत्यादि	,,	सितस्य विन्दवः कृष्णाः स्थूलाः सूक्ष्माः समन्ततः। दृश्यन्ते वाजिनो यस्य **पिङ्गलः** स निगद्यते ॥१००॥
२१	वहुलया मलिन	श्वेत+श्यामल	,,	श्वेतस्य सर्वगात्रेषु श्यामला मण्डला यदि। एके तं वहुलं प्राहुरपरे मलिनं वुधाः ॥१०१॥

सोमेश्वर की उक्त सूची की हेमचन्द्र की सूची से तुलना करने पर हमें पता चलता है कि निम्नलिखित नाम दोनों सूचियों में हैं—

(१) कर्क (२) सेराह (३) नील या नीलक (४) उराह (५) हलाह और संभवतः (६) पिङ्गल या पङ्गुल।

यह केवल संयोग की वात नही है। यद्यपि सोमेश्वर दक्षिण में राज्य करते थे और हेमचन्द्र गुजरात में रहते थे तथापि इन दोनों प्रान्तों में निरन्तर पारस्परिक सम्पर्क रहता था। हेमचन्द्र के आश्रयदाता महाराज कुमारपाल ने दो वार कोंकन पर आक्रमण किया और शिलाहार वंश का राजा मल्लिकार्जुन इन आक्रमणों[1] में से एक में मारा गया। यह वहुत सम्भव है कि दक्षिण की कुछ अश्वविद्या गुजरात पहुँची होगी और गुजरात की दक्षिण में; क्योंकि निरन्तर युद्ध में रत राजाओं के लिए अश्वविद्या का वड़ा मूल्य था।

सोमेश्वर और हेमचन्द्र ने जिन नामों का ग्यारहवीं शताव्दी में उल्लेख किया है, उनमें से कुछ विजयदत्त के पुत्र महासामन्त जयदत्त के द्वारा घोड़ों के विषय में लिखे 'अश्ववैद्यक'[2] नामक निवन्ध में भी पाये जाते हैं। निवन्ध के अन्त में कुछ मादक द्रव्यों के नाम भी आते हैं और सम्पादक का कथन है कि उनका जयदत्त ने उल्लेख किया है। उन नामों में मुझे पृष्ठ ३ पर 'अहिफेन' या 'अफ़ीम' का नाम मिलता है। यदि यह कथन सही है तो मुझे कहना पड़ता है कि यह निवन्ध मुसलमानों के भारत में आगमन के पश्चात् लिखा गया है; क्योंकि आठवी शताव्दी में मुसलमानों

---

[1] एस० चित्राव शास्त्री (पूना) रचित 'मध्ययुगीनचरित्रकोश' १९३७, पृ० २४०। प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य (सर्ग ६) के ४१ से ७० तक छंद देखिये, जिनमें कुमारपाल के कोंकण पर कूच का वर्णन है।

[2] सम्पादक उमेशचन्द्र गुप्त, विव० इंडिका, कलकत्ता, १८८६। तीसरे अध्याय के ९८-११० छन्दों में वर्णों के अनुसार घोड़ों की क़िस्मों का वर्णन है। (पृष्ठ ३८-४३)।

के आने[1] के पूर्व भारतीय साहित्य में कहीं भी 'अफ़ीम' का नाम नहीं था। सम्भवतः यह निबन्ध सन् ८०० और १२०० के बीच लिखा गया था। नकुल द्वारा रचित 'अश्वचिकित्सितं' नामक अश्व-सम्बन्धी निबन्ध में, जिसका सम्पादन सन् १८८७ में विब्लिओथिका इंडिका में उल्लिखित जयदत्त के ग्रन्थ के सम्पादक ने किया था, हेमचन्द्र, सोमेश्वर और जयदत्त द्वारा बताये गये घोड़ों के नाम नहीं आते। फिर भी नकुल के ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में वर्णों के आधार पर घोड़ों का उल्लेख है; पर उनके नाम भिन्न हैं। वे नाम संस्कृत में हैं, 'देशी प्रायाः' नहीं हैं, जैसा कि हेमचन्द्र ने लिखा है। नीचे की तालिका में मैं सविस्तर वर्णों के हिसाब से घोड़ों के कुछ विशेष नाम देता हूँ, जिनका उल्लेख जयदत्त ने अपने 'अश्ववैद्यक' में किया है—

नं०	नाम	वर्ण	विवरण
१	कोकाहः (ह–२)	श्वेत	श्वेतः कोकाह इत्युक्तः
२	खुङ्गाहः (पिङ्गाह) (ह–३)	कृष्ण	कृष्णः खुङ्गाह उच्यते
३	हरितः (ह–५–१७)	पीतक	पीतको हरितः प्रोक्तः
४	कषायः	रक्तक	कषायो रक्तकः स्मृतः
५	कयाहः (स–८)	पक्वतालनिभ	पक्वतालनिभो वाजी कयाहः परिकीर्तितः।
६	सेराहः (ह-४) (स-५)	पीयूषवर्ण	पीयूषवर्णः सेराहः
७	सुरूहकः (ह–१२)	गर्दभाभ	गर्दभाभः सुरूहकः
८	नील (ह-८) (स-७)	नीलक	नीलो नीलक श्यावाश्वः
९	त्रियूहः (ह–९)	कपिल	त्रियूहः कपिलः स्मृतः
१०	खिलाहः (शिलह)	कपिल	खिलाहः कपिलो वाजी पाण्डुकेशरवालधिः।
११	हलाहः (ह-२०)(स-१८)	चित्रल	हलाहः चित्रलश्चैव
१२	खङ्गाह (खेङ्गाह)	श्वेतपीतक	खङ्गाहः श्वेतपीतकः
१३	कुलाहः (ह–१४)	ईषत्पीत	ईषत्पीतः कुलाहस्तुयोभवेत्कृष्णजानुकः
१४	उराहः (उरूहः) (ह-११) (स-१३)	कृष्ण—पाण्डु इत्यादि	कृष्णाचास्ये भवेल्लेखा पृष्ठवंशानुगामिनी। उराहः कृष्णजानुस्तु मनाक्पाण्डु स्तु यो भवेत् ॥१०४॥
१५	वेरुहानः (वीरुहण) (ह–१३)	पाटल	वेरुहानः स्मृतो वाजी पाटलो यः प्रकीर्तितः। रक्तपीतकषायोत्थवर्णजो यश्च दृश्यते ॥१०५॥
१६	उकनाहः (दुकूलाहः) (ह–१५)	देहज वर्ण	उकनाहः स विख्यातो वर्णो वाहस्य देहजः।
१७	कोकुराहः	मुखपुण्ड्रक के साथ	कोकाहः पुण्ड्रकेणाश्वः कोकुराहः प्रकीर्तितः
१८	खरराहः	,,	खरराहश्च खङ्गाहो (पुण्ड्रकेण)
१९	हरिरोहकः	,,	हरिको हरिरोहकः (पुण्ड्रकेण)

---

[1] हेमचन्द्र के आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज (ई० १०९३-११४३) की राजधानी अणहिलपुर में अल इद्रिसी नामक भूगोल-विशेषज्ञ गया था। वह लिखता है—"शहर में बहुत से मुसलमान-व्यापारी हैं, जो यहाँ व्यापार करते हैं। राजा उनका खूब सत्कार करता है।". (देखिये आर० सी० पारीख कृत काव्यानुसार की भूमिका, पृष्ठ १९४, बम्बई, १९३८, । ह—हेमचन्द्र। स—सोमेश्वर।

नं०	नाम	वर्ण	विवरण
२०	सुराहः	मुखपुण्ड्रक के साथ	कुलाहः. . . .सुराहः (पुण्ड्रकेण)
२१	सुरुराहकः	,,	वोल्लाहः. . . .सरुराहकः (पुण्ड्रकेण)
	सुरूहक (ह–१२)		(ह–१०)
२२	वोरुराह	,,	वीरुराहः. . . .वोरुराहः (पुण्ड्रकेण)
२३	दुरूराहः	,,	दुकुलाह. . . .दुरूराहः (पुण्ड्रकेण)
२४	त्रियुराहः	चित्रलाङ्ग	त्रियूहः त्रियुराहश्च चित्रलाङ्गश्च यो भवेत्।

मैंने जयदत्त के 'अश्ववैद्यक' में से घोड़ों की नामावली की तालिका जितनी अच्छी तरह से उसे समझकर वना सकता था, वना दी है। यह नामावली उस नामावली से भिन्न है, जो शालिहोत्र ने घोड़ों-सम्बन्धी अपने निवन्ध में दी है और जिसका वार-वार जयदत्त ने उल्लेख किया है। जयदत्त के समय में प्राचीन परिभाषा ग़लत सावित हो चुकी थी और इसी कारण जयदत्त ने अपने समय में प्रचलित नामावली को ही लिया; क्योंकि इस प्रकार के उल्लेख की व्यावहारिक उपयोगिता थी। जयदत्त ने निम्निलिखित छन्दों में अपने इस ध्येय को व्यक्त किया है—

"चक्रवाकादिभिर्वर्णैः शालिहोत्रादिभिः स्मृतैः।
पाटलाद्यैश्च लोकस्य व्यवहारो न साम्प्रतम्॥६८॥
तस्मात्प्रसिद्धकान्वर्णान् वाजिनां देहसम्भवान्।
समासेन यथायोग्यं कथयाम्यनुपूर्वशः॥६६॥

घोड़ों के वर्णों के आधार पर उनके नामों की तीनों सूचियों से पता चलता है कि जयदत्त और सोमेश्वर (११३०) की सूचियाँ हेमचन्द्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण हैं। इन तीनों सूचियों में वहुत से नाम समान होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्यारहवी और वारहवीं शताव्दी में अश्व-विद्या का खूव प्रचलन था। इस अश्व-विद्या का निश्चित रूप से विदेशी अश्व-व्यापार से भी सम्वन्ध था, जो लगभग ८०० ई० पू० के वाद भारतीय वन्दरगाहों के साथ चल रहा था; जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है।[1] हेमचन्द्र कहते है कि यह नामावली 'देशिप्रायाः' है। मेरा यह विश्वास है कि इन नामों में से कुछ फ़ारसी है और कुछ अरवी, और वे फ़ारसी, अरवी, तुर्की तथा अन्य घोड़ों की नस्लों के भारत में आने के साथ आये, जैसा कि विस्तार से मार्को पोलो ने अपने यात्रा-विवरणों (१२६८ ई०) में लिखा है। घोड़ों के विदेशी आयात के सम्वन्ध में मार्को पोलो के विवरण की पुष्टि डा० एस० के० ऐयंगर के निम्नलिखित विवरण से हो जाती है, जो उन्होंने 'कायल' नामक मलावार के वन्दरगाह में १६०० ई० के लगभग प्रचलित अश्व-व्यापार के वारे में तैयार किया था—

दक्षिण में मनार की खाड़ी में तमरपर्णी के मुहाने पर कायल नामक एक वहुत ही सुरक्षित वन्दरगाह था, जो सुप्रसिद्ध 'कोरकोइ' (जिसे यूनानी भूगोल-लेखकों ने 'कोलखोइ' कहा है) से दूर न था। १२६० ई० के लगभग कायल एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था और वहाँ पर 'किश' के एक अरवी सरदार मलिकुलइस्लाम जमालुद्दीन ने, जो वाद में 'फ़ार्स' का फ़ार्मर जनरल हो गया था, एक एजेन्सी क़ायम की थी। 'वसफ़' के कथनानुसार इस समय लगभग दस हज़ार घोड़े कायल और भारत के अन्य वन्दरगाहों में व्यापार के लिए वाहर से लाये गये थे, जिनमें १४०० घोड़े स्वयं जमालुद्दीन के घोड़ों की नस्ल के थे। हर एक घोड़े का औसत मूल्य चमकते हुए सोने के वने हुए २२० दीनार था। उन घोड़ों का मूल्य भी जो रास्ते में मर गये थे पांडय राजा को, जिसके लिए वे लाये गये थे, देना पड़ा था। मालूम होता है, जमालुद्दीन का एजेन्ट फ़क़ीरुद्दीन अब्दुर्रहमान मुहम्मदुतटयैवी का वेटा, जिसे मरजवान (मारग्रेव) के नाम से भी पुकारा

[1] भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट की पत्रिका, भाग २६, पृ० ८६-१०५

गया है, जमालुद्दीन का भाई था ।-इस एजेन्ट का हेडक्वार्टर कायल में था और 'फ़ितान' और मालीफ़ितान के अन्य वन्दरगाहों पर भी उसका नियन्त्रण था । इस वृत्तान्त से पता चलता है कि वह इस भू-प्रदेश में अरववासियों के भारत में आयात-व्यापार का एजेन्ट-जनरल था । इस आधार पर यह निश्चित है कि इस प्रदेश का व्यापार उस समय वहुत वढ़ा-चढ़ा था । वसफ़ के शब्दों में मलावार लम्वाई में कुलम से नीलपर (नीलौर) तक लगभग तीन-सौ परसंग समुद्र के किनारे-किनारे फैला हुआ है और उस देश की भाषा में राजा 'देवर' कहलाता है, जिसका अर्थ है राज्य का मालिक । 'चिन' और 'मचिन' की विशिष्ट चीज़ें तथा हिन्द और सिन्ध की पैदावार से लदे हुए पर्वताकार जहाज़ (जिन्हें वे 'जंक' कहते थे) वहाँ पानी की सतह पर इस प्रकार चले आते थे मानों उनके हवा के पंख लगे हों । खास तौर पर फ़ारस की खाड़ी के टापुओं की सम्पत्ति और ईराक़ और खुरासान तथा रूम और योरुप के वहुत-से भागों की सौन्दर्यपूर्ण तथा सजावट की चीज़ें 'मलावार' को ही पहुँचती हैं । मलावार की स्थिति ऐसी है कि उसे 'हिन्द की कुंजी' कह सकते हैं ।[1]

उपर्युक्त १२९० ई० के भारत के विदेशी व्यापार और विशेषकर अश्व-व्यापार के विशद वर्णन से वर्णानुसार, जैसा हेमचन्द्र, सोमेश्वर और जयदत्त ने उल्लेख किया है, घोड़ों के नामों की उत्पत्ति स्पष्ट हो जायगी । यह वात ध्यान-पूर्वक और दिलचस्पी के साथ देखने की है कि उन १०,००० घोड़ों में से, जो कायल में वाहर से लाये गये थे, १४०० घोड़े जमालुद्दीन के खुद के घोड़ों की नस्ल के थे । इस सम्वन्ध में मुझे यह कहना पड़ता है कि 'वोरुखान' घोड़े का नाम, जिसका उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है, 'वोरुखान' अश्वपालक के नाम पर ही रक्खा गया होगा । यदि वह अनुमान सत्य है तो हेमचन्द्र के "वैरिणः खनति वोरुखानः" नाम की व्याख्या उसकी अन्य घोड़ों के नाम की व्याख्या की तरह दिखावटी तथा काल्पनिक हो सकती है । हेमचन्द्र ने 'वोरुखान' घोड़े का पाटल वर्ण वतलाया है । जयदत्त ने 'वेरुहान' या 'वीरुहण' घोड़े का पाटल रंग वतलाया है । मेरे विचार से 'वोरुखान' और 'वेरुहान' दोनों शब्द एक ही हैं । वे इस नाम के किसी अरवी अश्वपालक की ओर ही संकेत करते हैं, जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ ।

प्रस्तुत लेख में तीन अलग-अलग संस्कृत के समकालीन आधारों पर अश्वनामावली तैयार करने में मुझे कुछ सफलता मिली है ।[2] इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले विद्वानों से मेरा अनुरोध है कि वे इतर-संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर इस वारे में प्रकाश डालने की कृपा करें । सम्भवतः इतर-संस्कृत ग्रन्थों में, झेनोफ़ोन का ग्रीक निवन्ध तथा शालिहोत्र, जयदत्त एवं नकुल के संस्कृत निवन्ध भी इस विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं ।

पूना]



[1] इलियट, ३, ३२; एस० के० ऐयंगर, 'साउथ इंडिया ऐंड हर मुहैमेडन इनवेंडर्स', आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२१, पृ० ७०-७१

[2] हेमचन्द्र की सूची में प्रयुक्त वीस नामों में से पन्द्रह जयदत्त की सूची में पाये जाते हैं । इस प्रकार के संयोग से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालक्रम के अनुसार हेमचन्द्र और जयदत्त एक दूसरे से वहुत दूर नहीं हैं, विशेषकर जव हमें इस वात का स्मरण होता है कि हेमचन्द्र ने इन नामों का उल्लेख अपने समय के प्रचलित नामों के आधार पर ही किया है । दूसरे, जयदत्त ने स्पष्ट लिखा है कि उसने केवल अपने समय के पहले के प्रचलित नामों को ही लिया है, क्योंकि शालिहोत्र तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखी गई अश्वनामावलियों में आये हुए नामों का प्रयोग उसके समय में वन्द हो गया था ।

संस्कृत व्याकरण में लकार-वाची संज्ञाएँ

श्री क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय शास्त्री, एम० ए०

पाणिनि में जो लकारवाची संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं, उनके सम्बन्ध में यह नहीं जान पड़ता कि क्यों 'लट्' आदि नामों से वर्तमान आदि कालों का ही ग्रहण किया जाय ? इस समय संस्कृत व्याकरण में काल—(भूत, भविष्य, वर्तमान) और भावों—(आज्ञा, आशीर्वाद, क्रियातिपत्ति आदि) का भेद नहीं पाया जाता। परन्तु पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरणों में सम्भवतः इस प्रकार का भेद विद्यमान था और दस लकार स्पष्टतः दो भागों में विभक्त थे, एक काल का बोध कराने वाले, जैसे वर्तमान, परोक्ष आदि और दूसरे आज्ञा आदि भाव-वाची। कातन्त्र व्याकरण में, जो अभी तक सुरक्षित है, कुछ पहली संज्ञाएँ बच गई हैं। 'काले' (३।१।१०) और 'तासाम् स्वसंज्ञाभिः कालविशेषः।' 'प्रयोगतश्च' (३।१ १५–१६), इन सूत्रों के अधिकार में यह कहा गया है कि काल विशेष की वाचक अपनी-अपनी संज्ञाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए। सम्भवतः 'काल' शब्द के 'ल' को अलग करके उसी के आधार पर स्वरों के क्रम से 'ट' और 'ङ्' की 'इत्' संज्ञा जोड़ कर पाणिनि ने लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्, इन संज्ञाओं की रचना की। आशीर्वादात्मक भाव के लिए कोई विशेष संज्ञा न बनाकर पाणिनि ने केवल 'लिङाशिषि' नियम से ही काम चलाया है। यह भी विदित होगा कि प्रधान लकारों के नामों में 'ट्' अक्षर का प्रयोग किया गया है और गौण प्रत्ययों के लिए 'ङ्' का। जहाँ 'ट्' की 'इत्' संज्ञा है, उसका तात्पर्य यह है कि आगम उससे पहले रक्खा जायगा। इसी तरह से 'ङ्' की 'इत्' संज्ञा यह बताती है कि आदेश अन्तिम अक्षर के स्थान में होता है। इस दृष्टि से यह उपयुक्त ही है कि प्रधान प्रत्ययों के नाम-वाची लकारों के लिए 'ट्' अनुबन्ध का प्रयोग किया गया और 'ङ्' अनुबन्ध अप्रधान या गौण प्रत्ययों वाले लकारों के लिए प्रयुक्त हुआ।

सबसे पहले पाणिनि ने भूत, भविष्यत्, वर्तमान-वाची संज्ञाओं का नामकरण किया और उन्हें लट्, लिट्, लुट् कहा। इन संज्ञाओं में अ, इ, उ, इन तीन स्वरों की सहायता ली गई है। उसके बाद लृट् आता है, जो कि सामान्य भविष्य काल की संज्ञा है। 'लृट्' संज्ञा 'लुट्' के बाद इसलिए रक्खी गई है, क्योंकि उसमें 'स्य' इतना अधिक जोड़ा जाता है। इसके बाद पाणिनि ने ए और ओ, इन दो सन्ध्यक्षरों का प्रयोग करके 'लेट्' और 'लोट्' संज्ञाएँ बनाईं, जिनसे क्रियातिपत्ति और आज्ञा इन दो भावों का बोध होता है। क्योंकि 'लेट्' लकार में बहुत करके 'ति', 'तस्' आदि प्रत्यय यथावत् बने रहते हैं, इसलिए इस लकार को 'लोट्' से पहले रक्खा गया है, जिसमें कि प्रत्ययों में प्रायः विकार हो जाता है। ङ्कारान्त लकारों में लङ् और लिङ् उसी प्रकार एक दूसरे से आगे-पीछे रक्खे गये हैं, जैसे लुट् और लोट एक दूसरे से। लङ् (अनद्यतन भूत) के बाद आचार्य को लुङ् (सामान्य भूत) कहना चाहिए था; लेकिन पाणिनि ने अब की क्रम बदल कर काल और भाव-वाची संज्ञाओं को एक दूसरे के बाद बारी-बारी से रक्खा है। इसी कारण लङ् के बाद लिङ्, फिर लुङ् और उसके बाद लृङ् रक्खा गया है। चूँकि लृङ् लकार के रूपों में लङ् और लृट्, इन दोनों का मेल देखा जाता है, इसलिए सूत्रकार ने लृङ् को सबके अन्त में रक्खा है।

पाणिनि का सूत्र है—'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३), अर्थात् वर्तमान काल में लट् लकार का प्रयोग होता है। इसी की अनुकृति करके कातन्त्र व्याकरण ने लट् के लिए 'वर्तमाना' संज्ञा का प्रयोग किया है। कात्यायन के वार्तिक से (३।३।२११) ज्ञात होता है कि वर्तमान काल के लिए पूर्वाचार्यों के अनुसार 'भवन्ती' संज्ञा थी। उससे भी पहले की संज्ञा 'कुर्वत्' या 'कुर्वती' जान पड़ती है, क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में कुर्वत्, करिष्यत् और कृतम् ये वर्तमान, भविष्य और भूतकाल की संज्ञाएँ हैं। बाद के शांखायन आरण्यक में 'कृ' के स्थान पर 'भू' धातु को अपनाकर तीन कालों के लिए भवत्, भविष्यत् और भूतम्, ये संज्ञाएँ स्वीकृत हुईं। बोपदेव के व्याकरण में 'भवत्', 'भूत' और 'भव्य' संज्ञाओं

का प्रयोग हुआ है, जो प्राचीन परम्परा के अधिक निकट हैं। शाकटायन के व्याकरण में 'भवत्' के स्थान पर 'सत्' और 'भविष्यत्' के लिए 'वर्त्स्यत्' प्रयुक्त हुए हैं।

कातन्त्र में 'लिट्' के लिए 'परोक्षा' संज्ञा है, जो पाणिनि के सूत्र 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से मिलती है। परोक्षा संज्ञा चतुरध्यायिका ग्रन्थ में, जो अथर्ववेद का, प्रातिशाख्य है और कात्यायन के वार्तिकों में भी मिलती है (भाष्य १।२।१८ पर श्लोक वार्तिक)।

'लुट्' (अनद्यतन भविष्य) के लिए कातन्त्र व्याकरण में 'श्वस्तनी' संज्ञा है, जो पाणिनि सूत्र 'अनद्यतने लुट्' (३।३।१५) से मिलती है। इसी सूत्र पर कात्यायन के वार्तिक में भी यह संज्ञा आई है—'परिदेवने श्वस्तनी भविष्यन्त्या अर्थे।'

लृट् (सामान्य भविष्य) के लिए कातन्त्र में भविष्यंती संज्ञा का प्रयोग हुआ है। यह संज्ञा कात्यायन के ऊपर लिखे हुए वार्तिक में आ चुकी है और पाणिनि के 'भविष्यति गम्यादयः' एवं 'लृट् शेषे च' सूत्रों से मिलती है।

'लेट्' लकार का केवल वेद में प्रयोग होता है। अतएव पाणिनि के उत्तरकालीन व्याकरणों में इसकी चर्चा नहीं है, किन्तु अथर्व प्रातिशाख्य में इसके लिए 'नैगमी' संज्ञा का प्रयोग हुआ है (२।३।२, चतुरध्यायिका)। 'नैगमी' संज्ञा 'निगम' (=वेद) से बनाई गई है।

'लोट्' (आज्ञा) का प्राचीन नाम कातन्त्र व्याकरण में नहीं मिलता। वहाँ इसे 'पंचमी' कहा गया है, क्योंकि पाणिनि के लकारों में इसका पाँचवाँ स्थान है, यदि 'लेट्' को उस सूची से निकाल दिया जाय। यह भी सम्भव है कि किसी समय प्रथमा, द्वितीया, तृतीया विभक्तियों की तरह लकारों के भी वैसे ही नाम थे। प्रयोगरत्नमाला में (जो कातन्त्र सम्मत है) 'लोट्' नाम का ही ग्रहण किया गया है और कातन्त्र के रचयिता शर्ववर्मन द्वारा प्रयुक्त 'पंचमी' इस संज्ञा का बहिष्कार हुआ है। ऊपर लिखे हुए अथर्व प्रातिशाख्य में (२।१।११; २।३।२१) 'लोट्' के लिए 'प्रेषणी' (पाठान्तर 'प्रैषणी') संज्ञा का प्रयोग हुआ है, जो कि पाणिनि सूत्र ३।२।१६३ 'प्रैषाति सर्ग प्राप्त कालेषु कृत्याश्च' से मिलती है।

लङ् (अनद्यतन)-भूत के लिए कातन्त्र में 'ह्यस्तनी' संज्ञा का नाम आया है। यह नाम पाणिनि के 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से मिलता है और 'श्वस्तनी' संज्ञा का उल्टा है। क्रिया के सम्बन्ध में 'ह्यस्तन' शब्द का महाभाष्य में प्रयोग हुआ है, [**अथ कालविशेषान् अभि समीक्ष्य यश्चाद्यतन पाको यश्च ह्यस्तनो यश्च श्वस्तनः** (महाभाष्य ३।१।६७)] किन्तु कालवाची 'ह्यस्तनी' संज्ञा का उल्लेख वार्तिक और भाष्य में नहीं मिलता। 'लिङ्' लकार के लिए भी प्राचीन नाम कातन्त्र में नहीं आता। वहाँ उसे सप्तमी कहा गया है; लेकिन प्रयोगरत्नमाला में 'लिङ्' नाम का ही ग्रहण हुआ है।

'लुङ्' के लिए प्राचीन नाम 'अद्यतनी' था, जो कि कात्यायन के वार्तिकों में कई बार आया है (२।४।३।२; ३।२।१०२।६; ६।४।११४।३)।

'लृङ्' के लिए कातन्त्र व्याकरण में 'क्रियातिपत्ति' संज्ञा का प्रयोग हुआ है, जो कि पाणिनीय सूत्र 'लिङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) से लिया गया है।

चन्द्रव्याकरण में भी पाणिनि के लकार-नामों का ग्रहण किया गया है।

कालान्तर के व्याकरणों पर साम्प्रदायिकता की छाप पड़ी और सीधी-सादी व्याकरण की संज्ञाओं को भी देवताओं के नामों के साथ जोड़ दिया गया। उदाहरण के लिए हरिनामामृत व्याकरण में दस समानाक्षरों के लिए विष्णु के दस अवतारों के नाम रक्खे गये हैं और दस लकारों के लिए भी अच्युत, अधोक्षज आदि संज्ञाएँ प्रयुक्त हुई हैं।

शाक्तों के एक व्याकरण में तो दस लकारों के लिए काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी और कमला, इन दस महाविद्याओं के नाम ले लिये गये हैं।

कलकत्ता]

'गो' शब्द के अर्थों का विकास

श्री मङ्गलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल (ऑक्सन)

अनेक शब्दों और उनके अर्थों का इतिहास कितना मनोरंजक हो सकता है, इसी विषय को हम 'गो' शब्द के उदाहरण द्वारा दिखलाना चाहते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत तथा तद्भव हिन्दी आदि भाषाओं में 'गो' शब्द से अधिक रोचक शब्द कदाचित् ही दूसरा होगा।

कोशों के अनुसार 'गो' शब्द के वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अनेक अर्थ हैं, यद्यपि उनमें से कई अर्थों के साहित्यिक उदाहरण कठिनता से मिलेंगे। प्रधानतः हम वैदिक संस्कृत के अर्थों को लेकर ही विचार करेंगे, क्योंकि उनके उदाहरण स्पष्टतः मिल जाते हैं। लौकिक संस्कृत के विशिष्ट अर्थों पर संक्षिप्त रीति से ही लेख के अन्त में विचार किया जावेगा।

निघण्टु-निरुक्त के अनुसार 'गो' शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं—

(१) गो=पृथिवी। जैसे "अभवत् पूर्व्या भूमना गौः" (ऋ० सं० १०।३१।६)।

(२) गो=द्युलोक अथवा सूर्य। जैसे "उतादः परुषे गवि" (ऋ० सं० ६।५६।३) तथा "गवामसि गोपतिः" (ऋ० सं० ७।९८।६)।

(३) गो=रश्मि या किरण। जैसे "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः" (ऋ० सं० १।१५४।६)।

(४) गो=वाक्, अथवा अन्तरिक्षस्थानीया वाग्देवता, अथवा स्तुतिरूपा वाक्। जैसे "अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता (ऋ० सं० १।१६४।२९)।

(५) गो=गो-पशु। इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। गो-पशुवाची 'गो' शब्द का प्रयोग निरुक्त-कार ने गौणरूप से गो-सम्बन्धी या गौ के किसी अवयव से बने हुए पदार्थों के लिए भी वैदिक भाषा में दिखलाया है। इस कारण 'गो' का अर्थ संगति के अनुसार (क) गो-दुग्ध, (ख) गोचर्म जिस पर बैठकर सोम का रस निकाला जाता था, (ग) गौ की चर्बी, (घ) गौ की स्नायु या ताँत, (ङ) धनुष् की ज्या या डोरी, चाहे वह गौ या अन्य पशु की ताँत से बनी हो।

(६) गो=स्तोता। इस अर्थ का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं दिया गया है।

इन विभिन्न अर्थों के विषय में मुख्य प्रश्न यह उठता है कि कि क्या ये सब अर्थ स्वतन्त्र और परस्पर असम्बद्ध हैं, या इनमें से एक को मौलिक अर्थ मानकर अन्य अर्थों का विकास गौणवृत्ति के द्वारा उसी से दिखलाया जा सकता है।

सामान्य रूप से ऐसे अनेकार्थक शब्दों के विषय में यही माना जाता है कि उनके विभिन्न अर्थ स्वतन्त्र तथा परस्पर असम्बद्ध हैं। पातञ्जल-महाभाष्य (१।२।६४) में अनेकार्थक 'अक्ष', 'पाद', 'माष' शब्दों के उल्लेख के प्रकार से यही ध्वनि निकलती है। प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने भी अपने 'लघु-मंजूषा' ग्रन्थ में इसी सिद्धान्त को लेकर विचार किया है; जैसे—"तादात्म्यमूलकस्य सम्बन्धत्वेऽर्थभेदात्तत्तादात्म्यापन्नशब्देषु भेदौचित्येनार्थभेदाच्छब्दभेद इत्युपपद्यते। समानाकारत्वमात्रेण तु एकोऽयं शब्दो नानार्थ इति व्यवहारः" (शक्तिप्रकरण)। टीकाकारों के अनुसार महाभाष्य में दिये गये अनेकार्थक 'अक्ष', 'पाद' जैसे शब्दों से ही यहाँ अभिप्राय है।

उक्त सिद्धान्त का—सब नाम आख्यातज या व्युत्पन्न हैं या नहीं—इस विचार से कोई आवश्यक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। पर जो लोग समस्त नामों को आख्यातज मानते हैं, उनके सामने भी 'गो' जैसे अनेकार्थक शब्दों के विषय में यह सिद्धान्त-भेद हो सकता है कि वे ऐसे शब्द को एक मौलिक अर्थ में आख्यातज मानकर भी उसके अन्य

अनेक अर्थों को उस मूल अर्थ से ही परम्परया विकसित स्वीकार करें, या उन सब अर्थों को स्वतन्त्र मानकर एक या अनेक मौलिक धात्वर्थों से ही उनका साक्षात् सम्बन्ध मानें।

निरुक्त में यास्क आचार्य ने अनेकार्थक शब्दों के विषय में उपर्युक्त सिद्धान्तभेद स्पष्टतया कहीं प्रतिपादित नहीं किया है। यद्यपि उनका झुकाव अनेक अर्थों को स्वतन्त्र मानने की ओर अधिक दीखता है, तो भी उनके "पादः पद्यतेः। तन्निधानात्पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि" (नि० २।७) जैसे कथनों से यह स्पष्ट है कि वे विभिन्न अर्थों के एक मौलिक अर्थ से विकास के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते थे। उक्त उद्धरण का अभिप्राय यही है कि गत्यर्थक 'पद' धातु से बने हुए 'पाद' शब्द के मौलिक अर्थ पैर से ही गौणी वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थों का विकास हुआ है; जैसे (१) पाद(=पैर) जहाँ रक्खा जावे उस स्थान पर उसके चिह्न को या सामान्य रूप से स्थान मात्र को 'पद' कहते हैं, (२) पशु के पैर चार होते हैं, अतः 'पाद' का अर्थ चौथा भाग हो गया, (३) वाक्य के अंश या भाग होने से वाक्यगत शब्दों को भी 'पद' कहते हैं। यास्काचार्य के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको अनेकार्थक शब्दों के विषय में उपर्युक्त सिद्धान्त भी स्वीकृत है। ऐसा होने पर भी उन्होंने 'गो' शब्द के उपरिनिर्दिष्ट अर्थों को स्वतन्त्र रूप से ही दिखलाया है।

पर आधुनिक भाषा-विज्ञान में शब्दों की व्युत्पत्ति के विषय में यही सिद्धान्त माना जाता है कि अनेकार्थक व्युत्पन्न शब्दों के विभिन्न अर्थों का विकास किसी एक मौलिक अर्थ से ही मानना चाहिए। इसका अपवाद केवल उन थोड़े-से शब्दों में माना जाता है, जिनका विकास विभिन्न स्रोतों से हुआ है और इसी कारण, वर्णानुपूर्वी के सादृश्य के रहने पर भी, वे विभिन्न अर्थों में वस्तुतः स्वतन्त्र या निष्पन्न पृथक् शब्द ही माने जाने चाहिएँ।

यहाँ हम यही दिखलाना चाहते हैं कि 'गो' शब्द के अनेक अर्थों का विकास वास्तव में उसके मौलिक अर्थ गो-पशु से ही हुआ है। अनेकार्थक शब्दों का मौलिक अर्थ यथासम्भव ऐन्द्रियक या सन्निकट प्रत्यक्ष जगत् से सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिए—इस सिद्धान्त के अनुसार 'गो' शब्द का मौलिक अर्थ गो-पशु ही मानना चाहिए। इस अर्थ की साहित्यिक तथा व्यावहारिक व्यापकता से भी यही सिद्ध होता है। यही नहीं, 'गो' शब्द के भारतयूरोपीय भाषाओं में जो रूपान्तर दीख पड़ते हैं उनका प्रयोग भी 'गो'-पशु के ही अर्थ में होता है; जैसे अंग्रेजी में Cow या लैटिन में bos. 'गो' शब्द स्पष्टतया गत्यर्थक 'गम' या 'गा' धातु से बना है और इस धात्वर्थ की संगति भी गो-पशु में ठीक बैठ जाती है।

गौ=पृथिवी

निघण्टु में पृथिवीवाचक २१ शब्दों में 'गौः' सबसे प्रथम दिया है। यास्काचार्य इस पर अपनी व्याख्या में कहते हैं—"गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः" (२।५)। अर्थात् पृथिवी को गौ इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह बड़ी दूर तक फैली चली गई है या क्योंकि उस पर प्राणी चलते हैं, अर्थात् उनके मत से पृथिवी अर्थ को रखने वाला 'गो' शब्द 'गम' या 'गा' धातु से स्वतन्त्र रूप से बना है।

हमारे मत से पृथिवी के लिए 'गो' शब्द के प्रयोग का मुख्य कारण यही हो सकता है कि गौ के तुल्य पृथिवी से भी मनुष्य अपनी सब अन्नादिरूपी कामनाओं को दुहता है, अर्थात् उनकी प्राप्ति करता है। इस भाव के द्योतक अनेक प्रयोग भी वैदिक तथा लौकिक साहित्य में मिलते हैं। उदाहरणार्थ "दुदोह गां स यज्ञाय" (रघुवंश १।२६)= अर्थात्, दिलीप ने यज्ञसम्पादन के निमित्त पृथिवी-रूपी गौ को दुहा। शतपथब्राह्मण (२।२।१।२१) में तो स्पष्टतया कहा है "धेनुरिव वा इयं (=पृथिवी) मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे"। अर्थात्, यह पृथिवी गौ की तरह मनुष्यों की समस्त कामनाओं को दुहती है। इसी परम्परागत विचार के कारण पुराणों में पृथिवी को प्रायः गोरूपधरा दिखलाया गया है। शत० ब्राह्मण में 'धेनुरिव' (=गौ की तरह) इस कथन से तथा 'दुह' धातु के उक्त स्थलों में प्रयोग से हमारे मत की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है।

वर्षा द्वारा पृथिवी को गर्भवती करके अन्नादि को उत्पन्न करने वाले द्युलोक में वृषभ (=बैल) की कल्पना के द्वारा भी, जो वैदिक मन्त्रों में प्रायः पाई जाती है, पृथिवी में गौ की कल्पना को अवश्य ही और भी पुष्टि मिली होगी।

गौ=द्युलोक तथा आदित्य

निघण्टु के अनुसार 'गो' शब्द द्युलोक तथा आदित्य दोनों अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। निरुक्त में 'गो' शब्द की व्याख्या इस प्रसंग में इस प्रकार की है—"गौरादित्यो भवति। गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत्पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति" (२।१४)। अर्थात्, पृथिवी से रसों को ले जाने (या खींचने) के कारण अथवा अन्तरिक्ष में चलने के कारण आदित्य को गौ कहते हैं और पृथिवी से दूर जाने के कारण या इसलिए कि नक्षत्रादि उसमें चलते हैं, द्युलोक को गौ कहते हैं।

टीकाकारों द्वारा उक्त दोनों अर्थों में दिये हुए 'गो' शब्द के उदाहरण असन्दिग्ध नहीं कहे जा सकते। तिस पर भी, यदि निघण्टुकार के अर्थों को मान लिया जावे तो उनकी व्याख्या, हमारी दृष्टि से, यही हो सकती है कि द्युलोक और आदित्य को गौ कहने का हेतु वृष्टि करने के कारण उनका वृषभ या वृषन् (=गौ) होना ही है। आदित्य और द्युलोक का साहचर्य होने से वृष्टि कर्म का सम्बन्ध दोनों से है। यास्काचार्य ने "अथैतान्यादित्यभक्तीनि। असौ लोकः....वर्षाः...." (७।११) इस प्रकार इसी साहचर्य को दिखलाया है। कालिदास के "दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्" (रघुवंश १।२६) इस पद्य में तो पृथिवी-रूपी गौ के समान द्यु-रूपी गौ की कल्पना भी स्पष्ट है। "आयं गौः पृश्निरक्रमीत्" (ऋ० सं० १०।१८९।१) इस मन्त्र में चित्र-विचित्र गौ (=पृथिवी या सूर्य) के लिए 'अक्रमीत्' में पैर उठाकर चलने के अर्थ में आने वाली क्रम् धातु का प्रयोग भी यही सिद्ध करता है कि मन्त्रद्रष्टा की दृष्टि में सूर्य (या पृथिवी) के लिए 'गो' शब्द के प्रयोग का पारम्परिक आधार 'गो' पशु ही पर है।

गौ=रश्मि या किरण

रश्मि या किरण के अर्थ में भी 'गो' शब्द का प्रयोग निघण्टु-निरुक्त के अनुसार होता है। इस अर्थ में निरुक्तकार ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥" (ऋ० १।१५४।६)

अर्थात्, हम लोग तुम दोनों (=यजमानदम्पती) के लिए उस स्थान (=द्युलोक) की प्राप्ति की कामना करते हैं जहाँ घूमने-फिरने वाली या गमनशील अनेक सींगों वाली गौयें (=किरणें) रहती हैं। और वहाँ महाशक्तिसम्पन्न वृषन् (वर्षा करने वाले विष्णु या सूर्य) का उत्कृष्ट स्थान अत्यन्त प्रकाशमान है।

यहाँ किरणों को गौ कहने के मूल में उनका गो-पशु के साथ कोई-न-कोई साम्य ही कारण है यह 'भूरिशृङ्गाः' (=अनेक सींगों वाली) इस विशेषण से ही स्पष्ट है। उक्त साम्य का स्पष्टीकरण मन्त्र से ही हो जाता है। 'अयासः' (=गमनशील) इसका यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार गौएँ रात्रि में गोष्ठ में अवरुद्ध रहती हैं और सूर्योदय के समय खोली जाने पर गोचर भूमि में दौड़ जाती हैं, इसी तरह गो-रूपी किरणें रात्रि में सूर्य-मंडल में रहकर सूर्योदय के समय रसाहरणार्थ पृथिवी पर फैल जाती हैं। यह कल्पना अनेकत्र मन्त्रों में देखी जाती है और यही निस्सन्देह गौओं के साथ किरणों के साम्य का मूलकारण है। इसी कल्पना के आधार पर वैष्णवों के 'गोलोक' की कल्पना की गई है।

गौ=वाक्

निघण्टु में ५७ शब्द वाणी-वाची दिये हैं। उनमें 'गौः' तथा 'धेनुः' शब्द भी हैं। इस अर्थ में 'गो' शब्द का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। विद्युत् की कड़क और बादलों की गरज में अपने को प्रकट करने वाली 'माध्यमिका वाक्'

या 'अन्तरिक्षस्थानीया देवता' के लिए भी 'गो' शब्द का प्रयोग वेद में प्रायः देखने में आता है। इस अर्थ में 'गौः' का निर्वचन निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वन् ने "गच्छति यज्ञेष्वाहूता, गीयते स्तूयते वा" (=जो यज्ञों में आहूत होकर जाती है या जो गाई जाती है या जिसकी स्तुति की जाती है) इस प्रकार दिया है।

पर हमारी संम्मति में तो वाणी (या माध्यमिका वाक्) के लिए भी 'गो' शब्द के प्रयोग के मूल में वही गो-पशु की कल्पना है। इस बात की पुष्टि अनेकानेक उदाहरणों से की जा सकती है; जैसे—"गौरमीमेदनु वत्सम् ....हिङ्कृणोत्....सृक्वाणम्....अभिवावशाना....मिमाति मायुम्" (ऋ० १।१६४।२८)। अर्थात् रसों को रश्मियों के द्वारा हरण करने वाले वत्सरूपी सूर्य के प्रति गौ (माध्यमिका वाक्) हुंकार करती है और (गौ की तरह) शब्द करती है।

"उपह्वये सुदुघां धेनुम्" (ऋ० १।१६४।२६)।

अर्थात्, मैं अच्छा दूध देने वाली माध्यमिका वाक् (रूपी गौ) को बुलाता हूँ।

"दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु" (ऋ० ८।१००।११)।

अर्थात्, दूध देने वाली सुस्तुता वाक् रूपी धेनु हमारे पास आवे।

इस प्रसंग में यास्काचार्य का कहना है कि "वागर्थेषु विधीयते" (११।२७), अर्थात् नाना प्रकार के अर्थों को वाणी द्वारा ही प्रकट किया जाता है। "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५) इसकी व्याख्या में यास्काचार्य कहते हैं—"नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्य-फलामपुष्पाम्" (१।२०), अर्थात् जो बिना समझे वाणी को सुनता है उसके लिए वाणी रूपी गौ लौकिक या पारलौकिक कामनाओं को नहीं दुहती। शतपथब्राह्मण (१४।८।६।१) में स्पष्टतया वाग्रूपी गौ के चार स्तनों का वर्णन किया है—"वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः" इत्यादि।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि अर्थरूपी दुग्ध के द्वारा नाना मनोरथों की पूर्ति करने के कारण ही वाणी में गो-पशु की कल्पना मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने की थी। यही बात महाकवि भवभूति ने "कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः" (उत्तररामचरित) इन शब्दों में प्रकट की है।

माध्यमिका वाक् में गौ के साम्य की कल्पना का आधार एक और भी हो सकता है। प्राचीन वैदिक काल में आदान-प्रदान का मुख्य साधन होने से गौ ही मुख्य धन समझा जाता था। इसलिए गौओं के लिए युद्धों का वर्णन और शत्रुओं द्वारा उनके अपहरण की कथाएँ वैदिक साहित्य तथा महाभारत में भी पाई जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मेघरूपी वृत्र के द्वारा अवरुद्ध की हुई जलरूपी गौओं की परिचायक होने से कदाचित् माध्यमिका वाक् का वर्णन भी गौ के रूप में वेद में किया गया है। जो कुछ हो, ऊपर दिये हुए उदाहरणों से, जिनमें वत्स (=गौ का बछड़ा), मायु (=गौ का विशेष शब्द), वावशाना (=गौ का शब्द) जैसे शब्दों के साथ माध्यमिका वाक् का 'गो' शब्द से वर्णन किया गया है, यह निसन्देह सिद्ध हो जाता है कि माध्यमिका वाक् में गोत्व का व्यवहार गो-पशु-मूलक ही है।

ऊपर हमने कहा है कि स्तुति के लिए भी 'गो' शब्द का प्रयोग होता है। इसका कारण स्पष्ट है। वैदिक मन्त्रों में जिस वाक् का वर्णन है वह प्रायः स्तुतिरूप ही है। अतः 'गौः' का अर्थ वाक् के साथ-साथ स्तुति भी देखा जाता है।

गौ=स्तोता

निघण्टु में स्तोतावाची १३ शब्दों में 'गौः' भी दिया है। इस अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति निघण्टु के टीकाकार ने "गीयन्ते स्तूयन्तेऽनेन देवताः" (=जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है) इस प्रकार दी है। पर इस अर्थ के जो उदाहरण टीकाकार ने दिये हैं वहाँ स्तोता का अर्थ आवश्यक नहीं दीखता। इसलिए इस अर्थ को उदाहरणों द्वारा सिद्ध करना कठिन है। तिस पर भी, यदि इस अर्थ को मान ही लिया जावे तो भी उसका कारण वही है जो गौ के स्तुति अर्थ का ऊपर हमने दिखलाया है।

लौकिक संस्कृत में 'गो' शब्द

ऊपर हमने दिखलाया है कि वैदिक साहित्य में 'गो' शब्द के जो विभिन्न अर्थ लिये जाते हैं उनका मौलिक आधार गो-पशु ही है। लौकिक संस्कृत के कोशों में उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'गो' शब्द के और भी अनेक अर्थ दिये गये हैं। यहाँ हम केवल अमरकोश को ही लेते हैं। उसके अनुसार गौ के अर्थ निम्नलिखित हैं—

स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले।
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः (३।३।२५)

अर्थात् 'गो' शब्द के अर्थ हैं—(१) स्वर्ग, (२) वाण, (३) पशु, (४) वाक्, (५) वज्र, (६) दिशा, (७) नेत्र, (८) किरण, (९) पृथ्वी, और (१०) जल।

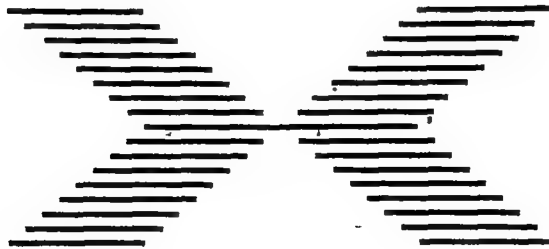
इनमें से स्वर्ग (=वैदिक द्युलोक), वाक्, किरण और पृथ्वी अर्थ तो उपर आ ही चुके हैं। पशु से अभिप्राय प्रायः गौ से ही लिया जाता है। यदि इसका अभिप्राय पशुमात्र से है तब भी इसका आधार गो-भूयस्त्व पर ही होगा। वाण अर्थ का विकास उसी तरह गौणवृत्ति से हुआ होगा जिस तरह वाण की ज्या के लिए 'गो' शब्द का प्रयोग, यास्काचार्य के अनुसार, हम ऊपर दिखला चुके हैं। अशनिरूप इन्द्र का 'वज्र' मायु (=गौ का शब्द) करने वाली माध्यमिका वाक् का ही एक रूप है।

दिशा के अर्थ का गौ के साथ साक्षात् या असाक्षात् सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। हो सकता है कि इसका विकास किरण या द्यु या आदित्य इन अर्थों के द्वारा परम्परया हुआ हो। नेत्र अर्थ का आधार स्पष्टतया गौ जैसे गोचरभूमि में जाती है उसी तरह नेत्रेन्द्रिय के स्वविषय की ओर जाने पर है। इन्द्रियों के विषयों को 'गोचर' कहने का मूल-कारण भी यही है। इसी आधार पर पिछले संस्कृत साहित्य में इन्द्रिय-मात्र के लिए 'गो' शब्द का व्यवहार हुआ है। उसी अर्थ को लेकर 'गोस्वामी' शब्द प्रचलित हुआ है। जल के अर्थ का मूल वादलरूपी वृत्र के द्वारा जल-रूपी गौओं के अवरोध की उपर्युक्त कल्पना ही प्रतीत होती है।

इसी प्रकार के कुछ और अर्थ भी 'गो' शब्द के पिछले काल के संस्कृत के कोशों में मिलते हैं। उनका विकास भी प्रायः उपरि-निर्दिष्ट पद्धति से सहज ही दिखलाया जा सकता है। पर लौकिक संस्कृत के कोशों में दिये हुए अर्थों के विषय में सबसे मुख्य आपत्ति यह है कि उनका साहित्यिक प्रयोग दिखाना कठिन है। इसीलिए उन अर्थों का हमारी दृष्टि में महत्त्व कम है।

'गो' शब्द के ऐतिहासिक महत्त्व को ठीक समझने के लिए उससे वने हुए अनेक शब्दों पर विचार करना भी आवश्यक है, पर विस्तार-भय से उसका इस लेख में समावेश करना सम्भव नहीं है।

काशी]



मरण से

श्री मैथिलीशरण गुप्त

झुका सकेगा मुझे कभी तू ? कर्त्ता का केतन हूँ मैं,
मरण, नित्य नव जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं।

मेरे पीछे लाख पड़ा रह, आगे आ न सकेगा तू,
रोया कर जी चाहे जितना, मुझ-सा गा न सकेगा तू।
छद्म रूप रखकर जा तो भी भव को भा न सकेगा तू,
सड़ा-गला भी कभी पेट भर पामर, पा न सकेगा तू।
रह रूखा-सूखा उजाड़ तू, हरा-भरा उपवन हूँ मैं;
मरण, नित्य नव जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं।

नये नये पट-परिवर्तन कर प्रकट नाट्यशाला मेरी,
वंचित ही इस स्वर-लहरी के रस से रसनाएँ तेरी।
फणि, कोई मणि है तो वह तो चोरी की ही हयफेरी,
सरक वहीं तू जहाँ नरक-से कूड़े-घूड़े की ढेरी।
देख दूर से क्रूर रोग तू योग-सिद्ध जन-धन हूँ मैं,
मरण, नित्य नव जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं!

चिरगाँव]



हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी-साहित्य का इतिहास केवल संयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। हिन्दी का साहित्य सम्पूर्णतः लोक-भाषा का साहित्य है। उसके लिए संयोग से मिली पुस्तकें ही पर्याप्त नहीं हैं। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की किसी विशेष चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं, पर उस विशेष चिन्ता-धारा के विकास में जिन पार्श्ववर्ती विचारों और आचारों ने प्रभाव डाला था, वे, बहुत सम्भव है, पुस्तक रूप में कभी लिपिबद्ध हुए ही न हों और यदि लिपिबद्ध हुए भी हों तो संम्भवतः प्राप्त न हो सके हों। कबीरदास का बीजक दीर्घकाल तक बुन्देलखंड से झारखंड और वहाँ से बिहार होते हुए धनौती के मठ में पड़ा रहा और बहुत बाद में प्रकाशित किया गया। उसकी **रमैनियों** से एक ऐसी धर्म-साधना का अनुमान होता है, जिसके प्रधान उपास्य निरंजन या धर्मराज थे। उत्तरी उड़ीसा और झारखंड में प्राप्त पुस्तकों तथा स्थानीय जातियों की आचार-परम्परा के अध्ययन से यह अनुमान पुष्ट होता है। पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्म ठाकुर की परंपरा अब भी जारी है। इस जीवित सम्प्रदाय तथा उड़ीसा के अर्द्धविस्मृत सम्प्रदायों के अध्ययन से बीजक के द्वारा अनुमित धर्मसाधना का समर्थन होता है। इस प्रकार कबीरदास का बीजक इस समय यद्यपि अपने पुराने विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं है—उसमें बाद के अनेक पद प्रक्षिप्त हुए हैं—तथापि वह एक जनसमुदाय की विचार-परम्परा के अध्ययन में सहायक है। कबीर का बीजक केवल अपना ही परिचय देकर समाप्त नहीं होता। वह उस से अधिक है। वह अपने इर्दगिर्द के मनुष्यों का इतिहास बताता है। मैंने अपनी 'कबीरपंथी साहित्य' नामक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली पुस्तक में इसकी विस्तार-पूर्वक चर्चा की है।

भारतीय समाज ठीक वैसा ही हमेशा नहीं रहा है, जैसा आज है। नये-नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने-अपने विचारों और आचारों का प्रभाव छोड़ते रहे हैं। आज की समाज-व्यवस्था कोई सनातन व्यवस्था नहीं है। आज जो जातियाँ समाज के निचले स्तर में पड़ी हुई हैं। वे सदा वहीं रही हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार समाज के ऊपरी स्तर में रहने वाली जातियाँ भी नाना परिस्थितियों को पार करती हुई वहाँ पहुँची हैं। इस विराट जनसमुद्र का सामाजिक जीवन काफ़ी स्थितिशील रहा है। फिर भी ऐसी धाराओं का नितान्त अभाव भी नहीं रहा है, जिन्होंने समाज को ऊपर से नीचे तक आलोड़ित कर दिया है। ऐसा भी एक ज़माना था, जब इस देश का एक बहुत बड़ा जनसमाज ब्राह्मणधर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी अलग पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाजव्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक-भावना थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं। किसी विराट सामाजिक दबाव के फलस्वरूप एक बार समूचे जनसमाज को दो बड़े-बड़े कैम्पों में विभक्त हो जाना पड़ा—हिन्दू और मुसलमान। गोरखनाथ के बारह सम्प्रदायों में उनसे पूर्व काल के अनेक बौद्ध, जैन, शैव और शाक्त सम्प्रदाय संगठित हुए थे। उनमें कुछ ऐसे सम्प्रदाय, जो केन्द्र से अत्यन्त दूर पड़ गये थे, मुसलमान हो गये, कुछ हिन्दू। हिन्दी-साहित्य की पुस्तकों से ही उस परम शक्तिशाली सामाजिक दबाव का अनुमान होता है। इतिहास में इसका कोई और प्रमाण नहीं है, परन्तु परिणाम देखकर निस्सन्देह इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि मुसलमानों के आगमन के समय इस देश में प्रत्येक जनसमूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेनी पड़ी थी। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक के अर्द्धचन्द्राकृति भूभाग में बसी हुई जुलाहा जाति को देख कर रिजली ने (पीपुल्स ऑव इन्डिया, पृ० १२६) अनुमान किया था कि इन्होंने कभी सामूहिक रूप में मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था। हाल की खोजों से इस मत की पुष्टि हुई है। ये लोग ना-हिन्दू-ना-मुसलमान योगी सम्प्रदाय के शिष्य थे।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कवि और काव्य, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ़ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।

सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का लोकभाषा का जो साहित्य बनता रहा, वह अधिकांश उपेक्षित है। बहुत काल तक लोगों का ध्यान इधर गया ही नहीं था। केवल लोकसाहित्य ही क्यों, वह विशाल शास्त्रीय साहित्य भी उपेक्षित ही रहा है, जो उस युग की समस्त साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना का उत्स था। काश्मीर के शैव साहित्य, वैष्णव संहिताओं का विपुल साहित्य, पाशुपत शैवों का इतस्ततो विक्षिप्त साहित्य, तन्त्रग्रन्थ, जैन और बौद्ध अपभ्रंश ग्रन्थ अभी केवल शुरू किये गये हैं। श्रेडर ने जमकर परिश्रम न किया होता तो संहिताओं का वह विपुल साहित्य विद्वन्मंडली के सामने उपस्थित ही नहीं होता, जिसने बाद में सारे भारतवर्ष के साहित्य को प्रभावित किया है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्नलिखित साहित्यों की जाँच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा। इनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्ति-काल के साहित्य को समझ सकेंगे और न वीरगाथा या रीतिकाल को।—

१ जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य।
२ काश्मीर के शैवों और दक्षिण तथा पूर्व के तान्त्रिकों का साहित्य।
३ उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथों का साहित्य।
४ वैष्णव आगम।
५ पुराण।
६ निबन्धग्रन्थ।
७ पूर्व के प्रच्छन्न बौद्ध-वैष्णवों का साहित्य।
८ विविध लौकिक कथाओं का साहित्य।

जैन अपभ्रंश का विपुल साहित्य अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। जितना भी यह साहित्य प्रकाशित हुआ है, उतना हिन्दी के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जोइन्दु (योगीन्द्र) और रामसिंह के दोहों के पाठक स्वीकार करेंगे कि क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या शैव (नाथ) सभी सम्प्रदायों में एक रूढ़िविरोधी और अन्तर्मुखी साधना का दाना दसवीं शताब्दी के बहुत पहले बँध चुका था। बौद्ध अपभ्रंश के ग्रन्थ भी इसी बात को सिद्ध करते हैं। योग-प्रवणता, अन्तर्मुखी साधना और परम प्राप्तव्य का शरीर के भीतर ही पाया जा सकना इत्यादि बातें उस देश-व्यापी साधना का केन्द्र थीं। यही बातें आगे चलकर विविध निर्गुण सम्प्रदायों में अन्य भाव से स्थान पा गई। निर्गुण साहित्य तक ही यह साहित्य हमारी सहायता नहीं करेगा। काव्य के रूपों के विकास और तत्कालीन लोकचिन्ता का भी उससे परिचय मिलेगा। राहुल जी जैसे विद्वान तो स्वयम्भू की रामायण को हिन्दी का सबसे श्रेष्ठ काव्य मानते हैं। यद्यपि वह अपभ्रंश का ही काव्य है, परन्तु महापुराण आदि ग्रन्थों को जिसने नहीं पढ़ा, वह सचमुच ही एक महान् रसस्रोत से वंचित रह गया। रीतिकाल के अध्ययन में भी यह साहित्य सहायक सिद्ध होगा।

काश्मीर का शैव साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करता है। यद्यपि श्री जगदीश बनर्जी और मुकुन्दराम शास्त्री आदि विद्वानों के प्रयत्न से वह प्रकाश में आया है, फिर भी उसकी ओर विद्वानों का जितना ध्यान जाना चाहिए उतना नहीं गया है। हिन्दी में पं० बलदेव उपाध्याय ने इसके और तन्त्रों के तत्त्ववाद का संक्षिप्त रूप में परिचय कराया है, पर इस विषय पर और भी पुस्तकें प्रकाशित होनी चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि

उत्तर का अद्वैत मत दक्षिण के परशुरामकल्पसूत्र के सिद्धान्तों से अत्यधिक मिलता है। साधना की अन्तःप्रवाहित भावधारा ने देश और काल के व्यवधान को नहीं माना।

हिन्दी में गोरखपन्थी साहित्य बहुत थोड़ा मिलता है। मध्ययुग में मत्स्येन्द्रनाथ एक ऐसे युगसन्धिकाल के आचार्य हैं कि अनेक सम्प्रदाय उन्हें अपना सिद्ध आचार्य मानते हैं। हिन्दी की पुस्तकों में इनका नाम 'मछन्दर' आता है। परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों में इसका 'शुद्धीकृत' संस्कृत रूप ही मिलता है। वह रूप है 'मत्स्येन्द्र', परन्तु साधारण योगी मत्स्येन्द्र की अपेक्षा 'मच्छन्दर' नाम ही ज्यादा पसन्द करते हैं। श्री चन्द्रनाथ योगी जैसे शिक्षित और सुधारक योगियों को इन 'अशिक्षितों' की यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं लगी है (योगिसम्प्रदायाविष्कृति, पृ० ४४८-९)। परन्तु हाल की शोधों से ऐसा लगता है कि 'मच्छन्दर' नाम काफ़ी पुराना है और शायद यही सही नाम है। मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्द) की लिखी हुई कई पुस्तकें नेपाल दरवार लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनमें से एक का नाम है कौलज्ञान निर्णय। इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि यह पुस्तक सन् ईसवी की नवीं शताब्दी की लिखी हुई है (नेपाल सूचीपत्र द्वितीय भाग, पृ० १९)। हाल ही में डा० प्रबोधचन्द्र वागची महोदय ने उस पुस्तक को मत्स्येन्द्रनाथ की अन्य पुस्तकों (अकुलवीरतन्त्र, कुलानन्द और ज्ञानकारिका) के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इस पुस्तक की पुष्पिका में मच्छघ्न, मच्छन्द आदि नाम भी आते हैं। परन्तु लक्ष्य करने की वात यह है कि शैव दार्शनिकों में श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने भी मच्छन्द नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझाकर उसकी व्याख्या भी की है। उनके मत से आतानवितान वृत्यात्मक जाल को वताने के कारण मच्छन्द कहलाए (तन्त्रलोक, पृ० २५) और यन्त्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार मच्छ चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं। उन चपल वृत्तियों का छेदन किया था। इसीलिए वे मच्छन्द कहलाए। कवीरदास के सम्प्रदाय में आज भी मत्स्य, मच्छ आदि का सांकेतिक अर्थ मन समझा जाता है (देखिए कवीर वीजक पर विचारदास की टीका, पृ० ४०)। यह परम्परा अभिनव गुप्त तक जाती है। उसके पहले भी नहीं रही होगी, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है। अधिकतर प्राचीन बौद्ध सिद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रह किये जा सके हैं कि प्रज्ञा ही मत्स्य है (जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द २६, १९३० ई०, नं० १ टुची का प्रवन्ध)। इस प्रकार यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मत्स्येन्द्रनाथ की जीवितावस्था में रूपक के अर्थ में उन्हें मच्छन्द कहा जाना नितान्त असंगत नहीं है। इन छोटी-छोटी वातों से पता चलता है कि उन दिनों की ये धार्मिक साधनाएँ कितनी अन्तःसम्वद्ध हैं।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भक्ति-साहित्य का अध्ययन अव भी वहुत उथला ही हुआ है। सगुण और निर्गुणधारा के अध्ययन से ही मध्ययुग के मनुष्य को अच्छी तरह समझा जा सकता है। भगवत्-प्रेम मध्ययुग की सवसे जीवन्त प्रेरणा रही है। यह भगवत्प्रेम इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं है और मन और वुद्धि के भी अतीत समझा गया है। इसका आस्वादन केवल आचरण द्वारा ही हो सकता है। तर्क वहाँ तक नहीं पहुँच सकता, परन्तु फिर भी इस तत्त्व को अनुमान के द्वारा समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है और उन आचरणों की तो विस्तृत सूची वनाई गई है, जिनके व्यवहार से इस अपूर्व भागवतरस का आस्वादन हो सकता है। आगमों में से वहुत कम प्रकाशित हुए हैं। भागवत के व्याख्यापरक संग्रह-ग्रन्थ भी कम ही छपे हैं। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को आश्रय करके भक्ति-शास्त्र का जो विपुल साहित्य वना है, उसकी वहुत कम चर्चा हुई है। इन सव की चर्चा हुए विना और इनको जाने विना मध्ययुग के मनुष्य को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

तान्त्रिक आचारों के वारे में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की पुस्तकें एकदम मौन हैं, परन्तु नाथमार्ग का विद्यार्थी आसानी से उस विषय के साहित्य और आचारों की वहुलता लक्ष्य कर सकता है। वहुत कम लोग जानते हैं कि कवीर द्वारा प्रभावित अनेक निर्गुण सम्प्रदायों में अव भी वे साधनाएँ जी रही हैं जो पुराने तान्त्रिकों के पंचामृत, पंचपवित्र और चतुश्चन्द्र की साधनाओं के अवशेष हैं। यहाँ प्रसंग नहीं है। इसलिए इस वात को विस्तार से नहीं लिखा गया,

परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हमारे इस साहित्य के माध्यम से मनुष्य को पढ़ने के अनेक मार्गों पर अभी चलना बाक़ी है।

कबीरदास के बीजक में एक स्थान पर लिखा है कि "ब्राह्मन वैस्नव एकहि जाना" (१२वीं ध्वनि)। इससे ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण और वैष्णव परस्पर-विरोधी मत हैं। मुझे पहले-पहल यह कुछ अजीब बात मालूम हुई। ज्यों-ज्यों मैं बीजक का अध्ययन करता गया, मेरा विश्वास दृढ़ होता गया कि बीजक के कुछ अंश पूर्वी और दक्षिणी विहार के धर्ममत से प्रभावित हैं। मेरा अनुमान था कि कोई ऐसा प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णव सम्प्रदाय उन दिनों उस प्रदेश में अवश्य रहा होगा, जिसे ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते होंगे। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने उड़ीसा के पांच वैष्णव कवियों की रचनाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि ये वैष्णव कवि वस्तुतः माध्यमिक मत के बौद्ध थे और केवल ब्राह्मण प्रधान राज्य के भय से अपने को बौद्ध कहते रहे। मैंने अपनी नई पुस्तक 'कबीरपंथी साहित्य' में विस्तार-पूर्वक इस बात की जांच की है। यहाँ प्रसंग केवल यह है कि हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन अनेक लुप्त और सुप्त मानव-चिन्ता-प्रवाह का परिचय दे सकता है। केवल पुस्तकों की तिथि-तारीख तक ही साहित्य का इतिहास सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। मनुष्य-समाज बड़ी जटिल वस्तु है। साहित्य का अध्ययन उसकी अनेक गुत्थियों को सुलझा सकता है।

परन्तु इन सबसे अधिक आवश्यक हैं विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और साधारण जनता में प्रचलित दन्तकथाएँ। इनसे हम इतिहास के अनेक भूले हुए घटना-प्रसंगों का ही परिचय नहीं पायेंगे, मध्ययुग के साहित्य को समझने का साधन भी पा सकेंगे। झारखंड और उड़ीसा तथा पूर्वी मध्यप्रान्त की अनेक लोक-प्रचलित दन्तकथाएँ उन अनेक गुत्थियों को सुलझा सकती हैं, जो कबीरपन्थ की बहुत गूढ़ और दुरूह बातें समझी जाती हैं। इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। विभिन्न आँकड़ों और नृतत्त्वशास्त्रीय पुस्तकों में इतस्ततोविक्षिप्त बातों का संग्रह भी बहुत अच्छा नहीं हुआ है। ये सभी बातें हमारे साहित्य को समझने में सहायक हैं। इनके बिना हमारा साहित्यिक इतिहास अधूरा ही रहेगा।

शांतिनिकेतन]



व्रजभाषा का गद्य-साहित्य

[प्रारंभिक काल से सन् १८०० तक]

श्री प्रेमनारायण टण्डन एम्० ए०

वीरगाथाकाल में काव्यभाषा का ढाँचा प्रायः शौरसेनी से विकसित पुरानी व्रजभाषा का ही था। काव्यभाषा के रूप में इसका प्रचार बहुत समय पूर्व से था और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ तक तो इतना बढ़ गया था कि जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल की भाषा खड़ीबोली थी वहाँ भी कविता के लिए व्रजभाषा का ही प्रयोग किया जाता था। फ़ारसी के प्रसिद्ध लेखक अमीर खुसरो (मृत्यु सन् १३२५) के, जिनका रचनाकाल सन् १२८३ के आसपास से आरम्भ होता है, गीत और दोहे इसी व्रजभाषा में हैं। 'वासों', 'भयो', 'वाको', 'मोहि अचम्भो आवत', 'वसत हैं', 'देखत में', 'मेरो', 'सोवै', 'भयो है', 'डरावन लागै', 'डस-डस जाय', जैसे व्रजभाषा-रूप उनकी कविता में बराबर मिलते हैं।

वीरगाथाकाल के प्राप्य ग्रन्थों में कुछ गोरखपन्थी ग्रन्थों का सम्बन्ध, जिनके विषय प्रायः हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि हैं, व्रजभाषा गद्य से है। इनमें एक के रचयिता का नाम कुमुटिपाव है और शेष गोरखनाथ और उनके शिष्यों के रचे अथवा संकलित हैं। बाबा गोरखनाथ संस्कृत और हिन्दी के पंडित और शैवमत के प्रवर्तक थे। कर्मकांड, उपासना और योग तीनों की कुछ बातें इनके पन्थ में प्रचलित हैं। तन्त्रवाद से भी इन्हें रुचि थी और उसी के सहारे अद्भुत चमत्कारों द्वारा ये जनता को प्रभावित करते थे। गोरखपुर इनका मुख्य स्थान है। उसके आस-पास इनके अनुयायी पर्याप्त संख्या में बसे हैं। महाराष्ट्र में भी इनके मानने वाले पाये जाते हैं।

बाबा गोरखनाथ प्रसिद्ध सिद्ध थे। इनका जन्म नैपाल अथवा उसकी तराई में हुआ था। अबतक इनका समय सन् १३५० माना जाता था। इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में इनका समय ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी माना गया है। परन्तु इधर की खोज के आधार पर डाक्टर पीताम्बरदत्त जी बड़थ्वाल[1] तथा श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन[2] जी ने इनका समय सन् ९५० के लगभग सिद्ध किया है। कारण यह है कि इनके गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) के पिता मीनपा[3] का समय सन् ८७० के आस-पास माना गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन जी के अनुसार भी इनके दादा गुरु जालन्धरपाद-अथवा आदिनाथ का समय सन् ८६७ के पास ही आता है। इस हिसाब से मछन्दरनाथ का समय सन् ९५० और गोरखनाथ का सन् १०५० के आस-पास समझना चाहिए। इस अनुमान की पुष्टि एक और प्रमाण से होती है। नाथपन्थी महात्मा ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) का काल सन् १२३० के आसपास माना जाता है। इन्होंने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथ से उपदेश ग्रहण किया था। इतिहासकारों ने इनका समय सन् ११७० के लगभग अनुमाना है।[4] निवृत्तिनाथ के गुरु गैनीनाथ थे जो बाबा गोरखनाथ के शिष्य थे। इस तरह गैनीनाथ का समय १११० और बाबाजी का १०५० के आसपास मान सकते हैं।

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण भाग ११ में डाक्टर साहब का "हिन्दी कविता में योग प्रवाह" शीर्षक लेख।

[2] 'गंगा' (पुरातत्त्वांक) भाग ३ अंक १, श्री राहुल सांकृत्यायन जी का "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध" शीर्षक लेख।

[3] 'मिश्रबन्धुविनोद'—प्रथम भाग, पृ० १४० ।

[4] 'मिश्रबन्धुविनोद'—प्रथम भाग, पृ० १४०

गोरखनाथ जी का समय जानने में जलन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, कणेरीपाव, चरपटनाथ, चुणकरनाथ आदि के जीवनकाल की तिथियों से सहायता मिल सकती है। प्रथम महाशय उनके गुरु मछन्दरनाथ के गुरुभाई थे; द्वितीय और चतुर्थ उन्हीं के गुरुभाई थे; तृतीय सज्जन प्रथम अर्थात् जलन्धरनाथ के शिष्य थे और प्रथम चुणकरनाथ के समकालीन थे। इन पाँचों के समयों में लगभग ७५ वर्षों का अन्तर होना आवश्यक जान पड़ता है; परन्तु मिश्रबन्धुओं ने इन पाँचों का समय बाबा गोरखनाथ का पूर्व-प्रचलित और मान्यकाल संवत् १३५० (सन् १४०७) मान लिया है।[१] वस्तुतः ऐसा करना भ्रमोत्पादक है।

प्रसिद्ध है कि इनके गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) अपने शिष्य को उपदेश देने के पश्चात् फिर सांसारिक व्यवहार में लिप्त हो गये। उस समय गोरखनाथ ने उन्हें इस मायाजाल से छुड़ाया। इस किंवदन्ती से यह आशय निकाला जा सकता है कि गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् गोरखनाथ के ज्ञानोपदेश अपने गुरु मछन्दरनाथ से भी महत्त्व के होते थे, उनका जनता में पर्याप्त सम्मान था और शिष्य की गुरु से अधिक प्रसिद्धि उन्हीं के जीवनकाल में हो चली थी। कुछ विद्वानों[२] का यह भी कहना है कि इन रचनाओं की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं वे इतनी पुरानी नहीं हैं। अतएव यह सन्दिग्ध ही है कि ये कृतियाँ इन प्रतियों में अपने मूल रूप में पाई जाती हैं। परन्तु शुक्ल जी जैसे विद्वान् इन सब खोजों और विचारों की विवेचना करने के पश्चात् भी इनका समय निश्चित रूप से दसवीं शताब्दी मानने को तैयार नहीं हैं।[३] जो हो, बाबा गोरखनाथ के नाम से प्रचलित ४८ ग्रन्थ अब तक खोज में प्राप्त हुए हैं। इनकी सूची किसी भी इतिहास-ग्रन्थ में देखी जा सकती है। इन ग्रन्थों की भाषा और वर्णनशैली की विभिन्नता देखकर अनुमान होता है कि उक्त ग्रन्थों में कुछ ही गोरखनाथ के बनाये हुए हो सकते हैं। शेष की रचना, उनका संकलन अथवा सम्पादन उनके शिष्यों ने किया होगा। यह कार्य उनकी सम्मति से हो सकता है और उनकी मृत्यु के बाद भी किया जाना सम्भव है। कारण, अपने जीवनकाल में ही इनको पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी और ऐसी दशा में शिष्यों का उनके नाम पर ग्रन्थ संकलित, सम्पादित करना अथवा रचना स्वाभाविक ही हो गया होगा। इन ग्रन्थों में कुछ गद्य के हैं। उनकी भाषा[४] यह है—

(१) सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ अस्नान करि चुकौ, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ, अरु पितरनि को सन्तुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।

(२) श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द? आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि को। जिन्हीं के नित्य गावैं हैं सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरष सो मछन्दरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्माजोति निश्चल हैं, अन्तहकरन जिन्हको अरु मूल द्वार तैं छह चक्र जिन्हि नीकी तरह जानैं। अरु जुगकाल कल्पइनि की रचनातत्त्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिन्हि को मेरी दंडवत। स्वामी तुम्हें तो सतगुरु अम्है तो सिष सबद एक पूछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।

बाबा गोरखनाथ के नाम से प्रचलित सभी ग्रन्थ ऐसी ब्रजभाषा में लिखे गये हैं जिसमें सम्पूर्ण, प्राप्त, सर्व, स्वर्गलोक, सन्तुष्ट, मात्र, मनुष्य, स्वरूप, नित्य, आत्मा, निश्चल, चक्र, कल्प, तत्त्व, सुगन्ध, आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। गोरखनाथ ने अपने पन्थ के प्रचार के लिए भारत के पश्चिमी भाग—पंजाब,

---

[१] 'मिश्रबंधु विनोद', प्रथम भाग, पृ० १६१-२

[२] 'हिन्दुस्तानी' भाग ५, अं० ३, पृ० २२६ में श्री नरोत्तम स्वामी एम० ए० का "हिन्दी का गद्यसाहित्य" शीर्षक लेख।

[३] हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण) सं० १९९७, पृ० १७।

[४] 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (द्वितीय संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३०।

राजपूताना आदि प्रदेश,—चुने थे। इसलिए उनकी व्रजभाषा में 'अम्है', 'पूछिवा', कहिवा' 'करिवा', आदि राजस्थानी शब्द भी मिलते हैं। 'जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार वैठो', जैसे वाक्यांशों पर पूरवीपन की छाप भी स्पष्ट है। यद्यपि उक्त अवतरणों को देखकर शुक्ल जी को यह शंका होती है कि यह किसी संस्कृत लेख का 'कथंभूती' अनुवाद न हो, तथापि उन्होंने निश्चयरूप से इसे सं० १४०० के गद्य का नमूना माना है।[1]

हिन्दी में प्रचलित तद्भव रूप भी इन ग्रंथों में बहुत अधिक मिलते हैं। कहीं-कहीं तो तद्भव रूपों की अधिकता देखकर अनुमान होने लगता है कि लेखक का ध्यान शब्दों के संस्कृत रूप की ओर अधिक नहीं है। जज्ञ, अस्नान, छन, सर्व, पूजि चुकौ, पितरन आदि शब्द इसी रूप में इन ग्रन्थों में मिलते हैं, संस्कृत के शुद्ध रूप में नहीं।[2] वस्तुतः इन शब्द-रूपों के अपनाये जाने का एक कारण है। प्राचीन हिन्दी कविता में कुछ तो तुक की आवश्यकता से और कुछ भाषा की सरसता तथा व्यवहार की स्वाभाविकता के कारण संस्कृत शब्दों के हिन्दी रूपों का व्यवहार आरम्भ से ही किया गया है। गद्य-रचनाओं में भी लेखकों ने यही प्रवृत्ति अपनाना उचित समझा। बावा गोरखनाथ ही नहीं, उनके पश्चात् विट्ठलनाथ, गोकुलनाथ, नाभादास, वनारसीदास आदि सभी प्राचीन गद्यलेखकों में यह प्रवृत्ति समान है।

गोरखनाथ की भाषा के उदाहरण-रूप में जो उक्त अवतरण हमारे साहित्य-इतिहासों में उद्धृत रहते हैं, व्रजभाषा-विकास की दृष्टि से वे प्रायः सभी यह समस्या उपस्थित करते हैं कि यदि गोरखनाथ का समय ग्यारहवी शताब्दी माना जाय तो यह गद्य उनका लिखा हुआ नहीं हो सकता और यदि यह गद्य उन्हीं का है तो चौदहवीं शताब्दी से तीन सौ वर्ष पहले ऐसी साफ़ व्रजभाषा प्रचलित नहीं मानी जा सकती। मिश्रवन्धुओं ने बावा गोरखनाथ को ही हिन्दी गद्य का प्रथम लेखक माना है,[3] परन्तु उन्होंने इस समस्या पर विचार नहीं किया।[4] अन्य इतिहासकार भी प्रमाण के अभाव में अनुमान से काम चलाते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन जी उनका समय ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी ही मानते हैं; परन्तु उनके गद्य के सम्बन्ध में स्पष्ट मत कदाचित उन्होंने भी नहीं दिया है।[5]

मत-विशेष के प्रचारकार्य से सम्बन्ध रखने के कारण गोरखनाथ का गद्य उपदेशपूर्ण हो गया है। इसलिए उससे हम केवल साधारण क्रिया-रूपों और हिन्दी गद्य पर संस्कृत के प्रभाव-मात्र को जान सकते हैं। सिद्धान्तों के वर्णन की चेष्टा होने के कारण कहीं-कहीं उसमें साहित्यिक भाषा की-सी झलक मिलती है।

कुमुटिपाव के नाम पर मिला दूसरा ग्रन्थ भी हठयोग से सम्बन्ध रखता है। कुमुटिपाव सम्भवतः चौरासी सिद्धि वाले कुमुरिपा हैं। इस ग्रन्थ में षट्चक्र और पंच मुद्राओं का वर्णन है। इसका लिपिकाल सन् १८४० है और रचनाकाल ज्ञात नहीं है। इसकी भाषा के रूप को देखकर कहना पड़ता है कि यह ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के लगभग ही लिखा गया होगा और इस दृष्टि से इसकी भाषा का यह रूप विचारणीय है। नमूना[6] देखिए—

अजया जयन्ती महामुनि इति ब्रह्मचक्र जाप प्रभाव वोलीये। ब्रह्मचक्र ऊपर गुह्यचक्र सीस मंडल स्याने वसै। इकईस ब्रह्मांड वोलीये।......। परम सून्य स्यान ऊपर जे न विनसे न आवे न जाई योग योगेन्द्र हे समाई। सुनौ देवी पार्वती ईश्वर कथितं महाज्ञानं।

इस अवतरण में एक ओर जयन्ती, स्याने, कथितं, ज्ञानं आदि रूप हैं और दूसरी ओर वोलीये, वसै, न विनसे,

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण) सं० १९९६, पृ० ४७९

[2] मिश्रवन्धुविनोद, प्रथम भाग—भूमिका पृष्ठ ५३

[3] ,, ,, ,, पृष्ठ १५७

[4] ,, ,, ,, ,, १६१

[5] ,, ,, ,, ,, १६१

[6] काशी नागरी प्रचारिणी सभा का अड़तालीसवाँ वार्षिक विवरण, सं० १९९७, पृ० १०

न आवे न जाई, समाई, सुनौ इत्यादि । इससे प्रकट होता है कि सिद्धों की रचनाओं में संस्कृत के साथ लोकभाषा को भी-स्थान मिलने लगा था।

वीरगाथाकाल के पश्चात् भक्तियुग में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य-केन्द्र राजस्थान न रहकर व्रज और काशी के आसपास हो गया। फलतः राजस्थानी के साथ-साथ व्रजभाषा और अवधी को भी काव्य-भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में दोनों भाषाओं में अनेक सुन्दर काव्य रचे गये। आगे चलकर धार्मिक उत्थान का आश्रय पा जाने के कारण व्रजभाषा का क्षेत्र अवधी से बहुत विस्तृत हो गया। काव्य की सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के साथ-साथ अनेक गद्य-ग्रन्थ भी उसमें रचे गये। भक्तिकाल में लिखे हुए जितने गद्य-ग्रन्थ अब तक खोज में प्राप्त हुए हैं, उनकी संख्या यद्यपि अधिक नहीं है, तथापि गद्य-रचना के क्रम का पता उनसे अवश्य चलता है।

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लिखी एक चिट्ठी कुछ वर्ष हुए खोज में प्राप्त हुई थी जो राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश की लिखी बताई जाती है। वह चिट्ठी[1] इस प्रकार है—

श्रीमुख पत्री लिखति। श्री सकल गुण सम्पन्न रसरीति बहावनि चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग्य लिखति श्री वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन वंचनौ। जोरी सुमिरिन मत्त रहौ। जोरी जो है सुख बरखत है। तुम कुसल स्वरूप है। तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार आवत हैं। सुख अमृत स्वरूप है। बाँचत आनन्द उमड़ि चलै है। मेरी बुद्धि को इतनी शक्ति नहीं कि कहि सकों। पर तोहि जानत हों। श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशीर्वाद दैंहि। हम यही आशीर्वाद देत हैं कि तिहारो आयुस बढ़ौ। और तिहारी सकल सम्पत्ति बढ़ौ। और तिहारे मन को मनोर्थ पूरन होहु। हम नेत्रन सुख देखें। हमारी भेंट यही है। यहाँ की काहू बात की चिन्ता मति करौ। तेरी पहिचानि तें मोकों श्री श्यामाजू बहुत सुख देतैं हैं। तुम लिख्यो हो दिन दश में आवेंगे। तेई आसा प्रान रहे हैं। श्री श्यामाजू बेगि लै आवें। चिरंजीव कृष्णदास कों जोरी सुमिरन बाँचनौ। गोविन्ददास सन्तदास की दंडौत। गांगू मेदा को कृष्ण सुमिरन बाँचनौ। कृष्णदास मोहनदास को कृष्ण सुमिरन। रंगा की दंडौत। वनमाली धर्मसाला को कृष्ण सुमिरन बाँचनौ।

यह चिट्ठी गोसाईं श्री हरिवंश जी ने अपने प्रिय शिष्य बीठलदास जी को लिखी थी। गोसाईं जी का जन्म सं० १५५९ है। शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल सं० १६०० से सं० १६४० तक माना है।[2] परन्तु "साहित्य समालोचक" का कहना है कि यह चिट्ठी संवत् १५६५ में लिखी गई थी।[3] स्पष्ट है कि यदि यह चिट्ठी वास्तव में गोसाईं जी की लिखी हुई है तो संवत् लिखने में अवश्य भूल हुई है। हम समझते हैं कि यह सन् १५३८ (सं० १५९५) के आसपास लिखी गई होगी। इसका गद्य बिलकुल स्पष्ट है और यदि यह चिट्ठी ठीक है तो उन विद्वानों को बड़े आश्चर्य में डालने वाली सिद्ध होगी जो व्रजभाषा गद्य को बिलकुल अस्पष्ट और अव्यवस्थित समझते हैं। इसमें संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है, यद्यपि तत्सम रूप उन्हें लिपिकार की कृपा से मिला जान पड़ता है।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी (सन् १४५८-१५३०) के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ (सन् १५१५-१५८५) का गद्य सामने आता है। इन्होंने 'शृंगाररस मंडन' और 'राधाकृष्ण-विहार' नामक दो ग्रन्थ व्रजभाषा में लिखे थे। इन दोनों की भाषा का नमूना देखिए—

---

[1] 'समालोचक' (त्रैमासिक) भाग १, अं० ४, पृ० ३२९ (अक्टूबर १९३५)

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण) सं० १९९७, पृ० २१९

[3] 'समालोचक' (अक्टूबर '३५) १-४-३१९

(१) जम के सिखर पर सब्दायमान करत है, विविध वायु बहत है, हे निसर्ग स्नेहार्द्र सखी कूं सम्बोधन प्रिया जू नेत्र कमल कूं कछुक मुद्रित दृष्टि होय कै बारम्बार कछु सभी कहत भई, यह मेरो मन सहचरी एक छन ठाकुर को त्यजत भई। —'राधाकृष्ण विहार' से।[1]

(२) प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरन विषै सेवक को दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण भई। —'शृंगाररसमंडन' से[2]

यह गद्य गोरख-पन्थी ग्रन्थों के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् का नमूना है। भाषा के परिमार्जन के लिए दो शताब्दियों का समय आज बहुत होता है, परन्तु संस्कृत की प्रधानता के उस युग में, जब 'भाषा' की कविता भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी, गद्य में लिखने का चलन अधिक नहीं था। अतः दो सौ वर्ष बाद भी गद्य को उसी प्रकार अपरिमार्जित और अव्यवस्थित देखकर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

ऊपर दिये हुए प्रायः सभी अवतरणों में एक बात जो समान रूप से पाई जाती है वह है संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग। 'योगाभ्यास मुद्रा' के गद्य में सिद्धों की वाणी में संस्कृत पदावली के मध्य हिन्दी-भाषा का अंकुर देखा जाता है। गोरखपन्थी ग्रन्थों में तो संस्कृत के तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए ही हैं। वही बात गोसाईं विट्ठलनाथ की भाषा में भी देखने को मिलती है, जहाँ विविध, निसर्ग, स्नेहार्द्र, सम्बोधन, मुद्रित दृष्टि, सहचरी, क्षण, चरण, प्रेमामृत, मन्दहास्य, समूह, निकुंज, श्रेष्ठ रसना, पूर्ण आदि शब्दों का स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग किया गया है। 'हरिऔध' जी की सम्मति[3] में, श्रीमद्भागवत का प्रचार और राधाकृष्णलीला का साहित्यक्षेत्र में विषय के रूप में प्रवेश करना ही इस संस्कृत शब्दावली की लोक-प्रियता तथा उसके फल-स्वरूप हिन्दी गद्य में उसके स्थान पाने का कारण जान पड़ता है। प्रान्तीय भाषाओं के प्रभाव भी उक्त अवतरणों में दिखाई पड़ते हैं। 'पै' के स्थान पर 'पर' और 'को', 'कौ' अथवा 'कौं' के स्थान पर 'कूं' का प्रयोग ऐसे ही प्रभावों का परिणाम है।'

सत्रहवीं शताब्दी के व्रजभाषा-गद्य-लेखकों में सबसे पहला नाम हरिराय का आता है। इनका जीवनकाल सं० १६०७ माना गया है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य एवं संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे ज्ञाता बताये गये हैं। इनके कई ग्रन्थों का विवरण सभा की पिछली कई रिपोर्टों में आया है।[4] सन् १९३२-३४ के त्रैवार्षिक विवरण में इनके रचे ग्रन्थ—(१) कृष्णप्रेमामृत (२) पुष्टि दृढ़ावन की वार्ता (लिपिकाल सन् १८५९) (३) पुष्टि प्रवाह-मर्यादा (४) सेवाविधि (लिपिकाल सन् १८०७) (५) वर्षोत्सव की भावना (६) वसन्त होरी की भावना (लिपिकाल सन् १८४५) (७) भाव-भावना। इन सात ग्रन्थों में अन्तिम गद्य का एक विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमें रावाजी के चरण-चिह्नों की भावना, नित्य की सेवाविधि, वर्षोत्सव की भावनाएँ, डोल उत्सव की भावना, छप्पन भोग की रीति, हिंडोरादि की भावनाएँ, सातों स्वरूप की भावना एवं भोग की सामग्री आदि बनाने की रीति दी गई है। नीचे 'भाव-भावना' में से इनके गद्य का उदाहरण दिया जाता है[5]—

सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सब स्वामिनी जी के भावते हैं। तातें मंगलाचरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल कों नमस्कार करत हैं। तिनकी उपमा देवे कों मन दसो दिसा दोरयो। परन्तु

[1] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वितीय संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३१

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण) १९९७, पृ० ४७९

[3] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वि० संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३१-३२

[4] देखिए—रि० १९०० ई० सं० ३८; १९०९-११ ई० सं० ११५; १९१७-१९ ई० सं० ७४; १९२३-२५ ई० सं० १६०; १९२९-३१ ई०; १९३२-३४ ई०

[5] प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९३२-३४) पृ० ३७९।

कहूँ पायो नहीं। पाछे श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल को आश्रय कियो है। तब उपमा देवे कूँ हृदय में स्फूर्ति भई। जैसे श्री ठाकार जी को अधरविम्व आरक्त हैं रसरूप। तेसेई श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं। सो नाते श्री चरण-कमल कों नमस्कार करत हैं। तिन में अनवट विछुआ नूपुर आदि आभूषण हैं।

यह गद्य विलकुल स्पष्ट और व्यवस्थित है। इससे पता लगता है कि सन् १५५३ के लगभग गद्य का प्रयोग ग्रन्थरचना के लिए वरावर किया जाता था। उक्त अवतरण में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। 'पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं', 'श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं', 'नूपुर आदि आभूषण हैं', इत्यादि प्रयोग राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं श्री हितहरिवंश जी की चिट्ठी में आये हुए, 'सुख अमृत स्वरूप हैं' 'तुम पर वहुत प्रसन्न हैं', 'हमारी भेंट यही है' आदि से मिलते-जुलते हैं।

इसी समय के लगभग 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ वावन वैष्णवों की वार्ता' का गद्य सामने आता है। अव तक ये ग्रन्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ के नाम पर, जिनका समय सन् १५६८ से १५६३ के आसपास है, प्रचलित थे। इधर अपने इतिहास के नये संस्करण में[1] शुक्ल जी ने अपना यह मत दिया है कि प्रथम 'वार्ता' गोकुलनाथ के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है; क्योंकि इसमें गोकुलनाथ का कई जगह वड़े भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमें वैष्णव भक्तों तथा आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी की महिमा प्रकट करने वाली कथाएँ लिखी गई हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' तो और भी पीछे औरंगज़ेव के समय के लगभग लिखी गई जान पड़ती है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का भी यही मत है कि ये दोनों 'वार्ताएँ' एक ही लेखक की रचनाएँ नहीं हैं।[2] इस सम्वन्ध में हमें यह निवेदन करना है कि गोकुलनाथ जी का वड़े भक्तिभाव से उल्लेख देखकर ही हम प्रथम 'वार्ता' को उनके किसी शिष्य की लिखी मानने के पक्ष में नहीं हैं। सम्भव है, जिन स्थलों पर गोस्वामी जी की प्रशंसा की गई है वे प्रक्षिप्त हों। गोकुलनाथ जी के समकालीन कवियों के काव्यों में भी जव प्रक्षिप्त अंश पाया जाता है—काव्यों में कुछ जोड़ना गद्य की अपेक्षा स्वभावतः कठिन है—तव गद्य में ऐसा होना असम्भव नहीं जान पड़ता है। जो हो, ये 'वार्ताएँ' सत्रहवीं शताब्दी में रची मानने के लिए प्रायः सभी विद्वान तैयार हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता—

(क) तव सूरदास जी अपने स्थल तें आयके श्री आचार्य महाप्रभून के दर्शन को आये। तव श्री आचार्य महाप्रभून ने कह्यो जो सूर आवो वैठो। तव सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन करिके आगे आय वैठे तव श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्यश वर्णन करो। तव सूरदास ने कही जो आज्ञा।[3]

(ख) सो सूरदास जी के पद देशाधिपति ने सुने। सो सुनि कें यह विचारी जो सूरदास जी काहू विधि सों मिलें तो भलो। सो भगवदिच्छा ते सूरदास जी मिले। सो सूरदास जी सों कह्यो देशाधिपति ने जो सूरदास जी में सुन्यो है जो[4] तुमने विनयपद वहुत कीये हैं। जो मोकों परमेश्वर ने राज्य दीयो है सो सव गुनीजन मेरो जस गावत हैं ताते तुमहूँ कछु गावो। तव सूरदास जी ने देशाधिपति के आगे कीर्तन गायो।[5]

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण) सं० १९९७, पृ० ४७९-८०

[2] देखिए 'हिन्दुस्तानी' अप्रैल १९३२, भाग २, सं० २, पृ० १८३

[3] 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', पृ० २७४

[4] जो—कि। 'कि' का प्रयोग वहुत समय वाद होने लगा था। सम्भव है, वह फ़ारसी से लिया गया हो। यद्यपि कई विद्वानों की राय इसके प्रतिकूल है। वे इसकी उत्पत्ति 'किम्' से मानते हैं। देखिए—फ़ुटनोट—हिन्दुस्तानी (५-३) पृ० २५४

[5] चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृ० २७९

(२) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—

(क) नन्ददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो विनकूं नाच-तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शोक बहुत हतो। सो वा देश में सूं एक संग द्वारका जात हतो। सो नन्ददास जी ऐसे विचार कें में श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूं जाऊं तो अच्छो है। जब विसने तुलसीदास जी सूं पूंछी तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते। जासूं विनने द्वारका जायबे की नाहीं कही।[1]

(ख) तब नन्ददास जी श्री गोकुल चले। तब तुलसीदास जी कूं संग संग आये। तब आयके नन्ददास जी ने श्री गुसाईं जी के दर्शन करे। साष्टांग दंडवत करी, और तुलसीदास जी ने दंडवत करी नहीं। और नन्ददास जी कूं तुलसीदास जी ने कही के जैसे दर्शन तुमने वहां कराये वैसे ही यहां कराओ। तब नन्ददास जी ने श्री गुसाईं जी सों विनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं। श्री रामचन्द्र जी विना और कूं नहीं नमें हैं। तब श्री गुसाईं जी ने कही तुलसीदास जी बैठो।[2]

इस भाषा के सम्बन्ध में दो बातें मुख्यतः स्मरण रखनी चाहिएँ। पहली बात यह कि उक्त अवतरण जन-साधारण में प्रचलित ऐसी भाषा के हैं, जिनमें भाव-व्यंजना की सुन्दर शक्ति जान पड़ती है। इनके लेखक ने कहीं अपनी योग्यता अथवा किसी प्रकार का चमत्कार दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम, तद्भव तथा अन्य प्रचलित शब्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि संस्कृत के प्रभाव से मुक्त एक काव्य-भाषा उस समय गद्य-भाषा का रूप धारण करने की ओर पैर बढ़ा रही थी। तीसरे अवतरण में प्रयुक्त 'तमासा', 'शोक' आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि लेखक अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को अपनाने के भी पक्ष में था। यही नहीं, मिश्रबन्धुओं की सम्मति में गुजराती-मारवाड़ी बोलियों का भी इनकी भाषा पर प्रभाव पड़ा है।[3]

दूसरी बात क्रियापदों के रूप से सम्बन्ध रखती है। बाबा गोरखनाथ, गोसाईं विट्ठलनाथ, हरिराय आदि गद्यलेखकों की भाषा की क्रियाएँ तथा कुछ अन्य शब्द इस बात के समर्थक हैं कि उनकी रचनाएँ व्रजभाषा की ही हैं। इस गद्य का क्रमशः विकास होता गया। 'वार्ताओं' के लेखक की भाषा में यद्यपि क्रियापदों का रूप बहुत कुछ पूर्ववत् ही बना रहा, तथापि कुछ ऐसे क्रियारूपों का प्रयोग भी उन्होंने किया जो नये तो नहीं कहे जा सकते, पर जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती लेखकों के गद्य में बहुत कम हुआ है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियों में रेखांकित क्रियाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं—

सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई। जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है। सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।[4]

इन पंक्तियों में आई, करी है, करें तथा ऊपर के अवतरणों में प्रयुक्त आये, बैठे, सुने, मिले, चले, करे कराओ, कराये, आदि क्रियारूप प्रायः वे ही हैं, जो वर्तमान खड़ीबोली में प्रयुक्त होते हैं। यही नहीं, 'वार्ताओं' की भाषा पूर्ववर्ती लेखकों की भाषा से कुछ शुद्ध भी है। 'पूर्ण होत भई' की तरह पर 'त्यजत भई', 'कहत भई' आदि जो प्रयोग गोस्वामी विट्ठलनाथ आदि की भाषा में हैं उनके स्थान पर 'वार्ताओं' में हमें इनके व्रजभाषा के शुद्ध रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें कारक चिह्नों का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप से हुआ है।

'वार्ताओं' में खटकने वाली एक बात है सर्वनाम का उचित प्रयोग न किया जाना। इसका फल यह हुआ कि संज्ञा शब्दों की भद्दी पुनरुक्ति हो गई है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनका गद्य सजीव और स्वाभाविक है। साधा-

---

[1] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० २८

[2] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० ३५

[3] मिश्रबन्धुविनोद प्रथम भाग, पृ० २८५

[4] दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता, पृ० ३२

रण वर्णन की प्रवृत्ति होने से लेखकों ने भाषा को साहित्यिक और शुद्ध बनाने का कृत्रिम प्रयत्न नहीं किया। इन विशेषताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि 'वार्ताएँ' गद्य की सुन्दर रचनाएँ हैं और इनकी भाषा विषयानुकूल और व्यवस्थित है।

यह तो हुई 'वार्ताओं' की बात। इनके अतिरिक्त स्वामी गोकुलनाथ के बनाये हुए छः ग्रन्थ—वनयात्रा, पुष्टि-मार्ग के वचनामृत (लि० का० सन् १८४८), रहस्यभावना (लि० का० सन् १८५४), सर्वोत्तम स्तोत्र, सिद्धान्त-रहस्य, और वल्लभाष्टक—प्रकाश में आये हैं। ये सब ग्रन्थ व्रजभाषा में हैं और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों तथा भक्ति विषय का प्रतिपादन किया गया है। यदि 'वार्ताओं' का रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ को भी मानें तब भी उक्त ग्रन्थों को देखकर डा० बड़थ्वाल उन्हें अनेक गद्य[1]-ग्रन्थों का निर्माता, उत्कृष्ट विद्वान और श्रेष्ठ लेखक स्वीकार करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य गद्य-लेखकों में नन्ददास, नाभादास, तुलसीदास, बनारसीदास, किशोरीदास और वैकुंठमणि शुक्ल के गद्यग्रन्थों का पता लगता है। ये ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से तो विशेष महत्त्व के नहीं हैं, तथापि व्रज-भाषा—विकास की दृष्टि से इनका मूल्य अवश्य है। इससे हमें तत्कालीन गद्य-भाषा के रूप का कुछ परिचय अवश्य मिलता है और हमें यह कहने का अवसर भी मिलता है कि हमारे कवि कभी-कभी गद्य में भी लिखा करते थे।

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के लिखे 'नासिकेत पुराण भाषा' और 'विज्ञानार्थ प्रवेशिका' नामक ग्रन्थ मिलते हैं। इनका रचनाकाल सन् १५६८ के आसपास होना चाहिए, क्योंकि इनके 'अनेकार्थनाममंजरी' नामक ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १५६७ है। उक्त दोनों ग्रन्थ व्रजभाषा गद्य में बताये जाते हैं। प्रथम ग्रन्थ उसी नाम की संस्कृत रचना का अनुवाद है और द्वितीय एक संस्कृत ग्रन्थ की व्रजभाषा-गद्य में टीका, जो मिश्रबन्धुओं ने छतरपुर में देखी थी।[2] इनके पश्चात् 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध कवि नाभादास जी ने सन् १६०३ के आसपास 'अष्टनाम' नामक एक पुस्तक व्रजभाषा-गद्य में लिखी। उसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है। इस पुस्तक की भाषा का नमूना[3] यह है—

तब श्री महाराजकुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनकों प्रनाम करत भये। फिर श्री राजाधिराज कों जोहारि करिकैं श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भये।

नाभादास जी का यह गद्य गोस्वामी विट्ठलनाथ की भाषा से मिलता-जुलता है। 'करत भये', 'बैठत भये', आदि से मिलते-जुलते रूप हम उनकी भाषा में देख चुके हैं। सन् १६०० के लगभग प्रेमदास नामक एक और गद्य-लेखक के प्रादुर्भाव का पता इधर लगा है।[4] इन्होंने हितहरिवंश जी (जन्म सन् १५०२) के 'हितचौरासी' नामक ग्रंथ की टीका बड़े विस्तार से लगभग ५०० पृष्ठों में की थी। प्रेमदास का समय पूर्णतः निश्चित नहीं है। हितहरि-वंश जी का रचनाकाल सन् १५४० से १५८० तक मान्य है। अतः प्रेमदास की टीका इसके बाद लिखी गई होगी। इसी समय के लगभग का गोस्वामी तुलसीदास जी का लिखा हुआ एक पंचनामा मिलता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ[5] इस प्रकार हैं—

सं० १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी बार शुभ दिने लिखीत पत्र आनन्दराम तथा कन्हई के अंश विभाग पूर्व मु आगे जे आग्य दुनहु जने माँगा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसील अंश टोडरमल के माह जे विभाग पदु होत रा।....। मौजे भदेनी मह अंश पाँच तेहि मँह अंश दुइ आनन्दराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा पितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा तमपुरा अंश टोडरमल की हील हुज्जती नास्ती।

---

[1] प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० ३६८

[2] मिश्रबन्धुविनोद प्रथम भाग, पृ० २२९

[3] हिन्दुस्तानी—५-३, पृ० २५५

[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशोधित संस्करण, पृ० २१९

[5] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—(द्वि० संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३५

इस पंचनामे की भाषा व्रज नही, वोलचाल की अवधी है।[1] परन्तु इसमें प्रयुक्त 'माँगा', 'माना' आदि शब्द ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार तफसील, हुज्जती, आदि फ़ारसी के शब्द सम्भवतः इस वात की याद दिलाते है कि टोडरमल की कृपा से राजकाज की भाषा फ़ारसी हो गई थी और इसके फलस्वरूप 'पचनामे' में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक था। इस पंचनामे की रचना सन् १६१२ में हुई थी। इसी समय के आसपास जौनपुर के वनारसीदास (जन्म सन् १५८६) नामक एक जैन मतावलम्वी कवि के लिखे हुए कुछ उपदेश व्रजभाषा-गद्य में मिलते हैं।[2] सन् १६१३ के लगभग इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ[3] देखिए—

सम्यग् दृष्टि कहा? सो सुनो। संशय, विमोह, विभ्रम तीन भाव जामे नाहीं सो सम्यग् दृष्टी। संशय, विमोह, विभ्रम कहाँ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुनो।

वैकुंठमणि (सन् १६२५ के लगभग वर्तमान) की दो छोटी-छोटी पुस्तकें 'अगहनमाहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' मिलती है। ये ओरछा के महाराज जसवन्तसिंह की महारानी के लिए लिखी गई थी। यह वात द्वितीय पुस्तिका में स्वयं लेखक ने इस प्रकार लिखी है—

सब देवतन की कृपा तें बैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चन्द्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जयरूप ग्रन्थ बैसाख-महात्म भाषा करत भये।[4]

इस वाक्य से हमें इन ग्रन्थों की भाषा का नमूना मिल जाता है और यह भी ज्ञात होता है कि ये अनुवाद मात्र हैं। इनकी रचना का समय सन् १६२५ के आसपास समझना चाहिए।

वैकुंठमणि के समकालीन विष्णुपुरी नामक लेखक ने सन् १६३३ में 'भक्तिरत्नावली' नाम का एक ग्रन्थ व्रज-भाषा में अनुवादित किया। इस काल की अन्य रचनाओं से यह वड़ा है। 'भुवनदीपिका' नामक एक ग्रन्थ इनके किसी समकालीन लेखक का वनाया जान पड़ता है; क्योंकि इसका रचनाकाल सन् १६१४ है।

वैकुंठमणि के दोनों 'माहात्म्यों' के लगभग ८० वर्ष पश्चात् सन् १७०५ के आसपास 'नासिकेतोपाख्यान' नामक एक ग्रन्थ लिखा गया। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

हे ऋषीश्वरों! और सुनो, वेख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महादुख के रूप जमकिंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिह, बड़े-बड़े ग्रध देखे। पन्थ में पापकर्मी को जमदूत चलाइ के मुग्दर अरु लोह के दंड कर मार देत है। आगे और जीवन को त्रास देत देखे हैं। सु मेरो रोम-रोम खरो होत है।

इसके पाँच-छः वर्ष वाद सन् १७१० मे आगरे[2] के सुरति मिश्र ने व्रजभाषा में 'वैतालपचीसी' लिखी। इसका कथानक संस्कृत के 'वैतालपंचविंशति' से लिया गया था। इसके अतिरिक्त 'विहारीसतसई' की 'अमरचन्द्रिका' नाम से कविप्रिया तथा रसिकप्रिया की उन्ही नामों से टीकाएँ भी मिश्र जी ने कीं। 'अमरचन्द्रिका' का रचनाकाल सन् १७३४ है और शेष दोनों का सन् १७४० के आसपास। इन टीकाओं से इतना तो स्पष्ट है ही कि कभी-कभी शास्त्रीय विषयों के निरूपण के लिए हमारे आचार्य गद्य का भी उपयोग किया करते थे। इस सम्वन्ध में स्व० शुक्ल जी का भी यही मत है।[5]

सन् १७९५ मे, लगभग ८५ वर्ष पश्चात्, हीरालाल ने जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से 'आईन अकवरी की भाषा वचनिका' तैयार की। इसकी भाषा का नमूना यह है—

---

[1] देखिए फ़ुटनोट—हिन्दुस्तानी—५०-३-२५५

[2] इन्होंने स्वयं लिखा है—सूरत मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास।

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशो० संस्करण, पृ० ३४०

[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशो० संस्करण, पृ० २६६

[5] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वि० संस्करण) पृ० ६३६

अब शेख अबुल फजल ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करिकै अकबर बादस्याह की तारीफ़ लिखने को करत करै है। अरु कहै है—या की बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातैं याके पराकरम अरु भाँति भाँति के दसतूर व मनसूवा दुनिया में प्रगट भये, ताको संखेप लिखत हैं।

इन अवतरणों की भाषा बहुत कुछ व्यवस्थित होते हुए भी "वार्ताओं" की भाषा का सौ-डेढ़-सौ वर्षों में विकसित रूप नहीं कहा जा सकता। इन्हें देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा में यदा-कदा गद्य-ग्रन्थ लिख लिये जाते थे। परन्तु उक्त लेखकों के पश्चात् ब्रजभाषा के गद्य का विकास नहीं हुआ। रीतिकाल के लेखकों ने तो इसका प्रयोग काव्य-ग्रन्थों की केवल शाब्दी टीका करने के लिए किया, यहाँ तक कि एक भी स्वतन्त्र और प्रौढ़ ब्रजभाषा का ग्रंथ इस समय नहीं लिखा गया। टीका और भाष्य इस समय के अवश्य मिलते हैं—एक बिहारी सतसई की ही कई टीकाएँ पाई जाती हैं, परन्तु भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से इनका विशेष मूल्य नहीं है। कारण यह है कि इनकी भाषा प्रायः अव्यावहारिक और अव्यवस्थित है तथा शैली अपरिमार्जित और पंडिताऊ ढंग की। 'रामचन्द्रिका' की सन् १८१५ के लगभग लिखी हुई टीका का एक उदाहरण देखिए—

राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि के गयो॥

टीका—सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित है अंसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं जिन सहित मानो कलिन्दागिरि-शृंग से हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाहि विषै एक वचन है। हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्यनि के सदृश अनेक नभ-जटित मुकुट हैं।

'वार्ताओं' की भाषा से इस भाषा की तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि ब्रजभाषा के गद्य का विकास न होकर ह्रास होने लगा। यदि 'वार्ताओं' की भाषा में उसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से गद्य-ग्रन्थ-रचना होती रहती तो कदाचित् भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ती जाती, परन्तु एक तो विषय की परतन्त्रता और दूसरे टीकाकारों की संकुचित मनोवृत्ति के कारण ऐसा न हो सका। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'विहारीसतसई', 'शृंगारशतक' आदि अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ इस युग में हुईं और सुरति मिश्र, किशोरदास तथा सरदार कवि आदि अनेक व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में काम किया; परन्तु प्रायः सभी की भाषा ऊपर दिये हुए नमूने की तरह अनगढ़ और अनियन्त्रित ही है, जिससे मूल पाठ टीकाओं में सरल और स्पष्ट न होकर दुर्बोध और अस्पष्ट हो गया है। टीकाओं का मूल्य कितना है, यह इस कथन से ठीक-ठीक ज्ञात हो जायगा कि मूल पढ़कर उसका अर्थ भले ही समझ लिया जाय, परन्तु इन टीकाओं का समझना एक कठिन समस्या है।

ब्रजभाषा-गद्य के विषय में जैसा अब तक हम देख चुके हैं, पर्याप्त सामग्री मिलती है। फिर भी हमारे इतिहास-लेखकों को जो गद्य का कोई विकास-क्रम नहीं मिलता[1] उसका कारण यह है कि उन्होंने ब्रजभाषा-गद्य के विकास का क्षेत्र समझने का प्रयत्न नहीं किया। वस्तुतः ब्रजभाषा-गद्य का विकास दो साहित्यिक दलों ने स्वतन्त्र रूप से किया—(१) भक्त कवि और आचार्यों ने (२) रीतिकालीन आचार्यों ने। भक्ताचार्यों ने गद्य में ग्रन्थ लिखने पहले आरम्भ कर दिये थे, क्योंकि एक तो उनका प्रादुर्भाव पहले हुआ और दूसरे जन-साधारण की भाषा अपनाने की आवश्यकता उन्हें अपेक्षाकृत अधिक थी। इन भक्तों का गद्य दो रूपों में विकसित हुआ। एक तो स्वान्तःसुखाय ग्रन्थ रचना के लिए और दूसरे पंडिताऊ ढंग से कथावार्ता के लिए। रीतिकालीन कवियों ने गद्य में ग्रन्थरचना बहुत देर से प्रारम्भ की और दूसरे उन पर संस्कृत के पंडिताऊ ढंग का भी प्रभाव था। भक्तों के पंडिताऊ ढंग की भाषा से इनका गद्य बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ४८२

हिन्दी गद्य की तीन धाराओं में—दो भक्ताचार्यों की और एक रीत्याचार्यों की—केवल प्रथम का विकास कुछ क्रम से हुआ और इसके प्रमाण—स्वरूप ग्रन्थ मिलते भी हैं। इन सब की भाषा क्रमशः विकसित और व्यवस्थित होती गई है। अन्य दोनों रूपों की—भक्ताचार्यों की पंडिताऊ और रीत्याचार्यों की शास्त्रीय भाषा अव्यवस्थित और शिथिल है। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में ऐसी भाषा के ग्रन्थ भी मिलते हैं और प्रथम प्रकार की व्यवस्थित और विकसित भाषा के भी। यही देखकर हमारे इतिहास लेखक आश्चर्य में पड़ जाते हैं और कभी-कभी लिख मारते हैं कि हिन्दी गद्य का क्रमशः विकास नहीं हुआ। वस्तुतः तथ्य यह है कि प्रत्येक शताब्दी में गद्यग्रन्थ रचे तो अवश्य गये, परन्तु उनके लेखकों का लक्ष्य गद्य-साहित्य की उन्नति करना नहीं था। वे ग्रन्थ रचते थे और परोक्ष रूप से इस प्रकार गद्य की उन्नति होती गई।

लखनऊ]

गीत

श्री सोहनलाल द्विवेदी

करुणा की वर्षा हो अविरल !
सन्तापित प्राणों के ऊपर लहरे प्रतिपल शीतल अंचल !
मलयानिल लायें नव मरन्द,
विकसें मुरझाये सुमनवृन्द,
सरसिज में मधु हो, मधुकर के मानस में मादक प्रीति तरल !
कोकिल की सुन कातर पुकार
आये वसन्त ले मधुर भार;
कानन की सूखी डालों में, फूटें नवनव पल्लव कोमल !
काली रजनी का उठे छोर
लेकर प्रकाश नव हँसे भोर,
अवनी के आँगन में ऊषा, बरसाये मंगल कुंकुमजल !
करुणा की वर्षा हो अविरल !

बिंदकी]

—०—०—

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज और विलियम प्राइस

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम्० ए०, डी० फ़िल्०

प्राचीन काल से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विदेशों से रहा है। अँगरेज़ों से पहले यूनान, रोम तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के साथ इस व्यापार का पता चलता है। यह व्यापार फ़ारस की खाड़ी, लालसागर और भारत के उत्तर-पश्चिम से मध्य-एशिया वाले मार्गों से होता था। व्यापारी लोग इन मार्गों द्वारा, विशेषतः फ़ारस की खाड़ी से होकर, भारतवर्ष आते थे और यहाँ से माल खरीद कर विदेश भेजते थे। इससे भारतीय व्यापारिक उन्नति के साथ-साथ विदेशी व्यापारी भी धनोपार्जन करते थे।

किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्य से कुछ राजनैतिक कारणों से यूरोप के व्यापारियों को भारतवर्ष आने और व्यापार करने में असुविधा होने लगी। उस समय निकटस्थ मुसलमानी राष्ट्रों का समुद्री व्यापार पर आधिपत्य स्थापित हो गया था। इसलिए यूरोप-निवासी भारतवर्ष के लिए एक नया समुद्री मार्ग खोजने के लिए अग्रसर हुए। यह कार्य पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही शुरू हो गया था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक स्पेन, पुर्तगाल, फ़्रांस, हॉलैंड, ब्रिटेन, स्वीडन, डेनमार्क, आस्ट्रिया आदि राष्ट्रों ने भारतवर्ष में अपनी-अपनी कम्पनियाँ खोलीं और कर्मचारी भेजे, परन्तु अँगरेज़ों की शक्ति और उनके प्रबल विरोध एवं कूटनीति के कारण अन्य व्यापारिक संस्थाओं को कोई विशेष लाभ न हुआ और उन्होंने अपना काम बन्द कर दिया।

अँगरेज़ भारतवर्ष में व्यापार करने आये थे। उससे उन्होंने अपार धन-संचय भी किया। देश के शासक बन बैठने का उनका विचार नहीं था, किन्तु योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के फल-स्वरूप ब्रिटेन के तत्कालीन राजनैतिक संचालकों की वृहत्तर ब्रिटेन की आकांक्षा से प्रोत्साहन ग्रहण कर तथा साथ ही पतनोन्मुख मुग़ल साम्राज्य की नाज़ुक परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्होंने देश में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। प्रथमतः वे अपनी व्यापारिक उन्नति में ही लगे रहे। १७५७ ई० में प्लासी-युद्ध के फल-स्वरूप बंगाल प्रान्त पर पूर्ण रूप से उनका अधिकार स्थापित हो गया। १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के बाद उनकी सैनिक शक्ति और भी बढ़ी। अवध और बिहार की दीवानी भी उनके हाथ में आ गई। इस प्रकार धीरे-धीरे उन्होंने उत्तर भारत में अपने शासन की जड़ जमा ली। क्लाइव द्वारा स्थापित यह साम्राज्य देश के पूर्व-प्रतिष्ठित साम्राज्यों से अनेकांश में भिन्न था। १७८७ ई० के बाद भारतवर्ष में स्थापित ब्रिटिश आधिपत्य के संचालन का भार उन लोगों को सौंपा जाने लगा, जिन्हें इस देश के सम्बन्ध में कुछ भी अनुभव नहीं था और जो इंगलैंड के शासक-वर्ग के प्रतिनिधि थे। ये व्यक्ति वहाँ के मन्त्रि-मंडल द्वारा नियुक्त किये जाते थे। स्वभावतः वे अपने देश में प्रचलित राजनैतिक विचार लेकर यहाँ आते थे। उन्होंने भारत में स्थापित ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रथा के अनुसार नहीं, वरन् 'वृहत्तर ब्रिटेन' की भावना से प्रेरित होकर शासन करना आरम्भ किया। इस नीति का अनुसरण कर और भारतीय नरेशों के सन्धि-विग्रह में पड़कर उन्होंने भारतवर्ष में अँगरेज़ी साम्राज्य की नींव सुदृढ़ बना दी।

ऐसे व्यक्तियों में लॉर्ड वेलेज़ली का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। वे १७९८ ई० से १८०५ ई० तक गवर्नर-जनरल रहे। टीपू सुलतान, निज़ाम, फ़्रांसीसियों और मरहठों को पराजित करने में उन्होंने पूरी शक्ति लगा दी। उनके समय में कम्पनी की शक्ति भारतीय राजनैतिक गगन में सूर्य के समान चमक उठी।

कम्पनी के राज्य में एक नवीन शासन-प्रणाली और राजनीति का बीज बोया गया। भारतीय शासन-व्यवस्था के इतिहास में यह एक युगान्तरकारी घटना थी।

कम्पनी की राजनैतिक सत्ता स्थापित करने में तो वेलेज़ली तथा उनके पूर्ववर्ती शासकों ने पूर्ण योग दिया था, किन्तु अभी तक कम्पनी के कर्मचारियों तथा उसके अपने शासन की ओर किसी ने ध्यान न दिया था। शुरू में कम्पनी के कर्मचारियों की नियुक्ति डाइरेक्टरों के सम्बन्धियों में से होती थी। इन कर्मचारियों की सचाई और ईमानदारी में उन्हें पूरा-पूरा भरोसा रहता था। कोई काम बिगड़ जाने पर कर्मचारियों को केवल जुर्माना भर देना पड़ता था। नियुक्ति के समय केवल उनके व्यापारिक ज्ञान की परीक्षा ली जाती थी। परन्तु कुछ समय के बाद डाइरेक्टरों की नीति बदल गई। अब वे चौदह-पन्द्रह वर्ष के उन युवकों को भारत भेजने लगे जो हिसाब लगाने में निपुण होते थे या अच्छी तरह पढ़-लिख सकते थे। कर्मचारियों के भारतीय भाषाओं और आचार-विचार-सम्बन्धी ज्ञान की ओर भी उन्होंने अधिक ध्यान न दिया। शिक्षा भी उनकी अपूर्ण रहती थी। कम्पनी के संचालकों की यह नीति उस समय तक बनी रही जबतक कम्पनी प्रधान रूप से एक व्यापारिक संस्था मात्र थी। किन्तु इससे कर्मचारियों में अनेक नैतिक और चारित्रिक दोष उत्पन्न हो गये, जिससे अँगरेज़ जाति की प्रतिष्ठा पर कलंक का टीका लगने की आशंका थी।

शासन-सूत्र ग्रहण करते समय वेलेज़ली ने कर्मचारियों की शिक्षा, योग्यता, सदाचरण और अनुशासन की देख-रेख के प्रबन्ध के अभाव को साम्राज्य के हित के लिए घातक समझा। कम्पनी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राजनैतिक शक्ति के अनुरूप वे उन्हें चतुर और कूटनीतिज्ञ शासक बनाना चाहते थे। उन्हें कर्मचारियों की वणिक् वृत्ति ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा के सर्वथा विरुद्ध जँची। अतएव उन्होंने उनके पाश्चात्य राजनीति एवं ज्ञान-विज्ञान के साथ भारतीय इतिहास, रीति-रस्मों, क़ायदे-क़ानूनों और भाषाओं के ज्ञान की सगठित व्यवस्था के लिए १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

अन्य विषयों की शिक्षा-व्यवस्था के साथ-साथ कॉलेज में हिन्दुस्तानी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन की आयोजना भी की गई। डॉ० जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट (१७५९-१८४१ ई०) हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी अध्यक्षता में अनेक मुंशी और पंडित रक्खे गये।

यद्यपि वेलेज़ली की कॉलेज-सम्बन्धी वृहत् योजना कोर्ट के डाइरेक्टरों द्वारा, गवर्नर-जनरल की आर्थिक और राजनैतिक नीति से मतभेद होने के कारण अस्वीकृत ठहरी और २७ जनवरी, १८०२ ई० के पत्र में कॉलेज तोड़ देने की आज्ञा के बाद केवल 'बंगाल सेमिनरी' (१८०५ के लगभग प्रारम्भ से) का संचालन होता रहा, तो भी भारतीय साहित्य और भाषाओं के इतिहास मे कॉलेज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कॉलेज की स्थापना राजनैतिक ध्येय को लेकर अवश्य हुई थी, किन्तु घुणाक्षर न्याय से भाषा, साहित्य, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, नवीन विषयो के अध्ययन के सूत्रपात आदि की दृष्टि से भारतवासियों का हित-साधन ही हुआ। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में, प्रेस की सहायता से, ऐसा संगठित प्रयास पूर्व समय में कभी न हुआ था। कॉलेज के कारण ही देश के विभिन्न भागों के विद्वान् वहाँ एकत्रित हुए और कलकत्ता एक प्रधान साहित्यिक केन्द्र बना। प्राचीन साहित्य और भाषाओं के पठन-पाठन के साथ-साथ आधुनिक साहित्य और भाषाओं की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया गया। कॉलेज के पाठ्यक्रम का यह द्वितीय पक्ष ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

कॉलेज की स्थापना के पूर्व, अन्य अनेक यूरोपीय विद्वानों के अतिरिक्त, गिलक्राइस्ट भी हिन्दुस्तानी के पठन-पाठन में संलग्न थे। १७८३ ई० में वे ईस्ट इंडिया कम्पनी के संरक्षण में सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारतवर्ष आये थे। उस समय कम्पनी फ़ारसी भाषा का प्रयोग करती थी, किन्तु गिलक्राइस्ट ने उसके स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन ही अधिक पाया। गवर्नर-जनरल की आज्ञा से तत्कालीन बनारस की जमीदारी में रहकर उन्होंने हिन्दुस्तानी का अध्ययन भी किया और तत्पश्चात् अनेक ग्रन्थों की रचना की। कम्पनी के कर्मचारियों में उन्होंने हिन्दुस्तानी का प्रचार किया। १७९८ ई० में जब वेलेज़ली कलकत्ता पहुँचे तो उन्होंने गिलक्राइस्ट के परिश्रम की सराहना की और उनके अध्ययन से पूरा लाभ उठाना चाहा। उन्होंने वैतनिक रूप से गिलक्राइस्ट तथा कुछ मुंशियों को हिन्दुस्तानी और फ़ारसी भाषाओं की शिक्षा के लिए रक्खा। इस संस्था का नाम 'ऑरिएंटल सेमिनरी' रक्खा गया। सरकारी

आज्ञा के अनुसार गिलक्राइस्ट यहाँ का मासिक कार्य-विवरण ('जर्नल') सरकार के पास भेजते थे। कॉलेज की स्थापना के समय उन्हें हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

हिन्दी-साहित्य के अब तक लिखे गये इतिहासों में लल्लूलाल और उनके 'प्रेमसागर' के नाते गिलक्राइस्ट का हिन्दी गद्य के उन्नायक के रूप में नाम लिया जाता रहा है, किन्तु यदि हम उनके भाषा-सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करें तो उनकी वास्तविक स्थिति का पता चलते देर न लगेगी। उन्होंने अपने भाषा-सम्बन्धी विचार 'ऑरिएंटल सेमिनरी' के 'जर्नल' के प्रथम विवरण तथा अपने ग्रन्थों में प्रकट किये हैं।

गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धान्त, क्रिया-रूप आदि, तो हलहैड द्वारा कही जाने वाली विशुद्ध या मौलिक हिन्दुस्तानी ('प्योर ऑर ओरिजिनल हिन्दुस्तानी') और स्वयं उनके द्वारा कही जाने वाली 'हिन्दवी' या 'ब्रजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिसमें अरबी-फ़ारसी के संज्ञा-शब्दों की भरमार रहती थी। इस भाषा को केवल वे ही हिन्दू और मुसलमान बोलते थे जो शिक्षित थे और जिनका सम्बन्ध राज-दरबारों से था, या जो सरकारी नौकर थे। लिखने में फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। इसी हिन्दुस्तानी को उन्होंने 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दुवी' और 'रेख़्ता' भी कहा है। 'हिन्दी' के शब्दार्थ की दृष्टि से इस शब्द का प्रयोग उचित है। लल्लूलाल की भाषा 'हिन्दी' नहीं, 'हिन्दवी' थी। 'हिन्दी' के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द उन्होंने इसलिए पसन्द किया कि 'हिन्दुवी', 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' और 'हिन्दी' शब्दों से, जो बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, कोई गड़बड़ी पैदा न हो सके। यह 'हिन्दवी' भाषा केवल हिन्दुओं की भाषा थी। मुसलमानी आक्रमण से पहले यही भाषा देश में प्रचलित थी। गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दवी' और 'हिन्दुस्तानी' का यह भेद कर तीन प्रचलित शैलियाँ निर्धारित कीं—(१) दरबारी या फ़ारसी शैली, (२) हिन्दुस्तानी शैली और (३) हिन्दवी शैली। पहली शैली दुरूह, अतएव अग्राह्य थी। तीसरी शैली गँवारू थी। इसलिए उनको दूसरी शैली पसन्द आई। इस शैली में दक्षता प्राप्त करने के लिए फ़ारसी भाषा और लिपि का ज्ञान अनिवार्य था। मीर, दर्द, सौदा आदि कवियों ने यही शैली ग्रहण की थी। हिन्दुस्तानी में पारिभाषिक शब्दावली भी इस प्रकार रक्खी गई, जैसे, 'इख़्तिसार', 'इंतिखाब', 'मफ़ूल', 'सिफ़त', 'हर्फ़ जर्फ़', 'जर्फ़ी ज़मान', 'जर्फ़ी मुकान' आदि। वाक्य-विन्यास भी बहुत-कुछ फ़ारसी का ही अपनाया गया।

गिलक्राइस्ट के विचारों तथा अपने ग्रन्थों में दिये गये हिन्दुस्तानी भाषा के उदाहरणों[1] का अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दुस्तानी से गिलक्राइस्ट का तात्पर्य था—

हिन्दवी + अरबी + फ़ारसी = हिन्दुस्तानी[2]

इसी भाषा को सुनीति बाबू ने 'मुसलमानी हिन्दी' अथवा 'उर्दू' कहा है। लिपियों में देवनागरी लिपि को गिलक्राइस्ट ने अवश्य प्रश्रय दिया, किन्तु इससे भाषा के रूप और उसकी सांस्कृतिक पीठिका में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः उनके विचारों तथा व्यवहार में प्रयुक्त भाषा से उर्दू गद्य की उन्नति हुई, न कि हिन्दी गद्य की।[3] लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर', सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' तथा इन ग्रन्थों के अनुरूप भाषा के प्राप्त अन्य स्फुट उदाहरणों का मुख्य प्रयोजन सिविलियन विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा ('हिन्दवी') से परिचित कराना था। 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि रचनाओं ने हिन्दुस्तानी के ज्ञानोपार्जन में गारे-चूने का काम दिया। गिलक्राइस्ट के समय में तथा उनके बाद 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या ही अधिक है। हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) अथवा 'हिन्दवी' में रचे गये ग्रन्थों में 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और 'नासिकेतोपाख्यान' का ही नाम लिया जा सकता है। 'नासिकेतोपाख्यान' तो कभी पाठ्य-क्रम में भी नहीं रक्खा गया। ये तथ्य भी हमारे कथन की पुष्टि करते हैं।

---

[1] देखिए, 'हिन्दुस्तानी', भाग १०, अंक ४, अक्टूबर १९४० में 'गिलक्राइस्ट और हिन्दी' शीर्षक लेख।

[2] गिलक्राइस्ट कृत 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' (१८०२ सं०) भूमिका, पृ० १

[3] एडवर्ड बालफ़र : 'दि इन्साइक्लोपीडिया ऑव इंडिया' (१८८५ ई०), जिल्द १, पृ० १२०३

किन्तु कॉलेज की यह भाषा-सम्बन्धी व्यवस्था कुछ वर्षों के बाद न चल सकी। इस समय तक अँगरेज़ी राज्य का विस्तार पूर्ण रूप से हिन्दी प्रदेश तक हो चुका था। फलतः कॉलेज की भाषा-सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन होना अनिवार्य था। शासन के सुचारु रूप से चलने के लिए अधिकारियों को इधर ध्यान देना ही पड़ा। कॉलेज के २५ जुलाई, १८१५ ई० के वार्षिकोत्सव के दिन ऑन० एन० बी० एडमॉन्सटन, ऐक्टिंग विज़िटर, ने अध्यापकों तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था।[1] तत्कालीन पश्चिम प्रदेश से आने वाले भारतीय सैनिक अधिकांश में ब्रजभाषा अथवा हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) भाषा का प्रयोग करते थे। इसलिए १८१५ ई० के बाद कॉलेज में ब्रजभाषा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा, किन्तु इससे ब्रजभाषा अथवा हिन्दी गद्य के नये ग्रन्थों का निर्माण न हो सका और साथ ही कॉलेज में हिन्दुस्तानी की प्रधानता बनी रही। यह व्यवस्था हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष जे० डब्ल्यू० टेलर के समय तक विद्यमान थी।

२३ मई, १८२३ ई० के सरकारी आज्ञापत्र के अनुसार टेलर ने कॉलेज के कार्य से अवकाश ग्रहण किया, क्योंकि उस समय वे लेफ़्टिनेंट कर्नल हो गये थे और सैनिक कार्य से उन्हें छुट्टी नहीं मिल पाती थी। इसलिए सपरिषद् गवर्नर जनरल ने उसी आज्ञापत्र के अनुसार कैप्टेन (बाद को मेजर) विलियम प्राइस को हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। विलियम प्राइस महोदय का सम्बन्ध नेटिव इन्फ़ैंट्री के बीसवें रेजीमेंट से था। १८१५ ई० से (उस समय वे केवल लेफ़्टिनेंट थे) अब तक वे ब्रजभाषा, बँगला और संस्कृत के सहायक अध्यापक और हिन्दुस्तानी, फ़ारसी आदि भाषाओं के परीक्षक की हैसियत से कॉलेज में कार्य कर रहे थे।

जहाँ तक हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) से सम्बन्ध है विलियम प्राइस का विशेष महत्त्व है; क्योंकि इन्हीं के समय में कॉलेज में हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी का अध्ययन हुआ। कॉलेज के पत्रों में 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग प्रधानतः प्राइस के समय (१८२४-२५ ई० के लगभग) से ही मिलता है। हिन्दुस्तानी विभाग भी अब केवल हिन्दी विभाग अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग और प्राइस, हिन्दी प्रोफ़ेसर अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रोफ़ेसर कहलाये जाने लगे थे।

विलियम प्राइस के अध्यक्ष होने के बाद ही २४ सितम्बर, १८२४ ई० को कॉलेज कौंसिल के मन्त्री रडेल ने सरकारी मन्त्री सी० लशिंगटन को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रकट किये :

"हिन्दुस्तानी, जिस रूप में कॉलेज में पढ़ाई जाती है और जिसे उर्दू, दिल्ली ज़बान् आदि या दिल्ली-दरबार की भाषा के नामों से पुकारा जाता है, समस्त भारतवर्ष में उच्च श्रेणी के देशी लोगों, विशेष रूप से मुसलमानों, द्वारा बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। लेकिन क्योंकि मुग़लों ने इसे जन्म दिया था, इसलिए इसकी मूल स्रोत अरबी, फ़ारसी तथा अन्य उत्तर-पश्चिमी भाषाएँ हैं। अधिकांश हिन्दू अब भी उसे एक विदेशी भाषा समझते हैं।

"फ़ारसी और अरबी से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्रायः प्रत्येक विद्यार्थी कॉलेज में विद्याध्ययन की अवधि कम करने की दृष्टि से फ़ारसी और हिन्दुस्तानी भाषाएँ ले लेते हैं। फ़ारसी के साधारण ज्ञान से वे शीघ्र ही हिन्दुस्तानी में आवश्यक दक्षता प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। किन्तु भारत की कम-से-कम तीन-चौथाई जनता के लिए उनकी अरबी-फ़ारसी शब्दावली उतनी ही दुरूह सिद्ध होती है जितनी स्वयं उनके लिए संस्कृत, जो समस्त हिन्दू बोलियों की जननी है।

"साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृत का एक विद्वान् हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न बोलियों के प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति मूल संस्कृत स्रोत से सिद्ध कर सकता है। बँगला और उड़िया लिपियों के अतिरिक्त उनकी लिपि भी नागरी है। व्याकरण के सिद्धान्त (शब्दों के रूप आदि) भी बहुत-कुछ समान हैं। अन्य भाषाओं का अध्ययन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा संस्कृत का साधारण ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति इन भाषाओं पर अधिक अधिकार प्राप्त कर सकता है।

× × ×

[1] देखिए, 'एशियाटिक जर्नल', १८१६, में 'कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण।

"हमारा विश्वास है कि बंगला और उड़िया अपने मूल उद्गम के अधिक समीप हैं। किन्तु खड़ीबोली, ठेठ हिन्दी, हिन्दुई आदि विभिन्न नामों से प्रचलित 'ब्रजभाखा' का सामान्यतः समस्त भारतवर्ष में प्रचार है—विशेष रूप से जयपुर, उदयपुर और कोटा की राजपूत जातियों में। इसके अतिरिक्त यह उस श्रेणी के सब हिन्दुओं की भाषा है जहाँ से हमारी तथा अन्य देशी सेनाओं के सैनिक आते हैं।"[1]

कॉलेज कौंसिल ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि हिन्दुस्तानी भाषा के स्थान पर फ़ारसी के अतिरिक्त बंगला अथवा 'ब्रजभाखा' (जिसे ठेठ हिन्दी और हिन्दुई भी कहा जाता था) के पठन-पाठन के लिए कॉलेज के विधान में आवश्यक परिवर्तन किये जायँ। सरकारी मन्त्री लशिंगटन ने ३० सितम्बर, १८२४ ई० के पत्र द्वारा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति भेज दी। इस पत्र के अनुसार कौंसिल ने कॉलेज के विधान का नवीन—सातवाँ—परिच्छेद गवर्नर-जनरल के सम्मुख प्रस्तुत किया और साथ ही हर्टफ़ोर्ड में विद्यार्थियों को नागरी लिपि और हिन्दी तथा बंगला की शिक्षा देने के सम्बन्ध में कोर्ट को पत्र लिखने की प्रार्थना की। २८ अक्तूबर, १८२४ ई० को गवर्नर-जनरल ने कॉलेज के नव-विधान पर अपनी स्वीकृति दे दी और कोर्ट को पत्र लिखने का वचन दिया।[2]

कॉलेज कौंसिल ने नव-विधान के साथ विलियम प्राइस का लिखा एक पत्र भी भेजा था, जिसमें उन्होंने अपने भाषा-सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं। उनके और गिलक्राइस्ट के विचारों में स्पष्ट अन्तर है। विलियम प्राइस का कहना है :

"उत्तरी प्रान्तों की भाषाओं को आपस में एक दूसरी से भिन्न समझी जाने और एक ही मूल रूप के विभिन्न रूप न समझे जाने के कारण उनके सम्बन्ध में बड़ी उलझन पैदा हो गई है। उन सब का विन्यास एक-सा है, यद्यपि उनमें कभी-कभी शब्द-वैभिन्य मिल जायगा।

"यदि यह मान लिया जाय कि गंगा की घाटी के हिन्दुस्तान की बोलचाल की भाषा और संस्कृत के सम्बन्ध पर विचार करने का समय अब नहीं रहा, तो आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र व्याकरण कब बना? आधुनिक भाषाओं के स्वतन्त्र व्याकरण के कारण संस्कृत और हिन्दी के विभिन्न रूपों के मुख्य-मुख्य भेद हैं। यद्यपि कुछ शब्दों के सन्तोष-जनक संस्कृत रूप ज्ञात नहीं किये जा सकते, तो भी ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। अधिक अध्ययन करने पर ऐसे शब्दों की संख्या और भी कम रह जायगी। इतना तो निस्सन्देह है, किन्तु सहायक क्रिया 'होना' संस्कृत धातु 'भू' से निकली है, यह मानना कठिन है।

"साथ ही ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि क्रिया संस्कृत है, किन्तु सामान्य रूप को छोड़ कर उसकी विभक्तियाँ संस्कृत से नहीं मिलतीं। क्रियाओं के रूप और कारक-चिन्ह भी सामान्यतः बिलकुल अजीब हैं। वर्तमान काल और भूत-कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग और पर-सर्ग लगा कर संज्ञाओं के काल बनाना संस्कृत भाषा के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। मूल रूप चाहे जो कुछ रहा हो, अब एक स्वतन्त्र हिन्दी व्याकरण है जो एक ओर तो अपने प्रदेश की मूल भाषा के व्याकरण से भिन्न है और दूसरी ओर संस्कृत से निकली भाषाओं, जैसे, बंगला और मराठी, से भिन्न है। इसलिए उस भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, जिसे हम सरलता-पूर्वक 'हिन्दी' नाम से पुकार सकते हैं, यद्यपि हिन्दुई—अपभ्रंश हिन्दवी—शब्द अधिक उपयुक्त होता।

"विदेशी शब्दों के प्रचार ने हिन्दी का कुछ ऐसा रूप-परिवर्तन कर दिया है कि उसकी कुछ बोलियाँ एक-दूसरी से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती हैं। उर्दू के बड़े-बड़े विद्वान् तो 'ब्रजभाखा' का एक वाक्य भी नहीं पढ़ सकते। पण्डित या मुंशी और मुसलमान शहज़ादा या हिन्दू ज़मींदार के पारस्परिक सम्पर्क से बोलियाँ आपस में और घुल-मिल गई

---

[1] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम, १५ दिसम्बर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द ६, पृ० ४६६-४६७, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

[2] वही, पृ० ५०१-५०३.

हैं। इस पर भी प्राचीन और सञ्चित प्रान्तीय प्रवृत्तियों आदि ने इन परिवर्तनों को और भी बढ़ा कर हिन्दी भाषा को अनन्त रूप प्रदान किये हैं। किन्तु इन विभिन्न रूपों का व्याकरण अपरिवर्तित रहा है। हिन्दी प्रधानतः रही एक ही भाषा है। क्लिष्ट से क्लिष्ट उर्दू और सरल से सरल भाषा का विन्यास लगभग एक-सा है। उर्दू और भाषा के क्रमशः 'का', 'की' और 'कौ', 'के' 'कौ' सम्बन्ध कारक चिन्हों में कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है। भाषा का 'मैं मारचो जातु हूँ' उर्दू के 'मैं मारा जाता हूँ' के लगभग समान ही है।

"ब्रजभाषा और उर्दू का जो थोड़ा-सा भेद अभी दिखाया गया है वह केवल प्रादेशिकता मात्र है। अन्य बोलियों में ऐसी अन्य प्रादेशिकताएँ हो सकती हैं। किन्तु वे अस्थिर हैं और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं है। बोलियों का प्रयोग भी कम हुआ है। उनका प्रचार अवश्य अधिक होने से वे हिन्दी के ही निकट हैं, जैसा कि हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में है। यह बात खड़ीबोली के विषय में भी लागू होती है। खड़ीबोली ही, न कि 'ब्रजभाखा', जैसा कि डॉ० गिलक्राइस्ट का कहना है, हिन्दुस्तानी का आधार है, उसी के अनुरूप हिन्दुस्तानी का व्याकरण है।

"अतएव प्रादेशिकता के अतिरिक्त अन्य समानान्तर विषयों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। कॉलेज में जो भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं उनके व्याकरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्य दृष्टि से कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं।

"हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अन्तर शब्दों का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फ़ारसी के हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० गिलक्राइस्ट कृत 'पॉलीग्लौट फ़ैब्यूलिस्ट' से एक छोटा-सा उदाहरण लेकर हम सन्तोष कर सकते हैं:—

"हिन्दुस्तानी—"एक बार, किसी शहर में, यूँ शुहरत हुई, कि उसके नजदीक के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।"

"हिन्दी—"एक समय, किसी नगर में, चर्चा फैली, कि उसके पड़ौस के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।"

"दोनों के शब्द कहाँ से लिये गये हैं, इस सम्बन्ध में बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों के रूप को बिगाड़े बिना अन्तर और भी अधिक हो सकता था।

"हिन्दी के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि वह नागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए। संस्कृत-प्रधान रचना जब फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है तो शब्द कठिनता से बोधगम्य होते हैं। कॉलेज के पुस्तकालय में एक ऐसे हिन्दी काव्य, पद्मावत, की दो प्रतियाँ हैं जिनके पढ़ने में मेरा और भाषा मुंशी का निरन्तर परिश्रम व्यर्थ गया है।

"नई लिपि और नये शब्द सीखने में विद्यार्थियों को कठिनाई होगी। किन्तु इससे उनके ज्ञान की वास्तविक वृद्धि होगी। उनका हिन्दुस्तानी ज्ञान थोड़े परिवर्तन के साथ फ़ारसी-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे वे न तो भाषा और न देश के विचारों के साथ ही परिचित हो पाते हैं। हिन्दी के अध्ययन में भी इससे कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु हिन्दी के साथ-साथ फ़ारसी-ज्ञान से विद्यार्थी हिन्दुस्तानी रचनाएँ सरलतापूर्वक पढ़ सकेंगे एवं हिन्दुओं और उनके विचारों से परिचय प्राप्त करने में भी कोई कठिनाई न होगी।"[1]

विलियम प्राइस के विचारों तथा कॉलेज की पूर्ववर्ती भाषा-सम्बन्धी नीति में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तक हिन्दी-हिन्दुस्तानी के आधार से सम्बन्ध है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आगे चलकर दोनों ने दो भिन्न मार्गों का अवलम्बन ग्रहण किया। राजनैतिक कारणों से खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो चुका था। टीपू सुलतान इसे दक्षिण में भी ले गया था। अरबी-फ़ारसी शिक्षित हिन्दू और मुसलमानों अथवा मुस्लिम राजदरबारों

---

[1] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम, १५ दिसम्बर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द ६, पृ० ५०३-५०६, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों में फ़ारसी-ज्ञान का प्रचार स्वयं स्पष्ट है। इसलिए उनमें खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप का प्रचार होना कोई आश्चर्य-जनक विषय नहीं है। अँगरेज़ों का सर्वप्रथम सम्पर्क ऐसे ही व्यक्तियों से स्थापित हुआ था। अतः हिन्दुस्तानी (उर्दू अथवा खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप) को प्रश्रय देना उनके लिए स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में हिन्दी-प्रदेश से उनका अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित न हो सका था, किन्तु ज्यों-ज्यों यह सम्बन्ध घनिष्ट होता गया त्यों-त्यों उन्हें भाषा-सम्बन्धी वस्तुस्थिति का पता भी चलता गया और एक समय ऐसा आया जब उन्हें वास्तविक परिस्थिति की दृष्टि से भाषा-नीति में परिवर्तन करना पड़ा। गवर्नर-जनरल और कॉलेज के विज़िटर राइट ऑनरेबुल विलियम पिट, लॉर्ड ऐमहर्स्ट, ने भी अपने १८२५ ई० के दीक्षान्त भाषण में विलियम प्राइस के विचारों का पूर्ण समर्थन किया था। उनके विचारानुसार भी फ़ारसी और उर्दू जनसाधारण के लिए उतनी ही विदेशी भाषाएँ थीं जितनी अँगरेज़ी। इसलिए उन्होंने पश्चिमी प्रान्तों की ओर जाने वाले सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साग्रह आदेश दिया था।[1]

इस नई भाषा-व्यवस्था के अनुसार कॉलेज के पुराने मुंशियों से कार्य सिद्ध न हो सकता था। इन मुंशियों के निकट हिन्दी और नागरी लिपि दोनों ही विदेशी वस्तुएँ थीं। पहले कुछ सैनिक विद्यार्थी ऐसे अवश्य थे जो व्रजभाषा का अध्ययन करते थे। उनके लिए हिन्दू अध्यापक रक्खे भी गये थे; किन्तु नैपाल-युद्ध के छिड़ते ही उन विद्यार्थियों को सैनिक कार्य के कारण कॉलेज छोड़ देना पड़ा। फलस्वरूप अध्यापक भी इधर-उधर चले गये। अब कॉलेज के अधिकारियों को फिर हिन्दी-ज्ञान-प्राप्त अध्यापकों की आवश्यकता हुई और साथ ही नवीन पाठ्य पुस्तकों की भी। किन्तु इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में विलियम प्राइस कोई नवीनता प्रदर्शित न कर सके। जो मुंशी पहले से अध्यापन-कार्य कर रहे थे उन्हीं से हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के ज्ञान की आशा की गई। इसके लिए उन्हें समय दिया गया और अन्त में परीक्षा ली गई। इस परीक्षा में लगभग सभी मुंशी असफल रहे। जो सफल हुए उन्हें हिन्दी के अध्यापन-कार्य के लिए रख लिया गया। शेष को यह चेतावनी देकर कुछ और समय दिया गया कि यदि निश्चित समय में वे हिन्दी-परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकेंगे तो उनके स्थान पर अन्य सुयोग्य व्यक्ति रख लिये जायँगे। भविष्य में हुआ भी ऐसा ही। अनेक पुराने मुंशियों के स्थान पर नये अध्यापक रक्खे गये। पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में उन्होंने लल्लूलाल के ग्रन्थों तथा 'रामायण', विहारी कृत 'सतसई' आदि पर निर्भर रहना ही उचित समझा। हिन्दी गद्य में वे नये ग्रन्थों का निर्माण न कर सके और न करा सके।

तो भी विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ। गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में प्रयुक्त भाषा से तुलना करने पर यह भेद स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। निम्नलिखित उद्धरण गिलक्राइस्ट कृत 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' के १८०२ ई० के संस्करण से लिया गया है—

> ....बाद अज़ान क़ाज़ी मुफ़्ती से पूछा, कहो अब इसकी क्या सज़ा है, उन्होंने अर्ज़ की, कि अगर इबरत के वास्ते ऐसा शख़्स क़त्ल किया जावे, तो दुरुस्त है। तब उसे क़त्ल किया और उसके बेटे को उसकी जगह सर्फ़राज़ फ़र्माया, शहर-शहर के हाकिम इस अदालत का आवाज़ सुनकर जहाँ के तहाँ सरी हिसाब हो गये...."

गिलक्राइस्ट के शिष्य विलियम बटवर्थ बेली ने कॉलेज के नियमानुसार होने वाले वार्षिक वाद-विवाद में ६ फ़रवरी, १८०२ ई० को 'हिन्दुस्तानी' पर एक दावा पढ़ा था, जिसकी भाषा इस प्रकार है :

> "अरब के सौदागरों की आमद ओ रफ़्त से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमति फ़ेअ्रामी के बाइस अलफ़ाज़ि अरबी और फ़ारसी उसी पुरानी बोली में बहुत मिल गये और ऐक ज़बान नई बन गई जैसे कि बुनियादि क़दीम पर तामीरि नौ होवे।"

---

[1] दे० 'एशियाटिक जर्नल', १८२६, में 'कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण।

केवल लिपि नागरी है। किन्तु इससे हमारे कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके पश्चात्, जनवरी, १८१० में लल्लूलाल ने अपनी 'नक़्लियात-इ-हिन्दी' नामक रचना के सम्बन्ध में कॉलेज कौंसिल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा था, जो फ़ारसी भाषा और लिपि में है—

"ख़ुदावन्दान नैमतदाम इक़बाल अहम

नक़्लियात-इ-हिन्दी तसनीफ़ फ़िदवी बजबान रेख़ता मतजमन अकसर जरूब अल मिसाल व दोहा व लतायफ़ श्रो नस्रात नक़्लियात मरकूमत उल सदर बर अवुर्दा व तर्जुमा करदा जॉन विलियम टेलर व कप्तान इब्राहम लौकेट साहेब बजबान अँगरेज़ी अस्बुल हुकुम साहिब मुदर्रस जह ता साहबान-इ-मुतल्लमीन मुव्तदी मुन्तवह मेकर्दद व नक़्लियात मज़्कूरा तबकतीः हुर्द.....

ज़्यादाः आफ़ताव दौलत तावाँ व

दरख़्शाँवाद

अरज़ी

फ़िदवी श्रीलाल कवि"[1]

सम्भव है विलियम प्राइस से पूर्व लिखे गये हिन्दी के उदाहरण मिलें, किन्तु उनका वही महत्त्व और मूल्य होगा जो हिन्दुस्तानी की आयोजना तथा हिन्दुस्तानी के अनेकानेक प्रकाशित ग्रन्थों के बीच 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और 'नासिकेतोपाख्यान' का था—अर्थात् हिन्दुस्तानी (उर्दू) की आधारभूत भाषा का ज्ञान कराने की दृष्टि से। हमारे पथ-प्रदर्शक तो प्रधानतः गिलक्राइस्ट के भाषा-सम्बन्धी विचार होने चाहिए। अपने विचारों को ही उन्होंने कार्यान्वित किया था।

अब विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के जिस रूप का प्रयोग हुआ वह ध्यान देने योग्य है। १५ जनवरी, १८२५ ई० की बैठक में कॉलेज कौंसिल ने ग्रन्थ-प्रकाशन के सम्बन्ध में भेजे जाने वाले प्रार्थना-पत्रों के लिए कुछ नियम बनाये थे। कॉलेज कौंसिल की आज्ञा से ये नियम फ़ारसी, हिन्दी, बँगला और अँगरेज़ी में सब के सूचनार्थ प्रकाशित हुए थे। हिन्दी में नागरी लिपि का प्रयोग हुआ है। सूचना इस प्रकार है—

"इस्तहार यह दिया जाता है कि जो कोई पोथी छपाने के लिए कालिज कौनंसल से सहाय चाहता हो वह अपनी दरखास में यह लिखे १. कि पोथी में केत्ता पत्रा और पत्रे में कित्ती श्रो पांति कित्ती लंबी २. कितनी पोथियां छापेगा श्रो कागद कैसा तिस लिए अक्षर और कागद का नमूना लावेगा ३. श्रो किस छापेखाना में छापेगा श्रो सब छप जाने में कित्ता खरच लगेगा ४. तयार हुए पर पोथी कित्ते दाम को बेंचेगा।"[2]

अव्यवस्थित वाक्य-संगठन होते हुए भी यह हिन्दी है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के गद्य से यह गद्य अधिक भिन्न नहीं है। गिलक्राइस्टी भाषा में शब्दावली ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास भी विदेशी है। १८२५ ई० के उदाहरण में हम यह बात नहीं पाते। इसी प्रकार एक और उदाहरण प्राप्त है जो कॉलेज की परिवर्तित भाषा-नीति की ओर संकेत करता है। लल्लूलाल ने अपने ग्रन्थ 'नक़्लियात-इ-हिन्दी' के लिए फ़ारसी में प्रार्थना-पत्र लिखा था-। जुलाई, १८४१ ई० में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के पंडित योगध्यान मिश्र 'प्रेमसागर' का एक नया संस्करण प्रकाशित करने के लिए सरकारी सहायता चाहते थे। उनका प्रार्थना-पत्र इस प्रकार है—

---

[1] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम, १ फ़रवरी, १८१०, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द २, पृ०, १८२, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

[2] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम, १५ जनवरी, १८२५, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द १०, पृ० ३१, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

"स्वस्ति श्रीयुत फ़ोर्ट उलियम कालिज के नायक सकलगुणनिधान भागवान कपतान श्री मार्सल साहब के निकट मुज दीन की प्रार्थना

मैंने सुना कि कालिज में प्रेमसागर की अल्पता है इस कारण में छपवाने की इच्छा करता हूं और मेरे यहां छापे का यन्त्र औ उत्तम अक्षर नये (?) ढाले प्रस्तुत हैं इसलिए मैं चाहता हूं कि जो मुझे आपकी आज्ञा होय तो मैं वही पुस्तक उत्तम विलायती कागज पर अच्छी स्याही से आपकी अनुमति के अनुसार छपवा दूं परंतु वह पुस्तक चार येंची फरमें से अनुमान २६० दो सौ साठ पृष्ठ होगी जो ६) छः रुपैयों के लेखे २०० दो सौ पुस्तक आप लेवें तो छापे के व्यय का निर्वाह हो सकें ॥ ॥ ॥ इति किमधिकं ॥ ता० १ जुलाई सं० १८४१।

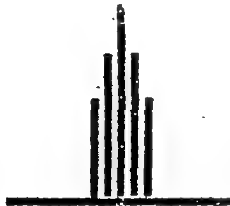
श्री योगध्यान मिश्रः ॥"[1]

यह लेख उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिन्दी गद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण समझा जा सकता है। विलियम प्राइस दिसम्बर, १८३१ ई० में पद-त्याग कर यूरोप चले गये थे। उनके बाद हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष भी कोई नहीं हुआ। अतएव योगध्यान मिश्र का लेख उनसे दस वर्ष बाद का और उनकी भाषा-नीति के निश्चित परिणाम का द्योतक है।

यद्यपि विलियम प्राइस हमें कोई नया गद्य-ग्रन्थ न दे सके तो भी उनके विचारों ने कॉलेज की भाषा-नीति में जो परिवर्तन किया वह गिलक्राइस्ट के विचारों की भ्रमात्मकता सिद्ध करने एवं वर्तमान भाषा-सम्बन्धी गुत्थी के सुलझाने की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

२४ जनवरी, १८५४ के सरकारी आज्ञा-पत्र के अनुसार कॉलेज तोड़ दिया गया।

प्रयाग]



[1] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम, १८ नवम्बर, १८३७—३० अक्तूबर, १८४१, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द १६, पृ० ६०५, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

मानव और मैं

श्री उदयशंकर भट्ट

तिमिर में, प्रलय में, न तूफ़ान में भी—क़दम ये रुके हैं, न रुक पायेंगे ही।
जगत् की सुबह से चला चल पड़ा मैं,
अड़ी चोटियों पर न पीछे मुड़ा मैं,
न मैं रुक सका बादलों की घटा में,
चला आ रहा हूँ, न पीछे हटा मैं।
अड़ी थीं शिलाएँ, खड़ी झाड़ियाँ थीं,
नदी थी तरंगित, उधर खाड़ियाँ थीं,
उफनती हुई पार करता सरित् को,
चमकती हुई प्यार करता तड़ित् को,
गगन चूमती औ' उछलती लहर को,
लिया बाँध दिन-रात को, पल-प्रहर को,
क़दम से क़दम बाँध कर साथ मेरे,
चली मृत्यु दिन-रात, सायं-सवेरे।
प्रगति रोक दे जो भला कौन ऐसा?—अड़ें विघ्न उनको निगल जायेंगे ही।

जिधर मैं चला, बन गई राह मेरी,
जहाँ हाथ रक्खा, वहीं चाह मेरी,
चला आ रहा आस दिल में छिपाये,
किरण ने उतर कर नये पथ बनाये,
इधर एक मेरा बहुत बन गया जब,
अँधेरा उषा में मिला हँस गया जब,
सभी सृष्टि के साज मैंने सजाये,
उदधि ने गरज जीत के गीत गाये,
लिए एक कर सृष्टि-संहार आया,
लिये दूसरे सृष्टि व्यापार आया,
सचाई मिली प्यार में मोड़ डाला,
अहंकार को शक्ति से जोड़ डाला,
सभी खूँद अभिशाप आगे चला मैं,
स्वयं गर्व की आग में हूँ जला मैं।
न फिर भी हटे पैर पीछे हमारे—चले थे, चले हैं, चले जायेंगे ही।

लगी आज प्रासाद में आग मेरे,
विरोधी हुए आज अनुराग मेरे,

स्वयं बन्धनों में बँधा मैं व्यथा के,
बदल भी गये रूप जीवन-कथा के,
चला मैं बुरे पन्थ पर, नेक पथ पर,
प्रयोगी बना किन्तु बैठा न 'अथ' पर,
चलूंगा भले ही बुरा मार्ग ही हो,
चलूंगा भले ही भला मार्ग ही हो,
मिलेगी बुराई उसे त्याग दूंगा,
मिलेगी भलाई उसे भाग लूंगा,
कहो मत कि ठहरूं, ठहरना नहीं है,
चलूंगा उधर देर भी हो रही है,
उछलता, उमड़ता तथा तोड़ता मैं,
नई साँस ले, स्वर नये जोड़ता मैं।
"कि हर भूल से है जुड़ा सत्य का पथ, रुकेंगे नहीं, लक्ष्य को पायेंगे ही।

न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हरना,
सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे,
चलूंगा सभी विश्व को साथ घेरे,
सभी स्वप्न हैं देखते एक मंजिल,
सभी जागरण में निहित एक ही दिल,
जहाँ फूलता विश्व खिलता रहेगा,
लहर से जहाँ शशि मचलता रहेगा,
नरक भी जहाँ स्वर्ग बनकर खिलेगा,
प्रलय में जहाँ सृष्टि का स्वर मिलेगा,
जहाँ अन्त में 'अथ' नये प्राण भर कर,
प्रगति में प्रखर सत्य का ज्ञान भर कर,
वहाँ साँस निर्माण का स्वर सुनाती,
वहाँ भूल नवलक्ष्य का पथ दिखाती।
नियत के, प्रगति के क़दम दो बढ़ाकर, किसी दिन किसी लक्ष्य को पायेंगे ही।
तिमिर में, प्रलय में, न तूफ़ान में भी—क़दम ये रुके हैं, न रुक पायेंगे ही' ॥

लाहौर]

हिन्दी-गद्य-निर्माण की द्वितीय अवस्था

['हिंदी-प्रदीप' के द्वारा]

श्री सत्येन्द्र एम्० ए०

: १ :

पं० बालकृष्ण भट्ट जी ने 'हिन्दी-प्रदीप' में भारतेन्दु जी की एक पुस्तक की आलोचना करते हुए उनकी प्रशंसा में लिखा था, "आखिर उस रसिक-शिरोमणि की चन्द्रिका है, जिस चन्द्र के प्रकाश से इस नये ढंग की हिन्दी ने प्रकाश पाया है।"[१] भारतेन्दु जी ने तो यह घोषित किया ही था कि अब से हिन्दी नये ढंग में ढली, उस समय के अन्य विद्वान् साहित्य-सेवी भी इस मत को मानते थे। पर यहाँ एक भ्रम को दूर रखने की आवश्यकता है। कुछ महानुभाव इन कथनों का अर्थ यह लगा सकते हैं कि भारतेन्दु के समय से आधुनिक हिन्दी का आरम्भ हुआ। जैसे इंशाअल्लाखाँ के इस कथन का कि 'हिन्दी छुट' किसी और भाषा का पुट भी न हो, यह अर्थ लगाया जाता है कि उन्होंने एक नई भाषा गढ़ी और इसलिए उर्दू पुरानी भाषा है और हिन्दी नई अथवा लल्लूजीलाल के एक कथन का यह अर्थ लगाया जाता है कि उन्होंने उर्दू भाषा के शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर संस्कृत के शब्दों का समावेश किया, जब कि यथार्थता इससे बिलकुल भिन्न थी। भारतेन्दु जी ने कोई नई भाषा नहीं बनाई थी। इसके एक नये ढंग को अपना लिया था। वह नया ढंग उनका बनाया हुआ नही था, न उसे सिखाने के लिए उन्होंने कोई पाठशाला ही स्थापित की थी। भारतेन्दु जी ने कोई पाठ्यपुस्तक भी नही बनाई थी। उनकी शैली का फिर भी बोलबाला हुआ। यथार्थतः भारतेन्दु जी ने जिस शैली को अपनाया, वह लोक-प्रचलित शैली थी। इस समय तक साहित्य में इस शैली का विशेष सम्मान न था। पहले राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने भी इसी शैली को अपनाया था। उनका 'राजा भोज का सपना' इस शैली का ही प्रमाण है और इसी शैली को भारतेन्दु जी ने साहित्य के लिए ग्राह्य बनाने के लिए अपने पत्रों को माध्यम बनाया। इसी शैली को जब राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' छोड़ने लगे तभी से उनसे संघर्ष भी होना आरम्भ हुआ। भारतेन्दु की शैली को 'शुद्ध हिन्दी' नाम से विभूषित अवश्य किया गया, पर इस अर्थ वाला नाम उसे दिया नहीं जा सकता। इसमें सब प्रकार के शब्द व्यवहृत हुए हैं। किसी भी शब्द से उस शब्द की जाति के कारण घृणा नही की गई। इसमें किसी तअस्सुब से काम नही लिया गया। वह एक प्रचलित और बलवती भाषा थी। अब तक वह शिष्ट जनों द्वारा त्याज्य थी। उसे ही उन्होंने युग की पुकार के आधार पर उसके योग्य स्थान पर लाकर बिठा दिया। राजा शिवप्रसाद का मत भिन्न था। वे जिस वर्ग में रहते थे, उस वर्ग को अधिकारी वर्ग और शिष्ट वर्ग कहा जायगा। उस वर्ग में राजनैतिक दृष्टि से, व्यवस्था (Administration) की दृष्टि से और निजी सुरुचि और संस्कार की दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी एक विशेष नफ़ासत का भाव बद्धमूल था। जबतक साक्षरता के प्रसार का प्रश्न रहा, राजा साहब लोकभाषा के पक्ष में रहे, पर जैसे ही उसे साहित्य और उच्च क्षेत्र का माध्यम बनाने का प्रश्न उठा, वे पलायन करके अपने योग्य वर्ग—शोषक वर्ग—के साथी हो गये। वे उसी पुरानी परिपाटी में चले गये, जो लोक-भाषा को 'गँवारू' कहकर घृणा और उपहास करती थी। इस समय कांग्रेस आदि लोक-तन्त्र को पोषित करने वाली संस्थाएँ बन गई थी। लोकभाषा का प्रश्न मूलतः राजनैतिक प्रश्न था। उसे राजा जैसे महानुभाव अधिक प्रोत्साहन कैसे देते? उस लोकरुचि के अनुकूल ढली हुई लोकभाषा को भारतेन्दु जी ने ऊपर उठाया। उसकी यथास्थान प्रतिष्ठा की। उनकी भाषा यथार्थ लोकभाषा

---

[१] 'हिन्दी प्रदीप' अगस्त, १८७६, पृ० १६

हिन्दी थी। उन्होंने कोई नई भाषा गढ़ी नहीं थी। उन्होंने यह दिशा-दर्शन किया कि सभी ने उसे स्वीकार कर लिया। उस भाषा का सबसे अधिक स्वाभाविक रूप पं० प्रतापनारायण मिश्र में मिलता है, अथवा पं० बालकृष्ण भट्ट में। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन १८७८ सन् से करना आरम्भ किया था। इस समय भारतेन्दु जी जीवित थे। सर सैयद अहमदखाँ और स्वामी दयानन्द भी जीवित थे। ये सभी महानुभाव पं० बालकृष्ण भट्ट के साहित्य-सेवा-काल में इह-लीला समाप्त कर गये। युग पलट गया। १६०० सन् में 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ। शीघ्र ही 'द्विवेदीयुग' का आरम्भ होना प्रारम्भ हुआ। पं० बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दीप्रदीप' भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल की शृंखला के बीच की कड़ी है।

: २ :

भाषा की दृष्टि से हमें स्पष्ट ही १८७८ या ७९ के अंकों की अपेक्षा १६०६-७-८ के अंकों में बहुत अन्तर प्रतीत होता है।

सितम्बर १८७८ के 'प्रदीप' में हमें प्रायः यह भाषा मिलती है—

१. "हम लोगों का मुंह बन्द करने वाला प्रेस ऐक्ट के मुक़ाबिले में जो लड़ाई लड़ी गई उसमें सुर्ख़रू हो फ़तहयाबी का मुख देखना यद्यपि हमें मयस्सर न हुआ पर एतने से हमें शिकस्तह दिल न होना चाहिए .....हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह पहिला हमारा प्रयास सर्वथा निष्फल नहीं हुआ क्योंकि इसमें अनेक कार्यसिद्धि के चिह्न देख पड़ते हैं" (पृ० २, अंक १)

इसी काल में ऐसे भी वाक्य मिलेंगे—

२. "ऐसी उदार गवर्नमेण्ट जो अपने को प्रसिद्ध किये है कि हम न्याय का बाना बांधे हैं वही जब अन्याय करने पर कमर कस लिया"

इनके अध्ययन से कुछ बातें स्पष्ट प्रकट होती हैं। इस काल का लेखक विराम चिह्नों से अपरिचित है। उसकी रचनाओं में एक साथ ही हिन्दी की दोनों शैलियों का संयोजन मिलता है। अवतरण का पूर्वार्द्ध जिस शैली में है, उसका ही परार्द्ध दूसरी शैली में है। कुछ शब्दों का उच्चारण अद्भुत है। वाक्य में व्याकरण का कोई स्थिर नियम काम में नहीं लाया गया। मुहाविरों की ओर जहां आकर्षण है, वहां भाषा में ढिलाई मिलती है। जहां मुहाविरों की ओर आकर्षण नहीं, वहां चुस्ती है।

अब १६०८ के फ़रवरी अंक में से एक उद्धरण लीजिए। तीस वर्ष बाद का—

"अस्तु अब यहाँ पर विचार यह है कि वह अपने मन से कोई काम न कर गुज़रे जब तक सब की राय न ले ले और सबों का मन न टटोल ले। दूसरे उसमें शान्ति और गमख़ोरी की बड़ी ज़रूरत है। जिस काम के बनने पर उसका लक्ष्य है उस पर नज़र भिड़ाये रहें दल में कुछ लोग ऐसे हैं जो उसके लक्ष्य के बड़े विरोधी हैं, और वे हर तरह पर उस काम को बिगाड़ा चाहते हैं। अगुआ को ऐसी २ बात कहेंगे और खार दिलायेंगे कि वह उधर से मुंह मोड़ बैठे और क्रोध में आप सर्वथा निरस्त हो जाय।" (पृ० ८)

ऊपर के उद्धरणों से तुलना करने पर अन्तर स्पष्ट हो जाता है। भाषा वह रूप ग्रहण करने लगी है, जिसमें विशेष सुरुचि और परिमार्जन का पुट लगा देने से वह 'द्विवेदी-काल' की बन जाय। यथार्थता इस समय से द्विवेदी-काल को आरम्भ होने के लिए केवल दस-पन्द्रह वर्ष ही रह गये थे।

'हिन्दी-प्रदीप' ही वह अकेला पत्र है, जो भारतेन्दु के समय से लेकर द्विवेदी-काल तक आया और जो आदि से अन्त तक एक व्यक्ति की रीति-नीति, शासन तथा सम्पादन में चला। १६०८ में यह डेढ़ वर्ष के लिए बन्द हो गया था। पुनः प्रकाशन पर भट्ट जी ने यह टिप्पणी दी थी—

"सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है कि विघ्न बाहुल्य को

पार कर प्रदीप दीपमालिका की दीपावली के साथ आज फिर जगमगा उठा. . . .प्यारे पाठक ! आपसे विछुर इस डेढ़ वर्ष की अपनी ऊँची-नीची दशा की कहानी सुनाय हम आपके प्रेमपरिप्लुत चित्त को नहीं दुखाया चाहते । बस इतने ही से आप हमारे निकृष्ट जीवनयात्रा की टटोल कर सकते हैं कि देशसेवा मातृभूमि तथा मातृभाषा का प्रेम बड़ी कठिन तपस्या है ।" (जिल्द ३१, सं० १, पृ० १–२)

इसमें सन्देह नहीं कि इसकी यह दीर्घ आयु पं० बालकृष्ण भट्ट की सम्पादन-कुशलता के कारण थी । साथ ही उनकी कष्ट-सहिष्णु और धीर-प्रवृत्ति भी इसमें सहायक थी, क्योंकि ग्राहकों की 'नादेहन्दगी' का रोना 'ब्राह्मण' पत्र की भाँति 'हिन्दी-प्रदीप' को भी रोना पड़ता रहा । फिर भी यह पत्र खूब चला, ऐसा कि जैसा उस काल का कोई दूसरा पत्र न चला ।

जब हम उन कारणों पर विचार करते हैं, जिनसे 'हिन्दी-प्रदीप' इतनी सेवा करने में सफल हो सका तो अन्य कारणों के साथ उसकी भाषा पर दृष्टि जाती है । उन्होंने अपनी भाषा को उस समय के दो वर्गों के मध्य की भाषा रक्खा । एक नागरिक—शिष्ट—पढ़ा-लिखा वर्ग था, दूसरा ग्रामीण—साधारण—जिसे पढ़े-लिखे होने का गर्व नहीं था, यों पढ़ा-लिखा साधारणतः वह भी था । शिष्ट वर्ग या तो संस्कृत का पंडित था, या फ़ारसी-उर्दू का कामिल । जैसा ऊपर दिये गये उदाहरणों से विदित होता है, इन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' में आवश्यकतानुसार दोनों वर्गों की भाषा-शैलियों को अपनाया । फिर भी इनकी तथा भारतेन्दु जी की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं था । ये उसी हिन्दी का उपयोग कर रहे थे, जिसे भारतेन्दु जी ने नये रूप में ढाला था और जिसका इन्हें पूरा ज्ञान था । इन्होंने एक बार नहीं, कई बार 'हिन्दी' भाषा के सम्बन्ध में और उसकी दशा के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ लिखी हैं । इस समस्त चैतन्य के अतिरिक्त भी वे कभी अनुदार नहीं हुए । उनकी भाषा यथार्थतः सार्वजनीन भाषा विदित होती है, जिसमें किसी भी प्रकार के शब्दों के लिए हिचकिचाहट या संकोच नहीं । उन्होंने अप्रैल, १८८२ के अंक में **"पश्चिमोत्तर और औध में हिन्दी की हीन दशा"** शीर्षक से जो टिप्पणी दी उसकी भाषा और उसके अर्थ दोनों ही दृष्टि में लाने योग्य हैं—

"इस बात को सब लोग मानते हैं कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू कहीं ज्यादा हैं और मुसल्मानों में थोड़े से शहर के रहनेवाले पढ़े-लिखे को छोड़ बाक़ी सब मुसल्मान हिन्दी ही बोलते हैं वरन दिहातों में बहुत से मुसल्मान ऐसे मिलते हैं जो उर्दू-फ़ारसी एक अक्षर नहीं जानते । . . . .तौ भी जनता कभी रोके रुक सकती है किसके-किसके गले में डाइरेक्टर साहब अँगुली देंगे कि तुम लोग अपनी मातृ-भाषा हिन्दी न बोलो । . . . ."

लेखक भली प्रकार जानता है कि हिन्दी का विरोध केवल शहर के ही पढ़े-लिखों के द्वारा है । उसकी भाषा इसी-लिए गाँवों की ओर झुकी हुई है और आवश्यकतानुसार उसने उर्दू-फ़ारसी से भी शब्द लेने में कहीं संकोच नही किया ।

इसमें सन्देह नहीं कि इनके समय की भाषा में बहुत परिवर्तन हो गया है । आज इनके समय के अनेकों शब्द प्रयोग के बाहर हो गये हैं, मुहाविरे तो जैसे भाषा में से उठ ही गए हैं । इनकी भाषा की कसौटी और स्रोत साधारण जनता थी, विशेषतः ग्रामीण ।

यहाँ हम कुछ ऐसे शब्द देते हैं और मुहाविरे भी, जो आज काम में नहीं आते, प्रयोग से बाहर हो गये हैं—

बाना-बाँधना, छीन-दीन, ऐकमत्य, यावत, दंगेत, करमफुटी, गँजिया की गँजिया लुढ़क जाय, लेखा डेहुड़ा, बूड़ा आना, जथा बाँधकर, पेट सुतुही सा है, यहीं (मैं ही के लिए), खज्ज अखज्ज, छलकर्मियों, लोक लेले, गबड़ाकर, खपगी, शेर की भुगत, पत, कुर्कुरिहाव, आशय (निबन्ध के लिए), कचरभोग, सदुपदेशकी, ककेदराजी, औंझट, एतनी, केतनी, जेतनी, हेलवाई ।

इन कुछ थोड़े शब्दों का संकलन अनायास ही किया है, अन्यथा तो पूरा एक कोश छाँटा जा सकता है । ऐसे शब्दों को छाँटने की आवश्यकता भी है, पर अपना प्रकृत उद्देश्य कुछ और है । इन शब्दों पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की बात तो दूर, शब्दों के उच्चारण का भी कोई आदर्श (Standard) नियम नहीं

स्थापित हो पाया था। सभी शब्द साधारण बोल-चाल के उच्चारण के अनुकरण पर लिखे गये हैं। उपरोक्त शब्दों में से मैं समझता हूँ कि सब नहीं तो अधिकांश ऐसे होंगे, जो आज भी ग्रामीण बोलियों में प्रयोग में आते होंगे। साहित्य ने उन्हें परिमार्जन की दृष्टि से और ग्राम्यत्व दोष से बचने के लिए त्याज्य ठहरा दिया है। भारतेन्दु युग में ऐसे शतशः शब्द होंगे, जो आज भूले जा चुके हैं।

'हिन्दी-प्रदीप' में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तीन शैलियाँ शब्दप्रयोग की दृष्टि से काम में लाई गई थीं और वे तीनों प्रायः साथ मिलती चली जाती हैं। यों उनमें कोई नियम काम करता हुआ नहीं विदित होता, फिर भी जब वे साधारण टिप्पणियाँ लिखते हों तो वे ग्राम्यत्व की ओर झुकाव के साथ साधारण हिन्दी-संस्कृत-फ़ारसी-उर्दू के शब्दों का प्रयोग करते चलते हैं। जब वे कोई विद्वत्ता की बात कहते होते हैं तो संस्कृत के शब्दों का प्रयोग बहुल हो उठता है और जब सरकारी व्यक्तियों की ओर दृष्टि डालकर कुछ लिखते हैं तो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का पुट बढ़ जाता है। इससे भी विशेष नियम यह मिलता है कि जब लेखक मौज में आकर लिखता है तो शब्द की रंगीनी पर उसकी दृष्टि रहती है और वह सभी ओर से विविध रंग के शब्दों, मुहाविरों, कहावतों और उद्धरणों को लेकर अपने को सजा देता है। जब गम्भीर है तो संस्कृत और अंग्रेज़ी का पल्ला पकड़ लेता है।

: २ :

'हिन्दी-प्रदीप' के मुखपृष्ठ पर यह सूचना रहती थी—

"विद्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसम्बन्धी इत्यादि के विषय में..." यों यह मासिक पत्रिका विविध विषय विभूषित थी। प्रत्येक अंक में समाचार और परिहास तो प्रायः आवश्यक से ही थे। राज-सम्बन्धी आलोचना भी अवश्य ही रहती थी। नाटक के एक-दो अंक भी रहते थे। कुछ काव्य भी रहता था। इसके अतिरिक्त कभी कोई विज्ञान की चर्चा, कभी आयुर्वेद या स्वास्थ्य विषयक, कभी धर्म या दर्शन-सम्बन्धी कभी इतिहास आदि सम्बन्धी निबन्ध रहते थे।

समाचारों के लिए एक या दो कालम रहते थे, इनमें समाचारों के साथ कभी-कभी सम्पादक मनोरंजक टिप्पणी भी दे देता था। उदाहरणार्थ प्रयाग में दिवाली खूब मनाई जा रही है। इस समाचार को उसने यों दिया है—

> **"पुलिस इंस्पेक्टर की कृपा से दिवाली यहाँ पन्दरहियों के पहिले से शुरू हो गई थी पर अब तो खूब ही गली-गली जुआ की धूम मची है; खैर लक्ष्मी तो रही न गई जो दीपमालिका कर महालक्ष्मी पूजनोत्सव हम लोग करते तो पूजनोत्साह कर लक्ष्मी की बहिन दरिद्रा ही का आवाहन सही।** (पृ० १६, नवम्बर १८७८)

ये समाचार कभी-कभी दूसरी पत्रिकाओं से उद्धृत करके भी दे दिये जाते थे, साथ में उसका उल्लेख भी रहता था। इन अन्य पत्रों में भी यही 'प्रदीप' जैसी शैली थी। समाचार आलोचना से परिवेष्टित रहता था—

> **"अँगरेजों के चरण-कमल जहाँ ही पधारेंगे वहाँ ही टैक्स की धूम मच जायगी। सइप्रेस अभी थोड़े ही दिन इन्हें लिये हुआ पर टैक्स की असन्तोष ध्वनि सुन पड़ती है; टैक्स इनके जन्म का साथी है। वि० ब०"**

किन्तु आलोचना करने की ओर अभिरुचि इतनी विशेष थी कि इस प्रकार समाचारों का संग्रह देना नियमित रूप से नहीं चल सकता था। पत्रिका में अधिकांश निबन्ध किसी-न-किसी विशेष घटना को लक्ष्य करके ही लिखा जाता था। इस काल के प्रायः सभी निबन्धों में समय की बड़ी प्रबल छाप रहती थी। इस प्रकार सम्पादक अथवा लेखक के विचारों से आवृत होकर छोटे-छोटे लेखों का रूप धारण किये हुए समाचार पत्रिका में यत्र-तत्र बिखरे मिलेंगे। शीर्षक देखकर आप जिसे कोई लेख या निबन्ध समझेंगे, उसमें आगे पढ़ने पर आपको किसी घटना की आलोचना मिलेगी, अथवा किसी वर्तमान तात्कालिक प्रवृत्ति पर छींटें। आपने शीर्षक देखा 'Fear and Respect' **"भय और समुचितादर"**—सोचा इस निबन्ध में भय और आदर पर दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक विचार सामग्री उपलब्ध होगी। आरंभ में कुछ ऐसी सामग्री मिली भी। आपने पढ़ा—

"भय और समुचित आदर ये दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं । भय का अंकुर दिल की कमज़ोरी से फबकता है; जब हम दूसरे के रोब में आय मारे डर के हाँ में हाँ मिलावें और जी से यही समझें कि हौआ है काट ही लेगा इससे इसकी भरपूर पूजा-सम्मान करते जायें तभी भला है तो यह समुचित आदर की हद के बाहर निकल जाना हुआ; . . . ." (मई १८८०, पृ० ४)

पर आगे बढ़कर सिकन्दर-पोरस का उल्लेख कर लेखक जा पहुँचा "साहबान अँगरेज और हमारे अमीर और रियासतदारों को मुलाक़ात" पर। पर क्या मजाल जो चुहल और साहित्य-स्पर्श छूट जाय। "घड़ी-घड़ी घड़ियाल पुकारै, कौन घड़ी धौं कैसी आवै", यह शीर्षक है। इसमें समय की परिवर्तन-शीलता पर कोई विशेष व्यापक निबन्ध नहीं, लार्ड लिटन के अनायास ही पदत्याग करने की घटना का मनोरंजक वर्णन है—

"हमारे श्रीमान लार्ड लिटन कहाँ इस विचार में थे कि शिमला की शीतल वायु में चलकर स्वर्ग-सुख का अनुभव करेंगे और गवर्नरी के दो एक वर्ष जो बाक़ी रह गये हैं उनमें अपने दीक्षा-गुरु डिसरेली के बताये मन्त्र को सिद्ध कर जहाँ तक हो सकेगा दो एक और नये ऐक्ट पास कर निर्जीव हिन्दुस्तान की रही-सही कमर तोड़-फोड़ तब विलायत जायेंगे कहाँ एक बारगी लिबरल लोगों के विजय का ऐसा तार आ गिरा जिसने सब कुतार कर दिया. . . ." (मई १८८०, पृ० १६)

इस प्रकार एक शीर्षक है 'एक अनोखे ढंग की तहरीर उक्लैदिस' यह एक परिहास है, जिसे आज कल 'पैरोडी' कहा जाता है। उक्लैदिस, ज्यामेट्री की पैरोडी पर सरकार की नौकरी-सम्बन्धी नीति का परिहास किया गया है। आज भी इससे मनोरंजन हो सकता है—

"मिस्टर एडिटर रामराम प्रोफेसर उक्लेदिस के नगरदादा ने सातएँ सरग से यह अनोखे ढङ्ग की युक्लिद तुम्हारे पास भेजा है इसे अपने पत्र में स्थान दें आशा है संसार भर को इसके प्रचार से चिरबाधित कीजिएगा।

परिभाषा सूत्र

१ गवर्नमेंट को इख़तियार है कि सरकारी नौकरी की सीमा जहाँ तक चाहे वहाँ तक महदूद कर सकती है॥

२ उस सीमा का एक छोर जिसका नाम सिविलियन है जहाँ तक चाहो बढ़ भी जाय तो कुछ चिन्ता नहीं पर दूसरी सीमा सरकारी हिन्दुस्तानी नौकर वाली केवल २०० रुपये के भीतर रहे और उन्हीं के वास्ते रिसर्व्ड की गई जो अनकवेनेण्टेड केरानी या यूरेशियन हैं॥

३ उस सीमाबद्ध रेखा पर किसी नुक़ते से कोई दायरा हिन्दुस्तानियों के लिए गवर्नमेण्ट सरवेंट का नहीं खींचा जा सकता. . . . .

पहले अध्याय का ४९वाँ साध्य

एक ऐसी रेखा जिसका एक छोर सीमाबद्ध अर्थात् महदूद नहीं किया गया और दूसरे के लिए भाँत-भाँत की क़ैद है उस पर जो लम्ब खींचा जायगा वह सम विषम दो कोण पैदा करेगा॥. . . (मार्च १८८०, पृ० २३)

'हिन्दी-प्रदीप' की प्रधान प्रवृत्ति राजनीति की ओर अथवा राजकीय कार्यों की आलोचना की ओर थी। वह उस काल की जन-जाग्रति का प्रबल समर्थक था और सरकारी कामों की पर्याप्त उद्दंड और तीखी समालोचना करता था। किन्तु उसकी शैली चटपटी और अन्योक्ति जैसी थी। किसी अन्य विषय की बातें करते-करते और साथ ही इधर-उधर के विविध वृत्त देकर उनके साथ ही उदाहरणार्थ अथवा प्रसंगानुकूल राजकीय कृत्य का भी उल्लेख कर दिया जाता था।

इस काल का कवि भी अपने समय को नहीं भूले हुए था। अनेकों कविताएँ तत्कालीन स्थिति की आलोचना करते हुए लिखी गई थीं। एक होली यों है—

वरस यहौ बीत चल्यो री कहो सबै काह लख्यो री॥
आवत प्रथम लख्यो रह्यो जैसो तैसोइ जातहु छोरी।
वरस कितेकन बीतत ऐसे कावुल युध न मिटो री।
भलो सुख लिटन दयो री॥१॥
अबहिं सुनै अफगान शान्त सब सब कछु ठीक भयो री।
काल्हहिं उठि सुनियत लरिबे को फिरै सबै दल जोरी।
कियो इमि हानि न थोरी॥२॥
फेरि पालियामेण्ट के दल को नव आह्वान उठ्यो री।
कनसर्वेटिव भये पद हीना लिवरल स्वत्व लह्यो री।
अनन्द सुनि सवन कियो री॥३॥
पलटन दल मान्यो हम सबहू भारत ग्रह पलटो री।
आशालता डहडह होवै लगीं हिय अति हरख बढ्यो री।
मनहुँ धन खोयो मिल्यो री॥४॥
जिन ठान्यो कावुल युध, प्रेस अरु आर्मसैक्ट गढ्यो री।
तीनहिं वरस माँहिं भारत को जिन दियो क्लेश करोरी।
ताप बढ़ावन लिटन लिटन सोई इतसों दूर बह्यो री।
ता सम नर फिर नहीं जगदीश्वर आवै भारत ओरी।
यहै सबै मिल विनयो री॥५॥

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की समस्त स्फूर्ति समय के प्रवाह से प्राप्त होती थी। साधारणतः वह प्रगति का ही पक्षपाती था। उसकी शैली में ताजगी थी और एक प्रवाह था। साथ ही वह अनगढ़पन था, जो जीवन की स्वाभाविकता का पर्याय माना जाना चाहिए। चुहल और मनोरंजकता भी इस साहित्य का अंग थी। उसमें एक तो मौलिक कल्पना का प्रभूत प्रदर्शन मिलता है, विनोद के ऐसे-ऐसे विविध और नवीन रूप प्रस्तुत किये गये हैं कि वे पद-पद पर जीवन में अनुभूत यथार्थ परिहास की प्रतिकृतियाँ प्रतीत होती हैं। युग की सजीवता का इतना प्रभाव था कि पं० बालकृष्ण भट्ट के पांडित्य पर भी उसने अपनी पूरी छाप जमा ली है।

उपरोक्त शैलियों के अतिरिक्त दो शैलियाँ और प्रमुख प्रतीत होती हैं। एक तो किसी विशेष वर्णन के लिए अलंकार या रूपकों का सहारा। उदाहरण के लिए "एक अनोखे पुत्र का भावी जन्म" में म्युनिसिपालिटी के गर्भिणी होने और 'हाउस टैक्स' नामक पुत्र को जन्म देने की भविष्यवाणी की गई है। साथ ही उसकी आलोचना भी है। इसी प्रकार एक चक्र बनाकर भारत के विविध अधिकारी का रूप-ज्ञान कराया गया है—

"भारतीय महा नवग्रह दशा चक्रम"

ग्रह	नाम ग्रह	आयुध
सूर्य	श्रीमान महामहिम लार्ड रिपन	न्याय सत्य दया प्रजाहित पर इल्बर्ट विल के आन्दोलन में ऐंग्लो इंडियन ग्रहण के समय सब गोठिल हो गए।
चन्द्रमा	मिस्टर ह्यूम	न्याय सत्य अपक्षपात

ग्रह	नाम ग्रह	आयुध
मङ्गल	महा अमंगल की खान सकल गुणनिधान मेड़राज	खुशामद स्वार्थ साधन
बुध	विविध राजनीति विभूषित परम निर्दूषित सैयद अहमदखाँ बहादुर	उर्दू की जड़ पुष्ट करने वाली उक्ति युक्ति काट छाँट
गुरु वा बृहस्पति	साक्षात् वाचस्पति स्वरूप—शिक्षा कमिशन के गुरुघंटाल–हिन्दी के परम शत्रु–हंटर साहब	चारो वेद अठारों पुराण सारा कोरान सारे साएन्स तथा अंड बंड संड
शुक्र	मनमानी व्यवस्था देने वाले काशी के पंडितों में मुखिया जो कोई हो	अनर्गल विद्या
शनैश्चर	सर ग्रैंड डफ मद्रास के गवर्नर जो सेलम के निरपराधी रईसों पर जन्म भर के लिए आए और उन्हें काले पानी के सप्त द्वीप दिखाए	धींग धींगा
राहु	महामान्य रियर्स टाम्सन ल० ग० बंगाल	अन्यायं-अविद्या-जलन-कुढ़न
केतु	टाम्सन के सहयोगी महा ऐंग्लो इंडियन	इल्बर्ट बिल में विरोध के हेतु पायोनियर इंगलिशमैन आदि अँगरेज़ी अखबार

ऐसी रचनाएँ आज के कार्टूनों का काम करती प्रतीत होती हैं। दूसरी शैली है नाटकीय संवादशीलता। मौज में लिखे गये इन निबन्धों में लेखक जैसे दो व्यक्तियों की उपस्थिति की कल्पना कर लेता है। कहीं-कहीं इन दो व्यक्तियों में एक तो लेखक और दूसरा पाठक माना जा सकता है। कहीं-कहीं तो इन दोनों का पृथक्त्व वह ऐसे शब्दों को देकर प्रकट कर देता है जैसे कि **"आप कहेंगे"**, कहीं केवल वर्णनशैली से ही यह अन्तर प्रकट होता है। **'पञ्च के पञ्च सरपञ्च'** में ऐसी ही शैली में दो कल्पितपात्र हैं।

> **"ओ अलबेले यहाँ अकेले बैठा क्या मक्खियाँ मार रहा है जरा मेले-ठेले की भी होश रक्खा कर; चल देख आवें मेला है झमेला है। शिवकोटी का मेला है. . . .कुछ नशापानी न किया हो तो ले यह एक बोतल रम आँख मीच ढाल जा; वाह गुरु क्यों न अब बन गया सब बहार नजर पड़ा बिना इसके कहाँ दिल लगी; देख सम्हला रह कहीं पाँव लड़खड़ाकर कीचड़ों में न फिसल पड़े।"**

इन सबके साथ यह पत्रिका चुटकलों, अद्भुत शब्द संयोजनों, अनोखी व्याख्याओं, चुभती परिहासमयी परिभाषाओं, ज्ञान और चुहल के संक्षिप्त संवादों, गद्य-पद्य के चुटीले परिहासों-पैरोडियों से युक्त मिलेगी। क्रमशः प्रकाशित होने वाले उपन्यास तथा नाटक भी प्रायः नियमतः रहते थे। इस प्रकार विनोद-हास्य-परिहास के क्षेत्र में तो इस युग के इन पत्रों से आज के पत्रकार भी कुछ सीख सकते हैं।

: ४ :

इस काल की सम्पादकीय नीति विशेषतः 'हिन्दी-प्रदीप' की बहुत ही श्लाघ्य मानी जानी चाहिए। सम्पादक ने सम्पादकीय ईमानदारी से कहीं हाथ नहीं धोया। सत्य को डंके की चोट पर कहा है, पर विपक्षी के प्रति भी घृणा का भाव प्रकट नहीं किया, दुःख भलेही प्रकट किया हो। पत्रों में उस समय भारतीय महत्त्वाकांक्षाओं और प्रगति का विरोधी मुख्यतः 'पायोनियर' था। एक बार नहीं, अनेक बार उसका उल्लेख हुआ है, पर कहीं उसमें रोष अथवा घृणा नहीं। केवल एक आलोचना दृष्टि अथवा साधारण तथ्य कथन मिलेगा। पुरुषों में जन-हित विरोधी राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' थे। इनका भी उल्लेख कई स्थानों पर कई प्रकार से हुआ है। यहाँ भी परिहास और फब्तियाँ तथा आलोचना तो मिलेंगी, पर मालिन्य अथवा द्वेष नहीं दीखेगा। **'किम्वदन्ती'** शीर्षक से १८८३ जून के अंक में यह टिप्पणी है—

"किम्वदन्ती है कि राजा शिवप्रसाद ने कौंसिल की मेम्बरी से इसतीफ़ा दिया था पर लार्ड रिपन ने मंजूर नहीं किया; हम पूरा विश्वास करते हैं कि यह भी गुरुओं की गुरुआई है समाज में अपना गौरव बनाये रखने को खासकर बनारस के लोगों के बीच राजा ही ने शायद इस अफ़वाह को उड़ा दिया है नहीं तो लार्ड रिपन साहब को ऐसा क्या मीठा है कि राजा भागते फिरते और लार्ड रिपन इन्हें धाय २ के पकड़ते। ठौर २ पुतला जलाया गया इस मुलाहिजे से रिपन साहब क्या इन्हें नहीं छोड़ा चाहते या हाँ में हाँ मिलाने इन्हें बहुत अच्छा आता है इससे इन पर उक्त महोदय बहुत प्रसन्न हैं या कि घर २ और आदिमी २ में इनकी अकीर्ति की कालिमा छा रही इस अनुरोधन से इन्हें रखना ही उचित समझते हैं या कि जन्म पर्यन्त शरिस्ते तालीम रहकर सिवा मियाँगीरी के दूसरे काम के कभी डाँड़े नहीं गए इससे राजनीति का मर्म समझने वालों इस पश्चिमोत्तर और औध में दूसरा कोई पैदा ही नहीं हुआ इसलिए लाचार हो इन पर हमारे वायसराय साहब की इन पर बड़ा आग्रह है जो हो बात निरी बेबुनियाद अफ़वाह मालूम होती है।" (पृ० ५-६)

धार्मिक क्षेत्र में वे सुधारों के पक्षपाती थे, पर अकारण ही प्रत्येक प्रथा और आचरण का विरोध उन्हें सह्य नहीं था। यों उन्होंने जाति-पाँति का पक्ष लिया है और कितने ही स्थानों पर यह बताया है कि 'जाति-पाँति' स्वयं किसी उन्नति में बाधक नहीं, फिर भी साथ-साथ भोजन करने का पक्ष पोषित किया है। आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों से वे पूर्णरूपेण सहमत नहीं हो पाये, फिर भी बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह का विरोध किया है और स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। नई रोशनी को विष के रूप में उन्होंने माना है, पर इसलिए नहीं कि वे भारत की तमोवृत कुरीतियों को बनाये रखना चाहते थे। नई रोशनी की सबसे अधिक खटकने वाली बातें उन्हें एक तो भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान रखना, दूसरे शब्दों में माँस-मदिरा का चस्का और दूसरी स्त्री-पुरुषों का स्वेच्छाचार, तीसरी नास्तिकता लगती थी। शोषक वर्ग और शासक वर्ग के प्रति नम्र रहते हुए भी कठोर आलोचना करते, उन पर फ़ब्तियाँ कसने में 'हिन्दी-प्रदीप' के पृष्ठ चूकते न थे। एक स्थान पर मारवाड़ी को खटमल कल्पित किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय पर छींटा कसने में कभी कसर नहीं छोड़ी। मथुरिया चौबों को भी और तीरथ के पंडों को भी क्षमा नहीं किया गया। यद्यपि आस्तिकता और धर्म में विश्वास का पोषण उन्होंने बार-बार किया है, पर इनके प्रबल उद्‌गारों में वे स्थल हैं जहाँ उन्होंने धर्म-सम्प्रदायों और मजहबों को घोर अप्रगतिगामी बताया है। उन्होंने यद्यपि यह अनुभव किया था कि मुसलमान और सरकार हिन्दुओं पर सब प्रकार से अत्याचार कर रही है, इस सम्बन्ध में यथावसर सटिप्पण घटनाओं का भी उल्लेख करने में कभी कमी नहीं की, फिर भी 'हिन्दी-प्रदीप' प्रधानतः हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रबल पोषक रहा है। "होहै वही जो राम रच राखा" में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"आगरे में हिन्दू मुसलमानों की आपस में लड़ाई भी वही बात है नहीं तो क्या अब यह होना चाहिए कि सरीहन देख रहे हैं कि आपस की फूट ही ने एक तीसरे को हमारे मानमर्दन के लिए सात समुद्र पार से लाय हमारे ऊपर खड़ा कर दिया चाहिए अब भी साहुत से चल आपस में मेल रक्खें हम दोनों का जो इसी भूमि के उदर से जन्मे हैं एक प्रकार का समुदाय हो जाने से ताक़तें और बढ़ें सो न होकर व्यर्थ को मजहबी झगड़ों के पीछे आपस ही में कटे मरते हैं यह ईश्वर की इच्छा नहीं तो क्या है? हमने बहुत दिनों तक इस बेहूदगी के पीछे सिर पचाया और अनेक यत्न किया कि अपने भाइयों को समझाय-बुझाय उन्हें राह लगाएँ... आदि"

(नवम्बर १८८३, पृ० ५-६)

'हिन्दी-प्रदीप' के पृष्ठों को उलटने से विदित हो जाता है कि उसने सदा न्याय का पक्ष ग्रहण किया है और अनेकों संघर्षों में होकर वह गया है, पर अपनी संतुलित लेखनी को कहीं कलंकित नहीं होने दिया है। 'हिन्दी-प्रदीप' ने इस प्रकार हिन्दी-गद्य को भारतेन्दु से लेकर 'द्विवेदी-युग' तक पहुँचा दिया।

पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाएं

श्री मूलराज जैन एम० ए०, एल-एल० बी०

अब तक पृथ्वीराजरासो की निम्नलिखित प्रतियों[1] के अस्तित्व का पता लग सका है—

(१) बीकानेर फ़ोर्ट लाइब्रेरी में आठ प्रतियाँ।
(२) बीकानेर बृहद्ज्ञान भंडार में एक प्रति।
(३) बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा की एक प्रति।
(४) पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, लाहौर में चार प्रतियाँ।
(५) भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिटयूट, पूना में दो प्रतियाँ।
(६) रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा में तीन प्रतियाँ।
(७) जोधपुर सुमेर लाइब्रेरी में दो प्रतियाँ।
(८) उदयपुर विक्टोरिया हाल लाइब्रेरी में एक प्रति।
(९) आगरा कालिज, आगरा में चार भागों में एक प्रति।
(१०) कलकत्ता निवासी स्वर्गीय पूर्णचन्द नाहर की एक प्रति।
(११) रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल में कुछ प्रतियाँ।
(१२) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की कुछ प्रतियाँ।
(१३) किशनगढ़ स्टेट लाइब्रेरी की कुछ प्रतियाँ।
(१४) अलवर लाइब्रेरी की प्रतियाँ।
(१५) चन्द के वंशधर नेनूराम की दो प्रतियाँ।
(१६) यूरोप के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में कतिपय प्रतियाँ।

इन प्रतियों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराजरासो का पाठ हम तक मुख्यतया तीन वाचनाओं में पहुँचा है—(१) बृहद वाचना, (२) मध्यम वाचना और (३) लघु वाचना। बृहद्वाचना[2] में ६४ से ६९ तक समय[3] और सोलह-सत्रह सहस्र पद्य हैं। इसका परिमाण एक लाख श्लोक माना गया है, किन्तु वास्तव में हैं पैंतीस हज़ार श्लोक के लगभग। यही वह वाचना है, जिसे नागरी प्रचारिणीसभा, काशी ने सम्पूर्णतया और कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल ने आंशिक रूप में मुद्रित किया था। विद्वानों ने रासो-सम्बन्धी अपना ऊहापोह प्रायः इसी वाचना के आधार पर किया है।

---

[1] इनमें से कुछ का विवरणात्मक परिचय छप चुका है। देखिए हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज की वार्षिक रिपोर्टें, टेसिटरी : डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑव बार्डिक एंड हिस्टौरिकल मैनस्क्रिप्ट्स, भाग २ (१); 'राजस्थानी' १९३९ में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख; नागरी प्रचारिणी पत्रिका सं० १९९६ में श्री दशरथ शर्मा का लेख आदि।

[2] बृहद्वाचना की प्रतियाँ यूरोप में तथा बम्बई, कलकत्ता, काशी, आगरा, बीकानेर आदि स्थानों में पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं।

[3] रासो में 'समय' शब्द का प्रयोग सर्ग, अध्याय या खंड के अर्थ में हुआ है।

मध्यम वाचना[1] में ४० से ४७ तक समय हैं और इसका परिमाण दस-बारह सहस्र श्लोक तक का है। इसके पहले दो समयों का सम्पादन महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने लाहौर के ओरियंटल कालिज मेगज़ीन (हिन्दी विभाग)[2] में किया है। यह विद्वान् इसे असली रासो मानते हैं।

लघु वाचना[3] में १९ समय और दो सहस्र के लगभग पद्य हैं। इसका परिमाण केवल तीन हज़ार पांच सौ श्लोक के क़रीब ही बैठता है। इसका पता टेसिटरी ने लगाया था, जिन्होंने सन् १९१३ में सर्वप्रथम रासो की दो वाचनाओं की सम्भावना की ओर संकेत किया था।[4] किन्तु विद्वानों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। एक-दो प्रतियों में इन वाचनाओं में से दो या तीनों ही के पाठ का सम्मिश्रण भी दृष्टिगोचर होता है, जैसे पूना की प्रति नं० १४५५। १८८७-९१ में।[5]

वाचनाओं का विषय-विश्लेषण—रासो की लघु वाचना[6] में निम्नलिखित घटनाएँ वर्णित हैं—

(१) दशावतार-वर्णन (कृष्णचरित विशेष विस्तृत है)।

(२) चौहान वंश का इतिहास और पृथ्वीराज का जन्म।

(३) पृथ्वीराज का वन प्राप्त करना और दिल्ली गोद जाना।

(४) संयोगिता का जन्म, विनय—मंगल पाठ, पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द के यज्ञ का विध्वंस तथा संयोगिता-अपहरण और दम्पति-विलास।

(५) पाटण के भोला भीम पर पृथ्वीराज की विजय।

(६) कैमास-वध।

(७) जैतखंभ-आरोपण और वीर का ग़ोरी के हाथों पकड़ जाना।

(८) पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन ग़ोरी के युद्ध—

(क) प्रथम युद्ध जब पृथ्वीराज भीम से लड़ रहा था।

(ख) द्वितीय युद्ध जिसमें शहाबुद्दीन वीर के हाथों वन्दी हुआ।

(ग) अन्तिम युद्ध जिसमें पृथ्वीराज स्वयं वन्दी हुआ।

(९) बाण-वेध।

मध्यम वाचना में लघु वाचना का सारा विषय कुछ विस्तृत रूप में मिलता है और इसके अतिरिक्त कई अन्य घटनाओं का वर्णन भी मिलता है, जैसे अग्निकुंड से चौहान वंश की उत्पत्ति; पद्मावती, हंसावती, शशिव्रता, पड़िहारनी आदि अनेक राजकुमारियों से पृथ्वीराज का विवाह; पृथ्वीराज के विविध युद्ध; पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन में अनेक बार युद्ध होना तथा हर बार शहाबुद्दीन का वन्दी होना; भीम द्वारा सोमेश्वर वध, आदि-आदि।

रासो की वृहद् वाचना में लघु वाचना का विषय विशेष विस्तार से मिलता है और इसके अतिरिक्त इसमें मध्यम वाचना की घटनाओं तथा ऐसी अनेक अन्य घटनाओं का समावेश भी है।

---

[1] मध्यम वाचना की प्रतियाँ बीकानेर, लाहौर, पूना तथा कलकत्ता में मिली हैं।

[2] फ़रवरी, मई, अगस्त सन् १९३५; फ़रवरी, मई सन् १९३८।

[3] लघु वाचना की तीन प्रतियाँ बीकानेर फ़ोर्ट लाइब्रेरी में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक की आधुनिक प्रतिलिपि लाहौर की पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में भी है।

[4] टेसिटरी : उपर्युक्त, पोथी २४ का विवरण।

[5] यह सं० १८०५ की लिखित है और आरम्भ में इसका पाठ प्रायः लघु वाचना से मिलता है, किन्तु हाँसी युद्ध तथा कन्नौज खंड वृहद् वाचना के आधार पर लिखित प्रतीत होते हैं।

[6] देखिए श्री दशरथ शर्मा का उपरोक्त लेख।

रासो के विषय-विश्लेषण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें मुख्यतया दो ही घटनाओं का वर्णन है—एक तो पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता-अपहरण का और दूसरे पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन के अन्तिम युद्ध का। अन्य घटनाएँ तो गौण रूप से ही आई हैं। अतः इनका वर्णन विस्तृत रूप से नहीं हुआ। लघु वाचना में इन प्रधान घटनाओं का वर्णन कई-कई समयों में हुआ है, किन्तु वृहद् वाचना में केवल एक-एक ही समय में हुआ है और उसमें भी प्रक्षेप आ गये हैं। समय पाकर संयोगिता-अपहरण की घटना इतनी लोकप्रिय हुई कि इसे एक विस्तृत स्वतन्त्र[1] ग्रन्थ का रूप मिल गया जो चन्दवरदाई की ही रचना मानी गई है। लघु वाचना में महोवा वाली घटना का उल्लेख मात्र ही है,[2] परन्तु वृहद् वाचना में यह एक पूर्ण समय लेती है और फिर इसे कई खंडों वाले ग्रन्थ[3] का आकार मिला, जिसके रचयिता के रूप में चन्दवरदाई का ही नाम लिया जाता है। सम्भव है कि इसमें चन्द का एक भी शब्द न हो, क्योंकि इसकी भाषा बहुत अर्वाचीन है।

वाचनाओं का काल-क्रम—इन वाचनाओं के काल-क्रम का निर्धारण इनकी प्रतियों के लिपिकाल के आधार पर हो सकता है। लघु वाचना की किसी भी प्रति में उसका लिपिकाल नहीं दिया, किन्तु उनमें से एक का अनुमान हो सकता है, क्योंकि वह अकबर के समकालीन प्रसिद्ध मन्त्री कर्मचन्द के पुत्र भागचन्द के लिए लिखी गई थी।[4] कर्मचन्द का देहान्त सं० १६५७ में हुआ और वह सं० १६४७ में बीकानेर छोड़ चुके थे। उनके पुत्र सं० १६७६ में काम आये। इसलिए हमारी यह प्रति कम-से-कम सं० १६७६ से पूर्व की है। श्री अगरचन्द नाहटा के कथनानुसार इस वाचना की दूसरी प्रति भी १७वीं शताब्दी विक्रम की लिखित है और तीसरी दूसरी की प्रतिलिपि मात्र है।[5] मध्यम वाचना की कुछ प्रतियों का लिपिकाल मिलता है और कुछ का नहीं। जिनका मिलता है वे विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की या उसके आसपास की लिखित हैं, जैसे सं० १७३८, १७३६, १७५८, १७६२ की लिखित प्रतियाँ विद्यमान हैं। जिनमें लिपिकाल नहीं मिलता, वे दो सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती हैं। वृहद् वाचना की प्रतियों का लिपिकाल प्रायः १६ शताब्दी विक्रम में है, किन्तु एक का सं० १७४७ भी है। इससे ज्ञात होता है कि लघु वाचना १७वीं शताब्दी विक्रम में, मध्यम वाचना १८वीं शताब्दी में और वृहद् वाचना १६वीं शताब्दी में या क्रमशः इनसे कुछ पूर्व विशेष प्रसिद्ध तथा प्रचलित हुई। कहते हैं कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा १७वीं श० वि० की लिपिकालकृत वृहद्वाचना की प्रतियाँ

---

[1] इसकी प्रतियाँ बनारस तथा कलकत्ता में उपलब्ध हैं।

[2] देखिए रासो लघु वाचना समय ६, पद्य ५६ :

आरन्नी अजमेरि घुम्मि घवनी कमंडि मंडोवरं।
भोरा रा सुर मुंड दंड दवनो अग्गी उविष्टं करं॥
रत्थं भं थिर थंभ सीस अहरं नि जल जुष्ट कालिंजरं।
क्रिप्पानं चहुं वान जान धनयो धर्नो पि गोरी धरा॥

यहाँ पर भी महोवा का उल्लेख नहीं, अपितु कालिंजर का है।

[3] इसे 'परमालरासो' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है।

[4] इसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

मन्त्रीश्वर मंडन तिलक, वच्छा वंश भर भाण।
करमचन्द सुत करम वड़ भागचन्द सब जाण॥१॥
तसु कारण लिखियो सही, पृथ्वीराज चरित्र।
पढतां सुख संपति सकल, मन सुख होवै मित्र॥२॥ शुभं भवतु॥

[5] श्री अगरचन्द नाहटा का उपर्युक्त लेख, पृ० २२।

और नेनूराम[1] वाली सं० १४५५ की प्रति इस नियम का अपवाद उपस्थित करती हैं, किन्तु कई विद्वानों के मतानुसार इनका लिपिकाल संदिग्ध है। अतः जबतक प्राच्यलिपिशास्त्रवेत्ता इनका निरीक्षण करके लिपिकाल निर्धारित नहीं करते, इनको इतना प्राचीन मानना उचित नहीं।

निम्नोक्त बातें भी इसी अनुमान की पुष्टि करती हैं—

(१) विषय-क्रम—कई स्थलों में लघु वाचना का विषय-क्रम मध्यम अथवा वृहद् वाचना की अपेक्षा अधिक समीचीन दिखाई देता है। मध्यम तथा वृहद् वाचना के प्रथम समय में पहले मंगलाचरण और फिर पृथ्वीराज के जन्म का वर्णन है और द्वितीय समय में दशावतार-वर्णन है, किन्तु लघुवाचना में मंगलाचरण तथा दशावतार-वर्णन प्रथम समय में है और पृथ्वीराज का जन्म दूसरे में। होना भी ऐसा ही चाहिए, क्योंकि दशावतार-वर्णन मंगलाचरण का रूपान्तर है और मंगलाचरण सदा ग्रन्थ के आरम्भ में होता है। लघुवाचना के नायक पृथ्वीराज के जन्म-वृत्तान्त के पश्चात् ही तीसरे समय में नायिका संयोगिता के जन्म का वृत्तान्त आता है, परन्तु मध्यम तथा वृहद्वाचनाओं में इन दोनों वृत्तान्तों के बीच कई समयों का अन्तर है। वृहद्वाचना में कन्नौज-खंड के आरम्भ में पृथ्वीराज का संयोगिता के लिए तड़पना और साल भर तक एक-एक ऋतु में भिन्न-भिन्न रानियों द्वारा संयोगिता की प्राप्ति में बाधाएँ उपस्थित करना कवि को षड्ऋतु-वर्णन का अवसर देते हैं, किन्तु लघु तथा मध्यम वाचनाओं में यही वर्णन पृथ्वीराज के संयोगिता को दिल्ली ले आने पर आता है। यह क्रम अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि यदि पृथ्वीराज को संयोगिता से सच्ची लगन थी तो वह कदापि एक वर्ष तक उसे प्राप्त किये बिना न रुकता।

(२) बढ़ती अनैतिहासिकता—लघुवाचना की अपेक्षा मध्यम में तथा मध्यम की अपेक्षा वृहत् में अनैतिहासिक घटनाओं का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे लघु वाचना में पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन के तीन युद्धों का वर्णन है, मध्यम में लगभग आठ का और वृहत् में बीस का। वास्तव में इनके बीच दो ही युद्ध हुए थे। इसी प्रकार भीम द्वारा सोमेश्वरवध, पृथ्वीराज द्वारा भीमवध, जयचन्द का मेवाड़-अधिपति समरसी तथा गुजरात-नरेश के साथ युद्ध, अग्नि कुंड से चौहान-वंश की उत्पत्ति आदि अनैतिहासिक घटनाओं का वर्णन मध्यम अथवा वृहद् वाचनाओं में ही मिलता है, लघु में नहीं। यह सम्भव नहीं कि चन्दवरदाई ने स्वयं अपनी रचना में ऐसी अनैतिहासिक घटनाओं का समावेश किया हो, क्योंकि वह पृथ्वीराज के समकालीन तथा सखा थे। यह अधिक संगत प्रतीत होता है कि चन्द के परवर्ती भाटों ने इतिहास-क्रम की ओर ध्यान न देते हुए पृथ्वीराज के यशोगान के निमित्त इन घटनाओं का समावेश पृथ्वीराज रासो में कर दिया।

(३) घटनाओं की संख्या में वृद्धि—इन वाचनाओं में समान घटनाओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। जैसे लघुवाचना में पृथ्वीराज के केवल दो विवाहों का—इंच्छिनि तथा संयोगिता के साथ—वर्णन है, मध्यम में पाँच का और वृहत् में चौदह का। इसी प्रकार पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन-युद्धों की संख्या लघुवाचना में तीन, मध्यम में लगभग आठ तथा वृहत् में बीस के लगभग है।

(४) वर्णन-विस्तार—इन वाचनाओं में वर्णन-विस्तार भी क्रमशः वृद्धि पर है। और लघुवाचना की अपेक्षा मध्यम और मध्यम की अपेक्षा वृहत् में दशावतार-वर्णन कन्नौज से लौटते समय का युद्ध-वर्णन तथा अन्तिम-युद्ध-वर्णन क्रमशः अधिक विस्तृत हैं।

(५) भाषा—यदि भाषा की दृष्टि से रासो की विविध वाचनाओं की जाँच की जाये तो भी उनकी ऐसी ही परिस्थिति का ज्ञान होता है। जैसे लघु, मध्यम तथा वृहद् वाचनाओं में भाषा के अर्वाचीन रूपों का प्रयोग क्रमशः अधिक होता जाता है। ठीक यही बात रासो में विदेशी शब्दों के प्रयोग पर भी लागू होती है।

---

[1] श्री अगरचंद नाहटा का उपर्युक्त लेख, पृ० ४५।

(६) पद्यसंख्या—लघु वाचना के भिन्न-भिन्न समयों की पद्य-संख्या में परस्पर भेद कम है, क्योंकि इनमें ३१ से१९९ तक पद्य हैं।[1] बृहद् वाचना में तो यह भेद अत्यधिक हो जाता है। इसके समय की पद्यसंख्या कम-से-कम १२ और अधिक-से-अधिक २५५३ है।[2] महाकाव्य के लक्षण[3] के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः सम्भव नहीं कि चन्दवरदाई ने स्वयं ऐसा किया हो। यह उसके परवर्ती भाटों का ही प्रभाव प्रदर्शित करता है।

उपरोक्त विचार-धारा के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वीराजरासो का मूलरूप बहुत ही छोटा था, किन्तु कालान्तर में प्रक्षेप मिलने के कारण इसका कलेवर बढ़ता गया। इन्हीं प्रक्षेपों के आधार पर ओझा जी जैसे उच्चकोटि के विद्वानों ने रासो की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। रासो की उपलब्ध वाचनाओं में से लघु वाचना शेष दोनों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन है।

लाहौर]



[1] इस वाचना में कम-से-कम पद्य-संख्या अर्थात् ३१ चतुर्थ समय में है और अधिकाधिक अर्थात् १९९ प्रथम समय में है। शेष समयों का परिमाण इन दोनों संख्याओं के बीच है।

[2] बृहद् वाचना में लघुतम समय ६५वां है, जिसमें केवल १२ पद्य हैं तथा ६१वां (कनवज्ज समय) दीर्घतम है और इसमें २५५३ पद्य हैं।

[3] देखिए :

नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥

साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, श्लोक ३२०।

काफल-पाक्कू[1]

श्री चन्द्रकुँवर वर्त्वाल

[हिन्दी के इस अज्ञात पर अति श्रेष्ठ कवि के निम्नलिखित मुक्तक में पहली बार शेली की 'स्काईलार्क' का उल्लास प्राप्त हुआ है।—वासुदेवशरण अग्रवाल]

(१)

हे मेरे प्रदेश के वासी !
छा जाती वसन्त जाने से जब सर्वत्र उदासी
झरते झर-झर कुसुम कभी, धरती बनती विधवा-सी
गन्ध-अन्ध अलि होकर म्लान
गाते प्रिय समाधि पर गान !
तट के अधरों से हट जातीं जब कृश हो सरिताएँ !
जब निर्मल उर में न खेलतीं चंचल जल-मालाएँ ! ७
हो जाते मीन नयन उदास
लहरें पुकारतीं प्यास प्यास !
गलने लगती सकरुण-स्वर से जब हिम-भरी हिमानी
जब शिखरों के प्राण पिघल कर बह जाते बन पानी !
बाक़ी रहते पाषाणखंड
जिन पर तपता दिनकरप्रचंड,
सूखे पत्रों की शय्या पर, रोती अति विकल वनानी !
छाया कहीं खोजती फिरती वन-वन में वन-रानी ! १५
जिसके ऊपर कुम्हला किसलय
गिरते सुख-से हो करके क्षय
उसी समय मरु के अन्तर में सरस्वती-धारा-सी
ले कर तुम आते हो हे खग, हे नन्दन-वन-वासी !
प्लावित हो जाते उभय कूल !
धरती उठती सुख-सहित फूल !
पी इस मधुर कंठ का अमृत खिल उठती वन-रानी
लता-लता में होने लगती गुंजित गई जवानी ! २२
तुम शरच्चन्द्र से मधुर-किरण !
आलोक रूप, तुम अमृत-कण,
किसलय की झुरमुट में छिप कर सुधा-धार करते वर्षण !
सुनती वसुधा ग्वाल-बालिका-सी हो कर के प्रेम-मगन !

---

[1] काफल-पाक्कू एक पहाड़ी पक्षी का नाम है जो ग्रीष्म ऋतु में पर्वतप्रदेशों में आता है। उसकी बोली 'काफल-पाक्कू, काफल-पाक्कू' होने के कारण उसका यह नाम पड़ा है। काफल एक पहाड़ी जंगली फल का नाम है। बोली से समझा जाता है कि यह पक्षी काफल के पकने की सूचना दे रहा है।

रख मृदुल हथेली पर आनन
सुख से मूँदे वे मलिन नयन
शैलों से उतरी आतीं नीरद-निवासिनी परियाँ
बजती मधुर स्वरों से जिनके चरणों की मंजरियाँ ! २९
ग्रामों से आती मुग्धाएँ
कोकिल-कंठी प्रिय लतिकाएँ
क्षण भर में तुम कर देते इस पृथिवी को नन्दन !
जहाँ अप्सराएँ करती हैं छाया में संचारण !
कानों में बजते हैं कंकण
आँखों में करता रूप रमण !
फूले रहते हैं सदा फूल भौंरे करते निशि-दिन गुंजन ! ३६

(२)

मेरे हिम-प्रदेश के बासी,
जन्म-भूमि तज, दूर देश में रहने लगा प्रवासी
सावन आया, दुख से मेरे, उमड़ी अतुल उदासी
बरसी झर-झर झर अश्रुधार !
शैलों पर छाया अन्धकार !
लख उत्तर की दिशा जल-भरे मेघ मनोहर उड़ते
पल-पल में चपला चमकाते, शैल-शैल पर रुकते ४३
पीछे को लखते बार-बार
बरसाते रह-रह बिन्दु-धार
मैं घायल पर-हीन विहग-सा किसी विजन में मन मारे
किसी तरह रहता था रो-रो कर निज जीवन धारे
उर में उठतीं बातें अनेक
मैं कह पाता था पर न एक
एक अँधेरी रात, बरसते थे जब मेघ गरजते
जाग उठा था मैं शय्या पर दुख से रोते-रोते,— ५१
करता निज जननी का चिन्तन
निज मातृभूमि का प्रेम-स्मरण
उसी समय तम के भीतर से, मेरे घर के भीतर
आकर लगा गूँजने धीरे एक मधुर परिचित स्वर,—
'काफल-पाक्कू', 'काफल-पाक्कू'
स्वप्न न था वह, क्योंकि खोलकर वातायन में बाहर—
देख रहा था, बार-बार सुनता वह ही परिचित स्वर ! ५८
उर में उठता था हर्ष-ज्वार
नयनों में थी आनन्द-धार



पोशित-भृत्तिका

मैं तो विवश यहां आया हूं, पर यह कैसे आया ;
क्या मुझको मेरी जननी का है संदेश कुछ लाया ?
मुझसे कहने को आज रात
आया जो यह आशा-प्रभात
अथवा क्या वे शैल वह गये, जिनमें यह था रहता ?
उखड़ गये वे पादप प्यारे जिनमें यह था गाता ?
क्या उस वन में लग गई आग ,
जो यह आया निज विपिन त्याग ?
हिम पर्वत का क्या सब तुषार
बन गया सलिल की तरल धार ?
रह गये शेष नंगे पहाड़
हिम-हीन दीन सूखे उजाड़
जो यह आया हिम-शैल त्याग ?

(३)

हे मेरे प्रदेश के वासी !
एक वार फिर कंठ मिलाकर गाने का हूँ अभिलाषी ।
अव कदम्ब की घन छाया में व्याकुल-कंठ प्रवासी ।
होने पर भी जीवन समान
क्यों रहते हो तुम दूर प्राण ?
कितनी वार तुम्हें जीवन में मैंने पास बुलाया
किन्तु न जाने तुम को भी क्यों आना कभी न भाया !
तुम सदा जानते हो कुमार–
कितना करता मैं तुम्हें प्यार !
कल ही जव आई आंधी तुम तरु पर से डरकर बोले–
तुम्हें मार्ग देने को मैंने निज गवाक्ष-पट खोले ।
भीगे पंखों में रख आनन
क्यों दुरा दिये तुमने लोचन ?
मेरा कुम्हलाया आनन लख, लखकर मेरे साश्रु नयन–
हँसकर आह ! कर गये तुम क्यों विषम विवशवन्दी जीवन ?
जीवन में मैंने प्रथम वार
जीवन भर को था किया प्यार
भूल गया मैं जननी के धीरे-धीरे प्रिय-चुंवन !
इन लहरों के साथ वह गया वह मेरा मृदु-जीवन !
तुमसे सुन्दर था वाल्य-काल–
यह भी होता हे विहग-वाल !–
एक विपिन में रहकर भी तुम दूर रहे हे प्यारे !
अव यह हृदय-कुसुम फूलेगा किस स्पर्श सहारे ?

फैला ऊपर से वही गगन–
छूता सब को वह एक पवन–
फिर क्यों मुझे आहें! अकुलाहट, क्यों मुझको ही पीड़ा ?
क्यों मुझको उन्मन पागलपन ? तुमको इतनी व्रीड़ा ?
मैं जितना आता पास-पास
तुम उड़ जाते हे श्वास-श्वास ?
कहाँ खो दिया तुमने अपना सरल हृदय हे सुन्दर ?
किस मानव ने तुम्हें दिखाया है सोने का पिंजर ?
तुम दिन भर तरु के कानों में अपनी विरह व्यथा कहते
मुझे देखते ही सहसा क्यों रुक कर चुप हो जाते ?
मेरी मानवता मुझे शाप
मेरी मानवता मुझे पाप
तुम्हें कभी विश्वास न होगा ऐसी मानवता पर ?
मैं न तुम्हें क्या कभी देख पाऊँगा निज हाथों पर ?
गायेंगे हम क्या फिर न कभी कंठों में कंठ मिलाकर
काफल की छाया के नीचे मैं, तुम ऊँचे तरु पर
एक साथ कहते हों—"काफल-पाक्कू, काफल-पाक्कू"
मैंने पाया है अविश्वास ;
भय, घृणा और दारुणोपहास !
अब कैसे मानव मैं तुमको, हे प्रिय, पास बुलाऊँ–
गुंजन स्वर में हृदय चीरकर कैसे आज बताऊँ ?
होता भू पर मैं झरा फूल
तज कर डाली के तीक्ष्ण शूल
तब तो तुम आँसू भर मेरी सुख समाधि पर गाते–
तब तो दल उस रोमिल-उर का मृदु स्पर्श तो पाते ?
पर मैं उन्मन रावण दानव !
मेरी तृष्णा बन जाती यदि
वन में कोमल पल्लवित डाल–
उस शय्या में रहकर निशि भर
गाते तब तो तुम विहग-बाल ?
हो पाते मेरे आँसू यदि–
मेघों के ये झरते लोचन–
धोते तब तो हे मेरे प्रिय,
मेरे आँसू तेरा आनन ?
क्यों रोता मैं यों बार-बार–
क्यों होता मैं प्रतिपल अधीर !
क्यों बहता अब तक अश्रु-नीर !
भगवन् ! मैं होऊँ खग-कुमार !

विक्रम और वेताल-कथा में तथ्यान्वेषण

श्री सूर्यनारायण व्यास

विक्रम संवत् की द्वि-सहस्राब्दी के उत्साह ने शिक्षित समुदाय में एक सांस्कृतिक चेतना ही जाग्रत कर दी है। साहित्य के विभिन्न अंगों पर इस अवसर पर जितना विक्रम के विषय में लिखा गया है, उतना शायद ही किसी समय लिखा गया हो। यदि यह सब साहित्य एक जगह एकत्रित किया जावे तो निस्सन्देह पाँच हज़ार से अधिक पृष्ठों की सामग्री हो जावेगी और उससे विक्रमादित्य-सम्बन्धी जिज्ञासा के समाधान में पर्याप्त सहायता मिलेगी। विक्रमादित्य-विषयक विविध कल्पनाएँ हज़ारों मील दूर बसने वाले विदेशी विमर्शकों ने तो जब-तब की भी हैं, पर हमारे देश का मुख्यतः महाराष्ट्र प्रान्त तथा कुछ अंशों में गुजरात और बंगाल ही इन शास्त्रीय चर्चाओं में रस लेते रहे हैं और विदेशियों की धारणाओं को भ्रान्त सिद्ध करते रहे हैं। डा० जायसवाल या मजूमदार प्रभृति महानुभाव भी इस दिशा में सजग रहे हैं। महाराष्ट्रीय और बंगीय विद्वानों की इस विवेचनात्मक प्रवृत्ति का परिचय विद्वद्वर स्व० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी-भाषी-संसार को प्रायः देते रहते थे, परन्तु इतर प्रान्तीय पंडितों ने इस दिशा में कम ही अभिरुचि प्रकट की है। महाराष्ट्र की जागरूकता आज भी यथापूर्व है। विक्रम, कालिदास जैसी विश्व-वन्द्य विभूतियों के विषय में उनकी अध्ययन-शीलता निःसन्देह अभिनन्दनीय है। गुजरात और बंगाल के ललित-साहित्य की आराधना में तत्पर रहते हुए भी वहाँ विक्रम और कालिदास के प्रति बड़ा अनुराग है। रवीन्द्रनाथ की विश्व-वन्दिता वाणी ने सहस्रों गीतोंकी सृष्टि में उज्जयिनी, विक्रम, कालिदास, शकुंतला, उर्वशी, कादम्बरी, वासवदत्ता को भुलाया नहीं, बल्कि उनका इतना सरस वर्णन किया है कि पाठकों का मन उस मधुरिमा में मस्त हुए बिना नहीं रहता। राजनीति और योग की सतत् साधना में अरविन्द ने भी अपनी प्रतिभा का प्रसाद उक्त विषय पर प्रदान किया है, परन्तु विक्रम की द्वि-सहस्राब्दी के अवसर पर आज तो अजस्र धारा ही प्रवाहित हो रही है। विगत दो वर्षों के अन्दर जो साहित्य-सृजन हुआ है, उसमें अध्ययन और मौलिकता के मान से यद्यपि विषय-वस्तु की अधिकता नहीं है, तथापि अधिकांश विदेशी विमर्शकों के विभिन्न मतों का संकलन और अपने शब्दों में प्रकटीकरण उसमें अवश्य है। यह विचारकों के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय-साधक साहित्य है और यह हमारे लिए मार्ग प्रशस्त कर देने और विचारकों को प्रेरणा देने का कार्य सुलभ कर सकता है। विक्रमादित्य-विषयक सहस्रशः दन्तकथाएँ और लोकोक्तियाँ विभिन्न प्रान्तों में विविध भाषाओं में यत्र-तत्र फैली हुई हैं। उनका समीकरण किया जाय तो वह भी अवश्य अनेक तथ्यों को प्रकाश में ला सकती हैं। प्राकृत, संस्कृत, जैन, पाली तथा कथा-ग्रन्थों में भी अनेक विचित्र और विस्मयकारी गाथाओं का संग्रह है। ये सभी केवल निराधार रचनाएँ हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कथा-गाथाओं में तथ्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हमने काम ही कब लिया है? इन कथा-किंवदन्तियों ने न जाने कितनी पुरातन परम्पराओं और सांस्कृतिक सूत्रों का पोषण किया है!

विक्रमादित्य की शतशः रोचक कथाओं का साहित्य जैन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में अत्यधिक भरा पड़ा है। उसका साम्प्रदायिक आवरण हटाकर वस्तु-विमर्शक दृष्टि से अन्वेषण किया जाय तो अनेक अभिनव तथ्यों का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। संस्कृत-साहित्य की कथा-कृतियों में अभी तक हमने रोचकता की दृष्टि ही रक्खी है, अन्वेषण की प्रवृत्ति को प्रेरणा नहीं दी। 'सिंहासन द्वात्रिंशति' का हिन्दी रूपान्तर ही नहीं, सभी विश्वभाषाओं में अनुवाद होकर जगत् के सामने आ चुका है। यह 'सिंहासन-बत्तीसी' अपनी आकर्षक कथा के कारण ही जन-मन में प्रविष्ट हुई है, परन्तु बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन पर आसीन होने वाले 'विक्रम' की इस कथा में लोक-रंजन के अतिरिक्त उसकी लोक-प्रियता का और भी कुछ कारण हो सकता है, यह सोचने का हमने प्रयत्न नहीं किया।

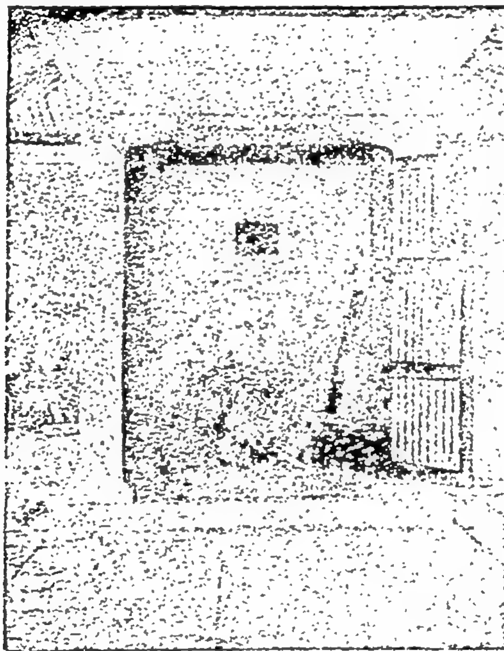
'वैताल-पंचविंशति' की भी यही स्थिति है। यहाँ हम इसी पर विचार करेंगे कि इस अतिरोचक कथा-ग्रन्थ के मूल में क्या है।

'वेताल-पंच-विंशति' संस्कृत-साहित्य का प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। इसका देश-विदेश की अनेक भाषाओंमें अनुवाद हो गया है, जो इसकी रोचकता का प्रमाण है। यद्यपि कथा-कल्पनाएँ अपने निर्माण के पूर्व या समकालीन समाज-स्थिति और सर्वप्रिय प्रचलित विषयों और वातावरणों पर ही निर्मित होती हैं, तथापि कथा-गाथा-ग्रन्थों का मूल्यांकन ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित नहीं किया जाता। उक्त 'पंचविंशति' को भी इसी परम्परा के कारण 'कथा' का महत्त्व ही मिलता आ रहा है। इससे अधिक उक्त पुस्तक की कथाओं को इतिहास की कसौटी पर कसा गया या नहीं, इसका हमें पता नहीं। 'वेताल-पंचविंशति' का इतर प्रान्तों में कितना अधिक प्रचार है, यह भी हमें ठीक मालूम नहीं, पर मालव-प्रदेश में तो इसे अत्यधिक लोक-प्रियता प्राप्त है। संस्कृत के बाद जन-भाषा में वह 'वेताल-पच्चीसी' के रूप में सर्वगम्य एवं सर्वप्रिय स्थान पर अधिष्ठित है। 'वेताल' की इस दिलचस्प कथा-मालिका की विशेषता यह है कि हर एक कथा के पूरे होते-न-होते वेताल अपने स्थान पर वापिस लौट आता है और पाठक अथवा श्रोता के मन में एक अतृप्त लालसा बनी रहती है। वेताल की कथा में विक्रमादित्य का ही महत्त्व है। इस कथा की आरम्भिक परम्परा कब से और किन कारणों से हुई, यह बतलाना कठिन है। पर इतना स्पष्ट है कि यह अभिनव तो कदापि नहीं है। शताब्दियों पूर्व से इसका पर्याप्त प्रचार रहा है। ग्यारहवी शताब्दी में इस कथा का स्रोत थोड़े फेर-फार के साथ 'कथा-सरित्सागर' में प्राप्त होता है, किन्तु 'कथा-सरित्सागर' में इसका अवतरण तो पैशाची भाषा की 'वृहत्कथा' से ही हुआ है, जो कि प्रथम शती की रचना थी। उसी का संक्षेप 'कथा-सरित्सागर' है। क्षेमंकर कवि के पश्चात् चौदहवीं शती में जन-श्रुति के सूत्र-बद्ध-कर्ता जैन विद्वान मेरुतुंग सूरि ने अपनी 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में भी इसे आंशिक रूप में स्थान दिया है। इस प्रकार कई शतियों की परम्परा को लेकर यह अपने तथ्य-रूप में व्यापक लोक-प्रियता लिये हुए अद्यावधि चिरजीवी है।

'वेताल-पंचविंशति' में विक्रम के राज्यारोहण की कथा रोचक रूप से वर्णित हुई है। उज्जैन के राज-सिंहासन पर दीर्घ काल पर्यन्त कोई भी एक राजा स्थायी रूप से नहीं बैठ पाता था। प्रायः रात को कोई शक्ति आकर उसे अपना भक्ष्य बना लेती थी। फलतः प्रतिदिन एक-एक व्यक्ति चुन कर लाया जाता और वह अयोग्य सिद्ध होकर उस शक्ति का भक्ष्य बन जाया करता था। नगर-पुर-प्रान्त में ऐसा त्रास और आतंक था कि कोई राजा बनने को तैयार ही नहीं होता था। इसी सिलसिले में एक दिन 'विक्रम' नामक एक निर्धन व्यक्ति की बारी आई। वह सिंहासन पर आकर बैठा और उसने अपने बौद्धिक चातुर्य और साहस से काम लिया। उसने विचार किया कि जो अज्ञात शक्ति शासक की बलि लेती है, उसे अन्य प्रकार से सन्तुष्ट कर लिया जाय और सतर्क रहकर उसका मुक़ाबला किया जाय। यह सोच विविध रस के पकवानों की योजना करके विक्रम खड्गहस्त हो एकान्त में छुप कर खड़ा हो गया। मध्य-निशा के निविड़ान्धकार में सहसा द्वार से धूम्र-पटलों और लपटों के प्रवेश के बाद यमदूत की भाँति एक भयानक पुरुष ने कक्ष में पदार्पण किया। आते ही क्षुधातुर हो उसने पकवानों पर हाथ डाला और तृप्ति की। आज की इस अभिनव योजना और बढ़िया स्वाद से उसे बड़ा सन्तोष हुआ। विश्रान्ति के बाद वेताल ने उस चतुर शासक को प्रकट हो जाने के लिए आमन्त्रित किया। अभय वचन लेकर विक्रम प्रत्यक्ष उपस्थित हो गया। वेताल ने अपना परिचय 'अग्नि-वेताल' के रूप में देकर आतिथ्य के उपलक्ष्य में विक्रम को उज्जैन का स्थायी नरेश घोषित कर दिया और अपने दैनिक आतिथ्य की उचित व्यवस्था का वचन ले लिया। तब से वेताल विक्रम का सहायक हो गया। यह कथा बहुत सुन्दरता से प्रतिपादित हुई है। संक्षेप में कथा का आशय यही है और विभिन्न कथाओं में विक्रम की परीक्षा की गई है, जिनमें वह श्रेष्ठ सिद्ध होता गया है। कुछ भी हो, मालव में इस कथा में सत्य की विश्वस्त धारणा है और उसके कुछ कारण भी हैं।

एक बात इस कथा से स्पष्ट हो जाती है कि विक्रमादित्य को वेताल जैसी महा शक्ति का सहयोग प्राप्त था

और उस वेताल की दृष्टि में, जिसने अनेक शासकों का अस्तित्व नामशेष कर दिया था और एक दिन से अधिक उन्हें शासक नहीं रहने दिया था, विक्रम तुल गया था और आगे के लिए वह स्थायी शासक बना दिया गया। वेताल का सहयोग भी विक्रम को प्राप्त रहा। इस कथा में से 'रूपक' का आवरण हटा दिया जाय तो भी इतना स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम के निकट वेताल की अद्वितीय शक्ति थी। उसी के कारण कोई सिंहासन पर स्थायी रूप से नहीं बैठ सकता था और यदि विक्रम बैठा तो उसी की कृपा से। इससे यह विदित होता है कि वेताल अवश्य ही उज्जैन के शासन का बड़ा ही उग्र और तेजस्वी नेता रहा होगा। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल शासन तक ही वेताल का आतंक था। इससे अनुमान होता है कि वह शुद्ध राजनैतिक नेता था। यही कारण है कि उसकी कथाओं में कहीं भी प्रजा के उपद्रव की चर्चा नहीं है। इस सबसे हमारी मान्यता यही होती है कि वेताल आग की तरह तेजस्वी था। कोई आश्चर्य नहीं कि वह मानव-गणों में से ही कोई प्रमुख हो। उसे व्यक्तिशः शासक बनने का शौक नहीं था, किन्तु वह राजाओं का निर्माता (King-maker) और उनका संचालक बनना चाहता था। श्री विजय भट्ट जैसे विद्वान् ने अपने विक्रमादित्य चित्र-पट में वेताल को तेजस्वी और महान् देश-भक्त प्रधान अमात्य बनाकर उसके द्वारा जो कार्य सम्पादित



उज्जैन के वेताल-मंदिर का एक दृश्य

करवाया है, वह उचित ही प्रतीत होता है और उससे वेताल की वास्तविक स्थिति की प्रतिष्ठा होती है। वेताल को भूत-प्रेत आदि की श्रेणी में बिठला देने का कार्य सम्भवतः शक-काल में शक अथवा अन्य शासन के किसी आश्रित ने रूपक देकर किया होगा।

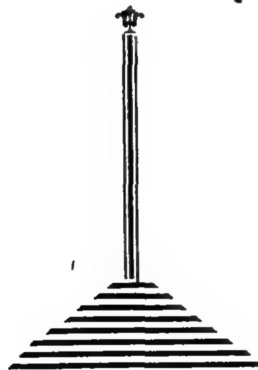
यह तो जगद्विश्रुत है कि संवत्-प्रवर्तक विक्रम का शासन उज्जैन पर रहा है। फिर चाहे वह कोई भी विक्रम हो, उसका सहायक वेताल भी था। क्षेमंकर ने 'कथा-सरित्सागर' में वेताल का नाम 'अग्निशिख' बतलाया है और मेरुतुंग सूरि ने उसे 'अग्निवर्ण', कहा है। दोनों से एक ही बात प्रकट होती है, अर्थात् वेताल 'अग्नि' की तरह उग्र तेजस्वी व्यक्ति था। मालवी भाषा में इसी को 'आगिया (अग्नितुल्य) वेताल' कहकर सम्बोधित किया है। इतना ही नहीं,

उज्जैन में अग्नि वेताल का मन्दिर भी वना हुआ है। समस्त नगरवासी उस मन्दिर को इसी नाम से पुकारते हैं। वेताल की कथा के अनुरूप उसके भक्ष्य की शर्त की पूर्ति विक्रम की तरह आज भी न जाने कव से प्रति वर्ष नवरात्रि में राज्य की ओर से वलि-प्रदान के रूप में की जाती है। इस वलि प्रथा और मन्दिर को प्रत्यक्ष देखते हुए यह ज्ञात होता है कि उक्त 'वेताल-कथा' की पृष्ठ-भूमि में कोई तथ्य-घटना अवश्य है, जिसकी स्मृति-स्वरूप वेताल का यह मन्दिर पौराणिक अस्तित्व की साक्षी देता हुआ आज भी इस नगरी में खड़ा है। यदि वेताल की उक्त कथा केवल गल्प ही है तो इस मन्दिर और वलि-प्रथा की परम्परा और अवन्ती-पुराण, स्कन्द-पुराण की कथा की संगति का क्या अर्थ है? पुराणों को नवीं शती की रचनाएँ ही स्वीकृत की जायँ तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस समय विक्रम और वेताल की कथा को इतनी अधिक लोक-प्रियता प्राप्त थी कि वे मन्दिर और पूजनीय स्थान की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सके। उक्त ख्याति के वशीभूत होकर ही वेताल की इस समाधि का पौराणिक वर्णन सम्भव हुआ होगा।

एक बात और। विक्रम की नवरत्न-मालिका में एक वेताल भट्ट का वर्णन आया है। यह 'भट्ट' ब्राह्मण होना चाहिए। आश्चर्य नहीं कि वही वेताल, जो अप्रतिम सामर्थ्य रखता था, आगे विक्रम का सहायक हो जाने के कारण उसकी राज-संचालिका-सभा का एक विशिष्ट रत्न वन गया हो। ग्यारहवीं सदी में जिसे क्षेमंकर और चौदहवी में जिसे मेरुतुंग ने 'अग्निशिख' और 'अग्निवर्ण' वतलाया है, संभव है, यह वही वेताल-भट्ट हो। इतिहासान्वेषण-शील विद्वानों का ध्यान इस कथा और उज्जैन के वेताल मन्दिर के अस्तित्व की ओर तथ्यान्वेषक दृष्टि से आकर्षित होना आवश्यक है। यह अवन्ती का वेताल-स्मारक हमारा ध्यान सहसा आकृष्ट किये विना नहीं रहता।

मेरुतुंग-वर्णित-प्रवन्ध में विक्रम के एक मित्र का नाम भट्ट मात्र वतलाया गया है। सम्भव है, भट्ट मात्र का नाम वेताल भट्ट ही हो और शाक्त-परम्परा के मानने वालों में से होने के कारण वलि-प्रथा की परम्परा आजतक उसके साथ जुड़ी हुई हो। यह भी सम्भव है कि विक्रम ने उसकी देश-प्रेम की उग्र भावना के वशीभूत हो हिंसक प्रवृत्ति की सहज मान्यता दे दी हो। यही चीज़ उस ब्राह्मण-वर्चस्व काल में शायद वेताल को भूत-प्रेत की श्रेणी में रखने का कारण वन गई हो। कुछ भी हो, वेताल या वेताल भट्ट अथवा अग्निशिख या अग्निवर्ण केवल रोचक कथा का नायक ही नहीं, कल्पित पात्र ही नहीं, अवश्य ही विक्रम के साथ योजित होने वाली कोई अपूर्व ओजस्वी राजनैतिक शक्ति थी, जो अपने स्मृति-स्थल का उज्जैन में आज भी अस्तित्व धारण किये इतिहासान्वेषणशीलों को अपनी ओर आमन्त्रित कर रही है।

उज्जैन]



साधना हैं गान मेरे !

श्री सुधीन्द्र एम्० ए०

विविध गीतों में निरन्तर गा रहा मैं आत्म-परिचय,
भर उन्हीं में स्वगत सुख-दुख, प्रणय-परिणय, जय-पराजय !
घोल देते विश्वजन हैं गान में अपनी व्यथाएँ,
गूँथ देते हैं उन्हीं में सुख-दुखों की निज कथाएँ,
गीत बनते विश्वजन के
ये सरल आख्यान मेरे !

लक्ष्य कुछ गोपन लिये सब चल रहे अपने पथों से,
एक ही पथ दीखता मुझको सभी के उन रथों से,
रूप सबकी पुतलियों में मैं स्वयं का ही निरखता,
और अधरों पर सभी के प्रेम का पीयूष चखता,
बन गये हैं गान ही ये
आज अनुसन्धान मेरे !

श्वास जो दो बाहु से फैले कि लें निज प्रेय को भर,
बाँधने आये मुझे वे आज शत-शत पाश बनकर,
एक तुमको बाँधने को जो रचे ये रूप अगणित,
रह गया उनमें स्वयं मैं आज आठों याम परिमित,
बस गये इन बन्धनों में
आज मुक्ति-विधान मेरे !

देखने तुमको यहाँ मैंने मरण के द्वार खोले !
"डूब लो मुझ में प्रथम" यों प्रलय-पारावार बोले !
मरण जीवन-नाट्य के हैं पट जिन्हें कि उठा रहे तुम
अमर अभिनेता बने मुझ में 'स्व'रूप रचा रहे तुम !
पा गये तुमको मुझी में
आज प्रणयी प्राण मेरे !
साधना हैं गान मेरे !

वनस्थली]



समालोचना और हिन्दी में उसका विकास

श्री विनयमोहन शर्मा एम० ए०

साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम समालोचना है। वह स्वयं 'साहित्य' है, जो आलोचक की बुद्धि, संस्कृति और हृदय-वृत्ति से निर्मित होता है। बुद्धि में आलोचक की अध्ययन-सीमा, संस्कृति में उसका विषयग्राही दृष्टिकोण और हृदय-वृत्ति में विषय के साथ समरस होने की ललक झलकती है। साहित्य की वर्तमान सर्वांगीण अवस्था के साथ भूत-कालीन संस्कृति-संस्कार की शृंखला जुड़ी रहती है। अतः साहित्य को समझने के लिए समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य की तत्कालीन अवस्था तथा 'रूढ़ियों' से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि मानव-भावनाओं-विकारों में युग का हस्तक्षेप नहीं होता, परन्तु विचारों और परम्पराओं में परिवर्तन का क्रम सदा जारी रहता है। इन परिवर्तन-तत्त्वों के अध्ययन और विश्लेषण के अभाव में यह निर्णय देना कठिन होता है कि आलोच्य साहित्य अनुगामी है, अथवा पुरोगामी। अनुगामी से मेरा आशय उस साहित्य से है, जो समय के साथ है और भूत-कालीन साहित्य का ऋणी है। 'पुरोगामी' से भावी युग का संकेत करने वाले सजग प्रेरणामय साहित्य का अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार का साहित्य अनुकरण करता नहीं, कराता है।

साहित्य-समालोचना के दो भाग होते हैं, एक 'शास्त्र' और दूसरा 'परीक्षण'। 'शास्त्र' में आलोचना के सिद्धान्तों का निर्धारण और परीक्षण में 'साहित्य' का उन सिद्धान्तों के अनुसार या अन्य किसी प्रकार से मूल्यांकन होता है। समय-समय पर मूल्यांकन के माप-दंड में परिवर्तन होता रहता है। 'शास्त्र' में साहित्य के विभिन्न अंगों—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि—के रचनातन्त्र—नियमों—का वर्णन रहता है। ये नियम प्रतिभाशाली महान् साहित्यकारों की कृतियों के सूक्ष्म परिशीलन के पश्चात् उनकी अभिव्यंजनाओं आदि की अधिक समानता पर आधारित और निर्धारित होते हैं। 'परीक्षण' में साहित्य की परख होती है, जो साहित्य-शास्त्र के नियमों को मापदंड मानकर की जाती है और इस मापदंड की कुछ या सर्वथा उपेक्षा करके भी की जाती है। शास्त्रीय मापदंड को कितने अंश में ग्रहण किया जाय और कितने अंश में नहीं, इस प्रश्न को लेकर यूरोप में साहित्यालोचना की अनेक प्रणालियों का जन्म हुआ और होता जा रहा है। हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परीक्षण-प्रणालियों पर पाश्चात्य प्रणालियों का प्रभाव-प्राधान्य होने से यहाँ उनकी चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

यूरोप में अरस्तू (Aristotle), होरेस (Horace) और बाइलू (Boileau) साहित्य-शास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। "इन्होंने साहित्य की व्याख्या की और महाकाव्य, ट्रेजेडी और दुःखान्त नाटकों के नियम बनाये।" वर्षों तक साहित्य जगत् में इनके नियमों ने साहित्य-सर्जन और उसकी समीक्षा में पथ-प्रदर्शक का काम किया, पर उनमें गीतिकाव्य और रोमांचकारी रचनाओं (Romantic works) के नियमों का अभाव था। अतः समय की प्रगति में वे शास्त्र साहित्य के कलात्मक पक्ष का निर्देश करने में असमर्थ हो गये। नाटककारों—शेक्सपियर आदि ने—शास्त्रियों को धता बताना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप कुछ रूढ़िवादी आलोचकों ने शेक्सपियर की शास्त्र-नियम-भंगता की उपेक्षा तो नहीं की, पर यह कहकर क्षमा अवश्य कर दिया कि "वह झक्की—अव्यवस्थित प्रतिभावान् है।" रिनेसां के युग ने सोलहवीं शताब्दी में अन्य रूढ़ियों के साथ समालोचना के शास्त्रीय बन्धनों को भी शिथिल कर डाला। उसके स्थान पर व्यक्तिगत रुचि को थोड़ा प्रश्रय दिया गया। परन्तु अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में 'क्लासिकल-युग' ने पुनः अरस्तू और होरेस को जीवित कर दिया। ड्राइडन, एडीसन, जॉनसन आदि ने उनके शास्त्रीय नियमों की कसौटी पर साहित्य को कसना प्रारम्भ कर दिया। बॉसवेल ने जब एक बार डा० जानसन से एक पद्य पर अपनी राय देते हुए कहा, "मेरी समझ में यह बहुत सुन्दर है।" तब डाक्टर ने झल्ला कर उत्तर दिया,

"महाशय, आपके समझने मात्र से यह पद्य सुन्दर नहीं बन जायगा।" उस समय व्यक्तिगत रुचि का साहित्यालोचन में कोई मूल्य ही नहीं माना जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अस्त होते-होते साहित्य में रोमांटिक युग ने आंखें खोलीं, जिसका नेतृत्व जर्मनी में लेसिंग, इंगलैंड में वर्ड्सवर्थ और फ्रांस में सेंट विउ (Beuve) ने ग्रहण किया। इस युग में 'व्यक्तिगत रुचि' और 'इतिहास' को साहित्य-परीक्षण का आधार माना गया। इंगलैंड में सर्व-प्रथम कॉलहिल ने राष्ट्र के इतिहास और साहित्य में सम्बन्ध देखने की चेष्टा की। जर्मन दार्शनिक फ़िशे (Fichte) और हेगल ने इस सिद्धान्त को बड़ा महत्त्व दिया। "साहित्य से हम इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इतिहास से साहित्य प्रवाह की लहरें गिन सकते हैं।" यद्यपि अरस्तू-होरेस के बन्धन से मुक्ति मिल गई, पर 'व्यक्तिगत रुचियों' ने साहित्यालोचन में इतनी विभिन्नता और अव्यवस्था उपस्थित कर दी कि एक आंग्ल आलोचक के शब्दों में "उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना में किसी तारतम्य को खोजना कठिन है।"

अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपों में (१) **प्रभाववादी आलोचना** (Impressionist criticism), (२) **सौन्दर्यवादी** (Aesthetical) (३) **प्रशंसावादी** (Appreciative) और (४) **मार्क्सवादी** (Marxian) आलोचनाएं यूरुप के आधुनिक साहित्य-जगत् को अभिभूत करती रही हैं।

'प्रभाववादी आलोचना' में आलोचक अनातोले फ़्रांस के शब्दों में, "साहित्य के बीच विचरण करने वाली अपनी आत्मा के अनुभवों का वर्णन करता है।" इस प्रकार की आलोचना "मैं"—परक होती है। उसमें आलोचक का व्यक्ति प्रधान होकर बोलने लगता है। 'History of the People of Israel' की आलोचना में आलोचक अनातोले फ़्रांस की आत्म-व्यंजना का ही सुन्दर रूप मिलता है।

'प्रभाववादी आलोचना' में जहाँ आलोचक अपने को व्यक्त कर आत्मविभोर हो जाता है, वहाँ **'सौन्दर्यवादी आलोचना'** में वह साहित्य में केवल 'सुन्दरम्' ही देखता है। यह सौन्दर्य शैली का हो सकता है और कल्पना का भी।

'प्रशंसावादी आलोचना' में शास्त्रीय, प्रभाववादी और सौन्दर्यवादी इन तीनों प्रकार की प्रणालियों का समावेश होता है। इस प्रकार की आलोचना में न साहित्य की व्याख्या होती है और न किन्हीं नियमों का माप-तोल। उसमें हर स्रोत से 'आनन्द-रस' को संचित किया जाता है। अपने इस आनन्द को अपनी ही कल्पना के सहारे आलोचक चित्रित करता है।*

इस प्रकार की आलोचना की एकांगिता स्पष्ट है। इन दिनों पाश्चात्य देशों में आलोचना का एक प्रकार और प्रचलित है, जो **'मार्क्सवादी आलोचना'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आलोचक कृति में देखता है कि 'क्या इसमें शोषक और शोषित' वर्गों का संघर्ष है? क्या शोषित वर्ग के प्रति लेखक की सहानुभूति है और क्या उसकी शोषक वर्ग पर विजय दिखाई गई है? यदि इनका उत्तर "हाँ" है तो वह साहित्य की 'श्रेष्ठ कृति' है। यदि "नहीं" तो उसका मूल्य 'शून्य' है। यह आलोचना जीवन और साहित्य को एक मानकर चलती है।

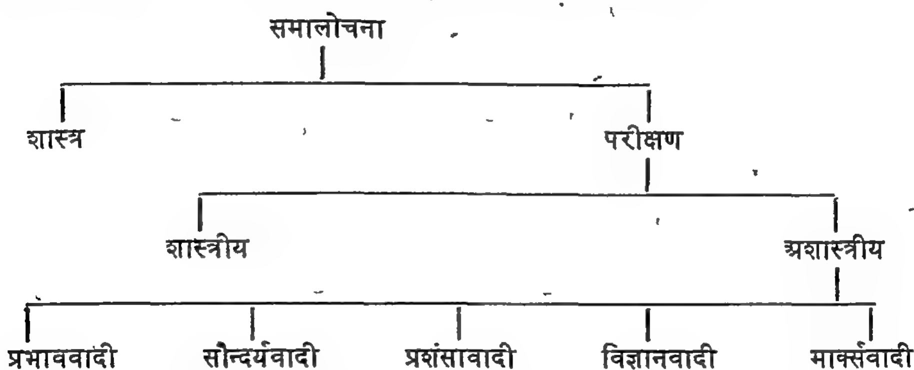
मोल्टन ने आधुनिक आलोचना के चार प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

(१) **व्याख्यात्मक** (Inductive criticism) (२) **निर्णयात्मक** (Judicial method) (३) **दार्शनिक पद्धति**, जिसमें साहित्य की दार्शनिकता पर विचार किया जाता है और (४) **स्वच्छन्द आलोचना** (Free or subjective criticism)।

---

*"The criticism is primarily not to explain and not to judge or dogmatize, but to enjoy, to realise the manifold charm the work of art has gathered into itself from all sources, and to interpret this charm imaginatively to the men of his own day and generation". (Studies and Appreciation.)

मोल्टन ने व्याख्यात्मक आलोचना को शेष तीन प्रकार की आलोचनाओं का आधार माना है। विंचेस्टर ने अपनी 'Some Principles of Literary criticism' में आलोचनाओं के विभिन्न भेदों की मीमांसा न कर आलोचना के लिए तीन बातें आवश्यक बतलाई हैं। आपके मत से आलोचक को (१) साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से अवगत हो जाना चाहिए, क्योंकि कोई साहित्य अपने समय से सर्वथा अप्रभावित नही रह सकता। (२) साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन से भिज्ञ हो जाना चाहिए। इससे साहित्य को समझना आसान हो जाता है। पर इसी तत्त्व की ओर विशेष ध्यान देने से आलोचना का तोल बिगड़ सकता है और (३) कृति की साहित्यिक विशेषताओं की उद्भावना की जानी चाहिए। विंचेस्टर ने अन्तिम तत्त्व पर ही विशेष ज़ोर दिया है। साहित्यिक विशेषताओं के अन्तर्गत कल्पना, भावना, भाषा आदि का विचार आता है। इस पद्धति को साहित्य की 'वैज्ञानिक परीक्षा' कहा जा सकता है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के न रहते हुए भी कृति की परख 'नियम-रहित' नहीं है। नीचे वृक्ष द्वारा पाश्चात्य आलोचना की धाराओं का स्पष्टीकरण किया जाता है —



हिन्दी में आलोचना के परीक्षण—अंग के दर्शन होने के पूर्व शास्त्र-ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत शास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर प्रारम्भ हो गया था। संस्कृत में आलोचना-शास्त्र के पाँच स्कूल थे १—रस-सम्प्रदाय (स्कूल)— यह सम्प्रदाय बहुत पुराना है। भरत के नाट्य-शास्त्र में इसकी चर्चा है। हमारे यहाँ आचार्यों ने साहित्य की आत्मा 'रस' में देखी थी। 'आनन्द' की परम अनुभूति का नाम ही 'रस' है। उसकी उत्पत्ति के विषय में भरत का कहना है—

"विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

रूपक में 'रस' की सृष्टि दर्शकों या पाठक में होती है या पात्र या नाटक (काव्य) में, इस प्रश्न को लेकर भरत के बाद में होने वाले आचार्यों में काफ़ी मतभेद रहा। पर अधिक मान्य मत यही है कि जब दर्शक या पाठक का मन पात्र या 'काव्य' के साथ 'समरस' हो जाता है—(जब साधारणीकरण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है) तभी "रस" की निष्पत्ति होती है। रस की स्थिति वास्तव में दर्शक या पाठक के मन में ही होती है। नाटक देखने-पढ़ने से उसके मन के सोये हुए 'संस्कार' जाग उठते हैं और वह 'कृति' में अपना भान भूलकर आनन्द-विभोर हो जाता है।

(२) **रस सम्प्रदाय** के साथ-साथ **अलंकार सम्प्रदाय** का भी जन्म हुआ प्रतीत होता है। भामह को इस स्कूल का प्रथम ज्ञात आचार्य कहा जाता है। उनके बाद दंडी, रुद्रटक, और उद्भट का नाम आता है। इन आचार्यों ने **"अलंकाराएव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः"** कह कर काव्य में अलंकारों को ही सब कुछ माना है। उक्त आचार्यों ने शब्द और अर्थालंकारों की बावन संख्या तक व्याख्या की है, पर यह संख्या क्रमशः बढ़ती गई।

(३) रीति-सम्प्रदाय में गुण (माधुर्य, ओज, और प्रसाद आदि) और रीति युक्त रचना को श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य वामन ने गुणों की महत्ता में कहा है कि गुण-रहित काव्य मनोरंजक नहीं हो सकता। गुण ही काव्य की शोभा है। वामन ने शब्द के दस और अर्थ के भी इतने ही गुण बतलाये हैं।

(४) **वक्रोक्ति सम्प्रदाय**—कुंतक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का भूषण माना है। इसके पूर्व भामह ने इसकी चर्चा की थी। कुंतक ने वक्रोक्ति में ही रस, अलंकार और रीति सम्प्रदायों को सम्मिलित करने की चेष्टा की। कुछ आचार्य वक्रोक्ति को अलंकार के अन्तर्गत मान कर मौन हो जाते हैं।

(५) **ध्वनि-सम्प्रदाय** ने वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को, जो 'व्यंगार्थ' कहलाता है, महत्त्व दिया है। इसके प्रकट आचार्य आनन्द वर्धनाचार्य माने जाते हैं। इस सिद्धान्त ने संस्कृत-आलोचना साहित्य में क्रान्ति मचा दी। ध्वनि में ही काव्य का सर्वस्व सुन पड़ने लगा। परिष्कृत भावक 'ध्वनि'-काव्य के ही ग्राहक होते हैं। अभिधापरक काव्य से उनमें रस की निष्पत्ति नहीं होती।

हिन्दी में उक्त सम्प्रदायों में से 'रस' और 'अलंकार'-सम्प्रदायों को ही अपनाया गया। आज यह कहना कठिन है कि हिन्दी में रस और अलंकार-शास्त्रों की रचना कब से हुई। केशवदास (सं० १६१२) को(?) ही काव्य-शास्त्र का आदि आचार्य माना जा सकता है। उनके पश्चात् (२) जसवन्तसिंह (भाषा-भूषण) (३) भूषण त्रिपाठी (शिवराज भूषण) (४) मतिराम त्रिपाठी (ललित ललाम) (५) देव (भाव विलास) (६) गोविन्द (कर्णाभरण) (७) भिखारीदास (काव्य निर्णय) (८) दूलह (कंठाभरण) (९) रामसिंह (अलंकार दर्पण) (१०) गोकुल कवि (चेत चन्द्रिका) (११) पद्माकर (पद्माभरण) (१२) लछिराम (१३) बाबूराम बिस्थरिया (नव-रस) (१४) गुलाबराय (नव-रस), (१५) कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार प्रकाश और काव्य कल्पद्रुम) (१६) अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण) (१७) लाला भगवानदीन (अलंकार-मंजूषा) (१८) जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (छन्द प्रभाकर) (१९) श्यामसुन्दरदास (साहित्यालोचन) और (२०) जगन्नाथदास रत्नाकर (समालोचनादर्श) आदि ने इस दिशा में श्रम किया है। शास्त्र की रचना के साथ समालोचना-प्रणालियों का हमारे यहाँ पाश्चात्य देशों की भाँति शीघ्र प्रचार नहीं हुआ। सबसे पहले संक्षिप्त सम्मति-प्रदान की आशीर्वादात्मक प्रथा का जन्म हुआ। 'भक्तमाल' में (विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में) "वाल्मीकि तुलसी भयो" जैसी सूत्रमय सम्मति मिल जाती है। साहित्य-कृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो उसके विवेचन का समय बहुत बाद में आता है। हरिश्चन्द्र-काल से कृति के गुण-दोष विवेचन की शास्त्रीय आलोचना का श्रीगणेश होता है। पं० बद्रीनारायण चौधरी की 'आनन्द कादम्बिनी' में 'संयोगता स्वयंवर' की विस्तृत आलोचना ने हिन्दी में एक क्रान्ति का सन्देश दिया। पर जैसा कि आलोचना के प्रारम्भिक दिनों में स्वाभाविक था, आलोचकों का ध्यान 'दोषों' पर ही अधिक जाता था। मिश्रबन्धु लिखते हैं, "संवत् १९५६ में 'सरस्वती' निकली। संवत् '५७ में इसी पत्रिका के लिए हमने हम्मीर-हठ और पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं पर समालोचनाएँ लिखीं और हिन्दी-काव्य-आलोचना में साहित्य-प्रणाली के दोषों पर विचार किया। संवत् १९५८ में उपर्युक्त लेखों में दोषारोपण करने वाले कुछ आलोचकों के लेखों के उत्तर दिये गये। पं० श्रीधर पाठक-सम्बन्धी लेख में दोषों के विशेष वर्णन हुए। हिन्दी काव्य-आलोचना के विषय में अखबारों में एक वर्ष तक विवाद चलते रहे, जिनमें देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी कुछ लेख लिखे।" पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'दोष-निरूपक आलोचना' को विशेष प्रश्रय दिया। इस काल तक 'शास्त्रीय आलोचना' से आगे हमारे आलोचक नहीं बढ़े। मिश्र-बन्धुओं ने जब 'हिन्दी-नव-रत्न' में कवियों को बड़ा-छोटा सिद्ध करने का प्रयत्न किया तब पं० पद्मसिंह शर्मा ने विद्वत्तापूर्ण ढंग से 'बिहारी' की तुलना संस्कृत और उर्दू-फ़ारसी के कवियों से कर हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली को जन्म दिया। इस प्रणाली में शास्त्रीय नियमों का सर्वथा बहिष्कार नहीं होता, पर उसमें आलोचक की व्यक्तिगत रुचि का प्राधान्य अवश्य हो जाता है। यूरप में ऐसी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व नहीं दिया जाता, जिसमें लेखकों-कवियों को 'घटिया-बढ़िया' सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

शर्मा जी की इस आलोचना-पद्धति का अनुकरण हिन्दी में कुछ समय तक होता रहा, पर चूँकि इसमें बहु-भाषा-विज्ञता और साहित्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा होती है, इसलिए इस दिशा में बहुत कम व्यक्ति सफल हो सके। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ जाने के कारण संक्षिप्त सूचना और लेख-रूप में आलोचनाएँ अधिक

छपने लगीं, जिनमें न तो आलोचकों का व्यक्तित्व ही प्रतिविम्वित हो पाया और न कृति का यथार्थ दर्शन-विवेचन ही।

छायावाद-काल में प्रभाववादी समालोचनाओं का वाहुल्य रहा है। पर साथ ही 'साहित्य' की आत्मा से एकता स्थापित करने की चेष्टा भी कम नहीं हुई। इस युग में शास्त्रीय आलोचना का महत्त्व वहुत घट गया। नियमों-वन्धनों के प्रति उसी प्रकार विद्रोह दीख पड़ा, जिस प्रकार यूरुप में रोमांटिक युग में दीखा था। साहित्य के समान आलोचना भी निर्वन्ध होने लगी। कई वार साहित्य-कृति की अपेक्षा समालोचना में भाषा सौन्दर्य और कल्पना की सुकुमारता अधिक आकर्षक प्रतीत होती थी। छायावाद की अधिकांश रचनाओं को जिस प्रकार समझना कष्टकर होता था उसी प्रकार तत्कालीन कई आलोचनाएँ भाषा के आवरण में छिप जाती हैं। इन छायावादी आलोचनाओं में सौन्दर्य-तत्त्व और (आलोचक का) रुचि-तत्त्व प्रमुख है। द्विवेदी-युग में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अंग्रेजी आलोचना-पद्धति के अनुसार हिन्दी में ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर कतिपय कवियों की शास्त्रीय आलोचना (ग्रंथ रूप में) प्रस्तुत कर मार्ग-दर्शन का कार्य किया।

छायावाद-काल की शुद्ध प्रभाववादिनी आलोचनाओं का अस्तित्व भी अधिक समय तक नहीं ठहर सका। सन् १९३४ के लगभग देश में साम्यवादियों की लहर के फैलते ही साहित्य में भी उसका अस्तित्व अनुभव होने लगा। पं० सुमित्रानन्दन पन्त आदि ने मार्क्सवाद का अध्ययन किया और उसी के सिद्धान्तों की पोषक रचनाओं की सृष्टि की। आलोचना में भी एक प्रणाली उठ खड़ी हुई, जो अपने में मार्क्सवादी दृष्टिकोण भर कर चलने लगी; परन्तु इसमें भारतीय राजनैतिक स्थिति के वैषम्य और उसके दुष्परिणामों के तत्त्वों का भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार की आलोचना 'प्रगतिवादी' आलोचना भी कहलाती है। इसमें शास्त्रीय नियमों की अवहेलना और सौन्दर्य-तत्त्व का वहिष्कार कर 'व्यक्तिगत रुचि' का स्वीकार पाया जाता है।

श्री हीरेन मुखर्जी के शब्दों में प्रगतिशील आलोचना को सामान्यतः दो वुराइयों के कारण क्षति उठानी पड़ती है। एक ओर तो नक़ली मार्क्सवादी का असंयम, जो अपने उत्साह में यह भूल जाता है कि लिखना एक शिल्प है, जिसकी अपनी लम्वी और अनूठी परम्परा है। और दूसरी ओर ग़रीवों और दीनों के दुःखों के फ़ोटो सदृश चित्रण की प्रशंसा करते न थकने वाले और वाक़ी सारी चीज़ों को प्रतिगामी पुकारने वाले भावना-प्रधान व्यक्ति की कोरी भावुकता। यह लड़कपन की वातें हैं, जिनसे साहित्य में प्रगति के इच्छुक सभी लोगों को अपना पीछा छुड़ाना चाहिए।

आज हिन्दी का आलोचना-साहित्य समुन्नत नहीं दीखता। आलोचना के नाम पर जो निकलता है, उसका निन्यानवे प्रतिशत अंश सच्ची परख से हीन होता है, साहित्यकार का अत्यधिक स्वीकार या तिरस्कार ही उसमें पाया जाता है। निर्भीकता और स्पष्टता उसमें वहुत कम मिलती है। इस अधकचरेपन में न कोई आश्चर्य की वात है और न निराशा की ही। अभी 'साहित्य' के विभिन्न अंग ही अपरिपक्व हैं। कुछ उग रहे हैं, कुछ खिलना चाहते हैं और कुछ महक रहे हैं। ऐसी दशा में साहित्य की सम्यक् आलोचना का समय आज से सौ, दो सौ वर्ष वाद ही आ सकता है। इस समय प्राचीन साहित्य के परीक्षण की दिशा में कार्य होना आवश्यक है, पर प्राचीन साहित्य के समझने, परखने के लिए विभिन्न दृष्टियों से गम्भीर अध्ययन की जरूरत है। इसके लिए हमारे आलोचक कव तैयार होंगे?

नागपुर]



अदृष्ट

ठाकुर गोपालशरण सिंह

क्या तुम छिप सकते हो मन में ?
ललित लता के मृदु अञ्चल में,
विकसित नव-प्रसून के दल में,
प्रतिबिम्बित हिमकण के जल में,
तुम्हें देखता हूँ मैं सन्तत
पिक-कूजित कुसुमित कानन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

लिये सङ्ग में परम मनोहर,
तारावलि-रूपी रत्नाकर,
है नभ में छिप गया कलाधर,
किन्तु देखता हूँ मैं तुमको
चल-चपला से ज्योतित घन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

जल को ललनाओं के घर में,
गाते हुए सरस मृदु स्वर में,
तुम हो छिपे अतल सागर में,
मैं देखा करता हूँ तुम को
चञ्चल लहरों के नर्त्तन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

जब मैं व्याकुल हो जाता हूँ,
कहीं नहीं तुम को पाता हूँ,
मिलनातुर हो घबराता हूँ,
तब तुम आकर भर देते हो
नव प्रकाश मेरे जीवन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

नईगढ़ी]



हिन्दी कविता के कला-मण्डप

श्री सुधीन्द्र एम्० ए०

पिछली अर्धशताब्दी से हिन्दी कविता में जो प्रगति हुई है वह निस्सन्देह उदीयमान भारत-राष्ट्र की वाणी हिन्दी के सर्वथा अनुरूप ही है। काव्य के अनेक उपकरणों पर समीक्षकों और समालोचकों ने यथावसर प्रकाश डाला है, किन्तु अभीतक किसी ने यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न नहीं किया है कि हिन्दी के छन्द ने इस युग में कितनी समृद्धि और विभूति संचित की है। उसका मूल्यांकन होना भी आवश्यक है।

इस अर्धशताब्दी में हिन्दी कविता ने अपने विहार के लिए अत्यन्त मनोरम और भव्य कला-मंडप सँवारे हैं। कविता की रसात्मकता में छन्दों का योग कम नहीं है। छन्द की गति (लय) की मधुरिमा ऐसी मधुरिमा है, जो रसज्ञ के लिए भी 'गूँगे का गुड़' ही रही है। हिन्दी के स्वनामधन्य कवि 'प्रसाद', पन्त, गुप्त, महादेवी तथा अन्य कविगणों की लेखनी से जो कविता प्रसूत हुई है, उसमें छन्द के इतने विविध प्रयोग हुए हैं कि उन्होंने हिन्दी के 'छन्द प्रभाकर' को भी छोटा कर दिया है। कवि की दृष्टि 'प्रभाकर' की किरण से भी दूर पहुँची है और उसने छन्दों का एक नवीन छायालोक ही निर्मित कर दिया है।

छन्द की मदिर गति को स्वच्छन्द छन्द के कवि भी छोड़ नहीं सके, चाहे वे 'निराला' हों, चाहे सियारामशरण, या 'प्रसाद' या सोहनलाल द्विवेदी।

इन छन्दों की प्रकृति में कई बातें विशेषतः उल्लेखनीय हैं—

(१) (मात्रिक) छन्दों में शास्त्रकारों ने लक्षण बताते समय उनके चरणान्त में लघु गुरु आदि के क्रम का भी विधान कर दिया था, किन्तु कवि की प्रतिभा इस नियम में बद्ध न रह सकी और कला ने इन बन्धनों को सुघड़ता से दूर कर दिया। एक उदाहरण लें : 'छन्दप्रभाकर'-कार 'हरिगीतिका' का लक्षण देते हैं—

(१६) शृंगार (१२) भूषण अन्त ल (।) ग (ऽ) जन गाइए हरिगीतिका।

अर्थात् १६, १२ पर यति और अन्त में लघु-गुरु होना चाहिए, किन्तु कवि (मैथिलीशरण गुप्त) ने इस गति के नियम का भंग करके भी इसकी सहज मधुरिमा को नष्ट नहीं होने दिया है, बढ़ा ही दिया है—

मानस भवन में आर्यजन, जिसकी उतारें आरती। १४, १४,
भगवान् भारतवर्ष में, गूँजे हमारी भारती। १४, १४,
हे भद्रभावोद्भाविनी, हे भारती, हे भगवते! १४, १४,
सीतापते, सीतापते, गीतामते, गीतामते। १४, १४,

(भारतभारती)

इसी प्रकार वर्णिक छन्द सवैया में भी लघु-गुरु के कठिन बन्धन का त्याग कर कवि ने छन्द का सौन्दर्य द्विगुणित ही किया है—

करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तम तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की और सनेह में जी मैं जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं, पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ।

—सनेही

आठ सगण (लघु-लघु-गुरु) के इस 'दुर्मिल' सवैया का गण विचार कीजिए। कवि ने कितनी स्वतन्त्रता ग्रहण की है, परन्तु सौष्ठव बड़ा ही है !

(२) पिंगलकार यह भी विधान करते हैं कि छन्द ४ चरणों का होता है, (जैसे वह कोई चतुष्पद 'जन्तु' हो।) परन्तु इस रूढ़ि को भी कवियों ने कई बार गाँठ बाँधकर पौराणिकों के लिए धर दिया। अब तो दो चरणों और तीन चरणों की रुचि प्रायः देखी जाती है ! कभी-कभी अन्त्यानुप्रास केवल पहले, दूसरे और चौथे चरण का ही मिलाते हैं।

जैसे—

(क) दो चरणों का अन्त्यानुप्रास—

तिमिर में बुझ खो रहे विद्युत भरे निश्वास मेरे
निःस्व होंगे प्राण मेरे शून्य उर होगा सवेरे !

('दीपशिखा' : महादेवी)

(ख) तीन चरणों का अन्त्यानुप्रास—

कुटी खोल भीतर जाता हूँ।
तो वैसा ही रह जाता हूँ !
तुझको यह कहते पाता हूँ !

('झंकार' : गुप्त जी)

(ग) प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों का अन्त्यानुप्रास—

रज में शूलों का मृदु चुम्बन,
नभ में मेघों का आमन्त्रण,
आज प्रलय का सिन्धु कर रहा—
मेरी कम्पन का अभिनन्दन !

('दीपशिखा' : महादेवी)

(३) कवि-प्रतिभा ने दो छन्दों के संयोग से नये छन्द की रचना करने की स्वतन्त्रता का भी उपयोग किया है। सबसे पहले सम्भवतः 'अष्टछाप' के कवि नन्ददास ने इस दिशा में पदनिक्षेप किया था। उन्होंने 'रोला' और 'दोहा' के सम्मिश्रण और अन्त में एक १० मात्रीय चरण और जोड़कर छन्द को सवाया सुन्दर कर दिया। वर्ण-संकर होकर भी इस सन्तति ने अपने शील द्वारा हिन्दीभाषी जनता को इतना मुग्ध किया कि इस शताब्दी के कविवर सत्यनारायण ने भी यही मार्ग पकड़ा। एक उदाहरण लें—

नन्ददास—

जो मुख नाहिन हतो, कहो किन माखन खायो,
पायन बिन गोसंग कहो बन-बन को धायो,
आँखिन में अंजन दयो गोवर्धन लयो हाथ,
नन्द जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन स्याम के।

('भँवर गीत')

सत्यनारायण 'कविरत्न'—जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तंग करत है बिपदा खासी।
नहिं आये निर्दय दई, आये गौरव जाय।
साँप-छछूँदर गति भई, मन हीं मन अकुलाय।
रहे सबके सबै।
('भ्रमर दूत')

'एक भारतीय आत्मा' ने भी 'पुष्प की अभिलाषा' कविता में—'ताटंक' और 'वीर' (अर्द्धांश) का सुन्दर संयोग करके नवीन षट्पदी प्रस्तुत की। ऐसी अनेक षट्पदियाँ लिखी गई है और लिखी जायँगी। गीति-कारों ने तो इस परिपाटी को अपना ही लिया—

(१) आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज में कोकिल बोल रहा!
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा?
('चन्द्रगुप्त' : 'प्रसाद')

(२) जड़ नीलम शृंगों का वितान, मरकत की क्रूर शिला धरती,
घेरे पाषाणी परिधि तुझे क्या मृदु तन में कम्पन भरती?
यह जल न सके
यह गल न सके,
यह मिटकर पग भर चल न सके
तू माँग न इनसे पन्थदान!
('दीपशिखा' : महादेवी)

'सूरसागर' के सब पदों में जितने भी छन्द प्रयुक्त हुए है क्या उनका कभी लेखा-जोखा हुआ है? क्या हिन्दी के अभिनव शास्त्रकारों के सामने यह महान् कार्य नही पड़ा है? काव्य के पश्चात् पिंगल शास्त्र की सृष्टि होती है। हिन्दी का पिंगल अभी अपनी कविता से कितना पिछड़ा हुआ है! क्या उसके छन्दों का एक अद्यवत् वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता? यह एक गम्भीर अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण विषय है।

छन्दों के अध्ययन करनेवाले को अवश्य ही कई नये छन्दों के दर्शन होंगे और उनका नामकरण हुए विना आगे गति नहीं होगी। इस लेखक को भी यह करना पड़ा, जिसका परिणाम नीचे प्रस्तुत है।

करुणा : १४ मात्राओं का छन्द—

लक्षण—सिद्धि राग यतिमय करुणा!

उदाहरण—करुणा कञ्जारण्य रवे!
गुण रत्नाकर आदि कवे!
कविता-पितः! कृपा-वर दो,
भाव-राशि मुझमें भर दो!
('साकेत')

मधुमाला : १६ मात्राओं का छन्द ।
लक्षण—वसु-वसु यति वर 'मधुमाला' गा ।
(८, ८ पर विराम, अन्त में गुरु)

उदाहरण—मैं मधु-विक्रेता की प्यारी,
मधु के घट मुझ पर बलिहारी ।
('मधुबाला' 'बच्चन')

कोकिल : १६ मात्राओं का छन्द ।
लक्षण—सिद्धि सिद्धि घर गा चल 'कोकिल' !
(८, ८ पर विराम अन्त में लघु)

उदाहरण—गा कोकिल भर स्वर में कम्पन,
झरें जाति-कुल वर्ण-पर्ण-घन,
अन्धनीड़ से रूढ़ रीति-छन,
व्यक्ति राष्ट्र-गत राग-द्वेष-रण !
झरें मरें विस्मृति में तत्क्षण !
गा कोकिल, बरसा पावक कण !
('युगान्त' : पन्त)

'मधुकर' : १६ मात्राओं का छन्द ।
लक्षण—४ चौकल, अन्त में मगण
उदाहरण—मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का,
('गुंजन' : पन्त)

'यशोधरा' : २२ मात्राओं का छन्द ।
लक्षण—सिद्धि सिद्धि रस यतिवर गाओ 'यशोधरा' !
(८,८, ६ पर यति; कुल २३ मात्राएँ; अन्त में 'गुरु')
उदाहरण—यह जीवन भी यशोधरा का अंग हुआ,
हाय, मरण भी आज न मेरे संग हुआ !
सखि वह था क्या, सभी स्वप्न जो भंग हुआ,
मेरा रस क्या हुआ और क्या रंग हुआ !
('यशोधरा' : गुप्त)

(१४, १० मात्राओं पर यति वाले,) २४ मात्राओं के 'रूपमाला' का दूसरा नाम 'गीति' रखना उचित होगा, क्योंकि उससे 'हरिगीति', 'हरिगीतिका' और 'गीतिका' का अनुबन्ध बैठ सकेगा—

'गीति'— "आज छाया है दृगों में विनो पुण्य प्रकाश—
उषा-आशा से रँगा है आज हृदयाकाश !"

'प्रियहरि' : २३ मात्राओं का छन्द

लक्षण—सप्त स्वर निधि यति अलंकृत मंजु 'प्रियहरि' गा !

(७,७,९ पर यति, कुल २३ मात्राएँ, अन्त में गुरु)

उदाहरण—"विश्वव्यापी वेदना यह प्रिय-विरह की है ,
अमित नभ में जो अगण्य स्वरूप रचती है !"

('गीतांजलि'—अनुवाद)

'हरिगीति' : २६ मात्राओं का छन्द

लक्षण—('गीति' के प्रारम्भ में एक गुरु)
गुरु गीति के प्रारम्भ में धर, गाइए 'हरिगीति' ।

उदाहरण—"कुछ स्वर्ण सा, कुछ रजत सा, सित पीत असिताकाश ।"

('हरिगीतिका' का अन्त्य 'गुरु' हटाने पर यही छन्द बनता है ।)

मधुव्रत : २८ मात्राओं का छन्द

लक्षण—आज विद्या[१४]-रत्न[१४] मधुव्रत अन्त में मधुमय लगा गा ।

(१४, १४ पर यति; अन्त में मगण, यगण, या लघु या लघुगुरु या गुरु गुरु)

उदाहरण—मैं उषा सी ज्योति-रेखा कुसुम विकसित प्रात रे मन !

—'प्रसाद'

मणिमाला : २८ मात्राओं का छन्द

लक्षण—विद्या[१४], विद्या[१४] पर यतिधर गा युगल-सखी 'मणिमाला ।

(१४, १४ पर यति, अन्त में गुरु गुरु)

उदाहरण—जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर, हे चिर अव्यय, नित नूतन !
बरसो कुसुमों में मधु बन प्राणों में अमर प्रणयधन—
स्मिति-स्वप्न अधर पलकों में, उर अंगों में सुख यौवन

('गुंजन' : पंत)

('आँसू' : 'प्रसाद' का छन्द यही है । यह १४ मात्रा वाले 'सखी' छन्द (कलभुवन[१४] सखी रचि माया) का दूना है ।)

मधुमालाहार : २८ मात्राओं का छन्द
(मधुमाला+हार)
मधुमाला : (पीछे 'देखें')
हार : १२ मात्राओं का एक चरण—

दिनमणि[१२] सा हार लगा[IS] ।

उदाहरण—कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे, ठिठका-सा चन्द्र खड़ा
माधव सुमनों में गूँथ रहा, तारों की किरन अनी

(यद्यपि 'अन्त्यानुप्रास' नहीं है, परन्तु छन्द वही है)

('चन्द्रगुप्त' : प्रसाद)

शृंगारताण्डव : २८ मात्राओं का छन्द
शृंगार और ताण्डव के योग से यह छन्द बनता है—

शृंगार : (पादाकुलक का एक भेद : आदि ३+२, अन्त ऽ=३)
सजत सब ग्वाल वधू शृंगार।[1]

ताण्डव : तरणि 'ताण्डव' में गोल
(१२ मात्राएँ, गुरुलघु अन्त में)

उदाहरण—तारिका सी तुम दिव्याकार, चन्द्रिका की झङ्कार,
प्रेम-पंखों में उड़ अनिवार, अप्सरा-सी लघुभार
स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार, प्रणय-हंसिनि सुकुमार ?
हृदय-सर में करने अभिसार, रजत-रति, स्वर्ण-विहार !
('गुंजन')

माधवी : २९ मात्राओं का छन्द
लक्षण—'कोकिल-वरणी मय कर प्रियवर गाओ मधुमय माधवी।'
कोकिल—(पीछे देखिए)
धरणी—वसुगति धरणी-चंडिका (१३ मात्राएँ) इसका दूसरा नाम 'चंडिका' भी है।
दोनों के योग से 'माधवी' बनेगा।

उदाहरण—
गूंज रहा सारे अम्बर में तेरा तीखा गान है !
रंग-बिरंगे आँसू-स्मितिमय आशा जिसकी तान है !
हम दोनों के वृहद् प्रदर्शन से द्युत व्योम-वितान है,
स्पंदित प्राण वायु को करती तेरी -मेरी तान है !
('गीतांजलि'—अनुवाद)

वैजयन्ती : ३० मात्राओं का छन्द

लक्षण—शृंगार, विद्या यतिमयी हरिगीतिका—गा वैजयन्ती।
(१६, १४ पर यति; हरिगीतिका+ऽ)

उदाहरण—"ब्रह्माण्ड में सब ओर जिसकी है फहरती वैजयन्ती।"
शृंगारगोपिका : ३१ मात्राओं का छन्द (शृंगार+गोपी)

शृङ्गार : 'सजत सब ग्वालवधू शृंगार।'

गोपी : कला तिथि, गा गा प्रिय गोपी
(१५ मात्राएँ अन्त में दो गुरु)

---

[1] छन्दप्रभाकर, पृ० ५३

उदाहरण—"आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज में कोकिल बोल रहा।"

('चन्द्रगुप्त' : 'प्रसाद')

वीरविलम्बित : ३२ मात्राओं का छन्द

('वीर' में एक लघु वढ़ा देने से यह छन्द वनता है)

लक्षण—"चौपाई युग मिला मनोहर, कविवर वीर बिलम्बित गाओ।"

उदाहरण—काँपे भूधर सागर काँपे, तारक-लोक खमण्डल काँपे,
यह विराट भूमण्डल काँपे, रविमण्डल आखण्डल काँपे,
परिवर्तन का क्रांति प्रलय का, गूँज उठे सब ओर घोर स्वर,
देख वृष्टि हुंकार श्रवणकर अन्ध गन्ध वह मण्डल काँपे!

('प्रलयवीणा')

(यह छन्द 'उपचित्रा' या 'मधुकर' का भी दुगुना होता है।)

मुक्ताहार : ३२ मात्राओं का छन्द

लक्षण—'सजा दो शोभामय 'शृंगार' उसे पहनाओ मुक्ताहार।'

('शृंगार' छन्द का दुगुना)

उदाहरण—हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरकहार।
जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक।

('स्कन्दगुप्त' : 'प्रसाद')

इस प्रकार शत-सहस्र नये-नये छन्दों के नूपुर हिन्दी-भारती ने अपने अंग-प्रत्यंग में सजाये हैं, जिनके रुनुन-झुनुन से हिन्दी-प्रेमियों की श्रुतियाँ रसमग्न हो रही हैं।

वनस्थली]



जायसी का पक्षियों का ज्ञान

श्री सुरेशसिंह

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास" के रचयिता ने भले ही जायसी को छोड़ दिया हो, लेकिन जिसको साहित्य का थोड़ा भी ज्ञान है वह भली भाँति जानता है कि हमारे साहित्य-गगन में जायसी आज भी ध्रुव की तरह अचल और अमन्द हैं।

सूर की ब्रजमाधुरी ने सारे देश को मधुमय अवश्य कर दिया और तुलसी ने अपनी भक्ति की मन्दाकिनी से समूचे राष्ट्र में चेतनता की एक लहर अवश्य दौड़ा दी, लेकिन इन दोनों भक्त महाकवियों के पूर्व ही जनता के इस कवि ने प्रेम का जो विशद वर्णन अपने 'पद्मावत' में किया है वह हमारे साहित्य की एक निधि है। जनता की सच्ची अनुभूति, उसके रहन-सहन, आचार-विचार और उसकी वास्तविक स्थिति का जैसा सजीव चित्र जायसी ने खींचा है, वैसा चित्र खींचने में शायद ही किसी कवि को इतनी सफलता मिली हो।

ब्रजभाषा अपने माधुर्य से देश के कोने-कोने में साँस के समान भले ही समाई रही हो, पर महाकाव्य रचे जाने का गौरव अवधी को ही मिला। 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' अवधी भाषा के दो महाकाव्य हैं, जो हमारे लिए आज भी पथ-प्रदर्शक का काम कर रहे हैं। वीरगाथा के महाकाव्य पृथ्वीराज रासो का समय बीत चुका था। देश विजेता के सम्मुख नतमस्तक खड़ा था। वह राजनैतिक दासता की श्रृंखला शिथिल होने से पहले ही मानसिक गुलामी की जंजीर में बँधने जा रहा था। देश की रक्षा करने वाले तलवार फेंककर इस लोक की अपेक्षा परलोक की चिन्ता में पड़ गए थे। देश में एक प्रकार की अस्तव्यस्तता-सी फैली थी। ऐसे परिवर्तन के समय जायसी साहित्याकाश में एक प्रकाश पुंज के समान उदित हुए। उन्होंने अपनी प्रेमगाथा की लोरी सुनाकर देश को सुलाने का प्रयत्न किया, किन्तु देश में जो अशान्ति और क्षोभ के घने बादल घिरे थे वे राम-कृष्ण के प्रेम की शत-शत धाराओं से बरस पड़े। सूर और तुलसी के भक्ति-प्रवाह के आगे कोई भी न ठहर सका और सारा देश राम-कृष्णमय हो उठा। उस प्रबल आँधी में जायसी एकदम पीछे पड़ गये और यही कारण है कि आज हम उनकी अमर रचना के बारे में बहुत कम जानते हैं।

यह सब होते हुए भी जायसी का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। उनका 'पद्मावत' उर्दू-फ़ारसी की मसनवियों के ढंग का प्रेमगाथा काव्य भले ही हो, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसका निर्वाह उन्होंने हिन्दी में बहुत सफलता से किया है। प्रेम की रीति-नीति और लोक-व्यवहार की ऐसी जानकारी इस कवि को थी कि जिस विषय पर उसने क़लम उठाई है, उसे पूर्ण ही करके छोड़ा है।

क्या युद्धवर्णन, क्या नगरवर्णन और क्या प्राकृतिक सौन्दर्यवर्णन, सभी तो अपनी चरमसीमा तक पहुँच गये हैं। बादशाह-भोजखंड तो जायसी की बहुमुखी प्रतिभा की बानगी ही है। इसके अलावा उनका पशु-पक्षी वर्णन तो इतना स्वाभाविक हुआ है कि वहाँ तक हिन्दी का कोई भी कवि आज तक नहीं पहुँच सका। प्रत्येक विषय का इतना ज्ञान कैसे एक व्यक्ति को प्राप्त हो गया, कभी-कभी यह सोच कर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। फिर पक्षि-शास्त्र के अध्ययन का तो हमारे यहाँ कोई साधन भी नहीं था। हमारे कवि पक्षियों के काल्पनिक वर्णन में ही सदा से लगे रहे। उन्हें हंस के क्षीरनीरविवेक, चक्रवाक के रात्रिवियोग, कोयल-पपीहे की विरहपुकार, चकोर का चन्द्र के वियोग में आग खाने के खेल और तोता-मैना की कहानी से ही अवकाश नहीं मिलता था, अन्य पक्षियों का वास्तविक वर्णन कैसे करते! किन्तु जायसी ने इस साहित्यिक परिपाटी का निर्वाह करते हुए पक्षियों का बहुत ही स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय का उनका कितना व्यापक अध्ययन था।

वस्तु-वर्णन-कौशल में भी जायसी भाषा के किसी कवि से पीछे नहीं रहे। कहीं-कहीं तो उन्होंने संस्कृत कवियों तक से टक्कर ली है। इसके लिए उन्होंने कई ऐसे स्थलों को चुना है, जिनका विस्तृत वर्णन बहुत ही भावपूर्ण हुआ है। सिंघलद्वीप वर्णन में जहाँ बाग-बगीचों, नगर-हाट और सरोवरों का वर्णन है, वहीं पशुपक्षियों की चर्चा भी छूटने नहीं पाई है। सिंघलद्वीप-यात्रा-वर्णन में कवि ने अतिशयोक्तियों से बहुत काम लिया है और समुद्रवर्णन में तो उन्होंने पौराणिक कथाओं को वास्तविकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। समुद्र के जीव-जन्तु प्रायः काल्पनिक आधार पर ही रक्खे गये हैं, जिससे जान पड़ता है कि जायसी का इस विषय पर निज का कुछ भी अनुभव नहीं था। इसी प्रकार विवाहवर्णन, युद्धवर्णन, षट्ऋतुवर्णन तथा रूपसौन्दर्यवर्णन में कवि ने काफ़ी ऊँची उड़ान भरी है, लेकिन साथ-ही-साथ जहाँ कहीं भी पक्षियों का उल्लेख आया है, उसने इसी बात का प्रयत्न किया है कि उनकी काल्पनिक कथाओं की अपेक्षा उनका वास्तविक वर्णन ही अधिक रहे। देहात में रह कर पक्षियों का सूक्ष्म निरीक्षण करने के कारण जायसी ने पक्षियों के साहित्यिक नामों की अपेक्षा उनके लोकप्रसिद्ध नामों को ही रखना उचित समझा है।

वैसे तो हमारे साहित्य-उपवन में हंस, पिक, चातक, शुक, सारिका, काक, कपोत, खंजन, चकोर, चक्रवाक, वक, सारस, मयूर प्रायः इन्हीं थोड़े से पक्षियों का वर्णन मिलता है, जिनका अलग-अलग काम हमारे साहित्यकारों ने बाँट रक्खा है। इनमें से कुछ नखशिख वर्णन में, कुछ विरहवर्णन में और कुछ प्रकृतिवर्णन के सिलसिले में याद किये जाते हैं। कुछ के वास्तविक गुणों को छोड़ कर उनके बारे में ऐसी काल्पनिक कथाएँ गढ़ ली गई हैं, जो सुन्दर होने पर भी वास्तविकता से कोसों दूर हैं।

हंस का मोती चुनना और नीरक्षीर को अलग कर देना, चकवा-चकई का रात्रिकाल में अलग हो जाना, चातक का स्वातिजल के सिवा कोई दूसरा पानी न पीना और चकोर का चन्द्रमा के धोखे में अंगार खाने की कथा जहाँ कवियों ने कितनी ही बार दुहराई है वहीं पिक और चातक की मीठी बोली को विरहाग्नि प्रज्वलित करने वाली कहा है। शुक-सारिका जैसे पिंजड़े में बन्द रहने के लिए ही बनाये गये हैं। इनसे प्रायः क़िस्से सुनाने का काम लिया गया है। कपोत से कंठ की, शुक की चोंच से नासिका की और खंजन से नेत्रों की उपमा अक्सर दी जाती है। सारस का जोड़ा आजीवन अभिन्नता के पाश में बँधे रहने के लिए प्रयुक्त होता है। काक और वक प्रायः तुलनात्मक वर्णन में इस्तेमाल होते हैं और मयूर को वर्षागमन की सूचना देने के लिए स्मरण किया जाता है। इन सब पक्षियों के अलावा हमारे कवियों ने अन्य पक्षियों की ओर या तो ध्यान ही नहीं दिया, या उन्हें इतना अवकाश ही नहीं था कि वे अपनी साहित्यवाटिका से बाहर निकल कर प्रकृति के विशाल नीलाकाश में दिन भर उड़ने वाली अन्य चिड़ियों की ओर भी दृष्टिपात करते। लेकिन जायसी दरबारी कवि न होकर जनता के कवि थे। उनका दृष्टिकोण उन राजसभा के कवियों से भिन्न था, जो हंस को बिना देखे ही उसके वर्णन में नहीं हिचकते। जायसी ने पक्षियों का स्वयं भलीभाँति निरीक्षण करके उनका स्वाभाविक और सजीव वर्णन किया है।

जायसी के 'पद्मावत' में लगभग साठ पक्षियों के नाम आते हैं, जो हमारे आसपास रहने वाले परिचित पक्षी हैं।

'पद्मावत' में वैसे तो अनेकों स्थानों पर चिड़ियों का वर्णन आया है, लेकिन कई स्थल ऐसे हैं जहाँ जायसी को तरह-तरह के पक्षियों को एकत्र करने का अवसर मिला है। पहला स्थल तो सिंघलद्वीप वर्णन के अन्तर्गत है। सिंघलद्वीप में जहाँ अनेकों प्रकार के वृक्ष मौजूद हैं, भला पक्षियों की कमी कैसे रहती! तभी तो—

बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाखा, करहिं हुलास देखि कै साखा।
भोर होत बोलहिं 'चुहचूही'[1], बोलहिं पांडुक[2] "एकै तू ही"।

---

[1] चुहचूही=भुजंगा पक्षी। [2] पांडुक=पड़की, फ़ाख़ता।

सारौं[1] सुआ जो रहचह करहीं, कुरहिं परेवा औ करबरहीं।
"पीव पीव" कर लाग पपीहा, "तुही तुही" कर गडुरी[2] जीहा।
"कुहू कुहू" करि कोइलि राखा, औ भिंगराज बोल बहु भाखा।
"दही दही" करि महरि[3] पुकारा, हारिल बिनवै आपन हारा।
कुहकहिं मोर सुहावन लागा, होइ कुराहर बोलहिं कागा।
जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमराउँ,
आपनि आपनि भाषा, लेहिं दई कर नाउँ।

कैसा सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन है! जगत के जितने भी पक्षी हैं, अमराई में बैठे हैं और अपनी-अपनी बोली में ईश्वर का नाम ले रहे हैं। सब पक्षियों को एकत्र करने का कैसा उपयुक्त स्थान जायसी ने चुना है। आम की घनी अमराई इन पक्षियों से भर गई है और इनके चहचहाने से गूंज रही है।

भोर होते ही चुहचुही बोलने लगती है। देहात के गीतों में आजकल भी "भोर होत चुहचुहिया बोलै" अक्सर सुनने को मिलता है। जायसी भला फिर सब कुछ जान-बूझ कर उसके इस अधिकार को कैसे छीन लेते? पड़की या फ़ाखता भी अपना "एकै तूही" से मिलता-जुलता शब्द रटने लगती है—सारौं (सारिका) और सुआ अपने रहचह (चहचहाने) से एक प्रकार का समां अलग ही बाँधे हुए हैं। कबूतर अपनी 'गुटरगूं' कर रहे हैं तो पपीहा अपनी 'पी कहाँ' और गुड़री 'तुही तुही' की धुन लगाये हुए हैं—कोयल तो सिवा 'कूऊ कूऊ' के और कुछ जानती ही नहीं, लेकिन भृंगराज तो बोली के लिए प्रसिद्ध है। वह अनेक प्रकार की बोलियाँ बोलता है। महरि 'दही दही' पुकारती है और मोर कुहकता है, पर हारिल कुछ बोलना नहीं जानता। इससे वह हार मान कर अपनी दीनता प्रदर्शित करता है। कैसा स्वाभाविक वर्णन है! सब-के-सब पेड़ पर रहने वाले पक्षी हैं, जो अपनी बोलियों के लिए प्रसिद्ध हैं। जहाँ तक हो सका है, कवि ने पक्षियों की अनुकृति को ध्यान में रक्खा है। पड़की का 'एकै तुही', पपीहा का 'पीव कहाँ'—गुड़री की 'तुही तुही', कोयल की 'कुहू कुहू' और महरि का 'दही दही' तो बहुत प्रसिद्ध है, लेकिन मोर का कुहकना भी कवि की पैनी दृष्टि से नहीं बच सका। ग्राम्यगीतों में मोर की बोली को "कुहकना" और कोयल की बोली को "पिहकना" आज भी कहते हैं। हारिल अपनी रंगीन पोशाक के कारण छोड़ा नहीं जा सकता था। इससे कवि ने बड़ी खूबी से न बोलने की मजबूरी दिखा कर उसकी मौजूदगी का निबाह किया है।

थोड़ी दूर आगे चलने पर एक ताल मिलता है, जहाँ—

माथे कनक गागरी, आवहिं रूप अनूप,
जेहि के अस पनिहारी, सो रानी केहि रूप।

ऐसी सुन्दरियाँ उस ताल में पानी भरने आती हैं।

ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं, सूझै वार पार किछु नाहीं।
फूले कुमुद सेत उजियारे, मानेहुँ उए गगन महँ तारे।
उतरहिं मेघ चढ़हिं लै पानी, चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी।
पौरहिं पंखि[4] सुसंगहि संगा, सेत, पीत, राते बहु रंगा।
चकई चकवा केलि कराहीं, निसि के बिछोह दिनहि मिलि जाहीं।

---

[1] सारौं=सारिका, मैना।
[2] गडुरी=एक प्रकार का बटेर।
[3] महरि= पहाड़ी मुटरी।
[4] पंखि=पक्षी।

कुररहिं सारस करहिं हुलासा, जीवन मरन सो एकहि पासा।
बोलहिं सोन[1], ढेक[2], बग[3], लेदी[4], रही अबोल मीन जलभेदी।
नग अमोल तेहि तालहि, दिनहिं बरहिं जस दीप।
जो मरजिया होइ तहँ, सो पावै वह सीप॥

बड़ा विस्तृत ताल है, जिसका ओरछोर नहीं दीख पड़ता, जिसके नील जल में श्वेत कमल ऐसे लगते हैं, मानो आकाश में नक्षत्र बिखर पड़े हैं। बादल जब सरोवर से जल भर कर उठने लगते हैं तो उनमें मछलियों की चमक विद्युतरेखा-सी जान पड़ती है। तरह-तरह के सफ़ेद, पीले और लाल पक्षी ताल में एक ही संग तैर रहे हैं। रात्रि-वियोग के पश्चात् दिन को मिलने पर चकई-चकवा जलक्रीड़ा में तल्लीन हैं। सारस अपने जोड़े के साथ कर्कश बोली बोल कर आनन्दमग्न है। उनका जीवन और मरण इतना निकट रहता है कि उनको चिन्ता किस बात की? सोन, ढेक, बग और लेदी तो अपनी-अपनी बोली बोलती हैं, लेकिन जल में रहने वाली मछलियाँ बेचारी अबोल ही रह जाती हैं। उस ताल में कुछ अमूल्य रत्न भी हैं जो दिन में भी अपना प्रकाश फैलाये रहते हैं, लेकिन उसमें भी सीप वही ला सकता है, जो जान हथेली पर लिये फिरता हो।

जायसी ने ताल की चिड़ियों को उस अमराई से दूर इस सरोवर में जमा किया है। इनमें चक्रवाक, वत, ढेक, सारस, बक और लेदी सभी तालाब में रहने वाली प्रसिद्ध चिड़ियाँ हैं—चक्रवाक का चकई-चकवा, वत या काज का सोन, आँजन बगला का ढेक और छोटी मुरगाबी का लेदी बहुत प्रचलित नाम हैं। जायसी ने इसी कारण इन्हीं नामों को साहित्यिक नामों की अपेक्षा अधिक पसन्द किया है। सारस के लिए "जीवन मरन सो एकहि साथा" लिख करके कवि ने किस सुन्दर ढंग से इस ओर संकेत किया है कि सारस का जोड़ा फूट जाने पर बचा हुआ दूसरा पक्षी अपनी जान दे देता है। सरोवर की अन्य वस्तुओं के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लेकर भी जायसी ने पक्षियों के वर्णन में स्वाभाविकता से काम लिया है।

दूसरा स्थल जहाँ जायसी को पक्षियों के संग्रह का अवसर प्राप्त हुआ है 'नागमती का वियोगखंड' है। तुलसीदास जी ने तो श्री राम से—

"हे खग, मृग, हे मधुकर स्रेनी,
कहुँ देखी सीता मृगनैनी।"

केवल इतना ही कहला कर छुट्टी ले ली है, लेकिन जायसी ने नागमती को एक वर्ष तक रुलाने के बाद भी उसकी विरह वेदना कम नहीं होने दी। तभी तो वह—

बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी जिय झंखि,
मानुस घर घर बूझि कै, बूझै निसरी पंखि।

एक वर्ष तक रोने के पश्चात् जी से हार कर वह पक्षियों से राजा का पता पूछने निकली, क्योंकि मनुष्यों के घर-घर पूछने पर भी उसे कोई लाभ न हुआ। नागमती के वियोग-खंड का यह दो अर्थों वाला वर्णन भी कवित्वमय हुआ है। देखिये नागमती की कैसी दशा हो गई है—

भई पुछार लीन्ह बनबासू, बैरिनि सवति दीन्ह चिलवाँसू।
होइ खरबान बिरह तनु लागा, जो पिउ आवै उड़हि तौ कागा।
हारिल भई पंथ मैं सेवा, अब तहँ पठवौं कौन परेवा।

---

[1] सोन=सवन, काज, वत, कलहंस।
[2] ढेक=आँजन बगला।
[3] बग=बगला।
[4] लेदी—एक छोटी बतख़।

घौरी पंडुक कहु पिउ नाऊँ, जौं चितरोख न दूसर ठाऊँ।
जाहि बया होइ पिउ कंठलवा, करै मेराव सोइ गौरवा।
कोइल भई पुकारति रही, महरि पुकारै "लेइ लेइ दही"।
पेड़ तिलोरी औ जलहंसा, हिरदय पैठि विरह कटनंसा।
जेहि पंखी के नियर ह्वै, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होय निपात॥
कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई, रकत आँसु घुंघची बन बोई।
मैं करमुखी नैन तनराती, को सेराव, विरहा दुख ताती।
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी, तहँ तहँ होइ घुंघुचि कै रासी।
बूंद बूंद महँ जानहु जीऊ, गुंजा गूँजि करै "पिउ पीऊ"।
तेंहि दुख भरे परास निपाते, लोहू बूड़ि उठे ह्वै राते।
राते बिंब भीजि तेहि लोहू, परवर पाक फाट हिय गोंहू।
देखौं जहाँ होइ सोइ राता, जहाँ सो रतन कहै को बाता।
नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवन्त बसन्त।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कन्त॥

कितना सजीव वर्णन है ! विरहाग्नि से पक्षियों के भस्म हो जाने में अतिशयोक्ति अवश्य है, लेकिन "रकत आँसु घुंघची बन बोई" कैसी सुन्दर युक्ति बन पड़ी है। जायसी ने कोयल को बोली के लिए और कौए तथा हंस को रंग की तुलना के लिए नहीं याद किया है, बल्कि देहात में स्त्रियों को अपने प्रिय के आगमन के बारे में जो अन्धविश्वास है उसका स्वाभाविक वर्णन किया गया है। स्त्रियाँ कौए को बैठा देख कर कहती हैं—"यदि मेरा प्रिय आने वाला हो तो उड़ जा।" अगर संयोग से कौआ उस जगह से जल्द ही उड़ गया तो उनके हृदय में प्रिय के आने की आशा दृढ़ हो जाती है। कौए के लिए जायसी ने एक दूसरे स्थान पर और भी अनोखी उक्ति पेश की है—

भोर होइ जौ लागै उठहिं रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैन कै कागहि केर अभाग॥

जब प्रभात होने लगता है तो कौआ इसी लिए काँव-काँव करता है कि रात्रि की सारी कालिमा तो छूट गई, लेकिन दुर्भाग्यवश उसकी स्याही पहले की तरह विद्यमान है।

तीसरा स्थल है बादशाह भोज खंड, जहाँ पक्षियों का वर्णन मिलता है। राजा ने बादशाह को दावत दी है। सभी तरह के पकवान तैयार हो रहे हैं। बाग़-बग़ीचे के पक्षियों का वर्णन अमराई में और जल के निकट रहने वाली चिड़ियों का वर्णन सरोवर के साथ हो ही चुका था। अतः यहाँ जायसी ने सब प्रकार के शिकार के पक्षियों को एकत्र किया है।

पुछार=(१) पूछने वाली (२) मोर, मयूर। चिलवाँस=चिड़िया फँसाने का एक फन्दा। खरवान=(१) तीक्ष्ण बाण (२) एक पक्षी, खरवानक। हारिल=(१) हारी हुई, थकी हुई (२) हारिल पक्षी, हरियल घौरी=(१) सफ़ेद (२) धवर पक्षी, फ़ाख़ता की एक जाति। पंडुक=(१) पीला (२) पड़की। चितरोख=(१) चित्त में रोष (२) चितरोखा पक्षी, फ़ाख़ता की एक जाति। जाहि बया=सन्देस लेकर जा और फिर आ (बया=(आ) फारसी), (२) बया पक्षी। कंठलवा=(१) गले में लगाने वाला (२) कंठलवा पक्षी, लवा की एक जाति। गौरवा=(१) गौरवपूर्ण, बड़ा (२) गौरवा, चटक पक्षी। कोइल=(१) कोयला (२) कोयल पक्षी। दही=(१) दधि (२) दग्ध, जली। तिलोरी=तेलिया मैना। कटनासा=(१) काटता और नष्ट करता है (२) नीलकंठ, कटनास पक्षी। निपात=पत्रहीन। सेराव=ठंढा करे। परास=पलाश।

तीतर बटई लवा न बाँचे, सारस कूज पुछार जो नाचे।
घरे परेवा पंडुक हेरी, खेहा गुड़रू उसर-बगेरी।
हारिल चरग चाह बँदि परे, बन कुक्कुट जलकुक्कुट घरे।
चकई चकवा और पिदारे, नकटा, लेंदी, सोन, सलारे।
कंठ परी जब छूरी, रकत ढुरा ह्वै आँसु,
कित आपन तन पोखा, भखा परावा माँसु।

ऊपर के उद्धरण में जिन चिड़ियों के नाम आये हैं वे हमारे यहाँ के वहुत प्रसिद्ध शिकार के पक्षी हैं। चूंकि भोज राजा की ओर से दिया गया है, इससे जायसी ने ग्रामकुक्कुट की जगह वन-कुक्कुट रक्खा है। "आँसु ढुरने" का माधुर्य वे ही समझ सकते हैं जिनका सम्बन्ध अभी देहात से नहीं छूटा है।

"रहिमन अँसुआ नयन ढरि, निज दुख प्रगट करेहि,

के "अँसुआ ढारि" से आँसु ढुरने में कहीं ज़्यादा मिठास है। आँसू वहने में वह वात कभी आ ही नहीं सकती।

इसके अलावा पद्मावत में खंजन, हंस, कौड़िया, चकोर, रायमुनी, सचान, भुजैला, महोख, खूसट, सारौं (सारिका) और कोकिला आदि पक्षियों का स्थान-स्थान पर वहुत ही स्वाभाविक वर्णन है। सुआ तो पद्मावत का एक मुख्य पात्र ही है। जायसी ने संस्कृत कवियों के हंस को सन्देशा ले जाने का काम नहीं सौंपा। हंस सुन्दर भले ही हो और उसकी उड़ान चाहे कितनी ही लम्वी होती हो, लेकिन वह उस सफलता से सन्देशा नहीं सुना सकता, जिस खूवी से यह काम मनुष्य की वोली की नक़ल करने वाला तोता कर सकता है। इसीसे जायसी ने हंस की जगह तोते को चुना है और उसको उसके लोकप्रचलित नाम 'सुआ' अथवा 'परवत्ता' से ही याद किया है। पहाड़ी तोते के लिए आज भी देहात में 'परवत्ता' शव्द प्रचलित है।

फिर पद्मावत के हीरामन तोते का क्या कहना! उसके विना तो यह कथा ही अधूरी रह जाती। जायसी ने उसके लिए चार खंड अलग कर दिये हैं—सुआखंड, नागमती सुआसंवादखंड, राजा सुआसंवादखंड और पद्मावती सुआभेंटखंड। इसके अतिरिक्त और कई जगहों पर भी हीरामन का वर्णन करने में जायसी नहीं चूके। नागमती सुआ को अपनी विरह दशा कैसे दीन शव्दों में सुनाती है—

चकई निस बिछुरै, दिन मिला, हौं दिन राति विरह कोकिला।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी, कैसे जियै बिछोही पखी।
विरह सचान भएउ तन जाड़ा, जियत खाइ औ मुए न छाँड़ा।
रकत ढुरा माँसूगरा हाड़ भएउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख॥

यह तो हुआ पद्मावत में वर्णित पक्षियों का एक संक्षिप्त वर्णन मात्र। इस महाकवि की अमरकृति का रसास्वादन करने के लिए उसका कोई प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित होना आवश्यक है।

कालाकांकर]



बटई=बटेर। कूज=कुंज, क्रौंच, कुलंग पक्षी। पुछार=मोर। परेवा=कवूतर। पंडुक=पड़की फ़ाख़ता। खेहा=तीतर की जाति का एक पक्षी। उसर-वगेरी=एक भार्दूल जाति का छोटा पक्षी। चरग=चरत, केरमोर, सोहन चिड़िया जाति का मोर से छोटा पक्षी। चाह=चाहा पक्षी। वनकुक्कुट=जंगली मुरगी। जलकुक्कुट=जलमुरगी, टिकरी। पिदारे=पिद्दा। नकटा=एक प्रकार की वतख़। लेंदी=छोटी मुरग़ावी, एक छोटी वतख़। सोन=सवन, वत, कलहंस। सलारे=सिलरी, या सिलहरी, एक प्रकार की वतख़।

उपेक्षित बाल-साहित्य

श्री खद्दरजी और दद्दाजी

हमारे भारतीय परिवारों में जिस प्रकार बच्चे उपेक्षित रहते हैं, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में बाल-साहित्य उपेक्षित है। हमें यह लज्जापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी में बाल-साहित्य का जितना अभाव है, उतना शायद ही किसी प्रान्तीय भाषा में हो। गुजराती का बाल-साहित्य तो इतना समृद्ध है कि देखकर जी आनन्दित हो उठता है। इस अभाव का एक कारण तो यह भी है कि बच्चों के अभिभावक इस ओर से अत्यन्त उदासीन हैं। उस रोज़ हम लोग दिल्ली के घंटाघर के पास ताँगे की तलाश में खड़े थे। इतने में एक मोटर वहाँ आकर रुकी। उसमें चार-पाँच बच्चे थे और एक प्रौढ़, जो उनके पिता प्रतीत होते थे। बच्चों ने हमारे हाथ में बालकों की कुछ पुस्तकें देखीं। उनकी निगाह उन पर जम गई। पिता उन्हें फल और मिठाई खिलाना चाहते थे। बच्चे बाल-साहित्य के भूखे थे। पिता जी खाने का सामान लेने चले गये तो बच्चों ने मोटर से उतर कर हमें घेर लिया। बोले, "ये किताबें बेचते हो?" हम उत्तर दें कि तबतक उन्होंने जेब से पैसे निकाल कर इकट्ठे कर लिये। उनका ध्यान पुस्तकों पर केन्द्रित था, पर भयभीत नेत्रों से वे बार-बार पिता जी की ओर देख लेते थे। हमने उन्हें पुस्तकें बिना पैसे लिये दे दीं और वे तेज़ी से कार में जा बैठे। पिता जी आये और गाड़ी में बैठ गये। बच्चों के हाथ में जब उन्होंने पुस्तकें देखीं तो फटकार कर बोले, "इनमें क्या रक्खा है? क्या फल और मिठाई से भी ज्यादा तुम्हें ये किताबें पसन्द हैं?" पिताजी क्रोध प्रकट कर रहे थे और हम खड़े-खड़े सोच रहे थे कि जिस देश में बड़े-बूढ़े आदमी बच्चों की मानसिक भूख को नहीं समझ सकते, उस देश के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कैसे की जा सकती है?

दिल्ली के एक सेठ जी को हम लोग विदा करने स्टेशन गये थे। उन्होंने रास्ते में पढ़ने के लिए रेलवे बुक-स्टॉल से कुछ पुस्तकें मँगवाईं। बच्चों ने देखीं तो उन्होंने भी अपने मतलब की कुछ पुस्तकों की माँग की। सेठ जी ने पुन: नौकर भेजा। थोड़ी देर में वह लौटा तो खाली हाथ। सेठ जी ने पूछा, "क्यों, किताबें नहीं लाये?"

नौकर ने उत्तर दिया, "अंग्रेजी में तो हैं, पर नागरी में बच्चों की एक भी किताब नहीं मिली।"

गार्ड ने सीटी बजाई और गाड़ी चल दी। सेठ जी नमस्कार कर रहे थे। हम लोगों ने भी हाथ जोड़ दिये, लेकिन हमारी आँखें उन डबडबाये नेत्रों को देख रही थीं, जिनमें बड़े-बड़े लेखकों के लिए भारी रोष था कि वे मोटे-मोटे पोथे तो लिखते हैं, किन्तु कभी यह नहीं सोचते कि बड़ों की दुनिया के अतिरिक्त एक नन्हीं दुनिया भी है, जिसमें मानसिक भूख से बच्चे दिनरात तड़प रहे हैं। उस सात्विक क्रोध का, जो उन डबडबाई आँखों में था, क्या हम कभी प्रतिकार कर सकेंगे? शिक्षक बराबर इस कमी को महसूस करते हैं, पर वे किससे कहें? देश के प्रकाशक और लेखक बाल-साहित्य को आवश्यक ही नहीं समझते। उन्हें शिकायत है कि हिन्दी में पुस्तकें कम बिकती हैं; लेकिन कभी उन्होंने इसके कारण पर भी ध्यान दिया है? बच्चों को छोटी आयु से ही पुस्तकें पढ़ने को मिलें तो कोई वजह नहीं कि आगे चलकर उनकी किताब पढ़ने की आदत छूट जाय। कठिनाई तो यह है कि बच्चों में पढ़ने की आदत को पनपने देना तो दूर, उसे कुचल दिया जाता है। अत: कल के बच्चे और आज के प्रौढ़ में पुस्तकों के प्रति अनुराग उत्पन्न हो तो कैसे? यह कहना तो व्यर्थ है कि हिन्दी जानने वालों की संख्या कम है। यदि लेखक तथा प्रकाशक बाल-साहित्य की ओर ध्यान देकर सुन्दर एवं वैज्ञानिक बाल-साहित्य का निर्माण करें और बच्चों में उसके लिए रुचि पैदा कर दें तो हम देखेंगे कि यही बच्चे प्रौढ़ होकर भोजन और वस्त्र के समान पुस्तकों पर भी खर्च करना आवश्यक समझेंगे। तब निस्सन्देह बड़ी पुस्तकों का भी प्रचार धड़ल्ले के साथ होगा। हमारा निश्चित मत है कि जिस प्रकार बिना नींव

को सींचे महज़ पत्तों पर पानी छिड़क देने से वृक्ष हरा-भरा नहीं रह सकता, उसी प्रकार वाल-साहित्य के विना हमारा प्रौढ़-साहित्य भी पनप नहीं सकता।

आज वाल-साहित्य के नाम पर जो कुछ निकल रहा है, उसे देखकर कष्ट होता है। छपाई और ऊपरी टीपटाप के अतिरिक्त उन पुस्तकों में सार कुछ भी नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पुस्तकों के अधिकांश लेखक वाल-मनोविज्ञान से अपरिचित हैं। कुछ ऐसे भी लेखक हैं, जिन्होंने वाल-मनोविज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन किया है, किन्तु वालकों की दुनिया के निकट सम्पर्क में न रहने के कारण उसका व्यावहारिक ज्ञान उनमें नहीं है। यह निर्विवाद है कि बिना व्यावहारिक ज्ञान के वाल-साहित्य का निर्माण नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो वच्चों के साथ काम करते हैं और व्यावहारिक वाल-मनोविज्ञान से भी परिचित हैं; लेकिन वाल-साहित्य में प्रकाशकों की रुचि न होने के कारण उन्हें निराश होना पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी में अवतक जो भी वाल-साहित्य लिखा गया है, उसमें निन्यानवे प्रतिशत अवैज्ञानिक, निकम्मा और वालक के अन्तरमन में विषम ग्रन्थियाँ पैदा करने वाला सिद्ध हो रहा है। हमने अधिकांश वाल-साहित्य का विवेचनात्मक एवं आलोचनात्मक रीति से अध्ययन किया है और उसे वाल-मनोविज्ञान की व्यावहारिक कसौटी पर खरे उतरते नहीं पाया है। यहाँ कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

वच्चों की एक पुस्तक में हमने पढ़ा था, "**भोंदूराम जी घर से थोड़ो दूर गये थे। एक स्त्री को जाते हुए आपने देखा, आप ठहरे रसिक, स्त्री पास से गुजरे और आप उसे न देखें, यह कैसे हो सकता था?**" लेखक भारत के एक वड़े प्रकाशक हैं। हम नहीं समझ पाते कि वच्चों के लिए इस प्रकार के शब्द उनकी क़लम से कैसे निकले?

एक दूसरी पुस्तक में, जो प्रयाग से प्रकाशित हुई है, लेखक लिखते हैं, "**यह पिछले कर्मों का फल है। ब्राह्मण ने पिछले जन्म में बुरे कर्म किये थे। आज फांसी मिलनी चाहिए थी। किन्तु इस जन्म में अच्छे कर्म करने के कारण सिर्फ़ कांटा लगा है।**" हम समझते हैं कि कोई भी मनोविज्ञान का विद्यार्थी और समझदार शिक्षक इस प्रकार की पुस्तक वच्चों के हाथ में देकर उनके मन को पुनर्जन्म और भाग्य के भँवर में नहीं फँसावेगा।

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध विद्वान ने वच्चों के लिए एक पुस्तक लिखी है। उसमें वे लिखते हैं, "**सब वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी ईश्वर क़ायम रहता है। और मनुष्यों के पाप-पुण्य का न्याय करता है। ईश्वर का नाम बार-वार जपने और उसका उपकार मानने से वह ख़ुश होता है।**" हमारी धारणा है कि वच्चों के कोमल हृदय पर पाप-पुण्य की विषम रेखाएँ खींच कर इन लेखक महोदय ने देश के आधार-स्तम्भ वाल-समाज का वड़ा अपकार किया है। हम नहीं समझते कि वच्चों को ऐसे तत्व-दर्शन का शिक्षण देने की कोई आवश्यकता है।

स्पष्ट है कि आज वालकों के लिए हिन्दी के वड़े-वड़े लेखकों और प्रकाशकों द्वारा इस प्रकार के अवैज्ञानिक और असामाजिक साहित्य का निर्माण किया जा रहा है और विवश होकर हमें यही कूड़ा-कचरा और विषैला साहित्य वच्चों के हाथ में देना पड़ता है। हमने देश के वड़े-वड़े राष्ट्रीय शिक्षालयों और पुस्तकालयों तक में वालकों को ऐसा ही साहित्य पढ़ते पाया है। यदि प्रौढ़-साहित्य में अश्लील और असामाजिक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं तो वर्षों उन पर वाद-विवाद चलता है; लेकिन वाल-साहित्य इतना अनाथ है कि कोई कुछ भी लिखता रहे, किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती।

हमारा सुझाव है कि जिस प्रकार दादा गोर्की ने रूस में वहाँ के माता-पिता और शिक्षकों को साथ लेकर वाल-साहित्य के निर्माण के लिए संगठित प्रयत्न किया था, उसी प्रकार हम लोग भी इस दिशा में प्रयत्न करें। मैक्सिम गोर्की ने रूस के वच्चों की साहित्य-सम्वन्धी अभिरुचि को जानने के लिए वहाँ के वच्चों से कुछ प्रश्न पूछे थे। प्रश्नों के जो उत्तर आये, उन्हीं के आधार पर वहाँ के साहित्यिकों ने वाल-साहित्य तैयार किया। प्राय: वच्चों ने जंगल के पशु-पक्षी और सताये हुए वच्चों की करुण कहानी सुनना अधिक पसन्द किया। कुछ ने साहसिक यात्राओं और वैज्ञानिक

खोज-सम्बन्धी कहानियों तथा महापुरुषों के जीवन की घटनाओं के पढ़ने में अभिरुचि दिखाई। उस सब को ध्यान में रखकर पुस्तकों की रचना की गई।

हम लोग भी गत दस वर्षों से इस दिशा में लगे हुए हैं। अपने सूक्ष्म अध्ययन से हम जिन परिणाम पर आये हैं, वह संक्षेप में इस प्रकार है—

१. हमें अवैज्ञानिक साहित्य बच्चों को नहीं देना चाहिए। न ऐसा साहित्य जिसमें विवादास्पद चीजें हों। जैसे पुनर्जन्म, ईश्वर, स्वर्ग, नर्क और भूत-प्रेत की कहानियाँ। ऐसा साहित्य, जो बच्चों के मन में भय उत्पन्न करता है, बच्चों के स्वास्थ्य और पाचन-क्रिया पर घातक प्रभाव डालता है। इसी के कारण बच्चे रात को बिस्तरे पर पेशाब कर देते हैं।

२. ऐसी अवास्तविक कहानियों से बच्चों को दूर रखना चाहिए, जिन्हें पढ़कर सात वर्ष की उम्र के बाद भी वे काल्पनिक जगत् में विचरण करते रहें।

३. बच्चों को ऐसी कहानियाँ तथा साहित्य दिया जाय, जो सत्य के आधार पर लिखा गया हो, भले ही उनमें वर्णित घटनाएँ कल्पित हों। अर्थात् तर्क के द्वारा उसे बच्चों को समझाया जा सके। जैसे जादू के घोड़े के स्थान पर हम एक ऐसे घोड़े की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें एक मशीन लगी हो। बटन दबाते ही घोड़ा आकाश में उड़ सके। यहाँ जादू के घोड़े और कल के घोड़े में यह अन्तर है कि जादू का घोड़ा बच्चे को शेखचिल्ली बनावेगा, जब कि मशीन का घोड़ा उसे इस प्रकार का घोड़ा बनाने की प्रेरणा देगा।

४. ऐसी कविताएँ और कहानियाँ तैयार की जायँ, जो बच्चे के मन में रहने वाले भय, चिन्ता एवं कुसंस्कार-जनित मिथ्या धारणाओं को दूर कर सकें।

५. ऐसी कहानियाँ लिखी जायँ, जिनमें दिखाया गया हो कि लोग जिन्हें भूत-प्रेत समझते थे, वह वास्तव में धोखा था। असत्य था।

६. ऐसी कहानियाँ बड़ी लाभदायक होती हैं, जो बच्चों को विकट परिस्थितियों से बचने की शिक्षा दे सकें।

७. जिन कहानियों से बच्चों को बड़े-बड़े कार्य करने की प्रेरणा मिले, उनकी रचना उपयोगी होती है।

८. ऐसी कहानियाँ लिखी जायँ, जिनमें उपेक्षित बच्चों का चरित्र-चित्रण किया गया हो। उन्हें मेवा-मिठाई, अच्छे कपड़े तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ, जो उन्हें वास्तविक जीवन में नहीं मिलतीं, किसी पात्र द्वारा दिलवाई गई हों। ऐसी कहानियों को पढ़कर उपेक्षित बालक बड़े आनन्द का अनुभव करते हैं।

९. बच्चों को ऐसी कहानियाँ दी जायँ, जो उनमें से हीनता की भावना को दूर करके उनमें आत्म-विश्वास पैदा करें। उनके चरित्र का निर्माण करें।

हमारी अभिलाषा है कि देश के प्रकाशक, लेखक, बच्चों के माता-पिता तथा शिक्षक सामूहिक रूप से विचार करें कि हमारे देश के बच्चों के लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा।

एक ऐसे प्रगतिशील बाल-साहित्य-समालोचक संघ की स्थापना की जाय, जिसका उद्देश्य बाल-साहित्य के लेखकों का पथ-प्रदर्शन और वे जो साहित्य तैयार करें, उसकी खरी आलोचना करना हो। यह संघ बच्चों के हाथ में देने योग्य वैज्ञानिक साहित्य की सूची तैयार करे और अवैज्ञानिक साहित्य के विरुद्ध संगठित रूप से आवाज उठाने की प्रेरणा दे।

इस पुनीत अवसर पर हम साधन-सम्पन्न प्रकाशकों, सुयोग्य लेखकों, समझदार माता-पिता और शिक्षकों को इस दिशा में व्यवस्थित रूप से क़दम उठाने के लिए आमन्त्रित करते हैं। बच्चों पर देश की आशा केन्द्रित होती है और यदि हम अपने देश के बच्चों को योग्य बना सके तो हमारी दशा बदलते देर न लगेगी।

नई दिल्ली]

मैं हूँ नित्य वर्तमान

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम्० ए०

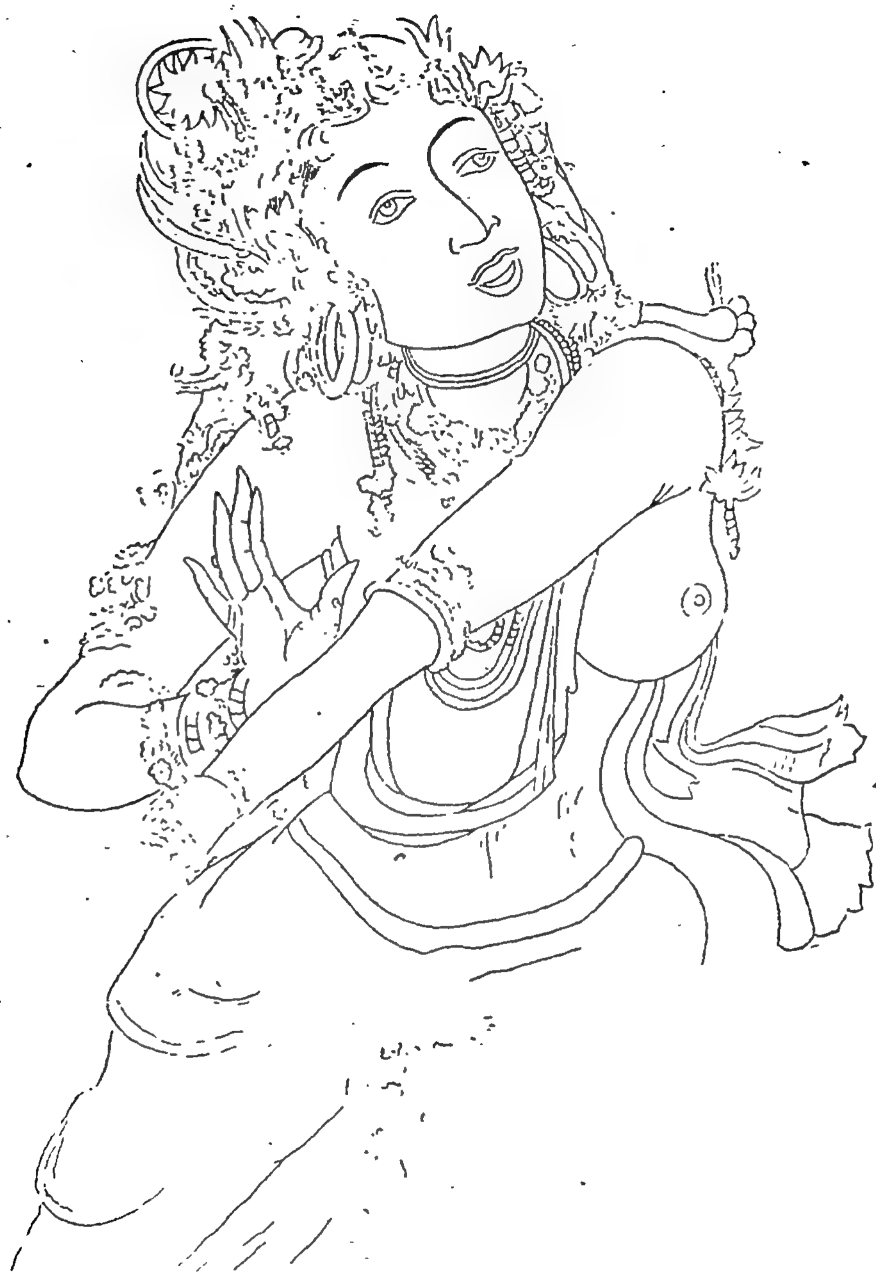
मैं हूँ नित्य वर्तमान, चिरन्तन प्रवर्त्तमान् !
विगत का विषाद कैसा ? अनागत की शंका कैसी ?
जब कि हूँ निश्चित सनातन मैं वर्तमान !

स्मृति के तारों की दूरागत झंकार,
क्षीण-सी टकराती चेतन के रुद्ध द्वार,
होते ही आत्मा-मुक्त, हो जाती हवा-सी वह
खिड़कियों के आरपार।
चिद्रूप में है सब एक-मान, एक-तान।
छाया-चलचित्रों की जगती यह,
क्षण-क्षण नव-नवीन, क्षण-क्षण तिरोमान।
इस सबके अन्तर में, मैं हूँ चिर वर्तमान !

खिड़की से झांक रहा शरद के प्रभात का
यह नीला आसमान,
और इस नीलिमा में अथाह
पीपल की डाल पर पल्लव वे चिकने गोल
खेल रहे डोल-डोल,
नवीन मधु किरणों के झूलन पर
गाते वे अमर गान दिव्य मौन !
इसी नित-नवीन लीलामयता में
मैं तो हूँ एक तान वर्तमान !

इस काल-सागर के तट पर खड़ा बालक-सा
खेल रहा हूँ इन चंचला लहरों को भर-भर अँगुलियों में,
हवा में उछाल देता,
इन चन्द्र-सूर्य, ग्रह-नक्षत्रों पर वार देता।
इन तरंग-फेनों को रंग देता हूँ अपने ही सपनों से !
अपनी ही इस चित्रसारी में अपने को
नित्य मैं बना देता, मिटा देता।
मैं तो हूँ वर्तमान, निरन्तर प्रवर्त्तमान !

इंदौर]



सित्तन्नवासल की नृत्यमुग्धा अप्सरा

हिंदुस्तान में छापेखाने का आरंभ

श्री अनन्त काकावा प्रियोळकर वी० ए०

[इस निवन्ध के विद्वान् लेखक प्राचीन साहित्य की खोज करने वालों में अपना मुख्य स्थान रखते हैं। अब तक इन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। बम्वई यूनीवर्सिटी ने सन् १९३५ में इनके द्वारा सम्पादित रघुनाथ पंडित विरचित 'दमयन्ती स्वयंवर' नामक ग्रन्थ को मराठी में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ मानकर उसके लिए 'तरखड़कर प्राइज़', जो मराठी के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ के लिए दिया जाता है, इन्हें प्रदान किया था। समय-समय पर मराठी एवं गुजराती की साहित्यिक संस्थाओं में इनके व्याख्यान होते रहते हैं। प्राचीन शोध-सम्बन्धी इनके लगभग सौ निवन्ध अब तक पुस्तक रूप में या मासिक पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं।—सम्पादक]

यह वात विलकुल सही है कि जैसे लेखन-कला के प्रचार से ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग सुलभ हुआ है, वैसे ही छापने की कला के प्रचार से यह मार्ग सहस्र गुना अधिक सुलभ और विस्तृत हो गया है। इसलिए छापेखाने का इतिहास जानना आवश्यक है।

मुद्रणकला—छापाखाने—की शोव सवसे पहले चीन में हुई थी। वहाँ सन् १९०० में एक छपी हुई पुस्तक मिली थी, जिसमें छापने की ता० ११ मई सन् ८६८ थी। यह छपाई व्लॉक-प्रिंटिंग में हुई थी। मगर कहा जाता है कि अलग-अलग टाइप वनाने और उनसे छापने की कला का आविष्कार पी० शेंग (Pi Sheng) ने ईस्वी सन् १०४१ से १०४९ के वीच किया था।

यूरुप के छापेखाने के सम्वन्ध में कहा जाता है कि वहाँ छापने की कला की शोध और उसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ था। ईस्वी सन् १४४० के पूर्व चित्रादि लकड़ी के व्लॉक वनाकर छापे जाते थे। टाइप वनाकर उनसे छापने का कव से और कहाँ से आरम्भ हुआ, इस सम्वन्ध में विभिन्न मत हैं। जर्मनी, फ़्रांस, हॉलैंड और इटली इन देशों में से हरेक देश कहता है कि छपाई का आरम्भ हमारे यहाँ से हुआ था। मगर हमें इस वाद-विवाद में पड़ने की ज़रूरत नहीं है।

अधिकांश लोगों का मत है कि सुप्रसिद्ध जर्मन मुद्रक 'जोन गटेनवर्ग' (Johann Gutenberg) ने, जिसका समय १३९८ से १४६८ माना जाता है, टाइप वनाकर छापने की कला का विकास किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि पन्द्रहवीं सदी में जर्मनी में छपाई का श्रीगणेश हुआ।

छापने की कला का प्रवेश हिन्दुस्तान में इसके सौ वरस वाद हुआ। यह वात जेसुइट लोगों के पत्र-व्यवहार से मालूम होती है।* २९ मार्च सन् १५५६ के दिन, जेसुइट मिशन की एक टुकड़ी अवीसीनिया जाने के लिए पुर्तगाल के वेले नामक वन्दर से जहाज़ पर चढ़ी। इसके साथ ही मुद्रणकला का जानकार जुआन द वुस्तामांति (Juan de Bustamante) अपने एक सहयोगी के साथ गोवा जाने वाले जहाज़ पर सवार हुआ। वह ६ सितम्वर सन् १५५६ के दिन गोवा पहुँचा। वह अपने साथ छपाई के आवश्यक सावन लेकर आया था। इसलिए उसने गोवा पहुँचते ही 'सेंटपाल' नामक कॉलेज में छापाखाना खड़ा कर छापने का काम शुरू कर दिया।

६ नवम्वर सन् १५५६ को पाद्रियार्क का लिखा हुआ एक पत्र मिला है। उसमें इस छापेखाने में 'तत्त्वज्ञान का निर्णय' (Conclusoes Philosophicas) नामक ग्रन्थ छपा था, इसका उल्लेख है। उसमें यह भी लिखा है कि सेंट जेवियर कृत 'ईसाई वर्म के सिद्धान्त' (Doutrina Christa) नामक ग्रन्थ छापने का विचार

---

* Rerum Aethiopic Script, Vol.X, pp. 55-61

भी हो रहा था। यह ग्रन्थ सन् १५५७ में छपा था और प्रश्नोत्तर के रूप में मुद्रित हुआ था। इस 'ईसाई धर्म के सिद्धान्त' पुस्तक का उल्लेख फ़ांसिस द सौज नाम के पादरी ने अपने पोर्तुगीज भाषा के ग्रन्थ 'ओरिएँति कोंकिस्तादु-आ जेसुस क्रिस्तु' (Oriente Conquistado a Jesus Christo)† में किया है। परन्तु ये दोनों ग्रन्थ अब नहीं मिलते। मगर गोवा के प्रथम आर्चबिशप दो गास्पार द लियांव ने 'कोंपेंदियु स्पिरितुआल द व्हिद क्रिस्तां'

IESV.

COMPENDIO
SPIRITVAL DA VIDA
Christáa, tirado de mui-
tos autores pello primei-
ro ARCEBISPO de Goa,
e per elle prégado no pri
meiro anno a seus fregue-
ses, pera gloria e hórra de
IESV CHRISTO nosso
SALVADOR, e edi
ficaçam de suas
OVELHAS.

¶ Na seguinte folha se decrara o
conteudo neste Tratado.

कोंपेंदियु पुस्तक का टायटिल पृष्ठ (१५६०)

(Compendio Spiritual da vida Christa) नाम की पुस्तक लिखी थी। वह न्यूयार्क (अमेरिका) की पब्लिक लाइब्रेरी में मौजूद है। वह पुस्तक सेंट पाल कॉलेज गोवा के इसी छापेखाने में सन् १५६० में छपी थी।

इसी तरह इंग्लैंड के ब्रिटिश म्यूजियम में 'कोलोकियुस् दुस सिंप्लिस् इ द्रॉगस्' (Coloquios dos simples e drogas) नामक पुस्तक है। यह भी इसी छापेखाने में सन् १५६३ में छपी थी। इसका विषय वैद्यक-शास्त्र और लेखक गार्सिय द ऑर्त (Garcia de Orta) है।

सेंट पॉल कॉलेज गोवा के छापेखाने में जो पुस्तकें छपी थीं, वे प्रायः इटेलियन या पोर्तुगीज भाषा में थीं। इसलिए भारतीय भाषाओं की दृष्टि से इस छापेखाने का खास महत्त्व नहीं है। इसका महत्त्व इसी में है कि यह हमको भारत में छापेखाने के आरम्भ का इतिहास बताता है।

कुछ समय बाद गोवा के रायतूर (Rachol) के सेंट इग्नेशस कॉलेज में एक छापखाना और आरम्भ हुआ, जिसमें भारतीय भाषाओं में पुस्तकें छपने लगीं।

---

† Con. I, Div. I, para 23.

फ़ादर थोमस स्टिफ़ंस (Father Thomas Stephens) नाम का अंग्रेज़ सबसे पहले हिन्दुस्तान में आया था। इसने 'ओवी'[1] (छन्द विशेष) में 'क्राइस्ट पुराण' नामक ग्रन्थ मराठी भाषा में लिखा। उसमें क़रीब ग्यारह हज़ार ओवियाँ हैं। वह ग्रन्थ सेंट इग्नेशस कॉलेज के छापेखाने में सन् १६१६ ईस्वी में छपा। उसकी भाषा मराठी है; परन्तु अक्षर रोमन लिपि के हैं। उसकी सन् १६४६ में दूसरी और सन् १६५४ में तीसरी आवृत्ति प्रकाशित हुई; परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इन तीन आवृत्तियों में से एक की भी प्रति कहीं नहीं मिलती। मैंने पोर्तुगाल फ्रांस, जर्मनी, रोम और इंग्लैंड में इसकी तलाश की; परन्तु कहीं नहीं मिली। हाँ, इस ग्रन्थ की रोमन, देवनागरी और कन्नड़ी लिपि में बहुत सी हस्त-लिखित प्रतियाँ मिलती हैं।

विएन (Wien) के 'नेशनल बाइब्लिओथिक' (National Bibliothek) नामक सरकारी संग्रहालय में इस ग्रन्थ की देवनागरी में हस्तलिखित प्रति है। इसी तरह लन्दन के 'दी स्कूल ऑव ओरिअंटल स्टडीज़' (The school of Oriental Studies) के संग्रहालय में भी इसकी एक प्रति है। इस ग्रन्थ की चौथी आवृत्ति सन् १८०७ में मि० सालडाना ने प्रकाशित की थी।


IESVS MARIA
ARTE DA
LINGOA CANA
RIM
COMPOSTA PELO PADRE
Thomas estevão da Companhia de
IESVS & accrecentada pello Padre
Diogo Ribeiro da mesma Companhia
E nouamente reuista & emendada por
outros quatro Padres da mesma Com
panhia.
IHS
Com Licença da S. Inquisiçam & Or
dinario
em Rachol no Collegio de S. Ignacio
da Companhia de IESV Anno de
1640.

कानारी व्याकरण का टायटिल पृष्ठ (१६४०)

रायतूर के छापाखाने में सन् १६३४ में एक और ग्रन्थ मराठी भाषा में छपा था। इसका नाम है 'सेंट पिटर पुराण'। इसमें बारह हज़ार के क़रीब ओवियाँ हैं। इसकी एक प्रति गोवे के 'बिब्लिओतेक नासियोनाल' (Biblioteca

[1] महाराष्ट्र के प्रसिद्ध महात्मा ज्ञानेश्वर का धार्मिक ग्रन्थ इसी 'ओवी' छन्द में लिखा गया है। महाराष्ट्र में इनकी ओवियाँ इसी तरह प्रसिद्ध हैं, जिस तरह उत्तर भारत में सन्त कबीरदास की साखियाँ और महात्मा तुलसीदास की चौपाइयाँ।

Nacional) नाम के सरकारी संग्रहालय में है। इस ग्रन्थ के आरम्भ के पच्चीस पृष्ठ नष्ट हो गये हैं। इसलिए यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि इसका बनाने वाला कौन था। मगर इस ग्रन्थ की छपी हुई एक प्रति पुर्तगाल में मिली है। इसीसे यह निश्चित हुआ है कि इसका निर्माणकर्ता 'फ़ादर एतिएन द ला क्रुवा' (Fr. Etienne de la Croix) था और यह सन् १६३४ में रायतूर के छापेखाने में छपी थी।

इसी छापेखाने में छपी हुई एक दूसरी किताब लिस्बन के ग्रन्थ-संग्रहालय में मिली है। यह गोवे की मराठी बोली का व्याकरण है। इसका नाम 'आर्ति द लिग्व कानारी' (Arte de Lingua Canarim) है। इसको फ़ादर स्टिफ़ंस ने बनाया है। इसका मुद्रण काल सन् १६४० है।[1]

लिस्बन के संग्रहालय में तीसरी किताब रायतूर के छापेखाने में छपी हुई और है। वह मराठी भाषा में है। उसका नाम 'ख्रिस्ती धर्म सिद्धान्त' (Doutrina Christa) और बनाने वाला स्टिफ़ंस है। इसका मुद्रण काल सन् १६२२ ईस्वी है।

इसी संग्रहालय में उक्त छापेखाने की छपी हुई चौथी किताब 'सेंट अंटनी का पुराण' है। उसका लेखक 'फ़ादर आन्तोनिय द सालदांज्य' (Fr. Antonio de Saldanha) है। यह सन् १६५५ ईस्वी में छपी थी।

गोवे के सरकारी ग्रन्थ-संग्रहालय में सन् १६५८ ईस्वी की छपी हुई एक और पुस्तक है। उसको 'फ़ादर मिगेल द आलमैंद' (Fr. Minguel de Almeida) ने बनाया है। इसका नाम है 'किसान का बाग़' (Jardim dos Pastores)। इसकी भाषा कोकणी मराठी और लिपि रोमन है।

गोवे के संग्रहालय में सन् १६६० में रायतूर के छापेखाने में छपी 'दैविक आत्मगत भाषण' (Soliloquios Divinos) नामक पुस्तक और है, जिसके कर्त्ता जुआंव द पेद्रोज़ (Joao de Pedroza) हैं। इसकी भाषा कोकणी मराठी और लिपि रोमन है।

पोर्तुगीज़ के धर्म-प्रचारक ईसाई लोगों का मलाबार में भी धर्म-प्रचार का प्रयत्न ज़ोरों से चल रहा था। फ़ादर फ्रांसिस्क द सौज अपने उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में लिखता है कि जुवांव गोंसालविस् (Joao Gonsalves) ने मलाबारी लिपि के टाइप बनाये थे। उसने कन्नड़ी लिपि के टाइप बनाने का भी इरादा किया था; परन्तु अक्षरों की विचित्र आकृति, उच्चारण निश्चित करने की कठिनाई और बोलने वाले लोगों की संख्या की कमी के कारण उसने यह इरादा छोड़ दिया। गोवे के अन्दर बोली जाने वाली मराठी को पोर्तुगीज़ 'कानारी' बोली कहते हैं। प्राचीन काल में मराठी भाषा कन्नड़ी लिपि में भी लिखी हुई मिलती है।

पहले छापेखाने को **'लिहित मंडप'** कहते थे। सन् १६५८ में छपी हुई 'किसान का बाग़' नामक पुस्तक में लिखा है—**"लिहित मंडपीं ठांसिला।"** यह नाम सबसे पहले पोर्तुगीज़ लोगों ने छापेखाने को दिया था। इससे पहले छापने की मशीन का कोई देशी नाम नहीं था।

× × ×

हिन्दुस्तान में छापाखाना प्रारम्भ करने का दूसरा प्रयत्न डेनिश मिशनरियों ने किया। ९ जुलाई सन् १७०६ को 'बारथोलोमेव ज़िजेनबल्ग' (Bartholomew Ziegenbalg) नामक मिशनरी अपने साथी 'हेनरी फुश्चान' (Henry Plutschan) के साथ हिन्दुस्तान में आया। उस समय फ़ेडरिक चतुर्थ राज्य करता था। उसने तंजावर के पास आकर ट्रांक्वेबार (Tranquebar) में ईसाई धर्म-प्रचार करने का काम आरम्भ किया। शुरू-शुरू में उसे बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं; परन्तु पीछे उसको सफलता प्राप्त होने लगी। उसने 'तानावड़ी' नामक प्रसिद्ध तामिल कवि को ईसाई बनाया। इस कवि ने तामिल भाषा में महात्मा ईसा का पद्य में जीवनचरित लिखा।

---

[1] इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए लेखक की 'मराठी व्याकरणाची कुलकथा' नामक पुस्तक देखिए।

यह मिशन मार्टिन लूथर के अनुयायी प्रोटेस्टेंट लोगों का था। इसलिए डेन्मार्क की तरह जर्मनी व इंग्लैंड के प्रोटेस्टेंट लोगों ने इस मिशन की सहायता की। वहाँ से 'जॉन फ़िन्के' (Jonas Fincke) नामक प्रेसमैन (Pressman) छापाखाना, टाइप और कुछ पोर्तुगीज भाषा में छपी हुई 'नये करार' की पुस्तकों के साथ हिन्दुस्तान भेजा गया। मगर ब्रेज़िल के पास फ्रेंच लोगों ने उस जहाज़ पर हमला किया, जिसमें फ़िन्के आ रहा था। फ़िन्के युद्ध-बन्दी की तरह पकड़ा गया। कुछ समय के बाद वह छोड़ दिया गया। मगर दुर्भाग्य से वह रास्ते में ही ज्वर से पीड़ित होकर मर गया। छापाखाना हिन्दुस्तान में आया; परन्तु उसको चलाने वाला कोई न था।

कुछ दिन बाद मालूम हुआ कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की फ़ौज में एक सिपाही है। वह मुद्रणकला की कुछ जानकारी रखता है। वह बुलाया गया और उसकी सहायता से छापाखाना खड़ा किया गया। इसमें कुछ धार्मिक पुस्तकें, प्रश्नोत्तर के रूप में और प्रार्थना के रूप में छापी गईं। उनमें से एक भी पुस्तक अब नहीं मिलती।

इसी मिशन में 'फ़्रेडरिक स्क्वार्ट्ज़' (Frederick Schwartz) नामक एक पादरी था। उसने प्रयत्न करके तंजावर के राजा सरफ़ौजी से उसकी राजधानी में एक छापाखाना क़ायम कराया। इस छापेखाने में मराठी और संस्कृत भाषा में पुस्तकें छापी गईं। ब्रिटिश म्यूज़ियम में मराठी भाषा में छपी हुई 'ईसप-नीति' नाम की सचित्र पुस्तक है। इसका अनुवाद सरफ़ौजी महाराज के मुख्य मन्त्री सखण्णा पंडित ने किया था। इसकी एक प्रति सरफ़ौजी महाराज ने 'सर अलेक्ज़ेंडर जॉनस्टोन' को, जब वे तंजावर गये थे, भेंट में दी थी।[1]

इससे स्पष्ट है कि यह पुस्तक सन् १८१७ के पूर्व किसी समय तंजावर के छापेखाने में छपी थी।

तंजावर के 'सरस्वती महल' पुस्तकालय में इस छापेखाने में छपे हुए माघकाव्य, कारिकावली, व मुक्तावली नाम के संस्कृत ग्रन्थ मौजूद हैं।[2]

ये मूल ग्रन्थ न तो मैंने देखे हैं, न उनका कोई छाया-चित्र ही मेरे पास है। इसलिए उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; परन्तु इतना तो ज्ञात है ही कि छपाई ब्लॉक-प्रिंटिंग नहीं है, टाइप-प्रिंटिंग है। इस कथन का आधार यह है जिस 'ईसप नीति' का ऊपर ज़िक्र किया है, उस पर हाथ से लिखा है, "The present Raja of Tanjore....procured a printing press from England, established it in his own palace and had a great many of the Brahmins, who held appointments near his person, instructed in printing with Marathi and Sanskrit types."[3]
(अर्थात्—तंजावर के वर्तमान राजा ने इंग्लैंड से एक प्रेस मँगवा कर अपने महल में खड़ा किया। उसके लिए कई आदमी (ब्राह्मण) रक्खे। उन्होंने मराठी और संस्कृत टाइपों में छापना सिखाया।)

सम्भवतः यह वह प्रति होगी जिसे सरफ़ौजी महाराज ने 'सर एलेक्ज़ेंडर जॉनस्टोन' को भेंट किया था और इसमें सर एलेक्ज़ेंडर ने स्वयं या उसके अन्य किसी व्यक्ति ने उपर्युक्त बात लिख दी होगी। फिर उसे ब्रिटिश म्यूज़ियम को भेंट कर दिया होगा।

सरफ़ौजी महाराज की तरह ही पेशवाई के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'नाना फड़नवीस' ने मुद्रण-कला की तरफ़ लक्ष किया था। उस समय लहिए ग्रन्थ लिखकर बेचते थे। ग़रीब ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं ख़रीद सकते थे। इसलिए धनिक लोग ग्रन्थ ख़रीदते थे और ब्राह्मणों को दान में देते थे। जब 'नाना फड़नवीस' ने अंग्रेज़ी में छपे ग्रन्थ देखे तब उनके मन में भी नागरी अक्षर बनवा कर उनमें गीता छपवाने की इच्छा जाग्रत हुई। उन्होंने नागरी ब्लॉक तैयार करने

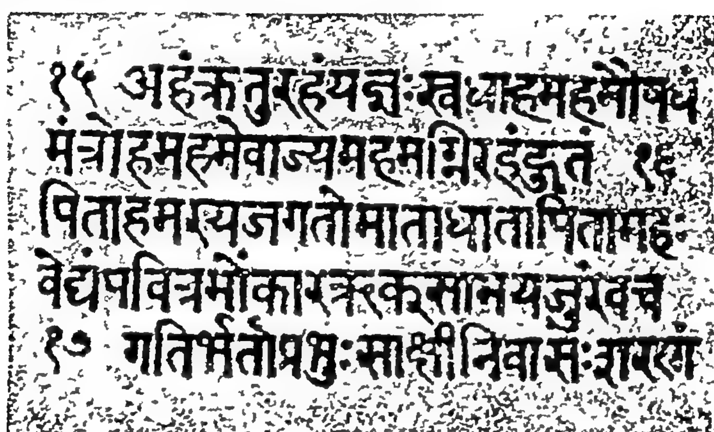
---

[1] History of Modern Marathi Literature by *G.C. Bhate* 1939; p. 65.

[2] The journal of the Tanjore Saraswati Mahal Library, Vol. I, No. 2, 1939-40, p. 17.

[3] History of Modern Marathi Literature, p. 65.

को कारीगर नियुक्त किया; परन्तु यह काम अभी पूरा नही हुआ था कि दूसरे बाजीराव राजा हुए और 'नाना फड़नवीस' को पूना छोड़ना पड़ा। कारीगर विचारा निराश हुआ। मगर भाग्य से उसकी मीरज के गुणग्राही राजा श्रीमन्त गंगाधर राव गोविन्द पटवर्धन से भेंट हो गई। उन्होंने कारीगर को आश्रय दिया और गीता छापने का काम सन् १८०५ ईस्वी में पूरा हुआ। गीता की छपी हुई प्रति और जिन ब्लाकों से वह छापी गई थी वे ब्लॉक अब भी मीरज रियासत के संग्रहालय में मौजूद है।[1] कारीगर अंग्रेजी जैसा टाइप नही बना सका था। इसलिए उसने एक तांबे के पत्र में अक्षर खोदे, फिर उस पत्रे को दूसरे तांबे के पत्रे में उल्टा जड़ा। उन्हें लकड़ी के प्रेस में ठोंका और फिर लाख की स्याही से छापा।


१६ अहंक्रतुरहंयज्ञःस्वधाहमहमौषधं
मंत्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहंहुतं १६
पिताहमस्यजगतोमाताधातापितामहः
वेद्यंपवित्रमोंकारऋक्सामयजुरेवच
१७ गतिर्भर्ताप्रभुःसाक्षीनिवासःशरणं

गीता—जिसके मुद्रण का आदेश नाना फड़नवीस ने दिया था। (ब्लाक प्रिंटिंग—१८०५)

ई० स० १६७८ में ब्लॉक-प्रिंटिंग से छपा हुआ एक देवनागरी अक्षरों का लेख 'होरटस इंडिकस, मलाबारीकस' (Hortus Indicus Malabaricus) नामक लेटिन भाषा की पुस्तक के एक खंड में है। यह लेख कोकण की मराठी बोली में, कुछ पंडितों द्वारा लिखा हुआ प्रमाणपत्र है। यह ऐसा दिखाई देता है कि जैसे ज़िंक का ब्लॉक बनाकर छापा गया हो। ग्रन्थ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बई के संग्रहालय में है।

उन्नीसवीं सदी में छपे हुए देशी भाषा के अनेक पुराने ग्रन्थ लियो-प्रेस में छपे हुए मिलते हैं। इससे अनेक लोग यह समझने लगे हैं कि लियोग्राफ़-प्रिंटिंग टाइप-प्रिंटिंग की प्रथमावस्था है। मगर यह बात ठीक नही है। कारण, 'लियोग्राफ़ी' (Lythography) की शोध तो सन् १७९६ में 'स्टीनफ़ेलडर' (Stenefelder) ने, जब वह फोटोग्राफ़ी के आविष्कार में लगा हुआ था, की थी। टाइप-प्रिंटिंग की छपाई तो पहले से ही प्रारम्भ हो गई थी। आरम्भ में टाइप-प्रिंटिंग की अपेक्षा लियो-प्रिंटिंग अधिक फैला। इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें टाइप की कठिनतो नही थी। गुजरात में लियो-प्रेसों का प्रचार अधिक हुआ था।

पोर्तुगीज या डेनिश मिशनरियों ने मुद्रणकला-प्रसार का प्रयत्न किया था। इनके सिवा एक दूसरे महानुभाव ने भी इसका प्रयत्न किया था।

भीमजी पारख नाम के एक गुजराती सज्जन ने सन् १६७० ईस्वी में कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स से प्रार्थना की कि हमें ब्राह्मण-ग्रन्थ छापने हैं। इसलिए एक मुद्रक, छापाखाना और टाइप भिजवा दीजिए। तदनुसार 'हेनरी हिल'

---

[1] अधिक जानकारी के लिए रावबहादुर द० ब० पारसनीस और रा० सुन्दरराव वैद्य के 'नवयुग' (जून १९१५, पृ० ५६३ व जून १९१६, पृ० ६२८) में प्रकाशित लेख देखिये।

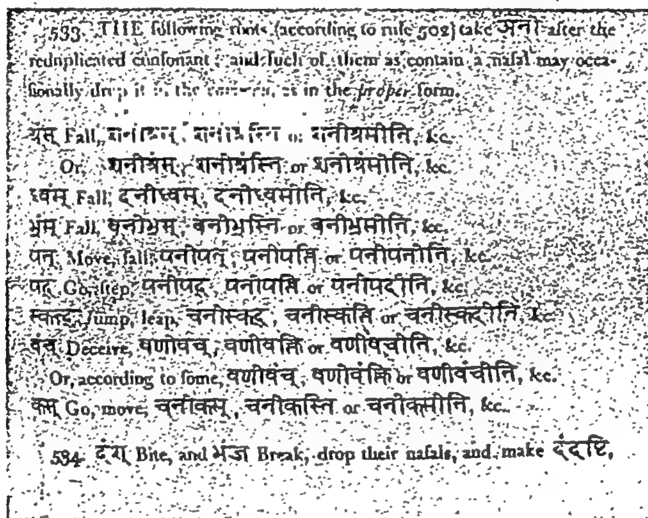
नामक एक अंग्रेज़ बम्बई भेजा गया। परन्तु उसके साथ टाइप फ़ाउंडरी न थी। इसलिए वह यहाँ के (Banian type) बनिया टाइप[1] न बना सका। अतः कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स से फिर प्रार्थना की गई और उन्होंने एक टाइप फ़ाउंडरी भिजवाई।

उपर्युक्त समाचार 'दी टाइम्स ऑव इंडिया' के ६ जनवरी सन् १९३४ के अंक में मि० आर० वी० पे मास्टर ने प्रकाशित किया था, परन्तु इस छापेखाने में कौन-कौन-सी पुस्तकें छपीं, इसका पता आजतक नहीं चला।

इसके बाद क़रीब सौ बरस तक मुद्रणकला के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान में कोई प्रयत्न हुआ हो, ऐसा मालूम नहीं होता।

सन् १७७७ में रुस्तम जी कर्सा जी ने बाज़ार स्ट्रीट फ़ोर्ट बम्बई में एक छापाखाना शुरू किया और उसमें सन् १७८० ईस्वी का बम्बई पंचांग (Bombay Almanac) छापा।[2]

लगभग इसी समय बंगाल में छापाखाना शुरू किया गया और उसमें मि० नेथेनिएल हालहेड (Mr. Natheniel Halhed) का बंगाली व्याकरण छापा गया। यह बात उसके मृत्यु-लेख में दी गई है।[3]



533. THE following roots (according to rule 502) take अनी after the reduplicated consonant; and such of them as contain a nasal may occasionally drop it in the [illegible], as in the *proper* form.

ग्रंस् Fall, [illegible], [illegible] or धनीग्रमीति, &c.
Or, धनीग्रंस्, धनीग्रंस्ति or धनीग्रंसीति, &c.
ध्वंस् Fall, दनीध्वस्, दनीध्वसीति, &c.
भ्रंस् Fall, बनीभ्रस्, बनीभ्रस्ति or बनीभ्रसीति, &c.
पत् Move, fall, पनीपत्, पनीपत्ति or पनीपतीति, &c.
पद् Go, step, पनीपद्, पनीपत्ति or पनीपदीति, &c.
स्कन्द् Jump, leap, चनीस्कद्, चनीस्कत्ति or चनीस्कदीति, &c.
वञ्च् Deceive, वनीवच्, वनीवक्ति or वनीवचीति, &c.
Or, according to some, वनीवंच्, वनीवंक्ति or वनीवंचीति, &c.
कस् Go, move, चनीकस्, चनीकस्ति or चनीकसीति, &c.

534. दंश् Bite, and भंज Break, drop their nasals, and make दंदष्टि,

संस्कृत भाषा का व्याकरण (१८०८)

इस व्याकरण को छापने में जिस टाइप का उपयोग किया गया था, वह मि० चार्ल्स विल्किन्स (फिर वे 'सर' हो गये थे) के बनाये हुए मेट्रिसेज़ से तैयार किया गया था।[4] कहा जाता है कि देशी भाषा में छपी हुई यह सर्वप्रथम पुस्तक है।

विल्किंस ने भगवद्गीता का भी इंग्लिश अनुवाद किया था। हिन्दुस्तान ही में दो कारीगरों की सहायता से विल्किंस ने देवनागरी टाइप भी तैयार किया, परन्तु अचानक उसके कार्यालय में आग लग गई। इसलिए उसका

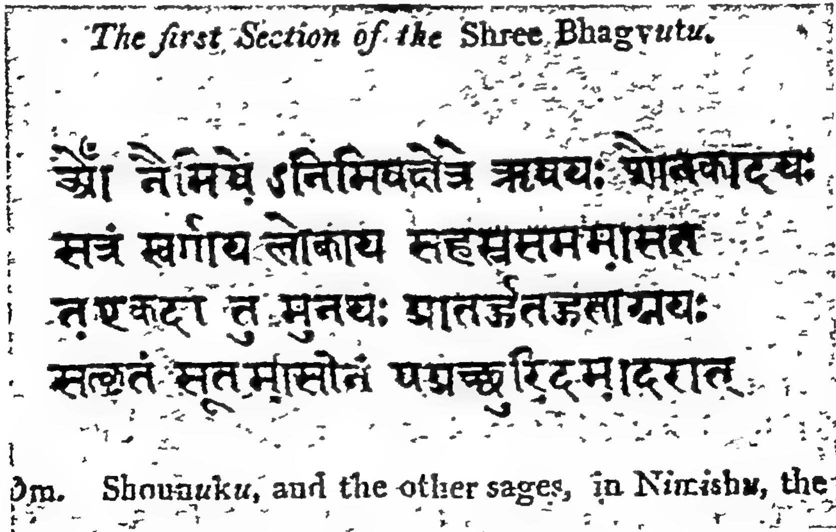
---

[1] सम्भवतः बनिया टाइप से अभिप्राय गुजराती टाइप से है।
[2] The Bombay Calendar and Almanac 1856.
[3] The Friend of India, 19th August 1838.
[4] इसीलिए मि० विल्किंस को केक्सटन ऑव इंडिया (The Caxton of India) कहते हैं।

वह टाइप खराब हो गया और वह इस टाइप में यहाँ कोई पुस्तक न छाप सका। परन्तु वह 'पंच' और 'मेट्रिस' इंग्लैंड ले गया। वहाँ उसने देवनागरी टाइप ढाला और उससे उसने अपनी पुस्तक 'संस्कृत भाषा का व्याकरण' (A Grammar of the Sanskrit Language) सन् १८०८ में लन्दन में छापी। यह किताब ईस्ट इंडिया कॉलेज, हॉर्टफ़ोर्ड (The East India College at Hertford) के संचालकों के उत्साह से प्रकाशित कराई गई थी। यह तैयार तो भारत में ही कर ली गई थी, मगर यहाँ छप नहीं सकी। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने व्याकरण की प्रस्तावना में किया है।

जिन दो सहायकों का मि० विल्किन्स ने अपनी प्रस्तावना में निर्देश किया है वे पंचानन और मनोहर थे। उन्हें टाइप बनाने की कला प्राप्त हुई थी। मगर उस कला का उपयोग वे स्वयं करने में असमर्थ थे। उनको विल्किस के जैसे किसी नियोजक की आवश्यकता थी। सौभाग्य से उन्हें डा० विलियम केरी नाम का एक सद्गृहस्थ मिला। यदि उन्हें डा० केरी न मिला होता तो सम्भव था कि यह कला दोनों कारीगरों के साथ ही चली जाती और कई वर्ष तक हिन्दुस्तान में मुद्रणकला का प्रचार न होता।

डा० केरी मिशनरी था। वह सन् १७९३ में हिन्दुस्तान आया। उसका मुख्य उद्देश्य भारत में ईसाइयों के प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ 'शुभवर्तमान' का प्रचार करना था। उसको संस्कृत, बंगाली, मराठी इत्यादि देशी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता में भी वह देशी भाषाएँ सिखाने का प्रोफ़ेसर नियुक्त हुआ। जिस समय वह इस विचार में था कि किसी तरह देशी भाषाओं के टाइप ढाले जायँ और उसमें बाइबिल छापी जाय, उसी समय में उसकी पंचानन से मुलाक़ात हुई और सीरामपुर के छापेखाने का उद्योग शुरू हुआ। सन् १८०७ में प्रकाशित 'अनुवाद के संस्मरण' (A memoir relative to the translations) नामक पुस्तक में डॉ० केरी ने लिखा है—


The first Section of the Shree Bhagvutu.

ओं नैमिषे ऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत
त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्

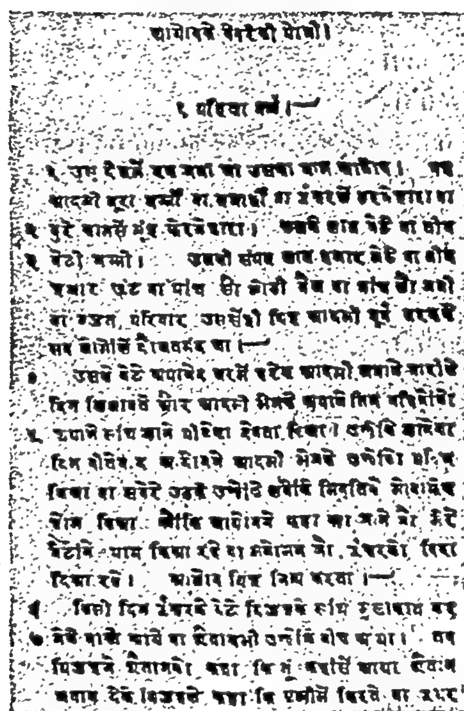
Om. Shounuku, and the other sages, in Nimishu, the

डा० केरी के संस्कृत भाषा का व्याकरण

हमने सीरामपुर में काम आरंभ किया। उसके कुछ ही दिन बाद, भगवान् की दया से हमें वह आदमी मिला जिसने मि० विल्किस के साथ टाइप बनाने का काम किया था और जो इस काम में होशियार था। उसकी मदद से हमने एक टाइप फ़ाउंडरी बनाई। यद्यपि वह अब मर गया है; परन्तु वह बहुत से दूसरे आदमियों को यह काम सिखा गया है और वे टाइप बनाने का काम किये जा रहे हैं। इतना ही नहीं, वे मेट्रिसेज़ भी बनाते हैं। वे इतनी

ठीक होती हैं कि यूरोपियन कारीगरों की बनावट से समता करती हैं। इन्होंने हमारे लिए बंगाली के तीन-चार फ़ाउंट बनाये हैं। अब हमने उनको वर्तमान टाइप की साइज़, ½ जितनी कम करने के काम में लगाया है। उनके तैयार होने से वह ½ जितना होगा। उससे काग़ज़ की बचत होगी और पुस्तक भी छोटी हो जायगी। मगर इस बात का पूरा ख़याल रखा जायगा कि अक्षर ऐसे बनें जो छपने पर साफ़-साफ़ पढ़े जा सकें।

हमने देवनागरी अक्षरों का भी एक फ़ाउंट बनाया है। इसके अक्षर हिन्दुस्तान में सबसे सुन्दर हैं। इसमें क़रीब १००० भिन्न-भिन्न अक्षरों का समूह है। इसको बनाने में केवल १५०० रुपया ख़र्च हुए हैं। इस ख़र्च में टाइप ढालने की और दूसरी चीज़ों की क़ीमत शामिल नहीं है।



धर्म-पुस्तक (सुधरा हुआ टाइप)

डॉ० केरी ने संस्कृत व्याकरण प्रकाशित कराया। उसका देवनागरी टाइप मोटा और ऊबड़-खाबड़ है। सम्भवतः यह उसका पहला प्रयत्न था। सुधारे हुए टाइपों का उपयोग उसने बाइबिल के हिन्दी अनुवाद में किया है, ऐसा इसकी छपाई से मालूम होता है।

यद्यपि विल्किंस ने देशी भाषाओं के टाइप बनाने का कार्य आरम्भ किया था; परन्तु टाइपों के सुधार और प्रचार का परिणाम तो डॉ० केरी का उद्योग ही है। नीचे उसके द्वारा प्रकाशित बाइबिलों के अनुवादों की सूची[1] प्रकाशन-सन् के साथ दी जाती है। उससे उसके महान् उद्योग की पाठक कल्पना कर सकेंगे—

---

[1] The Life of William Carey by George Smith, 1887, p. 213.

सन्	क़रार	भाषा	सन्	क़रार
१८०१	नया करार	बंगाली	१८०२-९	जूना करार
१८११	,, ,,	उड़िया	१८१६	,, ,,
१८२८	,, ,,	मागधी	×	×
१८१५-१६	,, ,,	आसामी	१६३२	जूना करार
१८२४	,, ,,	खासी	×	×
१८१४-२४	,, ,,	मणिपुरी	१८११-१८	जूना करार
१८०८	,, ,,	संस्कृत	×	×
१८०९-११	,, ,,	हिन्दी	१८१३-१८	जूना करार
१८२२-३२	,, ,,	व्रजभाषा	×	×
१८१५-२२	,, ,,	क़न्नौजी	×	×
१८२०	नया करार	खोसाली (इसमें केवल मेथ्यु की वातचीत (Gospel) ही छपी है।)		
१८२२	,, ,,	उदयपुरी		
१८१५	,, ,,	जयपुरी		
१८२१	,, ,,	वघेली (Bhungeli)		
१८२१	,, ,,	मारवाड़ी		
१८२२	,, ,,	हाड़ोती		
१८२३	,, ,,	वीकानेरी		
१८२३	,, ,,	उज्जैनी (मालवी)		
१८२४	,, ,,	माटी		
१८३२	,, ,,	पालपा		
१८२६	,, ,,	कुमायूं		
१८३२	,, ,,	गढ़वाली		
१८२१	,, ,,	नेपाली		
१८२१	,, ,,	मराठी	१८२०	जूना करार
१८२०	,, ,,	गुजराती		
१८१९	,, ,,	कोकनी मराठी	१८२१	(Penta tench)
१८१५	नया करार	पंजावी	१८२२	(Penta tench)
१८१९	,, ,,	मुल्तानी		
१८२५	,, ,,	सिन्धी (केवल मेथ्यु का वार्तालाप)		
१८२०	,, ,,	काश्मीरी (,, ,, ,,)		
१८२०	,, ,,	डोंगरी (,, ,, ,,)		
१८१९	,, ,,	पश्तो		
१८१५	,, ,,	वलूची		
१८१८	,, ,,	तेलगू		
१८२२	,, ,,	कानड़ी		

डॉ० केरी ने केवल बाइबिल के अनुवाद ही प्रकाशित नहीं किये थे, बल्कि उसने भिन्न-भिन्न भाषाओं के व्याकरण, कोश, लोक-कथा आदि ग्रन्थ भी हिन्दुस्तान के विद्वानों की सहायता से छापे थे।

सीरामपुर प्रेस में बाइबिल के सिवाय नीचे लिखी मराठी पुस्तकें भी मुद्रित हुई हैं—

सन्	पुस्तक का नाम
१८०५	मराठी भाषा का व्याकरण
१८०७	मंगल समाचार
१८१०	मराठी-इंग्लिश कोश
१८१४	सिंहासन बत्तीसी
१८१५	हितोपदेश
१८१६	राघोजी भोंसले की वंशावली
	प्रतापादित्य का चरित्र

हितोपदेश (१८१५)

मराठी भाषा में पुस्तकें प्रकाशित कराने के काम में उसे नागपुर के वैजनाथ नामक पंडित की पूरी सहायता मिली थी।

मराठी भाषा देवनागरी अक्षरों में ही लिखी जाती है। इसलिए इसमें ही मराठी पुस्तकें छपी थीं; परन्तु महाराष्ट्र में लिखने के व्यवहार में अधिक प्रचलित 'मोडी' अक्षरों के टाइप भी उसने बनवाये। इसका कारण उसने स्वयं बताया है —

"यद्यपि महाराष्ट्र के पढ़े-लिखे लोग देवनागरी अच्छी तरह जानते हैं तथापि व्यापारी लोगों में ये (मोडी) अक्षर अधिक प्रचलित हैं। ये देवनागरी से आकृति में छोटे और रूप में कुछ भिन्न हैं। संख्या इन अक्षरों की देवनागरी के समान ही है। हमने इस (मोडी) टाइप का एक फ़ाउंट बनवाया है और इसमें मराठी का 'नया क़रार' और मराठी कोश छपाना शुरू किया है। ये टाइप सुन्दर, स्पष्ट और मध्यम आकृति के हैं।"

(21)

बनिया गुजराती (पहला कॉलम) और मोडी मराठी
(दूसरा कॉलम) टाइप के नमूने

पंचानन की मृत्यु के बाद उसके साथ काम करने वाला मनोहर लुहार उसकी जगह काम करने लगा। मनोहर एकनिष्ठ हिन्दू था। वह अपने आराध्य देव के सामने बैठकर ही टाइप बनाने का काम कर सकता था। अन्यत्र उससे काम नहीं होता था। इस बात का सन् १८३९ में रे० जेम्स ने उसकी स्थिति देखकर उल्लेख किया है।

सीरामपुर में अपने प्रेस के लिए ही टाइप नहीं ढाले जाते थे, बल्कि दूसरे प्रेसों के लिए भी यहीं से टाइप ढालकर भेजे जाते थे। सन १८६० तक पूर्व में सीरामपुर की फ़ाउंडरी ही मुख्य थी।

विल्किंस और पंचानन हिन्दुस्तान में मुद्रण-कला के आद्य प्रवर्तक हैं और पूर्व में उन्होंने इसका आरंभ किया था; परन्तु अन्य प्रान्तों में यह कला कब और कैसे फैली, खास करके भारतीय लोगों के हाथ में यह काम कब आया, इसकी जानकारी मनोरंजक होगी। यद्यपि इसका पूर्ण इतिहास उपलब्ध नहीं है, तथापि जो जानकारी प्राप्य है, वह यहाँ दी जाती है।

बम्बई में सन् १८१७ ईस्वी में 'सेंट मेथ्यू का शुभ वर्तमान' नामक पुस्तक मराठी भाषा में छपी। इसका प्रकाशक अमेरिकन मिशन था। इसमें जो टाइप है, कहा जाता है, वह सीरामपुर की टाइप फ़ाउंडरी से लाया गया था। मगर सन् १८१६ में सीरामपुर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'जूना करार' और सन् १८१७ में अमेरिकन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'सेंट मेथ्यू का शुभ वर्तमान' दोनों के टाइपों में बहुत फ़र्क़ है। सम्भव है, इसके लिए खास तरह से अलग टाइप बनवाया गया हो।

बम्बई में टामस ग्रेहम ने सन् १८३६ में रामजी व जीवनवल्लभ नाम के लुहार कारीगरों से देवनागरी टाइप बनवाया था और फिर धीरे-धीरे गुजराती टाइप भी। मगर इनका कोई नमूना आज सुलभ नहीं है। हाँ, कुरियर

जो पुरुष दुसऱ्याचों अदेखायों करिननाहीं-कोणावोही ज्यास दया येते-आपण दुर्बळ असोन समर्थाचा आव घालित नाहीं-कोणीहो वाईट वो लिला तथापि साहतो-असा पुरुष प्रशंसेस योग्य होतो—जो उद्धटपणा करिस नाहीं-आपला थो रपणा पुढेंकरून दुसऱ्याचा तिरस्कार करित नाहीं-कोणास कठिण बोलत नाहीं-अशा पुरुषावें सर्वलोक हितंव करिताहेत

जो मागें पडलेलें वैर पुनः उत्पन्न करित ना

विदुर नीति (नागरी लिपि में मुद्रित प्रथम मराठी पुस्तक—१८२३)

प्रेस बम्बई में सन् १८२३ में देवनागरी अक्षरों में छपी हुई 'विदुरनीति' और सन् १८२४ में छपी हुई 'सिंहासनबत्तीसी'

नक़्लियात

नक़् १-१-।

ऐक बादशाह ने अपने वज़ीर से पूछा कि सब मे विहतर मेरे हक़ में क्या है; अर्ज़ की कि अद्ल करना और रईयत का पालना ·

ऐक शख़्स ने ऐक को कहा कि तू तो आगे मुहताज था - ऐसा क्या काम किया जो दौलत मंद होगया। जवाब दिया कि जो कोइ अपने आक़ा की ख़ैरख़ाही करेगा - सो थोड़े दिनों में माल दार होगा

२-५-3

ऐक ने किसी से पूछा कि आगे तू बहुत ग़रीब

प्रथम हिन्दी पुस्तक, जो इंग्लैंड में नागरी लिपि में छपी

उपलब्ध है। ये टाइप विल्किंस की फ़ाउंडरी के हैं। सम्भवतः कुरियर प्रेस ने ये टाइप इंग्लैंड से मँगवाये होंगे।

इस तरह देशी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद यह स्वाभाविक था कि देश में समाचार-पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हो और वह हुआ भी।

हिन्दुस्तान में सबसे पहला समाचार-पत्र अंग्रेज़ी में निकला। उसका नाम था 'बेंगाल-गैज़ेट' (Bengal Gazette)। इसका प्रथम अंक २९ जनवरी सन् १७८० के दिन निकला था। यह साप्ताहिक था। इसके सम्पादक मि० हिकी (Hickey) थे। यह पत्र प्रायः इसके सम्पादक के नाम से ही पहचाना जाता था।

इसके बाद बंगाल में 'बंगाल हरकरू' इत्यादि पत्र प्रकाशित हुए।

इसी तरह बम्बई में सन् १७९० में 'गैज़ेट' (Gazette) और सन् १७९१ में 'कोरियर' (Courier) प्रकाशित हुए।

इन्हीं इंगलिश पत्रों को देखकर सन् १८१८ में बँगला भाषा में 'समाचारदर्शन', सन् १८२२ में गुजराती भाषा में 'मुम्बई समाचार' सन् १८२६ में हिन्दी भाषा में 'उदन्त मार्तंड', और सन् १८३२ में मराठी भाषा में 'दर्पण' पत्र प्रकाशित हुए।

सरकार ने जब शिक्षा का आरम्भ किया तब शिक्षोपयोगी, भाषा, गणित, इतिहास और भूगोल इत्यादि विषयों की पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगीं।

इस तरह छपी पुस्तकों और पत्रों का प्रचार देखकर पुराण-पन्थी चौंक उठे। उन्होंने छपी पुस्तकों और पत्रों का विरोध आरम्भ किया। इस विरोध का कारण सम्भवतः यह था कि इस छापे के आद्य प्रचारक मिशनरी थे। इस लिए उन्हें छपे काग़ज़ों में ईसाई-धर्म के प्रचार की बू आने लगी। श्रीयुत गोविन्द नारायण माडगाँवकर ने अपनी पुस्तक 'मुम्बई वर्णन', जो सन् १८६३ में प्रकाशित हुई थी, के पृ० २४८ पर लिखा है:

हमारे कुछ भोले व नैष्ठिक ब्राह्मण छपे काग़ज़ का स्पर्श करते डरते थे और आज भी (सन् १८६३ में भी) डरते हैं। बम्बई में और बम्बई से बाहर भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो छपी हुई पुस्तक को पढ़ना तो दूर रहा, छपे काग़ज़ का स्पर्श तक नहीं करते हैं।

लोगों की कल्पना थी कि स्याही में चरबी का प्रयोग किया जाता है, जो वर्जित है। इसलिए उस स्याही से छपी हुई पुस्तकें अमंगलकारी हैं।

छापना जब अनिवार्य समझा जाने लगा तब कुछ लोगों ने स्याही में घी का उपयोग करने की हिमायत की। गत शताब्दी के अन्त में पत्रों में 'तूपाचे (घी का) गुरुचरित्र' हैडिंग वाले विज्ञापन प्रकाशित होते थे, जिनसे यह बात प्रमाणित होती है कि लोग सचमुच ही चरबी की जगह स्याही में घी का उपयोग करते थे। "गुरुचरित्र" मराठी भाषा का एक धार्मिक ग्रन्थ है। उसका चरबी की स्याही में छपना गुनाह माना गया। इसीलिए वह घी की स्याही में छापा गया।

सुना जाता है कि जैन-लोगों में भी ऐसी ही भावना थी। कलकत्ते में क़रीब बीस बरस पहले पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल ने एक 'जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी' संस्था क़ायम की थी। उसने अपना एक प्रेस आरम्भ किया। उस प्रेस में कहीं भी चरबी या दूसरी ऐसी चीज़ों का उपयोग नहीं किया जाता था, जो जैन-दृष्टि से अशुद्ध मानी जाती हों। वे उन चीज़ों की जगह किसी वनस्पति से बनी चीज काम में लाते थे और ग्रन्थ छापते थे।

भारतियों के हृदयों में भी स्वतन्त्र रूप से छापाखाने चलाने की इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनकी यह इच्छा पूरी भी हुई। सर्व-प्रथम गणपत कृष्णाजी ने छापाखाना आरम्भ किया। ये पहले एक अमेरिकन मिशनरी प्रेस में प्रेसमैन थे। वहीं इन्होंने मुद्रणालय से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातें सीखी थीं। इनके सम्बन्ध में गो० ना० माडगाँवकर ने अपनी पुस्तक 'मुम्बई वर्णन' में लिखा है—

"....अमेरिकन मिशनरियों ने सन् १८१३ में छापाखाना शुरू किया। लियो प्रेस में ईसाई-धर्म से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तकें छपीं। इन्हें देखकर परलोक-गत भंडारी जाति के 'गणपत कृष्णाजी' के मन में (सन्

१८४०) आया कि मैं भी इसी तरह का एक छापखाना आरंभ कर हिन्दू-धर्म से सम्बन्ध रखने वाली तथा अन्य पुस्तकें छापूं, परन्तु न तो छापने के साधन उनके पास थे और न बम्बई में उस समय उसके साधन मिलते ही थे। इसलिए उन्होंने खुद अमेरिकन प्रेस देखकर उसके जैसा प्रेस बनाने का उद्योग आरम्भ किया।....प्रारम्भ में उन्होंने एक लकड़ी का साँचा तैयार किया और इधर-उधर से छापने लायक़ पत्थर के छोटे टुकड़े जमा करके उन पर अक्षर कैसे उठते हैं यह जाँच की। मगर छापने को स्याही नहीं थी। इसलिए स्याही तैयार करने के काम में लगे। अनेक तरह के एक्सपेरिमेंट (प्रयोग) के बाद वे स्याही बनाने में सफल हुए। उसके बाद उन्होंने लोहे का एक प्रेस बनवाया। फिर छापने का पत्थर खरीद कर छोटी-छोटी पुस्तकें छापने का काम आरम्भ किया। शके १७६३ (सन् १८४१) में उन्होंने स्वतः लिखकर मराठी पंचांग छापकर प्रकाशित किया। उसकी क़ीमत आठ आने रक्खी। यह साफ़ छपा हुआ था। ज्योतिष की अनेक बातें उसमें तुरन्त मिल जाती थीं। यह देखकर ब्राह्मण लोग, यद्यपि छपी पुस्तकों के विरोधी थे, लेकिन इस पंचांग को खरीदने लगे और उसीसे संवत्सर प्रतिपदा (चैत्र सुदी १) के दिन वर्ष-फल पढ़कर लोगों को सुनाने लगे।

"इन्होंने अपने छापाखाने में छपी हुई कुछ पुस्तकें ले जा कर डॉ० विलसन, पादरी गेरेट और पादरी आलन को बताईं। पुस्तकें देखकर उन लोगों ने गणपत कृष्णाजी की बुद्धि की प्रशंसा की और उनका उत्साह बढ़ाने के लिए उन्हें कुछ छापने का काम देने लगे। फिर तो धीरे-धीरे उनके छापेखाने की बहुत प्रसिद्धि हुई और उन्हें छपाई का बहुत काम मिलने लगा।

"शके १७६५ (सन् १८४३) में गणपत कृष्णाजी ने टाइप बनाने का उद्योग आरम्भ किया। साँचे तैयार करके अक्षर ढालने का कारखाना शुरू किया और सब तरह के टाइप तैयार करके टाइप का छापाखाना भी आरम्भ कर दिया और उसमें पुस्तकें छपने लगीं।

"इस तरह गणपत कृष्णाजी ने दोनों छापेखानों में हज़ारों गुजराती और मराठी की पुस्तकें छापीं। इस छापाखाने में मराठी छापने का जैसा सुन्दर काम होता है, वैसा अन्यत्र नहीं होता।"

महाराष्ट्र में गणपत कृष्णाजी ने जैसा काम किया, वैसा उत्तर हिन्दुस्तान, बंगाल, गुजरात आदि प्रांतों के मुद्रकों की विस्तृत जानकारी प्रकाशित होने से पाठकों को बड़ा लाभ होगा।

बम्बई]



भारत में समाचार-पत्र और स्वाधीनता

श्री अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी

आजकल जिसे समाचार-पत्र कहते हैं, अँगरेजों के यहाँ आने के पहले उसका अस्तित्व नहीं था। पहला पत्र जो इस देश में निकला, वह भी अँगरेजी में और अँगरेज ने ही निकाला, क्योंकि अँगरेज विचारस्वातन्त्र्य के पक्षपाती ही नहीं हैं, वे साधारणतः अनाचार के विरोधी भी हैं। वे जानते हैं कि अनियन्त्रित राजसत्ता अनाचार की जननी है और अनाचार पर प्रकाश डालने के लिए समाचारपत्र की आवश्यकता है तथा जबतक अनाचार पर प्रकाश नहीं पड़ता तबतक अन्याय-अत्याचार का अन्धकार भी दूर नहीं होता। ऐसे विचारों की प्रेरणा से जेम्स ऑगस्ट हिकी ने १७८० में 'बेंगाल गैज़ेट' वा 'कैलकटा जेनरल ऐडवरटाइज़र' नामक पत्र निकाला था। इन्होंने अपने प्रकाशन-पत्र का उद्देश्य इस एक वाक्य में ही बता दिया था—"I take a pleasure in enslaving my body in order to purchase freedom for my mind and soul." अर्थात्—"मुझे अपने मन और आत्मा के निमित्त स्वतन्त्रता मोल लेने के लिए अपने शरीर को दास बनाने में आनन्द आता है।"

उस समय वारेन हेस्टिंग्ज़ बंगाल के गवर्नर-जनरल थे और इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि वे कैसे शासक थे। हिकी का गैज़ेट साप्ताहिक था और दो तावों पर निकलता था, जिसका प्रत्येक पृष्ठ आठ इंच चौड़ा और बारह इंच लम्बा होता था। जैसा उसके नाम से प्रकट है, वह समाचारपत्र की अपेक्षा विज्ञापन-पत्र अधिक था; परन्तु उसमें विज्ञापन ही नहीं रहते थे, विशिष्ट पुरुषों की प्राइवेट बातों पर टिप्पणियाँ भी रहती थीं, जिनका मुख्य लक्ष्य वारेन हेस्टिंग्ज़ ही होता था। हिकी बड़े साहसी थे। इसलिए उन्होंने अपनी नीति के विषय में पत्र पर छाप रक्खा था:

"A weekly political and commercial paper open to all parties and influenced by none." अर्थात्—"एक साप्ताहिक राजनैतिक और व्यापारिक पत्र, जो खुला तो सब पार्टियों के लिए है, पर प्रभावित किसी से नहीं है।" हम समझते हैं कि हिकी के दोनों सिद्धान्त आज भी समाचार-पत्रों के सम्पादकों और संचालकों के सामने रहने चाहिए। हमारी समझ से आज के प्रलोभन उस समय से अधिक हैं। हिकी ने अपने सिद्धान्तों की रक्षा में जेल काटी और घाटा भी उठाया।

कलकत्ते की देखादेखी मद्रास और बम्बई के यूरोपियनों ने भी पत्र निकाले, परन्तु पत्रों के संचालन और सम्पादन में मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक हानि उठाने वालों में अग्रणी कलकत्ते के ही अँगरेज रहे। देशी भाषा का पहला पत्र भी अँगरेज़ों ने ही निकाला, पर ये व्यापारी न थे, बैपटिस्ट मिशनरी थे। सीरामपुर के बैपटिस्ट मिशनरी केरी और मार्शमैन ने ईसाई धर्म के प्रचारार्थ बँगला में कई पत्र निकाले। १८१८ में मासिक 'दिग्दर्शन' और 'समाचार-दर्पण' नाम के पत्रों को जन्म इन मिशनरियों ने ही दिया। जोशुआ मार्शमैन 'समाचारदर्पण' के सम्पादक थे। इसी समय 'आत्मीय सभा' के सदस्य हरचन्द्रराय और गङ्गाकिशोर भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में बँगला में 'बंगाल गैज़ेट' निकला। यह 'आत्मीय सभा' ब्राह्मसमाज का पूर्वरूप जान पड़ती है, क्योंकि सम्पादकद्वय ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय के मित्र थे।

इस समय मुसलमानी अमलदारी का अन्त हो चुका था और अँगरेजी शासन की जड़ जम रही थी। आज जैसा अँगरेज़ी का बोलबाला है, वैसा ही मुसलमानी राज में फ़ारसी का था। लोग शासकों से सम्पर्क रखने के लिए फ़ारसी पढ़ते थे, इसलिए फ़ारसी एक प्रकार से उस समय के शिक्षित-समाज की अखिल भारतीय भाषा थी। राजा राम-मोहन राय ने अपने विचारों का अखिल भारतीय प्रचार करने के अभिप्राय से फ़ारसी में 'मीरात-उल-अखबार' निकाला था। कलकत्ते में अँगरेज़ी, बँगला और फ़ारसी के ही पत्र प्रकाशित नहीं होते थे, पहला हिन्दी पत्र भी यहीं से निकला

था। इसका नाम 'उदन्त मार्त्तण्ड' था। इसके सम्पादक और प्रकाशक युगुलकिशोर शुक्ल थे, जो सदर दीवानी अदालत में वकालत करते थे। यह साप्ताहिक पत्र था और इसकी पहली संख्या ३० मई १८२६ को प्रकाशित हुई थी। इसका मासिक चन्दा दो रुपये था। इसी समय कलकत्ते से 'जामे जहाँनुमा' नाम का जो फ़ारसी पत्र निकलता था, उसे सरकार से सहायता मिलती थी। 'मार्तण्ड' के सम्पादक समझते थे कि उन्हें भी सहायता मिलेगी, पर जब न मिली और अपने बल पर वे पत्र न चला सके तो ४ दिसम्बर १८२७ को उसे बन्द कर दिया।

बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सियों का महत्त्व यद्यपि बंगाल के समान न था, तथापि इनमें भी स्वतन्त्र विचार के व्यापारी अँगरेज़ थे और इन्होंने समाचारपत्रों को जन्म दिया था। बम्बई से १७८६ में 'बाम्बे हेरल्ड' और एक वर्ष बाद 'बाम्बे कोरियर' निकला, जिसका उत्तराधिकारी आज 'टाइम्स ऑव इंडिया' है। 'कोरियर' के संचालक व्यवसायकुशल थे। इसलिए अँगरेज़ी में पत्र निकाल कर भी गुजराती भाषा-भाषी व्यापारियों को आकर्षित करने के लिए विज्ञापन गुजराती में निकालते थे। मद्रास में हम्फ़ीज ने १७६५ में 'मद्रास हेरल्ड' निकाला था। बम्बई में गुजराती के पहले पत्र पारसियों ने प्रकाशित किये थे; पर इनका उद्देश्य पंचांगों की गणना का वाद-विवाद था। इसलिए ये बहुत दिन नहीं चले। अतः 'मुम्बई वर्तमान' को ही गुजराती का पहला पत्र कहना चाहिए। यह १८३० में साप्ताहिक रूप से निकला था और साल भर बाद ही अर्द्ध-साप्ताहिक हो गया। १८३१ में सनातनी पारसियों का मुखपत्र 'जामे जमशेद' निकला। देशी भाषा का इतना पुराना पत्र शायद कोई नहीं है। १८५१ में दादाभाई नवरोजी के सम्पादकत्व में 'रास्त गुफ़्तार' निकला।

१८३१ तक उर्दू का कोई पत्र नहीं निकला था। गोलोकवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में लिखा था कि 'आबेहयात' में मौ० मुहम्मदहुसैन आज़ाद का कथन है कि '१८३३ ईस्वी में उर्दू का पहला अख़बार दिल्ली में जारी हुआ' और आज़ाद साहब के अनुसार 'उनके पिता के क़लम से निकला।' पर डा० कालीदास नाग ने समाचार-पत्रों के इतिहास का जो संग्रह प्रकाशित किया है, उसमें लिखा है कि १८३७ में सर सैयद अहमद खाँ के भाई मुहम्मदखाँ ने उर्दू में पहला अख़बार निकाला, जिसका नाम 'सैयदुल अख़बार' था। १८३८ में 'देहली अख़बार' प्रकाशित हुआ और इसके बाद ही 'फ़वायदे नाज़रीन' और 'क़ुरान-उल-सआदीन' नाम के दो उर्दू अख़बार हिन्दुओं द्वारा सम्पादित और प्रकाशित होने लगे।

हिन्दी का दूसरा पत्र भी कलकत्ते से ही निकला। इसका नाम 'बङ्गदूत' था। यह बँगला, फ़ारसी और हिन्दी तीन भाषाओं में प्रकाशित होता था। प्रथम अंक ६ मई १८२६ को निकला था। इसके सम्पादक राजा राममोहन राय के मित्र और अनुयायी नीलरतन हलदार थे। यह राजा का ही पत्र था। इसके बहुत दिनों बाद तक हिन्दी का कोई पत्र कलकत्ते से नहीं निकला। हिन्दी का तीसरा पत्र 'बनारस अख़बार' समझा जाता है, जिसे राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने १८४४ में जारी किया था। बनारस से और भी कई पत्र निकले थे, जिनमें एक 'सुधाकर' भी था, जिसके नाम पर प्रसिद्ध ज्योतिषी म० म० सुधाकर द्विवेदी का नामकरण हुआ था। इसे तारामोहन मित्र नामक बंगाली सज्जन सम्पादित करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कारण बनारस बहुत दिनों तक हिन्दी का केन्द्र रहा, क्योंकि ये लिखते और लिखाते ही नहीं थे, लेखकों को धन भी देते थे। दिल्ली, अल्मोड़ा, लाहौर, कानपुर, मेरठ, अलीगढ़, मिर्ज़ापुर, कलकत्ता आदि अनेक स्थानों से हिन्दी पत्र निकले। ये बहुधा हिन्दी का ही आन्दोलन करते थे और उदार भाव व्यक्त करते थे।

समाचारपत्रों के प्रतिबन्ध दूर करने में अँगरेज़ सम्पादकों और संचालकों ने जो त्याग और कष्ट-सहिष्णुता दिखाई है, उसके लिए समाचार-पत्र उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे। भारतवासियों ने जेलयातना पचास वर्ष पहले नहीं भोगी थी, पर अँगरेज़ सम्पादकों ने जेल ही नहीं काटी, वे निर्वासित हुए और उनकी सम्पत्ति भी ज़ब्त हुई। फिर भी अपने आदर्श का उन्होंने त्याग नहीं किया। पहले सम्पादक हिकी थे, जो जेल गये और जिनको सरकार की इच्छा के विरुद्ध पत्र-प्रकाशन के कारण घाटा भी सहना पड़ा। दूसरे विलियम डुआनी थे, जिन्होंने अपने 'इंडियन वर्ल्ड'

में भंडाफोड़ क्या किया, वैंठी वरें उड़ाईं। ये निर्वासित किये गये और इनकी तीस हज़ार की सम्पत्ति सरकार हड़प गई। तीसरे सम्पादक मद्रास के हम्फ्रीज़ थे, जिन्होंने सरकार से लाइसेन्स वा अधिकार-पत्र लिये विना ही पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। इनके लेखों से सरकार इतनी चिढ़ गई कि जहाज़ पर इन्हें इंग्लैंड के लिए चढ़ा दिया। पर ये रास्ते से ही निकल भागे। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के पहले नियम था कि छपने के पहले लेखादि देख लिये जायँ। पर इन्होंने यह प्रि-सेन्सरशिप उठा दी। इस सुभीते के साथ ही एक वड़ा असुभीता यह हो गया कि १६८८ में 'विल ऑव राइट्स' द्वारा व्यक्तिस्वातन्त्र्य और भाषणस्वातन्त्र्य के जो अधिकार ब्रिटिश प्रजा को मिले थे, वे १८१८ के तीसरे रेगुलेशन द्वारा भारतीय प्रजा से छीन लिये गये; क्योंकि इसके अनुसार कोई मनुष्य विना विचार के ही वर्षों क़ैद किया जाने लगा। यह रेगुलेशन आज भी व्यवहार में आता है और नौकरशाही के शस्त्रागार की शोभा वढ़ा रहा है।

पत्रों की पार्टियाँ

जैसा ऊपर वताया गया है ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों की निरंकुशता से मोर्चा लेने के लिए अँगरेज़ सम्पादक ही सामने आते रहे और उन्होंने वड़े साहस, निष्ठा और त्याग से यह काम किया। इस समय पत्रों की पार्टियाँ वन गई थीं। एक पार्टी तो परम्परावादियों की थी और दूसरी सुधारकों की। दूसरी के नेता राजा राममोहन राय थे। ये दोनों भारतवासियों की पार्टियाँ थीं, परन्तु इनमें अँगरेज़ भी शामिल हो जाते थे। जो निरंकुशता के समर्थक थे, वे परम्परावादियों की हाँ में हाँ मिलाते थे और जो उन्नतिशील विचारों के पक्षपाती थे, वे सुधारकों के सहायक थे। ये ही समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते थे। पहले महासमर में हम लोगों ने देखा था कि सरकार ने मि० वी० जी० (वेनजामिन गाइ) हार्निमैन को भारत से निर्वासित कर दिया था। पर उन दिनों यूरोपियन सम्पादकों का निर्वासन साधारण घटना थी। हम्फ्रीज़ और डुआनी के वाद वंगाल सरकार ने सिल्क वकिंघम को भी जहाज़ पर वैठाकर इंग्लैंड रवाना कर दिया था। ये राजा राममोहन राय के मित्र और आदर्श पत्रकार थे।

सिल्क वकिंघम के '**कैलकटा जर्नल**' का प्रभाव घटाने के लिए विपक्ष ने १८२१ में '**जान बुल**' निकाला। पर सव उदारपत्र इसके विरोधी हो गये और यह नीम सरकारी पत्र समझा जाने लगा। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के जाते और जान ऐडम के अस्थायी गवर्नर जनरल वनते ही सिल्क वकिंघम पर आफ़त आ गई। इन्होंने डा० व्राइस की नियुक्ति का विरोध किया था। डा० व्राइस स्काचचर्च के चैंपलेन थे और स्टेशनरी क्लर्क नियुक्त हुए थे। वस, वकिंघम जहाज़ पर चढ़ाकर इंग्लैंड भेज दिये गये। पर व्राइस की नियुक्ति कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स को भी पसन्द न आई। इसलिए वकिंघम ने सरकार और कम्पनी दोनों को पेनशन देने के लिए लाचार किया और फिर वहीं से '**ओरियंटल हेरल्ड**' निकाल दिया। फिर भी ऐडम अपनी हरकतों से वाज़ नहीं आये और उन्होंने पत्रों और प्रेसों पर नये प्रतिवन्ध लगाये, जिनके फलस्वरूप राजा राममोहन राय को अपना फ़ारसी पत्र '**मीरात-उल-अख़बार**' वन्द करना पड़ा।

वेनटिंक की उदारता

लार्ड ऐम्हर्स्ट ने रेगुलेशनों का क़ड़ाई से पालन किया, पर १८२८ में लार्ड विलियम वेनटिंक के आते ही हवा वदल गई। इन्होंने खुल्लमखुल्ला कहा, "**मैं समाचार पत्रों को मित्र मानता हूँ और सुशासन में सहायक समझता हूँ।**" जव राजा राममोहन को गवर्नर जनरल का यह रुख मालूम हुआ तव वे फिर पत्र-प्रकाशन में प्रवृत्त हुए। १८२६ में उन्होंने '**वंगाल हेरल्ड**' निकाला और अपने मित्र **राबर्ट मांटगोमरी मार्टिन** को उसका सम्पादक नियुक्त किया। ये वही मांटगोमरी मार्टिन थे, जिन्होंने हिसाव लगाकर वताया था कि भारत से कितना धन इंग्लैंड गया है और अवतक खिंचा चला जाता है। मांटगोमरी मार्टिन के इस सिद्धान्त को ही दादाभाई नवरोजी ने अपनी 'Poverty and un-British Rule in India' में प्रमुख स्थान दिया था। राजा राममोहन और द्वारकानाथ ठाकुर (कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के पितामह) सतीप्रथा के भी विरुद्ध थे और जव लार्ड विलियम वेनटिंक ने ब्रिटिश भारत से (क्योंकि वे

बंगाल के ही नहीं, ब्रिटिश भारत के भी गवर्नर जनरल नियुक्त हो चुके थे) सती प्रथा उठा दी तब सुधारवादी-पत्रों का बल बहुत बढ़ गया।

समाचारपत्रों की स्वतंत्रता

लार्ड विलियम बेनटिंक की उदारता के युग में भी प्रेसीडेन्सियों में कुछ मनमानी चलती ही थी। मद्रास सरकार ऐडम रेगुलेशन के ढंग पर प्रेस रेगुलेशन बनाने की सोच रही थी। उसने बंगाल सरकार से इसकी प्रति भी माँगी थी। यद्यपि इसी समय लार्ड विलियम बेनटिंक भारत के गवर्नर-जनरल बना दिये गये थे, उससे प्रेसीडेन्सियों की स्वेच्छाचारिता में लगाम लग गई थी, तथापि इनका कार्यकाल समाप्तप्राय था। इसलिए ६ फ़रवरी १८३५ को ऐडम रेगुलेशन रद्द करने के लिए जो मेमोरियल गवर्नर-जनरल को दिया गया था, उस पर विचार भी लार्ड विलियम के चले जाने के बाद हुआ। नये गवर्नर-जनरल के आने में देर थी। इसलिए उनकी कौन्सिल के सीनियर मेम्बर सर चार्ल्स. मेटकाफ़ अस्थायी गवर्नर-जनरल बना दिये गये। जो मेमोरियल इन्हें दिया गया, उस पर विलियम ऐडम, द्वारकानाथ ठाकुर, रसिकलाल मलिक, ई० एम० गार्डन, रसमय दत्त, एल० एल० क्लार्क, सी० हाग, टी० एच० बर्किन यंग, डेविड हेयर, टी० ई० एम० टर्टन-यंग और जे० सदरलैंड के हस्ताक्षर थे। ३ अगस्त १८३५ को अपनी कौन्सिल के सर्वमतों से सर चार्ल्स ने ऐडम रेगुलेशन रद्द कर प्रेस को स्वतन्त्र कर दिया। इस विधान से बंगाल का १८२३ का रेगुलेशन ही नहीं, बम्बई के १८२५ और मद्रास के १८२७ के रेगुलेशनों का भी सफ़ाया हो गया। सर चार्ल्स ने इस सिद्धान्त पर प्रेस को स्वतन्त्र कर दिया कि सबको अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

पहला दैनिक पत्र

'बंगाल हरकारा' सबसे पुराना दैनिक पत्र अँगरेजी में निकला था। सैमुएल स्मिथ नाम के एक अँगरेज ने इसे खरीद कर उदार विचारों के प्रचार में लगाया था। प्रिन्स द्वारकानाथ इसके संरक्षक थे और इसे आर्थिक सहायता दिया करते थे। 'बंगाल-हरकारा' के साथ ही 'इंडिया गैजेट' भी द्वारकानाथ के हाथ आ गया था और फिर ये दोनों आगे चलकर 'इंडियन डेली न्यूज़' रूप से दैनिक में परिणत हो गये थे। अन्त समय तक 'डेली न्यूज़' में उदार विचार प्रकट किये जाते थे। इसके मालिक कलकत्ते के प्रसिद्ध बैरिस्टर मि० ग्रहम थे। अनुदार और अप्रगतिशील दो ही पत्र कलकत्ते में समाचार-पत्रों के स्वातन्त्र्य के समय थे—एक 'जान बुल' और दूसरी बंगला की 'समाचार चन्द्रिका'। 'जान बुल' ने जे० एच० स्टोक्वेलर के हाथ में पड़कर अपना नाम 'इंग्लिशमैन' धर लिया। किसी प्रकार कुछ वर्ष इसके बीते और अन्त में 'स्टेट्समैन' ने इसे खरीद कर बन्द कर दिया।

गैगिंग ऐक्ट (गलाघोंटू क़ानून)

१८५७ के ग़दर के पहले भारत में बहुत से पत्र निकल चुके थे, पर इनका केन्द्र कलकत्ता ही था। १८५६ में लार्ड कैनिंग गवर्नर-जनरल होकर आये थे और इसके एक वर्ष के अन्दर ही ग़दर हो गया था। अँगरेज़ों के अनुदार पत्र सरकार को हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध भड़काते थे। यही नहीं, ठंढे दिमाग़ से काम करने वाले लार्ड कैनिंग पर ऐसे कटाक्ष करते थे, मानों ग़दर के नेता यही थे! हिन्दुस्तानी पत्र भारतवासियों की निर्दोषिता सिद्ध करते थे। कलकत्ते के 'हिन्दू पैट्रियट' के सम्पादक हरिश्चन्द्र मुकर्जी और बम्बई के गुजराती पत्रों के सम्पादक विशेषकर दादाभाई नवरोजी अपने 'रास्त गुफ़्तार' द्वारा संयत भाषा में सब आक्षेपों के उत्तर देते थे। फिर भी असाधारण उत्तेजना का वह समय था। इसलिए लार्ड कैनिंग ने सारे भारत के पत्रों पर १३ जून १८५७ को ऐडम रेगुलेशन लगा दिया, जो Gagging Act (गलाघोंटू क़ानून) कहलाया। कलकत्ते के 'दूरबीन', 'सुलतान-उल-अख़बार' और 'समाचार सुधावर्षण' पर मामले चले और 'फ्रेंड ऑव इंडिया' को चेतावनी दी गई। इसने लिखा था कि आज भारत में आधा दर्जन भी यूरोपियन न होंगे, जो लार्ड कैनिंग के पक्ष में हाथ उठावेंगे।

समाचारपत्रों की बाढ़

'गलाघोंटू क़ानून' एक निश्चित अवधि के लिए जारी किया गया था, क्योंकि लार्ड कैनिंग समाचारपत्रों की स्वाधीनता छीनना नहीं चाहते थे। यह अवधि बीतने पर समाचारपत्रों की बाढ़ आ गई। बम्बई के **बाम्बे स्टैंडर्ड, टेलिग्राफ़ और कोरियर** तीनों मिलकर **'बाम्बे टाइम्स'** और फिर १८ सितम्बर १८६१ को **'टाइम्स ऑव इंडिया'** नाम से निकले। १८५८ में **'बाम्बे टाइम्स'** के सम्पादक रावर्ट नाइट नियुक्त हुए, जो बाद को १८७५ में कलकत्ता-पाइकपाड़े के राजा इन्द्रचन्द्र सिंह की सहायता और धन से प्रकाशित होने वाले **'स्टेट्समैन'** के सम्पादक हुए थे। १८६७ में मेटकाफ़ ऐक्ट के बदले नया ऐक्ट बना, जिसमें छापाखानों और अखबारों के नियन्त्रण तथा छपी पुस्तकों की व्यवस्था की गई। १८६८ समाचारपत्रों के इतिहास में महत्त्वपूर्ण वर्ष हुआ, क्योंकि इसी वर्ष बंगाल के जेसर ज़िले से शिशिरकुमार घोष और मोतीलाल घोष ने बँगला में **'अमृत बाज़ार पत्रिका'** नाम से साप्ताहिक पत्र निकाला, जो आज भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में सर्वश्रेष्ठ नही तो विशिष्ट अवश्य ही कहा जायगा। १८७० में ब्राह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन ने जनता के हितार्थ एक पैसे का अखबार **'सुलभ समाचार'** निकाला।

हिन्दी पत्रों की वृद्धि

१८७१ से हिन्दी पत्रों में आशातीत वृद्धि हुई और ऐसे समय हुई, जब हिन्दी उपेक्षित भाषा थी। देश की भाषा रहनेपर भी वह दबी हुई थी, क्योंकि सरकार ने उर्दू को हिन्दी प्रदेश की भाषा का पद दे दिया था। गढ़वाल प्रदेश युक्त प्रदेश में सबसे पीछे अँगरेज़ी राज में शामिल हुआ, पर पत्र प्रकाशन में किसी से पीछे न रहा। अल्मोड़े से १८७१ में **'अल्मोड़ा अखबार'** और कलकत्ते से १८७२ में **'बिहारबन्धु'** निकला। 'बिहारबन्धु' पटना-ज़िले के बिहार ग्राम निवासी मदनमोहन, साधोराम और केशवराम भट्ट ने कलकत्ते से प्रकाशित किया था। १८७० से १८८० तक लाहौर से कलकत्ते तक अनेकों हिन्दी पत्र निकले। इन पत्रों में आगे चलकर विशेष प्रसिद्ध **'भारतमित्र'** हुआ, क्योंकि उस समय के प्रसिद्ध पुरुषों तक के लेख इसमें प्रकाशित होते थे। 'भारतमित्र' १८७८ में पाक्षिक निकला था और वह थोड़े ही दिनों बाद साप्ताहिक हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में वह दो बार दैनिक हुआ और एक साल से अधिक न रह सका। तीसरी बार १९११ में और चौथी बार १९१२ में वह दैनिक हुआ। आगे चलकर उसका साप्ताहिक संस्करण बन्द हो गया और १९३४-३५ में भारत से 'भारतमित्र' का नामोनिशान मिट गया। परन्तु 'भारतमित्र' के दिखाये मार्ग पर अनेक दैनिक पत्र हिन्दी में निकले, जिनमें कुछ तो आज भी प्रकाशित हो रहे हैं और कुछ काल-कवलित हो गये। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यह युग दैनिक पत्रों का है, साप्ताहिकों का नहीं।

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट

१८७६ में लार्ड लिटन वायसराय बनकर आये। इस समय बँगला में कई साप्ताहिक पत्र निकल रहे थे, जिनमें 'अमृतबाज़ारपत्रिका' का प्रभाव बढ़ रहा था। यह सरकारी कर्मचारियों का भंडाफोड़ किया करती थी। इसलिए इसका प्रभाव नष्ट करने के उद्देश्य से देशी भाषाओं के सभी पत्रों का दमन करने को लार्ड लिटन ने **'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट'** बनाया। इस समय बम्बई प्रेसीडेन्सी से बासठ पत्र मराठी, गुजराती, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी में (पता नहीं यह हिन्दी थी या उर्दू), पश्चिमोत्तर प्रदेश वा वर्तमान युक्तप्रदेश से (अवध को छोड़कर) साठ, मध्यप्रदेश से पचास, बंगाल से पचास और मद्रास प्रेसीडेन्सी से उन्नीस पत्र निकलते थे। जो पत्र अँगरेज़ी में निकलते थे, उन्हें तो लिटन ऐक्ट से कोई डर नहीं था। इसलिए कई नये अँगरेज़ी पत्र निकले, यथा २० सितम्बर १८७८ को मद्रास से **'हिन्दू'**, १८७९ में कलकत्ते से **'बेंगाली'** और १८९० में बम्बई से **'इंडियन सोशल रिफ़ार्मर'** प्रकाशित हुआ। पहिले के जनक जी० सुब्रह्मण्य ऐयर, दूसरे के सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और तीसरे के बैरामजी मलाबारी थे। सुरेन्द्रनाथ सिविलियन थे, पर कोई काग़ज़

भूल से दवा पड़ा रह गया था। इसलिए सिविल सर्विस से हटा दिये गये थे। ये अद्वितीय वक्ता थे और अपने भाषणों और लेखों से इन्होंने देश की बड़ी सेवा की थी। एक बार कलकत्ता हाईकोर्ट में जस्टिस नौरिस ने हाईकोर्ट में शालग्राम शिला लाने की आज्ञा दी थी और काशी के पंडित राममिश्र शास्त्री ने इसके समर्थन में व्यवस्था भी दे दी थी। परन्तु सुरेन्द्र बाबू ने इसका विरोध किया और बदनाम अँगरेज़ जज जेफ़रीज़ से नौरिस की तुलना की। इस पर न्यायालय का अपमान करने के अपराध में इन्हें जेल भी जाना पड़ा। पर नौरिस की आज्ञा न चली।

'अमृतबाज़ारपत्रिका' का कुछ अंश इन दिनों बँगला में और कुछ अँगरेज़ी में निकलता था और इसे बन्द करना ही लिटन का लक्ष्य था। परन्तु पत्रिका के सम्पादक शिशिरकुमार घोष ने सारी पत्रिका अँगरेज़ी में ही कर दी और तबसे उसका बँगला अंश सदा के लिए हट गया। लार्ड लिटन के कान इस प्रकार जब शिशिर बाबू ने काट लिये तब उनका मनोभाव कैसा हुआ होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। १४ मार्च १८७८ को लिटन का जो ऐक्ट पास हुआ था, उसमें सरकार को यह अधिकार दिया गया था कि वह देशी भाषा के किसी पत्र के मुद्रक और प्रकाशक से यह प्रतिज्ञा करा सकती है कि कोई ऐसा विषय न प्रकाशित किया जायगा, जिससे राजद्रोह फैल सकता हो। जो मुद्रक-प्रकाशक इसके विरुद्ध आचरण करता, उसे पहले तो चेतावनी दी जाती और बाद में उसका प्रेस छीन लिया जाता। इससे बचने को लोग अपने पत्र की कापी सेन्सर करने के लिए दे सकते थे। शिशिर बाबू ने उसके बदले २१ मार्च १८७८ से पत्रिका अँगरेज़ी में करदी और लार्ड लिटन अपना-सा मुँह लेकर रह गये। रिपन ने आकर इस ऐक्ट को रद्द किया। १८८१ में पूने का 'केसरी' निकला, जो लो० तिलक के कारण भारत के देशभाषा के पत्रों में सबसे प्रसिद्ध हुआ।

वङ्ग-भङ्ग का प्रभाव

भारतीय पत्रों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी और १९०५ में बंग-भंग के आन्दोलन से तो बहुत अधिक हो गई। इस आन्दोलन के दो रूप थे, एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। खुल्लमखुल्ला हिंसा का प्रचार करने वाला पत्र क्रान्तिवादियों ने 'युगान्तर' नाम से बँगला में निकाला था। इसके दमन के लिए १९०८ में हिंसा को उत्तेजन देने के सम्बन्ध का (Incitement to Violence) ऐक्ट बना। इसके साथ ही अँगरेज़ी का दैनिक पत्र 'वन्देमातरम्' भी इसी क़ानून से बन्द किया गया, यद्यपि इसकी नीति हिंसावाद की नहीं थी। इतने से ही सरकार को सन्तोष न हुआ और उसने १९१० में 'प्रेस ऐक्ट' बनाया, जो इतना व्यापक था कि 'कामरेड' के मामले में कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर लारेन्स जेनकिन्स ने कहा कि अच्छे-से-अच्छा साहित्य प्रेस-ऐक्ट के अनुसार दूषित ठहर सकता है। यह प्रेस-ऐक्ट १९१९ में रद्द कर दिया गया, पर १९१९ में पंजाब में जो घटनाएँ हुई, उन पर विचार करके सरकार ने १९२० से उसे फिर जारी कर दिया और आज भी वह देशी पत्रों की छाती पर मूँग दल रहा है। इसके पहले पीनल कोड वा ताज़ीरात हिन्द में दो धाराएँ और बढ़ाई गई, एक १२४अ और दूसरी १५३अ। पहली के अनुसार राजद्रोह-प्रचार का अभियोग सम्पादकों और लेखकों पर लगने लगा और दूसरी के अनुसार जाति-द्वेष-प्रचार के मामले उन पर चलाये जाने लगे। १८९७ में लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह-प्रचार का मामला चलाया गया था। उसमें बम्बई हाईकोर्ट के दौरा-जज स्ट्रेची ने उक्त धारा में 'disaffection' शब्द का अर्थ 'want of affection' किया था। ऐसी अवस्था में उन्हें डेढ़ साल की सज़ा देना जस्टिस स्ट्रेची के लिए ठीक ही था। १९०८ में उन्हें छः वर्ष का दंड वैसे ही अभियोग पर जस्टिस दावर ने दिया था, जो १८९७ वाले मामले में उनके बैरिस्टर थे। युद्धकाल में और विशेषकर गत महासमर में तो पत्रों की कोई स्वाधीनता ही नहीं थी और आज भी नहीं के बराबर ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के जो पत्र जहाँ से और जिसके सम्पादकत्व में निकले, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। १८७१ में 'अलमोड़ा अख़बार', १८७२ में 'बिहारबन्धु', १८७४ में 'सदादर्श' (दिल्ली, सम्पादक लाला श्रीनिवासदास), १८७६ में 'भारतबन्धु' (अलीगढ़, सम्पादक तोताराम वर्मा), १८७७ में 'मित्रविलास'

(लाहौर, पं० मुकुन्दराम जी), **'हिन्दूबान्धव'** (लाहौर, नवीनचन्द्र राय), १८७८ में **'हिन्दीप्रदीप'** (प्रयाग) अथवा उसके पहले **'शुभचिन्तक'** (कानपुर), १८७८ **'भारतमित्र'** (कलकत्ता), १८७९ **'सारसुधानिधि'** (कलकत्ता), १८८० में **'उचितवक्ता'** (कलकत्ता), १८८९ में **'राजस्थान-समाचार'** (अजमेर), **'प्रयाग समाचार'** (प्रयाग), १८८४ में **'भारत जीवन'** (काशी), १८९० में **'हिन्दीवङ्गवासी'** (कलकत्ता) और १८९४ में **'वेंकटेश्वर समाचार'** वम्बई से निकला। मिर्ज़ापुर से उपाध्याय वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' साप्ताहिक 'नागरी नीरद' और मासिक **'आनन्दकादम्बिनी'** प्रकाशित करते थे। और भी कई पत्र १९०० तक निकले। कुछ चले और कुछ वन्द हो गये।

राज्यों से भी पत्र निकले जिनमें सर्वश्रेष्ठ पत्र उदयपुर का **'सज्जनकीर्तिसुधाकर'** १८७४ में निकला। पीछे चलकर चालीस वर्ष वाद इसमें प्रशंसा योग्य कुछ नहीं रह गया था। उद्धृत लेख छपते थे और टाइप भी घिसा हुआ होता था। **'मारवाड़ गजट'** जोधपुर से इससे आठ वर्ष पहले निकला था। १८८७ में रीवाँ से 'भारतभ्राता' और १८९० में बूंदी से **'सर्वहित'** निकला। राज्यों से ऐसे पत्र भी निकले, जो हिन्दी और उर्दू अथवा हिन्दी और अँगरेज़ी में निकलते थे। **'गवालियर गजट'** और **'जयपुर गजट'** दूसरी श्रेणी के थे। **'जयपुर गजट'** तो १८७९ में ही जारी हुआ था। जोधपुर का **'मारवाड़ गजट'** और अजमेर का **'राजपूताना गजट'** हिन्दी और उर्दू दोनों में निकलते थे। आश्चर्य है कि जिन राज्यों में आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले इन पत्रों का प्रकाश था, आज ग्वालियर को छोड़कर जहाँ से **'जयाजी प्रताप'** अँगरेज़ी और हिन्दी में निकलता है, उक्त सभी राज्यों में अन्धकार है।

दैनिक पत्रों में कालाकाँकर का **'हिन्दोस्थान'** सवसे पहला है। इंग्लैंड में १८८३ से १८८५ तक राजा रामपाल सिंह ने प्रकाशित किया था। पहले यह अँगरेज़ी और हिन्दी में और वाद को उर्दू में भी छपता था अर्थात् तीन भाषाओं में निकलता था। १ नवम्बर १८८५ से कालाकाँकर से वह दैनिक हिन्दी में निकलता था। इसके वाद वावू सीताराम ने कानपुर से एक दैनिक पत्र हिन्दी में निकाला था, जो शायद छः महीने चला था। **'राजस्थान-समाचार'** जिसे मुंशी समर्थराम ने अजमेर से निकाला था, शायद वोर युद्ध के समय पहले द्विदैनिक और वाद को दैनिक कर दिया था। इसका वार्षिक मूल्य दस रुपया था। यों तो 'भारतमित्र' एक वार १८९७ में और दूसरी वार १८९८ में दैनिक हुआ, पर एक साल से अधिक वह दूसरी वार भी दैनिक न रहा। पर १९१२ से कोई वीस-पच्चीस वर्ष तक वह दैनिक रहा। आज तो हिन्दी में चार दैनिक कलकत्ते से, दो वम्वई से, चार दिल्ली से, दो लाहौर से, तीन कानपुर से, एक प्रयाग से, तीन काशी से और दो पटने से, इस प्रकार एक दर्जन से अधिक दैनिक, निकल रहे हैं।

१९१३ तक दैनिक पत्रों में ताज़ा खवरों की कोई व्यवस्था न थी। इस साल **'भारतमित्र'** में पहले-पहल तार लिये गये। इसके वाद **'कलकत्ता समाचार'** निकला। इसमें भी ताज़ा तारों का प्रवन्ध था। आजकल कई दैनिक पत्रों में टेलिप्रिंटर भी लगे हुए हैं। ऊपर से देखने में हिन्दी-समाचार-पत्रों की वड़ी उन्नति हुई है। किसी को घाटे-टोटे की शिकायत नहीं है, परन्तु लिखा-पढ़ी में शिथिलता आ गई है। दैनिकपत्रों की भाषा में कुछ त्रुटि तो रहती ही है, पर सच तो यह है कि भाषा की ओर सम्पादकों का ध्यान भी नहीं है। और तो क्या, कभी-कभी अँगरेज़ी का उल्था भी वड़ा वेढंगा होता है। मालिकों को अर्थकष्ट होता तो वे इन त्रुटियों को दूर करते, पर उन्हें अर्थ की चिन्ता नहीं है। सम्पादकों की शिक्षा का मुख्य कार्य भाषा और अनुवाद से प्रारम्भ होना चाहिए। इसके विना सम्पादक की शिक्षा व्यर्थ हो जायगी। सम्पादकों को यह न समझना चाहिए कि हम सर्वज्ञ हैं, पर उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिए निरन्तर परिश्रम करना चाहिए।

स्वाधीनता के अग्रदूत

भारतीय समाचारपत्र स्वाधीनता के अग्रदूत हैं। आज जिस पूर्ण स्वराज्य वा स्वाधीनता के लिए आन्दोलन हो रहा है, उसकी कल्पना पहले समाचारपत्र **'वन्देमातरम्'** ने प्रकट की थी। मेरे आदरणीय मित्र स्वर्गीय वावू विपिनचन्द्र पाल ने अपने अँगरेज़ी दैनिक 'वन्देमातरम्' द्वारा पूर्ण स्वाधीनता की आकांक्षा व्यक्त की थी। इसे ही वावू अरविन्द

घोष ने अपने लेखों से पुष्ट किया था। उन्होंने कहा कि हमें ऐसी स्वाधीनता चाहिए, जिसमें ब्रिटिश नियन्त्रण न हो। यह १९०५-६ की बात है, जब कांग्रेस में स्वतन्त्रता, स्वाधीनता वा स्वराज्य जैसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। १९०६ में दादाभाई नवरोजी ने कांग्रेस के सभापति की हैसियत से पहले-पहल स्वराज की माँग पेश की। इसी समय से स्वराज कांग्रेस का ध्येय हुआ। १९०७ में स्वराज शब्द के प्रयोग पर बंगाल सरकार को आपत्ति हुई तब कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस सारदाचरण मित्र और जस्टिस फ्लेचर ने निर्णय किया कि औपनिवेशिक शासन ही स्वराज है। इसलिए स्वराज का आन्दोलन करना राजद्रोह नहीं है। 'वन्देमातरम्' इस प्रकार के स्वराज्य का विरोधी था, क्योंकि इसका कहना था कि औपनिवेशिक लोग तो अँगरेजों के भाईबन्द हैं, पर हमारा उनसे कोई नाता नहीं है। इसलिए हमें उनका स्वराज्य नहीं, पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिए।

१९०९ में 'वन्देमातरम्' बन्द हो गया और पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी रुक गया। कांग्रेस पर १९१६ तक माडरेटों का प्राधान्य रहा और ये पूर्ण स्वतन्त्रता का नाम लेना भी पाप समझते थे। इसके बाद ही लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का मामला न चलाकर सरकार ने राजद्रोह प्रचार न करने के लिए उनसे ज़मानतें लेने का मामला चलाया। पर लोकमान्य ने यह सिद्ध किया कि शासन में परिवर्त्तन कराने के लिए हमें वर्त्तमान शासन की त्रुटियाँ दिखाना आवश्यक है और ऐसा करना राजद्रोह प्रचार करना नहीं है। बम्बई हाईकोर्ट ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया और इस समय से शासन की त्रुटियाँ दिखाने का हमारा अधिकार स्वीकार किया गया।

१९२० से कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनतावादी एक दल उत्पन्न हो रहा था। धीरे-धीरे यह बढ़ने लगा और १९३० में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता वा स्वराज अपना ध्येय घोषित किया। महात्मा गान्धी भी इससे सहमत हुए। आज ब्रिटिश सरकार भी भारत का पूर्ण स्वाधीनता का अधिकार स्वीकार करती है, पर देती नहीं है। राजनैतिक आन्दोलन इधर कई वर्षों से कांग्रेस चला रही है सही, परन्तु भारतीय सामाचार-पत्र ही उसके अग्रदूत रहे हैं और हैं। जहाँ समाचारपत्रों का प्राबल्य नहीं है, वहीं अनाचार, अत्याचार और अन्धकार है। इसलिए समाचार-पत्रों का बल बढ़ाना प्रत्येक स्वाधीनताप्रेमी देशभक्त का कर्त्तव्य है। हमारे देश में एक भी ऐसा पत्र नहीं है, जिसकी एक लाख प्रतियाँ निकलती हों। यूरोप और अमेरिका में ऐसे अनेकों पत्र हैं जिनकी लाखों प्रतियाँ छपती हैं। हमारे देश में भी शहर-शहर और ज़िले-ज़िले में पत्र होने चाहिए। इससे हमारी स्वतन्त्रता बहुत निकट आ जायगी।

काशी]



गीत

श्री गोकुलचन्द्र शर्मा एम्० ए०

कांपता रे, क्यों पुजारी ?

आरती में हाथ हिलते,
मन्त्र तेरे क्यों फिसलते ?
क्यों न मन के मुकुल खिलते ?
डर गया किस पाप से तू,
हो रहा है हृदय भारी।

भक्ति की यह रीति क्या है ?
प्रीति है, फिर भीति क्या है ?
नीति और अनीति क्या है ?
सौंप सब उसका उसी को
देख अपनी गैल न्यारी।

हँस उठे मन्दिर, सुना तू,
राग अपना गुनगुना तू;
छोड़ बाना अघबुना तू,
धुन लगा वे आ रहे हैं,
मुस्कराते मन - विहारी।

अलीगढ़]



: ३ :

भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व और इतिहास

संस्कृति या सभ्यता ?

श्री किशोरलाल घ० मश्रूवाला

मेरी राय में सारी दुनिया में दो ही तरह की मानव-संस्कृतियाँ (Cultures) हैं। एक को मैं भद्र-संस्कृति कहता हूँ और दूसरी को सन्त-संस्कृति।

भद्र-संस्कृति विभूति और ऐश्वर्य प्रधान है। वह दुनियावी ज्ञान-विज्ञान, अधिकार, पराक्रम, वैभव आदि में श्रद्धा रखती है। स्वयं को और अपने लोगों को दुनिया में महान-भूमा बनाना चाहती है। वह सब मनुष्यों का एक-सा अधिकार स्वीकार नहीं करती। उसमें ऊँच-नीच, अधिकारी-अनधिकारी आदि भेदों के लिए जगह है। आडम्बर का शौक़ है।

सन्त-संस्कृति गुण प्रधान है। उसकी ज्ञान में श्रद्धा है, पर उससे भी अधिक सौजन्य और समदृष्टि में है। भोग और सम्पत्ति में मर्यादा और समानता पर और ऊँच-नीच के भाव को मिटाने पर उसका ज़ोर रहता है। आडम्बर को अच्छा नहीं समझती।

संस्कृति की ऐसी दो धाराएँ होते हुए भी वे दो बिलकुल भिन्न दिशाओं में एक दूसरी से अलग नहीं बहतीं। एक दूसरी की सीमा कभी-कभी परखना मुश्किल होता है।

लेकिन जगत् भर में इन दो के अलावा कोई तीसरी संस्कृति नहीं है।

भारतीय संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति, इस्लामी-संस्कृति, इतना ही नहीं, बल्कि वैदिक संस्कृति, जैन-संस्कृति, गुजराती-संस्कृति, आन्ध्र-संस्कृति आदि अनेक संस्कृतियों का आज नाम लिया जाता है। इन्हें सभ्यता (Civilisation) कहें तो शायद अच्छा हो।

मेरी राय में इन सब सभ्यताओं में कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। देश, काल, शिक्षा, अभ्यास आदि के कारण बने हुए ये आचार, विचार और स्वभाव के भेद हैं। वे इनके बदलने से बदल जाते हैं। इनमें कोई चीज़ ऐसी नहीं है, जिसे बदल देना असम्भव हो। वे कभी-कभी आनुवंशिक से दिखाई देते हैं, पर वास्तव में वे आनुवंशिक हैं नहीं। देश, काल, शिक्षा, अभ्यास आदि जबतक एक-से रहते हैं तबतक क़ायम रहते हैं और एक देश या परिवार में उनका पीढ़ियों तक एक-सा रहना सम्भव है। इसलिए आनुवंशिक-से मालूम होते हैं।

इन सभ्यताओं या मानी हुई संस्कृतियों के आचार, विचार और स्वभाव अच्छे, बुरे और अगुण, तीनों तरह के होते हैं। इनका कट्टर आग्रह या अभिमान रखना मैं अच्छा नहीं समझता। ऐसी अलग-अलग सभ्यताएँ और विशिष्टताएँ टिकनी ही चाहिए, ऐसा मैं नहीं समझता। इनकी हर एक बात की हमें विवेक से तटस्थ होकर जाँच करनी चाहिए और मानव-हित के लिए जिन अंशों को फेंक देने की आवश्यकता हो, उन्हें हिम्मत से फेंक देना चाहिए। हम दूसरों से कुछ अलग ढंग के दीख पड़ें, ऐसी कोई ज़रूरत मैं अनुभव नहीं करता।

जो कोई विशिष्टता हो, वह सारे मानव-हित में आवश्यक हो तो ही वह निभाने योग्य समझनी चाहिए। विशिष्ट दीखना ही सिद्धान्त है, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

सन्त-संस्कृति सारी दुनिया में एक-सी है। भद्र-संस्कृतियों में ही बहुत रूप-रंग और झगड़े हैं।

सेवाग्राम]

हमारी संस्कृति का अधिकरण

संत निहालसिंह

एक छोटी-सी मिट्टी की सिगड़ी, जो ऊँचाई में एक फ़ुट भी न होगी, लाल मिट्टी से पुती बिलकुल साफ़-सुथरे फ़र्श के बीच में रक्खी थी। उसके ऊपर एक बेढंगी लोहे की झझरी पर लम्बे और पतले हाथ के बिने कोयले के टुकड़े जमा थे।

एक छोटी-सी दुबली-पतली स्त्री अपनी आश्चर्य-जनक लुभावनी चितवन के साथ मिट्टी की भीतों वाले उस कमरे में प्रविष्ट हुई, जिसकी सादी छत को शहतूत की कड़ियाँ सँभाले हुए थीं। एक तुर्की ढंग का लाल पुराना कपड़ा 'बाग़', जो उस स्त्री की कला-प्रवीणता के कारण अपना 'बाग़' नाम सार्थक कर रहा था, उसके कन्धों पर सुनहले ऊँचे मुकुट पर से गिर रहा था। अपने छोटे हाथों में, जो उतने ही दृढ़ थे, जितने कि सुन्दर, वह एक छोटी डलिया लिये थी। जलते हुए कोयले, जिन्हें उसने खुले हुए आँगन के पीछे रसोईघर की अँगीठी से निकालकर बाहर रख दिया था, धीमे-धीमे चमक रहे थे।

सिगड़ी के पास बैठकर उसने डलिया नीचे रख दी और फुर्ती के साथ, जिसे उसने बहुत दिनों के अभ्यास से प्राप्त किया होगा, उसने सिगड़ी के कोयलों को इधर-उधर हटाकर बीच में थोड़ी जगह कर ली और वहाँ नये कोयलों को रख दिया। फिर झुककर अपने सुन्दर ओठों को खोलकर धीरे-धीरे आग को फूंका। उसके फूले हुए गाल उन लाल संगमरमर के टुकड़ों-जैसे लगते थे, जिन्हें उसने कुछ समय पहले ही मुझे 'भला आदमी' होने के एवज़ में इनाम में दिया था।

"बस, अब ठीक तरह से आग जलेगी।" उसके पति ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा।

अपनी उस छोटी-सी पत्नी से वह पूरा दो फ़ुट ऊँचा था। उसका तुन्दिल पेट पत्नी द्वारा दिन में दो बार डटकर बढ़िया भोजन मिलने का ही परिणाम था। वह दूसरी ओर सिगड़ी के सामने बैठा था। उसकी लंबी तोंद सिगड़ी को लगभग छू रही थी। घर में सदा दुधारी भैंस बनी रहती थी। पत्नी अपने हाथ से निकाले हुए ताज़े बर्फ़-से सफ़ेद मक्खन से गेहूँ, मक्का या बाजरे की रोटियों को खूब तर कर देती थी। साथ ही दही, मट्ठा भी रहता था और मौसम में सरसों का साग।

अपने लम्बे-चौड़े और फुर्तीले हाथों में यह भूरी दाढ़ी वाला पुरुष एक लम्बी पीतल की फुंकनी लिये हुए था, जिस पर सुन्दर चित्रकारी अंकित थी। जब वह अपनी प्यारी स्त्री को रसोईघर में भेज देता तो इसी फुंकनी से वह आग प्रज्वलित किये रहता था।

एक या दो गज़ दूर बैठकर आश्चर्यचकित आँखों से मैं उसकी प्रत्येक कार्रवाई को देख रहा था। जब वह निश्चल हुआ और केवल फुंकनी की 'पफ़-पफ़' आवाज़ रह गई तो मैंने आँख उठाकर उत्सुकता से उसके अवयवों की ओर देखा। उसका सिर कुछ बड़ा था और उस पर घर की बुनी और रंगी हुई एक छोटी-सी पगड़ी बँधी थी। माथा ऊँचा, चौड़ा और वृत्ताकार था। उस पर गहरे विचार के कारण लकीरें पड़ी हुई थीं। भूरी, जटीली भौंहें उन आँखों के ऊपर छाई हुई थीं, जो किसी अदृश्य दीप्ति से जगमगा रही थीं। उसके गालों का रंग लाल था, मानों उन लाल गेहुँओं से प्राप्त हुआ हो, जिनके खाने का वह बहुत ही शौकीन था। ये गेहूँ उन खेतों में उगते थे, जो उसके कमरे से, जिसमें वह और मैं दोनों बैठे थे, एक फ़र्लांग भी दूर नहीं थे।

× × × ×

थोड़ी देर में वह उठकर मेरे बैठने के स्थान से परली तरफ़ गया, जहाँ क्षण भर पहले मैं सिकुड़कर बैठा था। अच्छी प्रकार से यह देखने के लिए कि अब वह क्या करने जा रहा है, मैं दरी के टुकड़े से उठकर दूसरी ओर चला गया।

आगे जो कुछ मैंने देखा वह मेरी स्थान-परिवर्तन की तकलीफ़ के बदले में बहुत बड़ा आनंद था। सफ़ेद धातु की संडासी से उसने एक छोटा-सा पात्र उठाया और उसे आग पर रख दिया। यद्यपि मैं अभी बच्चा था तो भी मैंने यह भलीभाँति देख लिया कि उसने कितनी सावधानी के साथ यह काम किया, मानों वह कोई धार्मिक कृत्य हो, जिसके करने में बड़ी तत्परता की आवश्यकता हो। उसने पात्र को उस समय तक नहीं छोड़ा जब तक कि उसे पूरा विश्वास नहीं हो गया कि वह भली भाँति आग के बीच में स्थिर हो गया है।

उसका ऐसा करने का अभिप्राय क्या था? वह क्या करने जा रहा था? —आदि प्रश्न मेरे मस्तिष्क में भरने लगे। वे मेरे मुख से अवश्य निकल पड़ते; परन्तु बात यह थी कि उसने मुझे इस शर्त पर उस कमरे में आने की आज्ञा दी थी कि मैं अपनी ज़बान बन्द रक्खूं। उस उमर तक जितने व्यक्तियों से मेरा पाला पड़ा था, वह उनमें सबसे अधिक कड़े मिज़ाज का आदमी था। जिस बात पर दृढ़ हो जाता, उससे उसे प्रार्थनाएँ तो दूर, कोई रो-धोकर भी चाहे तो नहीं हटा सकता था। इसीलिए मुझे भी झख मारकर वह शर्त निभानी थी, जो मुझे उसके साथ करनी पड़ी थी—अर्थात् देखने को मैं सब कुछ देख सकता था, परन्तु आग के पास अपने स्थान पर बिलकुल चुप्पी साधकर बैठना आवश्यक था। "देखो, प्रश्न एक भी नहीं करना। समय आवेगा तो इसकी बाबत मैं स्वयं ही तुम्हें सब कुछ बता दूंगा।" यही उसका स्पष्ट निर्देश था, जिसको मैं अच्छा न समझते हुए भी आदर के साथ पालन करता था।

एक क्षण रुकने के बाद उसने यह भी कहा था—"देखो, तुम्हारे बाप ने मेरी जिन्दगी बर्बाद कर दी, लेकिन मैं उसे अपनी इस प्रयोगशाला के अन्दर घुसने तक नहीं दूंगा, यह बताना तो दूर रहा कि मैं यहाँ काम क्या करता हूं। मैं जानता हूँ कि वह इन बातों के जानने का बड़ा उत्सुक है। वह मेरे रहस्यों को जानना चाहता है, लेकिन मैं उसे बताऊँगा नहीं, कदापि नहीं!"

इस 'कदापि नहीं' में वह स्पष्टवादिता थी, जिसे मैंने उसे छोड़कर अपने अन्य परिचित जनों में बहुत कम पाया था।

"पर तुम! ....तुम्हारी बात दूसरी है। तुम मेरे अपरिचित नहीं हो। तुम तो मेरे ही ख़ून हो। इसलिए तुम्हें मैं सिखाऊँगा। लेकिन देखो, तुम्हें मेरी बातों का आदर करना चाहिए। धैर्य रक्खो—धैर्य।"

मुझे धैर्य ही रखना पड़ा—बहुत अधिक, अन्यथा खाक भी न सीख पाता। मेरा गुरु किसी प्रकार भी अपने रहस्यों को न बताता।

उस कमरे में इतनी द्रुतगति से क्रियाएँ हो रही थीं कि वस्तुतः किसी बात पर विचार करने का समय ही न था। कोयलों पर वह छोटा-सा पात्र भलीभाँति रक्खा ही गया था कि उसने एक भूरे रंग की थैली को सावधानी के साथ खोलकर उसमें से कोई चीज निकाल कर पात्र में डालना शुरू किया। कुछ काले और लम्बे टुकड़े उस छोटे बर्तन में गिरे। वे पिघलें कि उन्होंने एक गहरे हरे रंग के थैले को खोला, जो पहले से बड़ा नहीं था। उसमें से भी कोई वस्तु निकालकर पात्र में डाली। इसी प्रकार एक तीसरे थैले में से, जो उसके समीप ही दरी पर पड़ा था। यहाँ आकर क्रिया रुक गई। कम-से-कम मैंने ऐसा ही सोचा और देखा कि पिघला हुआ तरल पदार्थ उबलकर पात्र के ऊपर तक आ गया है।

मेरा यह विचार ठीक था, क्योंकि अब उन्होंने फुंकनी उठाकर बड़े ही सधे हुए ढंग से फूंकना शुरू किया। कोयले अधिक तेजी से चमकने लगे और द्रव पदार्थ खौलने लगा।

तव आश्चर्यजनक फ़ुर्ती के साथ उन्होंने अपना हाथ एक थैले में डाला, जो पहले के तीनो थैलों से वड़ा था और उसमें से कोई सूखी जड़ी-बूटी निकालकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। फिर उन टुकड़ों को अपनी वाईं हथेली पर रख दाहिनी हथेली से दवाकर रगड़ा और वारीक कर डाला।

उस पाउडर को वाईं हथेली पर रखकर उन्होंने दाहिने हाथ से फुंकनी उठाई और उसके द्वारा आग तेज़ की। जव द्रव में से नीले रंग का धुवाँ निकलने लगा तव उन्होंने धीरे से फुंकनी नीचे रख दी और वाएँ हाथ वाला पाउडर पात्र में छोड़ दिया।

उसके वर्णन में मुझे जितना समय लगे, उससे भी कम में एक विचित्र घटना हुई। ज्योंही पाउडर के टुकड़े उस द्रव में घुले कि पात्र के पदार्थ का रंग ही वदल गया। काला रंग विलकुल ग़ायव हो गया। एक क्षण पहले जहाँ ऐसा काला पानी था, जैसा कि पतीली का धोवन होता है, वहाँ अव वर्फ़ से भी सफ़ेद नमक मौजूद था।

मैंने नमक विचार कर ही लिखा है। न जाने किस जादू के ज़ोर से उस उवलते द्रव की प्रत्येक वूंद ग़ायव हो गई और उसके स्थान पर एक प्रकार का पाउडर रह गया जो कि चाँदी की तरह चमक रहा था!

× × × ×

अपने कौतूहल को मैं अधिक न रोक सका। मैंने अव मौन रहने की अपनी वह प्रतिज्ञा तोड़ ही दी, जिसके द्वारा मुझे उस पुरानी किंतु ज्ञानपूर्ण प्रयोगशाला में प्रविष्ट होने तथा वहाँ काम देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। भावुकता से भरी हुई आवाज़ में मैंने पूछा,

"नाना, यह क्या हो गया? सूखी लकड़ियाँ कहाँ चली गईं? धातु के काले टुकड़े क्या हुए? पात्र का सारा द्रव पीकर वदले में यह चमकीला पाउडर कौन छोड़ गया?"

"वच्चे, ठहरो", नाना ने इस वार अपनी कठोर स्पष्टवादिता के स्थान में आश्चर्यजनक सहानुभूति दिखाते हुए कहा—"इस पात्र की वस्तु को हानि पहुँचने के पहले ही खाली न कर दूं तव तक धैर्य रक्खो। अग्निदेव आज अपने अनुकूल हैं। उन्होंने मेरे कर्म पर प्रसन्न होकर उसे सफलता से मंडित किया है।"

हाथ के वने कड़े और मटमैले काग़ज़ को फैलाकर उसने उस पर पात्र को औंधा दिया। फिर मुझसे कहा— "इस पाउडर में से थोड़ा-सा लो और उसे अपने अँगूठे और तर्जनी उँगली के वीच रखकर रगड़ो, जैसे कि मैं रगड़ रहा हूँ।" यह कहकर उन्होंने मुझे रगड़ने की क्रिया दिखाई।

मैं वोला, "लेकिन नाना, इसे रगड़ने की क्या ज़रूरत है?" यह तो उस मैदा से भी अधिक महीन है, जिसे हमारे नगर (रावलपिंडी, पंजाव) का हलवाई मिठाइयाँ वनाने में इस्तैमाल करता है!

"मैं जानता हूँ कि इस पाउडर को अधिक महीन वनाने की इच्छा से रगड़ना व्यर्थ है", नाना ने कहा। उनके सेव-जैसे गुलावी गाल सन्तोष से चमक रहे थे। "पहाड़ी नमक को इतना महीन पीसने वाली हाथ की मशीन आज तक ईजाद नहीं हुई। अग्निदेवता की शक्तियों को एक नाशवान् मानव कहाँ प्राप्त कर सकता है? यदि कोई ऐसी धृष्टता करे भी तो उसका प्रयास व्यर्थ ही होगा। मेरे प्यारे वच्चे, मेरी इस वात को गाँठ वाँध लो।"

"लेकिन नाना, अग्निदेवता इतना ही तो कर सकते थे कि उन विभिन्न आकार के छोटे-वड़े टुकड़ों को, जिन्हें आपने पात्र में रक्खा था, गला दें। उन्होंने अवश्य ही द्रव को उवाल कर उसमें शब्द और धुवाँ उत्पन्न कर दिया। वस, इतना ही तो उन्होंने किया।

"पात्र का पदार्थ वड़ा भद्दा दीखता रहा जव तक कि आपने उसमें वह जादू की जड़ी नहीं छोड़ी। तभी रूप और रंग में परिवर्तन हुआ। सो यह तो मेरे नाना की ही करामात है कि यह अजीव वात पैदा हुई।"

"अग्नि की ही सहायता से ऐसा हुआ, मेरे वच्चे।" उन्होंने कहा। उनकी आवाज़ मन्द पड़ रही थी। आँखों का दूसरा ही रंग था। उनमें वह दीप्ति थी, जो ज्ञान द्वारा अर्जित सफलता से प्राप्त होती है।

"वे सुन्दर लकड़ी के टुकड़े क्या थे, नाना?"

"तुम अभी बच्चे हो। अच्छा, तुम्हारी उमर क्या है ? छः ? नहीं लगभग सात। इस उमर के बच्चे पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह किसी रहस्य को गुप्त रख सके। खैर, कोई बात नहीं। मैं तुम्हें किसी दिन बता ही दूंगा। मैंने जो कुछ सीखा है वह सब तुम जान लोगे। बिना कुछ छिपाये मैं तुम्हें सब बता दूंगा। लेकिन अभी नहीं, जब तुम बड़े हो जाओगे और अपने संसार से विदा लेने से पहले ही।

× × × ×

मेरे नाना का जिस समय देहान्त हुआ, मैं उनसे बहुत दूर था। उन्होंने अपने पीछे कोई ऐसा लेख नहीं छोड़ा, जिससे मैं यह जान पाता कि उन्होंने किस प्रकार वह करामात दिखाई थी। और भी अनेक करामातें थीं जिन्हें सीखने की मेरी बड़ी उत्कंठा थी। यदि उन्होंने मेरे शैशव की उन आँखों के लिए, जो उनका रहस्य देख सकी थीं, कुछ लिखा भी होगा तो वह मुझे प्राप्त नहीं हो सका।

आधी शताब्दी से अधिक मेरे जीवन-काल में अनेक अवसर ऐसे आए जब मैं इस बात पर विचार करता रहा कि क्या संसार में मैं ही एक ऐसा अभागा व्यक्ति हूं जो दुर्भाग्य से इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सकने से वंचित रह गया हो ! मेरे नाना ने अपनी छोटी-सी प्रयोगशाला में रक्खी हुई सिगड़ी से सत्य का अनुभव किया। इस बात को सोचते-सोचते मेरे मस्तिष्क में आशा की एक किरण का उदय हुआ, जिसके द्वारा मुझे एक दूसरे पात्र का, जो नाना के पात्र से भी कहीं अधिक बड़ा और पुराना था, पता चला।

वास्तव में यह पात्र इतना विशाल था कि न तो मैं उसका पेंदा ही देख सकता था और न उसका ऊपरी भाग। यहाँ तक कि उसके किनारे जो बाहर की ओर उठे हुए थे, मुझे दिखलाई नहीं पड़ते थे।

यह सब होते हुए भी मुझे उसका ज्ञान था। अपनी जाग्रत् अवस्था के प्रत्येक क्षण में मुझे उसका ध्यान रहता था। यहाँ तक कि स्वप्नावस्था में भी मेरा विचार बरबस उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था।

मुझे सचमुच यह प्रतीत होता था कि उक्त पात्र मेरे चारों ओर है। वस्तुतः मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसी में था—मैं उसीके अन्दर रहता और घूमता-फिरता था।

केवल मैं ही नहीं, मेरे साथी और कुटुम्बी भी। वे लड़के भी जो कि किसी वास्तविक या काल्पनिक मनोमालिन्य के कारण मुझसे रूठे हुए थे, इसी पात्र के अन्दर थे और वे लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष भी, जो मेरे लिए बिलकुल अपरिचित थे, इस पात्र की परिधि से बाहर न थे।

यह पात्र स्वयं भारतमाता थीं। अज्ञात काल से संसार के कोने-कोने से लोग आकर भारतभूमि पर चलते-फिरते और काम करते रहे। वे विभिन्न जातियों और विभिन्न धर्मों वाले थे। उनके रूप-रंग, भाषाएँ और आचार-विचार भी एक दूसरे से भिन्न थे। उनमें से अधिकांश यहाँ खाली हाथ आये। लेकिन दिमाग़ उनका खाली नहीं था। प्रत्येक आगन्तुक का मस्तिष्क विचारों से परिपूर्ण था और उसके हृदय में अपनी-अपनी जन्मभूमि में प्रचलित विचारों तथा संस्थाओं के प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति थी। ज्योंही बाहरी लोग भारत-वासियों के सम्पर्क में आये और सबके भावों और विचार-परम्पराओं में आदान-प्रदान होकर सब लोग आपस में घुल-मिल गये तब उस संस्कृति का उद्भव हुआ, जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' कहते हैं। यह संस्कृति इतनी विशिष्ट थी कि दूसरी संस्कृतियों से उसकी भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो सकती थी। इसमें इतनी जीवन-शक्ति थी कि उन प्रदेशों से भी, जो कि शताब्दियों से भारतभूमि से पृथक रहे हैं, वह नष्ट नहीं हो सकी।

देहरादून]



दादू और रहीम

आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम्० ए०

भक्तों के बीच यह प्रसिद्ध है कि अकबर के विख्यात सहकारी अब्दुर रहीम खानखाना के साथ, जो कि एक महापंडित, भक्त और कवि थे, दादू का परिचय हुआ था। रहीम जैसे विद्वान्, उत्साही और अनुरागी के लिए दादू सरीखे महापुरुष को देखने की इच्छा न होना ही आश्चर्य की बात है।

१५४४ ई० में दादू का जन्म हुआ था और १५५६ ई० में रहीम का। इस हिसाब से रहीम, दादू से बारह वर्ष छोटे थे। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि रहीम का जन्म १५५३ ई० में हुआ था। १५८६ ई० में जब अकबर के साथ दादू का मिलन हुआ, उस समय नाना काज में व्यस्त रहने के कारण रहीम, दादू से बातचीत न कर सके। सम्भवतः अन्य सभी लोगों के भीड़भड़क्के में इस महापुरुष को देखने की इच्छा भी रहीम की न रही हो। जो हो, इसके कुछ समय के उपरान्त ही दादू के एकान्त आश्रम में जाकर रहीम ने दादू का दर्शन किया और उनसे बातचीत की। भक्त लोगों का कहना है कि रहीम के कई-एक हिन्दी दोहों में इस साक्षात्कार की छाप रह गई है।

दादू के निकट रहीम के जाने पर परब्रह्म के सम्बन्ध में बातचीत चली। दादू ने कहा, "जो ज्ञान बुद्धि के लिए अगम्य हैं, उनकी बात वाक्य में कैसे प्रकट की जा सकती है? यदि कोई प्रेम और आनन्द से उनकी उपलब्धि भी करे तो उसे प्रकट करने के लिए उसके पास भाषा कहाँ है?" इसी प्रकार के भाव कबीर और दादू की वाणी में अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं।

मौन गहें ते बावरे बोलें खरे अयान। (साच अंग, १०६)

अर्थात्—"जो मौन रहता है, वह पागल है; और जो बोलता है वह बिलकुल अज्ञान है।" वही रहीम के दोहे में भी पाया जाता है—

रहिमन बात अगम्य की कहन सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं कहत ते जानत नाहिं॥

अर्थात्—"हे रहीम, उस अगम्य की बात न कही जाती है और न सुनी जाती है। जो जानते हैं वे कहते नहीं और जो कहते हैं वे जानते नहीं।"

प्रसंग के क्रम में दादू ने कहा, "उनको विषय अर्थात् पर मानकर देखने से नहीं चलेगा, उनको अपना बनाकर देखना होगा। यदि मैं और वे एकात्म न हों, एक दूसरे से भिन्न रहें तो इस विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई स्थान नहीं जो हमीं दोनों जनों को अपने में रख सके।" इसीलिए दादू ने कहा—"जहाँ भगवान् हैं, वहाँ हमारा (और कोई स्वतन्त्र) स्थान नहीं। जहाँ हम हैं वहाँ उनकी जगह नहीं। दादू कहते हैं कि वह मन्दिर संकीर्ण है, दो जन होने से ही वहाँ और स्थान नहीं रहता।"

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है द्वै को नाहीं ठाम॥ (परचा अंग, ४४)

"वह मन्दिर सूक्ष्म और संकीर्ण है।"

मिहीं महल बारीक है। (परचा अंग, ४१) दादू कहते हैं—

"हे दादू, मेरे हृदय में हरि वास करते हैं, वहाँ और दूसरा कोई नहीं। वहाँ और दूसरे किसी के लिए स्थान ही नहीं है, दूसरे को वहाँ रक्खूँ तो कहाँ रक्खूँ?"

मेरे हृदय हरि वसै दूजा नाँहीं और।
कहो कहाँ धौं राखिये नहीं आन कौं ठौर ॥ (निहकर्मी पतिव्रता अंग, २१)

रहीम के दोहों में भी हम देखते हैं—

रहिमन गली है साँकरी, दूजो ना ठहराहिं।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपु नाहिं ॥

अर्थात्—"हे रहीम, संकीर्ण है वह मार्ग, दो जनों का खड़ा होना वहाँ असम्भव है। आपा रहने से हरि नहीं रहता और हरि रहने से आपा नहीं।"

उनके साथ इस प्रकार एकात्म होने से भजन, त्यजन सब एक हो जाता है। उनके साथ कोई भेद तो है नहीं। इसीलिए भजन करने पर भी और किसी दूसरे का भजन नहीं किया जाता। भजा जाय तो किसे और तजा जाय तो किसे ? दादू ने इसी प्रश्न को और इसी संशय को अंग-बन्धु संग्रह के विरह अंग (२९४-२९७) में व्यक्त किया है। उनकी अड़ाना रागिणी का ११६वाँ गान इस प्रसंग में स्मरण किया जा सकता है—

भाई रे तब का कथिसि गियानाँ,
जब दूसर नाहीं आनाँ।....

अर्थात्—"अरे भाई, जब कोई दूसरा है ही नहीं तो फिर क्या ज्ञान की बात छाँट रहा है !"

रहीम की वाणी में भी इस भाव का दोहा है—

भजौं तो काको भजौं, तजौं तो काको आन,
भजन तजन ते विलग हैं, तेहि रहीम तू जान।

अर्थात्—"हे रहीम, अगर भजना ही चाहते हो तो किसे भजोगे और तजना ही चाहते हो तो किसे तजोगे। भजन और तजन के जो अतीत हैं, तुम उनको ही जानो।"

संसार के साथ साधना का और विश्व के साथ व्यक्ति का कोई विरोध नहीं है। इस विश्व के समान ही हमारे भी जिस प्रकार आत्मा है उसी प्रकार देह भी है। इसीलिए दादू ने कहा है, "देह यदि संसार में रहे और अन्तर यदि भगवान् के पास तो ऐसे भक्त को काल की ज्वाला, दुःख और त्रास कुछ भी व्याप नहीं सकते।"

देह रहै संसार में, जीव राम के पास।
दादू कुछ व्यापै नहीं, काल झाल दुख त्रास ॥ (विचार अंग, २७)

और रहीम ने भी कहा है—

तन रहीम है कर्म वस, मन राखो ओहि ओर।
जल में उलटी नाव ज्यों, खैंचत गुन के जोर ॥

मन जब इस प्रकार भगवान् में भरपूर रहता है तब संसार उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। उस समय सांसारिकता को हटाने के लिए किसी बनावटी आयोजन की जरूरत नहीं पड़ती। भगवद्भाव से भरे हुए चित्त में से सांसारिक वासना स्वयं दूर हो जाती है :

दादू मेरे हृदय हरि वसै दूजा नाहीं और।
कहौ कहाँ धौं राखिए नहीं आन कौं ठौर ॥ (निहकर्मी पतिव्रता अंग, २४)

अर्थात्—"दादू कहते हैं कि मेरे हृदय में एकमात्र हरि ही वास करते हैं और कोई दूसरा नहीं। और मैं भला किसको रक्खूँ यहाँ ? दूसरे के लिए जगह कहाँ है !"

दूजा देखत जाइगा एक रहा भरिपूर। (निहकर्मी पतिव्रता अंग, २४)

एक ही इस प्रकार परिपूर्ण होकर विराजमान है कि दूसरा उसे देखते ही हट जायगा।

ठीक दादू की तरह ही रहीम ने भी कहा है, "प्रियतम की छवि, प्रियतम की शोभा आँखों में भरपूर होकर बसी है। दूसरे की छवि के प्रवेश करने की जगह कहाँ है ! हे रहीम, भरी हुई पान्यशाला को देखकर दूसरे पथिक स्वयं ही लौट जाते हैं।"

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ बसाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय॥

ऐसी अवस्था में कृत्रिम वेश और साज-सज्जा कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जो जीवन भगवान से परिपूर्ण है, वह क्या कोई कृत्रिम साज-सज्जा सह सकता है ? दादू ने कहा है—

बिरहिन को सिंगार न भावे.......
बिसरे अंजन मंजन चीरा, बिरह व्यथा बहु व्यापै पीरा। (राग, गौड़ी २०)

और आगे चलकर दादू ने कहा है—

जिनके हृदय हरि बसै....
....मैं बलिहारी जाऊँ। (साव अंग, ६३)

रहीम ने इसीसे मिलता-जुलता दोहा कहा है, "जिन आँखों में अंजन दिया है उनमें किरकिरा सुरमा नहीं दिया जा सकता। जिन आँखों से श्री भगवान् का रूप देखा है, वलिहारी है उन आँखों की !"

अंजन दियो तो किरकिरी, सुरमा दियो न जाय।
जिन आँखिन से हरि लख्यो, रहिमन बलि बलि जाय॥

दादू ने कहा है, "ऐसी आँख सारे संसार में भगवान् की नित्य रास-लीला को देखती है। ऐसी आँख देखती है कि घट-घट में वही लीला चल रही है। प्रत्येक घट महातीर्थ है। घट-घट में गोपी हैं। घट-घट में कृष्ण। घट-घट में राम की अमरपुरी है। प्रत्येक अन्तर में गंगा-यमुना वह रही हैं और प्रत्येक में सरस्वती का पवित्र जल स्पन्दित है। वहाँ प्रत्येक घट में कुंजकेलि की नित्यलीला चल रही है, सखियों का नित्यरास खेला जा रहा है। विना वेणु के ही वहाँ वंसी वज रही है और सहज ही सूर्य, चन्द्र और कमल विकसित हो रहे हैं। घट-घट में पूर्ण ब्रह्म का पूर्ण प्रकाश विकीर्ण हो रहा है और दास दादू अपनी शोभा देख रहा है।

घटि घटि गोपी घटि घटि कान्ह।
घटि घटि राम अमर अस्थान॥
गंगा यमुना अन्तरवेद।
सरसुति नीर वहै परसेद॥
कुंज-केलि तहँ परम विलास।
सब संगी मिलि खेलैं रास॥
तहँ बिनु वेन बाजै तूर।
विगसै कमल चन्द अरु सूर॥
पूरण ब्रह्म परम परकास।
तहँ निज देखै दादू दास॥

अवतार का तत्त्व समझाते हुए रहीम कहते हैं, "हे रहीम, यदि प्रेम का स्मरण निरन्तर एकतान भाव से होता रहे तो वही सर्वश्रेष्ठ है। खोये हुए प्रियतम को चित्त में फिर से पा लेना ही तो अवतार है।"

रहिमन सुधि सब तें भली, लागै जो इकतार।
बिछुरे प्रीतम चित मिलै, यहै जान अवतार॥

बरावरी का न होने से प्रेम की लीला नहीं चल सकती ! प्रेम के लिए भगवान् ने भक्त को अपने समान बना लिया है, यह मानों बिन्दु का सिन्धु के समान हो जाना है। रहीम ने आश्चर्य के साथ कहा है कि इस अद्भुत प्रेम-लीला में हेरनहार अपने में ही हेरा जाता है (खो जाता है)।

बिन्दु भो सिन्धु समान, को अचरज कासों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आप तें॥

दादू ने कहा है, "भीतर ही रोओ।—मनहि माँहि झूरना, (विरह अंग, १८)

और वहाँ वाक्य की अपेक्षा ही कहाँ है। वहाँ मौन रहने में हानि ही क्या है? भला जिसने हृदय में ही घर बना लिया है, उससे कहने को बच ही क्या रहा?"

जिहि रहीम तन मन लियो, कियो हिये बिच भौन।
तासो सुख दुख कहन को रही बात अब कौन॥

यह प्रेम के भाव में भगवान् और भक्त का जो अभेद है, उसका परिचय नाना भाव से कबीर, दादू आदि महापुरुषों की वाणी में पाया जाता है। यहाँ उनका विस्तार करना निष्प्रयोजन है।

दादू के साथ रहीम की बातचीत एक ही बार हुई थी, या कई बार दोनों का मिलना हुआ था, यह कहना कठिन है। लेकिन इन सब साधकों के मत का प्रभाव उनकी कविता पर पड़ा है, यह बात स्पष्ट है।

लेकिन यह भी सच है कि दुःख का आघात पाये बिना मनुष्य भगवान् की ओर नहीं झुकता। इसीलिए रहीम ने बड़े दुःख के साथ कहा है कि विषय-वासना में लिपटा हुआ मनुष्य राम को हृदय में नहीं धारण कर सकता। पशु तिनका तो बड़े प्रेम से खाता है, लेकिन गुड़ उसे गुलिया कर खिलाया जाता है।

रहिमन राम न उर धरै, रहत विषय लपटाय।
पशु खड़ खात सवाद सों, गुड़ गुलियाये खाय॥

अकबर जबतक जीवित थे, रहीम सुखपूर्वक थे। नाना प्रकार के दान और औदार्य से उनकी ख्याति देश भर में व्याप्त हो गई थी। बाद में जब रहीम पर दुःख और दुर्दिन आया तो दादू परलोक सिधार चुके थे। इसीलिए उन दिनों रहीम को दादू जैसे महापुरुष के पास जाकर सान्त्वना पाने का अवसर नहीं मिला। उस अवस्था में रहीम, दादू के पुत्र ग़रीबदास के पास गये थे और उनसे अपने मन की व्यथा कही थी। ग़रीबदास बड़े ही भगवद्प्रेमी थे। कहते हैं कि इनके संसर्ग में आने पर ही रहीम का चित्त भगवद्भक्ति से भर उठा था और उन्होंने गद्गद होकर कहा था—

समय दसा कुल देखि कै,
सबै करत सन्मान।
रहिमन दीन अनाथ को,
तुम बिन को भगवान॥

ग़रीबदास के सम्पर्क में आने के बाद ही रहीम ने अनुभव किया था कि दुःख दुर्दशा होने से यदि प्रियतम का मिलना सुलभ होता है तो दुःख दुर्दशा ही अच्छी है। प्रिय से मिलाने वाली रात अकेले-अकेले कटने वाले दिन की अपेक्षा कहीं अच्छी है।

रहिमन रजनी ही भली, पिय सों होय मिलाप।
खरो दिवस किहि काम को, रहिबो आपुहि आप॥

इसी बात को एक और ढंग से रहीम ने कहा है—

काह करों बैकुंठ लै, कल्प वृच्छ की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो गल पीतम बाँह॥

उत्तर भारत के नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में बंगाली प्रभाव

श्री सुकमार सेन एम० ए०, पी-एच० डी० (कलकत्ता)

यह बात बहुत समय से विचारग्रस्त रही है कि संभवतः बंगाल से ही नाथ--योग सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई है। गोईचंद या गोपीचंद तथा उनकी माता मैनावती की पौराणिक कथा, जो कि इस संप्रदाय से संबंधित कथाओं में सबसे अधिक मनोरंजक है, बंगाल से उठकर उत्तर तथा पश्चिम के कोनों तक फैल गई है। इस कथा का प्रसार आधुनिक नहीं है; क्योंकि मलिक मुहम्मद जायसी के ग्रंथ पद्मावती[1] में भी हमें इसका एक से अधिक बार उल्लेख मिलता है; परन्तु कथा का बंगालीपन बिलकुल गायब नहीं हो सका है।

बहुत पुराने काल से योगी या नाथ-संप्रदाय का गहरा संबंध बंगाल प्रान्त के विशेष लौकिक संप्रदाय से, जो कि धर्म-संप्रदाय कहलाता है, रहा है। यह एक अन्य प्रमाण है, जिससे पुष्ट होता है कि नाथ-संप्रदाय की उत्पत्ति बंगाल में ही हुई।

इस नाथ-संप्रदाय की दूसरी महत्त्वपूर्ण कथा, जिसमें इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार योगी मत्स्येन्द्र-नाथ कदली नामक देश की स्त्रियों के मोह में फंस गए, तथा अंत में किस प्रकार उनका उद्धार उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने किया, बंगाल के बाहर इतनी अधिक प्रसिद्ध नहीं है; परन्तु कथा का सार अर्थात् किस प्रकार शिष्य से गुरु को ज्ञान की प्राप्ति हुई, उत्तर तथा पश्चिम भारत के योगियों के पारस्परिक उपदेशों में तथा उनके प्रश्नोत्तर संबंधी ग्रंथों में बारंबार मिलता है। इन सबका संग्रह डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरख-बानी नामक एक अच्छे ग्रंथ के रूप में सम्पादित किया है जो हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस सुन्दर संग्रह से न केवल बानियों के रूप तथा उनके मुहावरों पर, अपितु पूरे-पूरे वाक्यांशों तथा अन्य तुलनात्मक बातों पर निस्संदेह बंगाली प्रभाव प्रकट होता है।

ʘ गोरख-बानी के दोहों तथा पदों में यदि सभी नहीं तो अधिकांश पहले-पहल बंगला में लिखे गये थे, इसकी पुष्टि में कितने ही शब्दों के भूतकालिक आदि रूप दिए जा सकते हैं, जिससे बंगला भाषा का प्रभाव स्पष्ट होगा:—

(क) भूतकालिक रूप—इल—(उदा०—पाइला, रहिला, जाइला, कहिला, बिआइला, करिला, मरिली, तजिली, तजिला, राखिले, मुड़ाइले आदि)।

(ख) भविष्यत्-रूप—इब—(उदा०—खेलिबा, गाइबा, देखिबा, पाइबा, मुँड़ाइबा आदि)।

(ग) कुछ मुहावरे—दिढ़ करि (मजबूती से, पृष्ठ ३), दया करि (पृष्ठ १८६), मस्तक मुड़ाइले (सिर मुड़ा लिया, पृष्ठ ४५)।

(घ) कुछ वाक्यांश—कोट्यां मधे गुरुदेवा गोटा एक बुझे (हे गुरुदेव, करोड़ में से कोई एक समझे, पृष्ठ १५१) आदि।

नीचे की समानताएँ भी ध्यान देने योग्य हैं।

(१) कुंची ताली (ताला) सुषमन करै (पृष्ठ ४६); मिलाओ पुरानी बंगला—सासु घरे, घालि, कोंचा ताल (सास के घर को ताला और कुंजी देना, चर्यापद ४)।

---

[1] जो भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू॥ जोगीखंड ५;
गोपिचन्द तुइ जीता जोगू—सिंहलद्वीपखंड १;
मानत भोग गोपिचन्द भोगी। लेइ अपसवा जलन्धर जोगी॥ नागमतीवियोगखंड, १; इत्यादि।

(२) गगन शिखर आछै अम्बर पानी (पृष्ठ ६१); मिलाओ पुरानी बंगला—मइ अहारिल गअणत पनिआँ (मेरे द्वारा गगन का पानी पिया गया है; चर्यापद ३५)।

(३) ऊँचे ऊँचे परवत विषम के घाट। तिहाँ गोरखनाथ कै लिया से वाट॥ (पृष्ठ १३४); मिलाओ पुरानी बंगला—ऊँचाऊँचा पावत तंहि वसइ शवरी बाली (ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर शबरी बालिका बसती है, चर्यापद २८)।

(४) गिनांन ची डालिला पालंखु (पृष्ठ १४०); मिलाओ पुरानी बंगला—तिअ धाउ खाट पड़िला (त्रिधातु की खाट पड़ी है, चर्यापद २८)।

(५) माया (=माअ, माता) मारिली, मावसी (मौसी), तजिली, तजिला कुटम्ब बन्धु। सहसदल कवंल तहाँ गोरख मन सन्धू॥[1] (पृष्ठ १४१); मिलाओ पुरानी बंगला मारिअ शासु ननन्द घरे शाली। माअ मारिआ कान्ह भइअ कवाली॥ (सास, ननद और साली को तथा माता को मार कर कान्ह कापालिक हो गया, चर्यापद ११)।

(६) ग्यान गुरु नाउ[2] तूंबा अम्हारैं मनसा चेतनि डांडी (पृष्ठ १०६) मिलाओ पुरानी बंगला—सूज लाउ शशी लागेलो तांती, अणहा दांडी (सूर्य वीणा की लौकी बन गया, चंद्रमा तांत बना, और अनहद की डण्डी हो गई, चर्यापद १७)।

(७) गावड़ी के मुख में वाघला विआइला[3] (पृष्ठ १२७); मिलाओ पुरानी बंगला—बलद विआइल गविआ बांझे (बैल के तो बछड़ा उत्पन्न हुआ और बांझ गाय से, चर्यापद ३३); मध्यकालीन बंगला—व्याघ्रेर समुखे जेन समर्पिला गोरू (मानों व्याघ्र के सम्मुख एक गाय सौंपी गई, गोरक्ष-विजय पृष्ठ १२१)।

(८) नाचत गोरखनाथ घुंघरी चै घातैं (पृष्ठ ८७); बंगला से मिलाओ—नाचंति जे गोर्खनाथ घुंघरेर रोले (गोरखनाथ घुंघुरुओं के रौले या शब्द पर नृत्य करते हैं, गोरक्ष-विजय पृष्ठ १८७)।

(९) दिवसइं वाघणी नन मोहइ, राति सरोवर सोषइ।
जाणि बुझि रे मुरिख लोया घरि घरि वाघणी पोषइ॥ (पृ० १३७)।

मिलाओ मध्यकालीन बंगला :

अभागिया नरलोके किछुइ नाहि बुझे रे, घरे घरे पालेंल वाघिनी॥
दिवा हैले वाघिनी जगतमोहिनी रे, रात्रि हैले सवांग शोषे। (गोरक्ष-विजय पृ० १८७)

(१०) पुरिलै वंकनालि (पृ० १५५); मिलाओ मध्यकालीन बंगला—बांका नाले साधो गुरु (हे गुरुदेव, वक्रनाल अर्थात् सुषम्ना योग की साधना करिए, गोरक्ष-विजय पृ० १५)।

'गोरख-बानी' के कुछ छंदों का वृत्त प्रायः स्पष्टरूप से बंगला का छंद पयार है। इन छंदों की भाषा में भी बंगला प्रभाव दृष्टिगोचर है। ऊपर के उद्धरणों में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। अन्य उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:—

(क) एतैं कछु कहिला[4] गुरु सबै भेला भोलै।
सर्वरस खोइला[5] गुरु वाघनी कै कोलैं[6]॥ (पृ० ८८);

मिलाओ—सर्वधन हाराइला कामिनीरे कोले (तुमने कामिनी की गोद में सब धन नष्ट कर दिया, गोरक्ष-विजय पृ० ६६)।

---

[1] इस पंक्ति का पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'सहंसर कंवल तहाँ गोरख वाला जहाँ मन मनसा सुर सन्धू' होगा।
[2] पाठांतर—'दोउ'। [3] पाठभेद—'विवाइला'। [4] पाठांतर—कप्यिला।
[5] पाठांतर—पोईला, निस्संदेह बंगला का 'खोयाइला'। [6] पाठांतर—पोलैं।

(ख) वदंत गोरखनाथ, जाति मेरी तेली।
तेल गोटा पीड़ि लिया, खलि[1] दोइ[2] मेली॥ (पृ० ११७)

(ग) कैसे बोलों पंडिता, देव कौने ठांई।
निज तत निहारतां, अम्हे तुम्हे नांही॥ (पृ० १३१)

(घ) बारह कला रवि षोलह कला ससी।
चारि कला गुरुदेव निरंतर बसी॥ (पृ० २४१)

बंगाल के धर्मदेव-सम्प्रदाय की विचित्र सृष्टि-उत्पत्ति में यह कथन है कि मत्स्येन्द्रनाथ (मीननाथ) चार अन्य सिद्धों के सहित आदि देव या आदिनाथ के गड़े हुए मृत शरीर में से उत्पन्न हुए थे। गोरख-बानी में कई जगह मच्छिन्द्र को आदिनाथ (निरंजन या धर्म) तथा मनसा का पुत्र कहा गया है।[3] बंगाली परम्परा में भी (जैसा कि धर्म-सम्प्रदाय की सृष्टि-उत्पत्ति में कथित है) केतका को (जो बाद में 'शिव की पुत्री' तथा 'सर्पों की देवी' कही गई है) आदिदेवी कहा गया है, तथा वह आदिदेव की पत्नी है।

बेहुला (विपुला), लखिन्दर (लक्ष्मीधर) तथा दैवी नेता (नित्या या नेत्रा) जो त्रिवेणी के घाट पर कपड़े धोया करता था—इन सब की कथा का जन्म-स्थान बंगाल ही है, जहाँ यह कथा पच्छिम में बनारस तथा संभवतः उसके आगे के प्रदेश तक फैली। बंगाल के योगियों ने इस कथा के कुछ अंश को अपने गुप्त योग को प्रकट करने के स्वरूप में अपना लिया, तथा उनसे भारत के अन्य प्रदेशों के योगियों ने उसे ग्रहण किया। गोरख-बानी के दो या तीन पदों में इस आध्यात्मिक कथा की ओर संकेत पाया जाता है।

चांद गोटा खुटा करिलै, सुरिज करिलै पाटि।
अहनिसि धोबी धोवै, त्रिवेणी का घाटि॥ (पृ० १५१)
चांद करिलै खुटा, सुरजि करिलै पाट।
नित उठि धोबी धोवै, त्रिवेणी के घाट॥ (पृ० १५१)

कलकत्ता]



[1] पाठ-भेद—षाल। [2] पाठांतर—दोवी। [3] उदाहरणार्थ, 'माता हमारो मनसा बोलिये पिता बोलिये निरंजन निराकार' (पृ० २०२)।

हिन्दू-मुस्लिम-सवाल का आध्यात्मिक पहलू

पंडित सुन्दरलाल

आदमी की जिन्दगी के हर सवाल को कई तरह से और कई पहलुओं से देखा जा सकता है। जितने अलग-अलग पहलू इस जिन्दगी के हैं, या हो सकते हैं, उतने ही तरह के सब सवालों के हो सकते हैं। मोटे तौर पर इन्सान की जिन्दगी के तीन पहलू हमें दिखाई देते हैं। एक तारीखी या इतिहासी पहलू। दूसरा समाजी, कल्चरल यानी आए दिन की जिन्दगी और रहन-सहन का पहलू और तीसरा आध्यात्मिक या रूहानी पहलू। जिस सवाल की हम इस लेख में चर्चा करेंगे उस का एक और चौथा सियासी यानी राजकाजी पहलू भी एक खास पहलू है। इन सब पहलुओं, खासकर आध्यात्मिक पहलू को, सामने रखकर ही हम आजकल के हिन्दू-मुस्लिम-सवाल पर एक सरसरी निगाह डालना चाहते हैं।

यूँ तो यह सवाल उस जमाने से चला आता है, जब से इस देश के अन्दर हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मानने वाले साथ-साथ रहने लगे, पर बीसवीं सदी ईस्वी के शुरू से इस सवाल का जो रूप बनता जा रहा है, वह एक दर्जे तक नया रूप है। 'प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' एक ऐसा ग्रन्थ है, जो मुमकिन है, हिन्दू-मुस्लिम सवाल के मौजूदा रूप के मिट जाने या हल हो जाने के बाद भी लोगों के हाथों में दिखाई दे और उन्हें अपनी और अपने देश की आगे की तरक्की का रास्ता दिखाता रहे। ऐसी सूरत में इस लेख के कुछ हिस्से का मोल सिर्फ़ इतिहासी मोल ही रह जायगा; लेकिन कुछ हिस्सा ऐसा भी होगा जो ज्यादा देर तक काम का साबित हो।

इस सवाल का इतिहासी पहलू एक लम्बी चीज है। थोड़े से में उसका निचोड़ यह है। देश में कई अलग-अलग मजहबी ख्यालों के लोग रहते थे। उनकी मानताओं, मजहबी उसूलों और रहन-सहन के तरीक़ों में काफ़ी फ़रक़ था। कोई निराकार के पूजने वाले, कोई साकार के। कोई मूर्ति-पूजक, कोई मूर्ति-पूजा को पाप समझने वाले। कोई ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानने वाले और कोई किसी भी कर्त्ता के होने से इन्कार करने वाले। कोई मांस खाने को अपने धर्म का जरूरी हिस्सा मानने वाले और कोई उसे पाप समझने वाले। कोई देवी के सामने हवन में मदिरा चढ़ाने वाले और कोई मदिरा छूने तक को गुनाह समझने वाले। वग़ैरह-वग़ैरह। लेकिन ये सब लोग किसी तरह एक गिरोह में गिन लिए जाते थे, जिसे हिन्दू कहा जाता था। थोड़े से ईसाई और यहूदी भी देश के किसी-किसी कोने में थे, पर देश की आम जिन्दगी पर उनका असर नहीं के बराबर था। ऐसी हालत में एक नया मजहब इस देश में आया, इस्लाम। इस नए धर्म के मानने वाले एक ईश्वर को मानते थे। जात-पात और छुआछूत, जो हिन्दू-धर्म का एक खास हिस्सा बन चुकी थी, उनमें बिल्कुल न थी। मूर्ति-पूजा को वे गुनाह समझते थे। वे एक निराकार के उपासक थे। उनमें मामूली आदमियों और ईश्वर के बीच किसी पुरोहित की जरूरत न थी। आदमी-आदमी सब बराबर। लेकिन उनके धर्म को जन्म देने वाले महापुरुष हजरत मुहम्मद अरब में जन्मे थे, हिन्दुस्तान में नहीं। उनकी खास मजहबी किताब क़ुरान अरबी में लिखी हुई थी, संस्कृत या किसी हिन्दुस्तानी जबान में नहीं।

हिन्दू-धर्म के साथ इस्लाम की थोड़ी-बहुत टक्कर होना क़ुदरती था। यह टक्कर कोई नई चीज नहीं थी। इस देश के इतिहास में इस से पहले पुराने द्राविड़-धर्म और नए आर्य-धर्म में कई हजार बरस तक टक्कर रह चुकी थी। हजारों बरस तक वेदों के मानने वाले आर्य अपने वैदिक देवताओं जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र की पूजा को मुख्य समझते थे। यहाँ के असली बाशिन्दे अपने पुराने देवताओं, शिव और चतुर्भुज विष्णु की पूजा को ही जारी रखना चाहते थे। लड़ाइयाँ हुईं, गिरोह-के-गिरोह मिटा डाले गए। आखीर में कई हजार बरस की टक्करों के बाद जब दोनों धाराएँ गंगा और जमुना की तरह एक दूसरे में मिल गईं तो आज यह पता लगाना भी मुश्किल है कि इस मिली-जुली जीवन-धारा का कौन सा कण आर्य है और कौन सा द्राविड़। मित्र, वरुण और इन्द्र के मन्दिर हिन्दुस्तान भर में आज ढूंढे से भी मिलने मुश्किल हैं,

पर द्राविड़ जाति के शिव आज करोड़ों के देव देव महादेव वन कर लगभग हर मन्दिर के अन्दर मौजूद हैं। चतुर्भुज विष्णु इतने अपना लिए गए कि हिन्दुओं के सब अवतार विष्णु के अवतार गिने जाते हैं। यह उस महान समन्वय की सिर्फ़ एक छोटी-सी मिसाल है।

जिस तरह की टक्कर आर्यों और द्राविड़ों में रही, उसी तरह की थोड़ी-बहुत उसके वाद के ज़माने में हिन्दुओं और जैनियों में और आठवीं सदी ईस्वी तक शैवों और शाक्तों में, यहाँ तक कि राम के भक्तों और कृष्ण के उपासकों में वरावर होती रही। इन टक्करों में एक दूसरे का वहिष्कार भी हुआ और लाठियाँ और तलवारें भी चलीं। आजतक—'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेत जैनमन्दिरम्' जैसे फ़िकरे देश के साहित्य से मिटे नहीं हैं। ये सव टक्करें एक क़ुदरती ढंग से पैदा हुई और उतने ही क़ुदरती ढंग से मिट गई। पुराने ज़माने के ये सब सवाल आज इतिहास की एक कहानी रह गए हैं।

इस्लाम के आने के साथ देश में नई टक्करों का होना क़ुदरती था। टक्करें शुरू हुई। देश के अलग-अलग हिस्से में और ज़िन्दगी के अलग-अलग पहलुओं में उन्होंने अलग-अलग रूप लिये। फिर भी सात सौ-आठ सौ वरस तक देश के इस सिरे से उस सिरे तक सैकड़ों शहरों और हज़ारों गाँवों में हिन्दू और मुसलमान प्रेम के साथ मिलजुल कर रहते रहे। इस सारे समय में वाहर से आकर देश में वस जाने वाले मुसलमानों की तादाद कुछ हज़ार से ज्यादा नहीं थी। वाक़ी सव लाखों और करोड़ों आदमी, जिन्होंने इस्लाम धर्म को अपनाया, यहीं के रहने वाले और यहीं के हिन्दू माता-पिता की औलाद थे। हर गाँव और हर शहर में हिन्दू और मुसलमान एक ही ज़वान वोलते थे। एक-दूसरे के त्यौहारों और तक़रीवों, व्याह-शादियों और रीति-रिवाजों में शरीक होते थे। एक-दूसरे को 'चाचा', 'ताया', 'मामा', 'भाई' वग़ैरह कहकर पुकारते थे। ज्यादातर मुसलमान घरानों में आजतक सैकड़ों हिन्दू-रस्में पालन की जाती हैं। जैसे दसूठन, सालगिरह, कनछेदन, नकछेदन, शादी में दरवाज़े का चार, तेल चढ़ाना, हल्दी चढ़ाना, कलेवा वाँधना, कँगना वाँधना, मँडवा। ऐसे ही हिन्दुओं ने काफ़ी रस्में मुसलमानों से लीं। जैसे, घोड़ी चढ़ना, जामा, सेहरा, शहवाला। दोनों ने मिलकर इस देश की कारीगरी, चित्रकारी, उद्योग-धन्धे, कला-कौशल, तिजारत, संगीत वग़ैरह को अपूर्व उन्नति दी। मुग़लों की सल्तनत का ज़माना इन सव वातों में इस देश का सवसे ज्यादा तरक़्क़ी का ज़माना माना जाता है। सत्तरहवीं सदी ईस्वी के आख़ीर और अठारहवीं सदी के शुरू के सव विदेशी यात्री, जो समय-समय पर इस देश में आये, इस वात में एक राय हैं कि उस ज़माने में दुनिया का कोई देश धन-धान्य, सुख-समृद्धि, तिजारत और उद्योग-धन्धों में हिन्दुस्तान का मुक़ाविला नहीं कर सकता था। राजाओं राजाओं में लड़ाइयाँ होती थीं, पर जिस तरह कहीं-कहीं हिन्दू और मुसलमान लड़े हैं, उसी तरह हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान भी आपस में लड़े हैं। वाहर से हमला करने वाले मुसलमानों के ख़िलाफ़ देश के मुसलमान हुकमरानों का डटकर लड़ना और यहाँ के हिन्दू राजाओं का उनका साथ देना एक मामूली घटना थी। मुसलमान वादशाहों की फ़ौज में हिन्दू सिपाही और हिन्दू सेनापति, और हिन्दू राजाओं की सेना में मुसलमान सिपाही और मुसलमान सेनापति, ऐसे ही हिन्दू राजाओं के मुसलमान प्रधान मन्त्री और मुसलमान वादशाहों के हिन्दू वज़ीरे-आज़म सात सौ वरस के भारतीय इतिहास में क़दम-क़दम पर देखने को मिलते हैं।

उस सारे ज़माने में हमें मुल्क के जीवन में तीन साफ़ अलग-अलग लहरें वहती हुई दिखाई देती हैं। एक इस्लाम के आने से पहले की ब्राह्मणों के प्रभुत्व, जात-पात और छूआछूत की तंग हिन्दू लहर। दूसरी फ़िकह (कर्मकांड) का कट्टरता से पालन करने वाली तंग इस्लामी लहर और तीसरी दोनों के मेल-जोल की वह प्रेम की लहर, जो दोनों की तंग-ख्यालियों से ऊपर उठकर दोनों के गुणों को अपने अन्दर लिये हुए थी। रहन-सहन, खान-पान, चित्रकारी, मकानों का वनाना, धर्म और संस्कृति, सव में ये तीनों लहरें साफ़ दिखाई दे रही थीं। इनमें धीरे-धीरे तंग-ख्याली की दोनों लहरें सूखती जाती थीं और मेल-मिलाप की लहर वढ़ती और फैलती जा रही थी। आशा होती थी कि देश में समन्वय की पुरानी परम्परा को क़ायम रखते हुए एक दिन यह प्रेम की लहर सारे मैदान को ढक लेगी और देश के अन्दर

उस नई संस्कृति, नये समाज और नई धार्मिक कल्पना को जन्म देगी, जो अलग-अलग संकीर्ण कल्पनाओं से बढ़कर और उनसे ऊँची होगी।

इन तीनों अलग-अलग लहरों की हम एक छोटी-सी मिसाल ईंट-पत्थरों की ठोस शकल में देना चाहते हैं। फ़न्ने तामीर यानी गृह-निर्माण-कला में अगर हमें एक तरफ़ इस्लाम से पहले के पुराने हिन्दू आदर्शों को देखना हो तो दक्षिण के मन्दिर हैं। कुर्सी के ऊपर कुर्सी, कंगूरे के ऊपर कंगूरा, ठोस पत्थर, आसमान से बात करते हुए कलश और मन्दिर के चारों तरफ़ की दीवारों की एक-एक इंच जगह मूर्तियों से ढकी, ठीक उसी तरह जिस तरह हिन्दुस्तान के घने जंगल। इन इमारतों का अपना एक गौरव है। दूसरी तरफ़ बाहर से आने वाले इस्लामी आदर्श का नमूना—अजमेर और दिल्ली की मसजिदें, साफ़-सफ़ाचट दीवारें, जिनमें सिवाय अल्लाह के कोई चीज़ दिखाई न दे, गोल सफ़ेद गुम्बद और ऊँचे मीनार, अरब के बयाबान रेगिस्तान की याद दिलाने वाले। इनकी भी अपनी एक अलग शान है। तीसरे इन दोनों आदर्शों का मेल, इनकी एक दूसरे पर क़लम, इनका प्रेमालिंगन अगर देखना हो तो आगरे का ताज, जो दुनिया की सबसे सुन्दर इमारतों में गिना जाता है और जो आज भी इस देश के सड़े-गले जिस्म पर झूमर की तरह लटक रहा है। यही हाल हमें और सब कलाओं और विद्याओं में दिखाई देता है। मुग़ल सल्तनत के ज़माने में न जाने कितने नये पौधे, कितनी नई तरह के फल, नये फूल, नये-नये जानवर, नई तरह के कपड़े इस मुल्क में आये और न जाने कितने नये-नये खाने और नई-नई मिठाइयाँ जारी हुईं। आजकल के दिल्ली या आगरे या मथुरा के किसी भी हलवाई की दुकान की मिठाइयाँ तथा ढाका और मुर्शिदाबाद के रेशमी और सूती कपड़ों के नाम हमें अपनी ईजाद के समय की याद दिला रहे हैं।

यह मेल-मिलाप की लहर हमारे रूहानी यानी आध्यात्मिक जीवन में भी गहरी चली गई थी। कबीर, दादू, नानक, पल्टू, चैतन्य, तुकाराम, बाबा फ़रीद, बुल्लेशाह, मुईनुद्दीन चिश्ती और यारी साहब जैसे सैकड़ों हिन्दू और मुसलमान फ़क़ीर हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों के ऊपरी कर्म-काण्डों से ऊपर उठकर हमें प्रेम-धर्म का सन्देश सुना रहे थे और देशभर में चारों ओर प्रेम के सोते बहा रहे थे। हिन्दू धर्म ने इस्लाम के सम्पर्क से अपने अन्दर अनेक सुधार की लहरें पैदा कीं। अनेक हिन्दू आचार्यों ने जात-पात और छुआछूत को तोड़ने और आदमी आदमी के बीच बराबरी क़ायम करने का उपदेश दिया। हिन्दू धर्म के सम्पर्क से इस्लाम का ज़रूरत से ज्यादा नुकीलापन या कटीलापन भी टूटा। मुसलमान फ़क़ीरों और महात्माओं के मज़ारों पर वसन्त के दिन वसन्ती चादरें चढ़ाई जाने लगीं। मुसलमान बादशाहों के दरबारों में होली, दिवाली, रक्षाबन्धन और दशहरा जगह-जगह उसी प्रेम, उसी जोश और उसी उमंग से मनाया जाता था, जिस तरह हिन्दू दरबारों में। कोई सन्देह नहीं कि अगर थोड़ा-सा और समय मिल गया होता तो यह देश उस ज़माने के हिन्दू धर्म और इस्लाम के मेल से अपने अन्दर उसी तरह एक नया मिलाजुला और ज्यादा ऊँचा जीवन पैदा करके दिखला देता, जिस तरह इससे पहले की सब टक्करों के बाद दिखला चुका था, पर उस शुभ दिन के आने से ठीक पहले देश में एक तीसरी ताक़त ने क़दम रक्खा।

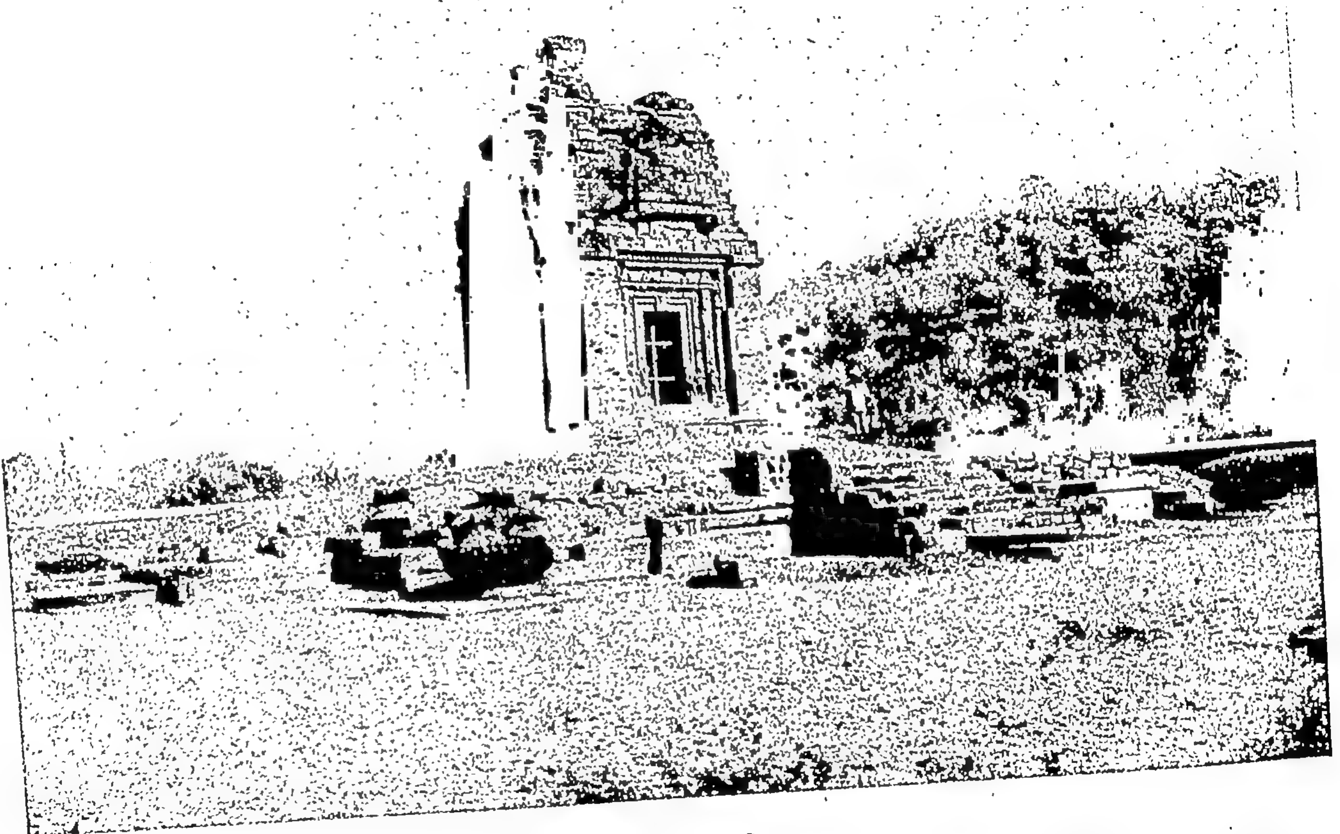
इस नई विदेशी ताक़त को अपना भला इसी में दिखाई दिया कि देश की इन दोनों जमातों को एक दूसरे से मिलने से रोके। इन दोनों को फाड़े रखने में ही उसे अपनी जिन्दगी दिखाई दी। सन् १७५७ से लेकर आजतक तरह-तरह की चालों, कूटनीतियों और सियासी तदबीरों के ज़रिये देश के हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे से अलग रखने के पूरे जतन किये गये। रोग बीज रूप में शरीर के अन्दर मौजूद था ही। उसे सिर्फ़ भड़काने और बढ़ाने की ज़रूरत थी। सरकारी नौकरियों में होड़, म्यूनिसपैलिटियों और एसेम्बलियों के चुनाव, पृथक् निर्वाचन (Separate electorate), अलग-अलग यूनीवर्सिटियाँ, महासभा और लीग, अखंड भारत और पाकिस्तान, इन सब ने देश की इस कठिन समस्या को उलझाने में हिस्सा लिया है। पर ये राजकाजी हथकंडे हमें सिर्फ़ इसीलिए नुक़सान पहुँचा सके, क्योंकि फूट, अलहदगी और दुई के बीज हमारे अन्दर मौजूद थे। बाहर के कीटाणु या जर्म्स उस समय तक रोग पैदा नहीं कर सकते,

जबतक कि जिस्म के अन्दर का समतोल न बिगड़ा हो, जबतक कि खून के अन्दर कोई-न-कोई इस तरह की कमजोरी, कमी या बेशी पैदा न हो गई हो, जो उन कीटाणुओं को वहाँ टिकने और पनपने का मौक़ा दे।

हमारी इस तरह की आवाजें, इस तरह के विचार जैसे 'हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति को बचाये रखने की ज़रूरत है', 'इस्लाम और मुस्लिम कल्चर खतरे में है', 'हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए हिन्दू संगठन ज़रूरी है', 'इस्लाम की हिफ़ाज़त के लिए मुसलमानों की अलग तनज़ीम लाज़िमी है', शुद्धि और तबलीग़, बोलने-चालने और लिखने-पढ़ने की जबान को एक तरफ़ संस्कृत के और दूसरी तरफ़ फ़ारसी और अरबी के ज्यादा नज़दीक लाने की कोशिशें, राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों और राष्ट्रीय संस्थाओं तक में हिन्दू रंग-ढंग और हिन्दू तौर-तरीक़ों को बरतने और चमकाने की लालसा—ये सब चीज़ें इस बात को साबित कर रही हैं कि हमने अभी तक ऊपरी रीति-रिवाजों के फ़रक़ों से उठकर एक मिली-जुली क़ौमी जिन्दगी बसर करने के उस सबक़ को पूरी तरह नहीं सीखा, जो क़ुदरत हमें इन दोनों धर्मों को एक जगह लाकर सिखाना चाहती थी।

रोग का इलाज भी साफ़ है। इस सारी भूल-भुलइयों में से हम चाहें तो अपना रास्ता साफ़ देख सकते हैं। रास्ता वही है, जो इससे पहले की टक्करों में से निकलने का रास्ता था। जबतक आदमी आदमी है, उसमें तरह-तरह के विचारों का पैदा होना, उसके तरह-तरह के विश्वास और तरह-तरह की मानताएँ होना क़ुदरती है। यह चीज़ वैसी ही क़ुदरती है, जैसी एक विशाल वन या सुन्दर उपवन के अन्दर तरह-तरह की वनस्पतियों और रंग-बिरंगे फूलों का उगना। हरेक का अपना सौन्दर्य। हरेक की अपनी उपयोगिता। जिनके आँखें हैं, उन्हें इस विचित्रता में ही, इस रंग-बिरंगे-पन में ही, क़ुदरत के बाग़ का असली सौन्दर्य दिखाई देगा। इस विचित्रता में से ही मानव-विकास का रास्ता मिलता है। कोई देश उस समय तक सभ्य नहीं कहा जा सकता, जबतक कि उसके रहने वालों को अपने विचारों और विश्वासों में, अपनी पूजा और इबादत के तरीक़ों में पूरी आज़ादी हासिल न हो। हमारे देश के अन्दर भी तरह-तरह के विचारों का हजारों बरस से एक दूसरे के साथ रहना और आखीर में घुल-मिल जाना इस बात को साबित कर रहा है कि हम जिन्दगी के इस सुनहले उसूल को काफ़ी जानते और समझते रहे हैं। बहुत-सी बातों में हिन्दुओं और जैनियों, वैष्णवों और शाक्तों, सनातनधर्मियों और आर्यसमाजियों, वर्णाश्रमियों और ब्राह्मणों में जितना उसूली फ़रक़ है, आर्य-समाजियों और मुसलमानों या मामूली हिन्दुओं और मुसलमानों में उससे कहीं कम है। बात सिर्फ़ इतनी है, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कि हमारे इतिहास का यह आखिरी समन्वय अभी पूरा नहीं हो पाया था कि बाहरी ताक़तों ने छेड़कर हमारी हालत को थोड़ा-सा जटिल कर दिया और कुछ देर के लिए देश में एक संकट पैदा हो गया।

हमें अब सिर्फ़ दो बातें समझनी हैं। एक यह कि मजहबी रीति-रिवाजों या पूजा-पाठ के तरीक़ों के अलग-अलग होते हुए भी हमें देश में एक मिली-जुली समाजी जिन्दगी, मिला-जुला रहन-सहन, मिली-जुली जबान पैदा करनी है, बढ़ानी है और उसे क़ायम रखना है। रीति-रिवाज सब ऊपरी चीज़ें है। हर देश में वे बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे। जिस तरह शरीर का बदलना जब-तब ज़रूरी हो जाता है, उसी तरह इन ऊपरी रीति-रिवाजों का बदलते रहना भी समाजी जिन्दगी के लिए ज़रूरी होता है। हिन्दुओं की जन्मना जाति, जात-पात और छुआछूत, किसी भी दूसरे के छूने से किसी के भोजन और पानी का नापाक हो जाना, एक ऐसी सड़ी-गली और हानिकर रूढ़ि है, जिसका अन्त करना हमारे समाजी जीवन को क़ायम रखने के लिए ज़रूरी है। बुद्ध भगवान् के समय से लेकर बीच के ज़माने के सन्तों, कबीर और दादू तक सब हमें यही उपदेश देते चले आये हैं। ऐसे ही बोलचाल में या किताबों और अखबारों में 'आवश्यकता' की जगह 'ज़रूरत' या 'ज़रूरत' की जगह 'आवश्यकता' पर ज़ोर देना, 'नुमाइश' जैसे आमफ़हम शब्द को बदल कर 'प्रदर्शिनी' करना, 'हवाई जहाज़' को 'वायुयान' या 'तैयारा' कहने की कोशिश करना एक बीमारी है, जो हमारी समाजी ज़िन्दगी को टुकड़े-टुकड़े कर रही है और हमारी आत्माओं को संकीर्ण बना रही है। एक सीधी-सादी, मिली-जुली, आमफ़हम बोली की जगह संस्कृत भरी हिन्दी या फ़ारसी-अरबी भरी उर्दू की तरफ़ जाने



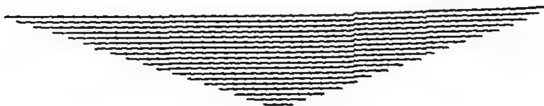
देवगढ़ का विष्णुमंदिर

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

की ख्वाहिश उन चीजों में से है, जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम-सवाल को पैदा किया और बढ़ाया। हमें हिन्दी और उर्दू दोनों को हिन्दुस्तानी भाषा मानना होगा। दोनों से प्रेम करना होगा और दोनों के सच्चे संगम से एक राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी को रूप देना, बढ़ाना और मालामाल करना होगा। इसी तरह अपनी राष्ट्रीय संस्थाओं, कांग्रेसों, कान्फ्रेंसों, स्कूलों, कालेजों वग़ैरह में हमें मिले-जुले तरीके और इस तरह के ढंग बरतने होंगे, जो सब धर्मों और मजहबों के देशवासियों को एक-से प्यारे लगें। हम ऊपर लिख चुके हैं कि हम आज से चन्द पीढ़ी तक इसी तरह की एक मिली-जुली समाजी ज़िन्दगी और मिली-जुली कल्चर की तरफ़ बढ़ रहे थे। हमें अपनी उस थोड़े दिन पहले की प्रवृत्ति को फिर से ताजा करना होगा।

दूसरी बात, जो हमें समझनी है, वह इससे भी ज्यादा गहरी है। और वह इस हिन्दू-मुस्लिम सवाल का आध्यात्मिक यानी रूहानी पहलू। दुनिया के अलग-अलग धर्मों के क़ायम करने वालों ने अगर किसी बात पर सबसे ज्यादा जोर दिया है तो वह यही है कि सब इन्सान एक क़ौम हैं, हम सब मिलकर एक छोटा-सा कुटुम्ब हैं, सब एक जिस्म के अलग-अलग अंगों की तरह हैं। सब का एक ही ईश्वर या अल्लाह है। ईश्वर एक है और सब उसी के बन्दे हैं तो जाहिर है कि सबका धर्म भी एक ही है। फिर ये अलग-अलग धर्मों के फ़रक़ क्यों? इन धर्मों के इतिहास और उनकी पाक किताबों को प्रेम के साथ देखने से साफ़ पता चलता है कि इन सब धर्मों और मत-मतान्तरों के मूल तत्त्व एक हैं। इनमें फ़रक़ सिर्फ़ या तो उन अटकली बातों में है, जिनमें आदमी का दिमाग़ आखिरी फ़ैसले नहीं कर पाता, जैसे जीव और ब्रह्म का एक होना या दो होना, नरक और स्वर्ग की कल्पनाएँ वग़ैरह, और या ऊपरी रीति-रिवाजों और कर्मकाण्डों में हैं, जैसे पूरब की तरफ़ मुँह करके पूजा करना या पच्छिम की तरफ़ मुँह करके, संस्कृत में दुआ माँगना या अरबी में। ये सब फ़रक़ गौण हैं। हमें इनसे ऊपर उठकर और इनके भीतर से सब धर्मों की मौलिक एकता को साक्षात् करना होगा। इतना ही नहीं, हमें यह समझना होगा कि खुदा की नजरों में दुनिया की कोई भाषा दूसरी भाषा से ज्यादा पवित्र नहीं है। कोई ऊपरी रीति-रिवाज दूसरे रीति-रिवाज से ज्यादा पाक नहीं है। आदमी, आदमी है। हमें सब धर्मों के क़ायम करने वाले महापुरुषों की इज़्ज़त करनी होगी, उन सब को अपनाना और उन्हें मानव-समाज के सच्चे हितचिन्तक और मार्ग-प्रदर्शक मानना होगा, सब धर्म-पुस्तकों को प्रेम के साथ पढ़ना और उनसे सबक़ हासिल करना होगा। इन धर्मों और किताबों के फ़रक़ सब देश और काल के फ़रक हैं। हमें इनसे ऊपर उठकर सब धर्मों के सार यानी उस मानव-धर्म, उस प्रेम-धर्म, उस मजहबे-इश्क़, उस मजहबे-इंसानियत को साक्षात् करना होगा, जो आजकल के सब मत-मतान्तरों की जगह भावी मानव-समाज का एकमात्र धर्म होगा, जिसकी बुनियादें सच्चाई, सदाचार और प्रेम पर होंगी और जो सब के अन्दर एक ईश्वर के दर्शन करते हुए आध्यात्मिक जीवन की उन गहराइयों तक पहुँचने और उन समस्याओं के हल करने की कोशिश करेगा, जिन तक पहुँचना और जिनका हल करना इस पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन का अन्तिम और असली लक्ष्य है। यही वह क़ीमती सबक़ है, जो क़ुदरत हमें आजकल की इस छोटी सी हिन्दू-मुस्लिम समस्या के ज़रिये सिखाना चाहती है। हमारा देश इस समय इसी सच्चे मानवधर्म को पैदा करने की प्रसववेदना में से होकर निकल रहा है। सारा संसार शुभ दिन की बाट जोह रहा है।

इलाहाबाद]

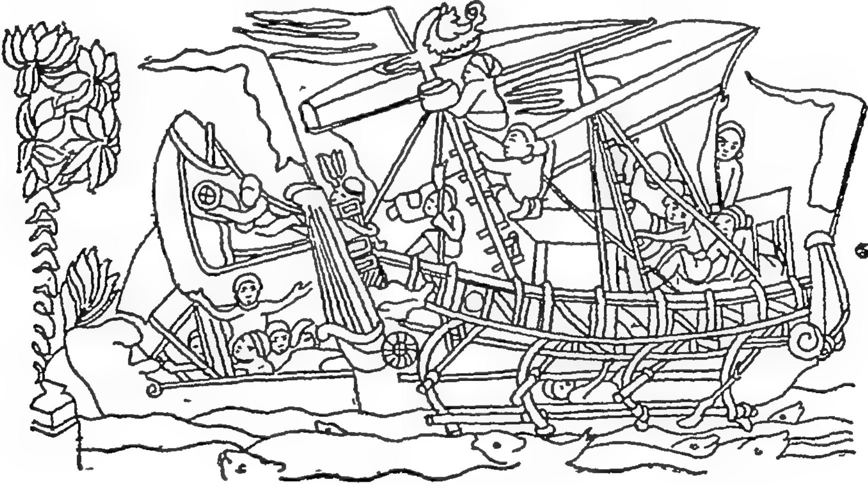


प्राचीन आर्यों का जलयात्रा-प्रेम

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी एम्० ए०

संसार के अन्य देशों से सम्बन्ध स्थापित करके उनको अपनी संस्कृति से प्रभावित करने के लिए भारतीय आर्यों ने बहुत प्राचीन काल से ही विदेश-यात्रा को उपादेय समझा था। इस सम्बन्ध से सांस्कृतिक लाभ के साथ-साथ व्यापार द्वारा आर्थिक लाभ का महत्त्व भारतीयों को सुविदित था। इसीलिए उन्होंने दूर-देशों को जाने के लिए जल-मार्गों को खोज निकाला और फिर अनेक प्रकार के निर्मित जहाज़ों और नौकाओं पर आरूढ़ होकर वे स्वदेश का गौरव बढ़ाने के लिए विस्तृत समुद्रों में निकल पड़े। अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारे पूर्वज आर्यों ने मार्ग की कठिनाइयों की परवाह न की। उनके दृढ़ अध्यवसाय के कारण भारत शताब्दियों तक संसार के व्यापार का केन्द्र बना रहा और सुदूर पश्चिम तथा सुदूर पूर्व तक इस देश के नेतृत्व की धाक जमी रही।

आर्यों की नौका-निर्माण-कला तथा उनके जलयात्रा-प्रेम का परिचय हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में नौकाओं तथा समुद्र-यात्राओं के मनोरंजक वर्णन अनेक स्थानों पर मिलते हैं। एक जगह ऋषि अपने इष्टदेव से प्रार्थना करते हैं—"हे देव, हमारे आनन्द और कल्याण के लिए हमको जहाज़ के द्वारा समुद्र-पार ले चलो" (ऋ०, १।९७।८)। विष्णु के साथ वसिष्ठ की समुद्र-यात्रा का वर्णन बड़ा रोचक है (७।८८।३-४)।



आर्यों की जलयात्रा

वरुण के लिए कहा गया है कि वे समुद्र का पूरा ज्ञान रखते हैं और उनके सिपाही समुद्र में चारों ओर फ़िरा करते हैं (१।२५।७)। कई स्थलों पर वरुण को जल का अधिपति कहा गया है। सम्भवतः इसी आधार पर पौराणिक काल में वरुण के स्वरूप में जल-पूजन का महत्त्व हुआ और कालान्तर में जल (सागर, सरिता और सर) के समीप बसे हुए स्थानों को तीर्थों के रूप में बड़ा गौरव प्रदान किया गया।

ऋग्वेद में लम्बी यात्राओं में जाने वाले जहाज़ों के भी उल्लेख मिलते हैं। ऋषि तुग्र ने अपने लड़के भुज्य को एक बहुत बड़े जहाज़ में बैठाकर शत्रुओं से लड़ने को भेजा था (१।११६।३)। बहुत सम्भव है कि वैदिक काल में ऐसे ही बड़े जहाज़ों पर बैठकर विश् ('पणि') लोग पश्चिमी देशों तक जाते थे और वहाँ से व्यापार-विनिमय करते

थे। इस काल में व्यापारिक यात्राओं के प्रचलित होने के प्रमाण वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं। ऐसे पणियों या व्यापारियों के उल्लेख मिलते हैं जो लोभवश अधिक धन-प्राप्ति के लिए अपने जहाज़ विदेशों को भेजते थे (ऋ० २।४८।३)। ऐसे लोगों की यह कहकर निन्दा की गई है कि 'ये धन के लालच से अपने जहाज़ों द्वारा सारे समुद्र को मथ डालते हैं' (१।५६।२)। ऐसा अनुमान होता है कि वैदिक काल में भारत का समुद्री व्यापार चाल्डिया, मिस्र तथा बेबीलोन से होता था, क्योंकि पश्चिमी जगत् में मिस्र की सभ्यता तथा सुमेरी लोगों की सभ्यता इस काल में उन्नत थी। आर्य-व्यापारियों के लिए 'देवपणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि 'पणि' शब्द शायद द्राविड़ या अनार्य व्यापारियों का सूचक है।

पिछले वैदिक काल तथा महाकाव्य युग में भी आर्यों के जलयात्रा-सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। रामायण में जहाज़ों के द्वारा दक्षिण तथा पूर्व के द्वीपों और देशों में जाने के वर्णन मिलते हैं। किष्किन्धा कांड में सुग्रीव वानरों को पूर्व के द्वीपों में जाने का आदेश देता है (रामा० ४।४०।२३-५)। यहीं कोपकार द्वीप(?), यवद्वीप (जावा) तथा सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) में भी जाने को कहा गया है। आधुनिक लालसागर का प्राचीन नाम रामायण में लोहित-सागर आया है। इसी ग्रन्थ में एक जहाज़ी बेड़े के युद्ध का वर्णन है, जिसमें कई सौ छोटी-बड़ी नौकाएँ प्रत्येक पक्ष में थीं (रामा० ४।८४।७८)। महाभारत में भी जहाज़ों और नौकाओं के द्वारा जल-यात्रा के उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में जल-यात्राओं के अनेक मनोरंजक वर्णन मिलते हैं। बावेरु जातक में भारत से बावेरु (बेबीलोन) को भारतीय व्यापारियों के जाने का कथन है। समुद्दवनिज जातक, जनक जातक और वलाहस्स जातक में व्यापारियों की दीर्घ यात्राओं के आकर्षक वर्णन मिलते हैं। दीघनिकाय (१।२२२) में छः महीने की लम्बी समुद्रयात्रा का वर्णन है। इन यात्राओं में माझी लोग एक विशेष प्रकार के समुद्री-पक्षी अपने साथ रखते थे, जो समुद्री-किनारों का पता अपने स्वामियों को देते थे। क़ुतुबनुमा का इस प्राचीन काल में आविष्कार नहीं हुआ था और ये पक्षी ही क़ुतुबनुमा का काम देते थे। जातक ग्रन्थों से विदित होता है कि बौद्धकाल में देश समृद्ध और धन-धान्यपूर्ण था। इसका श्रेय देशी तथा विदेशी व्यापार को था। नगरों में सब प्रकार की वस्तुएँ—अन्न, वस्त्र, तेल, सुगन्धित द्रव्य, सोना, चाँदी, रत्न आदि—थीं। नगरों में व्यापारियों के संघ बन गये थे, जो 'निगम' कहलाते थे और उनके मुखिया 'सेट्ठी' (श्रेष्ठी) कहाते थे।

इस काल में जहाज़ों के आकार और परिमाण के भी उल्लेख बौद्धग्रन्थों में मिलते हैं। जनक जातक में ऐसे जहाज़ों के वर्णन हैं, जिनमें सात-सात सौ यात्री बैठकर यात्रा के लिए गये थे। वि० पू० ४०० के लगभग सिंहलद्वीप से वहाँ का राजा विजय सात सौ यात्रियों को एक जहाज़ में बैठाकर बंगाल के राजा सिंहबाहु के यहाँ गया। इन संख्याओं से जहाज़ों के आकार के बहुत बड़े होने में सन्देह नहीं। महावंश, सुत्तपिटक, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रन्थों में भी बड़े आकार वाले जहाज़ों तथा उन पर बैठकर यात्रार्थ जाने वाले वणिकों के वर्णन मिलते हैं।

मौर्य-शुंग काल (३२५ ई० पू०—१०० ई० पू०) में भारत की जल-यात्रा बहुत बढ़ी। इस काल में मिस्र के टालेमी शासकों ने पूर्वी देशों—विशेषतः भारत—से व्यापार बढ़ाने के लिए स्वेज नहर खोली, जिससे भारत से पश्चिमी देशों का यातायात लाल सागर के मार्ग से होने लगा। इस युग में भारत में देशी जहाज़ों तथा नौकाओं का निर्माण बड़ी संख्या में होता था। निअर्कस ने अपनी यात्रा के लिए उत्तरी पंजाब की जातियों से नावें तैयार करवाई थीं। टालेमी के कथनानुसार इन नौकाओं की संख्या दो हजार थी, जिन पर आठ सहस्र यात्री, सहस्रों घोड़े तथा अन्य सामान लादकर इतनी दूर की यात्रा में गये थे। मेगास्थनीज़ ने मौर्य-साम्राज्य के जहाज-निर्माताओं के समूह का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२।२८) से भी विदित होता है कि व्यापार के लिए एक अलग महकमा था, जिसकी व्यवस्था अन्य मुख्य महकमों की तरह अच्छे ढंग से होती थी।

शक सातवाहन तथा गुप्त-काल में भारत का विदेशों से व्यापार बहुत उन्नत हुआ। तत्कालीन साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के वर्णन से भारतीयों के यात्रा-प्रेम, उनकी व्यापार-कुशलता तथा तज्जनित भारतीय समृद्धि का पता

चलता है। स्ट्रेवो नामक यूनानी यात्री ने अरव और फ़ारस के किनारों से मिश्र को जाते हुए एक सौ वीस जहाज़ों के भारतीय वेड़े को देखा था (स्ट्रेवो, २।५।१२)। प्लिनी ने सिन्धु और पत्तल से उत्तर-पश्चिम के देशों को जाते हुए वड़े जहाज़ों के समूह को देखा। साँची और कन्हेरी तथा अजन्ता की गुफ़ाओं में अनेक वड़े जहाज़ों के भित्ति-चित्र मिलते हैं। मदुरा के मन्दिर में भी एक विशाल जहाज़ चित्रित है। कोरोमंडल से मिले हुए यज्ञश्रीशातकर्णि के कुछ सिक्कों पर दो मस्तूल वाले जहाज़ों के चित्र हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा वृहत्संहिता आदि ग्रन्थों से अनेक प्रकार की जल-यात्राओं के वर्णन पाये जाते हैं। अजन्ता में विहार-यात्राओं के लिए प्रयुक्त अनेक सुन्दर नौकाओं के भी चित्र हैं।

मध्यकाल में भारतीयों की जलयात्रा को देश की समृद्धि के कारण अधिक प्रोत्साहन मिला। इस युग में भारत और अरव के वीच व्यापारिक सम्वन्ध घनिष्ठ हुए। अल-इद्रिसी आदि अरवी यात्रियों के वर्णनों से भारत की व्यापारिक उन्नति तथा भारतीय वन्दरगाहों की वृद्धि का हाल ज्ञात होता है। दक्षिण-पूर्व के देशों और द्वीपों में भारतीय उपनिवेश गुप्त काल के पहले ही स्थापित हो चुके थे। मध्यकाल में श्रीक्षेत्र, कंवुजराष्ट्र (कंवोडिया), चम्पा (अनाम), स्वर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा सुवर्णभूमि (वर्मा) आदि देशों से भारत के सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्वन्ध अधिक घनिष्ठ हुए। चीन तथा जापान से भी ये सम्वन्ध दृढ़ हुए। तत्कालीन चीनी ग्रन्थों तथा ह्वेन्त्सांग, इत्सिंग, सुंगयुन आदि चीनी यात्रियों के वर्णनों से विदित होता है कि भारत तथा चीन के पंडितों तथा दोनों देशों के प्रणिधि-वर्ग का पारस्परिक आवागमन पूर्ववत् द्रुतगति से जारी रहा। भारत से चीन तक का सारा समुद्र-प्रदेश भारतीय उपनिवेशों तथा वन्दरगाहों से भरा पड़ा था। इत्सिंग ने ऐसे दस भारतीय उपनिवेशों का वर्णन किया है, जहाँ संस्कृत के साथ साथ भारतीय रीति-रिवाजों का प्रचलन था। माघ-रचित 'शिशुपालवध' में माल से लदे हुए जहाज़ों के विदेश जाने और पश्चिम से द्वारका की ओर आते हुए जहाज़ों के वर्णन हैं। राजतरंगिणी तथा कथा-सरित्सागर आदि से भी भारतीयों की समुद्री यात्राओं का पता चलता है। लगभग १००० ई० में मालवे के परमार राजा भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना की। नौ-शास्त्र का यह ग्रन्थ अपने विषय का वेजोड़ और अनमोल है। इसमें भारतीय जहाज़ों और नौकाओं के अनेक रूपों के निर्माण और संचालन आदि का विशद वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि भारतीय जहाज़ी-कला कितनी प्राचीन तथा उन्नतिशील रही है। विभिन्न प्रकार के जहाज़ों के लिए उपयुक्त लकड़ियों, जहाज़ों के स्वरूपों तथा निर्माण-सम्वन्धी विधियों के जो विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ-रत्न में है उनसे भारतीय मस्तिष्क के वैज्ञानिक विकास का पता चलता है, साथ ही भारतीयों के जल-यात्रा विषयक प्रेम का भी प्रमाण मिलता है।

मुसलमानों के राज्य-काल में भी भारतीयों की यह रुचि वृद्धगत रही। मार्कोपोलो, ओडरिक (१३२१ ई०), इब्नवतूता (१३२५-४९ ई०), अब्दुर्रज्ज़ाक़ आदि ने जो यात्रा-वर्णन लिखे हैं, उनसे भारत की अतुल जहाज़ी शक्ति तथा व्यापार-प्रवीणता का पता चलता है। वह प्रवृत्ति मराठा काल (लग० १७२५-१८०० ई०) तक चलती रही, जिसके प्रमाण शिवाजी, कान्होजी अंगिरा तथा शम्भूजी आदि के द्वारा नौ-शक्ति-संगठन में मिलते हैं।

मध्यकाल के अन्त में लगभग ई० १२वीं शताव्दी में समाज का कुछ वर्ग समुद्र-यात्रा का विरोधी हो गया था। इसका प्रधान कारण इस काल में जाति-वन्धनों का कड़ा हो जाना था। पर वणिक् समाज तथा अन्य व्यापारी लोग इन नव-निर्मित स्मृतियों के जल-यात्रा-विरोधी वचनों से विचलित नहीं हुए। वे वाह्य देशों से वरावर आवागमन-सम्वन्ध वनाये रहे, क्योंकि इससे उन्हें आर्थिक और सांस्कृतिक लाभ थे और इन लोगों से भारतीय जनता शताव्दियों से परिचित थी। परन्तु सत्रहवीं शताव्दी के अन्त में निर्मित कुछ धर्मशास्त्र-निवन्ध ग्रन्थों में समुद्रयात्रा को निन्दित कहा गया और जातीय प्रथा के संकुचित हो जाने से जनता वहुत वड़ी संख्या में समुद्रयात्रा से विमुख हो गई। इसका फल प्रत्यक्ष हुआ है और देश को विदेश-यात्रा के अनेक लाभों से वंचित रहना पड़ा है। अव वह समय आ गया है कि भारतवासी अपने पूर्वजों का अनुकरण कर अन्य सभ्य देशों से ज्ञान-विज्ञान-सम्वन्धी आदान-प्रदान कर अपने देश को उन्नत और समृद्ध वनावें।

लखनऊ]

श्यूआन्-चुआङ्[1] और उनके भारतीय मित्रों के बीच का पत्रव्यवहार

श्री प्रबोधचन्द्र बागची एम० ए०, डी० लिट्०

महान् चीनीयात्री श्यूआन्-चुआङ् भारत में सोलह वर्ष तक (६३०-६४५ ई०) रहा। उसका अधिकांश समय नालन्दा में तत्कालीन आचार्य शीलभद्र के पास बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने में बीता। सम्राट् हर्षवर्धन ने तीन बार उसे राजधानी में आने का निमन्त्रण दिया, पर उसने स्वीकार नहीं किया। बाद में जब हर्ष से भेंट हुई तब उसने इसका कारण पूछा। श्यूआन्-चुआङ् ने उत्तर दिया कि वह इतनी दूर से बौद्धधर्म की जिज्ञासा और बौद्ध दर्शन के अध्ययन का ध्येय लेकर आया था और क्योंकि उसका वह उद्देश्य तबतक पूरा नहीं हुआ था, इसलिए वह सम्राट् से मिलने न आ सका (बील, श्यूआन्-चुआङ् का जीवनचरित, पृ० १७३-१७४)। इससे नालन्दा में अध्ययन के प्रति उसकी गहरी आसक्ति प्रकट होती है। अपने गुरु शीलभद्र और अपने सहपाठियों के, विशेषकर ज्ञानप्रभ के लिए जो शीलभद्र के प्रधान शिष्य थे, उसके मन में ऐसा ही गहरा प्रेम था।

श्यूआन्-चुआङ् के भारतीय मित्रों के मन में भी उसके लिए वैसे ही भाव थे। नालन्दा से उसके विदा लेते समय जो घटना घटी उससे इसका कुछ परिचय मिलता है। यह सुनकर कि वह चीन लौटने के लिए तैयार था, नालन्दा विहार के सब भिक्षु मिलकर उसके पास आये और यहीं रह जाने के लिए अनुरोध करने लगे। उन्होंने कहा कि भारतवर्ष भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि है, चीन इस तरह की तीर्थ-भूमि नहीं है। उन्होंने बातचीत के सिलसिले में यहाँ तक कह डाला कि बुद्ध का जन्म चीन में कभी न हो सकता था, और इसलिए चीन के निवासियों में वह धर्म-भाव कहाँ सम्भव है! किन्तु श्यूआन्-चुआङ् ने उत्तर दिया कि बुद्ध का धर्म सारे संसार में फैलने के लिए है, इसलिए चीन देश को बुद्ध के अनुग्रह से वंचित नहीं रक्खा जा सकता। जब सब युक्तियाँ व्यर्थ हुई तब उन्होंने यह दुःखद समाचार आचार्य शीलभद्र के पास पहुँचाया। तब शीलभद्र ने श्यूआन्-चुआङ् को बुलाकर कहा—"क्यों भद्र, तुमने ऐसा निश्चय किस कारण से किया है?" श्यूआन्-चुआङ् ने उत्तर दिया—"यह देश बुद्ध की जन्मभूमि है। इसके प्रति प्रेम न हो सकना असम्भव है। लेकिन यहाँ आने का मेरा उद्देश्य यही था कि अपने भाइयों के हित के लिए मैं भगवान् के महान् धर्म की खोज करूँ . . . मेरा यहाँ आना बहुत ही लाभ-दायक सिद्ध हुआ है। अब यहाँ से वापिस जाकर मेरी इच्छा है कि जो मैंने पढ़ा-सुना है, उसे दूसरों के हितार्थ बताऊँ और अनुवाद रूप में लाऊँ, जिसके फलस्वरूप अन्य मनुष्य भी आपके प्रति उसी प्रकार कृतज्ञ हो सकें, जिस प्रकार मैं हुआ हूँ।" इस उत्तर से शीलभद्र को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा—"ये उदात्त विचार तो बोधिसत्वों जैसे हैं। मेरा हृदय भी तुम्हारी सदाशाओं का समर्थन करता है।" तब उन्होंने उसकी विदाई का सब प्रबन्ध करा दिया (बील—वही, पृ० १६९)। उस बिछुड़ने में दोनों पक्षों ने ही बड़े दुःख का अनुभव किया होगा।

चीन को लौट जाने के बाद भी उस यात्री का अपने भारतीय मित्रों के साथ वैसा ही घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा। हुअइ-ली (Hui-li) ने जो श्यूआन्-चुआङ् का जीवनचरित लिखा है (मूल ची० पुस्तक, अध्याय ७) उसमें तीन ऐसे पत्र सुरक्षित हैं, जो मूल संस्कृत भाषा में थे और श्यूआन्-चुआङ् और उसके भारतीय मित्रों के बीच लिखे गये थे। उनमें से दो आंशिक रूप से चीन के बौद्ध विश्वकोष फ़ो-चु-लि-ताए-युङ्-चाए् नामक ग्रन्थ में सन्निविष्ट हैं, जिनका शावान (Chavannes) ने फ़िरंगी भाषा में अनुवाद किया था। (बोधगया के चीनी लेख, 'ल इंस्क्रिप्सिआँ शिनुआ

---

[1] अंग्रेज़ी और फ्रेंच हिज्जे के कारण जिस नाम को हम हिन्दी में प्रायः युअन च्वाङ् या हुअन-सांग लिखते हैं उसका शुद्ध चीनी उच्चारण 'श्यूआन्-चुआङ्' है।—अनुवादक (वासुदेवशरण अग्रवाल)

द बोधगया', १८९६)। यहाँ पर हम उन तीनों पत्रों का पूरा अनुवाद दे रहे हैं, क्योंकि इनसे उस प्राचीन समय में भी भारतीय और विदेशी विद्वानों के पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

श्यूआन्-चुआङ् के दो संस्कृत नाम थे। महायानी उसे 'महायानदेव' कहते थे और हीनयान के अनुयायी उसे 'मोक्षदेव' या 'मोक्षाचार्य' कहकर पुकारते थे। नीचे के पत्रों में यही दूसरा नाम प्रयुक्त हुआ है।

(१)

प्रज्ञादेव और ज्ञानप्रभ का श्यूआन्-चुआङ के नाम पत्र

(श्यूआन्-चुआङ् का जीवनचरित्र, नानकिङ् संस्करण, तृतीय, अध्याय ७, पृ० १५ अ-१५ आ)

संवत् ७१२ (६५५ ई०) के पंचम महीने में ग्रीष्म ऋतु के समय, आर्यभिक्षु ज्ञानप्रभ (चीनी नाम च-कुआङ्), प्रज्ञादेव[1] (चीनी रूप हुअइ-थिआन्) तथा मध्य देश के महाबोधि विहार के दूसरे भिक्षुओं ने मोक्षाचार्य के पास एक पत्र भेजा। ज्ञानप्रभ हीनयान और महायान दोनों साहित्यों के तथा अन्य धर्मों के साहित्य जैसे चार वेद और पाँचों विद्याओं के भी प्रकांड विद्वान् थे। महान् आचार्य शीलभद्र के सब शिष्यों में ज्ञानप्रभ सबसे मुख्य थे। प्रज्ञादेव हीनयान बौद्ध धर्म के अठारह सम्प्रदायों के समस्त साहित्य से परिचित और उसमें निष्णात थे। अपनी विद्या और चरित्र-बल के कारण उन्हें सब का आदर प्राप्त था। भारत में रहते हुए श्यूआन्-चुआङ् को हीनयान के विद्वानों के खंडन के विरुद्ध महायान के सिद्धान्तों का पक्ष लेना पड़ा था, किन्तु भद्रता से किये हुए उन शास्त्रार्थों के कारण उसके प्रति उनके मन में जो आदर और प्रेम का भाव था, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा। इसलिए प्रज्ञादेव ने उसी विहार के भिक्षु धर्मवर्धन[2] (फ़ा-चाङ्) के हस्ते अपने रचे हुए एक स्तोत्र और धौतवस्त्र युगल के साथ एक पत्र श्यूआन्-चुआङ् के पास भेजा। वह पत्र इस प्रकार था—

"स्थविर प्रज्ञादेव, जिसने महाबोधि मन्दिर में भगवान् बुद्ध के वज्रासन के पास रहने वाले विद्वानों का सत्संग किया है, यह पत्र महाचीन के उन मोक्षाचार्य महोदय की सेवा में भेजते हैं, जो सूत्र, विनय और शास्त्रों के सूक्ष्म ज्ञाता हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप सदा रोग और दुःखों से मुक्त रहें।

मैं—भिक्षु प्रज्ञादेव—ने अब बुद्ध के महान् और दिव्य रूपान्तरों पर एक स्तोत्र (त्रिकायस्तोत्र ?) तथा एक दूसरा ग्रन्थ 'सूत्रों और शास्त्रों का तुलनात्मक विचार' विषय पर बनाया है। उन्हें मैं भिक्षु फ़ा-चाङ् को आपके पास पहुँचाने के लिए दे रहा हूँ। मेरे साथ आचार्य आर्य भदन्त ज्ञानप्रभ, जो बहुश्रुत और गम्भीरवेत्ता हैं, आपका कुशल समाचार जानना चाहते हैं। यहाँ के उपासक आपके लिए अपना अभिवादन भेजते हैं। सब की ओर से एक धौतवस्त्र युगल आपकी सेवा में अर्पित करते हैं। कृपया इससे यह विचारें कि हम आपको भूले नहीं हैं। मार्ग लम्बा है। अतएव इस भेंट की अल्पता पर कृपया ध्यान न कर हमारी प्रार्थना है कि आप इसे स्वीकार करें। जो सूत्र और ग्रंथ शास्त्र चाहिएं कृपया उनकी एक सूची भिजवा दें। हम उनकी प्रतिलिपि करके आप के पास भेज देंगे। प्रिय मोक्षाचार्य, हमारा इतना निवेदन है।"

(२)

श्यूआन्-चुआङ का उत्तर ज्ञानप्रभ के नाम—

फ़ा-चाङ् (धर्मवर्धन) दूसरे मास में वसन्त-काल (यूङ्-हुअइ वर्ष में) विक्रम संवत् में वापिस गए। उसी वर्ष श्यूआन्-चुआङ् ने ज्ञानप्रभ के नाम नीचे लिखा पत्र धर्मवर्धन के हाथ भेजा—

---

[1] 'प्रज्ञादेव' नाम चीनी से उल्था किया गया है, पर इसके सही होने का निश्चय नहीं है। मूल चीनी शब्दों का अर्थ है—मतिदेव। किन्तु चीनी भाषा में 'हुअइ' पद के दो अर्थ हैं—मति और प्रज्ञा और दोनों में कभी-कभी गड़बड़ हो जाता है। [2] चीनी फ़ा-चाङ् का अर्थ है 'धर्म-लम्बा'। इसका संस्कृत रूप धर्मवर्धन हो सकता है। एक चीनी मित्र की सम्मति में 'फ़ा-चाङ्' का मूल धर्मनायक भी सम्भव है। (अनुवादक की टिप्पणी)

"महान् थाङ् वंशी राजाओं के देश का निवासी भिक्षु श्यूआन् चुआङ् मध्य देश में मगध के धर्माचार्य त्रिपिटकाचार्य भदन्त ज्ञानप्रभ की सेवा में नम्रता-पूर्वक लिखता है। मुझे लौटे हुए दश वर्ष से अधिक हो चुके। हमारे उभय देशों की सीमाएँ एक दूसरे से बहुत दूर हैं। मुझे आपका कुछ समाचार नहीं मिला। इसलिए मेरी चिन्ता बढ़ रही थी। अब भिक्षु फ़ा चाङ् से पूछने पर ज्ञात हुआ कि आप सब कुशल से हैं। इस समाचार से मुझे जितना हर्ष हुआ, लेखनी उसका वर्णन नहीं कर सकती। वहाँ की जलवायु अब उष्ण होती जा रही होगी और मैं कह नहीं सकता कि आगे चल कर क्या हाल होगा।[1]

भारतवर्ष से हाल ही में लौटे हुए एक सन्देशहर से मुझे पता चला है कि पूज्य आचार्य शीलभद्र अब इस लोक में नहीं रहे। यह समाचार पाकर मुझे अपार दुःख हुआ। शोक है, इस दुःखमय भवसागर की वह नौका डूब गई, मनुष्यों और देवताओं का नेत्र मुंद गया। उनके न रहने के दुःख को किस प्रकार प्रकट करूँ? पुराकाल में जब भगवान बुद्ध ने अपना प्रकाश समेट लिया था, कश्यप ने उनके कार्य को जारी रक्खा और बढ़ाया। शोणवास के इस संसार से विदा हो लेने पर उपगुप्त ने उनके सुन्दर धर्म के उपदेश का सिलसिला बनाए रक्खा। अब धर्म का एक सेनानी अपने सच्चे धाम को चला गया है, अतएव उसके बाद में रहे धर्माचार्यों को चाहिए कि अपने कर्त्तव्य का पालन करें। मेरी तो यही अभिलाषा है कि (धर्म के) पवित्र उपदेशों और सूक्ष्म विचारों की महोर्मियाँ चार समुद्रों की लहरों की तरह फैलती रहें और पवित्र ज्ञान पाँच पर्वतों के समान सदा स्थिर रहे।

जो सूत्र और शास्त्र मैं—श्यूआन्-चुआङ्—अपने साथ लाया था उनमें से योगाचार—भूमि-शास्त्र का तथा अन्य ग्रन्थों का अनुवाद तीस जिल्दों में मैं समाप्त कर चुका हूँ। कोष और न्यायानुसार शास्त्र[2] का अनुवाद अभी पूरा नहीं हुआ है, पर इस साल वे अवश्य पूरे हो जाएंगे।

इस समय यहाँ थाङ् वंश के देवपुत्र सम्राट् अपने धर्माचरण और अनेक कल्याणों के द्वारा देश का शासन कर रहे हैं और प्रजा को सुख शान्ति दे रहे हैं। चक्रवर्ती के तुल्य अपनी भक्ति से और धर्मराज की भाँति वे धर्म के दूर-दूर तक प्रचार में सहायक हो रहे हैं। जिन सूत्रों और शास्त्रों का हमने अनुवाद किया है उन के लिए सम्राट् ने अपनी पवित्र लेखनी से एक भूमिका लिख देने का अनुग्रह किया है। उन के विषय में अधिकारियों को यह भी आदेश मिला कि वे इन ग्रन्थों का सब देशों में प्रचार करें। जिस समय इस आदेश पर पूरी तरह अमल होगा, हमारे पड़ोसी देशों में भी सब ग्रन्थ पहुँच जाएंगे। यद्यपि कल्प के अन्त होने के दिन निकट हैं, फिर भी धर्म का फैला हुआ प्रकाश अभी तक बड़ा मधुर और पूर्ण है। श्रावस्ती के जेतवन में जो धर्म का आविर्भाव हुआ था उस से यह प्रकाश बिल्कुल भिन्न नहीं है।

मैं नम्रता-पूर्वक आपको यह भी सूचित कर देना चाहता हूँ कि सिन्धु नद पार करते समय साथ लाए हुए धर्म-ग्रन्थों की एक गठरी उसमें गिर पड़ी थी। अब इस पत्र के साथ उनकी एक सूची नत्थी कर रहा हूँ। मेरी प्रार्थना है कि अवसर मिलते ही कृपया उन्हें भेज दीजिएगा। मेरी ओर से कुछ तुच्छ भेंट प्रेषित हैं। कृपया उन्हें स्वीकार करें। मार्ग इतना लम्बा है कि अधिक कुछ भेजना सम्भव ही नहीं है। कृपया इस से अवज्ञा न मानिएगा।

श्यूआन्-चुआङ् का प्रणाम।"

---

[1] यहाँ भारतवर्ष की करारी गर्मी की ओर संकेत है।

[2] कोष का तात्पर्य वसुबन्धु के तीस अध्यायात्मक अभिधर्म कोषव्याख्या नामक ग्रन्थ (नन्जिओ का सूचीपत्र सं० १२६७) से है। इसका अनुवाद ६५१ ई० के पांचवें महीने की १० तारीख को शुरू किया गया और सन् ६५४ के सातवें मास की २७ ता० को समाप्त हुआ। दूसरा ग्रन्थ संघभद्र विरचित 'न्यायानुसार शास्त्र' (नन्जिओ, सं० १२६५) है। इसका अनुवाद सन् ६५३ में पहले महीने की पहली तारीख को शुरू हुआ और सन् ६५४ में ७वें मास की १० ता० को समाप्त हुआ। यह पत्र सन् ६५४ के पांचवें मास में लिखा गया था।

(३)

प्रज्ञादेव के नाम श्यूआन्-चुआङ् का पत्र

"महान् थाङ् देश के भिक्षु श्यूआन्-चुआङ् महाबोधि विहार के धर्माचार्य, त्रिपिटकाचार्य, प्रज्ञादेव से सादर निवेदन करते हैं—बहुत समय व्यतीत हो गया। आपका कोई समाचार न मिला था, जिसके कारण मैं बहुत चिन्तित था। इस चिन्ता को दूर करने का कोई साधन भी न था। जब भिक्षु धर्म-वर्धन (फ़ा-चाङ्) आप का पत्र ले कर पहुँचा तो मुझे मालूम हुआ कि आप सब कुशल से हैं। इस से मुझे बड़ा हर्ष हुआ। आप के भेजे हुए वस्त्र युगल और स्तोत्र-संग्रह मुझे मिल गए। यह ऐसा बड़ा सम्मान आप ने किया, जिस के मैं योग्य नहीं था। इसके कारण मैं लज्जित हूँ। ऋतु धीरे-धीरे गर्म हो रही है। मैं नहीं जानता कि कुछ दिन बाद यह कितनी गर्म हो जायगी और आप सब किस प्रकार रहेंगे।

आप ने सैकड़ों सम्प्रदायों के शास्त्रों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं और नवांग बुद्ध शासन के सूत्र ग्रन्थों की सत्यता प्रमाणित कर दी है। सत्यधर्म की ध्वजा को आपने ऊँचा उठा दिया है और सब को लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता दी है। आपने विजय की दुन्दुभि बजा कर विपक्षियों को परास्त कर दिया है। आपने ज्ञान के एकच्छत्र अधिकार से सब राजाओं को भी चुनौती दे डाली है। सचमुच आप इसके कारण महान् आनन्द का अनुभव करते होंगे।

मैं—श्यूआन्-चुआङ्—अबुध हूँ। इस समय बुढ़ापा आ रहा है और मेरी शक्ति घट रही है। मैं आपके गुणों का स्मरण करता हूँ और आपकी कृपा के लिए मेरे मन में बहुत सम्मान है। फिर, इन विचारों से मुझे और भी खेद हो रहा है। जब मैं भारत में था, मेरी आपसे कान्यकुब्ज की सभा में भेंट हुई। उस समय अनेक राजाओं और धर्मानुयायियों के सामने सिद्धान्तों का निश्चय करने के लिए मैंने आपसे शास्त्रार्थ किया! एक पक्ष महायान का पोषण कर रहा था और दूसरा पक्ष हीनयान (अ-पूर्ण धर्म) का समर्थन। शास्त्रार्थ के समय कभी वातावरण बड़ा उग्र हो जाता था और कभी शान्त। मेरा उद्देश्य केवल युक्ति और तर्क को ग्रहण करना था, किसी प्रकार का पक्षपात दिखाना नहीं। इसी कारण हम दोनों एक दूसरे के विरुद्ध थे। जब वह सभा समाप्त हुई, हमारा विरोध भी उसी के साथ समाप्त हो गया। अब सन्देशहर के हाथ आपने अपना पत्र और क्षमाप्रार्थना[1] भेजी है। आप उस बात को मन में क्यों रखे रहे हैं? आप अगाध विद्वान् हैं, आपकी शैली स्पष्ट है, आपका निश्चय दृढ़ है और आपका चरित्र उच्च है। अनवतप्त सरोवर में उठने वाली लहरों की भी तुलना आपकी प्रवृत्तियों से नहीं की जा सकती। मणि की स्वच्छता भी आपकी बराबरी नहीं कर सकती। आप अपने शिष्यों के लिए उज्ज्वल आदर्श हैं। मैं चाहता हूँ कि धर्म के व्याख्यान में आपने भी महायान का आश्रय लिया होता। जब युक्ति अविकल होती है तो उसको प्रकट करने वाले शब्द भी अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेते हैं। महायान से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। मुझे खेद है कि आपकी श्रद्धा उसमें गहरी न हो सकी। आप धौली गाय को छोड़कर बकरी और हिरन को ले रहे हैं और मणि के स्थान पर स्फटिक से सन्तुष्ट हैं। आप तो स्वयं प्रकाश और उदात्त गुणों के आगार हैं। फिर महायान की उपेक्षा कैसे कर रहे हैं? मिट्टी के घट की तरह आपका शरीर नश्वर और अल्पस्थायी है। कृपया सम्यक् दृष्टि निष्पन्न कीजिए जिससे मृत्यु से पहले पछताना न पड़े।

यह सन्देशहर अब भारत को लौटेगा। मैं यह सम्मति आपके प्रति अपने प्रेम को प्रकट करने के लिए ही दे रहा हूँ। आपके उपहार के प्रति निजी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए मैं भी एक तुच्छ भेंट भेज रहा हूँ। आपके लिए मेरे मन में जो गहरा सम्मान है, उसे यह व्यक्त नहीं कर सकता। आशा है कि आप मेरा भाव समझते हैं। वापिसी यात्रा में सिन्धु पार करते समय धर्मग्रन्थों की एक गठरी नदी में गिर गई थी। उनकी एक सूची इस पत्र के साथ भेजता हूँ। प्रार्थना है कि उन्हें भेजने की कृपा करें। भिक्षु श्यूआन्-चुआङ् का प्रणाम।"

शांतिनिकेतन]

---

[1] श्यूआन्-चुआङ् ने जिस क्षमाप्रार्थना का संकेत किया है वह प्रज्ञादेव के पत्र में उल्लिखित 'सूत्रों और शास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन' इस ग्रन्थ में रही होगी। श्यूआन्-चुआङ् की कुछ युक्तियों का उत्तर देने के लिए ही स्पष्टतः इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

ऋषिभिर्बहुधा गीतम्

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल एम्० ए०, पी०-एच० डी०

भारत जैसे विशाल देश के लिए विचारजगत् का एक ही अमृतसूत्र हो सकता था और उसे यहाँ के विचारशील विद्वानों ने तत्त्व-मन्थन के मार्ग पर चलते हुए आरम्भ में ही ढूँढ़ निकाला। वह सूत्र इस प्रकार है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

(ऋग्वेद १।१६४।४६)

'एक सत् तत्त्व का मननशील विप्र लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं।'

इस निचोड़ पर जितना ही विचार किया जाय उतनी ही अधिक श्रद्धा इसके मूलद्रष्टा के प्रति मन में जागती है। सचमुच वह व्यक्ति अपने मन के अपरिमित औदार्य के कारण भारतीय दार्शनिकों के भूत और भावी संघ का एकमात्र संघपति होने के योग्य था। भारतीय देश में दार्शनिक चिन्तन की जो बहुमुखी धाराएँ बही हैं, जिन्होंने युगयुगान्तर में स्वच्छन्दता से देश के मानस-क्षेत्र को सींचा है, उनका पहला स्रोत 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के 'बहुधा' पद में प्रस्फुटित हुआ था। हमारे राष्ट्रीय मानस-भवन का जो बहिर्द्वारतोरण है उसके उतरंगे पर हमें यह मन्त्र लिखा हुआ दिखाई पड़ता है। मन्त्र का 'बहुधा' पद उसकी प्राणशक्ति का भंडार है, जिसके कारण हमारे चिन्तन की हलचल संघर्ष के बीच में होकर भी अपनी प्रगति बनाये रख सकी। अपने ही बोझ से जब कभी उसका मार्ग अवरुद्ध या कुंठित होने लगा है तभी उस अवरोध पर विजय पाकर 'बहुधा' पद के प्राणवन्त वेग ने उसे आगे बढ़ाने का रास्ता दिया।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह विचार-सूत्र न केवल हमारे विस्तृत देश की आवश्यकता की पूर्ति करता है, किन्तु विचार के जगत् में हमारे मनीषी जितना ऊँचा उठ सके थे उसके भी मानदंड को प्रकट करता है।

इस विशाल देश में अनेकों प्रकार के जन, विविध भाषा, अनमिल विचार, नाना भाँति की रहन-सहन, अनमिल धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजों के कारण परस्पर रगड़ खाते हुए एक साथ बसते रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार हिमालय में गंगा नदी अपने उदर में पड़े हुए खड़-पत्थरों की कोर छाँटकर उन्हें गोल गंगलोढ़ों में बदल देती है, उसी से मिलती-जुलती समन्वय की प्रक्रिया हमारे देश के इतिहास में भी पाई जाती है। न जाने कैसी-कैसी खड़-जातियाँ यहाँ आकर बसीं, कैसे-कैसे अक्खड़ विचार इस देश में फैले, किन्तु इतिहास की दुर्धर्ष टक्करों ने सब की कोर छाँट कर उन्हें एक राष्ट्रीय संस्कृति के प्रवाह में डाल दिया। उनकी आपसी रगड़ से विभिन्न विचार भी घुल-मिलकर एक होते गये—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गंगा के घण्ट में पिसी हुई बालू, जिसके कणों में भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है।

सौभाग्य से हमारे इतिहास के सुनहले उषःकाल में ही समन्वय और सहिष्णुता के भाव सूर्य-रश्मियों की तरह हमारे ज्ञानाकाश में भर गये। राष्ट्रीय जन की प्राकृतिक विभिन्नता की ओर संकेत करते हुए 'पृथिवी सूक्त' का ऋषि कहता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्

(अथर्व, १२।१।४५)

अर्थात् "भिन्न-भिन्न भाषा वाले, नाना धर्मों वाले जन को यह पृथिवी अपनी-अपनी जगह पर धारण कर रही है, और सब के लिए दुधार गाय की भाँति धन की सहस्रों धाराएँ बहा रही है।" हमारे राष्ट्रीय जन को प्रकृति की ओर से ही 'बहुधापन' मिला है। पर मानवी मस्तिष्क ने उन भौतिक भेदों के भीतर पैठकर उनमें पिरोई हुई भावमयी एकता

को ढूँढ़ निकाला। राष्ट्र-संवर्धन के मार्ग में मनुष्य की यह विजय ही सच्ची विजय है। इसी का हमारे नित्य जीवन के लिए वास्तविक मूल्य है। मौलिक एकता और समन्वय पर बल देने वाले विचार अनेक रूपों में हमारे साहित्य और इतिहास में प्रकट होते रहे हैं। अथर्ववेद (९।१।१३) में कहा है—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां
पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।

अर्थात्—"इस विश्व का निर्माण करने वाली जो प्राणधारा है, उसकी बहुत प्रकार की अलग-अलग मीमांसा विचारशील लोग करते हैं, पर उनमें विरोध या विप्रतिपत्ति नहीं है। कारण कि वे सब मन्तव्य विचारों के विकल्प मात्र हैं, मूलगत शक्ति या तत्त्व एक ही है।"

उत्तरकालीन दर्शन इसी भेद को समन्वय प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे भेद के विभ्रम से खिन्न होकर एकता की वाणी बार-बार प्रत्येक युग में ऊँचे स्वर से पुकार उठती है। अनेक देवताओं के जंजाल में जब बुद्धि को कर्तव्याकर्तव्य की थाह न लगी तो किसी तत्त्वदर्शी ने उस युग का समन्वय-प्रधान संगीत इस प्रकार प्रकट किया—

'आकाश से गिरा हुआ जल जैसे समुद्र की ओर बह जाता है, उसी प्रकार चाहे जिस देवता को प्रणाम करो सब का पर्यवसान केशव की भक्ति में है"—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

अवश्य ही इस श्लोक का केशव पद निजी इष्ट देवों का समन्वय करने वाले उसी एक महान् देव के लिए है, जिसके लिए प्रारम्भ में ही कहा गया था—एकमेवाद्वितीयम्। वह एक ही है, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ नहीं है। वही एक आत्मा वह सुपर्ण या पक्षी है जिसे विद्वान् (विप्र) कवियों ने नाना नामों से कहा है—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

शैव और वैष्णवों के पारस्परिक बवंडरों ने इतिहास को काफ़ी क्षुब्ध किया, परन्तु उस मन्थन के बीच में भी युग की वाणी ने प्रकट होकर पुकारा—

एकात्मने नमस्तुभ्यं हरये च हराय च

अथवा कालिदास के शब्दों में—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
(कुमार० ७।४४)

"सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही मूर्ति के तीन रूप हो गये हैं। इन सब में छोटे-बड़े की कल्पना निस्सार है।"

परन्तु समन्वय की यह प्रवृत्ति हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं रही। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रांगण में भी इस भाव ने अपना पूरा प्रभाव फैलाया। सर्वप्रथम तो हमारे इतिहास के स्वर्ण-युग के सबसे उत्कृष्ट और मेधावी विद्वान् महाकवि कालिदास ने ही युगवाणी के रूप में यह घोषणा की—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥
(रघु० १०।२६)

"जैसे गंगा जी के सभी प्रवाह समुद्र में जा मिलते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कहे हुए सिद्धि प्राप्त कराने वाले अनेक मार्ग आप में ही जा पहुँचते हैं।"

भिन्न-भिन्न आगमों के प्रति समन्वय और सहिष्णुता का भाव—यही तो संस्कृत युग अथवा विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का सबसे महान् रचनात्मक भाव है, जिसने राष्ट्रीय संस्कृति के वैचित्र्य को एकता के सांचे में ढाला। जैन दर्शन के परम उद्भट ऋषि श्री सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'वेदवादद्वात्रिंशिका (बत्तीसी)' नामक ग्रन्थ में उपनिषदों के सरस ज्ञान के प्रति भरपूर आस्था प्रकट की है। विक्रम की अष्टम शताब्दी के दिग्गज विद्वान् श्री हरिभद्र सूरि ने, जिनके पांडित्य का लोहा आज तक माना जाता है, स्पष्ट और निश्चित शब्दों में अपने निष्पक्षपात और ऋजुभाव को व्यक्त किया है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।

"महावीर की वाणी के प्रति मेरा पक्षपात नहीं और न कपिल आदि दार्शनिक ऋषियों के प्रति मेरे मन में वैर-भाव है। मेरा तो यही कहना है कि जिसका वचन युक्ति-पूर्वक हो उसे ही स्वीकार करो।"

परन्तु इस भाव का सबसे ऊँचा शिखर तो श्री हेमचन्द्राचार्य में मिलता है। हेमचन्द्र मध्यकालीन साहित्यिक संस्कृति के चमकते हुए हीरे हैं। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में जैसी तेज आँख उनको प्राप्त हुई, वैसी अन्य किसी को नहीं। वस्तुतः वे हिन्दी युग के आदि आचार्य हैं। उनकी 'देशी नाममाला' संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त ठेठ देशी भाषा या हिन्दी के शब्दों का विलक्षण संग्रह-ग्रन्थ है। यह बड़े हर्ष और सौभाग्य की बात है कि हेमचन्द्र इस प्रकार का एक देशी शब्दसंग्रह हमारे लिए तैयार कर गये। हिन्दी के पूर्व युग अथवा भाषाओं के सन्धिकाल में रचे जाने के कारण उसका महत्त्व अत्यधिक है। विचार के क्षेत्र में भी एक प्रकार से हेमचन्द्र आगे आने वाले युग के ऋषि थे। हेमचन्द्र की समन्वय बुद्धि में हिन्दी के आठ सौ वर्षों का रहस्य ढूंढ़ा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि महाराज कुमारपाल के साथ जिस समय हेमचन्द्र सोमनाथ के मन्दिर में गये, उनके मुख से यह अमर उद्गार निकल पड़ा—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥[1]

"संसार रूपी बीज के अंकुर को हरा करने वाले राग-द्वेष आदिक विकार, जिसके मिट चुके हैं, मेरा प्रणाम उसके लिए है, फिर वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव या तीर्थंकर, इनमें से कोई क्यों न हो।" इस प्रकार की उदात्त वाणी धन्य है। जिन हृदयों में इस प्रकार की उदारता प्रकट हो वे धन्य हैं। इस प्रकार की भावना राष्ट्र के लिए अमृत बरसाती है।

नई दिल्ली]



[1] ऊपर लिखे हुए श्री हरिभद्र सूरि और हेमचन्द्राचार्य के वचनों के लिए हम श्री साराभाई मणिलाल नवाब के ऋणी हैं।

दो महान संस्कृतियों का समन्वय

श्री शान्तिप्रसाद वर्मा एम्० ए०

मुसलमानों के सम्पर्क में आने के पहले हिन्दू-सभ्यता विकास के एक ऊँचे शिखर तक पहुँच चुकी थी। धर्म और संस्कृति, कला और विज्ञान, साहित्य और सदाचार, सभी में उसने एक अभूतपूर्व महानता प्राप्त कर ली थी। उधर अरब में इस्लाम की स्थापना के साथ-ही-साथ एक ऐसी सभ्यता का जन्म हुआ जो अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही एक के बाद एक नई सभ्यता के सम्पर्क में आती गई और धीरे-धीरे कई मृतप्राय संस्कृतियों को पुनर्जीवित करती हुई और स्वयं अपने में नये-नये तत्त्वों का समावेश करती हुई स्पेन के पश्चिम से चीन के दक्षिण तक फैल गई। हिन्दुस्तान की ज़मीन पर इन दो महान् संस्कृतियों का सम्पर्क मुस्लिम राज्य की स्थापना के बहुत पहले से प्रारम्भ हो चुका था। इस सम्पर्क का सूत्रपात दक्षिण भारत में हुआ। दक्षिण भारत से अरब-वासियों के व्यापारिक सम्बन्ध शताब्दियों पहले से चले आ रहे थे। उनके मुस्लिम-धर्म स्वीकार कर लेने से इन सम्बन्धों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ी। दक्षिण भारत के हिन्दू-निवासी उसी प्रेम और आदर से अरब वालों का स्वागत करते रहे, जैसा वह पहले किया करते थे। मुसलमानों के लिए स्थान-स्थान पर मस्जिदें बना दी गईं।[1] मलाबार के कई राजाओं ने इस्लाम धर्म की दीक्षा ले ली थी।[2] दक्षिण के प्रायः सभी राज्यों में मुसलमान उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे।[3] मलिक काफ़ूर ने जब दक्षिणभारत पर आक्रमण किया तो वीर बल्लाल की जिस सेना ने उसका मुक़ाबिला किया था उसमें बीस हज़ार मुसलमान भी थे।[4] खलीफ़ा उमर ने बहुत पहले यह फ़तवा दे दिया था कि हिन्दुस्तान ऐसा देश नहीं है जिसे जीतने की आवश्यकता हो, क्योंकि यहाँ के निवासी विनम्र और सहिष्णु माने जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि वे मुसलमानों के धार्मिक कृत्यों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालेंगे।[5]

आने वाली शताब्दियों में जब मुसलमानों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया तो उनका उद्देश्य इस देश में इस्लाम-धर्म का प्रचार करने का नहीं था। वे या तो लूटमार के उद्देश्य से आये थे, या मध्य एशिया की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों ने उन्हें मजबूर कर दिया था कि वे यहाँ आकर आश्रय खोजें। मुहम्मद ग़ज़नी का स्पष्ट उद्देश्य हमारे मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों में एकत्रित की गई धन-राशि को लूट ले जाने का था। उससे वह ग़ज़नी की समृद्धि को बढ़ाना चाहता था और साथ ही अपनी विजय से प्राप्त प्रतिष्ठा को वह मध्य एशिया में अपनी राजनैतिक स्थिति को मज़बूत बनाने में लगाना चाहता था।[6] मोहम्मद ग़ोरी और उसके साथियों के सामने यह आकांक्षा भी

---

[1] मसूदी ने, जो दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दक्षिण भारत में आया था, मलाबार के एक ही नगर में दस हज़ार मुसलमानों को बसे हुए पाया। अबूदुलफ़ मुहाल्हिल इब्न सईद व मार्को पोलो ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। इब्न बतूता ने चौदहवीं शताब्दी में समस्त मलाबार-प्रदेश को मुसलमानों से भरा हुआ पाया। उसने स्थान-स्थान पर उनकी बस्तियाँ व मस्जिदों के होने का ज़िक्र किया है। —इलियट और डॉसन, पहला भाग

[2] लोगन : मलाबार, १ला भाग, पृ० २४५

[3] सुन्दर पांड्य के शासन-काल में तक़ीउद्दीन को मन्त्रित्व का भार सौंपा गया और कई पीढ़ियों तक यह पद उसी के कुटुम्ब में रहा। —इलियट और डॉसन, तीसरा भाग

[4] इब्न बतूता ने इस घटना का ज़िक्र किया है।

[5] विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए—

Tarachand : Influence of Islam on Indian Culture.

[6] Habib : Mahmud of Ghazni.

नहीं थी। मध्य एशिया में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। यहाँ की उस समय की राजनैतिक दुरवस्था का लाभ उठाकर वे लोग यहाँ बस रहना चाहते थे। इन विजेताओं में न तो इस्लाम को समझने की शक्ति थी, न उसे फैलाने का जोश। स्वभावतः ही उनके साथ इस्लाम जिस रूप में हिन्दुस्तान में आया, वह उसके उस रूप से बहुत भिन्न था, जो दक्षिण भारत के रहने वालों ने अरब व्यापारियों के विश्वास में देखा था। इस्लाम का यह रूप हज़रत मुहम्मद साहिब के शिक्षण और प्रारम्भिक खलीफ़ाओं के जीवन से बिलकुल भिन्न था—दोनों के बीच कई शताब्दियों का अन्तर था—शताब्दियाँ जिन्होंने इस्लाम के इतिहास में कई उतार-चढ़ाव देखे थे, उमय्यद-काल की प्रचंडता और अब्बासी-काल का वैभव, सभ्य ईरान की धार्मिक कट्टरता और बर्बर मंगोलों की पाशविक रक्त-पिपासा।

यही कारण था कि उत्तरी-भारत में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक साथ, बिना किसी व्यवधान के, बहुत निकट सम्पर्क में न आ सकीं। हिन्दू, राजनैतिक संगठन की कमी के कारण मुसलमानों की विजय के पथ में तो कोई बड़ी रुकावटें खड़ी नहीं कर सके, पर उनकी बर्बरता और धार्मिक असहिष्णुता से खीझ कर उन्होंने अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन के चारों ओर एक मज़बूत क़िलेबन्दी कर ली। मुसलमान देश को जीत सकते थे, पर उसके निवासियों के सामाजिक जीवन में उनका प्रवेश बिलकुल निषिद्ध था। वह हमारे खान-पान और विवाह-सम्बन्धों से बहिष्कृत थे। यह पहला मौक़ा था जब हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर निषेध की इतनी मज़बूत दीवारें खड़ी कर ली थीं। इसके पहले सदा ही, बाहर वालों के लिए उनके द्वार खुले रहा करते थे। दूसरी ओर भी यह पहला ही अवसर था जब मुसलमानों ने किसी देश पर विजय प्राप्त की थी, पर वे उसके सामाजिक जीवन से इस प्रकार अलहदा फेंक दिये गये थे। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने, जो बहुत कम दिन टिक सकीं, सामाजिक असहयोग की इस भावना को मज़बूत बनाया। मुसलमान बहुत थोड़ी संख्या में इस देश में आये थे। थोड़े ही दिनों में वह आंधी की तरह चारों ओर फैल गये थे और महासागर में दूर-दूर फैले हुए द्वीपों के समान उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य खड़े कर लिये थे। जनता के संगठित तिरस्कार के सामने उनके लिए भी यह ज़रूरी हो गया कि वे मुस्लिम-समाज के सभी तत्त्वों और विवाह-सम्बन्धों से उन्हें बहिष्कृत करें। यह पहला मौक़ा था जब हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर सामाजिक बहिष्कार की इतनी मज़बूत शृंखलाएँ गढ़ना आरम्भ की। इसके पहले सदा ही बाहर वालों के लिए उनके द्वार खुले रहा करते थे। दूसरी ओर भी, यह पहला ही अवसर था, जब मुसलमान किसी देश में घुस तो पड़े, पर उसके सामाजिक जीवन में लेश-मात्र भी प्रभाव न डाल सके। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने इस सामाजिक भावना को दृढ़ बनाया। मुसलमान आंधी की तरह समस्त उत्तरी हिन्दुस्तान में फैल तो गये थे, पर संख्या की दृष्टि असहयोग की से उनकी स्थिति ऐसी ही थी जैसे कि एक महासागर में फैले हुए छोटे-छोटे द्वीपों की होती है। इसलिए हिन्दुओं के सामाजिक बहिष्कार के सामने, उनके लिए भी यह ज़रूरी हुआ कि वह अपना संगठन मज़बूत बनाएँ। इसी कारण हम मुस्लिम-समाज के कई तत्त्वों, शासक वर्ग, धार्मिक नेताओं और मुस्लिम मतानुयायियों को एक दूसरे के बहुत निकट सम्पर्क में आते हुए पाते हैं।

पर यह स्थिति अप्राकृतिक थी और अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती थी। दो जीवित, जाग्रत, उन्नतिशील समाज इतना नज़दीक रहकर एक दूसरे के सम्पर्क से अपने को बचा नहीं सकते थे। इसी कारण हम देखते हैं कि ईल्तु-तमिश ने मुसलमानों के आन्तरिक संगठन की जिस नीति की नींव डाली थी और जिसके आधार पर ही वह उत्तरी भारत में मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना कर सका था, वह उसकी मृत्यु के बाद कुछ दिनों भी टिक न सकी। बलबन ने उसकी उपेक्षा की, अलाउद्दीन खिलजी ने धर्म और राजनीति के भेद को अधिक स्पष्ट किया और मुहम्मद तुग़लक़ ने एक विरोधी नीति को विकास की चरम-सीमा तक पहुँचा दिया। इस संकुचित नीति के टूट जाने का कारण स्पष्ट था। मुसलमान-विजेताओं के साथ-साथ, उनके पीछे-पीछे, कभी उनके आश्रय में और कभी स्वाधीन रूप से, मुसलमान धर्म-प्रचारकों की एक अनवरत शृंखला भी इस देश में दाखिल होती रही। आज जो हम अपने देश की आबादी का चतुर्थांश इस्लाम के अनुयायियों को पाते हैं, उसका कारण इन प्रचारकों का प्रयत्न है, न कि मुसलमान शासकों का

ज़बर्दस्ती।* दसवीं शताब्दी में मंसूर अल हल्लाज, ग्यारहवीं में बाबा रीहान और उनके दर्वेशों का दल, शेख इस्माइल बुखारी और बारहवीं में फ़रीदुद्दीन अत्तार और तज़्किरत-उल-औलिया, तेरहवीं में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और शेख जलालुद्दीन तबरेज़ी, सैयद जलालुद्दीन बुखारी और बाबा फ़रीद, चौदहवीं में अब्दुल करीम अल्जीली—और इनके साथ और असंख्य छोटे-मोटे प्रचारक—इन सबका एक ताँता-सा बन गया। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और आकर्षक प्रचार ने असंख्य हिन्दुओं को अपनी ओर आकर्षित किया। दोनों समाजों का आपसी सम्पर्क दृढ़ से दृढ़तर होता गया। व्यवधान की प्राचीरें एक-एक करके ढह चलीं।

सामाजिक सहयोग

यहाँ हमें इस बात को भी भुला नहीं देना है कि जो मुसलमान बाहर से इस देश में आये उनमें वे लोग नहीं थे, जिन्होंने पैग़म्बर में अथवा प्रारम्भिक खलीफ़ाओं के नेतृत्व में इस्लाम का झंडा दूर-दूर देशों में गाड़ा था और जिनकी आत्मा एक महान् आदर्श से प्रज्वलित हो उठी थी, बल्कि वे लोग थे जिनके सामने कोई बड़ा आदर्श नहीं था, जो भिन्न-भिन्न फ़िरक़ों में बँटे हुए थे और जिन्हें लूट-मार की भावना से प्रेरित कुछ स्वार्थी नेताओं ने भिन्न-भिन्न देशों से बटोर लिया था। विजय का मद उनमें था, पर वह कब तक टिक पाता? धार्मिक प्रचारक केवल धर्म का सन्देश लाये थे। सामाजिक संगठन की विभिन्नता को सुरक्षित रखने पर उनका आग्रह नहीं था। उनके प्रभाव में जिन लाखों व्यक्तियों ने इस्लाम की दीक्षा ली, उन्हें उस समाज-व्यवस्था की तनिक भी जानकारी नहीं थी, जिसका निर्माण मुसलमानों ने हिन्दुस्तान के बाहर के देशों में किया था। ऐसी परिस्थिति में वही हुआ जो कि स्वाभाविक था। मुसलमान धर्म के द्वारा इस देश की सनातन परम्परा से अलहदा हो गये, पर उन्होंने न तो इस देश की समाज-व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की और न उसके मुक़ाबिले में किसी अन्य समाज-व्यवस्था का निर्माण किया। हिन्दू-संस्थाएँ क़ायम रहीं और धीरे-धीरे मुसलमान उन्हें स्वीकृत करते गये। इस प्रकार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की छत्रछाया में एक नये समाज का निर्माण हुआ, जिसमें विभिन्न मतावलम्बी तो थे, पर जो एक ही समाज-व्यवस्था को मानते थे। शहरों में संगठन की दिशा कुछ भिन्न थी, पर वहाँ भी हिन्दू और मुसलमान वाणिज्य और व्यापार के डोरों द्वारा एक दूसरे से बँधते गये। शासन-व्यवस्था में भी हिन्दू पदाधिकारियों की संख्या बढ़ने लगी। चारों ओर सहयोग, साहचर्य और सौहार्द्र की भावना ने ज़ोर पकड़ा। जो बर्बर विजेता के रूप में आये थे, वे हमारे सामाजिक जीवन के एक अंग बन गये। केवल एक चीज़ व्यवधान बनकर उनके बीच में खड़ी रह गई थी। वह था उनका धार्मिक मतभेद, पर धर्म धीरे-धीरे व्यक्ति के विश्वास और आचार की वस्तु बन गया। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के धार्मिक प्रचार और व्यवहार के प्रति सहिष्णु बन गये और सामाजिक धरातल पर उन्होंने एक दूसरे के धार्मिक कृत्यों में भी उदारता से भाग लेना आरम्भ कर दिया।

धार्मिक सहिष्णुता

सामाजिक सहयोग के साथ-साथ धार्मिक सहिष्णुता की भावना भी प्रबल होती चली। ऊपर से देखने से तो यह जान पड़ता है कि मूर्त्ति-पूजक हिन्दू-धर्म और मूर्त्ति-भंजक इस्लाम में कहीं तादात्म्य है ही नहीं, पर कई शताब्दियों पहले से बौद्ध धर्म और हिन्दू वेदान्त के प्रचारक मुस्लिम देशों में फैल गये थे और सूफ़ी-मत के विकास पर उनका प्रभाव स्पष्ट ही पड़ रहा था, यद्यपि यह भी सच है कि सूफ़ी सिद्धान्तों की बुनियाद हमें क़ुरान-शरीफ़ की कुछ आयतों में ही मिल जाती है। सूफ़ी-मत के बाद के सिद्धान्तों पर हिन्दू-दर्शन का प्रभाव पड़ा। निर्वाण, साधना, भोग आदि ने ही फ़ना, तरीक़ा, मराक़बा का रूप ले लिया। दूसरी ओर इस्लाम के सिद्धान्तों का बहुत बड़ा प्रभाव हिन्दू-दर्शन पर भी पड़ा। सुधार की नई धारा का प्रारम्भ दक्षिण-भारत से ही हुआ था, जहाँ हिन्दू-दर्शन पहली बार इस्लाम

---

*T. W. Arnold : Preaching of Islam.

के सिद्धान्तों के सम्पर्क में आया था। दक्षिण-भारत में ही बौद्ध और जैन धर्मों के रूखे अध्यात्म की प्रतिक्रिया के रूप में शैव और वैष्णव पन्थों का प्रारम्भ हुआ। इनका आग्रह आरम्भ से ही जीवन के उपासना-पक्ष पर था। उपासना के आधार के लिए सगुण-ब्रह्म की आवश्यकता पड़ी। यह कहना कठिन है कि सगुण-ब्रह्म की कल्पना के पीछे इस्लाम के नये सिद्धान्तों का प्रभाव कितना था, पर शंकराचार्य के अध्यात्म-दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव, जो उनकी जन्म-भूमि के आसपास पूरे ज़ोर पर था, बिलकुल भी नहीं पड़ा, यह मानना भी आसान नहीं है। मध्य-काल का हिन्दू-दर्शन ज्यों-ज्यों विकास पाता गया, इस्लाम का प्रभाव उस पर अधिक स्पष्ट होता गया। शंकराचार्य के अद्वैतवाद ने धीरे-धीरे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का रूप लिया, और तब वह वल्लभाचार्य के द्वैतवाद में विकसित हुआ। द्वैतवाद की मनोरम कल्पना के पीछे से, सूफ़ी-मत के अधिक सीधे सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप, भक्ति की धारा का फूट निकलना तो सहज-स्वाभाविक ही था।

उत्तरी-भारत में तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में जो सिद्धान्त फैले उन पर तो मुस्लिम प्रभाव बहुत सीधा ही पड़ रहा था। रामानन्द ने विष्णु की कल्पना को और भी सहज-सुलभ बनाकर राम का रूप दिया। उन्होंने भक्ति की दीक्षा चारों वर्णों को दी। कबीर ने तो रीति-रिवाज और जात-पांत को उठा कर एक ओर रख दिया और राम और रहीम की एकता पर पूरा ज़ोर दिया। उनके सिद्धान्तों पर तो मौलाना रूमी, शेख सादी और दूसरे सूफ़ी कवियों और सन्तों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। नानक और दादू की साखियों में हिन्दू और मुसलमान धर्मों के सामंजस्य के इस प्रयत्न को हम और भी बढ़ा हुआ पाते हैं। नानक तो सूफ़ी-रंग में इतने रंग गये थे कि यह कहना कठिन हो जाता है कि हिन्दू-धर्म का उन पर कितना प्रभाव था। वैदिक और पौराणिक सिद्धान्तों की उन्हें कम ही जानकारी थी। दादू का भी यही हाल था। दो-तीन शताब्दियों तक देश भक्ति की उत्ताल तरंगों में एक नई प्रेरणा से स्पन्दित-विभोरित होकर डूबता-उतराता रहा। हिन्दुओं में भक्ति-आन्दोलन अपने पूरे ज़ोर पर था और मुसलमानों में सूफ़ियों की नई-नई जमातें, चिश्ती, सुहरावर्दी, नक़्शबन्दी आदि 'प्रेम की पीर' का प्रचार कर रही थीं। भावना के इस व्यापक प्रदेश में हिन्दू और मुसलमानों का एक दूसरे के समीप से समीपतर आते जाना स्वाभाविक ही था। उससे भी नीचे स्तर पर, जहाँ साधारण जनता के आचार-विचार, रीति-रिवाज, पीर-पूजा और मानता-मनौती का सम्बन्ध था, हिन्दू और मुसलमानों में भेद करना असम्भव ही था। एक ही पीर या साधु की परस्तिश-गाह पर हिन्दू और मुसलमान सभी इकट्ठा होते थे।

राजनैतिक समझौता

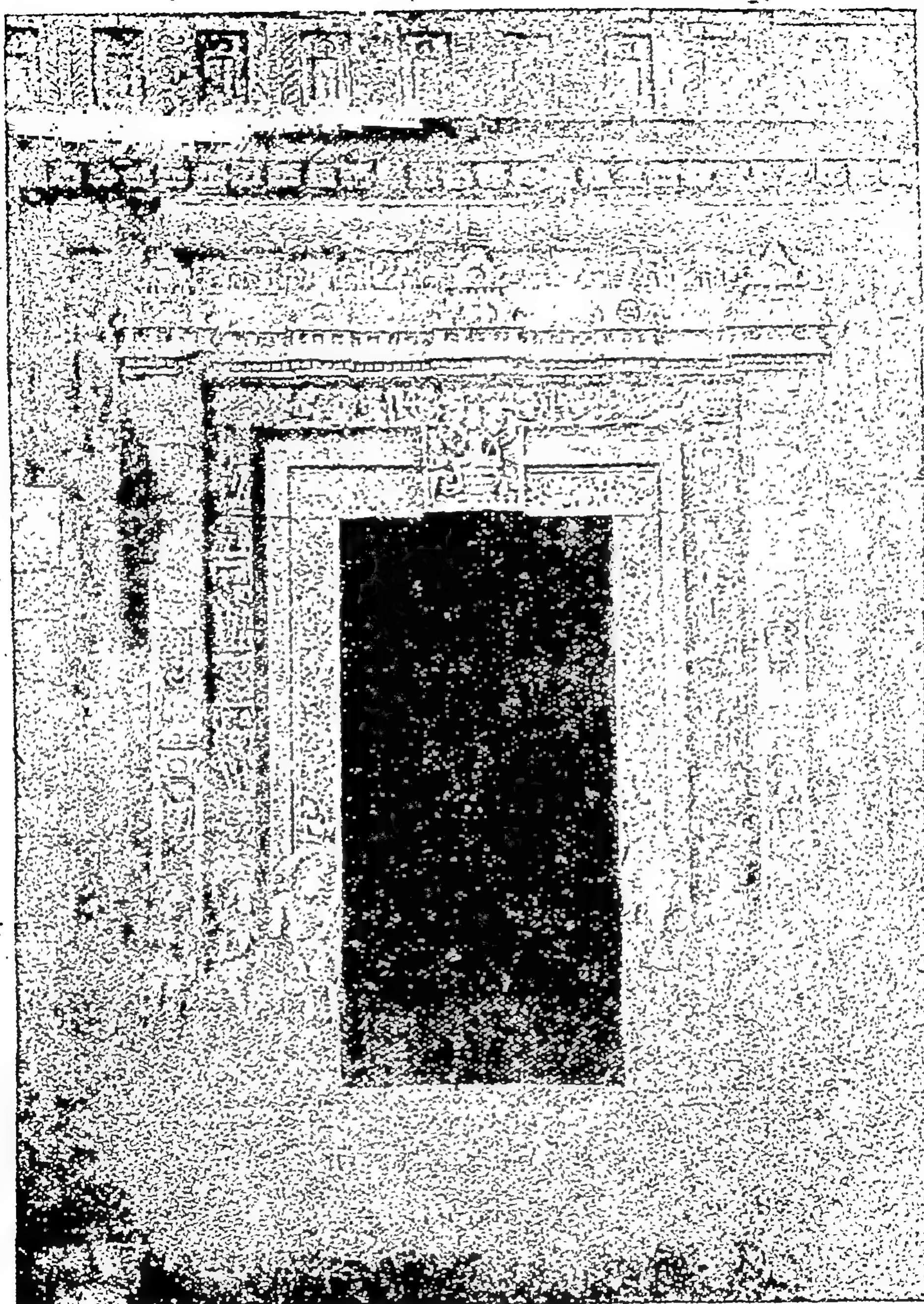
हृदय की इस एकता के आधार पर राजनैतिक समझौते की भावना का विकास पाना भी सहज और स्वाभाविक ही था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय इतिहास के समस्त मुस्लिम-काल में, केवल दो मुसलमान-शासक, फ़ीरोज़ तुग़लक़ और औरंगज़ेब, ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने शासन-काल में धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया, और वह भी थोड़े वर्षों के लिए और विशेष राजनैतिक परिस्थितियों के कारण। अन्य शासकों ने, और इन दोनों शासकों ने भी, अपने शासन-काल के शेष भाग में धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का ही पालन किया। कुछ ने इस्लाम का पक्ष लिया, पर हिन्दू-धर्म के साथ दुर्भावना नहीं रक्खी। अकबर के बहुत पहले कश्मीर का सुल्तान जैनुल-आबिदीन अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के लिए प्रसिद्ध था। उसने जज़िया हटा दिया और संस्कृत के कई ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया। बंगाल में अलाउद्दीन हुसैन शाह की भी वही नीति रही। शेरशाह हिन्दू जनता में वक़्फ़ बाँटा करता था। सम्राट् अकबर के शासन-काल में यह प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा तक जा पहुँची। मुग़ल सम्राटों ने समस्त शासन का संगठन जिन सिद्धान्तों पर किया वे भारतीय पहले थे, सैरेसेनिक, ईरानी या मुस्लिम बाद में। संस्थाओं में थोड़ा हेर-फेर हुआ, पर मूलतः वे वही रहीं जो सनातन काल से चली आ रही थीं। धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने भारतवर्ष के मुस्लिम शासन में धर्म का स्थान ले लिया था।

धार्मिक सहिष्णुता की इस नीति का ही यह परिणाम था कि मुस्लिम-शासन इस देश में इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि मुग़ल-साम्राज्य के पतन के डेढ़ सौ वरस के वाद भी, १८५७ के ग़दर में, मुग़ल-वंश के ही किसी उत्तराधिकारी को समस्त देश का शासक वनाने का प्रयत्न किया गया। वीच में भी लगातार इस प्रकार के प्रयत्न चलते रहे। उत्तर-भारत में १७७२ से १७९४ तक महादाजी सिन्धिया का आधिपत्य रहा, पर अपने शासन के लिए नैतिक वल प्राप्त कराने की दृष्टि से उसके लिए यह आवश्यक हुआ कि वह मुग़ल-वंश के शाह आलम को अंग्रेज़ों की क़ैद से छुड़ा कर दिल्ली की गद्दी पर विठाए और जव ग़ुलाम क़ादिर के द्वारा शाह आलम की आँखें फोड़ दी गईं तव भी तो महादाजी उसे शाहंशाहे आलम मानता रहा। सच तो यह है कि हिन्दू और मुसलमानों के नौ सौ वर्षों के सम्पर्क में यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में काफ़ी संघर्ष रहा, पर उस संघर्ष ने कभी, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक आधार लेकर, साम्प्रदायिक संघर्ष का रूप नहीं लिया। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में मध्य-भारत में, गुजरात, मेवाड़ और मालवा में लगातार संघर्ष रहा, पर इसमें गुजरात के सुल्तान प्रायः उतनी ही वार मेवाड़ के राणा के पक्ष में, और मालवा के सुल्तान के ख़िलाफ़ लड़े, जितनी वार वह मालवा के सुल्तान के पक्ष में, मेवाड़ के राणा के ख़िलाफ़, लड़े। वावर और हुमायूँ ने, पठानों के ख़िलाफ़, राजपूतों का साथ दिया। मुग़ल-साम्राज्य के पतन के वाद भी निज़ाम मराठा-साम्राज्य के अन्तर्गत था, न कि मैसूर के सुल्तान के साथ और राजपूतों की सहानुभूति मराठों के साथ कम और रुहेलों के साथ ज़्यादा रही। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि वीसवी शताब्दी के पहले हिन्दू और मुसलमान कभी एक दूसरे के ख़िलाफ़ धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक मतभेद के आधार पर नहीं लड़े थे।

सांस्कृतिक समन्वय

राजनैतिक एकता का सहारा लेकर सांस्कृतिक समन्वय की स्थापना हुई। इस प्रवृत्ति का आरम्भ तो एक सामान्य भाषा की उत्पत्ति के साथ ही हो चुका था। हिन्दी व्रजभाषा और फ़ारसी के सम्मिश्रण का परिणाम थी। उसका शव्दकोष, वाक्य-विन्यास, व्याकरण, सभी दोनों भाषाओं की सामान्य देन है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने इस भाषा को वनी वनाया। अमीर खुसरो हिन्दी भी उतनी ही धाराप्रवाह लिख सकता था जितना फ़ारसी। अकवर ने उसे प्रोत्साहन दिया। खानखाना, रसखान और जायसी, हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं। जायसी तो मध्य-कालीन हिंदी के तीन सर्वश्रेष्ठ लेखकों में हैं और हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति में कई स्थलों पर तुलसी और सूर से भी वाज़ी मार ले गये हैं। अन्य प्रान्तीय भाषाओं, मराठी, वँगला, गुजराती, सिन्धी आदि पर भी मुसलमानों का प्रभाव उतना ही पूर्ण पड़ा। मराठी तो वहमनी-वंश के संरक्षण में ही साहित्यिकता की सतह तक उठ सकी। वँगला का विकास भी मुस्लिम-शासन की स्थापना के परिणाम-स्वरूप ही हुआ। दिनेशचन्द्र सेन का मत है कि "यदि हिन्दू शासक स्वाधीन वने रहते तो (संस्कृत के प्रति उनका अधिक ध्यान होने के कारण) वँगला को शाही दरवार तक पहुँचने का मौक़ा कभी नही मिलता।"

सांस्कृतिक समन्वय की यह प्रवृत्ति वास्तुकला और चित्र-कला के क्षेत्रों में अपनी चरम-सीमा तक पहुँची है। मुस्लिम वास्तुकला का सर्वोच्च विकास इसी देश में हुआ। काहिरा की मस्जिदों में भी फ़ैज़ पाशा के शव्दों में "कला की सम्पूर्ण मनोरमता नही है। सामंजस्य, अभिव्यक्ति, सजावट, सभी में एक ऐसी अपूर्णता है, जो अधिकांश उत्तरी आलोचकों का ध्यान वरवस अपनी ओर खीचती है।" ईरान की मुस्लिम कला में भी हम यही वात—भव्य सजावट और वैज्ञानिक कौशल का अभाव—पाते है। ताजमहल हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तुकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, परन्तु वह संसार की अन्य इस्लामी इमारतों से विलकुल भिन्न है। उसके निर्माण में हिन्दू शिल्प-शास्त्रों के सिद्धान्तों का अधिक पालन किया गया है। वीच में एक वड़ा गुम्वद और उसके आसपास चार छोटे-छोटे गुम्वद देखकर पंचरत्न की कल्पना का स्मरण हो आता है। गुम्वदों की जड़ों में कमल की खुली हुई पंखड़ियाँ हैं जो मानों गुम्वद को धारण किये हुए हैं। शिखर के समीप कमल की उल्टी पंखड़ियाँ हैं। शिखर के ऊपर त्रिशूल है। हैवल ने



विष्णुमंदिर का प्रवेश-द्वार
(देवगढ़)

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

ठीक ही लिखा है कि सेंटपाल का गिरजा और वेस्टमिन्स्टर एवे अंग्रेजी कला के उतने सच्चे नमूने नहीं हैं जितना ताज हिन्दुस्तानी कला का। लेकिन हैवल के इस मत से मैं सहमत नहीं हूँ कि हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तुकला इस कारण ही महान् हो सकी कि उसका विकास उन हिन्दू कारीगरों के हाथों हुआ जो हिन्दू-संस्कृति में डूबे हुए थे। इस देश में आने के पहले ही मुसलमान इस क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर चुके थे। मुस्लिम काल की भारतीय वास्तु-कला के पीछे इस्लामी प्रेरणा भी उतनी ही प्रबल है जितना हिन्दू प्रभाव। यह मुस्लिम प्रेरणा का ही परिणाम था कि उनके शासनकाल में वास्तुकला का इतना विकास हो सका। सर जॉन मार्शल का मत है कि पुरानी दिल्ली की कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद और ताज के पवित्र और भव्य मक़बरे की कल्पना मुस्लिम प्रभाव के बिना नहीं की जा सकती। भारत की मुस्लिम-कला की महानता इसी में है कि वह दो महान् संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है।

चित्रकला के क्षेत्र में भी हम यही बात पाते हैं। मुग़ल चित्रकारों के सामने एक ओर तो अजन्ता की पद्धति थी, दूसरी ओर समरक़न्द और हिरात, इस्पहान और बग़दाद के चित्रकारों की कृतियाँ थीं। दोनों के समन्वय से मुग़ल-कला का जन्म हुआ। अजन्ता की कला में एक विचित्र जीवन-शक्ति थी। समरक़न्द और हिरात की कला में समन्वय, सन्तुलन और सामंजस्य की भावना प्रमुख थी। दोनों के मिश्रण में जहाँ एक ओर दोनों की मूल-प्रेरणाओं को कुछ क्षति पहुँची, वहाँ रंग का रूप और रेखा की संवेदनशीलता निखर उठी।* शाहजहाँ के प्रमुख चित्रकारों में हमें एक ओर तो कल्याणदास, अनूप चतर और मनोहर के नाम मिलते हैं और दूसरी ओर मुहम्मद नादिर समरक़न्दी मीर हाशिम और मुहम्मद फ़क़ीरुल्ला खाँ के। हिन्दू और मुसलमान कलाकारों ने मिलकर मुग़ल-चित्रकला को जन्म दिया था। डॉ० कुमारस्वामी और कुछ अन्य लेखकों ने मुग़ल और राजपूत कलाओं में कुछ मूलभूत भेद बताने की चेष्टा की है, पर गहराई से देखा जाये तो राजपूत-कला, एक विभिन्न वातावरण में, मुग़ल-कला के सिद्धान्तों के प्रयोग का ही उदाहरण है।

सत्रहवीं शताब्दी : मतभेद का प्रारंभ

हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में सहयोग और समन्वय की जो प्रवृत्ति शताब्दियों की सीमाओं को लाँघती हुई दृढ़तर होती जा रही थी, सत्रहवीं शताब्दी में उसमें एक गहरी ठेस पहुँची। एक ओर तो कबीर, दादू और दूसरे सन्तों की वाणी द्वारा रूढ़िप्रियता और कट्टरता पर जो आक्रमण किया जा रहा था और दूसरी ओर भक्ति के आवेश में जो उच्छृङ्खलता फैलती जा रही थी, उसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर अच्छा नहीं पड़ रहा था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप समाज की मर्यादा पर ज़ोर देने वाले विचारक हमारे सामने आये। महाराष्ट्र के सन्तों का ज़ोर समाज की मर्यादाओं को तोड़ फेंकने पर नहीं था, परन्तु उसमें रहते हुए सुधार करते रहने पर था। तुलसीदास और उनका रामचरितमानस तो सामाजिक उच्छृङ्खलता की प्रतिक्रिया के मानों प्रतीक ही हैं। धर्म का आधार लेकर समाज में सुधार करने की जो प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी, उसका राजनैतिक स्तर पर आ जाना सहज-स्वाभाविक इसलिए था कि मुस्लिम-शासन उन उदार प्रवृत्तियों के साथ, जिनका विरोध किया जा रहा था, इतना अधिक सम्बद्ध हो गया था कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। इसी कारण मराठों और बुन्देलों, राजपूतों और सिखों में जो नई धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं, वे प्रबल होते ही मुग़ल-साम्राज्य से जा टकराईं।

हिन्दू समाज में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इन प्रवृत्तियों ने मुग़ल-साम्राज्य को एक अजीब उलझन में डाल दिया। अबतक उसे हिन्दुओं का पूरा सहयोग मिल रहा था, पर अब वे उससे न केवल कुछ खिंच से चले, अपितु उन्होंने अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करना आरम्भ किया। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि मुग़ल-शासन में मुसलमानों का एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जिसने उसे कट्टर मुसलमानों की संस्था बनाने का प्रयत्न किया। इस विचार-धारा का आरम्भ

---

* P. Brown : Indian Painting.

तो जहाँगीर के शासन-काल में ही हो चुका था, पर शाहजहाँ के कमज़ोर शासन में उसे अपना संगठन करने का अवसर मिल गया। शाहजहाँ के जीवन के अन्तिम वर्षों में उसके योग्य पुत्र औरंगज़ेब ने इस दल का नेतृत्व अपने हाथों में लिया। औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान तो था ही, शासन के अनुभव और योग्यता में भी अपने सब भाइयों से अधिक बढ़ा-चढ़ा था। गद्दी पर बैठने के बाद कुछ वर्षों तक औरंगज़ेब ने हिन्दू स्वत्वों का विरोध न करते हुए इसलाम के सिद्धान्तों पर शासन का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की, पर विचारों का वेग और उसके ज़ोर में घटनाओं का चक्र, इतनी तेज़ी से चल रहा था कि औरंगज़ेब इस कठिन सिद्धान्त का अधिक दिनों तक पालन न कर सका। ज्यों-ज्यों मराठों और सिखों का संगठित विरोध अधिक तीव्र होता गया, औरंगज़ेब को विवश होकर हिन्दू-विरोधी नीति का पालन करना पड़ा। जज़िया फिर से लगा दिया गया। हिन्दू-मन्दिर तोड़े जाने लगे। परिस्थितियों ने मुस्लिम-शासन को फिर एक बार उसी स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया था, जहाँ से उसका आरम्भ हुआ था। उसने फिर एक कट्टर मुसलमानों की संस्था का रूप ले लिया था।

इस सम्बन्ध में कई बातें ध्यान में रखना ज़रूरी हैं। मुस्लिम-शासन को भारतीय जीवन-धारा से अलहदा कर लेने का यह प्रयत्न बहुत थोड़े मुसलमानों तक और केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। वह एक ग़लत और अस्वाभाविक प्रयत्न था, इसमें तो शक ही नहीं। इसी कारण हम यह देखते हैं कि १७०७ ई० में औरंगज़ेब की मृत्यु होने के साथ ही इस प्रयत्न का भी अन्त हो गया। भारतीय जीवन की दो प्रमुख धाराएँ, हिन्दू और मुसलमान, फिर एक दूसरे के साथ-साथ बह चलीं। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों के लिए हिन्दू-जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना ज़रूरी हो गया। शासन को फिर उदारता की नीति बरतनी पड़ी। पर इस बीच हिन्दू और मुसलमान समाजों की विभिन्नता बहुत स्पष्ट हो गई थी। हिन्दी और उर्दू के अलहदा हो जाने से इस प्रवृत्ति को और भी सहारा मिला। इसी बीच कुछ कारण ऐसे हुए जिन के परिणाम-स्वरूप मुस्लिम-समाज पतन की ओर बढ़ चला। बाहर के मुस्लिम-जगत का सम्पर्क बिल्कुल समाप्त हो चुका था। ईरान के सफ़वी राजवंश के पतन के बाद ईरानी सभ्यता भी पतन की ओर बढ़ रही थी। इस कारण उस से प्रेरणा पाना भी सम्भव नहीं रह गया था। निम्न श्रेणियों के हिन्दुओं का अधिक संख्या में मुसलमान हो जाने का भी अच्छा असर नहीं पड़ रहा था। मुसलमानों में ग़रीबी और शिक्षा का अभाव दोनों बढ़ रहे थे। राजनैतिक सत्ता हाथों से जा रही थी। संभव है कि मुग़ल साम्राज्य यदि अपने प्राचीन बल और वैभव को प्राप्त कर पाता तो दोनों संस्कृतियों के समन्वय की धारा एक बार फिर अपने प्रबल वेग से बह निकलती, पर राजनैतिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं। जो तार एक बार टूटा वह फिर जुड़ न सका। पर यह सोचना कि धक्का बहुत गहरा अथवा सांघातिक लगा, इतिहास की सचाई को ठुकराना है। समाज के अन्तराल में शताब्दियों में जिस समन्वय की जड़ जम चुकी थी, वह आसानी से उखाड़ कर फेंकी नहीं जा सकती थी। डा० बेनी प्रसाद के शब्दों में, "निकट भूतकाल के अनुभव भुलाए नहीं जा सके, हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति का जो ढाँचा पाँच शताब्दियों के ज्ञात अथवा अज्ञात सहयोग प्रयत्नों द्वारा बनाया गया था वह न सिर्फ़ क़ायम ही रहा, और मज़बूत बना। वह कड़ी-से-कड़ी परीक्षा में खरा उतर चुका था और देश की पूँजी का अंग बन चुका था।"*

अंग्रेज़ी शासन का प्रभाव

पतन और अनिश्चय की उस संक्रमण-घड़ी में अंग्रेज इस देश में आए। वे अपने साथ एक नई सभ्यता लाए थे, हिन्दू-समाज जो पतनोन्मुख तो था, पर मुस्लिम-समाज जितना गिरा हुआ नहीं था, पश्चिम के नए विचारों के सम्पर्क से पुनर्जीवित हो उठा। इस काल के बंगाल के हिन्दू युवकों में हम पश्चिम के कला और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति से अधिक-से-अधिक सीख लेने की प्रवृत्ति को अपने पूरे वेग पर पाते हैं। ईसाई मिशनरियों द्वारा खोले गए स्कूल और छात्रा-

* Beni Prasad : Hindu Muslim Questions.

वासों, कम्पनी के नौकरों के लिए खोले गए फ़ोर्ट विलियम कॉलेज व शेलवर्न, डेरोज़ियो आदि विदेशी शिक्षकों के संपर्कों के परिणाम-स्वरूप हिन्दू-समाज में जीवन और जाग्रति की एक नई चेतना लहर उठी। अंग्रेज़ी तहज़ीव के प्रति मुसलमानों का दृष्टि-कोण बिल्कुल भिन्न था। उनमें कट्टरता की मात्रा बढ़ी हुई थी। सैकड़ों वर्ष तक इस देश पर शासन करने के मद को वे भूले नहीं थे। उनके लिए ग़ुलामी के नए तौक़ को स्वीकार कर लेना उतना आसान नहीं था। राज्य के बड़े-बड़े ओहदे उनके हाथ से चले ही गए थे। जो कला-कौशल उनके हाथ में थे, ईस्ट-इंडिया कम्पनी की भारतीय उद्योग-धंधों को खत्म कर देने की नीति से उन पर बड़ा धक्का लगा। अंग्रेज़ी शासक भी उनके प्रति सशंक ही थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि काफ़ी लम्बे अर्से तक मुसलमान अंग्रेज़ी-सभ्यता से विमुख और अंग्रेज़ी-शासन से खिचे रहे। इसी कारण हम देखते हैं कि एक ओर जहाँ हिन्दू-समाज में ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज आदि धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों ने जन्म लिया, जो पश्चिम की सभ्यता के अच्छे गुण ले लेने के पक्ष में थीं, मुस्लिम-समाज में फ़रैज़ी और वहाबी आदि आन्दोलन, जो मूलतः अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ़ थे, फैले। मुसलमानों का अंग्रेज़ी-शासन के प्रति क्या रुख था, इसका अच्छा परिचय हमें मिर्ज़ा अबूतालिब की 'अंग्रेज़ी अहद में हिन्दुस्तानी तमद्दुन की तारीख़' में मिलता है। मुसलिम समाज में नई प्रवृत्तियों का सूत्रपात, हिन्दू-समाज के मुक़ाबिले में, बहुत देर से हुआ।

नवयुग और प्राचीन का पुनर्निर्माण

नवीन जीवन की जो चेतना भारतीय समाज में, चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान, व्यापक होती जा रही थी, उसके दो पक्ष थे, जिन्हें कभी हम एक दूसरे से मिलते हुए, कभी साथ-साथ विकसित होते हुए और कभी विरोध में पाते हैं। आधुनिक भारत का नया जीवन कुछ तो पश्चिम के प्रभाव में विकसित हुआ है, कुछ उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप। धार्मिक विचारों में, साहित्य में, चित्रकला में, सभी जगह एक विचार-धारा ऐसी पाते हैं जो पश्चिम के रंग में डूबी हुई है और दूसरी जो भारतीय परम्परा का सीधा विकास है। राम मोहन पर, उपनिषदों में उनका दृढ़ विश्वास होते हुए भी, पश्चिमी विचारों का गहरा प्रभाव स्पष्ट था। दूसरी ओर राधाकान्त देव और राम कोमल सेन कट्टर हिन्दू-सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे। प्रेमचन्द ने आज की समस्याओं का विश्लेषण आज के ढंग से किया है। जय शंकर 'प्रसाद' की आंखों में प्राचीन के स्वप्न नाचा करते थे। बम्बई के चित्रकार पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, बंगाल की चित्रकला अजन्ता की भीतों से प्रेरणा प्राप्त करती है, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में, नवीनता का खुले हाथों स्वागत करने वाली और प्राचीनता के पुनर्निर्माण में व्यस्त ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ पाई जाती हैं, यद्यपि यह कहना गलत नहीं होगा कि हमारी राष्ट्रीयता की मुख्य आधार-भित्ति आज भी आधुनिकता की नींव पर उतनी स्थापित नहीं है, जितनी प्राचीनता के स्तम्भों पर।

हिन्दू-समाज में जिन अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधार-प्रवृत्तियों ने जन्म लिया, उनके पीछे प्राचीनता के पुनर्निर्माण की यह भावना स्पष्ट ही है। राम मोहन राय द्वारा १८२८ ई० में स्थापित किए जानेवाले ब्रह्म-समाज में हम इस भावना को पाते हैं। दयानन्द सरस्वती द्वारा १८७५ ई० में प्रस्थापित आर्य-समाज का तो वह मूल-आधार ही थी। आर्य-समाज वेदों को ब्रह्म-वाक्य मानकर चला था। स्वामी दयानन्द ने स्मृतियों और पुराणों को उस हद तक अमान्य ठहराया जहाँ उनमें वेदों का विरोध पाया जाता था। आर्य-समाज ने तो समस्त देश को एक बार आर्य-संस्कृति के झंडे के तले ला खड़ा करने का महान् आयोजन किया था। उसमें से सभी विदेशी तत्वों को निकाल फेंकने का उनका निश्चय था। आर्य-समाज हिन्दुस्तान से पश्चिमी संस्कृति के संघातक प्रभाव को हटाना तो चाहता ही था, वह उसे एक हज़ार बरस के गहरे मुसलिम प्रभाव से भी आज़ाद करा लेना चाहता था। ऑल्कॉट की थियोसिफ़िकल सोसाइटी ने इस भावना को और भी पुष्ट किया। उसकी दृष्टि में हर वस्तु और हर विचार जिसका विकास, इस देश में हुआ था, शुद्ध वैज्ञानिक और चिरन्तन सत्य था। यही भावना नए वेदान्त का समर्थन करने वाली संस्थाओं द्वारा एक ओर से और सनातन धर्म महामण्डल आदि रूढ़िवादी संस्थाओं द्वारा दूसरी ओर से, दृढ़ बनाई जाने लगी। सब जगह

प्राचीनता की ओर लौटने की पुकार थी—बीच के अँधेरे युग को चीरते हुए प्राचीनता के स्वप्नों को आत्मसात् कर लेने की ललक।

मुस्लिम-समाज में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति ज़ोर पर थी। इस्लाम में भी एक विभिन्न वातावरण के प्रभाव और एक विभिन्न नेतृत्व में इसी प्रकार के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन उठ खड़े हुए। इसका आधार भी प्राचीन की ओर लौटने—क़ुरान, पैग़म्बर और हदीस को स्वीकार करने—पर था। इन 'क़ुरान की ओर लौटो' आन्दोलनों में, दिल्ली के शाह अब्दुल अज़ीज़ ने इस्लाम को उन अंधविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयत्न किया जो उसने हिन्दू-समाज से ली थीं और प्राचीन इस्लाम के उन सिद्धान्तों का प्रचार करने की चेष्टा की जो पैग़म्बर द्वारा निर्धारित किए गए थे। बरेली के सैयद अहमद ने हिन्दुस्तान को 'दारुल हर्ब' क़रार दिया, जहाँ कि मुसलमानों को 'जिहाद' (पृथक धर्म-युद्ध) करते रहना आवश्यक था। इस प्रवृत्ति का नाम, 'तरीक़ए मोहम्मदिया' अथवा मुहम्मद के तरीक़े की ओर लौटना था। जौनपुर के शाह करामत अली इतने उग्र विचारों के नहीं थे, पर उन्होंने भी असंख्य मुसलमानों को शुद्ध इस्लामी जीवन की ओर लौटने में बड़ी सहायता पहुँचाई। फ़रीदपुर के हाजी शरीयतुल्ला ने फ़रैदी-आन्दोलन को जन्म दिया, जो अर्द्ध-धार्मिक और अर्द्ध राजनैतिक था। उनके पुत्र दूधू मियाँ के नेतृत्व में यह आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया था। अहले-हदीस और मिर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी के अनुयायियों में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी।

प्राचीन के पुनर्निर्माण की यह प्रवृत्ति प्रत्येक देश के नवयुग का एक मुख्य अंग है। यूरुप में भी पन्द्रहवीं शताब्दी में नए जीवन की जिस चेतना ने अपनी उत्ताल तरंगों के प्रबल आघातों से मध्य-काल के ध्वंस-चिन्हों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला उसके पीछे भी ईसा के पहिले की यूनानी सभ्यता के जीर्णोद्धार का प्रयत्न काम कर रहा था। हिन्दुस्तान में भी इस प्रवृत्ति की उपस्थिति स्वाभाविक ही थी। जब कोई राष्ट्र निराशा के गढ़े में गिरा होता है, जब वर्तमान से उसका विश्वास उठ गया होता है तब प्राचीन महानता की स्मृति ही उसे भविष्य की नई आशाओं और नए स्वप्नों को जाग्रत करने में सहायक होती है। यह सच है कि ऐसी स्थिति में कल्पना कभी-कभी इतनी प्रबल हो जाती है कि ऐतिहासिक सत्य उसके तूफ़ानी सत्य पर निःसहाय-सा डूबने-उतराने लगता है। दूर के तो बादल भी सुहावने लगते हैं, विशेषकर उस समय जब उसके पीछे से डूबते हुए सूरज की किरणें फूट निकलती हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों के लिए तो प्राचीन में विश्वास रखने का यथेष्ट कारण भी था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों पर नवयुग की चेतना का प्रभाव दो विभिन्न रूपों में पड़ा। हिन्दुओं की दृष्टि उस प्राचीन संस्कृति पर पड़ी जिसका विकास गंगा और जमुना के किनारे, आर्य-ऋषियों द्वारा उन शताब्दियों में हुआ था जब भारतवर्ष मुस्लिम संपर्क से बिल्कुल अछूता था। दूसरी ओर मुसलमानों की दृष्टि उनकी अपनी प्राचीन सभ्यता की ओर गई, जिसका विकास अरब के मरुस्थल में, पैग़म्बर और उनके साथी खलीफ़ाओं द्वारा हुआ था, और जो अपनी चरम सीमा का स्पर्श, और उसे पार कर चुकी थी, हिन्दुस्तान के संपर्क में आने के शताब्दियों पहिले। वे दोनों भूल गए—जैसे किसी दूर की वस्तु को देखने की तल्लीनता और तन्मयता में कभी-कभी पास की वस्तु को भूल जाते हैं—कि उन दोनों ने इस देश के सैकड़ों वर्षों के सामान्य जीवन में और साथ में प्राप्त किए गए सुख और दुःख के सहस्र-सहस्र अनुभवों में एक महान् सामान्य सभ्यता का निर्माण किया था, सामान्य सामाजिक संस्थाओं और धर्म-सिद्धान्तों और कला और साहित्य की सामान्य पृष्ठ-भूमि पर जिसके लिए वे दोनों उतना ही गौरव अनुभव कर सकते थे, जितना किसी अन्य सभ्यता के सम्बन्ध में।

मेरठ]

कुछ जैन अनुश्रुतियां और पुरातत्त्व

श्री मोतीचन्द्र एम्० ए०, पी-एच० डी० (लंदन)

भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को ऐतिहासिक अनुश्रुतियों का महत्त्व भली भांति विदित है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों से इतिहास के ऐसे धुंधले पहलुओं पर भी प्रकाश पड़ता है, जिनका पता भी पुरातत्त्व की खुदाइयों से अभी तक नहीं चला है। अशोक के पूर्व और बाद भी गुप्त काल तक पौराणिक अनुश्रुतियां हमें भिन्न-भिन्न कुलों के राजाओं के नाम तथा उनके सम्बन्ध की और भी जानकारी की बातें बताती हैं। ई० की चौथी शताब्दी के बाद से लेकर हमें पुरातत्त्व की तरह-तरह की सामग्रियां इतिहास निर्माण के लिए मिलती हैं फिर भी रूखे इतिहास की कठोरता में सजीवता लाने के लिए हमें पुराणों तथा ऐतिहासिक काव्यों में वर्णित प्रासंगिक गाथाओं का सहारा भी लेना पड़ता है। पुरातत्त्व ही एक ऐसी विद्या है जिसके सहारे हम भारतवर्ष के रीति-रिवाज, रहन-सहन, व्यापार तथा भारतीय जीवन के और पहलुओं का भी क्रमबद्ध इतिहास निर्माण कर सकते हैं, पर दुख के साथ कहना पड़ता है कि सिन्ध और पंजाब की प्रागैतिहासिक खुदाई को छोड़कर, वैज्ञानिक अन्वेषण की ओर भारतीय पुरातत्त्व ने अभी नाम-मात्र के लिए ही क़दम उठाया है। ऐसी अवस्था में भी लाचार होकर हमें साहित्य की सहायता से ही समाज के इतिहास का ढांचा खड़ा करना पड़ता है, यह ढांचा चाहे सही हो या ग़लत, क्योंकि अभी तक हम असंदिग्ध रूप से अपने साहित्य के अमररत्नों का भी काल ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सके हैं।

ऐतिहासिक अनुश्रुतियों की खोज में पुराणों, काव्यों और नाटकों की काफ़ी छान-बीन की जा चुकी है। बौद्ध-साहित्य के त्रिपिटक, अट्ठकथाओं, महावंस और दीघवंस तथा संस्कृत बौद्ध साहित्य की और भी बहुत सी कथाओं से भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व पर काफ़ी प्रकाश डाला जा चुका है। क्या ही अच्छा होता कि हम जैन-साहित्य के बारे में भी यही बात कह सकते ! कुछ विदेशी विद्वानों ने जिनमें वेबर, याकोबी, लॉयमान तथा शुब्रिंग मुख्य हैं जैन-साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, लेकिन जो कुछ भी काम अबतक हुआ है वह क्षेत्र की व्यापकता देखते हुए नहीं-सा है। विदेशी और भारतीय विद्वानों की कृपा से हम जैन-दर्शन और धर्म की रूप-रेखा से अवगत हो गये हैं, पर जैन-साहित्य में जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास का मसाला भरा पड़ा है उसकी ओर विरलों ही का ध्यान गया है। अगर हम ध्यान से देखें तो इस उदासीनता का कारण अच्छी तरह सम्पादित जैन-ग्रन्थों का अभाव है। न तो जैन आगमों में टिप्पणियां ही देख पड़ती हैं, न प्रस्तावनाएं। अनुक्रमणिकाओं का तो सर्वथा अभाव रहता है। सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ होने से सब को इनके मिलने में भी बड़ी कठिनाई होती है, यहां तक कि बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में भी जैन-अंग या छेद-सूत्र बड़ी कठिनता से ही प्राप्त होते हैं। इन कठिनाइयों के साथ-साथ भाषा का भी प्रश्न है। महाराष्ट्री प्राकृत जो जैन-ग्रन्थों की भाषा है अक्सर लोगों के समझ में नहीं आती और बहुत से स्थल ऐसे आते हैं जो विशेष अध्ययन के बिना समझ ही में नहीं आते। इन सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने जैन-शास्त्रों को जबतक उनके उपादेय संस्करण न निकल चुकें अलग ही छोड़ दिया है। लेकिन वास्तव में ऐसा करना नहीं चाहिए। अशुद्ध टीकाओं, चूर्णियों और छेद-सूत्रों में भी हमें ऐसे मार्के की सामग्रियां मिलती हैं जो और कहीं उपलब्ध नहीं हैं। इन अनुश्रुतियों का महत्त्व, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इसलिए और भी बढ़ जाता है कि वे पुरातत्त्व की बहुत सी खोजों पर प्रकाश डालकर उनकी ऐतिहासिक नींव को और भी मज़बूत बनाती हैं।

यहां यह भी प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक अनुश्रुतियों और पुरातत्त्व की खोजों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? पुरातत्त्व वैज्ञानिक आश्रयों पर अवलम्बित है और पुरातत्त्व का विद्यार्थी तबतक किसी सिद्धान्त पर नहीं पहुँचता जबतक वह खुदाई के प्रत्येक स्तर से निकली हुई वस्तुओं का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन न कर ले। अपने सिद्धान्तों

को और अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए वह एक जगह से मिली सामग्रियों को ठीक उसी स्तर पर दूसरी जगहों से मिली सामग्रियों से तुलना करके तब किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचता है। इसके विपरीत अनुश्रुतियाँ सैकड़ों पुश्तों से जबानी चली आती हैं और पेश्तर इसके कि वे लिख ली जावें, मौखिक आदान-प्रदान के कारण उनमें बहुत से फेर-फार और व्यर्थ की बातों का समावेश हो जाता है, जिनसे उनकी सचाई में काफ़ी सन्देह की जगह रह जाती है। इन सब बातों से यह स्वाभाविक ही है कि पुरातत्त्व की वैज्ञानिक पद्धति मौखिक अनुश्रुतियों को सन्देह की दृष्टि से देखे और उनकी सत्यता को तभी माने जब खुदाइयों से या अभिलेखों से भी उनकी पुष्टि होती हो। विद्वानों ने पुरातत्त्व की अवहेलना और 'साहित्यिक पुरातत्त्व' पर विश्वास की काफ़ी जोरदार समालोचना की है। लेकिन इस विवाद से यह न समझ लेना चाहिए कि अनुश्रुतियों में कुछ तत्त्व ही नहीं है। ठोस ऐतिहासिक सामग्रियों के अभाव में केवल अनुश्रुतियाँ ही कुछ जटिल प्रश्नों को सुलझाने में समर्थ हो सकती हैं। लेकिन अनुश्रुतियों का मूल्य समझते हुए भी यह बात आवश्यक है कि उनका प्रयोग विज्ञान की तराजू पर तौल कर हो। अगर पुरातत्त्व से अनुश्रुतियों का सम्बन्ध है तो दोनों के सामंजस्य से ही एक विशेष निर्णय पर पहुँचना चाहिए। अनुश्रुतियों के अध्ययन के लिए यह भी आवश्यक है कि एक ही तरह की भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियों को पढ़कर उनकी जड़ तक पहुँचा जाये। ऐसा करने से स्वयं ही विदित होने लगेगा कि कौन सी बातें पुरानी और असल हैं और कौन सी बाद में जोड़ दी गई हैं। जैन-शास्त्र की थोड़ी सी अनुश्रुतियों का अध्ययन करते हुए हमने इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा है कि पुरातत्त्व से उन पर क्या प्रकाश पड़ता है। इस छान-बीन से हमें पता चला कि अनुश्रुतियों में किस तरह एक सत्य की रेखा निहित रहती है और किस तरह धीरे-धीरे कपोलकल्पनाएँ उसके चारों ओर इकठ्ठी होकर सत्य को ढक देने की कोशिश करती रहती हैं। पुरातत्त्व के सहारे से यह सत्य पुनः निखर उठता है। नीचे के पृष्ठों में पुरातत्त्व के प्रकाश में कुछ जैन अनुश्रुतियों की जाँच-पड़ताल की गई है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार अनुश्रुतियाँ और पुरातत्त्व एक दूसरे के सहारे से इतिहास-निर्माण में हाथ बँटाते हैं।

(१)

जिन्हें उत्तर-भारत की बड़ी नदियों से परिचय है उन्हें यह भी मालूम होगा कि अनवरत वर्षा से इन नदियों में कैसे प्रलयंकारी पूर आ सकते हैं। गरमी में जो नदियाँ सूखकर केवल नाला बन जाती हैं वे ही नदियाँ घनघोर बरसात के बाद बड़ी गरज-तरज के साथ उफनती हुई बस्तियों और खेतों को बहाने के लिए तैयार दिखलाई पड़ती हैं। हमारे होश में ही ऐसी बहुत सी बाढ़ें आ चुकी हैं जिनसे धन-जन का काफ़ी नुक़सान हुआ था। प्राचीन भारत में भी बहुत सी ऐसी बाढ़ें आया करती थीं, जिनमें से बहुत बड़ों की याद अनुश्रुतियों में बच गई है। प्रायः अनुश्रुतियों में इन बाढ़ों का कारण ऋषि-मुनियों का श्राप या राजा का अत्याचार माना जाता है। इस प्रकार की एक बाढ़ का वर्णन, जिसने पाटलिपुत्र को तहस-नहस कर दिया 'तित्थोगाली पइण्णय' में दिया हुआ है।[१] इस अनुश्रुति का सम्बन्ध पाटलिपुत्र की खुदाई से समझाने के लिए मुनि कल्याणविजय जी द्वारा तित्थोगाली के कुछ अवतरणों का अनुवाद नीचे दिया जाता है :

कल्की का जब जन्म होगा तब मथुरा में राम और कृष्ण के मन्दिर गिरेंगे और विष्णु के उत्थान के दिन (कार्तिक सुदी ११) वहाँ जन-संहारक घटना होगी।

इस जगत्-प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर में ही 'चतुर्मुख' नाम का राजा होगा। वह इतना अभिमानी होगा कि दूसरे राजाओं को तृण समान गिनेगा। नगरचर्या में निकला हुआ वह नन्दों के पाँच स्तूपों को देखेगा और उनके सम्बन्ध

---

[१] मुनि कल्याणविजय, वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ० ३७–४०, मूल, ४१–४५ जालोर सं० १९८७।

में पूछ-ताछ करेगा, तब उसे उत्तर में कहा जायेगा कि यहाँ पर बल, रूप, धन और यश से समृद्ध नन्द राजा बहुत समय तक राज कर गया है, उसी के बनवाये हुए ये स्तूप हैं। इनमें उसने सुवर्ण गाड़ा है, जिसे कोई दूसरा राजा ग्रहण नहीं कर सकता। यह सुन कल्की उन स्तूपों को खुदवायेगा और उनमें का तमाम सुवर्ण ग्रहण कर लेगा। इस द्रव्य-प्राप्ति से उसका लालच बढ़ेगा और द्रव्य प्राप्ति की आशा से वह सारे नगर को खुदवा देगा। तब जमीन में से एक पत्थर की गौ निकलेगी, जो 'लोणदेवी' कहलाएगी।

लोणदेवी ग्राम रास्ते में खड़ी रहेगी और भिक्षा निमित्त आते-जाते साधुओं को मार गिरावेगी, जिससे उनके भिक्षापात्र टूट जायेंगे तथा हाथ-पैर और शिर भी फूटेंगे और उनका नगर में चलना-फिरना मुश्किल हो जायगा।

तब महत्तर (साधुओं के मुखिया) कहेंगे—श्रमणों, यह अनागत दोष की—जिसे भगवान् वर्द्धमानस्वामी ने अपने ज्ञान से पहले ही देखा था—अग्र सूचना है। साधुओं ! यह गौ वास्तव में अपनी हितचिन्तिका है। भावी संकट की सूचना करती है। इस वास्ते चलिए, जल्दी हम दूसरे देशों में चले जायें !

गौ के उपसर्ग से जिन्होंने जिन-वचन सत्य होने की सम्भावना की वे पाटलिपुत्र को छोड़कर अन्य देश को चले गये। पर बहुतेरे नहीं भी गये।

गंगा-शोण के उपद्रव विषयक जिन-वचन को जिन्होंने सुना वे वहाँ से अन्य देश को चले गये। पर बहुतेरे नहीं भी गये।

"भिक्षा यथेच्छ मिल रही है, फिर हमें भागने की क्या जरूरत है ?" यह कहते हुए कई साधू वहाँ से नहीं गये।

दूर गये भी पूर्वभविक कर्मों के तो निकट ही हैं। नियमित काल में फलने वाले कर्मों से कौन दूर भाग सकता है ? मनुष्य समझता है, मैं भाग जाऊँ ताकि शान्ति प्राप्त हो, पर उसे मालूम नहीं कि उसके भी पहले कर्म वहाँ पहुँच कर उसकी राह देखते हैं।

वह दुर्मुख और अधर्म्यमुख राजा चतुर्मुख (कल्की) साधुओं को इकट्ठा करके उनसे कर माँगेगा और न देने पर श्रवण-संघ तथा अन्य मत के साधुओं को क़ैद करेगा। तब जो सोना-चाँदी आदि परिग्रह रखने वाले साधु होंगे वे सब 'कर' देकर छूटेंगे। कल्की उन पाखंडियों का जबरन् वेष छिनवा लेगा।

लोभग्रस्त होकर वह साधुओं को भी तंग करेगा। तब साधुओं का मुखिया कहेगा—'हे राजन् ! हम अकिंचन हैं, हमारे पास क्या चीज़ है जो तुझे कर-स्वरूप दी जाय ?' इस पर भी कल्की उन्हें नहीं छोड़ेगा और श्रमणसंघ कई दिनों तक वैसा ही रोका हुआ रहेगा। तब नगर-देवता आकर कहेगा—'अरे निर्दय राजन् ! तू श्रमणसंघ को हैरान करके क्यों मरने की जल्दी तैयारी करता है ? ज़रा सबर कर। तेरी इस अनीति का आखिरी परिणाम तैयार है।' नगरदेवता की इस धमकी से कल्की घबरा जायगा और आर्द्र वस्त्र पहिन कर श्रमणसंघ के पैरों में गिरकर कहेगा—'हे भगवन् ! कोप देख लिया। अब प्रसाद चाहता हूँ !' इस प्रकार कल्की का उत्पात मिट जाने पर भी अधिकतर साधु वहाँ रहना नहीं चाहेंगे, क्योंकि उन्हें मालूम हो जायगा कि यहाँ पर निरन्तर घोर वृष्टि से जल प्रलय होने वाला है।

तब वहाँ नगर की नाश की सूचना करने वाले दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम उत्पात शुरू होंगे कि जिनसे साधु-साध्वियों को पीड़ा होगी। इन उत्पातों से और अतिशायी ज्ञान से यह जानकर कि—'सांवत्सरिक पारणा के दिन भयंकर उपद्रव होने वाला है ?'—साधु वहाँ से विहार कर चले जायेंगे। पर उपकरण, मकानों और श्रावकों का प्रतिबन्ध रखने वाले तथा भविष्य पर भरोसा रखने वाले साधु वहाँ से जा नहीं सकेंगे।

तब सत्रह रात-दिन तक निरन्तर वृष्टि होगी, जिससे गंगा और शोण में बाढ़ आयेंगी। गंगा की बाढ़ और शोण के दुर्धर वेग से यह रमणीय पाटलिपुत्र नगर चारों ओर से बह जायगा। साधु जो धीर होंगे वे आलोचना प्रायश्चित्त करते हुए और जो श्रावक तथा वसति के मोह में फँसे हुए होंगे वे सकरुण दृष्टि से देखते हुए मकानों के साथ

ही गंगा के प्रवाह में वह जायँगे। जल में वहते हुए वे कहेंगे—'हे स्वामि सनत्कुमार ! तू श्रमणसंघ का शरण हो, यह वैयावृत्य करने का समय है।' इसी प्रकार साध्वियाँ भी सनत्कुमार की सहायता माँगती हुई मकानों के साथ वह जायँगी। इनमें कोई-कोई आचार्य और साधु-साध्वियाँ फलक आदि के सहारे तैरते हुए गंगा के दूसरे तट पर उतर जायँगे। यही दशा नगरवासियों की भी होगी। जिनको नाव-फलक आदि की मदद मिलेगी वे बच जायँगे, वाक़ी मर जायँगे। राजा का खज़ाना **पाडिवत** आचार्य और कल्की राजा आदि किसी तरह वचेंगे, पर अधिकतर वह जायँगे। वहुत कम मनुष्य ही इस प्रलय से वचने पायेंगे।

इस प्रकार पाटलिपुत्र के वह जाने पर धन और कीर्ति का लोभी कल्की दूसरा नगर वसायेगा और बाग़-बग़ीचे लगवा कर उसे देवनगर-तुल्य रमणीय वना देगा। फिर वहाँ देव-मन्दिर वनेंगे और साधुओं का विहार शुरू होगा। अनुकूल वृष्टि होगी और अनाज वग़ैरह इतना उपजेगा कि उसे खरीदने वाला नहीं मिलेगा। इस प्रकार पचास वर्ष सुभिक्ष से प्रजा अमन-चैन में रहेगी।

इसके वाद फिर कल्की उत्पात मचायेगा। पाखंडियों के वेष छिनवा लेगा और श्रमणों पर अत्याचार करेगा। उस समय कल्पव्यवहारधारी तपस्वी युग प्रधान **पाडिवत** और दूसरे साधु दुःख की निवृत्ति के लिए छट्ठ अट्ठम का तप करेंगे। तव कुछ समय के वाद नगरदेवता कल्की से कहेगा—'अरे निर्दयी ! तू श्रमणसंघ को तकलीफ़ देकर क्यों जल्दी मरने की तैयारी कर रहा है ? ज़रा सवर कर, तेरे पापों का घड़ा भर गया है।' नगरदेवता की इस धमकी की कुछ भी परवाह न करता हुआ वह साधुओं से भिक्षा का षष्ठांश वसूल करने के लिए उन्हें वाड़े में क़ैद करेगा। साधुगण सहायतार्थ इन्द्र का ध्यान करेंगे। तव अम्वा और यक्ष कल्की को चेतायेंगे, पर वह किसी की भी नहीं सुनेगा। आखिर में संघ के कायोत्सर्ग ध्यान के प्रभाव से इन्द्र का आसन कँपेगा और वह ज्ञान से संघ का उपसर्ग देखकर जल्दी वहाँ आयेगा। धर्म की वृद्धिवाला और अधर्म का विरोधी वह दक्षिण लोकपति (इंद्र) जिन-प्रवचन के विरोधी कल्की का तत्काल नाश करेगा।

उग्रकर्मा कल्की उग्र नीति से राज करके छियासी वर्ष की उमर में निर्वाण से दो हज़ार वर्ष वीतने पर इन्द्र के हाथ से मृत्यु पायेगा। तव इन्द्र कल्की के पुत्र दत्त को शिक्षा दे श्रमणसंघ की पूजा करके अपने स्थान चला जायेगा।

इस अनुश्रुति की अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल के वाद हम निम्नलिखित तथ्यों पर पहुँचते हैं। (१) पाटलिपुत्र में चतुर्मुख अथवा कल्की नाम का एक लालची राजा राज करता था। गड़े धन की खोज में उसने नन्दों के पाँच स्तूप उखड़वा डाले और नगर का एक भाग खुदवा डाला। जैन तथा जैनेतर साधुओं पर वह कर इत्यादि लगा कर वड़ा अत्याचार करता था। उसके अत्याचारों से तंग आकर अधिकतर साधु देश छोड़कर चले गये। (२) उसके राजकाल में एक वार सत्रह रात और दिन वरावर पानी वरसता रहा। गंगा और सोन में भयंकर वाढ़ आ गई, जिसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र वह गया, केवल थोड़े से लोग तख्तों और नावों के सहारे अपनी जान वचा सके। (३) राजा कल्की पाडिवत् आचार्य के साथ वच गया और वाद में उसने एक सुन्दर नगर वसाया। कुछ दिनों तक कल्की चुप वैठा रहा, पर वाद में उसके अत्याचारों का वेग और भी वढ़ा। जैन साधुओं को, जिनमें पाडिवत् आचार्य भी थे, उसने षष्टमांश कर वसूल करने के लिए वड़े-वड़े कष्ट दिये। (४) इन्द्र ने, जिसे यहाँ दक्षिणाधिपति कहा है, साधुओं की रक्षा के लिए छियासी वर्ष उमर वाले कल्की को नष्ट कर दिया। (५) चतुर्मुख के वाद उसका पुत्र दत्त गद्दी पर वैठा।

पहली वात पर विचार करने से यह भास होता है कि चतुर्मुख या कल्की नाम का एक अत्याचारी राजा तो था, परन्तु उसकी ऐतिहासिकता कितनी है, यह कहना कठिन है। जैन-सिद्धान्त के अनुसार कल्की और उपकल्की दुसमा में वरावर होते आये हैं, हज़ार वरस में कल्की होता है और पाँच सौ वरस में उपकल्की (आवेग, मेसीयास ग्लाउवे इन इण्डियन उण्ड ईरान, पृ० १४०)। लेकिन इन क़ल्कियों और उपकल्कियों का सम्वन्ध ऐतिहासिक न होकर कलियुग

की कल्पना से सम्बन्ध रखता है। फिर भी जैन-साहित्य से यह पता लगता है कि वास्तव में कोई ऐसा अत्याचारी राजा था, जो अपनी करनी से कल्की बन गया। मुनि कल्यानविजय जी ने (वही, ३७-३८) चतुर्मुख कल्की के बारे में तमाम उद्धरण एकत्रित कर दिये हैं, जो यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

(१) तित्थोगाली—शक से १३२३ (वीरनिर्वाण १९२८) व्यतीत होंगे तब कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में दुष्ट बुद्धि कल्की का जन्म होगा।

(२) काल सप्ततिका प्रकरण—वीरनिर्वाण से १९१२ वर्ष ५ मास बीतने पर पाटलिपुत्र नगर में चंडाल के कुल में चैत्र की अष्टमी के दिन श्रमणों का विरोधी जन्मेगा, जिसके तीन नाम होंगे— १ कल्की, २ रुद्र और ३ चतुर्मुख।

(३) दीपमालाकल्प—'वीरनिर्वाण से १९१४ वर्ष व्यतीत होंगे तब पाटलिपुत्र में म्लेच्छ कुल में यश की स्त्री यशोदा की कुक्षि से चैत्र शु० ८ की रात में कल्की का जन्म होगा।'

(४) दीपमालाकल्प (उपाध्याय क्षमाश्रमण)। 'मुझसे (वीरनिर्वाण से १७५ वर्ष बीतने पर) विक्रमादित्य नाम का राजा होगा। उसके बाद १२४ वर्ष के भीतर (नि० सं० ५९९ में) पाटलिपुत्र नाम नगर में × × × चतुर्मुख (कल्की) का जन्म होगा।'

(५) तिलोयसार (दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र)।

वीरनिर्वाण से ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर 'शक राजा' होगा और उसके बाद ३९४ वर्ष और सात मास में अर्थात् निर्वाण संवत् १००० में कल्की होगा।

उपरोक्त उद्धरणों में नेमिचन्द्र को छोड़कर केवल श्वेताम्बर आचार्यों का कल्की के समय के बारे में मत है। कल्की और उपकल्की वाला सिद्धान्त दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी पाया जाता है (जदिवसह, तिलोय पण्णती, पृ० ३४३)। तिलोयपण्णती की अनुश्रुति के अनुसार (वही, पृ० ३४२) इन्द्र-पुत्र कल्की की उमर ७७ वर्ष की थी और उसने ४२ वर्ष राज्य किया। वह जैन-साधुओं से कर लेता था। उसकी मृत्यु किसी असुरदेव के हाथों हुई। उसके पुत्र का नाम अतिञ्जय कहा गया है।

अब हम देख सकते हैं कि कल्की के समय के बारे में दो भिन्न मत हैं और जहाँ तक पता लगता है इन मतों की उत्पत्ति मध्यकाल में हुई होगी। दिगम्बर-मत कल्की से कलयुग का सम्बन्ध जोड़ने तथा १००० वर्ष पर कल्की की उत्पत्ति वाले सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए कल्की का समय वीरनिर्वाण से १००० वर्ष पर मानता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर-मत इस समय को क़रीब-क़रीब दूना कर देता है। इन सबसे कल्की की वास्तविकता में सन्देह होने लगता है। केवल क्षमाश्रमण कल्की का समय वीरनिर्वाण ५९९ देते हैं, लेकिन इस समय का आधार कौन सी अनुश्रुति थी, इसका हमें पता नहीं है, पर आगे चलकर हम देखेंगे कि केवल यही एक ऐसा मत है, जो सचाई से बहुत पास तक पहुँच पाता है।

यहाँ यह जानने योग्य बात है कि तित्थोगाली की कल्की सम्बन्धी अनुश्रुति का प्रचार आचार्य हेमचन्द्र के समय तक अच्छी तरह हो चुका था, क्योंकि महावीरचरित के १३वें सर्ग में उन्होंने कल्की-आख्यान क़रीब-क़रीब तित्थोगाली के शब्दों में ही दिया है (इन्डियन एन्टिक्वेरी, १९१९, पृ० १२८-३०)। कल्की का जन्म म्लेच्छ कुल में बतलाया गया है और उसका जन्मकाल वीरनिर्वाण सं० १९१४। आख्यान के और बहुत से अंग जैसे धन के लिए नन्दों के स्तूपों की खुदाई, जैन-साधुओं पर अत्याचार तित्थोगाली और महावीर-चरित में ज्यों-के-त्यों हैं। बाढ़ का भी वर्णन है, पर सोन नदी का नाम नहीं आया है। सब कुछ साम्यता होते हुए भी महावीर-चरित के कल्की-आख्यान में तित्थोगाली की-सी सजीवता नहीं है। महावीर-चरित में आचार्य पाडिवत् का भी नाम नहीं है। बाढ़ के बाद नगर का पुनर्निर्माण, बाद में जैन-साधुओं पर अत्याचार तथा अन्त में इन्द्र द्वारा कल्की का वध, ये सब घटनाएँ दोनों अनुश्रुतियों में समान रूप से वर्णित हैं। दोनों की तुलना करते हुए यह मानना पड़ता है कि तित्थोगाली वाली अनुश्रुति पुरानी

है और ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी का सहारा लेकर महावीर-चरित का कल्की-कथानक लिखा।

इन सब अनुश्रुतियों से पता चलता है कि कल्की महावीर के १००० या २००० वर्ष बाद हुआ। इस बात पर सब सहमत हैं कि कल्की पाटलिपुत्र का राजा था। कुछ इसे चांडाल कुल में पैदा हुआ और म्लेच्छ कुल का मानते हैं। लेकिन इसके ऐतिहासिक अस्तित्व पर किसी ने कुछ प्रकाश नहीं डाला है। इस अवस्था में पुरातत्त्व हमारी बड़ी मदद करता है। हमने देखा ही है कि तित्थोगाली में पाटलिपुत्र की बाढ़ का कितना सजीव वर्णन है। प्रसन्नता की बात है कि पाटलिपुत्र की खुदाई से भी इस बड़ी बाढ़ का पता चलता है और इससे तित्थोगाली की अनुश्रुति की सत्यता का आधार और भी मजबूत हो जाता है।

डा० डी० बी० स्पूनर ने कुम्रहार (प्राचीन पाटलिपुत्र) की खुदाई में मौर्य स्तर और राखों वाले स्तर के बीच कोरी मिट्टी का स्तर पाया। उस स्तर में उन्हें ऐसी कोई वस्तु न मिली जिससे यह साबित हो सके कि उस स्तर में कभी बस्ती थी। इस जमी हुई मिट्टी का कारण डा० स्पूनर बाढ़ बतलाते हैं। डा० स्पूनर के शब्दों में "कोरी मिट्टी की आठ या नौ फ़ुट मोटी तह जो बस्तियों के दो स्तरों में पड़ गई है इसका और कोई दूसरा कारण न मै सोच सकता हूँ, न दे सकता हूँ। हमें इस बात का पता है कि ऐसी ही बाढ़ें पटने के आस-पास आती रही हैं और बखरा के अशोक-कालीन स्तम्भ की जड़ में भी एक ऐसी ही कोरी मिट्टी की तह मिलती है।" डा० स्पूनर के मतानुसार पाटलिपुत्र की यह बाढ़ उस समय आई जब अशोक का प्रासाद खड़ा था, तथा बाढ़ की रेतीली मिट्टी ने न केवल महल के फ़र्श को ही नौ फ़ुट ऊँची लदान से ढाक लिया, बल्कि महल के स्तम्भों को भी क़रीब-क़रीब उनकी आधी ऊँचाई तक ढाक दिया, (आर्कियोलोजिक सर्वे ऑव इंडिया, एनुअल रिपोर्ट, १९१२-१३, पृ० ६१-६२)।

डा० स्पूनर इस बात का पता न चला सके कि बाढ़ कितने दिनों तक चली, न उनको इस बात का ठीक-ठीक अन्दाज़ा लग सका कि बाढ़ आई कब? "यह बात सम्भव है कि हम आखिरी बात का अटकल लगा सकें। हमने ऊपर देखा है कि राख वाली स्तर में या उसी के आसपास खुदाई से हमें ई० प्रथम शताब्दी के सिक्के और कुछ वस्तुएँ मिली हैं। ये प्राचीन चिह्न गुप्त-कालीन ईंट की दीवारों से तो ज़रूर ही पुराने हैं। अगर ई० सन् की पहली कुछ सदियों में बाढ़ न आई होती तो इन अवशेषों और सिक्कों का यहाँ मिलना आश्चर्यजनक होता। इस अवस्था में उन्हें मौर्यकालीन फ़र्श पर या उसके कुछ ऊपर मिलना चाहिए था। अगर इमारत सिक्कों के चलन-काल में बराबर व्यवहार में थी तो बाढ़ सिक्कों के काल और गुप्त-काल के बीच में आई थी। इन सब बातों से, और जो सबूत हमारे पास हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि बाढ़ ईसा की प्रथम शताब्दी में या उससे दो एक सदी हट कर आई, तथा इस काल के सिक्के और वस्तुएँ जो गुप्तकाल की दीवार के नीचे मिले हैं इस बात के द्योतक हैं कि मौर्यकालीन महल का थोड़ा-बहुत व्यवहार बाढ़ हट जाने पर भी बराबर होता रहा। मिट्टी के स्तर का सिरा फ़र्श का काम देता रहा होगा। इमारत बहुत कुछ टूट-फूट गई होगी तथा उसकी भव्यता में भी बहुत कुछ फ़रक़ पड़ गया होगा, लेकिन इसका कोई कारण नहीं देख पड़ता कि वह बसने लायक़ न रही हो। अगर खम्भों की ऊँचाई बीस फ़ुट थी (शायद वे इससे ऊँचे ही थे) तो रेतीली मिट्टी ने उन्हें क़रीब ग्यारह फ़ुट छोड़ दिया होगा और यह कोई बिलकुल साधारण ऊँचाई नहीं है। इसलिए यह सम्भव है कि बाढ़ के सैकड़ों वर्ष बाद तक भी मौर्यकालीन आस्थानमंडप व्यवहार में आता रहा" (वही, पृ० ६२)।

खुदाई से इस बात का भी पता चलता है कि रेतीली मिट्टी जमने के बाद पूरी इमारत जल गई, क्योंकि गुप्तकालीन इमारतों के भग्नावशेष सीधी राख की तह पर खड़े पाये गये, जिससे हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि आग कदाचित् ई० स० चौथी या पाँचवीं में लगी हो। डा० स्पूनर की राय में गुप्तकालीन दीवारें छठवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकतीं और इस बात की सम्भावना अधिक है कि वे इसके पहले की हों।

डा० स्पूनर की खुदाई-सम्बन्धी वक्तव्यों की विवेचना करने पर हम निम्नलिखित तथ्यों पर पहुँचते हैं : (१) पाटलिपुत्र में उस समय वाढ़ आई जव अशोक का महल समूचा खड़ा था। वाढ़ से उस पर नौ फ़ुट मिट्टी लद गई। (२) ई० स० की आरम्भिक शताब्दियों के सिक्के इत्यादि गुप्त स्तर और रेतीली मिट्टी के वीच में मिलने से डा० स्पूनर ने यह राय क़ायम की कि वाढ़ ई० प्रथम शताब्दी या एकाध सदी वाद आई होगी। (३) वाढ़ के वाद भी पुरानी इमारत कुछ-कुछ काम में लाई जाती थी। अन्तिम कथन का समर्थन तित्योगाली द्वारा होता है, जिसमें कहा गया है कि वाढ़ के वाद चतुर्मुख ने एक नया नगर पुराने को छोड़कर वसाया। अव हम देख सकते हैं कि तित्योगाली ने पाटलिपुत्र की भीषण वाढ़ का, जो ई० पहली दूसरी शताब्दी में आई थी, कैसा उपादेय और विशद वर्णन जीवित रक्खा है।

तित्योगाली के कल्की-प्रकरण के आरम्भ में ही यह कहा गया है कि कल्की ने नन्दों के वनवाये पाँच जैन-स्तूपों को गड़े धन की खोज में खुदवा डाला। युवान च्वांग इस कथा का समर्थन करते हैं।

युवान च्वांग को पाटलिपुत्र के पास छोटी पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिम में पाँच स्तूपों के भग्नावशेष देख पड़े। इनके पख कई सौ क़दमों के थे और इनके ऊपर वाद के लोगों ने छोटे-छोटे स्तूप वना दिये थे। इन स्तूपों के सम्वन्ध में युवान च्वांग दो अनुश्रुतियों का उल्लेख करता है। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अशोक द्वारा ८४००० स्तूप वनवाये जाने के वाद वुद्धचिह्न के पाँच भाग वच गये और अशोक ने इन पर पाँच स्तूप वनवाये। दूसरी अनुश्रुति, जिसको युवान च्वांग हीनयानियों की कहता है, इन पाँचों स्तूप में नंदराजा की पाँच निधियाँ और सात रत्न गड़े थे। वहुत दिनों वाद एक अवौद्ध राजा अपनी सेना के साथ आया और स्तूपों को खोदकर धन निकाल लेना चाहा। इतने में भूकम्प आया, सूर्य वादलों से ढक गया और सिपाही मरकर गिर पड़े। इसके वाद किसी ने उन स्तूपों को नहीं छूआ (वाटर्स, युवान च्वांग, २, पृ० ९६-९८)।

पाटलिपुत्र की खुदाई से सात लकड़ी के वने चवूतरे मौर्य स्तर से निकले हैं। इनमें हर एक की लम्वाई ३० फ़ुट, चौड़ाई ५'४" और ऊँचाई ४½' है। सवकी वनावट भी प्रायः एक सी है। इनके दोनों ओर लकड़ी के खूँटे, जिनके ठूठ वच गये हैं, लगे थे। चवूतरों के वीच में भी कुछ लकड़ी के खम्भे देख पड़ते हैं, पर इनका चवूतरों से क्या सम्वन्ध था, कहा नहीं जा सकता (आ० स० रि०, वही, पृ० ७३)। स्पूनर का पहले ध्यान था कि शायद चवूतरे भारी खम्भों के सँभालने के लिए वने हों, पर डा० स्पूनर ने इस राय को स्वयं ही ठीक नहीं माना। एक चवूतरे में वनावट कुछ ऐसी थी जिस पर डा० स्पूनर का ध्यान गया। दूसरे चवूतरों की तरह यह चवूतरा पुख्ता नहीं है और उसके वीच में खड़ा अर्ध-चन्द्राकार कटाव है, जिससे चवूतरा दो विचित्र भागों में वँट जाता है। इस विभाजित चवूतरे के पश्चिम छोर पर और पास के चवूतरे के पूर्वी छोर पर ज़मीन की सतह पर एक ईंट की वनी हुई गोल खात है। इस तरह के नक़शे का कुछ तात्पर्य तो ज़रूर था, पर उसका पता नहीं चलता। डा० स्पूनर की पहली सूझ यह थी कि चवूतरे शायद वेदियों का काम देते थे और वलिकर्म खात में होता था। पर इस सूझ को सहारा देने के लिए साहित्य से उन्हें कोई प्रमाण नहीं मिला और न वौद्धों के प्रभाव के कारण पाटलिपुत्र में वलिकर्म सम्भव ही था। इस अन्तिम कारण का स्वयं उत्तर देते हुए उनका कहना है चवूतरे जो मौर्यकाल की सतह से कई फ़ुट नीचे हैं शायद स्तम्भ मंडित मौर्य आस्थान मंडप से पुराने हों, लेकिन इस राय पर भी वे न जम सके (वही, पृ० ७५)। इन लकड़ी के चवूतरों का ठीक-ठीक तात्पर्य क्या था, यह कहना तो कठिन है, लेकिन यह सम्भव है कि इनका सम्वंध नन्दों के स्तूपों से रहा हो। जो हो, इस वात का ठीक-ठीक निपटारा तवतक नहीं हो सकता जवतक कुम्रहार की खुदाई और भी न वढ़ाई जावे।

तित्योगाली में चतुर्मुख कल्की और पाडिवत् आचार्य की समकालीनता भी ऐतिहासिक दृष्टि से एक विशेष महत्त्व रखती है। हमें इस वात का पता नहीं कि पाडिवत् आचार्य कौन थे, पर इसमें कोई शक नहीं कि वे अपने काल के एक महान् जैन-आचार्य थे और हो सकता है कि पादलिप्ताचार्य, जिनके सम्वन्ध में जैन-साहित्य में अनेक

किंवदन्तियाँ मिलती हैं, और तित्थोगाली के पाडिवत् एक ही रहे हों। अगर हमारा यह अनुमान सही है तो पादलिप्त के काल के सम्बन्ध में कुछ अनुश्रुतियाँ उपलब्ध होने से हम पाटलिपुत्र की बाढ़ का समय निश्चित कर सकते हैं।

'प्रभावक-चरित' में (गुजराती भाषान्तर, प्रस्तावना लेखक कल्याणविजय जी, भावनगर, सं० १९८७), जिसे प्रभाचन्द्र सूरी ने सं० १३३४ (ई० १२७७) में लिखा, बहुत से जैन-साधुओं की जीवनियाँ दी हुई हैं। संकलन परिपाटी के अनुसार प्राचीन-जैन-आचार्यों की जीवनियों में बहुत सी बाद की किंवदन्तियों का भी समावेश हो गया है। लेकिन साथ-ही-साथ उनमें बहुत सी ऐसी ऐतिहासिक अनुश्रुतियों का संकलन भी है, जिनकी सचाई का पता हमें दूसरी जगहों से भी मिलता है।

'प्रभावक-चरित' में इसका उल्लेख मिलता है कि पादलिप्त के गुरु ने उन्हें मथुरा जैन-संघ की उन्नति के लिए भेजा। कुछ दिनों मथुरा ठहर कर वे पाटलिपुत्र गए, जहाँ राजा मुरुण्ड राज्य करता था। एक गुथी हुई डोरे की पेचक को सुलझा कर तथा राजा की शिर पीड़ा शांत करके पादलिप्ताचार्य ने पाटलिपुत्र में तथा राज-दरबार में अपना प्रभाव जमा लिया (वही० पृ० ४८-४९)।

पादलिप्ताचार्य रुद्रदेव सूरी, श्रमणसिंह सूरि, आर्य खपट और महेन्द्र उपाध्याय के समसामयिक थे। पहले दो आचार्यों से पादलिप्त के संबन्ध का केवल इसी बात से पता लगता है कि जिस समय पादलिप्त मान्यखेट गए थे तो उस समय दोनों आचार्य वहाँ उपस्थित थे। खपट तथा महेन्द्र के साथ पादलिप्त की समकालीनता का वर्णन कुछ धुंधला सा है। खपट की जीवनी के अन्त में यह कहा गया है कि पादलिप्त ने खपटाचार्य से मंत्रशास्त्र की शिक्षा पाई थी (वही प्रस्तावना, पृ० ३२-३३)। खपटाचार्य का समय विजयसिंह सूरि प्रबन्ध की एक गाथा के अनुसार वीर निर्वाण सं० ४८४ या ४० ई० पू० है जो कल्याणविजय जी के मतानुसार खपट का मृत्यु काल होना चाहिए (वही, पृ० ३३)। चाहे जो हो, खपट को ऐतिहासिकता में कोई शक करने की जगह नहीं है, क्योंकि प्राचीन जैन-साहित्य में 'निपीथ चूर्णि' में उनका नाम बराबर आया है (वही, पृ० ३३)।

खपट के शिष्य महेन्द्र के बारे में एक कथा प्रचलित है, जिसमें कहा गया है कि महेन्द्र के समय पाटलिपुत्र का राजा दाहड सब मतों के साधुओं को तंग करता था। वह बौद्ध भिक्षुओं को अनावृत्त करवा देता था, शैव साधुओं की जटाएँ मुँडवा देता था, वैष्णव साधुओं को मूर्ति-पूजा छोड़ने पर बाध्य करता था और जैन-साधुओं को सुरा-पान पर मजबूर करता था। राजा के व्यवहार से घबराकर जैन-संघ ने महेन्द्र की, जो उन दिनों भरुकच्छ में रहते थे, सहायता चाही। कहा जाता है कि महेन्द्र ने राजा को अपने वश में करके पाटलिपुत्र के ब्राह्मणों को जैन-दीक्षा दिलवा दी (वही, पृ० ५७-५९)।

मुनि कल्याणविजय जी का कहना है कि दाहड शायद शुंग राजा देवभूति था और ब्राह्मण-धर्म का पक्षपाती होने के कारण उसने जैनों से ब्राह्मणों को नमस्कार करवाया और इसी बुनियाद पर वे खपट और महेन्द्र का नाम समय विक्रम की प्रथम शताब्दी या उसके कुछ और पहले निर्धारित करते हैं (वही, पृ० ३३)।

पादलिप्त का समय निर्धारित करते हुए कल्याणविजय जी उनके मुरुण्ड राजा के समकालीन होने पर ज़ोर देते हैं। मुरुंड राजा कल्याणविजय जी के अनुसार कुषाण थे और पादलिप्त के समकालीन मुरुंड राजा कुषाणों के राजस्थानीय थे और इनका नाम पुराणों के अनुसार विनस्फणि (अशुद्ध विश्वस्फटिक 'स्फणि स्फूर्ति' इत्यादि) था (वही, पृ० ३४)। इस आधार पर वे पादलिप्त का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का अन्त या तीसरी का आरम्भ मानते हैं। नागहस्ति पादलिप्त के गुरु थे और नन्दिनी पट्टावलि और युग प्रधान पट्टावलियों के अनुसार उनका समय विक्रम सं० १५१ और २१९ के बीच में था। इस बात से भी मुनि कल्याणविजय पादलिप्त के समय के बारे में स्व-निर्धारित मत को पुष्टि मानते हैं (पृ० ३४)। श्री० एम० बी० झवेरी मुनि कल्याणविजय द्वारा निर्धारित पादलिप्त के समय को ठीक नहीं मानते (कंपरेटिव एंड क्रिटिकल स्टडी ऑव मन्त्र-शास्त्र, पृ० १७९ फ़ुट नोट)। उनका कहना है कि आर्य-रक्षित के अनुयोग

द्वार में पादलिप्त का सम्बोधन तरंग वंक्कार से किया गया है। आर्य-रक्षित का निधन-काल वि० सं० १२७ माना गया है (११४ कल्याणविजय जी के अनुसार) और अगर यह बात सच है तो आर्य-रक्षित के बाद पादलिप्त का नाम उनके ग्रन्थ में से आ सकता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है जैन-अनुश्रुतियां एक स्वर से पादलिप्त और मुरुण्डों की समकालीनता पर जोर देती हैं। पादलिप्त का समय निर्धारित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम मुरुण्डों का इतिहास जानें। डा० बागची ने इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के प्राचीन इतिहास विभाग के सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया था (दि प्रोसीडिंग्स ऑव दी इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, सिक्स्थ सेशन, १९४३) उससे मुरुण्डों के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। डा० बागची स्टेन कोनो के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि मुरुण्ड शक थे। वे पुराणों के इस मत का समर्थन करते हैं, जिसके अनुसार मुरुण्ड शकों से भिन्न माने गए हैं (वही, ३९-४०)।

मुरुण्डों का पता समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के अभिलेख से चलता है। इस लेख में मुरुण्ड गुप्त भृत्य माने गए हैं। मुरुण्ड शब्द खोह के छठवीं शताब्दी वाले ताम्रपत्र में भी आता है। इसमें कहा गया है कि उच्छकल्प के महाराज सर्वनाथ की माता मुरुण्ड देवी या मुरुण्ड स्वामिनी थीं (वही, पृ० ४०)।

प्रो० सिलवेन लेवी की खोजों के अनुसार प्राचीन चीनी इतिहास में भी मुरुण्डों का नाम आता है। सन् २२२-२७७ के बीच एक दूत-मण्डल फुनान के राजा द्वारा भारतवर्ष भेजा गया। करीब ७००० ली की यात्रा समाप्त करके मंडल इच्छित स्थान को पहुँचा। तत्कालीन भारतीय सम्राट ने यूनान के राजा को बहुत सी भेंट की वस्तुएं भेजीं, जिनमें यू-ची देश के चार घोड़े भी थे। फूनान जाने वाले भारतीय दूत-मण्डल की मुलाक़ात चीनी दूत से फूनान दरबार में हुई। भारत के सम्बन्ध में पूछे जाने पर दूत-मण्डल ने बतलाया कि भारत के सम्राट की पदवी मिउ-लुन थी और उसकी राजधानी, जहाँ वह रहता था, दो शहर-पनाहों से घिरी थी और शहर की खातों में पानी नदी की नहरों से आता था। यह वर्णन हमें पाटलिपुत्र की याद दिलाता है (वही, पृ० ४०)।

उपरोक्त वर्णन में आया हुआ मिउ-लुन चीनी भाषा में मुरुण्ड शब्द का रूपान्तर मात्र है।

बहुत से पक्के सबूतों के न होते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि कुषाण और गुप्त काल के बीच मुरुण्ड राज्य करते थे। टालेमी की भूगोल और चीनी इतिहास के आधारों से यह विदित होता है कि ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में मुरुण्ड पूर्वी भारत में राज्य करते थे (वही पृ० ४१)।

इन सबूतों के आधार पर प्रो० बागची निम्न-लिखित निर्णय पर पहुँचते हैं: "यह कहने में कोई हिचक न होनी चाहिए कि मुरुण्ड तुखारों के साथ भारत आए और उन्होंने पूर्वी भारत में पहले तुखारों के भृत्यों के रूप में और बाद में स्वतन्त्र रूप से राज्य-स्थापना की। यू-ची लोगों के साथ उनका सम्बन्ध उन चार यू-ची देश के घोड़ों से प्रकट होता है जो मुरुण्डों द्वारा फुनान के राजा को भेंट दिए गए थे। जब हेमचन्द्र अभिधान-चिन्तामणि में लम्पाकों और मुरुण्डों को एक मानते हैं तो इससे यह न मान लेना चाहिए कि मुरुण्डों से हेमचन्द्र के समय में भी लोग परिचित थे। हेमचन्द्र का आधार कोई प्राचीन स्रोत था जिसे यह विदित था कि मुरुण्ड लमघान होकर आए। भारतवर्ष पर चढ़ाई करते हुए शकों ने यह रास्ता नहीं पकड़ा था। शक पूर्वी भारत तक पहुँचे भी न थे और कोई भी पुराना ग्रन्थ पाटलिपुत्र के साथ शकों का सम्बन्ध नहीं बतलाता। इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मुरुण्ड कुषाणों की तरह तुखारों का एक कबीला था, जो कुषाणों के पतन और गुप्तों के अभ्युत्थान के इतिहास के बीच में खाली हिस्से की खानापूरी करता है। यह बात पुराणकारों को मालूम थी।"

"हम मुरुण्डों की स्थिति का तुखारों के साथ-साथ मध्य एशिया में अध्ययन कर सकते हैं। ग्रीक और रोमन लेखक, जैसे स्त्राबो, प्लिनी और पेरिप्लस एक फ़िनोई नाम के क़बीले का नाम लेते हैं, जो तुखारों के आस-पास रहता था। अगर प्लिनी की बात हमें स्वीकार है तो फ़िनोइ या फ़ुनि अत्तकोरिस पर्वत के दक्षिण में रहते थे, तुखार या तोखरि फ़िनोइ के दक्षिण में और कसिरि या कश्मीर तुखारों के दक्षिण में। फ़िनोइ का संस्कृत में

मुरुण्ड रूपान्तर अच्छी तरह हो सकता है। पुराण वालों को मुरुण्ड शब्द लिखने में कुछ हिचक सी लगती थी। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' जिसके पाठ काफ़ी प्रामाणिक हैं, मुरुण्ड न लिख के पुरुण्ड या पुरण्ड लिखता है" (वही, पृ० ४१)।

'मत्स्य', 'वायु' और 'ब्रह्मांड' पुराणों के आधार पर चौदह तुखार राजाओं के बाद, जिनका राज्य-काल १०७ या १०५ वर्षों तक सीमित था, १३ गुरुण्ड या मुरुण्ड राजाओं ने मत्स्य पुराण के अनुसार २०० बरस तक और वायु तथा ब्रह्मांड के अनुसार ३५० बरस तक राज्य किया। लेकिन पार्जिटर के अनुसार ३५० वर्ष २०० वर्ष का अपवाद है, क्यों कि विष्णु और भागवत पुराणों में मुरुण्डों का राज्य-काल ठीक-ठीक १९९ वर्ष दिया है (पार्जिटर, डायनेस्टीज़ ऑव कलि एज, पृ० ४४-४५, लन्डन १९१३)। अब पौराणिक काल-गणना के अनुसार तुखारों ने १०७ या १०५ वर्ष राज्य किया और अगर तुखार और कुषाण एक ही हैं तो कुषाणों का राज्य १८३ या १८५ ई० तक आता है। अगर इस गणना में हम मुरुण्ड राज्य-काल के भी २०० वर्ष जोड़ दें तो मुरुण्डों का अन्त क़रीब ३८५ ई० में पड़ता है। समुद्रगुप्त द्वारा मुरुण्ड विजय भी इसी काल के आस-पास आकर पड़ता है।

अब एक कठिन प्रश्न यह उठता है कि मुरुण्ड राज्य-काल के किस भाग में पादलिप्त हुए, क्योंकि मुरुण्डों का राज्य काल १८५ ई० से ३८५ ई० तक रहा और मुरुण्ड राजाओं में किसी का नाम से सम्बोधन नहीं हुआ है। अनुयोगद्वार की अनुश्रुति के अनुसार, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, पादलिप्त का समय ईस्वी पहली शताब्दी आता है जब मुरुण्ड स्वतन्त्र शासक न होकर कुषाणों के सेवक मात्र थे। पाटलिपुत्र के मुरुण्डों और पुरुषपुर के (पेशावर) कुषाण राजाओं में काफ़ी घनिष्ठ सम्बन्ध था। बृहत्कल्प-सूत्रभाष्य (भा० ३, २२९१-९३) में एक कथा है जिसमें बतलाया गया है कि मुरुण्ड राजद्वारा प्रेषित दूत पुरुषपुर के राजा से तीन दिनों तक न मिल सका, क्योंकि जब वह राजा से मिलने निकलता था उसे कोई-न-कोई बौद्ध भिक्षु मिल जाता था और इसे अपशकुन मान कर वह आगे न बढ़ सकता था। अन्त में बड़े बन्दोबस्त के बाद दूत राजा से मिल पाया। इस घटना के प्रासंगिक रूप से हम जैनों और बौद्धों के वैर-भाव का पता पाते हैं, जिसकी झलक हम चीनी भाषा में अनुवादित अश्वघोष के सूत्रालंकार की उस कथा में पाते हैं, जिसमें कनिष्क धार्मिक होने के नाते एक स्तूप को प्रणाम करता है, लेकिन स्तूप वास्तव में जैन था जो कनिष्क के प्रणाम करते ही टूट गया, क्यों कि उसे राजा के प्रणाम करने का उच्च अधिकार ही न प्राप्त था! (जी० के० नरीमान, लिटरेरी हिस्ट्री ऑव संस्कृत बुधिज़्म, पृ० १९७, बम्बई १९२३)। अगर महेन्द्र और पादलिप्त की समसामयिकता भी ठीक मान ली जाय तो भी पादलिप्त का समय ई० पहली सदी ठहरता है। उस समय दाहड नाम का एक पापी राजा था जो किसी धर्म की परवाह नहीं करता था। महेन्द्र ने उसे दीक्षित किया। प्रभावक-चरित के दाहड में और तित्थोगाली के कल्कि चतुर्मुख में बहुत समानता पाई जाती है और अगर ये दोनों एक ही हैं तो पादलिप्त का समय ई० की पहली शताब्दी हो सकती है जब शायद कुषाणों के धार्मिक पक्षपात से जैनों को अनेक कष्ट झेलने पड़े हों। पर इस बारे में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मथुरा में कंकाली टीला के मिले जैन स्तूप के अभिलेखों से यह पता चलता है कि कनिष्क से लेकर वासुदेव के काल तक जैन स्वतंत्रता के साथ अपने देवों और स्तूप की पूजा कर सकते थे।

मुनि कल्याणविजय जी ने मजबूत तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पादलिप्त ई० शताब्दी दूसरी या तीसरी में हुए जब कुषाणों का महामात्र विश्वस्फाणि का विहार पर राज था। डा० जायसवाल (हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृ० ४२) के अनुसार पुराणों का विश्वस्फाणि, जिसे विश्व स्फाटि और विवस्फाटि भी कहा गया है, वनस्फर या वनस्पर था जिसका उल्लेख कनिष्ककालीन अभिलेखों में आया है (एपि० इंडि० ८, पृ० १७३)। कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष के लेख में जिस विषय में बनारस था उसका वनस्फर क्षत्रप था और महाक्षत्रप था खरपल्लाण। वनस्फर बाद में ई० स० ९०–१२० के दर्मियान महाक्षत्रप हो गया होगा, ऐसा डा० जायसवाल का अनुमान है। वायु और ब्रह्मांड पुराण तीसरी शताब्दी के राजकुलों का वर्णन करते हुए विश्वफ़ाणि का निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख करते हैं: "मागधों का

राजा विश्वस्फाणि (भागवत, विश्वस्फूर्ति, वायु, विश्वस्फटिक) बहुत बड़ा वीर होगा। सब राजाओं का उन्मूलन करके वह निम्न जाति के लोगों को जैसे कैवर्तों, पंचकों (ब्रह्मांड, मद्रक, विष्णु, यदु) पुलिन्दों और ब्राह्मणों को राजा बनाएगा। उन जातियों के लोगों को वह बहुत से देशों का शासक नियुक्त करेगा। युद्ध में वह विष्णु के समान पराक्रमी होगा। (भागवत के अनुसार उसकी राजधानी प्रभावती होगी)। राजा विश्वस्फाणि का रूप पण्ढ की तरह होगा। क्षत्रियों का उन्मूलन करके वह दूसरी क्षत्रिय जाति बनाएगा। देव, पितृ और ब्राह्मणों को तुष्ट करता हुआ वह गंगा के तीर जाकर तप करता हुआ शरीर छोड़ कर इन्द्रलोक को जाएगा (पार्जिटर वही, पृ० ७३)। विश्वस्फाणि का तित्थोगाली के कलि से मेल खाता है। पुराणों के मतानुसार वह ब्राह्मणों का आदर करने वाला कहा गया है, लेकिन यह केवल पुराणों की ब्राह्मण-श्रेष्ठता स्वीकार कराने वाली कपोल-कल्पना मालूम होती है, क्योंकि वनस्फर जाति नहीं मानता था और क्षत्रियों का तो वह कट्टर वैरी था। अगर जायसवाल की राय ठीक है तो वनस्फर का समय ई० सन् ८१-१२० तक था और अगर तित्थोगाली के कल्की और वनस्फर एक थे तो पाटलिपुत्र के बाढ़ का समय दूसरी शताब्दी के पहले चरण में रक्खा जा सकता है।

पुराण-साहित्य, जैन-साहित्य तथा चीनी-साहित्य से हमें बिहार पर विदेशी मुरुण्डों के अधिकार का पता चलता है, लेकिन बिहार में पुरातत्त्व की प्रगति सीमित रहने से उसके द्वारा मुरुण्डों के प्रश्न पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका है। वैशाली की खुदाई से यह तो पता चलता है कि ईरानी सभ्यता का प्रभाव बिहार पर पड़ रहा था, पर इसके लाने वाले खास ईरानी थे या शक-तुखार, इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश अभी तक नहीं पड़ सका है। वैशाली से चौथी या पाँचवीं शताब्दी की एक मुद्रा मिली है, जिस पर ईरानी अग्निवेदी बनी हुई है तथा गुप्तब्राह्मी का लेख भी उस पर है। ऐसी मुद्राएँ सर जान मार्शल को भीटा की खुदाई से भी मिली थीं। डा० स्पूनर का अनुमान है कि इन मुद्राओं से यह पता चलता है कि वे इक्की-दुक्की न होकर उस ईरानी प्रभाव की द्योतक हैं जिसका सम्बन्ध काबुल के किसी राजकुल से न होकर बिहार में स्वतन्त्र रूप से फले-फूले ईरानी प्रभाव से है। इस मुद्रा पर भगवत आदित्यस्य लेख होने से इस मुद्रा का सम्बन्ध किसी सूर्य के मन्दिर से हो सकता है और शायद यह मन्दिर भारत में बसे ईरानियों का हो, क्योंकि अगर मन्दिर हिन्दुओं का होता तो मुद्रा पर ईरानी अग्निवेदी न होती। डा० स्पूनर का कहना है कि ईरानी प्रभाव और सूर्य-पूजा पटना और गया जिलों में गुप्त काल से बहुत अधिक पुरानी थी और इसका सम्बन्ध काबुल के चौथी शताब्दी के कुषाणों से न होकर उन परदार मिट्टी की मूर्तियों से है, जिनका काल मौर्य या शुंग है (एन० रि० आ० स० इ०, १९१३-१४, पृ० ११८-१२०)।

बसाढ़ के मिट्टी की मूर्तियों पर ईरानी प्रभाव जानने के लिए हमें उन मूर्तियों के बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए। खुदाई में दो मिट्टी के सर मिले हैं। उनमें एक वर्तुलाकार टोप पहने है और दूसरा चोंगेदार टोपी। दोनों विदेशी मालूम पड़ते हैं। इन मूर्तियों का काल शुंग या मौर्य माना गया है (वही, पृ० १०८)। डा० गॉर्डन इस काल से सहमत नहीं हैं (जर्नल ऑव दी इंडियन सोसायटी ऑव ओरियंटल आर्ट, वा० ९, पृ० १६४)। उनका कहना है कि उनमें चक्करदार (radiate) शिरोवस्त्र वाला शिर गन्धार कला के सुवर्ण युग का द्योतक है और उसका काल ईसा पू० प्रथम शताब्दी है। दूसरा शिर साँचे में ढली हुई इंडोसिदियन या इंडोपार्थियन मूर्तियों से समता रखता है और इसका समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी है। डा० गॉर्डन इन शिरों को इसलिए मौर्य नहीं मानते कि इनका सम्बन्ध मौर्य कालीन मिट्टी की मूर्तियों से न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी की भारत में जगह-जगह पाई गई मृणन्मूर्तियों से है। बसाढ़ में खिलौनों की तख्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें स्त्री-मूर्ति को पंख लगा दिये गये हैं। डा० स्पूनर इन परों को बाबुल की देन मानते हैं और उनका विचार है पर्सिपोलिस की ईरानी कला से होता हुआ यह प्रभाव भारत में आया। ये मूर्तियाँ ईरान से सीधी न आकर बसाढ़ में ही बनी थीं और इस बात से डाक्टर स्पूनर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मौर्य काल में भी ईरानी प्रभाव बिहार में विद्यमान था (आ० स० रि०, वही, पृ० ११९)। पर डा० गॉर्डन श्री कॉड्रिंग्टन से सहमत होते हुए इन पंख वाली स्त्री-मूर्तियों का समय साँचीकला के बाद वाला युग अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी

मानते हैं (गॉर्डन, वही, पृ० १५७)। इन मूर्तियों का समय तवतक ठीक निश्चित नहीं हो सकता जवतक खुदाई विलकुल वैज्ञानिक ढंग से न की जाय। लगता है कि वसाढ़ के स्तरों में कुछ उलट-पुलट हो जाने से ऊपर-नीचे की वस्तुएँ वहुधा मिल गई हैं (स्पूनर, वही, पृ० ११४)। रही ईरानी प्रभाव की प्राचीनता की वात। मौर्यकाल में विशेषकर अशोककाल की कला में कुछ अलंकरण ईरानीकला से लिये गये, लेकिन आया कि वह प्रभाव क्षणिक था या उसका विस्तार हुआ, इसका अभी हमें विशेष पता नहीं है। लेकिन ईरानी या यों कहिए पूर्व ईरानी भाषा वोलने वाले शक ई० पू० प्रथम शताव्दी में मथुरा तक आ धमके, व्यापारी या यात्री के रूप में नहीं, वरन् विजेता होकर। तव उनके साथ आई हुई ईरानीकला की भारतीयकला पर छाप पड़ना अवश्यम्भावी था और इसी के फलस्वरूप हम भारतीयकला में विदेशी वस्त्रों से आच्छादित टोपी पहने हुए मध्य एशिया के लोगों के दर्शन करते हैं। कुषाण काल में एक ऐसे वर्ग की मृणन्मूर्तियों का प्रचलन हुआ जो केवल विदेशियों का प्रदर्शन मात्र करती हैं। डा० गॉर्डन ने वड़े सूक्ष्म अध्ययन के वाद ऐसी मृणन्मूर्तियों का समय ई० पू० पहली शताव्दी से ई० सन् तीसरी शताव्दी तक रक्खा है। वसाढ़ के ईरानी प्रभाव से प्रभावित मृणन्मूर्तियाँ भी इसी समय की हैं और विहार पर मुरुण्ड-कुषाण राज्य की एक मात्र प्राचीन निशानी हैं। भविष्य के पुरातत्त्ववेत्ताओं का यह कर्तव्य होना चाहिए कि उन सवूतों को इकट्ठा करें, जिनसे पूर्व भारत का शकों और कुषाणों से सम्बन्ध प्रकट होता है। ऐसा करने से इतिहास की वहुत सी भूली वातें हमारे सामने आ जायेंगी तथा जैन ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के कुछ अवोध्य अंशों पर भी प्रकाश पड़ेगा।

पाटलिपुत्र के वाढ़-सम्वन्धी प्रमाणों की जाँच करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—(१) वाढ़ राजा कल्की के राज्यकाल में आई। वह सव धर्मों के साधुओं और भिक्षुओं को सताता था। (२) वह कौन सा ऐतिहासिक राजा था, इसके सम्वन्ध में ऐतिहासिकों की एक राय नहीं है। उसका पुष्यमित्र होना, जैसी मुनि पुण्यविजय जी की राय है, सम्भव नहीं है; क्योंकि पुरातत्त्व के प्रमाण के अनुसार वाढ़ ई० सन् की पहली या दूसरी शताव्दी में आई। शायद कल्की पुराणों का विश्वस्फर या कुषाण लेखों का वनस्फर रहा हो। (३) अगर तित्थोगाली के आचार्य पाडिवत् और चूर्णियों और भाष्यों के पादलिप्त एक ही हैं तव वाढ़ ईसा की पहली या दूसरी शताव्दी में आई; क्योंकि यही पादलिप्त का समय माना जाता है। (४) पुराणों और चीनी-साहित्य के प्रमाणों के आधार पर मुरुण्ड, जो पादलिप्त के समकालीन थे, इसी काल में हुए। (५) यह सम्भव है कि वाढ़ वाली घटना कुषाण राज्य के आरम्भ में घटी हो; क्योंकि एक वाह्य संस्कृति का देश की प्राचीन संस्कृति से द्वन्द्व होने से धार्मिक असहिष्णुता और उसके फलस्वरूप प्राचीन धर्म के अनुयायियों पर अत्याचार होना कोई अनहोनी घटना नहीं है। तित्थोगाली के कल्कि का अत्याचार तथा पौराणिक विश्वस्फाणि, जो शायद कुषाण अभिलेखों का वनस्फर था, के अनार्य कर्म शायद ईसा की पहली शताव्दियों की राजनैतिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल के प्रतीक हैं। (६) पुरातत्त्व से अभी तक मुरुण्ड और कुषाणों का पूर्व भारत से सम्वन्ध पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ा है। फिर भी कुछ मृणन्मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक संस्कृति का प्रभाव विहार में ई० पू० प्रथम शताव्दी में पड़ चुका था और वाद में वह और वढ़ा।

(२)

जैन-साहित्य में कुणाला या श्रावस्ती में भी एक वड़ी वाढ़ आने की अनुश्रुति है। आवश्यक-चूर्णि (पृ० ४६५, रतलाम, १९२८) में इसकी कथा इस भाँति दी हुई है: "कुणाला में कुरुण्ट और उत्कुरुण्ट नाम के दो आचार्य नगर की नालियों के मुहाने पर रहा करते थे। वर्षा-काल में नागरिकों ने उन्हें वहाँ से निकाल भगाया। क्रोध में आकर कुरुण्ट ने श्राप दिया, "हे देव! कुणाला पर वरसो।" छूटते ही उत्कुरुण्ट ने कहा, "पन्द्रह दिन तक।" कुरुण्ट ने दुहराया, "रात और दिन।" इस तरह श्राप देकर दोनों नगर छोड़कर चले गये। पन्द्रह दिनों तक घनघोर वरसात होती रही और इसके फलस्वरूप कुणाला नगरी और तमाम जनपद वह गये। कुणाला की वाढ़ के १३ वरस वाद महावीर स्वामी केवली हुए।" मुनि कल्याणविजय की गणना के अनुसार ४३ वर्ष की अवस्था में महावीर केवली



शेषशायी विष्णु

विष्णुमंदिर का दक्षिण दिशा का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

हुए और उस समय महात्मा बुद्ध ६५ बरस के थे (कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृ० ४३)। लंका की अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध का निर्वाण ८० वर्ष की अवस्था में ई० पू० ५४३-४४ में हुआ और इसलिए महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति ई० पू० ५५८-५९ में हुई। महावीर के केवलज्ञान के तेरह बरस पहले यानी ई० पू० ५७१-७२ में कुणाला की बाढ़ आई। श्रावस्ती की इस बाढ़ का ज़िक्र धम्मपद अट्ठकथा में भी आया है। कहते हैं कि अनाथ-पिण्डिक के अठारह करोड़ रुपये अचिरावती (आधुनिक राप्ती) के किनारे गड़े हुए थे। नदी में एक बार बाढ़ आई और पूरा खज़ाना बह गया (बर्लिंगेम, बुद्धिस्ट लीजेंडस्, वा० २, पृ० २६८)। खेद की बात है कि प्राचीन श्रावस्ती (आधुनिक सहेट-महेट) की जाँच-पड़ताल ऊपर ही ऊपर हुई है, खाई खोद कर स्तरों की खोज भी अभी तक नहीं हुई है। यह जानने की हमें बड़ी उत्सुकता है कि पाटलिपुत्र की तरह यहाँ भी पुरातत्त्व एक प्राचीन अनुश्रुति का समर्थन करता है अथवा नहीं। अगर पुरातत्त्व से अनुश्रुति सही निकलती है तो हमें प्राग् मौर्यकाल की एक स्तर का ठीक-ठीक काल मिल जायगा और यह पुरातत्त्ववेत्ताओं के एक बड़े काम की बात होगी।

(३)

जैनों का कार्यक्षेत्र विशेषकर बिहार, युक्तप्रान्त, दक्षिण तथा गुजरात रहा है। जैन-साहित्य में पंजाब का उल्लेख केवल प्रासंगिक रूप से आया है। तक्षशिला, जिसका उल्लेख बौद्ध-साहित्य में काफ़ी तौर से आया है, जैन-साहित्य में बहुत कम बार आई है। प्राचीन टीका साहित्य में तक्षशिला को जैन धम्मचक्क भूमि कहा गया है (बृहत्-कल्पसूत्र, १७७४)। आवश्यक चूर्णि (पृ० १६२, आ० नि० ३२२) में कहा गया है कि ऋषभ देव वहाँ अक्सर चारिका किया करते थे। एक समय बाहुबलि को खबर लगी कि ऋषभ देव वहाँ आये हुए हैं। उनके दर्शनार्थ वे दूसरे दिन वहाँ पहुँचे, लेकिन ऋषभदेव वहाँ से चल चुके थे। बाहुबलि ने भगवान् के चरण-चिह्नों पर एक धर्मचक्र स्थापित कर दिया।

प्रभावकचरित में मानदेव सूरि की कथा के अन्तर्गत तक्षशिला का वर्णन आया है। कथा हम नीचे उद्धृत करते हैं, क्योंकि उसके कुछ अंशों से तक्षशिला की खुदाई की सत्यता पर प्रकाश पड़ता है :

मानदेव सूरि ने युवावस्था में मुनि प्रद्योतन सूरि से जैन-धर्म की दीक्षा ली। कुछ दिनों में वे मूल सूत्रों में निष्णात हो गये और उनके तप से प्रभावित होकर लोगों ने उन्हें आचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

उसी समय धर्मक्षेत्र रूप और पाँच सौ चैत्यों से युक्त तक्षशिला नगरी में भारी उपद्रव उठ खड़ा हुआ। भयंकर रोगों से ग्रस्त होकर लोग अकाल मृत्यु पाने लगे और औषधियाँ रोग-शमन में सर्वदा असमर्थ रहीं। रोग का इतना वेग बढ़ा कि नगर के बाहर हज़ारों चिताएँ लगने लगीं और पुजारियों के अभाव से देव पूजा अटक गई।

श्रावकों में से थोड़े बहुत जो बच गये थे इकट्ठा होकर अपने भाग्य को कोसने और देवी-देवताओं की स्वार्थ-परता की आलोचना करने लगे। उनकी यह अवस्था देखकर शासन देवी ने आकर कहा, "आप सन्ताप क्यों करते हैं? म्लेच्छों के प्रचंड व्यन्तर ने सब देवी-देवताओं को दूर कर दिया है। ऐसी अवस्था में बतलाइए, हम क्या कर सकते हैं? आज से तीन वर्ष बाद तुरुष्कों के हाथ नगर भंग हो जावेगा, यह सब समझ कर आप जो चाहें करें, पर मैं आपको एक उपाय बताती हूँ जिसे आप सावधान होकर सुनिए, जिससे संघ की रक्षा हो। इस उपद्रव के शान्त होते ही आप हमारी बात मानकर इस नगर को छोड़कर दूसरी जगह चले जायँ।"

देवी की बात मानकर श्रावकों ने अपनी रक्षा का उपाय पूछा। देवी ने नगर के मकानों को मानदेव के पदधोवन से पवित्र करने की राय दी। उसकी राय में उपद्रव शान्ति का एकमात्र यही उपाय था।

गुरु को बुलाने को वीरदत्त नाम का श्रावक भेजा गया। मानदेव के पास जया विजया नाम की दो देवियों को बैठे देख उसे आचार्य के चरित्र पर कुछ सन्देह हुआ और इसके लिए देवियों ने उसकी काफ़ी लानत-मलामत की। आचार्य ने तक्षशिला जाने से इनकार किया, पर उपद्रव के शमन के लिए कुछ मन्त्र बतला दिये। वीरदत्त ने तक्षशिला वापस आकर लोगों को शान्तिस्तव बतलाया और उसके प्रभाव से कुछ ही दिनों में उपद्रव शान्त हो गया। उसके

वाद लोग अपनी इच्छा से नगर छोड़कर दूसरी जगह चले गये। तीन वर्ष बीतने पर तुरुष्कों ने इस महा नगरी को नष्ट कर दिया। वहाँ अब तक (१३वीं शताब्दी तक) पाषाण तथा पीतल की मूर्तियाँ तहखानों में मिलती हैं (प्रभावक-चरित, भूमिकालेखक कल्याणविजय जी, पृ० १८४-१८७, भावनगर, १९३०)।

मुनि कल्याणविजय जी के अनुसार पट्टावलियों में दो मानदेवों का वर्णन है। मानदेव प्रथम २०वें पट्टधर थे और मानदेव दूसरे २८वें पट्टधर थे जो आचार्य हरिभद्र के परम मित्र थे। पट्टावलियों के अनुसार मानदेव प्रथम वीरनिर्वाण संवत् की आठवीं शताब्दी में हुए। अंचल गच्छ की वृहत् पट्टावली में मानदेव सूरी को २१वाँ पट्टधर माना गया है और उनका समय ७३१ वीरनिर्वाण संवत् (वि० सं० २६१, ई० सन् २०४) दिया है। पट्टावलियों की राय से मानदेव ई० सन् की तीसरी शताब्दी में हुए। लेकिन इन मानदेव सूरी का या इनके अनुयायियों का भाष्यों और चूर्णियों में ज़िक्र तक नहीं है (वही, भूमिका, पृ० ७२)।

तक्षशिला पर तुरुष्कों के आक्रमण पर विचार करते हुए मुनि कल्याणविजय जी इस वात की ओर संकेत करते हैं कि यह घटना मानदेव के जीवन-काल में अर्थात् ई० सन् २०७ के पहले घटी होगी। उनका कहना है कि शायद ससानी राजा आर्देशर ने ही तक्षशिला का नाश किया होगा, पर इसके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है (वही, पृ० ७२-७३)। इस लड़ाई के पहले ही जैनसंघ वहाँ से चल दिया और कल्याणविजय जी के मतानुसार ओसवाल जाति तक्षशिला इत्यादि पश्चिम पंजाव के नगरों के जैनसंघों से निकली हुई है। इस जाति की कई खासियतों को देखते हुए, जिनमें उनका और शाकद्वीपी ब्राह्मणों (सेवकों) का सम्वन्ध भी है, यह कहा जा सकता है कि ओसवालों के पूर्व पुरुष पश्चिम भारत से आये थे।

तक्षशिला की चढ़ाई का तीसरी शताब्दी के आरम्भ में होने का प्रमाण केवल इस घटना का मानदेव सूरि के समय में होना ही है। अगर हम मानदेव सूरि की कथा की भली भाँति जाँच-पड़ताल करें तो उनका तक्षशिला से केवल इतना ही सम्वन्ध देख पड़ता है कि उन्होंने महामारी के शमन के लिए एक शान्तिस्तव भेजा और यह कथा पीछे से भी गढ़ ली जा सकती है। प्रभावकचरित्र में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ पुराना नया सब मिला दिया गया है। पाद-लिप्ताचार्य की जीवनी में उनकी मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम (सन् ८१४-८७६) से मुलाक़ात लिखी है (वही पृ० ३५) जो नितान्त असम्भव है। वात यह है कि मुनियों के चरित्र कोई ऐतिहासिक दृष्टिविन्दु लेकर तो लिखे नहीं गये थे। इन परम्परागत चरित्रों के अधिकतर मौखिक होने के कारण अगर वाद के वड़े-वड़े राजाओं के नाम उसमें जुटते गये हों तो उसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं है। लगता ऐसा है कि वहुत सी ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ किसी शास्त्र विशेष से सम्वन्धित न होकर केवल मौखिक थीं। कालान्तर में घटना का समय तो लोगों को भूल गया, पर घटना ज्यों-की-त्यों रही। मुनियों के चरित में उनका किसी घटनाविशेष से सम्वन्ध दिखला कर उनके अलौकिक गुणों को प्रकाश में लाना था, इसलिए पुरानी अनुश्रुतियों को किसी वाद के आचार्य के नाम के साथ जोड़ देना कोई ऐसी अनहोनी वात नहीं है। यह सव कहने का तात्पर्य केवल यही है कि पुरातत्त्व की खुदाई से जो प्रमाण मिले हैं उनसे तक्षशिला कुषाणों द्वारा ईसा की पहली शताब्दी में नष्ट हुआ और अनुश्रुति इस घटना का समय ईसा की तीसरी शताब्दी मानती है। पुरातत्त्व के प्रमाण अकाट्य हैं, इसलिए इस घटना का वास्तविक काल ईसा की पहली शताब्दी का अन्त ही मानना ठीक होगा। हाँ, अगर हम कनिष्क के काल को ई० सन् १२७ या उसके पीछे मान लें, जैसा वहुत से विद्वानों ने माना है तो शायद अनुश्रुति की ही वात ठीक रहे; क्योंकि अधिकतर पट्टावलियों ने मानदेव को २०वाँ पट्टधर माना है और उनका समय वीरनिर्वाण का आठवाँ सैका है, जो ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में पड़ता है।

अव हमें देखना चाहिए कि तक्षशिला की खुदाई से तक्षशिला नगर का कुषाणों द्वारा नाश होने के प्रश्न पर क्या प्रकाश पड़ता है, और साथ ही हमें इस वात की भी पड़ताल करनी चाहिए कि जैनों का तक्षशिला से तथाकथित सम्वन्ध ठीक है या कोरी कल्पना। इस जाँच के लिए हमें तक्षशिला के सिरकप नगर की खुदाई पर विशेष ध्यान देना होगा। सर जान मार्शल के कथनानुसार ई० पू० दूसरी शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में इंडोग्रीक राजाओं ने नगर

भीड़ के टीले से हटाकर सिरकप में बसाया और यह नगर बराबर ग्रीक-शक, पह्लव और कुषाण काल तक अर्थात् वेम कदफिस (ई० सन् की पहली शताब्दी के अन्त तक) तक बराबर बसा था (मार्शल, गाइड टु तक्षिला, पृ० ७८, तृतीय संस्करण)। शहरपनाह के अन्दर से जो भग्नावशेष मिले हैं उनमें ऊपर के दो स्तर तो पह्लव और आरम्भिक कुषाण काल के हैं (ईसा की पहली शताब्दी)। उनके नीचे तीसरे और चौथे स्तर शक-पह्लव काल के हैं और उनके भी नीचे पाँचवें और छठे स्तर ग्रीक काल के हैं (वही, पृ० ७९)। सरकप के राजमार्ग के आसपास कुछ छोटे-छोटे मन्दिर मिले हैं जिन्हें सर जान मार्शल ने जैन मन्दिर बतलाया है (वही, पृ० ८०)। ब्लाक 'जी' में, जो राजमार्ग के दाहिनी ओर स्थित है, बहुत से बड़े मकानों के भग्नावशेष मिले हैं जिनकी खास विशेषता यह थी कि उनके साथ-साथ निजी छोटे मन्दिर भी बने होते थे। ये मन्दिर सड़क की तरफ़ खुले होते थे जिससे भक्तों को दर्शन में सुविधा होती थी। ब्लाक 'जी' के एक बड़े मकान में, जो ईसा की पहली शताब्दी के मध्य में बना था, एक चैत्य पाया गया है जो सर जान मार्शल के अनुसार जैन-धर्म का है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में सर जान का कहना है कि इन चैत्य-स्तूपों की बनावट मथुरा के अर्धचित्रों में अंकित जैन-स्तूपों से बहुत मिलती-जुलती है (वही, पृ० ८७)। पुरातत्त्व की सहायता से अब हमें मालूम पड़ता है कि वास्तव में तक्षशिला के सम्बन्ध में जैन-अनुश्रुति ठीक है। एक समय तक्षशिला जैनों का भी एक बड़ा केन्द्र रहा होगा, इसमें संशय करने की अब गुंजाइश नहीं।

ईसा के प्रथम शताब्दी के अन्त में कुषाणों ने सिरकप पर धावा मारकर उसे तहस-नहस कर दिया और बाद में तक्षशिला का नया नगर सिरसुख में बसाया। कुषाणों का इस ध्वंसात्मक क्रिया का प्रमाण सिरकप की खुदाई में मिला है। ब्लाक 'डी' में प्रकंठक (Apsidal temple) मन्दिर की पिछली दीवार से सटे हुए एक छोटे कमरे के फ़र्श से सोने-चाँदी के बहुत से गहने और बरतन मिले हैं। सर जान मार्शल का कहना है कि बहुत सम्भव है कि सरकप का यह खज़ाना तथा और भी बहुत से खज़ाने, जो खुदाई में मिले हैं, कुषाणों के नगर पर धावा बोलने पर जल्दी से ज़मीन में गाड़ दिये गये थे (वही, पृ० ९७)।

अब हमें पुनः तक्षशिला वाली जैन-अनुश्रुति पर ध्यान देना चाहिए और देखना चाहिए कि उसमें जो दो-तीन बातें कही गई हैं क्या वे इतिहास और पुरातत्त्व के प्रकाश में ठीक बैठती हैं? पहली बात जो इस अनुश्रुति में हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है तुरुष्कों द्वारा तक्षशिला का विध्वंस। हमें मालूम है कि पश्चिमी तुरुष्कों का राज्य सातवीं शताब्दी में तुखारिस्तान में आया जब तक्षशिला का नगर के रूप में पराभव हो चुका था, क्योंकि सातवीं शताब्दी में ही जब युवान च्वांग ने उसे देखा तो अधिकतर बौद्धविहार नष्ट हो चुके थे और बहुत थोड़े से महायान बौद्धभिक्षु वहाँ रहते थे (वाटर्स, युवान च्वांग, भाग १, पृ० २४०)। फिर ऐसी गड़बड़ क्यों? कारण साफ़ है। तुरुष्क आधिपत्य के समय के लेखकों ने तुखार और तुरुष्क शब्दों को एक ही मान लिया है। डा० बागची के अनुसार तुखारों या कुषाणों का देश तोखारिस्तान सातवीं शताब्दी में पश्चिमी तुर्कों के हाथ में चला गया। तब यह स्वाभाविक था कि बाद के संस्कृत लेखक तुखारों और तुरुष्कों में गड़बड़ कर बैठें (दी प्रोसीडिंग्स ऑव दी इंडियन हिस्टोरिकल कांग्रेस, सिक्स्थ सेशन, पृ० ३९)। तेरहवीं सदी के अन्त के लेखक प्रभावकचरित के कर्ता प्रभाचन्द्र सूरि का भी इस पुरानी भूल का शिकार हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि जैन-मूर्तियों का तक्षशिला के भुइँधरों से तेरहवीं शताब्दी तक मिलना। यहाँ भुइँधरों का उल्लेख आने से हमारे सामने फ़ौरन सिरकप के वास्तुशास्त्र की एक विशेषता आ खड़ी होती है, जिसका विवेचन सर जान मार्शल ने अच्छी तरह किया है। सिरकप के घरों की एक खास विशेषता यह है उनमें से कुछ में घर के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के रास्ते हैं, लेकिन उनमें ऐसे दरवाज़ों का पता मुश्किल से लगता है जिनमें होकर सड़क से या चौक से आदमी भीतर जा सके। इसका कारण यह है कि मकान ऊँचे अधिष्ठानों पर बनते थे और मकान के खंड जो अब दिखलाई देते हैं या तो नींव का काम देते थे—और ऐसा होने पर वे मिट्टी से भर दिये जाते होंगे—या उनका तहखानों के ऐसा उपयोग होता होगा, जिनमें पहुँचने के लिए ऊपर के कमरों से सीढ़ियाँ लगी होती

होंगी। तक्षशिला के घरों में ऐसे तहखानों के होने का प्रमाण हमें फाइलोस्ट्राटस द्वारा मिलता है। उसका कहना है कि तक्षशिला में ऐसे मकान थे जो बाहर से देखने में एक खंड के मालूम पड़ते थे पर भीतर जाने से उनमें तहखाने मिलते थे, जिनकी गहराई ऊपर के कमरों की ऊँचाई के बराबर होती थी (फाइलोस्ट्राटस, लाइफ़ ऑव अपोलोनियस ऑव टायना, बुक २, चे० २३)। वास्तव में ये निचले कमरे भुइँधरे नहीं कहे जा सकते; क्योंकि ये ज़मीन के अन्दर तो बने नहीं थे, पर सड़क से देखने वाले को घर के एक खंड की खिड़कियाँ ही दिखलाई देती होंगी, और ऊपर के खंड से नीचे के कमरे में सीढ़ी से उतरने पर उसे अगर वह तहखाना कहे तो उसमें कोई ऐसी बड़ी भूल नहीं है (मार्शल, वही, पृ० ६३)। जैन-अनुश्रुति में भी ऐसे भुइँधरे का उल्लेख आने से यह पता चलता है कि जिस समय यह अनुश्रुति चली उस समय तक लोग तक्षशिला के मकानों की बनावट से अवगत थे।

(४)

मथुरा के जैन-स्तूप के बारे में व्यवहारभाष्य में एक अनुश्रुति दी हुई है (व्यवहारभाष्य, ५, २७-२८)। यह पहली ही अनुश्रुति है, जिसमें स्तूप को देवनिर्मित कहा गया है। इस अनुश्रुति की सचाई उत्कीर्ण लेख से भी होती है जिसका वर्णन आगे आवेगा। अनुश्रुति का सारांश निम्नलिखित है :

एक समय एक जैन मुनि ने मथुरा में तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर एक जैन-देवी ने मुनि को वरदान देना चाहा, जिसे मुनि ने स्वीकार नहीं किया। रुष्ट होकर देवी ने रत्नमय देवनिर्मित स्तूप की रचना की। स्तूप को देखकर बौद्धभिक्षु वहाँ इकट्ठे हो गये और स्तूप को अपना कहने लगे। बौद्ध और जैनों की स्तूप सम्बन्धी लड़ाई छः महीनों तक चलती रही। जैन-साधुओं ने ऐसी गड़बड़ देखकर उस देवी की आराधना की, जिसका वरदान वह पहले अस्वीकार कर चुके थे। देवी ने उन्हें राजा के पास जाकर यह अनुरोध करने की सलाह दी कि राजा इस शर्त पर फ़ैसला करे कि अगर स्तूप बौद्धों का है तो उस पर गैरिक झंडा फहराना चाहिए और अगर वह जैनों का है तो उस पर सफ़ेद झंडा लहराना चाहिए। रातोंरात देवी ने बौद्धों का केसरिया झंडा बदल कर जैनों का सफ़ेद झंडा स्तूप पर लगा दिया और सवेरे जब राजा स्तूप देखने आया तो उस पर सफ़ेद झंडा लहराते देखकर उसे जैन-स्तूप मान लिया।

उपरोक्त अनुश्रुति में से हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए : (१) मथुरा में जैनों के एक बड़े प्राचीन स्तूप पर, जिसे देवनिर्मित कहते थे, बौद्धों ने छः महीने के लिए दखल कर लिया था। (२) मथुरा के न्यायप्रिय राजा ने उसे फिर जैनों को लौटवा दिया।

मथुरा के जैन-स्तूप के बारे में एक बाद की अनुश्रुति चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थ 'विविधतीर्थ-कल्प' में दी हुई है (विविधतीर्थकल्प, पृ० १७-१८, सं० जिनविजय, शान्तिनिकेतन, १६३४)। इस अनुश्रुति का सारांश यह है :

धम्मघोस और धम्मरुइ नाम के दो जैन साधु एक बार विहार करते हुए मथुरा आये। तत्कालीन मथुरा नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी और यमुना का जल उसके प्राकार को धोता था ('पासट्ठिय जउणाजल वरप्पावार विभूसिआ')। दोनों साधु चातुर्मास बिताने के लिए एक उपवन में ठहर गये। उपवन-देवी साधुओं की तपश्चर्या से प्रसन्न होकर प्रकट हुई और उन्हें वरदान देना चाहा। साधुओं ने यह कहकर कि उन्हें वरदान की आवश्यकता न थी देवी को प्रभावित किया और उसे जैन-धर्म में दीक्षित कर लिया। कुबेर देवता के यह पूछने पर कि चातुर्मास के बाद उनका क्या इरादा है उन्होंने बतलाया कि उनका इरादा दूसरे गाँव में जाकर व्रतभंग करने का है। देवता के यह पूछने पर कि वे सर्वदा के लिए उस उपवन में क्यों नहीं ठहरते साधुओं ने कहा कि यह उनकी रीति के विरुद्ध बात है। देवता ने उनकी आज्ञा बजा लाने की अपनी इच्छा प्रकट की। साधुओं ने देवता से संघ सहित मेरु चैत्य की यात्रा की इच्छा प्रकट की। देवता ने कहा कि दो आदमियों को देवदर्शन वह करा सकता है, लेकिन सम्पूर्ण संघ के जाने से रास्ते में झूठे देव गड़बड़ मचा सकते हैं। साधुओं ने कहा कि आगमों के प्रभाव से उन्होंने तो

मेरु यात्रा कर ली है और अगर देवता सर्वसंघ को ले जाने में असमर्थ हैं तो वे भी नहीं जायेंगे। लज्जित होकर देवता ने तत्काल देवों सहित मेरु-मन्दिर बनाने की प्रतिज्ञा की, जहाँ साधु गणसंघ के सहित पूजा कर सकें। रातोंरात देवता ने सुवर्ण का रत्नजटित स्तूप बनाया, जो देवमूर्तियों से और तोरण, माला, ध्वजा, और त्रिछत्र से अलंकृत था और तीन मेखलाओं में विभाजित था। प्रत्येक मेखला में चारों ओर रत्नजटित देवमूर्तियाँ थीं, जिनमें प्रधान मूर्ति सुपार्श्वनाथ की थी। प्रातःकाल जब नगरवासी जागे तो स्तूप देखकर आपस में लड़ने लगे। कुछ ने मूर्ति को वासुकि-लांछन स्वयंभूदेव की बतलाया; दूसरों ने शेषशायी नारायण से इसकी तुलना की। औरों ने इसे ब्रह्मा, धरणीन्द्र, सूर्य या चन्द्र बतलाया। बौद्धों ने इसे जैन-स्तूप न मानकर बुद्धमंडल (बुद्धउण्ड) माना। बीच-बचाव करने वालों ने लोगों को लड़ने से रोका और कहा कि स्तूप देवनिर्मित है और वही देव सब की शंकाओं का समाधान करेगा। बाद में प्रत्येक मत के अनुयायियों से अपने आराध्य देव के चित्रपट के साथ एक निश्चित समय इकट्ठे होने को कहा गया और यह बतलाया गया कि देव प्रेरित घटना से वही पट बच जायेगा जिस देव की स्तूप में मूर्ति है और बाक़ी तितर-बितर हो जावेंगे। सब मतों के अनुयायी अपने देवताओं के चित्रपटों के साथ नवमी को इकट्ठा होकर गायन-वादन करते हुए ठहर गये। आधी रात में बड़े ज़ोरों का अन्धड़ बहने लगा, जिससे पट उड़ गये और लोगों ने चारों ओर भाग कर अपनी जान बचाई। केवल सुपार्श्व का चित्रपट जहाँ-का-तहाँ स्थित रहा। लोगों ने पटयात्रा निकाली। अभिषेक आरम्भ होने पर पहले अभिषेक करने के लिए लोगों में लड़ाई होने लगी। इस पर वृद्धों ने एक कुमारी कन्या द्वारा एक सन्दूक से नाम निकलवाने की बात कही और यह भी निश्चित किया कि ग़रीब हो या अमीर जिसका भी नाम पहले निकलेगा वही अभिषेक का अधिकारी होगा। यह घटना दशमी को घटी। एकादशी के दिन मूर्ति का दूध, दही, घी, केशर और चन्दन भरे हज़ारों घट से अभिषेक हुआ। अभिषेक में अलक्ष्य देवों ने भी भाग लिया। बाद में हज़ारों ने अभिषेक करके मूर्ति की धूप-वस्त्र और अलंकारों से पूजा की। साधुओं को वस्त्र, घृत और गुड़ की भिक्षा दी गई। द्वादशी को मूर्ति को माला पहनाई गई। इस प्रकार साधु धर्मरुचि और धर्मघोष मूर्ति की पूजा करते हुए चातुर्मास वहाँ बिताकर अन्यत्र पारणा करके अपने कर्मों को छिन्न करते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए और मथुरा उसी दिन से सिद्धक्षेत्र हो गई। साधुओं की मृत्यु से दुखी वह देवी अर्धपल्योपम जीवन बिता कर मनुष्य योनि में पैदा हुई और एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में जो भी देवियाँ उस स्थान पर आईं कुबेर नाम से सम्बोधित हुईं। पार्श्वस्वामी के जन्म तक स्तूप अनावृत पड़ा रहा। इसी बीच में मथुरा के राजा ने लालच में आकर स्तूप को तोड़ देने की और उसका माल-मता खज़ाने में दाखिल कर देने की आज्ञा दी। कुल्हाड़े ले-लेकर आदमी उसे तोड़ने लगे, पर उसका कुछ न बिगड़ा, प्रत्युत तोड़ने वालों को चोटें लगीं। इस पर राजा ने स्तूप पर स्वयं कुल्हाड़ा चलाया और कुल्हाड़े ने हाथ से फिसल कर राजा का सिर काट दिया। इस पर देवी क्रुद्ध होकर स्वयं प्रकट हुई और लोगों को पापी कहकर नष्ट कर देने की धमकी दी। धमकी से डर कर लोगों ने देवता की आराधना की और उसने नाश से बचने का उपाय जिन की आराधना बतलाई। उसी दिन से बृहत्-कल्पसूत्र के अनुसार मथुरा में घर के आलों में मंगल चैत्य की स्थापना आरम्भ हुई। उस समय से प्रत्येक वर्ष सुपार्श्व के चित्रपट की रथयात्रा होती थी और केवल वही राजा जीवित रह सकता था जो गद्दी चढ़ने पर बिना भोजन किये हुए जिन की पूजा करता था। एक समय पार्श्वनाथ विहार करते हुए मथुरा पधारे और संघ को उपदेश देते हुए उन्होंने दुषमा काल में आने वाली कठिनाइयों और विपत्तियों को बताया। अर्हंत के चले जाने पर देवी कुबेर ने संघ को आमन्त्रित करके पार्श्वनाथ की दुषमा काल सम्बन्धी भविष्यवाणी बतलाई, जिसमें आने वाले राजा प्रजा सहित लालची बतलाये गये थे। देवी ने यह भी कहा कि उसका सर्वदा जीवित रह कर स्तूप की रक्षा करना असम्भव था, इसलिए उसने संघ से स्तूप को ईंटों से ढक देने की आज्ञा चाही। संघ के सदस्य बाहर से पार्श्वनाथ की पूजा कर सकते थे और संरक्षिका देवी स्तूप के भीतर थी। महावीर से १३०० वर्षों से भी अधिक समय बाद (क़रीब ७५० ई० सन्) बप्पभट्टि का जन्म हुआ। उन्होंने तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया तथा पूजा की सुविधा के लिए अनेक उपवन, कूएँ और भंडार बनवाए। गिरती हुई ईंटों को देखकर उसने जब स्तूप मरम्मत के लिए खोलना चाहा तो देवी ने स्वप्न में उसे ऐसा

करने से रोका। देवी की बात मानकर उन्होंने स्तूप पर चौकोर पत्थरों का आवरण लगवा दिया। आज दिन तक देव उसमें सुरक्षित हैं। हज़ारों मूर्तियों, देवकुलों, विहारों और गन्धकुटियों से सुसज्जित यह जिन-भवन चिल्लणिका, अम्बा और क्षेत्रपालों की संरक्षता में आज दिन भी विद्यमान है।

इस अनुश्रुति की व्यवहारभाष्य वाली अनुश्रुति से तुलना करने पर यह बात साफ़ हो जाती है कि व्यवहार भाष्य वाली अनुश्रुति विविधतीर्थकल्प की अनुश्रुति से कहीं अधिक पुरानी है। कुछ खास बातों में दोनों में भेद भी हैं। व्यवहारभाष्य में स्तूप का निर्माण साधुओं को उनकी अहमन्यता का दंड देने के लिए हुआ था, लेकिन विविधतीर्थकल्प में उसकी रचना साधुओं को प्रसन्न करने के लिए दिखाई गई है। बाद की अनुश्रुति में स्तूप के बारे में भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों की आपस की लड़ाई का विस्तृत वर्णन करके जैनों की अलौकिक शक्ति की मदद से जीत बतलाई गई है। व्यवहारसूत्र में इसका कोई उल्लेख नहीं है। उसमें तो केवल यही बतलाया गया है कि बौद्धों द्वारा जैन-स्तूप अधिकृत होने पर मदद के लिए दैवीशक्ति का आह्वान किया गया और राजा ने जैनों द्वारा प्रस्तावित एक सीधे-सादे उपाय को मानकर न्याय किया और स्तूप जैनों को लौटा दिया। विविधतीर्थकल्प में मथुरा के राजा को लालची कहकर उसे स्तूप लूटने की इच्छा रखने वाला बतलाया है और अलौकिक शक्ति द्वारा उसके शिरोच्छेद की भी कथा कही है। प्राचीन अनुश्रुति में इन सब बातों का पता तक नहीं है। विविधतीर्थकल्प में जो वर्णन जैन-स्तूप का है, वह व्यवहार में नहीं आता। आगे चलकर हम उसकी उपादेयता दिखलायेंगे।

दिगम्बर आचार्यों ने भी मथुरा के सम्बन्ध में कुछ अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है। हरिषेणाचार्य रचित बृहत्कथाकोश में, जिसका रचनाकाल ९३२ ई० है (देखिए, डा० उपाध्ये, बृहत्कथाकोश, पृ० १२१, बम्बई, १९४३); वैरकुमार की कथा में मथुरा के पंचस्तूपों का वर्णन आया है। उनके निर्माण की कथा इस भाँति दी है: एक समय मथुरा का राजा पूतिमुख एक बौद्ध आचार्य द्वारा पालित एक रूपवती कन्या को देखकर मोहित हो गया। राजा ने बहुत सी दान-दक्षिणा बौद्ध साधुओं को देकर उस सुन्दरी से विवाह करके उसे पटरानी बना दिया। फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को उर्विल्ला रानी ने जैन रथ-यात्रा निकालनी चाही। इस पर ईर्ष्या से अभिभूत होकर बौद्ध पटरानी ने राजा को इस बात पर मना लिया कि बौद्धरथ के बाद जैनरथ निकले। इससे दुखी होकर रानी उर्विल्ला जैन मुनि सोमदत्त के पास पहुँचो और जिन के अपमान की बात कह सुनाई। सोमदत्त वैरकुमार के पास पहुँचे और वैरकुमार उन्हें सान्त्वना देकर सोधे अमरावती पहुँचे। वहाँ दिवाकरादि देवों और विद्याधरों ने उनका स्वागत किया। यह पूछने पर कि सब कुशल तो है वैरकुमार ने बतलाया कि मथुरा में जिन-पूजा में किस तरह विघ्न हो गया है। यह सुनकर विद्याधर बड़े ही कुपित होकर चल पड़े। मथुरा में आकर सोमदत्त आदि मुनियों को उन्होंने प्रणाम किया और मथुरान्त प्रदेश और पुर के आकाश में खेचरेश्वर भीषण रूप धारण कर छा गये तथा उन रथों को जिन पर बुद्ध की पूजा हो रही थी नष्ट कर डाला तथा उर्विल्ला का सोने का जड़ाऊ जैनरथ उन्होंने बड़े गाजे-बाजे के साथ पुर में घुमाया तथा चाँदी के जड़ाऊदार पाँच स्तूप जिनवेश्म के सामने बनाये ('महारजतनिर्माणान् खचितान् मणिनायकैः पंचस्तूपान् विधायाग्रे समुच्च-जिनवेश्मनाम्', वही, १२.१३२)। बाद धूप-दीप, पुष्प से नाच-गाकर जिन की पूजा करके विद्याधर स्वर्ग वापस चले गये (बृहत्कथाकोश, १२, १०१-१४३)। जाते हुए वे जिन-पूजा न करने वालों को नष्ट कर देने की धमकी भी देते गये।

सोमदेव सूरी के यशस्तिलक चम्पू में भी, जिसका समय शक सं० ८८१ है (ई० स० ९५९), यह अनुश्रुति प्रायः बहुत मामूली हेर-फेर के साथ ज्यों-की-त्यों मिलती है (यशस्तिलक भाग २, पृ० ३१३-३१५, काव्यमाला, बम्बई, १९०३)। इसमें भास्करदेव का वज्रकुमार और देव सेना के साथ मथुरा आना लिखा है और जिनरथ को घुमाकर जिन-प्रतिबिम्बांकित एक स्तूप के स्थापना का भी ज़िक्र है। सोमदेव के समय तक उस तीर्थ का नाम देव-निर्मित था ('अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते', वही, पृ० ३१५)।

इन दिगम्बराचार्यों की मथुरा के जैन-स्तूप विषयक अनुश्रुतियों की जाँच-पड़ताल करने से पता चलता है कि

दोनों अनुश्रुतियाँ स्तूप के देवनिर्मित मानने में एक हैं। दोनों के अनुसार दिवाकरादि देवों की मदद से स्तूप बना। पर स्तूप एक था या पाँच इसके बारे में हरिषेण और सोमदेव की अनुश्रुतियों में भिन्नता है। हरिषेण स्तूपों की संख्या पाँच मानते हैं और सोमदेव केवल एक। जान पड़ता है कि सोमदेव प्राचीन श्वेताम्बर अनुश्रुति की ओर इशारा करते हैं और हरिषेण उसके बाद की किसी अनुश्रुति की ओर, जब स्तूप एक से पाँच हो गये थे। रायपसेणइय सुत्त में सूर्याभदेव द्वारा जो महावीर-वन्दना तथा स्तूप आदि का उल्लेख है शायद वही इन दोनों अनुश्रुतियों की पृष्ठ-भूमिका है। पंचस्तूप कब बने इसका तो कोई वर्णन नहीं मिलता, पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सबसे पहले इसका पता पहाड़पुर से मिले गुप्त संवत् के १५९ वर्ष (ई० स० ४७९) के एक ताम्रपत्र से मिलता है (एपि० इण्डि०, २०, पृ० ५९ से)। इसमें नगर के अधिकरणअधिष्ठान के पास एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी द्वारा तीन दीनारों के जमा किये जाने का ज़िक्र है, जिनके द्वारा कुछ ज़मीन खरीद कर उसकी आमदनी से वट-गोहाली विहार की जैन प्रतिमाओं का पूजन हो सके। इस विहार का प्रबन्ध आचार्य गुहनन्दिन् के शिष्य-प्रशिष्य करते थे। आचार्य गुहनन्दिन् काशी के थे और पंचस्तूपान्वय थे (वही, पृ० ६०)। ताम्रपत्र के सम्पादक के कथनानुसार गुहनन्दिन् दिगम्बर आचार्य थे। दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय के तीन महान् आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र मूल-संघ के पंचस्तूप नामक अन्वय में हुए हैं, जो आगे चलकर सेनान्वय या सेनसंघ के नाम से विख्यात हुआ। धवला, जयधवला और उत्तरपुराण के आधार पर पं० नाथूराम जी प्रेमी का कहना है कि स्वामी वीरसेन और जिनसेन तो अपने वंश को पंचस्तूपान्वय लिखते हैं, पर गुणभद्रस्वामी ने उसे सेनान्वय लिखा है, और वीरसेन जिनसेन के बाद अन्य किसी भी आचार्य ने किसी ग्रन्थ में पंचस्तूपान्वय का उल्लेख नहीं किया है (प्रेमी, जैन-साहित्य और इतिहास, पृ० ४९७, बम्बई, १९४२)। स्वामी वीरसेन का स्वर्गवास प्रेमीजी के अनुसार श० सं० ७४५ (सन् ८२३) के लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में हुआ (वही, पृ० ५१२)। जिनसेन की मृत्यु उन्होंने ९० वर्ष की अवस्था में श० सं० ७६५ (ई० स० ७६३) में मानी है। इन सब प्रमाणों से यह पता चलता है कि पंचस्तूपकान्वयवंश ईसा की पाँचवीं शताब्दी में विद्यमान था और इसका अन्त ईसा की नवीं शताब्दी में हो गया और फिर इसका सेनान्वय नाम पड़ा। श्रुतावतार के अनुसार, जो पंचस्तूपनिकाय से आये, उन मुनियों में किसी को सेन और किसी को भद्र नाम दिया गया और कुछ लोगों के मत से सेन नाम ही दिया गया। अब प्रश्न यह उठता है कि दिगम्बरों का पंचस्तूपनिकाय कब से चला? इस प्रश्न के उत्तर के लिए काफ़ी खोज की ज़रूरत है। मथुरा में कंकाली टीले की खुदाई से मिले बहुत से उत्कीर्ण लेखों से श्वेताम्बर जैन कुल, शाखाओं, गणों और आचार्यों के नाम मिलते हैं, पर उनमें पंचस्तूपान्वय निकाय का कहीं वर्णन नहीं है। ई० पू० द्वितीय शताब्दी और उसके बाद, महाक्षत्रपों के राज्यकाल के मिले हुए अभिलेखों से यह सिद्ध हो जाता है कि कम-से-कम ई० पू० २०० तक तो मथुरा में जैनस्तूप बन चुका था (एपि० इंडि० २, पृ० १९५-९६)। कुषाण काल के सं० ५ से संवत् ९८ तक के तो बहुत से जैन-अभिलेख मिले हैं, जिनका समय शायद ई० सन् ८३ से लेकर ई० सन् १७६ तक हम मान सकते हैं (विंसेंट स्मिथ जैनस्तूप ऑव मथुरा, पृ० ५), पर इन लेखों से न तो पंचस्तूपनिकाय का ही पता चलता है न श्वेताम्बर दिगम्बरों के भेद का ही। सं० ७९ में एक लेख से तो यह भी पता चलता है कि वासुदेव के राज्यकाल तक इस स्तूप का नाम देवनिर्मित था (वही, पृ० १२)। डा० फुहरर का कहना है कि कंकाली टीला पर बीच वाला मन्दिर तो श्वेताम्बरों का था, पर दूसरा मन्दिर दिगम्बरों का था, जो वहीं पर मिले एक लेख के अनुसार वि० सं० १०८० या ई० सन् १०२३ तक दिगम्बरों के हाथ में था (वही, पृ० ६)। पर इस कथन में प्रमाणों का सर्वदा अभाव है; क्योंकि तथाकथित दिगम्बर मन्दिर से मिले हुए अभिलेख और मूर्तियाँ तथाकथित श्वेताम्बर मन्दिर से मिले हुए मूर्तियों और अभिलेखों से सर्वथा अभिन्न हैं। इन सब प्रमाणों को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि जहाँ तक मथुरा का सम्बन्ध है वहाँ तक तो ईसा की दूसरी शताब्दी तक श्वेताम्बरों दिगम्बरों का भेद नहीं मिलता। हम देख आये हैं कि दिगम्बर-मत मथुरा के स्तूप को पंचस्तूप मानने में एक नहीं है, सोमदेव उसे देवनिर्मितस्तूप और हरिषेण पंचस्तूप मानते हैं। वास्तव में मथुरा के पुराने स्तूप का नाम देवनिर्मित था। लगता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी

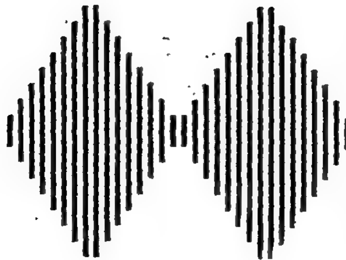
के वाद जव जैनधर्म से दिगम्वर श्वेताम्वर शाखाएँ फूटीं तो श्वेताम्वर देवनिर्मितस्तूप को ही मानते रहे, लेकिन दिगम्वरों ने मथुरा के किन्हीं पाँच स्तूपों को अपना मानकर उनके नाम पर एक निकाय चला दिया और देवनिर्मित-स्तूप की प्राचीन अनुश्रुति को एक नया रंग देकर एक देवनिर्मित स्तूप की जगह पाँच स्तूप कर दिये। फिर भी सव दिगम्वरों ने इसे न माना, जैसा सोमदेव के यशस्तिलक से मालूम होता है।

अभी तक हम स्तूप सम्वन्धी अनुश्रुतियों की जाँच करते रहे हैं और उनसे यह पता चलता है कि स्तूप का नाम देवनिर्मित स्तूप था। वाद में मतान्तर होने पर दिगम्वरों ने उसी स्तूप को या आस-पास के पाँच स्तूपों को पंचस्तूप नाम दिया। व्यवहारभाष्य से यह भी पता चलता है कि स्तूप पर वौद्धों ने छः महीने दखल कर लिया था जो वाद में राजा की न्यायप्रियता से जैनों को लौटा दिया गया। दिगम्वरों की स्तूप सम्वन्धी अनुश्रुतियों से यह ध्वनि निकलती है कि वौद्धों ने जिनपूजा में कुछ गड़वड़ की और राजा भी उनके पक्ष में था। चैत्य की रक्षा इन अनुश्रुतियों के अनुसार देवताओं ने की।

स्तूप सम्वन्धी अनुश्रुतियों की भरपूर जाँच कर लेने के वाद अव हमें देखना चाहिए कि पुरातत्त्व मथुरा के जैनस्तूप पर क्या प्रकाश डालता है। कनिंघम, ग्राउस और फुहरर की खोजों से यह पता चल गया कि मथुरा के दक्खिन-पच्छिम कोने में स्थित कंकाली टीला ही प्राचीन काल में मथुरा का जैनस्तूप था, क्योंकि वहाँ से स्तूप का भग्नावशेष वहुत सी जैन-मूर्तियाँ, आयागपट्ट और उत्कीर्ण लेख पाये गये। सन् १८९०-९१ की खुदाई में डा० फुहरर को एक टूटी मूर्ति की वैठक पर एक लेख मिला, जिसमें इस वात का उल्लेख है कि श्राविका दिना ने कोट्टियगण और वैरशाखा के अनुयायी आचार्य वृद्धहस्ति की सलाह से अरहत् नन्द्यावर्त की प्रतिमा देवनिर्मित वोद्व स्तूप में सं० ७९ में स्थापित की (स्मिथ, वही, पृ० १२)। इस अभिलेख की विशेषता यह है कि पुरातत्त्व की दृष्टिकोण से देवनिर्मित स्तूप का नाम सवसे पहले इसी लेख में मिलता है और इससे मथुरा के देवनिर्मित जैनस्तूप वाली प्राचीन अनुश्रुति की सचाई की भी पुष्टि होती है। डा० स्मिथ के मतानुसार इस लेख से, जो शायद १५७ ई० के वाद का नहीं है, यह पता चलता है कि उस समय तक स्तूप इतना अधिक पुराना हो चुका था कि लोग उसके वनाने वाले का नाम भूलकर उसे देवनिर्मित कहन लगे थे। इस वात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद स्तूप ईसा के कई सदियों पहले वना और शायद पुराने से पुराने वौद्धस्तूप के इतना पुराना वह रहा होगा (वही, पृ० १३)। इस स्तूप से श्री० ग्राउस को कई वौद्ध-मूर्तियाँ मिलीं (ग्राउस, मथुरा, पृ० ११६-११८, तृतीय संस्करण, १८८३) लेकिन ऐसा होना आश्चर्यजनक था; क्योंकि कंकाली टीला वास्तविक रूप से जैन-स्थान है और ऐसी जगह वौद्ध मूर्तियाँ कैसे आईं यह किसी के समझ में नहीं आता था; क्योंकि वौद्धों और जैनों की धार्मिक प्रतिस्पर्धा वड़े प्राचीन काल से चली आई है। डा० वुहलर ने फुहरर के पत्र का हवाला देते हुए लिखा है कि डा० फुहरर ने कंकाली टीला की खुदाई में कई मतों के धार्मिक चिह्नों को पाया, जिनमें दो जैन मन्दिर और वौद्ध स्तूप थे (जी० वुहलर, वियेना जर्नल, ४, पृ० ३१३-१४)। लगता है कि डा० वुहलर किसी तरह कंकाली टीले से मिले हुए ईंट के वड़े स्तूप को वौद्ध स्तूप समझ गये, पर वास्तव में वह जैन है। डा० फुहरर ने डा० वुहलर को जो पत्र लिखा था उसमें वौद्ध स्तूप का जिक्र नहीं है (वही, पृ० १९९)। डा० वुहलर कथित वौद्ध स्तूप पाये जाने के आधार पर इस सिद्धान्त को पहुँचे कि कंकाली टीला के ऊपरी स्तरों से जैन और वौद्ध मूर्तियों का मिलना वहाँ वौद्ध स्तूप का होना सावित करता है। अभाग्यवश डा० फुहरर ने कंकाली टीला की खुदाई इतनी अवैज्ञानिक ढंग से की है कि यह कहना विलकुल असम्भव है कि वौद्ध मूर्तियाँ टीले के किस भाग से मिलीं और उनका किसी इमारत विशेष से सम्वन्ध था या नहीं, लेकिन कंकाली टीला से मिली हुई वौद्ध मूर्तियों की कम संख्या इस वात को वतलाती है कि कम-से-कम कंकाली टीला पर वौद्ध प्रभाव थोड़े ही दिनों के लिए था और उस थोड़े से समय में या तो वौद्धों ने अपना कोई चैत्य वनवा लिया होगा या जवर्दस्ती किसी जैन चैत्य पर अपना अधिकार जमा कर उसमें वौद्ध मूर्तियाँ वैठा दी होंगी। व्यवहारभाष्य की अनुश्रुति से इस भेद का पता साफ़-साफ़ लग जाता है। अनुश्रुति में यह वात स्पष्ट है कि देवनिर्मित स्तूप वौद्धों के क़ब्ज़े में छः महीनों तक रहा और वौद्ध

मूर्तियों का वहां होना इस क़ब्ज़े को साबित करता है। यह घटना कब हुई यह कहना तो कठिन है, लेकिन बुद्ध की मूर्तियों का वहां से मिलना ही यह बात सिद्ध करता है कि ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में यह घटना घटी होगी, क्योंकि इसके पहले बुद्ध की कल्पना बुद्ध से सम्बन्धित पवित्र चिह्नों से की जाती थी, जैसा कि भरहुत और सांची के अर्धचित्रों से प्रकट है। इस समय की पुष्टि कंकाली टीले से मिले हुए छः बौद्ध मूर्तियों के अधिष्ठानों पर अंकित लेखों से भी होती है। ये लेख कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के राजत्व-काल के हैं और बोधिसत्व अमोघसिद्धार्थ की मूर्ति ईसा की पहली शताब्दी की है (स्मिथ द्वारा उद्धृत फुहरर, वही, पृ० ३)। जैन स्तूप के पास कुछ गड़बड़ी हुई थी, इसका पता डा० फुहरर के निम्नलिखित वृत्त से लगता है : "एक खम्भा जिस पर शक काल का लेख उत्कीर्ण है एक प्राचीन जिनमूर्ति की पीठ काट कर बनाया गया है। एक दूसरी मूर्ति, जिस पर वैसा ही लेख है, एक अर्ध चित्रित पट को काट कर बनाया गया है जिसके पीछे एक प्राचीन लिपि में लेख है। इन बातों से इस बात की पुष्टि होती है कि शक राजत्व काल के जैन अपने प्राचीन मन्दिर की टूटी-फूटी मूर्तियों का व्यवहार नई मूर्तियों के बनाने में करते थे। बहुत प्राचीन अक्षरों में उत्कीर्ण लेख वाले तोरण के मिलने से यह पता चल जाता है कि ईसा पूर्व १५० में भी मथुरा में जैन मन्दिर था" (वही, पृ० ३)। अभाग्यवश अभिलेखों को देकर डा० फुहरर ने यह सिद्ध नहीं किया है कि वास्तव में पुरानी मूर्तियां बनाने वाले जैन थे, वे बौद्ध भी हो सकते हैं। फुहरर का यह विश्वास कि कुषाण काल के जैन अपनी पुरानी मूर्तियों को काट-छांट कर नई मूर्तियां बनाते थे हमें ठीक नहीं जंचता, क्योंकि स्थापना के बाद टूट-फूट जाने पर भी देव मूर्ति आदर की दृष्टि से सारे भारत में देखी जाती है और उसका उपयोग दूसरे काल में करना धार्मिक दृष्टि से ठीक नहीं समझा जाता। जैन-मूर्तियों की तोड़-फोड़ और पुनर्निर्माण का कारण बौद्धों का जैन स्तूप पर दखल हो सकता है।

बंबई]



जैन-ग्रंथों में भौगोलिक सामग्री और भारतवर्ष में जैन-धर्म का प्रसार

श्री जगदीशचन्द्र जैन एम्० ए०, पी-एच० डी०

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय पुरातत्त्व की खोज में जैन-ग्रन्थों का, विशेषकर जैन-आगमों और उन पर लिखी हुई टीका-टिप्पणियों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि सबसे कम अध्ययन शायद इन्हीं ग्रन्थों का हुआ है। इन ग्रन्थों में पुरातत्त्व-सम्बन्धी, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सामाजिक विपुल सामग्री भरी पड़ी है, जिससे भारत के प्राचीन इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझती हैं। प्रस्तुत लेख में हम इन ग्रन्थों की भौगोलिक सामग्री के विषय में चर्चा करेंगे।

प्राचीन भारत में इतिहास की तरह भूगोल भी एक बड़ी जटिल समस्या रही है। मालूम होता है कि यह समस्या पूर्व समय में काफ़ी जटिलता धारण कर चुकी थी और यही कारण है कि जब भूगोल-विषयक शंकाओं का यथोचित समाधान न हुआ तो अध्यात्म-शास्त्र की तरह भूगोल-शास्त्र भी धर्म का एक अंग बन गया और एतद्विषयक ऊहापोह बन्द कर भूगोल को सदा के लिए एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। फल यह हुआ कि भूगोल-विषयक ज्ञान अधूरा रह गया और उसका विकास न हो सका। यह बात केवल जैन-शास्त्रकारों के विषय में ही नहीं, बल्कि बौद्ध और ब्राह्मण-शास्त्रकारों के लिए भी लागू होती है।

जैन-मान्यता के अनुसार मध्य-लोक अनेक द्वीप और समुद्रों से परिपूर्ण है। सबसे पहला जम्बूद्वीप है, जो हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन्, इन छः पर्वतों के कारण भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत इन सात क्षेत्रों में विभाजित है। उक्त छः पर्वतों से गंगा-सिन्धु आदि चौदह नदियां निकलती हैं। जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए लवणसमुद्र है, तत्पश्चात् धातकीखंड द्वीप, कालोदसमुद्र, पुष्करवर द्वीप आदि अनगिनत द्वीप और समुद्र हैं, जो एक दूसरे को वलय की तरह घेरे हुए हैं। संक्षेप में यही जैन-पौराणिक भूगोल है।

दुर्भाग्य से इस पौराणिक भूगोल का उस समय क्या आधार रहा होगा, यह जानने के हमारे पास इस समय कोई साधन नहीं हैं। परन्तु छानबीन करने पर इतना अवश्य मालूम होता है कि जिस भूगोल को हम पौराणिक अथवा काल्पनिक कहते हैं, वह सर्वथा काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए जैन-भूगोल की नील पर्वत से निकल कर पूर्व समुद्र में गिरने वाली सीता नदी को लीजिए। चीनी लोग इस नदी को सि-तो (Si-to) कहते हैं, यद्यपि यह किसी समुद्र में नहीं मिलती तथा काशगर की रेती में जाकर विलुप्त हो जाती है। बहुत सम्भव है कि ये दोनों नदियां एक हों। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार भारतवर्ष का ही दूसरा नाम जम्बूद्वीप है। इसी तरह वर्तमान हिमालय का दूसरा नाम हिमवत है जिसका उल्लेख पालि-ग्रन्थों में भी मिलता है। निषध पर्वत की पहचान हिन्दुकुश से की जाती है[1] तथा पूर्व विदेह, जिसे ब्रह्माण्ड पुराण में भद्राश्व के नाम से कहा गया है, पूर्वीय तुर्किस्तान और उत्तर चीन का हिस्सा माना जाता है।[2] नायाधम्मकथा के उल्लेखों से मालूम होता है कि हिन्दमहासागर का ही दूसरा नाम लवणसमुद्र था।[3] तथा कुछ विद्वानों के अनुसार मध्य एशिया के एक हिस्से का नाम पुष्करद्वीप था।[4]

---

[1] ज्यॉग्रेफ़िकल डिक्शनरी, नन्दलाल डे, पृ० १४१

[2] स्टडीज इन इन्डियन एन्टिक्विटीज, रायचौधुरी, पृ० ७५-६

[3] देखिए अध्याय ८, ९ और १७

[4] ज्यॉग्रेफ़िकल डिक्शनरी, पृ० १६३

असल में वात यह हुई कि प्राचीन काल में आजकल की तरह यात्रा के साधन सुलभ न होने से लोगों का भूगोल-विषयक ज्ञान विकसित न हो सका। परन्तु इसके साथ ही श्रद्धालु भक्तों को यह भी समझाना जरूरी था कि हम भूगोल-विज्ञान में भी पीछे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त विविध देश, पर्वत, नदी आदि के ठीक-ठीक मापने आदि के साधन भी प्राचीन काल में इतने सुलभ न थे। इतना होने पर भी आँखों-देखे स्थानों के विषय में सम्भवतः हमारे पूर्व पुरुषों का ज्ञान ठीक कहा जा सकता हो, परन्तु जहाँ अदृष्ट स्थानों का प्रश्न आया वहाँ तो उनकी कल्पनाओं ने खूब उड़ानें मारीं, और संख्यात-असंख्यात योजन आदि की कल्पनाएँ कर विषय को खूब सज्जित और अलंकृत बनाया गया।

इतिहास बताता है कि अन्य विज्ञानों की तरह भूगोल-विज्ञान का भी शनैः-शनैः विकास हुआ। ज्यों-ज्यों भारत का अन्य देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध बढ़ा और व्यापारी लोग वाणिज्य के लिए अन्य देशों में गये, उन्हें दूसरे देशों के रीति-रिवाज आदि जानने का अवसर मिला और उन्होंने स्वदेश लौटकर उस ज्ञान का प्रचार किया। इसी प्रकार धर्मोपदेश के लिए जनपद-विहार करने वाले जैन-श्रमणों ने भी भूगोल-विषयक ज्ञान को बढ़ाया। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि देश-देशान्तर भ्रमण करने से साधुओं की दर्शन-शुद्धि होती है तथा महान् आचार्य आदि की संगति से वे अपने आपको धर्म में अधिक स्थिर और विद्या-मन्त्र आदि की प्राप्ति कर सकते हैं। धर्मोपदेश के लिए साधु को नाना देशों की भाषा में कुशल होना चाहिए, जिससे वह उन-उन देशों के लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दे सके। जनपद-परीक्षा करते समय कहा गया है कि साधु इस बात की जानकारी प्राप्त करे कि कौन से देश में किस प्रकार से धान्य की उत्पत्ति होती है—कहाँ वर्षा से धान्य होते हैं, कहाँ नदी के पानी से होते हैं, कहाँ तालाब के पानी से होते हैं, कहाँ कुएँ के पानी से होते हैं, कहाँ नदी की बाढ़ से होते हैं और कहाँ धान्य नाव में रोपे जाते हैं। इसी प्रकार साधु को यह जानना आवश्यक है कि कौन से देश में वाणिज्य से आजीविका चलती है और कहाँ के लोग खेती पर जीवित रहते हैं तथा कहाँ लोग मांस-भक्षण करते हैं और कहाँ पुष्प-फल आदि का बहुतायत से उपयोग होता है।[1]

जैन-ग्रन्थों से पता चलता है कि देश-विदेशों में जैन-श्रमणों का विहार क्रम-क्रम से बढ़ा। महावीर का जन्म कुंडग्राम अथवा कुंडपुर (आधुनिक वसुकुंड) में हुआ था और उनका कार्यक्षेत्र अधिकतर मगध (बिहार) ही रहा है। एक बार महावीर साकेत (अयोध्या) में सुभूमिभाग उद्यान में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने निम्नलिखित सूत्र कहा—"निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक विहार कर सकते हैं, दक्षिण में कौशाम्बी तक विहार कर सकते हैं, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक विहार कर सकते हैं तथा उत्तर में कुणाला तक विहार कर सकते हैं। इतने ही क्षेत्र आर्यक्षेत्र हैं, इसके आगे नहीं। इतने ही क्षेत्रों में साधुओं के ज्ञान-दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।"[2] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में जैन-श्रमणों का विहार आधुनिक बिहार और पूर्वीय और पश्चिमीय संयुक्तप्रान्त के कुछ भागों तक ही सीमित था, इसके बाहर उन्होंने पाँव नहीं बढ़ाया था।

परन्तु कुछ समय पश्चात् राजा सम्प्रति के समय में जैन-श्रमणसंघ के इतिहास में एक अद्भुत क्रान्ति हुई और जैन-श्रमण मगध की सीमा छोड़कर दूर-दूर तक विहार करने लगे। राजा सम्प्रति नेत्रहीन कुणाल का पुत्र था, जो चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र तथा अशोक का पुत्र था। कहते हैं कि जब राजा अशोक पाटलिपुत्र में राज्य करते थे और कुमार कुणाल उज्जयिनी के सूबेदार थे तो अशोक ने कुणाल को एक पत्र लिखा कि "कुमार अब आठ वर्ष के हो गये हैं, इसलिए वे शीघ्र विद्याध्ययन आरम्भ करें (शीघ्रमधीयतां कुमारः)।" संयोगवश कुणाल की सौतेली

---

[1] १-१२२६-१२३६

[2] बृहत्कल्पसूत्र १.५०

माँ उस समय वहीं बैठी हुई थी। उसने एक सलाई लेकर अपने थूक द्वारा 'अ' के ऊपर अनुस्वार लगा दिया और अब 'अधीयतां' के स्थान पर 'अंधीयतां' हो गया। पत्र कुणाल के पास पहुँचा। जब उसने खोलकर पढ़ा तो उसमें लिखा था कि कुमार शीघ्र अन्धे हो जायँ (अंधीयतां कुमारः)। मौर्यवंश की आज्ञा का उल्लंघन करना अशक्य था। अतएव कुणाल ने तपती हुई एक लोहे की सलाई द्वारा अपनी आँखें आँज लीं और सदा के लिए नेत्रहीन हो गया। कुछ समय पश्चात् कुणाल अज्ञातवेष में पाटलिपुत्र पहुँचा और राजसभा में जाकर यवनिका के भीतर गन्धर्व किया। राजा अशोक कुणाल का गन्धर्व देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उसे वर माँगने को कहा। कुणाल ने 'काकिणी'[1] के बहाने राज्यश्री की याचना की और अपने पुत्र सम्प्रति को राजगद्दी पर बैठाया। सम्प्रति उज्जयिनी का बड़ा प्रभावशाली राजा हुआ। जैन-ग्रन्थों में सम्प्रति की बहुत महिमा गाई गई है। सम्प्रति आर्य-सुहस्तिन् तथा आर्य-महागिरि का समकालीन था। सम्प्रति के विषय में कहा है कि उसने नगर के चारों दरवाज़ों पर दानशालाएँ खुलवाईं और श्रमणों को वस्त्र आदि देने की व्यवस्था की। उसने अपने रसोइयों को जैन-श्रमणों का भक्त और पान से सत्कार करने का आदेश दिया और प्रात्यन्तिक राजाओं को बुलाकर श्रमणसंघ की भक्ति करने को कहा। अवन्तिपति सम्प्रति दंड, भट और भोजिक आदि को साथ लेकर रथयात्रा में सम्मिलित होता था और रथ के आगे विविध पुष्प, फल, खाद्य, कौड़ियाँ और वस्त्र आदि चढ़ाकर अपने को धन्य मानता था। सम्प्रति ने अपने योद्धाओं को शिक्षा देकर साधु के वेष में सीमान्त देशों में भेजा, जिससे इन देशों में जैन-श्रमणों को शुद्ध भक्तपान की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार राजा सम्प्रति ने आन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कुडुक्क (कुर्ग) आदि जैसे अनार्य देशों को जैन-श्रमणों के सुखपूर्वक विहार करने योग्य बनाया।[2] इसके अतिरिक्त सम्प्रति के समय से निम्नलिखित साढ़े पचीस देश आर्यदेश माने गये, अर्थात् इन देशों में जैनधर्म का प्रचार हुआ—

देश	राजधानी
१ मगध	राजगृह
२ अंग	चम्पा
३ वंग	ताम्रलिप्ति
४ कलिंग	कांचनपुर
५ काशी	वाराणसी
६ कोशल	साकेत
७ कुरु	गजपुर
८ कुशार्त्त	सोरिय (शौरिपुर)
९ पांचाल	कांपिल्यपुर
१० जांगल	अहिच्छत्रा
११ सौराष्ट्र	द्वारवती
१२ विदेह	मिथिला
१३ वत्स	कौशाम्बी
१४ शांडिल्य	नन्दिपुर
१५ मलय	भद्रिलपुर
१६ मत्स्य	वैराट

[1] एक रुपये के अस्सीवें भाग को 'काकिणी' कहते हैं; यह एक प्रकार का सिक्का था।

[2] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य १.३२७५-३२८९

देश	राजधानी
१७ वरणा	अच्छा
१८ दशार्ण	मृत्तिकावती
१९ चेदि	शुक्तिमती
२० सिन्धु-सौवीर	वीतिभय
२१ शूरसेन	मथुरा
२२ भंगि	पापा
२३ वट्टा(?)	मासपुरी
२४ कुणाल	श्रावस्ति
२५ लाढ	कोटिवर्ष
२५½ केकयीअर्ध	श्वेतिका[1]

१ मगध (राजगृह)

मगध एक प्राचीन देश गिना जाता है। इसकी गणना सोलह जनपदों में की गई है। शेष जनपद हैं—अंग, वंग, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ, लाढ, वज्जि, मोलि, कासी, कोसल, अवाह(?), और सम्भुत्तर(?)।[2] मगध महावीर और बुद्ध की धर्म-प्रवृत्तियों का एक खास केन्द्र था। मगध, प्रभास और वरदाम इनकी गणना भारत के प्रधान तीर्थों में की गई है जो क्रम से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में अवस्थित थे,[3] यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों में मगध को पापभूमि बताया है। आधुनिक पटना और गया जिलों को प्राचीन मगध कहा जाता है।

मगध की राजधानी राजगृह (आधुनिक राजगिर) थी, जिसकी गणना चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, कांपिल्यपुर, कौशाम्बी, मिथिला और हस्तिनापुर इन प्राचीन राजधानियों के साथ की गई है।[4] राजगृह में महातपोपतीरप्रभव नामक गरम पानी के कुंड के होने का उल्लेख मिलता है। यह कुंड लम्बाई में पाँच सौ धनुष था और वैभार पर्वत के पास बहता था।[5] राजगृह व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था और यहाँ दूर-दूर से लोग माल बेचने और खरीदने के लिए आते थे। राजगृह में महावीर भगवान् के चौदह वर्षावास व्यतीत करने का उल्लेख आता है।[6] प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय राजगृह के समीप था। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार पाण्डव, गिज्झकूट, वेभार, इसिगिलि तथा वेपुल्ल इन पाँच पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण राजगृह का दूसरा नाम गिरिव्रज था। इन पाँच पहाड़ियों में वैभार और विपुलाचल पहाड़ियों का जैन-ग्रन्थों में विशेष महत्त्व बताया गया है और यहाँ से अनेक निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों ने तपश्चर्या कर मोक्ष-साधन किया है। मगध की राजधानी होने के कारण राजगृह का दूसरा नाम मगधपुर भी था। मगधाधिपति राजा श्रेणिक (भंभसार) राजगृह में राज्य करता था।

---

[1] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य १.३२६३ वृत्ति।

[2] भगवती १५

[3] ठाणांग ३.१४२; आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ १८६

[4] ठाणांग १०.७१७; निशीथ सूत्र ९.१९

[5] भगवती २.५. पालि ग्रन्थों में इसका तपोदा के नाम से उल्लेख है (डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स, मलालसेकर, देखिए 'तपोदा')।

[6] कल्पसूत्र ५.१२३

२ अंग (चम्पा)

प्राचीन काल में अंग मगध देश के ही अन्तर्गत माना जाता था। अंगलोक की गिनती सिंहल (सीलोन), वव्वर, चिलात लोक, जवणदीव, आरवक, रोमक, अलसन्द (एलेक्जेन्ड्रिया) तथा कच्छ इन देशों के साथ की गई है। कहा जाता है कि भरत-चक्रवर्ती ने दिग्विजय के समय इन देशों को जीतकर इन पर अपना अधिकार किया था।[1] भागलपुर तथा मुंगेर ज़िलों को प्राचीन अंग माना जाता है।

चम्पा (भागलपुर) अंग देश की राजधानी थी, जिसकी गणना दस राजधानियों में की गई है। प्राचीन भारत में चम्पा एक अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध नगर था।[2] यह व्यापार का एक वहुत वड़ा केन्द्र था और यहाँ वणिक् लोग वड़ी दूर-दूर से माल ख़रीदने आते थे। चम्पा के व्यापारी अपना माल लेकर मिथिला, अहिच्छत्रा, पिहुंड (चिकाकोल और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश) आदि अनेक स्थानों में व्यापार के लिए जाते थे।[3] राजगृह की तरह महावीर ने चम्पा में भी अनेक चतुर्मास किये थे[4] और महावीर के अनेक शिष्यों ने यहाँ विहार किया था। सम्मेद-शिखर की तरह जैन-ग्रन्थों में चम्पा एक पवित्र तीर्थ माना गया है, जहाँ से अनेक निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थिनियों ने मुक्ति पाई।[5] श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् कूणिक (अजातशत्रु) को राजगृह में रहना अच्छा न लगा और उसने चम्पा को अपनी राजधानी वनाया।[6] दधिवाहन चम्पा का दूसरा उल्लेखनीय राजा था। चेटक की कन्या पद्मावती इसकी रानी थी। एक वार कौशाम्बी के राजा शतानीक ने दधिवाहन पर चढ़ाई की और दधिवाहन अपनी रानी और वसुमती नामक कन्या को छोड़कर भाग गया। शतानीक का एक ऊँट-सवार वसुमती को कोशाम्बी ले आया और उसे वहाँ के एक समृद्ध व्यापारी के हाथ वेच दिया। आगे जाकर यही वसुमती चन्दनवाला के नाम से प्रसिद्ध हुई, जो महावीर की सर्वप्रथम शिष्या वनी और जो वहुत काल तक जैन-श्रमणियों की अग्रणी रही।[7]

अंग-मगध का दूसरा प्रसिद्ध नगर था पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुत्र (पटना)। चम्पा में कूणिक का देहान्त हो जाने के पश्चात् उसके पुत्र उदायी को चम्पा में रहना अच्छा न लगा और उसने पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी वनाया।[8] पाटलिपुत्र जैन-श्रमणों का केन्द्र था, जहाँ जैनसूत्रों का उद्धार करने के लिए जैन-साधुओं का प्रथम सम्मेलन हुआ था।[9]

३ वंग (ताम्रलिप्ति)

वंग (पूर्वीय वंगाल) की गणना सोलह जनपदों में की गई है। वंग एक वड़ा व्यापारिक केन्द्र समझा जाता था।

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ५२ पृ० २१७; आवश्यक चूर्णि पृ० १९१

[2] औपपातिकसूत्र १

[3] नायाधम्मकहा ८, ९, १५; उत्तराध्ययनसूत्र २१.२

[4] कल्पसूत्र ५.१२३

[5] वृहत्कल्पभाष्य १.१२२७

[6] आवश्यकचूर्णि, २, पृ० १७१

[7] आवश्यक निर्युक्ति ५२० इत्यादि; कल्पसूत्र ५.१३५

[8] आवश्यक चूर्णि, २, पृ० १७९

[9] वही, पृ० १८७

ताम्रलिप्ति (तामलुक) एक व्यापारिक केन्द्र था और यह खासकर कपड़े के लिए प्रसिद्ध था।[1] यहां जल-मार्ग और स्थलमार्ग दोनों प्रकार से माल आता-जाता था।[2] यहां मच्छरों का बहुत प्रकोप था।[3] तामलित्तिया नामक जैन-श्रमणों की एक प्रसिद्ध शाखा थी जिससे मालूम होता है कि ताम्रलिप्ति जैन-श्रमणों का केन्द्र रहा होगा।[4]

इसके अतिरिक्त, बंगाल में पुंड्रवर्धन (राजशाही जिला) जैन-श्रमणों का केन्द्रस्थल रहा है। पुंडवद्धणिया नामक जैन-श्रमणों की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है।[5] चीनी यात्री हुइनत्सांग ने पुंड्रवर्धन में बहुत से दिगम्बर निर्ग्रन्थों के पाये जाने का उल्लेख किया है।[6] बंगाल का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कोमला (कोमिला) था। खोमलिज्जिया नाम की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है।[7] इससे मालूम होता है कि यह स्थान प्राचीन समय में काफ़ी महत्त्व रखता था।

४ कलिंग (कंचनपुर)

कलिंग (उड़ीसा) के राजा खारवेल ने अंग-मगध से जिन-प्रतिमा वापिस लाकर यहां स्थापित की थी। कलिंग की राजधानी कंचनपुर (भुवनेश्वर) थी। यह नगर एक व्यापारिक केन्द्र था और यहां के व्यापारी लंका तक जाते थे।[8] कंचनपुर जैन-साधुओं का विहार-स्थल था।[9]

इसके अतिरिक्त कलिंग में पुरी (जगन्नाथपुरी) जैनों का खास केन्द्र था। यहां जीवन्तस्वामी प्रतिमा होने का उल्लेख जैन-ग्रन्थों में आता है।[10] श्रावकों के यहां अनेक घर थे। वज्रस्वामी ने यहां उत्तरापथ से आकर माहेसरी (माहिष्मती) के लिए विहार किया था। उस समय यहां का राजा बौद्धधर्मानुयायी था। बौद्धों का यहां ज़ोर था।[11] पुरी व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था, और यहां जलमार्ग से माल आता-जाता था।[12] कलिंग का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान तोसलि था। यहां महावीर ने विहार किया था। उन्हें यहां सात बार पकड़ा गया, परन्तु यहां के तोसलिक क्षत्रिय ने उन्हें छुड़ा दिया।[13] तोसलि में एक सुन्दर जिनप्रतिमा थी, जिसकी देखरेख तोसलिक नामक राजा किया करता था।[14] यहां के लोग फल-फूल के बहुत शौक़ीन थे।[15] यहां वर्षा के अभाव में नदी के पानी से खेती

---

[1] व्यवहारभाष्य ७.६

[2] बृहत्कल्पभाष्य १.१०९०

[3] सूत्रकृतांग टीका ३.१

[4] कल्पसूत्र ८, पृ० २२७ अ।

[5] वही।

[6] युवान च्वांग'स ट्रैवेल्स इन इन्डिया, वाटर्स, जिल्द २, पृ० १८४

[7] कल्पसूत्र ८, पृ० २३१

[8] वसुदेवहिंडी, पृ० १११.

[9] ओघनिर्युक्तिभाष्य ३०

[10] ओघनिर्युक्ति टीका. ११९

[11] आवश्यक निर्युक्ति ७७२; आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९०

[12] निशीथ चूर्णि ५, पृ० ३४ (पुण्यविजय जी की प्रति)।

[13] आवश्यक निर्युक्ति ५१०

[14] व्यवहारभाष्य ६.११५ इत्यादि

[15] बृहत्कल्पभाष्य १.१२३९, विशेष चूर्णि।

होती थी। कभी-कभी यहाँ अत्यधिक वर्षा के कारण फ़सल नष्ट हो जाती थी और जैन-साधुओं को ताड़ के फलों पर रहकर गुज़र करनी पड़ती थी।[1] तोसलि में बड़ी-बड़ी भयानक भैंसें होती थीं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने तोसलि आचार्य को मार डाला था।[2] डॉक्टर सिल्वेन लेवी कटक में धौलि नामक ग्राम को प्राचीन तोसलि मानते हैं।[3]

५ काशी (वाराणसी)

काशी व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। काशी और कोशल के अठारह गणराजा वैशाली के राजा चेटक की ओर से कूणिक के विरुद्ध लड़े थे।[4] काशी के राजा शंख का उल्लेख जैन-ग्रन्थों में आता है, जो महावीर का समकालीन था और जिसने महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण की थी। जैनदीक्षा ग्रहण करने वाले अन्य राजाओं में वीरांगक, वीरयश, संजय, एणेयक, श्वेत (सेय), शिव और उदायन[5] ये राजा मुख्यरूप से गिनाये गये हैं। दुर्भाग्यवश इन राजाओं के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती।

वाराणसी (बनारस) पार्श्वनाथ का जन्मस्थान था। महावीर और बुद्ध ने यहाँ अनेक बार विहार किया था। हेमचन्द्र के समय काशी और वाराणसी एक समझे जाते थे।

६ कोशल (साकेत)

कोशल अथवा कोशलपुर (अवध) जैन लोगों का एक प्राचीन स्थान था। जैसे वैशाली में जन्म होने के कारण महावीर को वैशालिक कहा जाता है, वैसे ही ऋषभनाथ को कौशलिक (कोसलिय) कहा जाता है। ऋषभनाथ ने कोशल में विहार किया था और इस देश की गणना भारत के मध्यदेशों में की जाती थी।[6] कोशल का प्राचीन नाम विनीता था। कहते हैं विनीता के निवासी नाना प्रकार की कलाओं में कुशल थे, इसलिए लोग विनीता को कुशला नाम से कहने लगे।[7] दशपुर तथा उज्जयिनी के समान कोशल देश जीवन्तस्वामीप्रतिमा के लिए प्रसिद्ध था।[8] कोशल के लोग सोवीर (एक प्रकार की मदिरा) और कूर (चावल) के बहुत शौक़ीन होते थे।[9] बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार श्रावस्ति और साकेत ये कोशल की दो राजधानियाँ थीं तथा सरयू नदी बीच में आ जाने के कारण यह देश उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल में विभक्त था।

साकेत में पार्श्वनाथ और महावीर ने अनेक बार विहार किया था। कहा जाता है कि यहाँ कोटिवर्ष के राजा चिलात को महावीर ने दीक्षा दी थी।[10] साकेत की पहचान उन्नाव ज़िले में साई नदी पर सुजानकोट के ध्वंसावशेषों से की जाती है।

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य १.१०६०

[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० २४७

[3] प्री आर्यन एंड द्रविडियन इन इन्डिया, बागची, पृ० ६३-७२

[4] निरयावलि १

[5] स्थानांग ८.६२१

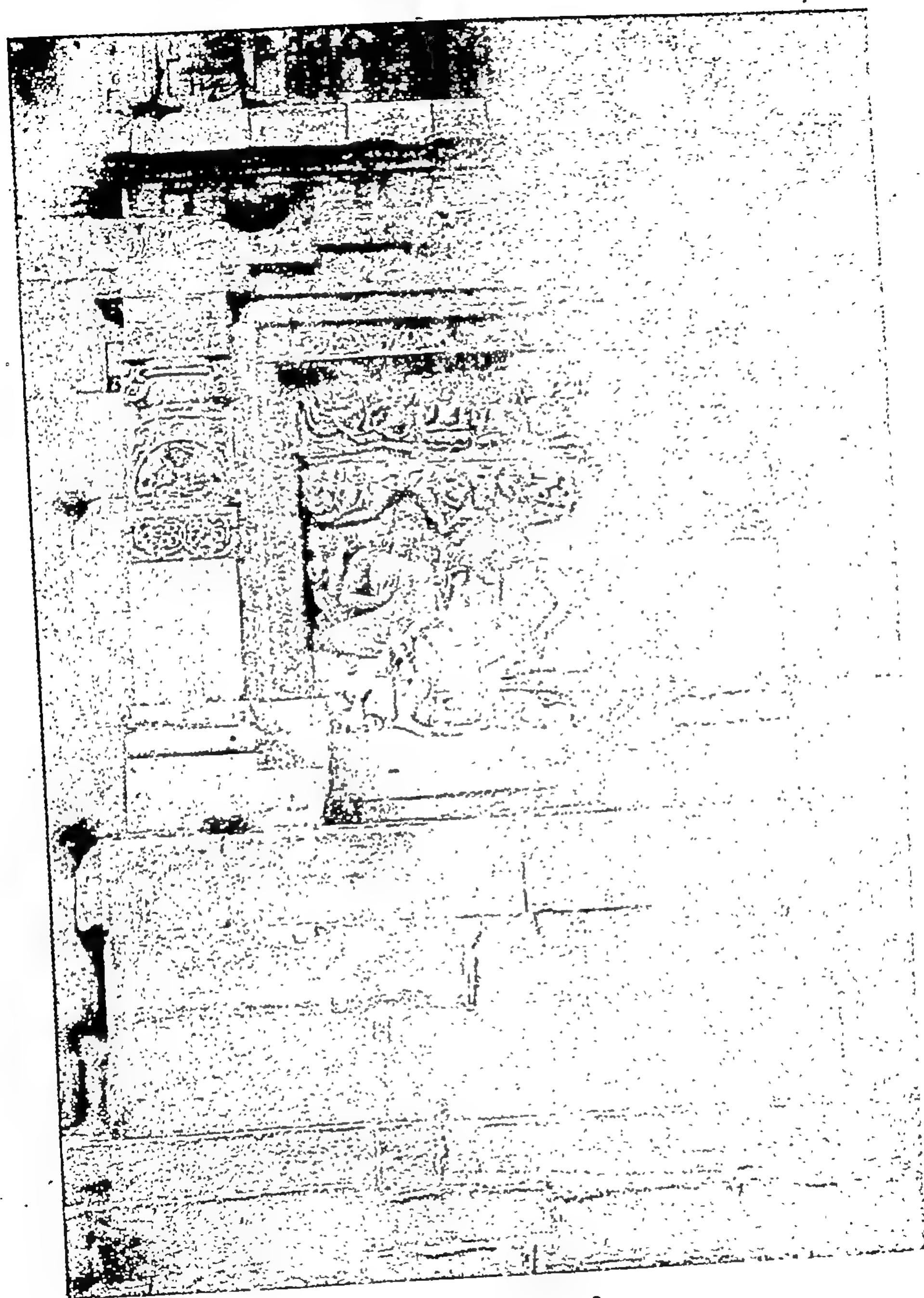
[6] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.७०

[7] आवश्यक टीका (मलयगिरि), पृ० २१४

[8] बृहत्कल्पभाष्य ५.५८२४

[9] पिंडनियुक्ति ६१९

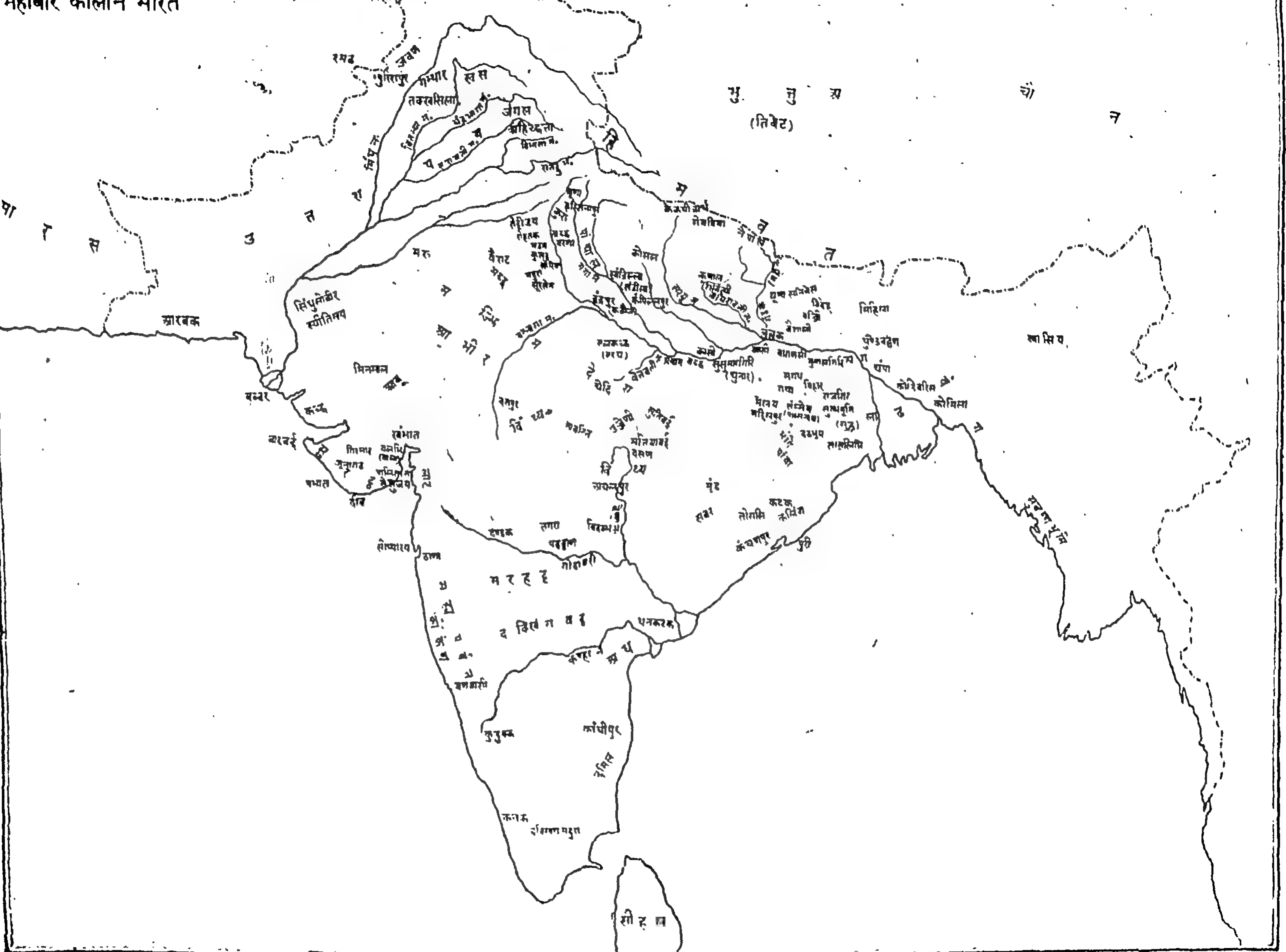
[10] आवश्यक निर्युक्ति १३०५



नर-नारायण तपश्चर्या

विष्णुमंदिर का पूर्व की ओर का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से



जैन ग्रंथों में भौगोलिक सामग्री और भारतवर्ष में जैन धर्म का प्रसार

७ कुरु (गजपुर)

कुरु (थानेश्वर) की राजधानी का नाम गजपुर अथवा हस्तिनापुर था। कहते हैं कि यहाँ के शिव राजा को महावीर ने दीक्षा दी थी।[1] गजपुर जैन लोगों का एक प्राचीन तीर्थ माना जाता है।

८ कुशार्त्त (शौरिपुर)

आनट्ठ (आनर्त), कुसट्ठ (कुशावर्त), सुरट्ठ (सौराष्ट्र) तथा सुक्करट्ठ (शुष्कराष्ट्र) ये चार प्रदेश पश्चिमी समुद्र के किनारे अवस्थित थे और वारवई (द्वारका) इनका सर्वश्रेष्ठ नगर था।[2] इससे मालूम होता है कि यह प्रदेश पश्चिम में सौराष्ट्र के आसपास कहीं होना चाहिए। परन्तु सोरिय अथवा शौरिपुर जमुना नदी के किनारे अवस्थित था तथा शौरि राजा ने अपना मथुरा का राज्य अपने लघु भ्राता सुवीर को देकर स्वयं कुशावर्त देश में जाकर शौरिपुर नगर बसाया[3] और जरासन्ध के भय से शौरिपुर और मथुरा के यादव लोग अपने-अपने नगर छोड़कर पश्चिम दिशा में द्वारका में जाकर रहे[4]—इन उल्लेखों से मालूम होता है कि कुशावर्त शूरसेन के आसपास का प्रदेश होना चाहिए। सम्भव है दो कुशावर्त रहे हों—एक पश्चिम में और दूसरा उत्तर में। जैन-ग्रन्थों के अनुसार शौरिपुर कृष्ण और नेमिनाथ की जन्मभूमि है।[5] प्राचीन तीर्थमाला के अनुसार आगरा जिले में शकुराबाद स्टेशन के पास बटेसर नामक गाँव प्राचीन सौर्यपुर माना जाता है।[6]

९ पांचाल (कांपिल्यपुर)

पांचाल (रुहेलखंड) की राजधानी कांपिल्यपुर (कंपिल) थी, जो गंगा के किनारे अवस्थित थी। प्राचीन काल में पांचाल उत्तर और दक्षिण भागों में विभक्त था। महाभारत के अनुसार उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी और दक्षिण की कांपिल्य।

१० जांगल (अहिच्छत्रा)

जांगल या कुरुजांगल की पहचान गंगा और उत्तर पांचाल के बीच के प्रदेश से की जाती है। इसकी राजधानी अहिच्छत्रा (रामनगर) थी, जो चम्पा के उत्तर-पूर्व (?) (उत्तर-पश्चिम) में अवस्थित थी। चम्पा और अहिच्छत्रा में परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध था।[7] अहिच्छत्रा एक पवित्र स्थान था, जिसकी गणना अष्टापद, उज्जयन्त (रेवतक), गजाग्रपुर, धर्मचक्र (तक्षशिला) तथा रथावर्त पर्वत के साथ की गई है।[8] विविधतीर्थकल्प के अनुसार अहिच्छत्रा का दूसरा नाम शंखवती था।[9] यह नगरी प्रत्यग्ररथ[10] अथवा शिवपुर[11] नाम से भी प्रसिद्ध थी।

---

[1] भगवती ११.६
[2] वसुदेवहिंडी, पृ० ७७
[3] कल्पसूत्र टीका ६, पृ० १७१
[4] वही पृ० १७६
[5] उत्तराध्ययन २२
[6] भाग १, भूमिका, पृ० ३८
[7] नायाधम्मकहा १५
[8] आचारांग निर्युक्ति ३३५
[9] वही, पृ० १४
[10] अभिधानचिन्तामणि ४.२६
[11] कल्पसूत्र टीका ५.१२३

११ सुराष्ट्र (द्वारका)

सौराष्ट्र (काठियावाड़) की गणना महाराष्ट्र, आन्ध्र और कुडुक्क (कुर्ग) देशों के साथ की गई है, जिन्हें सम्प्रति राजा ने जैन-श्रमणों के विहार योग्य बनाया।[१] कहते हैं कि कालकाचार्य यहाँ पारसकूल (पर्शिया) से छियानवें शाहों को लेकर आये और इस कारण यह देश छियानवें मंडलों में विभाजित किया गया।[२] सुराष्ट्र व्यापार का एक बड़ा केन्द्रस्थल था और यहाँ दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते थे।[३]

द्वारका एक अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध नगर गिना जाता था। इस नगर के उत्तर-पश्चिम में प्रसिद्ध रेवतक (गिरनार) पर्वत अवस्थित था, जो दशार्ह राजाओं को अत्यन्त प्रिय था। यहाँ अरिष्टनेमि ने मुक्ति पाई थी।[४] कहते हैं कि यादवों के अत्यधिक मदिरापान से द्वारका का नाश हुआ।[५] द्वारका व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था और व्यापारी लोग यहाँ नेपाल पट्टण से नाव द्वारा आते-जाते थे।[६] कुछ विद्वान् आधुनिक द्वारका को द्वारका न मानकर जूनागढ़ को प्राचीन द्वारका बताते हैं।[७]

१२ विदेह (मिथिला)

विदेह (तिरहुत) में महावीर का जन्म हुआ था। विदेह-निवासी होने के कारण महावीर की माता त्रिशला विदेहदत्ता (विदेहदिन्ना) कही जाती थीं[८] तथा रानी चेलना के पुत्र कूणिक को विदेहपुत्र कहा जाता था।[९] विदेह व्यापार का केन्द्र था।

मिथिला (जनकपुर) में महावीर द्वारा छः चातुर्मास किये जाने का उल्लेख आता है।[१०] मैथिलिया नाम की एक जैन-श्रमणों की प्राचीन शाखा थी।[११] यहाँ आर्य महागिरि का विहार हुआ था।[१२] जिनप्रभ सूरि के समय मिथिला नगरी 'जगइ' के नाम से प्रसिद्ध थी।[१३] बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार वैशाली (वसाढ़) विदेह की राजधानी थी और यह मध्यदेश का एक प्रधान नगर माना जाता था। वैशाली लिच्छवी लोगों का केन्द्र था। जैन-ग्रन्थों में वैशाली का राजा चेटक एक बड़ा प्रभावशाली राजा हो गया है। वह गणराजाओं का मुखिया था और उसने अपनी सात कन्याओं को विभिन्न राज-घरानों में देकर उनसे सम्बन्ध स्थापित किया था। चेटक की कन्या प्रभावती वीतिभय के राजा उदायन के साथ, पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन के साथ, मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ,

---

[१] बृहत्कल्पभाष्य १.३२८९

[२] वही १.६४३

[३] दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ४०

[४] नायाधम्मकहा ५

[५] अन्तगडदसाओ ५

[६] निशीथ चूर्णि पीठिका (एनसाइक्लोस्टाइल की हुई प्रति), पृ० ६१

[७] इन्डियन हिस्टोरिकल क्वारटर्ली, १९३४, पृ० ५४१-५०

[८] कल्पसूत्र ५.१०९

[९] भगवतीसूत्र ७.९

[१०] कल्पसूत्र ५.१२३

[११] वही, पृ० २३१

[१२] आवश्यक निर्युक्ति ७८२

[१३] विविधतीर्थ, पृ० ३२

शिवा उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के साथ, ज्येष्ठा महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्धन के साथ और चेल्लना राजगृह के राजा श्रेणिक के साथ व्याही गई थी। चेटक की वहिन त्रिशला महावीर की माँ थी।[1] महावीर के वैशाली में वारह चातुर्मास किये जाने का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है।[2] डॉक्टर होर्नोल के अनुसार वाणियगाम वैशाली का दूसरा नाम है।[3]

१३ वत्स (कौशांवी)

वत्स को वौद्ध ग्रन्थों में वंश के नाम से कहा गया है। प्रयाग के आसपास की भूमि को वत्स देश माना जाता है।

कौशाम्वी (कोसम) जमना के किनारे अवस्थित था। यहाँ महावीर, आर्य सुहस्तिन् और आर्य महागिरि[4] ने विहार किया था। कोसंविया नामक एक जैन-श्रमणों की प्राचीन शाखा थी।[5] राजा शतानीक कौशाम्वी में राज्य करता था। एक वार उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने कौशाम्वी पर चढ़ाई की। राजा शतानीक अतिसार से मर गया और रानी मृगावती ने प्रद्योत की सलाह से अपने पुत्र उदयन को राजगद्दी पर वैठाकर स्वयं महावीर के पास जाकर जैनदीक्षा धारण की।[6]

१४ शांडिल्य (नन्दिपुर)

संडिब्भ अथवा सांडिल्य की राजधानी नन्दिपुर थी। नन्दिपुर का उल्लेख विपाकसूत्र में मिलता है। कथाकोश के अनुसार सन्दर्भ देश में अवस्थित नन्दिपुर के राजा का नाम पद्मानन वताया गया है।[7] अवध में हरदोई जिले में संडोला नामक एक स्थान है, यह प्राचीन शांडिल्य हो सकता है।

१५ मलय (भद्दिलपुर)

मलय मगध के उत्तर में अवस्थित था और सम्भवतः यहाँ कपड़े वहुत अच्छे वनते थे।[8] मलय देश की पहचान पटना के दक्षिण और गया के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश से की जाती है।[9] गया जिले में अवस्थित हरवारिया और दन्तारा गाँवों के पास के प्रदेश को भद्दिलपुर माना जाता है।[10]

१६ मत्स्य (वैराट)

मत्स्य (अलवर) की राजधानी वैराट थी। देहली से दक्षिण-पश्चिम की ओर १०५ मील तथा जयपुर से ४१ मील उत्तर में अवस्थित प्रदेश को वैराट माना जाता है।

---

[1] आवश्यक चूर्णि, २, पृ० १६४ इत्यादि

[2] वही पृ० ५.१२३

[3] उवासकदसा ओ, पृ० ३ नोट

[4] निशीथ चूर्णि, ५, पृ० ४३७

[5] कल्पसूत्र ८, पृ० २२६ अ।

[6] आवश्यक टीका (मलय०), पृ० १०२

[7] टॉनी (Tawney), पृ० १२४

[8] निशीथ चूर्णि ७, पृ० ४६७; अनुयोगद्वारसूत्र ३७

[9] श्रमण भगवान् महावीर, कल्याणविजय, पृ० ३८१

[10] वही, पृ० ३८०

१७ वरणा (अच्छा)

वरणा बुलन्दशहर का दूसरा नाम था। वारण जैन-श्रमणों का एक प्रधान गण का नाम था[१]। इससे पता चलता है कि यह देश कभी जैन-साधुओं की प्रवृत्ति का बड़ा भारी केन्द्र रहा होगा। अच्छ का नाम जैन-ग्रन्थों में गिनाये गये सोलह जनपदों में आता है। चीनी साधु फा-च्युआंग् नगरहार से वैदिश जाते समय वरुण होकर गुज़रा था।[२]

१८ दशार्ण (मृत्तिकावती)

दशार्ण (विदिशा=भेलसा) के राजा दशार्णभद्र को भगवान् महावीर ने दशार्णकूट अथवा गजाग्रपदगिरि पर्वत पर दीक्षा दी थी।[३] मृत्तिकावती दशार्ण की राजधानी थी। मालवा में बनास नदी के समीप अवस्थित भोजों के देश को मृत्तिकावती माना जाता है। दशार्ण मे दशार्णपुर, जिसका दूसरा नाम एडकाक्षपुर (एरछ) भी था,[४] एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। दशार्णपुर व्यापार का बड़ा केन्द्र था और यहाँ स्थलमार्ग से माल आया-जाया करता था।[५] दशार्णपुर वत्थगा (वेत्रवती=बेतवा) नदी के किनारे अवस्थित था।[६] आर्य महागिरि ने एडकाक्ष में विहार किया था। वे यहाँ वैदिश से पधारे और गजाग्रपदगिरि पर्वत की ओर विहार कर गये (आवश्यक निर्युक्ति १२७८)।

विदिशा जैन-श्रमणों का एक प्रमुख केन्द्रस्थल था। यहाँ कुंजरावर्त और रथावर्त इन दो पर्वतों के होने का उल्लेख जैन-ग्रन्थों में आता है।[७] ये दोनों पर्वत एक दूसरे के पास थे। कहा जाता है कि वज्रस्वामी पाँच सौ श्रमणों को लेकर रथावर्त पर्वत पर आये और यहाँ एक क्षुल्लक को छोड़कर स्वयं तपश्चर्या करने के लिए कुंजरावर्त पर्वत पर विहार कर गये।[८] मालवा में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान दशपुर (मन्दसौर) था। आर्यरक्षित का यह जन्मस्थान था।[९] यह नगर जैन-श्रमणों की प्रवृत्ति का केन्द्रस्थल रहा है। मालवा (अवन्ति) का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उज्जयिनी था, जो यहाँ का प्रमुख नगर था। उज्जयिनी में जीवन्तस्वामीप्रतिमा के दर्शन के लिए राजा सम्प्रति के समकालीन आर्य सुहस्ति पधारे थे।[१०] आचार्य चण्डरुद्र,[११] भद्रकगुप्त, आर्यरक्षित[१२] और आर्य आषाढ़[१३]

---

[१] कल्पसूत्र ८, पृ० २३० अ। कल्पसूत्र में वारण के स्थान पर चारण पाठ है, परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। देखिए, वियना ओरिएंटियल जरनल, भाग ३, १८८९, पृ० २३४, डॉ० बुहलर का लेख

[२] ज्याग्रफ़िकल कन्टेंन्ट्स ऑव दी महामायूरी, डॉ० सिल्वेन लेवी, अनुवादक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, जरनल ऑव दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १५, भाग २

[३] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४७६

[४] आवश्यक चूर्णि, पृ० १५६

[५] निशीथ चूर्णि ५, पृ० ३४ (पुण्यविजय जी की हस्तलिखित प्रति)

[६] आचारांग चूर्णि, पृ० २२६

[७] वीर निर्वाण और कालगणना, मुनिकल्याणविजय, पृ० ९०

[८] मरणसमाधि ४७०, ४७२, पृ० १२८; आवश्यक टीका (मलय), पृ० ३९५ अ

[९] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९४, ४०२

[१०] बृहत्कल्पभाष्य १.३२७७

[११] वही, ६.६१०३ इत्यादि

[१२] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९४, ४०३

[१३] दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ९६

आदि जैन-श्रमणों ने इस नगर में विहार किया था। उज्जयनी व्यापार का बड़ा केन्द्र था और बड़े-बड़े व्यापारी लोग यहाँ वाणिज्य के लिए आते थे।[1] आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार यह नगर विशाला, अवन्ति और पुष्प-करण्डिनी नाम से भी प्रख्यात था।[2] प्रद्योत और सम्प्रति उज्जयिनी के बड़े प्रभावशाली राजा हो गये हैं।

१९ चेदि (शुक्तिमती)

चेदि (बुन्देलखंड) की राजधानी शुक्तिमती थी। मध्यप्रान्त में अवस्थित बांदा ज़िले के पास का प्रदेश शुक्ति-मती माना जाता है। शुक्तिमती का उल्लेख महाभारत में आता है।

२० सिन्धुसौवीर (वीतिभय)

अभयदेव के अनुसार सौवीर देश (सिन्ध) सिन्धु नदी के पास होने के कारण सिन्धुसौवीर कहा जाने लगा।[1] सिन्धु देश में जैन-श्रमणों को विहार करना निषिद्ध कहा गया है। इस देश में बहुत बाढ़ आने के कारण खतरा रहता था तथा यह चरिका, परिव्राजिका, कार्पाटिका, तच्चन्निका (बौद्धसाध्वी) तथा भागवी आदि अनेक पाखंडी श्रमणियों का निवास-स्थान था। अतएव यह बताया गया है कि यदि दुष्काल, विरुद्ध-राज्यातिक्रम या अन्य किसी अपरिहार्य आपत्ति के कारण जैन-साधु को वहाँ जाना ही पड़े तो यथाशीघ्र लौट आना चाहिए।[2] इसके अतिरिक्त इस देश में खान-पान की शुद्धता न थी। यहाँ मांस-भक्षण का रिवाज था और उसे निन्दनीय न समझा जाता था। यहाँ के लोग शराब पीते थे और शराब पीने के बरतन से ही पानी पी लिया करते थे।[3] इस देश में फटे-पुराने वस्त्र पहन कर भिक्षा पाना कठिन था। उसके लिए साफ़ वस्त्रों की आवश्यकता होती थी।[4] जैनसूत्रों से ज्ञात होता है कि राजा सम्प्रति ने सर्वप्रथम इस देश को जैन-श्रमणों के विहार-योग्य बनाया। इसका मतलब यह है कि इसके पूर्व यह देश अनार्य माना जाता था। हमारी समझ से भगवान् महावीर का मगध देश से सिन्धुसौवीर देश में जाकर राजा उदायन को प्रतिबोध देने का जो उल्लेख है, उसका उक्त उल्लेख के साथ मेल न खाने से वह संगत नहीं मालूम होता। जैसा हम पहले कह आये हैं, महावीर ने साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक और उत्तर में कुणाला तक के प्रदेश को ही आर्यक्षेत्र माना है, फिर उनका सिन्धु-सौवीर जैसे अत्यन्त अनार्य और सुदूरवर्ती प्रदेश में जाना कैसे सम्भावित है? यद्यपि इन देशों के बाहर महावीर ने लाढ जैसे अनार्य देश में विहार किया है, परन्तु उसका विस्तृत वर्णन जैनसूत्रों में मिलता है और वह प्रदेश विहार के पास बंगाल में ही था। बौद्धों के दिव्यावदान के अन्तर्गत रुद्रायण-अवदान में राजा रुद्रायण की जो कथा आती है, वह बहुत कुछ जैन-ग्रन्थों की कथा से मिलती-जुलती है। सम्भव है, जैन-ग्रन्थकारों ने उस कथा को अपनाकर जहाँ उदायन की दीक्षा की बात आई वहाँ उसे महावीर के हाथ से दीक्षा दिलवाकर कथा के अवशिष्ट भाग को पूरा किया हो। इसके अतिरिक्त, कल्पसूत्र में महावीर ने जो बयालीस चातुर्मास व्यतीत किये, उनमें (छद्मस्थ अवस्था में) पहला चातुर्मास अस्थिकग्राम में, तीन चम्पा और पृष्ठ-चम्पा में, आठ वैशाली और वाणियगाम में, (उपदेशक अवस्था में) चार वैशाली और वाणियगाम में, चौदह राजगृह और नालन्दा में, छः

---

[1] आवश्यक चूर्णि २, पृ० ५४; आवश्यक निर्युक्ति १२७६

[2] अभिधानचिन्तामणि ४.४२

[1] भगवती टीका १३.६

[2] बृहत्कल्पभाष्य १.२८८१; ४.५४४१ इत्यादि

[3] वही १.१२३६

[4] निशीथ चूर्णि १५, पृ० १२१ (पुण्यविजय जी की प्रति)

मिथिला में, दो भद्दिय में, एक आलभिया में, एक पणियभूमि में, एक श्रावस्ती में और एक पावा में व्यतीत किये हैं।[1] इस उल्लेख से स्पष्ट मालूम होता है कि महावीर का विहारक्षेत्र विहार, उत्तर-पश्चिमी बंगाल और पूर्वीय युक्तप्रान्त का कुछ भाग ही रहा है। ऐसी हालत में उनका सिन्धुसौवीर देश में जाकर उदायन को प्रतिवोध देना नहीं जँचता। यदि महावीर मगध से सिन्धुसौवीर गये और वहाँ से वापिस मगध लौटकर आये तो मगध और सिन्धुसौवीर के बीच में कहीं-न-कहीं उनके चतुर्मास करने का या विहार करने का तो उल्लेख अवश्य आता, परन्तु इनकी विहारस्थली में सिन्धुसौवीर के आसपास या मगध और सिन्धुसौवीर के मध्य के प्रदेशों का कहीं उल्लेख नहीं है। मालूम होता है कि जैसे बौद्ध-ग्रन्थकारों ने आगे चलकर बुद्ध की विहारस्थली में पंजाव आदि प्रदेश समाविष्ट कर लिये, वही बात समय बीतने पर जैन-लेखकों ने महावीर के विषय में की। वस्तुतः हमारी समझ से ये दोनों महापुरुष विहार, बंगाल और संयुक्तप्रान्त के वाहर नहीं गये।

वीतिभय, जिसका दूसरा नाम कुंभारपक्खेव (कुंभारप्रक्षेप) भी है, सिन्धुसौवीर की राजधानी था। कहते हैं कि एक वार जैनदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उदायन राजर्षि किसी कुम्हार के घर ठहरे हुए थे। उस समय उन्हें उनके भानजे ने विष दे दिया और उनका प्राणान्त हो गया। तत्पश्चात् वहाँ देवों ने धूल की घोर वृष्टि की, जिसके फलस्वरूप कुम्हार के घर को छोड़कर समस्त नगर नष्ट हो गया। अतएव इस नगर का दूसरा नाम कुंभारपक्खेव पड़ा।[2] कुंभारपक्खेव सिणवल्लि में अवस्थित था। सिणवल्लि एक वड़ा विकट रेगिस्तान था, जहाँ व्यापारी अक्सर मार्ग-भ्रष्ट हो जाते थे और क्षुवा-तृषा से पीड़ित हो अनेकों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता था।[3] पंजाव में मुज़फ़्फ़रगढ़ ज़िले में सनावन या सिनावत नामक एक स्थान है, जहाँ की ज़मीन ऊसर है। सम्भवतः यही सिणवल्लि हो अथवा सिन्ध या पंजाव का कोई अन्य रेतीला स्थान प्राचीन सिणवल्लि होना चाहिए। अभयदेव के अनुसार कुछ लोग विदर्भ देश को वीतिभय कहते हैं,[4] परन्तु यह ठीक नहीं।

२१ शूरसेन (मथुरा)

मथुरा के आसपास का प्रदेश शूरसेन कहा जाता था। मथुरा एक अत्यन्त प्राचीन नगरी मानी जाती है, जहाँ जैन-श्रमणों का वहुत प्रभाव था।[5] उत्तरापथ में मथुरा एक महत्त्वपूर्ण नगर था, जिसके अन्तर्गत छियानवें ग्रामों में लोग अपने घरों में और चौरायों (चच्चर=चत्वर) पर जिनमूर्त्ति की स्थापना करते थे।[6] मथुरा में एक देव-निर्मित स्तूप था, जिसके लिए जैन और वौद्धों में झगड़ा हुआ था। कहा जाता है कि अन्त में जैनों की जीत हुई और स्तूप पर उनका अधिकार हो गया।[7] मथुरा आर्यमंगु[8] और आर्यरक्षित[9] आदि अनेक जैन-श्रमणों का विहार-

---

[1] कल्पसूत्र ५.१२३

[2] आवश्यक चूर्णि २, पृ० ३७

[3] वही, पृ० ३४; ५५३

[4] भगवती टीका १३.६

[5] उत्तरा० चूर्णि, पृ० ८२

[6] बृहत्कल्पभाष्य १.१७७४ इत्यादि

[7] व्यवहारभाष्य ५.२७ इत्यादि। मथुरा के कंकाली टीले की जो खुदाई हुई है, उसके शिलालेखों में गण, कुल, और शाखाओं का उल्लेख है। वह उल्लेख भद्रबाहु के कल्पसूत्र में ज्यों-का-त्यों मिल जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जैनों का काफ़ी जोर था (देखिए आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग ३, प्लेट्स १३-१५; वुहलर, दी इन्डियन सेक्ट ऑव दी जैन्स पृ० ४२-६०; वियना ओरिन्टियल जरनल, जिल्द ३, पृ० २३३-२४०; जिल्द ४, पृ० ३१३-३३१)

[8] आवश्यक चूर्णि २, पृ० ८०

[9] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४११

स्थल था। यहाँ अनेक पाखंडी साधु रहते थे। अतएव मथुरा को पाखंडिगर्भ कहा जाता था।[1] जैनसूत्रों का संस्करण करने के लिए मथुरा में अनेक जैन-श्रमणों का संघ उपस्थित हुआ था। यह सम्मेलन माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध है।[2] मथुरा भंडीरयक्ष की यात्रा के लिए प्रसिद्ध था।[3] यह नगर व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था और विशेषकर वस्त्र के लिए प्रसिद्ध था।[4] यहाँ के लोग व्यापार पर ही जीवित रहते थे, खेती-बाड़ी पर नहीं।[5] यहाँ स्थलमार्ग से माल आता-जाता था।[6] मथुरा के दक्षिण-पश्चिम की ओर महोली नामक ग्राम को प्राचीन मथुरा बतलाया जाता है।

२२ भंग (पापा)

सम्मेदशिखर के आसपास का प्रदेश, जिसमें हजारीबाग और मानभूम जिले गर्भित हैं, प्राचीन समय में भंगदेश कहा जाता था।[7] इसकी राजधानी पापा थी, जो कुशीनारा के पास अवस्थित मल्लों की पापा नगरी से तथा विहार के पास की महावीर की मोक्षभूमि मज्झिमपावा अथवा पावापुरी से भिन्न है।

२३ वट्टा (माषपुरी)

माषपुरी जैनश्रमणों की एक शाखा थी।[8] इस प्रदेश का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

२४ कुणाल (श्रावस्ती)

जैन-ग्रन्थों के अनुसार कुणाल नगरी अचिरावती नदी में बाढ़ आ जाने के कारण नष्ट हो गई थी,[9] जिसकी पुष्टि बौद्ध-ग्रन्थों से होती है।[10] कहते हैं कि इस घटना के तेरह वर्ष पश्चात् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ के अनुयायी केशिकुमार तथा महावीर के अनुयायी गौतम का सम्मेलन हुआ था, जिसमें पार्श्व और महावीर के सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर चर्चा होने के पश्चात् दोनों धर्मप्रवर्त्तकों के सिद्धान्तों में समन्वय किया गया था।[11] महावीर ने अनेक बार श्रावस्ती में विहार किया। बुद्ध ने भी यहाँ बहुत-सा काल व्यतीत किया था। अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे सहेट-महेट नामक स्थान को प्राचीन श्रावस्ती माना जाता है, जिसका उल्लेख जिनप्रभ सूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प में 'महेठि' नाम से किया है।[12]

२५ लाढ़ (कोडिवरिस)

लाढ अथवा राढ देश दो भागों में विभक्त था—एक वज्जभूमि (वीरभूमि), दूसरा सुब्भभूमि (सिंहभूम)। महावीर ने इन दोनों प्रदेशों में विहार किया, जहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े थे। लाढ में बहुत अल्प गाँव थे,

---

[1] आचारांग चूर्णि, पृ० १६३

[2] नन्दि चूर्णि, पृ० ८

[3] आवश्यक चूर्णि, पृ० २८०

[4] आवश्यक टीका (हरिभद्र), पृ० ३०७

[5] बृहत्कल्पभाष्य १.१२३९

[6] आचारांग चूर्णि, पृ० २८१

[7] श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३७९

[8] कल्पसूत्र ८, पृ० २३०

[9] आवश्यक चूर्णि, पृ० ६०१

[10] देखिए श्रावस्ती इन एनशिएन्ट लिटरेचर, विमलाचरण लॉ, पृ० ३१

[11] उत्तराध्ययनसूत्र २३.२ इत्यादि

[12] पृ० ७०

अतएव यहाँ महावीर को वसति मिलना भी मुश्किल होता था।[१] वज्रभूमि के निवासी रूक्ष भोजन करने के कारण स्वभावतः क्रोधी होते थे और वे महावीर को कुत्तों से कटवाते थे।[२] आधुनिक हुगली, हावड़ा, बांकुरा, वर्दवान और मिदनापुर के पूर्वीय भाग को प्राचीन लाढ देश बताया जाता है।

कोटिवर्ष जैन-श्रमणों की एक मुख्य शाखा बताई गई है।[३] इससे मालूम होता है कि बाद में चलकर यह प्रदेश जैन-श्रमणों का केन्द्र बन गया था। यहाँ के राजा चिलात के महावीर द्वारा जैनदीक्षा लिये जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कुछ विद्वान् दीनाजपुर ज़िले में बरीगढ़ को प्राचीन कोटिवर्ष मानते हैं।[४]

२५½ केकयी अर्ध (श्वेतिका)

केकयी देश के आधे भाग को आर्यक्षेत्रों में गिना गया है। इससे मालूम होता है कि समस्त केकयी में जैनधर्म का प्रचार नहीं हुआ था। यह देश श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व में नेपाल की तराई में अवस्थित था तथा इसे उत्तर के केकयी देश से भिन्न समझना चाहिए।

श्वेतिका से गंगा नदी पार कर महावीर के सुरभिपुर पहुँचने का उल्लेख जैन-ग्रन्थों में आता है।[५] बौद्धग्रन्थों में इसे सेतव्या नाम से कहा गया है। यह स्थान कोशल में था।[६]

जैन-श्रमणों का प्रवेश नेपाल में भी हुआ था। इस प्रान्त में भद्रबाहु, स्थूलभद्र आदि जैन-साधुओं ने विहार किया था। नेपाल में रहकर स्थूलभद्र ने भद्रबाहु स्वामी से पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया था।[७] नेपाल में चोरों का भय नहीं था तथा यहाँ जैन-साधु कृत्स्न वस्त्र धारण कर रह सकते थे।[८] यह स्थान रूँएदार कम्बलों के लिए प्रसिद्ध था।[९]

इन साढ़े पचीस आर्यक्षेत्रों के अतिरिक्त, अन्य स्थलों में भी जैन-श्रमण धर्मप्रचार के लिए पहुँचे थे। जैसा पहले कहा जा चुका है, राजा सम्प्रति ने दक्षिणापथ में जैनधर्म का प्रसार किया। जान पड़ता है कि इसके पूर्व जैनधर्म दक्षिण में नहीं पहुँचा था। यही कारण है कि उक्त साढ़े पच्चीस आर्यक्षेत्रों में दक्षिण का एक भी प्रदेश नहीं आया है। परन्तु जैसा जैन-ग्रन्थों से पता चलता है, कुछ समय बाद दक्षिणापथ जैन-श्रमणों का बड़ा भारी केन्द्र बन गया था और भिक्षा आदि की सुविधा होने से जैन-साधु इस प्रान्त में विहार करना प्रिय समझते थे।[१०] इस प्रान्त में श्रावकों के अनेक घर थे।[११] राजा सम्प्रति ने दक्षिणापथ को जीतकर उसके सीमांत राजाओं को अपने वश में किया था।[१२] प्राचीन काल में अवन्ति नगरी दक्षिणापथ में सम्मिलित की जाती थी। गंगा के दक्षिण और गोदावरी के उत्तर का हिस्सा दक्षिणापथ कहा जाता है।

---

[१] आवश्यक निर्युक्ति ८४३; आचारांग सूत्र ९.३
[२] आवश्यक निर्युक्ति ४९२; आचारांगसूत्र ९.३
[३] कल्पसूत्र ८, पृ० २२७ अ
[४] डी लहरे डर जैनास, शूब्रिङ् पृ० ३६
[५] आवश्यक निर्युक्ति ४६९
[६] दीघनिकाय, २, पृ० ३२६
[७] आवश्यक चूर्णि २, पृ० १८७
[८] बृहत्कल्पभाष्य ३.३९१२
[९] वही ३.३८२४
[१०] बृहत्कल्पभाष्य १.२६९७
[११] निशीथ चूर्णि १५, पृ० ९९६
[१२] बृहत्कल्पभाष्य १.३२७६

दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशों में सबसे प्रथम आन्ध्र देश का नाम आता है, जहां जैन-श्रमणों ने पहुँच कर अपने धर्म का प्रचार किया था।[1] आन्ध्रदेश की राजधानी धनकटक (वेजवाड़ा) मानी जाती है। गोदावरी तथा कृष्णा नदी के बीच के प्रदेश को प्राचीन आन्ध्र देश मानते हैं। आन्ध्र के पश्चात् दमिल अथवा द्रविड़ देश का नाम आता है। इस देश में आरम्भ में जैन-साधुओं को वसति मिलना बहुत दुर्लभ था। अतएव उन्हें लाचार होकर वृक्ष आदि के नीचे ठहरना पड़ता था।[2] कांचीपुरी (कांजीवरम) द्रविड़ का प्रसिद्ध नगर था, जहाँ का 'नेलक' सिक्का दूर-दूर तक चलता था। कांची के दो नेलक कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के एक-एक नेलक के बराबर होते थे।[3] कवेरीपट्टन द्रविड़ का एक बन्दरगाह था, जिसकी पहचान मलाबार तट या उत्तर सीलोन से की जाती है। तत्पश्चात् महाराष्ट्र और कुडुक्क देशों का नाम आता है। कुडुक्क आचार्य का व्यवहारभाष्य में[4] उल्लेख मिलता है। इससे पता लगता है कि शनैः-शनैः कुडुक्क (कुर्ग) जैन-श्रमणों का एक बड़ा केन्द्र बन गया था। महाराष्ट्र के अनेक रीति-रिवाजों का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है। इससे मालूम होता है कि जैन-श्रमणों ने इस प्रान्त में खूब परिभ्रमण किया था। महाराष्ट्र में नग्न जैन-साधु अपने लिंग में वेंटक (एक प्रकार की अँगूठी) पहनते थे।[5] महाराष्ट्र का प्रधान नगर प्रतिष्ठान या पोतनपुर (पैठन) गोदावरी के किनारे स्थित था। मालूम होता है कि प्राचीन समय में यहाँ के राजाओं पर जैनश्रमणों का काफ़ी प्रभाव था। पादलिप्त सूरि ने पइट्ठान के राजा की शिरोवेदना को दूर किया था।[6] कालकाचार्य ने भी इस नगर में विहार किया था। एक बार कालकाचार्य यहाँ उज्जयिनी से पधारे और राजा सातवाहन (शालिवाहन) के कहने पर पर्यूषण पर्व की तिथि पंचमी से चतुर्थी कर दी, जिससे इस पर्व में जनता ने भाग लिया। उसी समय से महाराष्ट्र में समणपूय (श्रमणपूजा) नाम का उत्सव प्रचलित हुआ।[7]

उक्त स्थानों के सिवाय दक्षिण भारत में अन्य भी अनेक स्थान थे, जहाँ जैनधर्म का प्रचार हुआ था। उदाहरण के लिए कोंकण जैन-श्रमणों का एक विशाल केन्द्र था। इस देश में अत्यधिक वृष्टि होने के कारण जैन-साधु छतरी रख सकते थे।[8] कोंकण में मच्छरों का बड़ा प्रकोप था, जिसके कारण एक जैनसाधु को अपने प्राण खो देने पड़े थे।[9] इस देश में बड़ी भयानक अटवी थी, जिसे पार करते समय जैन-श्रमण-संघ की रक्षा करने के लिए एक साधु को तीन शेर मारने पड़े थे।[10] पश्चिमी घाट तथा समुद्र के बीच का स्थल प्राचीन कोंकण माना जाता है। कोंकण देश में सोप्पारय (सोपारा) व्यापार का बड़ा केन्द्र था और यहाँ बहुत से बड़े-बड़े व्यापारी रहते थे।[11] वज्रसेन,[12] आर्यसमुद्र तथा आर्यमंगु[13] ने इस प्रदेश में विहार किया था। तत्पश्चात् गोल्ल देश का उल्लेख जैन-ग्रन्थों में अनेक

---

[1] बृहतकल्पभाष्य १.३२८६
[2] वही ३.३७४६
[3] वही ३.३८९२
[4] ४.२८३; १, पृ० १२१ अ।
[5] बृहत्कल्पभाष्य १.२६३७
[6] पिंड निर्युक्ति ४९७ इत्यादि
[7] निशीथचूर्णि १०, पृ० ६३२
[8] आचारांग चूर्णि, पृ० ३६६
[9] सूत्रकृतांग टीका ३.१
[10] निशीथ चूर्णि पीठिका, पृ० ९०
[11] बृहत्कल्पभाष्य १.२५०६
[12] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४०६
[13] व्यवहारभाष्य ६.२४० इत्यादि

स्थलों पर आता है। यहाँ अत्यधिक शीत होने के कारण जैन-साधुओं को वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गई थी।[१] श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में गोल्ल और गोल्लाचार्य का उल्लेख होने से सम्भवतः यह देश दक्षिण में ही होना चाहिए। गुन्टूर ज़िले में गल्लरु नदी पर स्थित गोलि प्राचीन गोल्ल देश मालूम होता है। इसके पश्चात् दक्षिण में तगरा नगरी जैन दृष्टि से महत्त्व की है। यहाँ राढाचार्य ने विहार किया था। उनके शिष्य उज्जयिनी से उनसे मिलने यहाँ आये थे।[२] करकण्डूचरिय में इस नगरी का इतिहास मिलता है। हैद्राबाद रियासत के उस्मानाबाद ज़िले में तेर नामक ग्राम को प्राचीन तगरा माना जाता है। तगरा आभीर देश की राजधानी थी।[३] इस देश में आर्य समित[४] और वज्रस्वामी ने[५] विहार किया था। यहाँ कण्हा (कन्हन) और वेण्णा (वेन) नदियों के बीच में ब्रह्मद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ पाँचसौ तापस रहते थे। इन तापसों ने जैन-दीक्षा धारण की थी[६] और कल्पसूत्र में जो बंभदीविया शाखा का उल्लेख मिलता है,[७] वह सम्भवतः इन्हीं श्रमणों द्वारा आरम्भ हुई थी।

गुजरात और कच्छ में प्राचीन काल में जैनधर्म का बहुत कम प्रभाव मालूम होता है। भृगुकच्छ (भरोंच) को लाट देश का सौन्दर्य माना जाता था। यहाँ आचार्य वज्रभूति का विहार हुआ था।[८] भृगुकच्छ व्यापार का केन्द्र था और यहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से माल आता-जाता था।[९] बाद में चलकर वलभि (वाला) जैन-श्रमणों का केन्द्र बना और यहाँ देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के अधिपतित्व में जैन-आगम-ग्रन्थों का अन्तिम संस्करण तैयार किया गया।[१०] उत्तर गुजरात में आनन्दपुर (वडनगर) जैन-श्रमणों का केन्द्र था। यहाँ से जैन-श्रमण मथुरा तक विहार किया करते थे।[११] कच्छ में भी जैन-साधुओं का प्रवेश हुआ था। यहाँ साधु गृहस्थ के साथ ठहर सकते थे।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म का जन्म विहार प्रान्त हुआ और वहीं वह फूला-फला। विहार में जैन-धर्म पटना, विहार, राजगिर, नालन्दा, गया, हज़ारीबाग़, मानभूम, मुंगेर, भागलपुर, दरभंगा, मुज़फ़्फ़रपुर, मोतीहारी तथा सीतामढ़ी आदि स्थानों में होता हुआ नेपाल पहुँचा। तत्पश्चात् उड़ीसा में कटक, भुवनेश्वर, पुरी आदि प्रदेशों से होकर बंगाल में राजशाही, मुर्शिदाबाद, बर्दवान, बांकुरा, हुगली, हावड़ा, दलभूम, मिदनापुर, तामलुक आदि उत्तर-पश्चिमी ज़िलों में फैलकर कोमिल्ला तक पहुँच गया। इधर पूर्वीय संयुक्तप्रान्त में बनारस, अलाहाबाद से आरम्भ होकर अयोध्या, गोरखपुर, गोंडा, हरदोई, रामपुर आदि ज़िलों में फैलता हुआ मेरठ, बुलन्दशहर, मथुरा, आगरा आदि संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी ज़िलों में होकर रुहेलखंड में फ़र्रुखाबाद, कन्नौज आदि तक चला गया। उत्तर में तक्षशिला आदि प्रदेशों में पहुँचा और सिन्ध में फैला। राजपूताने में जोधपुर, जयपुर, अलवर आदि प्रदेशों मे इसका प्रचार हुआ। तत्पश्चात् ग्वालियर, झाँसी तथा मध्य भारत में भेलसा, मन्दसोर, उज्जैन आदि प्रदेशों में फैल गया। इसके बाद

---

[१] आचारांग चूर्णि, पृ० २७४
[२] उत्तराध्ययन टीका २, पृ० २५
[३] बृहत्कथाकोष, डॉ० उपाध्ये, १३८.३९
[४] आवश्यक टीका (मलय), पृ० ५१४ अ।
[५] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९७
[६] आवश्यक टीका (मलय) पृ० ५१४ अ।
[७] कल्पसूत्र ८, पृ० २३३
[८] व्यवहारभाष्य ३.५८
[९] बृहत्कल्पभाष्य १.१०९०
[१०] ज्योतिष्करंड टीका, पृ० ४१
[११] निशीथ चूर्णि, ५, पृ० ४३४
[१२] बृहत्कल्पभाष्य १.१२३९, विशेष चूर्णि।

गुजरात में भरोंच, वडनगर, खंभात, आदि स्थानों में पहुँच कर काठियावाड़ में भावनगर, जूनागढ़ आदि स्थानों में होता हुआ कच्छ तक चला गया। बरार में एलिचपुर, महाराष्ट्र, कोंकण तथा दक्षिण में हैद्राबाद, मद्रास में वेजवाड़ा, गुन्टूर, कांजीवरम आदि प्रदेशों में होकर कुर्ग और मलाबार तट तक पहुँच गया। इस तरह जैनधर्म का प्रसार लगभग समस्त हिन्दुस्तान में हुआ। परन्तु जहाँ तक मालूम हुआ है, जैनधर्म ने बौद्धधर्म की नाई हिन्दुस्तान से बाहर क़दम नहीं रक्खा। इसका मुख्य कारण था खान-पान के नियमों की कड़ाई। महावीर का धर्म त्यागप्रधान होने से जैन-श्रमणों के आचार-विचार में काफ़ी कठोरता रही और इसका परिणाम यह हुआ कि उनमें बहुत काल तक बौद्ध साधुओं की तरह शिथिलता नहीं आ पाई, जिसके फलस्वरूप जैनधर्म हिन्दुस्तान में टिका रहा। राजा सम्प्रति के पश्चात् जैन-धर्मानुयायी इतना प्रभावशाली कोई राजा नहीं हुआ और इसलिए जिस प्रचंड वेग के साथ जैनधर्म का प्रसार होना आरम्भ हुआ था, वह वेग अधिक काल तक क़ायम न रह सका। बारहवीं शताब्दी में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र आचार्य के युग में गुजरात के राजा कुमारपाल के समय में एक बार फिर से जैनधर्म चमका, परन्तु फिर वह सदा के लिए सो गया। आजकल जैनधर्म अपने उद्भवस्थान बिहार और बंगाल से लुप्तप्राय हो चुका है। उसके अनुयायी विशेषकर गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना, संयुक्तप्रान्त तथा दक्षिण के कुछ भाग में पाये जाते हैं।

अन्त में यहाँ कुछ अनार्य देशों के विषय में भी कह देना उचित होगा। जैन-ग्रन्थों में अनार्य देशों की कई सूचियाँ आती हैं। दुर्भाग्य से ये सूचियाँ इतनी विकृत हो गई हैं कि आज उन स्थलों का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो गया है। इन ग्रन्थों में लगभग ७५ अनार्य देशों अथवा उन देशों में रहने वाली जातियों का उल्लेख आता है।[1] उनमें से कुछ प्रदेश निम्नलिखित थे :

वाहल अथवा वाह्लीक देश की राजधानी तक्षशिला थी।[2] कहते हैं कि ऋषभनाथ बहलि, अडम्ब? (अम्बड) और इल्ला नामक अनार्य देशों में विहार करते हुए गजपुर (हस्तिनापुर) पहुँचे।[3] इस देश के घोड़े बहुत अच्छे होते थे।[4] इस देश की पहचान बाल्ख से की जाती है, जो बैक्ट्रिया की राजधानी थी। चिलात (किरात) का दूसरा नाम आवाड़ था। ये लोग उत्तर में रहते थे और प्रासाद, शंख, सवारी, दास, पशु, सोना, चाँदी से खूब सम्पन्न थे। चिलात बहुत शक्तिशाली थे और युद्ध की कला में अत्यन्त कुशल थे। कहते हैं, भरत चक्रवर्ती और चिलातों की सेना में परस्पर संग्राम हुआ, जिसमें चिलात लोग हार गये।[5] जवण (यवन) एक बहुत सुन्दर देश माना गया है, जो विविध रत्न, मणि और सुवर्ण का खजाना था। भरत की दिग्विजय में इस देश का उल्लेख आता है।[6] कंबोज देश के घोड़े प्रसिद्ध होते थे।[7] काश्मीर के उत्तर में घालछा प्रदेश को प्राचीन कंबोज माना जाता है।[8] पारस (पर्शिया) व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था, जहाँ व्यापारी लोग दूर-दूर से व्यापार के लिए आते थे।[9] इस देश में

---

[1] देखिए भगवती ३.२; प्रश्नव्याकरण, पृ० ४१; प्रज्ञापनासूत्र १.६४; सूत्रकृतांग टीका ५.१, पृ० १२२ अ; उत्तराध्ययन टीका १०, पृ० १६१ अ; प्रवचनसारोद्धार पृ० ४४५; नायाधम्मकहा १, पृ० २१; रायपसेणियसूत्र २१०; औपपातिकसूत्र ३३; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४३, पृ० १८५; निशीथ चूर्णि ८, पृ० ५२३

[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० १८०

[3] वही पृ० १६२

[4] आवश्यक निर्युक्ति ६७९

[5] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ५६, पृ० २३१

[6] आवश्यक चूर्णि, पृ० १९१

[7] रायपसेणियसूत्र १६०

[8] भारतभूमि और उसके निवासी, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० १६२

[9] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४४८

कालकाचार्य ने विहार किया था, जैसा पहले कहा जा चुका है। इस देश के लोग भैंसों के सींगों की माला बनाते थे।[1] सीहल (सिलोन) में कोंकण देश की तरह समुद्र की लहरों से बाढ़ नहीं आती थी।[2] भरत की दिग्विजय में इस देश का उल्लेख आता है।[3] टंकण मलेच्छ उत्तरापथ में रहते थे और वे सोना, हाथीदाँत आदि क़ीमती वस्तुएँ लेकर दक्षिण देश में व्यापार के लिए जाया करते थे। ये लोग दक्षिण की भाषा नहीं समझते थे। अतएव माल की क़ीमत तय करने के लिए उन्हें अनेक इशारों से काम चलाना पड़ता था[4]। तंगणों का उल्लेख महाभारत में आता है। आन्ध्र, द्रविड़, कोंकण, महाराष्ट्र, केकय आदि अनार्य देशों के विषय में पहले कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त अंबड (—अंबष्ठ, पारजिटर के अनुसार अंबष्ठ लोग अंबाला और सतलज के बीच के प्रदेश में रहते थे),[5] आरबक (यह प्रदेश बलूचिस्तान के उत्तर में अरबिओस नदी पर अवस्थित था),[6] आलसंड (एलेक्ज़ेन्ड्रिया),[7] बव्वर (बारबैरिकम या बारबैरिकन),[8] भडग (—भद्रक, यह जाति दिल्ली और मथुरा के मध्य में यमुना नदी के पश्चिम में रहती थी[9] भुत्तुअ (भोटिय), चीन, चुंचुक (डा० सिल्वेन लेवी के अनुसार यह प्रदेश ग़ाज़ीपुर के पास अवस्थित था),[10] गन्धार (पेशावर और रावलपिंडी के ज़िले),[11] हूण, काकविषय, कनक (ट्रावनकोर),[12] खस (काश्मीर के नीचे वितस्ता घाटी की खाख जाति),[13] खासिय (आसाम की आदिम जाति),[14] मुंड (छोटा नागपुर की एक जाति), मुरुंड (डॉ० स्टाइन कोनोव के अनुसार मुरुंड शक का एक प्रकार है जिसका अर्थ होता है स्वामी)।[15] पक्कणिय (फरघना जो पामीर अथवा प्राचीन कंबोज के उत्तर में था),[16] रमढ (यह प्रदेश ग़ज़नी (जागुड) और वखान के मध्य में स्थित था),[17] वोक्कण (वखान) आदि अनार्य देशों का उल्लेख जैन-ग्रंथों में मिलता है। इन सब का गवेषणापूर्ण अध्ययन होने से भारत के प्राचीन इतिहास पर काफ़ी प्रकाश पड़ सकता है।

बम्बई]

---

[1] निशीथ चूर्णि, ७, पृ० ४६४

[2] आचारांग टीका, ६.३, पृ० २२३ अ।

[3] आवश्यक चूर्णि, पृ० १६१

[4] आवश्यक टीका (मलय), पृ० १४० अ।

[5] मार्कण्डेय पुराण, पार्जिटर, पृ० ३७६

[6] मैकक्रिन्डल्स दी इनवेज़न ऑव इन्डिया, पृ० १६७

[7] इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १६३६, पृ० १२१

[8] एन्शिएन्ट ज्यॉग्रफ़ी ऑव इन्डिया, पृ० ६६३

[9] मार्कण्डेय पुराण, पार्जिटर, पृ० ३०६

[10] मेमोरियल सिल्वन लेवी, १६३७, पृ० २४२-३

[11] ज्यॉग्रफ़िकल डिक्शनरी, डे, पृ० ६०

[12] वही, पृ० ८८

[13] राजतरंगिणी, जिल्द २, स्टाइन, पृ० ४३०

[14] देखिए इम्पीरियल गजेटियर "खासिय" शब्द।

[15] ट्राइब्स ऑव एन्शिएन्ट इन्डिया, पृ० ६४ नोट

[16] जरनल ऑव यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १६, भाग १, पृ० २८

[17] वही, जिल्द १५, भाग २, पृ० ४६

हिंदू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति

श्री बटकृष्ण घोष एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

यह आश्चर्य की बात है कि हमारा प्राचीन साहित्य, जिसमें राष्ट्र की व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक लम्बे-चौड़े वर्णन मिलते हैं, इस बातपर प्रायः मौन है कि व्यवस्थित समाज की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। कौटिल्य ने भी, जिससे इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ आशा थी, इसके बाबत कुछ नहीं लिखा। यद्यपि कौटिल्य के समय में, जैसा हम अभी देखेंगे, राष्ट्र की उत्पत्ति के विषय में कुछ मत प्रचलित थे तथापि उसने अपने ग्रंथ में किसी का उल्लेख नहीं किया; क्योंकि वह उन बातों पर माथापच्ची करना ठीक नहीं समझता था, जो केवल अनुमान पर आश्रित हों। कौटिल्य ने मत्स्य-न्याय तक का कथन (अर्थ० १, ४) इस दृष्टि से नहीं किया कि वह उस प्राचीन समाज की दशा सूचित करना है, जब सृष्टि-प्रारम्भ के कुछ समय बाद वैसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। उसने मत्स्य-न्याय से यह भाव ग्रहण किया है कि किसी भी राष्ट्र की ऐसी भयावह और अरक्षित दशा हो सकती है, यदि उसकी शासन-विधि कठोर व्यवस्था से नियमित न की जाय। कौटिल्य, रूसो (Rousseau) के विपरीत, एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ था। अतः उसने केवल कल्पना पर आश्रित मतों को महत्त्व नहीं दिया। भारत के अगणित आदर्शवादी तत्त्ववेत्ताओं में केवल एक व्यक्ति ऐसा मिला है, जिसने अप्रासंगिक रूप में राष्ट्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ बातें दी हैं, जिन्हें यदि रूसो जान पाता तो वह आनन्द-विभोर हो उठता। वह व्यक्ति वसुबन्धु है, जिसका समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी है।

सृष्टि सम्बन्धी एक पांडित्यपूर्ण व्याख्या के बीच में वसुबन्धु[1] एकाएक यह प्रश्न उपस्थित करता है—"क्या सृष्टि-प्रारम्भ के समय मनुष्यों का कोई राजा था ?" इसका उत्तर वह नकार में देता है, क्योंकि "सृष्टि के आरम्भ-काल में सभी जीव देव-रूप थे। फिर धीरे-धीरे लोभ और आलस्य के बढ़ने से लोगों ने आराम की वस्तुएँ इकट्ठी करना सीख लिया और सम्मिलित वस्तुओं के भागहारियों ने अपनी क्षेत्र-सम्पत्ति की रक्षा के लिए एक रक्षक रखना शुरू कर दिया।" पौसिन ने जो नीचे का अस्पष्ट श्लोक उद्धृत किया है, उसका उपर्युक्त अर्थ ही संगत जान पड़ता है—

प्रागासन् रूपिवत् सत्वा रसरागात् ततः शनैः।
आलस्यात्संग्रहं कृत्वा भागादैः क्षेत्रपोभृतः॥

अपने प्राचीन देवतुल्य शान्ति के मार्ग से हटने पर जीवों की अधोगति होने लगी। "तब शनैः-शनैः पृथिवी-रस की उत्पत्ति हुई, जो मधुस्वादुरस के समान कहा गया है। किसी जीव ने अपने स्वभाव-लौलुप्य के कारण इस रस को सूंघा और फिर चखकर उसे खा लिया। इसके बाद अन्य जीवों ने भी ऐसा ही किया। मुख द्वारा उदर-पोषण का यह प्रारम्भिक रूप था। इस प्रकार के पोषण द्वारा कुछ काल बाद जीव-गण पार्थिव तथा शरीर से स्थूल हो गये और उनका प्रकाश-रूप नष्ट होने लगा। अन्त में तमस् का प्रसार हो गया, परन्तु कालान्तर में सूर्य और चन्द्र की उत्पत्ति हुई !"

एक भारतीय मिल्टन के मस्तिष्क पर हमारी पृथिवी पर जीवोत्पत्ति की इस उत्कृष्ट और मनोरंजक कहानी को सुनकर कैसा प्रभाव पड़ता, यह विचारणीय है ! किन्तु वसुबन्धु भी, जो एक शुष्क तत्त्वज्ञानी था, ठोस कल्पना के वरदान से बिलकुल वंचित न था। आदि देव-रूप जीवों के प्रकाशमान् सुपार्थिव शरीरों का पापस्पर्श के कारण रुधिर और मांस के शरीरों के रूप में परिणत होने का तात्त्विक विवेचन करने के बाद वसुबन्धु मानव-समाज की उत्पत्ति

---

[1] देखिए 'ला अभिधर्मकोष द वसुबन्धु', १९२६, पृ० २०३ तथा उसके आगे।

के सम्बन्ध में एक ऐसे महत्त्वपूर्ण मत का वर्णन करता है, जो रूसो या यूगेल्स (Eugels) के लिए बड़ा गौरवयुक्त सिद्ध होता। वसुबन्धु ने आगे लिखा कि पार्थिव शरीर वाले वे प्राचीन जीव धीरे-धीरे पार्थिव गुणों से अधिक प्रभावित होने लगे, स्त्री-पुरुष के लिंग-भेद का भी सृजन होने लगा, जिससे काम-सम्बन्धी नियमों की उत्पत्ति हुई। जीवों में संग्रह की भावना तथा भविष्य के लिए आवश्यक वस्तुओं को बटोर रखने का विचार भी घर करने लगा। पहले तो ऐसा होता था कि प्रातःकालीन भोजन के लिए पर्याप्त अन्न सवेरे तथा सायंकालीन के लिए उतना ही शाम को एकत्र किया जाता था, परन्तु सृष्टि के एक आलसी व्यक्ति ने भविष्य के लिए भी अन्न जुटाना प्रारम्भ कर दिया और उसका अनुकरण दूसरे भी करने लगे। इकट्ठे करने की इस भावना ने 'अपनेपन' अर्थात् स्वत्व के विचार को उत्पन्न कर दिया।

"स्वत्व या अधिकार की भावना से राष्ट्र की उत्पत्ति अवश्यम्भावी हो गई, क्योंकि लोगों ने सारे क्षेत्रों को अपने बीच में बाँट लिया और हर एक व्यक्ति एक-एक क्षेत्र का स्वामी बन बैठा! परन्तु इसके साथ-साथ लोगों ने दूसरे की भी सम्पत्ति को बलपूर्वक हथियाना शुरू कर दिया। इस प्रकार चोरी का आरम्भ हुआ। इस चोरी को रोकने के लिए लोगों ने मिलकर यह तै किया कि वे किसी मनुष्यविशेष को अपनी-अपनी आय का छठवाँ भाग इसलिए देंगे कि वह उनके क्षेत्रों की रक्षा करे। उन्होंने इस पुरुषविशेष का नाम क्षेत्रप (क्षेत्रों की रक्षा करने वाला) रक्खा। क्षेत्रप होने के कारण उसे **क्षत्रिय** की उपाधि प्रदान की गई। एक बड़े जनसमूह (महाजन) के द्वारा वह बहुत सम्मानित (सम्मत) होने लगा और लोगों का रंजन करने के कारण उसकी संज्ञा **राज महासम्मत** हो गई। यही राजवंशों की उत्पत्ति का मूलरूप था।"

इस प्रकार वसुबन्धु के मस्तिष्क में एक विशाल कल्पना का उदय हुआ। किन्तु यह बात नहीं है कि केवल वसुबन्धु ने ही या सबसे पहले उसी ने राष्ट्र की उत्पत्ति के विषय में कल्पना की हो। इस सम्बन्ध में शायद सबसे पहले 'महाभारत' (१२, ६७, १७—) में कुछ विचार पाये जाते हैं, जिसमें कहा गया है कि आरम्भ में जब कोई शासक नहीं था तब लोगों की दशा बहुत दयनीय थी, क्योंकि आदिम अव्यवस्था के उस युग में प्रत्येक मनुष्य अपने समीप में रहने वाले कमज़ोर व्यक्ति को उसी प्रकार नष्ट करने की ताक में रहता था, जिस प्रकार पानी में सबल और कमज़ोर मछलियों की दशा होती है (**परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥१७॥**)। यह बात ध्यान देने की है कि 'महाभारत' में उल्लिखित यह मत्स्यन्याय की दशा किसी आगे आने वाली स्थिति की ओर संकेत नहीं करती, जैसा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है, किन्तु यह उस प्राचीन समाज को सूचित करती है, जिसमें मनुष्य-जाति को वास्तव में कष्ट था। इसके पहले वाले श्लोक में इस प्रकार का कथन मिलता है कि "यदि पृथिवी पर दंड देने वाला राजा न हो तो बलवान् लोग दुर्बलों को उसी प्रकार नष्ट कर दें जिस प्रकार जल में सबल मछलियाँ कमज़ोरों का भक्षण कर डालती हैं" (**जले मत्स्यानिवाभक्षयन् दुर्बलं बलवत्तराः**)। यदि इस अन्तिम श्लोक का पाठ शुद्ध है और 'अभक्षयन्' शब्द को 'भक्ष' धातु के 'लुङ्' लकार का रूप माना जाय तो हमको मत्स्यन्याय के सम्बन्ध में वही स्थिति माननी पड़ेगी, जो कौटिल्य ने दी है, अर्थात् वह राजनीतिज्ञ शास्त्रकारों की केवल एक ऐसी धारणा सिद्ध होगी कि मत्स्यन्याय की भयावह किन्तु हटाई जाने योग्य दशा भविष्य में किसी भी अनियन्त्रित राष्ट्र की हो सकती है, न कि ऐसी दशा किसी राष्ट्र के विकास में अनिवार्यतः पहले रही थी।

अब यह प्रश्न उठता है कि आदिम मनुष्यों ने ऐसी अशान्त स्थिति से कैसे छुटकारा पाया? इसका उत्तर यह दिया गया है कि समाज को नियमित करने के लिए वे सब आपस में इकट्ठे हुए और उन्होंने सब को कुछ नियम पालन करने के लिए बाध्य किया (**समेत्यतास्ततः चक्रुः समयान्**) और यह स्थिर किया कि "जो कोई किसी दूसरे को वाचिक या कायिक कष्ट देगा, दूसरे की स्त्री को छीनेगा या दूसरे के स्वत्व का अपहरण करेगा, उसे हम लोग दंड देंगे" (**वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः, यः परस्वमयाऽदद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति, श्लो० १८-१६**); किन्तु शीघ्र ही इस बात का अनुभव किया गया कि केवल नियम बनाने से ही समाज व्यवस्थित नहीं हो जाता। उन

नियमों को, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत किये गये हैं, लागू करने के लिए एक शक्ति होनी चाहिए। यह विचार होने पर लोगों ने कल्याणमय ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया—"हे भगवन्, एक शासक के अभाव के कारण हम लोग नाश को प्राप्त हो जायेंगे। हमारे लिए एक शासक प्रदान करो (**अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश—श्लो० २०**), जिसके प्रति हम सब लोग अपना सम्मान प्रदर्शित करेंगे और जो हम लोगों का प्रतिपालन करेगा" (**यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्—श्लो० २१**)। इस प्रार्थना से द्रवित होकर ब्रह्मा ने मनु से कहा कि वे मर्त्य लोक का शासक होना स्वीकार कर लें, परन्तु मनु को मरणशील जीवों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी और साथ ही उन्हें प्रसन्न या सन्तुष्ट रखना एक पहेली थी। उन्होंने जवाब दिया—"मैं पापकर्मों से बहुत डरता हूँ (और शासन-कर्म में पाप होना निश्चित है)। शासन की बागडोर अपने हाथों में लेना बहुत ही दुष्कर होता है" (**बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्**)। उन्होंने यह भी कहा—"मनुष्य-वर्ग के ऊपर राज्य करना तो और भी कठिन है, क्योंकि वे सदा मिथ्या-परायण होते हैं" (**विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा—श्लो० २२**)। इस पर मनु ने प्रार्थना करते हुए लोगों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि पाप से उनको बिलकुल न डरना चाहिए, क्योंकि "पाप का भागी उन्हीं लोगों को होना पड़ेगा, जो उसे करेंगे" (**कर्तॄनेव गमिष्यति**)। परन्तु चतुराई से भरा हुआ लोगों का यह विश्वास दिलाना मनु पर असर न कर सका। इसलिए उनके चित्त को दिलासा देने के लिए मनुष्यों ने उन्हें लम्बे-चौड़े अधिकार देने के वचन दिये, जिनमें हिन्दू राजाओं के उन सभी अधिकारों का मूल पाया जाता है, जिन्हें राजनीतिशास्त्र में उनकी शक्ति के अन्दर बताया गया है।[1] मनु से लोगों ने प्रतिज्ञा की कि उन्हें जानवरों और सुवर्ण की सम्पत्ति का पचासवाँ हिस्सा और अन्न का छठा हिस्सा दिया जायगा (**पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च, धान्यस्य दशमं भागम्—श्लो० २३-२४**)। राजा के विशेषाधिकारों में जो अन्तिम शर्त थी वह नीचे के (अशुद्ध) पाठ में कथित है : **कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च** (श्लो० २४)। नीलकंठ ने यही पाठ माना है। उन्होंने **विवादेषु ततासु च** पाठ भी दिया है, और उसे प्राच्यों का पाठ कहा है। तीसरा पाठ नीलकंठ ने **विवादे द्यूततासु च** दिया है, जिसे हिलब्रैंड ने इस अर्थ में स्वीकार किया है कि यहाँ **विवादे** शब्द **विवादेषु** के लिए आया है (अल्टिडिश्चे पोलिटिक, पृ० १७३)। हिलब्रैंड ने सारे वाक्य का अर्थ यह दिया है—'जब दासियों को खरीदने के लिए बाजार में ग्राहक लोग यह पुकार-पुकार कर एक दूसरे के ऊपर बोली बोलते हैं कि "मैं इस लड़की को खरीदता हूँ, मैं इस लड़की को खरीदता हूँ", तब राजा के भाग के लिये एक दासी कन्या अलग रख लेनी चाहिए।' परंतु नीलकंठ ने जो पाठ दिये हैं, उनमें से किसी का यह अर्थ नहीं निकलता और हिलब्रैंड द्वारा दिया हुआ अर्थ किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। उक्त श्लोक का अभिप्राय बहुत प्राचीन काल की रीति से है जब राजा लोगों के लिए भार्याओं तथा दासी कन्याओं के रखने के सम्बन्ध में विशेषाधिकार थे, किन्तु जिस समय 'महाभारत' अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ, उस समय तक उपर्युक्त रीति बिलकुल बन्द हो गई थी। इतना भारतीय राज्यतन्त्र में राष्ट्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है।

अब नैतिक दृष्टिकोण पर विचार करना है। प्लेटो का यह आदर्शवाद कि राष्ट्र का शासन स्वार्थ-रहित तत्त्वज्ञानियों के हाथ में होना चाहिए, भारतीय राजनीति में भी मिलता है। एक आदर्श भारतीय राज्यप्रणाली में क्षत्रिय को यज्ञ से बचे हुए अन्न के भक्षण द्वारा जीवन-निर्वाह का आदेश है तथा राजा को शास्त्रार्थ के तत्त्व को जानना अनिवार्य कहा गया है (महाभारत १२–२१-१४—**क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित्**), परन्तु इससे अधिक महत्त्व की बात, जो भारतीय राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में थी, वह हॉब्स के मत की तरह अनवरुद्ध युद्ध-नीति थी। अंग्रेजी तत्त्वज्ञान के इस बड़े प्रचारक ने लिखा है (लेवियथन, १११), "सबसे पहले मैं सारी मानव-जाति को

---

[1] देखिए मनुस्मृति, अ० १२, १३०-१३१। कौटिल्य (अर्थ०, प्रकरण ३३) ने भूमि-कर उपज का छठा अंश बताया है (पिंडकरः षड्भागः)। इतना ही बाद के ग्रन्थों में भी मिलता है। कालिदास के 'रघुवंश' से ज्ञात होता है कि वन के मुनियों को भी अपने एकत्रित अन्न का छठा अंश कर-स्वरूप देना पड़ता था।

इच्छा को बताऊँगा। यह इच्छा-शक्ति को अधिक बढ़ाने के लिए निरंतर अयकरूप से दूसरों के प्रति युद्ध करते रहना है, जिसका अन्त केवल मृत्यु में होता है। इस लगातार युद्ध की इच्छा का सदा यह कारण नहीं होता कि मनुष्य प्राप्त सुख से कहीं अधिक सुख प्राप्त करने की कामना करता है या कि वह एक निश्चित शक्ति से सन्तोष-लाभ नहीं कर सकता। किन्तु इसका यह कारण है कि उसे विश्वास नहीं होता कि किसी निश्चित शक्ति या साधनों से उसका जीवन यथेच्छ सन्तोषमय हो सकता है। इस प्रकार उसे अपनी वर्तमान परिस्थिति से सन्तोष न होकर सदा अधिक-अधिक प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है।" इस प्रकार के भाव वाले वाक्य किसी भी काल के संस्कृत-साहित्य में मिल सकते हैं। आदि-सृष्टि के मनुष्यों का चित्रण उस आदर्श तथा उच्च ढंग पर किया हुआ नहीं मिलता, जैसा कि हम वसुबन्धु में पाते हैं। प्रायः उनका वर्णन प्राकृतिक रूप से दुष्ट मनुष्यों के रूप में किया गया है, जो सदैव एक-दूसरे का गला काटने के लिए तैयार रहते हैं, जो केवल दूसरे के द्वारा बदला लिये जाने के भय से ही दूसरे पर अत्याचार करने से रुक सकते हैं, (महाभारत, १२, १५, ६—**परस्परभयादेके पापात् पापं न कुर्वते**) या फिर दंड के डर से ऐसा नहीं कर सकते (१२, १५, ७—**दण्डस्यैवभयादेके न खादन्ति परस्परम्**)।

इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि यहाँ 'दंड' शब्द कम-से-कम प्राचीन साहित्य में, उस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें 'लॉ' या 'क़ानून' शब्द होते हैं। वह केवल दंड देने का सूचक नहीं है। महाभारत (१२, १५, १०) में यह साफ़-साफ़ लिखा है कि 'दंड' का अर्थ 'मर्यादा' है। राजा इस दंड (नियम, क़ानून) का स्वरूप कहा गया है, जैसा कि महाभारत में मत्स्यन्याय सम्बन्धी वर्णन से प्रकट होता है, जिसमें दंड तथा राजन् शब्द एक-दूसरे के द्योतक सिद्ध होते हैं (मिलाओ 'महाभारत' १२, १५, ३० और १२, ६७, १६)। यही बात महाभारत में आये हुए एक पाठ-भेद से, जिसका ज़िक्र ऊपर हो चुका है, सिद्ध होती है (**प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्—महा०, १२; ६८, ८**)।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिशास्त्र में राजा का प्रभुत्व उसके व्यक्तिगत रूप में न माना जाकर शासन-नियमों के संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है। क्रिश्चियन (यूरोपीय) राज्यतन्त्र के अनुसार प्रजा राजा की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य है, क्योंकि राजा ईश्वर के द्वारा अभिषिक्त होता है, परन्तु प्राचीन भारत के राजनीति-साहित्य में कहीं पर भी ऐसा कथन नहीं पाया जाता, जिससे राजा का ऐसा प्रभुत्व सूचित हो। भारत की राजनीति धर्म-प्रधान थी। वह कभी राजा के अनियन्त्रित अधिकारों के अधीन नहीं हुई और कम-से-कम राजनैतिक नियम-व्यवस्था में राजा को कभी स्वेच्छाचारी या प्रजा-पीड़न का अधिकारी नहीं घोषित किया गया। मेधातिथि जैसे एक बाद के राजनीतिज्ञ लेखक तक ने यह लिखा है कि धर्म के मामलों में राजा सर्वोच्च नहीं है (मनुस्मृति, ७, १३ पर टीका)। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय सामाजिक जीवन में धर्म का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अतः इस बात में कोई आश्चर्य न मानना चाहिए कि राजा को इस देश में वह ईश्वर-तुल्य पूज्य-भाव नहीं दिया गया, जो रोम में पाया जाता है। इतना ही नहीं, भारत के प्राचीन साहित्य में कुछ ऐसे भी कथन हैं, जिनमें प्रजा को इतना तक अधिकार दिया गया है कि वह कर्तव्यविमुख राजा को हटा सकती है। रामायण (३, ३३, १६) में यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि यदि राजा दुराचारी है तो उसके स्वजनों द्वारा ही उसका वध कर देना विहित है।

कलकत्ता]



गजेन्द्र-मोक्ष

विष्णु मंदिर का उत्तर की ओर का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

इतिहास का शिक्षण

प्रो० रसिकलाल छोटालाल पारीक

शिक्षण क्रम में किसी भी विषय पर विचार करते समय इस बात पर ध्यान रखना होता है कि वह विषय विद्यार्थी को क्या सिखलाता है और उसे किस तरह के मनोव्यापार में अभ्यस्त बनाता है। सिखलाने से अधिक महत्त्व की बात यह है कि वह विद्यार्थी में किस प्रकार के संस्कारों को जन्म देता है। शिक्षण-शास्त्र के इस सिद्धान्त को इतिहास में स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है कि इतिहास में शिक्षणीय क्या है और उससे किस प्रकार के मानसिक संस्कारों का निर्माण होता है ?

विद्यार्थी बचपन से ही कहानी सुनता है। अपने शिक्षण-क्रम में भी उसे कथा-कहानी पढ़नी पड़ती हैं। उन्हें पढ़कर उनके कथानक की सत्यता में विद्यार्थी का विश्वास हो जाता है। यदि उसकी निमग्नता में व्याघात करने वाली कोई घटना आ जाती है तो वह अवश्य कुछ सोचने लग जाता है, अन्यथा यदि कथा की परी उसे प्रसन्न करने में सफल होती है तो फिर वह कैसे ही विकट और दुर्गम गढ़ में क्यों न बंद हो, उसका अस्तित्व स्वीकार करने में विद्यार्थी को आपत्ति नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ तक भावना की अनुकूलता सुरक्षित रहती है वहाँ तक मन को विघ्न नहीं मालूम होता और कथानक की यथार्थता की जाँच-पड़ताल की अपेक्षा नहीं होती। साहित्य और कलाओं का शिक्षण विद्यार्थी में ऐसी ही मनोवृत्ति उत्पन्न करता है। इस प्रकार के अभ्यस्त छात्रों को इतिहास की शिक्षा देने के लिए कथा-पद्धति का उपयोग किया जाता है। यहाँ सवाल होता है कि क्या यह पद्धति उपयुक्त है ? क्या इस पद्धति से विषय मनोरंजक ढंग से उपस्थित किया जा सकता है और इतिहास की घटनाएँ सुगमता से हृदयंगम कराई जा सकती है ? कुछ लोगों का कहना है कि हाँ, कथाओं के माध्यम द्वारा इतिहास का शिक्षण दिया जा सकता है। आखिर गणित की समस्या को भास्कराचार्य 'लीलावती' ग्रन्थ में सुन्दर श्लोकों में उपस्थित करते ही हैं। क्या इससे गणित की शिक्षा नहीं मिलती ? इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि उन श्लोकों की हरिणाक्षियों या वराननाओं से लालायित हो कर विद्यार्थी गुत्थियों में भले ही फँस जाय, उनसे बाहर निकलने के लिए तो उसे गणित का ही अभ्यास करना पड़ेगा। यदि हम कथाओं के विषय में कह दें कि वे कथा नहीं, इतिहास हैं तो ऐसा कहने मात्र से ही क्या वह इतिहास हो जायगा ? यदि शिक्षक कहता कि यह तो सत्य घटना है, कल्पित नहीं; तो क्या उसका इतना कह देना ही काफी है ? घटना की वास्तविकता और कल्पना का भेद करने वाली उसके पास कसौटी क्या है ? कल्पित कथा और इतिहास को व्यक्त करने वाली कथा का बाहरी रूप इतना समान होता है कि दोनों में अंतर करना कठिन हो जाता है। यह समानता इतनी अधिक होती है कि कथा-पद्धति से इतिहास की शिक्षा देने का परिणाम यह होता है कि बालक अपनी पसन्द की कल्पित कथा को भी सत्य घटना के रूप में समझने लगता है।

इतिहास के कथा-कहानी द्वारा शिक्षण देने की यह बड़ी ही विकट समस्या है। परम्परा से इतिहास के साहित्य का अनुचर होने के कारण यह कठिनाई और भी बढ़ गई है। इस विषय में वाद-विवाद करते हुए किसी-किसी शिक्षक का यह भी मत है कि इतनी रूढ़िप्रियता रखने से क्या लाभ ? ऐतिहासिक कही जानेवाली घटनाओं में भी निश्चितता कहाँ होती है। कल्पना का व्यापार उनमें भी तो रहता ही है। ऐसी दशा में हम छात्रों की रुचि के लिए इतिहास की कथाओं में सिद्धराज और मीनलदेवी का वार्तालाप रक्खें तो उससे आपका क्या बिगड़ता है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इससे इतिहास बिगड़ता है। यह सच है कि इतिहास के रूप में वर्णित कथाओं की घटनाओं में अनिश्चितता होती है, उनमें कल्पना भी होती है, फिर भी इतिहास और कल्पित साहित्य दोनों भिन्न चीजें हैं। कारण कि वे दोनों भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के परिणाम हैं। साहित्य-सर्जक मनोवृत्ति और इतिहास-शोधक मनोवृत्ति दो भिन्न चीजें हैं। संक्षेप में, शिक्षक को इतिहास का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। उसे यह मालूम होना

चाहिए कि साहित्य, गणित एवं भौतिक ज्ञान आदि से इतिहास में कितनी भिन्नता है और कितना साम्य। इस लेख में मैं इतिहास का थोड़ा सा दिग्दर्शन शिक्षकों के उपयोग के लिए करा देना उचित समझता हूँ।

अंग्रेज़ी शब्दकोष में 'हिस्ट्री' शब्द देखने से मालूम होता है कि वह ग्रीक शब्द 'हिस्टोरिया' (Historia) का तद्भव है। उसका अर्थ है 'तलाश', 'खोज' (Inquiry)। अनुसंधान (Research), खोज (Exploration) तथा सूचना (Information) पर्याय इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज़ में दिये हैं।[1] बाद में शोध-खोज के परिणामों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा है। इससे थोड़ा भिन्न जर्मन शब्द 'गेशिष्टे' (Geschichte) है, जो 'गेशेहेन' (Gescherhen=to take place, to happen) धातु से बना है। उन्नीसवीं शताब्दी में 'गेशिष्टे' शब्द 'मानव कृत वास्तविकताओंका संग्रह और उनका विकास' (Collection of human facts and their evolution) के अर्थ में प्रयुक्त होता था। समान अर्थ में व्यवहृत होने पर भी 'हिस्ट्री' और 'गेशिष्टे' की ध्वनि में बड़ा अंतर है। 'हिस्ट्री' 'मन जिसे पैदा करे वह' इस बात पर जोर देती है जब कि गेशिष्टे का जोर घटना (event) पर होता है।[2] जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि पाश्चात्य परम्परा के अनुसार हिस्ट्री व गेशिष्टे शब्द प्रमाण-व्यापार के द्योतक हैं, कल्पना-व्यापार के नहीं।

विज्ञान में प्रमाण-वृत्ति की आवश्यकता होती है और इस दृष्टि से इतिहास भी विज्ञान की कोटि में आ जाता है। लेकिन विज्ञान के अनुसन्धान तथा इतिहास के अनुसन्धान में बड़ा अन्तर है। भौतिक आदि विज्ञानों में अनुसन्धान-कर्त्ता पदार्थ को प्रत्यक्ष देखता है, उसके ऊपर प्रयोग करता है और अनेक तत्वों तथा तत्व-संबंधों को खोज निकालता है। अर्थात् उसका ज्ञातव्य विषय उसके सामने रहता है, लेकिन इतिहासकार जिस विषय को जानना चाहता है वह उसके सामने नहीं होता। वह न तो उसका पृथक्करण कर सकता है और न उसके ऊपर प्रयोग ही कर सकता है। इतिहासकार का पदार्थ काल में है, स्थल में नहीं। फिर भी उसे स्थलकाल विशिष्ट पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही होता है। उसके लिए स्थल में तो केवल अवशेष मात्र ही है। अर्थात् पदार्थों का अन्तिम कालरूप उसके समक्ष वर्तमान में विद्यमान होता है। इस अन्तिम काल रूप के आधार पर भूतकालीन स्थलकाल विशिष्ट रूपों का उसे अनुमान करना होता है। कहने का तात्पर्य यह कि इतिहास की वास्तविकता मानने में भी विशिष्ट तत्वदृष्टि अभिप्रेत है।

इतिहास का पदार्थ अनुमान से फलित करने का है। अतः इतिहास विज्ञान की पहली क्रिया वर्तमान-कालीन पदार्थ स्थिति के द्वारा उसके भूतकालीन तत्वों की खोज करना है। इस दृष्टि से भू-स्तर विद्या आदि इतिहास के प्रकार हैं। पर यहाँ पर हम मनुष्य से प्रादुर्भूत पदार्थों तक ही इतिहास संज्ञा को सीमित करते हैं। इसलिए वर्तमान कालीन पदार्थों को अवशेष रूप मान कर उन्हें भूत कालीन पदार्थों के चिह्न बनाने का वैज्ञानिक कौशल इतिहास संशोधक को सर्वप्रथम सुघटित करना होती है। बेर व फ़ेब्रे के कथनानुसार "प्राचीन तथ्यों के केवल अवशेष स्मारक और कागज-पत्तर ही शेष रह जाते हैं। ये स्मारक, जिनसे इतिहासज्ञ को अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है, सब प्रकार के होते हैं। इसी से कहा जाता है कि इतिहास के साधन विभिन्न प्रकार के होते हैं।"[3] कहने का मतलब यह कि विविध प्रकार के अवशेषों के आधार पर इतिहासकार का प्रथम कार्य वास्तविकता को निश्चित करना है। वर्तमान कालीन तथ्यों के अनुसार पदार्थ इतिहास की घटनाएँ बनती हैं। ऐसी घटनाओं का समूह सिद्ध होने के पश्चात् उन्हें कालक्रम की शृंखला में रक्खा जाता है। अधिक उपयुक्त शब्दों में कहा जाय तो काल-प्रवाह में घटनाओं में एकरूपता आ जाने के बाद उसके आधार पर अन्य नियमों का अनुमान किया जाता है। ऐसे अनुमानों में से एक विशिष्ट प्रकार की तत्वदृष्टि फलित होती है। इसे इतिहासप्रदत्त तत्वदृष्टि कह सकते हैं। इस प्रकार की तत्वदृष्टि प्राप्त विश्व इतिहास लिखने के पूर्व प्रादेशिक इतिहास, भूगोल के प्रदेश काल के विभाग, वस्तुओं के अंशों

---

[1] सातवां भाग पृष्ठ ३५७ [2] इन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज ७वां भाग पृष्ठ ३५७।

[3] इन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज भाग ७, पृष्ठ ३५८।

का इतिहास, यह सब निश्चित हो जाने चाहिए। इस कठिनाई के कारण कितने ही इतिहास-संशोधक इतिहास की मर्यादा भूतकाल के प्रवाह में घटनाओं को निर्णीत कर देने के लिए आगे रखते हैं।

इतने मात्र से इतिहास-विज्ञान की अनुमान-प्रक्रिया अन्यान्य विज्ञानों की प्रक्रिया से किस प्रकार भिन्न होती है, इसका अन्दाज नहीं हो पाता, पर काल-प्रवाह में वस्तुओं के परिवर्तन को यथार्थ रूप में देखने की मनोवृत्ति पैदा हो जाती है। इस प्रकार भूमिति के प्रमेयों में जो अनुमान-प्रक्रिया घटित हो या भौतिक विज्ञानों के गणितबद्ध कार्य कारणादि संबंधों के ग्रहण में जो अनुमान-प्रक्रिया संस्कारित हो उसमें भिन्न प्रकार की अनुमान-प्रक्रिया इतिहास की घटनाएँ निश्चित करने में—उसे प्रवाह-बद्ध करने में—और उसके आधार पर व्यक्तियों तथा संस्थाओं की लाक्षणिकता का अनुमान करने में संस्कारित होती हैं।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, इतिहास का विषय सिखलाते समय इस प्रकार की मनोवृत्ति विद्यार्थी में उत्पन्न हो, यह उसकी घटनाओं के ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्व की बात है। इस प्रकार शिक्षा पाये हुये विद्यार्थी में दुनिया को समझने की—वस्तु-तत्त्व को पहचानने की—शक्ति पैदा होती है। वस्तुतत्त्व को, जिसके अनेक पहलू हैं, पूर्णरूप से समझने के लिए अनेक दृष्टियाँ आवश्यक हैं। इतिहास-दृष्टि भी इनमें एक है और प्रगति को अपना लक्ष्य माननेवाले व्यक्तियों के लिए उसका शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

इतिहास सिखलाने का उद्देश्य चरित्र-निर्माण और राष्ट्रीय अभिमान जाग्रत करना है, अथवा क्या? ऐसे प्रश्नों पर विस्तारभय से इस लेख में विचार करना संभव नहीं है, पर इतना तो निश्चय है ही कि सत्य समझने से अथवा सत्य समझने की इच्छा से प्रेरित मनोव्यापार की शिक्षा से चरित्र स्वयं ही बन जाता है और राष्ट्र-अभिमान अपने आप जाग्रत हो उठता है।

लेन्गलाई और साइनोबो (Langlois and Seignobos) ने अपनी इतिहास शास्त्र प्रवेशिका के ३२० से ३२२ तक के पृष्ठों में इतिहास सीखने, सिखलाने तथा उसका संशोधन करने का मुख्य लाभ निम्नलिखित शब्दों में बतलाया है:

"इतिहास का मुख्य गुण यह है कि वह मानसिक संस्कार के निर्माण का एक साधन होता है। ऐसा भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। प्रथम तो यह कि ऐतिहासिक अनुसन्धानोंकी पद्धति का अभ्यास चित्त को आरोग्य प्रदान करता है और चीज़ों पर सहज-विश्वास (Credulity) कर लेने की मानसिक वृत्ति को दूर कर देता है। दूसरे इतिहास नाना प्रकार के समाजों का दिग्दर्शन करा कर हमें इस बात के लिए तैयार करता है कि हम भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रथाओं को समझ सकें और उन्हें निभा सकें। इतिहास हमें यह भी दिखाता है कि समाज में प्रायः परिवर्तन होते रहते हैं और परिवर्तन के भय को हमारे हृदय से दूर कर देता है। अन्तिम लाभ यह कि भूतकालीन विकासों के चिन्तन से हमें वह दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे हम यह बात भलीभांति समझ सकते हैं कि स्वभाव-परिवर्तन तथा नवीन पीढ़ियों के पुनरुत्थान से किस प्रकार प्राणिशास्त्र ही बदल जाता है। इससे हम जीव-विज्ञान के नियमों का सामाजिक विकास के नियमों के साथ तारतम्य बैठाने के प्रलोभन से बच जाते हैं। इतिहास से हमें यह भी पता चल जाता है कि सामाजिक विकास का कारण वही चीजें नहीं होतीं, जिनसे जीवों का विकास होता है।"

भृगु ऋषि अथर्ववेद में कहते हैं: **कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।**
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

अर्थात्—सहस्र नेत्रों वाला नित्य युवा, अति प्रकाशमान, सप्त प्रकार की लगामों (किरणों) वाला काल रूपी अश्व चलता ही रहता है और ज्ञानी कविजन उस पर सवार होते हैं। समूचा विश्व उस अश्व के लिए भ्रमण मार्ग है।

उछल-कूद करने, काल-अश्वके ऊपर सवार होने के लिए ज्ञानी कवि बनना पड़ता है। इतिहास का ज्ञान भी ऐसा ही कौशल प्रदान करता है।

अहमदाबाद]

देवगढ़ का गुप्तकालीन मंदिर

श्री माधवस्वरूप 'वत्स' एम० ए०

गुप्त-युग प्राचीन भारत का 'स्वर्ण-युग' कहा गया है। भारत के राजनैतिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, कलात्मक तथा वास्तु-संबंधी कार्यों पर गुप्त-युग ने एक अमिट छाप लगा दी है। प्रतापी मौर्य सम्राट् अशोक के राज्य-काल में बौद्धधर्म की पताका फहरने लगी थी, परन्तु उसके बाद ही ब्राह्मण-धर्म की जाग्रति होने लगी और गुप्तकाल में इस धर्म ने महान् उत्कर्ष प्राप्त किया। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में गुप्त साम्राज्य की प्रभुता पांचवी शती के बाद नहीं रही तथापि सांस्कृतिक क्षेत्रों में यह साम्राज्य के नष्ट होने के डेढ़ सौ वर्ष बाद तक बनी रही। इस युग की मूर्तिकला की भांति चित्र-कला में भी जो समन्वय तथा संयम की भावना, कारीगरी की पूर्णता तथा अंग-प्रत्यंगों का सुस्पष्ट संयोजन देखने को मिलता है उसमें बढ़िया अन्यत्र दुर्लभ है। अजंता (अनित्य) और बाघ, बादामी तथा सित्तन्नवासल आदि के कलाकोष तथा सारे भारत भर में बिखरी हुई इस युग की अनेकानेक मूर्तियाँ जो वास्तव में आदर्श कला-प्रदर्शन के कारण बहुमूल्य हैं, कला-कोविदों की प्रशंसा का पात्र बन चुकी हैं। वास्तुकला के क्षेत्र में भी इस युग में भारतीय मंदिर-निर्माण की दो रीतियों का प्रादुर्भाव पाया जाता है—एक नागर रीति और दूसरी द्राविड़। पहली का विस्तार उत्तर भारत में शिखरों के रूप में हुआ और दूसरी दक्षिण भारत में विमानों के रूप में विकसित हुई। ये दोनों शैलियाँ दक्षिण में एहोल के दुर्गा और लादखां के मंदिरों में साथ-साथ पाई जाती हैं। देवगढ़ तथा भीतरगांव के मंदिरों में चौरस छत के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है, जैसा कि साँची, तिगवा, नचना, कुठारा तथा उत्तर भारत के अन्य मंदिरों में पाया जाता है। धीरे-धीरे मध्यकाल में उक्त दोनों शैलियाँ क्रमशः उत्तर तथा दक्षिण भारत की मंदिर-निर्माण-कला का प्रतीक हो गईं। पत्थर के बने हुए प्राचीन शिखर का नमूना उत्तर भारत में केवल एक मिलता है और वह देवगढ़ (जिला झांसी) का दशावतार मंदिर है, जिसका समय छठी शताब्दी ई० का प्रारम्भ माना जा सकता है। यद्यपि इस मंदिर के शिखर का ऊपरी भाग बहुत समय पहले नष्ट हो गया, तथापि हाल में मुझे सौभाग्य से शिखर के अलंकृत द्वार-स्तंभ के बाहरी शोभापाल के ऊपर पत्थर की कुछ अनुकृतियाँ मिलीं, जिन्हें मैं इसी मंदिर या इससे मिलते हुए किसी अन्य समकालीन मंदिर के छाया-अंश समझता हूं। ऐसा मालूम पड़ता है कि देवगढ़ का मंदिर सीधी रेखाओं से निर्मित एडूक (पिरामिड) के समान था, जिसकी मेधियाँ क्रमशः छोटी होती चली गई थीं। मंदिर की प्रत्येक दीवार के बीच में जो बाहर निकला हुआ बड़ा हिस्सा था, जिसमें एक चौड़ा, गहरा खुदा हुआ आला दो खंभों के बीच में बनाया गया था, वह शिखर के ऊपर तक पहुँचता था और उस पर प्रधान अलंकरण की वस्तु प्राचीन चैत्यों में उपलब्ध वातायन की रचना थी। मंदिर के द्वार-स्तंभ पर शिखर की प्रतिकृति बनी हुई है। उससे यह भी पता चलता है कि कोनों में तथा सिरे पर आमलक बनाये गये थे। अतः देवगढ़ में हमको गुप्त कालीन शिखर का एक विकसित रूप देखने को मिलता है, जो बाद में समय के अनुसार अधिक ऊँचा, पिरामिड की शक्ल का, अंडाकार, अधिक विकसित तथा अलंकृत होता गया। कुछ कारणों से, जिन्हें मैं यहाँ देना नहीं चाहता, कनिंघम के इस कथन से मैं सहमत नहीं हूँ कि चूंकि चबूतरे के ऊपर कुछ खंभे पड़े मिले थे, अतः चबूतरे के चारों तरफ एक-एक स्तम्भयुक्त मंडप रहा होगा, जो उन्हीं खंभों पर सधा था। राखालदास बनर्जी का भी यह मत कि सारे चबूतरे के ऊपर एक समतल छत थी, ठीक नहीं प्रतीत होता। जैसा कि कनिंघम ने लिखा है, चबूतरे के ऊपर का उठा हुआ मंदिर का हिस्सा नौ वर्गों में विभक्त था और उनके बीचोंबीच गर्भगृह स्थित था। अधिष्ठान की जो खुदाई रायबहादुर दयाराम सहानी ने करवाई है, उससे प्रत्येक कोने में एक छोटे वर्गाकृति मंदिर का पता चला है। इस प्रकार मंदिर के मध्य भाग (गर्भगृह) को मिलाकर दशावतार मंदिर उत्तर भारत में प्रचलित पंचरत्न शैली का सबसे प्राचीन

उदाहरण प्रदर्शित करता है। मंदिर का जगती-पीठ मूर्तिखचित शिलापट्टों की कम-से-कम दो श्रेणियों से अलंकृत था, जिनमें से छोटी कतार बड़ी वाली के ऊपर बनाई गई थी। बड़े शिलापट्टों में से दो अब भी अपने पुराने स्थान पर स्थित हैं। अब हम इस महत्त्वपूर्ण सुन्दर मंदिर के विषय में कुछ जानकारी के लिए उसका अति संक्षिप्त वर्णन यहाँ देंगे।

ऊँचे चबूतरे तक पहुँचने के लिए सीढ़ियों पर से जाना पड़ता है, जो हर बाजू के बीचोंबीच सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। चबूतरे की लंबाई हर तरफ ५५ फीट ६ इंच है और उसके प्रत्येक कोने पर एक-एक छोटेछोटे मंदिर हैं जो ११ फ़ीट वर्गाकृति में हैं। इन मंदिरों के अब केवल चिह्न अवशिष्ट हैं। सीढ़ियों के कारण पीठ की लंबाई हर तरफ दो भागों में बँट गई है। उनमें से भी हर एक भाग की लंबान को बीचोंबीच निकलते हुए पीठ से विभक्त किया गया है, जिस पर उत्कीर्ण शिलापट्ट आश्रित हैं। ये शिलापट्ट जगतीपीठ के अन्य पट्टों से कुछ बड़े हैं और तीनों तरफ उत्कीर्ण हैं।

अधिष्ठान अब बहुत नष्ट हो चुका है, यद्यपि यह बात स्पष्ट है कि वह मंदिर के दरवाजे की देहली की सतह तक उठा रहा होगा। यह सतह सीढ़ियों के अंत में रक्खी हुई चन्द्रशिला से करीब नौ फीट ऊँचाई पर थी। उसके ऊपर चारदीवारी के किनारे की निचली दीवाल करीब दो फीट और ऊँची उठी रही होगी।

मंदिर का गर्भगृह सादा और चौकोर (१८' ६"×१८' ६") है। इसका मुख पश्चिम की ओर है तथा उसमें एक बहुत बढ़िया उकेरा हुआ द्वार है। शेष तीनों तरफ एक-एक चौड़ा मूर्ति-खचित शिलापट्ट है, जो एक गहरे आले में जड़ा है। इस आले या 'रथिका' के दोनों ओर दो निकलते हुए शाखास्तंभ या बाजू हैं। मंदिर-द्वार और रथिकाओं (niches) के उतरंगे (lintel) की ऊँचाई पर भारतुला (entablature) थी, जिस पर अत्यन्त सादा तोरणाकृति गवाक्षों (arched window pattern) का अलंकरण बना हुआ था। इससे भी ऊपर चारों ओर दौड़ता हुआ छज्जा था, जो चार कोनों से निकली हुई धरनों पर टिका था। छज्जे से द्वार और रथिका-बिम्बों की रक्षा होती थी और उनके दर्शन में भी बाधा न पहुँचती थी। शिखर ने जो रूप ग्रहण किया, उसके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

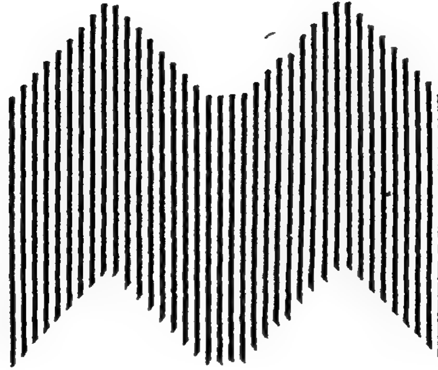
दरवाजे की चौखट (११' २"×१०' ६") के चार मूर्ति-खचित पहलू हैं, जो चौखट के चारों ओर बने हुए हैं। प्रत्येक पहलू पर नीचे एक खड़ी हुई मूर्ति है। सबसे भीतर के पहलू पर पहली मूर्ति एक प्रभामंडल-युक्त पुरुष की है, जिसके दोनों ओर एक-एक स्त्री-मूर्ति हैं। चौखट के बाहरी किनारों पर एक खड़ा हुआ बड़ी तोंद का बौना (कीचक) है, जो अपने दोनों हाथों से एक चिपटा घड़ा (मंगलघट) थामे हुए है। गुप्त-कला के अनुरूप बने हुए इस घट में एक सुन्दर लतावलि निकलती हुई दिखाई गई है, जो पत्तियों और पुष्पों से युक्त है। उष्णीश की ऊँचाई तक पहुँचकर यह लता-वितान १० इंच पीछे खिसकता हुआ दिखाया गया है, जिससे ठीक दाहिने गंगा की मूर्ति और बाएँ यमुना की मूर्ति को यथोचित स्थान दिया जा सके। इन दोनों मूर्तियों के ऊपर छत्र हैं और दोनों अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ दिखाई गई हैं। नदी देवताओं का इस प्रकार सिरदल के किनारों पर चित्रण गुप्त-कालीन अन्य प्राचीन मंदिरों में भी मिलता है। सिरदल के मध्य में विष्णु भगवान अनंत के ऊपर बैठे दिखाये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये वही देव हैं, जिनके लिए मंदिर का निर्माण किया गया था। बाँए से दाहिनी ओर की परिक्रमा करते हुए हम उन मूर्तियुक्त शिलापट्टों के पास पहुँचते हैं, जिनके दृश्य भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उत्तर की ओर का पट्ट गजेन्द्रमोक्ष की व्यथा प्रदर्शित करता है। पूर्व की ओर वाला नर और नारायण की तपस्या का सूचक है तथा दक्षिण की ओर वाले पट्ट पर अनन्तशायी विष्णु विराजमान हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, मंदिर का अधिष्ठान दो कतारों में लगे हुए शिलापट्टों से अलंकृत था, जिनमें रामायण और महाभारत के दृश्य अंकित किये गये थे। दुःख की बात है कि मूर्तियों का बहुत थोड़ा अंश बच पाया है। किंतु जो मूर्तियाँ इस समय उपलब्ध हैं, वे बड़े मनोरंजक अध्ययन का विषय हैं। वे वहीं के एक गोदाम में सुरक्षित हैं।

रामायण संबंधी शिलापट्टों में अहल्या-उद्धार, वन-गमन, अगस्त्याश्रम में राम, लक्ष्मण और सीता का जाना, शूर्पणखा के नाक-कान काटना, वालि-सुग्रीव-युद्ध, लक्ष्मण के द्वारा सुग्रीव का अभिषेक, लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदि का पुनः सम्मिलन, लक्ष्मण को जीवित करने के लिए हनुमान का औषधि लेकर द्रुतगामी होना आदि हैं। महाभारत के कुछ दृश्यों में से कृष्ण-जन्म, नंद-यशोदा के द्वारा बलदेव और कृष्ण को खिलाना, तथा शकट-लीला आदि हैं। एक बिगड़े हुए शिलापट्ट पर, जो अब भी अपने पुराने स्थान पर स्थित है, वामनावतार का दृश्य है। मंदिर के अधिष्ठान पर विष्णु के अन्य कौन-कौन अवतार बने हुए थे, यह अब नहीं कहा जा सकता।

यह विशाल मंदिर अब इतना अधिक नष्ट हो चुका है कि इसका काल्पनिक पूर्ण मान-चित्र बनाने के लिए काफी परिश्रम की आवश्यकता है। केवल ऐसे चित्र के द्वारा ही न केवल इस मंदिर का खाका हो समझ में आ सकता है, अपितु इसके प्राचीन सौंदर्य का भी अनुमान हो सकता है। इस दिशा में कार्य करने की मेरी अपनी धारणा है। अंत में मैं विद्वानों तथा अपने सहयोगियों से हार्दिक प्रार्थना करूँगा कि वे गुप्त-कला की अवशिष्ट कृतियों का, जो इस देश की अमूल्य रत्न-राशि हैं, अधिक मनोयोग के साथ अध्ययन, संरक्षण और प्रकाशन करें।

आगरा]



मथुरा का जैन स्तूप और मूर्तियाँ

श्री मदनमोहन नागर एम्० ए०

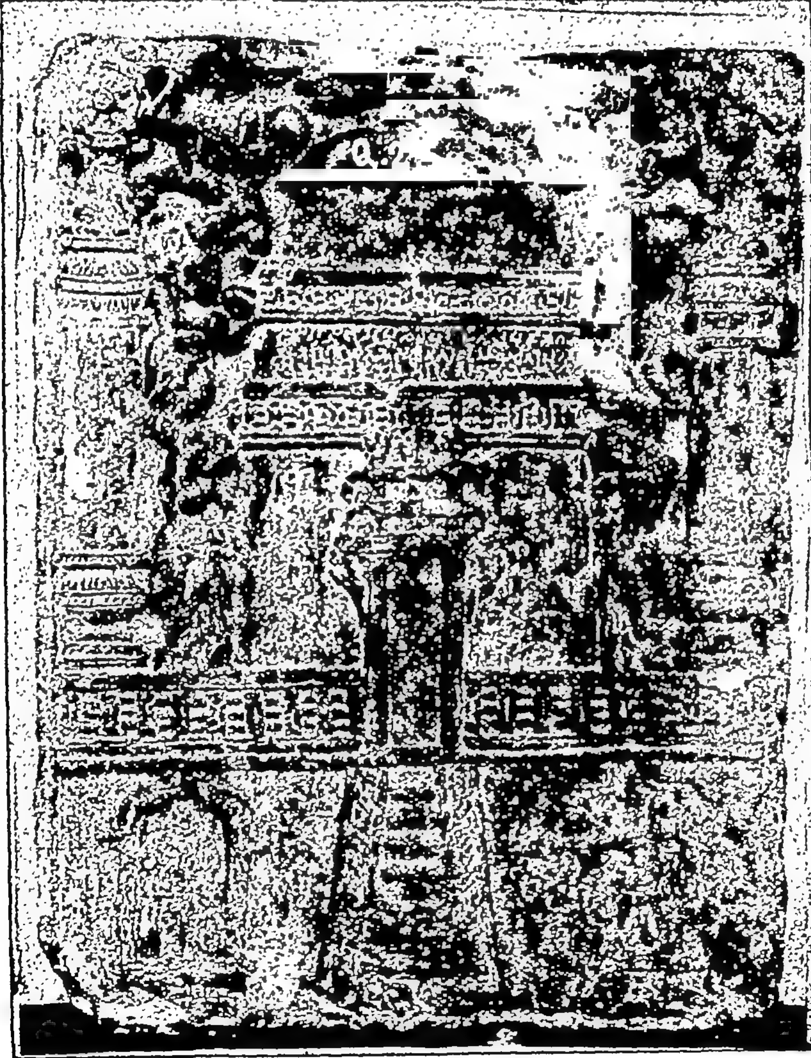
भारतवर्ष के इतिहास में मथुरा जिस प्रकार हिन्दू और बौद्ध धर्म के लिए अग्रणी रहा उसी प्रकार जैन धर्म और कला का भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रमुख स्थान था। ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व से ही यहाँ के स्वच्छन्द वातावरण में जैन धर्मानुयायी हिन्दू और बौद्धों के साथ प्रीतिपूर्वक अपने उच्च जीवन को बिता रहे थे। बौद्धों के बुद्ध और बोधिसत्व तथा हिन्दुओं के ब्रह्मा, विष्णु आदि की तरह जैनों के तीर्थंकरों की भी मूर्तियों का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा में हुआ[1] और इस प्रकार इस पवित्र नगरी को ही भारतवर्ष के तीनों प्रधान धर्मों के देवी-देवताओं को मूर्तिमान् करने का श्रेय प्राप्त हुआ। यदि उत्तरी भारत में कोई भी ऐसा स्थान है, जहाँ प्राचीन जैन-कला तथा मूर्ति-विज्ञान का विशिष्ट तथा सम्यग् अध्ययन किया जा सकता है तो वह मथुरा ही है।

जैन धर्म की जो कुछ पुरातत्त्व सामग्री हमें मथुरा से प्राप्त हुई है वह अधिकांश कंकाली टीले से है। यह टीला नगर से बाहर दो मील की दूरी पर आगरा-दिल्ली रोड पर बसा है। कंकाली टीला मथुरा के बहुत ही घनी टीलों में से है और प्राचीन काल में उत्तरी भारत में जैन धर्म और स्थापत्य कला का सबसे बड़ा केन्द्र था। इस टीले से कुछ हिन्दू और बौद्ध मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनसे संभवतः यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म की बढ़ती देखकर हिन्दुओं और बौद्धों ने भी उनके समीप अपना केन्द्र बना लिया था। इस टीले की चोटी पर एक नक्काशीदार खंभा है जिसे आजकल लोग कंकाली देवी कर के पूजते हैं और जिसके कारण इस टीले का नाम 'कंकाली' टीला पड़ा है। किन्तु वास्तव में इस स्थान पर एक प्राचीन जैन स्तूप था जो 'बौद्ध स्तूप' के नाम से प्रसिद्ध था। यह स्तूप ईस्वी दूसरी शती में इतना प्राचीन समझा जाने लगा था कि लोग इसके वास्तविक बनाने वालों को नितान्त भूल गये थे और इसे देवों का बनाया हुआ मानने लगे थे। इससे यह प्रतीत होता है कि 'बौद्ध स्तूप' बहुत ही प्राचीन स्तूप था, जिसका निर्माण कम-से-कम ईस्वी पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दी में हुआ होगा। इस अनुमान की पुष्टि का दूसरा प्रमाण यह भी है कि तिब्बतीय विद्वान् तारानाथ ने लिखा है कि मौर्य काल की कला यक्ष-कला कहलाती थी और उससे पूर्व की कला देव-निर्मित कला। अतः यह सिद्ध होता है कि कंकाली टीले का जैन स्तूप कम-से-कम मौर्य काल से पहले अवश्य बना था। कहा जाता

---

[1] लेखक महाशय की यह धारणा कि हिन्दू और बौद्ध मूर्तियों के समान जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां भी कुषाण काल में मथुरा में ही बननी शुरू हुईं, कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ईसा पूर्व की दूसरी सदी (१७३ बी० सी०-१६० बी० सी०) के उड़ीसा प्रान्त वाले सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फ शिलालेख के आधार पर डा० जायसवाल के मतानुसार यह साफ विदित है कि खारवेल के समय से भी पहले उदयगिरि पर जैन अर्हन्तों के मंदिर बने हुए थे। सम्राट् खारवेल ने मगध साम्राज्य को परास्त कर आदि-जिन ऋषभदेव की उस मूर्ति को, जो तीन सौ वर्ष पहले मगध राज नन्दिवर्धन उदयगिरि से उठा कर ले गया था, ला कर पुनः स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त १४ फरवरी १९३७ को पटना जंकशन स्टेशन से एक मील की दूरी पर लोहियापुर से पृथ्वी खोदते समय जो ढाई फ़ुट ऊँचा नग्न मूर्तिखंड मिला है और आजकल पटना अजायबघर में रक्खा हुआ है वह डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार उपलब्ध जैन-मूर्तियों में प्राचीनतम जैनमूर्ति है और ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पुरानी है। डा० जाय सवाल का उपरोक्त मत २० फरवरी १९३७ वाले 'सर्चलाइट' में प्रकाशित और जैन ऐंटिक्वेरी, जून १९३७ में उद्धृत हुआ है। इन दोनों शिलालेख और पुरातत्त्व के उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां कुषाण काल से कई सदी पहले भारत के विभिन्न भागों में मौजूद थीं।—संपादक।

है कि मथुरा का यह स्तूप प्रारंभ में स्वर्ण-जटित था और इसे 'कुवेरा' नाम की देवी ने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की पुण्य स्मृति में वनवाया था। तत्पश्चात् तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी के समय में इसका निर्माण ईंटों से हुआ। इसके वाद लगभग आठवीं शताब्दी में वप्पभट्टसूरि ने इसकी मरम्मत कराई थी। इस अनुश्रुति के आवार पर भी मथुरा के प्राचीन जैन स्तूप का निर्माण काल लगभग ईस्वी पूर्व की छठी शताब्दी ठहरता है। इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास में यह स्तूप सवसे पुराना समझा जाता है। यह स्तूप कुषाण काल में वेदिकाओं, तोरणों आदि से अलंकृत था और इसमें कोट्टिय गण की वज्री शाखा के वाचक आर्य वृद्धहस्ति की प्रेरणा से एक श्राविका ने अर्हत् की मूर्ति स्थापना की थी।



चित्र १---आयागपट्ट, जिस पर 'वौद्ध-स्तूप' का नक्शा वना है (?)।

'वौद्ध-स्तूप' के समीप में दो वड़े-वड़े देव प्रासादों के भग्नावशेष भी मिले हैं। इनमें से एक मंदिर में एक तोरण का खंभा मिला है, जिसे महारक्षित आचार्य के शिष्य उत्तरदासक ने वनवाया था। इस पर के लेख के अक्षर भारहूत से पाये गये ई० पू० १५० के लगभग के धनभूति के तोरण के लेख के अक्षरों से पुराने हैं। अतः विद्वानों के

मत से इन मंदिरों का समय ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी का है। इन मंदिरों से ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दी तक के शिला-लेख और शिल्प के उदाहरण मिले हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि लगभग १४०० वर्ष तक जैन धर्म के अनुयायी यहाँ निरंतर तरह-तरह के सुन्दर शिल्प की सृष्टि करते रहे। कंकाली टीले से अब तक प्रायः सौ शिलालेख और डेढ़ हजार पत्थर की मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें वेदिकाएँ, तोरण, आयागपट्ट, तीर्थंकर मूर्तियाँ, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ आदि प्रमुख हैं, जो अपनी उत्कृष्ट कारीगरी के कारण आज भी भारतीय कला के गौरव समझे जाते हैं।

बौद्ध स्तूपों की तरह मथुरा का जैन स्तूप भी चारों ओर एक प्रकार की वेष्टनि या चहारदीवारी से सुसज्जित था, जिसके चार अंग--स्तम्भ, सूची, आलंवन और उष्णीप—थे। इन वेदिकाओं के स्तंभों पर अनेकों



चित्र २—उत्तर गुप्तकालीन तीर्थंकर-मूर्तियाँ

सुभग गात्र वाली वनिताएँ अंकित हैं, जो माथुरी कला की अनुपम देन हैं। इनकी सुन्दर पोशाकों तथा भांति-भांति के रत्नजटित आभूषणों को देखकर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। अशोक, वकुल, आम्र और चंपक के उद्यानों में पुष्पचयन, शालभंजिका आदि क्रीड़ाओं में प्रसक्त अथवा कंदुक, खड्ग आदि के खेलों में संलग्न अथवा स्नान और प्रसाधन में लगी हुई कुलांगनाओं को देखकर कौन बिना मुग्ध हुए रह सकता है? इन पर बने हुए भक्ति-भाव से पूजा के लिए फूल-मालाओं की भेंट लाने वाले उपासकों की शोभा निराली है। सुपर्ण और किन्नर आदि अर्द्ध देवों की पूजा के दृश्यों से इन वेदिकाओं की सुन्दरता तथा महिमा और भी भावगम्य हो गई है। ऐसी ही वेदिकाओं से सुसज्जित एक स्तूप का दृश्य हमें मथुरा के अजायबघर में प्रदर्शित एक आयागपट्ट (चित्र १) पर मिलता है। बीच में एक गोलाकार स्तूप है, जिस पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। स्तूप के चारों ओर वेदिकाएँ (Railings) हैं। चारों दिशाओं में तोरणों से सुसज्जित बहिर्द्वार (Gateways) बने हैं। इन बहिर्द्वारों के खंभों को संभालने के लिए तुड़ियाएँ (Brackets) दी गई हैं, जिन पर चापभुग्नगात्रों वाली यक्षियाँ उत्कीर्ण हैं।

आयागपट्ट (Tablet of homage) पत्थर के उस चौकोर टुकड़ों को कहते हैं, जो अनेकों प्रकार के मांगलिक चिह्नों से अंकित कर के किसी तीर्थंकर को चढ़ाया गया हो। कंकाली टीले से इस प्रकार के कई आयागपट्ट

पाये गये हैं, जो जैन-कला में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इन पर नांद्यावर्त, कमल, वेलवूटे, अष्ट मांगलिक चिह्न, वज्र, स्वस्तिक आदि अंकित हैं और इनके बीच में समाधिमुद्रा में कोई तीर्थंकर विराजमान रहते हैं। जैन-मूर्ति-विज्ञान में ये आयागपट्ट सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध अवशेष माने गये हैं। कारण, इन पर हमें सर्व-प्रथम तीर्थकरों की मूर्तियाँ मिलती हैं। इससे पहिले बौद्ध कला की भांति जैन-कला में भी भगवान् की पूजा केवल चिह्नों द्वारा होती थी। अधिकांश आयागपट्टों पर तो चिह्न तथा मानुषीरूप दोनों का अनुपम सम्मिश्रण है।



चित्र ३—गुप्तकालीन तीर्थंकर-मूर्ति

ई० स० प्रथम शताब्दी में जैन धर्म में तीर्थकरों की पृथक् मूर्तियों का बनना प्रारंभ हुआ। ये मूर्तियाँ बड़े सादे ढंग से बनाई जाती थीं। इनमें जिन-लोग या तो खड्गासन में खड़े रहते थे या समाधिमुद्रा में बैठे। ये मूर्तियाँ दिगम्बर संप्रदाय की होने के कारण वस्त्र-विहीन हैं। इनमें केवल आदिनाथ, पार्श्वनाथ या सुपार्श्वनाथ, अजितनाथ और महावीर स्वामी का चित्रण ही मिलता है। मूर्ति-विज्ञान पूर्णरूप से विकसित न होने के कारण इस समय तक चौवीसों तीर्थकरों के चिह्न, लांछन आदि ठीक-ठीक नियत नहीं हुए थे। इसलिए कुषाण काल की तीर्थंकर मूर्तियों में एक दूसरे का भेद नहीं किया जा सकता है। हाँ, आदिनाथ के वाल (चित्र २) तथा पार्श्व और सुपार्श्वनाथ के सर्प-फण हमें केवल इनको पहिचानने में सहायता देते हैं। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के कलेजे पर के श्रीवत्स के कारण और सिर पर उष्णीष के अभाव के कारण हम इन्हें इस काल की बुद्ध-मूर्तियों से अलग आसानी से पहिचान सकते हैं। मथुरा के कलाविदों ने इसी समय से एक प्रकार की चौमुखी मूर्तियों को भी बनाना शुरू किया, जो सर्वतोभद्रिका प्रतिमा अर्थात्

वह शुभ मूर्ति जो चारों ओर से देखी जा सके, कहलाती थीं। इन मूर्तियों में चारों दिशाओं में एक तीर्थंकर की मूर्ति बनी हुई है। इन चौमुखी मूर्तियों में आदिनाथ, महावीर, सुपार्श्वनाथ अवश्य होते हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा में कुषाण और गुप्त काल में बहुतायत से बनती थीं और उनके अनेकों सुन्दर उदाहरण इस समय अजायबघर में प्रदर्शित हैं। किन्तु सभ्यता और शान्ति की यह दशा बहुत दिनों तक न टिक सकी और ईस्वी ४७५ के लगभग से उत्तरी भारत पर हूणों के भयानक आक्रमण होने लगे। इन आक्रमणों से मथुरा की स्थापत्य कला को बड़ा धक्का लगा और वह फिर कभी उस पुराने चोटी के स्थान को प्राप्त नहीं कर सकी। अतः ई० छठी शताब्दी के पश्चात् के जो नमूने हमें मिले हैं वे भोंड़े और भद्दे हैं और उनमें पहिले की सी सजीवता नहीं है।

इसी काल से मथुरा में श्वेताम्बर संप्रदाय का भी सिक्का जमा और बिना कपड़ेवाली मूर्तियों में कपड़े दिखाये जाने लगे। श्वेताम्बरियों की ही कृपा से इन मूर्तियों में पहिले-पहल राजसिंहासन, यक्ष, यक्षिणी, त्रिछत्र, गजेंद्र आदि दर्शाये गये, जो उत्तर गुप्त काल और उसके बाद की जैन मूर्तियों के विशेष लक्षण हैं। इन्हीं के साथ-साथ मध्य काल के माथुरी तक्षकों ने यक्ष-यक्षिणियों और जैन मातृकाओं की भी पृथक् मूर्तियाँ बनाना प्रारंभ किया। मथुरा अजायबघर में प्रदर्शित जैन यक्ष वरणेंद्र (नं० १३६) की मूर्ति इसी काल की है। इनके हाथ में एक चक्र है और सिर पर सापों के फण। ये सुपार्श्वनाथ की सेवा में रहते हैं। ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की भी एक सुन्दर मूर्ति मिली है। इसमें देवी गरुड़ पर सवार है और इसके आठों हाथों में चक्र है। गोद में बच्चों को लिये हुए और कल्प वृक्ष के नीचे बैठी हुई मातृकाओं की भी कई मूर्तियाँ हमें कंकाली टीले से मिली हैं।

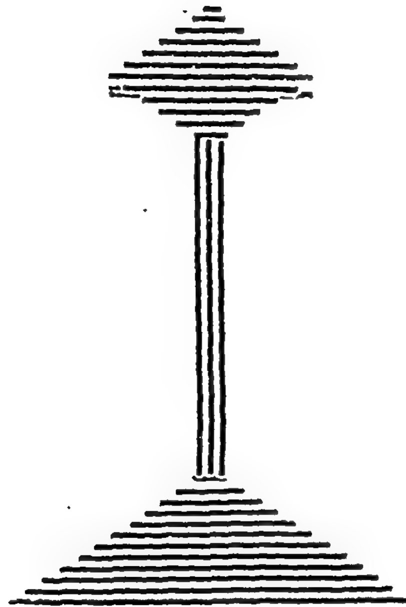
तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त कुषाण काल की एक विशेषता थी भगवान नैमेष की पूजा। नैमेष, नैगमेष या हरिनैगमेष जैन पंथ में संतानोत्पत्ति के प्रमुख देवता थे। इनकी पुरुष और स्त्री दोनों विग्रहों में मूर्तियाँ मिली हैं। संभवतः पुरुष विग्रह की मूर्तियाँ पुरुषों के पूजने के लिए थीं और स्त्री विग्रह की मूर्तियाँ स्त्रियों के लिए। मूर्तियों में नैगमेष का मुख बकरे का दिखाया गया है। गले में लंबी मोती की माला भी है, जो इनका विशेष चिह्न है।

मथुरा से प्राप्त जैन मूर्तियों पर के लेख ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। इनमें पाये गये कुषाण राजाओं के नाम तथा तिथियों से हमें उनके क्रमिक इतिहास (Chronological history) तथा राज्य काल की अवधि का पता चलता है। यदि ये लेख न मिले होते तो कनिष्क, हुविष्क जैसे देवतुल्य प्रतापी सम्राटों का ज्ञान हमें केवल नाममात्र का ही रहता। इन लेखों से हमें विदित होता है कि इनकी दाता अधिकांश स्त्रियाँ थीं, जो बड़े गर्व के साथ अपने पुण्य का भागधेय अपने माता, पिता, सास, ससुर, पुत्र, भाई, पुत्री आदि आत्मीयों को बनाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की तरह उस समय भी धर्म की स्तंभ स्त्रियाँ ही थीं। इन स्त्रियों में बहुत सी विधवाएँ होती थीं, जो इस शोकजनक अवस्था के कारण घर-गृहस्थी छोड़कर सन्यास ले लेती थीं और जैन-संघ में भिक्षुणी बन जाती थीं। ऐसी ही एक स्त्री कुमारमित्रा थी, जिसने वैधव्य के दुःख से दुखी होकर सन्यास ले लिया था और जिसके पुत्र ने एक वर्धमान प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। लेख में कुमारमित्रा को संशित, मोखित और बोधित (Whetted, polished and awakened) कहा गया है। इन लेखों में जो गण, कुल, संघ, गोत्र, शाखा, संभोक आदि शब्द आये हैं इनसे उस समय के जैन समाज के विभिन्न धार्मिक दलों का पता चलता है। अभाग्यवश इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ अब तक विद्वानों की समझ में नहीं आया, पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दल भिन्न-भिन्न गुरुओं के अपने स्थापित किये हुए थे अथवा यह भी संभव है कि ये शब्द वैदिक काल के प्रवर, गोत्र, शाखा आदि के प्रतिरूप हों।[1] लेखों की भाषा मिली-जुली प्राकृत और संस्कृत है, जो भाषा-विज्ञान (Philology) की दृष्टि से बड़े महत्त्व

[1] उक्त लेखों में जो संघ, गण, गच्छ, शाखा आदि शब्द आये हैं, उनका संकेत जैन श्रमणों के उन विभिन्न संघों की ओर है, जो ईसा पूर्व की पहली सदी के करीब जैन-श्रमणों में अपनी-अपनी आचार्य-परम्परा और पर्यटन-भूमि की विभिन्नता के कारण पैदा होने शुरू हो गये थे।—संपादक।

की है। कारण, यह प्राचीन संस्कृत और आजकल की हिन्दी, मराठी, बंगला-गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं के बीच एक कड़ी-सी है। इनकी भाषा में संस्कृत के शब्दों के वे स्वरूप हैं, जिनके माध्यम से आजकल की उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं के मूल शब्द को हम ढूंढ़ निकालते हैं। इन लेखों में से एक लेख से हमें पता चलता है कि मथुरा में ईसवी पहली शताब्दी में नाचने और नाटक खेलने वालों के कुछ घर थे, जो इन कामों को पेशे के तौर पर करते थे। भगत, नाच, रास आदि प्राचीन परंपरा से मथुरा में चले आ रहे हैं और इन पर अनुसंधान करने वालों के लिए यह लेख अवश्य ही बड़े महत्त्व का है।

लखनऊ]



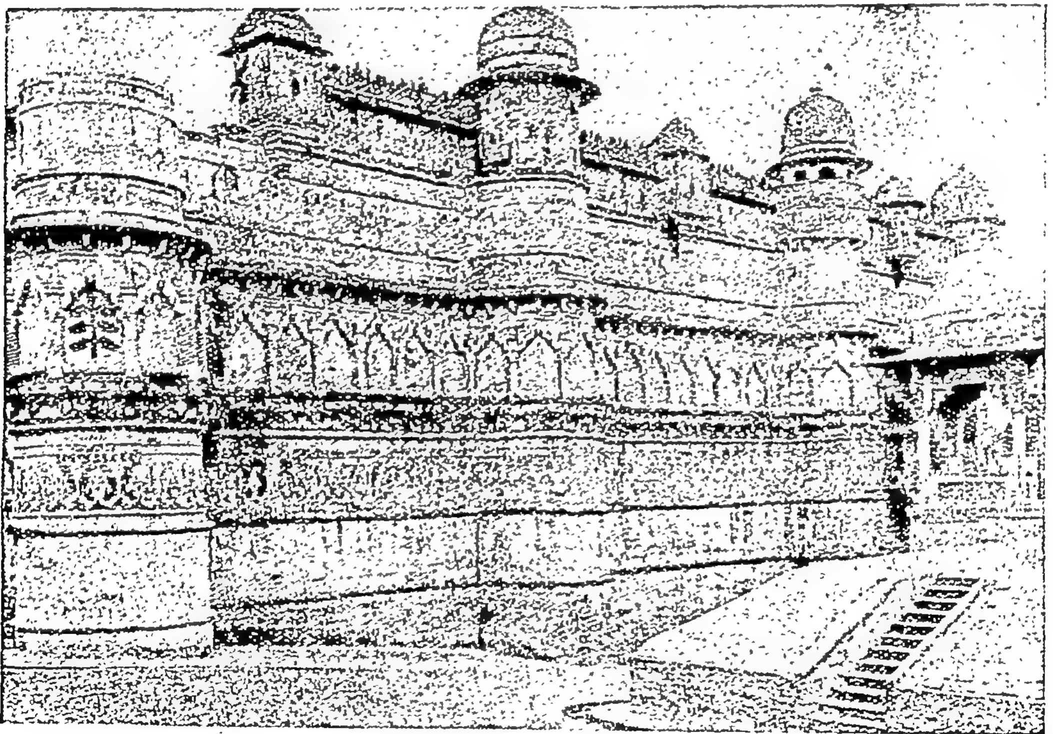
महाराज मानसिंह और 'मान-कौतूहल'

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०

एक वार दिल्ली जो तोमरों के हाथ से निकली तो फिर प्रयास करने के वाद भी कभी उनकी न हो सकी। यद्यपि चारण-भाट कहते ही रहे—

"फिर फिर दिल्ली तौरों की, तौर गये तव औरों की।"

परन्तु दिल्ली औरों की हो गई और तौरों को आश्रय मिला ग्वालियर के क़िले और उसके निकट के प्रदेश में, जिसका आज भी 'तौंरघार' नाम प्रसिद्ध है। तोमरों का सूर्य एक वार दिल्ली में अस्त होकर पुनः चौदहवीं शताव्दी के अन्त में ग्वालियर-गढ़ पर उदय हुआ, जव वीरसिंहदेव तोमर ने तैमूर के हमले के वाद अपने आपको स्वतन्त्र महाराजा घोषित

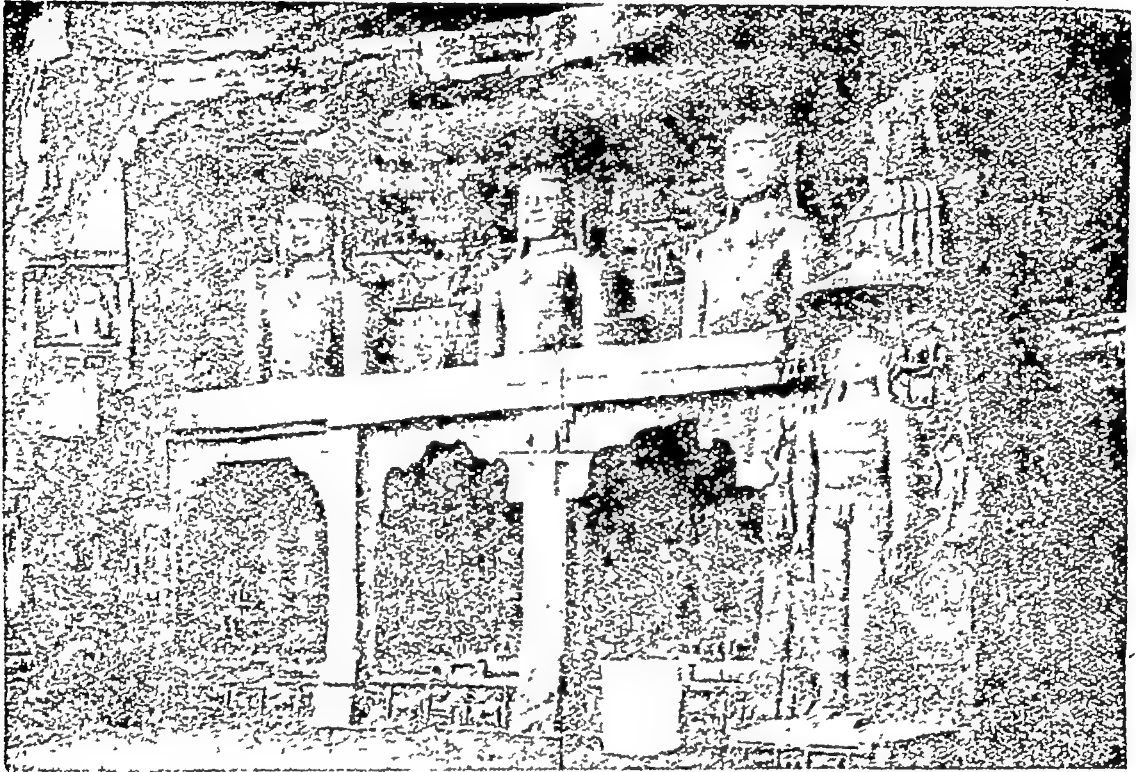


महाराज मानसिंह तोमर द्वारा निर्मित मानमंदिर के भित्ति-चित्र और पत्थर की कारीगरी

कर ग्वालियर के तोमर-वंश की स्थापना की। प्रायः एक शताव्दी तक इस वंश ने धर्म-भीरु, कला और साहित्य-प्रेमी नरेशों को उत्पन्न किया। गणपतिदेव, डूंगरेन्द्रदेव, कीर्तिसिंह, कल्याणमल्ल ऐसे नाम हैं, जिन्हें ग्वालियर-क़िले का दर्शक अनेक पर्वताकार जैन-मूर्तियों की चरण-चौकियों तथा अन्य कला-कृतियों पर अंकित देखता है।

तोमरों का राज्य अपनी पराकाष्ठा को महाराज मानसिंह तोमर के काल में पहुँचा, परन्तु इस पूर्णचन्द्र के ग्रहण के लिए लोदी-वंश रूपी राहु प्रवल हुआ। इन महाराज ने सन् १४८६ में गद्दी सँभाली और तभी इन पर

वहलोल लोदी ने आक्रमण कर दिया। वड़ी कठिनाई से महाराज अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके, परन्तु वाद में इनकी शक्ति वढ़ती ही गई और सन् १४८६ ईसवी में वहलोल की मत्यु के पश्चात् जव सिकन्दर लोदी गद्दी पर वैठा तो वह इनकी शक्ति से वहुत प्रभावित हुआ और इनको घोड़ा तथा वस्त्रों की भेंट भेजी। महाराज ने भी वदले में भेंट भेजी। कुछ समय पश्चात् फिर विद्वेष प्रारम्भ हुआ और सिकन्दर लोदी के सामने महाराज मानसिंह तोमर को अपनी शक्ति और ग्वालियर-गढ़ की अजेयता की अनेक वार सफल परीक्षा देनी पड़ी। सिकन्दर लोदी की मत्यु के वाद इब्राहीम लोदी गद्दी पर वैठा और उसने अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति के साथ ग्वालियर के मान के विरुद्ध हल्ला वोल दिया। तीस हज़ार घोड़े, तीन सौ हाथी और अगणित पैदल सैना से गढ़ को घिरा छोड़ कर महाराज मानसिंह अपनी कीर्ति-कौमुदी की छटा छोड़ सन् १५१६ ईसवी में सुरधाम पधारे।



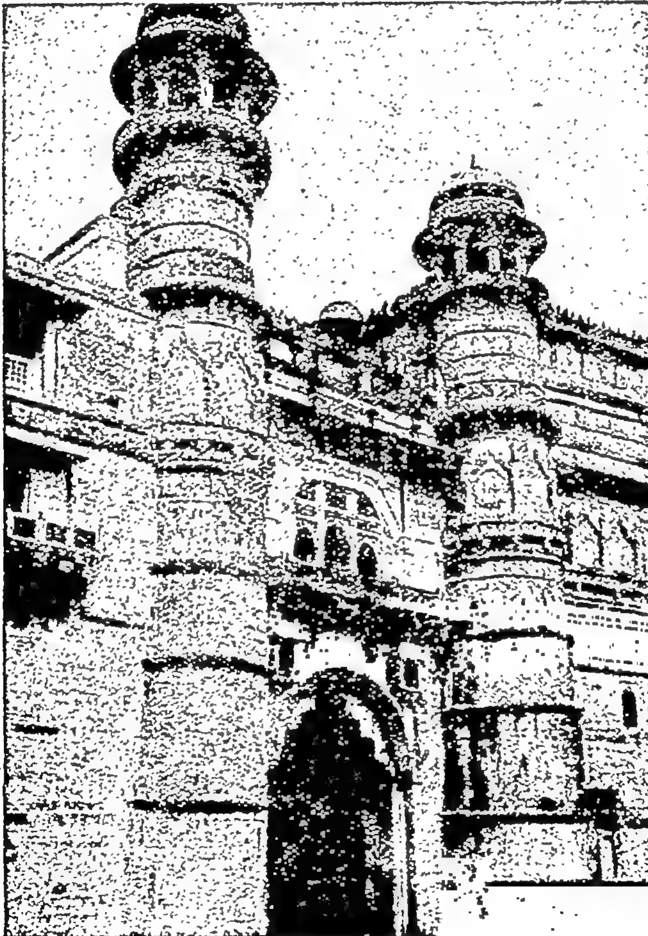
महाराज मानसिंह के पूर्वज डूंगरेन्द्रदेव द्वारा निर्मित ग्वालियर-गढ़ की तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियाँ

अपने राज्य-काल में महाराज मानसिंह ने अनेक झीलों का निर्माण कराया। ग्वालियर की मोतीझील, जहाँ आज विशाल वाटर-वर्क्स है, इन्हीं महाराज की वनवाई हुई है और जटवारे और तौंरघार में अनेकों सिंचाई की झीलों के निर्माण का श्रेय भी इन्हीं को है। इनके राज्य में प्रजा सुखी और सन्तुष्ट थी। यही कारण है कि आज राजा मान का नाम इस प्रदेश में 'वीर विकरमाजीत' के नाम के समान ही समादृत है। ये महाराज कला के अत्यधिक प्रेमी थे। आज भी ग्वालियर-गढ का प्रत्येक दर्शक गूजरी महल और मानमन्दिर के निर्माता के वास्तु-कला-प्रेम की स्थायी छाप लेकर जाता है। गूजरी मृगनयना और उसके लिए राई ग्राम से जल का नल लगवाने की किंवदन्ती ज्ञात होने पर उसके प्रेम का प्रमाण भी मिल जाता है। वे संगीत-कला के भी वहुत वड़े प्रेमी थे, यह कम लोगों को ज्ञात है।

इनके द्वारा निर्मित संगीत की 'मानकौतूहल' नामक पुस्तक की सूचना हमें काशी के श्री चन्द्रवली पांडे ने दी थी। यह जानकारी होते ही हमने उसकी खोज प्रारम्भ की। 'मध्ययुगीन-चरित्र-कोष' ग्रन्थ में यह उल्लेख प्राप्त

हुआ कि इसकी एक प्रति रामपुर के राजपुस्तकालय में है।

कर्नल राजराजेन्द्र श्रीमन्त मालोजी राव नृसिंहराव शितोले के आग्रह से रामपुर राज्य के दीवान जनाब सैयद बी० एल० ज़ैदी सी० आई० ई०, बार-एट-लॉ ने कृपा कर उसकी प्रतिलिपि भेजने का वचन दिया। बड़ी उत्सुकता से उसकी बाट देख रहे थे कि एक दिन हमें फ़ारसी भाषा की पांडुलिपि रामपुर राज्य से प्राप्त हो गई। यद्यपि मूल 'मानकौतूहल' न प्राप्त कर सकने के कारण हमें कुछ खेद हुआ, परन्तु हमें जो कुछ प्राप्त हुआ वह सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। सम्राट् आलमगीर के काश्मीर के सूबेदार फ़क़ीरुल्ला का सन् १०७३ हिजरी (ई० सन् १६६६) में किया गया 'मानकौतूहल' का फ़ारसी-रूपान्तर हमें भेजा गया था।

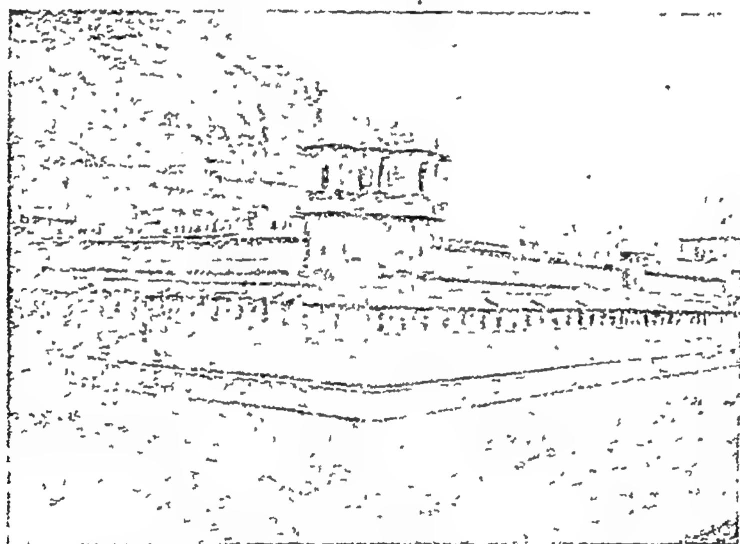


मानमंदिर की विशाल हथिया पौर

उस समय हिन्दू और मुसलमानों का सांस्कृतिक मेल कितना अधिक हो गया था, यह इस पुस्तक से स्पष्ट है। संगीत की अनेक पारिभाषिक बातों के साथ-साथ उस समय के सामाजिक एवं राजनैतिक इतिहास पर भी इस पुस्तक से काफ़ी प्रकाश पड़ता है। महाराज मानसिंह द्वारा ग्वालियर के गौरव में जो वृद्धि हुई, वह न केवल वास्तु-कला तक ही सीमित समझी जायगी, अपितु उसे अब सप्रमाण संगीत के क्षेत्र में भी स्वीकार करना पड़ेगा।

इस पुस्तक का सारांश यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। इस पुस्तक में दस अध्याय हैं।

पहले अध्याय में लेखक (अनुवादक) ने अपना नाम फ़क़ीरुल्ला दिया है और लिखा है कि सन् १०७३ हि० में एक पुरानी किताब मेरे देखने में आई, जिसका नाम 'मानकौतूहल' था। इस पुस्तक का कर्ता ग्वालियराधीश राजा मानसिंह को लिखा है। मानसिंह गान-विद्या में निपुण थे और प्रसिद्ध तो यह है कि ध्रुवपद का आविष्कार इसी राजा ने किया। एक बार संयोग से नायक वख्शू पांडवीय, जो तैलंगाना देश से कुरुक्षेत्र स्नान करने आया था, देव आहंग (दैत्य के से स्वर वाला) नायक महमूद और नायक करण इस राजा की सभा में उपस्थित हुए। राजा ने इसे स्वर्ण-संयोग समझा। शिक्षार्थियों को सुलभ करने के लिए राजा ने इन गायनाचार्यों से वाद-विवाद करके रागरागनियों के लक्षणों पर पुस्तक लिखवाई। यह पुस्तक ऐसी बनी कि जिस पर भरोसा किया जा सकता है और इसलिए मैंने इसका अनुवाद फ़ारसी में किया।[1] यह पुस्तक 'भरत' मत को मानती है। अनुवाद के साथ-साथ कुछ आवश्यक बातें 'भरतसंगीत', 'संगीत-दर्पण' और 'रत्नाकर' से चुनकर इसमें बढ़ा दी गई हैं, ताकि सीखनेवालों को उन पुस्तकों के देखने की आवश्यकता न पड़े। इस पुस्तक का नाम मैंने 'रागदर्पण' रक्खा है, क्योंकि एक छोटे-से दर्पण में पहाड़ और जंगल सबका दृश्य दिखाई दे जाता है। कुछ राग इसमें 'नृत्यनृत्यी' और 'चन्द्रावली' के मत से भी लिखे हैं।



महाराज मानसिंह द्वारा गूजरी रानी 'मृगनयना' के लिए बनवाया गया 'गूजरी महल'

दूसरे अध्याय में राग-रागनियों का विवरण है और कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। इस अध्याय से यह भी ज्ञात होता है कि मालवा का प्रसिद्ध नवाव वाजबहादुर, अमीर खुसरो, शेख वहीउद्दीन, जकरिया मुल्तानी, सुल्तान हुसैन शर्की जौनपुरी गान-विद्या में 'उस्ताद' का पद रखते थे। अनुवादक भी अपने को इस विद्या का 'आमिल' (निपुण) लिखता है।

तीसरे अध्याय में बताया गया है कि किस ऋतु में कौनसा राग, रागिनी या उनके पुत्र गाये जाते हैं और उनके बोलों में कौनसे अक्षर प्रारम्भ में नहीं रखना चाहिए। साथ ही ग्रामों का भी वर्णन है।

---

[1] इस पुस्तक के पदों की भाषा वह प्राचीन हिन्दी होगी, जिसे ग्वालियरी कहा जा सकता है। इसी 'ग्वालियरी' के अध्ययन के लिए इस पुस्तक की खोज हमने की थी, परन्तु वह अध्ययन तभी हो सकेगा, जब मूल 'मानकौतूहल' प्राप्त हो जायगा—लेखक।

चौथे अध्याय में लिखा है कि शरीर के किस भाग में से कौनसा स्वर उत्पन्न होता है और 'ध्रुवपद', 'विष्णुपद', 'ख्याल', 'माहरा' आदि के रूपों का भी वर्णन है। उनके रसों का भी विवेचन किया गया है।

पाँचवें अध्याय में वाद्यों का उल्लेख है। तार, ताँत या खाल के योग से बने वाजों के अतिरिक्त जलतरंग का भी विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् नायिका-भेद दिया गया है।

छठे अध्याय में गायकों के ऐवों का चित्रण है।

सातवें अध्याय में गायकों का गला आदि कैसा हो, इस पर प्रकाश डाला गया है।

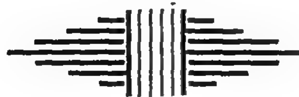
आठवें अध्याय में गायन के 'उस्ताद' की पहिचानें वतलाई गई हैं। भरत मत के अनुसार उस्ताद को संस्कृत का पंडित होना चाहिए। कोष पर उसका अधिकार हो, शास्त्री हो, वुद्धि ऐसी कुशाग्र हो कि दूसरों से विवाद कर सके और नवीन चीज़ें पैदा कर सके।

नवें अध्याय में वतलाया है कि गान-मंडली किस प्रकार संयोजित की जाये। गान-मंडली के तीन प्रकार वतलाये हैं, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। उत्तम गान-मंडली वह है, जिसमें चार गायक उच्च श्रेणी के, आठ मध्यम श्रेणी के, वारह सुकंठ स्त्रियाँ, चार वाँसुरी वाले और चार मृदंग वाले हों। मध्यम संगीत-मंडली में इसकी आधी संख्या रह जाती है। निकृष्ट में एक गायक, तीन उसके सहायक, चार सुकंठ स्त्रियाँ, दो वाँसुरी वाले तथा दो मृदंग वजाने वाले हों। इस अध्याय में यह भी लिखा है कि सम्राट् अकवर के काल में 'रागसागर' नामक एक पुस्तक लिखी गई थी। उसमें अनेक राग 'मानकौतूहल' के विरुद्ध लिखे गये और वे ग़लत हैं।

दसवें अध्याय में अनुवादक के समय के प्रसिद्ध गायकों का उल्लेख है। शेख वहीउद्दीन; सुलतान हुसैन शर्क़ी, डालू ढाड़ी, लालखाँ उर्फ़ समन्दरखाँ (जिसे तानसेन के पुत्र विलासखाँ की लड़की व्याही थी), जगन्नाथ, मिश्रीखाँ ढाड़ी, किशनसेन, तुलसीराम कलावन्त, भगवाना अन्वा आदि का हाल लिखा है। अन्त में कुछ आपवीती भी लिखी है। अनुवादक ने लिखा है कि सन् १०७१ में सम्राट् किसी कारण से मुझसे अप्रसन्न हो गये और मैंने 'गोशानशीनी' अख्तियार कर ली। सन् १०७६ में मुझे पुनः वुलाया गया और सम्राट् अपने साथ काश्मीर ले गये। यदि पृथ्वी पर स्वर्ग हो सकता है तो काश्मीर ही है। सम्राट् ने मुझे काश्मीर की सूवेदारी प्रदान की। शासन वास्तव में भक्ति का ही दूसरा नाम है और भक्ति का कोई दूसरा प्रकार इसको नहीं पहुँचता; क्योंकि शासन जनता की सच्ची सेवा का नाम है। अनुवादक ने आगे लिखा है कि मुझे दो लड़ाइयाँ भी लड़नी पड़ीं। फिर रागों की फ़ारसी नज़्मों से तुलना करके समानता स्थापना का प्रयत्न है।

इस पुस्तक से मध्यकालीन भारतीय संगीत के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और आगे खोज के लिए सामग्री का संकेत भी मिलता है। इससे इस प्रदेश के सांस्कृतिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ेगा, इस आशा से यह संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

ग्वालियर]



जैन और वैष्णवों के पारस्परिक मेल-मिलाप का एक शासन-पत्र

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

इतिहास से सिद्ध है कि मौर्य सम्राट् उदार-चेता महाराज अशोक ने सब सम्प्रदायों के बीच समन्वय और शान्ति की शिक्षा देने के लिए विशेष आज्ञाएँ जारी की थी, जो उनकी धर्म-लिपियों में आज तक उत्कीर्ण है। अशोक के भाव विविध धर्मों वाले इस विशाल देश के लिए अमृत के समान हितकर हैं। अशोक से लगभग सोलह शताब्दी बाद विजयनगर साम्राज्य के प्रतापी सम्राट् श्री बुक्कराय प्रथम ने जैन और वैष्णवों में पारस्परिक मेल और शान्ति की स्थापना के लिए १३६८ ई० (शक वर्ष १२९०) में एक लेख खुदवाया। यह लेख दक्षिण के श्रवण बेलगोल स्थान के सबसे विशाल मंदिर में, जिसका नाम 'भंडारी बस्ती' है, खुदा हुआ है।[1]

लेख के आरम्भ में मंगलाचरण का एक श्लोक है, जिसमें वैष्णवों के परम गुरु श्री रामानुजाचार्य की स्तुति है। लेख का सारांश यह है कि जैन धर्मानुयायी लोगों ने श्री बुक्कराय से वैष्णवों की ओर से होने वाले अत्याचार की शिकायत की। इस पर बुक्कराय ने जैन और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों के प्रभावशाली व्यक्तियों को एकत्र किया और जैन-भक्तों का हाथ वैष्णवों के हाथों में रखकर दोनों में मेल कराया। साथ ही घोषणा की कि जैन और वैष्णव दोनों मत अभिन्न हैं और दोनों एक ही शरीर के अंग हैं। पूरा लेख इस प्रकार है :

मूल कन्नड़ लेख

स्वस्ति समस्त प्रशस्ति सहितम् ॥

पाषण्डसागरमहाबडवामुखाग्नि श्रीरङ्गराजचरणाम्बुजमूलदास।

श्री विष्णुलोकमणिमण्टपमार्ग्गदायी रामानुजो विजयते यतिराजराज ॥

शक वर्ष १२९० नेय कीलक संवत्सरद भाद्रपदशु १० बृ स्वस्ति श्रीमन्महामण्डलेश्वरं आरि राय विभाड भाषेगे तप्पुव रायर गण्ड श्रीवीर बुक्करायनु पृथ्वी राज्यव माडुव कालदल्लि जैनरिगू भक्तरिगू संवाजव आदल्लि आनेयगोन्दि होसपट्टण पेनुगुण्डे कल्लेहदपट्टणव ओलगाद समस्तनाड भव्य जनङ्गलु आ बुक्करायङ्गे भक्तरु माडुव अन्यायंगलनू बिन्नहं माडल आगि कोविल तिरुमले पेरुमाल कोविल तिरुनारायणपुरमुख्यवाद सकलआचार्य्यरू सकलसमयिगलू सकलसात्विकरू मोष्टिकरु तिरुपणि तिरुविडि तण्नीरवरु नाल्वत्तेण्टुजनङ्गलु सावन्तबोवक्कलु तिरिकुल जाम्बुव कुलवोलगाद हदिनेण्टु नाड श्रीवैष्णवर कैय्यलु महारायनु वैष्णवदर्शनक्केऊ जैनदर्शनक्केऊ भेदव इल्लव एन्दु रायनु वैष्णवर कैय्यलु जैनर कैविडिदु कोट्टु यी जैनदर्शनक्के पूर्व्वमरियादेयलु पञ्चमहावाद्यंगलू कलशवु सलुवुद जैनदर्शनक्के भक्तर देसेयिन्द हानिवृद्धियादरू वैष्णवहानि वृद्धियागि पालिसुवरु यी मर्य्यादियलु यल्ला राज्यदोलग उल्लान्तह बस्तिगलिगे श्रीवैष्णवरु शासनव नट्टु पालिसुवरु चन्द्रार्क्क स्थायियागि वैष्णव समयो जैनदर्शनव रक्षिसिकोण्डु बहेउ वैष्णवरू जैनरू वोन्दु भेदवागि काणल आगदु श्रीतिरुमलेय तातय्यंगलु समस्तराज्यद भव्यजनङ्गल अनुमतदिन्द बेलुगुलद तिर्थदल्लि वैष्णव अङ्ग रक्षेगोसुक समस्तराज्यदोलग उल्लन्तह जैनर बागिलु गट्टलेयागि मने मनेगे वर्षक्के

---

[1] देखिए एपिग्राफ़िया कर्नाटिका, भाग २, पृ० २६ (भंडारी बस्ती मंदिर का वर्णन); पृ० ६३ (लेख का अंग्रेजी में सारांश); पृ० १५९ (मूल कन्नड़ भाषा का लेख, संख्या ३४४), पृ० १४६ (लेख का अंग्रेजी अनुवाद)।

१ हण कोट्टु आयेत्तिद होन्निङ्गे देवर अङ्गरक्षेगेय इप्पत्तालनू सन्तविट्टु मिक्क होन्निङ्गे जीर्ण्ण जिनालयङ्गलिगे सोयेयन इक्कुदु यी मरियादेयलु चन्द्रार्क्करुल्लन्नं तप्पलीयदे वर्षवर्षक्के कोट्टु कीर्तियनू पुण्यवनू उपार्ज्जिसिकोम्बुदु यी माडिद कट्टलेयनु आवनु ओव्वनु मीऋदवनु राजद्रोहि संघ सम्दायक्के द्रोहि तपस्विय आगलि ग्रामिणियागलि यी धर्मव केडसिदर आदडे गंगेय तडियल्लि कपिलेयनू ब्राह्मणननू कोन्द पापदल्लि होहरु ॥

श्लो॥ स्वदत्तं परदत्तं वा यो हरेति वसुन्धराम् ।
षष्ठि वर्णसहस्राणि विष्टायां जायते कृमि ॥

(वाद में जोड़ा हुआ भाग)

कल्लेहद हव्विशेट्टिय सुपुत्र वुसुवि सेट्टि वुक्क रायरिगे विन्नहंमादि तिरुमलेय तातय्यङ्गल बिजयं गैसि तरन्दु जीर्ण्णोद्धारव माडिसिदरु उभय समयवू कूडि वुसुवि सेट्टियरिगे सङ्घ-नायक पट्टव कट्टिदरु ॥

हिन्दी अनुवाद

स्वस्ति । समस्त प्रशस्त सहित ।

पाखंड रूपी समुद्र को सुखाने के लिये महान् वड़वानल, श्री रंगनाथ देव के चरण-कमलों के सेवक और भगवान विष्णु के धाम में निर्मित रत्न-जटित मंडप तक पहुँचने का मार्ग वताने वाले, यतिराज राजश्री रामानुज की जय हो ।

शक वर्ष १२९० । कीलक संवत्सर भाद्रपद शुक्ल दशमी वृहस्पतिवार—श्री मन्महामंडलेश्वर, शत्रु नाशन, वचनों का अतिक्रमण करने वाले राजाओं के दंड-कर्त्ता, श्री वुक्कराय के शासन-काल में जैन और भक्तों (वैष्णवों) में विवाद उठने पर, आनेयगोन्दि, होसपट्टन, पेनुगुण्डे और कल्लेह पत्तन आदि समस्त नाडों के भव्य जन अर्थात् जैनों ने मिलकर महाराज वुक्कराय से भक्तों (वैष्णवों) के अन्याय के वारे में विनती की। इस पर महाराज ने जैनों का हाथ पकड़ कर श्री वैष्णवों के हाथों में रख दिया, जिसमें कि कोविल (श्री रगम्), तिरुमले (तिरुपति), पेरुमाल कोविल (कांचीपुर) और तिरुनारायणपुर (मेलकोटे) आदि अट्ठारह राष्ट्रों (नाड) के सकल आचार्य, सकल समयी, सकल सात्त्विक, मौष्टिक (मुट्ठी भर अन्न से निर्वाह करने वाले), श्री पूजनीय, पवित्र चरण और पवित्र अर्घ्य के पात्र, अड़तालीस जन, सावन्त वोव, तिरुकुल और जाम्वव कुल सम्मिलित थे। साथ ही महाराज ने यह कहते हुये कि वैष्णव-दर्शन और जैन-दर्शन में भेद नहीं है, इस प्रकार घोषणा की :

यह जैन दर्शन पूर्व की भांति पंच महा वाद्य और कलश का अधिकारी रहेगा । यदि भक्तों (वैष्णवों) के द्वारा जैन-दर्शन की हानि या वृद्धि की जायगी तो वैष्णव उसे अपने ही धर्म की हानि या वृद्धि समझेंगे । इस मर्यादा को स्थापित करने वाला एक शासन राष्ट्र की सव वस्तियों में श्री वैष्णव लोग कृपया जारी करेंगे । जव तक चन्द्र और सूर्य कायम हैं तव तक वैष्णव-समय जैन-दर्शन की रक्षा करता रहेगा। वैष्णव और जैन एक हैं। उन्हें अलग नहीं समझना चाहिए । तिरूमलै अर्थात् तिरुपति के तातय्य नामक सज्जन समस्त राज्य के भव्य जनों (जैन) की अनुमति

से प्रति वर्ष प्रत्येक जैन घर से एक हण के हिसाब से कर उगाह कर उस आय में से वेलुगुल तीर्थ के देव की रक्षा के लिये बीस अंग-रक्षक नियुक्त करेंगे। ये अंग-रक्षक वैष्णवों द्वारा अनुमोदित होंगे। शेष धन से जीर्ण जिन-मन्दिरों की लिपाई-पुताई और मरम्मत का काम किया जायगा। जब तक चन्द्र-सूर्य हैं, इसी मर्यादा के अनुसार वे लोग प्रति वर्ष देते रहेंगे और यश और पुण्य का उपार्जन करेंगे। जो इसका उल्लंघन करेगा वह राज-द्रोही तथा संघ और समुदाय का द्रोही समझा जायगा। यदि कोई तपस्वी या ग्रामीण इस धर्म की हानि करेगा तो उसे गंगा तट पर गो-वध और ब्राह्मण-वध के जैसा पाप लगेगा। कल्लेह स्थान के हव्विश्रेष्ठी के सुपुत्र वुसुविश्रेष्ठी ने वुक्कराय के यहां विनती की और तिरुमलय के तातय्य को बुलाकर पुनः शासन का जीर्णोद्धार कराया। दोनों समयों (सम्प्रदायों) ने मिलकर वुसुविसेठ को 'संघनायक' की पदवी प्रदान की ॥

नई दिल्ली]



: ४ :

जैन-दर्शन

जैन तत्त्वज्ञान

पं० सुखलाल संघवी

व्याख्या

विश्व के बाह्य और आन्तरिक स्वरूप के सम्बन्ध में तथा उसके सामान्य एवं व्यापक नियमों के सम्बन्ध में जो तात्त्विक दृष्टि से विचार किये जाते हैं उनका नाम तत्त्वज्ञान है। ऐसे विचार किसी एक ही देश, एक ही जाति या एक ही प्रजा में उद्‌भूत होते हैं और क्रमशः विकसित होते हैं, ऐसा नहीं है, परन्तु इस प्रकार का विचार करना यह मनुष्यत्व का विशिष्ट स्वरूप है। अतएव जल्दी या देरी से प्रत्येक देश में निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की मानव-प्रजा में ये विचार अल्प या अधिक अंश में उद्‌भूत होते हैं और वैसे विचार विभिन्न प्रजाओं के पारस्परिक संसर्ग के कारण और किसी समय बिलकुल स्वतन्त्ररूप से भी विशेष विकसित होते हैं तथा सामान्य भूमिका से आगे बढ़ कर अनेक जुदे-जुदे प्रवाह रूप से फैलते हैं।

पहले से आज तक मनुष्य-जाति ने भूखंड के ऊपर जो तात्त्विक विचार किये हैं वे सब आज उपस्थित नहीं हैं तथा उन सब विचारों का क्रमिक इतिहास भी पूर्णरूप से हमारे सामने नहीं है। फिर भी इस समय इस विषय में जो कुछ सामग्री हमारे सामने है और इस विषय में जो कुछ थोड़ा-बहुत हम जानते हैं, उस से इतना तो निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न और परस्परविरोधी दिखाई देने वाली चाहे जितनी धाराएँ हों, फिर भी इन सब विचार-धाराओं का सामान्य स्वरूप एक है। और वह यह कि विश्व के बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप के सामान्य और व्यापक नियमों का रहस्य ढूंढ़ निकालना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का मूल

कोई एक मनुष्य पहले से ही पूर्ण नहीं होता, परन्तु वह बाल्य आदि विभिन्न अवस्थाओं में से गुज़रने के साथ ही अपने अनुभवों को बढ़ा करके क्रमशः पूर्णता की दिशा में आगे बढ़ता है। यही बात मनुष्य जाति के विषय में भी है। मनुष्यजाति की भी बाल्य आदि क्रमिक अवस्थाएँ अपेक्षा विशेष से होती हैं। उसका जीवन व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा बहुत अधिक लम्बा और विशाल होता है। अतएव उसकी बाल्य आदि अवस्थाओं का समय भी उतना ही अधिक लम्बा हो, यह स्वाभाविक है। मनुष्य जाति जब प्रकृति की गोद में आई और उसने पहले बाह्य विश्व की ओर आँख खोली तब उसके सामने अद्‌भुत और चमत्कारी वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुई। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामंडल और दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदीप्रवाह, मेघ गर्जनाएँ और विद्युत्‌चमत्कारों ने उसका ध्यान आकर्षित किया। मनुष्य का मानस इन सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चिन्तन में प्रवृत्त हुआ और उसके हृदय में इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उद्‌भूत हुए। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में बाह्य विश्व के गूढ़ तथा अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय में और उसके सामान्य नियमों के विषय में विविध प्रश्न उत्पन्न हुए उसी प्रकार आन्तरिक विश्व के गूढ़ और अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय में भी उसके मन में विविध प्रश्न उठे। इन प्रश्नों की उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रथम सोपान है। ये प्रश्न चाहे जितने हों और कालक्रम से उसमें से दूसरे मुख्य और उपप्रश्न भी चाहे जितने पैदा हों फिर भी उन सब प्रश्नों को संक्षेप में निम्नप्रकार से संकलित कर सकते हैं।

तात्त्विक प्रश्न

प्रत्यक्ष रूप से सतत परिवर्तनशील यह बाह्य विश्व कब उत्पन्न हुआ होगा ? किसमें से उत्पन्न हुआ होगा ? स्वयं उत्पन्न हुआ होगा या किसी ने उत्पन्न किया होगा ? और उत्पन्न नहीं हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसे ही था और है ? यदि उसके कारण हों तो वे स्वयं परिवर्तनविहीन नित्य ही होने चाहिए या परिवर्तनशील होने चाहिए ? ये कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे या समग्र बाह्य विश्व का कारण केवल एकरूप ही होगा ? इस विश्व की व्यवस्थित और नियमबद्ध जो संचालना और रचना दृष्टिगोचर होती है वह बुद्धिपूर्वक होनी चाहिए या यंत्रवत् अनादि सिद्ध होनी चाहिए ? यदि बुद्धिपूर्वक विश्वव्यवस्था हो तो वह किसकी बुद्धि की आभारी है ? क्या वह बुद्धिमान् तत्त्व स्वयं तटस्थ रह करके विश्व का नियमन करता है या वह स्वयं ही विश्व रूप से परिणमता है या आभासित मात्र होता है ?

उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार आन्तरिक विश्व के सम्बन्ध में भी प्रश्न हुए कि जो यह बाह्य विश्व का उपभोग करता है या जो बाह्य विश्व के विषय में और अपने विषय में विचार करता है वह तत्त्व क्या है ? क्या यह अहंरूप से भासित होने वाला तत्त्व बाह्य विश्व जैसी ही प्रकृति वाला है या किसी भिन्न स्वभाव वाला है ? यह आन्तरिक तत्त्व अनादि है या वह भी कभी किसी अन्य कारण में से उत्पन्न हुआ है ? अहंरूप से भासित होने वाले अनेक तत्त्व वस्तुतः भिन्न ही हैं ? या किसी एक मूल तत्त्व की निर्मितियाँ हैं ? ये सभी सजीव तत्त्व वस्तुतः भिन्न ही हैं तो क्या वे परिवर्तनशील हैं ? या मात्र कूटस्थ हैं ? इन तत्त्वों का कभी अन्त आने वाला है या ये काल की दृष्टि से अन्तरहित ही हैं ? इसी प्रकार ये सब देहमर्यादित तत्त्व वस्तुतः देश की दृष्टि से व्यापक हैं या मर्यादित हैं ?

ये और इसके जैसे दूसरे बहुत से प्रश्न तत्त्वचिन्तन के प्रदेश में उपस्थित हुए। इन सब प्रश्नों का या इनमें से कुछ का उत्तर हम विभिन्न प्रजाओं के तात्त्विक चिन्तन के इतिहास में अनेक प्रकार से देखते हैं। ग्रीक विचारकों ने बहुत प्राचीन काल से इन प्रश्नों की ओर दृष्टिपात करना प्रारम्भ किया। उनका चिन्तन अनेक प्रकार से विकसित हुआ, जिसका कि पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में महत्त्वपूर्ण भाग है। आर्यावर्त के विचारकों ने तो ग्रीक चिन्तकों के पूर्व हजारों वर्ष पहले से इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के लिए विविध प्रयत्न किये, जिनका इतिहास हमारे सामने स्पष्ट है।

उत्तरों का संक्षिप्त वर्गीकरण

आर्य विचारकों के द्वारा एक-एक प्रश्न के सम्बन्ध में दिये हुए भिन्न-भिन्न उत्तर और उनके विषय में भी मतभेद की शाखाएँ अपार हैं, परन्तु सामान्य रीति से हम संक्षेप में उन उत्तरों का वर्गीकरण करें तो इस प्रकार कर सकते हैं। एक विचार प्रवाह ऐसा प्रारम्भ हुआ कि वह बाह्य विश्व को जन्य मानता था। परन्तु वह विश्व किसी कारण में से बिलकुल नया ही—पहले हो ही नहीं, वैसे उत्पन्न होने का निषेध करता था और यह कहता कि जिस प्रकार दूध में मक्खन छिपा रहता है और कभी केवल आविर्भाव होता रहता है, उसी प्रकार यह सारा स्थूल विश्व किसी सूक्ष्म कारण में से केवल आविर्भाव होता रहता है और यह मूल कारण तो स्वतः सिद्ध अनादि है।

दूसरा विचार प्रवाह यह मानता था कि यह बाह्य विश्व किसी एक कारण में से उत्पन्न नहीं हुआ है; परन्तु स्वभाव से ही विभिन्न ऐसे उसके अनेक कारण हैं और इन कारणों में भी विश्व दूध में मक्खन की तरह छिपा नहीं रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न काष्ठ खंडों के संयोग से एक गाड़ी नवीन ही तैयार होती है, उसी प्रकार उन भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल कारणों के संश्लेषण-विश्लेषण में से यह बाह्य विश्व बिलकुल नवीन ही उत्पन्न होता है। पहला परिणामवादी है और दूसरा कार्यवादी। ये दोनों विचारप्रवाह बाह्य विश्व के आविर्भाव या उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद रखने वाले होने पर भी आन्तरिक विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में सामान्यरूप से एकमत थे। दोनों यह मानते थे कि अहं नाम का आत्म-तत्त्व अनादि है। वह न तो किसी का परिणाम है और न किसी कारण में से उत्पन्न हुआ

है। जिस प्रकार वह आत्मतत्त्व अनादि है, उसी प्रकार देश और काल दोनों दृष्टियों से अनन्त भी है और वह आत्मतत्त्व देहभेद से भिन्न-भिन्न है, वास्तविक रीति से एक नहीं है।

तीसरा विचारप्रवाह ऐसा भी था कि जो बाह्य विश्व और आन्तरिक जीवजगत् दोनों को किसी एक अखंड सत् तत्त्व का परिणाम मानता और मूल में बाह्य या आन्तरिक जगत की प्रकृति अथवा कारण में किसी भी प्रकार का भेद नहीं मानता था।

जैन विचारप्रवाह का स्वरूप

ऊपर के तीनों विचारप्रवाहों को क्रमशः हम यहाँ प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी के नाम से पहचानेंगे। इनमें से पहले के दो विचारप्रवाहों से विशेष मिलता-जुलता और फिर भी उनसे भिन्न ऐसा एक चौथा विचारप्रवाह भी साथ-साथ में प्रवृत्त था। यह विचारप्रवाह था तो परमाणुवादी; परन्तु वह दूसरे विचार-प्रवाह की तरह बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओं को मूल से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के मानने की तरफ़दारी नहीं करता था; परन्तु मूल में सभी परमाणु एक समान प्रकृति के हैं, यह मानता था और परमाणुवाद स्वीकार करने पर भी उसमें से केवल विश्व उत्पन्न होता है यह नहीं मानता था। वह प्रकृतिवादी की तरह परिणाम और आविर्भाव मानता था। इसलिए वह यह कहता था कि परमाणु पुंज में से बाह्य विश्व अपने आप परिणमता है। इस प्रकार इस चौथे विचार-प्रवाह का झुकाव परमाणुवाद की भूमिका के ऊपर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समग्र बाह्य विश्व को आविर्भाव वाला न मान करके उसमें के कितने ही कार्यों को उत्पत्तिशील भी मानता था। वह यह कहता था कि बाह्य विश्व में कितनी ही वस्तुएँ ऐसी हैं, जो किसी पुरुष के प्रयत्न के सिवाय अपने परमाणुरूप कारणों में से उत्पन्न होती हैं। वैसी वस्तुएँ तिल में से तैल की तरह अपने कारण में से केवल आविर्भूत होती हैं; परन्तु बिलकुल नवीन उत्पन्न नहीं होती है। जब कि बाह्य विश्व में बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी हैं कि जो अपने जड़ कारणों में से उत्पन्न होती हैं, परन्तु अपनी उत्पत्ति में किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा रखती हैं। जो वस्तुएं पुरुष के प्रयत्न की सहायता से जन्म लेती हैं, वे वस्तुएं अपने जड़ कारणों में तिल में तैल की तरह छिपी हुई नहीं रहती हैं; परन्तु वे तो बिलकुल नवीन ही उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार कोई सुतार विभिन्न काष्ठखंडों को एकत्रित करके उनसे एक घोड़े का निर्माण करता है, तब वह घोड़ा काष्ठखंडों में छिपा नहीं रहता है, जैसे कि तिल में तैल होता है। परन्तु घोड़ा बनाने वाले सुतार की बुद्धि में वह कल्पनारूप से होता है और वह काष्ठ-खंडों के द्वारा मूर्तरूप धारण करता है। यदि सुतार चाहता तो इन्हीं काष्ठ-खंडों से घोड़ा न बना कर गाय, गाड़ी अथवा दूसरी वैसी वस्तु बना सकता था। तिल में से तैल निकालने की बात इससे बिलकुल भिन्न है। कोई तेली चाहे जितना विचार करे या इच्छा करे फिर भी वह तिल में से घी या मक्खन तो नहीं निकाल सकता है। इस प्रकार चतुर्थ विचार-प्रवाह परमाणुवादी होने पर भी एक ओर परिणाम और आविर्भाव मानने के विषय में प्रकृतिवादी विचार-प्रवाह के साथ मिलता था और दूसरी ओर कार्य तथा उत्पत्ति के विषय में परमाणुवादी दूसरे विचार-प्रवाह से मिलता था।

यह तो बाह्य विश्व के सम्बन्ध में चतुर्थ विचार-प्रवाह की मान्यता हुई, परन्तु आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तो इसकी मान्यता ऊपर के तीनों विचारप्रवाहों की अपेक्षा भिन्न थी। वह मानता था कि देहभेद से आत्मा भिन्न है। परन्तु ये सब आत्माएँ देशदृष्टि से व्यापक नहीं हैं तथा केवल कूटस्थ भी नहीं हैं। वह यह मानता था कि जिस प्रकार बाह्य विश्व परिवर्तनशील है उसी प्रकार आत्माएँ भी परिणामी होने से सतत परिवर्तनशील हैं और आत्मतत्त्व संकोच-विस्तारशील है, इसलिए वह देहप्रमाण है।

यह चतुर्थ विचारप्रवाह ही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन मूल है। भगवान् महावीर से बहुत समय पहले से यह विचारप्रवाह चला आता था और वह अपने ढंग से विकसित होता तथा स्थिर होता जाता था। आज इस चतुर्थ

विचारप्रवाह का जो स्पष्ट विकसित और स्थिर रूप हमको प्राचीन या अर्वाचीन उपलब्ध जैनशास्त्रों में दृष्टिगोचर होता है, वह अधिकांश में भगवान् महावीर के चिन्तन का आभारी है। जैन मत की श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य शाखाएँ हैं। दोनों का साहित्य भिन्न-भिन्न है; परन्तु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर हुआ है, वह दोनों शाखाओं में थोड़े-से फेरफार के सिवाय एक समान है। यहाँ एक बात ख़ास तौर से अंकित करने योग्य है और वह यह कि वैदिक तथा बौद्ध मत के छोटे-बड़े अनेक फ़िरक़े हैं। उनमें से कितने ही तो एक दूसरे से बिलकुल विरोधी मन्तव्य भी रखने वाले हैं। इन सभी 'फ़िरक़ों' के बीच में विशेषता यह है कि जब वैदिक और बौद्ध मत के सभी 'फ़िरक़े' आचार विषयक मतभेद के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तन के विषय में भी कुछ मतभेद रखते हैं तब जैनमत के तमाम फ़िरक़े केवल आचारभेद के ऊपर अवलम्बित हैं। उनमें तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से कोई मौलिक भेद हो तो वह अभी तक अंकित नहीं है। मानवीय तत्त्वचिन्तन के समग्र इतिहास में यह एक ही दृष्टान्त ऐसा है कि इतने अधिक लम्बे समय का इतिहास रखने पर भी जिसके तत्त्वचिन्तन का प्रवाह मौलिकरूप से अखंडित ही रहा हो।

पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

तत्त्वज्ञान पूर्वीय हो या पश्चिमीय, सभी तत्त्वज्ञान के इतिहास में हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञान केवल जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन में ही पूर्ण नहीं होता; परन्तु वह अपने प्रदेश में चारित्र का प्रश्न भी हाथ में लेता है। अल्प या अधिक अंश में, एक या दूसरी रीति से, प्रत्येक तत्त्वज्ञान अपने में जीवनशोधन की मीमांसा का समावेश करता है। अलबत्ता पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान के विकास में हम थोड़ी भिन्नता भी देखते हैं। ग्रीक तत्त्वचिन्तन की शुरुआत केवल विश्व के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्नों में से होती है और आगे जाने पर क्रिश्चियानिटी के साथ में इसका सम्बन्ध होने पर इसमें जीवनशोधन का भी प्रश्न समाविष्ट होता है। और पीछे इस पश्चिमीय तत्त्वचिन्तन की एक शाखा में जीवनशोधन की मीमांसा महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। अर्वाचीन समय तक भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में हम तत्त्वचिन्तन को जीवनशोधन के विचार के साथ संकलित देखते हैं। परन्तु आर्य तत्त्वज्ञान के इतिहास में हम एक खास विशेषता देखते हैं। वह यह कि मानो आर्य तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ ही जीवनशोधन के प्रश्न में से हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि आर्य तत्त्वज्ञान की वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीन मुख्य शाखाओं में एक समान रीति से विश्वचिन्तन के साथ ही जीवनशोधन का चिन्तन संकलित है। आर्यावर्त का कोई भी दर्शन ऐसा नहीं है, जो केवल विश्वचिन्तन करके सन्तोष धारण करता हो। परन्तु उससे विपरीत हम यह देखते हैं कि प्रत्येक मुख्य या उसका शाखारूप दर्शन जगत्, जीव और ईश्वर सम्बन्धी अपने विशिष्ट विचार दिखला कर अन्त में जीवनशोधन के प्रश्न को ही लेता है और जीवनशोधन की प्रक्रिया दिखला कर विश्रान्ति लेता है। इसलिए हम प्रत्येक आर्यदर्शन के मूल ग्रन्थ में प्रारम्भ में मोक्ष का उद्देश और अन्त में उसका ही उपसंहार देखते हैं। इसी कारण से सांख्यदर्शन जिस प्रकार अपना विशिष्ट योग रखता है और वह योगदर्शन से अभिन्न है, उसी प्रकार न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन में भी योग के मूल सिद्धान्त हैं। बौद्धदर्शन में भी उसकी विशिष्ट योगप्रक्रिया ने खास स्थान ले रक्खा है। इसी प्रकार जैनदर्शन भी योगप्रक्रिया के विषय में पूरे विचार रखता है।

जीवनशोधन के मौलिक प्रश्नों की एकता

इस प्रकार हमने देखा कि जैनदर्शन के मुख्य दो भाग हैं, एक तत्त्वचिन्तन का और दूसरा जीवनशोधन का। यहाँ एक बात खास तौर से अंकित करने योग्य है और वह यह कि वैदिकदर्शन की कोई भी परम्परा लो या बौद्धदर्शन की कोई परम्परा लो और उसकी जैनदर्शन की परम्परा के साथ तुलना करो तो एक वस्तु स्पष्ट प्रतीत होगी कि इन सब परम्पराओं में जो भेद है वह दो बातों में है। एक तो जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूपचिन्तन के सम्बन्ध में और दूसरा आचार के स्थूल तथा बाह्य विधि-विधान और स्थूल रहन-सहन के सम्बन्ध में। परन्तु आर्यदर्शन की प्रत्येक

परम्परा में जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक प्रश्न और उनके उत्तरों में बिलकुल भी भेद नहीं है। कोई ईश्वर को माने या नहीं, कोई प्रकृतिवादी हो या कोई परमाणुवादी, कोई आत्मभेद स्वीकार करे या आत्मा का एकत्व स्वीकार करे, कोई आत्मा को व्यापक और नित्य माने या कोई उससे विपरीत माने, इसी प्रकार कोई यज्ञ-याग द्वारा भक्ति के ऊपर भार देता हो या कोई ब्रह्मसाक्षात्कार के ज्ञानमार्ग के ऊपर भार देता हो, कोई मध्यममार्ग स्वीकार करके अनगारधर्म और भिक्षाजीवन के ऊपर भार दे या कोई अधिक कठोर नियमों का अवलम्बन करके त्याग के ऊपर भार दे; परन्तु प्रत्येक परम्परा में इतने प्रश्न एक समान हैं—दुःख है या नहीं? यदि है तो उसका कारण क्या है? उस कारण का नाश शक्य है? यदि शक्य है तो वह किस प्रकार? अन्तिम साध्य क्या होना चाहिए? इन प्रश्नों के उत्तर भी प्रत्येक परम्परा में एक ही हैं। चाहे शब्दभेद हो, संक्षेप या विस्तार हो, पर प्रत्येक का उत्तर यह है कि अविद्या और तृष्णा ये दुःख के कारण हैं। इनका नाश सम्भव है। विद्या से और तृष्णाछेद के द्वारा दुःख के कारणों का नाश होते ही दुःख अपने आप नष्ट हो जाता है। और यही जीवन का मुख्य साध्य है। आर्यदर्शनों की प्रत्येक परम्परा जीवनशोधन के मौलिक विचार के विषय में और उसके नियमों के विषय में बिलकुल एकमत है। इसलिए यहाँ जैनदर्शन के विषय में कुछ भी कहते समय मुख्यरूप से उसकी जीवनशोधन की मीमांसा का ही संक्षेप में कथन करना अधिक प्रासंगिक है।

जीवनशोधन की जैन-प्रक्रिया

जैनदर्शन कहता है कि आत्मा स्वाभाविक रीति से शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप है। इसमें जो अशुद्धि, विकार या दुःखरूपता दृष्टिगोचर होती है वह अज्ञान और मोह के अनादि प्रवाह के कारण से है। ज्ञान को कम करने और बिलकुल नष्ट करने के लिए तथा मोह का विलय करने के लिए जैनदर्शन एक ओर विवेकशक्ति को विकसित करने के लिए कहता है और दूसरी ओर वह रागद्वेष के संस्कारों को नष्ट करने के लिए कहता है। जैनदर्शन आत्मा को तीन भूमिकाओं में विभाजित करता है। जब अज्ञान और मोह के प्रबल प्राबल्य के कारण आत्मा वास्तविक तत्त्व का विचार न कर सके तथा सत्य और स्थायी सुख की दिशा में एक भी क़दम उठाने की इच्छा न कर सके तब वह बहिरात्मा कहलाता है। यह जीव की प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका जब तक चलती रहती है तब तक पुनर्जन्म के चक्र के बन्द होने की कोई सम्भावना नहीं तथा लौकिक दृष्टि से चाहे जितना विकास दिखाई देता हो फिर भी वास्तविक रीति से वह आत्मा अविकसित ही होता है।

जब विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जब रागद्वेष के संस्कारों का बल कम होने लगता है तब दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है। इसको जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है। यद्यपि इस भूमिका के समय देहधारण के लिए उपयोगी सभी सांसारिक प्रवृत्ति अल्प या अधिक अंश में चलती रहती है, फिर भी विवेकशक्ति के विकास के प्रमाण में और रागद्वेष की मन्दता के प्रमाण में यह प्रवृत्ति अनासक्ति वाली होती है। इस दूसरी भूमिका में प्रवृत्ति होने पर भी उसमें अन्तर से निवृत्ति का तत्त्व होता है। दूसरी भूमिका के कितने ही सोपानों का अतिक्रमण करने के बाद आत्मा परमात्मा की दशा को प्राप्त करता है। यह जीवनशोधन की अन्तिम और पूर्ण भूमिका है। जैनदर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुँचने के बाद पुनर्जन्म का चक्र सदा के लिए बिलकुल बन्द हो जाता है।

हम ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह देख सकते हैं कि अविवेक (मिथ्यादृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही संसार हैं अथवा संसार के कारण हैं। इसके विपरीत विवेक (सम्यग्दर्शन) और वीतरागत्व यही मोक्ष है अथवा मोक्ष का मार्ग है। यही जीवनशोधन की संक्षिप्त जैनमीमांसा अनेक जैनग्रन्थों में अनेक रीति से, संक्षेप या विस्तार से, विभिन्न परिभाषाओं में वर्णित है। और यही जीवनमीमांसा वैदिक तथा बौद्धदर्शन में जगह-जगह अक्षरशः दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारसरणी और आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारसरणी का बहुत ही संक्षेप में निर्देश किया है। इस संक्षिप्त लेख में उसके अति विस्तार को स्थान नहीं; फिर भी इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ दूसरे भारतीय दर्शनों के विचारों के साथ तुलना करना योग्य है।

(क) जैनदर्शन जगत् को मायावादी की तरह केवल भास या केवल काल्पनिक नहीं मानता है परन्तु वह जगत् को सत्य मानता है। फिर भी जैनदर्शन-संमत सत् चार्वाक की तरह केवल जड़ अर्थात् सहज चैतन्यरहित नहीं है। इसी प्रकार जैनदर्शन संमत सत् तत्त्व शांकरवेदान्तानुसार केवल चैतन्य मात्र भी नहीं है, परन्तु जिस प्रकार सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और बौद्धदर्शन सत् तत्त्व को बिलकुल स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न ऐसे जड़ और चेतन दो भागों में विभाजित कर डालते हैं, उसी प्रकार जैनदर्शन भी सत् तत्त्व की अनादिसिद्ध जड़ तथा चेतन ऐसी दो प्रकृति स्वीकार करता है जो कि देश और काल के प्रवाह में साथ रहने पर भी मूल में बिलकुल स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार न्याय, वैशेषिक और योगदर्शन आदि यह स्वीकार करते हैं कि इस जगत का विशिष्ट कार्यस्वरूप चाहे जड़ और चेतन इन दो पदार्थों से बनता हो फिर भी इस कार्य के पीछे किसी अनादिसिद्ध, समर्थ, चेतनशक्ति का हाथ है, इस ईश्वरीय हाथ के सिवाय ऐसे अद्भुत कार्य का सम्भव नहीं हो सकता है। जैनदर्शन इस प्रकार से नहीं मानता है। वह प्राचीन सांख्य, पूर्व मीमांसा और बौद्ध आदि की तरह मानता है कि जड़ और चेतन ये दो सत् प्रवाह अपने आप किसी तृतीय विशिष्ट शक्ति के हस्तक्षेप के सिवाय ही चलते रहते हैं। इसलिए वह इस जगत् की उत्पत्ति या व्यवस्था के लिए ईश्वर जैसी स्वतन्त्र अनादिसिद्ध व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि जैनदर्शन न्याय, वैशेषिक बौद्ध आदि की तरह जड़ सत् तत्त्व को अनादिसिद्ध अनन्त व्यक्तिरूप स्वीकार करता है और सांख्य की तरह एक व्यक्ति-रूप नहीं स्वीकार करता, फिर भी वह सांख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनन्त परमाणु नामक जड़ सत् तत्त्वों में स्थान देता है।

इस प्रकार जैन मान्यतानुसार जगत् का परिवर्तन प्रवाह अपने आप ही चलता रहता है। फिर भी जैनदर्शन इतना तो स्पष्ट कहता है कि विश्व की जो-जो घटनाएँ किसी की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती हैं उन घटनाओं के पीछे ईश्वर का नहीं, परन्तु उन घटनाओं के परिणाम में भागीदार होने वाले संसारी जीव का हाथ रहता है, अर्थात् वैसी घटनाएँ जान में या अनजान में किसी न किसी संसारी जीव की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन सांख्य और बौद्धदर्शन, जैनदर्शन जैसे ही विचार रखते हैं।

वेदान्तदर्शन की तरह जैनदर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखंड नहीं मानता है; परन्तु सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध आदि की तरह वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। फिर भी इन दर्शनों के साथ जैनदर्शन का थोड़ा मतभेद है। और वह यह है कि जैनदर्शन की मान्यतानुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यता की तरह केवल परिवर्तनप्रवाह नहीं है तथा सांख्य, न्याय आदि की तरह केवल कूटस्थ भी नहीं है। किन्तु जैनदर्शन कहता है कि मूल में सचेतन तत्त्व ध्रुव अर्थात् अनादि अनन्त होने पर भी वह देश काल का असर धारण किये बिना नहीं रह सकता। इसलिए जैन मतानुसार जीव भी जड़ की तरह परिणामी नित्य है। जैनदर्शन ईश्वर जैसी किसी व्यक्ति को बिलकुल स्वतन्त्ररूप से नहीं मानता है फिर भी वह ईश्वर के समग्र गुणों को जीवमात्र में स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनानुसार प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व की शक्ति है। चाहे वह शक्ति आवरण से दबी हुई हो; परन्तु यदि जीव योग्य दिशा में प्रयत्न करे तो वह अपने में रही हुई ईश्वरीय शक्ति का पूर्णरूप से विकास करके स्वयं ही ईश्वर बनता है। इस प्रकार जैन मान्यतानुसार ईश्वरतत्त्व को भिन्न स्थान नहीं होने पर भी वह ईश्वरत्व की मान्यता रखता है और उसकी उपासना भी स्वीकार करता है। जो-जो जीवात्माएँ कर्मवासनाओं से पूर्णरूप से मुक्त हुए हैं वे सभी समानभाव से ईश्वर हैं। उनका आदर्श सामने रख करके अपने में रही हुई पूर्ण शक्ति को प्रकट करना यह जैन

उपासना का ध्येय है। जिस प्रकार शांकर वेदान्त मानता है कि जीव स्वयं ही ब्रह्म है, उसी प्रकार जैनदर्शन कहता है कि जीव स्वयं ही ईश्वर या परमात्मा है। वेदान्तदर्शनानुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत है और अविद्या के दूर होते ही वह अनुभव में आता है, उसी प्रकार जैनदर्शनानुसार जीव का परमात्मभाव कर्म से आवृत है और उस आवरण के दूर होते ही वह पूर्णरूप से अनुभव में आता है। इस सम्बन्ध में वस्तुतः जैन और वेदान्त के बीच में व्यक्ति-बहुत्व के सिवाय कुछ भी भेद नहीं है।

(ख) जैनशास्त्र में जिन सात तत्त्वों का उल्लेख है उनमें से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वों की ऊपर तुलना की है। अब वस्तुतः पाँच में से चार ही तत्त्व अवशिष्ट रहते हैं। ये चार तत्त्व जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले अर्थात् आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जिनको चारित्रीय तत्त्व भी कह सकते हैं। बन्ध, आस्रव, संवर और मोक्ष ये चार तत्त्व हैं। ये तत्त्व बौद्धशास्त्रों में क्रमशः दुःख, दुःखहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण इन चार आर्यसत्यों के नाम से वर्णित हैं। सांख्य और योगशास्त्र में इनको ही हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान कह करके इनका चतुर्व्यूह रूप से वर्णन है। न्याय और वैशेषिकदर्शन में भी इसी वस्तु का संसार, मिथ्याज्ञान, तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के नाम से वर्णन है। वेदान्तदर्शन में संसार, अविद्या, ब्रह्मभावना और ब्रह्मसाक्षात्कार के नाम से यही वस्तु दिखलाई गई है।

जैनदर्शन में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की तीन संक्षिप्त भूमिकाओं का कुछ विस्तार से चौदह भूमिकाओं के रूप में भी वर्णन किया गया है, जो जैन परम्परा में गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। योगवाशिष्ठ जैसे वेदान्त के ग्रन्थों में भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की चौदह आत्मिक भूमिकाओं का वर्णन है। सांख्य योग-दर्शन की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पांच चित्तभूमिकाएँ भी इन्हीं चौदह भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण मात्र हैं। बौद्धदर्शन में भी इसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि रूप से पांच भूमिकाओं में विभाजित करके वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब हम सभी भारतीय दर्शनों में संसार से मोक्ष तक की स्थिति, उसके क्रम और उसके कारणों के विषय में एक मत और एक विचार पढ़ते हैं तब प्रश्न होता है कि जब सभी दर्शनों के विचारों में मौलिक एकता है तब पन्थ-पन्थ के बीच में कभी भी मेल नहीं हो ऐसा और इतना अधिक भेद क्यों दिखाई देता है?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पन्थों की भिन्नता में मुख्य दो वस्तुएं कारण हैं। तत्त्वज्ञान की भिन्नता और बाह्य आचार-विचार की भिन्नता। कितने ही पन्थ तो ऐसे भी हैं कि जिनके बाह्य आचार-विचार में भिन्नता होने के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की विचारसरणी में भी अमुक भेद होता है। जैसे कि वेदान्त, बौद्ध और जैन आदि पन्थ। कितने ही पन्थ या उनकी शाखाएँ ऐसी भी होती हैं कि जिनकी तत्त्वज्ञान विषयक विचारसरणी में खास भेद नहीं होता है। उनका भेद मुख्य रूप से बाह्य आचार का अवलम्बन लेकर उपस्थित और पोषित होता है। उदाहरण के तौर पर जैनदर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीन शाखाओं को गिना सकते हैं।

आत्मा को कोई एक माने या कोई अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या कोई नहीं माने—इत्यादि तात्त्विक विचारणा का भेद बुद्धि के तरतमभाव के ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार बाह्य आचार और नियमों के भेद बुद्धि, रुचि तथा परिस्थिति के भेद में से उत्पन्न होते हैं। कोई काशी जाकर गंगा स्नान और विश्वनाथ के दर्शन में पवित्रता माने, कोई बुद्धगया और सारनाथ जाकर बुद्धदर्शन में कृतकृत्यता माने, कोई शत्रुंजय की यात्रा में सफलता माने, कोई मक्का और कोई जेरुसलेम जाकर धन्यता माने। इसी प्रकार कोई एकादशी के तप-उपवास को अति पवित्र गिने, दूसरा कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व प्रदान करे, कोई तप के ऊपर बहुत भार नहीं देकर के दान के ऊपर भार दे, दूसरा कोई तप के ऊपर भी अधिक भार दे, इस प्रकार परम्परागत भिन्न-भिन्न संस्कारों का पोषण और रुचिभेद का मानसिक वातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार और प्रवृत्ति का भेद कभी मिटने वाला नहीं है। भेद की उत्पादक और पोषक इतनी अधिक वस्तुएं होने पर भी सत्य ऐसा है कि वह वस्तुतः खंडित नही होता है।

इसीलिए हम ऊपर की आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाली तुलना में देखते हैं कि चाहे जिस रीति से, चाहे जिस भाषा में और चाहे जिस रूप में जीवन का सत्य एक समान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञों के अनुभव में प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य को पूर्ण करने के पहले जैनदर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओं का उल्लेख करना उचित है। अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुद्दों की चर्चा पर ही सम्पूर्ण जैनसाहित्य का निर्माण है। जैन आचार और सम्प्रदाय की विशेषता इन दो विषयों से ही बताई जा सकती है। सत्य वस्तुतः एक ही होता है; परन्तु मनुष्य की दृष्टि उसको एक रूप से ग्रहण नहीं कर सकती है। इसलिए सत्यदर्शन के लिए मनुष्य को अपनी दृष्टिमर्यादा विकसित करनी चाहिए और उसमें सत्यग्रहण की सभी संभवनीय दृष्टियों को स्थान होना चाहिए। इस उदात्त और विशाल भावना में से अनेकान्त विचारसरणी का जन्म हुआ है। इस विचारसरणी की योजना किसी वादविवाद में जय प्राप्त करने के लिए या वितंडावाद की साठमारी—चक्रव्यूह या दावपेंच खेलने के लिए और शब्दछल की शतरंज खेलने के लिए नहीं हुई है, परन्तु इसकी योजना तो जीवनशोधन के एक भाग स्वरूप विवेकशक्ति को विकसित करने के लिए और सत्यदर्शन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए हुई है। इसलिए अनेकान्त विचारसरणी का सच्चा अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य में रख करके उसके सभी अंशों और भागों को एक विशाल मानस वर्तुल में योग्य रीति से स्थान देना।

जैसे जैसे मनुष्य की विवेकशक्ति बढ़ती है वैसे वैसे उसकी दृष्टिमर्यादा बढ़ने के कारण उसको अपने भीतर रही हुई संकुचितताओं और वासनाओं के दबावों के सामने होना पड़ता है। जब तक मनुष्य संकुचितताओं और वासनाओं के साथ विग्रह नहीं करता तब तक वह अपने जीवन में अनेकान्त को वास्तविक स्थान नहीं दे सकता है। इसलिए अनेकान्त विचार की रक्षा और वृद्धि के प्रश्न में से ही अहिंसा का प्रश्न आता है। जैन अहिंसा केवल चुपचाप बैठे रहने में या उद्योग-धन्धा छोड़ देने में अथवा काष्ठ जैसी निश्चेष्ट स्थिति करने में ही पूर्ण नहीं होती; परन्तु वह अहिंसा वास्तविक आत्मिक बल की अपेक्षा रखती है। कोई भी विकार उद्भूत हुआ, किसी वासना ने सिर ऊँचा किया अथवा कोई संकुचितता मन में प्रज्वलित हो उठी वहाँ जैन अहिंसा यह कहती है कि तू इन विकारों, इन वासनाओं और इन संकुचितताओं से हनन को प्राप्त मत हो, पराभव प्राप्त न कर और इनकी सत्ता अंगीकार न कर, तू इनका बल-पूर्वक सामना कर और इन विरोधी बलों को जीत। आध्यात्मिक जय प्राप्त करने के लिए यह प्रयत्न ही मुख्य जैन अहिंसा है। इसको फिर संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो या कोई भी वैसा आध्यात्मिक नाम प्रदान करो; परन्तु वह वस्तुतः अहिंसा ही है। और जैनदर्शन यह कहता है कि अहिंसा केवल आचार नहीं है; परन्तु वह शुद्ध विचार के परिपाक रूप से अवतरित जीवनोत्कर्षक आचार है।

ऊपर वर्णन किये गये अहिंसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप में से कोई भी बाह्याचार उत्पन्न हुआ हो अथवा इस सूक्ष्म रूप की पुष्टि के लिए किसी आचार का निर्माण हुआ हो तो उसका जैनतत्त्वज्ञान में अहिंसा के रूप में स्थान है। इसके विपरीत, ऊपर ऊपर से दिखाई देने वाले अहिंसामय आचार या व्यवहार के मूल में यदि ऊपर के अहिंसा-तत्त्व का सम्बन्ध नहीं हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिंसा है या अहिंसा का पोषक है यह नहीं कह सकते हैं।

यहाँ जैनतत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विचार में प्रमेय-चर्चा का जान बूझकर विस्तार नहीं किया है। इस विषय की जैन विचारसरणी का केवल संकेत किया है। आचार के विषय में भी बाह्य नियमों और विधानों सम्बन्धी चर्चा जानबूझ कर छोड़ दी है; परन्तु आचार के मूलतत्त्वों की जीवनशोधन के रूप में सहज चर्चा की है, जिनको कि जैन परिभाषा में आस्रव, संवर आदि तत्त्व कहते हैं। आशा है कि यह संक्षिप्त वर्णन जैनदर्शन की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न करने में सहायक होगा।

बंबई]

[गुजराती से अनूदित



जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन

श्री दलसुख मालवणिया

प्रस्तावना

भगवान् महावीर से लेकर अब तक के जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन करना यहाँ इष्ट है। समग्र साहित्य को विकासक्रम की दृष्टि से हम चार युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) आगमयुग, (२) अनेकान्त-स्थापनयुग, (३) प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युग और (४) नवीनन्याययुग।

युगों के लक्षण युग के नाम से ही स्पष्ट हैं। फिर भी थोड़ा काल की दृष्टि से स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम युग की मर्यादा भगवान् महावीर के निर्वाण (वि० पूर्व ४७०) से लेकर क़रीब एक हज़ार वर्ष की है अर्थात् वि० पाँचवीं शताब्दी तक है। दूसरा पांचवीं से आठवीं शताब्दी तक। तीसरा आठवीं से सत्रहवीं तक और चौथा अठारहवीं से आधुनिक समय-पर्यन्त। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि पूर्व युग की विशेषताएँ उत्तर युग में क़ायम रही हैं और उस युग का जो नया कार्य है उसी को ध्यान में रखकर उत्तर युग का नामकरण हुआ है। पूर्व युग में उत्तर युग का बीज अवश्य है; परन्तु पल्लवन नहीं। पल्लवन की दृष्टि से ही युग का नामकरण हुआ है।

ग्रन्थकारों का क्रम प्रायः शताब्दी को ध्यान में रखकर किया गया है। जहाँ तक हो सका है, यह प्रयत्न किया गया है कि उनका पौर्वापर्य मुख्य रूप से ध्यान में रखकर ही उनकी कृतियों का वर्णन किया जाय। दशकों का विचार रखकर वर्णन सम्भव नहीं। आगम-युग के साहित्य पर जो टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं, उनका वर्णन सुभीते की दृष्टि से उसी युग के वर्णन के साथ कर दिया है, यद्यपि ये टीकाएँ उस युग की नहीं हैं।

समग्र साहित्य के अवलोकन से यह पता लगता है कि जैनदार्शनिक साहित्यगंगा इन पचीस शताब्दियों में सतत प्रवाहित रही है। प्रवाह कभी गम्भीर हुआ, कभी विस्तीर्ण हुआ, कभी मन्द हुआ, कभी तेज़ हुआ, किन्तु रुका कभी नहीं।

(१) आगमयुग

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, वह आज श्रुतरूप में जैन-आगमों में सुरक्षित है। आचार्य भद्रबाहु ने श्रुत की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए एक सुन्दर रूपक का उपयोग किया है[1]—"तप-नियम-ज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यजनों के हित के लिए ज्ञानकुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलते हैं और प्रवचनमाला गूंथते हैं।" यही प्रवचन-माला आचार्य परम्परा से, कालक्रम से, हमें जैसी भी टूटी फूटी अवस्था में प्राप्त हुई है, आज 'जैनागम' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैन आगमिक साहित्य, जो अंगोपांगादि भेदों में विभक्त है, उसका अन्तिम संस्करण वलभी में वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष के बाद और मतान्तर से ९९३ वर्ष के बाद हुआ। यही संस्करण आज उपलब्ध है। इसका मतलब यह नहीं है कि आगमों में जो कुछ बातें हैं वे प्राचीन समय की नहीं हैं। यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत परिवर्तन और परिवर्धन

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति गाथा—

"तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥"

है इस बात को मानते हुए भी शैली और विषय-वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि आगमों का अधिकांश ईस्वी सन् के पूर्व का होने में सन्देह को कोई अवकाश नहीं।

जैनदार्शनिक साहित्य के विकास का मूलाधार ये ही प्राकृत भाषा-निबद्ध आगम रहे हैं। अतएव संक्षेप में इनका वर्गीकरण नीचे दिया जाता है—

१. अंग—

१—आचार, २—सूत्रकृत, ३—स्थान, ४—समवाय, ५—भगवती, ६—ज्ञातृधर्मकथा, ७—उपासकदशा, ८—अन्तकृद्दशा, ९—अनुत्तरोपपातिकदशा, १०—प्रश्नव्याकरण, ११—विपाक, १२—दृष्टिवाद (लुप्त है)।

२ उपांग—

१—औपपातिक, २—राजप्रश्नीय, ३—जीवाभिगम, ४—प्रज्ञापना, ५—सूर्यप्रज्ञप्ति, ६—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, ७—चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८—कल्पिका, ९—कल्पावतंसिका, १०—पुष्पिका, ११—पुष्पचूलिका, १२—वृष्णि-दशा।

३ मूल—

१—आवश्यक, २—दशवैकालिक, ३—उत्तराध्ययन, ४—पिंडनिर्युक्ति (४—किसीके मत से ओघ-निर्युक्ति)।

४ नन्दीसूत्र—

५ अनुयोगद्वारसूत्र—

६ छेदसूत्र—

१—निशीथ, २—महानिशीथ, ३—बृहत्कल्प, ४—व्यवहार, ५—दशाश्रुतस्कन्ध, ६—पंचकल्प।

७ प्रकीर्णक—

१—चतुःशरण, २—आतुरप्रत्याख्यान, ३—भक्तपरिज्ञा, ४—संस्तारक, ५—तन्दुलवैचारिक, ६—चन्द्रवेध्यक, ७—देवेन्द्रस्तव, ८—गणिविद्या, ९—महाप्रत्याख्यान, १०—वीरस्तव।

इन सूत्रों में से कुछ तो ऐसे हैं, जिनके कर्त्ता का नाम भी उपलब्ध होता है जैसे—दशवैकालिक शय्यंभवकृत है, प्रज्ञापना श्यामाचार्य कृत है। दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार के कर्त्ता भद्रबाहु हैं।

इन सभी सूत्रों का सम्बन्ध दर्शन से नहीं है। कुछ तो ऐसे हैं, जो जैन आचार के साथ सम्बन्ध रखते हैं जैसे—आचारांग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक हैं जैसे उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक, आदि। कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि सम्बन्धी मान्यताओं का वर्णन करते हैं, जैसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि। छेदसूत्रों का प्रधान विषय जैनसाधुओं के आचारसम्बन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमों का वर्णन व प्रायश्चित्तों का विधान करना है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें जिनमार्ग के अनुयायियों का चरित्र दिया गया है जैसे उपासकदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा आदि। कुछ में कल्पित कथाएँ देकर उपदेश दिया गया है, जैसे ज्ञातृधर्मकथा आदि। विपाक में शुभ और अशुभ कर्म का विपाक कथाओं द्वारा बताया गया है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर के साथ हुए संवादों का संग्रह है। बौद्ध सुत्तपिटक की तरह नाना विषय के प्रश्नोत्तर भगवती में संगृहीत हैं।

दर्शन के साथ सम्बन्ध रखने वालों में खास कर सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नन्दी, स्थानांग, समवाय और अनुयोग मुख्य हैं।

सूत्रकृत में तत्कालीन मन्तव्यों का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। भूतवादियों का निराकरण करके आत्मा का पृथग्-अस्तित्व बताया है। ब्रह्मवाद के स्थान में नानात्मवाद स्थिर किया है। जीव और

शरीर को पृथक् बताया है। कर्म और उसके फल की सत्ता स्थिर की है। जगदुत्पत्ति के विषय में नानावादों का निराकरण करके विश्व को किसी ईश्वर या ऐसी ही किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया, वह तो अनादि अनन्त है, इस बात की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके सुसंस्कृत क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों को लेकर विस्तार से विचार किया गया है।

राजप्रश्नीय में पार्श्वनाथ की परम्परा में हुए केशीश्रमण ने श्रावस्ती के राजा पएसी के प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक बातों को दृष्टान्त और युक्तिपूर्वक समझाया है।

भगवतीसूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं।

नन्दी जैनदृष्टि से ज्ञान के स्वरूप और भेदों का विश्लेषण करने वाली एक सुन्दर कृति है।

स्थानांग और समवायांग की रचना बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय के ढंग की है। इन दोनों में भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विषयों की चर्चा आई है। भगवान् महावीर के शासन में हुए निह्नवों का वर्णन स्थानांग में है। ऐसे सात व्यक्ति बताए गए हैं जिन्होंने कालक्रम से भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की भिन्न भिन्न बात को लेकर अपना मतभेद प्रकट किया है। ये ही निह्नव कहे गये हैं।

अनुयोग में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है, किन्तु प्रसंग से उसमें प्रमाण और नय का तथा तत्त्वों का निरूपण भी अच्छे ढंग से हुआ है।

आगमों की टीकाएँ

इन आगमों की टीकाएँ प्राकृत और संस्कृत में हुई हैं। प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से लिखी गई हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णी गद्य में। उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय की रचना हैं। उनका समय विक्रम पाँचवीं या छठी शताब्दी है। निर्युक्तियों में भद्रबाहु ने कई प्रसंग में दार्शनिक चर्चाएँ बड़े सुन्दर ढंग से की हैं। खास कर बौद्धों तथा चार्वाकों के विषय में निर्युक्ति में जहाँ कहीं अवसर मिला, उन्होंने अवश्य लिखा है। आत्मा का अस्तित्व उन्होंने सिद्ध किया है। ज्ञान का सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसा का तात्त्विक विवेचन किया है। शब्द के अर्थ करने की पद्धति के तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिख कर भद्रबाहु ने जैनदर्शन की भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषय की चर्चा का अपने समय तक का पूर्णरूप देखना हो तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारों में प्रसिद्ध संघदासगणी और जिनभद्र हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य में आगमिक पदार्थों का तर्कसंगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय, निक्षेप की सम्पूर्ण चर्चा तो उन्होंने की ही है। इसके अलावा तत्त्वों का भी तात्त्विक युक्तिसंगत विवेचन उन्होंने किया है। ऐसा कहा जा सकता है कि दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नहीं है, जिस पर जिनभद्र ने अपनी क़लम न चलाई हो। बृहत्कल्पभाष्य में संघदास गणी ने साधुओं के आहार-विहार आदि नियमों के उत्सर्ग अपवाद मार्ग की चर्चा दार्शनिक ढंग से की है। इन्होंने भी प्रसंग से प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिखा है।

क़रीब सातवीं-आठवीं शताब्दी की चूर्णियाँ मिलती हैं। चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नन्दी की चूर्णी के अलावा और भी चूर्णियाँ लिखी हैं। चूर्णियों में भाष्य के ही विषय को संक्षेप में गद्य में लिखा गया है। जातक के ढंग की प्राकृत कथाएँ इनकी विशेषता है।

जैन आगमों की सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आ० हरिभद्र ने की है। उनका समय वि० ७५७ से ८५७ के बीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियों का प्रायः संस्कृत में अनुवाद ही किया है और यत्र-तत्र अपने दार्शनिक ज्ञान का उपयोग करना भी उन्होंने उचित समझा है। इसीलिए हम उनकी टीकाओं में सभी दर्शनों की पूर्व-पक्षरूप से

चर्चा पाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जैन-तत्त्व को भी दार्शनिक ज्ञान के बल से सुनिश्चित रूप में स्थिर करने का प्रयत्न भी देखते हैं।

हरिभद्र के बाद शीलांक सूरि ने (दशवीं शताब्दी) संस्कृत टीकाओं की रचना की। शीलांक के बाद प्रसिद्ध टीकाकार शान्त्याचार्य हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन की बृहत्टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए, जिन्होंने नव अंगों पर संस्कृत में टीकाएँ रचीं। उनका जन्म १०७२ और स्वर्गवास विक्रम ११३५ हुआ है। इन दोनों टीकाकारों ने पूर्व टीकाओं का पूरा उपयोग किया ही है और अपनी ओर से नई दार्शनिक चर्चा भी की है।

यहाँ पर ऐसे ही टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र का भी नाम उल्लेख योग्य है। वे बारहवीं शताब्दी के विद्वान थे। किन्तु आगमों की संस्कृत टीका करने वालों में सर्वश्रेष्ठ स्थान तो मलयगिरि का ही है। प्रांजल भाषा में दार्शनिक चर्चा से प्रचुर टीकाएँ यदि देखना हो तो मलयगिरि की टीकाएँ देखना चाहिए। उनकी टीका पढ़ने में शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ने का आनन्द आता है। जैनशास्त्र के कर्म, आचार, भूगोल-खगोल आदि सभी विषयों में उनकी क़लम धाराप्रवाह से चलती है और विषय को इतना स्पष्ट करके रखती है कि फिर उस विषय में दूसरा कुछ देखने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे वाचस्पति मिश्र ने जो भी दर्शन लिया तन्मय होकर उसे लिखा, उसी प्रकार मलयगिरि ने भी किया है। वे आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। अतएव उन्हें बारहवीं शताब्दी का विद्वान समझना चाहिए।

संस्कृत-प्राकृत टीकाओं का परिमाण इतना बड़ा था और विषयों की चर्चा इतनी गहन-गहनतर हो गई थी कि बाद में यह आवश्यक समझा गया कि आगमों की शब्दार्थ बताने वाली संक्षिप्त टीकाएँ की जायँ। समय की गति ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं को बोलचाल की भाषा से हटाकर मात्र साहित्यिक भाषा बना दिया था। तब तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधों की रचना हुई। इन्हें 'टबा' कहते हैं। ऐसे बालावबोधों की रचना करने वाले कई हुए हैं, किन्तु १८वीं सदी में हुए लोंकागच्छ के धर्मसिंह मुनि विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। क्योंकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओं के अर्थ को छोड़ कर कहीं-कहीं स्वसम्प्रदाय-संमत अर्थ करने की रही है। उनका सम्प्रदाय मूर्तिपूजा के विरोध में उत्थित हुआ था।

दिगम्बरागम

उपर्युक्त आगम और उसकी टीकाएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय को ही मान्य हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय अंगादि प्राचीन आगमों को लुप्त ही मानता है, किन्तु उनके आधार से और खासकर दृष्टिवाद के आधार से आचार्यों द्वारा ग्रथित कुछ ग्रन्थों को आगम रूप से वह स्वीकार करता है। ऐसे आगम ग्रन्थों में षट्खंडागम, कषायपाहुड और महाबन्ध हैं। इन तीनों का विषय जीव और कर्म से विशेष सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक खंडन-मंडन मूल में नहीं, किन्तु बाद में होने वाली उनकी बड़ी-बड़ी टीकाओं में विशेषतया पाया जाता है।

षट्खंडागम और कषायपाहुड मूल की रचना विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुई है और उन पर बृहत्काय टीका धवला-जयधवला की रचना वीरसेनाचार्य ने विक्रम की नवमी शताब्दी में की है।

महाबन्ध अभी अप्रसिद्ध है।

दिगम्बर आम्नाय में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। उनका समय अभी विद्वानों में विवाद का विषय है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने अनेक प्रमाणों से उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। मुनि श्री कल्याणविजयजी उन्हें पाँचवीं-छठी शताब्दी से पूर्व नहीं मानते। उनके ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय में आगम के समान ही प्रमाणित माने जाते हैं। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, अष्टपाहुड, नियमसार आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उन्होंने आत्मा का नैश्चयिक और व्यावहारिक दृष्टि से सुविवेचन किया है। सप्तभंगी का निरूपण भी उन्होंने किया है। उनके ग्रन्थों पर अमृतचन्द्र आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने संस्कृत में तथा अन्य विद्वानों ने हिन्दी में व्याख्याएँ की हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और उस की टीकाएँ

आगमों में जैनप्रमेयों का वर्णन विप्रकीर्ण था। अतएव जैनतत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या, पदार्थविज्ञान इत्यादि नाना प्रकार के विषयों का संक्षेप में निरूपण करने वाले एक ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति आचार्य उमास्वाति ने की। उनका समय अभी अनिश्चित ही है, किन्तु उन्हें तीसरी-चौथी शताब्दी का विद्वान माना जा सकता है। अपने सम्प्रदाय के विषय में भी उन्होंने कुछ निर्देश नहीं किया, किन्तु अभी-अभी श्री नाथूराम जी प्रेमी ने एक लेख लिख कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वे यापनीय थे। उनका यापनीय होना युक्तिसंगत मालूम देता है। उनका 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। इतना ही नहीं, बल्कि जब से वह बना है तब से अभी तक उनका आदर और महत्त्व दोनों सम्प्रदायों में बराबर बना रहा है। यही कारण है कि छठी शताब्दी के दिगम्बराचार्य पूज्यपाद ने उस पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका की रचना की। आठवीं-नवीं शताब्दी में तो इसकी टीका की होड़-सी लगी है। अकलंक और विद्यानन्द ने क्रमशः 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' की रचना की। सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमशः बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों की रचना की। पूर्वोक्त दो दिगम्बर हैं और अन्तिम दोनों श्वेताम्बर हैं। ये पाँचों कृतियाँ दार्शनिक ही हैं। जैनदर्शन सम्मत प्रत्येक प्रमेय का निरूपण अन्य दर्शन के उस-उस विषयक मन्तव्य का निराकरण करके ही किया गया है। यदि हम कहें कि अधिकांश जैनदार्शनिक साहित्य का विकास और वृद्धि एक तत्त्वार्थ को केन्द्र में रख कर ही हुआ है तो अत्युक्ति नहीं होगी। दिग्नाग के प्रमाण समुच्चय के ऊपर धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक लिखा और जिस प्रकार उसी को केन्द्र में रख कर समग्र बौद्धदर्शन विकसित और वृद्धिगत हुआ उसी प्रकार तत्त्वार्थ के आसपास जैनदार्शनिक साहित्य का विकास और वृद्धि हुई है। बारहवीं शताब्दी में मलयगिरि ने और चौदहवीं शताब्दी में किसी चिरन्तन मुनि ने भी टीकाएँ बनाईं। आखिर में अठारवीं शताब्दी में यशोविजयजी ने भी अपनी नव्य परिभाषा में इसकी टीका करना उचित समझा और इस प्रकार पूर्व की सत्रहवीं शताब्दी तक के दार्शनिक विकास का भी अन्तर्भाव इसमें हुआ। एक दूसरे यशोविजयगणी ने प्राचीन गुजराती में इसका बालावबोध बना कर इस कृति को भाषा की दृष्टि से आधुनिक भी बना दिया। ये सभी श्वेताम्बर थे। दिगम्बरों में भी श्रुतसागर (सोलहवीं शताब्दी), विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव, अभयनन्दी सूरि आदि ने भी संस्कृत में टीकाएँ बनाई हैं। और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने प्राचीन हिन्दी में लिख कर उसे आधुनिक बना दिया है।

अभी-अभी बीसवीं शताब्दी में भी उसी तत्त्वार्थ का अनुवाद भी कई विद्वानों ने किया है और विवेचन भी हिन्दी तथा गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में हुआ है।

ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति का संक्षेप में विषय-निर्देश करना आवश्यक है।

ज्ञानमीमांसा

[1]"पहले अध्याय में ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य आठ बातें हैं और वे इस प्रकार हैं:—१—नय और प्रमाणरूप से ज्ञान का विभाग। २—मति आदि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाणों में विभाजन। ३—मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन, उनके भेद प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४—जैन परम्परा में प्रमाण माने जाने वाले आगम शास्त्र का श्रुतज्ञानरूप से वर्णन। ५—अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६—इन पाँचों ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय-निर्देश और उनकी एक साथ सम्भवनीयता। ७—कितने ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते हैं यह, और ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८—नय के भेदप्रभेद।

[1] देखो पं० सुखलाल जी कृत 'विवेचन' की प्रस्तावना पृ० ६७।

ज्ञेयमीमांसा

"ज्ञेयमीमांसा में मुख्य सोलह बातें आती हैं जो इस प्रकार हैं—दूसरे अध्याय में—१—जीवतत्त्व का स्वरूप। २—संसारी जीव के भेद। ३—इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इन्द्रियों का विभाजन। ४—मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति। ५—जन्मों के और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाग। ६—शरीर के भेद, उनके तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनका सम्भव। ७—जातियों का लिंग-विभाग और न टूट सके ऐसे आयुष्य को भोगने वालों का निर्देश। तीसरे और चौथे अध्याय में—८—अधोलोक के विभाग, उसमें बसने वाले नारकजीव और उनकी दशा तथा जीवनमर्यादा वग़ैरह। ९—द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन, तथा उसमें वसने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवनकाल। १०—देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग, स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मंडल द्वारा खगोल का वर्णन। पांचवें अध्याय में—११—द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य; उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२—पुद्गल का स्वरूप, उनके भेद और उसकी उत्पत्ति के कारण। १३—सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४—पौद्गलिकबन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५—द्रव्यसामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य मानने वाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६—गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

चारित्र मीमांसा

"चारित्रमीमांसा की मुख्य ग्यारह बातें हैं—छठे अध्याय में—१—आस्रव का स्वरूप, उसके भेद और किस-किस आस्रवसेवन से कौन-कौन कर्म बँधते हैं उसका वर्णन है। सातवें अध्याय में—२—व्रत का स्वरूप व्रत लेने वाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग। ३—हिंसा आदि दोषों का स्वरूप। ४—व्रत में सम्भवित दोष। ५—दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु। आठवें अध्याय में—६—कर्मबन्धन के मूल हेतु और कर्मबन्धन के भेद। नववें अध्याय में—७—संवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेदप्रभेद। ८—निर्जरा और उसके उपाय। ९—जुदे-जुदे अधिकार वाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य। दसवें अध्याय में—१०—केवल ज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप। ११—मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्मा की किस रीति से कहाँ गति होती है उसका वर्णन।"

इस संक्षिप्त सूची से यह पता लग जायगा कि तत्कालीन ज्ञानविज्ञान की एक भी शाखा अछूती नहीं रही है। तत्त्वविद्या, आध्यात्मिकविद्या, तर्कशास्त्र, मानसशास्त्र, भूगोल-खगोल, भौतिक विज्ञान, रसायनविज्ञान, भूस्तरविद्या, जीवविद्या आदि सभी के विषय में उमास्वाति ने तत्कालीन जैन मन्तव्य का संग्रह किया है। यही कारण है कि टीकाकारों ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को बहाने के लिए इसी ग्रन्थ को चुना है और फलतः यह एक जैनदर्शन का अमूल्य रत्न सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार ज्ञानविज्ञान की सभी शाखाओं को लेकर तत्त्वार्थ और उसकी टीकाओं में विवेचना होने से किसी एक दार्शनिक मुद्दे पर संक्षेप में चर्चा का होना उसमें अनिवार्य है अतएव जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्त अनेकान्तवाद और उसीसे सम्बन्ध रखने वाले प्रमाण और नय का स्वतन्त्र विस्तृत विवेचन उसमें सम्भव न होने से जैन आचार्यों ने इन विषयों पर स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ भी लिखना शुरू किया।

(२) अनेकान्त स्थापन युग

सिद्धसेन और समन्तभद्र

दार्शनिक क्षेत्र में जब से नागार्जुन ने पदार्पण किया है तब से सभी भारतीय दर्शनों में नव जागरण हुआ है। सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शन को तर्क के बल से सुसंगत करने का प्रयत्न किया है। जो बातें केवल मान्यता

की थीं उनका भी स्थिरीकरण युक्तियों के बल से होने लगा। पारस्परिक मतभेदों का खंडन-मंडन जब होता है तब सिद्धान्तों का और युक्तियों का आदान-प्रदान होना भी स्वाभाविक है। फल यही हुआ कि दार्शनिक प्रवाह इस संघर्ष में पड़ कर पुष्ट हुआ। प्रारम्भ में तो जैनाचार्यों ने तटस्थरूप से इस संघर्ष को देखा ही है किन्तु परिस्थिति ने जब उन्हें बाधित किया, अपने अस्तित्व का ही खतरा जब उपस्थित हुआ, तब समय की पुकार ने ही सिद्धसेन और समन्तभद्र जैसे प्रमुख तार्किकों को उपस्थित किया। इनका समय क़रीब पांचवीं-छठवीं शताब्दी है। सिद्धसेन श्वेताम्बर और समन्तभद्र दिगम्बर थे।

जैनधर्म के अन्तिम प्रवर्तक भगवान् महावीर ने नयोंका उपदेश दिया ही था। किसी भी तत्त्व का निरूपण करने के लिए किसी एक दृष्टि से नहीं, किन्तु शक्य सभी नय-दृष्टिबिन्दुओं से उसका विचार करना सिखाया था। उन्होंने कई प्रसंग में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों से तत्त्व का विचार समकालीन दार्शनिक मतवादियों के सामने उपस्थित किया था। इस प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की नींव उन्होंने डाल ही दी थी। किन्तु जब तक नागार्जुन के द्वारा सभी दार्शनिकों के सामने अपने-अपने सिद्धान्त की सिद्धि तर्क के बल से करने के लिए आवाज नहीं उठी थी, जैन दार्शनिक भी सोये हुए थे। सभी दार्शनिकों ने जब अपने-अपने सिद्धान्तों को पुष्ट कर लिया तब जैनदार्शनिक जागे। वस्तुतः यही समय उनके लिए उपयुक्त भी था, क्योंकि सभी दार्शनिक अपने-अपने सिद्धान्त की सत्यता और दूसरे के सिद्धान्त की असत्यता स्थापित करने पर तुले हुए होने से वे अभिनिवेश के कारण दूसरे के सिद्धान्त की खूबियां और अपनी कमजोरियां देख नहीं सकते थे। उन सभी की समालोचना करने वाले की अत्यन्त आवश्यकता ऐसे ही समय में हो सकती है। यही कार्य जैन-दार्शनिकों ने किया।

शून्यवादियों ने कहा था कि तत्त्व न सत् है, न असत्; न उभयरूप है, न अनुभयरूप; अर्थात् वस्तु में कोई विशेषण देकर उसका निर्वचन किया नहीं जा सकता। इसके विरुद्ध सांख्यों ने और प्राचीन औपनिषदिक दार्शनिकों ने सब को सत् रूप ही स्थिर किया। नैयायिक-वैशेषिकों ने कुछ को सत् और कुछ को असत् ही सिद्ध किया। विज्ञानवादी बौद्धों ने तत्त्व को विज्ञानात्मक ही कहा और बाह्यार्थ का अपलाप किया। इसके विरुद्ध नैयायिक-वैशेषिकों ने और मीमांसकों ने विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्यार्थ को भी सिद्ध किया। बौद्धों ने सभी तत्त्वों को क्षणिक ही सिद्ध किया तब मीमांसकों ने शब्द और ऐसे ही दूसरे अनेक पदार्थों को अक्षणिक सिद्ध किया। नैयायिकों ने शब्दादि जैसे अनेक को क्षणिक और आकाश आत्मादि जैसे अनेक को अक्षणिक सिद्ध किया। बौद्धों ने और मीमांसकों ने ईश्वरकर्तृत्व का निषेध किया और नैयायिकों ने ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध किया। मीमांसकभिन्न सभी ने वेदापौरुषेयत्व का विरोध किया तब मीमांसक ने उसीका समर्थन किया। इस प्रकार इस संघर्ष के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के वादविवाद दार्शनिक क्षेत्र में उपस्थित थे। इन सभी वादों को जैनदार्शनिकों ने तटस्थ होकर देखा और फिर अपनी समालोचना शुरू की। उनके पास भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नयवाद और द्रव्यादि चार दृष्टियां थीं ही। उनके प्रकाश में जब उन्होंने ये वाद देखे तब उन्हें अपने अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की स्थापना का अच्छा मौक़ा मिला।

सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में नयवाद का विवेचन किया है क्योंकि अनेकान्तवाद का मूलाधार नयवाद ही है। उनका कहना है कि सभी नयों का समावेश दो मूलनयों में—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में हो जाता है। दृष्टि यदि द्रव्य, अभेद, सामान्य, एकत्व की ओर होती है तो सर्वत्र अभेद दिखाई देता है और यदि पर्याय, भेद, विशेषगामी होती है तो सर्वत्र भेद ही भेद नजर आता है। तत्त्वदर्शन किसी भी प्रकार का क्यो न हो वह आख़िर में जाकर इन दो दृष्टियों में से किसी एक में ही सम्मिलित हो जायगा। या तो वह द्रव्यार्थिक दृष्टि से होगा या पर्यायार्थिक दृष्टि से होगा। अनेकान्तवाद इन दोनों दृष्टियों के समन्वय में है न कि विरोध में। सिद्धसेन का कहना है कि दार्शनिकों में परस्पर विरोध इसलिए है कि या तो वे द्रव्यार्थिक दृष्टि को ही सच मान कर चलते हैं या पर्यायार्थिक दृष्टि को ही। किन्तु यदि वे अपनी दृष्टि का राग छोड़ कर दूसरे की दृष्टि का विरोध न करके उस ओर उपेक्षाभाव धारण करें तब अपनी

दृष्टि में स्थिर रह कर भी उनका दर्शन सम्यग्दर्शन है, चाहे वह पूर्ण न भी हो। पूर्ण सम्यग्दर्शन तो सभी उपयुक्त दृष्टियों के स्वीकार में ही हो सकता है। किन्तु सभी दार्शनिक अपना दृष्टिराग छोड़ नहीं सकते। अतएव वे मिथ्या हैं और उन्हीं की बात को लेकर चलने वाला अनेकान्तवाद मिथ्या न होकर सम्यक् हो जाता है। क्योंकि अनेकान्तवाद सर्वदर्शनों का जो तथ्यांश है, जो अंश युक्तिसिद्ध है उसे स्वीकार करता है और तत्त्व के पूर्ण दर्शन में उस अंश को भी यथास्थान संनिविष्ट करता है। सिद्धसेन का तो यहाँ तक कहना है कि किसी एक दृष्टि की मुख्यता यदि मानी जाय तो सर्वदर्शनों का प्रयोजन जो मोक्ष है वही नहीं घट सकेगा। अतएव दार्शनिकों को अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी अनेकान्तवाद का आश्रयण करना चाहिए और दृष्टिमोह से दूर रहना चाहिए। महामूल्यवान् मुक्तामणियों को भी जब तक किसी एक सूत्र में बाँधा न जाय तब तक गले का हार नहीं बन सकता है। उनमें समन्वय की कमी है। अतएव उनका खास उपयोग भी नहीं। किन्तु वे ही मणियाँ जब सूत्रबद्ध हो जाती हैं, उनमें समन्वय हो जाता है तब उनका पार्थक्य होते हुए भी एक उपयुक्त चीज़ बन जाती है। इसी दृष्टान्त के बल से सिद्धसेन ने सभी दार्शनिकों को अपनी-अपनी दृष्टि में समन्वय की भावना रखने का आदेश दिया है। और कहा है कि यदि ऐसा समन्वय हो तभी दर्शन सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है अन्यथा नहीं।

कार्यकारण के भेदाभेद को लेकर दार्शनिकों में नाना विवाद चलते थे। कार्य और कारण का एकान्त भेद ही है, ऐसा न्याय-वैशेषिक मत है। सांख्य का मत है कि कार्य कारणरूप ही है। अद्वैतवादियों का मत है कि संसार में दृश्यमान कार्यकारणभाव मिथ्या है, किन्तु एक द्रव्य—अद्वैत ब्रह्म ही सत् है। इन सभी वादियों को सिद्धसेन ने एक ही बात कही है कि यदि वे परस्पर समन्वय न स्थापित कर सकें तो उनका वाद मिथ्या ही होगा। वस्तुतः अभेदगामी दृष्टि से विचार करने पर कार्य-कारण में अभेद है, और भेदगामी दृष्टि से देखने पर भेद है, अतएव एकान्त का परित्याग करके कार्य-कारण में भेदाभेद मानना चाहिए।

भगवान् महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी वस्तु पर विचार करना सिखाया था, यह कहा जा चुका है। इसी को मूलाधार बना कर किसी भी वस्तु में स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् और परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् इत्यादि सप्तभंगों की योजनारूप स्याद्वाद का प्रतिपादन भी सिद्धसेन ने विशदरूप से किया है। सदसत् की सप्तभंगी की तरह एकानेक, नित्यानित्य, भेदाभेद इत्यादि दार्शनिकवादों के विषय में भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि को मूलाधार बना कर स्याद्वाद दृष्टि का प्रयोग करने का सिद्धसेन ने सूचन किया है।

बौद्धों ने वस्तु को विशेषरूप ही माना, अद्वैतवादियों ने सामान्यरूप ही माना और वैशेषिकों ने सामान्य और विशेष को स्वतन्त्र और आधारभूत वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही माना। दार्शनिकों के इस विवाद को भी सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का झगड़ा ही कहा और वस्तु तत्त्व को सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध करके समन्वय किया।

बौद्ध ने वस्तु को गुण रूप ही माना, गुणभिन्न कोई द्रव्य माना ही नहीं। नैयायिकों ने द्रव्य और गुण का भेद ही माना। तब सिद्धसेन ने कहा कि एक ही वस्तु सम्बन्ध के भेद से नाना रूप धारण करती है अर्थात् जब वह चक्षुरिन्द्रिय का विषय होती है तब रूप कही जाती है और रसनेन्द्रिय का विषय होती है तब रस कही जाती है, जैसे कि एक ही पुरुष सम्बन्ध के भेद से पिता, मामा आदि व्यपदेशों को धारण करता है। इस प्रकार गुण और द्रव्य का अभेद सिद्ध करके भी एकान्ताभेद नहीं है ऐसा स्थिर करने के लिए फिर कहा कि वस्तु में विशेषताएँ केवल परसम्बन्ध कृत हैं यह बात नहीं है। उनमें तत्तद्रूप से स्वपरिणति भी मानना आवश्यक है। इन परिणामों में भेद बिना माने व्यपदेशभेद भी सम्भव नहीं। अतएव द्रव्य और गुण का भेद ही या अभेद ही है, यह बात नहीं, किन्तु भेदाभेद है। यही उक्त वादों का समन्वय है।

सिद्धसेन तर्कवादी अवश्य थे, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि तर्क को वे अप्रतिहतगति समझते थे।

तर्क की मर्यादा का पूरा ज्ञान उनको था। इसीलिए तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अहेतुवाद के क्षेत्र में तर्क को दखल न देना चाहिए। आगमिक वातों में केवल श्रद्धागम्य वातों में—श्रद्धा से ही काम लेना चाहिए और जो तर्क का विषय हो उसी में तर्क करना चाहिए।

दूसरे दार्शनिकों की त्रुटि दिखा कर ही सिद्धसेन सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने अपना घर भी ठीक किया। जैनों की उन आगमिक मान्यताओं के ऊपर भी उन्होंने प्रहार किया है, जिनको उन्होंने तर्क से असंगत समझा। जैसे सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन को भिन्न मानने की आगमिक परम्परा थी, उसके स्थान में उन्होंने दोनों के अभेद की नई परम्परा क़ायम की। तर्क के वल पर उन्होंने मति और श्रुत के भेद को भी मिटाया। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान को एक वताया तथा दर्शन—श्रद्धा और ज्ञान का भी ऐक्य सिद्ध किया। जैन आगमों में नैगमादि सात नय प्रसिद्ध थे। उसके स्थान में उन्होंने उनमें से नैगम का समावेश संग्रह-व्यवहार में कर दिया और मूल नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मान कर उन्हीं दो के अवान्तर भेद रूप से छःनयों की व्यवस्था कर दी। अवान्तर भेदों की व्यवस्था में भी उन्होंने अपना स्वातन्त्र्य दिखाया है। इतना ही नहीं किन्तु उस समय के प्रमुख जैनसंघ को युगधर्म की भी शिक्षा उन्होंने यह कह कर दी है कि सिर्फ़ सूत्रपाठ याद करके तथा उस पर चिन्तन और मनन न करके मात्र वाह्य अनुष्ठान के वल पर अव शासन की रक्षा होना कठिन है। नयवाद के विषय में गम्भीर चिन्तन-मनन करके अनुष्ठान किया जाय तव ही ज्ञान का फल विरति और मोक्ष मिल सकता है। और इस प्रकार शासनरक्षा भी हो सकती है।

सिद्धसेन की कृतियों में सन्मतितर्क, वत्तीसीयाँ और न्यायावतार हैं। सन्मतितर्क प्राकृत में और शेष संस्कृत में हैं।

सिद्धसेन के विषय में कुछ विस्तार अवश्य हो गया है, किन्तु वह आवश्यक है; क्योंकि अनेकान्तवादरूपी महाप्रासाद के निर्माता प्रारम्भिक शिल्पियों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धसेन के समकक्ष विद्वान् समन्तभद्र हैं। उनको स्याद्वाद का प्रतिष्ठापक कहना चाहिए। अपने समय में प्रसिद्ध सभी वादों की ऐकान्तिकता में दोष दिखा कर उन सभी का समन्वय अनेकान्तवाद में किस प्रकार होता है, यह उन्होंने खूबी के साथ विस्तार से वताया है। उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र में चौविसों तीर्थंकरों की स्तुति की है। वह स्तुति स्तोत्र साहित्य में अनोखा स्थान रखती है। वह आलंकारिक एक स्तुतिकाव्य तो है ही, किन्तु उसकी विशेषता उसमें सन्निहित दार्शनिक तत्त्व में है। प्रत्येक तीर्थंकर की स्तुति में किसी न किसी दार्शनिकवाद का आलंकारिक निर्देश अवश्य किया है। युक्त्यनुशासन भी एक स्तुति के रूप में दार्शनिक कृति है। प्रचलित सभी वादों में दोष दिखा कर यह सिद्ध किया गया है कि भगवान् के उपदेशों में उन दोषों का अभाव है। इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् के उपदेश में जो गुण हैं उन गुणों का सद्भाव अन्य किसी के उपदेश में नहीं। तथापि उनकी श्रेष्ठ कृति तो आप्तमीमांसा ही है।

हम अर्हन्त की ही स्तुति क्यों करते हैं और दूसरों की क्यों नहीं करते? इस प्रश्न को लेकर उन्होंने आप्त की मीमांसा की है। आप्त कौन हो सकता है इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सर्वप्रथम तो महत्ता की सच्ची कसौटी क्या हो सकती है, इसका विचार किया है। जो लोग वाह्य आडम्वर या ऋद्धि देख कर किसी को महान् समझ कर अपना आप्त या पूज्य मान लेते हैं उन्हें शिक्षा देने के लिए उन्होंने अरिहन्त को सम्वोधन करके कहा है—

> देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
> मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

देवों का आगमन, नभोयान और चामरादि विभूतियाँ तो मायावि पुरुषों में भी दिखाई देती हैं। अतएव इतने मात्र से तुम हमारे लिए महान् नहीं हो। फलितार्थ यह है कि श्रद्धाशील लोगों के लिए तो ये वातें महत्ता की कसौटी हो सकती हैं, किन्तु तार्किकों के सामने यह कसौटी चल नहीं सकती। इसी प्रकार शारीरिक महोदय भी

महत्ता की कसौटी नहीं, क्योंकि देवलोक के निवासियों में भी शारीरिक महोदय होते हुए भी वे महान् नहीं, क्योंकि उनमें रागादि दोष हैं। तब प्रश्न हुआ कि क्या जो तीर्थंकर या धर्मप्रवर्तक कहे जाते हैं जैसे बुद्ध, कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनी आदि —उन्हें महान् और आप्त माना जाय ? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि ये तीर्थंकर कहे तो जाते हैं किन्तु सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध होने से वे सभी तो आप्त हो नहीं सकते। किसी एक को ही आप्त मानना होगा।[1] वह एक कौन है, जिसे आप्त माना जाय ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि जिसके मोहादि दोषों का अभाव हो गया है और जो सर्वज्ञ हो गया है वही आप्त हो सकता है। ऐसा निर्दोष और सर्वज्ञ व्यक्ति आप अर्थात् भगवान् वर्धमान आदि अर्हन्त ही हैं, क्योंकि आपका उपदेश प्रमाण से अबाधित है।[2] दूसरे कपिलादि आप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनका जो उपदेश है, वह ऐकान्तिक होने से ही प्रत्यक्ष बाधित है। आप्त की मीमांसा के लिए ऐसी पूर्वभूमिका बांध करके आचार्य समन्तभद्र ने क्रमशः सभी प्रकार के ऐकान्तिक वादों में प्रमाणबाधा दिखा कर समन्वय-वाद, अनेकान्तवाद जो कि भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट है उसी को प्रमाण से अबाधित सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। सिद्धसेन के समान समन्तभद्र का भी यही कहना है कि एकान्तवाद का आश्रयण करने पर कुशलाकुशल कर्म की व्यवस्था और परलोक ये बातें असंगत हो जाती हैं।

समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी एकान्तवादों में क्रमशः दोषों को दिखा कर यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि इन्हीं दो विरोधी एकान्तवादों का समन्वय यदि स्याद्वाद के रूप में किया जाता है, अर्थात् इन्हीं दो विरोधी वादों को मूल में रख कर सप्तभंगी की योजना की जाती है तो ये विरोधीवाद भी अविरुद्ध हो जाते हैं, निर्दोष हो जाते हैं। भगवान् के प्रवचन की यही विशेषता है।

सर्वप्रथम ऐसा समन्वय उन्होंने भावैकान्त और अभावैकान्तवाद को लेकर किया है। अर्थात् सत् और असत् को लेकर सप्तभंगी का समर्थन करके उन्होंने सिद्ध किया है कि ये सदद्वैत और शून्यवाद तभी तक विरोधी हैं जब तक वे अलग-अलग हैं किन्तु जब वे अनेकान्तरूपी मुक्ताहार के एक अंगरूप हो जाते हैं तब उनमें कोई विरोध नहीं। इसी प्रकार द्वैतवाद और अद्वैतवाद आदि का भी समन्वय कर लेने की सूचना उन्होंने की है। सिद्धसेन ने नयों का सुन्दर विश्लेषण किया तो समन्तभद्र ने उन्हीं नयों के आधार पर प्रत्येक वादों में स्याद्वाद की संगति कैसे बिठाना चाहिये इसे विस्तार से युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। प्रत्येक दो विरोधी वादों को लेकर सप्तभंगी की योजना किस प्रकार करना चाहिए इसके स्पष्टीकरण में ही समन्तभद्र की विशेषता है।

उक्त वादों के अलावा नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त; कार्य कारण का भेदैकान्त और अभेदैकान्त; गुण-गुणी का भेदैकान्त और अभेदैकान्त; सामान्य-सामान्यवत् का भेदैकान्त और अभेदैकान्त; सापेक्षवाद और निरपेक्षवाद; हेतुवाद और अहेतुवाद; विज्ञप्तिमात्रवाद और बहिरंगार्थतैकान्तवाद; दैववाद और पुरुषार्थवाद; पर को सुख देने से पुण्य हो, दुःख देने से पाप हो—ऐसा एकान्तवाद और स्व को दुःख देने से पुण्य हो, सुख देने से पाप हो ऐसा एकान्तवाद; अज्ञान से बन्ध हो ऐसा एकान्त और स्तोकज्ञान से मोक्ष ऐसा एकान्त; वाक्यार्थ के विषय में विधिवाद और निषेधवाद—इन सभी वादों में युक्ति के बल से संक्षेप में दोष दिखा कर अनेकान्तवाद की निर्दोषता सिद्ध की है, प्रसंग से प्रमाण, सुनय और दुर्नय, स्याद्वाद इत्यादि अनेक विषयों का लक्षण करके उत्तर काल के आचार्यों के लिए विस्तृत चर्चा का बीजवपन किया है।

---

[1] "तीर्थकृत्समयानां च परस्पर विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः॥"

[2] "स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥"

मल्लवादी और सिंहगणी

सिद्धसेन के समकालीन विद्वान् मल्लवादी हुए हैं। वे वादप्रवीण थे अतएव उनका नाम मल्लवादी था। उन्होंने सन्मतितर्क की टीका की हैं। तदुपरान्त नयचक्र नामक एक अद्‌भुत ग्रन्थ की रचना की। ये श्वेताम्बराचार्य थे। किन्तु अकलंकादि दिगम्बर आचार्यों ने भी इनके नयचक्र का बहुमान किया हैं।

तत्कालीन सभी दार्शनिकवादों को सात नयों के अन्तर्गत बता करके उन्होंने एक वादचक्र की रचना की हैं। उस चक्र में उत्तर उत्तर वाद पूर्व पूर्व वाद का विरोध करके अपने-अपने पक्ष को सबल सिद्ध करता है।

ग्रन्थकार का तो उद्देश्य यह हैं कि ये सभी एकान्तवाद अपने आपको पूर्ववाद से प्रबल समझते हैं किन्तु अपने वाद से दूसरे उत्तरवाद के अस्तित्व का ख़याल वे नहीं रखते। एक तटस्थ व्यक्ति ही इस चक्रान्तर्गत प्रत्येक वाद की आपेक्षिक सबलता या निर्बलता जान सकता है। और वह तभी जब उसे पूरा चक्र मालूम हो। इन वादों को पंक्तिबद्ध न करके चक्रबद्ध करने का उद्देश्य यह है कि पंक्ति में तो किसी एक वाद को प्रथम स्थान देना पड़ता है और किसी एक को अन्तिम। उत्तरोत्तर खंडन करने पर अन्तिम वाद को विजयी घोषित करना प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि इन वादों को चक्रबद्ध किया जाय तो वादों का अन्त भी नहीं और आदि भी नहीं। सुभीते के लिए किसी एक वाद की स्थापना प्रथम की जा सकती है और अन्त में किसी एक पक्ष को रक्खा जा सकता है, किन्तु चक्रबद्ध होने से उस अन्तिम के भी उत्तर में प्रथमवाद ही ठहरता है और वही उस अन्तिम का खंडन करता है और इस प्रकार एकान्त-वादियों का खंडन-मंडन का चक्र चलता है। अनेकान्तवाद ही इन सभी वादों का समन्वय कर सकता है। आचार्य ने इन सभी को चक्रबद्ध करके यही सूचित किया है कि अपनी-अपनी दृष्टि से वे सभी वाद सच्चे हैं, किन्तु दूसरों की दृष्टि में मिथ्या ठहरते हैं। अतएव नयवाद का उपयोग करके इन सभी वादों का समन्वय करना चाहिए। और उनकी सच्चाई यदि है तो किस नय की दृष्टि से है उसे विचारना चाहिए। मल्लवादि ने प्रत्येक वाद को किसी न किसी नयान्तर्गत करके सभी वादों के स्रोत को अनेकान्तवाद रूपी महासमुद्र में मिलाया है, जहाँ जाकर उनका पृथगस्तित्व मिट जाता है और सभी वादों के समन्वयरूप एक महासमुद्र ही दिखाई देता है। नयचक्र की एक और भी विशेषता है और वह यह कि उसमें इतर दर्शनों में भी किस प्रकार अनेकान्तवाद को अपनाया गया है उसे दिखाया है।

इस नयचक्र के ऊपर सिंह क्षमाश्रमण ने १८००० श्लोक प्रमाण बृहत्काय टीका की है। उनका समय सातवीं शताब्दी से उत्तर में हो नहीं सकता क्योंकि उन्होंने दिग्नाग और भर्तृहरि के तो कई उद्धरण दिये हैं किन्तु धर्मकीर्ति के ग्रन्थ का कोई उद्धरण नहीं। और न कुमारिल का ही उसमें कहीं नाम है। आश्चर्य है कि उसमें समन्तभद्र का भी कोई उद्धरण नहीं, किन्तु सिद्धसेन और उनके ग्रन्थों का उद्धरण बार-बार है। नयचक्रटीका गायकवाड़ सिरीज़ में छप रही है।

पात्रकेसरी

इसी युग में एक और तेजस्वी दिगम्बर विद्वान् **पात्रस्वामी**, जिनका दूसरा नाम **पात्रकेसरी** था, हुए। इन्होंने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इस युग में प्रमाणशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखने वाली दो कृतियाँ हुई एक सिद्धसेनकृत न्यायावतार और दूसरी यह त्रिलक्षणकदर्थन। इसमें दिग्नाग समर्थित हेतु के त्रिलक्षण का खंडन किया गया है और जैनदृष्टि से अन्यथानुपपत्ति रूप एक ही हेतुलक्षण सिद्ध किया गया है। जैन न्यायशास्त्र में हेतु का यही लक्षण न्यायावतार में और अन्यत्र मान्य है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

(३) प्रमाणशास्त्र व्यवस्थायुग

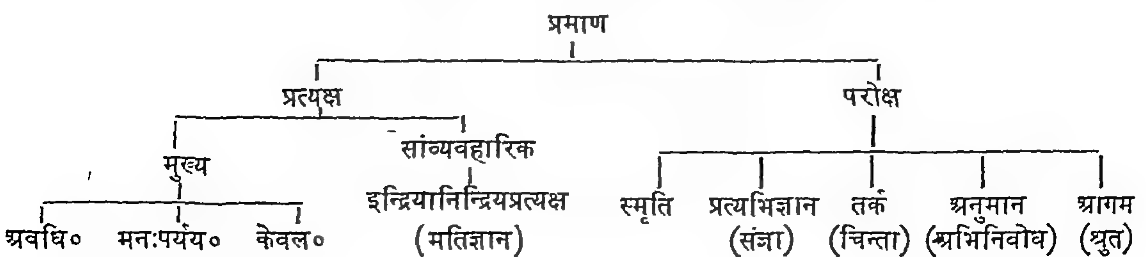
हरिभद्र और अकलंक

असंग-वसुबन्धु ने विज्ञानवाद की स्थापना की थी, किन्तु स्वतन्त्र बौद्ध दृष्टि से प्रमाणशास्त्र की रचना व स्थापना का कार्य तो दिग्नाग ने ही किया। अतएव वह बौद्ध तर्कशास्त्र का पिता माना जाता है। उन्होंने तत्कालीन नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि दर्शनों के प्रमेयों का तो खंडन किया ही किन्तु साथ ही उनके प्रमाणलक्षणों का भी खंडन किया। इसके उत्तर में प्रशस्त उद्द्योतकर, कुमारिल, सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणी, पूज्यपाद, समन्तभद्र, ईश्वरसेन, अविद्धकर्ण आदि ने अपने अपने दर्शन और प्रमाणशास्त्र का समर्थन किया। तब दिग्नाग के टीकाकार और भारतीय दार्शनिकों में सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे धर्मकीर्ति का पदार्पण हुआ। उन्होंने उन पूर्वोक्त सभी दार्शनिकों को उत्तर दिया और दिग्नाग के दर्शन की रक्षा की और नये प्रकाश में उसका परिष्कार भी किया। इस तरह बौद्ध दर्शन और खास कर बौद्धप्रमाणशास्त्र की भूमिका पक्की कर दी। इसके बाद एक ओर तो धर्मकीर्ति की शिष्यपरम्परा के दार्शनिक धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर आदि हुए जिन्होंने उत्तरोत्तर धर्मकीर्ति के पक्ष की रक्षा की और इस प्रकार बौद्ध प्रमाणशास्त्र को स्थिर किया। और दूसरी ओर प्रभाकर, उम्वेक, व्योमशिव, भाविविक्त, जयन्त, सुमति, पात्रस्वामी, मंडन आदि बौद्धेतर दार्शनिक हुए, जिन्होंने बौद्ध पक्ष का खंडन किया और अपने दर्शन की रक्षा की।

चार शताब्दी तक चलने वाले इस संघर्ष के फल स्वरूप आठवीं-नवीं शताब्दी में जैनदार्शनिकों में हरिभद्र और अकलंक हुए। हरिभद्र ने अनेकान्तजयपताका के द्वारा बौद्ध और इतर सभी दार्शनिकों के आक्षेपों का उत्तर दिया और उस दीर्घकालीन संघर्ष के मन्थन में से अनेकान्तवादरूप नवनीत सभी के सामने रक्खा; किन्तु इस युग का अपूर्व फल तो प्रमाणशास्त्र ही है और उसे तो अकलंक की ही देन समझना चाहिए। दिग्नाग से लेकर बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणशास्त्र में जो संघर्ष चला उसके फलस्वरूप अकलंक ने स्वतन्त्र जैन दृष्टि से अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा को ख्याल में रख कर जैन प्रमाणशास्त्र का व्यवस्थित निर्माण और स्थापन किया। उनके प्रमाणसंग्रह न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अकलंक के पहले न्यायावतार और त्रिलक्षणक-दर्शन न्यायशास्त्र के ग्रन्थ थे। हरिभद्र की तरह उन्होंने भी अनेकान्तवाद का समर्थन विपक्षियों को उत्तर दे करके आप्तमीमांसा की टीका अष्टशती में तथा सिद्धिविनिश्चय में किया है। और नयचक्र की तरह यह भी अनेक प्रसंग में दिखाने का यत्न किया है कि दूसरे दार्शनिक भी प्रच्छन्नरूप से अनेकान्तवाद को मानते ही हैं।

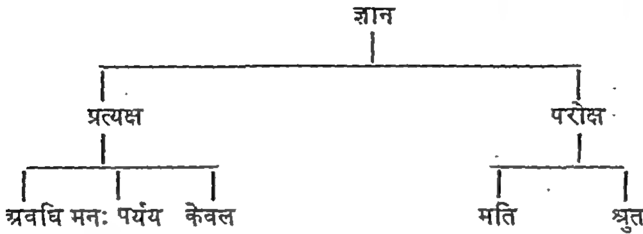
हरिभद्र ने स्वतन्त्ररूप से प्रमाणशास्त्र की रचना नहीं की किन्तु दिग्नागकृत (?) न्यायप्रवेश की टीका करके उन्होंने यह सूचित तो किया ही है कि जैन आचार्यों की प्रवृत्ति न्यायशास्त्र की ओर होना चाहिए तथा ज्ञानक्षेत्र में चौकाबाजी नहीं होना चाहिए। फल यह हुआ कि जैनदृष्टि से प्रमाणशास्त्र लिखा जाने लगा और जैनाचार्यों के द्वारा जैनेतर दार्शनिक या अन्य कृतियों पर टीका भी लिखी जाने लगी। इसके विषय में आगे प्रसंगात् अधिक कहा जायगा।

अकलंकदेव ने प्रमाणशास्त्र की व्यवस्था इस युग में की यह कहा जा चुका है। प्रमाणशास्त्र का मुख्य विषय प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति है। इसमें से प्रमाणों की व्यवस्था अकलंक ने इस प्रकार की है—

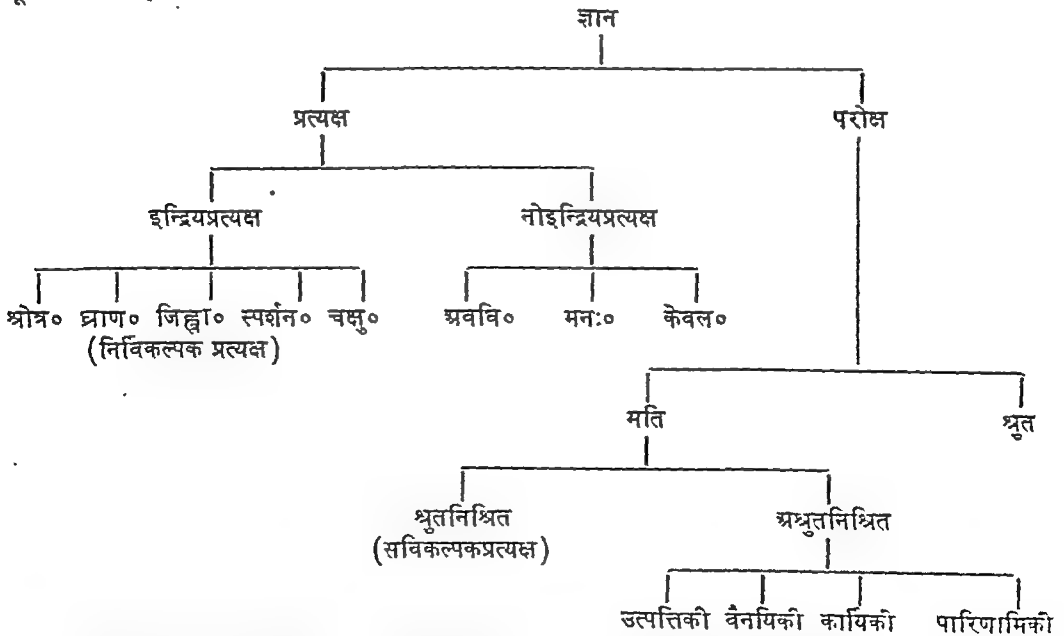


अकलंक की इस व्यवस्था का मूलाधार आगम और तत्त्वार्थसूत्र हैं।

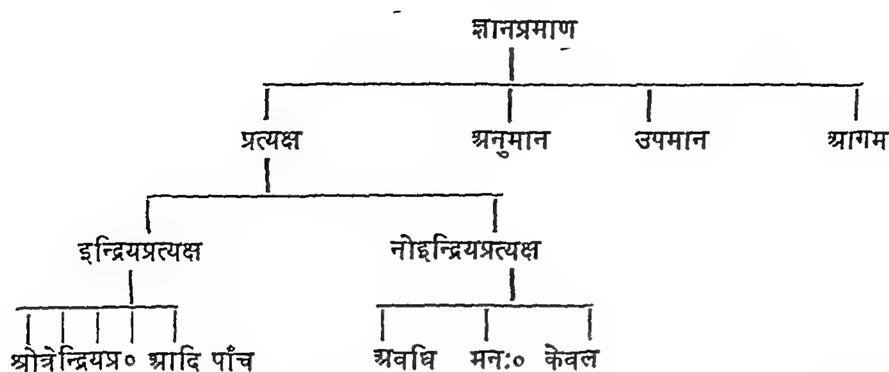
आगमों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान बताये गये हैं। इनमें से प्रथम के दो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से ही उत्पन्न हो सकते हैं और अन्तिम तीनों की मात्र आत्मसापेक्ष ही उत्पत्ति है। उसमें इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं। अतएव सर्वप्रथम प्राचीन काल में आगम में इन पाँचों ज्ञानों का वर्गीकरण निम्न प्रकार हुआ जिसका अनुसरण तत्त्वार्थ और पंचास्तिकाय में भी हुआ देखा जाता है—



किन्तु बाद में इस विभागीकरण में परिवर्तन भी करना पड़ा। उसका कारण लोकानुसरण ही मालूम पड़ता है, क्योंकि लोक में प्रायः सभी दार्शनिक इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानते थे। अतएव जैनाचार्यों ने भी आगमकाल में ही ज्ञान के वर्गीकरण में थोड़ा परिवर्तन लोकानुकूल होने के लिए किया, इसका पता हमें नन्दीसूत्र से चलता है—



इससे स्पष्ट है कि नन्दीकार ने इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में रक्खा। ज्ञान द्विरूप तो हो नहीं सकता अतएव जिनभद्र ने स्पष्टीकरण किया है कि इन्द्रिय ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान करके नन्दीकार ने उसे प्रत्यक्ष में भी गिना है वस्तुतः वह परोक्ष ही है। नन्दीकार से पहले भी इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर्गत करने की प्रथा चल पड़ी थी इसका पता नन्दीसूत्र से भी प्राचीन ऐसे अनुयोगद्वारसूत्र से चलता है—नन्दीकार ने तो उसीका अनुकरण मात्र किया है ऐसा जान पड़ता है। अनुयोग में प्रमाण विवेचन के प्रसंग में निम्न प्रकार से वर्गीकरण है—



इससे स्पष्ट है कि अकलंक ने प्रत्यक्ष का जो सांव्यवहारिक भेद बताया है, वह आगमानुकूल ही है, वह उनकी नई सूझ नहीं। किन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम रूप परोक्ष के पाँच भेदों का मति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिवोध और श्रुत के साथ समीकरण ही उनकी मौलिक सूझ है। मति, संज्ञा आदि शब्दों को उमास्वाति ने एकार्थ बताया है और भद्रबाहु ने भी वैसा ही किया है। किन्तु जिनभद्र ने उन शब्दों को विकल्प से नानार्थक मान कर मत्यादि को ज्ञानविशेष भी सिद्ध किया है। कुछ ऐसी ही परम्परा के आधार पर अकलंक ने ऐसा समीकरण उचित समझा होगा।

इस प्रकार समीकरण करके अकलंक ने प्रमाण के भेदोपभेद की तथा प्रमाण के लक्षण, फल, प्रमाता और प्रमेय की व्यवस्था की, वही अभी तक मान्य हुई है। अपवाद सिर्फ़ है तो न्यायावतार और उसके टीकाकारों का है। न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये थे अतएव उसके टीकाकार भी इन तीनों के ही पृथक् प्रामाण्य का समर्थन करते हैं।

हरिभद्र ने स्वतन्त्र प्रमाणशास्त्र का कोई ग्रन्थ नहीं बनाया, किन्तु शास्त्रवार्तासमुच्चय में तथा षड्दर्शन-समुच्चय में उन्होंने तत्कालीन सभी दर्शनों के प्रमाणों के विषय में भी विचार किया है। इसके अलावा षोडशक, अष्टक आदि ग्रन्थों में भी दार्शनिक चर्चा उन्होंने की है। लोकतत्त्वनिर्णय समन्वयदृष्टि से लिखी गई उनकी छोटी-सी कृति है। योगमार्ग के विषय में वैदिक और बौद्धवाङ्मय में जो कुछ लिखा गया था उसका जैनदृष्टि से समन्वय करना हरिभद्र की जैनशास्त्र को खास देन है। इस विषय के योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, षोडशक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्राकृतभाषा में भी धर्मसंग्रहणी में जैनदर्शन का प्रतिपादन किया है। उनकी आगमों के ऊपर लिखी गई दार्शनिक टीकाओं का उल्लेख हो चुका है। तत्त्वार्थटीका के विषय में भी लिखा जा चुका है। हरिभद्र की प्रकृति के अनुरूप उनका यह वचन सभी को उनके प्रति आदरशील बनाता है—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

—लोकतत्त्वनिर्णय

विद्यानन्द

इसी काल में विद्यानन्द हुए। यह युग यद्यपि प्रमाणशास्त्र का था, तथापि इस युग में पूर्व भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद का विकास भी हुआ है। इस विकास में विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री अपना खास स्थान रखती है। विद्यानन्द ने तत्कालीन सभी दार्शनिकों के द्वारा अनेकान्तवाद के ऊपर किये गये आक्षेपों का तर्कसंगत उत्तर दिया है। अष्टसहस्री कष्टसहस्री के नाम से विद्वानों में प्रसिद्ध है। विद्यानन्द की विशेषता यह है कि प्रत्येक वादी को उत्तर देने के लिए प्रतिवादी खड़ा कर देना। यदि प्रतिवादी उत्तर दे और तटस्थ व्यक्ति वादिप्रतिवादि दोनों की

निर्बलता को जब समझ जाय तब ही विद्यानन्द अनेकान्तवाद के पक्ष को समर्थित करता है इससे वाचक के मन पर अनेकान्तवाद का औचित्य पूर्णरूप से जँच जाता है।

विद्यानन्द ने इस युग के अनुरूप प्रमाणशास्त्र के विषय में भी लिखा है। इस विषय में उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रमाणपरीक्षा है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में भी उन्होंने प्रमाणशास्त्रसे सम्बद्ध अनेक विषयों की चर्चा की है। इसके अलावा आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि ग्रन्थ भी विद्यानन्द ने लिखे हैं। वस्तुतः अकलंक का भाष्यकार विद्यानन्द है।

अनन्तकीर्ति

इन्हीं के समकालीन आचार्य अनन्तकीर्ति हैं। उन्होंने सिद्धिविनिश्चय के आधार से सिद्धयन्त ग्रन्थों की रचना की है। सिद्धिविनिश्चय में सर्वज्ञसिद्धि एक प्रकरण है। मालूम होता है उसीके आधार पर उन्होंने लघुसर्वज्ञसिद्धि और वृहत्सर्वज्ञसिद्ध नामक दो प्रकरण ग्रन्थ बनाये। और सिद्धिविनिश्चय के जीवसिद्धिप्रकरण के आधार पर जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ बनाया। जीवसिद्धि उपलब्ध नहीं। सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार अनन्तवीर्य द्वारा उल्लिखित अनन्त कीर्ति यही हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वादिराज ने भी एक जीवसिद्धि के कर्ता अनन्तकीर्ति का उल्लेख किया है।

शाकटायन

इसी युग की एक और विशेषता पर भी विद्वानों का ध्यान दिलाना आवश्यक है। जैनदार्शनिक जब वादप्रवीण हुए तब जिस प्रकार उन्होंने अन्य दार्शनिकों के साथ वादविवाद में उतरना शुरू किया इसी प्रकार जैन-सम्प्रदाय गत मतभेदों को लेकर आपस में भी वादविवाद शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप इसी युग में यापनीय शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामक स्वतन्त्र प्रकरणों की रचना की जिनके आधार पर श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के पारस्परिक खंडन ने अधिक जोर पकड़ा। शाकटायन अमोघवर्ष का समकालीन है क्योंकि इन्हीं की स्मृति में शाकटायन ने अपने व्याकरण की अमोघवृत्ति बनाई है। अमोघवर्ष का राज्यकाल वि० ८७१-९३४ है।

अनन्तवीर्य

अकलंक के सिद्धिविनिश्चय की टीका अनन्तवीर्य ने लिख कर अनेक विद्वानों के लिए कंटकाकीर्ण मार्ग को प्रशस्त किया है। प्रभाचन्द्र ने इनका स्मरण किया है। तथा शान्त्याचार्य ने भी इनका उल्लेख किया है। इनके विवरण के अभाव में अकलंक के संक्षिप्त और सारगर्भ सूत्रवाक्य का अर्थ समझना ही दुस्तर हो जाता। जो कार्य अष्टशती की टीका अष्टसहस्री लिख कर विद्यानन्द ने किया वही कार्य सिद्धिविनिश्चय का विवरण लिख कर अनन्तवीर्य ने किया, इसी भूमिका के बल से आचार्य प्रभाचन्द्र का अकलंक के ग्रन्थों में प्रवेश हुआ और न्यायकुमुदचन्द्र जैसा सुप्रसन्न और गम्भीर ग्रन्थ अकलंककृत लघीयस्त्रय की टीकारूप से उपलब्ध हुआ।

माणिक्यनंदी-सिद्धर्षि

अकलंक ने जैनप्रमाणशास्त्र-जैनन्यायशास्त्र को पक्की स्वतन्त्रभूमिका पर स्थिर किया यह कहा जा चुका है। माणिक्यनन्दी ने दसवीं शताब्दी में अकलंक के वाङ्मय के आधार पर ही एक 'परीक्षामुख' नामक सूत्रग्रन्थ की रचना की। परीक्षामुख ग्रन्थ जैन न्यायशास्त्र के प्रवेश के लिए अत्यन्त उपयुक्त ग्रन्थ है, इतना ही नहीं किन्तु उसके बाद होनेवाले कई सूत्रात्मक या अन्य जैन प्रमाण ग्रन्थों के लिए आदर्शरूप भी सिद्ध हुआ है, यह निःसन्देह है।

सिद्धर्षि ने इसी युग में न्यायावतार टीका लिख कर संक्षेप में प्रमाणशास्त्र का सरल और मर्मग्राही ग्रन्थ विद्वानों के सामने रखा है। किन्तु इसमें प्रमाणभेदों की व्यवस्था अकलंक से भिन्न प्रकार की है। इसमें परोक्ष के मात्र अनुमान और आगम ये दो भेद ही माने गये हैं।

अभयदेव

अभयदेव ने सम्मतिटीका में अनेकान्तवाद का विस्तार और विशदीकरण किया है क्योंकि यही विषय मूल सम्मति में है। उन्होंने प्रत्येक विषय को लेकर लम्बे-लम्बे वादविवादों की योजना करके तत्कालीन दार्शनिक सभी वादों का संग्रह विस्तारपूर्वक किया है। योजना में क्रम यह रक्खा है कि सर्वप्रथम निर्बलतम पक्ष उपस्थित करके उसके प्रतिवाद में उत्तरोत्तर ऐसे पक्षों को स्थान दिया है, जो क्रमशः निर्बलतर, निर्बल, सबल और सबलतर हो। अन्त में सबलतम अनेकान्तवाद के पक्ष को उपस्थित करके उन्होंने उस वाद का स्पष्ट ही श्रेष्ठत्व सिद्ध किया है। सन्मतिटीका को तत्कालीन सभी दार्शनिक ग्रन्थों के दोहनरूप कहें तो उचित ही है। अनेकान्तवाद के अतिरिक्त तत्कालीन प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और फलविषयक प्रमाणशास्त्र की चर्चा को भी उन्होंने उक्त क्रम से ही रख कर जैनदृष्टि से होनेवाले प्रमाणादि के विवेचन को उत्कृष्ट सिद्ध किया है। इस प्रकार इस युग की प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा में भी उन्होंने अपना हिस्सा अदा किया है।

अभयदेव का समय वि० १०५४ से पूर्व ही सिद्ध होता है क्योंकि उनका शिष्य आचार्य धनेश्वर मुंज की सभा में मान्य था और इसीके कारण धनेश्वर का गच्छ राजगच्छ कहलाया है। मुंज की मृत्यु वि० १०५४ के आस-पास हुई है।

प्रभाचन्द्र

किन्तु इस युग का प्रमाणशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **प्रमेयकमलमार्तंड** ही है इसमें तो सन्देह नहीं। इसके कर्ता प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक प्रभाचन्द्र हैं। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र की रचना लघीयस्त्रय की टीकारूप से की है उसमें भी मुख्यरूप से प्रमाणशास्त्र की चर्चा है। परीक्षामुखग्रन्थ जिसकी टीका प्रमेयकमलमार्तंड है, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय आदि अकलंक की कृतियों का व्यवस्थित दोहन करके लिखा गया है। उसमें अकलंकोक्त विप्रकीर्ण प्रमाणशास्त्रसम्बद्ध विषयों को क्रमबद्ध किया गया है। अतएव इसकी टीका में भी व्यवस्था का होना स्वाभाविक है। न्यायकुमुदचन्द्र में यद्यपि प्रमाण शास्त्रसम्बद्ध सभी विषयों की सम्पूर्ण और विस्तृत चर्चा का यत्रतत्र समावेश प्रभाचन्द्र ने किया है और नाम से भी उन्होंने इसे ही न्यायशास्त्र का मुख्यग्रन्थ होना सूचित किया है, फिर भी प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से क्रमबद्ध विषयपरिज्ञान प्रमेयकमलमार्तंड से ही हो सकता है, न्यायकुमुदचन्द्र से नहीं। अनेकान्तवाद का भी विवेचन पद-पद पर इन दोनों ग्रन्थों में हुआ है।

शाकटायन के स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरण के आधार से अभयदेव ने स्त्रीमोक्ष और केवलिकवलाहार सिद्ध करके श्वेताम्बरपक्ष को पुष्ट किया और प्रभाचन्द्र ने शाकटायन की प्रत्येक दलील का खंडन करके केवलि-कवलाहार और स्त्रीमोक्ष का निषेध करके दिगम्बर पक्ष को पुष्ट किया। इस युग के अन्य श्वेताम्बरदिगम्बराचार्यों ने भी इन विषयों की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है।

प्रभाचन्द्र मुंज के बाद होनेवाले धाराधीश भोज और जयसिंह का समकालीन है क्योंकि अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में वह इन दोनों राजाओं का उल्लेख करता है। पं० महेन्द्र कुमारजी ने प्रभाचन्द्र का समय वि० १०३७ से ११२२ अनुमानित किया है।

वादिराज

वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन विद्वान हैं। सम्भव है वादिराज कुछ बड़े हों। वादिराज ने अकलंक के न्यायविनिश्चय का विवरण किया है। किसी भी वाद की चर्चा में कंजूसी करना वादिराज का काम नहीं। सैकड़ों ग्रन्थों के उद्धरण देकर वादिराज ने अपने ग्रन्थ को पुष्ट किया है। न्यायविनिश्चय मूल ग्रन्थ भी प्रमाणशास्त्र का

ग्रन्थ है। अतएव न्यायविनिश्चयविवरण भी प्रमाणशास्त्र का ही ग्रन्थ है। उसमें अनेकान्तवाद की पुष्टि भी पर्याप्त मात्रा में की गई है। प्रज्ञाकरकृत प्रमाणवार्तिकालंकार का उपयोग और खंडन दोनों इसमें मौजद हैं।

जिनेश्वर, चन्द्रप्रभ और अनन्तवीर्य

कुमारिल ने मीमांसा श्लोकवार्तिक लिखा, धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक, अकलंक ने राजवार्तिक और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक लिखा। किन्तु श्वेताम्बराचार्यों में से किसी ने वार्तिक की रचना की न थी। यद्यपि हरिभद्र ने गद्य और पद्य दोनों में लिखा था। अभयदेव ने तो सन्मति की इतनी बड़ी टीका लिखी कि वह वादमहार्णव के नाम से ख्यात हुई। किन्तु वार्तिक नामक कृति का अभाव ही था। इसीसे कोई नासमझ यह आक्षेप करते होंगे कि श्वेताम्बरों के पास अपना कोई वार्तिक नहीं। इसी आक्षेप के उत्तर में जिनेश्वर ने वि० १०९५ के आसपासप्र मानक्ष्म नामक न्यायावतार के वार्तिक की रचना की। इसमें अन्य दर्शनों के प्रमाणभेद और लक्षणों का खंडन करके न्यायावतार संमत परोक्ष के दो भेद स्थिर किये गये हैं। यह कृति प्रमेयरत्नकोष जितनी संक्षिप्त नहीं और न वादमहार्णव जितनी बड़ी। किन्तु मध्यमपरिमाण की है। विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक की तरह इसकी व्याख्या भी स्वोपज्ञ ही है।

वि० सं० ११४९ में पौर्णमिकगच्छ के स्थापक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने प्रमेयरत्नकोष नामक एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखा है। विस्तीर्णसमुद्र के अवगाहन में जो अशक्त हैं ऐसे मन्दबुद्धि अभ्यासी के लिए यह ग्रन्थ नौका का कार्य देने वाला है। इसमें कुछ वादों को सरल और संक्षिप्त रूप में ग्रथित किया गया है।

चन्द्रप्रभसूरि के ही समकालीन आचार्य अनन्तवीर्य ने भी प्रमेयकमलमार्तंड के प्रखर प्रकाश से चकाचौंध हो जाने वाले अल्पशक्ति जिज्ञासु के हितार्थ सौम्यप्रभायुक्त छोटी-सी प्रमेयरत्नमाला का परीक्षामुख की टीका के रूप में गुम्फन किया।

वादी देवसूरि

अपने समय तक प्रमाणशास्त्र और अनेकान्तवाद में जितना विकास हुआ था तथा अन्य दर्शन में जितनी दार्शनिक चर्चाएँ हुई थीं उन सभी का संग्रह करके स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहत्काय टीका वादी देवसूरि ने स्वोपज्ञ प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ के ऊपर लिखी। इस ग्रन्थ को पढ़ने में न्यायमंजरी के समान काव्य का रसास्वाद मिलता है। वादीदेव ने प्रभाचन्द्रकृत स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति की सांप्रदायिक चर्चा का भी श्वेताम्बर दृष्टि से उत्तर दिया है। उनका प्रमाणनयतत्त्वालोक परीक्षामुख का अनुकरण तो है ही, किन्तु नय परिच्छेद और वाद परिच्छेद नामक दो प्रकरण जो परीक्षामुख में नहीं थे, उनका इसमें सन्निवेश इसकी विशेषता भी है। स्याद्वादरत्नाकर में प्रमेयकमलमार्तंडादि अन्य ग्रन्थगत वादों का शब्दतः या अर्थतः उद्धरण करके ही वादि देवसूरि सन्तुष्ट नहीं हुए हैं किन्तु प्रभाचन्द्रादि अन्य आचार्यो ने जिन दार्शनिकों के पूर्वपक्षों का उत्तर नहीं दिया था, उनका भी समावेश करके उनको उत्तर दिया है और इस प्रकार अपने समय तक की चर्चा को सर्वांश में सम्पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। इनका जन्म वि० ११४३ और मृत्यु १२२६ में हुई।

हेमचन्द्र

वादी देवसूरि के जन्म के दो वर्ष बाद ११४५ में सर्वशास्त्रविशारद आचार्य हेमचन्द्र का जन्म और वादि देवसूरि की मृत्यु के तीन वर्ष बाद उनकी मृत्यु हुई है (१२२९)। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समय तक के विकसित प्रमाणशास्त्र की सारभूत बातें लेकर प्रमाणमीमांसा की सूत्रबद्ध ग्रन्थ के रूप में रचना की है। और स्वयं उसकी व्याख्या की है। हेमचन्द्र ने अपनी प्रतिभा के कारण कई जगह अपना विचारस्वातन्त्र्य भी दिखाया है। व्याख्या में भी उन्होंने अति संक्षेप या अति विस्तार का त्याग करके मध्यममार्ग का अनुसरण किया है। जैनन्यायशास्त्र के

प्रवेश के लिए यह अतीव उपयुक्त ग्रन्थ है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन का अनुकरण करके अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक दो दार्शनिक द्वात्रिंशिकाएँ रचीं। उनमें से अन्ययोगव्यवच्छेदिका की टीका मल्लिषेणकृत स्याद्वादमंजरी अपनी प्रसन्न गम्भीर शैली के कारण तथा सर्वदर्शनसारसंग्रह के कारण प्रसिद्ध है।

शान्त्याचार्य

इस युग में हेमचन्द्र के समकालीन और उत्तरकालीन कई आचार्यों ने प्रमाणशास्त्र के विषय में लिखा है उसमें शान्त्याचार्य जो १२वीं शताब्दी में हुए अपना खास स्थान रखते हैं। उन्होंने न्यायावतार का वार्तिक स्वोपज्ञ टीका के साथ रचा। और अकलंक स्थापित प्रमाणभेदों का खंडन करके न्यायावतार की परम्परा को फिर से स्थापित किया।

रत्नप्रभ

देवसूरि के ही शिष्य और स्याद्वादरत्नाकर के लेखन में सहायक रत्नप्रभसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में प्रवेश की सुगमता की दृष्टि से अवतारिका बनाई। उसमें संक्षेप से दार्शनिक गहनवादों की चर्चा की गई है। इस दृष्टि से अवतारिका नाम सफल है, किन्तु भाषा की आडम्बरपूर्णता ने उसे रत्नाकर से भी कठिन बना दिया है। फिर भी वह अभ्यासियों के लिए काफ़ी आकर्षण की वस्तु रही है। इसका अन्दाजा उसकी टीकोपटीका की रचना से लगाना सहज है। इसी रत्नाकरावतारिका के बन जाने से श्वेताम्बराम्नाय से स्याद्वादरत्नाकर का पठन-पाठन बन्द हो गया। फलतः आज स्याद्वादरत्नाकर जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की सम्पूर्ण एक भी प्रति प्रयत्न करने पर भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

सिंह-व्याघ्रशिशु

वादीदेव के ही समकालीन आनन्दसूरि और अमरसूरि हुए जो अपनी बाल्यावस्था से ही वाद में प्रवीण थे और उन्होंने कई वादियों को वाद में पराजित किया था। इसीके कारण दोनों को सिद्धराज ने क्रमशः 'व्याघ्रशिशुक' और 'सिंहशिशुक' की उपाधि दी थी। इनका कोई ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं यद्यपि अमरचन्द्र का सिद्धान्तार्णव ग्रन्थ था। सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अनुमान है कि गंगेश ने सिंह-व्याघ्र व्याप्तिलक्षण नामकरण में इन्हीं दोनों का उल्लेख किया हो, यह सम्भव है।

रामचन्द्र आदि

आचार्य हेमचन्द्र के विद्वान शिष्यमंडल में से रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने संयुक्तभाव से द्रव्यालंकार नामक दार्शनिक कृति का निर्माण किया है, जो अभी अप्रकाशित है।

सं० १२०७ में उत्पादादिसिद्धि की रचना श्री चन्द्रसेन आचार्य ने की। इसमें वस्तु का उत्पादव्ययध्रौव्यरूप त्रिलक्षण का समर्थन कर अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है।

१४वीं शताब्दी के आरम्भ में अभयतिलक ने न्यायालंकार टिप्पण लिख कर हरिभद्र के समान उदारता का परिचय दिया। यह टिप्पण न्यायसूत्र की क्रमिक पाँचों टीका भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य, परिशुद्धि और श्रीकंठकृत न्यायालंकार का टिप्पण है।

सोमतिलक की षड्दर्शन समुच्चय टीका वि० १३८९ में बनी। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में होने वाले गुणरत्न ने जो षड्दर्शन की टीका लिखी वही उपादेय बनी है। इसी शताब्दी में मेरुतुंग ने भी षड्दर्शन निर्णय नामक ग्रन्थ लिखा। राजशेखर जो पन्द्रहवीं के प्रारम्भ में हुए उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिका पंजिका इत्यादि ग्रन्थ लिखे। और ज्ञानचन्द्र ने रत्नाकरावतारिका पंजिकाटिप्पण लिखा।

राजशेखर जैनदर्शन के ग्रन्थ लिख कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने प्रशस्तपादभाष्य की टीका कंदली के ऊपर भी पंजिका लिख कर हरिभद्र और अभयतिलक के मार्ग का अनुसरण किया।

१६वीं शताब्दी में साधुविजय ने वादविजयप्रकरण और हेतुखंडन ये दो ग्रन्थ लिखे।

इस प्रकार अकलंक के द्वारा प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा होने पर इस क्षेत्र में जो जैनदार्शनिकों की सतत साधना रही है इसका दिग्दर्शन पूर्ण होता है। और साथ ही नये युग का प्रारम्भ होता है।

भट्टारक धर्मभूषण ने 'न्यायदीपिका' इसी युग में लिखी है।

(४) नवीनन्याय युग

वि० तेरहवीं सदी में गंगेश नामक प्रतिभासम्पन्न तार्किक महान् नैयायिक हुए। न्यायशास्त्र में नवीन न्याय का युग इन्हीं से प्रारम्भ होता है। इन्होंने नवीन परिभाषा में नूतनशैली में तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ की रचना की। इसका मुख्य विषय प्रत्यक्षादि नैयायिक प्रसिद्ध चार प्रमाण हैं। चिन्तामणि के टीकाकारों ने इस नवीनन्याय के ग्रन्थ का उत्तरोत्तर इतना महत्त्व बढ़ाया कि न्यायशास्त्र अब प्राचीन और नवीन इन दो विभागों में विभक्त हो गया। इतना ही नहीं अन्य वेदान्ती, वैशेषिक, मीमांसक आदि दार्शनिकों ने भी अपने-अपने दर्शन को इस नवीन शैली का उपयोग करके परिष्कृत किया। स्थिति ने इतना पलटा खाया कि इस नवीन न्याय की शैली में प्रवीण हुए विना कोई भी दार्शनिक सभी दर्शनों के इस विकास का पारगामी हो नहीं सकता। इतना होते हुए भी जैन दार्शनिकों में से किसी का ध्यान इस ओर वि० सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक गया नहीं। वादी देवसूरि की मृत्यु के ३१ वर्ष वाद गंगेश का जन्म वि० १२५७ में हुआ और उन्होंने शैली का परिवर्तन किया। किन्तु जैन दार्शनिकों ने गंगेश के बाद भी जो कुछ वादी देव सूरि ने किया था उसी के गीत गाये। फल यही हुआ कि जैनदर्शन इन पाँच शताब्दियों में होने वाले दार्शनिक विकास से वंचित ही रहा। इन पाँच शताब्दियों में इस नवीन प्रकाश में अन्य दार्शनिकों ने तो अपने दर्शन का परिष्कार कर दिया किन्तु जैनदर्शन इस नवीन शैली को न अपनाने के कारण अपरिष्कृत ही रह गया।

यशोविजय

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त के साथ ही जैनसंघ की इस घोर निद्रा का भी अन्त हुआ। सं० १६९९ में अहमदाबाद के संघ ने पं० यशोविजय में उस प्रतिभा का दर्शन किया जिस से जैनदर्शन की इस क्षति की पूर्ति होना सम्भव था। शेठ धनजी सूराकी विनति से पं० यशोविजय को लेकर उनके गुरु आचार्य नयविजय ने विद्याधाम काशी की ओर विहार किया। वहाँ यशोविजयजी ने सभी दर्शनों का तथा अन्य शास्त्रों का पाण्डित्य प्राप्त करके न्याय-विशारद की पदवी प्राप्त की। और उन्होंने अकेले ही जैनदर्शन की उक्त क्षति की पूर्ति की।

अनेकान्तव्यवस्था नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ नवीन न्यायशैली में लिखकर जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनेकान्तवाद का परिष्कार किया। इसी प्रकार जैनतर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिख कर जैनदर्शन की ज्ञानविषयक और प्रमाणविषयक परिभाषा को परिष्कृत किया। नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृततरंगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका के साथ नयोपदेश लिख कर नयवाद का परिष्कार किया। न्यायखंडखाद्य और न्यायालोक में नवीनशैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों के सिद्धान्तों का खंडन किया। इसके अलावा अनेकान्तवाद का उत्कृष्ट प्राचीन ग्रन्थ अष्ट-सहस्री का विवरण लिख कर तथा हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका स्याद्वादकल्पलता लिख कर इन दोनों ग्रन्थों को अद्यतन रूप दे दिया। भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य आदि रहस्यान्त अनेक ग्रन्थ नवीन न्याय की परिभाषा में लिख कर जैनदर्शन में नये प्राण का संचार कर दिया।

यशोविजय ने एक सिर्फ़ दर्शन के विषय में ही लिखा हो यह बात नहीं। आगमिक अनेक गहन विषयों की सूक्ष्म चर्चा, अध्यात्मशास्त्र की चर्चा, योगशास्त्र, अलंकार और आचारशास्त्र की चर्चा करने वाले भी अनेक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके जैनवाङ्मय को उन्नत भूमिका के ऊपर स्थापित करके सर्वशास्त्रवैशारद्य का प्रदर्शन किया है।

जैनदर्शनशास्त्र का नवीनन्याय का यह युग यशोविजययुग कहा जा सकता है, क्योंकि अकेले यशोविजय के ही साहित्य से इस युग का दार्शनिक साहित्य भंडार पुष्ट हुआ है। दूसरे विद्वानों ने कुछ छोटी-मोटी गिनती की पुस्तकों की रचना दार्शनिकक्षेत्र में की है सही किन्तु यशोविजय-साहित्य के सामने उन सभी का मूल्य नगण्य है।

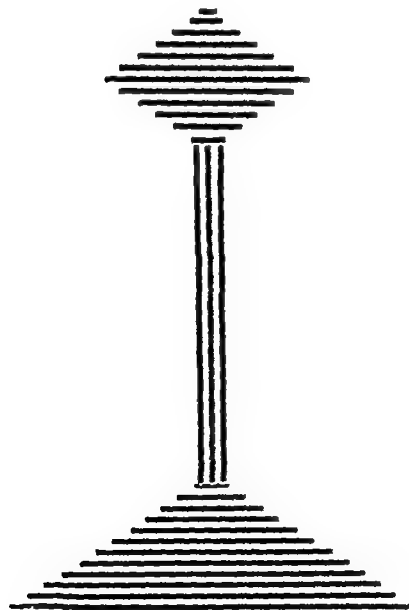
यशस्वत्सागरादि

इस युग में सं० १७५७ में विद्यमान यशस्वत्सागर ने सप्तपदार्थी, प्रामाण्यवादार्थ, वादार्थनिरूपण, स्याद्वादमुक्तावली जैसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की।

दिगम्बर विद्वान् विमलदास ने 'सप्तभंगी तरंगिणी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन नवीन न्याय की शैली में किया है।

यशोविजयस्थापित परम्परा का इस बीसवीं सदी में फिर से उद्धार हुआ है। आ० विजयनेमि का शिष्यगण नवीनन्याय का अध्ययन करके यशोविजय के साहित्य की टीकाओं का निर्माण करने लगा है।

काशी]



परम सांख्य

श्री जैनेंद्रकुमार

आदमी ने जब से अपने होने को अनुभव किया तभी से यह भी पाया कि उसके अतिरिक्त शेष भी है। उसकी अपेक्षा में वह स्वयं क्या है और क्यों है ? अथवा कि जगत् ही उसकी अपेक्षा में क्या है और क्यों है ? दोनों में क्या परस्परता और तरतमता है ?—द्वैत-बोध के साथ ये सब प्रश्न उसके मन में उठने लगे।

प्रश्न में से प्रयत्न आया। आदमी में सतत प्रयत्न रहा कि प्रश्न को अपने में हल कर ले। पर हर उत्तर नया प्रश्न पैदा कर देता रहा और जीवन, अपनी सुलझन में और उलझन में, इसी तरह बढ़ता रहा।

सत्य यदि है तो आकलन में नहीं जमेगा। ऐसे सत्य सांत और जड़ हो जायगा। जिसका अन्त है, वह और कुछ हो, सत्य वह नहीं रहता।

पर मनुष्य अपने साथ क्या करे ? चेष्टा उससे छूट नहीं सकती। उसके चारों ओर होकर जो है, उससे निरपेक्ष बनकर वह जी नहीं सकता। प्रत्येक व्यापार उसे शेष के प्रति उन्मुख करता है। वह देखता है तो वर्ण, सुनता है तो शब्द, छूता है तो वस्तु। इस तरह हर क्षण के हर व्यापार में वह अनुभव करता है कि कुछ है, जो वह नहीं है। वह अन्य है और अज्ञात है। प्राप्त है और अप्राप्त है। यदि सत्य है तो हर पल बन-मिट रहा है। यदि माया है तो हर क्षण प्रत्यक्ष है।

अपने साथ लगे इस शेष के प्रति मनुष्य की कामना और क्रीड़ा, उसकी जिज्ञासा और जिघांसा, कभी भी मन्द नहीं हुई है। आदमी ने चाहा है कि वह सबको अपनी समझ में बिठा ले, या समझ से मिटा दे। किसी तरह सब में, या सब से, वह मुक्त हो। उसके अपने आत्म के बाहर यह जो अनात्म है, इसकी स्वीकृति से, सत्ता से, परता से किसी तरह वह उत्तीर्ण हो जाये। या तो उसे बाँध कर वश में कर ले, या तर्क के ज़ोर से ग़ायब कर दे, या नहीं तो फिर अपने को ही उसमें खो दे। अनात्म के मध्य आत्म अवरुद्ध है। या तो परत्व मिटे, या सब स्व-गत हो, या फिर स्वत्व ही मिट जाय।

अपने चारों ओर के नाना रूपाकार जगत् को मनुष्य ने चाहा कि पा ले, पकड़ ले, और ठहरा कर अपने में ले ले। सत्य को अपने से पर रहने दे कर वह चैन से नहीं जी सका। छटपटाता ही रहा कि उसे स्वकीय करे।

इस मुक्ति की या पूर्णता की अकुलाहट में मनुष्य ने नाना धर्मों, साधनाओं और दर्शनों को जन्म दिया।

मुक्ति की ओर का प्रयत्न जब मनुष्य का सर्वांगीण और पूर्ण प्राणपण से हुआ तब दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ। तब व्यक्तित्व को ही परिष्कार मिला। सीमाएँ मिट कर उसमें समष्टि की विराटता आई। दर्शन तब उससे स्वतः फूटा। धर्मों के आदि स्रोत ऐसे ही पुरुष हुए। उन्होंने दर्शन दिया नहीं। देने को उनके पास अपनी आत्मरूपता ही रही। परिणाम में वे एकसाथ सब दर्शनों के लिए सुगम और अगम बन गये।

दर्शन बनता और मिलता है तब जब प्राणों की विकलता की जगह बुद्धि की तीव्रता से प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट ही यह प्रयत्न अविकल न होकर एकांगी होता है। इसमें व्यक्ति 'असल नहीं उसकी तस्वीर' ही पाता है। इस तरह वह स्वयं (सत्य का) प्रकाश नहीं होता, या प्रकाश नहीं देता, बल्कि शब्दों अथवा तर्कों के संयोजन द्वारा उस प्रकाशनीय तत्त्व का वर्णन देता है।

अतः दर्शनकार वे हैं जो सत्य जीते नहीं, जानते हैं। जीने द्वारा सत्य सिद्ध होता है। वैसा सत्य जीवन को भी सिद्धि देता है। पर जानने द्वारा सत्य सीमित होता है और ऐसा सत्य जीवन को भी सीमा देता है।

जीवन में से धर्म प्राप्त होता है। प्रयत्न में से दर्शन।

यह दर्शन भी द्विविध। एक सीधा देखा गया। दूसरा अनुमाना गया। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों में अधिकांश यह अन्तर है। पहले आदर्श की एकता से यथार्थ की अनेकता पर उतरते हैं। दूसरे तल की विविधता से आरम्भ करके तर्कशः शिखर की एकता की ओर उठते हैं।

प्राच्य दर्शनों का आरम्भ इसीसे ऋषियों से होता है, जो जानने से अधिक साधते थे। यहाँ के दर्शनों की पूर्व-पीठिका हैं उपनिषद्, जो काव्य हैं। उनमें प्रतिपादन अथवा अंकन नहीं है। उनमें केवल अभिव्यंजन और गायन है।

हृदय द्वारा जब हम निखिल को पुकारते और पाते हैं तब शब्द अपनी सार्थकता का अतिक्रमण करके छंद और लय का रूप ले उठते हैं। तब उनमें से बोध और अर्थ उतना नहीं प्राप्त होता, जितना चैतन्य और स्पन्दन प्राप्त होता है। वे बाहर का परिचय नहीं देते, भीतर एक स्फूर्ति भर देते हैं।

किन्तु सबुद्धि मानव उसे अखंड रूप से अनुभूति में लेकर स्वयं अभिभूत हो रहने से अधिक उसे शब्द में नाप-आंक कर लेना चाहता है। ऐसे सत्य उसका स्वत्व बन जाता है। शब्द में नपतुल कर वह मानों संग्रहणीय और उपयोगी बनता है। उसे अंकों में फैला कर हम अपना हिसाब चला सकते हैं और विज्ञान बना सकते हैं।

शिशु ने ऊपर आसमान में देखा और वह विह्वल हो रहा। शास्त्री ने धरती पर नक़्शा खींचा और उसके सहारे आकाश को ग्रह-नक्षत्रों में बाँट कर उसने अपने क़ाबू कर लिया।

शब्दों का और अंकों का यह गणित हुआ आयुध जिससे बौद्धिक ने सत्य को कीलित करके वश में कर लिया। असंख्य को संख्या दे दी, अनन्त को परिमाण दे दिया, अछोर को आकार पहनाया और जो अनिर्वचनीय था शब्दों द्वारा उसी को धारणा में जड़ लिया।

उद्भट बौद्धिकों का यह प्रयत्न तपस्वी साधकों की साधना के साथ-साथ चलता रहा।

मेरा मानना है कि जैन धर्म से अधिक दर्शन है, और वह दर्शन परम सांख्य और परम बौद्ध है। उसका आरम्भ श्रद्धा एवं स्वीकृति से नहीं, पश्चिम के दर्शनों की भाँति तर्क से है। सम्पूर्ण सत्य को शब्द और अंक में बिठा देने की स्पर्धा यदि किसी ने अटूट और अथक अध्यवसाय से की है तो वह जैन-दर्शन ने। वह दर्शन गणित की अभूतपूर्व विजय का स्मारक है।

जगत् अखंड होकर अज्ञेय है। जैन-तत्त्व ने उसे खंड-खंड करके सम्पूर्णता के साथ ज्ञात बना दिया है।

"जगत् क्या है ?"

चेतन-अचेतन का समवाय।

"चेतन क्या है ?"

हम सब जीव।

"जीव क्या है ?"

जीव है आत्मा। असंख्य जीव सब अलग-अलग आत्मा हैं।

"अचेतन क्या है ?"

मुख्यता से वह पुद्गल है।

"पुद्गल क्या है ?"

वह अणु रूप है।

"पुद्गल से शेष अजीवतत्त्व क्या है ?"

काल, आकाश आदि।

"काल क्या है ?"

वह भी अणु रूप है।

"आकाश क्या है ?"

अनन्त प्रदेशी है।

"आदि क्या ?"

"चलना ठहरना जो दीखता है, उसके कारण रूप तत्त्व इस आदि में आते हैं।"

इस तरह सम्पूर्ण सत्ता को, जो एक ओर इकट्ठी होकर हमारी चेतना को अभिभूत कर लेती है, अनन्त अनेकता में बांट कर मनुष्य की बुद्धि के मानों वशीभूत कर दिया गया है। आत्मा असंख्य है, अणु असंख्य और अनन्त हैं। उनकी अपनी सत्यता मानों सीमित और परिमित है। यह जो अपरिसीम सत्ता दिखाई देती है केवल-मात्र उस सीमित सत्यता का ही गुणानुगुणित रूप है।

जैन-दर्शन इस तरह शब्द और अंक के सहारे उस भीति को और विस्मय को समाप्त कर देता है, जो व्यक्ति सीधी आँखों इस महाब्रह्मांड को देख कर अपने भीतर अनुभव करता है। उसी महापुलक, विस्मय और भीति के नीचे मनुष्य ने जगत्-कर्त्ता, जगद्धर्त्ता, परमात्मा, परमेश्वर आदि रूपों की शरण ली है। जैन-दर्शन उसको मनुष्य के निकट अनावश्यक बना देना चाहता है। परमात्मत्व को इसलिए उसने असंख्य जीवों में बखेर कर उसका मानों आतंक और महत्त्व हर लिया है। ब्रह्मांड की महामहिमता को भी उसी प्रकार पुद्गल के अणुओं में छितरा कर मानों मनुष्य की मुट्ठी में कर देने का प्रयास किया है।

जैन-दर्शन की इस असीम स्पर्धा पर कोई कुछ भी कहे, पर गणित और तर्कशास्त्र के प्रति उसकी ईमानदारी अपूर्व है।

मूल में सीधी मान्यताओं को लेकर उसी आधार पर तर्क-शुद्ध उस दर्शन की स्तूपाकार रचना खड़ी की गई।

मैं हूँ, यह सबुद्धि मनुष्य का आदि सत्य है। मैं क्या हूँ ? निश्चय हाथ-पाँव आदि अवयव नहीं हूँ, इस तरह शरीर नहीं हूँ। जरूर, कुछ इससे भिन्न हूँ। भिन्न न होऊँ तो शरीर को मेरा कहने वाला कौन रहे ? इससे मैं हूँ आत्मा।

मेरे होने के साथ तुम भी हो। तुम अलग हो, मैं अलग हूँ। तुम भी आत्मा हो और तुम अलग आत्मा हो। इस तरह आत्मा अनेक हैं।

अब शरीर में नहीं हूँ। फिर भी शरीर तो है। और मैं आत्म हूँ। इससे शरीर अनात्म है। अनात्म अर्थात् अजीव, अर्थात् जड़।

इस आत्म और अनात्म, जड़ और चेतन के भेद, जड़ की अणुता और आत्मा की अनेकता—इन प्राथमिक मान्यताओं के आधार पर जो और जितना कुछ होता हुआ दीखता है, उस सब को जैन-तत्त्व-शास्त्र ने खोलने की और कारण-कार्य की कड़ी में बिठाने की कोशिश की है। इस कोशिश पर युग-युगों में कितनी मेधा-बुद्धि व्यय हुई है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। वर्तमान में उपलब्ध जैन-साहित्य पर्वताकार है। कितना ही प्रकाश में नहीं आया है। उससे कितने गुना नष्ट हो गया, कहना कठिन है। इस समूचे साहित्य में उन्हीं मूल मान्यताओं के आधार पर जीवन की और जगत् की पहेली की गूढ़ से गूढ़ उलझनों को सुलझाया गया और भाग्य आदि की तमाम अतर्क्यताओं को तर्क-सूत्र में पिरोया गया है।

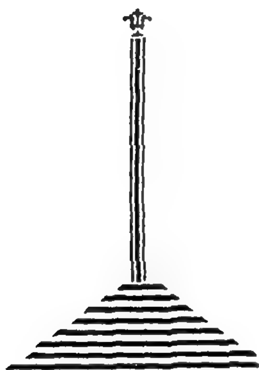
आत्म और अनात्म यदि सर्वथा दो हैं तो उनमें संबंध किस प्रकार होने में आया—इस प्रश्न को बेशक नहीं छूआ गया है। उस सम्बन्ध के बारे में मान लेने को कह दिया गया है कि वह अनादि है। पर उसके बाद अनात्म, यानी पुद्गल, आत्म के साथ कैसे, क्यों, कब, किस प्रकार लगता है, किस प्रकार कर्म का आस्रव होता और बन्ध होता है, किस प्रकार कर्म-बन्ध फल उत्पन्न करता है, आदि-आदि की इतनी जटिल और सूक्ष्म विवेचना है कि बड़े-से-बड़े अध्यवसायी के छक्के छूट जा सकते हैं।

फिर उस कर्म-बन्ध की निर्जरा यानी क्षय किस प्रकार होगा, आस्रव (आने) का संवर (रुकना) कैसे होगा और अन्त में अनात्म से आत्म पूरी तरह शुद्ध होकर कैसे बुद्ध और मुक्त होगा, इसकी पूर्ण प्ररूपणा है।

इतना ही नही, जैन-शास्त्र आरम्भ करके रुकता अन्त से पहले नहीं। मुक्त होकर आत्मा लोक के किस भाग मे, किस रूप में, किस विधि रहता है, इसका भी चित्र है।

संक्षेप में वह सब जो रहस्य है, इससे खीचता है; अज्ञात है, इससे डराता है; असीम है, इससे सहमाता है; अद्‌भुत है, इससे विस्मित करता है; अतर्क्य है, इससे निरुत्तर करता है—ऐसे सब को जैन-शास्त्र ने मानों शब्दों की और अंकों की सहायता से वशीभूत करके घर की सांकल से बाँध लिया है। इसी अर्थ मे मै इस दर्शन को परम बौद्ध और परम सांख्य का रूप मानता हूँ। गणना-बुद्धि की उसमें पराकाष्ठा है। उस बुद्धि के अपूर्व अध्यवसाय और स्पर्धा और प्रागल्भ्य पर चित्त सहसा स्तब्ध हो जाता है।

दिल्ली]



जैन दर्शन का इतिहास और विकास

पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

'दर्शन' शब्द का सीधा अर्थ देखना या साक्षात्कार करना होता है; पर यदि दर्शनशास्त्र के 'दर्शन' शब्द का अर्थ साक्षात्कार होता तो दर्शनों में परस्पर इतना मतभेद नहीं हो सकता था। प्रत्यक्ष तो मतभेदों का अंत कर देता है। 'आत्मा नित्य है या अनित्य' इन दो पक्षों में से यदि किसी पक्ष का दर्शन साक्षात्कारात्मक होता तो आत्मा का नित्यत्व या अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए सांख्य और बौद्धों को दिमागी कसरत न करनी पड़ती। अतः दर्शन-शास्त्र का दर्शन शब्द 'दृष्टिकोण' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। बल्कि सत्य तो यह है कि पदार्थ के जिस अंश का प्रत्यक्ष हो सकता है, उस अंश की चर्चा दर्शनशास्त्रों में बहुत कम है। जिन आत्मा, परमात्मा, जगत् का पूर्ण रूप परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उन्हीं पदार्थों के विचार में विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण रक्खे हैं और उनके समर्थन में पर्याप्त कल्पनाओं का विकास किया है। विशेष बात तो यह है कि प्रत्येक दर्शन अपने-अपने आदि पुरुष को उनमें बताये गये अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का द्रष्टा साक्षात्कर्ता मानता है, और दर्शन शब्द के 'दृष्टिकोण, विचार की दिशा' इन अर्थों को गौण करके उसके साक्षात्कार अर्थ की आड़ में अपनी सत्यता की छाप लगाने का प्रयत्न करता है। दर्शन शब्द के अर्थ में यह घुटाला होने से एक ओर जहां तर्क बल से पदार्थके स्वरूप की सिद्धि करने में तर्क का सार्वत्रिक प्रयोग किया जाता है तो 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे सूत्रों द्वारा उसकी अप्रतिष्ठा कर दी जाती है और वस्तु के स्वरूप को अनुभवगम्य या शास्त्रगम्य कह दिया जाता है। दूसरी ओर जब पदार्थ का उस रूप से अनुभव नहीं होता तब अधूरे तर्कों का आश्रय लिया जाता है। अतः दर्शनशास्त्र की निर्णय-रेखाएं उतनी स्पष्ट और सुनिर्णीत नहीं हैं, जितनी विज्ञान की। आचार्य हरिभद्र[1] तो अतीन्द्रिय पदार्थों में तर्कवाद की निरर्थकता ही एक प्रकार से बताते हैं। इस तरह दर्शनशास्त्र के 'दर्शन' शब्द के अर्थ की पेचीदगी ने भारतवर्ष के विचारकों में जबर्दस्त बुद्धिभेद उत्पन्न किया था। एक ही वस्तु को एकवादी 'सत्' मानता था तो दूसरा 'असत्' तीसरा 'सदसत्' तो चौथा 'अनिर्वचनीय'। इन मतभेदों ने अपना विरोध विचार के क्षेत्र तक ही नहीं फैलाया था, किन्तु वह कार्यक्षेत्र में भी पूरी तरह से जम गया था। एक-एक विचारदृष्टि ने दर्शन का रूप लेकर दूसरी विचारदृष्टि का खंडन करके अहंकार का दुर्दम मूर्तिरूप लेना प्रारंभ कर दिया था। प्रत्येक दर्शन को जब धार्मिक रूप मिल गया तो उसके संर-क्षण और प्रचार के लिए बहुत से अवांछनीय कार्य करने पड़े। प्रचार के नाम पर शास्त्रार्थ शुरू हुए। शास्त्रार्थों में परा-जित विरोधी को कोल्हू में पेल डालना, तप्त तेल के कड़ाहों में डाल देना जैसी कठोर शर्तें लगाई जाने लगीं। राजाश्रय पाकर इन शास्त्रार्थियों ने भारतीय जल्पकथा के इतिहास को भीषण हिंसाकांडों द्वारा रक्तरंजित कर दिया था।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के आध्यात्मिक क्षितिज पर भगवान् महावीर और बुद्ध दो महान् नक्षत्रों का उदय हुआ। इन्होंने उस समय के धार्मिक वातावरण में सर्वतोमुखी अद्भुत क्रान्ति की। उस समय धर्म के नियम-उपनियमों के विषय में वेद और तदुपजीवी स्मृतियों का ही एक मात्र निर्बाध अधिकार था। उसमें पुरुष के अनुभव का कोई स्थान नहीं था और इसी आधार से धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के मेध, जिनमें अजमेध से नरमेध तक

---

[1] "ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः॥"

अर्थात् यदि तर्कवाद से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान किया जा सकता होता तो इतने काल में अनेकों प्रखर तर्कवादी हुए उनके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय कभी का हो गया होता। पर खुदा की बात जहां की तहां है।

शामिल थे, रक्तवती और चर्मण्वती जैसी सार्थक नामवाली नदियों की सृष्टि कर रहे थे। इन दो महापुरुषों ने धर्म के नाम पर होने वाली विडम्बना के विरुद्ध आवाज उठाई और स्पष्ट शब्दों में घोषित किया, "धर्म का साक्षात्कार किया जा सकता है, वह अनुभव के आधार पर रचा जा सकता है।" उन्होंने प्राणिमात्र को सुख, सन्तोष और शान्ति देनेवाली 'अहिंसा' की पुनःप्रतिष्ठा की। 'वीतरागी और तत्त्वज्ञ व्यक्ति अनुभव से धर्म और उसके नियमोपनियम का यथार्थ ज्ञान कर सकता है', इस प्रकार की अनुभव-प्रतिष्ठा के बल से वेद-धर्म के नाम पर होने वाले क्रियाकांडों का तात्त्विक और व्यावहारिक विरोध हुआ। अहिंसक वातावरण से जगत् को शान्ति की सांस लेने का क्षण मिला। महात्मा बुद्ध ने आत्मा आदि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में प्रश्न किए जाने पर उन्हें अव्याकृत या अव्याकरणीय बताया। उन्होंने सीधी सादी भाषा में जगत् को दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यों के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण किया और दुःखसन्तप्त जगत् को निराकुलता की ओर ले जाने का अतुल प्रयत्न किया। उन्होंने जगत् को शून्य, क्षणिक, मायोपम, जलबुद्बुदोपम बता कर प्राणियों को विज्ञानरूप अन्तर्मुख होने की ओर प्रेरित किया। आगे जाकर इन्हीं क्षणिक, शून्य आदि भावनात्मक शब्दों ने क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि वादों का रूप धारण किया।

भगवान् महावीर अहिंसा के उत्कट साधक थे। वे मातृहृदय बुद्ध की तरह मृदुमार्गी न होकर पितृचेतस्क दीर्घतपस्वी थे। अहिंसा के कायिक, वाचिक तथा मानसिक स्वरूपों को आत्मसात् करना तथा संघ में उसका ही जीवन्त-रूप लाना उनका जीवन-कार्य था। विषय-कषायज्वालाओं से झुलसे हुए इस जगत् को सर्वाङ्गीण अहिंसा द्वारा स्थायी शान्ति की ओर ले जाना उनका जीवन-व्रत था। कायिक अहिंसा के लिए जिस प्रकार व्यक्तिगत् सम्यक् प्रवृत्ति, अप्रमत्त आचरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वाचनिक अहिंसा के लिए वचन की अमुक शैली तथा मानसिक अहिंसा के लिए विचारसहिष्णुता एवं पदार्थ के विराट्स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। भगवान् महावीर ने वस्तु के विराट्स्वरूप का अनुभव करके बताया कि अचेतन जगत् का प्रत्येक अणु तथा चेतन जगत् का हर एक आत्मा अनन्त धर्मवाला है। उसके पूर्णरूप को पूर्णज्ञान ही जान सकता है। उसके अनन्तस्वरूप को हमारा क्षुद्र ज्ञानकण अंशतः ही स्पर्श कर सकता है। उस समय के प्रचलित सत्, असत्, अवक्तव्य, क्रिया, अक्रिया, नियति, यदृच्छा, काल आदि वादों का उन्होंने अपने पूर्ण ज्ञान से ठीक स्वरूप देखा और वस्तुस्थिति के आधार से विचार की उस मानस-अहिंसा-पोषिणी दिशा की ओर ध्यान दिलाया, जिससे वस्तु के यथार्थ ज्ञान के साथ ही साथ चित्त में समता और विचार-सहिष्णुता जैसे अहिंसा के अंकुरों का आरोपण हो सकता था। उन्होंने आत्मा, परलोक आदि के विषय में प्रश्न होने पर मौनावलम्बन नहीं किया और न उन्हें अव्याकरणीय बताया किन्तु उन पदार्थों के यथार्थस्वरूप का विवेचन किया। उन्होंने अपनी पहिली देशना में **"उपन्नइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"** (स्थानांग-स्थान १०) इस त्रिपदी का उच्चारण किया था। यह मातृकात्रिपदी कही जाती है। इसका तात्पर्य है कि जगत् का प्रत्येक चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। मूल अस्तित्व स्थिर रहता है, अवस्थाओं में उत्पाद और विनाशरूप परिवर्तन होता रहता है। सांख्य और योग परंपरा में ऐसा परिणामवाद केवल अचेतन प्रकृतितत्त्व में माना है। पुरुषतत्त्व इस परिणाम से सर्वथा अछूता कूटस्थ नित्य स्वीकार किया गया है।

भगवान् महावीर के उपदेशों का अंतिम संग्रह देवर्धिगणिक्षमाश्रमण ने वि० सं० ५१० में किया था। ये आगम उस समय की लोकभाषा अर्धमागधी में रचे हुए हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की बोली में ही दिये थे। आगमों की रचनाशैली में तर्क के स्थल-स्थल पर दर्शन होते हैं। महावीर के मुख्य गणधर गौतम स्वामी भगवान् के हर एक उपदेशों में तर्क करते हैं, **"से केणट्ठेणं भन्ते, एवमुच्चइ"** अर्थात्—'भगवन्, ऐसा क्यों कहते हैं ?' इस तर्कगर्भ प्रश्न के उत्तर में महावीर अपने द्वारा उपदिष्ट मार्ग की सत्यता तथा प्रामाणिकता को युक्तियों से सिद्ध करते हैं।

इस तरह आगमों में जैनदर्शन के बीज बिखरे हुए हैं। उनका संस्कृतभाषा में सर्वप्रथम संग्रह आ० उमास्वाति

ने तत्त्वार्थसूत्र में किया। तत्त्वार्थसूत्र के "प्रमाणनयैरधिगमः[1]" "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[2]" "अर्पितानर्पितसिद्धेः[3]" "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्[4]" इत्यादि सूत्र ऐसे हैं जिनपर जैनदर्शन का महाप्रासाद खड़ा किया गया है। इनके समय की उत्तरावधि वि० सं० ४०० तक हो सकती है। इनका 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ जैनमत को दिगम्बर श्वेतांबर उभय शाखाओं को मान्य है। जैनदर्शन के विकास का कुछ विचार हम (१) उपाय या ज्ञापक तत्त्व (२) उपेय या ज्ञेयतत्त्व इन दो स्थूल भागों में विभाजित कर करते हैं।

ज्ञापक तत्त्व

(१) आगमिक परंपरा में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेय के जानने के साधन माने गये हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' (२८।२४) में प्रमाण और नय को भी उपायतत्त्व बताया है। आगमिक काल में ज्ञान की सत्यता और असत्यता बाह्य पदार्थों को ठीक प्रकार से जानने और न जानने के ऊपर निर्भर नहीं थी, किन्तु जो ज्ञान आत्मसंशोधन और अन्ततः मोक्षमार्गोपयोगी होते थे, वे सच्चे तथा जो मोक्षमार्गोपयोगी नहीं थे, वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शतप्रतिशत सत्यज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी नहीं है तो वह झूठा और लौकिक दृष्टि से मिथ्या ज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी बाह्यपदार्थों के आधीन न होकर उसकी मोक्षमार्गोपयोगिता के अधीन थी। इसीलिए सम्यक्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान झूठे कहलाते थे। वैशेषिक सूत्र में विद्या और अविद्या शब्द के प्रयोग कुछ इसी भूमिका पर हैं।

इन पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभाजन आगमकाल में एक विभिन्न आधार पर ही था। वह आधार था **आत्ममात्रसापेक्षत्व**। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष था वह प्रत्यक्ष तथा जिनमें इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी वे परोक्ष। लोक में जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते थे, वे ज्ञान आगमिक परंपरा में परोक्ष थे। आगमों में प्रमाण नय निक्षेप आदि साधन बताए तो गए हैं, पर उनकी विभाजक रेखाएँ इस काल में उतनी स्पष्ट नहीं थीं, जितनी कि आगे जाकर हुईं।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति—उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' और कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' में 'स्थानांगसूत्र' (२।१।७१) की तरह ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग स्पष्ट हैं। इनके युग में ज्ञान की सत्यासत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी-की-तैसी चालू रही। कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकाय' ग्रंथ तर्कगर्भ आगमिक शैली के सुन्दर नमूने हैं। इनके युग की भी उत्तरावधि चौथी शताब्दी तक मानी जा सकती है।

समन्तभद्र-सिद्धसेन—जब बौद्धदर्शन में नागार्जुन, वसुबन्धु, असंग तथा बौद्धन्याय के पिता दिङ्नाग का युग आ गया और दर्शनशास्त्रियों में बौद्धदार्शनिकों के प्रबल तर्क-प्रहारों से बेचैनी पैदा हो रही थी, वह एक तरह से दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश या परपक्षखंडन अंश का प्रारंभकाल था। उस समय जैनपरम्परा में सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र का उदय हुआ। इनके सामने आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को तर्कशास्त्र के चौखटे में बैठाने का महत्त्वपूर्ण कार्य था। इस युग में जो धर्म संस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण कर स्वदर्शन प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अतः परचक्र से रक्षा के लिए अपना दुर्ग स्वतः संवृत करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारंभ इन दो आचार्यों ने किया।

दिङ्नाग ने बौद्धन्याय में प्रवेश पाने के लिए 'न्यायप्रवेश' ग्रंथ तथा 'प्रमाणसमुच्चय' आदि प्रकरणों की रचना की। सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्याय का अवतार स्वरूप 'न्यायावतार' ग्रंथ तथा 'सन्मतितर्क' और 'द्वात्रिंशतद्वात्रिंशतिका' की रचना की। इन्होंने 'न्यायावतार' में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद करके परोक्ष का वर्णन अनुमान और आगम इन दो विभागों में किया। अर्थात् इनके मत से सांख्य परम्परा की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान और

[1] त० सू० १।६ [2] त० सू० ५।३० [3] त० सू० ५।३२ [4] त० सू० ५।३८

आगम ये तीन प्रमाण फलित होते हैं। यह प्रमाणत्रित्ववाद सिद्धसेन दिवाकर से प्रारंभ हुआ और यहीं तक सीमित रहा। उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे नहीं अपनाया। इन्होंने न्यायावतार के प्रथम श्लोक में ही ज्ञान की प्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान में 'मेयविनिश्चय' वताया है। अर्थात् जो ज्ञान पदार्थों का यथार्थ निश्चय करे वह प्रमाण, अन्य अप्रमाण।

स्वामी समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' (का० ८७) में 'वुद्धि और शब्द की प्रमाणता और अप्रमाणता वाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से होती है, यह लिखा है। अर्थात् जिस वुद्धि के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूप में उपलब्ध हो जाय वह प्रमाण अन्य अप्रमाण। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग में ज्ञान को सत्यता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान में मेयविनिश्चय या अर्थाप्त्यनाप्ति--अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति--वनी।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (वि० ७वीं शताब्दी) ने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जिसे अभी तक परोक्ष ही कहा जाता था और इससे एक प्रकार से लोक व्यवहार में असमंजसता आती थी, अपने 'विशेषावश्यकभाष्य (गा० ६५) में संव्यवहारप्रत्यक्ष संज्ञा दी, अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोकव्यवहार के निर्वाहार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञान को संव्यवहारप्रत्यक्ष कह सकते हैं। इस तरह आगमिक तथा दर्शनान्तरीय एवं लौकिक परम्परा का समन्वय किया गया।

भट्टारक अकलङ्कदेव ने (वि० ८वीं), जो सचमुच ही जैन प्रमाणशास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं अपने 'लघीयस्त्रय' (का० ३, १०) में प्रथमतः प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्टतः मुख्यप्रत्यक्ष और संव्यवहार प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। और परोक्ष प्रमाण के भेदों में स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच को स्थान दिया। इस तरह प्रमाण शास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारंभ होती है।

'अनुयोगद्वार' 'स्थानांग' और 'भगवतीसूत्र' में प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणों का निर्देश है। यह परम्परा न्यायसूत्र की है। पर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' कहकर जैन परम्परा के रूप में स्पष्ट स्वीकार नहीं किया है, और न उत्तरकालीन किसी जैनतर्कग्रंथ में इसका कुछ भी विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकों ने अकलंकदेव द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाणपद्धति को पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायाराम को सुवासित किया है।

उपायतत्त्व

उपायतत्त्व में महत्त्वपूर्ण स्थान नय तथा स्याद्वाद का है। नय एक जैन पारिभाषिक शब्द है जो सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है। स्याद्वाद, भाषा का वह निर्दोष प्रकार है जिसके द्वारा वस्तु के परिपूर्ण या यथार्थरूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। मैं पहिले लिख आया हूँ कि भगवान् महावीर ने वस्तु के अनन्त धर्मात्मक विराट्रूप के दर्शन किये और उन्हें उस समय के प्रचलित सभी सद्वाद और असद्वाद या अनिर्वचनीय आदि वाद वस्तु के एक-एक अंश को स्पर्श करने वाले प्रतीत हुए। यहाँ तक तो ठीक था, पर जब महावीर ने उन वादियों को अपने-अपने वाद की सत्यता को चौराहों पर उद्घोषण कर दूसरों का प्रतिक्षेप करते देखा तो उनका तत्त्वद्रष्टा अहिंसक हृदय इस अज्ञान एवं हिंसा से अनुकंपित हुआ। उन्होंने उन सब के लिए वस्तु के विराट्स्वरूप का निरूपण किया। कहा, देखो, वस्तु के अनन्तधर्म हैं, लोगों का ज्ञान स्वल्प है, वह वस्तु के एक अंश को स्पर्श करता है, अपने दृष्टिकोण को ही सत्य मान कर या अपने ज्ञान पल्वल में वस्तु के अनन्तरूप को समाया समझकर दूसरे वादी के दृष्टिकोण का प्रतिक्षेप करना मिथ्यात्व है। उसका भी दृष्टिकोण वस्तु के दूसरे अंश को स्पर्श करता है। अतः अपनी-अपनी दृष्टि में पूर्ण-सत्य का मिथ्या अहंकार करके दूसरों के प्रति असत्यता का आरोप करके उनसे हिंसक व्यवहार करना तत्त्वज्ञों का कार्य नहीं है। उसके स्वरूप का वर्णन करने वाली प्रत्येक दृष्टि नय है और वह अपने में उतनी ही सत्य है जितनी कि उसकी विरुद्ध दृष्टि। शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि दूसरी दृष्टि का प्रतिक्षेप न करे उसके प्रति सापेक्ष भाव रक्खे।

यह नयदृष्टि विचार का निर्दोषप्रकार है तथा स्याद्वाद भाषा की समता का प्रतीक है। स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द एक 'निश्चितदृष्टिकोण' का प्रतिपादन करता है अर्थात् अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु सत् है अमुक निश्चित दृष्टिकोण से असत्। स्यात् को शायद का पर्यायवाची कहकर उसे ढुलमुल यकीनी की कक्षा में डालना उसके ठीक स्वरूप के अज्ञान का फल है। मालूम होता है शंकराचार्य जी ने भी स्यात् और शायद को पर्यायवाची समझकर उनमें संशय दूषण देने का विफल प्रयास किया है। भगवतीसूत्र में हम "सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्वं" इन तीन भंगों का निर्देश पाते हैं। अर्थात् वस्तु एक दृष्टिकोण से सत् है, दूसरे दृष्टिकोण से असत् तथा तीसरे दृष्टिकोण से अवक्तव्य। वस्तुतः मनुष्य एक विराट् अखंड अनन्त वस्तु को पहिले सद्रूप से वर्णन करने का प्रयत्न करता है और देखता है कि उसकी दूसरी बाजू अभी वर्णन में नहीं आई तब उसका असद्रूप से विवेचन करता है। पर जब वह देखता है कि सद् और असत् जैसे अनन्त विरोधी धर्मों की लहरें वस्तु के असीम समुद्र में लहरा रही हैं जिन्हें एक साथ वर्णन करना वचनों की शक्ति के बाहर है तो वह कह उठता है 'यतो वाचो निवर्तन्ते'। इस तरह वस्तु का परिपूर्णरूप अवक्तव्य है, उसका एक-एक रूप से आंशिक वर्णन होता है। जैनदर्शन में अवक्तव्य को भी एक दृष्टि माना है, जिस प्रकार वक्तव्य को।

आ० कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में सर्वप्रथम सत् असत् अवक्तव्य के संयोग से बनने वाले सात भंगों का उल्लेख है। इसे सप्तभंगीनय कहते हैं। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में इसी सप्तभंगी का अनेक दृष्टियों से विवेचन है। उसमें सत् असत्, एक अनेक, नित्य अनित्य, द्वैत अद्वैत, दैव पुरुषार्थ आदि अनेक दृष्टिकोणों का जैनदृष्टि से सुन्दर समन्वय किया है। सिद्धसेन के सन्मतितर्क में अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। इन युगप्रधान आचार्यों ने उपलब्ध समस्त जैनेतर दृष्टियों का नय या स्याद्वाद दृष्टि से वस्तुस्पर्शी समन्वय किया। दैव और पुरुषार्थ का जो विवाद उस समय दृढ़मूल था, उसके विषय में स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा (८वाँ परिच्छेद) में हृदयग्राही सापेक्ष विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि कोई भी कार्य न केवल दैव से होता है और न केवल पुरुषार्थ से। दोनों रस्सियों से दधिमंथन होता है। हाँ, जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव में फलप्राप्ति हो, वहाँ दैव को प्रधान मानना चाहिए तथा पुरुषार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्यसिद्धि हो वहाँ पुरुषार्थ प्रधान तथा दैव गौण। किसी एक का निराकरण नहीं किया जा सकता इन में गौण मुख्यभाव है। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग में नय, सप्तभंगी, अनेकान्त आदि जैनदर्शन के आधारभूत पदार्थों का सांगोपांग विवेचन हुआ। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नय दृष्टि से जैन दर्शन में समन्वय किया। और सभी वादियों में परस्पर विचार सहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग में न्यायभाष्य, योगभाष्य, शाबरभाष्य आदि भाष्य रचे गए हैं। यह युग भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का प्रारंभयुग था। इसमें सभी दर्शन अपनी अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने अपने तर्कशास्त्र रूपी शस्त्र पैना कर रहे थे। सबसे पहिला आक्रमण बौद्धों की ओर से हुआ जिसमें मुख्य सेनापति का कार्य आचार्य दिङनाग ने किया। इसी समय वैदिक दार्शनिक परम्परा में न्यायवार्तिककार उद्योतकर, मीमांसाश्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि हुए। इन्होंने वैदिकदर्शन के संरक्षण में पर्याप्त प्रयत्न किया। इसके बाद (वि० ६वीं सदी) पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि तथा मल्लवादि ने नयचक्र नामक महान् आकर ग्रंथ बनाए। नयचक्र में नय के विविधभंगों द्वारा जैनेतर दृष्टियों के समन्वय का सफल प्रयत्न हुआ। यह ग्रंथ आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। इसकी सिंहगणि क्षमाश्रमण की टीका मिलती है। इसी युग में सुमति, श्रीदत्त, पात्रस्वामि आदि आचार्यों ने जैनन्याय के विविध अंगों में स्वतन्त्र तथा व्याख्यारूप ग्रंथों का निर्माण किया।

वि० ७वीं ८वीं सदी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम थी। धर्मकीर्ति तथा उनकी शिष्यमंडली ने प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनों पर प्रचंड प्रहार किए। जैनदर्शन पर भी आक्षेप किए जाते थे। यद्यपि अनेक मुद्दों में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि

बौद्धवादों का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण जैनदर्शनों में इनका उसी प्रबलता के साथ विशद खंडन किया गया है। धर्मकीर्ति की मंडली के आक्षेपों के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर व्योमशिव, मंडनमिश्र, शंकराचार्य, भट्टजयन्त वाचस्पति मिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने वैदिकदर्शनों के संरक्षणार्थ अच्छे प्रयत्न किए। इसी संघर्षयुग में जैनन्याय के प्रस्थापक दो महान् आचार्य हुए। वे हैं—**अकलंक और हरिभद्र।** अकलंक और हरिभद्र के बौद्धों से जमकर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रंथों का बहुभाग बौद्धदर्शन के खंडन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का खंडन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, अष्टशती आदि प्रकरणों में पाया जाता है। हरिभद्र की अनेकान्त जयपताका और अनेकान्तवाद प्रवेश इसके लिए खास द्रष्टव्य हैं। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिक दर्शनों के ग्रंथों में इतर मतों का मात्र खंडन ही खंडन है वहाँ जैनदर्शन ग्रंथों में इतर मतों का नय और स्याद्वाद दृष्टि से विशिष्ट समन्वय भी किया गया है। इस तरह मानस अहिंसा की उस उदारदृष्टि का परिपोषण किया गया है।

समन्तभद्र की आप्तमीमांसा हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय षड्दर्शनसमुच्चय धर्मसंग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। अकलंकदेव ने अपने लघीयस्त्रय आदि प्रकरणों में जैन न्याय की रूपरेखाएँ बाँधकर उसकी हद-बन्दी करने का स्थिर प्रयत्न किया है। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक सांख्य मीमांसक आदि मतों के खंडन में धर्मकीर्ति ने जो अथक श्रम करके एक मार्ग दर्शन किया उससे इन आचार्यों का उक्त मतों के खंडन का कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेंद्रमति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका, तत्त्वसंग्रह वादन्यायटीका हेतुबिन्दुटीका आदि ग्रंथ रच चुके और इनमें कुमारिल, ईश्वरसेन, मंडनमिश्र आदि के मतों का खंडन कर चुके और वाचस्पति मिश्र, जयन्त आदि उस खंडनोद्धार के कार्य में व्यस्त थे इसी युग में जैन दार्शनिक अनन्तवीर्य ने भी बौद्धदर्शन के खंडन में अपनी सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई। विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा जैसे जैनन्याय के मूर्धन्य ग्रंथ बना कर अपने नाम को सार्थक किया। इसी समय उदयनाचार्य भट्ट, श्रीधर आदि वैदिक दार्शनिकों ने वाचस्पति मिश्र के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया। यह युग विक्रम की ८वीं और नवीं सदी का युग था। इसी समय माणिक्यनन्दि आचार्य ने परीक्षामुख सूत्रों में अकलंकन्याय का संग्रह किया।

वि० १०वीं सदी में सिद्धर्षिसूरि ने न्यायावतार पर टीका रची।

वि० ११-१२वीं सदी का युग जैनदर्शन का एक प्रकार से मध्याह्नोत्तर युग समझना चाहिए। इसमें वादिराज सूरि ने न्यायविनिश्चय विवरण प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र जैसे बृहत्काय टीका ग्रंथों का निर्माण किया। शान्तिसूरि ने जैनतर्क वार्तिक अभयदेव ने सन्मतितर्कटीका जिनेश्वरसूरि का प्रमाणलक्षण हेमचन्द्रसूरि की प्रमाणमीमांसा वादिदेवसूरि का प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और स्याद्वादरत्नाकर, मुनिचन्द्रसूरि का अनेकान्तजय-पताका टिप्पण आदि ग्रंथ इसी युग की कृतियाँ हैं। तेरहवीं शताब्दी में मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए। इनके टीकाग्रंथों में दार्शनिकता की अद्भुत छाप है। इसी तरह प्रमेयरत्न मालाकार अनन्तवीर्य, जिनेश्वरसूरि, रत्नप्रभसूरि, गुणरत्नसूरि, मल्लिषेणसूरि आदि आचार्यों ने प्रचुर ग्रंथराशि का निर्माण कर भारती भंडार में अपनी पूंजी जमा की है। धर्मभूषणयति ने न्यायदीपिका रची।

अन्त में १८वीं सदी के उपाध्याय यशोविजय जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में अनेक ग्रंथों का निर्माण किया और उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा जैन परिभाषाओं को नव्यढंग से परिष्कृत करने का आद्य प्रयत्न किया है। विमलदास की 'सप्तभंगितरंगिणी' सप्तभंगी का प्रतिपादन करने वाली अकेली और अनूठी रचना है। इस प्रकार जैनतार्किकों ने जैनदर्शन के विकास में जो भगीरथ प्रयत्न किए हैं उनकी एक झलक दिखाने का मैंने यह ऊपरी प्रयत्न किया है।

ज्ञेय तत्त्व

जैनदर्शन में प्रमेयतत्त्व ६ हैं। १ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश, ६ काल। जीव अनन्त है ज्ञानदर्शन सुख आदि उसके स्वभावभूत गुण हैं, यह मध्यम परिमाण वाला या शरीर परिमाण वाला है, कर्त्ता है, भोक्ता है। रूप रस गंध स्पर्श वाले सभी पदार्थ पुद्गल हैं। ये पुद्गल अणुरूप हैं, अनन्त हैं। जीव पुद्गल को गति का माध्यम धर्मद्रव्य तथा स्थिति का माध्यम अधर्मद्रव्य होता है। ये लोकपरिमाण हैं, एक एक द्रव्य हैं, अमूर्तीक हैं। आकाश अनन्त है, अमूर्तीक है। काल अणुरूप असंख्यात द्रव्य हैं। श्वे० परम्परा में कुछ आचार्य कालद्रव्य को नहीं मानते। इस तरह प्रमेय तत्त्वों का प्रारंभ से ही एक जैसा निरूपण सभी दार्शनिक ग्रंथों में है। जैन लोग महावीर की आद्य उपदेश वाणी "उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में पर्याय-अवस्था की दृष्टि से उत्पाद और व्यय तथा द्रव्यमूल अस्तित्व की दृष्टि से ध्रौव्य स्वीकार करते हैं। जो भी सत् है वह परिवर्तनशील है, परिवर्तनशील होने पर भी वह अपनी मौलिकता नहीं खोता, अपना द्रव्यत्व कायम रखता है। जैसे एक पुद्गल मिट्टी के पिंड की हालत से घड़े की शकल में आया घड़ा फूटकर खपरियाँ बनीं, खपरियाँ चूर्ण होकर खेत में जा पड़ीं, उसके कुछ परमाणु गेहूँ बने। इस तरह अवस्थाओं में परिवर्तन होते हुए भी मूल अणुत्व का नाश नहीं हुआ। यही परिणाम जैनियों के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। गीता का यह सिद्धान्त—"नाऽसतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः" अर्थात् असत् का उत्पाद नहीं और सत् का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसी परिणामवाद को सूचित करता है। जगत् में कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता जितने द्रव्य हैं उनमें से एक अणु का भी सर्वथा विनाश नहीं होता। उनकी अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं एक दूसरे के संयोग से विचित्र प्रकार के भौतिक अभौतिक परिवर्तन हमारी दृष्टि से छिपे नहीं हैं। इस तरह उत्पाद-व्यय ध्रौव्यवाद या परिणामवाद जैनतार्किकों को प्रारंभ से ही इष्ट रहा है और इसी का द्रव्यपर्यायवाद, गुणपर्यायवाद आदि नामों से प्रत्येक ग्रंथ में उत्कट समर्थन है। नयदृष्टि में पर्यायदृष्टि से बौद्धों के क्षणिकवाद का तथा द्रव्यदृष्टि से सांख्यों के कूटस्थनित्यवाद तक का समन्वय जैनाचार्यों ने किया है। यहाँ तक कि चार्वाक मत का भी संग्रह किया गया है। सारांश यह कि जैनाचार्यों ने यद्यपि परपक्ष का खंडन किया है फिर भी उनमें समन्वय की अहिंसक उदारता बराबर जागृत रही, जो भारत के अन्य दार्शनिकों में कम देखी जाती है। इसी समन्वयशालिता के कारण उन्होंने नयदृष्टि या स्याद्वाद के द्वारा प्रत्येक मत का समन्वय कर अपनी विशाल दृष्टि तथा तटस्थता का परिचय दिया है।

मूलतः जैन धर्म आचारप्रधान है, इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचारशुद्धि के लिए ही है। और यही कारण है कि तर्कशास्त्र जैसे शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय और समता के स्थापन में किया। इसका अनेकान्तवाद या स्याद्वादमति सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है। दार्शनिक कटाकटी के युग में भी इस प्रकार की समता उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजक समन्वय दृष्टि का कायम रखना अहिंसा के पुजारियों का ही कार्य रहा। इस स्याद्वाद के स्वरूप निरूपण तथा प्रयोग करने के प्रकारों का विवेचन करने के लिए भी जैनाचार्यों ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिकएकता स्थापित करने में जैन दर्शन का अद्भुत और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती हैं। यथा—

"भवबीजाङ्कुरजलदा रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य। ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"

अर्थात् जिसके संसार को पुष्ट करने वाले रागादि दोष विनष्ट हो गए हैं चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन, उसे नमस्कार हो।

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

अर्थात् मुझे महावीर से राग नहीं है और न कपिल आदि से द्वेष, जिसके भी युक्तियुक्त वचन हों उनकी शरण जाना चाहिए। (लोक तत्त्वनिर्णय)

काशी]

ထ

स्याद्वाद और सप्तभंगी

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

संसार में समय-समय पर कुछ ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं, जो इस दृश्यमान जगत् के माया-जाल में न फँस कर उसके भीतर छिपे हुए सत्य का रहस्योद्घाटन करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं। सत्य को जानना और जनता में उसका प्रचार करना ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है, किन्तु उनमें से विरले ही पूर्ण सत्य तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। अधिकांश व्यक्ति सत्य के एक अंश को ही पूर्ण सत्य समझ भ्रम में पड़ कर अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार संसार में दो तरह के उपदेष्टा पाये जाते हैं—एक पूर्णदर्शी और दूसरे अपूर्णदर्शी या एकांश-दर्शी। पूर्णदर्शी के द्वारा प्रकाशित सत्य ही 'अनेकान्तवाद' के नाम से ख्यात होता है, क्योंकि जो पूर्ण है वह अनेकान्त है और जो अनेकान्त है वही पूर्ण है—पूर्णता और अनेकान्तता का अभेद्य संबंध है। इसके विपरीत, एकान्तदर्शी जिस सत्यांश का प्रकाशन करता है वह एकान्त है, अतः अपूर्ण है—सत्य होते हुए भी असत्य है। कारण, सत्य के एक अंश का दर्शी मनुष्य तभी आंशिक सत्यदर्शी कहा जा सकता है जब वह उसे आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार करे। यदि कोई मनुष्य वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु सिद्ध करने की धृष्टता करता है तो न तो वह सत्यदर्शी है और न सत्यवादी ही कहा जा सकता है।

सत्य का जानना जितना कष्ट साध्य है, उसका प्रकाशित करना भी अधिक नहीं तो उतना ही कठिन अवश्य है। इस पर भी यदि वह सत्य अनेकान्त रूप हो—एक ही वस्तु में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरोधी कहे जाने वाले धर्मों को स्वीकार करता हो, भिन्न-भिन्न अंशों का सुन्दर रूप में समन्वय करने में तत्पर हो तो वक्ता की कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं। उक्त कठिनाइयों के होते हुए भी यदि सत्य को प्रकाशित करने के साधन पर्याप्त हों तो उनका सामना किसी तरह किया जा सकता है, किंतु साधन भी पर्याप्त नहीं हैं। कारण, शब्द एक समय में वस्तु के एक ही धर्म का आंशिक व्याख्यान कर सकता है।

सत्य को प्रकाशित करने के एकमात्र साधन शब्द की इस अपरिहार्य कमजोरी को अनुभव करके पूर्णदर्शी महापुरुषों ने स्याद्वाद का आविष्कार किया।

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। इसलिए वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचन प्रयोग करता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्म स्वरूप ही है। अतः यह कहना बेहतर होगा कि यहाँ पर विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मों की गौणता है। इसीलिए गौण धर्मों का द्योतक "स्यात्" शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्त रूप से सम्बद्ध रहता है। 'स्यात्' शब्द का अभिप्राय "कथंचित्" या 'किसी अपेक्षा से' है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के इस वाक्य से प्रकट है—"**स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः**" (—**आप्त मीमांसा**)

भगवान् महावीर ने अपने अनुपम वचनों के द्वारा पूर्ण सत्य का उपदेश किया और उनका उपदेश संसार में 'श्रुत' के नाम से ख्यात हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश का प्रत्येक वाक्य 'स्यात्' 'कथंचित' या 'किसी अपेक्षा' से होता था, क्योंकि उसके बिना पूर्ण सत्य का प्रकाशन नहीं हो सकता। अतः उनके उपदेश 'श्रुत' को आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद[1] के नाम से संबोधित किया है।

---

[1] "स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्" ॥ —आप्तमीमांसा

श्रुत[1] उपदेश या वाक्य तीन प्रकार का होता है, स्याद्वाद श्रुत, नयश्रुत, और मिथ्याश्रुत।

स्याद्वादश्रुत[2]—एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को कहते हैं। यह वाक्य अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करता है। इसलिए इसे सकलादेश[3] भी कहते हैं और अनेक धर्मात्मक वस्तु का ज्ञाता ही ऐसे वाक्य का प्रयोग कर सकता है। इसलिए उसे प्रमाणवाक्य[4] भी कहते हैं; क्योंकि जैनदर्शन में अनेक धर्मात्मक वस्तु का सच्चा ज्ञान ही प्रमाण[5] कहा जाता है।

नयश्रुत—अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध कराने वाले वाक्य को कहते हैं। इसे विकलादेश[6] या नयवाक्य भी कहते हैं। ऐसे वाक्य के प्रयोग करने वाले वक्ता का ज्ञान 'नय' कहलाता है, क्योंकि वस्तु के एकांश-ग्राही ज्ञान को नय कहते हैं।

मिथ्याश्रुत—वस्तु में किसी एक धर्म को मान कर, अन्य प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण करनेवाले वाक्य को कहते हैं। ऐसे वाक्य के प्रयोग करने वाले वक्ता का ज्ञान 'दुर्नय' कहलाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान एकांशग्राही और शब्द अनेक धर्मात्मक वस्तु का वाचक हो सकता है? विचार करने पर दोनों ही बातें असंगत जान पड़ती हैं—न तो ज्ञान एकांशग्राही हो सकता है और न एक शब्द एक समय में अनेक धर्मात्मक वस्तु का वाचक।

प्रमाण और नय

प्र०—अनेक धर्मात्मक वस्तु के ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं और एक धर्म के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं। तब आप ज्ञान का एकांशग्राही होना कैसे अस्वीकार करते हैं।

उ०—प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष है। प्रमाण के दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। मतिज्ञान स्वार्थ प्रमाण है। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यथार्थ में कोई भी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पूर्ण वस्तु को विषय नहीं कर सकता। चक्षू रूप के द्वारा वस्तु को जानती है, रसना रस के द्वारा और घ्राण गन्ध के द्वारा। फिर भी जैन दर्शन में इन ज्ञानों को प्रमाण यानी अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्राही कहा जाता है। इसका कारण ज्ञाता की दृष्टि है। एक धर्म को जानते हुए भी ज्ञाता की दृष्टि, वस्तु के अन्य धर्मों की ओर से उदासीन नहीं हो जाती। कारण, बुद्धिमान ज्ञाता जानता है कि इन्द्रियों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का प्रतिभासन करा सकें। यदि ज्ञाता इन्द्रियों की इस अशक्ति को ध्यान में न रख कर इन्द्रिय वस्तु के जिस धर्म का बोध कराती है केवल उसी एक धर्म को पूर्ण वस्तु समझ लेता है तो उसका ज्ञान अप्रमाण कहा जाता है।

जब ज्ञाता शब्दों के द्वारा दूसरों पर अपने ज्ञान को प्रकट करने के लिए तत्पर होता है तब उसका वह शब्दोन्मुख अस्पष्ट[7] ज्ञान स्वार्थ[8] श्रुतप्रमाण कहा जाता है और ज्ञाता जो वचन बोलता है वे वचन परार्थश्रुत कहे जाते हैं। श्रुतप्रमाण के ही भेद नय[9] कहलाते हैं।

---

[1] "इह त्रिविधं श्रुतं-मिथ्याश्रुतं, नयश्रुतं, स्याद्वादश्रुतम्"—न्यायावतार टी०, पृ० ९३

[2] "सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते"।—न्यायावतार, कारि० ३०

[3] 'स्याद्वादः सकलादेशः'—लघीयस्त्रय। [4] 'सकलादेशः प्रमाणवाक्यम्'। —श्लोकवार्तिक पृ० १८१

[5] 'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं'।—अष्टशती। [6] 'विकलादेशो नयवाक्यम्'।—श्लो० वा०, पृ० १३७।

[7] "जैनदर्शन में इन्द्रियजन्यज्ञान को अस्पष्ट कहा जाता है।

[8] "प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्"। —लघीयस्त्रय

"न केवलं नामयोजनात्पूर्वं यदस्पष्टज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं, किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते तदपि संगृहीतं भवति"।—न्यायकुमुदचन्द्रोदय।

[9] "श्रुतं स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थं, तद्भेदा नयाः"।—सर्वार्थसिद्धिः

जिस प्रकार एक इन्द्रिय एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का बोध नहीं करा सकती, उसी प्रकार एक शब्द एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का बोध नहीं करा सकता। इसलिए वक्ता किसी एक धर्म का अवलंबन लेकर ही वचनव्यवहार करता है। यदि वक्ता एक धर्म के द्वारा पूर्ण वस्तु का बोध कराना चाहता है तो उसका वाक्य 'प्रमाण वाक्य' कहा जाता है। और यदि एक ही धर्म का बोध कराना चाहता है—शेष धर्मों में उसकी दृष्टि उदासीन है तो उसका वाक्य 'नयवाक्य' कहा जाता है।

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य

जैसे प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष है, ज्ञाता की दृष्टि पर निर्भर है, उसी तरह प्रमाणवाक्य और नयवाक्य की व्यवस्था भी सापेक्ष है—वक्ता की विवक्षा पर अवलम्बित है। इस अपेक्षावाद को यदि दूर कर दिया जाय तो प्रमाणवाक्य किसी भी हालत में नहीं बन सकता। प्रमाणवाक्य की कल्पना तो दूर की बात है। यथार्थ में प्रमाण का विषय वचन के अगोचर है, अवक्तव्य है। अथवा हम उसे अवक्तव्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि अवक्तव्य भी वस्तु का एक धर्म है। अतः यह कहना उचित होगा कि प्रमाण मूक है और उसका विषय स्वसंवेद्य है। कैसे? सुनिए—वस्तु, परस्पर विरोधी कहे जाने वाले अनेक धर्मों का अखंड पिंड है जो प्रमाण का विषय है। संसार में एक भी ऐसा शब्द नहीं मिलता, जो उस अनेक धर्मों के पिंड को, जैसे ज्ञान एक समय में एक साथ जान लेता है उस तरह, एक समय में एक साथ प्रतिपादन कर सके। 'सत्' शब्द केवल अस्तित्व धर्म का ही प्रतिपादन करता है। 'द्रव्य' शब्द केवल द्रव्य की ओर ही संकेत करता है, पर्याय की ओर से उदासीन है। इसी लिए सत् और द्रव्य संग्रह नय के विषय कहे जाते हैं। इसी तरह घट पट आदि शब्द भी घटत्व और पटत्व की ओर ही संकेत करते हैं शेष धर्मों के प्रति मूक हैं। इसी से इन्हें व्यवहार नय का विषय कहा जाता है। अधिक क्या कहें—जितना भी शब्द व्यवहार है वह सब नय है। इसी से सिद्धसेन दिवाकर ने नयों के भेद बतलाते हुए कहा है [1]—"जितना वचन व्यवहार है और वह जिस जिस तरह से हो सकता है वह सब नयवाद है।" श्रुतज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों का स्वार्थ प्रमाण यानी मूक कहा जाना भी उक्त समस्या पर अच्छा प्रकाश डालता है। वचन व्यवहार, जो नयवाद है, श्रुत प्रमाण में ही होता है। इसी लिए नयों को श्रुत प्रमाण के भेद कहा जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में केवल नय सप्तभंगी का वर्णन किया है। प्रमाण सप्तभंगी का वर्णन नहीं किया और अन्त में लिख दिया—"[2]एकत्व अनेकत्व आदि विकल्पों में भी, नय विशारद को उक्त सप्तभंगी की योजना उचित रीति से कर लेनी चाहिए'। इसी तरह सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क के नयकाण्ड में नयसप्तभंगी का ही वर्णन किया है। स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद की जो कुछ रूपरेखा वर्तमान में उपलब्ध है उसका श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को प्राप्त है। अतः उक्त दो महान् आचार्यों के द्वारा प्रमाण सप्तभंगी का वर्णन न किया जाना रहस्य से खाली नहीं कहा जा सकता। किन्तु एक बात अवश्य है। दोनों आचार्यों के ग्रंथों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर प्रमाण सप्तभंगी के बीजभूत[3] वाक्यों का कुछ आभास सा होता है। अकलंकदेव सरीखे प्रमाण नय विशारद की दृष्टि से यह विशकलित वाक्यांश कैसे छिप सकते थे? हमारा मत है कि उपलब्ध दिगंबर जैन साहित्य में प्रमाण सप्तभंगी का सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश करने का श्रेय भट्टाकलंक को ही प्राप्त है।

---

[1] "जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया॥" ३—४७ सन्मतितर्क।

[2] "एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्। प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः" ॥२३॥

[3] "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्" ॥१०१॥—आप्तमीमांसा
नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥३०॥—न्यायावतार

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य में मौलिक भेद

प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के प्रयोग में ज्ञाता की विवक्षा के अतिरिक्त भी कोई मौलिक भेद है या नहीं ? इस प्रश्न के समाधान के लिए जैनाचार्यों के द्वारा दिए गये उदाहरणों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालना आवश्यक है।

दिगम्बराचार्यों में, अकलंकदेव राजवार्तिक[1] में और विद्यानंद श्लोकवार्तिक[2] में 'प्रमाण सप्तभंगी,' और 'नयसप्तभंगी' का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं। किन्तु दोनों वाक्यों में एक ही उदाहरण **'स्यादस्त्येवजीवः'** (किसी अपेक्षा से जीव सत्स्वरूप ही है) देते हैं।

किन्तु लघीयस्त्रय के स्वोपज्ञ भाष्य[3] में वे ही अकलंक देव दोनों में जुदे-जुदे उदाहरण देते हैं। प्रमाण वाक्य का उदाहरण—**स्याज्जीव एव** (स्यात् जीव ही है) और नय वाक्य का उदाहरण—**स्यादस्त्येव जीवः** (स्यात् जीव सत् स्वरूप ही है) है। आचार्य प्रभाचन्द्र भी[4] दोनों वाक्यों में एक ही उदाहरण देते हैं—**"स्यादस्ति जीवादि वस्तु"** (जीवादि वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप है)।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय तथा प्रवचनसार में एक-एक गाथा देकर सात भंग के नाम मात्र गिना दिये हैं। दोनों ग्रन्थों में भंगों के क्रम में तो अन्तर है ही, इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी अन्तर है। पञ्चास्तिकाय में **'आदेसवसेण'** लिखा हुआ है जब कि प्रवचनसार में **'पज्जायण दु केणवि'** पाठ दिया गया है। प्रवचनसार के पाठ से दोनों टीकाकारों ने एवकार (ही) का ग्रहण किया है। आचार्य अमृतचन्द्र उदाहरण देते हुए, पञ्चास्तिकाय की टीका में **'स्यादस्ति द्रव्यं'** (स्यात्द्रव्य है) लिखते हैं और प्रवचनसार की टीका में **'स्यादस्त्येव'** (कथंचित है ही) लिखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दो ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से क्यों व्याख्यान किया, इस प्रश्न का समाधान अमृतचन्द्र ने नहीं किया। उनके बाद के द्वितीय टीकाकार जयसेन ने इस रहस्य को खोला है। वे लिखते हैं[5]—**'स्यादस्ति'** यह वाक्य सकल वस्तु का बोध कराता है, अतः प्रमाण वाक्य है। और **'स्यादस्त्येव द्रव्यं'** यह वाक्य वस्तु के एक धर्म का वाचक है, अतः नयवाक्य है। वे और भी लिखते हैं[6]—'पञ्चास्तिकाय' में 'स्यादस्ति' आदि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया। यहाँ 'स्यादस्त्येव' वाक्य में एवकार ग्रहण किया है वह नय सप्तभंगी को बतलाने के लिए कहा गया है।

सप्तभंगीतरंगिणी के कर्ता भी दोनों वाक्यों में एक ही उदाहरण देते हैं—**'स्यास्त्येव घटः'** (घट कथंचित् सत्स्वरूप ही है)। यह तो हुआ दिगम्बराचार्यों के मतों का उल्लेख, अब श्वेताम्बराचार्यों के मत भी सुनिए।

अभयदेवसूरि लिखते हैं[7]—**'स्यादस्ति'** (कथंचित् है) यह प्रमाणवाक्य है। **'अस्त्येव'** (सत्स्वरूप ही है) यह दुर्नय है। **'अस्ति'** (है) यह सुनय है, किन्तु व्यवहार में प्रयोजक नहीं है। **"स्यादस्त्येव"** (कथंचित् सत्स्वरूप ही है) यह सुनय वाक्य ही व्यवहार में कारण है।

---

[1] देखो—राजवार्तिक, पृ० १८१। [2] देखो—श्लोकवार्तिक, पृ० १३८।

[3] 'स्याज्जीव एव इत्युक्ते नैकान्तविषयः स्याच्छब्दः, स्यादस्त्येव जीव इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः'।

[4] देखो—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० २०६।

[5] "स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यं, स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम्"।
—पञ्चास्तिकायटीका, पृ० ३२।

[6] 'पूर्वं पञ्चास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि प्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभंगीज्ञापनार्थमिति भावार्थः'।—प्रवचनसारटीका पृ० १६२।

[7] "स्यादस्ति" इत्यादि प्रमाणं, "अस्त्येव" इत्यादि दुर्नयः, "अस्ति" इत्यादिकः सुनयो न तु संव्यवहाराङ्गम्, "स्यादस्त्येव" इत्यादिस्सुनय एव व्यवहारकारणम्।—"सम्मतितर्क" टी०, पृ० ४४६।

वादिदेवसूरि[1] ने 'स्यादस्त्येव सर्वं' (सब वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप ही है) एक ही उदाहरण दिया है। [2]मल्लिषेणसूरि ने भी वादिदेव का ही अनुसरण किया है। आचार्यों के उक्त मत दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—प्रथम, जो दोनों वाक्यों के प्रयोगों में कोई अन्तर नहीं मानते हैं; दूसरे, जो अन्तर मानते हैं। अन्तर मानने वालों में लघीयस्त्रय के कर्ता अकलंकदेव, जयसेन तथा अभयदेवसूरि का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु इन अन्तर मानने वालों में भी परस्पर में मतैक्य नहीं है। अकलंकदेव प्रमाण वाक्य और नय वाक्य दोनों में स्यात्कार और एवकार का प्रयोग आवश्यक समझते हैं। किन्तु जयसेन और अभयदेव स्यात्कार का प्रयोग तो आवश्यक समझते हैं, पर एवकार का प्रयोग केवल नयवाक्य में ही मानते हैं। अकलंकदेव के मत से यदि जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, घट, पट आदि वस्तु वाचक शब्दों के साथ स्यात्कार और एवकार का प्रयोग किया जाता है तो वह प्रमाण वाक्य है, और यदि अस्ति, नास्ति, एक, अनेक आदि धर्मवाचक शब्दों के साथ उनका प्रयोग किया जाता है तो वह नयवाक्य है। इसके विपरीत जयसेन और अभयदेव के मत से किसी भी शब्द के साथ, वह शब्द धर्मवाचक हो या धर्मिवाचक हो, यदि एवकार का प्रयोग किया गया है तो वह नयवाक्य है और यदि एवकार का प्रयोग नहीं किया गया केवल स्यात् शब्द का प्रयोग किया गया है तो वह प्रमाण वाक्य कहा जाता है।

उक्त दो मतों में दो प्रश्न पैदा होते हैं—

१ प्रश्न—क्या धर्मिवाचक शब्द सकलादेशी और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी होते हैं ?

२ प्रश्न—क्या प्रत्येक वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग आवश्यक है ?

प्रश्नों पर विचार

विद्यानन्दि स्वामी ने प्रथम प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए लिखा है[3]—'किसी धर्म के अवलम्बन बिना धर्मी का व्याख्यान नहीं हो सकता। जीव शब्द भी जीवत्वधर्म के द्वारा ही जीववस्तु का प्रतिपादन करता है।' विद्यानन्दि के मत से समस्त शब्द किसी न किसी धर्म की अपेक्षा से ही व्यवहृत होते हैं। आश्चर्य है कि अकलंकदेव भी राजवार्तिक[4] में इसी मत का समर्थन करते हैं।

दूसरे प्रश्न पर अनेक आचार्यों ने प्रकाश डाला है। प्रायः अधिकांश जैनाचार्य वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग उतना ही आवश्यक समझते हैं जितना स्यात्कार का। अतः यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों पर निर्भर रह कर न तो उक्त दोनों प्रश्नों का ही ठीक समाधान हो सकता है और न प्रमाणवाक्य और नयवाक्य का निश्चित स्वरूप ही निर्धारित होता है, फिर भी वस्तु विवेचन के लिए उस पर विचार करना आवश्यक है।

यह सत्य है कि प्रत्येक शब्द वस्तु के किसी न किसी धर्म को लेकर ही व्यवहृत होता है। किन्तु कुछ शब्द वस्तु के अर्थ में इतने रूढ़ हो जाते हैं कि उनसे किसी एक धर्म का बोध न होकर अनेक धर्मात्मक वस्तु का ही बोध होता है। जैसे, जीव शब्द जीवनगुण की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, किन्तु जीव शब्द के सुनने से श्रोता को केवल जीवनगुण का बोध न होकर अनेक धर्मात्मक आत्मा का बोध होता है। इसी तरह पुद्गल, काल, आकाश आदि वस्तुवाचक शब्दों के विषय में भी समझना चाहिए। संसार में बोलचाल के व्यवहार में आनेवाले पुस्तक, घट, वस्त्र, मकान आदि शब्द भी वस्तु का बोध कराते हैं। ऐसी दशा में यदि अकलंकदेव के मत के अनुसार धर्मिवाचक शब्दों को सकलादेशी और धर्मवाचक शब्दों को विकलादेशी कहा जाये तो कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु यहाँ पर भी हमें सर्वथा एकान्तवाद से काम नहीं लेना चाहिए, धर्मीवाचक शब्द सकलादेशी ही होते हैं और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी ही होते हैं, ऐसा एकान्त मानने से सत्य का अपलाप होगा, कारण, वक्ता धर्मिवाचक शब्द के द्वारा

---

[1] देखो—प्रमाणनय तत्त्वालोक, परिच्छेद ४ सूत्र १५, तथा परि० ७ सू० ५३।

[2] देखो—स्याद्वादमंजरी, पृ० १८६।

[3] देखो—श्लोकवार्तिक पृ० १३७, कारिका ५६।

[4] देखो—राजवार्तिक, पृ० १८१, वार्तिक १८।

वस्तु के एक धर्म का भी प्रतिपादन कर सकता है और कभी एक धर्म के द्वारा पूर्ण वस्तु का भी बोध करा सकता है; क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के आधीन है। जीव शब्द केवल जीवनगुण का भी बोध करा सकता है और 'अस्ति' शब्द अस्तित्व गुण विशिष्ट पूर्ण वस्तु का भी प्रतिपादन कर सकता है। अतः "धर्मिवाचक शब्द सकलादेशी ही होते हैं और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी ही होते हैं" यह कहना असंगत जान पड़ता है। जैसा कि हम पहिले विद्यानन्दि का मत बतला आये हैं, दोनों शब्द दोनों का प्रतिपादन कर सकते हैं।

क्या प्रत्येक वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग आवश्यक है ?

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न एवकार के विषय में है। एवकार वादियों का मत है कि शब्द के साथ एवकार (हिन्दी में उसे "ही" कहते हैं) यदि न लगाया जाये तो सुनने वाले को निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता। जैसे किसीने कहा—'घट लाओ'। सुनने वाले के चित्त में यह विचार पैदा होता है कि घट पर कोई खास जोर नहीं दिया गया है, अतः यदि घट के बदले लोटा ले जाऊँ तब भी काम चल सकता है। किन्तु यदि 'घट ही लाओ' कहा जाये तो श्रोता को अन्य कुछ सोचने की जगह नहीं रहती और वह तुरन्त घट ले आता है। अतः निश्चित पदार्थ का बोध कराने के लिए प्रत्येक वाक्य में अवधारण होना आवश्यक है।

इस मत पर टीका टिप्पणी करने से पहले, प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के विषय में, हम पाठकों को एक बात बतला देना आवश्यक समझते हैं। प्रमाण वाक्य में वस्तु के सब धर्मों की मुख्यता रहती है और नयवाक्य में जिस धर्म का नाम लिया जाता है केवल वही धर्म मुख्य होता है और शेष धर्म गौण समझे जाते हैं। दोनों वाक्यों के इस आन्तरिक भेद को, जिसे समस्त जैनाचार्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं, दृष्टि में रख कर 'प्रमाणवाक्य में एवकार का प्रयोग होना चाहिए या नहीं' इस प्रश्न की मीमांसा करने में सरलता होगी।

"स्यादस्त्येव जीवः" (स्यात् जीव सत् ही है) एवकारवादियों के मत से यह प्रमाणवाक्य है। अतः इसमें सब धर्मों की मुख्यता रहनी चाहिए। किन्तु विचार करने से इस वाक्य में सब धर्मों की मुख्यता का सूक्ष्म-सा भी आभास नहीं मिलता। कारण, एवकार अर्थात् 'ही' जिस शब्द के साथ प्रयुक्त होता है केवल उसी धर्म पर जोर देता है और शेष धर्मों का निराकरण करता है। इसीसे संस्कृत में उसे अवधारणक और अन्य व्यवच्छेदक के नाम से पुकारा जाता है। जब वक्ता सत् पर जोर देता है तब केवल सत् धर्म की ही प्रधानता रह जाती है, शेष धर्मों की प्रधानता को एवकार निगल जाता है। इसीसे स्वामी विद्यानन्दि ने लिखा है[1]—'स्यात्कार के बिना अनेकान्त की सिद्धि नहीं हो सकती, जैसे एवकार के बिना यथार्थ एकान्त का अवधारण नहीं हो सकता।' एवकार को हटा कर यदि 'स्यादस्ति जीवः' कहा जाए तो किसी एक धर्म पर जोर न होने से सब धर्मों की प्रधानता सूचित होती है और इस दशा में हम उसे प्रमाणवाक्य कह सकते हैं। शायद यहाँ पर आपत्ति की जाये कि एवकार के न होने से सुनने वाले को निश्चित धर्म का बोध नहीं होगा। अतः श्रोता अस्तित्व धर्म के साथ नास्तित्व आदि धर्मों का भी ज्ञान करने में स्वतन्त्र होगा। यह आपत्ति हमें इष्ट ही है। प्रमाणवाक्य से श्रोता को वस्तु के किसी एक अंश का भान नहीं होना चाहिए। यह कार्य तो नय वाक्य का है। अतः प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के लक्षण की रक्षा करते हुए, हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि दोनों वाक्यों का आन्तरिक भेद वक्ता की विवक्षा पर अवलम्बित है। और बाह्य भेद एवकार के होने न होने से जाना जा सकता है।

जो आचार्य प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं मानते हैं उनके मत से वस्तु के समस्त गुणों में काल, आत्मा, अर्थ, गुणिदेश, संसर्ग, सम्बन्ध, उपकार और शब्द की अपेक्षा अभेदविवक्षा मान कर एक धर्म को भी अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादक कहा जाता है।

---

[1] "न हि स्यात्कारप्रयोगमन्तरेणानेकान्तात्मकत्वसिद्धिः, एवकारप्रयोगमन्तरेण सम्यगेकान्तावधारणसिद्धिवत्"।—युक्त्यनुशासन टीका पृ० १०५।

यह तो हुआ वाक्यों का शास्त्रीय विवेचन। साधारण रीति से सम्पूर्ण द्वादशांग वाणी प्रमाणश्रुत और उसका प्रत्येक अंग नयश्रुत है। या प्रत्येक अंग प्रमाणश्रुत है और उस अंग का प्रत्येक श्रुत स्कन्ध नयश्रुत है। या सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रमाणश्रुत है और उसका प्रत्येक वाक्य नयश्रुत है। इसी तरह वक्ता एक वस्तु के विषय में जितना विचार रखता है वह पूर्ण विचार प्रमाण है और उस विचार का प्रत्येक अंश नय है।

इस तरह प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष समझनी चाहिए।

सप्तभंगीवाद

वस्तु और उसके प्रत्येक धर्म की विधि, प्रतिषेध सापेक्ष होने के कारण, वस्तु और उसके धर्म का प्रतिपादन सात प्रकार से हो सकता है। वे सात प्रकार निम्नलिखित हैं—

१—स्यादस्ति	कथंचित्	है।
२—स्यात् नास्ति	,,	नहीं है।
३—स्यादस्ति नास्ति	,,	है और नहीं है।
४—स्यादवक्तव्य	,,	अवाच्य है।
५—स्यादस्ति अवक्तव्य, च	,,	है और अवाच्य है।
६—स्यान्नास्ति अवक्तव्य, च	,,	नहीं है और अवाच्य है।
७—स्यादस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, च	,,	है, नहीं है, और अवाच्य है।

इन सातों प्रकारों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं। इन सात वाक्यों का मूल विधि और प्रतिषेध है[1]। इसलिए आधुनिक विद्वान् इसे विधिप्रतिषेधमूलक पद्धति के नाम से भी पुकारते हैं।

उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय में, आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में सबसे प्रथम सात भंगों का उल्लेख पाया जाता है। जैनेतर दर्शनों में, वैदिक दर्शन में यद्यपि अनेकान्तवाद के समर्थक अनेक विचार मिलते हैं और इसीलिए सत्-असत्-उभय और अनिर्वचनीय भंगों का आशय भिन्न-भिन्न वैदिक दर्शनों में देखा जाता है; फिर भी उक्त सात भंगों में से किसी भी भंग का सिलसिलेवार उल्लेख नहीं है। बौद्धदर्शन में तो स्थान स्थान पर सत्, असत्, उभय और अनुभय का उल्लेख मिलता है जो चतुष्कोटि के नाम से ख्यात है। माध्यमिकदर्शन का प्रतिष्ठापक आर्य नागार्जुन उक्त चतुष्कोटि से शून्य[2] तत्त्व की व्यवस्थापना करता है।

जैनों की आगमिक पद्धति में वचनयोग के भी चार ही भेद किये गये हैं—सत्य (सत्), असत्य (असत्), उभय और अनुभय। जैन आगमिक पद्धति में तथा बौद्धदर्शन में जिसे अनुभय के नाम से पुकारा गया है, जैन-दार्शनिक पद्धति में उसे ही अवक्तव्य या अवाच्य का रूप दिया गया है। अतः सप्तभंगी के मूल स्तम्भ उक्त चार भंग ही हैं, जिन्हें जैनों की आगमिक पद्धति तथा जैनेतर दर्शनों में स्वीकार किया गया है। शेष तीन भंग, जो उक्त चार भंगों के मेल से तैयार किये गये हैं, शुद्ध जैन दार्शनिक मस्तिष्क की उपज हैं।

---

[1] विधिकल्पना (१) प्रतिषेधकल्पना (२) क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना (३) सह विधिप्रतिषेधकल्पना (४) विधिकल्पना, सह विधिप्रतिषेधकल्पना (५) प्रतिषेधकल्पना, सह विधिप्रतिषेधकल्पना (६) क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना (७) अष्टसहस्री, पृ० १२५।

[2] "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥"—माध्यमिककारिका

सप्तभंगी के मूल-आधार चार भंगों का स्पष्टीकरण

यह सप्त भंगी सुनने वाले को कुछ व्यर्थ सी जंचती है; किन्तु प्रतिदिन बोलचाल की भाषा में हम जो शब्द व्यवहार करते हैं, यह उसी का दार्शनिक विकास है। यहां हम गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर के रूप में इस पर प्रकाश डालते हैं।

गुरु—एक मनुष्य अपने सेवक को आज्ञा देता है—'घट लाओ' तो सेवक तुरन्त घट ले आता है और जब वस्त्र लाने की आज्ञा देता है तो वह वस्त्र उठा लाता है, यह आप व्यवहार में प्रति दिन देखते हैं; किन्तु क्या कभी आपने इस बात पर विचार किया है कि सुनने वाला घट शब्द सुन कर घट ही क्यों लाता है, और वस्त्र शब्द सुन कर वस्त्र ही क्यों लाता है ?

शिष्य—घट को घट कहते हैं और वस्त्र को वस्त्र कहते हैं, इसलिए जिस वस्तु का नाम लिया जाता है सेवक उसे ही ले आता है।

गु०—घट को ही घट क्यों कहते हैं ? वस्त्र को घट क्यों नहीं कहते ?

शि०—घट का काम घट ही दे सकता है, वस्त्र नहीं दे सकता।

गु०—घट का काम घट ही क्यों देता है ? वस्त्र क्यों नहीं देता ?

शि०—यह तो वस्तु का स्वभाव है। इसमें प्रश्न के लिए स्थान नहीं है।

गु०—क्या तुम्हारे कहने का यह आशय है कि घट में जो स्वभाव है वह वस्त्र में नहीं है और वस्त्र में जो स्वभाव है वह घट में नहीं है ?

शि०—हाँ, प्रत्येक वस्तु अपना जुदा-जुदा स्वभाव रखती है।

गु०—ठीक है, किन्तु अब तुम यह बतलाओ कि क्या हम घट को असत् कह सकते हैं ?

शि०—हाँ, घड़े के फूट जाने पर उसे असत् कहते ही हैं।

गु०—टूट-फूट जाने पर तो प्रत्येक वस्तु असत् कही जाती है। हमारा मतलब है कि क्या घट के मौजूद रहते हुए भी उसे असत् कहा जा सकता है ?

शि०—नहीं, कभी नहीं। जो "है", वह "नहीं" कैसे हो सकता है ?

गु०—किनारे के पास आकर फिर बहाव में बहना चाहते हो। अभी तुम स्वयं स्वीकार कर चुके हो कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव जुदा-जुदा होता है और वह स्वभाव अपनी ही वस्तु में रहता है, दूसरी वस्तु में नहीं रहता।

शि०—हाँ, यह तो मैं अब भी स्वीकार करता हूँ। क्योंकि यदि ऐसा न माना जायेगा तो आग पानी हो जायगी और पानी आग हो जायेगा। कपड़ा मिट्टी हो जायेगा और मिट्टी कपड़ा बन जायेगी। कोई भी वस्तु अपने स्वभाव में स्थिर न रह सकेगी।

गु०—यदि हम तुम्हारी ही बात को इस तरह से कहें, कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से है और पर स्वभाव से नहीं है, तो तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है ?

शि०—नहीं, इसमें किसको आपत्ति हो सकती है ?

गु०—अब फिर तुमसे पहला प्रश्न किया जाता है, क्या मौजूद घट को असत् कह सकते हैं ?

शि०—(चुप)।

गु०—चुप क्यों हो ? क्या फिर भी भ्रम में पड़ गये ?

शि०—परस्वभाव की अपेक्षा से मौजूद घट को भी असत् कह सकते हैं।

गु०—अब रास्ते पर आए हो। जब हम किसी वस्तु को सत् कहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उस वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से ही उसे सत् कहा जाता है। पर वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से दुनिया की प्रत्येक

वस्तु असत् है। देवदत्त का पुत्र दुनिया भर के मनुष्यों का पुत्र नहीं और न देवदत्त संसार भर के पुत्रों का पिता है। यदि देवदत्त अपने को संसार भर के पुत्रों का पिता कहने लगे तो उस पर वह मार पड़े जो जीवन भर भुलाये से भी न भूले। क्या इससे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते हैं कि देवदत्त पिता है और नहीं भी है। अतः संसार में जो कुछ 'है', वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु हो नहीं सकती। इसी अपेक्षा-वाद का सूचक "स्यात्" शब्द है जिसे जैन तत्त्वज्ञानी अपने वचन व्यवहार में प्रयुक्त करता है। उसी को दार्शनिक भाषा में "स्यात् सत्" और "स्यात् असत्" कहा जाता है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है; अतः प्रत्येक वस्तु में दोनों धर्मों के रहने पर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उसका उल्लेख करते हैं। जैसे दो आदमी सामान खरीदने के लिए बाजार जाते हैं। वहाँ किसी वस्तु को एक अच्छी बतलाता है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दोनों में बात बढ़ जाती है। तब दुकानदार या कोई राहगीर उन्हें समझाते हुए कहता है, 'भई, क्यों झगड़ते हो? यह चीज़ अच्छी भी है और बुरी भी है। तुम्हारे लिए अच्छी है और इनके लिए बुरी है। अपनी अपनी निगाह ही तो है'। यह तीनों व्यक्ति तीन तरह का वचन व्यवहार करते हैं—पहला विधि करता है, दूसरा निषेध और तीसरा दोनों।

वस्तु के उक्त दोनों धर्मों को यदि कोई एक साथ कहने का प्रयत्न करे तो वह कभी भी नहीं कह सकता। क्योंकि शब्द एक समय में एक ही धर्म का कथन कर सकता है। ऐसी दशा में वस्तु अवाच्य कही जाती है। उक्त चार वचन व्यवहारों को दार्शनिक भाषा में 'स्यात् सत्', 'स्यात् असत्', 'स्यात् सदसत्' और 'स्यादवक्तव्य' कहते हैं। सप्तभंगी के मूल यही चार भंग हैं। इन्हीं में से चतुर्थ भंग के साथ क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे भंग को मिलाने से पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भंग बनता है। किन्तु लोक व्यवहार में मूल चार तरह के वचनों का ही व्यवहार देखा जाता है।

सप्तभंगी का उपयोग

सप्तभंगीवाद का विकास दार्शनिक क्षेत्र में हुआ था, इसलिए उसका उपयोग भी वहीं हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। उपलब्ध जैन वाङ्मय में, दार्शनिकक्षेत्र में सप्तभंगीवाद को चरितार्थ करने का श्रेय स्वामी समन्त-भद्र को ही प्राप्त है। किन्तु उन्होंने 'आप्तमीमांसा' में अपने समय के सदैकान्तवादी सांख्य, असदैकान्तवादी माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी बौद्ध के दुराग्रहवाद का निराकरण करके मूल चार भंगों का ही उपयोग किया है। और शेष तीन भंगों के उपयोग करने का संकेत मात्र कर[1] दिया है। 'आप्तमीमांसा' पर 'अष्टशती' नामक भाष्य के रचयिता श्री अकलंकदेव ने उस कमी को पूरा कर दिया है। उनके मत से, शंकर का अनिर्वचनीयवाद सदवक्तव्य, बौद्धों का अन्यापोहवाद असदवक्तव्य, और योग का पदार्थवाद सदसद् वक्तव्य कोटि में सम्मिलित होता है।[2]

सात भंगों में सकलादेश और विकलादेश का भेद

सप्तभंगीवाद के सकलादेशित्व और विकलादेशित्व की चर्चा हम 'प्रमाण वाक्य और नय वाक्य' में कर आए हैं और यह भी लिख आये हैं कि इसमें श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों एक मत हैं; किन्तु श्वेताम्बर साहित्य में एक ऐसे मत का उल्लेख मिलता है जो सात भंगों में से सत्, असत् और अवक्तव्य इन तीनों भंगों को सकलादेशी

---

[1] "शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः"।—आप्तमीमांसा

[2] विशेष जानने के लिए देखो—अष्टसहस्री, पृ० १३६।

तथा शेष चार भंगों को विकलादेशी स्वीकार करता है। विशेषावश्यक भाष्यकार[1] इसी मत के पोषक जान पड़ते हैं। किन्तु उनका यह स्वतन्त्र मत है या उन्होंने अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य से लिया है, इस विषय में हम अभी कुछ नहीं कह सकते। सन्मति तर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि[2] उक्त मत का उल्लेख 'इति केचित्' के नाम से करते हैं। वे लिखते हैं—'उक्त तीन भंग गौणता और प्रधानता से सकल धर्मात्मक एक वस्तु का प्रतिपादन करते हैं; इसलिए सकलादेश हैं और शेष चार भंग भी यद्यपि सकल धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करते हैं फिर भी सांश वस्तु के बोधक होने से विकलादेश कहे जाते हैं ऐसा किन्हीं का मत है'।

मालूम नहीं, इस मत के अनुयायी प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी को मानते थे या नहीं ? दिगम्बराचार्यों में से किसी ने भी इस मत का उल्लेख तक नहीं किया है। किन्तु एक मत का उल्लेख अवश्य मिलता है जो उक्त मत से बिलकुल विपरीत है। विद्यानन्दि तथा सप्तभंगी तरंगिणी के कर्ता ने उसका निराकरण किया है। विद्यानन्दि लिखते हैं[3]—'कोई विद्वान अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादक वाक्य को सकलादेश और एक धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादक वाक्य को विकलादेश कहते हैं। किन्तु ऐसा मानने से प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी नहीं बन सकती। कारण, तीन भंग—सत्, असत् और अवक्तव्य—वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः वे विकलादेश कहे जायेंगे, और शेष चार भंग अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए सकलादेश कहे जायेंगे। सात भंगों में से तीन को नयवाक्य और शेष चार को प्रमाण वाक्य मानना सिद्धान्त विरुद्ध है'।

भंगों के क्रम में भेद

सप्तभंगी के विषय में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है, वह है भंगों के क्रम में मतभेद का होना। कुछ ग्रन्थकार[4] 'अवक्तव्य' को तीसरा और 'स्यात् सदसत्' को चतुर्थ भंग स्वीकार करते हैं और कुछ[5] 'स्यात् सदसत्' को तीसरा और अवक्तव्य को चतुर्थ भंग पढ़ते हैं। इस क्रम भेद में दोनों सम्प्रदायों के आचार्य सम्मिलित हैं। कुछ आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दोनों पाठों को स्थान दिया है। अकलंकदेव राजवार्तिक में दो स्थलों पर सप्तभंगी का वर्णन करते हैं और दोनों पाठ देते हैं। उक्त दोनों क्रमों में से मूल क्रम कौन-सा है, यह बतलाने में हम असमर्थ हैं। कारण, सात भंगों का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द हैं और उन्होंने अपने दो ग्रन्थों में दोनों पाठों को स्थान दिया है। ग्यारहवीं शताब्दी तक के विद्वानों ने इस क्रम भेद के विषय में एक भी शब्द नहीं लिखा है। बारहवीं शताब्दी के एक श्वेताम्बर विद्वान ने इस ओर ध्यान दिया है। वे लिखते हैं[6]—"कोई-कोई इस (अवक्तव्य) भंग को तीसरे भंग के स्थान में पढ़ते हैं और तीसरे को इसके स्थान में। उस पाठ में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि वस्तु विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

---

[1] "एते त्रयः सकलादेशाः। चत्वारोऽपि विकलादेशाः प्रोच्यंते"। विशे० भा० गा० २२३२।

[2] सन्मतितर्क टी०, पृ० ४४५, पं० ३०।

[3] श्लोकवा०, पृ० १३७, पं० १३-१७

[4] सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम, अ० ५, सू० ३१, पृ० ४०६ पं० २०, तथा पृ० ४१० पं० २६। विशेषा० भा० गा० २२३२। प्रवचनसार पृ० १६१। तत्त्वार्थराजवा० पृ० १८१।

[5] प्रमाणनय तत्त्वालोक, परि० ४, सू० १७-१८। स्याद्वाद मं० पृ० १८६। नयोपदेश पृ० १२। पञ्चास्तिकाय पृ० ३०। आप्तमी०का० १४। तत्त्वा०रा० पृ० २४, वा० ५। तत्त्वा० श्लो० पृ० १२८। सप्तभं० पृ० २। प्रमेय० मा० पृ० २०६। —लेखक

[6] "अयं च भंगः कैश्चित्तृतीयभंगस्थाने पठ्यते, तृतीयश्चैतस्य स्थाने। नचैवमपि कश्चिद्दोषः, अर्थविशेषस्याभावात्"।—रत्नकरावता० परि० ४, सू० १८।

यथार्थ में विधि और प्रतिषेध को क्रम से और एक साथ कथन करने की अपेक्षा से तीसरे और चौथे भंग की सृष्टि हुई है। अतः पहले दोनों का एक साथ कथन करके बाद को क्रम से कथन किया जाये, या पहले क्रम से उल्लेख करके पीछे एक साथ किया जाये तो वस्तु विवेचन में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु अवक्तव्य को चतुर्थ भंग पढ़ने का ही अधिक प्रचार पाया जाता है। सप्तभंगीवाद के खंडन में लेखनी चलाने वाले शंकराचार्य और रामानुज ने भी इसी पाठ को स्थान दिया है।

स्याद्वाद और उसके फलितांश सप्तभंगीवाद के विषय में जैनाचार्यों के मन्तव्यों का दिग्दर्शन कराकर हम इस निबन्ध को समाप्त करते हैं।

काशी]



सर्वज्ञता के अतीत इतिहास की एक झलक

पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्तशास्त्री

तीर्थंकर सर्वज्ञ हो जाने पर ही मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, ऐसा नियम है, किन्तु मध्यकाल से सर्वज्ञत्वके विषय में विवाद चल रहा है। अतः मेरी इच्छा इसे समझने की रही है। यद्यपि दर्शन और न्याय के ग्रन्थों में इसकी विस्तृत चर्चा मिलती है, तथापि इस विषय को समझने का मेरा दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। मेरी इच्छा रही है कि जैन व अन्य धर्मों में सर्वज्ञता के विषय में प्राचीन काल में क्या माना जाता रहा है, इसका प्रामाणिक संकलन किया जाय। यह प्रयास उसीका फल है।

(१) जैन मान्यता और उसका कारण

जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि अनन्त गुणों का पिंड है। इसके संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। जो जन्म-मरण की बाधा से पीड़ित है वह संसारी और जिसके यह बाधा दूर हो गई है वह मुक्त है। मुक्त अवस्था में जीव की सब स्वाभाविक शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं, जो कि संसार-अवस्था में कर्मों के कारण घातित रहती हैं। जीव के और सब गुणों में ज्ञान मुख्य है। इसके पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। यद्यपि प्रत्येक आत्मा में एक ही ज्ञान[1] है जिसे कि 'केवलज्ञान' कहते हैं, किन्तु आवरण करने वाले कर्मों के भेद से उसके पाँच भेद हो गये हैं। बात यह है कि आत्मा के मूल ज्ञान को केवलज्ञानावरण कर्म रोके हुए है। तो भी कुछ ऐसे अतिमन्द ज्ञानांश शेष रह जाते हैं जिन्हें केवलज्ञानावरण कर्म प्रकट होने से नहीं रोक सकता। मतिज्ञानावरण आदि कर्म इन्हीं ज्ञानांशों को आवृत करते हैं और इसलिए ज्ञान के पाँच भेद हो जाते हैं।

अन्य प्रकार से ज्ञान के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिस ज्ञान की प्रवृत्ति में आत्मा स्वयं कारण है, उसे अन्य किसी बाह्य साधन की सहायता नहीं लेनी पड़ती उसे प्रत्यक्ष कहते हैं तथा जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। यद्यपि ज्ञान में स्वतः जानने की शक्ति है, इसलिए मुख्य ज्ञान प्रत्यक्ष ही है; किन्तु संसारी अवस्था में आवरण के कारण यह शक्ति पंगु बनी रहती है। अतः ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद हो जाते हैं।

परोक्षज्ञान के दो भेद हैं: मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। मतिज्ञान का दूसरा नाम आभिनिबोधिकज्ञान भी है। जो अभिमुख और नियमित पदार्थों को जानता है उसे मतिज्ञान या आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रिय और मन से ग्रहण करने योग्य हो वह अभिमुख अर्थ कहलाता है। यह ज्ञान नियम से ऐसे ही अर्थ को ग्रहण करता है। अतः इसे आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं। संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये चारों आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय नाम हैं। आगमों में इस ज्ञान के लिए 'आभिनिबोधिक'[2] नाम मुख्य रूप से आया है। यद्यपि 'मति' इसका पर्यायवाची है, फिर भी इस शब्द का मुख्य रूप से उपयोग पीछे से हुआ जान पड़ता है। सबसे पहले हम 'मतिज्ञान' शब्द का उपयोग आचार्य कुन्दकुन्द के "नियमसार"[3] में देखते हैं। तत्त्वार्थसूत्र[4] में भी इसी शब्द का मुख्य रूप से उपयोग

---

[1] जीवो केवलणाणसहावो चेव। धवला आरा पत्र ८६६

[2] णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ आभिणिबोहियणाणावरणीयं—। धवला आरा पत्र ८६५।

[3] सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही × ×। गाथा १२

[4] मतिश्रुतावधि- × ×। सूत्र ६

हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मतिज्ञान एक है, परन्तु उपर्युक्त लक्षण को देखते हुए उनका यह मत असमीचीन प्रतीत होता है। वास्तव में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान का भेद है। मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के निमित्त से जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे **श्रुतज्ञान** कहते हैं। जैसे, धूम को देख कर जो अग्नि का ज्ञान होता है वह **श्रुतज्ञान** है। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। इन्द्रियाँ वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करती हैं, किन्तु मन त्रैकालिक पदार्थों को ग्रहण करता है।

प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—**अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान**। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए विना किसी की सहायता के केवल मूर्तिक पदार्थों को जानता है, उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं। इसके दो भेद हैं **भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय**। जो जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है, वह **भवप्रत्यय अवधिज्ञान** है और जो व्रत नियम आदि के निमित्त से होता है उसे **गुणप्रत्यय अवधिज्ञान** कहते हैं। पहले जो परोक्ष ज्ञान के दो भेद वतलाये गये हैं, वे सव संसारी जीवों के होते हैं, किन्तु यह ज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रियों में से कुछ के ही सम्भव है। जो दूसरे के मनोगत अर्थ को जानता है उसे **मनःपर्ययज्ञान** कहते हैं। यह ज्ञान संयमी जीवों के ही हो सकता है, अन्य के नहीं। तथा जो ज्ञान त्रिकालवर्ती सव पदार्थों को जानता है, उसे **केवलज्ञान** कहते हैं। यह ज्ञान करण, क्रम और व्यवधान से रहित है। जव यह आत्मा ज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है तव इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर जीव सर्वज्ञ, अरहन्त, सयोगिकेवली, जिन और भगवान् आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। जैन-मतानुसार इस अवस्था के वाद ही जीव मोक्ष मार्ग के उपदेश का अधिकारी होता है। प्रकृति अनुयोगद्वार में लिखा है—

सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुस्सलोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधमोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणं माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।

अर्थात्—"केवलज्ञान और केवलदर्शन के प्राप्त होने पर जिनदेव देवलोक, मनुष्यलोक और असुरलोक की गति और आगति का तथा चयन, उपपाद, वन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदि कर्म, अर्हकर्म, सव लोक, सव जीव और सव भाव इनको भले प्रकार एक साथ स्वयं जानते और देखते हुए विहार करते हैं।"

स्थानांगसूत्र के स्थान २ उद्देश्य १ में भी लिखा है—

'तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं केवलणाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ। खित्तओ णं केवलणाणी सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ। कालओ णं केवलणाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ। भावओ णं केवलणाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ।'

अर्थात्—"केवलज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्षेप से चार प्रकार का है। सो द्रव्य की अपेक्षा केवलज्ञानी सव द्रव्यों को जानता और देखता है। क्षेत्र की अपेक्षा केवलज्ञानी सव क्षेत्रों को जानता और देखता है। काल की अपेक्षा केवलज्ञानी सव कालों को जानता और देखता है तथा भाव की अपेक्षा केवलज्ञानी सव भावों को जानता और देखता है।"

यहाँ तक हमने ज्ञान, ज्ञान के भेद, उनका स्वरूप व स्वामी इन सवके विषय में जैन मान्यता क्या है, इसका संक्षेप में सप्रमाण विचार किया। अव इस वात का विचार करते हैं कि जैन-परम्परा में केवलज्ञानी को सव पदार्थों का जानने और देखने वाला क्यों माना गया है? इसके लिए हमें विविध धर्मों और दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के विषय में क्या लिखा है और उससे जैनधर्म की मान्यता का कहाँ तक मेल वैठता है, इसका विचार कर लेना आवश्यक है।

उपनिषदों में आत्मा के चार स्तर[1] बतलाये हैं—शरीरचैतन्य, स्वप्नचैतन्य, सुषुप्तिचैतन्य और शुद्धचैतन्य। इनमें से प्रारम्भ के तीन चैतन्यों में आत्मा की उपलब्धि न होकर शुद्धचैतन्य में उसकी उपलब्धि बतलाई है; किन्तु वहाँ इस शुद्धचैतन्य का विशेष स्पष्टीकरण नहीं मिलता। उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व की भी पर्यालोचना की गई है। वहाँ इसके दो रूप बतलाये हैं—**सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म**। सगुणब्रह्म का परिचय देते हुए लिखा है कि ब्रह्म[2] सत्य, ज्ञान तथा अनन्तरूप है तथा वह विज्ञान और आनन्दमय है। निर्गुणब्रह्म नेति पदवाच्य बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकों की मान्यता है कि आत्मा नित्य है और उसमें बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष आदि विशेष गुण निवास करते हैं। मुक्तावस्था में उसके ये गुण नष्ट हो जाते हैं। सांख्य आत्मा को सर्वथा नित्य और भोक्ता मानते हैं। बौद्ध आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते। वे उसे नामरूपात्मक मानते हैं। नामरूप से वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और रूप लिये जाते हैं। उनके मत से आत्मा इन पांचों का पुञ्जमात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वभाव है। इसे किसी ने स्वीकार नहीं किया, किन्तु जैन परम्परा ने प्रारम्भ से ही आत्मा को ज्ञायक माना है। उसका मत है कि ज्ञान और दर्शन आत्मा के अनपायी धर्म हैं—उनका कभी भी नाश नहीं होता। जैन-धर्म में जीव के दो प्रकार के गुण माने हैं—**अनुजीवीगुण और प्रतिजीवीगुण**। जिनसे जीव का जीवन क़ायम रहता है और जो उसे छोड़ कर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं, वे **अनुजीवीगुण** हैं। चेतना की चेतनता इन्हीं गुणों से है। जिनसे जीव का जीवन क़ायम नहीं है, किन्तु जो जीव को छोड़ कर अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं वे **प्रतिजीवीगुण** हैं। इन अनुजीवी गुणों में **ज्ञान और दर्शन** मुख्य हैं। यही कारण है कि प्रारम्भ से सभी शास्त्रकारों ने जीव को ज्ञान दर्शनस्वरूप मानने पर अधिक जोर दिया है। **नियमसार**[3] में बतलाया है कि जीव उपयोगमयी है। उपयोग के दो भेद हैं—**ज्ञान और दर्शन**। ज्ञान के भी दो भेद हैं—**स्वभाव ज्ञान और विभावज्ञान**। इन्द्रियातीत और असहाय ऐसे केवलज्ञान को **स्वभावज्ञान** कहते हैं और शेष मति आदि **विभावज्ञान** हैं। **समयप्राभृत**[4] में बतलाया है कि जो साधु मोह का त्याग करके आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानता है वही साधु परमार्थ का जानकार है। कार्मिक ग्रन्थों में कर्म के आठ भेद किये हैं, उनमें ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो स्वतन्त्र कर्म हैं। इससे भी जीव के ज्ञान-दर्शन स्वभाव की सिद्धि होती है।

इस प्रकार जब हम इस रहस्य को जान लेते हैं कि अन्य मत-मतान्तरों में जो आत्मा का स्वरूप स्वीकार किया गया है उससे जैन धर्म की मान्यता अपनी एक विशेष मौलिकता को लिये हुए है तब हमें इस सत्य के समझने में देर नहीं लगती कि जैन परम्परा में केवल ज्ञानी को सब पदार्थों का जानने और देखने वाला क्यों माना गया है ? बन्धनमुक्त आत्मा की दो ही अवस्थाएँ हो सकती हैं। एक तो यह कि वह किसी को भी न जाने और न देखे और दूसरी यह कि वह सब को जाने और देखे। पहली अवस्था आत्मा को ज्ञान स्वभाव न मानने पर प्राप्त होती है। किन्तु तब यह प्रश्न होता है कि संसारी आत्मा के ज्ञान कैसे होता है ? सांख्य इसका यह उत्तर देते हैं कि बुद्धि स्वभावतः अचेतन है और उसके निमित्त से जो अध्यवसाय और सुखादिक उत्पन्न होते हैं वे भी अचेतन हैं, परन्तु बुद्धि के संसर्ग से पुरुष अपने को ज्ञानवान अनुभव करता है और बुद्धि अपने को चेतन अनुभव करती है तथा नैयायिक और वैशेषिक इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि ज्ञान का निवास आत्मा में ही है किन्तु जीव के मुक्त होने पर वह उससे अलग हो जाता है। ये दोनों ही उत्तर अपर्याप्त हैं। इनसे मूल प्रश्न का समाधान नहीं होता, क्योंकि बुद्धि का अन्वय जिस प्रकार चेतन के साथ देखा जाता है, वैसा जड़ के साथ नहीं। दूसरी अवस्था आत्मा को ज्ञान स्वभाव

---

[1] भारतीय दर्शन पत्र ७५

[2] भारतीय दर्शन पत्र ८०

[3] गाथा १० व ११

[4] गाथा ३७

मानने पर प्राप्त होती है। चूंकि जैन परम्परा में आत्मा को ज्ञान स्वभाव माना है, अतः बन्धनमुक्त आत्मा सब पदार्थों का ज्ञाता और दृष्टा ही सिद्ध होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब बन्धनमुक्त आत्मा सबको जानता और देखता है तब अविशुद्ध अवस्था में उसे ऐसा मान लेने में क्या आपत्ति है ? ऋषियों ने इसका यह समाधान किया है कि जीव में अविशुद्धता विजातीय द्रव्य के संयोग से आती है और इसीलिए उसकी जानने की शक्ति भी पंगु हो जाती है। कभी वह इन्द्रियों की सहायता से जानता है—बिना इन्द्रियों की सहायता के नहीं जानता। कभी वह स्थूल को जानता है —सूक्ष्म को नहीं जानता। आदि। किन्तु जब आवरण का अभाव हो जाता है और आत्मा की मूलशक्ति प्रकट हो जाती है तब वह वर्तमान को जानता है, भूत और भविष्यत को नहीं; स्थूल को जानता है सूक्ष्म को नहीं; अव्यवहित को जानता है व्यवहित को नहीं; स्व को जानता है पर को नहीं; यह नियम कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि जैन परम्परा में केवल ज्ञानी को सबका जानने वाला और देखने वाला स्वीकार किया है।

(२) इतर धर्मों व दर्शनों में सर्वज्ञता का स्वीकार

यहाँ तक हमने जैन मान्यता के अनुसार सर्वज्ञता और उसके कारण का विचार किया। अब हमें यह देखना है कि अन्य धर्मों या दर्शनों का सर्वज्ञता के विषय में क्या अभिमत है ?

बौद्धसाहित्य में **'धम्मपद'** एक प्रकाशमान हीरा है, जिसका संसार के सभी विचारकों ने आदर किया है। इसका संकलन बुद्ध भगवान के कुछ ही काल बाद हो गया था। इसमें कुल ४२३ गाथाएँ हैं, जो २६ वर्गों में विभक्त हैं। इसके १४वें वर्ग का नाम **'बुद्धवर्ग'** है। इसकी पहली गाथा में बतलाया है कि "जिसकी[1] जीत हार में परिणत नहीं हो सकती, जिसकी जीत को लोक में कोई नहीं पहुँच सकता, उस अपद अनन्तज्ञानी बुद्ध को तुम किस उपाय से अस्थिर कर सकोगे ?" इससे स्पष्ट है कि बौद्धों ने दर्शन-युग के पहले ही सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। **धर्मकीर्ति** ने सर्वज्ञता की अपेक्षा जो मार्गज्ञता पर अधिक जोर दिया है, इसका कारण भिन्न है, जिसका हम यथावसर विचार करेंगे।

न्यायदर्शन में सर्वज्ञता के स्थान में योगिज्ञान को स्वीकार किया है। वहाँ बतलाया है कि सूक्ष्म (परमाणु आदि) व्यवहित (दीवार आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट (काल तथा देश उभयरूप से दूरस्थ) वस्तुओं का ग्रहण लोक प्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि नहीं हो सकता, परन्तु ऐसी वस्तुओं का ज्ञान अवश्य होता है। अतः इससे योगि-प्रत्यक्ष की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन में एक नित्य ईश्वर और माना है, जो नित्य सर्वज्ञ है। वैशेषिक दर्शन का मत न्यायदर्शन से मिलता हुआ है। हाँ, प्रारंभ में वैशेषिक दर्शन ने नित्य ईश्वर की कल्पना पर जोर नहीं दिया।

योगदर्शन में योगी चार[2] प्रकार के बतलाये हैं—**प्रथमकल्पिक, मधुकल्पिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त-भावनीय**। ये योगी की क्रम से विकसित होने वाली चार अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था में अष्टांग योग की साधना, दूसरी में चित्तशुद्धि और तीसरी में भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होना मुख्य है। इन तीन अवस्थाओं के बाद योगी लोग अस्मिता में प्रतिष्ठित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त करते हैं। और तब जाकर अतिक्रान्त भावनीय दशा को क्रम से प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस दर्शन में भी अनादि ईश्वर की कल्पना की गई है। यहाँ ईश्वर का अर्थ ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा लिया गया है।

मीमांसादर्शन में यद्यपि लौकिक ज्ञान के लिए ही आप्त पुरुष प्रमाण माना गया है, पर धर्म का कथन केवल अपौरुषेय वेद ही करते हैं। मीमांसकों के इस मत का क्या कारण है, इसका विचार तो हम आगे करेंगे, पर इतना

---

[1] 'यस्य जितं' इत्यादि गाथा का यह अनुवाद जो भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किया है।

[2] भारतीयदर्शन, पृष्ठ ३६७

सुनिश्चित है कि मीमांसक भी सर्वज्ञता के सर्वथा विरोधी न थे, क्योंकि मीमांसकों ने आगम के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान स्वीकार किया ही है। शवरऋषि अपने शावर भाष्य में लिखते हैं कि वेद के द्वारा भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान किया जा सकता है।

गीताधर्म तो ईश्वर के अवतारवाद को प्रतिष्ठित करने और संजीवन देने के ही लिए लिखा गया है। अतः उसके प्रत्येक वाक्य में सर्वज्ञता की झलक है, यह बात गीता के स्वाध्याय प्रेमियों से छिपी हुई नहीं है।

इस प्रकार जिन धर्मों या दर्शनों में ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं माना है, उन्होंने जब किसी-न-किसी रूप में सर्वज्ञता को स्वीकार किया है तब जो जैन धर्म प्रारम्भ से ही केवल ज्ञान को आत्मा का स्वभाव मानता आया है; वह यदि सर्वज्ञता को स्वीकार करता है तो इसमें क्या आश्चर्य है। आश्चर्य तो तब होता जब वह आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान कर भी सर्वज्ञता को नहीं स्वीकार करता। वास्तव में सर्वज्ञता यह जैन संस्कृति की आत्मा है। हमें **यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि जिस प्रकार वैदिक संस्कृति का मूल आधार वेद हैं, उसी प्रकार जैन या श्रमण संस्कृति का मूल आधार सर्वज्ञता है।**

(३) सर्वज्ञता का विरोध क्यों?

जब मीमांसक लोग किसी भी पुरुष के वेदों के द्वारा सब पदार्थों का ज्ञान होना मानते हैं तब यह प्रश्न होता है कि उन्होंने पुरुष की सर्वज्ञता का विरोध क्यों किया? आगे हम इसी विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

जैमिनि ने वेद से सूचित होने वाले अर्थ को धर्म[1] बतलाया है। इसलिए हमें पहले वेदों में किस विषय का विवेचन है, यह जान लेना जरूरी है। सामान्यतः वेदों के विषय[2] को **विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध** और **अर्थवाद** इन पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है। 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' इस प्रकार के वचनों को विधि कहते हैं। अनुष्ठान के प्रयोजक वचनों को **मंत्र** कहते हैं। अश्वमेध, गोमेध, आदि नाम नामधेय कहलाते हैं। अनुचित कामों से विरत होने को **निषेध** कहते हैं। तथा स्तुतिपरक कथन को **अर्थवाद** कहते हैं। फिर भी वेद में विधिवाक्यों की मुख्यता है। इस विषय-विभाग को देखने से हमें उस वैदिक धर्म की स्मृति हो आती है, जिससे उत्पीड़ित प्राणियों के कष्ट निवारणार्थ जैनधर्म को बहुत-कुछ प्रयत्न करना पड़ा। किन्तु इससे वैदिकों को सन्तोष न हुआ। उनकी सर्वदा यह इच्छा रही कि जैन धर्म (श्रमणधर्म) नाम शेष हो जाय और उसके स्थान में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा हो। जनता ज्ञान की उपासक न होकर यज्ञादि अनुष्ठानों में ही अभिरुचि रक्खे। प्रारंभ से ही श्रमणों ने अहिंसा को धर्म माना है, जब कि वैदिक लोग हिंसा और अहिंसा का विभाग न करके वेदविहित कर्मों को धर्म मानते आये हैं। वास्तव में यही समस्त झगड़े की जड़ है। मीमांसकों ने जो यह घोषणा की कि 'धर्म में वेद ही प्रमाण है, धर्म जैसे अतीन्द्रिय अर्थ को पुरुष नहीं जान सकता।' इसका मुख्य कारण धर्म में हिंसा का ही प्रवेश है। अब यदि मीमांसक लोग पुरुष की स्वतः सर्वज्ञता को स्वीकार कर लेते तो उनका यह सारा प्रयत्न धूलि में मिल जाता। यही कारण है कि मीमांसकों ने पुरुष की स्वतः सर्वज्ञता का विरोध किया।

इस विरोध का एक पक्ष और भी है। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि श्रमण धर्म का मूल आधार सर्वज्ञता है, किन्तु मीमांसक लोग श्रमणधर्म का उच्चाटन करना चाहते थे। सर्वज्ञता के जीवित रहते वह संभव न था। इसलिए भी मीमांसकों ने सर्वज्ञता का विरोध किया। यह कोरी कल्पना नहीं है। मीमांसकों को छोड़कर और किसी ने सर्वज्ञता का विरोध नहीं किया, इसी से यह सिद्ध है।

---

[1] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

[2] भारतीयदर्शन, पृष्ठ ३०३।

(४) सर्वज्ञता का गौरवमय अतीत

अभी तक हमने यह वतलाया है कि जैन परम्परा में सर्वज्ञता को किस रूप में स्वीकार किया गया है और इतर धर्मों या दर्शनों में उसे कहाँ तक स्थान प्राप्त है। साथ ही, यह भी वतलाया कि मीमांसक लोग सर्वज्ञता का क्यों निषेध करते हैं। अब भी यह बात विचारणीय है कि दर्शनयुग के पहले भी क्या सर्वज्ञता का यही स्वरूप माना जाता था अथवा धर्मज्ञता या आत्मज्ञता की क्रमिक परिभाषाओं ने सर्वज्ञता के वर्तमान रूप की सृष्टि की ?

शवर ऋषि अपने शावरभाष्य में **'अथातो धर्म जिज्ञासा'** सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "धर्म[1] के विषय में विद्वानों में बड़ा विवाद है। किसी ने किसी को धर्म कहा है, किसी ने किसी को। सो विना विचारे धर्म में प्रवृत्ति करने वाले मनुष्य को लाभ के स्थान में हानि की ही अधिक संभावना है। अतः धर्म का ज्ञान कराना आवश्यक है।" यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि मीमांसकों के मत से जव पुरुष धर्म जैसे सूक्ष्म तत्त्व को जान ही नहीं सकता तव वह धर्म का क्या ज्ञान कराएगा ? थोड़ी देर को हम इस प्रश्न के उत्तर का भार कुमारिल पर ही छोड़ दें तो भी शवर ऋषि के इस कथन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि शवर ऋषि यह जानते थे कि जैमिनि के समय में धर्म के विषय में वड़ा वाद-विवाद हुआ था। जैमिनि को वैदिक धर्म की ही प्रतिष्ठा करनी थी। अतः उन्होंने **'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'** कहकर वेद से सूचित होने वाले अर्थ को धर्म वतलाया।

यह तो सव कोई जानता है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म का मूल आधार वेद माने गये हैं उस प्रकार अन्य धर्मों का मूल आधार उस धर्म के प्रवर्त्तक पुरुष माने गये हैं। वेदों को एक या एक से अधिक पुरुषों ने रचा होगा। अतः वैदिक धर्म का प्रवर्त्तक पुरुष ही सिद्ध होता है, पर यहाँ इसका विचार मुख्य नहीं है। इससे निश्चित होता है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म वेदों की प्रमाणता पर अवलम्बित है, उसी प्रकार अन्य धर्म उस धर्म के प्रवर्त्तक पुरुषों की प्रमाणता पर अवलम्बित हैं। पर प्रमाणता की कसौटी क्या ? कोई भी पुरुष चौपथ पर खड़ा होकर कह सकता है कि मैं या यह पोथी प्रमाण है। इनके द्वारा वतलाये गये मार्ग पर चलो, इससे सवका कल्याण होगा। तो क्या जनता इतने कहने मात्र से उनका अनुसरण करने लगेगी ? यदि नहीं तो हमें फिर देखना चाहिए कि वह प्रमाणता कैसे प्राप्त होती है ?

शवर ऋषि आगे **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** सूत्र का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं कि "जो अर्थ[2] वेद से सूचित होता है, उस पर चलने से पुरुष का कल्याण होता है।" प्रश्न हुआ यह कैसे जाना ? इस पर शवर ऋषि कहते हैं कि भाई ! देखो चूंकि "वेद[3] भूत, वर्तमान भविष्य, सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती सभी पदार्थों का ज्ञान कराने में समर्थ है, पर इन्द्रियों से यह काम नहीं हो सकता।" अतः ज्ञात होता है कि वेद से सूचित होने वाला अर्थ ही पुरुष का कल्याणकारी है।

थोड़ा शवर ऋषि के इस कथन पर ध्यान दीजिये। कितने अच्छे ढंग से वे उसी वात को कह रहे हैं, जिसे सर्वज्ञवादी कहते हैं। सर्वज्ञवादी भी तो यही कहते हैं कि "अमुक धर्म प्राणीमात्र का हितकारी है, क्योंकि उसका वक्ता सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञाता, अर्थात् सर्वज्ञ है।"

इतने विवेचन से कम-से-कम हमें इतना पता तो लग जाता है कि शवर ऋषि के समय में धर्म में कल्याण-कारित्व सिद्धि के लिए सर्वार्थप्रतिपादनक्षमता या सर्वज्ञता का माना जाना आवश्यक था।

---

[1] 'धर्म प्रति हि विप्रतिपन्ना वहुविदः। केचिदन्यं धर्ममाहुः केचिदन्यम्। सोऽयमविचार्य प्रवर्त्तमानः कञ्चि-देवोपाददानो विहन्येत अनर्थं च ऋच्छेत् तस्माद्धर्मो जिज्ञासितव्य इति।' शावरभाष्य १ अ० १ सू० पृ० ३

[2] सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे।

[3] चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।

साधारणतः शबर ऋषि का वास्तव्य काल ईसवी सन् २०० के लगभग माना जाता है। इसलिए इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहा जा सकता है कि वेदों में इस प्रकार की योग्यता ईसवी सन् २०० के लगभग मानी जाने लगी थी। पुरुष की सर्वज्ञता के निषेध के बीज भी तभी से बोए गए, यह भी इससे फलित होता है। मालूम होता है कि शबर ऋषि ने यह युक्ति सर्वज्ञवादियों से ली होगी, किन्तु यह बात निश्चयपूर्वक तो तब कही जा सकती है जब यह बतलाया जा सके कि पुरुष की सर्वज्ञता की मान्यता इससे बहुत पुरानी है। अतः पहले इसी का विचार किया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में **षट्खण्डागम और कषायप्राभृत** मूलश्रुत के अंगभूत माने जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार तो अंगसाहित्य अब भी विद्यमान है। इस साहित्य के देखने से मालूम होता है कि जैन परम्परा में **'सव्वे जाणइ'** संबंधी मान्यता बहुत पुरानी है।

यतिवृषभ आचार्य जो स्पष्टतः ईसवी सन् पूर्व के हैं, कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्रों में लिखते हैं—

'तदो अणंतकेवलणाणदंसणवीरियजुत्तो जिणो केवली सव्वण्हो सव्वदरिसी भवदि सजोगिजिणो त्ति भण्णइ। असंखेज्जगुणाए सेढीए पदेसग्गं णिज्जरेमाणो विहरदि त्ति।'

अर्थात्—"घाति चतुष्टय के क्षय होने पर अनन्त केवल ज्ञान, केवल दर्शन और वीर्य से युक्त हो कर केवली जिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं जिन्हें सयोगी जिन कहते हैं। ये सयोगी जिन असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से कर्म-प्रदेशों की निर्जरा करते हुए विहार करते हैं।"

पहले प्रकृति अनुयोगद्वार और स्थानांग सूत्र के जो उद्धरण दे आये हैं, उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है।

बौद्ध साहित्य में 'धम्मपद' सुत्तपिटक के अन्तर्गत ही है। इसके **अरहन्तवर्ग** में बतलाया है—

'गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सव्वधि। सव्वगन्थप्पहीणस्स परिलाहो न विज्जति॥'

अर्थात्—"जिसका मार्ग समाप्त हो गया है, जो शोक रहित है, जो सर्वथा विमुक्त है, जो सर्वज्ञ है और जिसकी सभी ग्रन्थियाँ क्षीण हो गई, उसके लिये परिताप नहीं।"

इन प्रमाणों के आधार से सर्वज्ञ की **'सव्वे जाणइ'** वाली मान्यता बहुत प्राचीन है, ऐसा मान लेने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता।

उपनिषदों के जो दो एक उल्लेख हमें प्राप्त हुए हैं, उनके देखने से मालूम होता है कि पहले ब्राह्मण लोग आत्मा की उत्क्रान्ति, परलोक और पुनर्जन्म आदि विद्याओं से परिचित न थे। उन्हें यह विद्या क्षत्रियों से प्राप्त हुई है। **छान्दोग्य उपनिषद्** में एक कथा आई है जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। कथा इस प्रकार है—

'किसी समय[1] अरुण के पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की परिषद् में पहुँचे। वहाँ क्षत्रिय राजा प्रवाहण जैविलि ने उनसे जीव की उत्क्रान्ति, परलोकगति और जन्मान्तर के संबंध में एक-के-बाद-एक पांच प्रश्न किये, किन्तु श्वेतकेतु उन प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे सके। इससे बहुत ही लज्जित हो कर श्वेतकेतु ने अपने पिता अरुण के पास जाकर उनके इन पांचों प्रश्नों का उत्तर मांगा। पिता ने कहा इन्हें तो हम भी नहीं जानते। तब बाप और बेटा दोनों ही राजा जैविलि के पास गये। जाकर श्वेतकेतु के पिता ने राजा से कहा कि आपने मेरे लड़के से जो प्रश्न किये थे उनका उत्तर दीजिये। गौतम की प्रार्थना सुनकर राजा चिन्तित हुए। उन्होंने ऋषि से कुछ समय ठहरने के लिए कहा। फिर कहा—हे गौतम! आप हमसे जो विद्या सीखना चाहते हैं वह विद्या आपसे पहले किसी ब्राह्मण को नहीं प्राप्त हुई है।"

बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में भी इसी प्रकार का एक उल्लेख आया है। यथा—

'इयं विद्या[2] इतः पूर्वं न कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे उवास। तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि।'

---

[1] कर्मवाद और जन्मान्तर, पृ० १८६

[2] कर्मवाद और जन्मान्तर, पृष्ठ १८८

अर्थात्—"यह विद्या इसके पहले किसी ब्राह्मण को नहीं मिली उसी का उपदेश मैं तुमको करता हूँ।"

उपनिषदों के इन उल्लेखों में रहस्य मालूम होता है। इनसे मुझे इन्द्र और गौतम गणधर के संवाद का स्मरण हो आता है। मालूम होता है कि सारी अध्यात्म विद्या वैदिकों को श्रमणों से प्राप्त हुई है। मीमांसा के दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा में यज्ञादि कर्मों की विधि और मन्त्र आदि का वर्णन है। इसलिए इसे **कर्मकाण्ड** कहते हैं। उत्तर मीमांसा में अध्यात्म विद्या का वर्णन है। इसलिए इसे **ज्ञानकाण्ड** कहते हैं। कर्मकाण्ड का सीधा संबंध वेदों से है और ज्ञानकाण्ड का उपनिषदों से। उपनिषदों का संकलन वेदों के बहुत काल बाद हुआ है। वैदिकों ने कर्मकाण्ड से अपना काम चलता न देखकर ही इस अध्यात्म विद्या को अपनाया। फिर भी शुद्ध मीमांसा में इसे महत्व का स्थान प्राप्त नहीं। ब्राह्मणधर्म में यज्ञादि क्रियाकाण्डकी जो श्रेष्ठता है वह मोक्ष की नहीं। श्रमणधर्म और ब्राह्मणधर्म का अंतर इसी से समझ में आ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मणों ने श्रमणों की अध्यात्म विद्या को अपनाया तो सही, किन्तु वे उसके सारे तत्वों को यथावत् रूप से न अपना सके। उनके सामने वेदों की प्रतिष्ठा का सवाल खड़ा ही रहा। इसलिए उन्होंने श्रमणों को महत्व देना उचित न समझा। बस यही एक प्रेरणा है, जिससे उन्होंने पुरुष की सर्वज्ञता का निषेध किया। किन्तु जब हम उपनिषदों में '**यः आत्मवित् स सर्ववित्**' इस प्रकार के वाक्य देखते हैं तो मालूम होता है कि सर्वज्ञ की 'सव्वं जाणइ' वाली मान्यता बहुत पुरानी है। इतना ही नहीं, बल्कि वह श्रमणधर्म की आत्मा है।

इतने विवेचन से यद्यपि हम इस निर्णय पर तो पहुँच जाते हैं कि दर्शन युग के पहले सर्वज्ञता का वही स्वरूप माना जाता था, जिसका दार्शनिकों ने विस्तार से ऊहापोह किया है तथा इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धर्मज्ञता या आत्मज्ञता की क्रमिक परिभाषाओं ने सर्वज्ञता के वर्तमान रूप की सृष्टि नहीं की। अब देखना यह है कि बौद्ध-गुरु धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर ही अधिक जोर क्यों दिया? जब वह सर्वज्ञता का विरोधी नहीं था और यह जानता था कि सर्वज्ञता के भीतर धर्मज्ञता का अन्तर्भाव हो ही जाता है तब उसे यह कहने का क्या कारण था कि "कोई संसार[1] के सब पदार्थों का साक्षात्कार करता है कि नहीं, इससे हमें प्रयोजन नहीं? प्रकृत में हमें यह देखना है कि उसने धर्म को जाना या नहीं। यदि उसने धर्म को जाना है तो हमारा काम चल जाता है।" बात यह है कि पहले कुमारिल ने यह स्वीकार कर लिया है कि "यदि[2] कोई धर्मातिरिक्त अन्य सब पदार्थों को जानता है तो इसका कौन निराकरण करता है। हमारा तो कहना केवल इतना ही है कि पुरुष धर्म का ज्ञाता नहीं हो सकता।" धर्मकीर्ति ने कुमारिल के इसी कथन का उत्तर दिया है। कुमारिल के सामने जहाँ वेद की प्रतिष्ठा का प्रश्न रहा है वहाँ धर्मकीर्ति के सामने पुरुष की प्रतिष्ठा का प्रश्न रहा है। एक बार एक आदमी ने अपने एक साथी से कहा, "आपमें और तो सब गुण हैं, किन्तु आप झूठ बहुत बोलते हो।" तो इसका उसने उत्तर दिया, "मुझमें और गुण हों या न हों, किन्तु इतना सच है कि मैं झूठ कभी नहीं बोलता।" बस इसी प्रकार का यह कुमारिल और धर्मकीर्ति का संवाद है। कुमारिल चाहता है कि किसी-न-किसी प्रकार सर्वज्ञवादियों के तीर्थंकर को अप्रमाण ठहराया जाय। इसके लिए वह प्रलोभन भी देता है। कहता है कि आपका पुरुष और सबको जानता है, इससे हमें क्या आपत्ति है। यहाँ कुमारिल पदार्थों के सूक्ष्म और स्थूल भेदों को भी भुला देता है। लेकिन धर्मकीर्ति कुमारिल के कहने की इस चतुराई को समझ लेता है इसलिए वह ऐसा उत्तर देता है, जिसका कोई प्रत्युत्तर ही नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति के इस उत्तर के बाद उत्तर-प्रत्युत्तरों

---

[1] सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ प्रमाणवार्तिक २, ३३

[2] धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥
यह कारिका तत्त्वसंग्रह पृष्ठ ८१७ में कुमारिल के नाम से उद्धृत है।

की दिशा ही बदल जाती है। यह है धर्मकीर्ति का मानस, जिससे उसने सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर अधिक जोर दिया।

(५) आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में

इतने विवेचन के बाद भी भगवान कुन्दकुन्द ने केवल ज्ञान के विषय में क्या लिखा है, यह जानना आवश्यक है; क्योंकि उन्होंने प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए जो मार्ग सुनिश्चित किया है उससे सत्य तक पहुँचने में बड़ी सहायता मिलती है। भगवान् कुन्दकुन्द की व्याख्यानशैली व्यवहारनय और निश्चयनय पर आश्रित है। अतः पहले उन्हीं के वचनों में इन दोनों नयों को समझ लेना जरूरी है। 'समयप्राभृत' में वे लिखते हैं—

ववहारोऽभूदत्यो भूदत्यो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्यमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥

अर्थात्—"समय में व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ बतलाया है। इनमें से भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।"

इससे व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप पर तो प्रकाश पड़ जाता है। तब भी भूतार्थ और अभूतार्थ का समझना शेष रहता है। उन्होंने अभूतार्थ और भूतार्थ की मर्यादा का स्वयं निर्देश नहीं किया है, फिर भी उनकी व्याख्यान शैली से इसका पता लग जाता है। अतः यहाँ इसका निर्देश कर देना ही आवश्यक प्रतीत होता है। उनकी व्याख्यानशैली में निम्न बातों को अपनाया गया जान पड़ता है—

(१) जीव[१] और देह एक है यह व्यवहारनय है। जीव और देह एक नहीं, किन्तु पृथक्-पृथक् हैं, यह **निश्चयनय** है।

(२) वर्णादिक[२] जीव के हैं यह **व्यवहारनय** है। तथा ये जीव के नहीं हैं यह **निश्चयनय** है।

(३) रागादिक[३] जीव के हैं यह **व्यवहारनय** हैं। और ये जीव के नहीं हैं यह **निश्चयनय** है।

(४) क्षायिक[४] आदि भाव जीव के हैं यह **व्यवहारनय** है। किन्तु शुद्ध जीव के न क्षायिक भाव होते और न अन्य कोई यह **निश्चयनय** है।

(५) केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं,[५] यह **व्यहारनय** है, किन्तु अपने आपको जानते और देखते हैं, यह **निश्चयनय** है।

(६) शरीर[६] जीव का है ऐसा मानना **व्यवहार** है और शरीर जीव से भिन्न है ऐसा मानना **निश्चय** है।

इस प्रकार ऊपर जो हमने छः बातें उपस्थित की हैं उनसे व्यवहार और निश्चय की कथनी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। यहाँ इनसे भिन्न और भी उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, पर इससे लेख का कलेवर बढ़ जायगा और यह स्वतन्त्र विषय है।

इन सब उदाहरणों से एक ही बात फलित होती है कि जहाँ 'स्व' से भिन्न 'पर' का किसी भी प्रकार का संबंध आ गया उसे आत्मा का मानना व्यवहार है। यद्यपि क्षायिक ज्ञान और केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं है परन्तु केवलज्ञान को आत्मा का कहना निश्चयनय है और क्षायिकज्ञान को आत्मा का कहना व्यवहारनय है। यहाँ मैं भेदाभेद को ध्यान में रखकर विचार नहीं कर रहा हूँ। इससे वस्तु के विवेचन करने में और भी सूक्ष्मता आ जाती है, जो प्रकृत में गौण है। यहाँ तो केवल देखना यह है कि भगवान् कुन्दकुन्द ने कितने अर्थों में व्यवहार और निश्चय का प्रयोग किया है।

---

[१] देखो समयप्राभृत गाथा ३२
[२] देखो समयप्राभृत गाथा ५१
[३] देखो नियमसार गाथा १५८
[४] देखो समयप्राभृत गाथा ६१
[५] देखो नियमसार गाथा ४१
[६] देखो समयप्राभृत गाथा ५५

पहले उदाहरण में एकत्व में दो का संयोग व्यवहार का प्रयोजक है। दूसरे उदाहरण में संबंध के कारण जीव में भिन्न द्रव्य के गुणों का आरोप व्यवहार का प्रयोजक है। तीसरे उदाहरण में निमित्त की प्रधानता व्यवहार का प्रयोजक है। चौथे उदाहरण में निमित्त की अपेक्षा नामकरण व्यवहार का प्रयोजक है। पाँचवें उदाहरण में ज्ञायक से ज्ञेयों की भिन्नता व्यवहार का प्रयोजक है और छठे उदाहरण में संबंध व्यवहार का प्रयोजक है।

इनमें से पहला, दूसरा और छठा ये असद्भूत व्यवहार के उदाहरण हैं, क्योंकि वास्तव में जीव वैसा तो नहीं है। संयोग से जीव में उन धर्मों का आरोप किया गया है। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ ये सद्भूत व्यवहार के उदाहरण हैं, क्योंकि यद्यपि ये सब अवस्थाएँ जीव की ही हैं। फिर भी इनके होने में पर की अपेक्षा रहती है। इसलिए ये व्यवहार कोटि में चली जाती हैं।

निश्चयनय की अपेक्षा उनकी व्याख्यानशैली मुख्यतः दो भागों में बँट जाती है। एक में ज्ञानादि गुणों द्वारा आत्मा का कथन किया गया है और दूसरी में अन्य द्रव्यों के गुणों या संयोगी भावों के निषेध द्वारा आत्मा का कथन किया गया है। इनसे हमारी आँखों के सामने सगुण और निर्गुण ब्रह्म की कल्पना साकार रूप धारण करके आ उपस्थित होती है। व्यवहार और निश्चयनय के इस विवेचन से अभूतार्थत्व और भूतार्थत्व के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। यहाँ 'भूत' शब्द उपलक्षण है। अतः यह अर्थ हुआ कि वस्तु जिस रूप न थी, न है, और न रहेगी, तद्रूप उसको मानना **अभूतार्थनय** है तथा जो वस्तु जिस रूप थी, है और रहेगी तद्रूप उसको मानना **भूतार्थनय** है। प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना है। अतः जिन धर्मों का उपादान जीव है, किन्तु जो अन्य निमित्तों की अपेक्षा से होते हैं, उन्हें भी भूतार्थनय जीव का स्वीकार नहीं करता। किन्तु इससे वे 'वर्णादिक जीव के हैं' इस कथनी की कोटि में तो पहुँच नहीं जाते। कार्य उपादान रूप ही होता है। इसलिए उसे उपादान का ही मानना होगा। किन्तु भूतार्थनय निमित्त को तो देखता नहीं। उसकी दृष्टि में तो कारण परमात्मा और कार्य परमात्मा एक ही वस्तु है। अतः वह इन्हें जीव का स्वीकार नहीं करता। यह इसका मथितार्थ है।

तभी तो भगवान् कुन्दकुन्द नियमसार की गाथा ४७ और ४८ में लिखते हैं, "जिस[1] प्रकार सिद्धात्मा जन्म, जरा और मरण से रहित हैं, आठ गुण सहित हैं, अशरीर हैं, अविनाशी हैं आदि उसी प्रकार संसार में स्थित जीव भी जानने चाहिए।"

इस प्रकार भूतार्थ और अभूतार्थ का निर्णय कर लेने के बाद अब हम प्रकृत विषय केवलज्ञान पर आते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द 'प्रवचनसार' की गाथा ४७ में लिखते हैं, "जो[2] त्रैकालिक विचित्र और विषम सब पदार्थों को एक साथ जानता है, वह **क्षायिक ज्ञान** है।" तदनन्तर इस तत्व का ऊहापोह करते हुए वे गाथा ४८ और ४९ में लिखते हैं कि "जो त्रैका[3]लिक सब पदार्थों को नहीं जानता है वह पूरी तरह एक पदार्थ को भी नहीं जानता है और जो पूरी तरह से एक पदार्थ को नहीं जानता है वह सब पदार्थों को कैसे जान सकता है?" उनका यह विवेचन 'आचारांग' के "जो एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है।"[4] इस कथन से मिलता हुआ है। इसमें तो संदेह नहीं कि इन दोनों सूत्रग्रंथों के ये समर्थन वाक्य हैं, जिनके द्वारा सर्वज्ञत्व का ही समर्थन किया गया प्रतीत होता है। किन्तु जब हम नियमसार की गाथा १५८ पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें वहाँ किसी दूसरी वस्तु के ही दर्शन होते हैं। वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वज्ञत्व के समर्थन वाली दृष्टि बदल कर आत्मतत्त्व के

---

[1] जारसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ···। नियमसार गाथा ४७-४८।

[2] 'जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं। अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।'

[3] जो ण विजाणदि जुगवं अत्ये तिक्कालिगे तिहुवणत्ये। णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥
'दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि। ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥'

[4] जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। आचारांग सूत्र १२३।

विश्लेपण में लीन हो जाती है। तभी तो वे वहाँ लिखते हैं, "यद्यपि' व्यवहारनय की अपेक्षा केवली सब को जानते और देखते हैं, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा वे अपने को ही जानते और देखते हैं।" आत्मस्वरूप का कितना सुन्दर विश्लेपण है। ज्ञायक भाव आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह आत्मनिष्ठ है। अतः फलित हुआ कि निश्चयनय में आत्मा 'स्व' को ही जानता और देखता है तथा व्यवहार द्विविधामय है। उसका अनेक के विना काम नहीं चलता। अतः फलित हुआ कि व्यवहारनय से आत्मा सबको जानता और देखता है। बात यह है कि कार्यकारण व्यवहार, जिसकी लीक पर सारा संसार चक्र प्रतिक्षण घूम रहा है, केवल स्वरूप के विश्लेपण करने तक सीमित नहीं है, क्योंकि वह द्विविधामय है। हम देखते हैं कि जब दो या दो से अधिक परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है और फिर उनसे मिट्टी आदि विविध तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उन्हें ज्ञान भेदरूप से ग्रहण करता है। तब इन सब को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? सत्य और मिथ्या ये शब्द सापेक्ष हैं। ऋषियों का प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना रहा है। अतः उन्होंने व्यवहार को मिथ्या आदि जो कुछ जी में आया सो कहा। वेदान्तियों ने तो इस द्विविधामय जगत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहा, पर क्या इससे व्यवहार नाम शेप हुआ? यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षा से ही। यदि व्यवहार की अपेक्षा से ही उसे वैसा मान लिया जाय तो बन्ध मोक्ष की चर्चा करना ही छोड़ देना चाहिए। कविवर पं० बनारसीदास जी ने ऐसा किया था, पर अन्त में उन्हें एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की शरण में आना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय। जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते हैं, किन्तु हमारा वह सब जानना झूठा नहीं है फिर भी वह ज्ञान ज्ञान स्वरूप ही रहता है। उसी प्रकार केवली भगवान् सब पदार्थों को जानते और देखते हैं, किन्तु उनका वह जानना असत्य नहीं है। फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है। उपर्युक्त व्यवहार और निश्चय की कथनी का यही मथितार्थ है।

उपनिषद् में जो 'यः आत्मवित् सः सर्ववित्', 'यः सर्ववित् सः आत्मवित्' इत्यादि वचन मिलते हैं उनका मेल अधिकतर प्रवचनसार के कथन से ही बैठता है। 'नियमसार' के कथन से नहीं; क्योंकि 'नियमसार में पृथक् पृथक् दो दृष्टियाँ काम कर रही हैं जब कि प्रवचनसार में दृष्टिभेद से कथन करने की मुख्यता न होकर सर्वज्ञत्व के समर्थन की मुख्यता है। उपनिषद् में भी हमें यही बात दिखाई देती है। हाँ, उपनिषद्में 'एक' शब्द के स्थान में 'आत्म' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है पर इससे विवेचन करने की दृष्टि नहीं बदली है, जब कि 'नियमसार' में विवेचन करने की दृष्टि ही बदल गई है। इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रवचनसार, 'आचारांग सूत्र' और 'उपनिषद्'इनकी कथनी का प्रयोजन एक है और 'नियमसार' की कथनी का प्रयोजन इससे भिन्न है। 'प्रवचनसार' में जहाँ सिद्धांत के उद्घाटन करने की ओर झुकाव है, वहाँ 'नियमसार' में मुख्यतः मूलभूत तत्त्व की मीमांसा करते हुए फलितार्थरूप से उनका कार्यभाग स्वीकार किया गया है। यहाँ यह कार्यभाग ही अभूतार्थ है क्योंकि वह जीव की अशेप नयों के निमित्त से होने वाली दशा है और मीमांसित तत्त्व ही भूतार्थ है, क्योंकि जीव में ज्ञायकभाव अन्य निमित्तों से उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह उसका स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द कारण रूप से आत्मनिष्ठ ज्ञायकभाव और कार्यरूप से सर्वज्ञता को स्वीकार करते हैं जिसका उन्होंने अपने 'प्रवचनसार' आदि ग्रंथों में बहुत ही सुन्दरता से विवेचन किया है।

काशी]

'जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं। केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५८॥'

जैन-मान्यता में धर्म का आदि समय और उसकी मर्यादा

पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य

प्रायः धर्म की सभी मान्यताओं में अमर्यादित काल को मर्यादित अनन्त कल्पों के रूप में विभक्त किया गया है, लेकिन किन्हीं-किन्हीं मान्यताओं में जहाँ इस दृश्यमान् जगत् की अस्तित्व स्वरूप सृष्टि और अभाव स्वरूप प्रलय को आधार मान कर एक कल्प की सीमा निर्धारित की गई है, वहाँ जैन मान्यता में प्राणियों के दुःख के साधनों की क्रमिक हानि होते-होते सुख के साधनों की क्रमिक वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण और प्राणियों के सुख के साधनों की क्रमिक हानि होते-होते दुःख के साधनों की क्रमिक वृद्धिस्वरूप अवसर्पण को आधार मान कर एक कल्प की सीमा निर्धारित की गई है।

तात्पर्य यह कि धर्म की किन्हीं-किन्हीं जैनेतर मान्यताओं के अनुसार उनके माने हुए कारणों द्वारा पहिले तो यह जगत् उत्पन्न होता है और पश्चात् यह विनष्ट हो जाता है। उत्पत्ति के अनन्तर जब तक जगत् का सद्भाव बना रहता है उतने काल का नाम सृष्टिकाल और विनष्ट हो जाने पर जब तक उसका अभाव बना रहता है उतने काल का नाम प्रलयकाल माना गया है। इस तरह से एक सृष्टिकाल और उसके अनन्तर होने वाले एक प्रलयकाल को मिलाकर इन मान्यताओं के अनुसार एक कल्पकाल हो जाता है। जैन मान्यता में इन मान्यताओं की तरह जगत् का उत्पाद और विनाश नहीं स्वीकार किया गया है। जैन मान्यता में जगत् तो अनादि और अनिधन है, परन्तु रात्रि के बारह बजे से अन्धकार का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दिन के बारह बजे तक प्रकाश की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धि के समान जैन मान्यता में जितना[1] काल जगत् के प्राणियों के दुःख के साधनों का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते सुख के साधनों की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण का बतलाया गया है उतने काल का नाम उत्सर्पिणी काल और दिन के बारह बजे से प्रकाश का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते रात्रि के बारह बजे तक अन्धकार की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धि के समान वहाँ पर (जैन मान्यता में) जितना काल[2] जगत् के प्राणियों के सुख के साधनों का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दुःख के साधनों की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धिस्वरूप अवसर्पण का बतलाया गया है उतने काल का नाम अवसर्पिणी काल स्वीकार किया गया है। एक उत्सर्पिणी काल और उसके अनन्तर होने वाले एक अवसर्पिणी काल को मिला कर जैन मान्यता का एक कल्पकाल हो जाता है।[3] चूंकि उक्त दूसरी मान्यताओं में सृष्टिकाल और प्रलयकाल की परंपरा को पूर्वोक्त सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि के रूप में तथा जैन मान्यता में उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल की परंपरा को पूर्वोक्त उत्सर्पण के बाद अवसर्पण और अवसर्पण के बाद उत्सर्पण के रूप में अनादि और अनन्त

---

[1] यह काल जैन ग्रन्थों के आधार पर दश कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण है। कोटी (करोड़) को कोटी (करोड़) से गुणा कर देने पर कोटी कोटी का प्रमाण निकलता है और सागरोपम जैनमान्यता के असंख्यात वर्ष प्रमाण काल विशेष की संज्ञा है।

[2] यह काल भी जैन ग्रन्थों में दश कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ही बतलाया गया है।

[3] काल का वर्णन करते हुए आदि पुराण में लिखा है—

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ।
उत्सर्पादवसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणाम् ॥१४॥
कोटीकोटयो दशैकस्य प्रमासागरसंख्यया।
शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥१५॥ (आदि पुराण पर्व-३)

स्वीकार किया गया है, इसलिए उभय मान्यताओं में (जैन और उक्त जैनेतर मान्यताओं में) कल्पों की अनन्तता समान रूप से मान ली गई है।

जैन मान्यता में प्रत्येक कल्प के उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल को उत्सर्पण और अवसर्पण के खंड करके निम्नलिखित छह-छह विभागों में विभक्त कर दिया गया है—(१) दुःषम[1]-दुःषमा (अत्यन्त दुःखमय काल) (२) दुःषमा[2] (साधारण दुःखमय काल) ३—दुःषम-सुषमा[3] (दुःख प्रधान सुखमय काल) ४—सुषम-दुःषमा[4] (सुख-प्रधान दुःखमय काल) ५—सुषमा[5] (साधारण सुखमय काल) और ६—सुषम-सुषमा[6] (अत्यन्त सुखमय काल)। ये छह[7] विभाग उत्सर्पिणी कालके तथा इनके ठीक विपरीत क्रम को लेकर अर्थात् १—सुषमा-सुषमा[8] (अत्यन्त सुखमय काल) २—सुषमा[9] (साधारण सुखमय काल) ३—सुषम-दुःषमा[10] (सुखप्रधान दुःखमय काल) ४—दुःषमा-सुषमा[11] (दुःख प्रधान सुखमय काल) ५—दुःषमा[12] (साधारण दुःखमय काल) और ६—दुःषम-दुःषमा[13] (अत्यन्त दुःखमय काल) ये छह[14] विभाग अवसर्पिणी काल के स्वीकार किये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य की गति के दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण की ओर होने वाले परिवर्तन के आधार पर स्वीकृत वर्ष के उत्तरायण और दक्षिणायन विभाग गतिक्रम के अनुसार तीन-तीन ऋतुओं में विभक्त होकर सतत चालू रहते हैं उसी प्रकार एक दूसरे से बिलकुल उलटे पूर्वोक्त उत्सर्पण और अवसर्पण के आधार

---

[1] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

[2] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

[3] व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[4] दो कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[5] तीन कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[6] चार कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[7] अवसर्पिणी काल के समाप्त हो जाने पर जब उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है उस समय का यह वर्णन है—

तत्तो पविसदि रम्मो कालो उस्सप्पिणि त्ति विक्खादो।
पढ़मो अइदुस्समओ दुइज्जओ दुस्समा णामा ॥ ॥१५५५ ॥
दुस्समसुसमो तदिओ चउत्थओ सुसमदुस्समो णाम।
पंचमओ तह सुसमो जणप्पिओ सुसमसुत्तमओ छट्ठो ॥१५५६॥

(तिलोयपण्णत्ती चौथा महा अधिकार)

[8] चार कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[9] तीन कोटी कोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[10] दो कोटी कोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[11] व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोटी कोटी सागरोपम समय प्रमाण।

[12] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

[13] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

[14] द्विरुक्तसुषमाऽऽद्याऽऽसीत् द्वितीया सुषमा मता।
सुषमा दुःषमान्ताऽन्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥१७॥
पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया समा षष्ट्यतिदुःषमा।
भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्यया ॥१८॥ आदि पुराण पर्व ३

पर स्वीकृत कल्प के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी विभाग भी उत्सर्पणक्रम और अवसर्पणक्रम के अनुसार पूर्वोक्त छह-छह विभागों में विभक्त होकर अविच्छिन्न रूप से सतत चालू रहते हैं।[1] अथवा रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक अन्धकार की क्रम से हानि होते-होते क्रम से होने वाली प्रकाश की वृद्धि के आधार पर और दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक प्रकाश की क्रम से हानि होते-होते क्रम से होने वाली अन्धकार की वृद्धि के आधार पर जिस प्रकार चार-चार प्रहरों की व्यवस्था पाई जाती है उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल में भी पूर्वोक्त छह-छह विभागों की व्यवस्था जैन मान्यता में स्वीकृत की गई है।

जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी काल के तीसरे[2] और प्रत्येक अवसर्पिणी काल के चौथे[3] दुःषमा-सुषमा नामक विभाग में धर्म को प्रकाश में लाने वाले एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार क्रम से नियमपूर्वक चौबीस तीर्थंकर (धर्मप्रवर्तक महापुरुष) उत्पन्न होते रहते हैं। इस समय जैन मान्यता के अनुसार कल्प का दूसरा विभाग अवसर्पिणी काल चालू है और उसके (अवसर्पिणी काल के) पाँचवें दुःषमा नामक विभाग में से हम गुजर रहे हैं। आज से करीब ढाई हजार (२५००) वर्ष पहिले इस अवसर्पिणी काल का दुःषमा-सुषमा नामक चतुर्थ विभाग समाप्त हुआ है। उस समय धर्म को प्रकाश में लाने वाले और इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस धरातल पर मौजूद थे तथा उनके भी पहले पूर्वपरंपरा में तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तक तेईस तीर्थंकर धर्म का प्रकाश कर चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यता में उत्सर्पिणीकाल के चौथे, पाँचवें और छठे तथा अवसर्पिणी काल के पहिले, दूसरे और तीसरे विभागों के समुदाय को भोगयुग एवं अवसर्पिणी काल के चौथे, पाँचवें और छठवें तथा उत्सर्पिणीकाल के पहिले, दूसरे और तीसरे विभागों के समुदाय को कर्मयुग बतलाया गया है[4]। भोगयुग का मतलब यह है कि इस युग में मनुष्य अपने जीवन का संचालन करने के लिए साधन सामग्री के संचय और संरक्षण की ओर ध्यान देना अनावश्यक ही नहीं, व्यर्थ और यहाँ तक कि मानवसमष्टि के जीवन निर्वाह के लिए अत्यन्त घातक समझता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का संचालन निश्चिन्तता और संतोषपूर्वक सर्वत्र बिखरे हुए प्राकृतिक साधनों द्वारा बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से किया करता है। उस समय मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र में आजकल जैसी विषमता नही रहती है। उस काल में कोई मनुष्य न तो अमीर और न गरीब ही रहता है और न ऊँच-नीच का भेद ही उस समय के मनुष्यों में पाया जाता है। आहार-विहार तथा रहन-सहन की समानता के कारण उस काल के मनुष्यों में न तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताएँ ही पाई जाती हैं और न हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार तथा पदार्थों का संचय रूप परिग्रह में ही उनकी प्रवृत्ति होती है। लेकिन उत्सर्पिणी काल में जीवन संचालन की साधन-

---

[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ सान्तर्भिदाविमौ।
स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥२०॥
कालचक्रपरिभ्रान्त्या षट्समापरिवर्तनैः।
तावुभौ परिवर्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥२१॥ आदि पुराण पर्व ३

[2] उत्सर्पिणी काल के तीसरे दुःषमसुषमा कालका वर्णन करते हुए यह कथन है—
तक्काले तित्थयरा चउवीस हवंति ....॥१५७८॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[3] भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर इस अवसर्पिणीकाल के चौथे दुःषमसुषमा काल में ही हुए हैं।

[4] भोगयुग और कर्मयुग का विस्तृत वर्णन आदि पुराण के तीसरे पर्व में तथा तिलोयपण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकार में किया गया है।

सामग्री में उत्तरोत्तर वृद्धि होते-होते उसके पराकाष्ठा पर पहुँच जाने के बाद जब इस अवसर्पिणी काल में उसका ह्रास होने लगा और वह ह्रास जब इस सीमा तक पहुँच गया कि मनुष्यों को अपने जीवन-संचालन में कमी का अनुभव होने लगा तो सबसे पहिले मनुष्यों में साधन सामग्री के संग्रह करने का लोभ पैदा हुआ तथा उसका संवरण न कर सकने के कारण धीरे-धीरे माया, मान और क्रोध रूप दुर्बलताएँ भी उनके अन्तःकरण में उदित हुई और इनके परिणाम-स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह इन पाँच पापों की ओर यथासंभव उनका झुकाव होने लगा। अर्थात् सबसे पहिले जीवन-संचालन की साधन सामग्री के संचय करने में जब किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों की प्रवृत्ति देखने में आई[1] तो उस समय के विशेष विचारक व्यक्तियों ने इसे मानव-समष्टि के जीवन-संचालन के लिए जबरदस्त खतरा समझा। इसलिए इसके दूर करने के लिए उन्होंने जनमत की सम्मतिपूर्वक उन लोगों के विरुद्ध 'हा'[2] नामक दण्ड कायम किया। अर्थात् उस समय जो लोग जीवन-संचालन की साधन-सामग्री के संचय करने में प्रवृत्त होते थे उन्हें इस दंड विधान के अनुसार "हमें खेद है कि तुमने मानव-समष्टि के हित के विरुद्ध यह अनुचित कार्य किया है।"—इस प्रकार दंडित किया जाने लगा और उस समय का मानव-हृदय बहुत ही सरल होने के कारण उन पर इस दंड-विधान का यद्यपि बहुत अंशों में असर भी हुआ लेकिन धीरे-धीरे ऐसे अपराधी लोगों की संख्या बढ़ती ही गई। साथ ही उनमें कुछ धृष्टता भी आने लगी। तब इस दंडविधान को निरुपयोगी समझ कर इसमें कुछ कठोर 'मा'[3] नामक दंड विधान तैयार किया गया। अर्थात् खेद प्रकाश करने मात्र से जब लोगों ने जीवन संचालन की साधन सामग्री का संचय करना नहीं छोड़ा तो उन्हें इस अनुचित प्रवृत्ति से शक्तिपूर्वक रोका जाने लगा। अन्त में जब इस दंड विधान से भी ऐसे अपराधी लोगों की बाढ़ न घटी तो फिर 'धिक'[4] नाम का बहुत ही कठोर दंड विधान लागू कर दिया गया। अर्थात् ऐसे लोगों को उस समय की सामाजिक श्रेणी से बहिष्कृत किया जाने लगा, लेकिन यह दंड विधान भी जब असफल होने लगा, साथ ही इसके द्वारा ऊँच और नीच के भेद की कल्पना भी लोगों के हृदय में उदित हो गई तो इस विषम परिस्थिति में राजा नाभि के पुत्र भगवान ऋषभदेव इस पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए, इन्होंने बहुत ही गंभीर चिन्तन के बाद एक ओर तो कर्मयुग का प्रारंभ[5] किया अर्थात् तत्कालीन मानव-समाज में वर्णव्यवस्था कायम करके परस्पर

---

[1] सुरतरु लुद्धा जुगला अण्णोण्णं ते कुणंति संवादं ॥
. . . . ॥४५१॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[2] सिक्खं कुणंति ताणं पडिसुदिपहुदी कुलंकरा पंच।
सिक्खणकम्मणिमित्तं दंडं कुव्वंति हाकारं ॥४५२॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[3] लोभेणाभिहदाणं सीमंकरपहुदिकुलकरा पंच ॥
ताणं सिक्खण हेदू हा-मा-कारं कुणंति दंडत्थं ॥४७४॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[4] तत्राद्यैः पञ्चभिर्नृणां कुलभृद्भिः कृतागसाम् ॥
हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा ॥२१४॥
हामाकारो च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः ॥
पञ्चभिस्तु ततःशेषैर्हा-मा-धिक्-कारलक्षणः ॥२१५॥
(आदि पुराण पर्व ३)

[5] उत्पादितास्त्रयोवर्णास्तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः . . . . ॥१८३॥
(आदि पुराण पर्व १६)

सहयोग की भावना भरते हुए उसको जीवन-संचालन के लिए यथायोग्य असि[1], मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य आदि कार्यों के करने की प्रेरणा की तथा दूसरी ओर लोगों की अनुचित प्रवृत्ति को रोकने के लिए धार्मिक दंड विधान चालू किया। अर्थात् मनुष्यों को स्वयं ही अपनी-क्रोध, मान, माया और लोभ रूप-मानसिक दुर्बलताओं को नष्ट करने तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्ति को अधिक-से-अधिक कम करने का उपदेश दिया। जैन-मान्यता के अनुसार धर्मोत्पत्ति का आदि समय यही है।

धर्मोत्पत्ति के बारे में जैन-मान्यता के अनुसार किये गये इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मानव-समाज में व्यवस्था कायम करने के लिए यद्यपि सर्वप्रथम पहिले प्रजातंत्र के रूप में और बाद में राजतंत्र के रूप में शासनतंत्र ही प्रकाश में आया था, परन्तु इसमें अधूरेपन का अनुभव करके भगवान ऋषभदेव ने इसके साथ धर्मतंत्र को भी जोड़ दिया था। इस तरह शासनतंत्र और धर्मतंत्र ये दोनों तब से एक दूसरे का बल पाकर फूलते-फलते हुए आज तक जीवित हैं।

यद्यपि भगवान ऋषभदेव ने तत्कालीन मानव-समाज के सम्मुख धर्म के ऐहिक और आध्यात्मिक दो पहलू उपस्थित किये थे और दूसरे (आध्यात्मिक) पहलू को पहिले ही से स्वयं अपना कर[2] जनता के सामने महान् आदर्श उपस्थित किया था—आज भी हमें भारतवर्ष में साधुवर्ग के रूप में धर्म के इस आध्यात्मिक पहलू की झांकी देखने को मिलती है—परन्तु आज मानव-जीवन जब धर्म के ऐहिक पहलू से ही शून्य है तो वहां पर उसके आध्यात्मिक पहलू का अंकुरित होना असंभव ही है। यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मग्रंथों में आज के समय में मुक्ति प्राप्ति की असंभवता को स्वीकार किया गया है। इसलिए इस लेख में हम धर्म के ऐहिक पहलू पर ही विचार करेंगे।

धर्म के आध्यात्मिक पहलू का उद्देश्य जहाँ जन्म-मरण रूप संसार से मुक्ति पाकर अविनाशी अनन्तसुख प्राप्त करना है वहाँ उसके (धर्म के) ऐहिक पहलू का उद्देश्य अपने वर्तमान जीवन को सुखी बनाते हुए आध्यात्मिक पहलू की ओर अग्रसर होना है। यह तभी हो सकता है जब कि मानव-समाज में सुख और शान्ति का साम्राज्य हो। कारण कि मनुष्य स्वभाव से समष्टिगत प्राणी है। इसलिए उसका जीवन मानव-समाज के साथ गुंथा हुआ है। अर्थात् व्यक्ति तभी सुखी हो सकता है जब कि उसका कुटुम्ब सुखी हो, कुटुम्ब भी तब सुखी हो सकेगा जब कि उसके मुहल्ले में अमन-चैन हो। इसी क्रम से आगे भी मुहल्ले का अमन-चैन ग्राम के अमन-चैन पर, ग्राम का अमन-चैन प्रान्त के अमन-चैन पर और प्रान्त का अमन-चैन देश के अमन-चैन पर ही निर्भर है तथा आज तो प्रत्येक देश के ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित हो चुके हैं कि एक देश का अमन-चैन दूसरे देश के अमन-चैन पर निर्भर हो गया है। यही कारण है कि आज दुनिया के विशेषज्ञ विश्व-संघ की स्थापना की बात करने लगे हैं, लेकिन विश्वसंघ तभी स्थापित एवं सार्थक हो सकता है जब कि मानव अपनी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताओं को नष्ट करता अपना

---

[1] (क) असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ १७९ ॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात् ॥
उपादिशत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥१८०॥

(आदि पुराण पर्व १६)

(ख) प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः॥

(स्वयंभू स्तोत्र)

[2] विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥

(स्वयंभू स्तोत्र)

कर्तव्य समझ ले। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता को अपने जीवन में समाविष्ट कर ले। इसके विना न तो विश्वसंघ की स्थापना हो सकती है और न दुनिया में सुखशान्ति का साम्राज्य ही कायम हो सकता है। विश्ववंद्य महात्मा गाँधी विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए इसी बात को आज विश्व के सामने रख रहे हैं, परन्तु यह विश्व का दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य अभी इस ओर नहीं है।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने जिस धर्म को आत्मकल्याण और विश्व में व्यवस्था कायम करने के लिए चुना था, वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से शून्य मानसिक पवित्रता तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता विशिष्ट बाह्य प्रवृत्ति स्वरूप है। हम देखते हैं कि आज भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है और भविष्य में तो मानव-समष्टि में मानवता के विकास का यही एक अद्वितीय चिह्न माना जायगा। भगवान ऋषभदेव से लेकर चौवीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित इसी धर्म का प्रकाश एवं समुत्थान किया है। इनके अतिरिक्त आगे या पीछे जिन महापुरुषों ने धर्म के बारे में कुछ शोध की है वह भी इससे परे नहीं हैं। अर्थात् न केवल भारतवर्ष के, अपितु विश्व के किसी भी महापुरुष द्वारा जब कभी धर्म की आवाज बुलन्द की गई हो, उस धर्म की परिभाषा भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म की परिभाषा से भिन्न नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि एक ही देश में रहने वाली भिन्न-भिन्न मानव समष्टियों की तो बात ही क्या, दुनिया के किसी भी कोने में रहने वाले मनुष्यों के जीवन संबंधी आवश्यकताओं में जब भेद नहीं किया जा सकता है तो उनके धर्म में भेद करना मानव समष्टि के साथ घोर अन्याय करना है। इसलिए धर्म के जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चियन इत्यादि जो भेद किये जाते हैं, ये सब किसी हालत में धर्म के भेद नहीं माने जा सकते हैं। धर्मरूप वस्तु तो इन सब के अन्दर एक रूप ही मिलेगी और हमें इनके अन्दर जो कुछ भेद दिखलाई देता है वह भेद या तो धर्म का प्रतिपादन करने या उसके प्राप्त करने के तरीकों का है या फिर वह अधर्म ही कहा जायगा।

इस तरह अपने जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने के उद्देश्य से मानव-समष्टि में सुख-शान्ति का वातावरण लाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को जिस प्रकार अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक दुर्बलताओं को कम करना तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्ति को रोकना आवश्यक है उसी प्रकार परस्पर सौहार्द, सहानुभूति और सहायता आदि बातें भी आवश्यक हैं। इसलिए इन सब बातों का समावेश भी धर्म के ही अन्दर किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने जीवन को सुखी बनाने में शारीरिक स्वास्थ्य को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य संपादन के लिए जो नियम-उपनियम उपयोगी सिद्ध होते हैं उन्हें भी जैन-मान्यता के अनुसार धर्म की कोटि में रक्खा गया है। जैसे पानी छानकर पीना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य, मांस और मधु का सेवन नहीं करना, असावधानी से तैयार किया हुआ भोजन नहीं करना, भोजन में ताजा और सतत्त्व आटा, चावल, नागफल आदि का उपयोग करना, उपवास या एकाशन करना, उत्तम संगति करना आदि इन सब प्रवृत्तियों को धर्म रूप ही मान लिया गया है तथा ऐसी प्रवृत्तियों को अधर्म या पाप मान लिया गया है, जिनके द्वारा साक्षात् या परंपरा से हमारे शारीरिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचने की संभावना हो या जो हमारे जीवन को लोकनिंद्य और कष्टमय बना रहीं हों। जुवा खेलना, शिकार खेलना और वेश्यागमन आदि प्रवृत्तियाँ इस अधर्म की ही कोटि में आ जाती हैं। जैन मान्यता के अनुसार अभक्ष्यभक्षण को भी अधर्म कहा गया है और अभक्ष्य की परिभाषा में उन चीजों को सम्मिलित किया गया है, जिनके खाने से हमें कोई लाभ न हो अथवा जिनके तैयार करने में या खाने में हिंसा का प्राधान्य हो अथवा जो प्रकृति विरुद्ध हों या लौकिक दृष्टि से अनुपसेव्य हों। जैन मान्यता के अनुसार अधिक खाना भी अधर्म है और अनिच्छापूर्वक कम खाना भी अधर्म है। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति को जैन-मान्यता में धर्म और अधर्म की कसौटी पर कस दिया गया है। आज भले ही पचड़ा कहकर इन सब बातों के महत्व को कम करने की कोशिश की जाय, परन्तु इन सब बातों की उपयोगिता स्पष्ट है। पूज्य गांधी जी का भोजन में हाथ-चक्की से पिसे हुए ताजे आटे का और हाथ से कूटे गये चावल का उपयोग करने पर जोर देना तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक

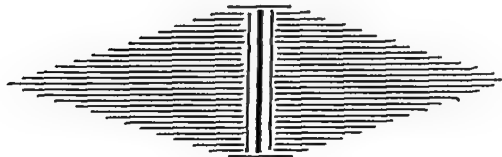
प्रवृत्ति में आवश्यकता, सादगी, स्वच्छता, सच्चाई आदि वातों पर ध्यान रखने का उपदेश देना इन वातों की उपयोगिता का ही दिग्दर्शक है।

इस प्रकार जैन समाज जहाँ इस वात पर गर्व कर सकती है कि उसकी मान्यता में मानव-जीवन की छोटी-से-छोटी और वड़ी-से-वड़ी प्रत्येक प्रवृत्ति को धर्म और अधर्म की मर्यादा में वाँधकर विश्व को सुपथ पर चलने के लिए सुगमता पैदा की गई है, वहाँ उसके लिए यह वड़े संताप की वात है कि इन सव वातों का जैन समाज के जीवन में प्रायः अभाव सा हो गया है और दिन प्रतिदिन होता जा रहा है तथा जैन समाज की क्रोधादि कषायरूप परिणति और हिंसादि पापमय प्रवृत्ति आज शायद ही दूसरे समाजों की अपेक्षा कम हो। जो कुछ भी धार्मिक प्रवृत्ति आज जैन समाज में मौजूद है वह इतनी अव्यवस्थित एवं अज्ञानमूलक हो गई है कि उस प्रवृत्ति को धर्म का रूप देने में संकोच होता है।

जैन समाज में पूर्वोक्त धर्म को अपने जीवन में न उतारने की यह एक वुराई तो वर्तमान है ही, इसके अतिरिक्त दूसरी वुराई जो जैन समाज में पाई जाती है, वह है खाने-पीने इत्यादि में छुआ-छूत के भेद की। जैन समाज में वह व्यक्ति अपने को सवसे अधिक धार्मिक समझता है, जो खाने-पीने आदि में अधिक-से-अधिक छुआ-छूत का विचार रखता हो, परन्तु भगवान ऋषभदेव द्वारा स्थापित और शेष तीर्थंकरों द्वारा पुनरुज्जीवित धर्म में इस प्रकार के छुआछूत को कतई स्थान प्राप्त नहीं है। कारण कि धर्म मानव-मानव में भेद करना नहीं सिखलाता है और यदि किसी धर्म से ऐसी शिक्षा मिलती हो तो उसके वरावर अधर्म दुनिया में दूसरा कोई नहीं हो सकता। हम गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रोक्त धर्म न केवल राष्ट्रधर्म ही हो सकता है, अपितु वह विश्वधर्म कहलाने के योग्य है। परन्तु छुआछूत के इस संकुचित दायरे में पड़कर वह एक व्यक्ति का भी धर्म कहलाने योग्य नहीं रह गया है, क्योंकि यह भेद न केवल राष्ट्रीयता का ही विरोधी है, वल्कि मानवता का भी विरोधी है और जहाँ मानवता को स्थान नहीं, वहाँ धर्म को स्थान मिलना असंभव ही है।

यद्यपि ये सव दोष जैन समाज के समान अन्य धार्मिक समष्टियों में भी पाये जाते हैं, परन्तु प्रस्तुत लेख केवल जैन मान्यता के अनुसार प्रतिपादित धर्म के वारे में लिखा गया है। इसलिए दूसरी धार्मिक समष्टियों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हमें आश्चर्य होता है कि क्या जैन समष्टि और क्या दूसरी धार्मिक समष्टियाँ, सभी अपने द्वारा मान्य धर्म को ही राष्ट्रधर्म तथा विश्वधर्म कहने का साहस करती हैं, परन्तु उनका धर्म किस ढंग से राष्ट्र का उत्थान एवं विश्व का कल्याण करने में सहायक हो सकता है और हमें इसके लिए अपनी वर्तमान दुष्प्रवृत्तियों के कितने वलिदान की जरूरत है, इसकी ओर किसी का भी लक्ष्य नहीं है।

वीना]



: ५ :

संस्कृत, प्राकृत और जैन-साहित्य

सुमित्रा पञ्चदशी

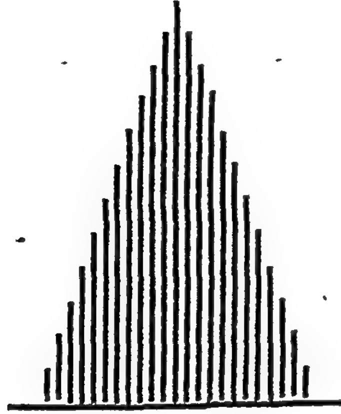
श्री बहादुरचंद्र छाबड़ा एम० ए०, पी-एच्० डी०

[मैलापुर, मदरास की संस्कृत एकेडेमी ने ८ अप्रैल १६४३ को वाल्मीकि-दिवस मनाया था और घोषणा की थी कि सुमित्रा पर पन्द्रह अथवा उससे कम पदों की संस्कृत की सर्वोत्तम मौलिक रचना पर पुरस्कार दिया जायगा। उसी के लिए श्री बहादुरचंद्र जी छाबड़ा ने 'सुमित्रा पंचदशी' शीर्षक पन्द्रह श्लोक भेजे थे, जो पुरस्कार के योग्य निर्धारित हुए थे।—संपादक]

जयति सुमित्रा साध्वी पुत्रवतीनां ललामभूता सा।
लक्ष्मण सदृशं वीरं जितेन्द्रियं या सुतं सुषुवे ॥१॥
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
इत्यादि यादिशत्पुत्रं सा सुमित्रा महीयते ॥२॥
यमौ सुमित्रा तनया वजीजनत्प्रशस्तवीर्यौ भुवि यौ मनस्विनौ।
निजाग्रजादेशवशंवदौ स्वकं कुलं कुलीनौ प्रथयाम्बभूवतुः ॥३॥
लक्ष्मणशत्रुघ्नौ तौ क्रमशो बाल्याद्धि रामभरताभ्याम्।
प्रायः सौमित्रगुणैरास्तां नखमांसवत् स्यूतौ ॥४॥
रामाय लक्ष्मणं दत्त्वा शत्रुघ्नं भरताय च।
कौसल्यामिव कैकेयीं सुमित्रारञ्जयत्सती ॥५॥
कैकेयीं प्रति मत्सरं न भेजे कौसल्यां प्रति नाति पक्षपातम्।
दुष्टादुष्टमचिन्वती सपत्न्योः सौमित्रं समदर्शयत्सुमित्रा ॥६॥
हन्त सुमित्रा व्याञ्जीदुदारतायाः परां काष्ठाम्।
परकीयेषु निजेभ्यः प्रकाशयन्ती गरीयसीं ममताम् ॥७॥
धन्यासि त्वं सुमित्रे कृतमतिकठिनं कर्म धर्म्यं त्वया वै
दास्ये सूनोः सपत्न्याश्चिरवनवसतिं यास्यतो राघवस्य।
ज्यायांसं यत्न्ययुङ्क्थाः प्रमुदितमनसा लक्ष्मणं कुक्षिजं स्वं
यत्सोप्याज्ञां यथावत्तव खलु कृतवांस्तेन भूयोसि धन्या ॥८॥
पिता राममेवादिशद्वानवासं स्वतन्त्रोपि यल्लक्ष्मणस्तेन साकम्।
गतोभुङ्क्त दुःखानि भूयांसि साधुः सुमित्रोपदेशस्तु तत्रास्यहेतुः ॥९॥
कथं बालोम्बायाः सरसमुपदेशैर्गुणगणं
कथं माता कीर्तिं सुतगुणमहिम्ना च लभते।
सुमित्रा सौमित्री इदमुभयमच्छं विवृणुतः
सरस्यम्भोजौ वा प्रतिफलितशोभौ खलु मिथः ॥१०॥
रामेरण्यं यातवत्यार्तिमग्नां कौसल्यां यत्सर्वदासान्त्वयत्सा।
न्यक्कुर्वाणा स्वं विषादं सुमित्रा निर्व्याजं तत्सौभगिन्यं सपत्न्याम् ॥११॥
पत्यूराजर्षित्वादृषिपत्न्यो दशरथस्य पत्न्योपि।
किन्तु सुमित्रा तासामृषिपत्न्यासीद्विशेषेण ॥१२॥

अनसूया तपोनिष्ठा नम्रता समदर्शिता।
एभिरार्यैर्गुणैरासीत् सुमित्रा सुतरामृषिः ॥१३॥
आत्मत्यागसुशीतलामलजला शीलार्जवोद्यत्तटा
सत्यस्नेहसहिष्णुतोत्पलचया भक्तिप्रवाहोद्धुरा।
धृत्युत्साह विवेकवीचिरुचिरा धैर्योरुसत्त्वान्विता
सेयं मानवपावनी विजयते चित्रा सुमित्रा नदी ॥१४॥
वाल्मीकपूर्वपरिकीर्तितसच्चरित्राम् आश्रित्य लक्ष्मणयतेर्जननीं सुमित्राम्।
गीर्वाणगीरभिनिवेशजुषा प्रशस्तिः केनापि शाबरवरेण कृतेयमस्ति ॥१५॥

उटकमण्ड (दक्षिण भारत)]



विक्रमसिंह रचित पारसी-संस्कृत कोष

श्री बनारसीदास जैन एम्० ए०, पी-एच्० डी०

जब भारतवर्ष में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया तो यहाँ के सरकारी दफ़्तरों में भारतीय भाषा के साथ-साथ फ़ारसी का प्रयोग भी होने लगा। अतः दफ़्तरों में काम करने वाले हिन्दू लोग फ़ारसी से कुछ-कुछ परिचित हो गये होंगे; लेकिन सम्राट् अकबर के मंत्री राजा टोडरमल ने केवल फ़ारसी को ही दफ़्तरी भाषा बना दिया। अतः अब सरकारी नौकरी पाने के लिए फ़ारसी का ज्ञान अनिवार्य हो गया। इस कारण हिन्दुओं में अब इसका प्रचार अधिक होने लगा। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति फ़ारसी साहित्य में हो गई और उन्होंने अपनी विविध रचनाओं से इस साहित्य की उल्लेखनीय वृद्धि की।[1] मुसलमानों को भी यहाँ की प्रचलित भाषाएँ सीखनी पड़ीं, क्योंकि इनके बिना सीखे जीवन का काम नहीं चल सकता था। इन्होंने हिन्दी साहित्य की काफी वृद्धि की।[2] पंजाबी साहित्य की तो नींव ही इन्होंने डाली। प्रारंभ में इन्होंने संस्कृत को नहीं सीखा। संभव है कि पंडितों ने इनको संस्कृत सिखाने से संकोच किया हो और इन्होंने उसे सीखने से। लेकिन अकबर ने संस्कृत का बड़ा आदर किया। उसकी प्रेरणा से अबुल् फ़ज़ल, फ़ैज़ी आदि ने संस्कृत सीखकर उसके अनेक ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद किया।[3] अकबर के दरबार में जैन साधुओं का बड़ा सम्मान था। जैन साहित्य में इस विषय पर प्रचुर सामग्री मिलती है।[4] सिद्धिचन्द्र तो महल में जाकर जहाँगीर (कुंवर सलीम या शेखू बाबा) के साथ फ़ारसी सीखा करता था।[5] यद्यपि तत्कालीन देशी भाषाओं और साहित्य पर फ़ारसी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, तथापि कतिपय संज्ञाओं के प्रयोग को छोड़कर संस्कृत पर इसका कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अभी तक किसी भी फ़ारसी ग्रंथ का संस्कृत अनुवाद उपलब्ध नहीं हुआ। हाँ, ज्योतिष के ताजिक ग्रंथों का मूल विदेशी जान पड़ता है, क्योंकि उनकी बहुत सी परिभाषाएँ अरबी की हैं, जो संभवतः हिंदुओं ने फ़ारसी द्वारा सीखी हों।[6]

नानाविध-भाषा-ज्ञान जैनाचार्यों का एक प्रधान गुण रहा है। वे संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश और एक-दो देशी भाषाएँ जाना ही करते थे। अवसर मिलने पर विदेशी भाषा भी सीख लेते थे। जैनाचार्यों द्वारा

---

[1] देखिये—सैयद अब्दुल्ला कृत "अदबियाते फ़ारसी में हिन्दुओं का हिस्सा", देहली, सन् १९४२।

[2] देखिये—"हिन्दी के मुसलमान कवि"।

[3] 'पञ्चास्तिकाय' और 'कर्मकाण्ड' नामक दो जैन ग्रन्थों का भी मुंशी दिलाराम कृत फ़ारसी अनुवाद मिलता है। सैयद अब्दुल्ला, पृ० १२५।

[4] विद्याविजय कृत "सूरीश्वर अने सम्राट्," भावनगर, सं० १९७६।

[5] भूयो भूयस्त मित्याह प्रसन्नवदनः प्रभुः।
'त्वया मत्सूनुभिः सार्द्धं स्थेयमत्रैव नित्यशः' ॥८६॥
अध्यैष्ट सर्वशास्त्राणि स्तोकैरेव दिनैस्ततः।
शाहिना प्रेरितोऽत्यन्तं सत्वरं पारसीमपि ॥९०॥
पठन्तः (पठतः ?) पारसी ग्रन्थांस्तत्तनूजाङ्गजैः समम्।
प्रातः पूर्वदिनाभ्यस्तं पुरः श्रावयतः प्रभोः ॥१०४॥

भानुचन्द्रगणिचरित, चतुर्थ प्रकाश। सिद्धिचन्द्र विरचित, मोहनलाल दलीचंद देसाई द्वारा संपादित सिंघी जैन ग्रन्थमाला—१५।

[6] म्लेच्छेषु विस्तृतं लग्नं कलिकाल प्रभावतः। प्रभुप्रसादमासाद्य जैने धर्मेवतार्यते ॥६॥
हेमप्रभसूरि रचित 'त्रैलोक्यप्रकाश'। 'जैन सत्य प्रकाश' वर्ष ९, अंक ९, पृ० ४०६।

विविध भाषाओं में रचे हुए अनेक स्तोत्र मिलते हैं। जिन प्रभरचित पारसी का ऋषभस्तोत्र प्रसिद्ध है।[1] इसी प्रकार महं० विक्रमसिंह विरचित 'पारसी भाषानुशासन' नाम का फ़ारसी-संस्कृत कोष है। इसकी एक प्रति अम्वाला शहर के श्वेताम्वर भंडार में विद्यमान है। प्रस्तुत लेखक ने इस पर एक नोट प्रकाशित किया था,[2] जिसे पढ़कर गायकवाड़ ओरियंटल इन्स्टिट्यूट, वड़ौदा के डाइरेक्टर महोदय ने इस प्रति को मंगवा कर इसके फोटो वनवा लिये। इससे इस प्रति के महत्त्व का अनुमान लग सकता है। यहाँ उसी प्रति के आधार पर इस कोष का परिचय कराया जाता है।

अम्वाले के भंडार की सूची में इस प्रति का नंवर २५८(ख) है।[3] इसके आठ पत्र हैं, जो १०$\frac{1}{8}$ इंच लंवे और ४$\frac{1}{8}$ इंच चौड़े हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर पंद्रह पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में पचास के लगभग अक्षर हैं। इसके अक्षर साधारण श्वेताम्वर लिपि के हैं। यद्यपि इसमें लिपिकाल का निर्देश नहीं है, तथापि काग़ज़ और अक्षरों की आकृति से तीन सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। 'जैन ग्रंथावली' और मोहनलाल दलीचंद देसाई कृत 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' में इस कोष का उल्लेख नहीं, परन्तु प्रो० एच० डी० वेलंकर ने अपने 'जिनरत्न समुच्चय' में इसी प्रति के आधार पर इस कोष का नाम निर्देश किया है।

प्रशस्ति के अनुसार कोष के रचयिता का नाम महं० विक्रमसिंह है, जो मदनपाल का पुत्र और ठक्कुर जागज का पौत्र था। यह जागज प्राग्वाट वंश-रूपी आकाश में पूर्ण चन्द्र के समान था तथा धर्मात्मा और वुद्धिमान था। उसका वेटा मदनपाल अपनी सुजनता, नीति और नम्रता आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध था। स्वयं विक्रमसिंह आनन्दसूरि का अनन्य भक्त था। पारसी भाषा का शुद्ध प्रयोग सीखकर उसने इस कोष को रचा।[4] खेद है कि विक्रमसिंह ने कोष का रचना-काल और रचना-स्थान नहीं वतलाया। इसके अपने तथा पिता और पितामह के नाम का उल्लेख भी कहीं नहीं मिला और न आनन्दसूरि का नाम ही इस विषय में कुछ सहायता कर सकता है, क्योंकि इस नाम के कई आचार्य हो चुके हैं[5] और विक्रमसिंह ने अपने आनन्दसूरि की गुरु-परंपरा नहीं वतलाई। हाँ,

---

[1] जैन साहित्य संशोधक, खंड ३, पृ० २१-२६।

[2] वूल्नर कमैमोरेशन वॉल्युम्, लाहौर सन् १६४०, पृ० ११६-२२।

[3] कैटालॉग आव मैन्यस्क्रिप्ट्स् इन दि पंजाव जैन भंडार, लाहौर, सन् १६३६, नं० १६४६।

[4] इति महं० विक्रमसिंह विरचिते पारसी भाषानुशासने सामान्यप्रकरणं पञ्चमं समाप्तम्।

प्राग्वाट वंशगगनाङ्गण पूर्णचन्द्रः
सद्धर्मबुद्धिरिह ठक्कुरजागजोस्ति।
तन्नन्दनो मदनपाल इति प्रसिद्धः
सौजन्य नीतिविनयादि गुणैकगेहः ॥१॥
आनन्द सूरिपद पद्मयुगैक भृङ्ग—
स्तत्सूनुरेष ननु विक्रमसिंह नामा।
आम्नाय शुद्धमवबुध्य स पारसीक—
भाषानुशासनमिदं रचयांचकार ॥२॥

[5] (१) इस नाम के एक आचार्य सं० २३० में हुए। पूरणचन्द्र नाहर—जैन लेख संग्रह, नं० ८७२, ८७३।

(२) जिनेश्वरसूरि के शिष्य। जैन ग्रन्थावली, पृ० १२६।

(३) नागेन्द्रगच्छीय शान्ति सूरि के शिष्य। पीटर्सन, रि० ३, परिशिष्ट पृ० १७।

(४) वृहद्गच्छ के। पीटर्सन, रि० ३, परिशिष्ट पृ० ८०।

(५) एक और आचार्य। पीटर्सन, रि० ३, परिशिष्ट पृ० ८७।

(६) अमरप्रभसूरि के गुरु (सं० १३४४) पीटर्सन रि० ५, परिशिष्ट पृ० ११०।

कोप के प्रथम प्रकरण के श्लोक २६ से, जहां नगर शब्द का फ़ारसी पर्याय देकर अणहिल्लपाटक (पाटण) का फ़ारसी रूप 'निहरवल' दिया है,[1] यह अनुमान किया जा सकता है कि विक्रमसिंह पाटण का रहने वाला था, क्योंकि फ़ारसी में कई नगरों के विशेष नाम हैं—प्रयाग का अलाहाबाद, राजनगर का अहमदाबाद; परन्तु विक्रमसिंह ने पाटण को ही लिया है। कोपकर्ता की उपाधि महं० महंतो (गुजराती=महेतो) भी इस बात की सूचक है कि वह गुजराती था।

यह कोष जैनों में काफ़ी प्रचलित रहा होगा। इसके दो पद्य जिनप्रभसूरि विरचित पारसी भाषा के ऋषभस्तव की टीका में उद्धृत किये गये हैं।[2] यह टीका शायद लावण्यसमुद्र गणी की रचना है, जिसे उनके शिष्य उदयसमुद्र ने लिपिबद्ध किया। यदि ये उदयसमुद्र खरतर गच्छीय हैं तो इनका सत्ताकाल सं० १६२८ के आसपास है।[3] अतः इस कोष की रचना तीन सौ बरस से पहिले की होनी चाहिए।

इस कोष में अनुमानतः १,००० फ़ारसी शब्दों के संस्कृत पर्याय दिये हैं। कर्ता के कथनानुसार इनका परिमाण ३६० ग्रंथ (३२ अक्षर का श्लोक) हैं।[4] यह पाँच प्रकरणों में विभक्त है—(१) जाति प्रकरण (२) द्रव्य प्रकरण, (३) गुण प्रकरण, (४) क्रिया प्रकरण और (५) सामान्य प्रकरण, जिन में क्रम से १११, ६६, १५, ३१ और ३५ श्लोक हैं।

इस कोष में सन्धि-नियमों का प्रयोग वैकल्पिक रूप से किया गया है। कभी-कभी फ़ारसी शब्द के साथ प्रथमा विभक्ति लगा कर सन्धि कर दी गई है। इसमें प्रायः पहिले फ़ारसी शब्द देकर फिर संस्कृत पर्याय दिया है, लेकिन कहीं-कहीं इस क्रम का व्यत्यय हो गया है। फ़ारसी में लिंग के कारण शब्दों में भेद नहीं पड़ता, और न इसमें तीन वचन ही होते हैं।[5] हम यह तो निर्णय नहीं कर सकते कि फ़ारसी भाषा के इतिहास में इनका कितना उपयोग है, लेकिन कई अन्य दृष्टियों से इस कोष का बड़ा महत्त्व है। जैसे—

---

[1] वसुन्धरा दुनीए स्यात् पत्तनं सहरु स्मृतम्
ग्रामो दिहस्तया देश उलातु परिकीर्तितिः ॥२५॥
तस्मिन् निहरवलो श्रीमदणहिल्लपाटकम्
लोकः कसस्तया प्रोक्तो बुधखानां सुरालयः ॥२६॥

[2] 'जैनसत्यप्रकाश', खंड ६, अंक ८, पृ० ३८८–६० ।

[3] मोहनलाल दलीचंद देशाई कृत जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पैरा० ६७६ ।

[4] प्रत्यक्षरगणनातः शतानि त्रीण्यनुष्टुभाम् ।
षष्ट्यधिकानि विज्ञेयं प्रमाणं तस्य निश्चितम् ॥३॥ (कोष-प्रशस्ति)

[5] शब्दस्य भेदाश्चत्वारो जातिद्रव्यगुणक्रियाः ।
ततस्तदनुसारेण वच्मि किंचिद् यथामति ॥३॥
प्रायो दुरवबोधत्वात् संधिकार्यं कृतं न हि ।
अन्यथा स्यादपभ्रंशः कष्टं संस्कृतयोजितुः ॥४॥
संस्कृतोक्तिः क्वचित् पूर्वं ततः स्यादनु पारसी ।
पारस्यपि क्वचित् पूर्वं संस्कृतोक्तिस्ततः कृता ॥५॥
पुंस्त्रीनपुंसकत्वाद्यैर्लिङ्गैर्भेदो न दृश्यते ।
एक द्वि बहुरूपैश्च वचनैरत्र न निश्चितम् ॥६॥

१—फ़ारसी-संस्कृत कोषों की संख्या अति अल्प है। इस समय इसके अतिरिक्त केवल चार कोष ज्ञात हैं।[1] अतः एक नये कोष की उपलब्धि हर्ष का विषय है।

२—संस्कृत-प्राकृत मिश्रण का अद्भुत उदाहरण। इस कोष का मंगलाचरण संस्कृत-प्राकृत में रचा हुआ है, अर्थात् इसका प्रथम पाद संस्कृत में, द्वितीय महाराष्ट्री में, तृतीय शौरसेनी में और चतुर्थ मागधी में।[2]

एक ही पद्य में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग अन्य भाषाओं में भी हुआ है। जैसे—हिन्दवी और फ़ारसी का रेखता, जिसमें अमीर खुसरो ने रचना की। संस्कृत और द्राविड़ी भाषाओं (कण्णड, मलयालम आदि) का मिश्रण, जिसे 'मणि प्रवालम्' कहते हैं। इस शैली में जैनाचार्यों ने अनेक स्तोत्र रचे हैं। भीमकुमार कथा तो सारी ही संस्कृत-महाराष्ट्री मिश्रण में है।[3] लेकिन चारों पदों में विभिन्न भाषाओं के उदाहरण बहुत थोड़े हैं।

३—इस कोष का दूसरा पद्य फ़ारसी भाषा और शार्दूल विक्रीड़ित छन्द में है।[4] अम्बाला वाली प्रति के अन्तिम पृष्ठ पर इस पद्य की संस्कृत व्याख्या दी है, जो शायद किसी अन्य लेखक की कृति है। इस व्याख्या में 'रहमाण' शब्द को संस्कृत प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध करके इसका अर्थ 'वीतराग' किया है।[5] इसमें किसी कुरानकार

---

[1] (१) पारसी-नाममाला या —शब्दविलास। सं० १४२२ में सलक्षमंत्री द्वारा रचित। परिमाण ६०० ग्रन्थ। जैन ग्रन्थावली पृ० ३११।

(२) पारसी प्रकाश। अकबर के समय में कृष्णदास द्वारा रचित। इसने संस्कृत सूत्रों में पारसी व्याकरण भी रचा। ए० वेबर द्वारा संपादित, कोष १८८७, व्याकरण १८८९ (जर्मनी)।

(३) पारसी प्रकाश। सं० १७०० में वेदाङ्गराय द्वारा रचित।

(४) पारसी विनोद। सं० १७१६ में रघुनाथ-सूनु व्रजभूषण द्वारा रचित।

[2] यद्गौरद्युतिदेह सुन्दररदज्योत्स्नाजलौघे मुदा
दट्ठूणासण सेयपंकयमिणं नूणं सरं माणसं।
एयं चिंतिय झत्ति एस करदे न्हाणंमि हंसो मदिं
सा पक्खालदु भालदी भयवदी जड्डाणुलित्तं मणं ॥१॥

अर्थ—जिस (भारती) की गौरवर्ण देह और सुन्दर दन्त (पंक्ति) की ज्योत्स्ना रूपी जलसमूह में (उसके) आसन रूपी श्वेत कमल को देख कर और ऐसा विचार कर कि 'सचमुच यह मानसरोवर है', (उसका वाहन) हंस स्नान करने की सोचता है, वह भगवती भारती (हमारे) जड़ता से लिप्त मन का प्रक्षालन करे।

[3] जैन सत्य प्रकाश—वर्ष ८, अंक १२, पृ० ३६२-६४।

[4] दोस्ती ख्वादं तुरा न वासय कुया हामाचुनीं द्रोग् हसि,
चीजे आमद पेसि तो दिलुसुरा बूदी चुनीं कीम्बरः।
तं वाला रहमाण वासइ चिरा दोस्ती निसस्ती इरा,
अल्लाल्लाहि तुरा सलाम् वुजिरुक् रोजी मरा मे देहि ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! 'तेरा किसी में अनुराग नहीं है,' यह सब झूठ है। जो कोई तेरे सामने भक्तिभाव से आता है, चाहे वह किंकर ही हो, हे वीतराग! तू उससे क्यों अनुराग करता है? इसलिए हे अल्लाह! तुझे नमस्कार हो। मुझे भी महती विभूति दे।

[5] रहमाण शब्दस्य कृता व्युत्पत्तिर्यथा—रह त्यागे इति चौरादिको विकल्पेनन्तो धातुः। रहयति रागद्वेष कामक्रोधादिकान् परित्यजतीत्येवं शक्त इति विग्रहे शक्तिवयस्ताच्छील्य इति शानड् आन्मोन्तः आने इति मोन्तः। रषृवर्णेभ्योर्नोणेत्यादिना णत्वम् इति रहमाणः। कोर्यः रागद्वेषविनिर्मुक्तः श्रीमान् वीतरागो रहमाणः। नान्यः कश्चित्, तस्य सम्बोधनम्।

का उद्धरण है जो संभवतः फ़ारसी का व्याकरण था। यह उद्धरण ऋषभस्तोत्र की टीका में भी मिलता है।[1]

४—कोष के दूसरे पद्य की भाषा शुद्ध साहित्यिक फ़ारसी नहीं है। इस कारण से इनका सन्तोषजनक समन्वय नहीं किया जा सकता। कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग फ़ारसी में नहीं मिलता। स्वाभाविक बात है कि फ़ारसी को देवनागरी में लिखते समय और संस्कृत-छन्द में इसकी रचना करते समय उसके शब्दों के असली रूप में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया होगा; लेकिन वह इतना नहीं हो सकता कि उनके असली रूप का अनुमान भी न किया जा सके। संभव है कि कोष की भाषा फ़ारसी का कोई रूपान्तर हो। इस बात का निर्णय तो कोष का सूक्ष्म रीति से निरीक्षण करने पर ही हो सकता है कि जिस प्रदेश और काल में इसकी रचना हुई थी वहाँ उस समय किस प्रकार की फ़ारसी प्रचलित थी।

५—कोष के रचयिता अथवा उसके लिपिकार ने फ़ारसी उच्चारण की विशेषताओं को देवनागरी में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। फ़ारसी के 'ख़े' को नागरी 'क' के ऊपर जिह्वामूलीय लिखकर और 'फ़े' को 'फ' के पूर्व उपध्मानीय लगाकर ज़ाहिर किया है। लेकिन कहीं-कहीं 'ख़े' के लिए 'क', 'ख' या 'ष' भी लिखा है। इसी तरह 'फ़े' के लिए केवल 'फ' लिखा है। 'ज़े' के लिए 'ज' या 'य' आया है। कभी 'जीम' के लिए भी 'य' का प्रयोग हुआ है। 'ज़्वाद' को 'द' से और 'से' को 'थ' से प्रकट किया है। कभी 'ते' के लिए भी 'थ' आया है।[2]

लाहौर]



---

[1] 'तुरा' 'मरा' इति सर्वत्र संबन्धे संप्रदाने च ज्ञातव्यम्। तथा च कुरानकारः—

अज इत्यन्वयादानं संबन्धसंप्रदानयोः।
रा सर्वत्र प्रयुज्येतान्यत्र वाच्यं सु रूपतः॥
आनि मानि अस्मदीयं किंचित् कियच्चंदिरोदृशम्।
चुनीं हमचनीं तादृक् चंदिनं इयदेव च॥
चीजे किमपि इत्यादि कुरानोक्तं लक्षणम्।
सर्वत्र विज्ञेयं संप्रदायाच्च ....॥

जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ६, अंक ८, पृ० २८६।

[2] लेखक के एक सहाध्यापक मराको (अफ़्रिका) के रहने वाले हैं। उनकी अपनी भाषा के 'ते' का उच्चारण हिन्दी 'थ' से मिलता है। वे अरबी शब्द 'तरतीब को 'थरथीब' कहते हैं।

पाणिनि के समय का संस्कृत-साहित्य

श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य

महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी मुख्यतः व्याकरण का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। उसका संबंध प्रधानतया संस्कृत-भाषा तथा उसकी सूक्ष्मभाषा संबंधी बारीकियों से है। संस्कृत-साहित्य का इतिहास इसका विषय न होते हुए भी भाषा की खूबियों को अच्छी तरह से दिखलाने में विद्या के अन्य विभागों का स्थान-स्थान पर उल्लेख करना पड़ा है। वह इतने महत्व का है कि संस्कृत-साहित्य के अनेक अज्ञात ग्रंथरत्नों का इससे परिचय मिल जाता है। प्राचीनकाल से लेकर पाणिनि के समय तक के साहित्य पर इसमें थोड़ा ही प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों के उल्लेख से पाणिनि के विशाल साहित्यिक ज्ञान पर आश्चर्य होता है। प्राचीन 'दृष्ट' श्रुतियों से लेकर ऋषि प्रणीत भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक ग्रंथों तक का पता इससे भलीभांति लग जाता है।

पाणिनि के समय में केवल श्रुतियों का ही अध्ययन नहीं होता था, बल्कि ब्राह्मणग्रंथों का पठनपाठन भी अच्छे ढंग से प्रचलित था। उस समय संस्कृत-साहित्य विशाल होने के अतिरिक्त विभिन्न विषयों के ग्रंथों से सुशोभित था। केवल एक ही विषय—धार्मिक साहित्य—का ही अभ्युदय न था, प्रत्युत अन्य ऐहलौकिक विषयों पर भी रचनाएँ थीं। इससे तत्कालीन साहित्य का महत्त्व सहज में ही समझा जा सकता है।

पाणिनि ने तत्कालीन साहित्य के जो विभाग किये हैं उससे उनकी वैज्ञानिक बुद्धि का यथेष्ट परिचय मिलता है। यह विभागीकरण इतना वैज्ञानिक है कि यदि इसका प्रयोग साहित्य के इतिहास ग्रंथों में किया जाय तो उससे अनेक लाभ होने की संभावना है। पाणिनि की प्रखर प्रतिभा ने साहित्य के निम्नलिखित विभागों का निर्देश किया है:—

(१) **दृष्ट साहित्य**—अर्थात् वे ग्रंथ, जिन्हें 'अपौरुषेय' कहा जा सकता है। ये ईश्वर प्रदत्त हैं, किसी मनुष्य की रचनाएँ नहीं हैं। इन ग्रंथों का ज्ञान पहिलेपहिल 'मंत्रदृष्टा' 'ऋषियों' को हुआ था।

सूत्रों में वैदिक नियमों के निर्देश से पाणिनि का वेदसंबंधी ज्ञान अत्यन्त विस्तृत प्रतीत होता है। यदि उनका वैदिक अध्ययन अत्यन्त गंभीर न होता तो उन्हें इतने सूक्ष्म नियमों की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।

पाणिनि ने दृष्ट साहित्य के उदाहरण में तीनों वेदों का बिना नाम के (४, ३, १२९) साधारण रूप से उल्लेख किया है तथा अलग-अलग ऋग्वेद (६, ३, ५५; ५, ४, ७७ आदि), सामवेद (५, ४, ७७; ५, २, ५९) तथा यजुर्वेद (२. ४. ४; ५, ४, ७७; ६. १. ११७) का अध्वर्यु वेद के नाम से (४. २ .६०) उल्लेख किया गया है। एकश्रुति के विषय में लिखते हुए पाणिनि ने स्पष्ट ही लिखा है कि साम में इस नियम का निषेध होता है (१. २. ३४), जिससे उनके सामगायन-संबंधी सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है।

ऋग्वेद की शाखा के विषय में पाणिनि को शाकलशाखा (४. ३. १२८), उसके पदपाठ (६. १. ११५, ७. १. ५७) और क्रमपाठ (४. २. ६१) का ज्ञान भलीभांति था। उन्हें वेद के कई विभागों, सूक्त अध्याय तथा अनुवाक (५, २. ६०), का भी यथेष्ट परिचय था। वेदों के 'प्रगाथ' का उल्लेख (४. २. ५५) पाया जाता है। जहाँ दो ऋचाएँ ग्रथित होकर तीन बन जाती हैं वहाँ 'प्रगाथ' होता है ('यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रथनेन तिस्रः क्रियन्ते स प्रगाथनात् प्रकर्षगानाद्वा प्रगाथ इत्युच्यते' पूर्वसूत्र की काशिकावृत्ति)।

वेदों के कुछ खास भागों का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'न्यूंख' सोलह ओकारों का सम्मिलित नाम है, जिन्हें भिन्न-भिन्न श्रुतियों से उच्चारण करना पड़ता था (१, २. ३४ न्यूंखा ओकाराः षोडश तेषु केचिदुदात्ताः केचिदनुदात्ताः, काशिका)। 'सुब्रह्मण्या' नामक कतिपय मंत्रों में भी एकश्रुति का निषेध किया गया है (१, २, ३७)।

मंत्रद्रष्टा ऋषियों के नाम निर्देश भी यत्रतत्र पाये जाते हैं। सामसंत्र के द्रष्टा ऋषियों में 'वामदेव' (४. २. ९) तथा 'कलि' का नाम पाया जाता है (४. २. ८)। इसी सूत्र के वार्तिक में 'अग्नि' तथा 'उशनस्' के उल्लेख सामद्रष्टा ऋषि के रूप में पाये जाते हैं।

बहुतों का कहना है कि 'अथर्व' केवल गण में ही पाया जाता है, सूत्र में नहीं। अतएव गोल्डस्टूकर ने पाणिनि को वेदत्रयी से ही परिचित बतलाकर अथर्ववेद की रचना से पूर्ववर्ती बतलाया है, परन्तु हमारी सम्मति में पाणिनि को इस वेद तथा इसके वशीकरण मंत्रों का परिचय पूरी तरह से था। आथर्वणिकस्येक् लोपश्च (४.३.१३३) में पाणिनि ने 'आथर्वण' की व्युत्पत्ति बतलाई है।

उक्तसूत्र की काशिका में "आथर्वणिकस्यायम् आथर्वणो धर्म आम्नायो वा। चरणाद्धर्माम्नाययोः" लिखा हुआ है, जिससे अथर्वण के द्रष्टा ऋषि तथा उनके खास आम्नाय अर्थात् अथर्वण वेद के नाम उल्लिखित हैं। इस संशयरहित उल्लेख से इस चतुर्थ वेद को पाणिनि के अनन्तर का मानना सर्वथा भूल है। एक अन्य सूत्र से अवशिष्ट सन्देह भी दूर हो जाता है। पाणिनि ने (४, ४. ९६ में) पुरुषों के हृदय को वश में करने वाले मंत्रों का उल्लेख किया है तथा उन्हें 'हृद्य' संज्ञा दी है। काशिका के अनुसार पाणिनि को वशीकरण मंत्र से पूरा परिचय था। (ऋषिर्वेदो गृह्यते। हृदयस्य बन्धनमृषिः हृद्यः। परहृदयं येन बद्धयते वशीक्रियते स वशीकरण मंत्रो हृद्य इत्युच्यते)। ४. ३. ७२ में न केवल 'पुरश्चरण' नामक क्रिया का उल्लेख है, अपितु उसके व्याख्यान ग्रंथों अर्थात् उसकी टीका-टिप्पणी का भी परिचय पाया जाता है। जहाँ तक हमारा विचार है, वशीकरण मंत्र तथा पुरश्चरण आदि मारणोच्चाटन क्रियाओं का वर्णन पहिले-पहल अथर्ववेद में ही पाया जाता है। अतएव पाणिनि को इस वेद से अनभिज्ञ मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? पूर्वोक्त सूत्रों के प्रमाण पर पाणिनि केवल अथर्व से परिचित ही नहीं जान पड़ते, बल्कि अन्य वेदों की भांति उनका अथर्व संबंधी ज्ञान तथा अध्ययन भी उन्नत कोटि का था।

इन पवित्र श्रुतियों के अतिरिक्त पाणिनि ने इनके मर्मज्ञों का भी उल्लेख किया है, जिन्हें यज्ञों में भिन्न-भिन्न कार्य समर्पित किये जाते थे। जान पड़ता है कि पाणिनि के समय में ऐसे बहुत से नाना प्रकार के चरण तथा संप्रदाय विद्यमान थे, जो अपनी शाखा के अध्ययन तथा रक्षा में दत्तचित्त थे। विभिन्न वैदिकों का एक साथ पाणिनि ने वर्णन किया है। वे थे छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक तथा बह्वृच् (४।३।१२९) 'छन्दोग' विद्वान् तो यज्ञ के समय छन्दों को गाते थे। 'उक्थ' साम का ही एक विशेष प्रकार है, जो केवल लगातार सुना दिया जाता था। साम की भांति न तो यह स्वर में गाया जाता था और न यजुष् की तरह केवल धीरे से उच्चरित होता था। इस विशिष्ट साम को जानने वालों की संज्ञा 'औक्थिक' थी। 'याज्ञिक' विद्वानों का संबंध यजुर्वेद से था और यज्ञ के काम कराने वाले वे ही होते थे। 'बह्वृच' यज्ञ के समय ऋग्वेद की ऋचाएँ सुनाते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय इन वेदों के विभिन्न सम्प्रदायों तथा शाखाओं की उन्नति यथेष्ट थी।

(२) प्रोक्त—अर्थात् वह साहित्य, जो ऋषियों द्वारा पहिले-पहल कहा गया हो या वर्णित हो, परन्तु जो 'दृष्ट' न हो। (४. ३. १०१)।

(क) छन्दस् ग्रंथ जो तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक तथा उख से कहे गये हैं (४. ३. १०२), काश्यप तथा कौशिक ऋषि से प्रोक्त ग्रंथ (४. ३. १०३), कलापि ऋषि तथा वैशम्पायन के 'अन्तेवासी' शिष्यों द्वारा प्रोक्त ग्रंथ (४. ३. १०४)। काशिका में कलापि के चार शिष्यों के (हरिद्रु, छगली, तुम्बुरु तथा उलप) तथा वैशम्पायन के नव शिष्यों के (आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ तथा कलापी) नाम स्पष्टतः उल्लिखित हैं। न केवल इन ऋषियों के शिष्यों द्वारा ही ग्रंथों की रचना की गई थी, बल्कि इन आचार्यों के लिखे हुए ग्रंथों का पता पाणिनि ने स्वयं ही दिया है। बात ठीक भी है। जब इनके शिष्यों ने अनेक ग्रंथों की रचना की तब इन आचार्यों ने अवश्य ही कुछ-न-कुछ लिखा होगा। कलापी (४. ३. १०८) तथा चरक (वैशम्पायन) (४. ३. १०७) (चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, इति काशिका) के प्रोक्त ग्रंथ का उल्लेख है। इनके शिष्यों में से कठ तथा छगली (४. ३. १०९)

द्वारा रचित ग्रंथों का वर्णन पाणिनि ने स्वयं किया है। शाकल द्वारा प्रोक्त ग्रंथ का उल्लेख ४. ३. १०६ में किया गया।

(ख) ब्राह्मण—यह ध्यान में रखना चाहिए कि पाणिनि ने ब्राह्मणग्रंथों को वैदिक संहिताओं की भांति 'दृष्ट' नहीं माना है, वल्कि उन्हें 'प्रोक्तग्रंथों' की सूची में अन्तर्भुक्त किया है। आजकल तो ब्राह्मण श्रुति के अन्तर्गत माने जाते हैं तथा वेद की भांति उनकी अपौरुषेयता भी प्रामाणिक मानी जाती है, परन्तु यह वर्णन साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मणग्रंथों को पाणिनि ने 'छन्दस्' से भिन्न वतलाया है। पाणिनि ने ब्राह्मणों के विषय में केवल इसी वात का उल्लेख किया है कि कुछ एक प्राचीन मुनियों द्वारा प्रोक्त थे। इसके अतिरिक्त किसी का व्यक्तिगत नाम नहीं दिया गया है (४. ३।१०५)। काशिका ने 'पुराणमुनियों से पाणिनि का आशय 'भल्लव' 'शाट्यायन' तथा 'ऐतरेय' से वतलाया है। अवश्य ही पाणिनि ने तीस या चालीस अध्याय वाले ब्राह्मणों की संज्ञा 'त्रैंश' तथा 'चत्वारिंश' दी है (५. १. ६२)। ब्राह्मणों के अनुकरण पर वनने वाले 'अनुब्राह्मण' ग्रंथों का भी उल्लेख किया गया है (४।२।६३)। मंत्रों की किसी प्रकार की अनुक्रमणिका का पता भी (४. ४. १२५-२७) लगता है, जो यज्ञों की सुविधाओं के लिए वनाई गई थी। उदाहरणार्थ जिनमें 'वयस्यान्' शब्द (४।४।१२७) तथा 'अश्विमान' शब्द पाये जाते हैं (४।४।१२६) उन मंत्रों की एक पृथक् सूची थी। पूर्वोक्त वातों से तत्कालीन ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में वहुत कुछ जानकारी की वातों का पता चलता है। पाणिनि के समकालीन ग्रंथकारों में वार्तिककार तथा उसके आधार पर काशिकाकार ने 'याज्ञवल्क्य' का नामोल्लेख किया है।

(ग) उपनिषद्—यद्यपि पाणिनि ने ग्रंथ के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का व्यवहार नहीं किया है, तथापि १. ४. ७९ से ज्ञात होता है कि उनका परिचय इन ग्रंथों से अवश्य था। पूर्वोक्त सूत्र का अर्थ है कि जीविका तथा उपनिषद् शब्द को औपम्य (सादृश्य) के अर्थ में गतिसंज्ञा होती है। यदि ग्रंथकार को शब्दों के मूल अर्थ का पता नहीं होता तो उसे उनके उपमासूचक अर्थ में व्यवहार करना उचित नहीं था। जीविका के मूल अर्थ को जाने विना 'जीविका के तुल्य' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इससे मेरी सम्मति में उक्त सूत्र में 'उपनिषद्' शब्द को औपम्यार्थ—(रहस्यभूत के अर्थ) में प्रयुक्त होने से पाणिनि की इन दार्शनिक ग्रंथों से अभिज्ञता का पूरा पता चलता है।

(घ) कल्पसूत्र—यज्ञ के अंगभूत इन आवश्यक ग्रंथों का उल्लेख केवल साधारणतया ही (४. ३. १०५) किया गया है। इनमें प्राचीन मुनियों से प्रोक्त कल्पग्रंथों का ही ह्वाल दिया गया है, यद्यपि ग्रंथों के व्यक्तिगत नाम नहीं दिये गये हैं। काशिका ने 'पिङ्ग' तथा 'अरुणपराज' नामक प्राचीन कल्पग्रंथों के रचयिताओं के नाम दिये हैं जिनके द्वारा रचित कल्पसूत्र क्रमशः 'पैङ्गी' तथा 'अरुणपराजी' कहे जाते हैं। आधुनिक कल्प के कर्ता मुनियों में 'अश्मरथ' का उल्लेख काशिकाकार ने किया है (सू० ४।३।१०५)।

(ङ) सूत्रग्रन्थ—पाणिनि के समय में सूत्रग्रंथों की रचना का प्रचार खूब हो चला था। अनेक स्थानों पर सूत्रों का उल्लेख पाया जाता है। इनमें 'पराशर्य' तथा 'कर्मन्द' के द्वारा प्रोक्त भिक्षु सूत्रों का नाम दिया गया है। 'भिक्षुसूत्र' संन्यासियों के आचार के द्योतक—उनके जीवन दिशा को वतलाने वाले तथा उनके ध्यान मनन को वतलाने वाले—ग्रंथ थे। इन सूत्रों का नाम पाणिनि को छोड़ कर और कहीं नहीं मिलता। भामतीकार वाचस्पति मिश्र की सम्मति में पूर्वोक्त 'पराशर्य' भिक्षुसूत्र से वादरायण व्यास रचित 'ब्रह्मसूत्र' से आशय है।

उस काल में नाटककला की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी वरन् विशेष उन्नति भी हो चुकी थी। नाटक करने वाले नट तथा उनके कार्य का उल्लेख स्पष्ट वतला रहा है कि जन साधारण में इसका प्रचार खूब था। 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' द्वारा प्रोक्त नटसूत्रों के उल्लेख से भी नाटकीय कला की विशेष उन्नति तथा प्रचार का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है (४. ३. ११०-१११)। संभवतः भरत-नाट्यशास्त्र के वहुल प्रचार के कारण इन सूत्रों का लोप ही हो गया और आज तो वे अतीत काल के गर्भ में सदा के लिए धँस गये हैं।

(३) उपज्ञात—(४. ३. ११५)—नये उपजवाले ग्रंथों के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया जाता था। जो ग्रन्थ विलकुल ही मौलिक हों, जिसकी विना किसी के उपदेश से रचना की गई हो (विनोपदेशेन ज्ञातमुपज्ञातं स्वयमभि-

सम्वर्द्धमित्यर्थः—का०) तथा नवीनता लिये हों उन्हें उपज्ञा या 'उपज्ञात' कहते थे। पाणिनि ने उपज्ञात ग्रन्थों का नाम निर्देश नहीं किया है, परन्तु काशिकाकार ने ही काशकृत्स्न, आपशलि तथा पाणिनि के व्याकरण को इसके अन्तर्गत माना है। जिस प्रकार मान तथा तौल के नाप पहिले-पहल नन्द (राजा) ने चलाये थे[1] उसी प्रकार पाणिनि ने भी 'अकालक' व्याकरण की रचना की।[2] पाणिनि के पहिले काल सूचित करने के लिए 'भवन्ती' (लट्), परोक्षा (लिट्), ह्यस्तनी (लङ्), अद्यतनी (लुङ्) आदि नाम पाये जाते थे। पाणिनि ने सबसे पहिले इन्हें हटाकर लकार के बारहखड़ी के साथ 'ट' या 'ङ्' जोड़कर अपनी मौलिक बुद्धि का परिचय दिया। इसीलिए पाणिनि का व्याकरण 'अकालक' कहा गया है। पाणिनि के फुफेरे भाई 'संग्रहकार' व्याडि ने भी दस लकारों के 'ङ्' 'ट्' के स्थान पर 'हुप्' जोड़कर नई पद्धति चलाई थी। अतएव इस नवीनता के कारण काशिका ने व्याडयुपज्ञं हुप्करणम् (दुष्करणम् नहीं) लिखा है।

(४) कृत—(४. ३. ८७)—किसी ग्रन्थकार द्वारा बनाए गये ग्रन्थ के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पाणिनि ने किया है। इस विभाग में अनेक ग्रन्थों का नाम पाया जाता है:—

(१) शिशुक्रन्दीय अर्थात् बच्चों के रोने के विषय में लिखे गये ग्रन्थ।
(२) यमसभीय—यमराज की सभा विषयक रचना।
(३) इन्द्रजननीय—इन्द्र की उत्पत्ति के बारे में रचा ग्रन्थ ४।३।८८।
(४) श्लोक—(इसके कर्ता को 'श्लोककार' कहते थे) ३. २. २३।
(५) गाथा।
(६) सूत्र।
(७) पद।
(८) 'महाभारत' शब्द का निर्देश ६. २. ३८ में किया गया है। सूत्रों से जान पड़ता है कि पाणिनि को महाभारत युद्ध के प्रधान-प्रधान पात्रों से पूरा परिचय था। पाणिनि ने ८।३।९५ में ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर के नाम की व्युत्पत्ति बतलाई है और ४. ३. ९८ में न केवल वासुदेव और अर्जुन के ही नाम पाये जाते हैं वरन् इनकी भक्ति करने वाले लोगों की भी चर्चा पाई जाती है। अतः पाणिनि 'महाभारत' को भलीभांति जानते थे।
(९) ऋतुओं के विषय में लिखे गये ग्रन्थ ४. २. ६३ में वसन्त विषयक ग्रन्थ के पढ़ने वाले का नाम 'वासन्तिक' कहा गया है।

(४. ४. १०२) में 'कथा' तथा 'कथा' में प्रवीण 'काथिक' लोगों का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु सूत्र से यह नहीं जान पड़ता कि 'कथा' रचित ग्रन्थ थे वरन् यह केवल कहानियाँ थीं, जो साधारणतया लोगों में प्रसिद्ध रहती हैं। ४. ४. ११६ में 'कृतग्रन्थ' का उल्लेख है। काशिका वृत्ति में वररुचि कृत श्लोक, हैकुपाद तथा भैकुराट ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं। 'वाररुच काव्य' (४।३।१०१ का भाष्य) का नाम महाभाष्य में भी पाया जाता है। सुभाषितावलि आदि सूक्तिग्रन्थों में भी 'वररुचि' के नाम से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। काशिका में भी वररुचि के कवि होने की बात सत्य प्रमाणित होती है। राजशेखर ने वररुचि के काव्य का नाम कण्ठाभरण दिया है। बहुत संभव है कि महाभाष्य में उल्लिखित वाररुच काव्य यही हो :—

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहण प्रियः॥

---

[1] नन्दोपक्रमाणि मानानि।

[2] पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्।—काशिका। तेन तत्प्रथमतः प्रणीतम्। स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकारं न कृतवान्—न्यास।

(५) व्याख्यानग्रन्थ—(४. ३. ६६) इन रचनाओं में ग्रन्थों की व्याख्या या टीका होती थी।

(क) सोमयाग तथा अनेक यज्ञों की व्याख्या (४. ३. ६८)।

(ख) ऋषि के द्वारा व्याख्यात अध्याय (४. ३. ६९) काशिकाकार ने वसिष्ठ तथा विश्वामित्र द्वारा व्याख्यात अध्यायों के नाम दिये हैं।

(ग) पौरोडाश तथा पुरोडाश विषयक व्याख्यान (४. ३. ७०)।

(घ) छन्दस् की व्याख्या जिन्हें 'छन्दस्यः' तथा 'छान्दसः' कहते थे (४. ३. ७१)।

(ङ) ब्राह्मण, प्रथम, अध्वर, ऋच्, पुरश्चरण, नाम तथा आख्यात के व्याख्यान ग्रन्थ (४. ३. ७२)।

(च) 'ऋगयन' नामक ग्रन्थ की व्याख्या जिसे 'आर्गायन' कहा गया है (४. ३. ७३)। इस गण में काशिकाकार ने न्याय, उपनिषद्, शिक्षा आदि अनेक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

इन ग्रन्थों के नामोल्लेख के अतिरिक्त पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरण रचयिताओं के नाम तथा मत स्थान स्थान पर उल्लिखित किये हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में आपिशलि (६. १. ९२), काश्यप (१, २, २५), गार्ग्य (८. ३. २०), गालव (७. १. ७४), चाक्रवर्मण (६।१।१३०), भारद्वाज (७।२. ६७), शाकटायन (३. ४. १११) शाकल्य (१।१।१६), सेनक (५।४।११२), स्फोटायन (६।१।१२३)—इन दस वैयाकरणों की सम्मतियाँ उल्लिखित हैं। 'यास्कादिभ्यो गोत्रे' में निरुक्तकार 'यास्क' का भी नाम दिया गया है। इनमें ऋग्वेद प्रतिशाख्य के रचयिता शाकल्य का नाम अति प्रसिद्ध है। अन्य ग्रन्थकारों के बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

वार्तिककार कात्यायन ने भी 'पौष्करसादि' नामक व्याकरण के आचार्य का उल्लेख किया है (चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्)। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में भारद्वाजीय (३. १. ८९), शौनग, कुणरवादव, सौर्यभागवत तथा कुणि का उल्लेख किया है, परन्तु इन सबसे अधिक महत्त्व की बातों का पता काशिका से लगता है। ४. २. ६५ के ऊपर काशिका वृत्ति से 'व्याघ्रपद' तथा 'काशकृत्स्न' नामक व्याकरण के आचार्यो का पता लगता है। व्याघ्रपद ने सूत्रों में ही अपना ग्रन्थ लिखा था, जो दस अध्यायों का था। काशकृत्स्न का नाम (४. ३. ११५) की वृत्ति में उपज्ञात के उदाहरण में उल्लिखित है। इन्होंने भी सूत्र में ही व्याकरणग्रन्थ रचा था, जो तीन अध्यायों में समाप्त हुआ था। (पाणिनीयमष्टकं सूत्रं तदधीते 'अष्टकाः पाणिनीयाः, दशका वैयाघ्रपदीयाः त्रिकाः काशकृत्स्नाः)।[1]

छन्दःशास्त्र की भी विशेष उन्नति का पता सूत्रों से लगता है। (३. ३. ३४) में 'विष्टार' शब्द की सिद्धि छन्द के नाम के अर्थ में की गई है। काशिकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि सूत्र के छन्दोनाम से मंत्र—ब्राह्मण का अर्थ नहीं है, बल्कि गायत्री आदि विशेष छन्दों से है[2]। उन्होंने विष्टार पंक्ति तथा विष्टार बृहती का नाम उदाहरण के लिए दिया है।

अष्टाध्यायी तथा उसके व्याख्याग्रन्थों के अध्ययन करने से प्राचीन संस्कृत-साहित्य के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें जानी जा सकती हैं। यहाँ केवल पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट साहित्य का सामान्य—परिचयमात्र दिया गया है।

काशी]



---

[1] इस उदाहरण में 'अष्टकं सूत्रम्' से आशय आठ सूत्रों का नहीं है बल्कि 'आठ अध्यायों में रचे गये सूत्रों से है।' भट्टोजिदीक्षित द्वारा की गई 'अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य तदष्टकं पाणिनेः सूत्रम्' अष्टक शब्द की व्युत्पत्ति से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। संख्यायाः संज्ञा संघसूत्राध्ययनेषु (५।१।५८) के अधिकार में संख्याया अतिशदन्तायाः कन् (५।१।२२) से अष्ट शब्द से कन् प्रत्यय करने पर 'अष्टक' निष्पन्न हुआ है। अतएव काशिका के उदाहरण से यही जान पड़ता है कि व्याघ्रपद का सूत्रग्रन्थ दस अध्यायों में तथा 'काशकृत्स्न' का तीन अध्यायों में था। इनसे सूत्रों की संख्या समझना भूल है।

[2] वृत्तमत्र छन्दो गृह्यते, यत्र गायत्र्यादयो विशेषाः। न मन्त्र-ब्राह्मणेनाम ग्रहणात्। काशिका।

प्रतिभा-मूर्ति सिद्धसेन दिवाकर

पं० सुखलाल संघवी

भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्षी है। पश्चिमीय दर्शनों की तरह वे मात्र बुद्धिप्रधान नहीं हैं। उनका उद्गम ही आत्मशुद्धि की दृष्टि से हुआ है। वे आत्मतत्त्व को और उसकी शुद्धि को लक्ष्य में रखकर ही बाह्य जगत् का विचार करते हैं। इसलिए सभी आस्तिक भारतीय दर्शनों के मौलिक तत्त्व एक से हैं।

जैनदर्शन का स्रोत भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के पहले से ही किसी-न-किसी रूप में चला आ रहा है, यह वस्तु इतिहास सिद्ध है। जैन दर्शन की दिशा चारित्र-प्रधान है, जो कि मूल आधार आत्मशुद्धि की दृष्टि से विशेष संगत है। उसमें ज्ञान, भक्ति आदि तत्त्वों का स्थान अवश्य है, पर वे सभी तत्त्व चारित्र-पर्यवसायी हों तभी जैनत्व के साथ संगत हैं। केवल जैन परम्परा में ही नहीं, बल्कि वैदिक, बौद्ध आदि सभी परम्पराओं में जब तक आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहा या वस्तुतः उनमें आध्यात्मिकता जीवित रही तब तक उन दर्शनों में तर्क और वाद का स्थान होते हुए भी उसका प्राधान्य न रहा। इसलिए हम सब परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में उतना तर्क और वाद-ताण्डव नहीं पाते हैं, जितना उत्तरकालीन ग्रन्थों में।

आध्यात्मिकता और त्याग की सर्वसाधारण में निःसीम प्रतिष्ठा जम चुकी थी। अतएव आध्यात्मिक पुरुषों के आसपास सम्प्रदाय भी अपने आप जमने लगते थे। जहाँ सम्प्रदाय बने कि फिर उनमें मूलतत्त्व में भेद न रहने पर भी छोटी-छोटी बातों में और अवान्तर प्रश्नों में मतभेद और तज्जन्य अवान्तर विवादों का होते रहना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे सम्प्रदायों की नींव गहरी होती गई और वे फैलने लगे, उनमें परस्पर संघर्ष भी बढ़ता चला, जैसे अनेक छोटे-बड़े राज्यों के बीच चढ़ा-उतरी का संघर्ष होता रहता है। राजकीय संघर्षों ने लोकजीवन में जितना क्षोभ उत्पन्न किया है, उतना ही क्षोभ, बल्कि उससे भी अधिक साम्प्रदायिक संघर्ष ने किया है। इस संघर्ष में पड़ने के कारण सभी आध्यात्मिक दर्शन तर्कप्रधान बनने लगे। कोई आगे तो कोई पीछे, पर सभी दर्शनों में तर्क और न्याय का बल बढ़ना शुरू हुआ। प्राचीन समय में आन्वीक्षिकी एक सर्वसाधारण खास विद्या थी, उसका आधार लेकर धीरे-धीरे सब संप्रदायों ने अपने दर्शन के अनुकूल आन्वीक्षिकी की रचना की। मूल आन्वीक्षिकी विद्या वैशेषिक दर्शन के साथ घुल मिल गई। पर उसके आधार से कभी बौद्ध परम्परा ने तो कभी मीमांसकों ने, कभी सांख्य ने तो कभी जैनों ने, कभी अद्वैत वेदान्त ने तो कभी अन्य वेदान्त परम्पराओं ने अपनी स्वतन्त्र आन्वीक्षिकी की रचना शुरू कर दी। इस प्रकार इस देश में प्रत्येक प्रधान दर्शन के साथ एक या दूसरे रूप में तर्कविद्या का संबंध अनिवार्य हो गया।

जब प्राचीन आन्वीक्षिकी का विशेष बल देखा तब बौद्धों ने संभवतः सर्वप्रथम अलग स्वानुकूल आन्वीक्षिकी का खाका तैयार करना शुरू किया, संभवतः उसके बाद ही मीमांसकों ने। जैनसम्प्रदाय अपनी मूल प्रकृति के अनुसार अधिकतर संयम, त्याग, तपस्या आदि पर विशेष जोर देता आ रहा था, पर आसपास के वातावरण ने उसे भी तर्कविद्या की ओर झुकाया। जहाँ तक हम जान पाये हैं, उससे मालूम पड़ता है कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी तक जैनदर्शन का स्वतन्त्र तर्कविद्या की ओर खास झुकाव न था। उसमें जैसे-जैसे संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रबल होता गया वैसे-वैसे तर्क-विद्या का आकर्षण भी बढ़ता गया। पाँचवीं शताब्दी के पहले के जैन वाङ्मय और इसके बाद के जैन वाङ्मय में हम स्पष्ट भेद देखते हैं। अब देखना यह है कि जैन वाङ्मय के इस परिवर्तन का आदि सूत्रधार कौन है? और उसका स्थान भारतीय विद्वानों में कैसा है?

आदि जैन तार्किक

जहाँ तक मैं जानता हूँ, जैन परम्परा में तर्कविद्या का और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मय का आदि प्रणेता है सिद्धसेन दिवाकर। मैंने दिवाकर के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध में अन्यत्र[1] विस्तृत ऊहापोह किया है। यहाँ तो यथासंभव संक्षेप में उनके व्यक्तित्व का सोदाहरण परिचय कराना है।

सिद्धसेन का सम्बन्ध उनके जीवन-कथानकों के अनुसार उज्जैनी और उसके अधिपति विक्रम के साथ अवश्य रहा है; पर वह विक्रम कौन सा था, यह एक विचारणीय प्रश्न है। अभी तक के निश्चित प्रमाणों से जो सिद्धसेन का समय विक्रम की पंचम शताब्दी का उत्तरार्ध और बहुत हुआ तो छठी का कुछ प्रारम्भिक अंश जान पड़ता है, उसे देखते हुए अधिक संभव यह है कि उज्जैनी का वह राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय या उसका पौत्र स्कन्दगुप्त होगा, जो कि विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सभी नये-पुराने उल्लेख यही कहते हैं कि सिद्धसेन जन्म से ब्राह्मण थे। यह कथन बिलकुल सत्य जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने प्राकृत जैन वाङ्मय को संस्कृत में रूपान्तरित करने का जो विचार निर्भयता से सर्वप्रथम किया वह ब्राह्मण-सुलभ शक्ति और रुचि का ही द्योतक है। उन्होंने उस युग में जैन दर्शन तथा दूसरे दर्शनों को लक्ष्य करके जो अत्यन्त चमत्कारपूर्ण संस्कृत पद्यबद्ध कृतियाँ दी हैं, वह भी जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्व की ही द्योतक हैं। उनकी जो कुछ थोड़ी-बहुत कृतियाँ प्राप्त हैं, उनका एक-एक पद और वाक्य उनकी कवित्वविषयक, तर्कविषयक, और समग्र भारतीय-दर्शन विषयक तलस्पर्शी प्रतिभा को व्यक्त करता है।

आदि जैन कवि और आदि जैन स्तुतिकार

हम जब उनका कवित्व देखते हैं तब अश्वघोष, कालिदास आदि याद आ जाते हैं। ब्राह्मणधर्म में प्रतिष्ठित आश्रम व्यवस्था के अनुगामी कालिदास ने विवाह भावना का औचित्य बतलाने के लिए विवाह-कालीन नगर-प्रवेश का प्रसङ्ग लेकर उस प्रसङ्ग से हर्षोत्सुक स्त्रियों के अवलोकन-कौतुक का जैसा मार्मिक शब्द-चित्र खींचा है वैसा चित्र अश्वघोष के काव्य में और सिद्धसेन की स्तुति में भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि अश्वघोष और सिद्धसेन दोनों श्रमणधर्म में प्रतिष्ठित एकमात्र त्यागाश्रम के अनुगामी हैं। इसलिए उनका वह चित्र वैराग्य और गृहत्याग के साथ मेल खाता है। अतः उसमें बुद्ध और महावीर के गृहत्याग से खिन्न और उदास स्त्रियों की शोकजनित चेष्टाओं का वर्णन है, न कि हर्षोत्सुक स्त्रियों की चेष्टाओं का। तुलना के लिए नीचे के पद्यों को देखिए—

"अपूर्वशोकोपनतक्लमानि नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि।
विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि॥
मुग्धोन्मुखाक्षाण्युपदिष्टवाक्यसंदिग्धजल्पानि पुरःसराणि।
बालानि मार्गाचरणक्रियाणि प्रलंबवस्त्रान्तविकर्षणानि॥
अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीर्घदीनेक्षणाः साश्रुमुखाश्च पौराः।
संसारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो न भावशुद्धं जगृहुर्मनस्ते॥"

(सिद्ध० ५-१०, ११, १२)

"अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः॥

[1] देखिए भारतीय विद्या, बा० श्री बहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ पृ० १५२-१५४। तथा सन्मतितर्कप्रकरण भाग ६।

विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः ।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विना कृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥
अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः ।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः ॥"

(अश्व० बुद्ध० सर्ग ८-२०, २१, २२)

"तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५६॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥५९॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥६३॥"

(कालि० कुमार० सर्ग० ७)

सिद्धसेन ने गद्य में कुछ लिखा हो तो पता नहीं है। उन्होंने संस्कृत में बत्तीस बत्तीसियाँ रची थीं, जिनमें से इक्कीस अभी लभ्य हैं। उनका प्राकृत में रचा 'सम्मति प्रकरण' जैनदृष्टि और जैनमन्तव्यों को तर्कशैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैनवाङ्मय में सर्व प्रथम ग्रन्थ है, जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वानों ने किया है।

संस्कृत बत्तीसियों में शुरू की पाँच और ग्यारहवीं स्तुतिरूप हैं। प्रथम की पाँच में महावीर स्तुति है, जब कि ग्यारहवीं में किसी पराक्रमी और विजेता राजा की स्तुति है। ये स्तुतियाँ अश्वघोष-समकालीन बौद्ध-स्तुतिकार मातृचेट के 'अध्यर्धशतक' तथा पश्चाद्वर्ती आर्यदेव के चतुःशतक की शैली की याद दिलाती हैं। सिद्धसेन ही जैन-परम्परा का आद्य संस्कृत स्तुतिकार है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो कहा है "क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा" वह बिलकुल सही है। स्वामी समन्तभद्र की 'स्वयंभूस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो दार्शनिक स्तुतियाँ, सिद्धसेन की कृतियों का अनुकरण जान पड़ती हैं। हेमचन्द्र ने भी उन दोनों का अपनी दो बत्तीसियों के द्वारा अनुकरण किया है।

बारहवीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में उदाहरण रूप से लिखा है कि 'अनुसिद्धसेनं कवयः'। इसका भाव यदि यह हो कि जैन-परम्परा के संस्कृत कवियों में सिद्धसेन का स्थान सर्वप्रथम है (समय की दृष्टि से और गुणवत्ता की दृष्टि से अन्य सभी जैनकवियों का स्थान सिद्धसेन के बाद आता है) तो यह कथन आज तक के जैन-वाङ्मय की दृष्टि से अक्षरशः सत्य है। उनकी स्तुति और कविता के कुछ नमूने देखिये।

"स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥
समन्तसर्वाक्षगुणं निरक्षं स्वयंप्रभं सर्वगतावभासम् ।
अतीतसंख्यानमनन्तकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥
कुहेतुतर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासनवर्धमानं स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥"—सिद्ध० १, १–३

स्तुति का यह आरम्भ उपनिषद् की भाषा और परिभाषा में विरोधालंकार गर्भित है।

"एकान्तनिर्गुणभवन्तमुपेत्य सन्तो यत्नार्जितानपि गुणान् जहति क्षणेन ।
क्लीबादरस्त्वयि पुनर्व्यसनोल्वणानि भुंक्ते चिरं गुणफलानि हितापनष्टः ॥"—सिद्ध० २.२३

इसमें सांख्य परिभाषा के द्वारा विरोधाभास गर्भित स्तुति है।

"क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,
स्वभावनियताः प्रजाः समयतंत्रवृत्ताः क्वचित्।
स्वयं कृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्नवा विषदवाददोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः॥" सिद्ध० ३.८.

इसमें श्वेताश्वतर उपनिषद् के भिन्न-भिन्न कारणवाद के समन्वय द्वारा वीर के लोकोत्तरत्व का सूचन है।

"कुलिशेन सहस्रलोचनः सविता चांशुसहस्रलोचनः।
न विदारयितुं यदीश्वरो जगतस्तद्भवता हतं तमः॥" सिद्ध ४.३

इसमें इन्द्र और सूर्य से उत्कृष्टत्व दिखा कर वीर के लोकोत्तरत्व का व्यंजन किया है।

"न सदःसु वदन्नशिक्षितो लभते वक्तृविशेषगौरवम्।
अनुपास्य गुरुं त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निर्जितम्॥"सिद्ध०४.७

इसमें व्यतिरेक के द्वारा स्तुति की है कि हे भगवन्! आप ने गुरु सेवा के विना किये भी जगत का आचार्य पद पाया है जो दूसरों के लिए सम्भव नहीं।

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥" सिद्ध० ४.१५.

इसमें सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान् में सब दृष्टियों के अस्तित्व का कथन है जो अनेकान्तवाद की जड़ है।

"गतिमानथ चाक्रियः पुमान् कुरुते कर्म फलैर्न युज्यते।
फलभुक् च न चार्जनक्षमो विदितो यैर्विदितोऽसि तैर्मुने॥" सिद्ध० ४.२६

इसमें विभावना-विशेषोक्ति के द्वारा आत्म-विषयक जैन-मन्तव्य प्रकट किया है।

किसी विजेता और पराक्रमी नृपति के गुणों की समग्र स्तुति लोकोत्तर कवित्व पूर्ण है। एक ही उदाहरण देखिए—

"एकां दिशं व्रजति यद्गतिमद्गतं च तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु।
यातं कथं दशदिगन्तविभक्तमूर्ति युज्येत वक्तुमुत वा न गतं यशस्ते॥ "सिद्ध० ११.३

आद्य जैन वादी

दिवाकर आद्य जैनवादी हैं। वे वादविद्या के सम्पूर्ण विशारद जान पड़ते हैं, क्योंकि एक ओर उन्होंने सातवीं वादोपनिषद् बत्तीसी में वादकालीन सब नियमोपनियमों का वर्णन करके कैसे विजय पाना यह बतलाया है तो दूसरी ओर आठवीं बत्तीसी में वाद का पूरा परिहास भी किया है।

दिवाकर आध्यात्मिक-पथ के त्यागी पथिक थे और वादकथा के भी रसिक थे। इसलिए उन्हें अपने अनुभव से जो आध्यात्मिकता और वाद-विवाद में असंगति दीख पड़ी, उसका मार्मिक चित्रण किया है। वे एक मांस-पिण्ड में लुब्ध और लड़ने वाले दो कुत्तों में तो कभी मैत्री की सम्भावना कहते हैं, पर दो सहोदर वादियों में कभी सख्य सम्भव नहीं देखते। इस भाव का उनका चमत्कारी उद्गार देखिये —

"ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः।
स्यात्सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात्॥"८.१

वे स्पष्ट कहते हैं कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वादी का मार्ग अन्य; क्योंकि किसी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नहीं कहा है।

"अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरंभं क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥" ८.७.

आद्य जैन दार्शनिक व आद्य सर्वदर्शनसंग्राहक

दिवाकर आद्य जैनदार्शनिक तो हैं ही, पर साथ ही वे आद्य सर्व भारतीय दर्शनों के संग्राहक भी हैं। सिद्धसेन के पहले किसी भी अन्य भारतीय विद्वान् ने संक्षेप में सभी भारतीय दर्शनों का वास्तविक निरूपण यदि किया हो तो उसका पता अभी तक इतिहास को नहीं है। एक बार सिद्धसेन के द्वारा सब दर्शनों के वर्णन की प्रथा प्रारम्भ हुई कि फिर आगे उसका अनुकरण किया जाने लगा। आठवीं सदी के हरिभद्र ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' लिखा, चौदहवीं सदी के माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-संग्रह' लिखा; जो सिद्धसेन के द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रथा का ही विकास है। जान पड़ता है, सिद्धसेन ने चार्वाक, मीमांसक आदि प्रत्येक दर्शन का वर्णन किया होगा। परन्तु अभी जो बत्तीसियाँ लभ्य हैं, उनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, आजीवक और जैनदर्शन की निरूपक बत्तीसियाँ ही हैं। जैनदर्शन का निरूपण तो एकाधिक बत्तीसियों में हुआ है। पर किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् को आश्चर्यचकित करने वाली सिद्धसेन की प्रतिभा का स्पष्ट दर्शन तब होता है जब हम उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक और वेदवाद विषयक दो बत्तीसियों को पढ़ते हैं। मैं नहीं जानता कि भारत में ऐसा कोई विद्वान् हुआ हो जिसने पुरातनत्व और नवीनत्व की इतनी क्रान्तिकारिणी तथा हृदयहारिणी एवं तलस्पर्शिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान् को भी नहीं जानता कि जिस अकेले ने एक बत्तीसी में प्राचीन सब उपनिषदों तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद भाषा में ही शाब्दिक और आर्थिक अलंकार युक्त चमत्कारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैनपरम्परा में तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान् हुआ ही नहीं है जो इतना गहरा उपनिषदों का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद भाषा में ही तत्त्व का वर्णन कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एकमात्र उपनिषदों की तथा गीता की प्रतिष्ठा है, उस औपनिषद वैदिक परम्परा के विद्वान् भी यदि सिद्धसेन की उक्त बत्तीसी को देखेंगे तो उनकी प्रतिभा के क़ायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थरत्न दृष्टिपथ में आने से क्यों रह गया। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत बत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान् का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ-न-कुछ बिना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है कि यदि कोई मूल उपनिषदों का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान् होता तो भी उस पर कुछ-न-कुछ लिखता। जो कुछ हो, मैं यहाँ सिद्धसेन की प्रतिभा के निदर्शकरूप से उस पुरातनत्व समालोचना विषयक द्वात्रिंशिका में से कुछ ही पद्य भावसहित देता हूँ और सविवेचन समूची वेदवादद्वात्रिंशिका स्वतन्त्र रूप से अलग दूंगा, जिसके प्रारम्भ में उसमें प्रवेश करने के लिए समुचित प्रास्ताविक वक्तव्य भी है।

कभी-कभी सम्प्रदायाभिनिवेश वश अपढ़ व्यक्ति भी, आज ही की तरह उस समय भी विद्वानों के सम्मुख चर्चा करने की धृष्टता करते होंगे। इस स्थिति का मजाक करते हुए सिद्धसेन कहते हैं कि बिना ही पढ़े पण्डितंमन्य व्यक्ति विद्वानों के सामने बोलने की इच्छा करता है फिर भी उसी क्षण वह नहीं फट पड़ता तो प्रश्न होता है कि क्या कोई देवता दुनिया पर शासन करने वाले हैं? अर्थात् यदि कोई न्यायकारी देव होता तो ऐसे व्यक्ति को तत्क्षण ही सीधा क्यों नहीं करता?

"यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः ?
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः" (६. १)

विरोधी बढ़ जाने के भय से सच्ची बात भी कहने में बहुत से समालोचक हिचकिचाते हैं। इस भीरु मनोदशा

का जवाब देते हुए दिवाकर कहते हैं कि पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था स्थिर की है, क्या वह सोचने पर वैसी ही सिद्ध होगी ? अर्थात् सोचने पर उसमें भी त्रुटि दिखेगी तब केवल उन मृत पुरुखों की जमी प्रतिष्ठा के कारण हाँ में हाँ मिलाने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। यदि विद्वेषी बढ़ते हों तो बढ़ें।

"पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहन्न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥" (६. २)

हमेशा पुरातन प्रेमी, परस्पर विरुद्ध अनेक व्यवहारों को देखते हुए भी अपने इष्ट किसी एक को यथार्थ और बाक़ी को अयथार्थ क़रार देते हैं। इस दशा से ऊब कर दिवाकर कहते हैं कि सिद्धान्त और व्यवहार अनेक प्रकार के हैं, वे परस्पर विरुद्ध भी देखे जाते हैं। फिर उनमें से किसी एक की सिद्धि का निर्णय जल्दी कैसे हो सकता है ? तथापि यही मर्यादा है, दूसरी नहीं, ऐसा एक तरफ़ निर्णय कर लेना यह तो पुरातन प्रेम से जड़ बने हुए व्यक्तियों को ही शोभा देता है, मुझ जैसे को नहीं—

"बहुप्रकारा स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः ।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजड़स्य युज्यते ॥" (६. ४)

जब कोई नई चीज़ आई तो चट से सनातन संस्कारी कह देते हैं कि, यह तो पुराना नहीं है। इसी तरह किसी पुरातन बात की कोई योग्य समीक्षा करे तब भी वे कह देते हैं कि यह तो बहुत पुराना है। इसकी टीका न कीजिये। इस अविवेकी मानस को देख कर मालविकाग्निमित्र में कालिदास को कहना पड़ा है कि—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥"

ठीक इसी तरह दिवाकर ने भी भाष्यरूप से कहा है कि यह जीवित वर्तमान व्यक्ति भी मरने पर आगे की पीढ़ी की दृष्टि से पुराना होगा, तब वह भी पुरातनों की ही गिनती में आ जायगा। जब इस तरह पुरातनता अनवस्थित है अर्थात् नवीन भी कभी पुरातन है और पुराने भी कभी नवीन रहे; तब फिर अमुक वचन पुरातन कथित है ऐसा मान कर परीक्षा बिना किये उस पर कौन विश्वास करेगा ?

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥" (६. ५)

पुरातन प्रेम के कारण परीक्षा करने में आलसी बन कर कई लोग ज्यों-ज्यों सम्यग् निश्चय कर नहीं पाते हैं, त्यों-त्यों वे उलटे मानों सम्यग् निश्चय कर लिया हो इतने प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि पुराने गुरुजन मिथ्याभाषी थोड़े ही सकते हैं ? मैं मन्दमति हूँ। उनका आशय नहीं समझता तो क्या हुआ ? ऐसा सोचने वालों को लक्ष्य में रख कर दिवाकर कहते हैं कि वैसे लोग आत्मनाश की ओर ही दौड़ते हैं—

"विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥" (६. ६)

शास्त्र और पुराणों में दैवी चमत्कारों और असम्बद्ध घटनाओं को देख कर जब कोई उनकी समीक्षा करता है तब अन्धश्रद्धालु कह देते हैं कि भाई ! हम ठहरे मनुष्य और शास्त्र तो देवरचित हैं। फिर उनमें हमारी गति ही क्या ? इस सर्व सम्प्रदाय-साधारण अनुभव को लक्ष्य में रख कर दिवाकर कहते हैं कि हम जैसे मनुष्यरूपधारियों न ही, मनुष्यों के ही चरित, मनुष्य अधिकारी के ही निमित्त ग्रथित किये हैं। वे परीक्षा में असमर्थ पुरुषों के लिए अपार और गहन भले ही हों, पर कोई हृदयवान् विद्वान् उन्हें अगाध मान कर कैसे मान लेगा ? यह तो परीक्षा-पूर्वक ही उनका स्वीकार-अस्वीकार करेगा—

"मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ॥" (६. ७)

हम सभी का यह अनुभव है कि कोई सुसंगत अद्यतन मानवकृति हुई तो उसे पुराणप्रेमी नहीं छूते जब कि वे ही किसी अस्त-व्यस्त और असंबद्ध तथा समझ में न आ सके, ऐसे विचार वाले शास्त्र के प्राचीनों के द्वारा कहे जाने के कारण प्रशंसा करते नहीं अघाते । इस अनुभव के लिए दिवाकर इतना ही कहते हैं कि वह मात्र स्मृति मोह है, उसमें कोई विवेकपटुता नहीं—

"यदेव किंचिद्विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥" (६.८)

हम अन्त में इस परीक्षाप्रधान बत्तीसी का एक ही पद्य भावसहित देते हैं—

"न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणाववोधप्रभवं हि गौरवं कुलांगनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥" (६. २८)

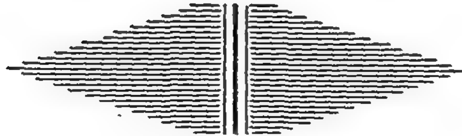
भाव यह है कि लोग किसी-न-किसी प्रकार के बड़प्पन के आवेश से, प्रस्तुत में क्या युक्त है और क्या अयुक्त है इसे तत्त्वतः नहीं देखते । परन्तु सत्य बात तो यह है कि बड़प्पन गुणदृष्टि में ही है । इसके अतिरिक्त और जो बड़प्पन है वह निरा कुलांगना चरित हैं । कोई अंगना मात्र अपने खानदान के नाम पर सद्वृत्त सिद्ध नहीं हो सकती ।

उपसंहार में सिद्धसेन का एक पद्य उद्धृत करता हूँ, जिसमें उन्होंने धार्ष्टयपूर्ण वक्तृत्व या पाण्डित्य का उपहास किया है—

"दैवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः ॥" (२२. १)

सारांश यह है कि मुख का गड्ढा तो दैव ने ही खोद रक्खा है । प्रयत्न यह अपने हाथ की बात है और सुनने वाले सर्वत्र सुलभ हैं । इसलिए वक्ता या पंडित बनने के लिए यदि जरूरत है तो केवल निर्लज्जता की है । एक बार धृष्ट बन कर बोलिए फिर सब कुछ सरल है ।

बंबई]



सिद्धसेन दिवाकरकृत वेदवादद्वात्रिंशिका

पं० सुखलाल संघवी

प्रास्ताविक

यहाँ जिस बत्तीसी का विवेचन करना इष्ट है, वह बत्तीसी अपने नाम के अनुसार वैदिक परम्परा के तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखती है। सिद्धसेन दिवाकर ने जैन-परम्परा के साथ खास सम्बन्ध रखने वाले विषयों के ऊपर जिन-जिन कृतियों की रचना की है सम्भावना यह है कि वे सब उन्होंने जैन-दीक्षा स्वीकार करने के बाद ही लिखी होंगी। क्योंकि वे जन्म से और संस्कार से ब्राह्मण-परम्परा के थे इसलिए जैनसंघ में प्रविष्ट होने के पहले जैन-परम्परा से सम्बन्ध रखने वाली गम्भीर और प्रभावक कृति निर्माण कर सकें ऐसा ज्ञान तो शायद ही प्राप्त कर सकते। परन्तु उनकी जो-जो संस्कृत कृतियाँ जैनेतर विषयों के ऊपर या सर्वसामान्य विषयों के ऊपर हैं, उनकी रचना उन्होंने जैन-दीक्षा स्वीकार करने के पहले भी की होंगी ऐसा सम्भव है। चाहे जो हो, फिर भी ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार सिद्धसेन का छोटी अवस्था से ही वेदों, उपनिषदों, गीता और पुराणों का बलवद् अध्ययन और परिशीलन था—इस बात की साक्षी तो प्रस्तुत वेदवादद्वात्रिंशिका ही अकेली दे सकती है। सिद्धसेन में कवित्व और प्रतिभा के चाहे जैसे स्फुट बीज जन्मसिद्ध होते; परन्तु यदि उनका मानस वेद-वेदान्त आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन और परिशीलनजन्य संस्कारों से परिपूर्ण न होता तो वे कभी वैदिक भाषा, वैदिक छन्द, वैदिक शैली और वैदिक रूपकों तथा कल्पनाओं के द्वारा वेद तथा उपनिषद्गत मान्यता या तत्त्वज्ञान को इस एक ही बत्तीसी में इतनी सफलता से ग्रथित नहीं कर सकते।

प्रस्तुत बत्तीसी का विवेचन करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि इसमें सिद्धसेन ने सामान्यरूप से किस विषय का प्रतिपादन किया है। यद्यपि बत्तीसी के ऊपर कोई टीका या संक्षिप्त टिप्पणी भी नहीं है, इसलिए सिद्धसेन के विवक्षित अर्थ को जानने का साधन केवल मूल बत्तीसी ही है। परन्तु इस बत्तीसी की तुलना जब वेद के मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्भाग के साथ तथा गीता आदि इतर वैदिक माने जाने वाले ग्रन्थों के साथ करते हैं तब इसका सामान्य भाव क्या है, वह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता।

प्रस्तुत बत्तीसी का हृदय समझने के लिए उपर्युक्त ग्रन्थों के साथ उसकी पुनः-पुनः तुलना और विचारणा करते समय मेरे मन पर ऐसी छाप पड़ी है कि सिद्धसेन ने प्रस्तुत बत्तीसी में मुख्यरूप से सांख्य-योग के तत्त्वज्ञान का उपयोग करके ब्रह्म अथवा औपनिषद' पुरुष का वर्णन किया है। प्रस्तुत बत्तीसी का प्रत्येक पद, प्रत्येक पाद या तद्गत प्रत्येक

' ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थों की तरह पुरुष शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। उनमें से श्वेताश्वतर में प्रयुक्त 'त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' (१, १२) यह पद ध्यान में लेने जैसा है। प्रधानात्मक भोग्य ब्रह्म जीवात्मक भोक्तृ ब्रह्म और ईश्वररूप प्रेरक ब्रह्म—यह त्रिविधि ब्रह्म हैं। और यही त्रिविध ब्रह्म गीता (१५. १६, १७) का क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम यह त्रिविधि ब्रह्म है। उनमें से जो पुरुषोत्तमरूप अंतिम ब्रह्म है, जिसको सेश्वर सांख्य में पुरुष-विशेष कहा है उसका ही बत्तीसी में मुख्यरूप से वर्णन है। यह वस्तु ३१ वें पद्य के 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इस पाद से स्पष्ट सूचित होती है। यही पुरुष औपनिषद है। उपनिषद्काल के समग्र चिंतन के परिणामरूप से जो एक स्वतन्त्र चेतन तत्त्व सिद्ध हुआ है वही औपनिषद पुरुष है। इस तत्त्व के लिए औपनिषद विशेषण बृहदारण्यक (३. ९. २६) में दिया हुआ है वह यह सूचित करता है कि उपनिषद्के चिंतन के पहिले ऐसा चेतनतत्त्व सुनिश्चितरूप से सिद्ध नहीं हुआ था और इस तत्त्व की मान्यता उपनिषद् की ही आभारी है।

विचार देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धसेन के कविमानस में कोई एक ही ग्रन्थ रममाण नहीं था, फिर भी यह प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले जो प्राचीन उपनिषद् हैं और मन्त्र-ब्राह्मण में तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले जो प्रसिद्ध सूक्त हैं उन सब में से श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रभाव कविमानस के ऊपर अधिक प्रमाण में पड़ा है। यह सत्य है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना केवल पाशुपत सम्प्रदाय का अनुसरण करके हुई है जब कि बत्तीसी केवल पाशुपत सम्प्रदाय में बद्ध न रह कर पौराणिक त्रिमूर्तिवाद का भी आश्रय लेती है।

सांख्य के विकास की भूमिकाएँ

इस बत्तीसी में औपनिषद पुरुष का सांख्य-योग तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया और परिभाषा द्वारा पौराणिक त्रिमूर्ति रूप से वर्णन हुआ है। इसलिए बत्तीसी और उसका विवेचन सरलता से समझा जा सके तदर्थ प्रास्ताविक रूप में सांख्य-योग तत्त्वज्ञान का विशिष्ट स्वरूप उसके विकासक्रम के अनुसार यहाँ दिखलाना आवश्यक है।

सांख्य-परम्परा के प्रवाह से सम्बन्ध रखने वाले विचार के भिन्न-भिन्न स्तरों का सुनिश्चित कालक्रम दिखलाना किसी के लिए शक्य नहीं है। फिर भी मानवबुद्धि के विकास की भूमिकाओं के विचार से और भिन्न-भिन्न साहित्यिक प्रमाणों के ऊपर से हम उस परम्परा के तत्त्वज्ञान की भूमिकाओं का पौर्वापर्य ठीक-ठीक निश्चित कर सकते हैं। विशाल अर्थ में सांख्य परम्परा दूसरी किसी भी भारतीय तत्त्वज्ञान की परम्परा की अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है। प्राचीनता तो इससे भी सिद्ध है कि उसके जितने स्तर प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्राप्त होते हैं उतने स्तर दूसरी किसी एक भी परम्परा के प्राप्त नहीं होते। उसकी व्यापकता का ख्याल तो इससे ही आ सकता है कि वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराण, वैद्यक, काव्य-नाटक आदि संस्कृत वाङ्मय तथा सन्त साहित्य और जैन-बौद्ध परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ, इन सब में एक अथवा दूसरे रूप से अल्प या अधिक प्रमाण में सांख्य परिभाषा और सांख्य तत्त्वज्ञान दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहता। इतना ही नहीं, प्राचीन औपनिषद चिन्तन या दर्शन और बौद्ध दर्शन की भूमिका तथा वैष्णव-शैव आदि आगमावलम्बी परम्पराएँ और उत्तरकालीन वेदान्त की सभी परम्पराओं की मूल भूमिका सांख्य परिभाषा, सांख्य प्रक्रिया और सांख्य विचार से ही बनी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्यविचार के प्रथम स्तर का निर्माण भौतिक जगत् अथवा प्रकृति के स्थूल भाग का आश्रय लेकर हुआ होगा; जो एक अथवा दूसरे रूप से चार्वाक के नाम से अथवा भौतिकवाद के नाम से आज तक साहित्य में सुरक्षित रहा है। इस स्तर में प्रकृति का चिन्तन सूक्ष्म या अव्यक्त रूप में प्रारम्भ नहीं हुआ था; परन्तु वह पृथ्वी, जल आदि स्थूल और व्यक्त रूप का अवलम्बन लेकर ही चलता था। पुरुष या आत्मा की कल्पना इस स्तर में विनश्वर स्थूल भूतों के मिश्रण जन्य एक प्रकार से आगे नहीं बढ़ी थी। दूसरा स्तर इस स्थूल भूत के कारणविषयक चिन्तन में से उत्पन्न हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। स्थूल और व्यक्त दिखाई देने वाले तत्त्वों का कारण क्या है? उसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए—इस प्रश्न के उत्तररूप से सूक्ष्म भौतिक तत्त्व की कल्पना अव्यक्त—प्रकृति-रूप में स्थिर हुई और इस कल्पना के साथ ही पुरुष का अर्थ स्थूल और क्षर भौतिक परिणाम में बद्ध न रह करके वह अव्यक्त—प्रकृति पर्यन्त विस्तृत हुआ और जो व्यक्त जगत् का अव्यक्त या अदृश्य कारण है, वही पुरुषरूप में माना जाने लगा। व्यक्त या स्थूल भौतिक जगत् क्षर, चर या विनश्वर है तो क्या उसके कारण अव्यक्त को भी वैसा ही मानना चाहिए? यदि वह भी वैसा ही क्षर हो तो पुनः उसका मूल कारण दूसरा मानना पड़ेगा और इस प्रकार से तो किसी वस्तु का अन्त नहीं आवेगा। इस विचार में से व्यक्त और क्षर जगत् के कारणरूप से माना गया अव्यक्त तत्त्व अक्षर, नित्य, अविनश्वर कल्पित हुआ। और यही पुरुष या आत्मा या जीव तत्त्व है ऐसी विचार सरणी

में से पुरुष तत्त्व भी क्षर में से अक्षर बना। लो० तिलक जो व्याख्या करते हैं उसको मान्य रक्खें[1] तो ऊपर सूचित क्षरपुरुषवाद और अक्षरपुरुषवाद ये दोनों स्तर गीता के '**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते**' इस पद्य में सूचित किये गये हैं। अव्यक्त प्रकृति यही अन्तिम तत्त्व पुरुष है और उससे आगे दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसी २४ तत्त्व वाली सांख्यतत्त्वज्ञानकी दूसरी भूमिका महाभारत में, उसके बाद की २५ और २६ तत्त्व वाली दो भूमिकाओं की तरह वर्णित प्राप्त होती है।[2] परन्तु इस २४ तत्त्व वाली भूमिका का सांख्यदर्शन उसके सच्चे भाव में चरक नामक आयुर्वेदग्रन्थ में विस्तृत वर्णित[3] है। उसमें अव्यक्त—प्रकृति का ही आत्मा, पुरुष, चेतन, परमात्मा, कर्ता, भोक्ता, ब्रह्म आदि रूप से वर्णन है। और उसका ही आश्रय लेकर पुनर्जन्म घटा करके निरात्मवाद का निरसन किया गया है। यह निरात्मवाद ही स्थूल और क्षर भूतराशिविशेष को पुरुष मानने वाली पहली भूमिका है। दूसरी भूमिका में अविनश्वर प्रकृति तत्त्व के प्रविष्ट होते ही उसमें पुनर्जन्म की प्रक्रिया घटाई गई और उसके साथ ही पहली भूमिका के क्षरपुरुषवाद को नास्तिक कह करके निन्दा की गई। यह कहने की तो शायद ही जरूरत होगी कि व्यक्त क्षर तत्त्वमय पुरुष और अव्यक्त अक्षर प्रकृतिमय पुरुष इन दोनों मान्यताओं के समय पुरुष या आत्मा में अनुभव किये जाने वाले ज्ञान सुख-दुःख आदि गुण व्यक्त क्षर तत्त्व के तथा अव्यक्त-प्रकृति तत्त्व के ही हैं ऐसा माना जाता था और यह मान्यता भी सांख्य विचार का आगे चाहे जितना विकास हुआ हो फिर भी वह उसके तत्त्वज्ञान में स्पष्ट रूप से सुरक्षित है। सांख्यतत्त्वज्ञान ने जब प्रकृति से पृथक् और स्वतन्त्र पुरुष का अस्तित्व स्वीकार किया तब भी वह अपनी इस प्राचीन मान्यता को तो पकड़े ही रहा कि ज्ञान, सुख-दुःख, धर्माधर्म आदि गुण या धर्म ये पुरुष के गुण नहीं हैं परन्तु वे तो अव्यक्त या प्रकृति के कार्यप्रपंच में ही आ जाते हैं। क्योंकि वे प्राकृत अन्तःकरण के ही धर्म हैं। अप्राकृत चेतनावाद की भूमिका का अवलम्बन लेकर विचार करने वाले दर्शनों में से जैन और न्याय-वैशेषिक दर्शन ने ज्ञान, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि गुणों को प्राकृत भूमिका से बाहर निकाल करके अप्राकृत स्वतन्त्र चेतन तत्त्व में स्थान दिया। फिर भी अप्राकृत चेतनवाद की भूमिका का स्पर्श करके विचार करने वाले सांख्यदर्शन ने तो उन गुणों को प्राकृत ही माना और अप्राकृत चेतन में उनके अस्तित्व का सर्वथा निषेध किया। इस मौलिक मतभेद का बीज मेरी कल्पनानुसार सांख्य तत्त्वज्ञान की ऊपर वर्णित व्यक्त तत्त्वमय और अव्यक्त प्रकृतिमय पुरुष की दो क्रमिक भूमिकाओं में समाविष्ट है, क्योंकि यदि जैन, न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन की तरह सांख्यदर्शन में अप्राकृत आत्मतत्त्व की भूमिका पहली ही होती तो उसमें भी ज्ञान, सुख-दुःखादि ये गुण आत्मा के ही माने जाते और उसी प्रकार से प्राकृत भाग से अप्राकृत आत्मा का विलक्षणत्व बताया जाता तथा उन गुणों को प्राकृत अन्तःकरण के मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

अव्यक्त प्रकृति यही पुरुष या चेतन है ऐसा जब माना जाने लगा तब उस भूमिका के सामने भी प्रश्न हुआ कि चाहे व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त का स्थान ऊँचा हो, परन्तु अन्त में तो वह भी व्यक्त का कारण होने से व्यक्त कोटि का अर्थात् भौतिक या जड़ ही है और यदि ऐसा हो तो पुरुष, आत्मा या चेतन भी भौतिक या जड़ ही सिद्ध होता है।

---

[1] मेरा अभिप्राय यह है कि लो० तिलक के द्वारा की हुई व्याख्या ठीक नहीं है। 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इसमें कूटस्थ अक्षररूप से सांख्य संमत जीवात्मा ही लेना चाहिए, न कि प्रकृति, क्योंकि प्रकृति कूटस्थ नहीं मानी जाती है, और पुरुष ही कूटस्थ माना जाता है। प्रकृति का समावेश 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इस क्षर भाग में होता है, क्योंकि वह अक्षर होने पर भी कार्यरूप से क्षर भी है। ऐसा अर्थ करने पर गीता के प्रस्तुत (१५. १६, १७) त्रिविधि पुरुष वर्णन में सेश्वर सांख्य की चारों भूमिकाओं का समावेश हो जाता है। जब कि तिलक की व्याख्या मानने पर जीवात्मा का संग्रह उस वर्णन में रह जाता है। गीताकार प्रकृति का संग्रह करे और जीवात्मा को छोड़ दे, यह नहीं बन सकता।

[2] History of Indian philosophy, p. 217. महाभारत; शांतिपर्व, अध्याय ३१८

[3] शारीरस्थानम्। प्रथम अध्याय।

इसलिए इस जड़ आत्मा में चैतन्य का कैसे सम्भव है ? और यदि अव्यक्त प्रकृति में चैतन्य का सम्भव माना जाता है तो उसके प्रपंचरूप व्यक्त भूतों में भी चैतन्य मानना पड़ेगा। और यदि यह स्वीकार किया जाय तो अन्त में भौतिक चेतनवाद ही फलित होता है। वैसी स्थिति में अव्यक्त प्रकृतिमय पुरुष की कल्पना व्यर्थ क्यों न गिनी जाय ? इस प्रश्न के स्पष्टीकरण की विचारणा में से स्वतन्त्र चेतनवाद की नवीन भूमिका सांख्य तत्त्वज्ञान में आई हो ऐसा प्रतीत होता है। उसके बाद तो सांख्य विचारकों ने अव्यक्त प्रकृति से आगे बढ़ करके एक दूसरा तत्त्व स्वीकार किया, जो प्रकृति की तरह अव्यक्त तो माना गया; परन्तु उसे प्रकृति की अपेक्षा विकसित और विलक्षण माना गया। वह तत्त्व स्वतन्त्र और प्रकृति से पृथक् ऐसा चेतन तत्त्व है। यह सांख्य तत्त्वज्ञान की तीसरी भूमिका है, जो आज तक सांख्यदर्शन और तदनुसारी दूसरे सब दर्शनों में प्रधानरूप से रही है। इस भूमिका में यह कल्पना की गई है कि चेतना प्रकृति या उसके व्यक्त कार्यों में नहीं हो सकती है। वे सब तो जड़ और भौतिक कोटि के हैं। चैतन्य उसके बाहर की वस्तु है। और वह जिस तत्त्व में होता है वही चेतन, पुरुष या आत्मा हो सकता है। अव्यक्त प्रकृति और उसके व्यक्त कार्य चाहे जितने क्रियाशील और परिणामजनक हों, फिर भी उन सब को तटस्थ और अलिप्त भाव से मौन प्रेरणा देने वाला चेतन तत्त्व तो बिलकुल स्वतन्त्र और भिन्न ही है। और वही तत्त्व वास्तविक रूप से पुरुष या आत्मा नाम के योग्य है। इस प्रकार कभी व्यक्त कभी अव्यक्त-प्रकृति और कभी उससे पर चेतन तत्त्व, इन तीन भूमिकाओं में पुरुष की कल्पना उत्तरोत्तर आगे बढ़ती गई। सांख्य तत्त्वज्ञान ने जब अव्यक्त-प्रकृति की कल्पना की थी तब उसने उसे परिणमनशील होने पर भी अज—अजन्मा, अनादि या नित्य माना था। परन्तु अब जब उसने पुरुष तत्त्व बिलकुल भिन्न स्वीकार किया तब उसको कैसा मानना, यह प्रश्न उद्भूत हुआ और उसके उत्तर रूप से यह माना जाने लगा कि स्वतन्त्र चेतन तत्त्व केवल प्रकृति के जैसा अजन्मा, अनादि या नित्य ही नहीं है परन्तु वह तो कूटस्थ भी है। अर्थात् जैसे वह उत्पन्न नहीं होता है वैसे उसमें से किसी का आविर्भाव भी नहीं होता है। प्रकृति नित्य होने पर भी प्रसवशील होने से अजा है, जब कि स्वतन्त्र कल्पित चेतन प्रसवधर्मा नहीं है; परन्तु तटस्थ रूप से प्रकृति के प्रसव का निमित्त या उसके प्रसव का साक्षी होने से वह सच्चे अर्थ में पुरुष—प्रेरक और अज भी है। जब इस तीसरी भूमिका में स्वतन्त्र पुरुष तत्त्व की कल्पना हुई तब मानसिक भूमिका के अनुसार प्रत्येक देह में प्रत्येक भिन्न पुरुष ऐसा पुरुषबहुत्ववाद ही था। उस समय अद्वैत या एक पुरुष की कल्पना अवतीर्ण ही नहीं हुई थी।

दूसरी ओर अनेक झुंडों में विभक्त मनुष्य जाति में अपने अपने वर्तुल को पसन्द हो ऐसी विभिन्न देव-देवियों की कल्पना ने गहरी जड़ जमा रखी थी। कोई भी तत्त्वज्ञ सरलता से इन देव-देवियों का स्थान मिटा सके ऐसा नहीं था। इसलिए तत्त्वज्ञों के लिए भी अपने चिन्तनक्षेत्र में इन देव देवियों का स्थान रखना अनिवार्य था। प्रत्येक झुंड अपने ही इष्ट और मान्य देव या देवी को ही सर्वेसर्वा मानता था। जो झुंड प्रभावशाली बनता या उसका इष्टदेव भी वैसा ही प्रभावशाली बनता था। परिवर्तन की यह क्रिया दीर्घकाल से चली आती थी और इसलिए तत्त्वज्ञ भी एक प्रकार से असमंजस में पड़ता जाता था। तत्त्वज्ञ उस समय यह कहने का तो साहस नहीं कर सकता था कि कोई सर्वेसर्वा नहीं है। परन्तु तत्त्वज्ञ की प्रतिभा में एक तत्त्व प्रकाशित होने का अवसर पक गया था। इसलिए किसी अप्रतिम प्रतिभाशील और साहसी-चिन्तक ने विचार प्रकट किया कि अनेक देव और देवियाँ हों तो वे परिमित शक्ति वाली ही हो सकती हैं जैसे कि उनके अनुयायीगण। और जो सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान् नहीं होता है वह सच्चा या महान् देव तो नहीं हो सकता है। इसलिए सब का नियन्त्रण करने वाला ऐसा एक ही महान् देव या देवाधिप है कि जिसके नियमन के अनुसार ही सारा विश्वचक्र चलता है। इस महेश्वर की कल्पना सांख्य तत्त्वज्ञान ने खुद उत्पन्न की हो या फिर उसने दूसरे के पास से ली हो, परन्तु वह सांख्य तत्त्वज्ञान की मुख्य चौथी और अन्तिम भूमिका है। ईश्वररूप से जो तत्त्व स्वीकार किया गया वह चेतनरूप ही हो यह तो स्वाभाविक था। परन्तु दूसरे चेतनों की अपेक्षा ईश्वर चेतन की विशेषता स्वीकार न की जाय तो वैसी मान्यता का कुछ अर्थ ही नहीं रहता। इसलिए सांख्य चिन्तकों ने ईश्वर को चेतन मानने पर भी उसके स्थान की कल्पना

दूसरे चेतनों की अपेक्षा ऊँची की। दूसरे चेतन कूटस्थ होने पर भी प्रकृति के पाश में आते हैं और कभी उस पाश से मुक्त भी होते हैं; परन्तु ईश्वर चेतन तो कभी इस पाश के स्पर्श का अनुभव करता ही नहीं है इसलिए उसके लिए उस पाश से युक्त होने का प्रसंग भी नहीं रहता है। यह विशिष्ट पुरुष या ईश्वर ही गीता में[1] वर्णित पुरुषोत्तम और परब्रह्म है और वही योग सूत्र[2] में प्रतिपादित पुरुष विशेष है। इस प्रकार सांख्य तत्त्वज्ञान की चार भूमिकाएँ फलित हुई। (१) व्यक्त क्षर पुरुष (२) अव्यक्त प्रकृत्यात्मक पुरुष (३) प्रकृतिभिन्न स्वतन्त्र पुरुष (४) स्वतन्त्र पुरुषों में भी मूर्धन्य ऐसा एक पुरुषोत्तम ईश्वर, महेश्वर शिव या पशुपति।

जिसमें विशिष्ट पुरुषरूप से ईश्वर की मान्यता स्थिर हुई वह ऊपर वर्णित सांख्यतत्त्वज्ञान की चतुर्थ भूमिका है। यही भूमिका सांख्य-योग दर्शन के रूप में पहले से आज तक दार्शनिक साहित्य में सुविदित है। निरीश्वर सांख्य-दर्शन परस्पर भिन्न ऐसे प्रकृति और पुरुष सहित पच्चीस तत्त्व स्वीकार करता है। जब कि सेश्वर माना जाने वाला सांख्य-योगदर्शन इसमें ईश्वर तत्त्व का प्रवेश करके छब्बीस तत्त्व स्वीकार करता है। सिद्धसेन ने इसी सांख्य-योग-दर्शन की भूमिका का अवलम्बन लेकर के उसके ऊपर कवित्व के कलामय छींटे छिड़क करके प्रस्तुत कृति की रचना की है। यह सत्य है कि सिद्धसेन ने प्रस्तुत बत्तीसी में चौबीस, पच्चीस या छब्बीस में से एक भी तत्त्वसंख्या का निर्देश नहीं किया है। फिर भी यह बात इतनी सत्य है कि सांख्य-योग के छब्बीस तत्त्वों का संक्षेप में जिन चार विभागों में वर्गीकरण होता है वे चार विभाग प्रस्तुत बत्तीसी में एक अथवा दूसरे रूप में गर्भित हैं, इसलिए वे स्पष्टरूप से सूचित होते हैं। वे चार विभाग इस प्रकार हैं—(१) व्यक्त—क्षर या दृश्य चराचर भौतिक विश्व, (२) अव्यक्त—अक्षर भौतिक मूल कारण सर्वान्तिम सूक्ष्म द्रव्य या प्रकृति, (३) कूटस्थ—अपरिणामी नित्य एवं निर्गुण चेतन पुरुषगण, (४) पहले से ही सदा क्लेश-कर्मादि बन्धन के प्रभाव से विहीन ऐसा एक ईश्वर या विशिष्ट पुरुष।

प्राप्त व्याख्याओं की समीक्षा

आज तक के अध्ययन और चिंतन के परिणाम स्वरूप जो एक बात मेरे ध्यान में सविशेष आती है उसका यहाँ निर्देश करना योग्य है, जिससे दूसरे अभ्यासी उसके ऊपर विचार कर सकें और उस मुद्दे को परीक्षक की दृष्टि से कसौटी पर कस के देख सकें। इस समय लगभग सभी तत्त्वचिंतक उपलब्ध व्याख्याओं के आधार से ऋग्वेद के तत्त्व-विषयक कुछ सूक्तों और वैसे ही अन्य वेद के सूक्तों तथा अति प्राचीन कहे जा सकें ऐसे उपनिषदों के भागों को ब्रह्मपरक समझते हैं और उसके अनुसार ही अर्थ करते हैं। अर्थात् सभी चिंतक और व्याख्याकार चौबीस तत्त्ववाली सांख्यदर्शन की भूमिका के बाद की अव्यक्त से भिन्न ऐसे चेतन और परब्रह्म मानने वाली भूमिका का अवलम्बन लेकर ही उन-उन सूक्तों और उपनिषदों का अर्थ घटाते हैं। परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि यदि वे भाग अति प्राचीन हैं तो उनमें परब्रह्म का वर्णन नहीं है; लेकिन चौबीस तत्त्व वाली भूमिका में अंतिम तत्त्वरूप से स्वीकृत और उस समय अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त ऐसे मूल कारणरूप अव्यक्त का ही अनेक प्रकार से वर्णन है। ऋग्वेद में सत् रूप से हिरण्यगर्भ रूप से, पुरुष रूप से या अनिर्वचनीय रूप से, इसी अव्यक्त की महिमा गाई गई है और उपनिषदों के प्राचीन स्तरों में भी असत्, सत्, ब्रह्म या पुरुष रूप से यही अव्यक्त गाया गया है। फिर भी व्याख्याकार और भाष्यकार इन सभी स्थलों में परब्रह्म ऐसा अर्थ करते हैं उसका क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वे सब उपलब्ध व्याख्याएँ और भाष्य जब लिखे गए तब परब्रह्म की प्रतिष्ठा बिलकुल सुस्थापित हो चुकी थी। इसलिए व्याख्याकारों का अध्ययन तथा चिंतन संस्कार एक मात्र परब्रह्मलक्षी था। उस समय इतिहास और क्रम विकास की दृष्टि से व्याख्या लिखने

---

[1] "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥" —गीता १५, १७

[2] योगसूत्र १. २४।

की प्रथा ही नहीं थी। इसलिए व्याख्याकारों और भाष्यकारों ने प्रामाणिक रूप से उनको प्राप्त संस्कारों के अनुसार ही उन उन स्थलों की व्याख्या की। अव्यक्त—प्रकृतिपरक वाक्यों का परब्रह्मपरक अर्थ करने में भूल होने का खास कारण यह भी था कि प्रारम्भ में अव्यक्त को अंतिम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठा देने वाले समय में उसके लिए जिन-जिन अक्षर, स्वयंभू, आत्मा, परमात्मा, चेतन, विभु, ब्रह्म आदि विशेषणों का प्रयोग किया जाता था उन्हीं विशेषणों का प्रयोग अव्यक्त से भिन्न स्वीकृत चेतन या ईश्वर के लिए भी किया जाता था। इसलिए परब्रह्म की मान्यता के युग में हुए व्याख्याकार अव्यक्त की मान्यता वाले युग के वर्णनों का परब्रह्मपरक वर्णन करें यह बिलकुल स्वाभाविक था। परब्रह्म अथवा चेतनतत्त्व के स्वीकार वाली छब्बीस या पच्चीस तत्त्व मानने वाली भूमिकाएँ प्रथम प्रतिष्ठित हुई होंगी, और अव्यक्त को अंतिम तत्त्व मानने वाली चौबीस तत्त्व की भूमिका उसके बाद भारतीय दर्शनों में आई हो ऐसा नहीं कह सकते हैं। आगे जाकर जिसका अनात्मवाद या जड़वाद के रूप से वर्णन किया गया है वह चौबीस तत्त्व की भूमिका पहले की ही है इस विषय में शंका के लिए कोई स्थान नहीं है। महाभारत और गीता में[1] इस भूमिका के अवशेष जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होते हैं और मूल चरक में तो इसका स्पष्टरूप से स्वीकार है। फिर भी यह हुआ है कि पिछले व्याख्याकारों ने मूल चरक के इस प्राचीन भाग को अपने संस्कार के अनुसार भिन्न आत्मपरक मान लिया और तदनुसार व्याख्या की है। इसलिए मूल और व्याख्या के बीच में बहुत सी असंगतियाँ भी दिखाई देती हैं। पृथक् चेतन और परब्रह्म की मान्यता के युग में रचे गये और संकलित हुए उपनिषदों, महाभारत तथा गीता आदि में इस अव्यक्त प्रकृति को ही अंतिम तत्त्व मानने वाली भूमिका का एक मतान्तर के रूप में या पूर्वपक्ष के रूप से उल्लेख हुआ है। आगे जाकर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत या शुद्धाद्वैत के साम्प्रदायिक विचार प्रकट होने लगे तब उन-उन पुरस्कर्ताओं ने जैसे उपनिषदों और गीता आदि का अपनी दृष्टि से ऐकान्तिक व्याख्यान किया, और इन ग्रन्थों में दूसरे कौन कौन से विरोधी मन्तव्य स्पष्ट हैं इसका विचार तक न किया वैसे ही परब्रह्म या पृथक् चेतनतत्त्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने के बाद के व्याख्याकारों ने प्राचीन अथवा चाहे जिस भाग को एकमात्र परब्रह्म या पृथक् चेतनपरक मान लिया। मैं यह मानता हूँ कि ऋग्वेद और उपनिषदों के कुछ भागों में बहुत प्राचीन तत्त्वचिंतन समाविष्ट है जिस समय कि पृथक् चेतन और परब्रह्म की कल्पना उदय में नहीं आई थी। इस दृष्टि से उन-उन प्राचीन भागों के ऊपर विचार करने पर विचारकों के लिए मूल और पीछे की व्याख्या के बीच में यत्र तत्र दृष्टिगोचर होने वाली असंगतियाँ न रहेंगी यह मैं मानता हूँ।

प्राचीन उपनिषदों और गीता में अद्वैत—परब्रह्मगामी चिंतन की ओर स्पष्ट झुकाव है। परन्तु प्रारम्भ से लगाकर अंत पर्यन्त उन उपनिषदों और गीता में से मध्वाचार्य के ऐकान्तिक द्वैत मत को फलित करना यह जितने अंश में खींचतान की अपेक्षा रखता है उतने ही अंश में उनमें से अद्वैत शंकराचार्य के मायावाद या केवलाद्वैत को फलित करने का काम भी खींचातानी वाला है। यह मुद्दा प्राचीन उपनिषदों और गीता को मूल रूप से पढ़ते समय तुरत दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए तत्त्वचिंतक श्री नर्मदाशंकर मेहता उपनिषद्विचारणा में और सर राधाकृष्णन् जैसे भी 'इंडियन फिलोसोफी' में इस बात की साक्षी देते हैं। प्राचीन उपनिषदों और गीता के बहुत से भाग विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत की ओर जायँ, ऐसे हैं। परन्तु श्वेताश्वतर स्पष्टरूप से द्वैतवादी है क्योंकि उसमें प्रकृति, पुरुष और महेश्वर इस त्रिविध ब्रह्म का स्पष्टरूप से स्वीकार है। और इसी ईश्वर, महेश्वर या परमपुरुष को पशुपति रूप से वर्णना या स्तुति की गई है।

---

[1] उदाहरणार्थ गीता २. २८ 'अव्यक्तादीनि भूतानि' यह विचार अव्यक्तप्रकृति को ही चरम तत्त्व मानने वाली भूमिका का है, न कि पृथक् चेतन मानने वाली भूमिका का। इसी प्रकार छांदोग्य का 'असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् समभवत्' (३. १९. १) इत्यादि भाग प्रकृतिचेतनाभेदवाद की सांख्य तत्त्वज्ञान की भूमिका का सूचक है, न कि अतिरिक्त ब्रह्मवाद की मान्यता की भूमिका का सूचक। जब कि 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (६. २. १) इत्यादि छान्दोग्य का भाग अतिरिक्त ब्रह्मवाद की मान्यता की भूमिका का सूचक है।

सिद्धसेन का झुकाव

सिद्धसेन मुख्यरूप से श्वेताश्वतर का उपजीवन करते हों ऐसा प्रतीत होता है, फिर भी श्वेताश्वतर की अपेक्षा सिद्धसेन की स्तुति में अद्वैत या समन्वय की छांट कुछ अधिक है। यद्यपि वह भी प्रकृति, पुरुष और परम पुरुष इन तीनों को स्वीकार करते हों, ऐसा प्रतीत होता है। दोनों के वीच के इस अन्तर का कारण यह है कि एक तो सिद्धसेन के समय तक अनेक प्रकार के अद्वैत मत स्थिर हो गये थे और दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सिद्धसेन ने श्वेताश्वतरीय केवल पाशुपत सम्प्रदाय में वद्ध नहीं रह करके उपनिषदों, गीता और पुराणों की समन्वय पद्धति का ही अनुसरण किया हो।

सिद्धसेन के वर्णन की एक खास विशेषता की ओर वाचकवृन्द का ध्यान पहले ही आकर्षित कर देना आवश्यक है। वह यह है कि पुरुषतत्त्व की अव्यक्त से भिन्न कल्पना होने के वाद किसी निपुण संसारानुभवी रसिक और तत्त्वज्ञ प्रतिभासम्पन्न कविने पच्चीस तत्त्ववाले सांख्य की भूमिका में अव्यक्त और पुरुष की भिन्न-भिन्न कल्पना होने के वाद मूल कारण अव्यक्त को प्रकृति और कूटस्थ चेतन तत्त्व को पुरुष नाम प्रदान किया और जीवसृष्टि के उत्पादक दो विजातीय (स्त्री-पुरुष) तत्त्वों के युगल का रूपक लेकर चराचर जगत् के उत्पादक दो विजातीय तत्त्वों को स्वीकार करके उस युगल का प्रकृति-पुरुष रूप से वर्णन किया, जव कि श्वेताश्वतर ऋषि ने इस प्रकृति-पुरुष स्वरूप दो तत्त्वों का विजातीयत्व कायम रख करके उस युगल का 'अजा' और 'अज' के रूपक से वर्णन किया। इस रूपक में खूबी यह है कि संतति के जन्म और संवर्धन क्रिया में अनुभवसिद्ध पुरुष के तटस्थपने की छाया, सांख्य-विचार सरणि के अनुसार चेतन तत्त्व में थी उसको, और मातृसुलभ संपूर्ण जन-संवर्धन की जवावदारी और चिंता की जो छाया प्रकृति में थी, उसका क्रमशः 'अज' और 'अजा' के रूपक में वर्णन किया। जव कि सिद्धसेन ने वत्तीसी में केवल 'अज' का ही उल्लेख किया है और 'अजा' का उल्लेख छोड़ दिया है। इतना ही नहीं, परन्तु उसने ऋग्वेद और शुक्लयजुर्वेद तथा मनुस्मृति आदि की तरह गर्भ के आधान स्थान का निर्देश किये विना ही अज—ईश्वर या चेतन—का गर्भ के जनक रूप से वर्णन किया है।

व्याख्यान पद्धति

किस पद्धति से वत्तीसी का अर्थ किया जाय, यह एक समस्या थी। फिलहाल मैंने इसका जो निराकरण किया है उसका सूचन यहाँ करना योग्य है, जिससे अभ्यासी अथवा दूसरे व्याख्याकारों को उससे कुछ आगे वढ़ने का ख्याल आवे और इसमें रह गई त्रुटियाँ क्रमशः दूर हों। मेरी व्याख्यान पद्धति मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित हो जाती है (१) वत्तीसीगत पद, वाक्य, पाद, सारा का सारा पद्य, रूपक, कल्पना आदि वेदों, उपनिषदों और गीता में से जैसे के तैसे या कुछ परिवर्तन के साथ मिलें उनका संग्रह करके अर्थ और विवेचन में उपयोग करना; (२) उन-उन संग्रहीत भागों के मूल द्वारा या टीकाओं द्वारा जो अर्थ होता हो और जो अधिक योग्य प्रतीत होता हो उसका प्रस्तुत विवेचन में उपयोग करना; (३) वेद आदि प्राचीन ग्रन्थों में से एकत्रित तुलनात्मक भाग और उसका अर्थ इन दोनों का विवेचन में यथासंभव तुलना रूप से उपयोग करने पर भी जहाँ संगति ठीक नहीं वैठी वहाँ स्वाधीन वुद्धि से अर्थ और विवेचन करना।

प्रस्तुत वत्तीसी अन्य वत्तीसियों के साथ विक्रम सं० १९६५ में भावनगर से प्रकाशित हुई है। वही मुद्रित प्रति आज मेरे सामने है। इनमें अनेक स्थलों में भ्रान्त पाठ हैं। प्रस्तुत वत्तीसी में ऐसे अशुद्ध पाठों के स्थान में मुझको जो पाठ कल्पना से ठीक जँचे, उन्हीं को उस-उस स्थान पर रख कर विवेचन में गृहीत किया है और जो पाठभेद मुद्रित प्रति में है वह उस स्थान में पाद टिप्पण में मैंने दिया है। मैंने अपनी दृष्टि के अनुसार जिन-जिन पाठभेदों की कल्पना की है वे अन्तिम ही हैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु भाषा, अर्थ, छन्द, और अन्य ग्रन्थों में प्राप्त

समान भागों के आधार पर मुझे जो जो पाठ सुधारने योग्य प्रतीत हुए उनको मैंने सुधारा है। फिर भी दो एक स्थल ऐसे हैं कि जिनके सुधार के विषय में मुझे अंतिम संतोष नहीं है। यद्यपि इन स्थलों के लिए मैंने अनेक वैदिक ग्रन्थों को पढ़ा है।

सविवेचन वेदवादद्वात्रिंशिका

अज: पतंग: शवलो विश्वमयो धत्ते गर्भमचरं चरं च।
योऽस्याध्यक्षमकलं सर्वधान्यं वेदातीतं वेद वेद्यं स वेद ॥१॥

अर्थ—पतंग, शबल और विश्वमय ऐसा अज (चेतन या सगुण ब्रह्म) अचर तथा चर गर्भ का आधान करता है। इसका—गर्भ का या उसके आधायक का अध्यक्ष—नियामक (निर्गुण ब्रह्म) अकल, सब का बीज तथा वेदातीत और फिर भी जो वेद्य है, उसको जो जानता है वही जानता है।

भावार्थ—यहाँ सांख्य-योग की भेद दृष्टि से विचार करने पर अज रूप से जीवात्मा और अध्यक्षरूप से परमेश्वर को ले सकते हैं तथा वेदान्त की अभेद दृष्टि से विचार करने पर अज रूप से सगुणब्रह्म और अध्यक्षरूप से निर्गुणब्रह्म को ले सकते हैं। चाहे जिस दृष्टि से विचार करने पर इतना तत्त्व तो समान ही है कि चराचर विश्व का धारण, पोषण और संवर्धन चेतन तत्त्व के कारण ही है। इसलिए कवि ने चराचर विश्व का अज के गर्भ रूप से वर्णन किया है। चराचरभूतरूप हेमाण्ड में ब्रह्मदेव प्रकट हुए और वे ब्रह्मदेव ब्रह्मजन्य हैं, महाभारत का यह वर्णन सामने रख कर यहाँ ऐसा अर्थ कर सकते हैं कि अज स्वयं चराचर गर्भ में अवतीर्ण होता है अर्थात् ब्रह्मरूप अकल निर्गुणतत्त्व से अज रूप ब्रह्मदेव का चराचर विश्व में जन्म होता है।

अज को पतङ्ग कहा है, क्योंकि वह सूर्य की तरह प्रकाशमान् है। उसके साथ शबल और विश्वमय विशेषणों का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि जब चेतन तत्त्व प्राकृत गुणों के प्रभाव से या माया के स्फुरण से चित्ररूप बनता है और नानारूप का सर्जन करने के लिए अभिमुख बनता है तभी वह चराचर प्राकृतिक सृष्टि का जनक बनता है अथवा वह सृष्टि में प्रकट होता है।

सेश्वर सांख्य की या वेदान्त की दृष्टि से भोक्ता और भोग्य दोनों का कोई नियामक तत्त्व होना ही चाहिए, ऐसा सिद्धान्त है। इसीलिए कवि ने इस नियामक तत्त्व का ही भोग्य-विश्व और भोक्ता-पुरुष के अध्यक्षरूप से वर्णन किया है। अध्यक्ष परमात्मा अकल अर्थात् प्रकृति तत्त्व को क्लेशकर्मादि या प्राण आदि कला के स्पर्श से सर्वथा मुक्त होने पर भी सर्व भोग्य-भोक्तृवर्ग का बीज है। चिंतकों ने परमात्मा का वाणी तथा मन के अगोचर रूप से वर्णन किया है, इसलिए कवि भी उसे वेदातीत कहता है। वेदों में वैसे परमात्मा का वर्णन नहीं है इससे भी वह वेदातीत कहा जाता है। 'मंत्रों का पाठमात्र होता था और अर्थचिंतन नहीं'—'कौत्स' के इस मत को स्वीकार करें तो भी परमात्मा को वेदातीत कहा जा सकता है, और वेद वर्णन करें तो भी वह अन्त में शब्दात्मक होने से सम्पूर्णरूप से परमात्मा का वर्णन नहीं कर सकता है। इस दृष्टि से भी वे वेदातीत कहे जाते हैं। कवि का कहना यह है कि परमात्मा शब्दगम्य नहीं है फिर भी वे ज्ञेय तो हैं। इसलिए जो ऐसे परमात्मा को ध्यान या स्वानुभव से जानता है वही जानता है।

ऊपर सेश्वर सांख्य और अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से अर्थ किया गया है। उसी प्रकार जैन दृष्टि से भी प्रस्तुत पद्य का अर्थ बराबर घटता है। क्योंकि जैनदृष्टि प्रत्येक चेतन की दो अवस्था स्वीकार करती है। तात्त्विकरूप से—निश्चयदृष्टि से वह आत्मा को अध्यक्ष—साक्षीरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व की कला से विहीन और शब्दागम्य मानती है।

[1] निरुक्त १. ५।

जब कि व्यावहारिक दृष्टि से वह आत्मा को कर्म के सम्बन्ध से शवल तथा नानारूपधारी मानती है। अद्वैत, परब्रह्म, और जीवभेद इन दोनों के सम्बन्ध का जो स्पष्टीकरण वेदान्त करता है वही स्पष्टीकरण जैनदृष्टि से प्रत्येक स्वतन्त्र चेतन के तात्त्विक और व्यावहारिक स्वरूप के सम्बन्ध के विषय में है।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ के मंत्र २० में सेश्वर सांख्य का बीज प्रतीत होता है। उसमें एक ही वृक्ष के ऊपर रहे हुए दो पक्षियों का रूपक करके विश्वगत जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन किया गया है। दो समान स्वभाव सहचारी मित्र जैसे पक्षी एक ही वृक्ष को आश्रय बना कर रहते हैं। उनमें से एक—जीवात्मा स्वादुफल (कर्मफल) वाले को चखता है, जब कि दूसरा पक्षी—परमात्मा ऐसे फल को बिना चखे ही प्रकाशित होता है। इसके बाद के दो अगले मंत्रों में भी वृक्ष और पक्षियों का रूपक विस्तृत करके सहज भंगीभेद से पुनः जीवात्माओं का वर्णन किया है। यह रूपक इतना अधिक सचोट और आकर्षक है कि उसकी रचना हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो गये फिर भी वह चिंतकगण और सामान्य लोगों के विचारप्रदेश में से हटने के बजाय तत्त्वज्ञान के विकास के साथ अर्थ से विकसित होता गया। अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त ९ में ऋग्वेद के ये ही तीनों मंत्र हैं। जब कि मुण्डक उपनिषद् मु० ३ ख० १ में दो पक्षियों के रूपक का मंत्र तो यही है; परन्तु उसके बाद दूसरे मंत्र में यह कहा गया है कि वृक्ष के एक होने पर भी उसमें लुब्ध पुरुष दीनता के कारण मोह को प्राप्त करके हर्ष-विषाद का अनुभव करता है। परन्तु वह लुब्ध पुरुष जब उसी वृक्ष पर रहे हुए दूसरे समर्थ-अलुब्ध और निर्मोह पुरुष का दर्शन करता है तब वह स्वयं भी निर्मोह बनता है। एक ही वृक्ष पर आश्रित दो पक्षियों के रूपक द्वारा ऋग्वेद या अथर्ववेद में जो अर्थ विवक्षित था उसको ही मुण्डककार ने दूसरे मंत्रों में स्पष्ट किया हो ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि वह कहता है कि जो पुरुष वृक्ष में लुब्ध है वह मोह से दुखी होता है, दूसरा पुरुष समर्थ होने से उसमें लुब्ध नहीं है। इसलिए लुब्ध को अलुब्ध के स्वरूप का दर्शन होते ही वह भी निर्मोह बनता है। श्वेताश्वतर ने (अ० ४) मुण्डक के इन दोनों मंत्रों को लेकर जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन तो किया ही है, परन्तु इसके सिवाय भी उसने एक नवीन आकर्षक रूपक की योजना करके बद्ध और मुक्त ऐसे दो पुरुषों का वर्णन किया है। उसने अज—बकरे का रूपक करके कहा है कि एक अज—बद्ध जीव भोगाभिमुख प्रकृति रूप अजा के ऊपर प्रीति करने से दुःखी होता है जब कि दूसरा अज—मुक्त जीव भोगपराङ्-मुख अजा को छोड़ देता है। इस प्रकार ऋग्वेद से श्वेताश्वतर तक के रूपकों द्वारा किया हुआ वर्णन इतना सूचित करता है कि प्रकृति, बद्धपुरुष, मुक्तपुरुष और परमात्मा ये चार तत्त्व विचारप्रदेश में स्थिर हो गये हैं जो कि सेश्वरसांख्य या सांख्य-योग की भूमिका स्वरूप हैं।

सिद्धसेन ने प्रस्तुत पद्य में पुराने रूपकों का त्याग करके थोड़े से परिवर्तन के साथ दूसरी रीति से इसी वस्तु का वर्णन किया है। वह बद्ध और मुक्त दो पुरुषों में से केवल बद्धपुरुष का ही एक अज रूप से वर्णन करता है और मुक्त पुरुष का अज रूपक तथा परमात्मा का पक्षी रूपक छोड़ करके परमात्मा का सृष्टि और जीवात्मा के अध्यक्षरूप से 'योऽस्याध्यक्षं अकलं सर्वधान्यं वेदातीतं वेद वेद्यंस वेद' यह कह करके वर्णन करता है। इसके इस कथन में ऋग्वेद के नासदीयसूक्तगत मंत्र ७ के 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद' इस पद की ध्वनि गुंजित होती है।

सिद्धसेन के पीछे लगभग हजार वर्ष के बाद हुए आनंदघन नामक जैनसंत ने हिंदी भाषा में इस वैदिक और औपनिषद रूपक का बहुत खूबी से वर्णन किया है। वह कहता है[1] कि एक वृक्ष के ऊपर दो पक्षी बैठे हुए हैं। उनमें एक गुरु और दूसरा शिष्य है। शिष्य चुन चुन करके फल खाता है; पर गुरु तो सदा मस्त होने से हमेशा आत्मतुष्ट है। आनंदघन ने इस रूपक के द्वारा जैनपरम्परासम्मत बद्ध और मुक्त जीव का वर्णन किया है जो सांख्यपरम्परा-

---

[1] तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरू एक चेला।
चेले ने जग चुण चुण खाया, गुरू निरंतर खेला ॥पद० ९८॥

सम्मत बद्ध और मुक्त दो अज के वर्णन जैसा ही है अथवा वैदिक रूपक अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के वर्णन जैसा ही है। गीता में 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् (९-१०)। इस पद्य में परमात्मारूप से कृष्ण को अध्यक्ष कह करके चराचर सृष्टि की जन्मदात्री रूप से स्त्रीलिंग प्रकृति का निर्देश है। स्त्री ही गर्भ धारण करती है और पुरुष तो केवल निमित्त है—इस व्यावहारिक अनुभव को सांख्य-परम्परा के अनुसार यथावत् व्यक्त करने के लिए गीताकार ने स्त्रीलिंग प्रकृति का प्रसवकर्त्री रूप से वर्णन किया है और श्वेताश्वतर ने इसी प्रकृति का स्त्रीलिंगी अजा—बकरी रूप से वर्णन किया है (श्वे० अ० ४)। पर सिद्धसेन तो चराचर गर्भ के धारक रूप से पुरुष अज का वर्णन करता है, यह प्रत्यक्ष विरोध है। इसका परिहार दो प्रकार से संभव है एक तो यह कि सिद्धसेन 'गर्भवत्ते' इस शब्द के द्वारा गर्भ को आधान करने वाले पुरुष का ही वर्णन करता है नहीं कि उसको धारण करने वाली स्त्री का। दूसरा सिद्धसेन का आशय कदाचित् इस विरोधाभासी वर्णन के द्वारा सांख्यपरम्परा से भिन्न होकर यह सूचित करना हो कि सांख्य प्रकृति को कर्ता और पुरुष को अकर्ता होने पर भी भोक्ता मानता है, परन्तु वस्तुतः कर्ता और भोक्ता भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं। इसलिए पुरुष को ही भोक्ता की तरह कर्ता मानना चाहिए चाहे वह कर्तृत्व में अन्य तत्त्व का सहकार ले। पुरुष में सर्वथा अकर्तृत्व मानने वाली सांख्य परम्परा के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक, जैन आदि बहुत सी परम्पराएँ हैं। इतना ही नहीं परन्तु वेदान्त की प्रत्येक शाखा ब्रह्म का ही कर्तृत्व स्थापित करके सांख्यसम्मत प्रकृति के तत्त्व को बिलकुल गौण बना देती है। इसी भाव को सिद्धसेन कहना चाहते हों यह भी संभव है। क्योंकि सिद्धसेन ने आगे के पद्यों में भी बहुत से स्थलों पर सांख्य की प्राचीन प्रणालिकाओं से भिन्न रूप में वर्णन किया है।

अज शब्द का रूढ़ अर्थ है बकरा और यौगिक अर्थ है अजन्मा। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन समय में बकरों के झुंड से अतिपरिचित और उनके बीच में रहने वाले ऋषि कवियों ने रूपकरूप से अज का प्रयोग किया होगा। पर धीरे-धीरे वह उपमेय देव, आत्मा, परमात्मा आदि में व्यवहृत होने लगा और तब उसका अर्थ अजन्मा ऐसा यौगिक किया गया, जो कि उपनिषदों और गीता आदि में सर्वत्र 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (गी० २-२०) इत्यादि उक्ति में दृष्टिगोचर होता है।. .

प्रस्तुत पद्य का पूर्वार्ध पढ़ते समय श्वेताश्वतर का 'नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः (४-४) इत्यादि पाद का स्मरण होता है।

स एवैतद्विश्वमधितिष्ठत्येकस्तमेवैतं विश्वमधितिष्ठत्येकम्।
स एवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यं तमेवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यम् ॥२॥

अर्थ--वही एक—परमात्मा इस विश्व का अधिष्ठान करता है। यह एक विश्व उसका—परमात्मा का अधिष्ठान करता है। वही—परमात्मा यहाँ जो कुछ वेद्य है उसको जानता है। यहाँ जो वेद्य है वह उसको—परमात्मा को ही जानता है।

भावार्थ—इस पद्य में चराचर विश्व और परमात्मा इन दोनों के पारस्परिक अधिष्ठातृत्व का वर्णन है, जो वैदिक, औपनिषद और गीता आदि के वर्णन से भिन्न है। क्योंकि 'तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा' यह ऋग्वेद (१. १. ६४. १३) में तथा 'यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः' (१. ३), 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (४. ११) इत्यादि श्वेताश्वतर में और गीता में 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया' (गीता ४. ६) मात्र परमात्मा का ही विश्व के अधिष्ठान रूप से वर्णन किया गया है नहीं कि विश्व का भी परमात्मा के अधिष्ठान रूप से वर्णन है। प्राचीन शैली के विरुद्ध दिखाई देने वाली शैली का अवलम्बन लेने के पीछे सिद्धसेन का दृष्टिबिंदु यह प्रतीत होता है कि जो दो तत्त्व अनंत हैं, उनमें से एक को ही दूसरे का आधार कैसे कहा जा सकता है? यदि एक को दूसरे का आधार माना जाय तो दूसरा पहले का आधार क्यों नहीं माना जाय? इसलिए दोनों को एक दूसरे का आधार मानना यही युक्तिसंगत है।

यदि अगम्य तथा अमेय तत्त्वों का वर्णन शक्य हो तो वह अधिक ठीक तरह से विरोधाभास के द्वारा ही हो सकता है। ऐसी विरोधाभास शैली का आश्रय वैदिक ऋषियों से प्रारम्भ करके अंत तक के सभी तत्त्वज्ञ कवियों ने लिया है। इसीलिए सिद्धसेन परमात्मा और विश्व दोनों का परस्पर के ज्ञाता और ज्ञेय रूप से वर्णन करता है। परमेश्वर विश्व को जानता है, यह सत्य है, परन्तु विश्व जो कि ज्ञेय माना जाता है और जिसमें जीवात्मा का भी समावेश होता है; वह परमात्मा को नहीं जाने तो दूसरा कौन जाने ? इसीलिए गीता में अर्जुन—जीवात्मा कृष्ण—परमात्मा को कहता है कि ज्ञाता भी तू है और ज्ञेय ऐसा अंतिम धाम भी तू ही है (गीता ११-३८)।

स एवैतद्भूवनं सृजति विश्वरूपः तमेवैतत्सृजति भुवनं विश्वरूम्।
न चैवैनं सृजति कश्चिन्नित्यजातं न चासौसृजति भुवनं नित्यजातम् ॥३॥

अर्थ—वही नानारूप परमात्मा इस विश्वका सर्जन करता है और यही नानारूप विश्व उसको—परमात्मा को सरजता है। और इस नित्यजात परमात्मा को कोई सरजता नहीं है तथा यह परमात्मा नित्यजात भुवन को सरजता नहीं है।

भावार्थ—इस पद्य में नानारूप भुवन और परमात्मा का एक दूसरे के सर्जकरूप से वर्णन किया गया है। और भुवन तथा परमात्मा को नित्यजात—सदोत्पन्न कह करके कोई किसी का सर्जन नहीं करता है यह भी कहा है। इस प्रत्यक्ष विरोध का परिहार दृष्टिभेद से हो जाता है। जैन परम्परा में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो दृष्टियाँ प्रसिद्ध हैं और वे सब तत्त्वों को लागू होती हैं। उसके अनुसार यह कह सकते हैं कि चेतन या अचेतन प्रत्येक तत्त्व अपने मूल स्वरूप में शाश्वत और अनुत्पन्न है अतएव उनमें से कोई एक दूसरे का सर्जन नहीं करता है। जब यही प्रत्येक तत्त्व स्व-स्व-रूप से नित्य होने पर भी अवस्थाभेद का अनुभव करता है और वह अवस्थाभेद पारस्परिक संयोग सापेक्ष है इसलिए दोनों चेतन-अचेतन तत्त्व एक दूसरे का सर्जन भी करते हैं।

सांख्य-योग या वेदान्त की दृष्टि से भी कवि का वर्णन असंगत नहीं है। परमेश्वर नानारूप विश्व का सर्जन करता है। यह मन्तव्य तो श्वेताश्वतर की 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' इस उक्ति में स्पष्ट है।[1] और 'प्रभु लोक के कर्तृत्व आदि किसी का सर्जन नहीं करता है स्वभाव ही स्वयमेव प्रवृत्त होता है।' इस गीतावचन[2] में परमात्मा का असर्जकत्व भी स्पष्ट है तथा नानारूप विश्व परमेश्वर का आभारी है अतएव वह जिस प्रकार उसका—विश्वका सर्जक कहा जाता है उसी प्रकार परमेश्वर के नानारूप भी प्राकृत या मायिक नानारूप विश्व के आभारी हैं अतएव विश्व को भी परमात्मा का सर्जक कहा जा सकता है। केवल प्रकृति ही नहीं परन्तु चेतन परमात्मा भी नित्यजात—सनातन हैं। इसलिए दोनों में से कोई एक दूसरे का सर्जन नहीं करता है ऐसा कह सकते हैं। सर्जन-असर्जन यह सब आपेक्षिक अथवा मायिक है यह कह कर कवि अंत में तत्त्व की अगम्यता का ही सूचन करता है।

एकायनशतात्मानमेकं विश्वात्मानममृतं जायमानम्।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति यस्तं च[3] वेद किमृचा करिष्यति ॥४॥

अर्थ—एक आश्रयरूप एवं शतात्मरूप तथा एक एवं विश्वात्मरूप तथा अमृत एवं जन्म लेनेवाले ऐसे उसको—परमात्मा को जो नहीं जानता है वह ऋचा से क्या करने वाला है और जो उस परमात्मा को जानता है वह भी ऋचा से क्या करने वाला है ?

---

[1] श्वेताश्वतर ४. ९।

[2] न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥गीता ५. १४.

[3] यस्तं न वेद—मु०

भावार्थ—इस पद्य में परमात्मा के परस्पर विरुद्ध अनेक स्वरूपद्वंद्वों का वर्णन है। कवि परमात्मा को एकायन कह करके उसका सबके एकमात्र आधाररूप से वर्णन करता है। जब कि साथ में ही वह उसे शतात्मा कहकर उसका अनेक आधाररूप से सूचन करता है। वह परमात्मा को एक कहता है और फिर नानारूप कहता है। तदनन्तर वह परमात्मा को अमर कहता है और फिर जन्म लेने वाला भी कहता है। ये कथन विरुद्ध जैसे दिखाई देते हैं। परन्तु वस्तुतः वे सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा की अलौकिकता ही सूचित करते हैं। ऐसे वर्णन क्या वेद, क्या उपनिषद्, और क्या गीता में जहां देखो वहां सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। कवि ने भी उसका अनुसरण किया है।

परन्तु कवि की प्रतिभा की सच्ची कसौटी तो इस पद्य के उत्तरार्ध में व्यक्त होती है। श्वेताश्वतर "ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥" (श्वे० ४-८) इस पद्य के द्वारा ऋचाओं की महत्ता और उपयोगिता स्वीकार करते हुए इतना ही कहता है कि परमात्मा को जो नहीं जानता है उसके लिए ऋचाएँ—वेद व्यर्थ हैं और जो परमात्मा को जानता है वह शान्त समाहित बनता है। परन्तु सिद्धसेन श्वेताश्वतर से तार्किक दृष्टि द्वारा आगे बढ़कर तर्कसुलभ दोनों विकल्पों का अवलम्बन करके ऋग्मंत्रों का निरर्थकत्व सूचित करता है। उसका वक्तव्य यह है कि श्रद्धालु लोग ऋचाओं और वेदों को सर्वस्व मान करके उनका पाठ करते हैं और उनके आसपास चक्कर मारते रहते हैं। परन्तु यदि सच्चे ज्ञेय ऐसे परमात्मा को नहीं जाना हो तो वेदमन्त्र किस काम के ? ऐसा पाठ तो तोता भी करता है। और यदि परमात्मा का ज्ञान हो गया तो वेदमंत्रों का सार मिल ही गया, इसलिए परमात्मा के ज्ञान के बाद वेदमंत्र भी व्यर्थ ही हैं। श्वेताश्वतर परमात्मा के ज्ञान के अभाव में ही वेदपाठ का महत्त्वपूर्ण इनकार करता है जब कि सिद्धसेन परमात्मा के अज्ञान और ज्ञान दोनों में वेदपाठ का महत्त्वपूर्ण इनकार करता है।

सर्वद्वारा निभृता[1] मृत्युपाशैः स्वयंप्रभानेकसहस्रपर्वा।
यस्यां वेदाः शेरते यज्ञगर्भाः सैषा गुहा गूहते सर्वमेतत् ॥५॥

अर्थ—जिसमें यज्ञलक्षी वेद शयन करते हैं ऐसी मृत्युपाश से व्याप्त सर्वद्वार वाली स्वयंप्रकाशवाली, अनेक हजार पर्वो वाली यह गुहा इन सबको ढकती है।

भावार्थ—इस पद्य में कवि ने गुहारूप से अविद्या या माया का वर्णन किया है। सांख्य और औपनिषद परम्परा के अनुसार प्रकृति, बुद्धि, अविद्या या माया यही सर्व प्रपञ्च को आवृत करती है क्योंकि सम्पूर्ण जगत इस मूल कारण से ही आवृत है। इसलिए वह सर्व जगत के लिए लीन होने का स्थान होने से गुहा तुल्य है।

सांख्य और वेदान्त की दृष्टि से आत्मज्ञान ही मुख्य पुरुषार्थ है और यज्ञयागादि कर्म भवहेतु होने से अविद्यारूप है तथा यज्ञयागादि में उपयोगी वेद भी अविद्या की कोटि में आ जाते हैं इसलिए कवि ने वेदों को अविद्या में शयन करने वाला कहा है।

कवि ने अविद्या का जिस प्रकार वर्णन किया है वह उसका लौकिक गुहा से विलक्षणत्व सूचित करता है। पर्वत की गुफा के एक या अधिक-से-अधिक दो द्वार होते हैं जब कि अविद्या के सब ओर द्वार ही द्वार हैं। पर्वतीय गुफा भय से रक्षण करती है या ध्यान का स्थान होने से मृत्यु का निवारण करती है जब कि अविद्या मृत्यु के अनेक पाशों से व्याप्त है। उसमें रक्षण या अमृतत्व जैसा कुछ भी नहीं है। पर्वतीय गुफा अन्धकारमय होने से दीपादि प्रकाश की अपेक्षा रखती है जब कि अविद्या सत्वगुण के कारण स्वयंप्रकाश होने से सबको चकाचौंध कर डालती है। पर्वतीय गुफा में चाहे जितने खण्ड या भाग हों फिर भी वे परिमित ही होते हैं, जब कि अविद्या में हजारों और लाखों पर्व—ग्रन्थियां होती हैं जिनमें से वासना और रागद्वेष आदि की अनेक शाखाएँ फूटती हैं। पर्वतीय गुफा इने-गिने

---

[1] 'निभृतम्'—मु०।

व्यक्तियों को ही आवृत करती है जब कि अविद्या तो समग्र विश्व को आवृत करती है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत का प्रभव और प्रलय स्थान यही है। पर्वतीय गुफा में वेदों के लिए स्थान ही नहीं है जब कि यज्ञ समर्थक सभी वेद वासनापोषक होने के कारण अंत में अविद्या में ही पर्यवसित होते हैं।

'भावोऽभावो निःस्वतत्त्वः [सतत्त्वो] निरंजनो[रंजनो]यः प्रकारः।
गुणात्मको निर्गुणो निष्प्रभावो विश्वेश्वरः सर्वमयो न सर्वः ॥६॥

अर्थ—जो प्रकार भावरूप है और अभावरूप है, स्वतत्त्वरहित है और सतत्त्व है, निरञ्जन है और रञ्जन है, गुणात्मक है और निर्गुण है, प्रभावरहित है और विश्व का ईश्वर—प्रभु है, सर्वमय है और सर्व नहीं है।

भावार्थ—उपनिषदों में "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (ईशा० ५), 'अणोरणीयान्महतो महीयान्।' (कठ० १ अ० २ व० २० श्लो०) इत्यादि जिस प्रकार परमात्मा का विरोधाभासी वर्णन है। और गीता में जिस प्रकार "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥' (१३. १४) इत्यादि विरोधाभासी वर्णन है उसी प्रकार कवि ने यहाँ परमात्मा का एक अलौकिक प्रकार सूचित करने के लिए वर्णन किया है जो अपेक्षा और दृष्टिभेद से युक्तिसंगत है। भावरूप इसलिए है कि वह एक पारमार्थिक तत्त्व है, अभावरूप इसलिए है कि वह सर्व सांसारिक भावों से पर है, निःस्वतत्त्व इसलिए है कि उसका स्वतत्त्व सर्वगम्य नहीं है और फिर भी वह वस्तुतः स्वतत्त्व रखता है। वह मलमुक्त होने से निरञ्जन है और फिर भी वह तत्त्वज्ञों और ध्यानियों का रञ्जन भी करता है। वह सर्व स्वाभाविक गुणों की मूर्ति है, परन्तु प्राकृत गुणों से रहित है। वह भयप्रद प्रभाव से मुक्त है और इसीलिए विश्व का प्रभु है। वह सर्वव्यापी होने से सर्वमय है और फिर भी वह अकेला होने से बहुत्वगर्भित है सर्व नहीं है।

सृष्ट्वा सृष्ट्वा स्वयमेवोपभुंक्ते सर्वश्चायं भूतसर्गो यतश्च।
न चास्यान्यत्कारणं सर्गसिद्धौ न चात्मानं सृजते नापि चान्यान् ॥७॥

अर्थ—जिससे यह सर्वभूत सृष्टि प्रवृत्त है वह स्वयं ही सर्जन कर करके उसका उपभोग करता है। सृष्टि की रचना करने में इसका दूसरा कोई सहकारी कारण नहीं है और वह खुद को, दूसरे को, या अन्य को नहीं सरजता है।

भावार्थ—यहाँ पर कवि ने लौकिक कर्ता और भोक्ता की अपेक्षा विलक्षण रूप से परमात्मा का भूतसर्ग के कर्ता और उपभोक्ता के रूप से वर्णन किया है। कोई भी लौकिक कर्ता किसी वस्तु का सर्जन करता है तो उसको सहकारी कारण की अवश्य अपेक्षा रहती है जब कि कवि कहता है परमात्मा के लिए सर्गसिद्धि में अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। इससे आगे बढ़कर कवि कहता है कि दरअसल में परमात्मा न तो अपना ही सर्जन करता है और न दूसरों का ही सर्जन करता है। यह सारा विरोधाभास अपेक्षाभेद से समावेय है। कवि के इस सारे पद्य में श्वेताश्वतर का 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (६.८) इत्यादि मन्त्र का सार भाष्यरूप से रम रहा है।

निरिन्द्रियश्चक्षुषा वेत्ति शब्दान् श्रोत्रेण रूपं जिघ्रति जिह्वया च।
पादैर्ब्रवीति शिरसा याति तिष्ठन् सर्वेण सर्वं कुरुते मन्यते च ॥८॥

अर्थ—जो निरिन्द्रिय होने पर भी नेत्र से शब्दों को जानता है, कान से रूप को जानता है और जीभ से सूंघता है। पांव से बोलता है, मस्तक से खड़ा रहने पर भी चलता है, सर्व से सर्व करता है और जानता है।

भावार्थ—यहाँ कवि परमात्मा को निरिन्द्रिय कहता है और फिर इन्द्रियों द्वारा उस उस विषय को वह जानता है ऐसा भी कहता है, यह एक विरोध है। उससे विशेष विरोध तो इसके इस कथन में है कि नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ कर्ण

[1] भावाभावो निःसतत्त्वो (वितत्त्वो) निरंजनो रंजनो यः प्रकारः—मु०।

आदि अन्य इन्द्रियों के नियत विषय शब्द आदि को जानती हैं और पाँव इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ भी वाक् आदि अन्य कर्मेन्द्रियों का कार्य करती हैं। परमात्मा मस्तक से खड़े रहने और चलने का पाँव का कार्य करता है। यह कह कर कवि अंत में वहाँ तक जाता है कि परमात्मा के लिए कोई अमुक साधन किसी अमुक कार्य के लिए ही नहीं है, परन्तु उसके लिए तो सर्व साधन सर्व कार्यकारी हैं। इस प्रकार के अत्यन्त विरुद्ध दिखाई देने वाले वर्णन का तात्पर्य इतना ही है कि परमात्मा का स्वरूप लौकिक वस्तुओं से निराला है और उसकी विभूति भी लौकिक विभूति से भिन्न है। योगशास्त्र के विभूतिपाद में जिन विभूतियों का वर्णन है वे विभूतियाँ योगी की होने पर भी अद्भुत हैं। गीता के ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को अपना घोर विश्वरूप बताया है यह भी योग की महिमा है। यहाँ तो कवि योगी से भी भिन्न परमात्मा की स्तुति करता है। इसीलिए उसने चमत्कारी विरुद्धाभास वर्णन द्वारा अलौकिकत्व सूचित किया है।

सिद्धसेन का प्रस्तुत वर्णन बहुत पुराकाल से चली आने वाली कविप्रथा के कितने ही सोपानों का अतिक्रमण करके आगे बढ़ा है। ऋग्वेद के कवि गण इन्द्र या अग्नि आदि देवों की स्तुति करते हैं तब सहस्राक्ष जैसे विशेषण का उपयोग करके अपने अपने इष्टदेव को हजार आँखवाले के रूप से महत्त्व अर्पित करते हैं। परन्तु पुरुषसूक्त का ऋषि पुरुष का वर्णन करते समय उसके साथ में केवल सहस्राक्ष विशेषण का प्रयोग करके ही संतुष्ट नहीं होता, वह तो पुरुष को सहस्रशीर्षा[1] और सहस्रपाद भी कहता है। विश्वकर्मा सूक्त का प्रणेता हजार नेत्र, हजार पाँव, या हजार मस्तक से संतुष्ट नहीं होता; वह तो विश्वसृष्टा देव को 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्' (ऋ० १०.८१.३) कहकर हजार या उससे भी किसी बड़ी संख्या की अवगणना करता है। ऋग्वेद के विशेषण विकास में कालक्रम की गन्ध आती है। उसके बाद यजुर्वेद और अथर्ववेद आदि ग्रन्थों में इसी ऋग्वेद के विशेषण यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। इन विशेषणों का कालक्रम सूचक विकास चाहे जितना हुआ हो या विस्तृत हुआ हो फिर भी वेदों की स्तुतियाँ सगुण भूमिका से आगे नहीं बढ़ी थीं ऐसा कह सकते हैं।

परन्तु धीरे-धीरे चिंतक सगुण रूप से आगे बढ़ करके निर्गुण चिंतन की ओर अग्रसर होते जाते थे। इसके लक्षण प्राचीन उपनिषदों और गीता में दृष्टिगोचर होते हैं। जब परब्रह्म की स्थापना हुई तब निर्गुण स्वरूप का चिंतन पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। फिर भी तत्त्वचिंतकों और कवियों ने पुरानी सगुण वर्णन की प्रथा को भी चालू रखी है। इसीलिए श्वेताश्वतर और गीताकार ने निर्गुण वर्णन करने पर भी 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।' (श्वे० ३-१४) इत्यादि रूप से और 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वे० ३.१६) इत्यादि रूप से सगुण वर्णन भी किया है। छांदोग्य आदि के अशरीरत्व वर्णन का (छांदो ८-१२-१) अनुकरण करके मुण्डक परब्रह्म का यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।' (मु० १-६) आदि रूप से वर्णन करता है। जब कि श्वेताश्वतर उसका 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३-१९) आदि रूप से विरोधाभासी सगुणस्वरूप वर्णन करता है।

सिद्धसेन भी प्रस्तुत स्तुति में परमात्मा का निर्गुण और सगुण स्वरूप से स्तव करता है। इस पद्य में तो इन उभय स्वरूपों के वर्णन के अतिरिक्त एक ऐसा प्रतिभाजनित चमत्कार दृष्टिगोचर होता है कि जो उसके पूर्व के वेद, उपनिषद् और गीता आदि में नहीं दिखाई देता है। यह चमत्कार केवल विरोधाभास ही नहीं है परन्तु विरोधाभास की पराकाष्ठा भी है। सिद्धसेन जहाँ तक परमात्मा को निरिन्द्रिय होने पर भी इन्द्रियों के कार्यकर्ता कहता है वहाँ तक तो वह मुण्डक और श्वेताश्वतर से आगे नहीं बढ़ता है, परन्तु जब वह यह कहता है कि निरिन्द्रिय परमात्मा इन्द्रियों के कार्य तो करता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी वह कान का काम आँख से, आँख का काम कान से, नाक का जीभ से, वाणी का काम पाँव से और पाँव का काम मस्तक से करता है, किंबहुना उसके लिए कोई एक काम किसी एक साधन

[1] ऋग्वेद १. २३. ३।

के द्वारा ही करने का बन्धन नहीं है, तब वह श्रोताओं के मन के ऊपर चमत्कारिक प्रभाव पैदा करके उसे परमात्मा की लोकोत्तर चमत्कारिता में श्रद्धालु बना करके कविकृत्य सिद्ध करता है।

शब्दातीतः कथ्यते वावदूकैर्ज्ञानातीतो ज्ञायते ज्ञानवद्भिः[1]।
बन्धातीतो बध्यते क्लेशपाशैर्मोक्षातीतो मुच्यते निर्विकल्पः ॥९॥

अर्थ—शब्द से अतीत होने पर भी वह वादियों के वाद का विषय बनता है, ज्ञान से अतीत होने पर भी वह ज्ञानियों के ज्ञान का विषय बनता है। बंधन से अतीत होने पर भी क्लेश पाश से बंधता है और मोक्षातीत होने पर भी निर्विकल्प होकर मुक्त होता है।

भावार्थ—तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" (तै० २-९) जैसे वर्णन हैं उनमें आत्मा का शब्दातीतत्व और मनोऽगम्यत्व रूप से प्रतिपादन किया गया है। दूसरी ओर ये ही उपनिषद् पुनः आत्मा का निरूपण करते हैं और ज्ञानियों को आत्मज्ञान के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जैसे कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २. ४. ५) इत्यादि। आत्मब्रह्म को कूटस्थ मानकर बंधमोक्ष से अतीत कहा गया है और 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।' (तै० २. ६) तथा 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' (तै० २. ६) इत्यादि द्वारा आत्मब्रह्म को सृष्टिबद्ध भी कहा है। उपनिषदों और दूसरे सभी अध्यात्मशास्त्रों का कथन यही है कि निर्विकल्पसमाधि प्राप्त करने वाला आत्मा मुक्त होता है। ऐसे परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले उपदेशवाक्यों का अवलम्बन लेकर के कवि ने आत्मा की पारस्परिक विरुद्ध अवस्थाओं का आलंकारिक भाषा में वर्णन किया है; परन्तु उसका तात्पर्य तो यह है कि ये विविध वर्णन परस्पर असंगत नहीं हैं किंतु दृष्टिभेद से प्रवृत्त हुए हैं। इसी वस्तु को जैन परिभाषा में कहना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं कि पारमार्थिक—कर्मनिरपेक्ष स्वाभाविक—दृष्टि से आत्मा न तो वाच्य है, न तर्क्य है, न बद्ध है और न मुक्त है परन्तु व्यावहारिक और कर्मसापेक्ष वैभाविक दृष्टि से आत्मा शब्दगम्य, ज्ञानध्यानगम्य, बद्ध और मुक्त भी है।

प्राचीन जैनश्रुत में अति महत्त्व रखने वाले आचारांग सूत्र में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का जो वर्णन है वह उपनिषदों में वर्णित निर्गुणब्रह्म की याद दिलाता है। वह कहता है कि—"सव्वे सरा नियट्टन्ति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गहिया, से न दीहे, न हस्से, न कोण्हे, न नीले न लोहिए, न सुरभिगन्धे न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न गुरुए न लहुए, न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए।" (५. ६. १७०)।

नायं ब्रह्मा न कपर्दी न विष्णुर्ब्रह्मा चायं शंकरश्चाच्युतश्च।
अस्मिन् मूढाः प्रतिमाः कल्पयन्ते[2] ज्ञातश्चायं न च भुयो नमोऽस्ति ॥१०॥

अर्थ—यह परमात्मा न ब्रह्मा है, न शंकर है, और न विष्णु है; और फिर भी यह ब्रह्मा, शंकर और विष्णु भी है। मूढ़ मनुष्य ही परमात्मा के विषय में विविध प्रकार की प्रतिमाओं की कल्पना करते हैं, जब यह आत्मा ज्ञात हो जाता है तब फिर नमस्कार करना शेष नहीं रहता है।

भावार्थ—लोक परम्परा और पौराणिक मान्यताओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की त्रिमूर्ति पूजी तथा मानी जाती है और उपासक अपनी रुचि या संस्कार के अनुसार परमात्मा को ही ब्रह्मा, शंकर या विष्णु रूप से भजता है। लोक और बहुत वार शास्त्र भी इस त्रिमूर्ति को परस्पर विरुद्ध मानते हैं तथा मनवाते हैं। इस वस्तुस्थिति को ध्यान में लेकर के कवि परमात्मा का यथार्थ—निर्गुण वर्णन करने के लिए और लोक तथा शास्त्र में रूढ़ विरोधी भावना को निर्मूल करके उसके स्थान पर समन्वयदृष्टि से सगुण वर्णन करते समय कहता है कि परमात्मा न तो ब्रह्मा है, न शंकर है और न विष्णु है फिर भी वह तीनों रूप है—कोई एक रूप तो नहीं है।

---

[1] ज्ञानविद्भि—मु०। [2] कल्पयन्तो—मु०।

लोग परमात्मा की उपासना करने के लिए अनेक प्रकार के प्रतीकों की कल्पना करते हैं, अनेक नाम से अनेक प्रकार की मूर्तियों की रचना करते हैं और पीछे उसी में डूब कर मूल ध्येय को भूल जाते हैं। ऐसे लोगों की ओर संकेत करके कवि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' (श्वे० ४-१९) श्वेताश्वतर के इस कथन का मानों भाष्य करके सच ही कहता है कि जो मूढ़ होते हैं वे ही परमात्मा की अनेक प्रतिमाओं की कल्पना करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि जिनको परमात्मा का स्वरूप अवगत होता है उनके लिए परमात्मा पुनः अधिक नमस्कार करने के योग्य नहीं रहता है। वे स्वयं परमात्मारूप बनते हैं और उनके ऊपर का तम निःशेष हो जाता है।

आपो वह्निर्मातरिश्वा हुताशः सत्यं मिथ्या वसुधा मेघयानम्।
ब्रह्मा कीटः शंकरस्तार्क्ष्यकेतुः सर्वः सर्वं सर्वथा सर्वतोऽयम् ॥११॥

अर्थ—परमात्मा ही पानी और वह्नि है, पवन और हुताशन है, सत्य और मिथ्या है, पृथ्वी और आकाश है, ब्रह्मा और कीटक है शंकर और गरुड़ध्वज—विष्णु है। यह सर्व—परमात्मा प्रत्येक प्रकार से प्रत्येक स्थल पर सर्वरूप से है।

भावार्थ—कितने ही वैदिक मंत्रों, उपनिषदों और गीता में यह भावना सुप्रसिद्ध है कि एक ही परमात्मा नानारूप धारण करता है और नानारूप से विलसित होता है। यहाँ पर कवि ने इसी भावना को परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले आधिभौतिक और आधिदैविक द्वन्द्वों से अभिन्नरूप में परमात्मा का वर्णन करके व्यक्त किया है। श्वेताश्वतर के 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥' (४. २) इस मंत्र की तुलना प्रस्तुत पद्य के साथ कर सकते हैं। तैत्तिरीय (२. ६) में ब्रह्म के नानारूप धारण करने का वर्णन है उसमें अनेक विरोधी द्वंद्वों के साथ में 'सत्यं चानृतं चाभवत्' इस वाक्य के द्वारा जिस सत्यानृत द्वंद्व का उल्लेख है उसे ही कवि ने यहाँ सत्य-मृषा कहा है। शुक्ल यजुर्वेद (१९. ७७) के 'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।' इस मंत्र में प्रजापति ने सत्य और अनृत इन दो रूपों का व्याकरण किया था इस बात का प्राचीन प्रघात है।

यहाँ वह्नि और हुताश इन दो पदों के समानार्थक होने से पुनरुक्ति का भास होता है; परन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है। वह्नि से जिस अग्नि को समझना चाहिए वह जल विरोधी सामान्य अग्नि लेना चाहिए और हुताश पद से आहुति द्रव्य को ग्रहण करने वाले यज्ञीय विशिष्ट वह्नि को लेना चाहिए जिसको कि मातरिश्वा से विरोधी कहा गया है। मातरिश्वा का अर्थ वैदिक मंत्रों में मॉनसून किया है। चतुर्मास का तूफानी पवन या उससे सूचित होने वाला चतुर्मास यह हुताशन विरोधी इसलिए माना गया होगा कि सामान्य रूप से चतुर्मास में यज्ञप्रथा नहीं होती है।

स एवायं विभृता येन सत्त्वाः शश्वद्दुःखा दुःखमेवापियन्ति।
स एवायमृषयो यं विदित्वा व्यतीत्य नाकममृतं स्वादयन्ति ॥१२॥

अर्थ—यह वही परमात्मा है जिसके द्वारा भरे हुए और व्याप्त प्राणी सतत दुःखी होकर दुःख ही प्राप्त करते रहते हैं। यह वही परमात्मा है जिसको जान कर ऋषिगण स्वर्ग का अतिक्रमण करके अमृत का आस्वाद लेते हैं।

भावार्थ—सभी प्राणी परमात्मभाव से भरे हुए हैं तथा व्याप्त हैं। फिर भी वे निरन्तर दुःखी रह करके दुःख ही प्राप्त करते रहते हैं। यह कथन विरुद्ध है, क्योंकि प्राणी परमात्मरूप हों तो उनको दुःख का स्पर्श ही कैसे हो सकता है? इस विरोध का परिहार प्रसिद्ध है। तात्त्विक दृष्टि से सभी जीवात्मा परमात्मा रूप हैं परन्तु अपने सच्चे स्वरूप का भान नहीं होने से वे दुःख प्राप्त करते हैं। इसी वस्तु को कवि ने उत्तरार्ध में व्यतिरेक के द्वारा कहा है कि जिन ऋषियों को आत्मज्ञान है वे अमृत ही बनते हैं। स्वर्ग का अतिक्रमण करके अमृत का आस्वादन करते हैं इस वर्णन में स्पष्ट विरोध है क्योंकि स्वर्ग में ही अमृत के अस्तित्व की मान्यता है तो फिर स्वर्ग को अतिक्रमण करने वाला उसका आस्वाद कैसे ले सकता है? इसका समाधान यह है कि स्वर्गीय अमृत वास्तविक अमृत नहीं है वास्तविक अमृत तो आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है जो स्वर्ग को अतिक्रमण करने वाले को ही प्राप्त होता है।

इस पद्य में संनिविष्ट भाव श्वेताश्वतर के 'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । त एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ।' (३-१०) मन्त्र में स्पष्ट है।

विद्याविद्ये यत्र नो संभवेते यन्नासन्नं नो दवीयो न गम्यम् ।
यस्मिन्मृत्युर्नेहते नो तु कामः[१] स सोऽक्षरः परमं ब्रह्म वेद्यम् ।।१३।।

अर्थ--जिसमें विद्या और अविद्या का संभव नहीं है, जो न समीप, न दूरतर और न गम्य है, जिसमें न तो मृत्यु प्रवृत्त होता है और न काम प्रवृत्त होता है वह और वही अक्षर--अविनाशी है और ज्ञेय ऐसा परब्रह्म है।

भावार्थ--कवि ने यहाँ परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया है। इसीलिए वह अविद्या अर्थात् कर्म-मार्ग और विद्या अर्थात् आत्मलक्षी शास्त्र इन दोनों के संभव से परमात्मा को पर कहता है। परमात्मा न तो दूर है और न आसन्न यह वर्णन ईशावास्य के 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' (५) इस वर्णन की याद दिलाता है। प्रस्तुत पद्य में श्वेताश्वतर के 'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढं । क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।' (५. १) इस मंत्र का भाव रममाण हो रहा है।

ओतप्रोताः पशवो येन सर्वे ओतः प्रोतः पशुभिश्चैष सर्वैः ।
सर्वे चेमे पशवस्तस्य होम्यं तेषां चायमीश्वरः संवरेण्यः ।।१४।।

अर्थ--जिसके द्वारा ये सब पशु--जीवात्माएँ ओतप्रोत हैं और यह स्वयं सभी पशुओं--जीवात्माओं द्वारा ओत-प्रोत है। ये सभी पशु उसका हव्य हैं और इन सभी पशुओं के लिए यह वरने योग्य ईश्वर है।

भावार्थ--कवि यहाँ पाशुपत परम्परा का अनुसरण करके 'पशु' पद का जीवात्मा के अर्थ में प्रयोग करता है और उस जीवात्मापरमात्मा के सम्बन्ध को यहाँ आलंकारिक रीति से व्यक्त करता है। कवि जीवात्मा और पर-मात्मा को एक दूसरे से ओतप्रोत कह करके उन दोनों के बीच में अभेद सम्बन्ध दिखलाता है और वह अभेद विशिष्टा-द्वैत कोटि का हो ऐसा रूपक से प्रतीत होता है।

यज्ञ में पशु होमे जाते थे इसलिए वे उद्दिष्ट देवता के होम्य--हव्य द्रव्य कहलाते थे और वह उद्दिष्ट देवता होम्य पशुओं का आराध्य माना जाता है। इस वस्तु को कवि ने जीवात्मा और परमात्मा के बीच का आध्यात्मिक सम्बन्ध स्पष्ट करते समय रूपक में कहा है कि जीवात्माएँ परमात्मा के होम्य हैं अर्थात् परमात्मभाव को प्राप्त करने के ध्येय रखने वाले जीवात्माओं को अपने आपका--जीवभाव का बलिदान करना ही चाहिए।

तस्यैवैता रश्मयः कामधेनोर्याः पाप्मानमदुहानः क्षरन्ति ।
येनाध्याताः पंच जनाः स्वपन्ति प्रोद्बुद्धास्ते स्वं परिवर्तमानाः ।।१५।।

अर्थ--जिसके द्वारा आध्यात--जिसके संकल्प के विषय बने हुए पंचजन--निषाद और चार वर्ण मिल कर पाँच जन या पाँच इन्द्रियाँ सोती हैं और जिसके द्वारा उद्बोध प्राप्त करके वे पाँच जन स्वयं अपने प्रति पुनः प्रवृत्त होते हैं। उसी परमात्मा रूप कामधेनु की ये रश्मियाँ हैं जो अपने आप पाप को नहीं दूझती हुई झरती हैं।

भावार्थ--यहाँ कवि ने दो विरोधाभासों द्वारा चमत्कारिक रीति से परमात्मा की विभूति का वर्णन किया है। वह कहता है कि परमात्मा की अभिमुखता रूप आध्यान का स्पर्श होते ही मनुष्यमात्र तथा इन्द्रियाँ स्वप्नवश बनती हैं अर्थात् वे परमात्मस्पर्शरूप निद्रामंत्र के प्रभाव से भान भूल कर निद्रावश बनती हैं और जब वे जगती हैं तब वे अपने कार्यप्रदेश के प्रति पुनः फिरती हैं।

---

[१] नोतुकामा--मु०

यह स्पष्ट विरोध है, क्योंकि परमात्मा का स्पर्श तो चाहे जिसको जागृत करता है इसके विपरीत वह मनुष्य को प्रवृत्तिक्षेत्र से दूर करके निद्रावश और भानरहित कैसे बनावेगा। यदि वह ऐसा करता है तो फिर परमात्मस्पर्श के स्थान-पर उसको चोरों के द्वारा प्रयोजित निद्रामंत्र का स्पर्श ही कहना चाहिए ? इस प्रापञ्चिक विरोध का परिहार आध्यात्मिक दृष्टि के विचार में है। आध्यात्मिक दृष्टि यह कहती है कि जब मनुष्य और उसकी इन्द्रियाँ अपने अपने प्रवृत्तिक्षेत्र में रममाण होते हैं तभी वह तात्त्विक दृष्टि से निद्रावश होते हैं। हृदय में परमात्मा का स्पंदन होते ही मनुष्य और इन्द्रियों की यह दशा चली जाती है और वह प्रवृत्तिक्षेत्र के स्थूलरस की निद्रा छोड़ कर किसी नव जागरण का अनुभव करते हैं। ऐसे जागरण का ही परमात्मस्पर्शजनित निद्रारूप से यहाँ वर्णन किया गया है। और जब ऐसी निद्रा से मनुष्य और उसकी इन्द्रियाँ जागते हैं तब वे पीछे अपने अपने विषय की ओर झुक कर भोगाभिमुख बनते हैं।

उक्त निद्रा और जागरण समझने के लिए 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' (गीता २. ६९) गीता का यह श्लोक और उसका आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा काव्यानुशासन में किया हुआ विवरण (पृ० ७०) उपयोगी है।

कवि परमात्मा की कामधेनु के रूप से कल्पना करके और उसके चारों ओर फैली हुई विभूतियों को स्तन[1] का रूपक देकर कहता है कि वे स्वयं झरती तो हैं, किन्तु अपने आप पाप को नहीं दूझती हैं। यहाँ यह विरोध है कि परमात्मा की विभूतियों को यदि स्वयं झरने दिया जाय अर्थात् उनको स्वयं अपना अपना काम करने दिया जाय तो वे सदैव भला करती हैं; परन्तु यदि उनको प्रयत्न से दुहना शुरू करो वा उन्हें प्रयत्न से निचोड़ना शुरू करो तो उसमें से पाप ही झरता है बुराई ही प्रकट होती है। यह स्पष्ट विरोध है। कामधेनु के स्तनों को हाथ से निचोओ या उनको दूध स्वयं झरने दो तो भी उनमें से एक समान ही दूध झरता है। जब कि यहाँ पर तो प्रयत्न से निचोड़ने पर बुराई प्रकट होती है ऐसा कहा गया है।

इस विरोध का परिहार इस प्रकार हो सकता है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्मिक सभी परमात्मा की विभूतियों को जब मनुष्य अपने आहंकारिक प्रयत्न से भोगदृष्टि से निचोता है अर्थात् उनके साहजिक प्रवाह को अपने लोभ से कुंठित करता है तब वह विभूतियों में से कल्याण सिद्ध करने के बदले अकल्याण सिद्ध करता है। यदि कोई सूर्य के साहजिक प्रकाश प्रवाह को रोकने के लिए प्रयत्न करता है या बरसते मेघ को रोकता है तो उसमें उसका और दूसरों का अहित ही होने वाला है। कवि का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जगत् में जो-जो विभूतिरूप है उसमें से प्रयत्न के बिना ही सबका कल्याण सिद्ध होता है। परन्तु यदि इन विभूतियों को निचोना शुरू करो तो उनमें से अकल्याण ही प्रकट होता है। कामधेनु के स्तन अपने आप दूध की वर्षा करते हैं परन्तु अधिक लालच से उनको निचोना शुरू करो तो उनमें से रुधिर ही झरता है। यही न्याय परमात्मा की सहज विभूतियों को भी लागू पड़ता है।

तमेवाश्वत्थमृषयो वामनन्ति हिरण्मयं व्यस्तसहस्रशीर्षम् ।
मनःशयं शतशाखप्रशाखं यस्मिन् बीजं विश्वमोतं प्रजानाम् ॥१६॥

अर्थ—जिसमें प्रजाओं का संपूर्ण बीज रहा हुआ है उसी का ऋषि लोग अश्वत्थ वृक्ष रूप से वर्णन करते हैं, उसी का विस्तृत हजार मस्तकधारी ब्रह्मारूप से वर्णन करते हैं और उसी का सैकड़ों शाखा और प्रशाखा वाले कामरूप से वर्णन करते हैं।

---

[1] मूल में रश्मि शब्द है उसका सीधा अर्थ स्तन नहीं है परन्तु यहां प्रसंग देखकर किरण की समानता की कल्पना करके वह अर्थ किया गया है।

भावार्थ—सांख्यपरम्परा के अनुसार सृष्टिमात्र या प्राणीवर्ग का जन्मवीज अव्यक्त प्रकृति में समाविष्ट है जब कि ब्रह्मवादी परम्परानुसार यह जननवीजशक्ति परब्रह्म परमेश्वर में निहित है। यहाँ कवि ईश्वरवादी परम्परा को लक्ष्य करके परमात्मा का ही समग्र प्राणीवर्ग की जननशक्ति के आधाररूप से निर्देश करता है। और साथ-साथ में वह कहता है कि ऋषि लोग इसी परमात्मा का वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि में अश्वत्थ रूप से, हिरण्यगर्भ रूप से तथा कामरूप से वर्णन करते हैं।

ऋग्वेद के सूक्त में (१.२४.७) वरुण के वृक्ष का वर्णन है। अथर्ववेद में (५.४.३) अश्वत्थवृक्ष का वर्णन है, कठ में (६.१) और गीता में (१५.१) इसी अश्वत्थवृक्ष का 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' इत्यादि रूप से सविशेष वर्णन है और गीता में तो कठ से भी अधिक 'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः' (१५.२) इत्यादि रूप से वर्णन है। श्वेताश्वतर (६.६) अश्वत्थ नाम नहीं दे करके केवल वृक्ष शब्द से इसका निर्देश करता है। ऋषियों ने दृश्यसंसार के विस्तार का ही इस वृक्ष या अश्वत्थ के रूपक में वर्णन किया है। कवि उस रूपक को उद्देश करके ही कहता है कि ऋषि लोग परमात्मा का ही अश्वत्थरूप से वर्णन करते हैं। यहाँ कवि संसार और परमात्मा का अभेद वर्णन करता है। जब ब्रह्म ही जगत का कारण माना गया तब ब्रह्मवादियों ने इस ब्रह्म का ही अश्वत्थरूप से वर्णन किया।

पुरुषसूक्त में (१०-९०-१) सहस्रशीर्ष रूप से पुरुष का वर्णन है। वह पुरुष अर्थात् लोकपुरुष या ब्रह्मा, प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ। इसी ऋषिकृत वर्णन को लक्ष्य में रख कर कवि कहता है कि वही हिरण्यगर्भ परमात्मा है। प्राचीनकाल में प्रजा का मूल हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा में माना जाता था। ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा के समय में यह मूल परमात्मा में माना गया। कवि इस प्राचीन और नवीन विचारधारा का एकीकरण करके कहता है कि हिरण्यगर्भ ही परमात्मा है।

काम-तृष्णा-संकल्प या वासना यही संसार का बीज है। उसमें से ही सृष्टि की छोटी बड़ी सैकड़ों शाखाएँ प्रवृत्त होती हैं। इस वस्तु का 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' (तै० २-६) इत्यादि रूप से ऋषियों ने वर्णन किया है। उसको लक्ष्य करके कवि कहता है कि यह काम दूसरा और कोई नहीं है परन्तु परमात्मा ही है। 'कामोऽस्मि भरतर्षभ' (गी० ७-११) की तरह काम और परमात्मा का अभेद दिखलाने में कवि का तात्पर्य इतना ही है कि सबके प्रभवरूप से जो जो माना जाता है वह परमात्मा ही है। इस प्रकार प्राचीन ऋषियों के द्वारा नाना रूप से गाई हुई महिमा परमात्मा की ही है, ऐसा कवि सूचित करता है।

स गीयते वीयते चाध्वरेषु मन्त्रान्तरात्मा ऋग्यजुःसामशाखः।
अधःशयो विततांगो गुहाध्यक्षः स विश्वयोनिः पुरुषो नैकवर्णः ॥१७॥

अर्थ—ऋग्, यजु और सामरूप शाखावाला ऐसा मंत्रों का अन्तरात्मा ही यज्ञों में गाया जाता है और स्तुतिपात्र बनता है। गुहा का अध्यक्ष अधःशायी और विस्तृतांग ऐसा वही अनेकवर्ण विश्वयोनि पुरुष है।

भावार्थ—यहाँ कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों और विधिओं के हार्दरूप में तथा ज्ञानकाण्ड के चिन्तन में सिद्ध हुए आध्यात्मिक तत्त्वरूप में परमात्मा का एकीकरण किया गया है। यज्ञों में वैदिक मन्त्र विधिपूर्वक उच्चरित होते थे और विभिन्न देवों की स्तुति द्वारा प्रार्थना होती थी। स्तुति किये जाने वाले इन अनेक देवों में से एक देव का विचार फलित होता गया तब ऐसा माना जाने लगा कि सभी मन्त्र फिर वे ऋग्वेद, यजुर्वेद या सामवेद रूप में विभक्त हुए हों और उनकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ पड़ी हों फिर भी उनका परमार्थ या उनमें रहा हुआ अन्तर्गत सार तत्त्व तो एक ही है और वही अनेक यज्ञों में गाया जाता है तथा उसीकी विनय की जाती है।

कर्मकाण्ड के बाद की दूसरी भूमिका ज्ञानकाण्ड की है। उसमें तत्त्वचिंतक और सन्त मुख्यरूप से जगत् के मूलतत्त्व के पीछे पड़े हुए थे। इसके परिणाम स्वरूप उनको एक ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व प्राप्त हुआ जिसको उन्होंने

विश्वयोनि के रूप में माना तथा वर्णन किया। उन तत्त्वचिन्तक सन्तों ने इस तत्त्व का अनेक प्रकार के विरोधाभासी वर्णनों द्वारा अलौकिक प्रकार से वर्णन किया है। इन दोनों भूमिकाओं के फलितार्थ का एकीकरण करके कवि यहाँ कहता है कि यज्ञों में भिन्न-भिन्न शाखाओं के द्वारा गाया जाने वाला, स्तुति किया जाने वाला पुरुष और तत्त्वज्ञ सन्तों में गुहाध्यक्ष तथा विश्वयोनि रूप में प्रसिद्ध पुरुष यह एक ही है।

कोई योगी पुरुष गुफावासी और गुहा-अध्यक्ष हो वह हाथ पांव इत्यादि अंग विस्तृत करके पड़ा रहता है, परन्तु वैसा पुरुष विश्वयोनि और अनेकवर्ण कैसे हो सकता है? यह एक प्रकार का विरोध है, पर उसका परिहार आध्यात्मिक दृष्टि में है। आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा ही मुख्य पुरुष है, वह दृश्य जगत् के नीचे उसके उस छोर पर रहने के कारण अधःशायी भी है। और वह अपने शक्तिरूप अंग प्रकृति के पट के ऊपर चारों ओर फैलने के कारण विततांग भी है। वह बुद्धिरूप गुफा में स्फुरित होता है और हृदय गुफा का नियन्त्रण करता है इसलिए वह गुफा अध्यक्ष कहलाता है। और फिर भी वह विश्वयोनि तो है ही। वह पुरुष मूल में अवर्ण या एकवर्ण होने पर भी विश्व में अनेक रूप से विलसता है इसलिए वह अनेकवर्ण भी है।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध के साथ में श्वेताश्वतर के नीचे के दो मन्त्र तुलना करने योग्य हैं। "यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः" (५.५), "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति" (४.१)।

तेनैवैतद्विततं ब्रह्मजालं दुराचरं दृष्ट्युपसर्गपाशम्[1]।
अस्मिन्मग्ना मानवा[2] मानशल्यैर्विवेष्यन्ते पशवो जायमानाः ॥१८॥

अर्थ—उसके द्वारा ही यह ब्रह्मजाल विस्तृत है जो कि दुष्प्रवेश है और दृष्टि को उपसर्ग करने वाला है। इस ब्रह्मजाल में मग्न पुरुष पशु बन करके मानरूपी शल्य से विंधे जाते हैं।

भावार्थ—यहाँ कवि ने ब्रह्माण्ड की जालरूप से कल्पना करके उसको फैलाने वाले के रूप में परमात्मा का निर्देश करके सूचित किया है कि ब्रह्मजाल को फैलाने वाला जो जाली, धीवर या पारधी है वह परमात्मा ही है। जाल और ब्रह्माण्ड का साम्य स्पष्ट है। जाल में फँस जाने के बाद उसमें चलना, फिरना तथा उसमें से निकलना कठिन हो जाता है। ब्रह्माण्ड भी ऐसा ही है। जाल में फँसने वाले की दृष्टि बन्द हो जाती है उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता है। ब्रह्माण्ड में पड़े हुए की दशा भी ऐसी ही होती है। जाल में लुब्ध हो करके फँसे हुए मृग इत्यादि पशु उसके कण्टकों और बन्धनों से घिरे जाकर विद्ध होते हैं। ब्रह्माण्ड में भी आसक्त होकर गर्क हुए पुरुष पशु की तरह से लाचार बन करके मानापमान के शल्यों से विंधे जाते हैं।

तुलना—प्रस्तुत पद्य में जाली के रूप में परमात्मा का जैसा वर्णन है वैसा श्वेताश्वतर में भी है। जैसे कि "य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।" (३.१) "एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संचरत्येष देवः।" (५.३)। परन्तु यहाँ कवि ने 'दुराचरं दृष्ट्युपसर्गपाशम्।' जैसे विशेषणों से जाल का स्पष्टीकरण विशेष किया है। और इसमें फँसने वाले मनुष्य पशु की तरह से किस प्रकार जकड़े जाते हैं उसका सूचन किया है। यहाँ ब्रह्म जाल सूत्र (दीघनिकाय) याद आता है जिसमें ६२ मिथ्यादृष्टियों के जाल का वर्णन है।

अयमेवान्तश्चरति देवतानामस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
अयमुद्दण्डः प्राणभुक् प्रेतयानैरेष त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥१९॥

अर्थ—यही देवताओं के अन्दर विचरण करता है, और सभी देव इसी के अन्दर रहे हुए हैं, यही दण्ड धारण करके प्रेतयानों से प्राणभोजी बनता है और यही तीन प्रकार से बद्ध होकर के वृषभरूप से बूम मारता है।

---

[1] पासम्—मु०   [2] माननामा(नं) शल्यैः—मु०

भावार्थ—मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि में जो चमत्कारी वर्णन हैं उनमें से कुछ ले करके यहाँ कवि उनको परमात्मा की स्तुति के रूप में गूंथता है। ऋग्वेद में 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा। द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।' (४.५८.३) यह मन्त्र है। उसका सायण ने यास्क निरुक्तभाष्य का अनुसरण करके यज्ञाग्नि और सूर्यपरक व्याख्यान किया है। शाब्दिक पतंजलि ने महाभाष्य में इस मन्त्र की शब्दपरक व्याख्या की है जब कि सिद्धसेन यहाँ उसका केवल एक पाद लेकर परमात्मा रूप से उसकी योजना करता है। उसका तात्पर्य यहाँ परमात्मा के सगुणरूप वर्णन का हो ऐसा प्रतीत होता है। परमात्मा है तो वृषभ अर्थात् उत्तम अथवा कल्याणगुणवर्षण करने वाला—स्वतन्त्र, परन्तु जब वह सत्त्व, रजस और तम इन तीन गुणों से बँधता है अथवा राग-द्वेष-मोह के बन्धन में पड़ता है तब वह नासिका, ग्रीवा और पाँव में त्रिधा बँधे हुए सांड़ की तरह से धूमाधूम मचा करके परेशान कर डालता है।

"यश्चायमादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः' (बृह० २.२.५) इत्यादि रूप से उपनिषदों में परमात्मा का वर्णन है। वैसे वर्णनों को लक्ष्य में रख करके कवि ने यहाँ परमात्मा का देवताओं के अन्तश्चारी के रूप में वर्णन किया है। सभी देव परमात्मा में रहे हुए हैं इस अर्थ का प्रस्तुत पद्य का द्वितीय पाद तो जैसा का तैसा श्वेताश्वतर में 'अस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।' (४.८) है। प्राणियों को प्रेतलोक में ले जाने का काम दण्डधर यम के अधीन है ऐसा पौराणिक वर्णन है। यम प्रेतलोक में जाने वाले प्राणियों का शासन करता है इसलिए वह दण्डधर और भयानक गिना जाता है। वैसे यम के रूप में भी परमात्मा का निर्देश करके कवि सूचित करता है कि परमात्मा पुण्यशाली के प्रति जितना कोमल है उतना ही पापियों के प्रति कठोर है।

अपां गर्भः सविता वह्निरेप हिरण्मयश्चान्तरात्मा देवयानः।
एतेन स्तंभिता सुभगा द्यौर्नभश्च गुर्वी चोर्वी सप्तच भीमयादसः ॥२०॥

अर्थ—चन्द्र, सूर्य, वह्नि, हिरण्मय, अन्तरात्मा और देवयान यही है। इसी के द्वारा सुन्दर स्वर्ग, आकाश, महती अथवा वजनदार पृथ्वी और सात समुद्र स्थित हैं।

भावार्थ—'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥" (४.२) इस मन्त्र में श्वेताश्वतर ने ब्रह्म का जैसे अनेक देवों के रूप में वर्णन किया है वैसे ही कवि ने यहाँ पूर्वार्ध में अनेक देवों के रूप में परमात्मा का वर्णन किया है और उसके बाद जिस प्रकार ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के "येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽन्तरिक्षे रजसो मिमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।" (ऋ० १०-१२१-५, शु० य० ३२-६) इस मन्त्र में हिरण्यगर्भ प्रजापति का सबके आधारस्तम्भ के रूप में वर्णन है और जैसे बृहदारण्यक में "एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः" (३.८.९) इत्यादि द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि की नियमित स्थिति के नियामक रूप में अक्षर परमात्मा का वर्णन है और जैसे मुण्डक में "अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः" (२.१.९) समुद्र, पर्वत, नदी इत्यादि के नियमित कार्य के कारण के रूप में वर्णन है वैसे ही यहाँ उत्तरार्ध में कवि ने स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी और सात समुद्र की स्थिति परमात्मा के कारण है, ऐसा वर्णन किया है। जो शाब्दिक दृष्टि से ऋग्वेद के ऊपर निर्दिष्ट मन्त्र का प्रतिबिम्ब मात्र है।

पुराणों और लोकों में समुद्र की सात संख्या प्रसिद्ध है इसलिए सप्तद्वीप-समुद्रा वसुमती कहलाती है।

यहाँ पूर्वार्ध में तो सब कुछ परमात्मारूप है ऐसा कारण भेद वर्णन है जब कि उत्तरार्ध में सारा जगत परमात्मा के कारण ही स्थित है ऐसा माहात्म्य वर्णन है। जिस लोक में जाने के बाद पुनरावृत्ति नहीं होती है वह देवयान कहलाता है। पितृयान लोक इससे भिन्न है क्योंकि वहाँ से पुनरावृत्ति होती है।

मनः सोमः सविता चक्षुरस्य घ्राणं प्राणो [1]मुखमस्याज्यपिवः ।
दिशः श्रोत्रं नाभिरभ्रमव्दयानं पादाविला सुरसाः सर्वमापः ॥२१॥

अर्थ—चन्द्र इसका—परमात्मा का मुख है, सूर्य नेत्र हैं, प्राणवायु घ्राण—नासिका है, घृतपायी—अग्नि इसका मुख है, दिशाएँ श्रोत्र हैं, आकाश नाभि है, पृथ्वी पाँव है और सरस जल सब कुछ है ।

भावार्थ—ऋग्वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थों में लोकपुरुष का वर्णन करते समय ऋषि ने विवक्षित पुरुष के उन-उन अवयवों में से आधिभौतिक और आधिदैविक विभूतियों की उत्पत्ति का वर्णन करके लोकपुरुष का महत्त्व गाया है ।[2] जैसे कि मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ, चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, मस्तक से स्वर्ग और पाँव से पृथ्वी हुई इत्यादि (ऋ०.१०.९०.१३.१४) । शुक्लयजुर्वेद में इसी वर्णन का थोड़ा विकास हुआ है । आगे जाकर भिन्न-भिन्न उपनिषदों में यह प्रक्रिया अनेक प्रकार से बतलाई गई है । उदाहरण के रूप में बृहदारण्यक में (१.१.१) मेध्य अश्व के सिर आदि अनेक अंगों के रूप में उषा आदि प्राकृतिक वस्तुओं की कल्पना की गई है और फिर इसी उपनिषद् में विभिन्न स्थलों पर यही वस्तु भिन्न-भिन्न रूपकों में थोड़े बहुत फेरफार के साथ आती[3] है । ऐतरेय में (१.१.४) मुख से वाणी की, वाणी से अग्नि और नासिका की, नासिका से प्राण की, प्राण से वायु और नेत्र की इत्यादि रूप से उत्पत्ति वर्णित है । आगे जाकर भागवत में (२.१.२६-३९) तो इतना अधिक विकास हुआ है कि प्रकृतिगत छोटी बड़ी संख्याबद्ध वस्तुओं का प्रभुशरीर के अंग प्रत्यंग के रूप में वर्णन है । इस प्रथा का उपयोग करके कवि यहाँ आधिभौतिक या आधिदैविक वस्तुओं का परमात्मा के अंग-प्रत्यंग के रूप में वर्णन करता है और इस प्रकार दृश्यमान समग्र जगत को परमात्मा का शरीर कह करके उसकी सर्वव्यापकता की महिमा गाता है ।

कवि ने चन्द्र, सूर्य, प्राण, अग्नि, दिशा, आकाश, पृथ्वी और पानी का परमात्मा के उन-उन अवयवों के रूप में वर्णन किया है जो बराबर वेद और उपनिषदों की कल्पना का अनुकरण है । कवि सुरस पानी को सब कुछ कहता है यह रूपक कवि का अपना ही हो ऐसा प्रतीत होता है ।

विष्णुर्बीजमंभोजगर्भः शम्भुश्चायं कारणं लोकसृष्टौ ।
नैनं देवा विद्रते नो मनुष्या देवाश्चैनं विदुरितरेतराश्च ॥२२॥

अर्थ—यह परमात्मा विष्णु है और फिर भी लोक के सर्जन में ब्रह्मारूप बीज है । यह शंकर है और फिर भी लोकसृष्टि का कारण है । इसको न तो देव जानते हैं और न मनुष्य जानते हैं और इसको अन्यान्य देव जानते भी हैं ।

भावार्थ—एक ही परमात्मा की ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप त्रिमूर्ति प्रसिद्ध है, परन्तु उस त्रिमूर्ति की पौराणिक कल्पना क्रमशः रजस्, सत्त्व और तमस् इन गुणों की प्रधानता की आभारी है । रजोगुण का अवलम्बन लेकर के सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, सत्त्वगुण का अवलम्बन लेकर के उसका पालन करने वाला विष्णु और तमोगुण का अवलम्बन लेकर के उसका संहार करने वाला शंकर है । इस प्रकार तीनों मूर्तियों का भिन्न-भिन्न कार्य-प्रदेश है । फिर भी कवि यहाँ इस त्रिमूर्ति का अभिन्नरूप में वर्णन करता है जो पौराणिक कल्पना से विरुद्ध है । कवि परमात्मा का विष्णु और शंकर कह करके ब्रह्मा की तरह सृष्टि के कारण के रूप में वर्णन करता है । इस विरोध

---

[1] मुखमस्याद्यपिवं दिशः । श्रोत्रनाभिरन्ध्राभादयानं पादाविलाः—मु०

[2] चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥३१. १२. १३ शु० य०

[3] बृहदा० २. ५. १-१४।३. १।३. २. १३.

का परिहार स्पष्ट है, वह यह कि त्रिमूर्ति के कार्यप्रदेश की कल्पना पुराणों में चाहे भिन्न-भिन्न रूप से की गई हो फिर भी वस्तुतः यह त्रिमूर्ति परमात्मा ही है और इसलिए तीनों मूर्तियाँ सृष्टि की कारण भी हैं।

इस प्रकार विरोधाभासी सगुण वर्णन करने के बाद कवि परमात्मा की अज्ञेयता सूचित करने के लिए कहता है कि उसे देवता या मनुष्य नहीं जानते हैं। और साथ ही ज्ञेयता सूचित करने के लिए कहता है कि अन्यान्य देव जानते हैं। परमात्मा या मूलतत्त्व को कोई जानता है या नहीं इस प्रश्न की चर्चा ऋग्वेद के समय से होती रही है। नासदीयसूक्त में कहा गया है कि देव[1] इसको जानते होंगे। पर ऋषि कहता है कि देव तो पीछे हुए वे अपने पूर्ववर्ती मूलतत्त्व को किस प्रकार जान सकेंगे? यह उत्तर आगे जाकर परमात्मा के ज्ञेय-अज्ञेय स्वरूप में परिणत हुआ उसीका कवि ने यहाँ वर्णन किया है।

अस्मिन्नुदेति सविता लोकचक्षुरमिन्नस्तं गच्छति चांशुगर्भः।
एषोऽजस्रं वर्तते कालचक्रमेतेनायं जीवते जीवलोकः ॥२३॥

अर्थ—इस परमात्मा में ही सूर्य जो कि नेत्र की तरह लोक को प्रकाशदायक होने से लोकचक्षु कहलाता है वह उदय होता है और इसी परमात्मा में वह सूर्य फिर अंशुगर्भ—किरणों को अपने अंदर गर्भ की तरह संकुचित करके अस्त होता है। यही परमात्मा सतत कालचक्र के रूप में प्रवृत्त होता है। और इसी के द्वारा यह जीवलोक जी रहा है।

भावार्थ—बृहदारण्यक (३.८.९) में याज्ञवल्क्य ने वाचक्नवी गार्गी को उत्तर देते हुए कहा है कि "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ" अर्थात् सूर्य-चन्द्र ये परमात्मा की महिमा से ही हैं और नियमित रूप से अपना-अपना काम करते हैं। इस कथन का मानों भाष्य करके ऋषि कठोपनिषद् में कहता है कि 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।' (४.९) इसी वस्तु को यहाँ पूर्वार्ध में कह करके सिद्धसेन परमात्मा की महिमा गाता है। उत्तरार्ध में वह परमात्मा का निरन्तर फिरने वाले कालचक्र के रूप में वर्णन करता है। कालकारणवादी समग्र विश्व के कारण के रूप से काल को ही मानते थे। इस मत का उल्लेख अथर्ववेद के (काण्ड १९ सूक्त ५३-५४) कालसूक्त में स्पष्ट है। कवि यहाँ परमात्मा को ही विश्व का कारण मानता है इसलिए वह परमात्मा और काल दोनों के अभेद की कल्पना करके कहता है कि जिस कालचक्र की निरन्तर प्रवर्तमान होने की मान्यता है वह कालचक्र वस्तुतः परमात्मा ही है। काल को जो चक्र कहा गया है वह यह सूचित करने के लिए कि जैसे चक्र सदैव फिरता रहता है वैसे काल भी सदैव गति करता रहता है। काल के चक्र कहने में यह भी आशय है कि चन्द्र के छः या बारह आरों की तरह काल के भी छः ऋतु और बारह महीनारूप आरें हैं। जैनपरम्परा में भी कालचक्र की कल्पना है परन्तु उसमें ऋतु या मास के स्थान में दूसरे ही प्रकार के छः और बारह विभागों की कल्पना करके उनको आरा कहा गया है। वे छः या बारह कालविभाग ब्रह्म के दिवस और रात की पौराणिक कल्पना से भी आगे बढ़ जाते हैं। चढ़ती के क्रम को सूचित करने वाले छः आरे उत्सर्पिणी और ह्रास के क्रम को सूचित करने वाले छः आरे अवसर्पिणी कहलाते हैं। यह ऋतुचक्र और मासचक्र नियमित रूप से एक भी क्षण ठहरे बिना पुनः-पुनः आता जाता रहता है। इसकी गति बराबर चक्र जैसी ही है, इसलिए काल के लिए चक्र की उपमा बराबर लागू होती है। अन्त में कवि कहता है कि समग्र जीवलोक का जीवन परमात्मा का ही आभारी है। कवि का यह कथन कठ के "न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।" (५.५) इस विचार का प्रतिबिम्ब है।

---

[1] को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

अस्मिन् प्राणाः प्रतिवद्धाः प्रजानाम् अस्मिन्नस्ता रथनाभाविवाराः[1]।
अस्मिन् प्रीते शीर्णमूलाः पतन्ति प्राणाशंसाः[2] फलमिव मुक्तवृन्तम् ॥२४॥

अर्थ—इस परमात्मा में ही प्रजा के प्राण प्रतिवद्ध हैं इसी में ही वे प्राण रथ की नाभि में आरे की तरह अर्पित हुए हैं। जव यह परमात्मा प्रसन्न होता है तभी प्राण की एषणा डंठल से छूटे हुए फल की तरह शिथिलमूल वन करके खिर जाती है।

भावार्थ—शुक्लयजुर्वेद में जैसे मन के विषय में कहा गया है "यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् ॥" (३४.५) वैसे ही कवि यहाँ परमात्मा को लक्ष्य में रख कर कहता है कि प्रजा के प्राण परमात्मा में ही वद्ध हैं और वे नाभि में आरे की तरह व्यवस्थित हैं अर्थात् प्राणोजीवन परमात्मा के साथ ही संकलित है उससे भिन्न नहीं है। फिर भी जव परमात्मा का अनुग्रह होता है तव यह प्राण धारण करने की वृत्ति, इसके मूल अविद्या के नष्ट होते ही अपने आप वन्द हो जाती है। इस कथन में विरोध भासित होता है, क्योंकि यदि प्रजाप्राण परमात्मा के साथ में ग्रथित हो तो वह परमात्मा के प्रसन्न होने से खिर कैसे जाता है? परन्तु इसका परिहार इस प्रकार करना चाहिए कि प्राणियों की जिजीविषा अज्ञान के कारण है। जव तक प्राणी अपने परमात्मारूप को नहीं जानते हैं तभी तक वह जिजीविषा स्थिर रहती है और तभी तक परमात्मा में प्राण संकलित रहते हैं। परमात्मास्वरूप का भान होते ही इस अज्ञान का मूल शिथिल होने से जिजीविषा अपने आप चली जाती है।

नाभि में आरों को जमाने की उपमा वेद[2]काल से प्रसिद्ध है और वह वृहदारण्यक, मुण्डक, कौषीतकी आदि उपनिषदों में भी वहुत प्रचारित हुई है।[3]

मुण्डकोपनिषद् के 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' (२.२.८) इस पद्य में ज्ञानयोग की महिमा है जव कि यहाँ 'अस्मिन् प्रीते' इस उत्तरार्ध में भक्तियोग का माहात्म्य है, जिस प्रकार 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' (कठ २.२२) इत्यादि में है। पके फल की डंठल से छूट जाने की उपमा भी वहुत प्राचीन है—"उर्वारुकमिव वन्धनात्"—शुक्ल यजुर्वेद ३.६०। कालिदास ने भी इसका उपयोग किया है।

अस्मिन्नेकशतं निहितं मस्तकानामस्मिन् सर्वा भूतयश्चेतयश्च।
महान्तमेनं पुरुषं[4] वेद वेद्यं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥२५॥

अर्थ—इसमें सौ मस्तक रहे हुए हैं, इसमें सभी सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ हैं। अन्धकार से पर सूर्य जैसे प्रकाशमान वर्ण वाले इस ज्ञेय महान् पुरुष को मैं जानता हूँ।

भावार्थ—पुरुषसूक्त में (ऋ० १०-९०-१) पुरुष का वर्णन करते समय 'सहस्रशीर्षा' पद से हजार मस्तक का निर्देश है जिसका अनुकरण शुक्लयजुर्वेद (३१.१) तथा श्वेताश्वतर (३.१४) आदि में है। यहाँ तो कवि ने पुरुषरूप से वर्णन करते समय सौ मस्तक का निर्देश किया है। सौ या हजार यह केवल संख्याभेद है। इसका तात्पर्य तो इतना ही है कि लोक पुरुषरूप परमात्मा के अनेक मुख हैं, जव कि मनुष्य पुरुष या किसी भी प्राणी पुरुष को केवल एक ही मुख होता है। परमात्मा की विशेषता यह है कि तमाम प्राणियों के मुख इसके ही मुख हैं। शुक्लयजुर्वेद में (२५.१३) मृत्यु और अमरत्व दोनों का परमात्मा की छाया के रूप में वर्णन है। इसी तत्त्व को कवि यहाँ भिन्न प्रकार से कहता है कि सभी विभूतियाँ लोकपुरुषरूप परमात्मा में ही है। ऐसे परमात्मपुरुष का वर्णन 'वेदाहमेतं पुरुषं

---

[1] रथनाभा विचाराः—मु०। [2] 'शंसाफ'—मू०।
[2] शुक्ल यजुर्वेद ३४.५।
[3] वृहदा० २.५.१५। मुण्डक० २.२.६। कौषी ३.८।
[4] पुरुषवे०—मू०।

महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।' इत्यादि रूप से शुक्लयजुर्वेद (३१.१८) और श्वेताश्वतर (३.८) में है। उसी को ही थोड़े परिवर्तन के साथ कवि यहाँ ग्रथित करता है।

सारे पद्य का तात्पर्य परमात्मा की लोकोत्तरता सूचित करना है। सामान्य लौकिक पुरुष के एक मुख होता है, जब कि परमात्मपुरुष के अनेक मुख होते हैं। लौकिक पुरुष के पास सम्पत्ति या विपत्ति होती है, पर वह सब प्रकार की नहीं। जब कि परमात्मा पुरुष में सब प्रकार की सम्पत्ति विपत्तियों का समास हो जाता है। लौकिक पुरुष अज्ञानान्धकार से आवृत होता है जब कि परमात्म पुरुष इससे पर है।

विद्वानज्ञश्चेतनोऽचेतनो वा स्रष्टा निरीहः स ह पुमानात्मतन्त्रः ।
क्षराकारः सततं चाक्षरात्मा विशीर्यन्ते वाचो युक्तयोऽस्मिन् ॥२६॥

अर्थ—वह आत्मतन्त्र पुरुष विद्वान् है और अज्ञ है, चेतन है और अचेतन है, कर्ता है और अकर्ता है, परिवर्तिष्णु है और अपरिवर्तिष्णु है। ऐसे इस परमात्मा के विषय में सब वाणीविलास विराम ले लेते हैं।

भावार्थ—इस पद्य में अनेक परस्पर विरोधी विशेषणद्वन्द्वों के द्वारा परमात्मा का अनेकरूपत्व तथा लोकोत्तरत्व सूचित किया गया है। कवि अन्त में ऐसे विरोधी द्वन्द्वों के वर्णन से थक कर कहता है कि सत्य बात तो यह है कि कोई भी वाग्युक्ति परमात्मा का निरूपण करने में असमर्थ है। विरोधी विशेषणों के द्वारा परमात्मा के सगुण स्वरूप का वर्णन करके कवि अन्त में उसके निर्गुण स्वरूप की ओर ही झुकता है।

विशेषणगत विरोधाभास का परिहार अपेक्षा विशेष से हो जाता है। यहाँ परमात्मा सर्वात्मकरूप से विवक्षित है अतएव अज्ञानी-ज्ञानी, जड़-चेतन, कर्ता-अकर्ता, विनश्वर-अविनश्वर जो कुछ है वह सब परमात्मरूप होने से उसमें सभी विरोधी विशेषण घट सकते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में परमात्मा का शरीर चिद्-अचिद् उभय रूप से कल्पित है, इसलिए उसमें जैसे परमात्मा चित् शरीर और अचित् शरीर कहा जा सकता है उसी तरह यहाँ भी कह सकते हैं। शुद्धाद्वैत के अविकृत परिणामवाद में जो कुछ जड़ चेतन जगत में है वह सब परमात्मा का परिणामरूप माना जाता है इसलिए उस मत के अनुसार जड़ या चेतन जो कुछ है वह सब परमात्मारूप ही है। उन विचारों की छाया इस पद्य में है। फिर भी कवि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस तैत्तिरीयोपनिषद् (२.४) के वाक्य का अनुसरण करके अन्त में परमात्मा के निर्गुण स्वरूप को सूचित करता है।

बुद्धिबोद्धा बोधनीयोऽन्तरात्मा बाह्यश्चायं स परात्मा दुरात्मा ।
नासावेकं नापृथग् नाभि[1] नोभौ सर्वं चैतत् पशवो यं द्विषन्ति ॥२७॥

अर्थ—यह परमात्मा बुद्धि का बोद्धा और बुद्धि का विषय है। वह अन्दर है और बाह्य है, यह श्रेष्ठ आत्मा और कनिष्ठ आत्मा है, यह नहीं तो एक है और नहीं अनेक है और फिर भी वह उभयरूप नहीं है ऐसा भी नहीं है तथा यह सर्वरूप है जिसका कि पशु—जीवात्माएँ द्वेष करते हैं।

भावार्थ—सांख्यतत्त्वज्ञान का अनुसरण करके आत्मा और परमात्मा को लागू हो ऐसे जो विरोधाभासी विचार वेद, उपनिषद् और गीता आदि में अनेक प्रकार से प्रकट हुए हैं उन्हीं विचारों में से कुछ विचारों को कवि ने इस पद्य में विरोधाभासी विशेषण द्वन्द्वरूप से ग्रथित किये हैं और उनके द्वारा परमात्मा की लोकोत्तरता सूचित की है। सांख्यदर्शन आत्मा-परमात्मा को बुद्धि-अन्तःकरण का साक्षी मान करके तथा बुद्धिगत बोध की छायावाला कल्पित करके कूटस्थ होने पर भी उसको बोद्धा कहता है, और साथ ही वह 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० ४.५.६) इत्यादि शब्दों के द्वारा आत्मा को बुद्धिवृत्ति का विषय भी कहता है। इस विचार युगल को कवि ने बोद्धा और बोधनीय कह करके प्रकट किया है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (ईशा०

---

[1] नाभितोभौ—मु०।

५), 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २.१.२) जैसे शब्दों में जो विचार उपनिषदों ने व्यक्त किये हैं उनको ही यहाँ कवि 'अन्तरात्मा' और बाह्य' शब्द से व्यक्त करता है। सर्वतत्त्वों में आत्मा ही मुख्य तत्त्व है इसलिए वह पर या परम आत्मा के रूप में सुविदित है। परन्तु कवि यहाँ उसको दुरात्मा भी कहता है जो बिलकुल विरोधी बाजू है। इस परात्मा और दुरात्मा का विरोधाभास गीता के विभूतियोग अध्याय (१०) में स्पष्ट है। जब कृष्ण अपने को 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (१०-२६), 'सर्पाणामस्मि वासुकिः (१०-२८),'अनन्तश्चास्मि नागानाम्' (१०-२९) इस प्रकार कहता है तब वह अपने में परात्मा और दुरात्मापने का द्वन्द्व घटा करके अन्त में तो लोकोत्तरत्व ही सूचित करता है। कवि ने यहाँ यही मार्ग लिया है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मूलतत्त्व का स्वरूप बताता हुआ ऋषि कहता है कि वह न तो सत् है और न असत् और न सदसद् इत्यादि है। उसी प्रकार से यहाँ कवि आत्मा का स्वरूप बतला करके उसे एक मानना, पृथक् मानना या उभयरूप मानना इत्यादि विकल्पों का निषेध करता है और अन्त में कहता है कि वह तो सर्वात्मक है।

कवि आत्मा का ऐसा विरुद्ध दिखाई देने वाला वर्णन करके अन्त में कहता है कि परमात्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि जो अज्ञान और क्लेश वासना से ग्रस्त मनुष्यों से नहीं समझा जा सकता। इसके विपरीत वे परमात्मा का ऐसा स्वरूप सुन करके उसके प्रति द्वेष रखते हैं। जीवात्मा का कवि पशु शब्द से वर्णन करता है, वह यह सूचित करने के लिए कि वस्तुतः मनुष्य जाति भी अज्ञानपाश से बद्ध है इसलिए वह पशु जैसी दीन और पराधीन ही है और इसीलिए वह पशुपति—परमात्मा के स्वरूप से चौंकती है।

सर्वात्मकं सर्वगतं परीतमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम्[1]।
बालं कुमारमजरं च वृद्धं य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२८॥

अर्थ—सर्वरूप और फिर भी सर्व में व्याप्त; आदि, मध्य और अंत से रहित; पुण्य-पाप से रहित; बाल होने पर भी कुमार; वृद्धत्व रहित होने पर भी वृद्ध ऐसे इस परमात्मा को जो जानता है वह अमर होता है।

भावार्थ—यहाँ भी विरोधाभासी वर्णन है। परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वरूप है इसलिए ऐसा वर्णन वस्तुतः विरोधरहित ही है। कवि का मुख्य तात्पर्य तो यह है कि जो सर्वत्र परमात्मदर्शन करते हैं वे ही मृत्यु के उस पार जाते हैं।

इस पद्य का प्रथम पाद श्वेताश्वतर (३-२१) के 'सर्वात्मानं सर्वगतं विभूत्वात्।' इस वचन का प्रतिबिम्ब है। द्वितीय पाद में 'अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्' गीता (११-१९) की तथा 'य आत्मा अपहतपाप्मा' छान्दोग्य (८.७.१) की प्रतिध्वनि है। तृतीय पाद में 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि' (४.३) तथा 'वेदाहमेतमजरं पुराणम् (३.२१) इन श्वेताश्वतर का संक्षेप है। चतुर्थ पाद भी श्वेताश्वतर की 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (३.१ तथा १०) वचन की अनुकृति मात्र है।

नास्मिन् ज्ञाते ब्रह्मणि ब्रह्मचर्यं नेज्या[2] जापः स्वस्तयो नो पवित्रम्।
नाहं नान्यो नो महान्नो कनियान् निःसामान्यो जायते निर्विशेषः ॥२९॥

अर्थ—इस ब्रह्म—परमात्मा का ज्ञान होने पर ब्रह्मचर्य, यज्ञ, जाप, स्वस्तिवाचन या पवित्र—दर्भ अथवा यज्ञोपवीत—यह कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है। फिर तो आत्मा में नहीं, अन्य नहीं, बड़ा नहीं, छोटा नहीं, ऐसा निःसामान्य और निर्विशेष हो जाता है।

भावार्थ—प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमों की और तत्सम्बन्धी कर्तव्यपालन की प्रथा चलती आई है। ब्रह्मचर्य धारण करके पहले आश्रम में शास्त्राध्ययन कराया जाता था, दूसरे गार्हस्थ्य आश्रम में अनेकविध यज्ञों के करने का बंधन था, त्यागाभिमुख वानप्रस्थ आश्रम में जप, स्वस्तिवाचन तथा पवित्र गिने जाने वाले दर्भासन

---

[1] पुण्यपापौ—मु०। [2] नव्याजापः—मू०।

आदि के उपयोग की प्रथा थी। कवि यहाँ संन्यासाश्रम के ब्रह्मज्ञान की सर्वश्रेष्ठता और सर्वोच्च कर्तव्यता बतलाने के लिए कहता है कि जब ब्रह्मज्ञान होता है तो पहिले के तीनों आश्रमों के कर्तव्य और विधान स्वयमेव अनुपयोगी बन करके छूट जाते हैं। ब्रह्मज्ञान होने के बाद की आत्मदशा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि उस समय आत्मा में—प्रथम पुरुष या अन्य—तृतीय पुरुष नहीं रहता है, तथा उसमें महत्ता और कनिष्ठता का भाव भी नहीं रहता है, वह सामान्य और विशेष दोनों प्रकारों से पर हो जाता है। ब्रह्मज्ञान जनित आत्मस्थिति का यह वर्णन निर्गुण और द्वंद्वातीत भूमिका सूचित करता है। ज्ञानप्रधान उपनिषदों में और ज्ञानयोगप्रधान गीता के वचनों में इसी प्रकार आत्मज्ञान का माहात्म्य वर्णित है।

नैनं मत्वा शोचते नाभ्युपैति नाप्याशास्ते म्रियते जायते वा।
नास्मिल्लोके गृह्यते नो परस्मिन् लोकातीतो वर्तते लोक एव ॥३०॥

अर्थ—परमात्मा को जानने के बाद ज्ञाता न तो शोक करता है और न कुछ प्राप्त करता है; वह आशा का भी सेवन नहीं करता है, नहीं मरता है और नहीं जन्म लेता है; वह इस लोक या परलोक में पकड़ा नहीं जाता है। वह लोकातीत होने पर भी लोक में ही रहता है।

भावार्थ—कवि ने यहाँ जीवनमुक्त ब्रह्मज्ञानी की दशा का वर्णन किया है। वह ज्ञानी, लोगों के बीच में रहता है फिर भी वह साधारण लोगों के शोक, हर्ष, आशा, जन्म, मृत्यु और ऐहिक-पारलौकिक बन्धन से पर होकर लोकातीत बन जाता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने के मुख्य साधन के रूप में यहाँ आत्मज्ञान का ही निर्देश किया है। गीता में ऐसे जीवनमुक्त पुरुष की दशा का अनेक प्रकार से वर्णन है। कठ के 'मत्वा धीरो न शोचति' (४. ४) तथा 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (३. १८) इन शब्दों का तो प्रस्तुत पद्य में पुनरवतार हुआ हो ऐसा भासित होता है।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥३१॥

अर्थ—जिससे पर या अपर कोई नहीं है; जिससे कोई छोटा या बड़ा नहीं है, जो अकेला द्युलोक में वृक्ष की तरह निश्चल स्थित है उस पुरुष से यह सब परिपूर्ण है।

भावार्थ—यहाँ लौकिक वस्तुओं से परमात्म पुरुष की विलक्षणता ही विरोधाभासी वर्णन द्वारा व्यक्त हुई है। ईशावास्य में 'तद्दूरे तद्वन्तिके' (५) शब्द से और कठ में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (२. २०) तथा छांदोग्य में 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्. . . .ज्यायान्' (३. १४. ३) शब्द से विधिमुख द्वारा जो भाव प्रतिपादित हुआ है वही भाव यहाँ कवि ने श्वेताश्वतर का (३. ९) सारा पद्य जैसा का तैसा लेकर के व्यतिरेक मुख से पूर्वार्ध में सूचित किया है। अंतिम पाद 'येन सर्वमिदं ततम्' (गीता ८. २२) की प्रतिध्वनि है।

नानाकल्पं पश्यतो जीवलोकं नित्यासक्ता व्याधयश्चाधयश्च।
यस्मिन्नेवं सर्वतः सर्वतत्त्वे दृष्टे देवे न पुनस्तापमेति ॥३२॥

अर्थ—जीवलोक का नानारूप से दर्शनकरने वाले को आधियाँ और व्याधियाँ सदैव लगी रहती हैं। परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से सब ओर सर्वतत्त्वरूप जो देव है उसका दर्शन होते ही द्रष्टा फिर संताप को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—यहाँ कवि ने पहले के सभी पद्यों में समूचे रूप से परमात्मा के अद्वैत स्वरूप का वर्णन किया है। इसलिए वह उपनिषदों और गीता की तरह द्वैत और अद्वैत ज्ञान की फलश्रुति रूप से भेदज्ञान से संताप और अभेदज्ञान से संताप का अभाव वर्णन करता है। छांदोग्य के 'तरति शोकमात्मविद्' (७. १. ३) इस संक्षिप्त वाक्य में आत्मज्ञान की फलश्रुति और अर्थापत्ति से भेदज्ञानजन्य संताप का सूचन है। उसी भाव का कवि ने यहाँ अधिक स्पष्टता से वर्णन किया है।

बंबई] [गुजराती से अनूदित

नयचंद्र और उनका ग्रंथ 'रंभामंजरी'

श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एम्० ए०, डी० लिट्०

आत्म-परिचय संबंधी कुछ श्लोकों से, जो 'हम्मीर महाकाव्य'[1] (१४, ४६, ४६*१, ४६*३, ६४*४) तथा 'रंभा-मंजरी'[2] (१, १५–१८) दोनों ग्रंथों में एक से पाये जाते हैं, प्रकट होता है कि ये दोनों ग्रंथ एक ही नयचंद्र की रचनाएँ हैं। इनमें लेखक ने अपने धार्मिक पूर्वजों का कुछ वर्णन किया है—'प्रसिद्ध कृष्णगच्छ में उत्पन्न जयसिंहसूरि ने शास्त्रार्थ में सारंग नामक एक बड़े प्रतिभाशाली कवि को परास्त किया, जो छः भाषाओं में रचना करने वालों में से एक था, जो बड़ा प्रामाणिक (प्रमाण शास्त्र का ज्ञाता) था, और जिसने न्यायसारटीका, एक नवीन व्याकरण तथा कुमार नृपति संबंधी एक काव्य की रचना की थी।' यह सारंग कौन था, यह अनिश्चित है। जयसिंह के लिखे हुए तीनों ग्रंथों में पहला भासर्वज्ञ के न्यायसार (९०० ई०) की टीका है और तीसरा ग्रंथ कुमारपालचरित है, जो १० सर्गों में है तथा जो सं० १४२२ (१३६४-६५ ई०) में समाप्त हुआ था।[3] जयसिंह का शिष्य प्रसन्नचंद्र था, जो राजाओं से सम्मान पाता था। 'रंभामंजरी' का लेखक हमारा ग्रंथकर्ता नयचंद्र यद्यपि प्रसन्नचंद्र का शिष्य था, तथापि वह अपने को काव्य-प्रतिभा में जयसिंह का ही सर्वथा उत्तराधिकारी लिखता है। उसने काव्य के क्षेत्र में अपने परिश्रम का उल्लेख किया है और सरस्वती की अपने ऊपर विशेष कृपा का वर्णन किया है। उसने पहले के कवियों—कुक्कोक, श्रीहर्ष (नैषधीयकर्ता), वात्सायन, (वेणीकृपाण-) अमर अर्थात् अमरचंद्र आदि का भी उल्लेख किया है। वह कविता में अपने को द्वितीय अमरचंद्र घोषित करता है। यह अमरचंद्र[4] पद्मानंद महाकाव्य का लेखक है। इसकी अनुकृति से हम्मीर महाकाव्य भी वीरांक है। और उसका समय लगभग तेरहवीं शताब्दी का मध्यभाग है।

हम्मीरकाव्य में ऐतिहासिक घटनाओं का मनोरंजक वर्णन है। उसमें हम्मीर (तथा साथ ही उसके पूर्वजों) की वीरताओं का कथन है, जिसने अलाउद्दीन से डटकर लोहा लिया और १३०१ ई० में समरभूमि पर अपने प्राण गवांये। काव्यप्रकाश आदि ग्रंथों में कविता के जो लक्षण निर्धारित किये गये हैं वे सब नयचंद्र को विदित थे। उसने लिखा है कि किस प्रकार अपने काव्य में उसने कथावस्तु के साथ रोचकता लाने की चेष्टा की। आलोचकों को उसके वर्णन-दोषों पर ध्यान न देना चाहिए (जिनके लिए उसने क्षमायाचना कर ली है)। ये दोष कुछ ऐसे हैं, जिनसे कालिदास जैसे लेखक भी सर्वथा मुक्त नहीं हो सके। नयचंद्र ने इस काव्य में शृंगार, वीर तथा अद्भुत रसों का समावेश करके

---

[1] कीर्तने का संस्करण बंबई, १८७९।

[2] रामचन्द्र दीनानाथ द्वारा संपादित (बंबई, १८८९) रंभामंजरी की एक सुन्दर संस्कृत टिप्पणियों के सहित हस्तलिखित प्रति भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना (१८८४-८६ की संख्या ३३५) में है। विशेष जानकारी के लिए पी० के० गोडे कृत पुस्तक सूची का चौदहवां भाग (नाटक, पूना, १९३७) पृ० २४६-७ देखिए। यह संस्करण संभवतः इसी प्रति पर आधारित है। इस नाटक पर कुछ विवेचना श्री चक्रवर्ती ने अपने एक निबंध 'Characteristic Features of the Saṭṭaka form of Drama' (इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली भाग ७, पृ० १६९-७३) में की है।

[3] एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित 'जिनरत्नकोष' पूना, १९४४।

[4] एम्० डी० देसाई—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बंबई, १९३३, पृ० ३७८-३८१; एम्० बी० झवेरीः Comparative and Critical study of Mantraśāstra, भूमिका, पृ० २२२-२३, अहमदाबाद, १९४४।

तोमर वीरम के दरवारियों को चुनौती दी है, जो यह कहते थे कि तत्कालीन कवियों में किसी में इतनी प्रतिमा न थी जो पहिले के कवियों जैसी उत्कृष्ट रचना कर सके। नयचंद्र उद्घोषित करता है कि उसके काव्य में अमरचंद्र का लालित्य तथा श्रीहर्ष की वक्रिमा, ये दोनों गुण हैं। नयचंद्र के समय के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह ई० १३६५ ई० १४७८ के बीच में हुआ होगा। पहली तिथि उसके गुरु के शिक्षक जयसिंहसूरि रचित कुमारपालचरित की है तथा दूसरी तिथि पूना से प्राप्त रंभामंजरी की हस्तलिखित प्रति में दी हुई है। तोमर वीरम राजा की पहचान निश्चित होने से हम अधिक निकट तिथि पर पहुँच सकते हैं। हम्मीर काव्य के संपादक ने लिखा है—'तोमर वीरम राजा चाहे जो रहा हो, उसका समय अकवर से ७० वर्ष पहले प्रतीत होता है।' इसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। ग्वालियर के तोमर राजाओं की वंशावली[1] में वीरम नाम का एक राजा है। उसके पोते डुंगरेंद्रदेव का समय १४४०-१४५३ ई० मिलता है। दो पीढ़ियों के लिए ५० साल के लगभग मान लेने पर उतना घटाने से १४०० ई० वीरम का समय आता है। वि० सं० १४६२ में वीरम इकवालखां से लड़ा था। इस वीरम का कुशराज मंत्री था। उसी की विज्ञप्ति से पद्मनाभ कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की है (जैन-हितैषी, १५, २२३-२६)। अतः हम नयचंद्र का काल पन्द्रहवीं शती के प्रारंभ में मान सकते हैं। जैसा कि नयचंद्र की गुरु-शिष्य परंपरा सूची से विदित होता है, वह जैन भिक्षु था, परन्तु उसके रचित मंगलश्लोक, जो हम्मीरकाव्य में हैं, जैन तथा हिन्दू दोनों धर्मों के देवताओं पर लागू हो सकते हैं। रंभामंजरी के नांदीपाठ में विष्णु की स्तुति वाराह अवतार के रूप में की गई है। नयचंद्र कृत रंभामंजरी एक सट्टक है। यहाँ हम उसमें आये हुए विषयों की छानवीन करेंगे तथा कुछ उसकी वातों पर आलोचनात्मक प्रकाश डालेंगे।

१. नांदीपाठ में वाराह भगवान की प्रार्थना तथा युवतियों के हाव-भाव पूर्ण कटाक्षों के वर्णन द्वारा कामदेव की अभ्यर्थना करने के वाद सूत्रधार मदन भगवान की स्तुति करता है तथा ईश्वर और पार्वती का गुणगान करता है। फिर वह लंवे-चौड़े ढंग से राजा जैत्रचंद्र (या जयचंद) उपनाम पंगु का, जो मल्लदेव तथा चंद्रलेखा से उत्पन्न हुआ था, कथन करता है कि उस जैत्रचंद्र ने मदनवर्मन् के राज्य को छीना और वह यवनों को हराकर वनारस में राज्यारूढ़ हुआ। इसके पश्चात् सूत्रधार नट से अपनी इच्छा प्रकट करता है कि ग्रीष्मऋतु की विश्वनाथ यात्रा के लिए एकत्रित भद्रजनों का एक प्रवन्ध नाटचद्वारा मनोरंजन किया जाय। इसके लिए वह उस सरस कथानक को उपयुक्त वताता है, जिसमें राजा जैत्रचंद्र नायक हैं, जो एक सट्टक प्रवंध है और जिसका नाम रंभामंजरी है। यह सट्टक सूत्रधार के कथनानुसार राजशेखर की कर्पूरमंजरी से भी एक प्रकार से श्रेष्ठतर है। इसका लेखक नयचंद्र है, जो सरस्वती देवी की कृपा के कारण छः भाषाओं का सुयोग्य कवि है और जिसने अपनी काव्य-प्रतिभा की समानता अमरचंद्र तथा श्रीहर्ष से की है। इस सट्टक में राजा जैत्रचंद्र, जो सात रानियों का पति है, रंभा नामक आठवीं रानी से विवाह करता है, जिससे वह अपना भूपति नाम सार्थक कर सके।

राजा जैत्रचंद्र चारण-भाटों के द्वारा संस्कृत, प्राकृत तथा मराठी में अपना यशोगान सुनता हुआ अपनी रानियों के सहित प्रवेश करता है। मंजरित रसाल की डाल पर से एक कोयल उन सव का स्वागत करती है। राजा और रानी एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं और वसन्तऋतु के अनुकूल उनकी अभ्यर्थना वन्दीजन के द्वारा की जाती है। इतने में विदूषक और कर्पूरिका के वीच में आक्रोश-युक्त विवाद खड़ा हो जाता है। कर्पूरिका इस पर हँसती है कि विदूषक को सारी विद्वत्ता उसके श्वशुर आदि से प्राप्त हुई है और यह कह कर उसकी काव्य-प्रतिभा की हँसी उड़ाती है। वे दोनों अपनी अपनी रचनाएँ राजसभा में सुनाते हैं। कर्पूरिका विजय प्राप्त करती है। विदूषक शर्मिन्दा होकर महल से चला जाता है। रानी चन्द्रोदय का वर्णन करती है। राजा नारायणदास के आने के लिए

---

[1] सी० एम्० डफ़: दि क्रॉनॉलॉजी ऑव इंडिया पृ० ३०६, वेस्टमिन्स्टर, १८९९; डी० आर० भंडारकर ए लिस्ट ऑव इन्सक्रिप्शंस ऑव नॉर्दर्न इंडिया, पृ० ४०४।

चिंतित हो जाता है,जो रंभा के संबंध में कुछ समाचार लाने वाला था। इतने में विदूषक नारायणदास को तथा उसके साथ वैवाहिकनेपथ्य में रंभा को लेकर उपस्थित होता है।

राजा का 'जैत्रचंद्र' नाम इस हेतु पड़ गया था कि उसके जन्मदिवस को ही उसके पितामह ने खर्पर सेना को परास्त किया था, जो दशार्ण देश में आई थी।[1]

नारायणदास कुछ मधुर समाचार सुनाने आया है। पर्दे के पीछे से राजा सुनता है कि रंभा किम्मीरवंशी देवराज की पौत्री तथा लाटनरेश मदनवर्मा की पुत्री है और रूप में पार्वती के समान सुन्दर है। उसकी सगाई हंस नामक व्यक्ति के साथ हुई थी, परन्तु वह अपने मातुल शिव के द्वारा वहाँ से हटाई जाकर हाथ में वैवाहिक कंकण पहने हुए यहाँ ले आई गई है। यह सुन कर राजा रंभा का, जो एक पालकी में उपस्थित होती है, स्वागत करता है। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसके अंगों का वखान करने लगता है। विदूषक तथा नारायणदास राजा को और अधिक रंभा के प्रति आकर्षित करते हैं; यहाँ तक कि वह बहुत प्रेमासक्त हो जाता है। राजा का चारण उस घड़ी को शुभमुहूर्त बताता है और पुरोहित लोग वैवाहिक मंत्रोच्चार करने लगते हैं। शीघ्र ही विदूषक इस बात को घोषित करता है कि राजा जैत्र तथा रंभा का शास्त्रानुकूल परिणय-संबंध संपन्न हो गया। उस समय आनन्दमंगल होने लगते हैं। चारण प्रातःकाल होने की सूचना देता है। अन्य महिषियों के साथ रंभा अंतःपुर भेज दी जाती है, और राजा अपने प्रातःकालीन नित्यकर्म में लग जाता है।

२. रंभा से अलग हो जाने पर राजा उसके सौंदर्य का ध्यान करता हुआ उसके विरह में व्याकुल हो जाता है। प्रतिहारी उद्यान के अनेक भांति के दृश्यों का वर्णन कर राजा के मन को बहलाने का प्रयत्न करता है; परन्तु राजा रंभा के ही संबंध में कुछ सुनने की उत्सुकता प्रकट करता है। कर्पूरिका राजा से निवेदन करती है कि अंतःपुर में रंभा बड़े आनन्द से है और वहाँ रानी राजीमती उसका विशेष ध्यान रखती हैं। कर्पूरिका इस बात का भी विश्वास दिलाती है कि राजा के प्रति रंभा का गहरा प्रेम है। वह उसका प्रेमपत्र पढ़कर सुनाती है, जिसे रंभा ने गुप्तरूपेण राजा के पास भेजा था। उसे सुनकर राजा अधिक काम-विह्वल हो उठता है। फिर विदूषक उसे अपना स्वप्न सुनाता है कि किस प्रकार विदूषक ने अपने को एक भ्रमर के रूप में देखा, और उसके बाद वह भ्रमर से चंदन बन गया, जिसका लेप रंभा ने अपने कुचों के ऊपर लगाया और उन कुचों का राजा के द्वारा आलिंगन किये जाने पर वह किस प्रकार जाग पड़ा। विदूषक इस स्वप्न का मतलब यह निकालता है कि राजा शीघ्र ही रंभा से भेंट कर सकेगा। राजा उससे उसी क्षण मिलने को आतुर हो उठता है। कर्पूरिका अशोक वृक्ष की एक डाल के सहारे खड़ी हो जाती है और रंभा को खिड़की में से होकर नीचे उतार लेती है। राजा और रंभा मिलन का आनंद उठाते हैं। कुछ समय के बाद पटरानी के आ जाने से दोनों पृथक् हो जाते हैं।

३. प्रेमविह्वल पटरानी राजा का स्वागत करती है। यथेष्ट आमोद-प्रमोद के बाद राजा रानी से प्रार्थना करता है कि वह इसी प्रकार रंभा से भी मिलना चाहता है। रानी अपनी स्वीकृति देकर शयनागार में चली जाती है। तदुपरान्त रंभा प्रवेश करती है। राजा प्रेमपूर्वक उसका सत्कार करता है। शृंगारपूर्ण काव्य-पंक्तियों को आपस में गाते हुए दोनों अनेक भांति की काम-कलाओं का आनंद प्राप्त करते हैं। रात शीघ्र ही व्यतीत हो जाती है और प्रातःकालीन वंदीगण का स्वर सुनाई देने लगता है। रंभा अंतःपुर को भेज दी जाती है और राजा अपने प्रातःकालीन कृत्यों के करने में लग जाता है।

नयचंद्र नाटक में एक से अधिक बार इस बात की ओर संकेत करता है कि जैत्र, जय या जयंतचंद्र का प्रबंध दिखाया जा रहा है, अतः बहुत संभव है कि उसने इस कथानक को किसी प्रबंध में से लिया हो। किसी अज्ञात लेखक

---

[1] ज्ञातव्य पंक्तियाँ इस प्रकार हैं: पत्तं तम्मि दसण्णगेसु पबलं जं खप्पराणं बलं, जित्तं झत्ति पियामहेण पहुणा जेत्तं ति नामं तओ। १, ४३।

का लिखा हुआ एक प्राचीन प्रवंध[1] उपलब्ध हुआ है, जिसमें निम्नलिखित मार्के की बातें मिलती हैं—

'विजयचंद्र का लड़का राष्ट्रकूट जैत्रचंद्र कान्यकुब्ज देश में बनारस का राजा था। उसकी रानी का नाम कर्पूरदेवी था तथा उसने एक शालापति की पुत्री सुहागदेवी से भी विवाह किया था। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन तथा कल्याणकटक के परमर्दि को जैत्रचंद्र ने पददलित किया। कविचंद ने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। जब जैत्र ने सुहागदेवी के लड़के को अपना राज्य देने से इन्कार कर दिया तब सुहागदेवी ने सुरत्राण सहाबदीन से सहायता प्राप्त की। पृथ्वीराज ने सहाबदीन का मुकाबिला किया और योगिनीपुर में युद्ध हुआ। अपने शत्रु पृथ्वीराज की हार सुनकर जैत्रचंद्र प्रसन्न हुआ, परन्तु उसके मंत्री को सन्देह हो गया कि सहाबदीन उसके राज्य पर भी हमला करेगा। अपनी दूसरी चढ़ाई में सुरत्राण सं० १२४८. चैत्र शु० १० को बनारस आ धमका और उसने जैत्रचंद्र पर विजय प्राप्त की। जैत्र यमुना नदी में डूब कर मर गया और उसका बड़ा बेटा युद्ध में काम आया। सुरत्राण ने पति को धोका देने के कारण सुहागदेवी के प्रति भी अपमानजनक व्यवहार किया और उसके लड़के को तुरुष्क बना लिया।'

मेरुतुंग[2] ने अपने 'प्रबंध चिंतामणि' ग्रंथ में लिखा है कि काशी का जयचंद्र, जो एक साम्राज्य का अधीश्वर 'प्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मी पालयन्' था, 'पंगु' कहलाता था। उसने एक शालापति की पुत्री सूहवा से विवाह किया था। उससे उत्पन्न पुत्र को युवराज उत्तराधिकारी न मानने पर सूहवा ने म्लेच्छों अथवा तुरुष्कों को वाराणसी पर चढ़ाई करने के लिए आमंत्रित किया। जब नगरी को उन लोगों ने घेर लिया तब राजा ने सूहवा के पुत्र को अपने हाथी के ऊपर बिठा दिया और स्वयं यमुना की धारा में डूब गया।

राजशेखर[3] ने अपने प्रबंधकोश नामक ग्रंथ में श्रीहर्ष प्रवन्ध के अन्तर्गत गोविंदचंद्र के पुत्र जयंतचंद्र के विषय में इस प्रकार लिखा है कि वह बनारस का राजा था और 'पंगुल' नाम से प्रसिद्ध था। उसने सूहवदेवी नामक एक कम तरुण और सुंदरी विधवा से विवाह किया, जो पहले कुमारपाल के राज्य अणहिलपट्टन में रहने वाले शालापति की पत्नी थी। राजा जयंतचंद्र ने जब यह तय कर लिया कि राज्य का उत्तराधिकारी सूहवा के बेटे को न बनाकर कुमार मेघचंद्र को बनाया जायगा तब सूहवादेवी क्रुद्ध हो उठी और उसने तक्षशिला से सुरत्राण को बनारस पर हमला करने के लिए आमंत्रित किया। जयंत युद्ध में पूर्ण रूप से परास्त हो गया और उसका राज्य शत्रु ने छीन लिया।

जयचंद्र के पिता का नाम क्या था, इस पर सब प्रबंध एक मत नहीं हैं और न उनमें से कोई नयचंद्र के ही कथन से सहमत है। आधुनिक इतिहास लेखकों[4] ने इन राजाओं का वंशक्रम इस प्रकार रक्खा है—

गोविंदचंद्र (ल० १११४–११५५ ई०)।
विजयचंद्र (ल० ११५५–११७० ई०)।
जयचंद्र (ल० ११७०–११९३ ई०)।

इस क्रम के अनुसार कहा जा सकता है कि या तो प्रबंधकोश में जय और विजयचंद्र के नामों को एक मान कर गड़बड़ी पैदा कर दी गई है या अधिक संभव है कि विजयचंद्र का नाम भूल या प्रमादवश छोड़ दिया गया हो। रंभामंजरी से हमको यह भी मानना पड़ता है कि विजयचंद्र का दूसरा नाम मल्लदेव था। उसकी सात रानियों तथा आठवीं रंभा की बाबत, जिनका वर्णन नयचंद्र ने किया है, प्रबंधों में कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक प्रबंध में एक रानी का नाम कर्पूरदेवी मिलता है, परन्तु रंभामंजरी में कर्पूरिका एक दासी का नाम आता है। जैत्रचंद्र बनारस का प्रतापी शासक था और उसकी उपाधि 'पंगु' थी, ये दोनों बातें दोनों प्रबंधग्रंथों में मिलती हैं। पहले प्रबंध में उपाधि नहीं दी हुई है

---

[1] पुरातन प्रबंध संग्रह, संपा० जिनविजय जी, सिंघी जैन ग्रंथमाला, २, कलकत्ता, १९३६, पृ० ८८-९०

[2] जिनविजय जी द्वारा सिंघी ग्रंथमाला में प्रकाशित, शांतिनिकेतन, १९३३, पृ० ११३-११४

[3] जिनविजयजी द्वारा सिंघी ग्रंथ० में प्रका०, शांतिनिकेतन, १९३५, पृ० ५४-५८

[4] एच० सी० राय—दि डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इन्डिया, भाग १, पृ० ५४८, कलकत्ता, १९३१

यद्यपि अन्य अनेक बातें समानरूप से पाई जाती हैं। रंभामंजरी में तथा दोनों प्रबंधों में 'पंगु' उपाधि की व्याख्या करीब-करीब एक ही ढंग से की गई है। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नयचंद्र का नायक वही है, जिसका नाम प्रबंधों में जैत्रचंद्र दिया हुआ है। किन्तु नयचंद्र ने 'कर्पूरमंजरी' के ढंग पर अपने सट्टक को सुन्दर बनाने के लिए उनके कथानक में कुछ अन्य बातें जोड़ दी हैं। रंभामंजरी का नायक, जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, राजा जयचंद ही है, जिसे गहड़वाल वंश का अंतिम शासक कह सकते हैं, जिसने बनारस को अपना प्रधान निवास-स्थान बनाया था और जिसे मुहम्मद गोरी (शिहाबुद्दीन) ने परास्त किया था। इस बात का पता नहीं चलता कि लाट का मदनवर्मन्[1] कौन था। संभव है कि नयचंद्र ने किसी चंदेल राजा का, जिसका नाम मदनवर्मन् था, यहां उल्लेख किया है। नयचंद्र का यह कथन कि जैत्रचंद्र ने मदनवर्मन् के राज्य पर अपना अधिकार जमाया, शायद प्रबंधों के उस वर्णन के आधार पर है जिसमें जयचंद को मदनवर्मन् के उत्तराधिकारी परमर्दि को परास्त करने वाला कहा गया है।

नयचंद्र राजशेखर की कर्पूरमंजरी (क० मं०) का उल्लेख करता है और इस बात का दावा करता है कि उसकी रंभामंजरी (रं० मं०) एक प्रकार से कर्पूरमंजरी से भी श्रेष्ठतर है। रं० मं० में अनेक बातों में क० मं० का अनुकरण दिखाई पड़ता है। वसंत का दृश्य, जिसका वर्णन राजा, रानी तथा चारण लोग करते हैं, विदूषक तथा दासी का हास्य-कलह, जिसमें विदूषक अपने को परंपराविगत विद्वान लगाता है, तथा प्रकृति-वर्णन जिसके द्वारा द्वारपाल राजा के विरह-खिन्न चित्त को बहलाने का प्रयत्न करता है—ये सब बातें हमको क० मं० के तादृश दृश्यों की याद दिलाती हैं। कुछ भाव भी दोनों सट्टकों में एक से हैं, केवल कहीं-कहीं थोड़ा अंतर है। दोनों में विदूषक एक विलक्षण स्वप्न देखता है। अशोक, बकुल, तथा कुरबक वृक्षों के वर्णन दोनों में राजा के कामोद्वेग को बढ़ाने के लिए किये गये हैं। दोनों ग्रंथों में प्रेम-पत्रों की लेखन-प्रणाली भी एक जैसी है। यहाँ तक कि दोनों में कई जगह एक से ही वाक्यों का प्रयोग मिलता है (मिलाइये क० मं० २, ११, और रं० मं० १, ४०; क० मं० १, ३२-३४, तथा रं० मं० १, ४६)।

क० मं० में कथानक बहुत संक्षिप्त है, परन्तु रं० मं० में तो नहीं सरीखा ही है। नयचंद्र के प्राकृत छंदों में वह प्रवाह नहीं है, जो राजशेखर के छंदों में है। संस्कृत भाषा पर नयचंद्र का अच्छा अधिकार है और उनके संस्कृत के कुछ सुन्दर छंद (३, ३-४) वास्तव में उनकी काव्य-कुशलता को सूचित करते हैं। नाटक की दृष्टि से रं० मं० को सफल नहीं कहा जा सकता। एक सभ्य-दर्शक-समुदाय के सामने रंगमंच पर किसी राजा के द्वारा अपनी दो रानियों के सहित एक के बाद दूसरी के साथ काम-क्रीड़ा का दृश्य दिखाना कहां तक संगत हो सकता है! प्रेमोल्लास के कथनों में गंभीरता और संयम का विचार नहीं रक्खा गया। ये कथन संकेतमात्र होने की अपेक्षा भावों का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन करने वाले हैं। यह देख कर आश्चर्य होता है कि कहीं-कहीं नाट्यकार पात्रों के द्वारा कथनोपकथन आदि न करा कर रंगमंच के बाहर उन पात्रों के चरित्र की विवेचना करने लगता है (२, १८-२०, ३, ७, २१)।

पूना की हस्तलिखित प्रति में शायद और उसी के आधार पर रंभामंजरी की छपी हुई प्रति में उसे नाटिका लिखा गया है (समाप्ता रम्भामंजरी नाम नाटिका)। नयचंद्र ने रं० मं० को नट्ट या सट्टक कहा है (१, १६)। तीन यवनिकान्तरों में नाटक समाप्त हो जाता है, किन्तु राजा की यह महत्त्वाकांक्षा कि वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा अंत में पूर्ण नहीं मिलती, यद्यपि पहले यवनिकान्तर में राजा और रंभा का परिणय तथा दूसरे और तीसरे में दोनों की प्रेम-क्रीड़ाओं का वर्णन पूर्ण मिलता है। अतः या तो नाटक अधूरा रह गया है या नाटककार ने प्रारंभ में सूत्रधार के मुख से कहलाये हुए इस कथन को कि राजा चक्रवर्ती होगा, यों ही छोड़ दिया है। नाटक का तीन यवनिकान्तरों के बाद एक दम से ठप हो जाना तथा भरत-वाक्य का न होना भी इसी बात को सूचित करते हैं कि नाटक अधूरा रह गया है।

---

[1] यह नाम 'विद्धशालभंजिका' में प्रयुक्त लाट के राजा चंद्रवर्मन की याद दिलाता है।

नयचंद्र ने अपने इस नाटक में संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग किया है और उसके विभिन्न पात्रों द्वारा यथानुकूल भाषा का व्यवहार विचारणीय है। नट, वसंतसेना और रंभा, प्रतिहारी, विदूषक तथा चेटी प्राकृत में बोलते हैं, और उनके कहे हुए छंद भी प्राकृत में हैं। केवल एक छंद (२, १४), जो चेटी के मुख से ('संस्कृत-माश्रित्य') कहलाया गया है, संस्कृत में है। सूत्रधार, राजा, नारायणदास तथा मंगल-पाठक संस्कृत में बोलते हैं, किन्तु उनके छंद संस्कृत और प्राकृत दोनों में होते हैं। एक भाट के द्वारा प्रशंसात्मक कथन प्राकृत गद्य में कहलाया गया है। दूसरे भाट अपने गीत संस्कृत और प्राकृत दोनों में कहते हैं। नान्दी श्लोक भी दोनों भाषाओं में कहे गये हैं।

दशरूपक के अनुसार नाटिका में विविध संख्या में अंक होने चाहिए। इसी के आधार पर पिछले सट्टकों की रचनाएँ हुईं। किन्तु यवनिकान्तरों की संख्या हर जगह चार ही कही गई है। इस नियम से रंभामंजरी में सट्टक के लिए आवश्यक लक्षण पूरे नहीं मिलते। भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से भी इसमें सट्टक के कथित लक्षण नहीं मिलते हैं, क्योंकि इसकी रचना पूर्णतया प्राकृत में नहीं हुई है। भावप्रकाशन तथा नाटकलक्षणकोष में यह मत दिया हुआ है कि सट्टक में राजा के द्वारा संस्कृत का प्रयोग कराया जा सकता है; परंतु रंभामंजरी में न केवल राजा, अपितु अन्य कई पात्र संस्कृत में ही बोलते हैं। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि नयचंद्र ने संस्कृत बोलने वाले पात्रों के मुख से भी प्राकृत का प्रयोग करवाया है। जब प्राकृत बोलने वाली चेटी संस्कृत का छंद उच्चारण करती है तब नाटककार दोष-प्रक्षालनार्थ 'संस्कृतमाश्रित्य' वाक्य लिख देता है। जब तक रंभामंजरी के ढंग के अन्य कोई सट्टक नहीं मिलते तब तक हमको इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं प्राप्त हो सकता कि सट्टक में संस्कृत और प्राकृत का सम्मिलित प्रयोग कहाँ तक युक्तिसंगत है, क्योंकि अब तक के उपलब्ध काव्य-लक्षण-ग्रंथों में कहीं ऐसा नियम नहीं मिलता।[1]

कोल्हापुर]



[1] हम कुछ अन्य सट्टकों का अध्ययन कर रहे हैं, उदाहरणार्थ, विश्वेश्वर (१८वीं श०) की 'शृंगारमंजरी' धनश्याम (१८वीं श०) कृत 'आनंदसुंदरी' इत्यादि। रुद्रदास (१७वीं श०) लिखित चन्द्रलेखा सट्टक की, जिसका आलोचनात्मक अध्ययन हम तैयार कर रहे हैं, भूमिका में उपर्युक्त सट्टकों की भी विवेचना अंग्रेजी में दी जायगी।

प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह तथा उनका आधार

श्री हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री

वर्तमान जैन साहित्य में 'पंचसंग्रह' नाम के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें दो दिगम्बर ग्रंथ हैं और एक श्वेताम्बर। श्वेताम्बर पंचसंग्रह चन्द्रर्षि महत्तर ने पूर्वाचार्यों द्वारा रचे गये शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्मप्राभृत और कर्मप्रकृति नामक पाँच ग्रन्थों के आधार पर प्राकृत गाथाओं में रचा है और उसकी एक संस्कृत टीका भी स्वयं रची है, जो कि मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर डभोइ (गुजरात) से प्रकाशित हो चुकी है। दोनों दिगम्बर पंचसंग्रहों में से संस्कृत पंचसंग्रह अमितगति आचार्यकृत है और 'माणिकचंद ग्रन्थमाला' से प्रकाशित हो चुका है। प्राकृत पंचसंग्रह किसी अज्ञात आचार्य की रचना है और यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इन दोनों दिगम्बर पंचसंग्रहों के मिलान करने पर यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है कि प्राकृत पंचसंग्रह को सामने रखकर ही आचार्य अमितगति ने संस्कृत पंचसंग्रह की रचना की है। दोनों ही पंचसंग्रहों में १ जीवसमास, २ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३ कर्मबन्धस्तव, ४ शतक और ५ सप्ततिका नाम के पाँच प्रकरण हैं। प्रथम के तीन प्रकरणों में अपने नामों के अनुरूप विषयों की चर्चा की गई है। चौथे और पाँचवें प्रकरणों के नाम दोनों ही पंचसंग्रहकारों ने किस दृष्टि से रखे हैं, यह बात सहसा ज्ञात नहीं होती—विशेषकर उस दशा में जब कि दोनों ही पंचसंग्रहों में उक्त प्रकरणों की पद्यसंख्या क्रमशः ३७५; ५१८ और ४५०; ५०२ है। आगे चल कर उनके नामकरण पर विशेष प्रकाश डाला जायगा।

(१) संस्कृत पंचसंग्रह का आधार क्या है?

सर्वप्रथम यहाँ कुछ ऐसे अवतरण दिये जाते हैं, जिनसे दोनों दिगम्बर पंचसंग्रहों का आधाराधेयपना निर्विवाद माना जा सके।

दिगम्बर प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह की तुलना

प्रथम जीव-समास प्रकरण में से—

१

छद्दव्व णव पयत्थे दव्वाइ चउव्विहेण जाणंते।
वंदित्ता अरहंते जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥१॥ प्राकृतपंचसं०
ये षट् द्रव्याणि बुध्यन्ते द्रव्यक्षेत्रादिभेदतः।
जिनेशांस्तांस्त्रिधा नत्वा करिष्ये जीवरूपणम् ॥३॥ संस्कृतपंचसं०

२

सिक्खा किरिओवएसा आलावगाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी य ॥१७३॥ प्राकृतपंच०
शिक्षालापोपदेशानां ग्राहको यः समानसः।
सः संज्ञी कथितोऽसंज्ञी हेयादेयाविवेचकः ॥३१६॥ संस्कृतपंच०

द्वितीय प्रकृति समुत्कीर्तन प्रकरण में से—

१

पयडिविवंधणमुक्कं पयडिसरूवं विसेसदेसयरं ।
पणविय वीरजिणिंदं पयडिसमुक्कित्तणं वुच्छं ॥१॥प्राकृतपंच०

यो ज्ञात्वा प्रकृतीर्देवो दग्धवान् ध्यानवह्निना ।
तं प्रणम्य महावीरं क्रियते प्रकृतिस्तवः ॥१॥संस्कृतपंच०

२

साइयरं वेदा वि य हस्सादि चउक्क पंच जाईओ ।
सठाणं संघडणं छ छक्क चउक्क आणुपुव्वी य ॥११॥

गइचउ दो य सरीरं गोयं च य दोण्णि अंगवंगा य ।
दह जुअलाणि तसाई गयणगइदुगं विसिट्ठपरिवत्ता ॥१२॥ प्राकृतपंच०

द्वे वेद्ये गतयो हास्यचतुष्कं द्वे नभोगती ।
षट्के संस्थान—संहत्योर्गोत्रे वैक्रियिकद्वयम् ॥४५॥

चतुष्कमानुपूर्वीणां दश युग्मानि जातयः ।
औदारिकद्वयं वेदा एताः सपरिवृत्तयः ॥४६॥ संस्कृतपंच०

तृतीय कर्मवन्धस्तव प्रकरण में से—

१

कंचणरूप्पदवाणं एयत्तं जेम अणुपवेसो त्ति ।
अण्णोण्णपवेसाणं तह वंधं जीवकम्माणं ॥२॥ प्राकृतपंच०

परस्परप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः ।
एकत्वकारको वंधो रुक्म-कांचनयोरिव ॥६॥ संस्कृतपंच०

२

छिज्जइ पढमं वंधो किं उदओ किंच दो वि जुगवं किं ।
किं सोदएण वंधो किं वा अण्णोदएण उभएणं ॥६६॥

सांतरणिरंतरो वा किं वा वंधो हवेज्ज उभयं वा ।
एवं णवविहपण्हं कमसो वोच्छामि एयं तु ॥६७॥ प्राकृतपंच०

किं प्राक् विच्छिद्यते वन्धः किं पाकः किमुभौ समम् ।
किं स्वपाकेन वंधोऽन्यपाकेनोभयथापि किम् ॥७८॥

सान्तरोऽनंतरः किं किं वंधो द्वेधा प्रवर्तते ।
इत्येवं नवधा प्रश्नक्रमेणास्त्येतदुत्तरम् ॥७९॥ संस्कृतपंच०

चतुर्थ शतक प्रकरण में से—

१

सुणह इह जीवगुणसण्णिएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ ।
वोच्छं कदिवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवादाओ ॥३॥ प्राकृतपंच०
दृष्टिवादादथोद्धृत्य वक्ष्यन्ते सारयोगिनः ।
श्लोका जीवगुणस्थानगोचराः कतिचिन्मया ॥२॥ संस्कृतपंच०

२

तिरियगईए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेवं णेयाणि समासठाणाणि ॥६॥ प्राकृतपंच०
तिर्यग्गतावशेषाणि द्वे संज्ञिस्ये गतित्रये ।
जीवस्थानानि नेयानि सन्त्येवं मार्गणास्वपि ॥५॥ संस्कृतपंच०

३

उम्मग्गदेसओ सम्मग्गणासओ गूढहिययमाइल्लो ।
सढसीलो य ससल्लो तिरियाउ णिवंधए जीवो ॥२०७॥ प्राकृतपंच०
उन्मार्गदेशको मायी सशल्यो मार्गदूषकः ।
आयुरर्जति तैरश्चं शठो मूढो दुराशयः ॥७८॥ संस्कृतपंच०

४

पयडी एत्थ सहावो तस्स अणासो ठिदी होज्ज ।
तस्स य रसोऽणुभाओ एत्तियमेत्तो पदेसो दु ॥५१०॥ प्राकृतपंच०
स्वभावः प्रकृतिर्ज्ञेया स्वभावादच्युतिः स्थितिः ।
अनुभागो रसस्तासां प्रदेशोंऽशावधारणम् ॥३६६॥ संस्कृतपंच०

५

एसो वंधसमासो पिंडक्खेवेण वण्णिओ किं चि ।
कम्मप्पवादसुयसायरस्स णिस्संदमेत्तो दु ॥५१६॥
वंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंदमदिणा हु ।
तं वंध-मोक्खकुसला पूरेदूणं परिकहेंतु ॥५१७॥ प्राकृतपंच०
कर्मप्रवादाम्बुधिबिन्दुकल्पश्चतुर्विधो वंधविधिः स्वशक्त्या ।
संक्षेपतो यः कथितो मयाऽसौ विस्तारणीयो महनीयबोधैः ॥३७३॥ संस्कृतपंच०

पंचम सप्ततिका प्रकरण में से—

१

णमिऊण जिणिंदाणं वरकेवललद्धिसुक्खपत्ताणं ।
वोच्छं सत्तरिभंगं उवइट्ठं वीरणाहेण ॥१॥

सिद्धपदेहिं महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
वोच्छं सुण संखेवेण णिस्सदं दिट्ठिवादादो ॥२॥ प्राकृतपंच०
नत्वाऽहमर्हतो भक्त्या घातिकल्मषघातिनः ।
स्वशक्त्या सप्ततिं वक्ष्ये बंधभेदाववुद्धये ॥१॥
बन्धोदयसत्त्वानां सिद्धपदैर्दृष्टिवादपायोधेः ।
स्थानानि प्रकृतीनामुद्धृत्य समासतो वक्ष्ये ॥२॥ संस्कृतपंच०

२

इगिवीसं पणुवीसं सत्तावीसट्ठवीसमुगुतीसं ।
एए उदयट्ठाणा देवगइसंजुया पंच ॥१८१॥
२१।२५।२७।२८।२६। प्राकृतपंच०
अस्त्येकपंचसप्ताष्टनवाग्रा विंशतिः क्रमात् ।
नाम्नो दिवौकसां रीतावुदये स्थानपंचकम् ॥२०६॥
२१।२५।२७।२८।२६। संस्कृतपंच०

३

अह सुठिय सयलजयसिहर अरयणिरुवमसहावसिद्धिसुखं ।
अणिहमव्वावाहं तिरयणसारं अणुहवंति ॥५००॥ प्राकृतपंच०
रत्नत्रयफलं प्राप्ता निर्बाधं कर्मवर्जिताः ।
निर्विशंति सुखं सिद्धास्त्रिलोकशिखरस्थिताः ॥४७७॥ संस्कृतपंच०

उपरिलिखित अवतरणों से यह बात तो पूर्ण रूप से निश्चित हो जाती है कि अमितगति के पंचसंग्रह का आधार प्राकृत पंचसंग्रह है। यद्यपि यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि संभव है कि संस्कृत पंचसंग्रह को सामने रखकर प्राकृत पंचसंग्रह की रचना की गई हो, तथापि इसके विरुद्ध कितने ही प्रमाण हैं, जिनसे प्राकृत पंचसंग्रह ही पूर्वकालीन सिद्ध होता है। उनमें से सबसे बड़ा प्रमाण धवला टीका में इस ग्रंथ की गाथाओं का 'उक्तं च' के रूप में पाया जाता है। इतना ही नहीं, एक स्थल[1] पर तो धवलाकार ने 'तह जीवसमासए वि उत्तं' कह कर 'छप्पंचणव विहाणं' इत्यादि गाथा उद्धृत की है, जो कि स्पष्टतः अपनी अन्य गाथाओं के समान प्राकृत पंचसंग्रह के जीवसमासनामक प्रथम प्रकरण की १५६वी गाथा है।

(२) शतक और सप्ततिका नाम क्यों ?

संस्कृत पंचसंग्रह की रचना प्राकृत पंचसंग्रह के आधार पर हुई है, इतना स्पष्टतः ज्ञात हो जाने पर भी यह सन्देह तो अवशिष्ट रह ही जाता है कि पंचसंग्रह के चौथे प्रकरण का नाम शतक और पाँचवें का नाम सप्ततिका क्यों रक्खा गया? भारतीयसाहित्य में पद्यसंख्या के आधार पर ग्रन्थ के नाम रखने की प्राचीन परिपाटी अवश्य रही है मगर पंचसंग्रह के इन दोनों ही प्रकरणों की पद्यसंख्या इतनी अधिक है कि सहसा वैसी कल्पना करने का विचार मन में नहीं उठता।

---

[1] देखो षट्खंडागम, पुस्तक ४, पृष्ठ ३१५, उक्त पृष्ठ पर 'जीवसमासाए' पाठ अशुद्ध छपा है, 'जीवसमासए' पाठ ही वहां होना चाहिए।—लेखक

पर प्राकृत पंचसंग्रह का गंभीरता के साथ सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर कुछ गाथाएँ ऐसी अवश्य प्रतीत हुई, जो ग्रंथ का पिष्ट-पेषण या सामान्यतः निरूपित वस्तु का विशेष निरूपण करने वाली थीं। इन दोनों कारणों से हमने यह कल्पना की है कि संभव है कि इन दोनों प्रकरणों की मूल गाथाएँ क्रमशः १०० और ७० रही हों, और इसी कारण उन प्रकरणों के क्रमशः 'शतक' और 'सप्ततिका' नाम पड़े हों। इस कल्पना को सामने रखकर जब हमने श्वेताम्बर संस्थाओं से मुद्रित 'सतक' और 'सत्तरी' नामके दो प्रकरणों से मिलान किया तो इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया कि उक्त प्रकरणों की क्रमशः १०० और ७० गाथाओं को आधार बनाकर रचे गये होने के कारण ही पंचसंग्रहकार ने कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उन दोनों प्रकरणों के वे ही नाम रख दिये हैं।

यहाँ उक्त दोनों प्रकरणों में से कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जिनसे उक्त कल्पना असंदिग्ध सिद्ध होती है। प्राकृत पंचसंग्रहकार ने उक्त दोनों प्रकरणों को ज्यों-का-त्यों अपना लिया है और दोनों ही प्रकरणों की समस्त गाथाओं पर भाष्यगाथाएँ रची हैं, जिसका विशद ज्ञान तो मूलग्रन्थ के प्रकाश में आने पर ही हो सकेगा। यहाँ 'शतक' और 'सप्ततिका' प्रकरण की गाथाओं को मूलगाथा और पंचसंग्रहकार द्वारा रचित गाथाओं को भाष्यगाथा नाम देकर उल्लेख किया जाता है:—

१ शतक प्रकरण में से—

१

मूलगाथा—एयारसेसु ति त्ति य दोसु चउक्कं च बारमेक्कम्मि।
जीवसमासस्सेदे उवओगविही मुणेयव्वा ॥२०॥

इस गाथा का पंचसंग्रह के इस प्रकरण में २०वाँ स्थान है और शतक प्रकरण में ६वाँ। इसके अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए प्राकृत पंचसंग्रहकार ने १६ भाष्यगाथाएँ रची हैं, जिनमें से प्रारंभिक दो गाथाएँ यहाँ दी जाती हैं:—

भाष्यगाथा—मइसुअ अण्णाणाइं अचक्खु एयारसेसु तिण्णेव।
चक्खूसहिया तेच्चिय चउरक्खे असण्णिपज्जत्ते ॥२१॥
मइ सुय ओहिदुगाइं सण्णि अपज्जत्तएसु उवओगा।
सव्वे वि सण्णिपुण्णे उवओगा जीवठाणेसु ॥२२॥

विषय के जानकार पाठक जान सकेंगे कि इन दो गाथाओं में मूलगाथा के 'एयारसेसु तित्तिय दोसु चउक्कं च' इतने अंश का ही अर्थ व्याख्यात हुआ है।

२

मूलगाथा—अविरय-अंता दसयं विरयाविरयंतिया दु चत्तारि।
छच्चेव पमत्तंता एया पुण अप्पमत्तंता ॥३०६॥

भाष्यगाथा—विदियकसायचउक्कं मणुयाऊ मणुयदुग य उराल।
तस्स य अंगोवंगं संघयणाई अविरयस्स ॥३१०॥
तइयकसायचउक्कं विरयाविरयम्मि बंधवोच्छिण्णो।
साइयरमरइ सोयं तह चेव य अथिरमसुहं च ॥३११॥
अज्जसकित्ती य तहा पमत्तविरयम्हि बंधवोच्छेदो।
देवाउयं च एयं पमत्त-इयरम्हि णायव्वो ॥३१२॥

इन तीन भाष्यगाथाओं में से प्रथम भाष्यगाथा द्वारा मूलगाथा के प्रथम चरण का, दूसरी गाथा के पूर्वार्ध से द्वितीय चरण का, और उत्तरार्ध तथा तीसरी गाथा के पूर्वार्ध से तीसरे चरण का, तथा तीसरी गाथा के ही उत्तरार्द्ध से मूल गाथा के चौथे चरण का अर्थ-व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार एक मूल गाथा का तीन भाष्यगाथाओं से अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस तरह उक्त गाथाओं में मूल गाथाओं और भाष्यगाथाओं का भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है।

२ सत्तरी प्रकरण में से—

१

मूलगाथा—वावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच।
चउ तिय दुयं च एयं वंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥२५॥

भाष्यगाथा—मिच्छम्मि या वावीसा मिच्छा सोलह कसाय वेदो य।
हस्सा जुयलेक्कणिदा भएण विदिए दु मिच्छसंदूणा ॥२६॥
पढमचउक्केणित्थीरहिया मिस्से अविरयसम्मे य।
विदिएणूणा देसे छट्ठे तइऊण सत्तमट्ठे य ॥२७॥
अरइ-सोएणूणा परम्मि पुंवेय-संजलणा।
एगेगूणा एवं दह ट्ठाणा मोहवंधम्मि ॥२८॥

२

मूलगाथा—अट्ठसु पंचसु एगे एय दुय दस य मोहवंधगये।
तिय चउ णव उदयगदे तिय तिय पण्णरस संतम्मि ॥२६२॥

भाष्यगाथा—सत्त अपज्जत्तेसु य पज्जत्ते सुहुम तह य अट्ठसु य।
वावीसं वंधोदय संता पुण तिण्णि पढमिल्ला ॥२६३॥
पंचसु पज्जत्तेसु पज्जत्तयसण्णिणामगं वज्ज।
हेट्ठिम दो चउ तिण्णि य वंधोदयसंतठाणाणि ॥२६४॥
दस णव पण्णरसाई वंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
सण्णिपज्जत्तयाणं संपुण्णा इत्ति वोहव्वा ॥२६५॥

विषय से परिचित पाठक भलीभांति जान सकेंगे कि एक-एक मूलगाथा के अर्थ को किस प्रकार तीन-तीन भाष्यगाथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार यह मानने में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है कि प्राकृत पंचसंग्रहकार ने मूल प्रकरणों के नाम को अक्षुण्ण रखने के लिए ही वही के वही नाम दे दिये हैं और ये दोनों प्रकरण-ग्रन्थ ही पंचसंग्रह के चौथे-पांचवें संग्रह के आधार हैं।

(३) शेष अधिकारों के आधारों की छान-बीन

प्राकृत पंचसंग्रह के प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक द्वितीय प्रकरण का आधार स्पष्टतः षट्खंडागम की प्रकृति-समुत्कीर्तन नाम की चूलिका है, जो कि मुद्रित षट्खंडागम के छठवें भाग में सन्निहित है। इस चूलिका के समस्त

सूत्रों को यहाँ ज्यों-का-त्यों उठाकर रख दिया गया है। केवल जहाँ-कहीं कहने मात्र को 'जं' या 'तं' में से कोई एक शब्द को छोड़ दिया गया है। इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन्हें इसमें लेशमात्र भी संदेह हो, वे मूल से मिलान करके देख सकते हैं।

प्राकृत पंचसंग्रह के प्रथम जीवसमास और तृतीय कर्मप्रकृतिस्तव नामक प्रकरणों का आधार क्या है, यह अभी तक स्पष्टतः ज्ञात नहीं हो सका। संभव है कि ये दोनों प्रकरण प्राकृत पंचसंग्रह के कर्ता ने स्वतंत्र ही रचे हों और यह भी संभव हो सकता है कि इन दोनों प्रकरणों की बहुत सी गाथाएँ आचार्य-परंपरा से चली आ रही हों और प्राकृतपंच-संग्रहकार ने उन्हें सुव्यवस्थित रूप से इस ग्रन्थ में निबद्ध या संग्रह कर दिया हो; क्योंकि 'पंच संग्रह' इस नाम से उक्त बात की ध्वनि निकलती है। फिर भी इतना तो निर्विवाद कहा ही जा सकता है कि 'बंधस्वामित्व' और 'बंधविधान' ये दोनों खंड षट्खंडागम में आज भी उपलब्ध हैं और बहुत संभव है कि पंचसंग्रहकार ने इन दोनों के आधार पर इन दोनों प्रकरणों की स्वतंत्र पद्य-रचना की हो। इन दोनों प्रकरणों का सीधा संबंध किस-किस ग्रंथ से रहा है, यह बात अद्यापि अन्वेषणीय ही है।

(४) प्राकृत पंचसंग्रह का कर्ता कौन ?

प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार-संबंधी इतनी छानबीन कर चुकने के बाद अब प्रश्न उठता है कि प्राकृत पंचसंग्रह का रचयिता या संग्रहकार कौन है ?

पर्याप्त अन्वेषण करने के बाद भी अभी तक उक्त ग्रन्थ के रचयिता के विषय में कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सका, हालांकि दो-एक आचार्यों के अनुमान के लिए कुछ प्रमाण अवश्य मिले हैं; पर जब तक इस विषय के काफी स्पष्ट और पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक उनके नाम का उल्लेख करना उचित नहीं।

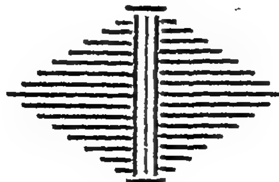
(५) प्राकृत पंचसंग्रह का निर्माण-काल

यद्यपि जब तक ग्रन्थकार के नाम का निर्णय नहीं हो जाता है तब तक उसके रचना-काल का निर्णय करना भी कठिन कार्य ही है, तथापि एक बात तो सुनिश्चित ही है कि यह ग्रन्थ मूल 'शतक' प्रकरण के पीछे रचा गया है। मूल 'शतक' प्रकरण के रचयिता आचार्य 'शिवशर्म' हैं, जैसा कि इस ग्रन्थ की चूर्णि बनानेवाले अज्ञात नामधेय आचार्य ने अपनी चूर्णि का प्रारंभ करते हुए लिखा है:—

'केण कयं सतग पगरणं ति ? सद्द-तर्क-न्यायप्रकरण-कर्मप्रकृतिसिद्धान्तविजाणएण अणेगवायसमालद्ध-विजएण शिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं ति। किं परिमाणं ? गाहापरिमाणेण सयमेत्तं।'

आचार्य शिवशर्म का समय यद्यपि अद्यावधि सुनिश्चित नहीं हो सका है, तथापि विद्वानों ने विक्रम की पांचवीं शताब्दी में होने का अनुमान किया है। इसलिए शिवशर्म आचार्य के पश्चात् और धवला टीका के कर्ता आचार्य वीरसेन के पूर्व किसी मध्यवर्ती काल में प्राकृतपंचसंग्रह का निर्माण हुआ है, इतना अवश्य सुनिश्चित हो जाता है। धवला टीका की समाप्ति का काल शक सं० ७३८ है।

चौरासी, (मथुरा)]



आचार्य श्री हरिभद्र सूरि और उनकी समरमयङ्का कहा

मुनि पुण्यविजय

जो इच्छइ भवविरहं, भवविरहं को न वंघए सुयणो ।
समयसयसत्थकुसलो, समरमियङ्का कहा जस्स ॥

दाक्षिण्याङ्क आचार्य श्री उद्योतनसूरि महाराज ने अपनी प्राकृत कुवलयमाला कथा के प्रारम्भिक प्रस्तावना-ग्रन्थ में अनेक प्राचीन मान्य आचार्य और उनकी कृतियों का स्मरण किया है और इस प्रसंग में उन्होंने आचार्य श्री हरिभद्रसूरि, (जिनको, विरह अंक होने से विरहांक आचार्य माना जाता है) और उनकी **समरमयङ्का कहा** का भी स्मरण किया है। यही उल्लेख मैंने इस लेख के प्रारम्भ में दिया।

इस उल्लेख को देखते हुए पता चलता है कि आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने **समरमयङ्का कहा** नाम का कोई कथाग्रन्थ वनाया था। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि की कृतिरूप प्राकृत कथाग्रन्थ **समराइच्च कहा** मिलता है, परन्तु **समरमयङ्का कहा** ग्रन्थ तो आज तक कहीं देखने या सुनने में नहीं आया है। अतः यह ग्रन्थ वास्तव में कौन ग्रन्थ है, इस विषय की परीक्षा इस अतिलघु लेख में करना है।

मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि आचार्य श्री उद्योतनसूरि जी ने **समराइच्च कहा** को ही **समरमयङ्का कहा** नाम से उल्लिखित किया है। प्रश्न यह उपस्थित होगा कि—समराइच्चकहा इस नाम में समर+आइच्च शब्द हैं तव समरमियंका नाम में समर+मियंका शब्द हैं। आइच्च का अर्थ सूर्य है तव मियंक—(सं० मृगाङ्क) का अर्थ प्रचलित परिभाषा के रूप में चन्द्र होता है। अतः समराइच्च और समरमियंक ये दो नाम एक रूप कैसे हो सकते हैं ? और इसी प्रकार समराइच्चकहा एवं समरमियंका कहा ये दो ग्रन्थ एक कैसे हो सकेंगे ? इस विवादास्पद प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

जैन प्रतिष्ठाविधि के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि एक ज़माने में चन्द्र की तरह आदित्य—सूर्य को भी शशांक, मृगांक आदि नाम से पहचानते थे। जैन प्रतिष्ठाविधान आदि के प्रसंग में नव ग्रहों का पूजन किया जाता है। इसमें नव ग्रहों के नाम से अलग-अलग मन्त्रोच्चार होता है। इन मन्त्रों में सूर्य का मन्त्र आता है वह इस प्रकार है—

"ॐ ह्रीं शशाङ्क सूर्याय सहस्रकिरणाय नमो नमः स्वाहा।"

इस प्राचीनतम मन्त्र में सूर्य या आदित्य को **'शशाङ्क'** विशेषण दिया गया है। इससे पता चलता है कि एक ज़माने में चन्द्र की तरह सूर्य को भी शशाङ्क, मृगाङ्क आदि नाम से पहचानते थे। अधिक सम्भव है कि इसी परिपाटी का अनुसरण करके ही आचार्य श्री उद्योतनसूरि ने अपने **कुवलयमाला** कहा ग्रन्थ की प्रस्तावना में **समराइच्च** कहा ग्रन्थ को ही **समरमयङ्का** कहा नाम से उल्लिखित किया है।

इस प्रकार मुझे पूर्ण विश्वास है कि **समराइच्च कहा** और **समरमयङ्का** कहा ये दोनों एक ही ग्रन्थ के नाम हैं।

अहमदावाद]



'भगवती आराधना' के कर्त्ता शिवार्य

श्री ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०

आराधना, मूलाराधना अथवा भगवती आराधना नामक ग्रन्थ मुनियों के आचार का एक प्रसिद्ध लब्धप्रतिष्ठ प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ है। इसके मूल रचयिता आचार्य शिवार्य थे। अनेक प्राकृत एवं संस्कृत टीकाएँ इस ग्रन्थ पर रची गई, जिनमें से कितनी ही आज भी उपलब्ध हैं। अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित 'भगवती आराधना' की श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमी कृत भूमिका तथा प्रेमी जी के तत्सम्बन्धी अन्य लेखों तथा 'आराधना और उनकी टीकाएँ',[1] 'यापनीय साहित्य की खोज'[2] इत्यादि से उक्त ग्रन्थ के अन्तःकरण, उसकी विभिन्न टीकाओं एवं टीकाकारों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है, किन्तु मूल लेखक के विषय में, जितना कि वे अपने ग्रन्थ में स्वयं प्रकट करते हैं, उससे अधिक विशेष ज्ञान नहीं होता।

ग्रन्थ के अन्त में २१६१ से २१६६ पर्यन्त गाथाओं में ग्रन्थकार आचार्य ने अपना जो निजी परिचय दिया है, वह इस प्रकार है—"आर्यजिननन्दिगणि, आर्यसर्वगुप्तगणि, आर्यमित्रनन्दिगणि के चरणों के निकट जल सूत्रों और और उनके अर्थ को अच्छी तरह समझ कर पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचना के आधार से पाणितलभोजी शिवार्य ने यह आराधना स्वशक्त्यनुसार रची है। अपनी छद्मावस्था अथवा ज्ञान की अपूर्णता के कारण इसमें जो कुछ प्रवचन-विरुद्ध लिखा गया हो, उस पदार्थ को भली प्रकार समझने वाले प्रवचन वात्सल्य के भाव से शुद्ध करलें। इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णित भगवती आराधना संघ तथा शिवार्य को उत्तम समाधि प्रदान करे। इत्यादि।"

उपर्युक्त गाथाओं से इतना ही स्पष्ट है कि 'भगवती आराधना' के कर्ता पाणितलभोजी—अतः एक दिगम्बर जैनाचार्य—शिवार्य थे। उनके शिक्षागुरु आर्यजिननन्दिगणि, आर्यसर्वगुप्तगणि तथा आर्यमित्रनन्दिगणि थे। इनके दीक्षागुरु इन्हीं तीन आचार्यों में से कोई एक थे अथवा अन्य कोई आचार्य थे, यह निश्चित नहीं है। ग्रन्थ का आधार तद्विषयक मूलसूत्र एवं पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध कतिपय रचनाएँ थीं।

ग्रन्थ की अनेक प्राकृत-संस्कृत टीकाओं में अपराजितसूरि कृत 'विजयोदया', दूसरी अमित गत्याचार्य कृत (११वीं शताब्दी) तथा तीसरी पं० आशाधर जी कृत (१३वीं शताब्दी) विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से अपराजित सूरि की विजयोदया टीका सबसे प्राचीन है। श्रद्धेय प्रेमी जी के अनुमानानुसार वह आठवीं शताब्दी विक्रम के पूर्व की ही है, किन्तु अपराजितसूरिके सम्मुख भी इस ग्रन्थकी अन्य प्राकृत-संस्कृत टीकाएं मौजूद थीं और प्राकृत टीकाओं का समय छठी शताब्दी के लगभग समाप्त हो जाता है। अतः ग्रन्थ की सर्व प्राचीन प्राकृत टीका कम-से-कम छठी शताब्दी की अवश्य रही होगी और इस प्रकार मूल ग्रन्थ का रचना काल भी ईस्वी सन् पांचवीं, छठी शताब्दी के पूर्व का ही होना चाहिए।

वास्तव में कुछ प्रमाण इस ओर संकेत करते हैं कि यह रचना सम्भवतः ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी की होनी चाहिए।

यह ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रारम्भ से ही बहुमान्य रहा है और इसकी प्रायः सब उपलब्ध टीकाएँ दिगम्बराचार्यों द्वारा ही रची हुई हैं। लेखक का 'पाणितलभोजी' विशेषण भी उनका श्वेताम्बर साधु न होकर दिगम्बर मुनि होना ही सूचित करता है; परन्तु प्रचलित दिगम्बर मान्यताओं के कुछ विरोधी विचार भी इसमें

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २३ तथा अनेकान्त वर्ष १, पृ० १४५, २०६

[2] अनेकान्त वर्ष ३, पृ० ५६

मिलते हैं। वास्तव में शिवार्य की विचारधारा न श्वेताम्बर ही थी और न पूर्णतः दिगम्बर ही, वरन् वह एक तीसरे ही जैनसम्प्रदाय—'यापनीय संघ'—की ही मान्यताओं के अनुकूल एवं अधिक निकट प्रतीत होती है। पूज्य प्रेमी जी ने यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है कि 'आराधना' के प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार अपराजितसूरि यापनीय ही थे और सातवीं शताब्दी ई० के वैयाकरण शाकटायन भी, जिन्होंने शिवार्य के गुरु सर्वगुप्तका ससम्मान उल्लेख किया है, यापनीय थे।[1] ऐसी दशा में शिवार्य का स्वयं का भी यापनीय संघ से सम्बन्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

देवसेनाचार्य कृत 'दर्शनसार' के अनुसार यापनीय संघ की स्थापना विक्रम संवत् १४८ (सन् ९१ ई०) में श्री कलश नामक आचार्य ने की थी। इसके दस-ग्यारह वर्ष पूर्व सन् ७९ अथवा ८१ ई० में, दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की अनुश्रुति के अनुसार, उक्त दोनों सम्प्रदायों के बीच का भेद पुष्ट हो चुका था और उनकी एक दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो चुकी थी। यापनीय संघ के प्राथमिक आचार्य इन दोनों ही सम्प्रदायों में मान्य थे। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ईस्वी पूर्व की अन्तिम शताब्दियों में, जहाँ एक ओर दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद चल रहे थे, वहाँ दूसरी ओर एक स्वतन्त्र विचारधारा इन दोनों के समन्वय में प्रयत्नशील थी, किन्तु जब प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में वह मतभेद स्थायी रूप से प्रकट हो गया और इस प्रकार समन्वय का प्रयत्न विफल हो गया तो वह तीसरी विचारधारा भी एक स्वतन्त्र आम्नाय के रूप में परिणत हो गई।

भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य, समन्वय में प्रयत्नशील इस तीसरी विचारधारा के ही प्रतीक थे, किन्तु उनकी रचना में यद्यपि यापनीय संघ की मान्यताओं के बीज मौजूद हैं, फिर भी वह स्वयं उक्त संघ की वि० सं० १४८ में स्थापना के पूर्व ही हो गये प्रतीत होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आराधना में ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पश्चात् होने वाले किसी आचार्य का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उसमें ग्रन्थकर्ता ने अपने उपरिवर्णित तीन गुरुओं के अतिरिक्त भद्रबाहु आचार्य का स्मरण किया है,[2] और इन भद्रबाहु के 'घोर अवमौदर्य से संक्लेश रहित उत्तम पद प्राप्ति' का ऐसा वर्णन है, जो शिवार्य और भद्रबाहु की सामयिक निकटता को सूचित करता प्रतीत होता है।

यह भद्रबाहु चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व में होने वाले भद्रबाहु (प्रथम) श्रुतकेवलि तो हो ही नहीं सकते, क्योंकि उनके सम्बन्ध में ऐसी कोई बात उनके विषय में रचे गये चारित्र ग्रन्थों, अन्य साहित्य, उल्लेखों, शिलालेख आदि में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। दूसरे चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व में जैन ग्रन्थ-रचना के भी कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं और इन भद्रबाहु के पश्चात् ही दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद का सर्वप्रथम बीजारोपण हुआ था। समन्वय का प्रयत्न इतना शीघ्र आरम्भ हुआ प्रतीत नहीं होता। दूसरे भद्रबाहु ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य में हुए हैं। उनके पट्टकाल का प्रारम्भ वि० सं० ४ (ई० पू० ५३) में हुआ था।[3] ये भगवान् महावीर के पश्चात् अङ्गपूर्वधारियों की परम्परा के अन्त के निकट हुए थे और स्वयं आचाराङ्गधारी थे। अतः ये ही वह भद्रबाहु थे, जिनका उल्लेख शिवार्य ने किया है।

साथ ही ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में होने वाले कुन्दकुन्दाचार्य ने एक शिवभूति[4] नामक आचार्य का तथा अन्यत्र एक शिवकुमार[5] नामक भावश्रमण का ससम्मान उल्लेख किया है। यह भी सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य के ये दोनों उल्लेख केवल पौराणिक उदाहरण ही हों; किन्तु इस (शिवभूति) नाम के एक आचार्य का कुन्दकुन्द के समकालीन होना और उनका दिगम्बर सम्प्रदाय (बोटिक संघ) से भी सम्बन्ध होना श्वेताम्बर ग्रन्थ मूलभाषा

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०, ४१।

[2] भगवती आराधना गाथा १५४४। ओमोदारिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी।
घोराए विगिछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥

[3] चक्रवर्ती—पञ्चास्तिकाय भूमिका।

[4] भावपाहुड़—गाथा ५३।

[5] भावपाहुड़—गाथा ५१।

(गाथा १४८) तथा कल्प सूत्र स्थविरावली (गाथा २०) से भी सिद्ध होता है और प्रो० हीरालाल जी ने नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल नं० ६ में प्रकाशित अपने 'शिवभूति और शिवार्य' शीर्षक लेख में भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों में उल्लिखित शिवभूति आचार्य को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है। ८वीं शताब्दी के जिनसेनाचार्य ने भगवती आराधना के कर्ता का शिवकोटि नाम से स्मरण किया है।

इन सब से यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त आचार्य का मूल नाम 'शिव' था, जिसके साथ भूति, कोटि, कुमार आदि शब्द उल्लेखकर्ताओं ने स्वरुचि अनुसार अथवा किसी भ्रमवश जोड़ दिये हैं और यह कि ये शिवार्य भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् तथा कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व, सन् ईस्वी के प्रारम्भ के लगभग हुए हैं।

ठीक इसी समय एक 'शिवदत्त' नामक आरातीय यति के होने का पता श्रुतावतार आदि ग्रन्थों से चलता है।[1] श्रुताङ्गधारियों की परम्परा भद्रबाहु (द्वितीय) तथा लोहाचार्य के साथ समाप्त हो जाती है। उसी समय तथा कुन्दकुन्दादि आचार्यों से पूर्व अर्हद्दत्त, विनयदत्त, श्रीदत्त तथा शिवदत्त—इन चार आरातीय यतियों का होना पाया जाता है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूज्यपादाचार्य ने आरातीयों को सर्वज्ञ तीर्थङ्कर तथा श्रुतकेवलियों के समान ही प्रामाणिक वक्ता माना है[2] और उसी समय के कुछ पीछे लिखी गई आराधना की टीका विजयोदया के कर्ता अपराजित सूरि ने अपने गुरुओं तथा अपने आपको आरातीयसूरि चूड़ामणि कहा है।

इस प्रकार आराधना के कर्ता शिवार्य ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग होने वाले आरातीय आचार्य शिवदत्त ही थे, इसमें विशेष सन्देह नहीं रह जाता।

शिवार्य ने अपने ग्रन्थ में अपने गुरुओं—जिननन्दि, सर्वगुप्त, मित्रनन्दि—का जिस प्रकार 'आर्य' पहले तथा 'गणी' शब्द पीछे लगा कर उल्लेख किया है, वह बिलकुल वैसा ही है जैसा कि मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अब से दो हजार वर्ष पूर्व के अनेकों जैन शिलालेखों में तत्कालीन विभिन्न जैनाचार्यों के नामों का हुआ है।[3] पीछे के जैन साहित्य अथवा अभिलेखों में इन शब्दों का इस प्रकार का आम प्रयोग नहीं मिलता।

दूसरे, शिवार्य के ग्रन्थ का आधार कथित 'मूलसूत्र' थे। यह मूलसूत्र, भगवान् महावीर से भद्रबाहु (द्वितीय) पर्यन्त चली आई श्रुत परम्परा में आचाराङ्ग के अन्तर्गत विवक्षित-विषय-सम्बन्धी मूलसूत्र ही हो सकते हैं। शिवार्य के सम्मुख उक्त सूत्रों की अवस्थिति भी शिवार्य के उपरि निश्चित समय की ही पुष्टि करती है।

शिवार्य के सम्मुख उक्त सूत्रों के आधार से रची हुई कतिपय पूर्वाचार्यों कृत निबद्ध-रचनाएँ भी थीं। पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में ऐसी रचनाओं का होना कुछ असम्भव भी नहीं है। मथुरा कंकाली टीले से ही एक खंडितमूर्ति जैन सरस्वती की प्राप्त हुई है, जो लखनऊ के अजायबघर में सुरक्षित है।[4] यह सरस्वती की सबसे प्राचीन उपलब्ध मूर्ति है। डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के मतानुसार जैनेतरों में सरस्वती की मूर्ति का निर्माण इसके बहुत पीछे प्रारम्भ हुआ। मूर्ति पर जो अभिलेख है उससे विदित होता है कि यह मूर्ति पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व—क्षत्रप काल की है। इस मूर्ति के एक हाथ में डोरे से बँधी हुई एक ताड़पत्रीय पुस्तक है, जो स्पष्ट सूचित करती है कि उस समय जैनों में पुस्तक रचना प्रारम्भ हो चुकी थी।

शिवार्य ने अपने गुरुत्रय के चरणों के निकट मूलसूत्रों का अर्थ समझने तथा उसके आधार से अपने ग्रन्थ को रचने की जो बात कही है वह भी बिलकुल वैसी ही है जैसी कि तत्कालीन आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि के धरसेनाचार्य के निकट तथा आचार्य नागहस्ति एवं आर्यमंक्षु के गुणधराचार्य के निकट, परम्परागत मूल जिनवाणी के अन्तर्गत

---

[1] इन्द्रनन्दि—श्रुतावतार।

[2] सर्वार्थसिद्धि—१-२०।

[3] एपिग्रेफ़िका इंडिका—लुइस द्वारा सम्पादित मथुरा से प्राप्त जैन-शिलालेख।

[4] स्मिथ—जैनस्तूप तथा मथुरा का अन्य पुरातत्व, पृ० ५६, प्लेट XCIX

अन्य विषयों का अध्ययन करके उनके आधार से कर्म प्रकृति प्राभृत तथा कषाय प्राभृत आदि प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों के रचने की है।

'आराधना' की अतीव प्राचीनता का एक अन्य प्रवल प्रमाण उक्त ग्रन्थ के चालीसवें विज्जहना नामक अधिकार में वर्णित मुनि का मृत्यु संस्कार है। इसके अनुसार मृत मुनि का शव वन में किसी स्थान पर पशु-पक्षियों के भक्षणार्थ छोड़ दिया जाता था। ठीक ऐसा ही रिवाज सन् ३२६ ई० पूर्व में सिकन्दर महान् तथा उसके यूनानी साथियों ने दक्षिणी-पश्चिमी सिन्ध की 'ओरातीय' जाति में प्रचलित देखा था।[1] यह 'ओरातीय' शब्द 'व्रात्य' शब्द का यूनानी रूप प्रतीत होता है। उस समय सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर प्रदेशों में नाग, मल्ल आदि अनेक व्रात्य जातियों की बस्तियाँ तथा राज्य थे। अनेक जैन मुनि भी यूनानियों को उस प्रान्त में मिले थे। यह अवैदिक प्रथा उन व्रात्य जातियों में प्रचलित थी और उसी व्रात्य संस्कृति का प्रतिनिधि एक प्राचीन जैनाचार्य उसका विधान करता है। वास्तव में उपर्युक्त प्रथा अवैदिक ही नहीं, प्राग्वैदिक थी। तामिल भाषा के प्राचीन संगम साहित्य में भी उसके उल्लेख मिलते हैं। डा० आयङ्गर के मतानुसार आर्यों के भारत-प्रवेश के पूर्व से ही वह इस देश में प्रचलित थी।[2]

यह भी हो सकता है कि यूनानी वृत्तों में उल्लिखित 'ओरातीय' (Oreitai) शब्द का जैन अनुश्रुति में वर्णित इन प्राचीन आचार्यों के 'आरातीय' विशेषण से ही कोई सम्बन्ध हो।

इस प्रकार भगवती आराधना और उसके कर्ता आचार्य शिवार्य की अतीव प्राचीनता में कोई सन्देह अवशेष नहीं रह जाता और ऐसा विश्वस्त अनुमान करने के प्रवल कारण हैं कि वह शिवार्य ईस्वी के प्रारम्भ के लगभग होने वाले आरातीय यति शिवदत्त ही थे।

लखनऊ]



[1] मेकक्रिन्डल—सिकन्दर का भारत आक्रमण —डिडरो—पृ० २९७।

[2] आयङ्गर—तामिल स्टडीज पृ० ३९।

श्रीदेवरचित 'स्याद्वादरत्नाकर' में अन्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उल्लेख

श्री वी० राघवन् एम० ए०, पी-एच० डी०

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तर्कवेत्ता श्रीदेव या देवसूरि (१०८६-११६६ ई०) का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक ग्रन्थ, जिसकी 'स्याद्वादरत्नाकर' टीका स्वयं उन्होंने लिखी है, जैन तर्कशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्रीदेव मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे और उन्होंने अणहिल्लपट्टन के राजा जयसिंहदेव के दरबार में सन् ११२४ ई० में दिगम्बर सम्प्रदायी कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। 'प्रभावकचरित्र' ग्रन्थ के एक अध्याय में श्रीदेव के उक्त ग्रन्थ का विषय दिया हुआ है। 'स्याद्वादरत्नाकर' एक विस्तृत भाष्य है, जिसमें दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों तथा शास्त्रकारों के मनोरंजक उल्लेख भरे पड़े हैं। इनमें से कुछ उल्लेख बड़े मूल्यवान हैं और दर्शनशास्त्र के विभिन्न अंगों का इतिहास जानने वाले विद्यार्थियों के लिए बड़े काम के हैं। इन उल्लेखों को इकट्ठा करके उनका अध्ययन करना बहुत उपयोगी होगा। यहाँ पर मैं उन्हें वर्णक्रमानुसार रखता हूँ, जैसा कि वे उल्लेख मुझे आर्हतमत-प्रभाकर ग्रन्थमाला (नं० ४) में पाँच भागों में छपे हुए उक्त ग्रन्थ के संस्करण में मिले हैं।

भाग १, पृ० २९ :—**अम्बाप्रसाद सचिवप्रवर और उनके ग्रंथ कल्पलता के संबंध में, जिसकी 'कल्पपल्लव' नामक टीका** उन्होंने स्वयं लिखी है, इस प्रकार कथन मिलता है—

'यथा चात्र अमीषा मंशानामनुवाद्यत्वं पूर्वत्र च तत्तदंशानां विधेयत्वं तथा **श्रीमदम्बाप्रसादसचिवप्रवरेण कल्पलतायां तत्संकेते कल्पपल्लवे च** प्रपञ्चितमस्तीति तत एवावसेयम्।

जैनग्रन्थावली (पृ० १२४) तथा प्रो० एच० डी० वेलंकर द्वारा सम्पादित 'जिनरत्नकोष' (भा० १, पृ० २०६ अ) से अम्बाप्रसाद नामक व्यक्ति का पता चलता है, जिसने सटीक 'नवतत्त्वप्रकरण' ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु इन सूचियों में कल्पलता नामक ग्रन्थ तथा उस पर कल्पपल्लव नाम की टीका का कोई जिक्र नहीं मिलता।

पृ० १५७ : दिङ्नाग और उनका ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि—**अद्वैतसिद्ध्यादिषु** संस्तुतोऽसौ दिङ्नागमुख्यैरपि किं महद्भिः॥

दिङ्नाग द्वारा रचित अद्वैतसिद्धि का कोई पता अभी तक नहीं चला है।

भाग २, पृ० ३५०—**अनन्तवीर्य :**—ये ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य के प्रसिद्ध जैन तर्कवेत्ता थे। इन्होंने 'परीक्षामुखपञ्जिका', 'न्यायविनिश्चयवृत्ति' आदि ग्रन्थों की रचना की है।

भाग ४, पृ० ७४६, ८००—**'अनेकान्तजयपताका'**, हरिभद्रसूरिकृत। यह ग्रन्थ यशोविजय जैनग्रन्थमाला में लेखक की टीका के साथ छपा है तथा गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ (८८) में श्रीदेव के गुरु मुनिचन्द्र की टीका के साथ प्रकाशित हुआ है।

न्यायवैशेषिक पर आत्रेय तथा आत्रेयभाष्य। भाग २, पृ० ३३२ : प्रत्यक्ष के वर्णन में **आत्रेयभाष्य** का उल्लेख किया गया है :—

यत्पुनरात्रेयभाष्यकारः आह—"यथा सामान्यस्य विशेषाणां च प्रदीपालोकेन सन्निकृष्टत्वेन दूरात्सामान्यमुपलभ्यते न विशेषा इति प्रदीपालोककारितौ संशयविपर्ययौ भवतः, तथा सामान्यस्य विशेषाणां च चक्षुषा सन्निकृष्टत्वेऽपि दूरात्सामान्यमुपलभ्यते न विशेषा इति चाक्षुषौ संशयविपर्ययौ भवतः। तत्र महाविषयत्वात्सामान्यं दूरादप्युपलभ्यते, अल्पविषयत्वात्तु विशेषा न दूरादुपलभ्यन्त इति संशयविपर्ययोरुत्पत्तिः" इति।

इस पर अपने उत्तर को संक्षेप में देते ए श्रीदेव इस आत्रेय भाष्यकार को योग अर्थात् नैयायिक कहता है। भाग ४, पृ० ८४७—यहाँ 'द्रव्य' पर आत्रेय का विचार उद्धृत किया है—

यत्पुनरात्रेयः प्रोचितवान्—"न क्रियात्वे प्रसङ्गात्। क्रियात्वमपि क्रियावद्भवति, क्रियाधारत्वात्। न च तद् द्रव्यमिति तद् व्यवच्छेदार्थं गुणवद् इति। न खल्वाधार एवाधेयेन तद्वान् भवति, आधेयमप्याधारेण तद् व्यपदिश्यते" इत्यादि।

अपनी आलोचना में श्रीदेव, आत्रेय को 'वर्षीयान् विप्रपुङ्गवः' कहता है और उसका दूसरा उद्धरण देता है—

तत्रायं वर्षीयान् विप्रपुंगवोऽनंतरमेव स्वयमुक्तं नाप्यनुसन्दधातीति किं ब्रूमः। "कर्म उत्प्रेक्षणादि तद्यस्मिन् समवायेन वर्तते तत् क्रियावत्" इति हि तत्रादावनेन विवव्रे। ...... न च तद् द्रव्यमिति तद्व्यवच्छेदार्थं क्रियावदिति। तदपि न सुसूत्रमात्रेयेणाभाणि। ......

पृष्ठ ८४८ में पुनः आत्रेय का उल्लेख है, और पृ० ८४९ में उपसंहार रूप में आत्रेय का कथन वैशेपिक रूप में किया गया है।

पृ० ९१२ : आत्रेयो *व्याख्यातवान्* 'नित्यमस्याश्रयः पारतन्त्र्यं द्रव्ये' इति द्रव्याश्रयी। दो प्रकार के द्रव्यों पर।

पृ० ९४५ में कर्म के न्याय-दृष्टिकोण पर आत्रेय का मत दिया गया है—

लक्षणान्तरं पुनरात्रेयो विवृणोति—एकं द्रव्य मिति नाद्रव्यं न चानेकद्रव्यमित्यर्थः। नास्य गुणाः सन्ति स्वयं च न गुणो भवतीत्यगुणम्। संयोगाश्च विभागाश्च संयोगविभागाः, तेषु संयोगविभागेषु कारणमित्युत्पन्नं कर्म स्वाश्रयमाश्रयान्तराद्विभज्य संयोजयतीति। तेषु च संयोगविभागेषु कर्तव्येषु कर्म कारणान्तरं नापेक्षत इत्यनपेक्षं न पुनः समवायिकारणमपि नापेक्षित इति। यद्वा संयोगविभागा ..... कर्मासाधारणं नापेक्षते इत्यनपेक्षं न पुनः साधारणमपि नापेक्षत इति। दिशः खलु संयोगविशेषापेक्षं कर्म स्वाश्रयस्य संयोगविभागावारभते तथा च प्रेरकस्य यां दिशं प्रति प्रयत्नसमारम्भः तदभिमुखं कर्म जायते तस्माच्च कर्मणस्तदभिमुखौ संयोगविभागौ भवतः। अनेनादृष्टेश्वराद्यपेक्षस्य कर्मणः संयोगविभागारम्भो व्याख्यात॥ इति।

पृ० ९४६, इसके बाद ही आत्रेय की पुस्तक का निम्न अंश भी उद्धृत किया गया है—

यदाह स एव "संयोगविभागेषु अनपेक्षं कारणमित्येतावत् कर्मलक्षणमेकद्रव्यमगुणमित्यभिधानं तु कर्मस्वरूपोपवर्णनार्थं न पुनः कर्मलक्षणार्थम्" इति।

अन्त के उद्धरणों से हम पहले आये हुए उल्लेख को इस प्रकार शुद्ध कर सकते हैं—**'यत्पुनरात्रेयो भाष्यकार आह'**। यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि यह वैशेपिक ग्रन्थकार कौन था?

भाग १, पृ० १३३. **इष्टसिद्धिः** विमुक्तात्मन् के इष्टसिद्धि ग्रन्थ (गा० ओ० से०) की १,१ कारिका उद्धृत की गई है।

भाग २, पृ० २८९, ३१८, ३२० आदि। उदयन तथा उनके ग्रन्थों—कुसुमांजलि तथा किरणावली—का उल्लेख प्रायः किया गया है।

पुरंदर तथा उद्भट, लोकायत संप्रदाय के लेखक—

भारतीय चार्वाकवाद पर लिखी हुई अपनी पुस्तक (प्रका० कलकत्ता, पृ० ४७) में दक्षिणारंजन शास्त्री ने लिखा है कि 'सम्मतितर्कप्रकरण' ग्रन्थ के भाष्य में किसी पुरंदर नामक लेखक के लोकायत सूत्र का उल्लेख किया गया है। शान्तिरक्षित के तत्त्वसंग्रह ग्रन्थ (गा० ओ० से०, भाग १, पृ० ४३१) पर लिखी हुई कमलशील की टीका में पुरन्दर तथा उसके लोकायत ग्रन्थ का दूसरी बार उल्लेख मिलता है। यहाँ पर पुरन्दर के 'अनुमान' पर विचार की

ओर संकेत है तथा कमलशील की टीका से विदित होता है कि शान्तरक्षित की कारिका (नं० १४८२) में पुरन्दर के पहले होने का प्रमाण विद्यमान है।

पुरन्दरस्त्वाह—'लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपि इष्यत एव। यत्तु कैश्चिल्लौकिकं मार्गमतिक्रम्य अनुमानमुच्यते तन्निषिध्यत इति। एतदाशंक्य दूषयन्नाह लौकिकमित्यादि।

गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज में प्रकाशित 'तत्त्वसंग्रह' की भूमिका (पृ० ८५) में सम्पादक ने लिखा है—"संस्कृत साहित्य में हमको कहीं इस बात का पता नहीं मिलता कि पुरन्दर लोकायत था।"

किन्तु अब 'स्याद्वादरत्नाकर' ग्रन्थ से न केवल पुरंदर का पता चलता है, अपितु यह भी मालूम हो गया है कि उसके द्वारा रचित लोकायत सूत्रों पर उद्भट नामक भाष्यकार ने एक टीका भी लिखी है। 'तत्त्वसंग्रह' में पुरन्दर का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि उस (पुरन्दर) का समय ७०० ई० से पहले का है। उसके लोकायत सूत्रों पर लिखे हुए उद्भट के भाष्य का नाम एक स्थान पर 'तत्त्ववृत्ति' तथा दूसरे स्थान पर 'तन्त्रवृत्ति' मिलता है।

यच्चोक्तं तत्त्ववृत्तावुद्भटेन 'लक्षणकारिणा लाघविकत्वेनैव शब्दविरचनव्यवस्था, न चैतावता अनुमानस्य गौणता, यदि च साध्यैकदेशर्धामधर्मत्वं हेतो रूपं ब्रूयुस्ते, तदा न काचिल्लक्षणेऽपि गौणी वृत्तिः' इति। यत्तु तेनैव परमलोकायतं-मन्येन लोकव्यवहारैकपक्षपातिना लोकप्रसिद्ध धूमाद्यनुमानानि पुरस्कृत्य शास्त्रीय स्वर्गादिसाधकानुमानानि निराचिकीर्षता "प्रमाणस्य गौणत्वाद् अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" इति पौरन्दरं सूत्रं पूर्वाचार्य तिरस्कारेण व्याख्यानयता इदमभिहितं 'हेतोः स्वसाध्य नियम ग्रहणे प्रकारत्रयमिष्टं दर्शनाभ्यामवशिष्टाभ्यां दर्शनेन विशिष्टानुपलब्धिसहितेन भूयोदर्शनप्रवृत्या च लोकव्यवहारपतितया, तत्राद्येन ग्रहणोपायेन ये हेतोर्गमकत्वमिच्छन्ति तान् प्रतीदं सूत्रं लोकप्रसिद्धेष्वपि, हेतुषु व्यभिचारा दर्शनमस्ति तन्त्रसिद्धेष्वपि, तेन व्यभिचारादर्शन लक्षणगुणसाधर्म्यतः तन्त्रसिद्धहेतूनां तथाभावो व्यवस्थाप्यत इति गौणत्वमनुमानस्य। अव्यभिचारावगमो हि लौकिकहेतूनामनुमेयावगमे निमित्तं स नास्ति तन्त्रसिद्धेष्विति न तेभ्यं परोक्षार्थावगमो न्याय्यः, अत इदमुक्तम्—अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ इति।

पृ० २७० : **उक्तं च तन्त्रवृत्तौ भट्टोद्भटेन 'सर्वश्च दूषणोपनिपातोऽप्रयोजकहेतुमाक्रामतीत्यप्रयोजक विषया विरुद्धानुमान विरोधविरुद्धा व्यभिचारिणः' इति।**

भाग ४, पृ० ७६४:—**यत्र तु भट्टोद्भटः प्राचीकटत् 'न ह्यत्रकारणमेवकार्यात्मतामुपैति यत एकस्याकारणात्मनः एककार्मरूपतोपगमे तदन्यरूपाभावात् तदन्यकार्यात्मनोपगतिर्न स्यात्। किन्तु अपूर्वमेव कस्यचिद्भावे प्रागविद्यमानं भवत्तत्कार्यम्। तत्र विषयेन्द्रियमनस्काराणामितरेतरोपादानाहितरूप भेदानां सन्निधौ विशिष्टदवेतरक्षणभावे प्रत्येकं तद्भावाभावानुविधानादेकक्रियोपयोगो न विरुध्यते। यत एकक्रियायामपि तस्य तद्भावाभावितैव निबन्धनम्, सा च अनेक क्रियायामपि समाना, इति।**

भाग ५, पृ० १०८३—पुरन्दर के सूत्रों में से एक में उन तत्त्वों का कथन है, जिन्हें लोकायतिक मानते हैं—वे तत्त्व हैं—पृथिवी, आपस्, तेजस् और वायु। दूसरे सूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति में चैतन्य का उदय उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कुछ परमाणुओं में, जब वे आपस में मिला कर एक किये जाते हैं मादक शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। उद्भट ने पुरन्दर के सूत्रों पर लिखे हुए अपने भाष्य में कहा है कि वास्तव में लोकायतिकों के तत्त्व केवल यही चार नहीं हैं और सूत्र में दी हुई सूची केवल संकेतात्मक है। उसने यह भी लिखा है कि 'इति' शब्द से उल्लिखित सूची का अन्त नहीं प्रकट होता, अपितु इसी भाँति के अन्य तत्त्वों का भी भान होता है और मदशक्ति के समान उत्पन्न विज्ञान एक अन्य तत्त्व है। उसी प्रकार शब्द, सुख आदि भी अन्य तत्त्वों में से हैं।

न च 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति सूत्र व्याघातः। सूत्रे इति शब्दस्य समाप्त्यर्थत्वेन अव्याख्यानात्। यदाचष्ट भट्टोद्भटः—'इतिशब्दः प्रदर्शनपरः न समाप्तिवचनः; चैतन्य-सुख-दुख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-संस्काराणां तत्त्वान्तरत्वात्, पृथिव्यादि प्राक्प्रध्वंसापेक्षान्योन्याभावानां चात्यन्तप्रकटत्वादुक्तविलक्षणात्वाच्च' इति।

ओंचक या उम्वेक

भाग २, पृ० २७९—अभावप्रमाण पर एक कारिका का कथन यहाँ किया गया है साथ ही उस पर ओंचक की टीका भी उद्धृत की गई है। जो कारिका दी गई है वह कुमारिल के श्लोकवार्तिक में आये हुए अभाववाद का पहला श्लोक है और जो ओंचक के नाम से टिप्पणियाँ दी हुई हैं वे उम्वेक की हैं।

ओंचकस्त्वेवं व्याख्यातवान् 'तत्र घटाख्ये वस्तुनि प्रत्यक्षादिसद्भावग्राहकं नोपजायते तस्य नास्तिता भूप्रदेशाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया इति।

यह वाक्य श्लोकवार्तिक (मद्रास यूनिवर्सिटी संस्करण, उम्वेक के भाष्य सहित) के पृ० ४०९ में मिलता है। स्याद्वादरत्नाकर में दिये हुए उद्धरण का पाठ अधिक शुद्ध जँचता है।

भाग १, पृ० १५७ : **कमलशील,** बौद्धनैयायिक (८वीं श०) न्यायविन्दु पर टीका का लेखक। उसकी पंजिका, जो शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह पर लिखी गई है, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ में तत्त्वसंग्रह के साथ प्रकाशित हुई है।

भट्टजयन्त का पल्लव

स्याद्वादरत्नाकर से 'न्यायमंजरी' ग्रन्थ के लेखक भट्टजयन्त नामक एक अज्ञात ग्रन्थकार का पता चला है। भाग १, पृ० ६४—तथा च समाचष्ट **भट्टजयन्तः पल्लवे—**

तत्रासन्दिग्धनिर्वाध वस्तु बोधविधायिनी।
सामग्री चिदचिद्रूपा प्रमाणमभिधीयते॥
फलोत्पादाविनाभावि स्वभावाव्यभिचारि यत्।
तत्साधकतमं युक्तं साकल्यान्न परं च तत्॥
साकल्यात्सदसद्भावे निमित्तं कर्तृकर्मणोः।
गौणमुख्यत्वमित्येवं न ताभ्यां व्यभिचारिता॥
संहन्यमानहीनेन संहतेरनुपग्रहात्।
सामग्र्या पश्यतीत्येवं व्यपदेशो न दृश्यते॥
लोचनालोकलिंगादेः निर्देशो यस्तृतीयया।
स तद्रूप समारोपादुषया पत्रतीतिवत्॥
तदन्तर्गतकर्मादि कारकापेक्षया च सा।
करणं कारकाणां हि धर्मोऽसौ न स्वरूपवत्॥
सामग्र्यन्तः प्रवेशेऽपि स्वरूपं कर्तृकर्मणोः।
फलवत्प्रतिभातीति न चतुष्ट्वं विनंक्ष्यति॥ इति॥

सम्पादक का कथन है कि ये श्लोक 'न्यायमंजरी' में नहीं मिलते और उनका अनुमान है कि 'पल्लव' से श्रीधर का अभिप्राय 'न्यायमंजरी' से ही है, परन्तु हम देखेंगे कि इस अनुमान की कोई पुष्टि नहीं होती कि 'पल्लव' से श्रीदेव का अभिप्राय 'न्यायमंजरी' से ही रहा हो।

भाग १, पृ० ३०२—यदजल्पि **जयन्तेन पल्लवे—**

स्वरूपादुद्भवत्कार्यं सह कार्युपवृंहितात्।
न हि कल्पयितुं शक्तं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्॥

सर्वदा न च सर्वेषां सन्निधिः सहकारिणाम् ।
स्वरूपसन्निधानेऽपि न यदा कार्यसंभवः ॥
मन्त्रे सति विषादीनां स्वकार्याकरणं तु यत् ।
न शक्ति प्रतिबंधात्तत् किन्तु हेत्वन्तरागमात् ॥
मन्त्राभावो हि तद्धेतुः धर्मादि सहकारिवत् ।
मन्त्रभावस्ततस्तत्र हेत्वन्तरतया मतः ॥
तेषामम्लानरूपाणां ननु मन्त्रेण किं कृतम् ।
कार्योदासीनता मात्रं शक्तौ चैष न यः समः ॥
न हि मन्त्रप्रयोगेण शक्तिस्तत्र विनाश्यते ।
मन्त्रवादिन्युदासीने पुनस्तत्कार्यदर्शनात् ॥ इति ॥

शक्ति के समालोचक जयन्त पर अपना विचार देते हुए अन्त में श्रीदेव उदयन की तुलना में जयन्त को हाथी के मुक़ाबले में कीटक जैसा कहता है—

यत्रास्यां शक्ति संसिद्धौ मज्जत्युदयनद्विपः ।
जयन्त हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके ॥

यहाँ ग्रन्थ के सम्पादक का कहना है कि ऊपर के श्लोक, जो जयन्त के 'पल्लव' से उद्धृत किये गये हैं, 'न्याय-मंजरी' (पृ० ४१, विजयनगर संस्करण) में मिलते हैं। इसी के आधार पर सम्पादक ने 'पल्लव' से उद्धृत पहले कथन पर अपनी टीका में लिखा है कि श्रीदेव का 'पल्लव' कहने से मतलब 'न्यायमंजरी' से ही था। वास्तव में ऊपर के द्वितीय उद्धरण के श्लोकों में से केवल पहला 'न्यायमंजरी' में मिलता है, न कि उसके बाद के अन्य पाँच श्लोक। अतः 'पल्लव' जयन्त द्वारा लिखा हुआ एक भिन्न न्याय का ग्रन्थ है, जो पूर्णतया कारिकाओं के रूप में लिखा गया है और दूसरे उद्धरण में आये हुए पहले श्लोक से मालूम पड़ता है कि कुछ छन्द 'पल्लव' तथा 'न्यायमंजरी' दोनों ग्रन्थों में एक-जैसे ही हो सकते हैं।

पृ० ३३८ में सात श्लोक 'जयन्त' के नाम के साथ उद्धृत किये गये हैं और ये सभी श्लोक 'न्यायमंजरी' (पृ० २१५-१६) में मिलते हैं। यह एक मार्के की बात है कि यहाँ 'पल्लव' से उद्धरण देने की बात नहीं कही गई है। एक दूसरा ही ऐसा उद्धरण, जो 'जयन्त' के ग्रन्थ से पृष्ठ ५४३ पर दिया गया है, 'न्यायमंजरी' (पृ० ११७) में भी मिलता है और यहाँ भी 'पल्लव' का उल्लेख नहीं मिलता।

भाग ४, पृ० ७८० में जयन्त तथा उसके 'पल्लव' का कथन जिस श्लोक में किया गया है वह 'न्यायमंजरी' में नहीं मिलता—

तदुक्तं भट्टजयन्तेनापि पल्लवे—

किञ्चाविच्छिन्नदृष्टीनां प्रलयोदयवर्जितः ।
भावोऽस्खलित सत्ताकः चकास्तीत्यामसाक्षिकम् ॥

गुणरत्न की षड्दर्शन समुच्चयवृत्ति (१४०९ ई०) में जयन्त की 'नयकलिका' का उल्लेख हुआ है, परन्तु उसमें यह कथन कि नयकलिका भासर्वज्ञ के न्यायसार पर लिखी हुई टीका है, ठीक नहीं जान पड़ता। इसके अलावा सतीशचन्द्र विद्याभूषण के ग्रन्थ (History of Indian Logic) में जयन्त की 'पल्लव' नामक किसी कृति का उल्लेख नहीं है।

भाग ३, पृ० ५७९—ज्ञानश्रीमित्र बौद्धनैयायिक (११वीं शताब्दी का मध्यभाग)। यहाँ उसका एक पूरा श्लोक उद्धृत है। पृ० ७१२ में एक श्लोक उसके अपोहप्रकरण ग्रन्थ में से पूरा का पूरा दिया हुआ है। भाग ४,

पृ० ७७० पर उसके ग्रन्थ में से एक गद्यखंड उद्धृत किया गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में प्राप्त संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इस लेखक के १३ ग्रन्थों को गिनाया है—उदाहरणार्थ, कार्यकारणभावसिद्धि, क्षणभंगाध्याय, व्याप्तिचर्चा, भेदाभेदपरीक्षा आदि (देखिए जर्नल ऑव बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द २८, भाग ४, पृ० १४३-४४)।

भाग ४, पृ० ७८७-८८—**त्रिलोचन**

तथा च त्रिलोचनः प्रकीर्णके—

सर्वेषां नाशहेतूनां वैकल्यप्रतिबन्धयोः।
सर्वदासंभवान्नाशः सापेक्षोऽपि ध्रुवत्वभाक्॥

'एवं च ध्रुवभावित्वस्य' आदि (एक लम्बा गद्यखंड उद्धृत है)। यह त्रिलोचन वाचस्पति मिश्र का गुरु हो सकता है, जिसका उल्लेख उसने अपनी तात्पर्यटीका में किया है। रत्नकीर्ति ने भी अपने अपोहसिद्धि तथा क्षणभंग-सिद्धि ग्रन्थों में त्रिलोचन का कथन किया है (हिस्ट्री ऑव इंडियन लॉजिक, पृ० १३४)।

भाग ४, पृ० ७७४-७५ : **देवबल तथा धर्मोत्तर के एक ग्रन्थ पर उसकी टीका।**

एतेन यदपि धर्मोत्तरविशेषव्याख्यानकौशलाभिमानी देवबलः प्राह—'निर्भागेऽपि च कार्ये आवापोद्वापाभ्यां विशेषहेतूनां विभ्रमसिद्धिरिति छलनोद्यानामनवसाः' इति।

इस बौद्ध लेखक का उल्लेख श्री एस० सी० वैद्य ने या श्री विद्याभूषण ने अपने न्याय के इतिहास में नहीं किया।

भाग १, पृ० १७३ : **देवेन्द्र**। इस बौद्ध लेखक का हवाला देते हुए लिखा है कि उसने एक ग्रन्थ पर जिसके लेखक का नाम अज्ञात है, टीका की है। उस ग्रन्थ से भी यहाँ उद्धरण दिये हुए हैं।

तदुक्तं 'नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक्।
अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन्॥'

अत्र देवेन्द्रव्याख्या 'चित्रज्ञाने हि यो नीलादिः' आदि (एक लंबा गद्यांश)।

पृ० १८० पर एक अज्ञातलेखक की ऐसी ही कारिका दी हुई है और उस पर देवेन्द्र की टीका में से एक लम्बा उद्धरण दिया हुआ है :

तदुक्तं 'किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि।
यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्॥

अथ देवेंद्र व्याख्या—'यदि नामैकस्यां मतौ आदि ....

यह देवेन्द्र नामक लेखक देवेन्द्रबोधि हो सकता है, जिसका समय सातवीं श० ई० के मध्य का है और जिसने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर एक पंजिका लिखी है (हिस्ट्री ऑव इंडियन लॉजिक, पृ० ३१९)।

भाग १, पृ० २४, २५, २७, १७० आदि में धर्मोत्तर का कथन प्रायः किया गया है। इस बौद्धनैयायिक ने न्यायबिन्दुटीका, प्रमाणविनिश्चयटीका आदि रचनाएँ की हैं। धर्मोत्तर ८०० ई० में काश्मीर गया था जब वहाँ जयापीड शासक था (राजतरंगिणी, भाग ४, पृ० ४९८)।

भाग ५, पृ० १०९९—**नेमिचंद्रगणि,** स्वयं ग्रन्थकार श्रीदेव का शिष्य।

तथा च अस्मद्विनेयस्य निरवद्यविद्यापद्मिनीप्रमोदनद्युमणेः नेमिचन्द्रगणेः अत्र व्यतिरेकप्रयोगः 'त्वत्प्रति वादि शरीरं आदि।

नेमिचन्द्रगणि के किस ग्रंथ का यहां हवाला दिया गया है, यह अज्ञात है।

भाग ८, पृ० ३७२। **वाचस्पति मिश्र** की न्यायकारिका से उद्धरण दिया गया है। यह ग्रन्थ मीमांसा पर लिखे हुए मंडनमिश्र के विधिविवेक (पंडितसंस्करण) पर टीका है।

भाग १, पृ० २३ : **धर्मकीर्ति** लिखित **न्यायविनिश्चय**।

पृ० २१ : उपर्युक्त ग्रन्थ पर लिखी हुई टीका तथा वृत्ति नामक दो भाष्य।

भाग १, पृ० ४४: उमास्वाति जैन तथा उनका ग्रंथ पंचशती प्रकरण : यदवाचि पञ्चशती प्रकरण प्रणयन प्रवीणैः उमास्वाति वाचकमुख्यैः—

तानेवार्थान्द्विषतः तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टंवा॥ इति।

भाग ४, पृ० ८७८ : **पदार्थप्रवेशक ग्रंथ**। जैसा कि सम्पादक ने लिखा हैं, यह प्रशस्तपादभाष्य है।

भाग ४, पृ० ८०२ : **पद्मचंन्द्रगणि**। यह सम्भवतः श्रीदेव का प्रधान शिष्य हैं।

भाग ४, पृ० ८६५ : **प्रकरणचतुर्दशीकार** तथा उनका ग्रन्थ **धर्मसारप्रकरण**।

प्रकरणचतुर्दशीकारोऽपि धर्मसारप्रकरणे प्राह्—न ह्यङ्गनावदनच्छायानुसंक्रामातिरेकेणादर्शके तत्प्रतिबिंब-संभवः इत्यादि।

प्रो० वेलंकर के 'जिनरत्नकोश' (भाग १, पृ० १९४ व) में किसी सकलकीर्ति द्वारा लिखित धर्मसार ग्रन्थ का उल्लेख है।

भाग ३, पृ० ५९० : **प्रज्ञाकर**। दशवीं श० के मध्य का बौद्ध नैयायिक, जिसने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर अलंकार नामक टीका लिखी है।

भाग २, पृ० ४६६। **प्रभाचंद्र,** जैन तार्किक (८२५ ई०) जिसने तत्त्वार्थसूत्र पर एक टीका लिखी है। यहाँ दिया हुआ उद्धरण उसी टीका से हैं।

भाग २, पृ० ४७८ : **प्रमेयकमलमार्तण्ड**। यह माणिक्यनन्दिन् के परीक्षामुखसूत्र पर लिखी हुई प्रभाचन्द्र की टीका हैं। यह उस समय लिखी गई थी जब भोज धारा में राज्य कर रहे थे।

भाग २, पृ० ३२०, ३४५ : प्रशस्तपादभाष्य—प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह (वैशेषिक ग्रन्थ)। भाग ४, पृ० ९२० पर लेखक का नाम प्रशस्तकर दिया हुआ है।

भाग १, पृ० ८९; भाग ३, पृ० ६४८-४९, ६५४ : यहाँ भर्तृहरि का हवाला कहीं तो उसके नाम के सहित दिया हुआ है और कहीं उसका नाम नहीं दिया है।

भाग २, पृ० ३२२, भाग ४, पृ० ८५२ : भूषण। यह भासर्वज्ञ का न्यायभूषण है, जिसका उल्लेख बहुत से अन्य ग्रन्थों में भी आया है, परन्तु जो अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। गुणरत्न की षड्वृत्तिदर्शन, राजशेखर सूरि के षड्दर्शनसमुच्चय तथा न्यायसार पर भट्ट राघव की टीका आदि जैन ग्रन्थों में लिखा है कि भूषण, न्यायसार पर ग्रन्थकार द्वारा स्वयं लिखी हुई टीका है।

भाग ३, पृ० ५६९ : मुनिचन्द्रसूरि (मृत्यु ११२१ ई०)। श्रीदेव ने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर अपने गुरु मुनिचन्द्र का जिक्र किया है।

प्रथम अध्याय के अन्त में हरिभद्र रचित ललितविस्तार पर मुनिचन्द्र की टीका का कथन है। ललितविस्तार चैत्यवन्दनासूत्र (प्रका० देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड सीरीज) पर भाष्य है।

अध्याय दो के अन्त में शिवशर्मन् के कर्मप्रकृतिप्राभृत पर मुनिचन्द्रसूरि द्वारा लिखी हुई टीका का जिक्र है।

पाँचवें अध्याय के अन्त में श्रीदेव ने शास्त्रवार्तासमुच्चय पर मुनिचन्द्र की टीका का उल्लेख किया है। प्रो० वेलंकर के 'जिनरत्नकोश' (भाग १) में इस टीका का नाम नहीं है और न वह मुनिचन्द्रलिखित ३२ ग्रन्थों की

सूची में मिलता है। यह सूची श्री एच० आर० कापड़िया द्वारा लिखित हरिभद्र के अनेकान्तजयपताका (प्रका० गायक० ओरि० सी०, मुनिचन्द्र के भाष्य सहित) की भूमिका पृ० ३० में मिलती है। अध्याय ६ के अन्त में हरिभद्र के उपदेशपद पर लिखी हुई मुनिचन्द्र की टीका का हवाला दिया गया है।

भाग १, पृ० १६०—यहाँ पर राहुल नामक लेखक का उल्लेख मिलता है, जिसने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर टीका लिखी है।

भाग २, पृ० ३४६, ४६७; भाग ३, पृ० ५२१ : विद्यानन्द, प्रसिद्ध जैन लेखक जिसने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थ लिखे हैं।

भाग २, पृ० २८६-७। विमलशिव। इस नैयायिक का पता एक लम्बे उद्धरण से चलता है। उसके विषय में अन्यत्र कुछ पता नहीं चलता।

विमलशिवः पुनरन्यथा प्राह—वह्न्यादिकं स्वैकसमवेतातीन्द्रियकार्यकृत्, चाक्षुषत्वे सति हेतुत्वात्, यदित्थं यथा गोत्वं, तथा च विवादास्पदं, तस्मात्तथा, आदि। यह उद्धरण यौग अर्थात् नैयायिकों द्वारा शक्ति के मत-खंडन के संबंध मे आया है।

भाग २, पृ० २८६ विष्णुभट्ट। शक्ति-मत के ऊपर इस नैयायिक का कथन किया गया है—

विष्णुभट्टस्त्वाह—स्वरूपसहारिव्यतिरिक्ता शक्तिरस्तीतिवाक्यमनर्थकं, सर्वप्रमाणैरनुपलभ्यमानार्थत्वात्, यदित्थं तत्तथा, यथा अंगुल्यग्रे करिशत मास्ते इति वाक्यं यथोक्तसाधनं चैतत्, तस्माद्यथोक्तसाध्यम्।

पृ० २८८ पर पुनः उसका मत उद्धृत है—तथा चाभिदधे विष्णुभट्टेन—'प्रतिबन्धक प्रागभावप्रध्वंसभावयोश्च नीलपीताद्यनेक विधानामिव यथासंभवं कारणत्वं विशेषतः' इति।

भाग २, पृ० ३१८ : व्योमशिव, वैशेषिक, प्रशस्तपादभाष्य पर व्योमवती टीका का लेखक। पृ० ४१६ तथा ४१८ पर उसके दो और उल्लेख मिलते हैं।

भाग २, पृ० ४३६। शंकर नामक एक नैयायिक का मत यहाँ उद्धृत है तथा भाग ४, पृ० ८५२ में न्याय-भूषणकार के साथ उसका मत दिया हुआ है, तथा दोनों को उसी वाक्य का कर्ता माना गया है।

१ अस्त्येवास्य (ईश्वरस्य) शरीरमिति शंकरः।

२ यच्च शंकरन्यायभूषण कारावचक्षते—यो हि भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते, तदभावोऽपि तावत्यैवेति आलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणं तमस्तदभाव एव।

दूसरा उद्धरण उसी रूप मे रत्नप्रभ की प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार पर लिखी हुई टीका (पृ०६८, यशोविजय-ग्रन्थमाला संस्करण) में मिलता है।

शंकरस्वामिन् नामक नैयायिक का मत शान्तरक्षित तथा कमलशील के द्वारा तत्त्वसंग्रह तथा पंजिका (गायक० ओरि० से०, पृ० ८१, २५०, ३७८) में तीन वार उद्धृत किया गया है।

भाग ४, पृ० ७८३ : **शंकरनन्दन**, बौद्ध लेखक, उसकी एक कारिका इस प्रकार दी है :

कारणाद्भवतोऽर्थस्य नश्वरस्यैव भावतः।
स्वभावः कृतकत्वस्य भावस्य क्षणभंगिता॥

पृ० ७८७ पर उसकी एक कारिका स्वयं उसकी टीका सहित उद्धृत है : एतेन शङ्कर नंदनोक्तकारिकां **यावदुक्तमपास्तम्। यदपि शंकरनंदन एव व्याकरोति—**

न हि स्वहेतुजो नाशो नाशिनां नश्वरात्मता।
नाशार्थेषां भवन्तस्ते भूत्वैव न भवन्ति तत्॥

नाशिनां नश्वरात्मतैव नाशार्थो न तु विनाशहेतुजो विनाशो नाशार्थः आदि॥

क्या यह शंकरनन्द वही काश्मीरी ब्राह्मण शंकरानन्द है, जिसने बौद्ध ग्रन्थ—प्रमाणवार्तिकटीका, अपोहसिद्ध आदि लिखे हैं ?...

भाग ४ पृ० ६५७ : शर्करिकाः हमें यहाँ निम्नलिखित उद्धरण मिलता है—यत्तु 'प्रत्येक समवेतार्थ' इत्यादि कारिका व्याख्यायां जयमिश्र शर्करिकायां प्राह—'गोमतिः धर्मिणी, कृत्स्नवस्तुविषयेति साध्यो धर्मः कृत्स्नरूपत्वादिति हेतुः। या या कृत्स्नरूपा सासा कृत्स्नवस्तुविषया, व्यक्तिवृद्धिवदिति दृष्टान्तः' इति।

यह कारिका कुमारिल के श्लोकवार्तिक (वनवाद, श्लोक ४६) में से दी गई है। **शर्करिका** उस भाष्य का नाम है जो जयमिश्र ने श्लोकवार्तिक पर लिखा है और जो उम्वेक के भाष्य के आगे लिखा गया है। अतः ऊपर के उद्धरण में पहली पंक्ति का शुद्ध पाठ....जयमिश्रः शर्करिकायां प्राह—होना चाहिए। श्रीदेव के द्वारा जो अंश दिया गया है वह शर्करिका के मद्रास युनिवर्सिटी संस्करण में पृ० ९२ में मिलता है। श्रीदेव द्वारा दिया हुआ यह उद्धरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अब तक केवल यही वाह्य प्रमाण उपलब्ध हो सका है, जिसमें जयमिश्र की शर्करिका का उल्लेख है।

भाग २, पृ० ४७५। **भदन्त शाकटायन** के केवल मुक्ति प्रकरण में से यहाँ एक लम्बा अंश उद्धृत है।

भाग १, पृ० ६१, ११२-१५। मीमांसाकार **शालिकनाथ**, प्रकरणपंचिका के लेखक, का कथन यहाँ किया गया है।

भाग २, पृ० २३९; भाग २, पृ० २८८, ३१८ आदि :

श्रीधर कन्दली नामक न्यायग्रन्थ के लेखक, का यहाँ कई बार जिक्र है।

भाग ३, पृ० ६४९। **संग्रहकार**। व्याडि नामक वैयाकरण का यहाँ उल्लेख है, जिसके ग्रन्थ से भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय तथा उसकी वृत्ति में उद्धरण लिये हैं। जिस कारिका को यहाँ श्रीदेव ने यह कह कर उद्धृत किया है कि वह संग्रहकार की 'यथाद्यसंख्या' आदि है, वह वाक्यपदीय (१, ८८) में मिलती है।

-पृ० ६४५ : यदाह संग्रहकारः—शब्दस्य ग्रहेण हेतुः आदि। इसको भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में संग्रहकार की लिखी हुई कहा है (पृ० ७८-९; चंडीदेव शास्त्री द्वारा वाक्यपदीय का लाहौर संस्करण, भाग १)।

भाग १, पृ० ९२। **समंतभद्र**। यह प्रसिद्ध जैननैयायिक है जिसने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर गन्धहस्ति-महाभाष्य की रचना की है।

भाग २, पृ० ४६७ : **सर्वार्थसिद्धि**। तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद देवनन्दिन् कृत भाष्य। श्रीदेव ने इसका खंडन किया है।

भाग १, पृ० ८६ : **हरिभद्रसूरि** कृत **शास्त्रवार्तासमुच्चय** से यहाँ उद्धरण दिया गया है। अध्याय ५ के अन्त में श्रीदेव ने अपने गुरु मुनिचन्द्र का उल्लेख किया है, जिन्होंने हरिभद्रसूरि के उक्त ग्रन्थ पर एक टीका लिखी थी।

भाग २, पृ० २९२: हरिहर नामक नैयायिक का उल्लेख है—यत्तु हरिहरः प्राह—न च दुर्बल उत्तेजकमन्त्रः स्तम्भकमन्त्रस्य प्रतिपक्षः। तस्मिन् सत्यपि स्तम्भकमन्त्रस्य कार्यकरणदर्शनात्।

भाग १, पृ० १०३ में संसारमोचकों का उल्लेख है, जिन्हें सम्पादक ने ब्रह्माद्वैतवादी माना है। जयन्त की 'न्यायमंजरी' में संसारमोचकों का कथन बौद्धों के साथ किया गया है और उनके विषय में लिखा है कि वे पापकर्मों तथा आगमों का प्रचार करते और प्राणिहिंसा में रत रहते हैं, तथा वे स्पर्श के योग्य नहीं हैं—

ये तु सौगत संसारमोचकागमाः पापकाचारोपदेशिनः व्यस्तेषु प्रामाण्यमार्योऽनुमोदते—....

संसारमोचकाः पापाः प्राणिहिंसापरायणाः।
मोहप्रवृत्ता रावेति न प्रमाणं तदागमः॥

× × ×

संसारमोचकं स्पृष्ट्वा शिष्टाः स्नान्ति सवाससः।

(पृ० २६५-६, विजयनगर संस्करण)

वेदान्तियों या ब्रह्मदर्शन के अनुयायिओं के प्रति जयन्त ने कठोर शब्दों का व्यवहार किया है, परन्तु ऊपर की आलोचना अद्वैतवादियों के प्रति प्रयुक्त नहीं जान पड़ती।

भाग १, पृ० १९०—परमब्रह्मवादी। यहाँ एक शार्दूलविक्रीड़ित छन्द उद्धृत किया गया है—

अथ परमब्रह्मवादिन आहुः—

भावग्रामो घटादिर्बहिरिह घटते वस्तुवृत्या न कश्चित्।
तन्मिथ्यैष प्रपञ्चः तमपि च मनुते तत्त्वभूतं जनोऽयम्।
प्रौढाविद्या विलासप्रबलनरपतेः पारवश्यं गतस्सन्।
आत्माद्वैतं तु तत्त्वं परमिह परमानन्दरूपं तदस्तु॥

भाग १, पृ० २७-२८ में कुछ काव्यों तथा नाटकों से उद्धरण दिये हुए हैं, किन्तु उनके रचयिताओं के नाम नहीं हैं :

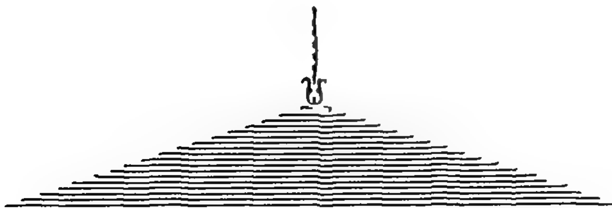
कृतककुपितैः बाष्पांभोभिः
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या (रघु०, ७, ६; कुमार० ७, ५७)
पौलस्त्यः स्वयमेव याचत इति (बालरामायण, २, २०)
ताताज्जन्मवपुर्विलङ्घितवियत्
द्वयं गतं संप्रति शोचनीयताम् (कुमार० ५, ८१)
तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
कारणगुण्यनुवृत्त्या
सूर्याचन्द्रमसौ यत्र
आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी (बालरामायण, १, ३६)

भाग २, पृ० २७३ : रावण-सम्बन्धी 'वक्तुं सर्वे यदाज्ञाम्....' छन्द उद्धृत है।

भाग २, पृ० २७३ पर एक छन्द दिया गया है, जिसमें श्रीसंघ नामक किसी राजा का गुण-गान है।

मदरास]

[अनु०—श्री कृष्णदत्त बाजपेयी



अपभ्रंश भाषा का 'जम्बूस्वामिचरित' और महाकवि वीर

पं० परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय साहित्य में जैन-वाङ्मय अपनी विशेषता रखता है। जैनियों का साहित्य भारत की विभिन्न भाषाओं में देखा जाता है। संस्कृत, प्राकृत, अर्धमागधी, शौरसैनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, तामिल, तेलगू, कनड़ी, हिन्दी, मराठी, गुजराती और बंगला आदि भाषाओं में ऐसी कोई प्राचीन भाषा अवशिष्ट नहीं है, जिसमें जैन-साहित्य की सृष्टि न की गई हो। इतना ही नहीं, अपितु दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरण, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, छन्द, अलंकार, पुराण चरित तथा मन्त्र-तन्त्रादि सभी विषयों पर विपुल जैन-साहित्य उपलब्ध होता है। यद्यपि राज-विप्लवादि उपद्रवों के कारण जैनियों का बहुत-सा प्राचीन बहुमूल्य साहित्य नष्ट हो चुका है, तथापि जो कुछ किसी तरह बच गया है, उससे उसकी महानता एवं विशालता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जैनियों के पुराण और चरित-ग्रन्थों का अधिकतर निर्माण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में हुआ है। यहाँ अपभ्रंश भाषा के एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन चरित-ग्रन्थ और उसके लेखक का कुछ परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है। यद्यपि इस भाषा का पूरा इतिहास अभी तक अनिश्चित है—इसके उत्थान-पतन, अभ्युदय और अस्त का कोई क्रमिक और प्रामाणिक इतिवृत्त अभी तक नहीं लिखा गया, जिसकी बड़ी आवश्यकता है—तो भी ईसा की छठी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक इस भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ होती रही हैं, ऐसा उपलब्ध रचनाओं से ज्ञात होता है। जिस समय प्रस्तुत चरित-ग्रन्थ की रचना हुई, अपभ्रंश भाषा का वह मध्याह्न काल था। उस समय यह भाषा केवल सब की बोल-चाल की ही भाषा नहीं बनी हुई थी, बल्कि महान् साहित्यिक विद्वानों की नव्यकृतियों का निर्माण भी इसी भाषा में किया जाता था। उस समय तथा उससे पूर्व के रचे हुए इस भाषा के ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट अनुभव होता है कि उस समय इस भाषा की ओर कवियों का विशेष अनुराग था और जनता उस प्रचलित भाषा में अनेक ग्रन्थों का निर्माण कराना अपना कर्तव्य समझती थी। साहित्य-जगत में इसका महान् आदर था। भाषा में सौष्ठवता, सरसता, अर्थगौरवता और पदलालित्य की कमी नहीं है। पद्धड़िया, चौपई, दुवई, सग्गिणी, गाहा, घत्ता और त्रिभंगी आदि छन्दों में ग्रन्थों की रचना बड़ी ही प्रिय और मनोरंजक मालूम होती है और पढ़ते समय कवि के हृदयगत भावों का सजीव चित्र अंकित होता जाता है। भाषा की प्राञ्जलता उसे बार-बार पढ़ने के लिए प्रेरित एवं आकर्षित करती है। यह भाषा ही उत्तरकाल में अपने अधिकतम विकसित रूप को प्रकट करती हुई हिन्दी, मराठी और गुजराती आदि भाषाओं की जननी हुई है—स्वयंभू और पुष्पदन्तादि महाकवियों की कृतियों का रसास्वादन करने से इस भाषा की गम्भीरता सरसता, सरलता और अर्थ-प्रबोधकता का पद-पद पर अनुभव होता है।

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ का नाम 'जम्बूस्वामिचरित' है। इसमें जैनियों के अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के जीवन-चरित का अच्छा चित्रण किया गया है। यह ग्रन्थ उपलब्ध साहित्य में अपभ्रंश भाषा का सबसे प्राचीन चरित-ग्रन्थ है। अब तक इससे पुरातन कोई चरित-ग्रन्थ, जिसका स्वतन्त्र रूप में निर्माण हुआ हो, देखने में नहीं आया। हाँ, आचार्य गुणभद्र और महाकवि पुष्पदन्त के उत्तर पुराणों में जम्बूस्वामी के चरित पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय में भी जम्बूस्वामी के जीवन परिचायक ग्रन्थ लिखे गये हैं। जैन-ग्रन्थावलि से मालूम होता है कि उक्त सम्प्रदाय में 'जम्बूपयन्ना' नाम का एक ग्रन्थ है, जो डेकन कालेज, पूना के भंडार में अब भी विद्यमान है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने परिशिष्ट पर्व में जम्बूस्वामी के चरित का संक्षिप्त चित्रण किया है और पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान

जयशेखरसूरि ने ७२६ पद्यों में जम्बूस्वामी के चरित का निर्माण किया है। इनके सिवाय पद्मसुन्दर आदि विद्वानों ने भी जम्बूस्वामी के चरित पर प्रकाश डाला है। इनमें 'जम्बूपयन्ना' का काल अनिश्चित है और वह ग्रन्थ भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। इसके सिवाय शेष सव ग्रन्थ प्रस्तुत जम्बूस्वामीचरित से बाद की रचनाएँ हैं। उभय सम्प्रदाय के इन चरित ग्रन्थों में वर्णित कथा में परस्पर कुछ भेद ज़रूर पाया जाता है। उस पर यहाँ प्रकाश डालना उचित नहीं।

किसी ग्रन्थ की रचना किसी भी भाषा में क्यों न की गई हो, परन्तु उस भाषा का प्रौढ़ विद्वान कवि अपनी आन्तरिक विशुद्धता, क्षयोपशम की विशेषता और कवित्वशक्ति से उस ग्रंथ को इतना अधिक आकर्षक वना देता है कि पढ़ने वाले व्यक्ति के हृदय में उस ग्रन्थ और उसके निर्माता कवि के प्रति आदरभाव उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। ग्रन्थ को सरस और सालंकार वनाने में कवि की प्रतिभा और आन्तरिक चित्तशुद्धि ही प्रवान कारण है।

"जिन कवियों का सम्पूर्ण शव्दसन्दोहरूप चन्द्रमा मतिरूप स्फटिक में प्रतिविम्वित होता है उन कवियों से भी ऊपर किसी ही कवि की वुद्धि क्या अदृष्ट अपूर्व अर्थ में स्फुरित नहीं होती है? ज़रूर होती है।"[1]

ग्रन्थकार ने अपने उक्त भाव की पुष्टि में निम्न पद्य दिया है—

स कोप्यंतर्वेद्यो वचनपरिपाटीं गमयतः, कवेः कस्याप्यर्थः स्फुरति हृदि वाचामविषयः।
सरस्वत्यप्यर्थान्निगदनविधौ यस्य विषमामनात्मीयां चेष्टामनुभवति कष्टं च मनुते॥

अर्थात्—काव्य के विषम अर्थ को कहने में सरस्वती भी अनात्मीय चेष्टा का अनुभव करती है और कष्ट मानती है। किन्तु वचन की परिपाटी को जनाने वाले अन्तर्वेदी किसी कवि के हृदय में ही किसी-किसी पद्य या वाक्य का वह अर्थ स्फुरायमान होता है, जो वचन का विषय नहीं है। लेकिन जिनको भारती (वाणी) लोक में रसभाव का उद्भावन तो करती है परन्तु महान् प्रवन्ध के निर्माण में स्पष्ट रूप से विस्तृत नहीं होती, ग्रन्थकार की दृष्टि में, वे कवीन्द्र ही नहीं हैं।[2]

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा वहुत ही प्राञ्जल, सुबोध, सरस और गम्भीर अर्थ की प्रतिपादक है और इसमें पुष्पदन्तादि महाकवियों के काव्य-ग्रन्थों की भाषा के समान ही प्रौढ़ता और अर्थगौरव की छटा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है।

जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हैं, इसे दिगम्वर-श्वेताम्वर दोनों ही सम्प्रदाय वाले निर्विवाद रूप से मानते हैं और भगवान महावीर के निर्वाण से जम्बूस्वामी के निर्वाण तक की परम्परा भी उभय सम्प्रदायों में प्रायः एक-सी है, किन्तु उसके वाद दोनों में मतभेद पाया जाता है।[3] जम्बूस्वामी अपने समय के प्रसिद्ध ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। वे काम के असाधारण विजेता थे। उनके लोकोत्तर जीवन की पावन झाँकी ही चरित्र-निष्ठा का एक महान्

---

[1] जाणं समग्गसंदोह व्भेंदुउ रमइ मइफडक्कंमि।
ताणं पि हु उवरिल्ला कस्स व वुद्धी न परिप्फुरई॥५॥
—जंवूस्वामीचरित संधि १

[2] मा होंतु ते कइंदा गरुयपवंधे विजाण निव्वूढा।
रसभावमुग्गिरंती वित्थरइ न भारई भुवणे॥२॥
—जंवूस्वा० सं० १

[3] दिगम्वर परंपरा में जंवूस्वामी के पश्चात् विष्णु, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रवाहु ये पाँच श्रुतकेवली माने जाते हैं, किन्तु श्वेताम्वरीय परंपरा में प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, आर्यसंभूतिविजय, और भद्रवाहु इन पाँच श्रुतकेवलियों का नामोल्लेख पाया जाता है। इनमें भद्रवाहु को छोड़कर चार नाम एक दूसरे से विल्कुल भिन्न हैं।

आदर्श रूप जगत् को प्रदान करती है। इनके पवित्रतम उपदेश को पाकर ही विद्युच्चर जैसा महान् चोर भी अपने चौरकर्मादि दुष्कर्मों का परित्याग कर अपने पांच सौ योद्धाओं के साथ महान् तपस्वियों में अग्रणीय तपस्वी हो जाता है और व्यंतरादिकृत महान् उपसर्गों को ससंघ साम्यभाव से सह कर सहिष्णुता का एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

उस समय मगध देश का शासक राजा श्रेणिक था, जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। उसकी राजधानी 'रायगिह' (राजगृह) कहलाती थी, जिसे वर्तमान में लोग राजगिर के नाम से पुकारते हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने मगध देश और राजगृह का वर्णन करते हुए और वहां के राजा श्रेणिक का परिचय देते हुए उसके प्रतापादि का जो संक्षिप्त वर्णन किया है, उसके तीन पद्य यहां दिये जाते हैं—

"चंडभुअदंडखंडियपयंडमंडलियमंडली वि सड्ढें।
धाराखंडणभीयव्व जयसिरी वसइ जस्स खग्गंके ॥१॥
रे रे पलाह कायर मुहइं पेक्खइ न संगरे सामी।
इय जस्स पयावद्योत्तणाए विहडंति वइरिणो दूरे ॥२॥
जस्स रक्खिय गोमंडलस्स पुरुसुत्तमस्स पढाए।
के के सवा न जाया समरे गयपहरणा रिउणो ॥३॥"

अर्थात्—"जिसके प्रचंड भुजदंड के द्वारा प्रचंड मांडलिक राजाओं का समूह खंडित हो गया है, (जिसने अपनी भुजाओं के बल से मांडलिक राजाओं को जीत लिया है) और धारा-खंडन के भय से ही मानों जयश्री जिसके खङ्गाङ्क में बसती है।

"राजा श्रेणिक संग्राम में युद्ध से संत्रस्त कायर पुरुषों का मुख नहीं देखते, 'रे, रे कायर पुरुषो! भाग जाओ' —इस प्रकार जिसके प्रताप वर्णन से ही शत्रु दूर भाग जाते हैं। गोमंडल (गायों का समूह) जिस तरह पुरुषोत्तम विष्णु के द्वारा रक्षित रहता है, उसी तरह यह पृथ्वीमंडल भी पुरुषों में उत्तम राजा श्रेणिक के द्वारा रक्षित रहता है। राजा श्रेणिक के समक्ष युद्ध में ऐसे कौन शत्रु-सुभट हैं, जो मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए, अथवा जिन्होंने केशव (विष्णु) के आगे आयुधरहित होकर आत्म-समर्पण नहीं किया।"

इस तरह ग्रन्थ का कथाभाग बहुत ही सुन्दर, सरस और मनोरंजक है और कवि ने काव्योचित सभी गुणों का ध्यान रखते हुए उसे पठनीय बनाने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक

इस ग्रन्थ की रचना में जिनकी प्रेरणा को पाकर कवि प्रवृत्त हुआ है, उसका परिचय ग्रन्थकार ने निम्नरूप से दिया है—

मालवा में धक्कडवंश[1] के तिलक महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी रहते थे। यह ग्रन्थकार के पिता महाकवि देवदत्त के परम मित्र थे। इन्होंने ही वीर कवि से जम्बूस्वामीचरित के संकलन करने की प्रेरणा की थी और तक्खडु

[1] यह वंश ग्यारहवीं बारहवीं, और तेरहवीं शताब्दियों में खूब प्रसिद्ध रहा। इस वंश में दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की मान्यता वाले थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के कई विद्वान् इसी वंश में हुए हैं, जैसे भविसयत्तकहा के कर्ता कवि धनपाल और धर्मपरीक्षा के कर्ता हरिषेण। हरिषेण ने अपनी धर्मपरीक्षा वि०सं० १०४४ में बनाई थी। अतः यह धक्कड या धर्कट वंश इससे भी प्राचीन जान पड़ता है। देलवाड़ा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वा लेशिलालेख में धर्कट या धक्कड़ जाति का उल्लेख है—लेखक।

श्रेष्ठी के कनिष्ट भ्राता भरत ने उसे अधिक संक्षिप्त और अधिक विस्तृत रूप से न कह कर सामान्य कथावस्तु को ही कहने का आग्रह किया था और तक्खडु श्रेष्ठी ने भरत के कथन का समर्थन किया और इस तरह ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ बनाने का उद्यम किया।

ग्रंथकार

इस ग्रन्थ के कर्त्ता महाकवि वीर हैं, जो विनयशील विद्वान और कवि थे। इनकी चार स्त्रियाँ थीं। जिनवती, पोमावती, लीलावती और जयादेवी और नेमिचन्द्र नाम का एक पुत्र भी था।[1] महाकवि वीर विद्वान और कवि होने के साथ-साथ गुणग्राही न्याय-प्रिय और समुदार व्यक्ति थे। उनकी गुण-ग्राहकता का स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थ की चतुर्थ सन्धि के प्रारम्भ में पाये जानेवाले निम्न पद्य से होता है—

अगुणा ण मुणंति गुणं गुणिणो न सहंति परगुणे दट्ठुं।
वल्लहगुणा वि गुणिणो विरला कइ वीर-सारिच्छा॥

अर्थात्—"अगुण अथवा निर्गुण पुरुष गुणों को नहीं जानता और गुणीजन दूसरे के गुणों को भी नहीं देखते, उन्हें सहन भी नहीं कर सकते, परन्तु वीर कवि के सदृश कवि विरले हैं, जो दूसरों के गुणों को समादर की दृष्टि से देखते हैं।"

कवि का वंश और माता-पिता

कवि वीर के पिता गुडखेड देश के निवासी थे और इनका वंश अथवा गोत्र 'लाड वागड़' था। यह वंश काष्ठा संघ की एक शाखा है[2]। इस वंश में अनेक दिगम्बराचार्य और भट्टारक हुए हैं, जैसे जयसेन, गुणाकरसेन और महासेन[3] तथा सं० ११४५ के दूवकुण्ड वाले शिलालेख में उल्लिखित देवसेन आदि। इससे इस वंश की प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। इनके पिता का नाम देवदत्त था। यह 'महाकवि' विशेषण से भूषित थे और सम्यक्त्वादि गुण से अलंकृत। इनकी दो रचनाओं का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। एक 'वरांगचरित', जिसका इन्होंने पद्धडिया छन्द में उद्धार किया था। दूसरी 'अम्बादेवीरास', जो इनकी स्वतन्त्र कृति मालूम होती है। ये दोनों कृतियाँ अभी तक अप्राप्य हैं। सम्भव है, किसी भंडार में हों और वे प्रयत्न करने पर मिल जायँ। इनकी माता का नाम 'सन्तु' अथवा 'सन्तुव' था, जो शीलगुण से अलंकृत थीं। इनके तीन लघु सहोदर और थे, जो बड़े ही बुद्धिमान् थे और जिनके नाम 'सीहल्ल', 'लक्खणंक' और 'जसई' थे, जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है—

---

[1] जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुणो वीया।
लीलावइति तईया पच्छिम भज्जा जयादेवी॥८॥
पढम कलत्तं गरुहो संताण कमत्त विडवि पारोहो।
विणयगुणमणिणिहाणो तणओ तह णेमिचंदो त्ति॥
—जंबूस्वामिचरितप्रशस्ति।

[2] काष्ठा संघो भुविख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ॥
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो वागडाभिधः।
लाडवाग इत्येते विख्याता क्षिति मण्डले॥
—पट्टावलि भ० सुरेन्द्रकीर्ति।

[3] देखो, महासेन प्रद्युम्नचरित प्रशस्ति, कारंजा प्रति।

जस्स कइ-देवयत्तो जणयो सच्चरियलद्धमाहप्पो ।
सुहसीलसुद्धवंसो जणणी सिरिसंतुआ भणिया ॥६॥
जस्स य पसण्णवयणा लहुणो सुमइ ससहोयरा तिण्णि ।
सीहल्ल लक्खणंका जसइ णामे त्ति विक्खाया ॥७॥

चूंकि कविवर वीर का बहुत सा समय राज्यकार्य, धर्म, अर्थ और काम की गोष्ठी में व्यतीत होता था, इसलिये इन्हें इस जम्बूस्वामीचरित नामक ग्रन्थ के निर्माण करने में पूरा एक वर्ष का समय लग गया था।[1] कवि 'वीर' केवल कवि ही नहीं थे, बल्कि भक्तिरस के भी प्रेमी थे। इन्होंने मेघवन[2] में पत्थर का एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था और उसी मेघवन पट्टण में वर्द्धमान जिन की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी की थी।[3] कवि ने प्रशस्ति में मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-प्रतिष्ठा के संवतादि का कोई उल्लेख नहीं किया। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि जम्बूस्वामि-चरित ग्रन्थ की रचना से पूर्व ही उक्त दोनों कार्य सम्पन्न हो चुके थे।

पूर्ववर्ती विद्वानों का उल्लेख

ग्रन्थ में कवि ने अपने से पूर्ववर्ती निम्न विद्वान कवियों का उल्लेख किया है: शान्ति कवि,[4] जो कवि होते हुए भी वादीन्द्र थे और जयकवि,[5] जिनका पूरा नाम जयदेव मालूम होता है, जिनकी वाणी अदृष्ट अपूर्व अर्थ में स्फुरित होती है।

यह जयकवि वही मालूम होते हैं, जिनका उल्लेख जयकीर्ति ने अपने छन्दानुशासन में किया है।[6]

इनके सिवाय स्वयंभूदेव, पुष्पदन्त और देवदत्त का भी उल्लेख किया है।[7]

---

[1] बहुरायकज्जधम्मत्थकामगोट्ठीविहत्तसमयस्स ।
वीरस्स चरियकरणे इक्को संवच्छरो लग्गो ॥५॥—जंबूस्वामिचरित प्र० ।

[2] प्रयत्न करने पर भी 'मेघवन' का कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं हो सका।

[3] सो जयउ कइ वीरो वीरजिणंदस्स कारियं जेण ।
पाहाणमयं भवणं पियरुद्देसेण मेहवणे ॥
इत्थेव दिणे मेहवण पट्टणे वड्ढमाणजिणपडिमा ।
तेणावि महाकइणा वीरेण पयट्ठिया पवरा ॥—जंबूस्वामिचरित प्र० ।

[4] सतिकई वाई विहू वण्णुक्करिसेषु फुरियविण्णाणो ।
रससिद्धिसंचियत्थो विरलो वाई कई एक्को ॥३॥

[5] विजयंतु जए कइणो जाणं वाणं अइट्ठपुव्वत्थे ।
उज्जोइय धरणियलो साहइ वट्टिव्व णिव्वडइ ॥४॥
—जंबूस्वामीचरित प्रश० ।

[6] माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सेतवाख्य,
श्रीपूज्यपाद-जयदेव-बुधादिकानाम् ।
छंदांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्
छंदोनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम् ॥—जैसलमेर भण्डारग्रन्थसूची ।

[7] संते सयंभूएए वे एक्को कइ त्ति विन्नि पुणु भणिया ।
जायम्मि पुप्फयंते तिण्णि तहा देवयत्तम्मि ॥
—देखो जंबूचरित, संधि ५ का आदिभाग ।

ग्रन्थ का रचनाकाल

भगवान महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम काल की उत्पत्ति होती है और विक्रम काल के १०७६ वर्ष व्यतीत होने पर माघ शुक्ला दसमी के दिन इस जम्बूस्वामीचरित्र का आचार्य-परम्परा से सुने हुए बहुलार्थक प्रशस्त पदों में संकलित कर उद्धार किया गया, जैसा कि ग्रन्थ प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है—

वरिसाण सयचउक्के सत्तरिजुत्ते जिणेंद वीरस्स।
णिव्वाणा उववण्णा विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥१॥
विक्कमणिवकालाओ छाहत्तरदससएसु वरिसाणं।
माहम्मि सुद्धपक्खे दसमीदिवसम्मि संतम्मि ॥२॥
सुणियं आयरियपरंपराए वीरेण वीरणिद्दिट्ठं।
बहुलत्थ पसत्थपयं पवरमिणं चरियमुद्धरियं ॥३॥

इस प्रकार यह ग्रन्थ जीवन-परिचय के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियों के उल्लेखों और उनके सामान्य परिचयों से परिपूर्ण है। इससे भगवान महावीर और उनके समकालीन व्यक्तियों का परिचय उपलब्ध होता है, जो इतिहासज्ञों और अन्वेषण-कर्ताओं के लिए बड़ा ही उपयोगी होगा।

× × ×

यह ग्रन्थ-प्रति भट्टारक महेन्द्र कीर्ति अम्बेर या आमेर के शास्त्रभंडार की है, जो पहले किसी समय जयपुर राज्य की राजधानी थी। इस प्रति की लेखक-प्रशस्ति के तीन ही पद्य समुपलब्ध हैं; क्योंकि ७६वें पत्र से आगे का ७७वाँ पत्र उपलब्ध नहीं है। उन पद्यों में से प्रथम व द्वितीय पद्य में प्रति-लिपि के स्थान का नाम-निर्देश करते हुए 'झुंझना' के उत्तुंग जिन-मन्दिरों का भी उल्लेख किया है और तृतीय पद्य में उसका लिपि-समय विक्रम संवत् १५१६ मगशिर शुक्ला त्रयोदशी बतलाया है, जिससे यह प्रति पाँच सौ वर्ष के लगभग पुरानी जान पड़ती है।[1]

सरसावा]



[1] मन्ये वयं पुण्यपुरी बभाति, सा झुंझणेति प्रकटीबभूव।
प्रोत्तुंगतन्मंडनचैत्यगेहाः सोपानवद्दृश्यति नाकलोके ॥१॥
पुरस्सरारामजलप्रप्र, कूपा हर्म्याणि तत्रास्ति रतीव रम्याः(?)।
दृश्यन्ति लोका घनपुण्यभाजो ददाति दानस्य विशालशाला ॥२॥
श्रीविक्रमार्केन गते शताब्दे, षडेकपंचैकसुमार्गशीर्षे।
त्रयोदशीया तिथिसर्वशुद्धाः श्रीजंबूस्वामीति च पुस्तकोऽयं ॥३॥

षट्खंडागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी प्रकरण

[क्या इनका एक ही उद्गम है ?]

पं० हीरालाल जैन

जिस प्रकार षट्खंडागम दिगम्बर सम्प्रदाय का आद्य परम मान्य सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है, उसी प्रकार कम्मपयडी, सतक और सित्तरी प्रकरण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रामाणिक एवं प्राचीन शास्त्र माने जाते हैं। सर्वसाधारण षट्खंडागम को दिगम्बर ग्रन्थ और कम्मपयडी, सतक और सित्तरी को श्वेताम्बर ग्रन्थ समझते हैं, परन्तु जब उक्त चारों ग्रन्थों की उत्थानिकाओं को देखते हैं तो एक नये ही रहस्य का उद्घाटन होता है। इसलिए उक्त चारों ग्रन्थों की उत्थानिकाओं पर पाठकों को दृष्टिपात करना आवश्यक है।

षट्खंडागम की प्रसिद्ध धवला टीका में उसकी उत्पत्ति का जो उद्गम बतलाया गया है वह इस प्रकार है—

एत्थ किमायारादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो आयारादो, एवं वारणा सव्वेसिं। दिट्ठिवादादो। (षट्खं० भाग १, पृ० १०८) तस्स पंच अत्थाहिमारा हवंति, परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगय चूलिया चेदि। (षट्खं० भा० १, पृ० १०९) एत्थ किं परियम्मादो, किं सुत्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो परियम्मादो, णो सुत्तादो, एवं वारणा सव्वेसिं। पुव्वगयादो। (तस्स) अत्थाहियारो चोद्दसविहो। तं जहा—उत्पादपूर्व × × ×इत्यादि। (षट्खं० भा० १, पृ० ११४) एत्थ किमुप्पाय पुव्वादो, किमग्गेणियादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो उप्पायपुव्वादो, एवं वारणा सव्वेसिं। अग्गेणियादो। × × × (तस्स) अत्थाधियारो चोद्दसविहो। तं जहा-पुव्वंते, अवरंते, धुवे, अद्धुवे, चयणलद्धी × × ×इत्यादि। एत्थ किं पुव्वत्तादों, किं अवरत्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा। णो पुव्वत्तादो, णो अवरत्तादो, एवं वारणा सव्वेसिं कायव्वा। चयणलद्धीदो। (षट्खं० भा० १, पृ० १२३) × × × (तस्स) अत्थाधियारो वीसदिविधो। एत्थ किं पढमपाहुडादो, किं विदियपाहुडादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं णेयव्वा। णो पढमपाहुडादो, णो विदियापाहुडादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा। **चउत्थपाहुडादो** × × × **कम्मपयडिपाहुडादो**। (षट्खं० भा० १, पृ० १२४) × × ×तस्स अत्थाहियारो चउवीसदिविहो। तं जहा— **कदी, वेदणाए, फासे, कम्मे, पयडीसु, बंधणे, णिबंधणे, पक्कमे, उवक्कमे, उदये, मोक्खे, संकमे, लेस्सा, लेस्सायम्मे, लेस्सा परिणामे, सादमसादे, दीहे, रहस्से, भवधारणीये, पोग्गलत्ता, णिधत्तमणिधत्तं, णिकाचिदमणिकाचिदं, कम्मट्ठिदी, पच्छिमक्खंधेत्ति। अप्पाबहुगं च सव्वत्थ।** × × ×एत्थ किं कदीदो, किं वेयणादो, एवं पुच्छा सव्वत्थ कायव्वा। णो कदीदो, णो वेयणादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा। **बंधणादो**। × × ×तस्स अत्थाधियारो **चउव्विहो**। तं जहा—**बंधो, बंधगो, बंधणिज्जो, बंधविवाणं** चेदि। एत्थ किं बंधादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा। णो बंधादो णो बंधणिज्जादो। बंधगादो, बंधविवाणादो च। × × ×बंधविवाणं चउव्विहं। तं जहा—पयडिबंधो, ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि। तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो, उत्तरपयडिबंधो चेदि। × × ×इत्यादि (षट्खं० भा० १, पृ० १२५-१२६)

शतकप्रकरण की उत्थानिका में चूर्णिकार ने उसकी उत्पत्ति का जो क्रम बतलाया है, वह उपर्युक्त शब्दों में ही इस प्रकार है—

× × ×**दिट्ठिवायादो** कहेसि। किं परिकम्म-सुत्त-पढमाणुओग-पुव्वगय-चूलिगामइयातो सव्वाओ दिट्ठिवायाओ कहेसि ? न इत्युच्यते **पुव्वगयाओ**। किं उप्पायपुव्व अग्गेणिय जाव लोगबिंदुसाराओ त्ति एयाओ चोद्दसविहाओ सव्वाओ पुव्वगयाओ कहेसि ? न इत्युच्यते, **अग्गेणियातो** बीयाओ पुव्वातो। किं अट्ठवत्थुपरिणामाओ

अग्गेणियपुव्वातो सव्वातो कहेसि ? न इत्युच्यते, पुव्वंते, अवरंते, धुवे, अधुवे **चवणलद्धीणाम** पंचमं वत्थू, तातो पंचमातो वत्थूतो कहेमि। किं सव्वातो वीसइपाहुडपमाणमेत्तातो कहेसि, न इत्युच्यते, तस्स पंचमस्स वत्थुस्स **चउत्थं पाहुडं कम्मपगडी** नामवेज्जं, ततो कहेमि। तस्स चउवीसं अणुजोगदाराइं भवंति। तं जहा—

कइ[1] वेदणा[2] य फासे[3] कम्मे[4] पगडी[5] य वंधण[6] णिवंवे[7], ।
पक्कम[8] उवक्क[9]मुदए[10] मोक्खे[11]पुण संकमे[12] लेस्सा[13] ॥१॥
लेसाकम्मे[14] लेस्सापरिणामे[15] तह य सायमस्साते[16] ।
दीहे हस्से[17] भवधारणीय[18] तह पोग्गला[19] अत्ता[20]॥२॥
णिहत्तमणिहत्तं[21] च णिक्काइयमणिक्काइय[22] कम्मट्ठिती[23] ।
पच्छिमखंधे[24] अप्पावहुगं च सव्वत्यओ ॥३॥ त्ति।

किं सव्वतो चउवीसाणुओगदारमइयातो कहेसि ? न इत्युच्यते, तस्स छट्ठमणुओगदारं वंधणं ति ततो कहेमि। तस्स **चत्तारि भेदा**। तं जहा—**वंधो, वंधगो, वंधणीयं वंधविहाणं** ति। किं सव्वातो चउव्विहाणओगदारातो कहेसि ? न इत्युच्यते, वंधविहाणं ति चउत्थमणुओगदारं, ततो कहेमि। तस्स चत्तारि विभागा। तं जहा—पगइवंवो ठिइवंधो, अणुभागवंधो पदेसवंधो त्ति मूलुत्तरपगइभेयभिन्नो। ××× (शतकप्रकरणपत्र २)

अव जरा **सित्तरी प्रकरण** की उत्थानिका देखिए—

'निस्सदं दिट्ठिवायस्स' त्ति परिकम्म १ सुत्त २ पढमाणुओग, ३ पुव्वगय ४ चूलियामय ५ पंचविहमूलभेयस्स **दिट्ठिवायस्स,** तत्थ चोद्सण्हं पुव्वाणं वीयाओ **अग्गेणियपुव्वाओ,** तस्स वि पंचमवत्थूउ, तस्स वि वीसपाहुडपरिमाणस्स **कम्मपगडिणामधेज्जं चउत्थं पाहुडं** तओ नीणियं चउवीसाणुओगदारमइयमहण्णवस्सेव एगो विंदू, तओ वि इमे तिण्णि अत्याहिगारा नीणिया, तम्हा 'नीसंदो दिट्ठिवायस्स' त्ति भण्णइ। (सित्तरीचुण्णि पत्र २)

कम्मपयडीग्रन्थ तो उक्त विच्छिन्न हुए **महाकम्मपयडिपाहुडका** संक्षिप्त एवं संगृहीत अंश है, यह बात उसकी उत्थानिका में चूर्णिकार स्पष्टरूप से लिख रहे हैं—

×××दुस्समावलेण खीयमाणमेहाउ सद्धासंवेगउज्जमारंभं अज्जकालियं साहुजणं अणुग्घेत्तुकामेण **विच्छिन्नकम्मपयडिमहागंथत्थसंवोहणत्थं** आरद्धं आइरिएण तग्गुणणामगं **कम्मपयडीसंगहणी** णाम पगरणं।

(कम्मपयडीचूर्णि पत्र १)

इस प्रकार उक्त अवतरणों से यह भलीभाँति सिद्ध है कि षट्खंडागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी प्रकरण, इन चारों का मूल स्रोत या उद्गमस्थान एक महाकम्मपयडिपाहुड ही है।

प्रसन्नता के साथ आश्चर्य की वात तो यह है कि इनमें से षट्खंडागम अपनी विशाल धवला टीका के साथ मूड़विद्री के एकमात्र दिगम्वर जैन सरस्वती भंडार में सुरक्षित रहा और शेष के तीनों ग्रन्थ एकमात्र श्वेताम्वर सरस्वती भंडारों में सुरक्षित रहे। क्या यह वात दोनों सम्प्रदायों की समान विरासत या वपौती की परिचायक नहीं है ?

षट्खंडागम के कर्त्ता भगवान् पुष्पदन्त भूतवलि आचार्य हैं और वे विक्रम की दूसरी-तीसरी शताव्दी में हुए हैं। कम्मपयडी और सतक के कर्त्ता शिवशर्मसूरि हैं और विद्वानों ने इनका समय विक्रम की पाचवीं शताव्दी माना है। सित्तरी के कर्त्ता का अभी तक नाम अज्ञात है तथापि उसकी रचना का काल विक्रम की चौथी-छठी शताव्दी के मध्यवर्त्ती प्रतीत होता है।

कम्मपयडी और सतक के कर्त्ता शिवशर्मसूरि श्वेताम्वर सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं, तथापि श्वेताम्वर आगमसूत्रों से तथा चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत प्रसिद्ध पंचसंग्रह से कई एक सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों में विरोध मिलता है। यहाँ एक वात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह कि जहाँ पंचसंग्रह की कितनी ही मान्यताएँ श्वेताम्वर

आगमों से मिलती हैं वहाँ कम्मपयडी की तत्सम्बन्धी मान्यताएँ दिगम्बर आगमों से मिलती हैं। उदाहरण के रूप में यहाँ दो-एक मान्यताओं का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

(१) कम्मपयडीकार ने तीर्थंकर और आहारकद्विक की जघन्य स्थिति अन्तः कोडाकोड़ी सागरोपम की बतलाई है, मगर श्वेताम्बर पंचसंग्रहकार तीर्थंकर प्रकृति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्तमात्र ही मानते हैं।

(२) आयुकर्म की आबाधा बतलाते हुए कम्मपयडीकार अनपवर्त्यायुष्कों की आबाधा छः मास कहते हैं मगर पंचसंग्रहकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग बतलाते हैं।

आश्चर्य नहीं जो कम्मपयडीकार और सित्तरीकार दोनों ही षट्खंडागमकार की ही आम्नाय के हों और उनकी कुछ विशेष मान्यताओं को श्वेताम्बर आगमों से प्रतिकूल देखकर ही चन्द्रर्षिमहत्तर ने कर्मप्रकृति, शतक, सप्ततिका नाम वाले नये प्रकरणों की रचना की हो।

कम्मपयडी की वर्तमान में तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें सबसे प्राचीन अज्ञात आचार्य-विरचित चूर्णि है, जो कि सभी विवादस्थ मन्तव्यों में मूलकार के समान दिगम्बर आगमों का अनुसरण करती है। इसी चूर्णि के आधार पर रची गई दूसरी संस्कृत टीका आचार्य मलयगिरि की और तीसरी उपाध्याय यशोविजय की है। ये दोनों ही स्पष्टतः श्वेताम्बर आचार्य हैं और सभी विवाद-ग्रस्त विषयों पर श्वेताम्बर आगमों का अनुसरण करते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि षट्खंडागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी इन चारों ग्रन्थों का एक ही उद्गमस्थान है और वह है द्वादशांग श्रुतज्ञान के बारहवें अंग दृष्टिवाद के द्वितीय अग्रायणी पूर्व का पंचम च्यवनवस्तु-गत चतुर्थ महाकम्मपयडिपाहुड। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि षट्खंडागम, कम्मपयडी आदि उक्त चारों ग्रन्थों के निर्माण काल तक जैनपरम्परा में दृष्टिवाद का पठन-पाठन प्रचलित था, भले ही वह उसके एक देश मात्र का ही क्यों न रह गया हो। दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि उक्त चारों ग्रन्थों की रचना श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध आचारांगादि आगमसूत्रों की संकलना के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि उनकी संकलना के समय यह घोषित किया गया है कि अब दृष्टिवाद नष्ट या विच्छिन्न हो चुका है। अब केवल एक बात विचारणीय रह जाती है कि **उक्त चारों ग्रंथों के रचयिता आचार्य भी क्या एक ही आचार्य-परम्परा के हैं ?**

उज्जैन]



जैन साहित्य

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

जैनधर्म के प्रवर्तक या संस्कर्ता महावीर स्वामी (निगण्ठ नातपुत्त) बुद्धदेव के पूर्ववर्ती थे, परन्तु जैन-साहित्य इस समय जिस रूप में मिलता है, उसके महावीर कालीन होने में बहुतों को सन्देह है। जैनों के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं : श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर ग्रन्थों से मालूम होता है कि महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया था उसे उनके दो प्रधान शिष्य, इन्द्रभूति और सुधर्मा ने, जो गणधर कहलाते थे, व्यवस्थित रूप से सङ्कलित किया और वह समुच्चय-सङ्कलन द्वादशाङ्गी कहलाया, अर्थात् उनकी समस्त वाणी वर्गीकरण करके बारह अङ्गों में विभक्त की गई।

यद्यपि अभी तक जैन-साहित्य के इतिहास की अच्छी तरह छान-बीन नहीं हो पाई है और इससे बौद्ध साहित्य के समान जैन-साहित्य का ठीक-ठीक प्रारम्भिक इतिहास नहीं बतलाया जा सकता, फिर भी श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों की परम्परागत अनुश्रुतियों के आधार से वह इस प्रकार मालूम होता है :

महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में मगध में एक द्वादशवर्षव्यापी बड़ा भारी अकाल पड़ा। उस समय मौर्य चन्द्रगुप्त राज्य कर रहा था। अकालताड़ित होकर आचार्य भद्रबाहु अपने बहुत से शिष्योंसहित कर्णाट देश में चले गये। जो लोग मगध में रह गये उनके नेता स्थूलभद्र हुए।

स्थूलभद्र को पूर्वोक्त द्वादशाङ्गी के लुप्त हो जाने का डर हुआ, इसलिए उन्होंने महावीर-निर्वाण के लगभग १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में श्रमण-संघ की एक सभा बुलाई। उन सब के सहयोग से सम्प्रदाय के मान्य तत्त्वों का ग्यारह अङ्गों में सङ्कलन किया गया। यह संग्रह 'पाटलिपुत्र-वाचना' कहलाता है। बारहवें अङ्ग दिट्ठिवाय (दृष्टि-वाद) १४ भागों में से, जो कि पुव्व या पूर्व कहलाते थे, अन्तिम चार पूर्व नष्ट हो चुके थे। अर्थात् उन्हें सभी शिष्य प्रायः भूल गये थे। फिर भी जो कुछ याद था, उसका संग्रह कर लिया गया। इस सभा में भद्रबाहु उपस्थित नहीं थे।

भद्रबाहु ने लौट कर देखा कि उनके वापस आये हुए दल के साथ इस दल का बड़ा भेद है। जो लोग मगध में रह गये थे वे वस्त्र पहनने लगे थे; परन्तु भद्रबाहु और उनके शिष्य कड़ाई के साथ महावीर के नियमों का पालन करते रहे। जान पड़ता है, यहीं से जैनों के दो सम्प्रदाय हो गये। भद्रबाहु और उनके शिष्य दिगम्बर और स्थूलभद्र और उनके शिष्य श्वेताम्बर कहलाये। इसका परिणाम यह हुआ कि दिगम्बरों ने पाटलिपुत्र की सभाद्वारा संग्रहीत अंगों और पूर्वों को अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि असली अंगपूर्व तो लुप्त हो चुके हैं।

कुछ समय और बीतने पर जान पड़ता है कि श्वेताम्बरों का पूर्वोक्त संकलन भी अव्यवस्थित या अस्तव्यस्त हो गया और तब महावीर-निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्य स्कन्दिल के आधिपत्य में मथुरा में फिर एक सभा की गई, और फिर जो कुछ बच रहा था वह सुव्यवस्थित किया गया। इस उद्धार को 'माथुरी-वाचना' कहते हैं। इसके बाद महावीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी के लगभग (सन् ई० की छठी शताब्दी) वल्लभी-नगरी (काठियावाड़) में एक और सभा की गई, जिसके अध्यक्ष देवर्धिगणि क्षमाश्रमण हुए जो उन दिनों सम्प्रदाय के गणधर या नेता थे। इस सभा में फिर से ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद तो इसके पहले ही लुप्त हो चुका था। इस समय जो ग्यारह अंग उपलब्ध हैं वे देवर्धिगणि के संकलन किये हुए माने जाते हैं।

इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट है कि अंगों का वर्तमान आकार छठी शताब्दी का है और इसलिए इनमें निश्चय ही महावीर स्वामी के बाद की बहुत-सी बातें घुल-मिल गई होंगी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें प्राचीन

अंश है ही नहीं। असल में संग्रह और संकलन चाहे जब क्यों न किया जाय उसमें प्राचीन ग्रंशों का यथासम्भव सुरक्षित रक्खा जाना ही अधिक संगत जान पड़ता है। और फिर वल्लभी की सभा ने पाटलिपुत्र और मथुरा वाली सभा के संकलन का ही संस्कार या जीर्णोद्धार किया था, कुछ नया संकलन नहीं किया था।

दिगम्बरों के मत से भगवान् महावीर की दिव्यवाणी को अवधारण करके उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने अंग-पूर्व ग्रन्थों की रचना की[1]। फिर उन्हें अपने सधर्मा सुधर्मा (लोहार्य) को और सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी को दिया। जम्बूस्वामी से अन्य मुनियों ने उनका अध्ययन किया। यह सब महावीर स्वामी के जीवन-काल में हुआ। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन्हें पूर्वोक्त अंग और पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान था। महावीर-निर्वाण के ६२ वर्ष बाद तक जम्बूस्वामी का और उनके १०० वर्ष बाद तक भद्रबाहु का समय है। अर्थात् दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार महावीर-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद तक अंग और पूर्वों का अस्तित्व रहा।

इसके बाद वे क्रमशः लुप्त होते गये और वीर-निर्वाण ६८३ तक एक तरह से सर्वथा लुप्त हो गये। अन्तिम अंगधारी लोहार्य (द्वितीय) बतलाये गये हैं, जिनको केवल एक आचारांग का ज्ञान था।

इसके बाद अंग और पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता और उस एकदेश के भी अंशों के ज्ञाता आचार्य हुए, जिनमें सौराष्ट्र के गिरिनगर के धरसेनाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। उन्हें अग्रायणीपूर्व के पंचमवस्तुगत महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने अपने अन्तिम काल में आन्ध्रदेश से भूतबलि और पुष्पदन्त नामक शिष्यों को बुला कर पढ़ाया और तब इन शिष्यों ने विक्रम की लगभग दूसरी शताब्दी में षट्खंडागम तथा कषायप्राभृत सिद्धान्तों की रचना की। ये सिद्धान्त-ग्रन्थ बड़ी विशाल टीकाओं के सहित अब तक सिर्फ़ कर्णाटक के मूडबिद्री नामक स्थान में सुरक्षित थे, अन्यत्र कहीं नहीं थे। कुछ ही समय हुआ इनमें से दो टीका-ग्रन्थ धवला और जय-धवला बाहर आये हैं और उनमें से एक वीरसेनाचार्यकृत धवला टीका का प्रकाशन आरम्भ हो गया है। इस टीका के निर्माण का समय शक संवत् ७३८ है।

ऐसा मालूम होता है कि श्वेताम्बर-मान्य अंग-ग्रन्थ एक काल के लिखे हुए नहीं हैं। सम्भवतः इनकी रचना महावीर-निर्वाण के अव्यवहित बाद से लेकर कुछ-न-कुछ देवर्द्धिगणि के काल तक होती रही होगी। इसका एक प्रमाण यह भी है कि आर्य सुधर्म, आर्य श्याम और भद्रबाहु आदि महावीर के परवर्ती अनेक आचार्य अंगों और उपांगों के रचयिता माने जाते हैं।

सम्पूर्ण जैनागम छः भागों में विभक्त है—(१) बारह अंग, (२) बारह उवंग या उपांग, (३) दस पइण्णा या प्रकीर्णक, (४) छः छेयसुत्त या छेदसूत्र, (५) दो सूत्र-ग्रन्थ, (६) चार मूल सुत्त या मूल सूत्र। ये सभी ग्रन्थ आर्ष या अर्ध-मागधी प्राकृत में लिखे हुए हैं। कुछ आचार्यों के मत से बारहवाँ अंग दृष्टिवाद संस्कृत में था। बाक़ी जैनसाहित्य महाराष्ट्री प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत में है।

अंग और उपांग—

पहला अंग आयारंगसुत्त या आचाराङ्ग सूत्र है, जो दो विस्तृत श्रुत-स्कंधों में जैन मुनियों के कर्तव्याकर्तव्य-आचार का निर्देश करता है। विद्वानों के मत से इसका प्रथम श्रुतस्कन्ध दूसरे से पुराना होना चाहिए। बौद्ध साहित्य में जिस प्रकार गद्य-पद्यमय रचनाएँ पाई जाती हैं, ठीक वैसी ही इसमें भी हैं। जैन और बौद्ध शास्त्रों में जो अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है, वह यह है कि जहाँ बौद्ध संघ के नियमों में बहुत-कुछ ढील दिखलाई पड़ती है, वहाँ जैन-संघ के नियमों और अनुशासनों में बड़ी कड़ाई की व्यवस्था है।

---

[1] तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्य तत्त्वेन।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्व-नाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे। ६६—श्रुतावतार

वारह अंग ये हैं : १ आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र), २ सूयगडंग (सूत्रकृतांग), ३ ठाणाङ्ग (स्थनानाङ्ग), ४ समवायंग (समवायांग), ५ भगवती वियाहपण्णति (भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६ नाया धम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा:), ७ उवासगदसाओ (उपासकदशा:), ८ अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा:), ९ अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा:), १० पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११ विवागसुयं (विपाकश्रुतं) और १२ दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)।

वारह उपांग ये हैं : १ उववाइय (औपपातिक), २ रायपसेणइज्ज (राजप्रश्नीय), ३ जीवाभिगम, ४ पन्नवणा (प्रज्ञापना), ५ सूरपण्णति (सूर्यप्रज्ञप्ति:), ६ जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति), ७ चन्द-पण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८ निरयावली (नरकावलिका), ९ कप्पावडंसिआओं (कल्पावतंसिका:), १० पुप्फचूलिआओ (पुप्पचूलिका:), ११वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा:)।

दस पइण्णा (प्रकीर्णक) ये हैं : १ वीरभद्रलिखित चउसरण (चतु:शरण), २ आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३ भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा), ४ संथार (संस्तार), ५ तंडुल-वेयालिय (तन्दुलवैचारिक) ६ चन्दाविज्झय (चन्द्रवेधक), ७ देविन्दत्थअ (देवेन्द्रस्तव), ८ गणिविज्जा (गणिविद्या), ९ महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), १० वीरत्थअ (वीरस्तव)।

छः छेदसूत्र ये हैं : १ निसीह (निशीथ), २ महानिसीह (महानिशीथ), ३ ववहार (व्यवहार), ४ आचारदसाओ (आचारदशा:); ५ कप्प (वृहत्कल्प), ६ पंचकप्प (पंचकल्प)। पंचकल्प के वदले कोई-कोई जिनभद्ररचित जीयकप्प या जीतकल्प को छठा सूत्र मानते हैं।

चार मूल सुत्त (मूलसूत्र) ये हैं : १ उत्तरज्झाय (उत्तराध्याया:) या उत्तरज्झयन (उत्तराध्ययन), २ आवस्सय (आवश्यक), ३ दसवेयालिय (दशवैकालिक), ४ पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)। तृतीय और चतुर्थ मूलसूत्रों के स्थान पर कभी-कभी ओहनिज्जुत्ति (ओघनिर्युक्ति) और पक्खी सुत्त (पाक्षिक सूत्र) का नाम लिया जाता है।

दो और ग्रंथ इस प्रकार हैं—१ नन्दीसुत्त (नन्दिसूत्र) और २ अणुयोगदार (अनुयोगद्वार)।

इस प्रकार इन ४५ ग्रन्थों को सिद्धान्त-ग्रन्थ माना जाता है, पर कहीं-कहीं इन ग्रन्थों के नामों में मतभेद भी पाया जाता है। मतभेद वाले ग्रन्थों को भी सिद्धान्त-ग्रन्थ मान लिया जाय तो उनकी संख्या सव मिला कर ५० के आसपास होती है। अंगों में साधारणत: जैन तत्त्ववाद, विरुद्धमत का खंडन और जैन ऐतिहासिक कहानियाँ विवृत हैं। अनेकों में आचार-व्रत आदि का वर्णन है। उपांगों में से कई (नम्वर ५, ६, ७) वहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें ज्योतिष, भूगोल, खगोल आदि का वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति (दोनों प्राय: समान वर्णन वाले हैं) संसार के ज्योतिषिक साहित्य में अपना अद्वितीय सिद्धान्त उपस्थित करती हैं। इनके अनुसार आकाश में दिखने वाले ज्योतिष्क पिण्ड दो-दो हैं, अर्थात् दो सूर्य हैं, दो-दो नक्षत्र। वेदांग ज्योतिष की भाँति ये दोनों ग्रन्थ खीष्टपूर्व छठी शताव्दी के भारतीय ज्योतिष-विज्ञान के रेकर्ड हैं। सव मिला कर जैन सिद्धान्त-ग्रन्थों में वहुत ज्ञातव्य और महत्त्वपूर्ण सामग्री विखरी पड़ी है, पर वौद्धसाहित्य की भाँति इस साहित्य ने अव तक देश-विदेश के पंडितों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया है। कारण कुछ तो इनकी प्रतिपादन-शैली की शुष्कता है और कुछ उस वस्तु का अभाव, जिसे आधुनिक पंडित Human Interest कहते हैं।

श्वेताम्वर सम्प्रदाय में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्वूद्वीपपण्णति को उपांग माना है और दिगम्वरों ने दृष्टिवाद के पहले भेद परिकर्म में इनकी गणना की है। इसी तरह श्वेताम्वरों के अनुसार जो सामायिक, संस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण दूसरे मूलसूत्र आवश्यक के अंश विशेष हैं उन्हें दिगम्वरों ने अंग-वाह्य के चौदह भेदों में गिनाया है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामक ग्रन्थ भी अंगवाह्य वतलाये गये हैं। अंगों के अतिरिक्त जो भी साहित्य है वह सव अंगवाह्य है। अंगप्रविष्ट और अंगवाह्य भेद श्वेताम्वर सम्प्रदाय में भी माने गये हैं और उपांग एक तरह से अंगवाह्य ही हैं। दिगम्वर सम्प्रदाय में उपांग भेद का उल्लेख नहीं है।

परन्तु उक्त अंग और अंग बाह्य ग्रन्थों के दिगम्बर सम्प्रदाय में सिर्फ़ नाम ही नाम हैं। इन नामों का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनका कहना है कि वे सब नष्ट हो चुके हैं।

दिगम्बरों ने एक दूसरे ढंग से भी समस्त जैनसाहित्य का वर्गीकरण करके उसे चार भागों में विभक्त किया है: (१) प्रथमानुयोग जिसमें पुराण पुरुषों के चरित और कथाग्रन्थ हैं, जैसे पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण); (२) करणानुयोग: जिसमें भूगोल-खगोल का, चारों गतियों का और काल-विभाग का वर्णन है, जैसे त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्य-चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि। (३) द्रव्यानुयोग जिसमें जीव-अजीव आदि तत्त्वों का, पुण्य-पाप बन्ध-मोक्ष का वर्णन हो, जैसे कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगम आदि। (४) चरणानुयोग जिसमें मुनियों और श्रावकों के आचार का वर्णन हो, जैसे वट्टकेर का मूलाचार, आशाधर के सागार-अनगारधर्मामृत, समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि। इन चार अनुयोगों को वेद भी कहा गया है।

दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार बारह अंगों के नाम वही हैं, जो ऊपर लिखे गये हैं। बारहवें अंग दृष्टिवाद के पाँच भेद किये हैं—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। फिर पूर्वगत के चौदह भेद बतलाये हैं—१ उत्पादपूर्व, २ अग्रायणी, ३ वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान, १० विद्यानुप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणावाय, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। इन बारहों अंगों की रचना भगवान् के साक्षात शिष्य गणधरों द्वारा हुई बतलाई गई है। इनके अतिरिक्त जो साहित्य है वह अंगबाह्य नाम से अभिहित किया गया है। उसके चौदह भेद हैं, जिन्हें प्रकीर्णक कहते हैं: १ सामायिक, २ संस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ विनय, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक, १४ निशीथ। इन प्रकीर्णकों के रचयिता आरातीय मुनि बतलाये गये हैं जो अंग-पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता थे।

सिद्धान्तोत्तर साहित्य

देवर्धिगणि के सिद्धान्त-ग्रन्थ संकलन के पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रन्थ लिखने का प्रमाण पाया जाता है। सिद्धान्त-ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें निश्चित रूप से किसी आचार्य की कृति कहा जा सकता है। बाद में तो ऐसे ग्रन्थों की भरमार हो गई। साधारणतः ये ग्रन्थ जैन प्राकृत में लिखे जाते रहे, पर संस्कृत भाषा ने भी सन् ईसवी के बाद प्रवेश पाया। कई जैन आचार्यों ने संस्कृत भाषा पर भी अधिकार कर लिया, फिर भी प्राकृत और अपभ्रंश को त्यागा नहीं गया। संस्कृत को भी लोक-सुलभ बनाने की चेष्टा की गई। यह पहले ही बताया गया है कि भद्रबाहु महावीर स्वामी के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वर्तमान थे। कल्पसूत्र उन्हीं का लिखा हुआ कहा जाता है। दिगम्बर लोग एक और भद्रबाहु की चर्चा करते हैं, जो सन् ईसवी से १२ वर्ष पहले हुए थे। यह कहना कठिन है कि कल्पसूत्र किस भद्रबाहु की रचना है। कुन्दकुन्द ने प्राकृत में ही ग्रन्थ लिखे हैं। इनके सिवाय उमास्वामी या उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, विमलसूरि, पालित्त, आदि आचार्य सन् ईसवी के कुछ आगे-पीछे उत्पन्न हुए, जिनमें से कई दोनों सम्प्रदायों में समान भाव से आदृत हैं। पाँचवीं शताब्दी के बाद एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैयाकरण हुए, जिन्हें देवनन्दि (पूज्यपाद) कहते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी भारतीय दर्शन के इतिहास में अपनी उज्ज्वल आभा छोड़ गई। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट का जन्म इन्हीं शताब्दियों में हुआ, जिन्होंने बौद्धों और जैन आचार्यों (विशेषकर समन्तभद्र और अकलंक) पर कटु आक्रमण किया तथा बदले में जैन आचार्यों (विशेष रूप से प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द) द्वारा प्रत्याक्रमण पाया। इन्हीं शताब्दियों में सुप्रसिद्ध आचार्य शंकर स्वामी हुए, जिन्होंने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की। इस शताब्दी में सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए, जो ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होकर समस्त ब्राह्मण शास्त्रों के अध्ययन के बाद जैन हुए थे। इनके लिखे हुए ८८ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जिनमें बहुत-से छप चुके हैं।

बारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनों में समान भाव से क़लम चलाई। इन नाना विषयों में, नाना भाषाओं में और नाना मतों में अगाध पांडित्य प्राप्त करने के कारण इन्हें शिष्यमंडली 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करती थी। इस शताब्दी में और इसके बाद भी जैन-ग्रन्थों और टीकाओं की बाढ़-सी आ गई। इन दिनों की लिखी हुई सिद्धान्त-ग्रन्थों की अनेक टीकाएँ बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। असल में यह युग ही टीकाओं का था। भारतीय मनीषा सर्वत्र टीका में व्यस्त थी।

विमलसूरि का पउमचरिय (पद्मचरित) नामक प्राकृत काव्य, जो शायद सन् ईसवी के आरम्भकाल में लिखा गया था, काफ़ी मनोरंजक है। इसमें राम की कथा है, जो हिन्दुओं की रामायण से बहुत भिन्न है। ग्रन्थ में वाल्मीकि को मिथ्यावादी कहा गया है। इस पर से यह अनुमान करना असंगत नहीं कि कवि ने वाल्मीकि रामायण को देखा था। दशरथ की तीन रानियों में कौशल्या के स्थान पर अपराजिता नाम है, जो पद्म या राम की माता थीं। दशरथ के बड़े भाई थे अनन्तरथ। ये जैन साधु हो गये थे, इसीलिये दशरथ को राज्य लेना पड़ा। जनक ने अपनी कन्या सीता को राम से व्याहने का इसलिए विचार किया था कि राम (पद्म) ने म्लेच्छों के विरुद्ध जनक की सहायता की थी। परन्तु विद्याधर लोग झगड़ पड़े कि सीता पहले से उनके राजकुमार चन्द्रगति की वाग्दत्ता थी। इसी झगड़े को मिटाने के लिए धनुषवाली स्वयंवर सभा हुई थी। अन्त में दशरथ जैन भिक्षु हो गये। भरत की भी यही इच्छा थी, पर राम और कैकेयी के आग्रह से वे तब तक के लिए राज्य सँभालने को प्रस्तुत हो गये जब तक पद्म (राम) न लौट आवें। आगे की कथा प्रायः सब वही है। अन्त में राम को निर्वाण प्राप्त होता है। यहाँ राम सम्पूर्ण जैन वातावरण में पले हैं।

सन् ६७५ में रविषेण ने संस्कृत में जो पद्मचरित लिखा वह विमल के प्राकृत पउमचरिय का प्रायः संस्कृत रूपान्तर या अनुवाद है। गुणभद्र भदन्त के उत्तरपुराण के ६८वें पर्व में और हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित के ७वें पर्व में भी यह कथा है। हेमचन्द्र की कृति को जैन-रामायण भी कहते हैं। रामायण की भाँति महाभारत की कथा भी जैन ग्रन्थों में बार-बार आई है। सबसे पुराना संघदास गणिका वसुदेवहिण्डि नामक विशाल ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और संस्कृत में शायद पुन्नाट-संघ के आचार्य जिनसेन का ६६ सर्गी हरिवंशपुराण है। सकलकीर्ति आदि और भी अनेक विद्वानों ने हरिवंशपुराण लिखे हैं। इसी तरह १२०० ई० में मलधारि देवप्रभसूरि ने पाण्डव-चरित नामक एक काव्य लिखा था, जो महाभारत का संक्षिप्त रूप है। १६वीं शताब्दी में शुभचन्द्र ने एक पाण्डव-पुराण, जिसे जैन महाभारत भी कहते हैं, लिखा था। अपभ्रंश भाषा में तो महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्म-पुराण स्वयंभू पुष्पदन्त आदि अनेक कवियों ने लिखे हैं।

जैनपुराणों के मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ महापुरुषों के चरित्र हैं। इनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव हैं। इन चरित्रों के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों को दिगम्बर लोग साधारणतः 'पुराण' कहते हैं और श्वेताम्बर लोग 'चरित'। पुराणों में सबसे पुराना त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (संक्षेप में महापुराण) है, जिसके आदिपुराण और उत्तरपुराण, ऐसे दो भाग हैं। आदिपुराण के अन्तिम पाँच अध्यायों को छोड़ कर बाक़ी के लेखक जिनसेन (पंचस्तूपान्वयी) हैं तथा अन्तिम पाँच अध्याय और समूचा उत्तरपुराण उनके शिष्य गुणभद्र का लिखा हुआ। पुराणों की कथाएँ बहुधा राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) के प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कहलाई गई हैं। महापुराण का रचनाकाल शायद सन् ईसवी की नवीं शताब्दी है। इन पुराणों से मिलते हुए श्वेताम्बर चरितों में सब से प्रसिद्ध है हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, जिसे आचार्य ने स्वयं महाकाव्य कहा है। इस ग्रंथ की बहुत-सी कहानियाँ यूरोपियनों के मत से विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं। वीरनन्दिका चन्द्रप्रभचरित, वादिराज का पार्श्वनाथचरित, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, धनंजय का द्विसन्धान, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, अभयदेव का जयन्त-विजय, मुनिचन्द्र का शान्तिनाथचरित, आदि उच्च कोटि के महाकाव्य हैं। ऐसे भी चरित हैं, जो ६३ पुराणपुरुषों के अतिरिक्त अन्य प्रद्युम्न, नागकुमार, वरांग, यशोधर, जीवधर, जम्बूस्वामी, जिनदत्त, श्रीपाल आदि महात्माओं

के हैं और इनकी संख्या काफ़ी अधिक है। पार्श्वनाथ के चरित को अवलम्बन करके लिखे गये काव्यों की भी संख्या कम नहीं है। वादिराज, असग, वादिचन्द्र, सकलकीर्ति, माणिक्यचन्द्र, भावदेव और उदयवीरगणि आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर कवियों ने इस विषय पर खूब लेखनी चलाई है।

जैनों के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग प्रबन्ध हैं, जिन्हें ऐतिहासिक विवृतियां कह सकते हैं। चन्द्रप्रभसूरि का प्रभावकचरित, मेरुतुङ्ग का प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०६ ई०), राजशेखर का प्रबन्ध कोष (१३०८ ई०), जिनप्रभसूरि का तीर्थकल्प (१३२६-३१ ई०) आदि रचनाएँ नाना दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन प्रबन्धों ने इस बात को असिद्ध कर दिया है कि भारतीयों में ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव था। इसी प्रकार जैन मुनियों की लिखी कहानियों की पुस्तकें भी काफ़ी मनोरंजक हैं। पालित्त (पादलिप्त) सूरि की तरङ्गवती कथा काफ़ी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्र का प्राकृत गद्यकाव्य समराइच्च-कहा एक धार्मिक कथा-ग्रन्थ है। इसी तरह की 'कुवलयमाला' कथा भी है, जिसके रचयिता दाक्षिण्य-चिह्न उद्योतन सूरि हैं (आठवीं शताब्दी)। इसी के अनुकरण पर सिद्धर्षि ने संस्कृत में उपमितिभव-प्रपञ्चकथा लिखी थी (९०६ ई०)। धनपाल का अपभ्रंश काव्य 'भविसयत्त-कहा' काफ़ी प्रसिद्ध है। ऐसी और भी अनेक कथाएँ लिखी गई हैं। यद्यपि ये धर्म-कथाएँ कही जाती हैं, पर अधिकांश में काल्पनिक कहानियाँ हैं। चम्पू जाति के काव्य भी जैन साहित्य में बहुत अधिक हैं। सोमदेव का यशस्तिलक (९५९ ई०) काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका है। हरिचन्द्र का जीवन्धरचम्पू, अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू (१३वीं सदी) आदि इसी जाति की रचनाएँ हैं। धनपाल की तिलक-मंजरी (९७० ई०), ओडयदेव (वादीभसिंह) की गद्यचिन्तामणि कादम्बरी के ढङ्ग के गद्य-काव्य हैं (११वीं सदी)। इनके अतिरिक्त कहानियों की और भी दर्जनों पुस्तकें हैं, जिनका मूल उद्देश्य जैनधर्म की महिमा वर्णन करना है। कथाओं के कई संग्रह भी हैं, जो कथाकोश कहलाते हैं। इनमें पुन्नाटसंघ के आचार्य हरिषेण का कथाकोश सब से पुराना है (ई० सं० ९३२)। प्रभाचन्द्र, नेमिदत्तब्रह्मचारी, रामचन्द्र मुमुक्षु आदि के कथाकोश अपेक्षाकृत नवीन हैं।

श्रीचन्द्र का एक कथाकोष अपभ्रंश भाषा में भी है। ऐसे ही जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर, हेमहंस आदि के कथा-ग्रन्थ हैं। यह साहित्य इतना विशाल है कि इस क्षुद्रकाय परिचय में सबका नाम देना भी मुश्किल है। नाना दृष्टियों से, विशेषकर जन साधारण के जीवन के सम्बन्ध में, जानने के लिए इन ग्रन्थों का बहुत महत्त्व है।

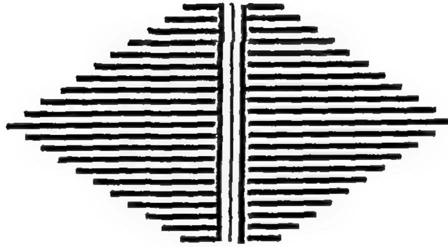
जैन आचार्यों ने नाटक भी लिखे हैं जिनमें से अधिकांश असाम्प्रदायिक हैं। हेचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्र सूरि के कई नाटक हैं। नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय, निर्भय-भीम-व्यायोग आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, इन्होंने १०० प्रकरण-ग्रन्थ लिखे थे। विजयपाल के द्रौपदीस्वयंवर, हस्तिमल्ल के विक्रान्त-कौरव और सुभद्राहरण में भी महाभारतीय कथाओं को नाटक का रूप दिया गया है। हस्तिमल्ल ने रामायण की कथा का आश्रय लेकर मैथिली कल्याण और अंजनापवनंजय नामक दो और नाटक लिखे हैं। यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र एक साम्प्रदायिक नाटक है, जिसमें कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर पंडित का श्वेताम्बर पंडित से पराजित होना वर्णन किया गया है (११२४ ई०)। वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय श्रीकृष्ण मिश्र के सुप्रसिद्ध 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक के ढंग का एक तरह से उसके उत्तर रूप में लिखा हुआ नाटक है। जयसिंह का हम्मीर-मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक है। सन् १२०३ ई० के आसपास यशःपाल ने मोहराज-पराजय नामक रूपक लिखा था। मेघप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय काफ़ी मशहूर है।

काव्य नाटकों के सिवा जैन कवियों ने हिन्दू और बौद्ध आचार्यों की भाँति एक बहुत बड़े स्तोत्र साहित्य की भी रचना की है। नीति-ग्रन्थों की भी जैन साहित्य में कमी नहीं है। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष की प्रश्नोत्तर रत्नमाला को ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी अपनी सम्पत्ति मानते हैं। इसके सिवा प्राकृत और संस्कृत में जैन पंडितों के लिखे हुए विविध नीतिग्रन्थ बहुत अधिक हैं। दिगम्बर आचार्य अमितगति के सुभाषितरत्नसन्दोह, योगसार और धर्मपरीक्षा (१०९३ ई०) महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में सभी जैन-प्रिय विषय हैं : वैराग्य, स्त्री-निन्दा, ब्राह्मण-निन्दा, त्याग

इत्यादि। हेमचन्द्र का योगशास्त्र और शुभचन्द्रका ज्ञानार्णव बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ हैं। और भी अनेक नीतिग्रन्थ हैं, जिनमें सोमप्रभ के कुमारपालप्रतिबोध, सूक्तिमुक्तावली और शृंगारवैराग्यतरंगिणी, चारित्रसुन्दर का शीलदूत (१४२० ई०), समयसुन्दर की गाथासहस्री (१६३० ई०) प्रसिद्ध हैं।

लेकिन जैन आचार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है उनकी दार्शनिक सैद्धान्तिक उक्तियां। यह जानी हुई बात है कि इन पंडितों ने न्यायशास्त्र को पूर्णता तक पहुँचाया है। कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनन्दि, अकलंक, प्रभाचन्द्र, वादिराज, सोमदेव, आशाधर आदि दिगम्बर आचार्यों ने भारतीय चिन्ता-धारा को बहुत अधिक समृद्ध किया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों में हरिभद्र, मल्लवादी, वादि-देवसूरि, मल्लिषेण, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि ने जैनदर्शन पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, जो निश्चित रूप से भारतीय पाण्डित्य की भूषण हैं। इन दार्शनिक ग्रन्थों के सिवाय जैन सम्प्रदाय के बाहर नाना क्षेत्रों में, जैसे काव्य नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी जैन आचार्यों ने लिखा है। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक असाम्प्रदायिक हैं। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नड़ी, साहित्य में भी उनका दान अत्यधिक है। कन्नड़ी साहित्य पर तो ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक जैनों का एकाधिपत्य रहा है। कन्नड़ी के उपलब्ध साहित्य के लगभग दो-तिहाई ग्रन्थ जैन विद्वानों के रचे हुए हैं। इस प्रकार भारतीय चिन्ता की समृद्धि में यह सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है।

शांतिनिकेतन]



जैन साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री

— श्री कामताप्रसाद जैन

जैन साहित्य जितना ही विशाल है, उतना ही वह अज्ञात भी है। उसके अनेक वहुमूल्य रत्न आज भी किसी एकान्त भण्डार की शोभा वढ़ा रहे हैं। वाहर की दुनिया की वात तो न्यारी है, स्वयं जैनियों को ही यह पता नहीं कि उनके घर में कैसे-कैसे अनूठे रत्न हैं। उन रत्नों को प्रकाश में लाने का उद्योग यद्यपि अब होने लगा है, तथापि वह सन्तोषजनक नहीं है। उस पर, जो भी प्रकाशन होता है वह जैनों के खास समुदाय तक सीमित रहता है। जैनों ने ऐसा कोई प्रवन्ध नहीं किया है, जिससे उनका साहित्य अजैन विद्वानों को सुलभता से प्राप्त हो सके। यही कारण है कि जैन साहित्य के महत्त्व को आधुनिक साहित्यरथी नहीं आँक पाये हैं। इसमें दोष हमारा ही है। श्री नाथूराम जी 'प्रेमी' ने अपने व्यक्तिगत आदर्श से इस दोष को हल्का करने का उद्योग वहुत पहले किया था; परन्तु अकेले उनका यह कार्य न था। उनके आदर्श का अनुकरण जैनों को सामूहिक रूप में करना चाहिए। ऐसा करने से ही जैन साहित्य का वास्तविक स्वरूप वाह्य जगत को ज्ञात होगा।

जैन साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ही उसका विशाल रूप स्पष्ट हो जाता है। उपलब्ध जैन साहित्य की मूल आधार-शिला जिनेन्द्र महावीर वर्द्धमान की, जिन्हें निर्ग्रन्थ ज्ञात्रिपुत्र भी कहते हैं, वाणी है। जिनेन्द्र महावीर के मुखारविन्द से जो वाणी निर्गत हुई, उसी की ग्रन्थवद्ध रचना गणधर इन्द्रभूति गौतम ने की थी। वह जिन-वाणी वारह अङ्ग-ग्रन्थों में रची गई थी। वारहवें दृष्टिवाद अंग में चौदह पूर्व-ग्रन्थों का समावेश था। इसके अतिरिक्त अङ्गवाह्य प्रकीर्णक साहित्य भी था। किन्तु जैनों का यह प्राचीन साहित्य पुरातन परिपाटी के अनुसार मेधावी ऋषिवरों की स्मृति में सुरक्षित था। ज्यों-ज्यों ऋषिवरों की स्मृति क्षीण होती गई, जैनों का यह प्राचीन साहित्य लुप्त होता गया। कलिङ्ग चक्रवर्ती एल० खारवेल ने इस जैन वाङ्मय के उद्धार का उद्योग जैनयतिवरों का सम्मेलन वुलाकर किया था;[1] किन्तु उनका यह स्तुत्य प्रयास भी काल की करालगति को रोक न सका। अलवत्ता उस सम्मेलन में यदि अवशेष अङ्ग साहित्य लिपिवद्ध कर लिया जाता तो जैन साहित्य की अमूल्य निधि सर्वथा लुप्त न होती; किन्तु मालूम ऐसा होता है कि जैन अङ्ग-ग्रन्थों के विशाल रूप और उनके प्रति विनयभाव ने उस सम्मेलन में लिपिवद्ध करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होने दिया। दिगम्वर जैन कहते हैं कि अङ्ग-गत अर्द्धमागधी भाषा का वह मूल साहित्य प्रायः सर्वलुप्त हो गया। दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अंश ईस्वी प्रारंभिक शताव्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषांश भी लिपिवद्ध नहीं किया जायगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायगा। फलतः उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतवलि सदृश मेधावी ऋषियों को वुलाकर गिरिनार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिवद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिवद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पंचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण वन रहा है।[2] यह तो दिगम्वर जैनों की मान्यता है; परन्तु श्वेताम्वर जैन ऐसा नहीं मानते। वह समग्र अर्द्धमागधी अङ्ग-साहित्य को सुसंस्कृत रूप में उपलव्ध वताते हैं। उनके यहाँ अङ्ग-ग्रन्थ हैं भी। श्वेताम्वर जैन 'आचाराङ्ग-सूत्र' के कुछ अंश का एवं पूर्वगत साहित्य का सर्वथा लोप हुआ वताते हैं। उनका यह अङ्ग-साहित्य ईस्वी छठी-सातवीं शताव्दी में

---

[1] जर्नल आॅव दी विहार एँड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३; पृ० २३६

[2] धवला टीका (अमरावती) भा० १, भूमिका पृ० १३-३२

वल्लभी नगर में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध किया गया था।[1] अतएव अर्द्धमागधी प्राकृत अङ्गसाहित्य का स्थान जैनों में विशिष्ट है। उसमें भ० महावीर के समय के धार्मिक जगत का विवरण देखने को मिलता है। यही नहीं, उस काल से पहले का इतिवृत भी उसमें सुरक्षित है। साथ ही ईस्वी प्रारंभिक शताब्दी तक के राजाओं और आचार्यों का भी परिचय उससे उपलब्ध है। सम्राट् विक्रमादित्य के व्यक्तित्त्व और उनके जीवन पर उल्लेखनीय प्रकाश 'कालककथा' आदि अर्द्धमागधी जैन साहित्य ग्रन्थों से ही पड़ा है। भारतीय काल-गणना में भी इन ग्रन्थों में सुरक्षित कालगणना मुख्य रूप में सहायक है।[2] प्राचीन भारतीय जीवन की झांकी इन जैनग्रन्थों में देखने को मिलती है, किन्तु पालीपिटक (बौद्ध) ग्रन्थों के आधार से जहाँ 'बौद्धकालीन भारत' (Buddhist India) लिखा गया है, वहाँ अभी तक उस अर्द्धमागधी जैनसाहित्य के आधार से 'जैन भारत' (Jainist India) लिखा जाना शेष है। श्री राधाकुमुद मुकर्जी सदृश विद्वान् इस प्रकार की पुस्तक लिखे जाने की आवश्यकता व्यक्त कर चुके हैं। उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं ऐसी पुस्तक लिखूं; परन्तु उसकी पूर्ति अभी तक नहीं हो सकी है। सारांश यह कि अर्द्ध-मागधी जैन साहित्य प्राचीन भारत के इतिहास को जानने के लिए बहुमूल्य सामग्री से ओतप्रोत है। इसलिए डा० मुकर्जी जैन ग्रन्थों के आधार से भारतवर्ष का परिचय लिखने का परामर्श देते हैं। अर्द्धमागधी जैन साहित्य एवं प्रकीर्णक जैन साहित्य के परिचय के लिए हाल ही में पूना के प्रसिद्ध भाण्डारकर पुरातत्व-मन्दिर द्वारा प्रकाशित प्रो० वेलणकर द्वारा बीस वर्ष में संकलित 'जैनरत्नकोष' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है। उसके आधार से अंग्रेज़ी-विज्ञ पाठक उप-लब्ध जैनसाहित्य का पता पा सकेंगे।

पूर्वोक्त अर्द्धमागधी अङ्ग साहित्य के अतिरिक्त प्रकीर्णक जैन साहित्य भी अपार है और उसमें भी ऐति-हासिक सामग्री बिखरी हुई पड़ी है। प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, तामिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में भी जैनों ने ठोस साहित्य-रचना की है। इन भाषाओं के जैन साहित्य में भी उनके रचनाकाल के राज्य-समाज और धर्म-प्रवृत्ति का इतिहास सुरक्षित है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृत-भाषा-ग्रन्थ भारतीय अध्यात्म-विचार-सरणी के लिए अपूर्व निधि हैं। उन्होंने तत्कालीन मत-मतान्तरों पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। साथ ही उनसे पहले हुए कई आचार्यों का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

अपभ्रंश-प्राकृत-साहित्य पर तो जैनों का ही पूर्णाधिकार है। जैन शास्त्र भंडारों से अपभ्रंश प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थरत्न उपलब्ध हुए हैं। महाकवि पुष्पदन्त के 'महापुराण', 'यशोधरचरित' आदि काव्यग्रन्थों में तत्कालीन सामन्त-शासन का सजीव चित्रण मौजूद है। उनमें कतिपय ऐसे ऐतिहासिक उल्लेख हैं, जिनका किसी अन्य स्रोत से पता नहीं चलता। राठौर राजाओं के ऐश्वर्य और जैन धर्म के प्रति सद्भावना का वर्णन उनमें निहित है। राठौर राजमन्त्रियों की दैनिक चर्या और दानशीलता का चरित्रचित्रण मंत्रीप्रवर भरत और णण्ण के वर्णन में मिलता है।[3] मुनि कनकामर के 'करकंडुचरिय' में दक्षिणापथ के प्राचीन राजवंश 'विद्याधर' के राजाओं और उनकी धार्मिक कृतियों का वर्णन लिखा हुआ है, जो भ० महावीर से पूर्वकालीन भारतीय इतिहास के लिए महत्त्व की चीज है।[4] अपभ्रंश-प्राकृत में कई कथा-ग्रन्थ हैं, जिनमें ऐतिहासिक वार्ता बिखरी पड़ी है। उसका संग्रह होना चाहिए। किन्तु अपभ्रंश-प्राकृत के जैनसाहित्य का वास्तविक महत्त्व वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति का इतिहास शोधते हुए दीख पड़ता है। उसी में हिन्दी का प्राचीन रूप और विकास-क्रम देखने को मिलता है। हमने अन्यत्र कालक्रम से उद्धरण उपस्थित करके

---

[1] संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, खंड २ पृ० ११६ व उत्तराध्ययन सूत्र (उपसला) भूमिका, पृ० १६

[2] जैन एंटीक्वेरी, भा० ११ पृ० ४-८

[3] महापुराण (मा० ग्रं० बम्बई) भूमिका, पृ० २८-३३ व यशोधर चरित्र (कारंजा सीरीज़) भूमिका, पृ० १९-२१।

[4] करकंड्चरिय (कारंजा सीरीज़) भूमिका, पृ० १५-१८।

प्राचीन हिन्दी को क्रमवर्ती रूपान्तर का दिग्दर्शन कराया है।[1] अपभ्रंश प्राकृत के निम्नलिखित छन्दों को देखिये। इन्हें कौन हिन्दी-सा नहीं कहेगा—

'देखिवि रयणमंजूस विद्दाणउ। भिणऊ कामसरेहि अयाणउ॥
ताल्लू विल्लि लग्ग मण सलइ। जिम सर सुक्कइ मच्छऊ विलइ॥'

× × ×

'जिम सूर ण भूलइ हयियारू। जिणयत्तु तेम जलि णमोयारू॥'

× × ×

'तुम्ह कहहु मज्झु सिरिप्पालु पुत्तु। तउ लाख दामु दइहउं णिहत्तु॥
तेणि सुणि पहुत्तउ राय हरकारू। भीत्तरि गय पुंछवि पडिहारू॥'

× × ×

'हंमारंउ णरइव कम्वणु चिज्जु। धोवी-चंमार घर करहि भोजु॥
खर-कूकुर-सूस्हग-सहि मासु। हंमि डोम भंड कहिजहिय नासु॥'

इसी के अनुरूप हिन्दी के कितने ही 'महावरों' का प्रयोग अपभ्रंश साहित्यग्रंथों में मिलता है; बल्कि कई छन्दों का निर्माण ही अपभ्रंश के आधार से हिन्दी में हुआ है।[2] अपभ्रंश, प्राकृत और प्राचीन हिन्दी का एक संयुक्त 'पिंगल' छन्दशास्त्र जैनकवि राजमल्ल ने सम्राट् अकबर के शासनकाल में रचकर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है।[3] भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए जैन साहित्यिक रचनाएँ अमूल्य साधन हैं। साथ ही हिन्दी की 'नागरी लिपि' के विकास पर जैन-भंडारों में सुरक्षित प्राचीन और अर्वाचीन हस्तलिखित ग्रन्थों से प्रकाश पड़ता है। अपने संग्रह के दो-तीन हस्तलिखित संग्रह ग्रन्थों में सुरक्षित 'मुड़िया-लिपि' की रचनाओं के आधार से हम उस लिपि की उत्पत्ति और विकास का इतिहास प्रकट करने में समर्थ हो सके।[4] ऐसे ही अन्य भाषाओं और लिपियों का भी पता हस्तलिखित जैनग्रन्थों से चलता है। भाषा-विज्ञान के इतिहास के लिए उनका उपयोग महत्त्वपूर्ण है।

सुङ्ग और सातवाहन काल में वैदिक धर्म को प्रोत्साहन मिला। परिणामतः प्राकृतभाषा का, जो राज्य भाषा थी, महत्त्व कम हो चला। उसका स्थान संस्कृत भाषा को मिला। महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाएँ संस्कृत भाषा में ही रचीं। जैनाचार्य उमास्वाति ने जनता की अभिरुचि को लक्ष्य करके जैन सिद्धान्त का सार 'गागर में सागर' के समान अपने प्रसिद्ध सूत्रग्रंथ 'मोक्षशास्त्र' में गर्भित किया। तब से जैनों का संस्कृत साहित्य आये दिन वृद्धिगत होता गया और आज उसकी विशालता और सार्वभौमिकता देखने की चीज है। किन्तु हमें तो उसमें भारतीय इतिहास के लिए उपयुक्त सामग्री का दिग्दर्शन करना अभीष्ट है। अतः हम अपनी दृष्टि वहीं तक सीमित रक्खेंगे। जैनों के संस्कृत साहित्य की विशेषता यह है कि उसमें न्याय, दर्शन, सिद्धान्त, पुराण, भूगोल, गणित आदि सभी विषय इस खूबी से प्रतिपादित किये गये हैं कि यदि उनमें से प्रत्येक विषय का कोई इतिहास लिखने बैठे तो जैन साहित्य से सहायता लिए विना वह इतिहास अधूरा ही रहेगा। न्यायशास्त्र का अध्ययन जैनन्याय का ऋणी है, यह उस विषय के ग्रन्थों को उठाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है। दर्शनशास्त्र के इतिहास को जानने के लिए भी जैन दार्शनिक ग्रन्थ महत्त्व की चीज हैं। आजीविक आदि मत-मतान्तरों का परिचय उनमें निहित है। जैन गणित की विशेषता भारतीय गणितशास्त्र

---

[1] देखिये, हमारा 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' द्वारा प्रकाशित होने वाला 'हिन्दी जैन-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' नामक ग्रंथ।

[2] 'अपभ्रंशदर्पण'—जैन सिद्धान्त भास्कर भा० १२, पृ० ४३।

[3] 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण २, ४, ५।

[4] ओझा-अभिनंदन-ग्रन्थ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन), पृ० २२ (विभाग ५)।

का इतिहास लिखते समय विद्वानों ने आँकी ही है।[1] भूगोल के अध्ययन के लिए और भारतीय भूगोल की ऐतिहासिक प्रगति को जानने के लिए जैन साहित्य अनूठा है। उसमें उपलब्ध दुनिया का और उससे भी कहीं अधिक विस्तृत लोक का वर्णन है।[2]

संस्कृत भाषा में लिखे हुए जैन पुराण ग्रन्थ अति प्राचीन हैं। उनमें अपेक्षाकृत बहुत अधिक ऐतिहासिक सामग्री सीधी-सादी भाषा में सुरक्षित है। अलबत्ता कहीं-कहीं पर उसमें धार्मिक श्रद्धा की अभिव्यंजना कर्मसिद्धान्त की अभिव्यक्ति के लिए देखने को मिलती है।

जैन पुराणों के साथ ही जैनकथाग्रंथों के महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता, जिनमें बहुत सी छोटी-छोटी कथाएँ संगृहीत हैं। ऐसे कथाग्रंथ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़ आदि भाषाओं में मिलते हैं। इनमें कोई-कोई कथा ऐतिहासिक तत्त्व को लिये हुए है। किसी में भेलसा (विदिशा) पर म्लेच्छों (शकों) के ऐतिहासिक आक्रमण का उल्लेख है तो किसी में नन्द राजा और उनके मन्त्री शकटार आदि का वर्णन है।[3] किसी में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र-चित्रण किया गया है;[4] तो किसी अन्य में उज्जैन के गर्दभिल्ल और विक्रमादित्य का वर्णन है।[5] सारांश यह कि जैनकथाग्रंथों में भी बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पड़ी है। महाकवि हरिषेण विरचित 'कथाकोष' विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

जैन साहित्य में कुछ ऐसे काव्य एवं चरित्रग्रन्थ भी हैं, जो विशुद्ध ऐतिहासिक हैं। उनमें ऐतिहासिक महापुरुषों का ही इतिहास ग्रंथबद्ध किया गया है। इस प्रकार का पर्याप्त साहित्य श्वे० जैन समाज द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।[6] 'ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह', 'ऐतिहासिक रास संग्रह' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। 'चित्रसेन-पद्मावती' काव्यग्रंथ में हमें कलिंग-सम्राट् खारवेल के पूर्वजों का इतिवृत गुम्फित मिलता है, जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन वांछनीय है। अन्तिम मध्यकालीन भारत की सामाजिक स्थिति का परिचय 'गुणमाला चौपई' अथवा 'ब्रह्मगुलाल चरित्र' आदि ग्रंथों से मिलता है। 'गुणमाला चौपई' में, जिसकी एक प्रति आरा के प्रसिद्ध 'जैन सिद्धान्त भवन' में सुरक्षित है, गोरखपुर के राजा गजसिंह और सेठपुत्री गुणमाला की कथा वर्णित है। गोरखपुर तब इन्द्र की अलका-नगरी-सा प्रतीत होता था, जैसा कि कवि खेमचंद के उल्लेख से स्पष्ट है :

'पूरवदेस तिहां गोरषपुरी, जांणे इलिका आंणि नै धरी।
बार जोयण नगरी विस्तार, गढ-मठ मंदिर पोलि पगार ॥९॥

× × ×

नगर मांहि ते देहरा घणां, कोई जैन कोई शिव-तणां।
मांहि विराजै जिनवर देव, भविणय सारै नितप्रत सेव ॥१०॥

---

[1] प्रो० ए० सिंह और प्रो० वि० भू० दत्त कृत "हिस्ट्री ऑव इंडियन मैथेमेटिक्स" देखिये। प्रो० सिंह ने 'धवला टीका' की भूमिका में लिखा है, "यथार्थतः गणित और ज्योतिष विद्या का ज्ञान जैन मुनियों की एक मुख्य साधना समझी जाती थी।.... महावीराचार्य का गणितसारसंग्रह-ग्रंथ सामान्य रूप-रेखा में ब्रह्मगुप्त, श्रीधराचार्य भास्कर और हिन्दू गणितज्ञों के ग्रन्थों के समान होते हुए भी विशेष बातों में उनसे पूर्णतः भिन्न है।.... धवला में वर्णित अनेक प्रक्रियाएँ किसी भी अन्य ज्ञात ग्रंथ में नहीं पाई जातीं।"

[2] हमारा 'भगवान पार्श्वनाथ' पृ० १५४-२००। [3] पूर्वोक्त कथाकोष, पृ० ३४६।

[4] हरिषेण कथाकोष (सिंघीग्रंथमाला), पृ० ३१७।

[5] कालककथा—संजैइ०, भा० २, खंड २, पृ० ६२-६४।

[6] 'अनेकान्त', वर्ष ५, पृ० ३६५-३६७ एवं वर्ष ६, पृ० ६५-६७।

'पार्श्वचरित्र', 'महावीर चरित्र', 'भुजवलि चरित्र', 'जम्बूस्वामी चरित्र', 'कुमारपाल चरित्र', 'वस्तुपाल रास' इत्यादि अनेकानेक चरित्रग्रंथ इतिहास के लिए महत्त्व की वस्तु हैं।

जैन संस्कृत साहित्य में पुरातन प्रवन्ध-ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से विशेष मूल्यवान् हैं। ये प्रवन्ध-ग्रंथ एक प्रकार के विशद निवन्ध हैं, जिनमें किसी ऐतिहासिक घटना अथवा विद्वान् या शासक का परिचय कराया गया है। श्री मेरुतुंगाचार्य का 'प्रवन्ध चिन्तामणि' प्रवन्ध-ग्रंथों में उल्लेखनीय है, जो 'सिंघी जैन ग्रंथमाला' में छप भी चुका है। श्री राजशेखर का 'प्रवन्धकोष', श्री जिनविजय का 'पुरातन प्रवन्धसंग्रह' एवं 'उपदेशतरंगिणी' आदि प्रवंधग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं।[1]

किसी समय श्वेताम्वर जैन साधु सम्प्रदाय में 'विज्ञप्तिपत्र' लिखने-लिखाने का प्रचार विशेष रूप से था। आजकल संभवतः इस प्रथा में शिथिलता आ गई है। "विज्ञप्ति पत्र कुंडली के आकार के उस आमन्त्रणपत्र की संज्ञा है, जिसे स्थानीय जैन समाज भाद्रपद में पर्यूषण पर्व के अन्तिम दिन अपने दूरवर्ती आचार्य या गुरु के पास भेजता था। उसमें स्थानीय संघ के पुण्य-कार्यों के वर्णन के साथ गुरु के चरणों में यह प्रार्थना रहती थी कि वे अगला चातुर्मास उस स्थान पर आकर वितावें। विज्ञप्तियों का जन्म गुजरात में हुआ और जैनेतर समाज में इनका अभाव है। पहले विज्ञप्तिपत्र सामान्य प्रार्थनापूर्ण आमन्त्रण के रूप में लिखे जाते होंगे, परन्तु काल पाकर उनका रूप अत्यन्त संस्कृत हो गया। उनमें चित्रकारी को भी भरपूर स्थान मिला। प्रेषण-स्थान का चित्रमय प्रदर्शन विज्ञप्तिपत्र में किया जाता था। संघ के सदस्यों का भी परिचय रहता और कभी-कभी इतिहास विषयक घटनाएँ भी आ जाती थीं।"[2] वस्तुतः कला और इतिहास उभयदृष्टि से विज्ञप्तिपत्र महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ 'श्री आत्मानन्द जैन सभा अम्वाला' और डा० हीरानंद शास्त्री द्वारा 'श्री प्रतापसिंह महाराज राज्याभिषेक ग्रन्थमाला वड़ौदा' से प्रकट भी किये जा चुके हैं। डा० हीरानंद शास्त्री का संग्रह अंग्रेज़ी में 'ऐंशियेंट विज्ञप्ति पत्राज़' नाम से सचित्र प्रकाशित हुआ है। कुछ अप्रकाशित विज्ञप्तिपत्र श्री अगरचन्द्र नाहटा (वीकानेर) और प्रसिद्ध नाहर-संग्रह कलकत्ते में दर्शनीय हैं। दिगम्वर जैनों में यद्यपि विज्ञप्तिपत्र लिखने की प्रथा कभी नहीं रही मालूम होती; परन्तु उनमें विशेष जैनोत्सव, जैसे रथयात्रा आदि के अवसर पर निमंत्रणपत्र अन्य स्थानों के जैन-संघों को भेजने का रिवाज अवश्य रहा है। इनमें से कुछ निमंत्रणपत्र सचित्र भी होते थे। इन निमंत्रणपत्रों की खोज शास्त्रभंडारों में होनी चाहिए। हमें सौ-डेढ़-सौ वर्षों से अधिक प्राचीन निमंत्रणपत्र नहीं मिले हैं। इनमें संघ का स्थानीय परिचय और उत्सव की विशेषता का दिग्दर्शन सुन्दर काव्य-रचना में किया जाता था और अव भी किया जाता है। पहले यह निमंत्रणपत्र हाथ से लिखकर भेजे जाते थे। उपरान्त जव छापे का प्रचार हुआ तव वे लिथो और प्रेस में छपाकर भेजे जाने लगे। हमारे संग्रह में सवसे पुराना हस्तलिखित निमंत्रणपत्र विक्रमसंवत १८८० चैत्र वदी २ का है, जिसे मैनपुरी के जैनों ने कम्पिलातीर्थ में रथयात्रा निकालने के प्रसंग में लिखा था। ऐसा ही एक निमंत्रणपत्र सं० १९५५ का है, जिसका प्रारंभ निम्नलिखित श्लोक से होता है—

"श्री नाभेय जिनं प्रणम्य शिरसा वंद्यं समस्तैर्जनैः।
लोकानां दुरिता पवृहण पवि वाचा सुधावर्षिणं—
पत्रीमद्य लिखामि चारुरचनाविद्वन्मनोहारिणीं।
श्रुत्वैता विबुधाजनाः स्वयमुवागच्छंतु धर्मोत्सवे॥"

लिथो की छपी हुई एक निमंत्रण पत्रिका वि० सं० १९५६ की हमारे संग्रह में है, जिससे प्रकट है कि उस वर्ष मौगांव में एक जिनविम्व प्रतिष्ठोत्सव श्री वनारसीदास जी ने कराया था, उसका प्रारंभ निम्नलिखित रूप में हुआ है—

---

[1] 'अनेकान्त' वर्ष ५, अंक १२ और वर्ष ६, अंक २।

[2] 'अनेकान्त' वर्ष ५, पृ० ३९६-३९७।

"ओईम् ॥ श्लोक ॥ यच्चित्सागरमग्ना जीवाद्या भाव भूतयो—
विविधास्तं भगवन्तं रागाद्दूरं नत्वावि लिख्यते पत्रम् ॥

स्वस्ति श्री मदन-वरत भक्ति-भारावनत पुरन्दर वृन्द वन्दित सुन्दर वर सुर सुन्दरी विवाह मंडपाय-भान-घन-घण्टा ध्वजाचमर सिंहासनादि परिमण्डित जिनेन्द्रचन्द्र मन्दिरसन्दर्भ पवित्रितधरातले वापी कूप तड़ाग सरित्सरोवर खातिका प्रकारादि परिकर परिवेष्टिते महाशुभस्थाने श्री .... इत्यादि ।"

अन्त निम्नांकित दोहों से किया गया है—

"पाप गलत शुभ-रमन-कर, जिन-वृष वृषभ मयंक ।
नुति स्तुति करि दल क्षेम कर, मंगल अंत निशंक ॥
जनपद गुंड निवासिनी, कमल वासिनी जेम ।
महारानी विकटोरिया, जयो सयोग क्षेम ॥

तत्व ज्ञान निधि भूमि, शशि प्रतिपद भोर वैशाख ।
कृष्न पक्ष में स्वक्षता, आय करो वृष सांख ॥"

यह पत्र सुनहरी स्याही से लाल घोटे के कागज पर छपा हुआ है, जिस पर सुन्दर वोर्डर और ऊपर मंदिर का चित्र बना हुआ है । प्रेस में छपा हुआ एक निमंत्रणपत्र सं० १९६१ का तिरवा (जिला फर्रुखाबादमें कलसोत्सव एवं रथयात्रा प्रसंग का है । प्रारंभिक श्लोक द्रष्टव्य हैं—

"न कोपो न लोभो न मानो न माया न हास्यं न लास्यं न गीतं न कान्ता ।
न वायुस्य पुत्रानं शत्रुर्नमित्रो—स्तुनुर्देवदेवं जिनेन्द्रं नमामि ॥१॥
प्रणम्य वृषभंदेवं सर्वपाप प्रणासनं । लिखामि पत्रिका रम्या सत्समाचार हेतवे ॥२॥"

यह पत्रिका सं० १९६१ में तिरवा में जैनधर्म के बाहुल्य को प्रकट करती है; किन्तु आज वहाँ केवल एक जैन उस विशाल जैनमंदिर की व्यवस्था के लिए शेष है, जिस पर कलस चढ़ाये गये थे । श्री जैन मंदिर अलीगंज के संग्रह में दिल्ली के रथोत्सव की सचित्र पत्रिका लिथो की छपी हुई है, जिसमें जूलुस का पूरा चित्रण है । यह वह पहली रथयात्रा थी, जो वैष्णवों के विरोध करने पर भी सरकारी देख-रेख में दिल्ली में निकली थी । इस प्रकार की निमंत्रण-पत्रिकाओं की यदि खोज हो तो इनसे भी प्राचीन और मूल्यवान पत्रिकाएँ मिल सकती हैं ।

तीर्थमाला-ग्रंथ भी इतिहास और भूगोल के लिए महत्त्व की चीजें हैं । प्राचीनकाल में जब यातायात के साधन नहीं थे तब संघपति किसी आचार्य के तत्वावधान में लंबी-लंबी तीर्थयात्राओं के लिए संघ निकाला करते थे । उन तीर्थ-यात्राओं के निकले हुए संघों का विवरण कतिपय विद्वानों ने लिखा है ।[1] श्वेताम्बर जैन-समाज ऐसी तीर्थमालाओं का संग्रह कई स्थानों से प्रकाशित कर चुका है । फिर भी कई ग्रंथ अप्रकाशित हैं । दिगम्बर जैनों के शास्त्रभंडारों की शोध अभी हुई ही नहीं है और यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें ऐसी कितनी तीर्थमालाएँ सुरक्षित हैं । अलीगंज और मैनपुरी के शास्त्रभंडारों में हमें तीन-चार तीर्थयात्रा विवरण मिले हैं । एक संघ श्री धनपतिराय जी रुइया ने मैनपुरी से शिखरजी के लिए निकाला था, उसका विवरण मिलता है ।[2] दूसरा विवरण गिरनार जी की यात्रा का पानीपत के संघ का है । तीसरा विवरण कम्पिला तीर्थ की यात्रा का है, जो प्रकाशित किया जा चुका है ।[3] किन्तु इन तीर्थयात्राओं के विवरण के अतिरिक्त जैन साहित्य में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनमें तीर्थों का परिचय और

---

[1] पूर्व प्रमाण द्रष्टव्य ।

[2] जैनसिद्धान्तभास्कर भा० ४, पृ० १४३-१४८ ।

[3] श्री कम्पिल रथयात्रा विवरण (मैनपुरी) पृ० १५-२४ ।

उनकी भौगोलिक स्थिति का उल्लेख है। श्री जिनप्रभसूरि का 'विविधतीर्थकल्प' इस विषय का उल्लेखनीय ग्रन्थ है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में 'निर्वाणभक्ति' और 'निर्वाणकाण्ड' इस विषय की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। भारतीय भूगोल के अनुसंधान में इन ग्रंथों से विशेष सहायता मिल सकती है। साथ ही इनमें वर्णित तीर्थों का माहात्म्य इतिहास के लिए उपयोगी है। श्री प्रेमी जी ने दक्षिण के जैन तीर्थों पर अच्छा प्रकाश डाला है। कम्पिला, हस्तिनापुर आदि तीर्थों पर हमने ऐतिहासिक प्रकाश डाला है।

'पट्टावली' जैन साहित्य भी इतिहास के लिए उपयोगी है; क्योंकि जैनसंघ भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में एक संगठित संस्था रह चुका है। जैनसंघ के आचार्यों के यशस्वी कार्यों का विवरण भी उनमें गुम्फित होता है, जब कि गुरु-शिष्य परम्परा रूपमें उनका उल्लेख किया जाता है। भ० महावीर से लेकर आज तक जैनाचार्यों की शृंखलाबद्ध वंश-परम्परा प्रत्येक संघ-गण और गच्छ की पट्टावली में सुरक्षित है। श्वेताम्बरीय समाज में पट्टावली साहित्य के कई संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उल्लेखनीय 'पट्टावलि समुच्चय'—'तपागच्छपट्टावली'—'खरतरगच्छपट्टावली'—संग्रह आदि हैं। दिगम्बर जैन समाज में भी इन पट्टावलियों का अभाव नहीं है; परन्तु खेद है कि उन्होंने अपनी पट्टावलियों का कोई भी संग्रह प्रकाशित नहीं किया। वैसे इस सम्प्रदाय की कई पट्टावलियाँ 'इंडियन एंटीक्वेरी',[1] 'जैन हितैषी'[2] और 'जैनसिद्धान्तभास्कर'[3] नामक पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और कन्नड़, इन सभी भाषाओं में पट्टावलियाँ लिखी हुई मिलती हैं।

जैनग्रंथों की प्रशस्तियाँ भी इतिहास के लिए महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक जैनग्रंथ के आद्य मंगलाचरण एवं अंतिम प्रशस्ति और पुष्पिका में पूर्वाचार्यों एवं कवियों के नाम-स्मरण एवं अन्य परिचय लिखे रहते हैं। श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में "प्रशस्तिसंग्रह गुरु-शिष्य-परम्परा के इतिहास के उत्तम साधन हैं।....इनमें ग्रंथलेखन की प्रेरणा देने वाले जैनगुरु का उनके शिष्य का और ग्रन्थ का मूल्य देने वाले श्रावक श्रेष्ठी का सुन्दर विवरण पाया जाता है। तत्कालीन शासक और प्रतिलिपिकार के विषय में भी सूचनाएँ मिलती हैं। इतिहास के साथ भूगोल की सामग्री भी पाई जाती है। मध्यकालीन जैनाचार्यों के पारस्परिक विद्यासंबंध, गच्छ के साथ उनका संबंध, कार्य-क्षेत्र का विस्तार, ज्ञान प्रसार के लिए उद्योग आदि विषयों पर इन प्रशस्ति और पुष्पिकाओं से पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। श्रावकों की जातियों के निकास और विकास पर भी रोचक प्रकाश पड़ता है।"[4] अभी तक श्वेताम्बर समाज की ओर से 'जैनपुस्तक प्रशस्ति संग्रह' प्रथम भाग एवं एक अन्य संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। दिगम्बर समाज का एक संग्रह श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा से प्रकाशित हुआ है। किन्तु यह तो अभी कुछ भी नहीं हो पाया है। अभी अनेकानेक जैन प्रशस्तियों को संग्रह करके प्रकाशित करने की आवश्यकता है। जैन प्रशस्ति का महत्त्व आँकने के लिए यहाँ पर उसका एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। भा० दि० जैन परिषद् के कार्यकर्त्ता श्री पं० भैयालाल जी शास्त्री को प्रचार प्रसंग में भोगाँव (जिला मैनपुरी) के वैद्य लालाराम जी से कई प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ मिले थे। उनमें एक 'कल्पसूत्र व्याख्यान' नामक ग्रंथ है, जो अब हमारे संग्रह में है। इसकी प्रशस्ति का उपयोगी अंश हम यहाँ उपस्थित करते हैं:

"श्री शासनाधीश्वर वर्द्धमानो। गुणर नं तैरिति वर्द्धमानः ॥
यदीयतीर्थं खखखाऽब्धनेत्र २१००० वर्षाणियावद्विजयं प्रसिद्धं ॥१॥

---

[1] इंडियन एंटी० भा० २०, पृ० ३४४-४८।

[2] जैनहितैषी, वर्ष ६।

[3] 'जैन सिद्धान्त भास्कर' भा० १, किरण २-३-४।

[4] अनेकान्त, भा० ५, पृ० ३९६ व भा० २१, पृ० ५४-८४।

"तदीय शिष्योगण भृच्चर्यत्वमः सुधर्मानामाऽस्य परंपराया।
वभूव शाखा किल वज्रनाम्ना, चंद्रं कुलं चंद्र कलेव निर्मलं ॥२॥
तद्गच्छेत्वभिधानतः खरतरे, यैः स्तंभनाधीश्वरो।
तुमध्यात्प्रकटी कृतः पुनरपि स्नानोदका द्रुगगता ॥
स्थानांगादि नवांगसूत्र निवृत्तिर्नव्या क्षताः। श्रीमंतोऽभयदेवसूरिगुरवो जाता जगद्विश्रुता ॥ ३ ॥
यो योगिनीत्यो जगृहे वदौ च, चरान् जाग्रवनेनेक विद्यः।
पंचापि पीरान् स्ववशी चकार युगप्रधानो जिनरत्नसूरिः ॥४॥
पुनरपि यस्मिनगच्छे वभूव जिन कुशल नाम सूरिवरः। यस्य स्तूपनिवेशामुयशः पुंजाद्वभाभांति ॥५॥
तत्पट्टानुक्रमतः श्री जिनचन्द्रसूरि नामानः। जाता जुगप्रधाना दिल्लीपति पातसाहि कृताः ॥६॥
अकवर रंजन पूर्वं द्वादश स्तंवेषु सर्वदेशेषु स्फुटतंरमारपटहः प्रवादितो यैश्चं सूरिवरैः ॥७॥
यद्वारे किल कर्मचंद सचिवः श्राद्धोऽभवद्दीप्तिमान्। येन श्री गुरुराज नंदि महमिद्रव्य व्ययोर्निर्मिमे।
कोटेः पादयुजः शराग्निशमये दुर्भिक्ष वेलाकुले। मन्त्राकार विधानतो वहुजनाः संजीविता ब्रेन च ॥८॥
यद्वारे मुनरत्न सोन जिसिवा श्राद्धौ जगद्विश्रुतौ। यात्यां राणपुरस्य१ खतगिरेः२ श्री अर्बुदस्य स्फुटं।
गौड़ी श्री शत्रुंजयस्य च महान् संघोनद्यः कारितो। गच्छे लंभनिका कृत्वा प्रतिपुरं रुवमार्थमेकंपुनः ॥९॥
तेषां श्री जिनचन्द्राणां शिष्यः प्रथमतोऽभवत्। गणिः सकलचंद्राख्यो रीहडान्वय भूषणं ॥१०॥
तच्छिष्य समयसुन्दर सदुपाध्यायै विनिर्मितः ध्यायैः कल्पलता नामायं ग्रंथश्चक्रे प्रयत्नेन ॥११॥

× × ×

लूणकर्णसरो ग्रामे प्रारंभा कर्त्तुमादरात। वर्षमध्ये कृतापूर्णा मया चैपारिणीपुरे ॥१७॥
राज्ये श्री जिनराज सूरि सुगुरोर्वुध्याजितस्वर्गुरो र्यभाग्यं भुविलोक विस्मयकरसोभाग्यमत्युद्भुतं।
कोर्तिस्तु प्रसरीसरीति जगति प्रौढ़ प्रतापोदया। दाज्ञात्युग्रतमा कृपातनुभृतां दारिद्रय दुःखापहा ॥१८॥
श्री मद्भान वडे चपुंडर गिरौ, श्री मेढतायां पुनः। श्री पल्ली नगरे च लौद्रनगरे प्रौढा प्रतिष्ठाः कृता।
द्रव्यं भूरि तरव्ययीकृत महोश्राद्धै महत्युत्सवो। राजंते जिनराजसूरि गुरुवस्ते सांप्रतं भूतले ॥२०॥
तद्गुरूणां प्रसादेन मया कल्पलता। कल्पसूत्रमिदं यावत्तावन्नंदतुसापिहि ॥२१॥ इति ॥"

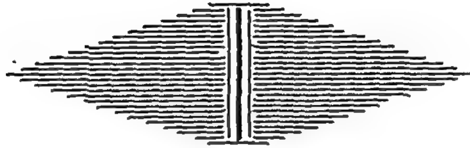
इससे स्पष्ट है कि वज्रशाखा-चन्द्रकुल-खरतरगच्छी अभयदेवसूरि की परम्परा में श्री जिनरत्नसूरि आदि आचार्य हुए, जिनमें से जिनचन्द्रसूरि वादशाह अकवर द्वारा 'युगप्रधान' घोषित किये गये। उन्होंने कई वादियों को परास्त करके अकवर का मनोरंजन किया था। उनके उपदेश से कर्मचन्द्र सचिव ने धर्म-कार्य में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया और दुर्भिक्ष के समय दान देकर अनेक प्राणियों की रक्षा की। आचार्य रत्नसोम के निमित्त से राणपुर, रैवतगिरि (गिरिनार), आवूपर्वत, गौड़ी (पार्श्वनाथ) और शत्रुंजय के यात्रासंघ निकाले गये। इनमें श्री जिनचन्द्र सूरि के प्रतिशिष्य और सकलचन्द्र गणि के शिष्य उपाध्याय समयसुन्दर ने यह 'कल्पलता—कल्पसूत्र—व्याख्या' रची। लूनकर्ण (लूनी ?) ग्राम में इसे प्रारंभ करके एक वर्ष में ही पारिणीपुर (?) में रचकर समाप्त किया। उपरांत जिनराजसूरि की महिमा का उल्लेख है। विज्ञ पाठक इस एक उदाहरण से ही प्रशस्ति के महत्त्व को समझ सकते हैं।

प्रशस्ति के अनुरूप ही जिन मूर्तियों, यंत्रों, और मंदिरों के शिलालेख भी इतिहास के लिए वहुमूल्य सामग्री हैं। यों तो जिनमूर्तियाँ और मंदिर ही भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला के इतिहास के लिए विशेष अध्ययन की वस्तु हैं, परन्तु उनसे संवंधित लेख तो अद्वितीय हैं। खेद है, अभी तक इन लेखों को संग्रह करने का कोई भी व्यवस्थित उद्योग नहीं हुआ है तो भी श्वेताम्वर समाज के प्रसिद्ध विद्वान स्व० श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर, स्व० श्री विजयधर्मसूरि और मुनि

जिनविजय जी द्वारा कई मूर्तिलेख-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। दिगम्बर जैन समाज में प्रो० हीरालाल जी द्वारा श्रवणवेलगोल तीर्थ के लेखों का वृहद् संग्रह 'जैन शिलालेखसंग्रह' नाम से श्रीमाणिकचन्द्र ग्रंथमाला वम्बई में प्रकाशित हो चुका है। एक मूर्तिलेख संग्रह वावू छोटेलाल जी ने कलकत्ता से निकाला था और एक मूर्तिलेख संग्रह हमने वर्धा से। हमारे द्वारा सम्पादित एक अन्य मूर्तिलेख संग्रह जैनसिद्धान्त भवन आरा से भी प्रकाशित हुआ है। किन्तु इस दिशा में अभी वहुत कार्य होना शेष है। श्रावकों के विविध कुलों की वंशावलियाँ भी उल्लेखनीय हैं।[1] हिन्दी जैन साहित्य में भी ऐतिहासिक सामग्री का वाहुल्य है, जो एक दक्ष अन्वेषक की प्रतीक्षा कर रहा है। उसमें कविवर वनारसी दास जी का 'अर्द्धकथानक' चरित्रग्रंथ, भारतीय ही नहीं, विश्व साहित्य में अनूठा है।[2]

इस प्रकार जैन साहित्य में इतिहास की अपूर्व सामग्री विखरी हुई पड़ी है। दक्षिण के जैन कन्नड़ और तामिल साहित्य में भी अपार ऐतिहासिक सामग्री सुरक्षित है; किन्तु उसके अन्वेपण की आवश्यकता है। तामिल का 'शिलप्पाधिकारम्' काव्य और कन्नड़ का 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथ भारतीय इतिहास के लिए अनूठे ग्रंथ-रत्न हैं। दक्षिण भारत के जैनशास्त्र भंडारों का अवलोकन भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में श्री पं० के० भुजवली शास्त्री कर रहे हैं और हम आशा करते हैं कि शीघ्र ही दक्षिणवर्ती जैन साहित्य के अमूल्य रत्नों का परिचय विद्वज्जगत को उपलब्ध होगा। क्या ही अच्छा हो कि प्रेमीजी के प्रति कृतज्ञताज्ञापन स्वरूप जैनसाहित्यान्वेपण के लिए एक वृहद आयोजन किया जावे।

अलीगंज]



---

[1] अनेकान्त, भा० ६, अंक २ में प्रकाशित नाहटा जी का लेख।

[2] अर्द्धकथानक (वम्बई) की भूमिका देखिये।

जैन-साहित्य की हिन्दी-साहित्य को देन

श्री रामसिंह तोमर एम० ए०

प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जैन-प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य को ही आधार मान कर यहाँ विचार किया है। अभी तक जितना प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में आया है, प्रायः जैनों द्वारा ही लिखा हुआ मिला है।[1] इन जैन लेखकों ने देश के कोने-कोने में बैठकर रचनाएँ कीं। जैन साहित्य का रचना-क्षेत्र बहुत विस्तृत था।

जैन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसे धार्मिक आवरण से छुटकारा कभी नहीं मिल सका। जैन कवियों या लेखकों का कार्य बहुत ही कठिन था। धार्मिक दृष्टिकोण भुलाना उनके लिए मुश्किल था। यह प्रतिबन्ध होते हुए भी उचित अवसर आते ही जैन-कवि अपना काव्य-कौशल प्रकट किए बिना नहीं रहते और ऐसे स्थलों पर हमें एक अत्यन्त उच्चकोटि के सरल और सरस काव्य के दर्शन होते हैं, जिसकी समता हम अच्छे-से-अच्छे कवि की रचना से कर सकते हैं। काव्य के सामान्य तत्त्वों के अतिरिक्त इन कवियों के काव्य की विशेषता यह है कि लोकरुचि के अनुकूल बनाने के लिए इन कवियों ने अपने काव्य को सामाजिक जीवन के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया है। सरलता और सरसता को एक साथ प्रस्तुत करने का जैसा सफल प्रयास इन कवियों ने किया, वैसा अन्यत्र कम प्राप्त होगा। धार्मिक प्रतिबन्धों के होते हुए भी वर्णन का एक नमूना पुष्पदन्त के महापुराण से हम उद्धृत करते हैं। ऐसे वर्णन स्थल-स्थल पर मिलते हैं। तीर्थंकर का जन्म होने वाला है। जिस नगर में जन्म होगा, उसका वर्णन है—

उत्तुंगकोञखंडियकसेरु पुक्खरवरदीवइ पुव्वमेरु।
तहु पुव्वविदेहइ वहइ विमल णइ कीलमाणकारंडजुयल।
खरदंडसंडदलछइयणीर डिंडीरपिंडपंडुरियतीर।
दरिसियपयंडसोंडाललील लोलंतथूलकल्लोलमाल।
जुज्झंतचडुलकरिमयरणिलय परिभमियगहीरावत्तवलय।
जलपक्खालियतडसाहिसाह णामेण सीय सीयल सगाह।
दाहिणइ घणणसंछण्णसीम उवयंठि ताहि संठिय सुसीम।

—महापुराण पुष्पदन्त ४८. २. १—७

इस प्रकार के वर्णनों से इन कवियों ने अपनी कृतियों में एक विचित्र सौंदर्य लाने की चेष्टा की है और उसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं।

समस्त संस्कृत साहित्य में एक प्रकार की एकरसता हम पाते हैं। महाकाव्य का या नाटक का नायक कोई महान व्यक्ति ही होता है, काव्य का विषय साधारण हो ही नहीं सकता। जैन प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में हम पहिली बार देखते हैं कि काव्य का नायक साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी हो सकता है। कोई भी धन-सम्पन्न श्रेष्ठि (वैश्य) काव्य का नायक हो सकता है। इन लेखकों ने अपनी सुविधाओं के अनुकूल इन नायकों के चरित्रों में परिवर्तन अवश्य

---

[1] नाटकीय प्राकृत, सेतुबंध और गाथा सप्तशती गौडवहो अजैनों द्वारा लिखे गए हैं। अपभ्रंश में अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक', विद्यापति की कीर्तिलता दोहाकोष, विक्रमोर्वशीय के कुछ पद्य एवं कुछ पद्य हेमचंन्द के व्याकरण में भी अजैनों द्वारा लिखे प्राप्त हुए हैं।

किये हैं। किसी-न-किसी प्रकार उनको धार्मिक घेरे में बन्द करने का प्रयत्न तो किया ही है, किंतु इनके अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक ढंग पर किया है। जिस समाज से इन कथानायकों का संबंध है, वह सबके अनुभव करने योग्य साधारण है। इसके साथ इन कवियों ने घरेलू जीवन से चुनकर प्रचलित और चिरपरिचित सुभाषितों, सरल ध्वन्यात्मक देशी शब्दों, घरेलू वर्णनों एवं इसी बीच से उपमानों का प्रयोग करके काव्य को बहुत सामान्य रूप प्रदान किया है। इन सबको लेकर लय और संगीत के अनुसार छन्दों में एक मधुर परिवर्तन करके काव्य में एक अपूर्व माधुर्य एवं सजीवता की सृष्टि की है। अपभ्रंश के अधिकांश छंद ताल गेय हैं। संगीत के उल्लेख अपभ्रंश ग्रंथों में हमें स्थान-स्थान पर मिलते हैं और वह संगीत देवताओं, किन्नरों, अप्सराओं की दुन्दुभियों, वीणाओं आदि का नहीं है, जन-समाज का संगीत है। आनन्द और उल्लास में गाते हुए, नाचते हुए और अपने वाद्य यन्त्रों को बजाते हुए धरती के मनुष्यों का वह संगीत है, आकाश के देवताओं का नहीं। आकाश के देवता भी कभी-कभी पृथ्वी पर आते हैं, लेकिन वे केवल जिन (तीर्थंकर) से भेंट, प्रणाम करने ही आते हैं। ये अपभ्रंश काव्य गाये जाते थे।

जनता की भाषा में रचना करके लोक-भाषा को काव्य का माध्यम बनाने का श्रेय प्रधानतः इन्हीं जैन-कवियों को है। किसी समय की लोकभाषा पाली-प्राकृतें भी संस्कृत के सदृश 'संस्कृत' (Classical) हो चुकी थीं। व्याकरण की सहायता से ही उनका अध्ययन सुलभ हो सकता था। सेतुबंध जैसे काव्यों का रसास्वादन करना पंडितों के लिए भी सरल कार्य नहीं था। अतः लोकभाषा साहित्य से ही जनता का कल्याण हो सकता था। अपभ्रंश कवियों की रचनाओं ने ही आगे चल कर हिन्दी-कवियों को भाषा में रचना करने के लिए मार्ग-प्रदर्शक का कार्य किया। भाषा के दृष्टिकोण से यह सबसे महत्त्वपूर्ण देन इन कवियों की हिन्दी-साहित्य को है। लोकभाषा के साथ-साथ अन्य सभी अपभ्रंश काव्य के साधनों का प्रयोग भी भाषा कवियों ने किया।

अपभ्रंश कवियों ने पहले-पहल लोकभाषा में लिखकर बड़े साहस का काम किया। प्राकृत और अपभ्रंश का पंडित-समाज में आदर नहीं था। अपभ्रंश नाम ही अनादर का द्योतक है। अपभ्रंश नाम विद्वान् व्याकरण-लेखकों का दिया हुआ है। कहीं भी अपभ्रंश-लेखकों ने यह नाम नहीं दिया। सेतुबन्ध जैसे पौराणिक नायक से सम्बन्धित उत्कृष्ट काव्य की जब निन्दा होती थी[1] तब अन्य प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा का हम अनुमान कर सकते हैं। इस उपेक्षा की झलक हमें अपभ्रंश काव्यों की प्रारम्भिक भूमिकाओं में भाषा में लिखने की सफ़ाई देने के लिए लिखे गए स्थलों में मिलती है। अपभ्रंश का प्रत्येक काव्य एवं हिन्दी के प्राचीन कवि भी इस बात से सशंक प्रतीत होते हैं कि भाषा में लिखने के कारण उन्हें एक वर्ग का विरोध भी सहना पड़ेगा। प्रत्येक कवि भाषा में लिखने के लिए अपनी उपयुक्तता प्रदर्शित करता दिखाई पड़ता है।[2] इससे भी हमें यही ज्ञात होता है कि पंडितवर्ग के भय से ही अपभ्रंश कवि प्रायः काव्य की श्रेष्ठता का मापदंड अर्थगाम्भीर्य को बतलाता है। भाषा तो एक बाह्य आवरण मात्र है। अतः भाषा में रचना का सूत्रपात जैन-कवियों द्वारा ही हुआ और आगे चल कर हिन्दी-कवियों ने भी भाषा में साहसपूर्वक रचना करते समय इससे अवश्य लाभ उठाया।

---

[1] पुष्पदन्त महापुराण—

जो सुम्मइ कइवइ विहियसेउ।
तासु वि दुज्जणु किं परियहोउ ॥ १. ७. ८.

[2] विद्यापति—देसिल वयना सब जन मिट्ठा ······ आदि।
कबीर—संसकिरित है कूप जल भाषा बहता नीर।
तुलसी—"भाषा भणित मोर मति थोरी।"
"भाषाबद्ध करबि मैं सोई।"
मराठी एकनाथ—"माझी मराठी भासा चोखड़ी।"

अब हम यह देखेंगे कि कौन-सी अपभ्रंश काव्य-धाराएँ हिन्दी में आई हैं।

प्रायः अपभ्रंश के कवियों ने लोक प्रचलित कहानियों को लेकर उनमें मनोनुकूल परिवर्तन करके उन पर सुन्दर काव्य लिखे हैं। इन कहानियों को अपनाने का सबसे प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि इन परिचित कहानियों द्वारा उनके धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार भली भांति हो सकता था। इसके साथ-ही-साथ कवि भी लोकप्रिय बन सकते थे। इन अत्यन्त लोकप्रिय चिरपरिचित घरेलू कहानियों को लेकर उनके आसपास धार्मिक वातावरण भी अपने सिद्धान्तों के अनुकूल इन कवियों ने उपस्थित किया है। कहानी के नायकों को जैनधर्म का भक्त बना कर समस्त कथा को 'पंचनमस्कारफल' या किसी व्रत से सम्बन्धित दृष्टान्त का रूप प्रदान किया है। बहुत सम्भव है कि पहले वे नायक धार्मिक वातावरण से पूर्ण स्वतन्त्र रहे हों, किन्तु जैन-कवियों ने उन्हें अपने रंग में रँग कर जैनगृहस्थों की पूजा-पाठ की सामग्री बना दिया। इसके साथ ही काव्य का रोचक पुट देकर उन्हें और भी मनोरंजक बनाया और उन कथाओं का एक नया संस्करण करके महत्त्वपूर्ण भी बनाया। हम भविष्यदत्तकथा को ही यहाँ उदाहरण के रूप में ले सकते हैं।

(१) भविष्यदत्त की कथा 'भविसयत्तकहा' नामक ग्रन्थ के निर्माण होने के पूर्व प्रचलित थी और लोकप्रिय भी रही होगी।

(२) धनपाल ने उसे कुछ धार्मिक[1] रंग देकर व काव्यानुकूल कुछ परिवर्तन करके और सुन्दर बनाया। वह धार्मिक वातावरण के कारण जैनघरों में ग्राह्य हुई और काव्य सौन्दर्य के कारण औरों के भी पढ़ने योग्य हुई।

(३) प्रेम और शृंगार के दृश्यों को रखने से और भी मनोरंजक हुई।

(४) भाषा में निर्मित होने के कारण जनसाधारण में अधिक प्रचार हुआ।

भविष्यदत्तकथा में से पात्रों के नामों को यदि निकाल दें एवं कुछ थोड़े से अन्य परिवर्तन कर दें और बचे हुए मानचित्र से रत्नसेन पद्मावती की कहानी की तुलना करें तो दोनों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होगा। मेरा अनुमान है कि 'पद्मावती' में रत्नसेन और अलाउद्दीन आदि नामों के अतिरिक्त ऐतिहासिकता बहुत कम है। वह केवल एक कहानी है। जिस प्रकार का प्रेम-चित्रण भविष्यदत्तकथा में है, ठीक उसी प्रकार का रत्नसेन पद्मावती की कथा में है। दोनों कृतियों की कथाओं में समानता है। रत्नसेन की रानी पद्मिनी के हरण का अलाउद्दीन द्वारा प्रयत्न अत्यन्त अस्वाभाविक लगता है, भले ही वह ऐतिहासिक हो; किन्तु भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण उसके भाई बन्धुदत्त द्वारा अधिक स्वाभाविक है। सिंहल का भी उल्लेख दोनों कृतियों में है। वह सिंहल कहाँ है, इसे जानने का प्रयास व्यर्थ-सा है। उस समय की कहानियों में सिंहल का आना आवश्यक है। पद्मावती में 'जायसी' ने यत्र-तत्र आध्यात्मिक संकेत रक्खे हैं, किन्तु भविष्यदत्तकथा को एक धार्मिक कथा का रूप ही दे दिया है। अतः उस प्रकार के संकेतों को ढूंढ़ना निरर्थक है। ढूंढ़ने पर मिलना असम्भव नहीं है। 'जायसी' ने पद्मिनी की हार मान कर मृत्यु दिखाई है और इस प्रकार हरण करने से बचा दिया है, किन्तु भविष्यदत्तकथा में बन्धुदत्त ने भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण किया है। पीछे घटनाचक्र के अनुकूल होने से उसे अपनी स्त्री वापिस मिल जाती है और बन्धुदत्त को दंड मिलता है। इस प्रकार काव्य-न्याय का धनपाल ने निर्वाह किया है।

इसको हम यहीं छोड़ कर प्राकृत में लिखी एक अन्य जैन-कथा से हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के आदर्शग्रन्थ 'पद्मावत' की कथा से समता करके देखेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि ये कहानियाँ जैनों द्वारा पहले ही काव्य-रचना के लिए अपनाई जा चुकी थीं और प्रेममार्गी सूफ़ी-धारा उसी का एक परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण है।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती की प्राकृत में लिखी एक 'रयणसेहरी नरवइ कहा' कथा मिलती है। कहानी को पौषध सप्तमी अष्टमी व्रत के दृष्टान्त के रूप में रक्खा गया है। इस कथा में हिन्दी काव्य 'पद्मावत' की सब बातें

---

[1] भविष्यदत्तकथा सूर्य पंचमी व्रत के दृष्टान्त के रूप में कही गई है।

न्यूनाधिक रूप में मिल जाती हैं। 'जायसी' के रत्नसेन ही इस कथा के 'रत्नशेखर नरपति' हैं। इसके अतिरिक्त सिंहल का वर्णन, योग का उल्लेख, तोतापक्षी (यद्यपि उसका नाम हीरामन नहीं है—नामकरण संस्कार या तो जायसी ने किया होगा या कि कथा के किसी रचयिता ने), इन्द्रजाल आदि सब बातों का वर्णन है। पद्मावती के स्थान पर रानी का नाम रत्नावती है, लेकिन 'पद्मिनी' शब्द मिलता है। रत्नावती के मुख से ही इस प्रकार उसका प्रयोग हुआ है। रतनशेखर की शोभा पर मुग्ध होकर वह कहती है—

'हे नाह ! दूरदेसे ठिओ विहिअयम्मि धारिओसि मए।
सूरं विणा समीहइ अहवा कि पउमिणी अन्नं ॥

—रयणसेहरीकहा ८५ ॥

'जायसी' ने 'पद्मावती' नाम अच्छा समझा। अतः उसे ही रक्खा। उस नाम से भी कथा प्रचलित रही होगी, ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है। 'पद्मावत' में 'पद्मिनी'-हरण के लिए अलाउद्दीन को उपस्थित करना निस्सन्देह ही 'जायसी' की नई सूझ है। वह ऐतिहासिक सत्य है, यह कहना थोड़ा कठिन है। रयणसेहरी कथा में भी रानी का हरण हुआ है, लेकिन अन्त में वह इन्द्रजाल सिद्ध होता है और इस प्रकार रानीहरण को इन्द्रजाल सिद्ध करके एक धार्मिक वातावरण में कथा का अन्त किया है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन साहित्य से इस प्रकार की अनेक काव्यमय आख्यायिकाओं के रूप हमारे प्रारम्भिक हिन्दी-कवियों को मिले और प्रेममार्गी कवियों ने उन पर काव्य लिख कर अच्छा मार्ग प्रस्तुत किया। आगे चलकर कई कारणों से वह धारा रुक गई।

दूसरी प्रधान धारा जैन-साहित्य में 'उपदेश' की है। यह अधिक प्राचीन है। यह उपदेशात्मकता हमें भारतीय साहित्य में सर्वत्र मिल सकती है, लेकिन जैन-साहित्य की उपदेशात्मकता गृहस्थ-जीवन के अधिक निकट आ गई है। भाषा और उसकी सरलता इसके प्रधान कारण हैं। वर्तमान 'साधुवर्ग' पर जैनसाधुओं और सन्यासियों का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है। जो हो, हिन्दी-साहित्य में इस उपदेश (रहस्यवाद मिश्रित) परम्परा के आदि प्रवर्तक कबीरदास हैं और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्ती रूप जैन-रचनाओं में हमें प्राप्त होता है। सिद्धों का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव है, लेकिन उस पर विचार करना विषयान्तर होगा। यह कहना अनुचित और असंगत न होगा कि हिन्दी की इस काव्यधारा पर भी जैन-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कुन्दकुन्दाचार्य, योगीन्दु देवसेन और मुनि रामसिंह इत्यादि कवियों की उपदेश-प्रधान शैली और सन्त साहित्य की शैली में बहुत समानता है। जिस प्रकार घरेलू जीवन (कबीर ने प्रायः उपमान सामान्य जीवन से लिये हैं—जुलाहों, रहट की घरी आदि) के दृश्य लेकर सन्त कवियों ने अपने उपदेशों और सिद्धान्तों को बहुत दूर तक जनता में पहुँचाया, उसी प्रकार इन जैन-कवियों ने भी किया था। सिद्धों से यह धारा किसी प्रकार कम व्याप्त नहीं थी और प्राचीन भी काफ़ी थी। भक्ति के सब प्रधान अंगों का वर्णन इसमें हमें मिलता है। सन्तों पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है।

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि लोक-जीवन के स्वाभाविक चित्र अपभ्रंश काव्य में हमें बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। शृंगार, (संयोग और वियोग), बालवर्णन एवं अन्य गृहस्थ-जीवन के स्वाभाविक चित्रण प्रायः प्राप्त होते हैं। 'सूरदास' के शृंगार के चित्रों से समानता रखने वाले वर्णन और उनकी बाललीला की याद दिलाने वाले वर्णन भी अपभ्रंश साहित्य में पाना कठिन नहीं है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पद्यों में शृंगार (विशेष कर वियोग—प्रोषित पतिका) के अनेक अच्छे उदाहरण हैं, जो सूरदास की गोपियों की याद दिला देते हैं। यहाँ दो-एक पद्य उद्धृत किये जा रहे हैं। एक पथिक दूसरे पथिक से अपनी प्रेमिका के विषय में पूछ रहा है—

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेंहि कञ्चुआ तिन्तुव्वाण करन्त ॥

हेमचन्द्र—प्राकृत व्याकरण ८. ४३१.

दूसरा उदाहरण एक वियुक्त नायिका का दृश्य अंकित करता है—

हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउं हयविहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्ख-सयाइं ॥

—वही. ८. ३५७. ३.

एक वालवर्णन का चित्र भी यह दिखाने के लिए यहाँ उदधृत करते हैं कि उसे पढ़ कर भक्त-कवियों के वाल-वर्णन को याद आ जाती है, समानता भले ही कम हो। ऋषभदेव की वाललीला का वर्णन है—

सेसवलीलिया कीलमसीलिया।
पहुणादाविया केण ण भाविया ॥
धूलीधूसरु ववगयकडिल्लु सहजायकविलकोंतलु जडिल्लु।
घत्ता—हो हल्लरु जो जो सुहुं सुअहि पइं पणवंतउ भूयगणु।
णंदइ रिज्झइ दुक्कियमलेण कासुवि मलिगुण ण होइ मणु ॥
धूलीधूसरो कडिकिंकिणीसरो।
णिरुवमलीलउ कीलइ वालउ ॥

पुष्पदन्त—महापुराण-प्रथमखण्ड।

'हो हल्लरु' इत्यादि शब्दों को पढ़ते समय 'हलराय दुलराय' आदि शब्दों की ओर ध्यान चला ही जाता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के वर्णनों की झलक सूरदास में मिल जाती है, यह इसलिए कि दोनों ही लोक-जीवन के स्वाभाविक वातावरण से लिये गये हैं। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी की सभी काव्य-पद्धतियों का स्पष्ट स्वरूप हमें जैन-कवियों द्वारा प्राप्त हुआ है।

अब हम थोड़ा छन्दों पर विचार करके इस चर्चा को समाप्त करेंगे। हिन्दी-साहित्य में दोहा छन्द के दर्शन हमें सर्वप्रथम होते हैं। दोहा छंद अपभ्रंश का छन्द है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में भी एक दोहे के दर्शन होते हैं। उन अपभ्रंश पद्यों की प्रामाणिकता के विषय में कहने का यह उचित स्थल नहीं है। उस पर विचार करने की आवश्यकता अवश्य है। जो हो, जैन-कवियों द्वारा इस छन्द का प्रयोग सबसे पहले हुआ। उपदेश आदि के लिए यह छन्द बहुत लोकप्रिय हो गया। सन्त कवियों ने आगे चल कर इसे अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। ऊपर हम दोहे का प्रयोग शृंगार के लिए भी देख चुके हैं। अतः विहारी जैसे कवियों ने उसमें सफलतापूर्वक शृंगार रचना भी की है।

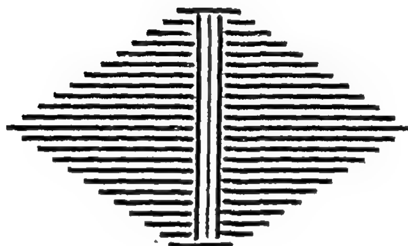
दोहा-चौपाई के ढंग की रचनाएँ भी अपभ्रंश साहित्य में हमें पर्याप्त मिलती हैं। चौपाई के पश्चात् दोहे के स्थान पर 'घत्ता' का प्रयोग हुआ है। पउमचरिय, भविष्यदत्तकथा, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, करकंडुचरिउ, सुदर्शनचरिउ आदि ग्रन्थों में दोहा-चौपाई के ढंग की छन्द-व्यवस्था ही है। इन ग्रन्थों में चौपाई के स्थान पर अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है, लेकिन 'घत्ता' का प्रयोग कडवक को पूरा करने के लिए अवश्य हुआ है। हिन्दी में जायसी के 'पद्मावत', तुलसीदास के 'मानस' में यही छन्द-व्यवस्था है, केवल दोहे ने 'घत्ता' का स्थान ले लिया है।

इसके अतिरिक्त अन्य कई मात्रिक छन्दों का प्रयोग भी हिन्दी में अपभ्रंश द्वारा ही आया है। विद्यापति, सूरदास एवं अन्य भक्त कवियों के पद पहेली बने हुए हैं, लेकिन अपभ्रंश छन्दों पर विचार करने से वह परम्परा स्पष्ट हो जाती है। अपभ्रंश कवि छन्द के दो चरणों को स्वतन्त्र पूर्ण चरण मान लेते हैं, अर्थात् चौपाई के पूरे चार चरण लिखने की आवश्यकता वे नहीं समझते हैं। दो चरण से ही छन्द समाप्त कर देते हैं। कभी एक चरण ही रख देते हैं और उसको स्थायी या ध्रुवक के रूप में कुछ पंक्तियों के वाद दुहराते होंगे। पदों की टेक या स्थायी का रूप इसी

में हमें मिलता है। उसके बाद और छन्दों की पंक्तियाँ रख कर पद या पूर्ण गीत बन जाता है। अपभ्रंश में संगीत की, लय की प्रधानता है, वर्णन स्वाभाविक रहता ही है। संगीत और लय दोनों का अपभ्रंश-कविता में सुन्दर विकास हुआ और यही हिन्दी पदशैली में हमें मिलता है। जयदेव आदि में वह सब ढूंढ़ने का प्रयास निष्फल है। जयदेव पर भी अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अपभ्रंश के छन्द प्रायः संगीत प्रधान हैं, वे ताल-गेय हैं। हिन्दी की पदशैली में भी यह सब है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-साहित्य ने भावधारा, विषय, छन्द, शैली आदि अनेक प्रकार के साहित्यिक उपकरण हिन्दी-साहित्य को प्रदान किये हैं। अभी तक बहुत कम जैन अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में आया है। उनके अधिकाधिक प्रकाश में आने पर यह प्रभाव और भी स्पष्ट होगा।

शांतिनिकेतन]



जैन-साहित्य का प्रचार

मुनि न्यायविजय

लगभग अठारह वर्ष पहले की बात है। हम पूना में चातुर्मास कर रहे थे। उस समय हमने ज्ञान पंचमी (कार्तिक शुक्ला पंचमी) के उपलक्ष में ज्ञान-पूजा के निमित्त जैन-साहित्य के सभी विषय के ग्रन्थों को अच्छी तरह प्रदर्शिनी के रूप में रख कर जैन व जैनेतर जनता को जैन-साहित्य के दर्शन करने का अवसर दिया था। हमारा यह समारम्भ पूर्ण सफल हुआ। इस अवसर पर पूना के जैनेतर विद्वान व कुमारी जान्सन हेलन आदि आये थे। इन सब को जैन-साहित्य की इतनी विपुल सामग्री देख कर अति प्रसन्नता हुई। उस समय एक प्रोफ़ेसर महाशय के कहे हुए शब्द हमें आज भी याद हैं। उन्होंने कहा था, "जैन-साहित्य इतना अधिक है, यह तो हमें आज ही ज्ञात हुआ है। हमने वैदिक साहित्य खूब पढ़ा है। हमारे लिए अब यह चर्वित चर्वण जैसा हो गया है। अब तो हम में जैन-साहित्य पढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। यहाँ जैसा प्रदर्शित किया गया है वैसा प्राचीन जैन-आगम-साहित्य, जैन-कथा-साहित्य, ज्योतिष विषयक जैन-साहित्य इत्यादि प्राचीन व अर्वाचीन साहित्य हमें मिल सके, ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए।"

उन महानुभाव के ये शब्द हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करते हैं कि जैन-साहित्य के प्रचार के लिए भगीरथ प्रयत्न करने की आवश्यकता है। जैन-साहित्य को विश्व के सम्मुख रखने का इस युग में अच्छा अवसर है, पर इसके लिए जैन-साहित्य के (जैन आगम से लगा कर जैन-कथा-साहित्य पर्यन्त के) हर एक विषय के ग्रन्थों को नवीन संशोधन-पद्धति से संशोधित-सम्पादित करके सुन्दर रूप में मुद्रित करना अपेक्षित है। प्रत्येक ग्रन्थ के साथ उसमें प्रयुक्त जैन-पारिभाषिक शब्दों का परिचय एवं उस ग्रन्थ का भाव राष्ट्र-भाषा हिन्दी एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाषा में दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस ग्रन्थ का महत्त्व विस्तार से समझाया जाना चाहिए।

इस दिशा में प्रयत्न करते समय मौलिक जैन-साहित्य के रूप में जो आगम ग्रन्थ विद्यमान हैं, उनके आदर्श मुद्रण और प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जो आगम ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं वे वर्तमान संशोधन-सम्पादन की दृष्टि से अपूर्ण प्रतीत होते हैं। इनके सुन्दर व सर्वांग-पूर्ण संस्करण प्रकाशित होने चाहिए। आगम के प्रकाशन के समय उसकी पंचांगी (भाष्य, निर्युक्ति, टीका आदि) को भी बिलकुल शुद्ध रूप में प्रकाशित करना चाहिए और यथासम्भव उनके विषय में गम्भीर पर्यालोचन करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जैन-आगम-साहित्य के प्रत्येक पहलू पर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, उतना ही अधिक जैन-संस्कृति का मौलिक रूप प्रकट हो सकेगा।

जयधवला, महाधवला एवं अन्य प्राकृत ग्रन्थों का भी इसी प्रकार आदर्श प्रकाशन होना चाहिए तथा संस्कृत एवं प्रान्तीय भाषाओं में प्राप्त जैन-साहित्य सुचारु रूप से प्रकाशित होना चाहिए।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि किसी भी जैन-ग्रन्थ को प्रकाशित करते समय यह ख़याल रखना चाहिए कि वह ग्रन्थ परम्परा से जैनधर्म को मानने वाले किसी एक समाज के लिए ही प्रकाशित नहीं किया जा रहा है। बल्कि जैनेतर जिज्ञासुओं की दृष्टि में रख कर ग्रन्थों का प्रकाशन होना चाहिए। भाव और भाषा इतने स्पष्ट और सरल होने चाहिए कि जैनेतर बन्धु को उसे समझने में कोई कठिनाई न हो। हम देखते हैं कि धर्मपालन की दृष्टि से भले ही न हो, पर एक मनन-योग्य साहित्य की दृष्टि से जैन-साहित्य की ओर न केवल जैनेतर भारतीय विद्वान ही आकृष्ट हुए हैं, प्रत्युत यूरोप और अमरीका के विद्वानों का ध्यान भी उधर गया है। उनके अध्ययन के लिए प्रामाणिक एवं सुबोध सामग्री प्राप्त कराने की दिशा में प्रयत्न होना आवश्यक है।

हाई स्कूल व कॉलेज के पाठ्य-क्रम में अर्ध-मागधी भाषा को स्थान दिया गया है और मद्रास, बंगाल आदि प्रान्तों में इस भाषा के अध्ययनकर्ता अच्छी संख्या में हैं। इस कारण उनके अध्ययन के लिए उपयोगी हो सकें और उन्हें प्रेरणा दे सकें, ऐसे जैन-ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित किये जाने चाहिए और अल्प मूल्य में जन-साधारण को सुलभ कराने का प्रबन्ध होना चाहिए।

जैन-साहित्य के कोष में इतनी विपुल सामग्री भरी पड़ी है कि वह साधारण व्यक्तियों से लेकर पंडित तथा इतिहास, ज्योतिष एवं भाषा-शास्त्र के अध्ययन करने वालों को बड़ी उपयोगी हो सकती है।

जैन-कथा-साहित्य अपने ढंग का निराला साहित्य है। संस्कृत एवं प्राकृत के विद्वानों का उससे खूब मनोरंजन हो सकता है।

तर्क-साहित्य, दर्शन-साहित्य और न्याय-साहित्य की तो मानो जैन-साहित्य अमूल्य निधि है। स्याद्वाद, नय व सप्तभंगी की निराली नींव पर खड़ा किया गया जैन-दर्शन का तर्क इतना गहरा जाता है कि वह मुक्ति के उपासक को अपूर्व रूप से प्रभावित कर देता है। इस विषय के सामान्य कोटि से लगा कर उच्चतम कोटि में रक्खे जाने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। जैन-दर्शन की सूक्ष्मता का स्पष्ट दर्शन इनमें होता है।

आत्म-दृष्टि या अन्तर्मुख-वृत्ति के इच्छुक के लिए जैन-तत्त्वज्ञान एवं उपदेश विषयक इतना सुन्दर साहित्य उपलब्ध है कि उसमें निमग्न होने वाला अवश्यमेव निजानन्द का अनुभव करने लगता है। इस विषय के ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें कठिन-से-कठिन मालूम होती आध्यात्मिक समस्या बड़ी ही सुगमता से समझाई गई है। परमाणुवाद का उल्लेख भी जैन-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कर्मवाद के बारे में जो जैन-साहित्य प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में रचा गया है, वह अपूर्व, अति सूक्ष्म एवं अद्वितीय है। इस साहित्य को देखने पर जैन-दर्शन को नास्तिक-दर्शन कहने वालों को जैन-दर्शन की परम आस्तिकता का पूरा-पूरा अनुभव हो सकता है। ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं है कि जैन-दर्शन का कर्मवाद विषयक साहित्य संसार में अपनी सानी नहीं रखता।

जैन-काव्य-साहित्य में रामायण, महाभारत जैसे सरल कोटि के ग्रन्थों से लगा कर नैषध व कादम्बरी जैसे गूढ़ ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। इसी प्रकार व्याकरण, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र आदि किसी विषय में भी जैन-साहित्य पिछड़ा हुआ नहीं है।

जैन-आगम-साहित्य का तो कहना ही क्या ! वह तो मानों उपर्युक्त सभी विषयों की साहित्य-गंगा को जन्म देने वाला हिमालय है। उसमें सभी समा जाते हैं। उससे सभी आविर्भूत होते हैं।

प्रश्न उठता है कि जब जैन-साहित्य इतना सर्वांगपूर्ण है तो फिर उसका इतना अल्प प्रचार क्यों ? इसका उत्तर स्पष्ट है। तिजोरी में पड़े हुए हीरे का यदि कोई मूल्य न पूछे तो उसमें हीरे का या मूल्य न पूछने वाले का क्या दोष ? दोष है उसे निरन्तर तिजोरी में मूंद रखने वाले लोभी व्यक्ति का। ठीक यही हाल हमारे जैन-साहित्य का है। हमारी अन्ध संग्रह-शीलता, अज्ञता एवं संकुचितता ने सारी दुनिया की सम्पत्ति रूप इस जैन-साहित्य को संसार की निगाह से ओझल कर रक्खा है; लेकिन सौभाग्य से विद्वानों का ध्यान अब इस ओर आकृष्ट हुआ है। अतः उसके प्रचार में पूरा-पूरा सहयोग देना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है।

जैन-साहित्य के प्रचार के बारे में विचार करते समय ईसा मसीह के मिशन का प्रचार करने के लिए हर एक भाषा में छोटी-छोटी पुस्तकें तैयार करा कर अल्प मूल्य में बेचते हुए उपदेशक हमारी आँखों के सामने आते हैं। प्रचार का यह तरीका, उस मलिन अंश को दूर करके, अपनाने लायक है। बिना लोक-भाषा अर्थात् जहाँ प्रचार किया जाय, वहीं की भाषा, का सहारा लिये किसी भी धर्म या मत का पूर्ण रूप से प्रचार नहीं हो सकता। इस बात की सत्यता तो स्वयं अर्धमागधी भाषा के जैन-आगमों से ही प्रकट होती है। भगवान् महावीर स्वामी व भगवान् बुद्ध ने पंडितों की संस्कृत भाषा को छोड़ कर अर्धमागधी व पाली भाषा को अपनाया। इसके पीछे यही भावना थी कि उनके उपदेशों को साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समझ सके।

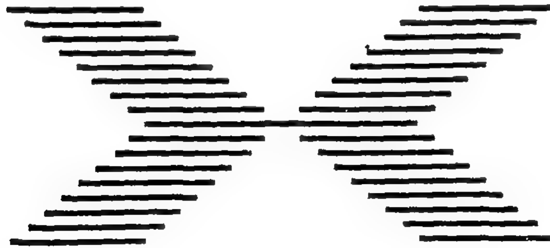
जैन-साहित्य के प्रचार का आयोजन करते समय हमें उन संस्थाओं का आदर्श अपने सम्मुख रखना चाहिए, जो लोक-कल्याण की भावना से ग्रन्थों का प्रकाशन करती हैं। जब तक निजी स्वार्थ को तिलांजलि देकर सत्साहित्य के प्रचार में न जुटा जायगा तब तक कुछ भी नहीं हो सकता।

जैन-साहित्य इतना सर्वाङ्ग सुन्दर साहित्य है और जैन-समाज में धन की कमी नहीं है। अगर समाज चाहे तो अल्प मूल्य क्या, विना मूल्य ही ग्रन्थों का वितरण कर सकता है। पर अभी समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का ध्यान इस ओर नहीं गया। अब समय आ गया है कि इस दिशा में भरसक प्रयत्न किया जाय। घोर हिंसा की पृष्ठ-भूमि में अहिंसा-प्रेरक साहित्य का जितना प्रचार किया जा सके, करना चाहिए।

इसके लिए हमें विद्वानों के संशोधन एवं सम्पादन मंडल, जैन-संस्कृति के केन्द्र रूप विद्यालय तथा आदर्श जैन-ग्रन्थालय भी जगह-जगह स्थापित कर देने चाहिए। जैन-साहित्य के किसी भी अंश के अध्ययन के लिए व्यक्तियों को पूरी सुविधाएँ मिल सकें, ऐसा प्रवन्ध होना चाहिए। छात्रवृत्ति, निवन्ध आयोजन, उपाधि-वितरण आदि द्वारा भी जैन-साहित्य के अध्येताओं की सहायता की जा सकती है। इस प्रकार का प्रवन्ध करना कठिन नहीं है, लेकिन ऐसा करने में एक वात का ध्यान रक्खा जाय कि जो कुछ भी किया जाय वह इतना दृढ़ता-पूर्वक किया जाय कि वरावर आगे चलता रहे।

इस वारे में सवसे अधिक यह कठिनाई अनुभव होती है कि योग्य कार्यकर्ता, विद्वान एवं प्रवन्धक पर्याप्त संख्या में नहीं मिल पाते। लेकिन इसकी व्यवस्था होना कठिन नहीं है, वशर्ते कि हम इस दिशा में अग्रसर होने के लिए कटिवद्ध हो जायँ। सरकार की ओर से जिस प्रकार शिक्षक तैयार करने के लिए शिक्षण केन्द्र चलाये जाते हैं, उसी प्रकार की संस्थाएं हम भी स्थापित कर सकते हैं।

त्रिपुटी]



जैन-साहित्य का भौगोलिक महत्व

श्री अगरचन्द नाहटा

किसी भी देश का इतिहास जब तक उस देशान्तर्गत ग्राम-नगर भूमि, उसके शासक और वहाँ के निवासी, इन तीनों का यथार्थ चित्र अंकित न कर दे तब तक उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भारतीय इतिहास अभी तक शासकों के इतिहास के रूप में ही विशेषतया हमारे सामने आया है। अतः इसे एकांगी ही कह सकते हैं। हमारे इतिहास की इस कमी को पूर्ण करने की नितान्त आवश्यकता है। भारत के ग्राम और नगरों के इतिहास की जो महत्त्वपूर्ण विशाल सामग्री जैन-साहित्य में पाई जाती है उसकी ओर हमारे इतिहास-लेखकों का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत निबन्ध लिखा जा रहा है।

प्राचीन काल से ही राजकीय इतिहास को अधिक महत्त्व देने के कारण उसके सम्बन्ध में जितनी सामग्री पाई जाती है, उतनी ग्राम, नगर एवं उसके निवासी जनसाधारण के इतिहास की नहीं पाई जाती। फिर भी भक्ति-प्रधान भारत में कई स्थानों के माहात्म्य धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं। उनके आधार पर एवं भारतीयेतर यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्त आदि द्वारा कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। जैनधर्म भारत में फला-फूला एवं हजारों वर्षों से जैनमुनि इस देश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक धर्म-प्रचार करते रहे हैं। अतः उनके साहित्य में भी भौगोलिक इतिहास की सामग्री अधिकाधिक पाई जाय, यह स्वाभाविक ही है। पर खेद है कि हमारे इतिहास-लेखकों ने इस ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया। इसलिए इस लेख में जैन-साहित्य के भौगोलिक महत्त्व की चर्चा की जा रही है।

जैन-साहित्य में सबसे प्राचीन साहित्य आगम-ग्रन्थ हैं। उनमें से ग्यारह अंग आदि कई ग्रन्थ तो भगवान् महावीर द्वारा कथित होने के कारण ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इन आगमों में तत्कालीन धर्म, समाज-व्यवस्था, संस्कृति, कला-साहित्य, राजनैतिक हलचल और राजाओं के सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अनुसन्धान करना परमावश्यक है। इन आगमों में जिन-जिन देश, नगर और ग्रामों का उल्लेख आया है, मैं यहाँ उन्हीं का संक्षिप्त परिचय करा कर मध्यकालीन-एतद्विषयक जैन-साहित्य का परिचय दूंगा। मेरा यह प्रयास केवल दिशासूचन के रूप में ही समझना चाहिए। विशेष अध्ययन करने पर और भी बहुत-सी जानकारी प्राप्त होने की सम्भावना है। आशा है, विचारशील विद्वद्गण इससे लाभ उठा कर हमारे इतिहास की एक महान् कमी को शीघ्र ही पूर्ण करने में प्रयत्नशील होंगे।

प्राचीन जैनागमों में जैनवाङ्मय के चार प्रकार माने गये हैं—१ द्रव्यानुयोग (आत्मा, परमाणु आदि द्रव्यों की चर्चा) २ गणितानुयोग (भूगोल-खगोल और गणित) ३ चरणकरणानुयोग (आचार, विधिवाद, क्रियाकाण्ड के निरूपक शास्त्र) और ४ धर्मकथानुयोग (धार्मिक पुरुषों के चरित्र)। इनमें भूगोल-खगोल का विषय दूसरे अनुयोग में आता है। इस विषय के कई मौलिक ग्रन्थ भी हैं और कई ग्रन्थों में अन्य बातों के साथ भूगोल-खगोल की भी चर्चा की गई है। दोनों प्रकार के कतिपय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

भगवतीसूत्र, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरंडक, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, वृहत्संघयणी, लघुसंघयणी, वृहत् क्षेत्रसमास, लघुक्षेत्रसमास, तिलोयपन्नति, मंडलप्रकरण, देवेन्द्र नरेन्द्र-प्रकरण, लोकनालिप्रकरण, जम्बूद्वीपसंघयणि, लोकप्रकाश आदि।

इन ग्रन्थों में पौराणिक ढंग से जैनभूगोल-खगोल की चर्चा है। मुनि दर्शनविजय जी ने अपने विश्वरचना-

प्रबन्ध[1] में इन ग्रन्थों में वर्णित बातों की तुलना जैनेतर पुराणों के साथ भी की है एवं मुनि धर्मविजय जी ने 'जैन-भूगोल' के नाम से एक वृहद्ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है।

जैनागमों में देशों के नाम

जैनागमों में भगवतीसूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है, जिसका अंगसाहित्य में पाँचवा स्थान आता है। इसके पन्द्रहवें शतक के गोशालक अध्ययन में भारत के सोलह प्रान्तों का नाम निर्देश पाया जाता है। यथा—

१ अंग, २ वंग, ३ मगध, ४ मलय, ५ मालव, ६ अच्छ, ७ वत्स, ८ कौत्स, ९ पाट, १० लाट, ११ वज्र, १२ मौली, १३ काशी, १४ कोशल, १५ अवाध और १६ संभुक्तर।

इसी सूत्र में ३।७वें शतक एवं नवें शतक के तेंतीसवें अध्ययन (देवानन्द के प्रसंग) में कई वार भारतेतर अनार्य देशों के नाम पाये जाते हैं। जैसे—

शवर, वर्वर, ढंकण, भुत्तुअ, पल्ह और पुलिंद यह ६ नाम अनार्य जाति के सूचक हैं। इन जातियों के नाम देशसूचक ही प्रतीत होते हैं।

शक, यवन, चिलात, शवर, वर्वर इन्हें अनार्य या म्लेच्छ वतलाया गया है।

देवानन्द के वस्त्रप्रसंग में चीनांशुक (चीन का रेशम) एवं चिलात देश की दासियों का उल्लेख है। इसी प्रकार प्रीतिदान के प्रसंग में पारसीक देश की दासियों का निर्देश पाया जाता है।

अनार्य देशों का विस्तृत विवरण सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण एवं प्रज्ञापनासूत्र में है—(१) सूत्रकृतांग के पृ० १२३ में—

शक, यवन, शवर, वर्वर, काय, मुरुंड, दुग्गोल(?) पक्वणक, आख्याक, हूण, रोमस, पारस, खस, खासिक, दुविल, यल(?), वोस(?), वोक्कस, भिल्ल, अन्ध्र, पुलिंद, क्रौंच, भ्रमर, रूथ, कांवोज, चीन, चुंचुक, मालय(?) द्रमिल और कुलाक्ष यह सव अनार्य देश हैं।

(२) प्रश्न व्याकरण के पृ० १२४ में—

शक, यवन, वर्वर, शवर, काय, मुरुंड, उद, भडक, तित्तक, पक्वणिक, कुलाक्ष, गौड़, सिंह(ल), पारस क्रौंच, अन्ध्र, द्राविड़, विल्वल, पुलिन्द, अरोष, डोंव, पोक्कण, गन्वहारक, वहलीक, जल्ल, रोम, माष, वकुश, मलय, चुंचुक, चूलिक (चोल!), कोंकण, मेद, पह्लव, मालवा, महुरा, आभाषिक, अनक्क (अनर्क), चीन, ल्हासिक, खस, खासिय, नेहर, महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरव, डोविलक, कुहण, केकय, हुण, रोमक, रुरु, मरूक और किरात, यह सव अनार्य[2] देश हैं।

(३) प्रज्ञापना पृ० ५५—

शक, यवन, किरात, शवर, वर्वर, मुरंड, उट्ट, भडक, निम्नक, पक्वणिक, कुलाक्ष, गोंड, सिंहल, पारस, गोध, क्रौंच, अंवड़ (?) द्रमिल, चिल्लल, पुलिंद, हार (?), ओस, डोंव, वोक्कण, अनक्क, अंध्र, हारव, पहलीक, अध्यल, अध्वर, रोम, भाष, वकुश, मलय, वंधुक, सूयलि (?), कोंकण, मेद, पह्लव, मालव, मग्गर (?), आभाषिक, कणवीर, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहर, भूढ़ डोविल, गलओस (?), प्रदोष, कर्कतक, हूण, रोमक, हूण, रोमक (?), भरु(मरु ?), मरुक और किरात, यह सव अनार्य हैं।

प्रज्ञापनासूत्र में २५॥ आर्यदेशों के नाम और उनकी राजधानियों का उल्लेख इस प्रकार है : १. राजगृह (मगध), २. चंपा (अंग), ३. ताम्रलिप्ति (वंग), ४. कंचनपुर (कलिंग), ५. वाराणसी (काशी), ६. साकेत

---

[1] इसी ग्रन्थ के आधार पर 'जैन भूगोल' शीर्षक लेख लिख कर मुनि न्यायविजय जी ने सातवीं गुजराती साहित्य परिषद् के ग्रन्थ में प्रकाशित करवाया है।

[2] देखिए भगवतीसूत्र (पं० वेचरदास जी दोशी द्वारा सम्पादित) भा० २, पृ० ५३।

(कोशल), ७. गजपुर (कुरु), ८. सौरिक (कुशावर्त), ९. कांपिल्य (पांचाल), १०. अहिच्छत्र (जांगल), ११. द्वारवती—द्वारिका (सौराष्ट्र), १२. मिथिला (विदेह), १३. कौशाम्बी (वत्स), १४. नंदीपुर (शांडिल्य), १५. भद्दिलपुर (मलय), १६. वैराटपुर (वत्स, मत्स्य ?), १७. अच्छापुरी (वरुण), १८. मृत्तिकावती (दशार्ण), १९. शौक्तिकावती (चेदि), २०. वीतभय (सिंधुसौवीर), २१. मथुरा (शूरसेन), २२. पापा (भंग) २३. परावर्त्ता (मास), २४. श्रावस्ती (कुणाल), २५. कोटीवर्ष (लाट), २६. श्वेतांबिका (अर्ध केकय)।[1]

ज्ञाता धर्मकथा नामक छठे अंगसूत्र में भी मेघकुमार के प्रसंग में निम्नोक्त देशों की दासियों का उल्लेख पाया जाता है :

वर्बर, द्रमिल्ल, सिंहल, अरब, पुलिंद, बहल, शबर, पारस, बकुशि, योनक, पल्हविक, इसिनिका, बोलकिनी, लासिक, लकुसिक, पक्कणी, मुरुंडि।[2]

इसी सूत्र के मल्लि अध्ययन में कोशल, अंग, काशी, कुणाल, कुरु, पांचाल, विदेह, आदि देशों के नाम हैं।

इसी प्रकार उववाइ सूत्र में अनेक देशों की दासियों का उल्लेख है।

विभिन्न ग्रन्थों से नाम संग्रह करने का उद्देश्य है, उनके पाठान्तरों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना। इनमें से कई देश तो प्रसिद्ध हैं। अवन्ति देशों के वर्तमान नामादि पर प्रकाश डालने का विद्वानों से अनुरोध है।

मध्यकालीन साहित्य में देशों के नाम

देशों की संख्या बढ़ते-बढ़ते ८४, जो कि प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय संख्या है, तक जा पहुँची। सं० १२८५ के लगभग विनयचन्द्र रचित काव्य शिक्षाग्रन्थ में ८४ देशों का उल्लेख है—

चतुरशीतिर्देशा :—गौड़—कान्यकुब्ज—कौल्लाक—कलिंग—अंग—वंग—कुरंग—आचाल्य (?)—कामाक्ष—ओंड्र—पुंड्र—उड़ीश—मालव—लोहित—पश्चिम—काछ—वालभ—सौराष्ट्र—कुंकण—लाट—श्रीमाल—

[1] देखिए पं० बेचरदास द्वारा अनुवादित 'भगवान महावीर नी धर्मकथाओ' पृ० २०७।

[2] जंबूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र में भी इन देशों के नाम की संग्रहगाथा इस प्रकार पाई जाती है—

खुज्जा, चिल्लाइ, वीमणि, वड़भीओ, वव्वरी, वउसियाओ। जोणिय, पल्हवियाओ, इसिणिया, वारु किणियाओ (१) लासिय, लउसिय, हामिली, सिंहल्लीतह अरुवि पुलिंदीओ। पक्कणि वहलि मुरुंडी सबरी पारसियाओ (२)।

इसी ग्रन्थ में भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय के अधिकार में भी सिंहल, वर्बर, आरब, रोम, अलसंड, पिक्खुर, कालमुख, जोनक, चिलात आदि देशों एवं वैताढ्य आदि पर्वतों का उल्लेख एवं विविध भौगोलिक सामग्री पाई जाती है।

तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति के अध्याय ३ सूत्र पन्द्रहवें की व्याख्या में शक, यवन, किरात, कांबोज, बाल्हीकादि को अनार्य बतलाया गया है।

प्रज्ञापना सूत्र के आधार से ही प्रवचन सारोद्धार के २७४-२७५वें अधिकार में प्रायः उन्हीं २६ आर्य देशों, उनकी नगरियों एवं म्लेच्छ देशों के नाम दिये हैं (गाथा १५८३ से ८५)। इसी प्रकार आवश्यकसूत्र में भी अनार्य देशों के नाम हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने अपने त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित्र (पर्व २ सर्ग ४) में निम्नोक्त देशों के नाम दिये हैं —

द्राविड़, अंध्र, कलिंग, विदर्भ, महाराष्ट्र, कोंकण, लाट, कच्छ, सोरठ, म्लेच्छ—सिंहल, वर्बर, टंकण, कालमुख, जोनक, यवनद्वीप, कच्छदेश।

आदन, हावस, मुर्गद, सुंधगिरि, सोकोत्तर, चोलनार, पांड्य, तालीद, त्रिकूति, भोट, महाभोट, चीण, महाचीण, बंगाल, खुरसाण, मगध, वच्छ, गाजणा।

अर्वुद—मेदपाट—मरुवरेंद्र—यमुना—गंगा तीर—अंतर्वेदि—मागध—मध्य कुरु—डाहल—कामरूप—कांची—अवंती—पापांतक—किरात—सौवीर—श्रौसीर—वाकाण—उत्तरा पथ—गुर्जर—सिंधु—केकाण—नेपाल—टक्क—तुरुस्क—लाइकार—सिंघल—चौड़—कोशल—पांडु—अन्ध्र—विंध्य—कर्णाट—द्रविण—श्रीपर्वत—वर्वर—जर्जर—कीर—काश्मीर—हिमालय—लोहपुरुष—श्रीराष्ट्र—दक्षिणापथ—विदर्भ—धाराउर—लाजी—तापी—महाराष्ट्र—आभीर—नर्मदातट—दी (द्वी) पदेशाश्चेति।

इसके पश्चात इस ग्रंथ में कई देश एवं नगरों के ग्राम संख्यादि का भी निर्देश किया है। (देखें, पाटण भंडार सूची पृ० ४८-४९)।

सं० १४७८ में माणिक्यसुन्दरसूरि रचित पृथ्वीचंद्र चरित्र में भगवान ऋषभदेव के ९८ पुत्रों के नाम से प्रसिद्ध हुए ९८ देशों के नाम की सूची इस प्रकार दी है—

काश्मीर, कीर, कावेर, काम्वोज, कमल, उत्कल, करहाट, कुरु, क्वाण, ऋथ, कौशक, कोशल, केशी, कारुत, कारुख, कछ, कर्नाट, कीकट, केकि, कौलगिरि, कामरू, कुंकण, कुंतल, कालिंग, करकूट, करकंठ, केरल, खस, खर्पट, खेट, गौड़, अंग, गौण्य, गांगक, चौड़, चिल्लिर, चैत्य, जालंधर, टंकण, कोणियाण, गहल, तुंग, ताज्जिक, तोसल, दशार्ण दंडक, देवसम, नेपाल, नर्तक, पंचाल, पल्लव, पुंड्र, पांडु, प्रत्यगथ, अर्वुद, वभ्रु, वंभीर, भट्टीय, माहिप्यक, महोदय, मुरुंड, मुरल, मेद, मरु, मुद्गर, मंकन, मल्लवर्त, महाराष्ट्र, यवन, रोम, शटक, लाट, ब्रह्मोत्तर, वह्मावर्त्त, ब्राह्मणा-वाहक, विदेह, वंग, वैराट, वनवास, वनायुज, वाहलीक, वल्लव, अवंति, वह्नि, शक, सिंहल, सुम्ह, सूर्पखु, सौवीर, सुराष्ट्र, सुरंड, अस्मक, हूण, हर्मोक, हर्मोज, हंस, हुंडुक, हेरक. . . .

जैनागमों में नगर एवं ग्रामों का उल्लेख

जैनागमों में देशों के नाम के अतिरिक्त उन देशों के मुख्य नगर एवं ग्रामों का भी अच्छा वर्णन पाया जाता है। कई नगरों के वनखंड उद्यान, यक्षमंदिर आदि जहाँ कि जैनमुनि रहते थे, उनका भी वर्णन किया गया है। पूरी खोज करने पर इस विषय में वहुत कुछ नवीन ज्ञातव्य मिल सकता है, यहाँ तो यथाज्ञात थोड़े से नामों का संग्रह किया जा रहा है। कई नगरों के उल्लेखों में तत्कालीन राजाओं[1] का भी उल्लेख है।

भगवतीसूत्र—

श्रावस्ती (कोष्टक चैत्य), कृतंगला (छत्रपलाशचैत्य), ताम्रलिप्ति (वेमेल सन्निवेश), सुसुमारनगर (अशोक वनखण्ड), वाणिज्यग्राम (दूतिपलाशचैत्य), हस्तिनापुर (सहस्रादन उद्यान, शिवराजा, धारणी राणि शिविभद्रकुमार), कौशाम्वी (चन्द्रावतरणचैत्य—उदायी राजा, शतानिक का पुत्र—मृगावर्त राणी), वीतभयपत्तन (सिंधु-सौवीर देश—मृगवन उद्यान—उदायन राजा, प्रभावती रानी, अभिचीकुमार पुत्र, कैशीकुमार—भानजा), उल्लुकतीर (जंवूक चैत्य), राजगृह (गुणशील चैत्य, मंडिकुक्षि चैत्य), चंपानगरी (पूर्णभद्र चैत्य, अंगमंदिर, कौणिक राजा), वैशाली (कुंडियायन चैत्य, चेटक राजा), ब्राह्मण कुंड (वहुशालक चैत्य), क्षत्रियकुण्ड, तुंगिया नगरी (पुष्पवती चैत्य), आलभिका (संखवन, प्राप्तकाल चैत्य), उद्दण्डपुर (चन्द्रावतरण चैत्य) वाराणशी (काममहावन), काकंदी नगर, मेढियाग्राम (साणकोप्टक चैत्य) कूर्मग्राम, अस्थिग्राम, कोलाकसन्निवेश (नालंदा के पास) मोका नगरी (नंदन चैत्य), नालंदा (राजगृह के वाहर), सिद्धार्थग्राम, कर्मारग्राम, पणियभूमि, विशाला (वहुपुत्रिक चैत्य)।

उपरोक्त सभी ग्रामनगरों का निर्देश भगवतीसूत्र से संकलित किया गया है। इनके अतिरिक्त आचारांगसूत्र में लाटभूमि, वज्रभूमि, शुभ्रभूमि के नाम आते हैं। ज्ञातासूत्र में शुक्तिमती, हस्तिशीर्ष, मथुरा, कौड़िन्यनगर,

---

[1] जैसे ठाणांगसूत्त के ८वें स्थानक में १ वीरांगक, २ वीरजस, ३ संजय, ४ ऐणेयकं, ५ श्वेत, ६ शिव, ७ उदायन और ८ शंख इन ८ राजाओं को तो भगवान महावीर ने दीक्षित किया लिखा है।

विराट नगर, कांपिलनगर, (पांचालदेश) वाराणसी, द्वारिका, मिथिला, अहिच्छत्रा, कांपिल्य, पांडुमथुरा, हत्थकप्प, साकेतपुरी, इन नगरों के नामों के साथ सम्मेत, उज्जयंत, शत्रुंजय, नील पर्वत, वैभारगिरि आदि पर्वतों का भी निर्देश पाया जाता है। ७वें अंग उपासक दशा में कंपिलपुर, पोलासपुर, यह नाम उपरोक्त नामों के अतिरिक्त है।

अंतगड दशासूत्र में कुछ विशेष स्थलों के नाम निम्नोक्त आये हैं। राजगृह में मुद्गरपाणि यक्ष का मंदिर, पोलासपुर, भद्दिलपुर।

विपाक नामक ११वें अंग में विशेष नाम इस प्रकार हैं—मृगाग्राम, पुरिमताल, साभाजनी, पाटलिखंड, सौरिकपुर, रोहीतक, वर्धमानपुर, वृषभपुर, वीरपुर, विजयपुर, सौगंधिका, कनकपुर, महापुर, सुघोष।

रायपसेणइय नामक उपांग में आमलकप्पा नगरी और सेयविया नगरी का नाम आता है। ठाणांगसूत्र में गंगा नदी में यमुना, सरयू, आदी, कोशी, मही, इन ५ नदियों के मिलने का एवं सिंधु नदी में सेद्रु, भावितस्ती, वभासा, ऐरावती और चन्द्रभागा इन पांच नदियों के संम्मिलित होने का उल्लेख है।

समवायांग सूत्र में ७ पर्वत एवं १४ नदियों के नाम, गंगासिंधु के उद्गम एवं प्रपातस्थल (समवाय २५वां) आदि का वर्णन है।

भगवान महावीर के विहारस्थल के प्रसंग से कल्पसूत्र में पृष्टचंपा, भद्रिका, पावा आदि का उल्लेख किया है। विहार के सब स्थानों का परिचय आधुनिक अन्वेषण के साथ मुनि कल्याणविजय जी ने अपने 'श्रमण भगवान महावीर' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में 'विहारस्थलनामकोष' के शीर्षक से दिया है। यहाँ लेख विस्तारभय से उसकी चर्चा नहीं की गई है। अतः उक्त ग्रंथ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ।

जैन-तीर्थों के इतिहास संबंधी विशाल साहित्य

अपने से विशेष गुणवान एवं शक्तिसम्पन्न व्यक्ति के प्रति मनुष्य की पूज्यबुद्धि का होना स्वाभाविक एवं आवश्यक है। इसी भावना ने भक्तिमार्ग का विकास किया और क्रमशः अवतारवाद, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा आदि असंख्य कल्पनाएँ एवं विधिविधान प्रकाश में आते गये। तीर्थभावना का प्रचार भी इसी भक्तिवाद की देन है। जिस व्यक्ति के प्रति अपनी पूज्यबुद्धि होती है, उसके माता, पिता, वंश, जन्म-स्थान, क्रीड़ास्थान, विहारस्थल जहाँ कहीं भी उनके जीवन की कोई विशेष घटनाएँ हुई हों ऐवं उनकी वाणी, उनकी मूर्ति, आदि उस व्यक्ति के संबंध की सभी बातों के प्रति आदर बढ़ते-बढ़ते पूजा का भाव दृढ़ होने लगता है और अपने पूज्य व्यक्ति का जहाँ जन्म हुआ हो, निवास रहा हो, उन्होंने जहाँ रह कर साधना की हो, जहाँ निर्वाण एवं सिद्धि प्राप्त की हो, उन सभी स्थानों को 'तीर्थ' कहा जाने लगता है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में हम इसीलिए तीर्थों की यात्रा का महत्त्व पाते हैं। जैनधर्म में भी तीर्थंकरों से संबंधित स्थानों को तीर्थ कहा गया है और उनकी यात्रा से भावना की शुद्धि एवं वृद्धि होने के कारण उसका बड़ा भारी फल बतलाया गया है, क्योंकि उन स्थानों का वातावरण बड़ा शान्त एवं पवित्र होता है। वहाँ जाते ही उन तीर्थंकरों की पवित्र स्मृति चित्त में जाग्रत होती है। इससे चित्त को बड़ी शान्ति मिलती है। अतएव वहाँ उनके चरणचिह्न या मूर्ति की स्थापना की जाती है, जिससे उनकी स्मृति की जाग्रति में सहायता मिले। पीछे से मूर्ति की प्राचीनता, भव्यता, प्रभाव, चमत्कार आदि के कारण कई अन्य स्थान भी, जहाँ तीर्थंकरों के जीवन का कोई संबंध नहीं था, तीर्थ रूप माने जाने लगे। फलतः आज छोटे-मोटे अनेक तीर्थ जैन-समाज में प्रसिद्ध हैं। समय-समय पर जैन मुनि एवं श्रावक वहाँ की यात्रा करते रहे हैं और उनका वर्णन लिखते रहे हैं। इसी कारण जैन तीर्थों संबंधी ऐतिहासिक सामग्री भी बहुत विशाल रूप में पाई जाती है। यद्यपि जैनेतर तीर्थों के माहात्म्य का साहित्य भी बहुत विशाल है, तथापि उसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव-सा ही पाया जाता है। इस दृष्टि से जैन साहित्य विशेष महत्त्व का है।

रास्ते की कठिनाइयों के कारण प्राचीन काल में यात्रा आज जैसी सरल एवं सुलभ नहीं थी। इसी कारण सैकड़ों और हजारों व्यक्तियों के सम्मिलित यात्री-संघ निकलते थे। उनके साथ साधु भी रहा करते थे। साधुओं का आचार ही पैदल चलना है। श्रावक लोग भी अधिकांश पैदल ही चलते थे। रास्ते में छोटे-बड़े ग्राम-नगरों में ठहरना होता था और वहाँ के मंदिरों के दर्शन किये जाते थे। विद्वान मुनि उस यात्री संघ का वर्णन करते समय मार्ग के ग्राम नगर तथा वहाँ के निवासियों का वर्णन भी लिखते थे। यह साहित्य भौगोलिक दृष्टि से जितना अधिक उपयोगी है, उतना अन्य कोई भी साहित्य नहीं है।

जैन तीर्थों संबंधी साहित्य में भारतीय ग्राम नगरों के इतिहास की अनमोल सामग्री भरी पड़ी है, पर इस ओर अभी तक हमारे इतिहास-लेखकों का ध्यान नहीं गया। अतः भारत के ग्राम नगरों का बहुत कुछ इतिहास अंधकार में ही पड़ा है, जिसको प्रकाश में लाने की परमावश्यकता है। जैन तीर्थों संबंधी जितने साहित्य का पता चला है, उनकी सूची यहाँ दी जाती है।[1] अभी जैन भंडारों की पूरी खोज नहीं हुई है और बहुत सा साहित्य नष्ट भी हो चुका है। अतः इस सूची को काम चलाऊ ही समझना चाहिए। स्वतंत्र शोध करने पर और भी बहुत-सा साहित्य मिलेगा।

तीर्थों की प्राचीनता एवं विकास

मूल जैनागमों में स्वर्ग में स्थित जिन-प्रतिमाओं, तीर्थंकरों की पादाओं एवं नंदीश्वर द्वीप में स्थित शाश्वत जिन-प्रतिमाओं की भक्ति एवं पूजन का उल्लेख मिलता है, पर तीर्थ रूप में किसी स्थान का उल्लेख नहीं मिलता। अतः तीर्थ-भावना का विकास पीछे से हुआ ज्ञात होता है। आगमों की निर्युक्तियों में तीर्थ-भावना के सूत्र दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम आचारांग निर्युक्ति (भद्रबाहु रचित) में कुछ स्थानों का नामोल्लेख आता है। यद्यपि वहाँ तीर्थ शब्द नहीं है, फिर भी उन स्थानों को महत्त्व दिया गया है—नमस्कार किया गया है। अतः इसे तीर्थ-भावना का आदि सूत्र कहा जा सकता है। वह उल्लेख इस प्रकार है :

अट्ठावय उज्जिंते गयग्गपए य धम्म चक्केय
पासरहा वत्तणयं चमरूप्पायं च वंदामि ।४६॥

गजाग्रपदे—दशार्णकूटवर्तिनि तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्र महिमा स्थाने।—आचारांग निर्युक्ति व वृत्ति पत्रांक ४१८।

निर्युक्तियों के पश्चात् चूर्णि एवं भाष्यों की रचना हुई। उनमें से निशीथचूर्णि में तीर्थभूत कतिपय स्थानों का निर्देश इस प्रकार पाया जाता है—

"उत्तरावहे धम्मचक्कं, मयुराए देवणिम्मिओथूमो। कोसलाए जियतंसामि पडिमा, तित्थंकराणं वा जम्मभूमिओ। (निशीथचूर्णि पत्र २४३-२)।

जैन मंदिरों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। अतः भाष्य एवं चूर्णि में अष्टमी, चतुर्दशी, आदि पर्वदिनों में समस्त जैनमंदिरों की वन्दना करने का विधान किया गया है और ऐसा न करने पर दंड भी बतलाया गया है। यथा—

---

[1] जैनतीर्थों के सम्बन्ध में प्रकाशित ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट में दी जा रही है। इससे तीर्थों की अधिकता एवं एतद्विषयक सामग्री की विशालता का कुछ आभास हो जायगा। अप्रकाशित साहित्य का ढेर लगा पड़ा है। मेरे संग्रह में भी ५०० पृष्ठों की सामग्री सुरक्षित है, जिसे सम्पादन कर प्रकाशित करने का विचार है।

प्रकाशित साहित्य की सूची भी स्वतंत्र पुस्तकों की ही दी है। इनके अतिरिक्त जैन साहित्य संशोधक, जैनयुग, कॉन्फरेन्स हेरल्ड, जैनसत्यप्रकाश, पुरातत्त्व आदि अनेक पत्रों में प्राचीन रचनाएं एवं भ्रमणादि के लेख प्रकाशित हुए हैं।

निस्सकड मनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेलं व चेइग्राणि व नाउं इक्किक्किया वा वि (भाष्य)
ग्रट्ठमी चउद्दसीसु चेइय सव्वाणि साहुणा सव्वे
वंदेयव्वा नियमा ग्रवसेस तिहिसु जहसत्ति।
ए एव चेव ग्रट्ठमी मादीसु चेइयाइं साहुणो वा जे ग्रण्णाए
वसहीए ठिग्रा ते न वंदंति मास लंहु। (व्यवहार भाष्य व चूर्णि)

महानिशीथ सूत्र में तीर्थयात्रा करने का स्पष्ट उल्लेख है—

"ग्रहन्नया गोयमा ते साहुणो तं ग्रायरियं भणंति जहाणं जइ भयवं तुमं ग्राणावहि ताणं ग्रम्हेहिं तित्थयत्तं करि (र) या चंदप्पह सामियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो। (महानिशीथ—५-४३५)।

तीर्थों के इतिहास की सामग्री

जैन तीर्थों के ऐतिहासिक साधन दिगम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा श्वेताम्बर समाज में बहुत अधिक हैं। तीर्थों के संबंध में मौलिक रचनाओं का प्रारम्भ १३वीं शताब्दी से होता है। गुजरात के महान् मंत्रीश्वर वस्तुपाल, तेजपाल के कारित जिनालयों वा उनकी प्रतिमाओं के प्रसंग को लेकर उसी समय 'ग्राबूरास' एवं 'रेवंतगिरि रासो' की रचना हुई। इसके पश्चात १४वीं शताब्दी से ग्रब तक तीर्थमालाग्रों, चैत्यपरिपाटियों, संघवर्णन ग्रादि के रूप में भाषा एवं संस्कृत के काव्य सैकड़ों की संख्या में प्राप्त हैं। यहाँ उन सबकी सूची देना संभव नहीं है, पर उनपर सरसरी निगाह डाल ली जाती है, जिससे इस विशाल सामग्री का ग्राभास पाठकों को हो जाय।

जैन तीर्थों के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिनप्रभसूरि विरचित 'विविध तीर्थकल्प'[1] है, जिसके महत्त्व के संबंध में मुनि जिनविजय उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना के प्रारंभ में लिखते हैं—

"श्री जिनप्रभसूरि रचित 'कल्पप्रदीप' ग्रथवा विशेषतया प्रसिद्ध 'विविध तीर्थकल्प' नाम का यह ग्रन्थ जैन साहित्य की एक विशिष्ट वस्तु है। ऐतिहासिक ग्रौर भौगोलिक दोनों प्रकार के विषयों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत कुछ महत्त्व है। जैन साहित्य में ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य में भी इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ ग्रभी तक ज्ञात नहीं हुग्रा। यह ग्रन्थ विक्रम की १४वीं शताब्दी में, जैन धर्म के जितने पुरातन ग्रौर विद्यमान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थस्थान थे, उनके संबंध की प्रायः एक प्रकार की गाइडबुक है। इनमें वर्णित उन-उन तीर्थों का संक्षिप्त रूप से स्थान-वर्णन भी है ग्रौर यथाज्ञात इतिहास भी।"

इस प्रकार का संग्रहग्रन्थ तो दूसरा नहीं है, पर कतिपय तीर्थों का इतिहास उपदेशसप्तति[2] (सोमधर्मगणिरचित र० सं० १५०३) में पाया जाता है। सं० १३७१ के शत्रुंजय उद्धार का विस्तृत वर्णन समरा रास एवं नाभि नंदनोद्धार प्रबंध[3] (कक्कसूरिरचित सं० १३९३) में पाया जाता है। शत्रुंजय तीर्थ के कर्माशाहकारित 'जीर्णोद्धार' का संक्षिप्त वर्णन शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबंध[4] में है। फुटकर प्रबंधसंग्रहों[5] में भी कई तीर्थों के प्रबन्ध प्राप्त होते हैं। लोकभाषा में

---

[1] सिंघी-जैन-ग्रन्थमाला से प्रकाशित।
[2] श्री जैन ग्रात्मानन्द सभा से प्रकाशित।
[3] हेमचन्द्र जैनग्रन्थमाला से प्रकाशित।
[4] मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित, ग्रात्मानंद सभा, भावनगर से प्रकाशित।
[5] सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'पुरातन प्रबंध संग्रह'।

रचित तीर्थमालाओं चैत्य परिपाटियों[२] की संख्या प्रचुर हैं, जिनमें कई तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से कई रचनाओं में तो मार्ग के स्थानों का भी अच्छा वर्णन है। कइयों में जैन मंदिरों, उनके निर्माताओं के उल्लेख के साथ उन-उन मंदिरों की प्रतिमाओं की संख्या भी बतलाई गई है। साधारण रचनाओं में से कइयों में केवल तीर्थस्थानों का नाम-निर्देश एवं कवि ने अपनी यात्रादि के समयादि का उल्लेख ही किया है। जैन तीर्थों में शत्रुंजय तीर्थ तीर्थाधिराज कहलाता है। इस तीर्थ के संबंध में सबसे अधिक सामग्री प्राप्त होती है। पौराणिक ढंग से इस तीर्थ के माहात्म्य में धनेश्वरसूरि जी रचित 'शत्रुंजय माहात्म्य' नामक विशाल ग्रन्थ पाया जाता है एवं कई 'कल्प' उपलब्ध हैं। इस तीर्थ के पश्चात आबू एवं गिरिनार का नाम उल्लेखनीय है। जैन-तीर्थ भारत के चारों कोनों में जैनों का निवास होने के कारण सर्वत्र फैले हुए हैं, पर मध्यकाल से अब तक गुजरात के आसपास का प्रदेश ही श्वेताम्बर जैनों का केन्द्र होने के कारण अन्य प्रान्तों के स्थानों संबंधी सामग्री अपेक्षाकृत थोड़ी ही है।

मौलिक सामग्री के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी जैन तीर्थों के संबंध मे बहुत सी महत्त्वपर्ण बातें पाई जाती हैं। ऐसे ग्रन्थों में पेथड़रास, विमलप्रबंध, विमलचरित्र, वस्तुपाल और तेजपाल के चरित्र, रास, समरा रास, प्रताप सिंध रास आदि मुख्य हैं। कतिपय आचार्यों के रास एवं पट्टावलियोंमें भी अच्छी ऐतिहासिक सामग्री पाई जाती है। विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि विज्ञप्तिपत्र एवं खरतर गुर्वावली जैसे भ्रमणवृत्तान्त भी उल्लेखयोग्य हैं।

ग्राम एवं नगरों के इतिहास के अन्य साधन

जीवन-चरित्र संबंधी ग्रन्थों, काव्यों एवं तीर्थस्थानों संबंधी साहित्य के अतिरिक्त अन्य कई साधन भी जैन साहित्य में हैं, जिनके द्वारा भारत के ग्राम एवं नगरों का महत्त्वपूर्ण इतिहास संकलित किया जा सकता है। उनकी कुछ चर्चा कर देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसे साधनों में नगर वर्णनात्मक गजलें विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। हमारी खोज से ऐसी पचासों गजलों की प्राप्ति हुई है, जिसे भारतीय साहित्य में एक नवीन वस्तु ही कहा जा सकता है। इन गजलों में एक-एक नगर का अलंकारिक भाषा में वर्णन होने के साथ-साथ वहाँ के जैन-जैनेतर सभी दर्शनीय एवं

---

[१]तीर्थमालाओं में अपने यात्रा किए हुए या सुने हुए तीर्थों के नाम, उनका माहात्म्य, प्रतिमा आदि का वर्णन एवं स्तुति होती है। ऐसी तीर्थमालाओं का प्रारंभ भी १३वीं शताब्दी के लगभग से ही होता है। सिद्धसेन सूरि रचित सकलतीर्थस्तोत्र उपलब्ध तीर्थ स्तवनों में सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति पाटण के भंडार में उपलब्ध है। तीर्थमालाओं में सौभाग्यविजय और शीलविजय की तीर्थमालाएँ बहुत महत्त्व की हैं।

[२] चैत्य परिपाटी में किसी ग्रामनगर के समस्त मंदिरों की क्रमबद्ध यात्रा का (जिन-जिन तीर्थंकरों के जिनालय हों उन मंदिरों के नाम, किस मोहल्ले में हैं उनका भी निर्देश एवं किसी-किसी में प्रतिमाओं की संख्या की भी सूचना मिलती है) वर्णन किया जाता है। ऐसी चैत्य परिपाटियों में हेमहंसगणि व रंगसार रचित गिरनारचैत्यपरिपाटी, देवचन्द्र और खेमो आदि के रचित शत्रुंजय चैत्य परिपाटी, हंससोमरचित पूर्वदेश चैत्य परिपाटी, नगागणि की जालोर चैत्य परिपाटी, लाधा एवं विनय विजयजी रचित सूरत चैत्यपरिपाटी, जिन सुखसूरि आदि रचित जैसलमेर चैत्य परिपाटी, सिद्धसूर, ललितप्रभसूरि, हर्षविजय रचित पाटणचैत्य परिपाटी, डुंगर रचित खंभात चैत्य परिपाटी, जयहेमशि एवं गयेन्द्र रचित चित्रकूट चैत्य परिपाटी, धर्मवर्धन विमलचारित्रादि रचित बीकानेर चैत्य परिपाटी, खेमराज रचित मांडवगढ़ चैत्य परिपाटी, ज्ञानसागर रचित आबू चैत्य परिपाटी, अनंतहंसकृत इलाप्रकार चैत्य परिपाटी आदि अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं।

तीर्थ मालाओं, चैत्य परिपाटियों आदि का एक सुन्दर संग्रह श्री विजयधर्मसूरि जी ने 'प्राचीन तीर्थमाला संग्रह' के नाम से प्रकाशित किया है। जैनयुग, जैनसत्यप्रकाश आदि पत्र एवं कई ग्रन्थों में भी कई सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

उल्लेखनीय स्थानों का विवरण पाया जाता है। छोटे-छोटे दर्शनीय स्थानों का अन्यत्र कहीं भी इतिहास नहीं मिलता। उनका भी इनमें परिचय होने से उन स्थानों के समय, स्थान आदि का निर्णय करने के लिए महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। नगर वर्णनात्मक गजल साहित्य का निर्माण १७वीं शताब्दी से होता है। उपलब्ध गजलों में सबसे प्राचीन जटमल नाहररचित लाहौर गजल है। इसके पश्चात १८वीं शताब्दी में कवि खेतल ने उदयपुर (सं० १७५७) एवं चित्तौड़ (१७४८) की गजल, उदयचन्द्र ने बीकानेर गजल (१७६५), यति दुर्गादास ने मरोठ गजल (१७६५), लक्ष्मी चन्द्र ने आगरा गजल (१७८१), निहाल ने बंगाल (१७८२ से ६५) गज़ल बनाई। अनन्तर १६वीं शताब्दी में तो बीसों गजलें जैन कवियों ने बनाई हैं, जिनका परिचय स्वतंत्र लेखों में दिया जायगा।

ग्रामनगरों के अन्य ऐतिहासिक साधनों में श्रीपूज्यों के दफ़्तर,[1] आदेशपत्र,[2] समाचारपत्र, विज्ञप्तिपत्र, दूत-काव्य वंशावलिएं,[3] ऐतिहासिक काव्य (जैन आचार्यों, मुनियों और श्रावकों की जीवनी के रूप में ग्रथित) पट्टावलियाँ, उत्कीर्ण लेख और प्रशस्तियाँ आदि मुख्य हैं। इनके द्वारा नगरों की ही नहीं, छोटे-छोटे ग्रामों की प्राचीनता, स्थान अवस्थिति, प्राचीन नाम व उसका रूप एवं वहाँ के निवासियों का पता चल सकता है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैन साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व के साथ-साथ भौगोलिक महत्व भी बहुत है। अतः प्राचीन भूगोल और इतिहास के प्रेमी विद्वानों को इस अमूल्य साहित्य से समुचित लाभ उठाना चाहिए, जिससे भारतीय साहित्य के एक अंग की पूर्ति हो जाय।

---

[1] जैन साधुओं के आचार-विचार बड़े ही कठोर हैं। उनका यथारीति पालन न कर सकने के कारण जैनेतर मठाधीशों की भांति श्वेताम्बर समाज में भी श्री पूज्य, दिगम्बर समाज में भट्टारक नाम से संबोधित जैन नेता-गच्छनायक सैकड़ों वर्षों से होते आये हैं। ये जहाँ-जहाँ पधारते थे, उनके अनुयायी श्रावक उनकी विविध प्रकार से भक्ति करते थे। अतः ये अपने विहार (भ्रमण) की डायरी व आवश्यक घटनाओं के रेकार्डरूप दफ़्तर वही लिखकर रखने लगे, जिनमें कब कौन से ग्रामनगर में गये, वहाँ किस श्रावक ने क्या भेंट किया, भक्ति की, किसे दीक्षा दी गई, कहाँ मंदिरों की प्रतिष्ठा हुई, इत्यादि आवश्यक बातों को अपनी दफ़्तर बहियों में लिख लेते थे। ऐसे दफ़्तर इतिहास के अनमोल साधन हैं। पर खेद है इनमें से एक भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया। हमें ऐसे ४-५ दफ़्तर देखने का सुयोग मिला है, पर संकोचवश दफ़्तर जिनके पास हैं वे प्रायः बतलाते नहीं, न नकल या प्रतिलिपि ही करने देते हैं। आपसी फूट और अज्ञानतावश बहुत से दफ़्तर अब नष्ट भी हो चुके हैं। फिर भी जितने बच पाये हैं, प्रयत्न कर प्राप्त किये जायें तो बहुत ही अच्छा हो।

[2] गच्छनेता अपने शिष्यादि को जहाँ-जहाँ जाकर धर्मप्रचार करने की आज्ञा पत्रों द्वारा देते थे ऐसे पत्रों को 'आदेशपत्र' कहते हैं। चातुर्मास के समय अपने अनुयायी समस्त मुनिमंडल की सूची बनाई जाती, जिसमें किन-किन के चातुर्मास कहाँ हैं, लिखा जाता था। उस पत्र को विजयपट्टा, क्षेत्रादेश पट्टक कहा जाता है। पर्यूषण पर्व एवं विहार आदि के समाचार श्रावकादिसंघ को दिये जाते, उन्हें 'समाचार पत्र' कहा जा सकता है। ऐसे हजारों पत्र अज्ञानता से नष्ट हो चुके। इनमें से खरतर गच्छ के जितने पत्र हमें प्राप्त हो सके। हमने अपने 'अभय जैन ग्रन्थालय' में संगृहीत किये हैं। पत्रों का इतना विशाल संग्रह शायद ही कहीं हो। ऐसे आदेशपत्र एवं क्षेत्रादेशपट्टक जैन साहित्य संशोधक एवं जैन सत्यप्रकाश में थोड़े से प्रकाशित हुए हैं। अवशेष—नष्ट होते हुए इन ऐतिहासिक साधनभूत पत्रों का संग्रह एवं प्रकाशन परमावश्यक है।

[3] प्रत्येक जाति एवं गोत्र की वंशावलियाँ भाट, कुलगुरु आदि लिखते चले आ रहे हैं। फलतः अनेक वंशावलियाँ पाई जाती हैं, पर अभी तक वे सभी अंधकार में पड़ी हैं। जैन जाति की वंशावलि में केवल एक वंशावलि जैन साहित्य संशोधक एवं आत्माराम शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में प्रकाशित हुई है।

सचित्र विज्ञप्ति-पत्र

भौगोलिक साहित्य के अतिरिक्त नगरों के चित्रमय दर्शन के लिये जैनाचार्यों को दिये गये विज्ञप्ति-पत्र भी बड़े महत्त्व के हैं। जिस नगर के श्रावक अपने पूज्य आचार्य को अपने यहाँ पधारने की विज्ञप्ति करते थे वे अपने नगर के प्रमुख स्थानों के चित्र भी विज्ञप्ति-पत्र में चित्रित करवा देते थे। इससे उस नगर के खास-खास स्थानों के समय एवं स्थल निर्णय के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ पाई जाती हैं। इन सचित्र विज्ञप्ति-पत्रों के सम्बन्ध में वड़ौदा राज्य से प्रकाशित 'Ancient Vigyapti patras' नामक ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है। उक्त ग्रन्थ म निर्देशित पत्रों के अतिरिक्त हमारे संग्रह में उदयपुर का ७५ फुट लम्वा सचित्र विज्ञप्ति-पत्र एवं यहाँ के बड़े ज्ञान-भंडार में ९० फुट लम्वा बीकानेर का विज्ञप्ति-पत्र और बाबू पूर्णचंद्र जी नाहर द्वारा संगृहीत ४ विज्ञप्ति-पत्र हमारे अवलोकन में आये हैं। चित्रकला, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सभी दृष्टियों से जैनों के विज्ञप्ति-पत्र महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन तीर्थ संबंधी प्रकाशित ग्रन्थ

प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य

ग्रन्थों के नाम	कर्ता	संपादक	प्रकाशक	मूल्य
१. विविध तीर्थ कल्प	जिनप्रभसूरि (सं० १३६४ से ८९)	जिनविजय	सिंघी जैनग्रन्थमाला, बम्बई	४)
*२. (क) उपदेशसप्ततिका (ख) ,, ,, अनुवाद	सोमधर्म (सं० १५०३)	चतुरविजय	श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर।	२॥)
३. प्राचीन तीर्थमाला (२५ प्राचीन भाषा कृतियाँ)	विभिन्नकवि	विजयधर्मसूरि	यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर।	२॥)
४. पाटण चैत्य परिपाटी	ललितप्रभसूरि हर्षविजय, हीरालाल, साधुचन्द्र	कल्याणविजय	हंसविजय जैन फ़्री लाइब्रेरी, वड़ौदा	।=)
५. चारे दिशाना तीर्थोनी तीर्थ माला सार्थ	शीलविजय		जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	।)
६. नाभिनंदनोद्धार प्रबंध सार्थ (सं० १३९३)	कक्कसूरि	भगवानदास	हेमचन्द्र जैन ग्रन्थमाला. अहमदावाद।	२)
७. शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबंध	विवेकवीर	जिनविजय	श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर।	॥=)
८. तीर्थक्षेत्र कुलपाक (हिं०)	जिनप्रभसूरि	बालचन्द्राचार्य	नेमचन्द्र गोलछा, हैदराबाद	।।)
९. ,, (गु०)	,,	चन्दनसागर	झवेरी नवलचन्द, सूरत	
१०. घंघाणी जैन तीर्थस्तोत्र	समयसुन्दर	-	जैनमंदिर घंघाणी	-)
११. सूर्यपुर रासमाला	लाधाशाह, विनय विजयजी	-	मोतीचन्द मगनभाई, सूरत	।।)
१२. समेत सिखररास	जयविजय	-	लालचन्द मोतीचन्द, वड़ौदा	

*इसमें शत्रुंजय, आबू, भरोंच, जीरापल्ली, फलौधी, आरासण, कलिकुंड, अंतरीक्ष, स्तंभन आदि का वृत्त है।

श्वेताम्बर तीर्थ-परिचय

ग्रन्थों के नाम	कर्ता	प्रकाशक	मूल्य
१. तीर्थमाला, अमोलक रत्न			=)
२. जैनतीर्थेनो नक्सो	चारित्रविजय	मफतलाल माणिकचंद, वीरमगाम	॥)
३. जैनतीर्थ गाइड (जैन श्वेताम्बर तीर्थ प्रकाश)	मोहनलाल जती	लेखक	।)
४. जैन तीर्थमाला		जैन सस्ती वांचनमाला, भावनगर	॥)
५. जैन तीर्थमाला (शत्रुंजय, गिरनार आदि का वर्णन)		दोशी कस्तूरचन्द वहालजी, लींबड़ी	६)
६. जैनतीर्थावलि प्रकाश			१॥)
७. जैन तीर्थो (सचित्र)			१॥)

दिगम्बर तीर्थ-परिचय

ग्रन्थों के नाम	कर्ता	प्रकाशक	मूल्य
८. जैन तीर्थयात्रा विवरण	डाह्याभाई शिवलाल		।=)
९. यात्रादर्पण	ठाकुरदास झवेरी (बंबई, सं० १९७०)		
१०. जैनतीर्थयात्रा दर्शक	गेवीलालजी	किशोरलाल पाटणी, कलकत्ता	१॥)
११. जैनतीर्थ और उनकी यात्रा	कामताप्रसाद	अखिल भारत दिगम्बर जैन परिषद्	॥।)
१२. से १५. प्राचीनजैन स्मारक (४ भाग) श्वे० दि० तीर्थ समुच्चय रूप	ब्र० शीतल प्रसाद		

भ्रमण वृत्तांत

ग्रन्थों के नाम	कर्ता	प्रकाशक	मूल्य
१६. भावनगर समेतसिखर स्पेशल ट्रेन स्मरणांक		वड़वा जैन मित्रमंडल, भावनगर	
१७. प्रवासगाइड	सं० तरुण	,, ,,	
१८. राजनगर समेतसिखर ट्रेन	मोहनलाल दीपचंद वोहरा	कस्तूरचंद खंभात	।)
१९. प्रवास गाइड (श्री जैन श्वे० समेतसिखर स्पेशलट्रेन)	मिश्रीमल	जैन स्वयंसेवक मंडल, इन्दौर	।)
२०. पूर्व प्रान्तीय जैन श्वेताम्बर तीर्थ गाइड (२)		उदयपुर श्री संघ	
२१. मारी सिन्ध यात्रा	विद्याविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन	२॥)
२२. मारी कच्छ यात्रा	,,	,, ,, ,,	॥)
२३. मेरी मेवाड़ यात्रा	,,	,, ,, ,,	≡)
२४. विहार वर्णन	जयंतविजय	यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर	१॥)
२५. विहारदर्शन	चारित्रविजय	चारित्रस्मारक ग्रन्थमाला, वीरमगांम	
२६. प्रियंकर विहार दिग्दर्शन	प्रियंकर विजय	नेमचन्द जेसिंग, म्हेसाणा	॥=)
२७. मेरी नेमाड़ यात्रा	यतीन्द्रविजय	नूरांवलाजी भूति	

२८. यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन भा० १-२-३-४.	,,	सौधर्म गच्छीय संघ	
२९. बंगाल विहार	पुष्पभिक्षु	स्थानक वासी जैनसंघ, कलकत्ता	।)
३०. कच्छ गिरनार नी यात्रा		जैन सस्ती वाचनमाला	२॥)
३१. तीर्थयात्रा दिग्दर्शन	दोशी मणिलाल नथुभाई	अहमदावाद	
३२. म्हारी यात्रा	भोगीलाल साकलचन्द, वोहरा	वड़नगर	
३३. तीर्थयात्रा वर्णन	भगुभाई	फतेचन्द कारवारी, वम्वई	
३४. जैन तीर्थावलि प्रवास	लखमसी नेणसी	वम्वई	
३५. किताव जैनतीर्थ गाइड	शांतिविजय (१९५५)	जैनसमाज, अहमदावाद	
३६. जैन तीर्थ यात्रा दीपक	फतेचन्द (१९७१)	देहली	
३७. जैन तीर्थ गाइड (भाग १)	मोतीलाल मगनलाल	अहमदावाद	
३८. चैत्य परिपाटी यात्रा (अहमदावाद, वड़ौदा, खंभात, पाटण के मंदिरों की सूची)		हंसविजय लाइब्रेरी, अहमदावाद	

विभिन्न स्थानों के स्वतंत्र इतिहास

ग्रन्थ	कर्ता	प्रकाशक	मूल्य
१. शत्रुंजयप्रकाश (पूर्वार्ध)	देवचन्द्रदामजी	जैन ऑफ़िस, भावनगर	१)
२. ,, (उत्तरार्ध)	,,	,, ,,	१)
३. शत्रुंजय तीर्थना १५वाँ उद्धारनु वर्णन	गांधी वल्लभदास	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	=)
४. शत्रुंजय तीर्थना १६वाँ उद्धारनुं वर्णन	गांधी वल्लभदास	,, ,, ,,	।)
५. सिद्धाचलनु वर्तमानवर्णन	अमरचन्द वेचरदास	मोहनलाल	॥।)
६. ,, ,, ,,	,, ,,	देवचन्द अमरचन्द	॥)
७. सिद्धाचलनु तात्त्विक वर्णन	,, ,,	गुलावचन्द सामजी	।=)
८. महताव कुमारी जिनेन्द्र प्रासाद वर्णन	चौथमल चंडालिया	पालीताणा	॥)
९. गिरनारनुं इतिहास		जैन सस्ती वाचनमाला, भावनगर	१॥)
१०. ,, माहात्म्य	दौलतचंद पुरुषोत्तम	जैन सस्ती वाचनमाला, वम्वई	१॥)
११. ,, तीर्थ परिचय	धुरंधर विजय	श्री जैन साहित्यवर्धक सभा, सूरत	।)
१२. (क) आवू (गुजराती)	जयंतविजय	कल्याणजी परमानंद, देलवाड़ा	२॥)
(ख) ,, (हिन्दी)	,,	,, ,, ,,	२॥)
१३. अचलराज आवू	धीरजलाल टोकरसी	ज्योतिकार्यालय, अहमदावाद	
१४. आवू जी तथा पंच तीर्थानुं वर्णन			
१५. आवू के जैन मंदिरों के निर्माता	ललितविजय	आत्मानंद जैनसभा, अम्वाला	॥)
१६. व्राह्मणवाड़ा	जयंतविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन	।)

१७. देलवाड़ा	विजयेन्द्रसूरि	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला	
१८. ,, मेवाड़	ललितविजय	आत्म तिलक ग्रन्थ सोसायटी	)॥
१९. कौरटा तीर्थ का इतिहास	यतीन्द्रविजय	हजारीमल जोरजी	
२०. केशरियाजी तीर्थ का इतिहास	चन्दनमल नागौरी	सद्गुण प्रसारक मित्र मंडल, छोटी सादड़ी	५)
२१. कापरड़ा तीर्थ का इतिहास	ज्ञानसुंदर	जैन ज्ञान भंडार, जोधपुर	१)
२२. श्री कापरड़ा जी तीर्थ	ललितविजय	उदयमल कल्याण, ब्यावर	
२३. शंखेश्वर महातीर्थ	जयंतविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन	१।)
२४. पावागढ़ थी प्रगट थयेला जीरा-वल्ला पार्श्वनाथ	लालचन्द्र गांधी	अभयचन्द्र गांधी, भावनगर	१)
२५. प्रगटप्रभावी पार्श्वनाथ		जैन सस्ती वाचनमाला	१॥)
२६. चारूप नूं अवलोकन	मंगलचंद लल्लूचन्द	पाटण	
२७. पाटण जैन मंदिर नामावलि	मोहनलाल लल्लूभाई	पाटण	-)
२८. ,, ,, ,,	,, ,, ,,	अष्टापद धर्मशाला, पाटण	-)
२९. खंभात नो प्राचीन जैन इतिहास	नर्मदा शंकर भट्ट	आत्मानंद शताब्दी स्मारक ग्रन्थमाला, बम्बई	१।)
३०. खंभात नो इतिहास-चैत्य परिपाटी	,,	स्तंभ जैन तीर्थ मंडल	१)
३१. पाटलिपुत्र का इतिहास	सूर्यमल यती	श्रीसंघ, पटना	
३२. भीलडीया जी जैन तीर्थ	सिद्धिमुनि	मोहनलाल जैन लाइब्रेरी, अहमदाबाद	
३३. गोल नगरीय पार्श्वनाथ प्रतिष्ठा प्रबंध	रेवतीराम जैन	कविशास्त्र संग्रह, जालौर	
३४. कदम्बगिरि तीर्थ	जिनदास धर्मदास पेढ़ी		
३५ भोयणी नुं मल्लिनाथ वर्णन	छोटूलाल	पोचाभाई मोतीचन्द	=)
३६. जैसलमेर जैन गाइड	फूलचन्द चोरड़िया	अमृतलाल साराभाई	
३७. जैसलमेर मा चमत्कार	चंदनमल नागौरी	सद्गुण प्रसारक मंडल, छोटी सादड़ी	
३८. बीजापुर वृहत् वृत्तांत	वुद्धिसागरसूरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल	१।)
३९. सूर्यपुर नो स्वर्ण युग	केशरीचन्द्र झवेरी	मोतीचंद मगनभाई, सूरत	१)
४०. सूरत चैत्य परिपाटी	,, ,,	,, ,, ,,	
४१. सूरत जैन डिरेक्टरी	,, ,,	,, ,, ,,	॥।)
४२. पावापुर तीर्थ का प्राचीन इतिहास	पूर्णचन्द्र नाहर	लेखक	=)
४३. Tirth Pavaputi (अल्वम)		लक्ष्मीचंद संचेती	
४४. सम्मेत सिखर चित्रावलि	नाथमल चंडालिया (स० १९११)	लेखक ही, कलकत्ता	२॥)
४५. शत्रुंजय अलवम (१० चित्र)			।-)
४६. कमनीय कमलिनी (श्री शिखर जी की यात्रा)	झमकलाल रातड़िया		
४७. वयान पारसनाथ पहाड़	शांतिविजय	हवासीलाल वानाचंद	

४८. महातीर्थ रीरीसा पार्श्वनाथ वर्णन	गोवर्धन अमुलख	अहमदावाद	
४९. अहमदावाद नी शहर यात्रा		उजमबाई धर्मशाला, अहमदावाद	
५०. नाकोड़ा पार्श्वनाथ	यतीन्द्रविजय		
५१. इडरगढ़ ५२ जिनालय रिपोर्ट			
५२. अजारा पार्श्वनाथ	मणिलाल लालचंद	सस्ती वाचनमाला	
५३. संखेश्वर पार्श्वनाथ	,, ,,	,, ,,	
५४. स्तंभन पार्श्वनाथ	,, ,,	,, ,,	
५५. अहार	सं०—यशपाल जैन	'मधुकर' कार्यालय, टीकमगढ़	।=)
५६. पपौरा	सं०—राजकुमार जैन	स० सिं० धन्यकुमार जैन, कटनी	।=)
५७. वैशाली	विजयेन्द्र सूरि	यशोवि० ग्रंथमाला, भावनगर	१)
५८. अचलगढ़ (सचित्र)	जयन्त विजय	,,	१।)
५९. हमीरगढ़	,,	,,	।=)

विशिष्ट लेख (श्वेताम्वर)

लेख	लेखक	कौन से पत्र अथवा ग्रंथ में प्रकाशित	मूल्य
१. जालौर	कल्याणविजय	जैन रौप्यांक	
२. भीमपल्ली और रामसेन	कल्याणविजय	जैन युग	
३. पालणपुर	कांतिसागर	फार्वस सभा का त्रैमासिक पत्र	
४. हमारे तीर्थक्षेत्र	नाथूराम जी प्रेमी	'जैन साहित्य और इतिहास'	३)
५. दक्षिण के तीर्थक्षेत्र	नाथूराम जी प्रेमी	'जैन साहित्य और इतिहास'	

महात्म्यादि (दिगम्वर)

१. सम्मेतसिखर माहात्म्य	लोहाचार्य		
२. गिरनार माहात्म्य	वंशीधर जैन	जैन ग्रन्थ कार्यालय, झांसी	
३. अवधपरिचय		अवध प्रादेशिक दि० जैन परिषद् लखनऊ	२)

जैन प्रतिमा लेख-संग्रह (श्वेताम्वर)

१. जैन लेखसंग्रह भाग १	स० पूर्णचन्द्रजी नाहर	कलकत्ता	५)
२. जैन लेखसंग्रह भाग २	स० पूर्णचन्द्रजी नाहर	कलकत्ता	५)
३. जैन लेखसंग्रह भाग ३	स० पूर्णचन्द्रजी नाहर	कलकत्ता	७)
४. प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग १ (खारवेल शिलालेख)	जिनविजय	आत्मानंद सभा	
५. प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग २	जिनविजय	आत्मानंद सभा	३।।)
६. अर्बुद प्राचीन जैन लेख सन्दोह	जयंतविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला	३)
७. जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह भाग १	बुद्धिसागरसूरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, पादरा	२)

८. जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह भाग २	बुद्धिसागर सुरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल पादरा	२)
९. प्राचीन लेख संग्रह	विद्याविजय	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला	२)

दिगम्बर प्रतिमा लेख संग्रह

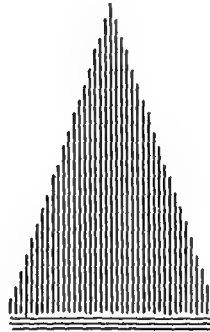
१. जैन शिलालेख संग्रह	हीरालाल जैन	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला	२)
२. प्रतिमा लेखसंग्रह	कामताप्रसाद जैन	जैन सिद्धांत भवन, आरा	॥)
३. जैन प्रतिमा, यंत्र लेख संग्रह	छोटेलाल जैन	पुरातत्त्व अन्वेषणी परिषद्, कलकत्ता	

कलापूर्ण जैन शिल्प स्थापत्य की चित्रावलि

१. भारत मां जैन तीर्थो अने तेमनूं शिल्पस्थापत्य	(सं०—साराभाई नवाव)	लेखक, अहमदावाद	१५)

आबू के सुन्दर शिल्प-स्थापत्य के चित्र 'आबू' ग्रन्थ में दिये गये हैं। शत्रुंजय अलवम, तीर्थ पावापुरी, समेतसिखर चित्रावली, चित्रमय अचलगढ़, संखेश्वर पार्श्वनाथ आदि ग्रन्थों में भी चित्र प्रकाशित हैं।

बीकानेर]



महाकवि रन्न का दुर्योधन

श्री के० भुजवली शास्त्री

मनुष्य किसी बात की सत्यता या असत्यता का निर्णय प्राय: अपने उन विचारों के अनुसार ही कर बैठता है, जिनसे उसकी बुद्धि पहले से प्रभावित हो चुकती है, परन्तु वह अपने पूर्व संस्कार को एक ओर रखकर समालोच्य विषय पर जब तक निष्पक्ष रूप से विचार नहीं करता तब तक किसी यथार्थ निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। प्राचीन कालीन किसी व्यक्ति के वास्तविक आचार-विचारादि जानने के लिए हमें तत्कालीन या बाद के प्रामाणिक साहित्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस सिद्धान्तानुसार अभिमानधनी एवं प्रतापी दुर्योधन या कौरव के आचार-विचारादि जानने के लिए हमें प्राचीन साहित्य की ही शरण लेनी पड़ती है। अधिकांश ग्रन्थ रचयिताओं ने द्रौपदी के वस्त्रापहरण आदि कुछ अनुचित घटनाओं को लेकर दुर्योधन को कलंकी घोषित कर अपमानजनक शब्दों द्वारा उन पर आक्रमण किया है। हम भी दुर्योधन को दोषी मानते हैं। फिर भी इसके लिए उनके सारे मानवोचित गुणों को भुला देना समुचित नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक मनुष्य में गुण और दोष दोनों होते हैं। जिसमें दोषों का अत्यन्ताभाव है, वह मनुष्य नहीं है, देवता है। आखिर दुर्योधन भी मनुष्य ही था! जब हम किसी व्यक्ति की अखंड जीवनी पर प्रकाश डालते हैं तब गुण और दोष दोनों को एक ही दृष्टि से देखना होता है। तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों के मनन करने के बाद उन गुण-दोषों की कमी-बेशी के लिहाज से ही हम उस व्यक्ति को गुणी या दोषी करार दे सकते हैं। इतना परिश्रम न उठाकर एक-दो गुण या दोषों को देखकर किसी के गुणी या दोषी होने का फैसला दे देना निष्पक्ष निर्णय नहीं कहा जा सकता। दुर्योधन भी रावण की तरह इसी पक्षपातपूर्ण निर्णय का शिकार किया जाकर लोगों की नजरों से गिराया गया है।

प्रश्न उठ सकता है कि दुर्योधन में जब गुण भी थे तो महाभारत के बहुसंख्यक लेखकों ने उसे दोषी क्यों ठहराया? इसका उत्तर यही है कि एक तो हमारे भारतवर्ष का उस समय का वातावरण ही इस प्रकार का था। दूसरी बात यह कि हमारे पुरातन श्रद्धेय कवि बहुधा अनुकरणशील थे। इसलिए जो परंपरा उनके सामने मौजूद थी उसी को कायम रखना वे अधिक पसन्द करते थे। इसका कारण यह भी था कि उन्हें इस बात का भय था कि पूर्व परंपरा के विरुद्ध होने से उनकी कृतियाँ जनता में सर्वमान्य नहीं हो सकेंगी। परंपरा के कुछ विरुद्ध लिखने वाले 'रत्नाकर' जैसे कतिपय साहसी कवियों पर ऐसी आपत्ति आ भी चुकी है। साथ-ही-साथ भारतवर्ष सुप्राचीन काल से आचार के लिए प्रधान है। यह सब कुछ होते हुए भी जैन कवियों ने रावण की तरह[1] दुर्योधन का जीवन चित्रित करने में जो बुद्धि एवं साहस दिखलाया है, वह प्रशंसनीय है। उन कृतियों में से केवल महाकवि रन्न के 'गदायुद्ध' में प्रतिपादित दुर्योधन पर प्रकाश डालना ही इस लेख का उद्देश्य है।

महाकवि रन्न कन्नड़ साहित्य में एक ख्यातिप्राप्त कवि था। कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुंजरांकुश, उभय भाषाकवि आदि इसे कई उपाधियाँ प्राप्त थीं। इसका जन्म ई० सन् ९४९ में मुदुबोल नामक ग्राम में हुआ था। यह वैश्य वर्ण का था और राज्यमान्य कवि था। राजा की ओर से सुवर्ण-दंड, चंवर, छत्र-हाथी आदि इसके साथ चलते थे। इसके गुरु का नाम अजितसेनाचार्य था। सुप्रसिद्ध जैन मंत्री चाउंडराय इसका पोषक था। इस समय इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। एक 'अजितपुराण' और दूसरा 'साहस भीम' विजय या 'गदायुद्ध'। पहले ग्रंथ में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का चरित्र बारह आश्वासों में वर्णित है। यह चम्पू ग्रंथ है। यह पुराण ई० सन् ९९३ में रचा गया था।

---

[1] 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग ६, किरण १ में प्रकाशित हमारा लेख।

दूसरा ग्रंथ 'साहसभीम विजय' दश आश्वास का है। यह भी चम्पू ग्रंथ है। इसमें महाभारत की कथा का सिंहावलोकन करके चालुक्य नरेश आहवमल्ल का चरित्र अंकित किया गया है। अपने पोषक आहवमल्ल का भीमसेन से मिलान किया है। बड़ा ही विलक्षण काव्य है। 'कर्णाटक कविचरित्र' के मान्य लेखक इस कवि के संबंध में लिखते हैं कि 'रन्न कवि के ग्रंथ सरस और प्रौढ़ रचनायुक्त हैं। उसकी पदसामग्री, रचनाशक्ति और बन्धगौरव आश्चर्यजनक है। पद्य प्रवाहरूप और हृदयग्राही है। 'साहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध' को पढ़ना शुरू करने पर छोड़ने के लिये दिल नहीं चाहता।'

अब प्रस्तुत विषय पर विचार करें। प्रतिज्ञानुसार रन्न के उक्त 'गदायुद्ध' के दुर्योधन पर प्रकाश डालना ही इस लेख का आशय है। 'गदायुद्ध' का दुर्योधन वस्तुतः वीर क्षत्रिय, एकांगवीर, महापराक्रमी, गुरुभक्त, स्वाभिमानी, प्रतिकारेच्छु, हठी, गुणपक्षपाती, धर्मयुद्धप्रिय एवं उदार है। इसीलिए श्रद्धेय माता पिता, भीष्म एवं संजय के द्वारा उपस्थित की गई संधि के प्रस्ताव को वह सहसा ठुकरा देता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि दैव मेरे प्रतिकूल है। मैं असहाय हूँ। जिस समय जनता यह सोच रही थी कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, आदि सभी स्वर्गासीन हुए—एकाकी दुर्योधन युद्ध में जय नहीं पा सकता, वह अवश्य संधि कर लेगा, उसी समय दुर्योधन सगर्व संजय से कहता है कि 'ये सबल भुजाएँ और मेरी यह प्रचंड गदा मौजूद हैं। इसलिए मुझे और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है।'

अंध पिता पांडवों को अर्ध-राज्य देकर उनसे संधि करने के लिए पुत्र से हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता है। माता गांधारी दीनता से इसी बात का समर्थन करती है। कहती है, "हम दोनों अंधे ही नहीं, एक दम वृद्ध हैं। हमारे अनुकूल चलना तेरा धर्म है। गुरुजनों के वचन का उल्लंघन मत करो।" पिता धृतराष्ट्र कहते हैं, "चार भाइयों में से अगर एक की भी युद्ध में मृत्यु हो जाय तो धर्मनंदन नियम से अग्निप्रवेश करेगा। इसलिए पांडवों से संधि करना ही श्रेयस्कर है।" इस पर दुर्योधन उत्तर देता है, "धर्मनंदन अपने चार भाइयों में यदि एक भी युद्ध में मर जाय तो अपनी जान देने के लिए तैयार है। देखिये, मेरे एक सौ भाइयों में अब एक भी जीवित नहीं रहा। क्या ऐसी दशा में भी आप मुझसे संधि करने के लिए कह रहे हैं? यह आश्चर्य की बात है! मेरा ऐहिक सुख उन भाइयों के साथ ही चला गया। क्या केवल पांडवों में ही भ्रातृप्रेम है? मुझमें नहीं? भीमार्जुनों के साथ मुझे लड़ना ही है। भीम के पेट को फाड़ कर दुश्शासन को मैं बाहर निकालूंगा। पांडव निर्दोषी हैं, इस बात को मैं मानता हूँ। फिर भी उनके साथ मुझे संधि कदापि नहीं करनी है। पृथ्वी की आशा या राज्य के लोभ से मैं नहीं लड़ रहा हूँ। जिस भूमि पर कर्ण की मृत्यु हुई है, वह स्मशान है। उसमें अब मैं नहीं रह सकता। विरोधियों के संहार द्वारा उनके रक्त-मांस से भूत-प्रेत आदि व्यंतरों को प्रसन्न कर शत्रुस्त्रियों के मुखमंडल को कान्तिहीन बनाकर बन्धुशोक से संतप्त अपने बन्धुओं को पांडवों के संहार से संतुष्ट किए बिना यह दुर्योधन कर्तव्यपराङ्मुख हो पांडवों से संधि नहीं करेगा। मनुष्य के लिए अभिमान एक बड़ी चीज है। मैं उसी का उपासक हूँ। इसलिए पांडवों के साथ लड़कर मैं अपना हठ ही साध लूंगा। मैं मानता हूँ कि यह प्रसिद्ध कुरुवंश मेरे ही दोष से नष्ट हुआ। फिर भी अभी तक इसकी कीर्ति में कोई कलंक नहीं आया। ऐसी दशा में मुझसे संधि के लिये आपका कहना समुचित नहीं है।"

संधि के प्रस्ताव से असम्मत दुर्योधन आज्ञोल्लंघनरूप दोष के लिये भीष्म से जब सविनय क्षमा मांगता है तब उसके सत्य और एकांग साहस से प्रसन्न होकर भीष्म मन में कहता है, "द्रोण, कर्ण, आदि महावीरों के मरण से भी दुर्योधन अधीर न होकर एकाकी होने पर भी पांडवों के साथ संधि करने के लिए तैयार नहीं होता, प्रत्युत युद्ध के लिए ही सन्नद्ध होता है। क्या संसार में इससे भी बढ़ कर कोई वीर होगा?" भीष्म की बात को जाने दीजिये। वैशंपायन सरोवर से निकल कर जब दुर्योधन की भीम के साथ भयंकर लड़ाई होती है तब दुर्योधन की युद्धशैली को देख कर भीम स्वयं अपने मुख से उसकी प्रशंसा करता है। भीष्म से विदा होकर वैशंपायन सरोवराभिमुख जाता हुआ दुर्योधन मन में सोचता है कि 'इस समय शत्रुओं के साथ संधि करने के लिये कही हुई बंधुओं की बातों से जितना

दुःख हुआ है, उतना असह्य दुःख परम प्रिय कर्ण, दुश्शासन आदि के वियोग से भी नहीं हुआ था। 'पांडवों से विरोध छोड़ कर संधि कर लो,' इस वात को सुनने के लिए ही मानों ब्रह्मा ने मुझे ये कान दिये हैं।'

दुर्योधन के व्यक्तित्व को और देखिये। वह कहता है कि कर्ण और दुश्शासन ये दोनों मेरे दो नेत्र या दो भुजाएँ कहे जाते थे। हा ! इनके मरने के वाद भी मेरा जीना उचित है ? दुश्शासन के शरीर को देखकर दुर्योधन कहता है कि तुमको मारने वाला अव भी जीवित है। उसको विना मारे मैं जी रहा हूँ ! क्या यही प्रेम का पुरस्कार है ? आगे द्रोण आदि के शरीरों को देख कर दुर्योधन मुक्तकंठ से उनके पराक्रम की प्रशंसा कर स्वाभाविक गुरुभक्ति को व्यक्त करता हुआ उनके नाश में अपना दुर्नय तथा दुरदृष्ट ही कारण है कहकर पश्चात्ताप करता है। अनंतर गुरुचरणों में प्रणाम करके उन्हें प्रदक्षिणा देकर आगे वढ़ता है। इसी प्रकार भीष्म के चरणों में मस्तक रखकर उनसे भी क्षमा माँगता है। यहाँ पर दुर्योधन की असीम गुरुभक्ति देखिये। आगे शत्रुकुमार, अद्वितीय पराक्रमी वालक अभिमन्यु के साहस की मुक्तकंठ से प्रशंसा करता हुआ दुर्योधन हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि मुझे भी इसी प्रकार का वीर मरण प्राप्त हो। इसी का नाम गुणैकपक्षपातिता है।

उरुभंग की असह्य पीड़ा में मरणोन्मुख दुर्योधन को देखना कोमल हृदय वालों का काम नहीं है। इस चितामयी अवस्था में भी वह अपने व्यक्तित्व को नहीं छोड़ता। दुर्योधन अश्वत्थामा से कहता है कि प्राणों के निकल जाने के पूर्व पांडवों को मार कर उनके मस्तकों को लाकर मुझे दिखलाओ। इससे शान्ति से मेरे प्राण निकल जायेंगे। अश्वत्थामा भ्रांतिवश पांडव समझ कर उपपांडवों के मस्तकों को दुर्योधन के सामने लाकर रखता है। वह उन मस्तकों को साव-धानी से देखकर वालहत्यारूपी महापातक के लिये वहुत ही दुःखी होता है और इस असावधानतापूर्ण कार्य के लिये अश्वत्थामा को फटकारता है। वस्तुतः दुर्योधन महानुभाव है। महाकवि रन्न ने उसे 'महानुभाव' ठीक ही लिखा है। इस प्रकार रन्न का दुर्योधन प्रारंभ से अंत तक हमारा लक्ष्य वन कर व्यक्तिवैशिष्ठ्य से हम लोगों के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित करता है। उसके उदात्त गुणों को देख कर हम उसके दुर्गुणों को भूल जाते हैं।

महाभारत के दुर्योधन के मरण से हमें दुःख नहीं होता, पर रन्न के दुर्योधन के संवंध में ऐसी वात नहीं है। यहाँ दुर्योधन के मरण से हमें असीम संताप होता है। यथार्थतः 'गदायुद्ध' का दुर्योधन सत्यव्रती, धैर्यशाली, वीराग्रेसर, दैवभक्त, स्नेही, गुरुजनविधेय और मृदुहृदयी है। 'महाभारत' का दुर्योधन पांडवों के भय से ही वैशंपायन सरोवर में जाकर छिपता है, रन्न का दुर्योधन केवल भीष्म के आग्रह से मंत्रसिद्धि के निमित्त। इसमें तीर्थ-यात्रा के हेतु गये हुए वलराम तथा कृप, कृतवर्मादि की प्रतीक्षा भी एक थी। दुर्योधन के पूर्वकृत जघन्य कृत्यों को प्रयत्नपूर्वक छिपाकर उसके उदात्त गुणों को ही सर्वत्र व्यक्त करते हुए दुर्योधन के संवंध में पाठकों के मन में व्यसन, गौरव तथा पक्षपात पैदा कर देना रन्न जैसे महाकवि के लिए ही संभव है। वास्तव में कवि ने इन कार्यों को अद्वितीय रूप में संपन्न किया है। यह विशेषता महाभारत में नहीं मिलेगी। वहाँ पर दुर्योधन का दोषपुंज ही हमारे समक्ष आकर खड़ा होता है।

महाभारत में हमें सर्वत्र आदि से लेकर अंत तक भीम के साहस का ही वर्णन मिलेगा, पर यहाँ पर दुर्योधन के साहस के सामने भीम का साहस फीका पड़ जाता है। अन्यत्र व्यासादि महर्षियों ने भी दुर्योधन के संवंध में पक्षपात किया है। वहाँ के वर्णन को पढ़ने से मालूम होता है कि भीम एक ही आघात से दुर्योधन को चकना चूर कर डालेगा, पर यहाँ पर तो राज्यलक्ष्मी तक धर्मराय के पास जाने के लिए उत्सुक नहीं है। इन सवों को देख कर निश्चय हो जाता है कि दुर्योधन का अभिमान कोरा अभिमान नहीं है। गदाप्रहार के द्वारा दुर्योधन के उरों को भग करना भीम का अनुचित कार्य था। इतना ही नहीं, रक्त से आर्द्रीभूत, मरणासन्न चक्रवर्ती दुर्योधन के मुकुट को लात से मारना और भी नीच कृत्य था। हर्ष की वात है कि रन्न का दुर्योधन अंत तक क्षात्रधर्म को पालता जाता है। वह किसी की भी शरण में नहीं जाता।

दंडनीति में प्रतिपादित कुटिल नीति तथा कपटयुद्ध राजाओं के लिए दोष नहीं हैं। फिर भी दुर्योधन अपने गदाघात से मूर्च्छित भीम को नहीं मारता। उलटा उसे सचेत करने की चेष्टा करता है। यह वास्तव में उसकी धर्मयुद्धप्रियता का एक उदाहरण है। अगर दुर्योधन में बड़ा भारी दोष था तो वह भरी सभा में द्रौपदी का वस्त्रापहरण कराने की चेष्टा करना। यह दोष उसमें नहीं होता तो वह क्षत्रकुलालंकार होता। 'गदायुद्ध' में भीष्म ने इस भाव को व्यक्त किया भी है। रत्न के भीम की अपेक्षा दुर्योधन में हमें अधिक अभिमान दिखाई देता है। न्यायतः 'गदायुद्ध' का नायक भीम न होकर दुर्योधन होना चाहिए था। दुर्योधन कितना उदार है! रणक्षेत्र में वह अपने ही व्यक्तियों के लिए आंसू नहीं बहाता, बल्कि अभिमन्यु जैसे शत्रु वीरों के लिए भी। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महावीरों के साथ अपनी अपरिमित सेना निश्शेष होने पर भी कालदंडसदृश अपनी प्रचंड गदा को कन्धे पर रख कर रण-क्षेत्र की ओर बढ़ने वाले एकाकी दुर्योधन का शौर्य एवं साहस प्रशंसनीय है। रण-क्षेत्र में द्रोण, दुश्शासन, कर्ण आदि अपने पक्ष के महावीरों के मृत शरीरों को देख कर भी दुर्योधन का मन तिलमात्र भी विचलित नहीं होता, प्रत्युत उद्विग्न होता है। उनके मरण से उत्पन्न अपार दुःख का प्रतिकार वीरोचित शस्त्र के द्वारा ही करने के लिए वह तैयार है। गुरु भीष्म की आज्ञा से वैशम्पायन सरोवर में समय बिताने वाला दुर्योधन भीम की अभिमानोक्तियों को न सह कर तुरन्त ही निर्भय हो बाहर निकलता है और उसके साथ लड़ने के लिए उत्साह से आगे बढ़ता है।

निष्कलंक न होता हुआ भी दुर्योधन पूर्ण कलंकी भी नहीं था। उसके शील में अविचार अवश्य थे, फिर भी वह निश्शील नहीं था। वह गुणी था। साथ-ही-साथ उसकी महत्ता हम सभी को अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति रखती थी। दुर्योधन में छोटी-मोटी अभिलाषाएँ तो थीं ही नहीं। वीर सदैव वीरत्व का उपासक होता है। स्वपक्षी या परपक्षी कोई भी हो, वह वीर को पूजता था। इसीलिए शत्रुकुमार अभिमन्यु को देख कर वह हाथ जोड़ता है। इससे यह भी व्यक्त होता है कि दुर्योधन दुस्साहसी नहीं था, अपितु अविश्रान्त पराक्रमी था। वह शत्रु के लिए निर्दयी और मित्र के लिए सहृदयी था। इन सब बातों को महाकवि रत्न ने भिन्न-भिन्न प्रकरणों में भले प्रकार दिखलाया है। रत्न का दुर्योधन दुर्योधन नहीं, बल्कि सुयोधन है। दुर्योधन जैसे महावीर के लिए मरण भूषण ही है। इसलिए उसके मरण के लिए चिन्तित होना भूल है।[1]

मूड़बिद्री]



[1] 'रत्न कवि प्रशस्ति' के आधार पर।

अभिनव धर्मभूषण और उनकी 'न्यायदीपिका'

पं० दरबारीलाल जैन कोठिया

जैन तार्किक अभिनव धर्मभूषण से कम विद्वान् परिचित हैं। प्रस्तुत लेख द्वारा उन्हीं का परिचय कराया जाता है। उनको जानने के लिए जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पर्याप्त नहीं हैं—उनके माता-पितादि का क्या नाम था, जन्म और स्वर्गवास कब और कहाँ हुआ, आदि का उनसे कोई पता नहीं चलता है—फिर भी सौभाग्य और सन्तोष की बात है कि उपलब्ध साधनों से उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा और समय का कुछ प्रामाणिक परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं शिलालेखों, ग्रन्थोल्लेखों आदि के आधार पर अभिनव धर्मभूषण के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं।

अभिनव तथा यतिविशेषण

अभिनव धर्मभूषण की एक ही रचना उपलब्ध है। वह है 'न्याय-दीपिका'। 'न्याय-दीपिका' के पहले और दूसरे प्रकाश के पुष्पिकावाक्यों में 'यति' विशेषण तथा तीसरे प्रकाश के पुष्पिकावाक्य में 'अभिनव' विशेषण इनके नाम के साथ पाये जाते हैं, जिससे मालूम होता है कि 'न्याय-दीपिका' के रचयिता प्रस्तुत धर्मभूषण 'अभिनव' और 'यति' दोनों कहलाते थे। जान पड़ता है कि अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणों से अपने को व्यावृत्त करने के लिए 'अभिनव' विशेषण लगाया है, क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक नाम के अनेक व्यक्तियों में अपने को पृथक करने के लिए कोई उपनाम रख लिया जाता है। अतः 'अभिनव' न्याय-दीपिकाकार का एक व्यावर्त्तक विशेषण या उपनाम समझना चाहिए। जैनसाहित्य में ऐसे और भी आचार्य हुए हैं, जो अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण लगाते हुए पाये जाते हैं। जैसे अभिनव पंडिताचार्य[1] (शक सं० १२३३), अभिनव श्रुतमुनि,[2] अभिनव गुणभद्र[3] और अभिनव पंडितदेव[4] आदि। पूर्ववर्ती अपने नाम वालों से व्यावृत्ति के लिए 'अभिनव' विशेषण की यह एक परिपाटी है। 'यति' विशेषण तो स्पष्ट ही है, क्योंकि वह मुनि[5] के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्री वर्द्धमान भट्टारक के पट्ट के उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय में हुए हैं। इसलिए इस विशेषण के द्वारा यह भी निर्भ्रान्ति ज्ञात हो जाता है कि अभिनव धर्मभूषण दिगम्बर परम्परा के जैन मुनि थे और भट्टारक मुनि नाम से लोकविश्रुत थे।[6]

धर्मभूषण नाम के दूसरे विद्वान्

ऊपर कहा गया है कि अभिनव धर्मभूषण ने दूसरे पूर्ववर्ती धर्मभूषणों से भिन्नत्व स्थापित करने के लिए

---

[1] देखिए, शिलालेख नं० ४२१

[2] देखिए, जैन शिलालेख सं० पृ० २०१, शिलालेख १०५ (२४५)

[3] देखिए, 'सी० पी० एण्ड बरार कैटलाग' रा० ब० हीरालाल द्वारा संपादित।

[4] देखिए, जैन शिलालेख सं० पृ० ३४५, शिलालेख नं० ३६२ (२५७)

[5] 'ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापसः संयतो व्रती।'—नाममाला (महाकवि धनञ्जय कृत)।

[6] "शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।
भट्टारक मुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः॥"—विजयनगर शिलालेख नं० २

अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है। अतः यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैनपरम्परा में धर्मभूषण नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक धर्मभूषण वे हैं, जो भट्टारक धर्मचन्द्र के पट्ट पर बैठे थे और जिनका उल्लेख बरार प्रान्त के मूर्त्तिलेखों में बहुलतया पाया जाता है।[1] ये मूर्तिलेख शक संवत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हुए हैं, परन्तु ये धर्मभूषण न्यायदीपिकाकार के उत्तरकालीन हैं। दूसरे धर्मभूषण वे हैं, जिनके आदेशानुसार केशववर्णी ने अपनी गोम्मटसार की 'जीव तत्त्व प्रदीपिका' नामक टीका शक संवत् १२८१ (१३५६ ई०) में बनाई थी।[2] तीसरे धर्मभूषण वे हैं, जो अमरकीर्त्ति के गुरु थे तथा विजयनगर के शिलालेख नं० २ में उल्लिखित तीन धर्मभूषणों में सर्वप्रथम जिनका उल्लेख है और जो सम्भवतः विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख नं० १११ (२७४) में भी अमरकीर्त्ति के गुरुरूप से उल्लिखित हैं। यहाँ उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे धर्मभूषण वे हैं, जो अमरकीर्त्ति के शिष्य और विजयनगर शिलालेख नं० २ गत पहले धर्मभूषण के प्रशिष्य हैं एवं सिंहनन्दी व्रती के सधर्मा हैं तथा विजयनगर के शिलालेख नं० २ के ११वें पद्य में दूसरे नं० के धर्मभूषण के रूप में उल्लिखित हैं।

गुरु-परम्परा

अभिनव धर्मभूषण उपर्युक्त धर्मभूषणों से भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगर के शिलालेख नं० २ में तीसरे नम्बर के धर्मभूषण के स्थान पर है तथा जिन्हें स्पष्टतया श्री वर्द्धमान भट्टारक का शिष्य बतलाया है। 'न्यायदीपिका' के अन्तिम पद्य[3] और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्य में[4] अपने गुरु का नाम न्यायदीपिका-कार ने स्वयं श्री वर्द्धमान भट्टारक प्रकट किया है। मेरा अनुमान है कि मंगलाचरण पद्य में भी उन्होंने 'श्रीवर्द्धमान' पद के प्रयोग द्वारा वर्द्धमान तीर्थंकर और अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक दोनों को स्मरण किया है, क्योंकि अपने परापर गुरु का स्मरण करना सर्वथा उचित ही है। श्री धर्मभूषण अपने गुरु के अनन्य भक्त थे। वे 'न्याय-दीपिका' के उसी अन्तिम पद्य और पुष्पिका वाक्य में कहते हैं कि उन्हें अपने उक्त गुरु की कृपा से ही सरस्वती का प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ और उनके चरणों की स्नेहमयी भक्ति-सेवा से 'न्यायदीपिका' की पूर्णता हुई। अतः मंगलाचरण पद्य में अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक का भी उनके द्वारा स्मरण किया जाना सर्वथा सम्भव एवं संगत है।

विजयनगर शिलालेख नं० २ में,[5] जो शक संवत् १३०७ (ई० १३८५) में उत्कीर्ण हुआ था, अभिनव धर्मभूषण की इस प्रकार गुरुपरम्परा दी गई है—

मूलसङ्घ, नन्दिसङ्घ-बलात्कार गण के सारस्वतगच्छ में

पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य)
|
धर्मभूषण भट्टारक प्रथम
|
अमरकीर्ति आचार्य (जिनके शिष्यों के शिक्षक दीक्षक सिंहनन्दी व्रती थे)

---

[1] 'सहस्रनामाराधना' के कर्ता देवेन्द्रकीर्ति ने भी 'सहस्रनामाराधना' में इन दोनों विद्वानों का अपने गुरु और प्रगुरुरूप से उल्लेख किया है। देखिए, आरा से प्रकाशित प्रशस्ति सं० पृ० ६४

[2] देखिए डा० ए० एन० उपाध्ये का 'गोम्मटसारकी जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ४, कि० १ पृ० ११८

[3]-[4] देखिए, वीरसेवामन्दिर सरसावा से प्रकाशित और मेरे द्वारा सम्पादित 'न्यायदीपिका' पृ० १३२

[5] इस शिलालेख में कुल २८ पद्य हैं। उनमें प्रथम के १३ पद्यों में ही अभिनव धर्मभूषण की गुरु-परम्परा है। इसके आगे १५ पद्यों में राजवंश का वर्णन है।

श्री धर्मभूषण भट्टारक द्वितीय (सिंहनन्दी व्रती के सधर्मा)
|
वर्द्धमान मुनीश्वर (सिंहनन्दी व्रती के चरणसेवक)
|
धर्मभूषण यति तृतीय (प्रस्तुत)

इसी प्रकार का एक शिलालेख[1] नं० १११ (२७४) का है, जो विन्ध्यगिरि पर्वत के अखंड वागिलु के पूर्व की ओर स्थित चट्टान पर खुदा हुआ है और जो शक सं० १२९५ में उत्कीर्ण हुआ था। उसमें इस प्रकार परम्परा दी गई है—

मूलसङ्घ—बलात्कारगण

कीर्त्ति (वनवासिके)
|
देवेन्द्र विशालकीर्त्ति
|
शुभकीर्त्तिदेव भट्टारक
|
धर्मभूषणदेव[2] प्रथम
|
अमरकीर्त्ति आचार्य
|
धर्मभूषणदेव द्वितीय
|
वर्द्धमान स्वामी

इन दोनों लेखों को मिला कर ध्यानपूर्वक पढ़ने पर विदित होता है कि प्रथम धर्मभूषण, अमरकीर्त्ति आचार्य, धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान ये चार विद्वान् सम्भवतः दोनों के एक ही हैं। यदि हमारी यह मान्यता ठीक है तो यहाँ एक बात विचारणीय है। वह यह कि विन्ध्यगिरि के लेख (शक सं० १२९५) में वर्द्धमान का तो उल्लेख है, पर उनके शिष्य (पट्ट के उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषण का उल्लेख नहीं है, जिससे जान पड़ता है उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमान के पट्टाधिकारी नहीं बन सके होंगे और इसलिए उक्त शिलालेख में उनका उल्लेख नहीं आया, किन्तु इस शिलालेख के कोई बारह वर्ष बाद शक सं० १३०७ (१३८५ ई०) में उत्कीर्ण हुए विजयनगर के शिलालेख नं० २ में उनका (तृतीय धर्मभूषण का) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अतः यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमान के पट्टाधिकारी शक सं० १२९५ से शक सं० १३०७ में किसी समय बन चुके थे। इस तरह अभिनव धर्मभूषण के साक्षात् गुरु श्री वर्द्धमान मुनीश्वर और प्रगुरु द्वितीय धर्मभूषण थे। अमरकीर्त्ति दादागुरु और प्रथम धर्मभूषण परदादागुरु थे और इसीसे हमारे विचारसे उन्होंने अपने इन पूर्ववर्ती पूज्य प्रगुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा परदादागुरु (प्रथम धर्मभूषण) से पश्चाद्वर्ती एवं नया बतलाने के लिए अपने को अभिनव विशेषण से विशेषित किया जान पड़ता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि वे अपने गुरु के प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

---

[1] देखिए, शिलालेख सं० पृ० २२३

[2] प्रो० हीरालालजी ने इनकी निषद्या बनवाई जाने का समय शक सम्वत् १२९५ दिया है। देखिये, शिलालेख सं० पृ० १३६

समय-विचार

यद्यपि अभिनव धर्मभूषण की निश्चित तिथि बताना कठिन है तथापि जो आधार प्राप्त हैं उनसे उनके समय का लगभग निश्चय हो जाता है।

विन्ध्यगिरि का जो शिलालेख प्राप्त है, वह शक सं० १२९५ का उत्कीर्ण हुआ है। हम पहले बतला चुके हैं कि इसमें प्रथम और द्वितीय इन दो ही धर्मभूषणों का उल्लेख है और द्वितीय धर्मभूषण के शिष्य वर्द्धमान का अन्तिम रूप से उल्लेख है। तृतीय धर्मभूषण का उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता। डा० हीरालालजी एम० ए० के उल्लेखानुसार द्वितीय धर्मभूषण की निषद्या (निःसही) शक सं० १२९५ में बनवाई गई है। अतः द्वितीय धर्मभूषण का अस्तित्व-समय शक सं० १२९५ तक ही समझना चाहिए। हमारा अनुमान है कि केशववर्णी को अपनी गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका बनाने की प्रेरणा एवं आदेश जिन धर्मभूषण से मिला उन धर्मभूषण को भी यही द्वितीय धर्मभूषण होना चाहिए, क्योंकि इनके पट्ट का समय यदि पच्चीस वर्ष भी हो तो इनका पट्ट पर बैठने का समय शक सं० १२७० के लगभग पहुँच जाता है। उस समय या उसके उपरान्त केशववर्णी को उपर्युक्त टीका के लिखने में उनसे आदेश एवं प्रेरणा मिलना असम्भव नहीं है। चूँकि केशववर्णी ने अपनी उक्त टीका शक सं० १२८१ में पूर्ण की है, अतः उस जैसी विशाल टीका को लिखने के लिए ग्यारह वर्ष का समय लगना भी आवश्यक एवं संगत है। प्रथम व तृतीय धर्मभूषण केशववर्णी के टीकाप्रेरक प्रतीत नहीं होते, क्योंकि तृतीय धर्मभूषण 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' के समाप्तिकाल (शक० १२८१) से लगभग उन्नीस वर्ष बाद गुरुपट्ट के अधिकारी हुए जान पड़ते हैं और उस समय वे प्रायः बीस वर्ष के होंगे। अतः 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' के रचनारम्भ समय में तो उनका अस्तित्व ही नहीं रहा होगा। तब वे केशववर्णी के टीका-प्रेरक कैसे हो सकते हैं ? प्रथम धर्मभूषण भी उनके टीका-प्रेरक सम्भव प्रतीत नहीं होते। कारण उनके पट्ट पर अमरकीर्त्ति और अमरकीर्त्ति के पट्ट पर द्वितीय धर्मभूषण (शक सं० १२७०-१२९५) बैठे हैं। अतः अमरकीर्त्ति का पट्ट-समय अनुमानतः शक सं० १२४५-१२७० और प्रथम धर्मभूषण का शक सं० १२२०-१२४५ होता है। ऐसी हालत में यह सम्भव नहीं है कि प्रथम धर्मभूषण शक सं० १२२०-१२४५ में केशववर्णी को 'जीवतत्त्व-प्रदीपिका' के लिखने का आदेश दें और वे ६१ या ३६ वर्षों के दीर्घ समय में उसे पूर्ण करें। अतएव यही प्रतीत होता है कि द्वितीय धर्मभूषण (शक० १२७०-१२९५) ही केशववर्णी (शक० १२८१) के उक्त टीका के लिखने में प्रेरक रहे हैं।

पीछे हम यह निर्देश कर आये हैं कि तृतीय धर्मभूषण (प्रस्तुत अभिनव धर्मभूषण) शक सं० १२९५ और शक सं० १३०७ के मध्य में किसी समय अपने वर्द्धमान गुरु के पट्ट पर आसीन हुए हैं। अतः यदि वे पट्ट पर बैठने के समय (करीब शक० १३०० में) बीस वर्ष के हों, जैसा कि सम्भव है तो उनका जन्म-समय शक सं० १२८० (१३५८ ई०) के लगभग होना चाहिए। विजयनगर साम्राज्य के स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भीमादेवी जिन वर्द्धमान गुरु के शिष्य धर्मभूषण के परम भक्त थे और जिन्हें अपना गुरु मानते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर जैनधर्म की अतिशय प्रभावना में प्रवृत्त रहते थे वे यही अभिनव धर्मभूषण हैं। पद्मावती-बस्ती के एक लेख से ज्ञात होता है कि "राजाधिराज परमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमान मुनि के शिष्य धर्मभूषण गुरु के, जो बड़े विद्वान् थे, चरणों में नमस्कार किया करते थे।" इसी बात का समर्थन शक सं० १४४० में अपने 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' को समाप्त करने वाले कवि वर्द्धमान मुनीन्द्र के इसी ग्रन्थगत निम्न श्लोक से भी होता है—

> "राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुग्मः।
> श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढ्यमुख्यः श्रीधर्मभूषणसुखी जयति क्षमाढ्यः ॥"[1]

---

[1] आरा से प्रकाशित प्रशस्ति सं० पृ० १२५ से उद्धृत।

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगरनरेश प्रथम देवराय ही 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि से भूषित थे।[1] इनका राज्य-काल सम्भवतः १४१८ ई० के पहले रहा है, क्योंकि द्वितीय देवराय ई० १४१९ से १४४६ तक माने जाते हैं।[2] अतः इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि वर्द्धमान के शिष्य धर्मभूषण तृतीय (न्यायदीपिका के कर्ता) ही देवराय प्रथम द्वारा सम्मानित थे।[3] प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं; क्योंकि वे वर्द्धमान के शिष्य नहीं थे। प्रथम धर्मभूषण तो शुभकीर्त्ति के और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्त्ति के शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव धर्मभूषण देवराय प्रथम के समकालीन हैं अर्थात् उनका अन्तिमकाल ई० १४१८ होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय तो उनका जीवनकाल ई० १३५८ से १४१८ ई० तक समझना चाहिए। अभिनव धर्मभूषण जैसे प्रभावशाली विद्वान् जैनसाधु के लिए साठ वर्ष की उम्र पाना कोई ज्यादा नहीं है। हमारा अनुमान यह भी है कि वे देवराय द्वितीय[4] (१४१९-१४४६ ई०) और उनके श्रेष्ठि संकप्प के द्वारा भी प्रणुत रहे हैं[5]। हो सकता है कि ये अन्य धर्मभूषण हों। जो हो, इतना अवश्य है कि वे देवराय प्रथम के समकालीन निश्चित रूप से हैं।

'न्यायदीपिका' (पृ० २१) में 'बालिशाः' शब्दों के साथ सायण के सर्वदर्शनसंग्रह से एक पंक्ति उद्धृत की गई है। सायण का समय शक सं० १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है,[6] क्योंकि शक सं० १३१२ का उनका एक दानपत्र मिला है, जिससे वे इसी समय के विद्वान् ठहरते हैं। न्यायदीपिकाकार का 'बालिशाः' पद का प्रयोग उन्हें सायण के समकालीन होने की ओर संकेत करता है। साथ ही दोनों विद्वान् निकट ही नहीं, एक ही जगह विजय-नगर के रहने वाले भी थे और एक दूसरे की प्रवृत्ति से भी परिचित जान पड़ते हैं। इसलिए यह सम्भव है कि अभि-नव धर्मभूषण और सायण समसामयिक होंगे अथवा दस-पाँच वर्ष आगे-पीछे के। अतः 'न्याय-दीपिका' के इस उल्लेख से भी पूर्वोक्त निर्धारित शक सं० १२८० से१३४० या ई० १३५८ से १४१८ का समय ही सिद्ध होता है। अर्थात् ये ईसा की १४वीं सदी के उत्तरार्ध और १५वीं सदी के प्रथम पाद के विद्वान् हैं।

डा० के० बी० पाठक और पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार इन्हें शक सं० १३०७ (ई० १३८५) का विद्वान् बतलाते हैं,[7] जो विजयनगर के शिलालेख नं० २ के अनुसार सामान्यतया ठीक है, परन्तु उपर्युक्त विशेष विचार से ई० १४१८ तक इनकी उत्तरावधि निश्चित होती है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण 'हिस्ट्री ऑफ दि मेडीवल स्कूल ऑफ इंडियन लॉजिक' में इन्हें १६०० ई०का विद्वान् सूचित करते हैं, पर वह ठीक नहीं है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है। मुख्तार साहब ने भी उनके इस मत को ग़लत ठहराया है।[8]

[1-2] देखिए, डा० भास्कर आनन्द सालेतोर का 'मेडीवल जैनिज्म' पृ०३००–३०१; मालूम नहीं डा० सा० ने द्वितीय देवराय (१४१९ ई०-१४४६ ई०) की तरह प्रथम देवराय के समय का निर्देश क्यों नहीं किया।

[3] डा० सालेतोर दो ही धर्मभूषण मानते हैं और उनमें प्रथम का समय १३७८ ई० और दूसरे का ई० १४०३ बतलाते हैं तथा वे इस झमेले में पड़ गये हैं कि कौन से धर्मभूषण का सम्मान देवराय प्रथम के द्वारा हुआ था। (देखिए मेडीवल जैनिज्म पृ० ३००)। मालूम होता है कि उन्हें विजयनगर का पूर्वोक्त शिलालेख नं० २ आदि प्राप्त नहीं हो सका, अन्यथा वे इस निष्कर्ष पर न पहुँचते।

[4] प्रशस्ति सं० १४५ में इनका ई० १४२९-१४५१ दिया है।

[5] इसके लिए जैन सिद्धान्तभवन, आरा से प्रकाशित प्रशस्ति सं० में परिचय कराये गये वर्द्धमान मुनीन्द्र का 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' देखना चाहिए।

[6] देखो, सर्व-दर्शनसंग्रह की प्रस्तावना पृ० ३२।

[7] स्वामी समन्तभद्र पृ० १२६

[8] 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १२६

व्यक्तित्व और कार्य

आचार्य धर्मभूषण के प्रभाव एवं व्यक्तित्वसूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे मालूम होता है कि वे अपने समय के सबसे बड़े प्रभावक और व्यक्तित्वशाली जैनगुरु थे। प्रथम देवराय, जिन्हें 'राजाधिराजपरमेश्वर' की उपाधि थी, धर्मभूषण के चरणों में मस्तक झुकाया करते थे।[1] पद्मावती बस्ती के शासनलेख में उन्हें बड़ा विद्वान् एवं वक्ता प्रकट किया गया है। साथ में मुनियों और राजाओं से पूजित बतलाया है।[2] इन्होंने विजयनगर के राजघराने में जैनधर्म की अतिशय प्रभावना की है। हम तो समझते हैं कि इस राजघराने में जो जैनधर्म की महती प्रतिष्ठा हुई है उसका विशेष श्रेय इन्हीं अभिनव धर्मभूषण जी को है, जिनकी विद्वत्ता और प्रभाव के सब कायल थे। इससे स्पष्ट है कि अभिनव धर्मभूषण असाधारण प्रभावशाली व्यक्ति थे।

जैनधर्म-प्रभावना उनके जीवन का विशेष उद्देश्य रहा, पर ग्रन्थरचनाकार्य में भी उन्होंने अपनी शक्ति और विद्वत्ता का बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है। आज हमें उनकी एक ही अमर रचना प्राप्त है और वह 'न्याय-दीपिका' है, जो जैनन्याय के वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है और ग्रन्थकार की धवलकीर्त्ति को अक्षुण्ण रक्खे हुए है। उनकी विद्वत्ता का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्टतया आलोकित हो रहा है। 'न्याय-दीपिका' छोटी-सी रचना होते हुए भी अत्यन्त विशद और महत्त्वपूर्ण कृति है और उसकी परिगणना जैनन्याय के प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में किये जाने के पूर्णतः योग्य है। इसमें प्रमाण और नय का बहुत ही विशदता के साथ विवेचन किया गया है, जो उसके पाठक पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। अभिनव धर्मभूषण ने इसके सिवाय भी और कोई रचना की या नहीं, इसका कुछ भी पता नहीं चलता, पर 'न्यायदीपिका' में एक स्थल पर[3] 'कारुण्यकलिका' का इस प्रकार से उल्लेख किया है कि जिससे अनुमान होता है कि न्यायदीपिकाकार अपनी ही दूसरी रचना को देखने का वहाँ इंगित कर रहे हैं। यदि सचमुच में यह ग्रन्थ भी न्यायदीपिकाकार की रचना है तो मालूम होता है कि वह 'न्यायदीपिका' से भी अधिक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होगा। अन्वेषकों को इसका अवश्य ही पता चलाना चाहिए।

अभिनव धर्मभूषण के प्रभाव और कार्यक्षेत्र से यह भी मालूम होता है कि उन्होंने कर्णाटदेश के उपर्युक्त विजय-नगर को ही अपनी जन्म-भूमि बनाई होगी और वहीं उनका शरीर-त्याग एवं समाधि हुई होगी, क्योंकि वे गुरु-परम्परा से चले आये विजयनगर के भट्टारकी पट्ट पर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधि का स्थान भी विजयनगर है।

सरसावा]



[1-2] देखिए 'मेडीवल जैनिज़्म', पृ० २९९

[3] 'प्रपञ्चितमेतदुपाधि निराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते।'—न्यायदीपिका, पृ० १११ (वीर-सेवामन्दिर, सरसावा से प्रकाशित)।

'जैन-सिद्धान्त-भवन' के कुछ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ

श्री परमानन्द जैन

जैन हिन्दी साहित्य अत्यन्त विशाल और महत्त्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञानियों को हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास-क्रम अवगत करने के लिए जैन हिन्दी साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। हिन्दी भाषा की जननी अपभ्रंश भाषा में जैनाचार्यों ने सहस्रों की संख्या में ग्रन्थ-रचना कर हिन्दी साहित्य के भंडार को समृद्धि-शाली बनाया है। पाश्चात्य विद्वान् डा० विन्टरनिज, प्रो० जेकोबी तथा अन्य कई विद्वानों ने इस बात का जोरदार शब्दों में समर्थन किया है कि भारतीय साहित्य की श्री-वृद्धि में जैन लेखकों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। कहा गया है कि भारतीय साहित्य का शायद ही कोई अङ्ग बचा हो, जिसमें जैनियों का विशिष्ट स्थान न रहा हो। श्री प्रो० जगन्नाथ शर्मा ने अपने 'अपभ्रंशदर्पण' में लिखा है[1]—"अपभ्रंश' भाषा में प्रबन्ध काव्यों की भरमार है। अभी तक जो काव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें पाँच बड़े-बड़े प्रबन्ध-काव्य हैं। जैसे (१) भविसयत्तकहा (२) तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार (३) आराधना (४) नेमिनाहचरिउ (५) वैरिसामिचरिउ। इनमें से भविसयत्तकहा बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मालूम होता है कि हिन्दी के रामचरितमानस और पद्मावत जैसे जगत्प्रसिद्ध काव्यग्रन्थों का आदर्श ग्रन्थ यही है। इन काव्यों में बहुत-सी बातों में समता है।"

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि जैन अपभ्रंश काव्य ग्रन्थों का तुलसी और जायसी जैसे हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवियों पर उल्लेखयोग्य प्रभाव पड़ा है। हमारे शास्त्रागारों में सैकड़ों अप्रकाशित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ रक्खे हुए हैं। यदि ये ग्रन्थ प्रकाश में आ जायँ तो हिन्दी साहित्य पर नया प्रकाश पड़े।

प्राचीन जैन हिन्दी साहित्य नवीं और दसवीं शताब्दी में पल्लवित और पुष्पित था। इस समय जैनाचार्यों ने अपभ्रंश के साथ-साथ प्राचीन हिन्दी में भी कई रचनाएँ लिखी हैं। वीरगाथाकाल में अनेक जैन मुनियों ने वीररस और शान्तरस की कविताएँ डिंगल भाषा में कीं। कई विद्वान् प्रसिद्ध ग्रन्थ खुमानरासो के रचयिता को भी जैन बतलाते हैं। जैन हिन्दी साहित्य के पद्य-ग्रन्थों के साथ-साथ गद्य ग्रन्थ भी पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले से ही मिलते हैं। पंडित हेमराज द्वारा विरचित पंचास्तिकाय एवं प्रवचनसार की वचनिकाएँ, पांडे रामलाल जी कृत समयसार की बालबोध टीका एवं पार्वतधर्मार्थी की बनाई गई समाधितन्त्र की वचनिका आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं और महत्त्वपूर्ण हैं। जैन शास्त्रागारों में अनेक हिन्दी भाषा के साहित्यिक ग्रन्थ संशोधकों एवं प्रकाशकों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'अनेकान्त' में प्रकाशित सूची से पता चलता है कि पंचायती जैनमन्दिर[2] (देहली) में २०२, सेठ कूचा[3] के जैनमन्दिर में १३०, नये मन्दिर[4] (देहली) में १४० एवं अमरग्रन्थालय इन्दौर में १६ हस्तलिखित जैन हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में से अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

'श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा' में ३०२ हिन्दी साहित्य के हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, जिनमें से मिथ्यात्वखंडन, रूपचन्दशतक, चन्द्रशतक, हिन्दी नाममाला, ब्रह्माब्रह्मनिरूपण, पद्मपुराण छन्दोबद्ध, आनन्दश्रावक सन्धि, अंजना-सुन्दरिरास, गजसिंह गुणमालचरित्र, सप्तव्यसनचरित्र, बुद्धिप्रकाश, होमविधान, बालकमुंडनविधि, ब्रह्मबावनी, पुण्याश्रयकथा छन्दोबद्ध आदि ग्रन्थ तो विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम उपर्युक्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

---

[1] अपभ्रंशदर्पण पृ० २६।

[2] देखिए 'अनेकान्त' वर्ष ४, किरण १०।

[3] 'अनेकान्त' ४ किरण ८।

[4] 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण ६-७।

१ मिथ्यात्व खंडन नाटक—इस ग्रन्थ में तेरह पन्थ की उत्पत्ति का सकारण विवेचन किया गया है। इस पन्थ की उत्पत्ति सं० १६८३ में बतलाई है। अनेक ग्रन्थों के प्रमाण देकर वीसपन्थी दि० आम्नाय की पुष्टि की गई है। ग्रन्थ की भाषा शिथिल है। एक स्थान पर लिखा है—

प्रथम चलो मत आगरे, श्रावक मिले कितेक।
सोलस सै तिरासिये, गही कितेक मिलि टेक॥
काहू पंडित पै सुनै, कितै आध्यात्मिक ग्रन्थ।
श्रावक क्रिया छाड़ के, चलन लगे मुनि पंथ॥"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि सर्वप्रथम आगरे के आसपास तेरह पन्थ की उत्पत्ति हुई थी। ग्रन्थ में आगे बतलाया है कि जयपुर और आगरे के कुछ पंडितों ने मिल कर इस पन्थ को निकाला। वीसपन्थ की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार ने तेरहपन्थियों की क्रियाओं का खंडन किया है तथा वीसपन्थी दिगम्बर आम्नाय को प्राचीन बतलाया है। ग्रन्थ में २५१ पृष्ठ हैं। लिपि अस्पष्ट है, प्रति भी अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। यह प्रति सं० १८७१ में लिखाई गई है।

२ रूपचन्दशतक—इसमें कविवर रूपचन्द ने सौ दोहों में नीति और वैराग्य का वर्णन किया है। ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल है। धार्मिक दोहों में भी साहित्यिक छटा का परिचय मिलता है। कविवर ने प्रारम्भ में संसारी जीवों को सम्बोधन कर कहा है—

अपनो पद न विचार के, अहो जगत के राय।
भव-वन छायक हो रहे, शिव पुर सुधि विसराय।
भववन भरमत अहो तुम्हें, वीतो काल अनादि।
अब किन घरहिं संवारई, कत दुख देखत वादि।
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहि गयो सुलझाय।
किञ्चित इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय।
विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।
ज्यों जल खारा पीवतें, बाढ़े तृषाधिकाय॥

इस प्रकार ग्रन्थ में हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए अध्यात्म-रस का सागर भरा हुआ है।

३ चन्द्रशतक—यह सौ छन्दों में कवि चन्द्र का लिखा ग्रन्थ है। 'चन्द्र' यह कवि का उपनाम मालूम होता है। वास्तविक नाम का पता ग्रन्थ से नहीं लगता, पर जिस प्रति में चन्द्रशतक है, उसी प्रति में कुछ आगे कवि त्रिलोकचन्द्र के फुटकर कवित्त लिखे हैं। सम्भव है, कवि का नाम त्रिलोकचन्द हो। साहित्यिक दृष्टि से चन्द्रशतक के कवित्त और सवैये महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें कवि ने अध्यात्मज्ञान का वर्णन किया है। द्रव्य, गुण, पर्याय आदि तात्त्विक विषयों का वर्णन भी बहुत ही सुन्दर हुआ है। भाषा सानुप्रास और मधुर है। प्रत्येक सवैया पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। साधारण लोग भी ऐसे ग्रन्थों से गुण-गुणी, द्रव्य-पर्याय, आदि सूक्ष्म विषयों को सरलता से समझ सकते हैं। नमूने के लिए एक-दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

गुन सदा गुनी माँहि, गुन गुनी भिन्न नाँहि, भिन्न तो विभावता, स्वभाव सदा देखिये।
सोई है स्वरूप आप, आप सो न है मिलाप, मोह के अभाव थें, स्वभाव शुद्ध पेखिये॥
छहों द्रव्य सासते, अनादि के हो भिन्न-भिन्न, आपने स्वभाव सदा, ऐसी विधि लेखिये।
पांच जड़ रूप, भूप चेतन सरूप एक, जानपनों सारा चन्द, माघे यों विसेखिये॥

देह दहे लू सहे दुःख संकट, मूढ़ महागति जाय अघोरे।
आप ही आप को ज्ञान बुझाय, लगी जो अनादि विषे विषदौरे ॥
सो सुख दूर करे दुःख कों, निज सादि महारस अमृत कौरे।
तेज कहै मुख से यहै, निज देखनहार तू देखन वौरे ॥

कवि ने सज्जन और मूर्ख का भी सुन्दर वर्णन किया है। सज्जन के स्वभाव का वर्णन करते हुए लिखा है—

पर औगुन परिहरें, धरें गुनवत् गुण सोई।
चित कोमल नित रहें, झूठ जाके नहिं कोई ॥
सत्य वचन मुख कहें, आप गुन आप न वोलें।
सुगुरु-वचन परतीति, चित्त थें कवै न डोलें ॥
वोलें सुवैन परिमिष्ट सुनि इष्टवैन सुनि सुखकरें।
कहें चन्द वसत जगफंद में, ये स्वभाव सज्जन धरें ॥
सज्जन गुन धर प्रीति रीति विपरीत निवारें।
सकल जीव हितकार सार निज भाव संवारें ॥
दया, शील, संतोष, पोख, सुख सव विधि जानें।
सहज सुधा रस स्रवें, तजें माया अभिमाने ॥
जाने सुभेद परभेद सव निज अभेद न्यारौ लखें।
कहें चन्द जहें आनन्दअति जो शिव-सुख पावें अखै ॥

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त सज्जन-स्वभाव का वर्णन कवि ने कितना स्वाभाविक किया है। भाषा सरस, सरल और मधुर है। कोमल कान्तपदावली सर्वत्र विद्यमान है। हिन्दी के प्रेमी पाठकों को इस शतक में प्राचीन हिन्दी विभक्तियों के अनेक रूप दृष्टिगोचर होंगे। भाषा-विकास की दृष्टि से व्रजभाषा के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। शब्दालंकार प्रायः सर्वत्र है। कहीं-कहीं अर्थालंकारों का सुन्दर समन्वय भी हुआ है।

४ **नाममालाभाषा**—इसे कविवर देवीदास ने कवि धनञ्जय की नाममाला के आधार पर लिखा है। पुस्तक में मूल विषय के २३२ पद्य हैं और दो पद्य कवि के विषय में हैं। कवि ने दोहरा, पद्धरि, चौपई छन्दों का प्रयोग अधिक किया है। पुस्तक संस्कृत अध्ययन करने वालों के साथ-साथ भाषा अध्ययन करने वालों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। भाषा भी प्रौढ़ और प्राञ्जल मालूम होती है। दो नमूने इस प्रकार हैं—

'विपन गहन कान्तार वन, कानन कक्ष अरण्य।
अटवी दुर्ग सुनाम यह, भीलन को सुशरण्य ॥
आनन्द, हर्ष, प्रमोद मुत, उत्सव प्रमद सन्तोष।
करुणा अनुकम्पा दया, अहन्तोक्ति अनुकोप ॥

उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट है कि कवि ने संस्कृत-तत्सम शब्दों का व्यवहार अधिक किया है, पर व्रजभाषा के 'मुत' जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है। ग्रन्थ में उसका रचनाकाल निम्न प्रकार दिया है—

सम्वत अष्टादश लिखो, जा ऊपर उनतीस।
वासों दे भादों सुदि वीते चतुर्दशीस ॥

ग्रन्थ की प्रति सुन्दर है। लिपि भी सुन्दर और सुवाच्य है।

५ **ब्रह्मबावनी**—इसमें कविवर निहालचन्द ने वैराग्य और अध्यात्मसम्बन्धी विषय बड़े ही सुन्दर और मनोरंजक ढंग से समझाए हैं। सर्वत्र शब्दालंकार की अनुपम छटा दिखाई देती है। भाषा भी भावमयी और प्रौढ़ मालूम पड़ती है।

ओंकार मन्त्र का वर्णन कवि ने कितने अच्छे ढंग से किया है—

सिद्धन कौं सिद्धि, ऋद्धि देहि संतन कौं महिमा महन्तन कौं देत छिनमाही हैं।
जोगी को जुगति हूं मुकति देव, मुनिन कूं भोगी कूं भुगति गति मति उन पाँही हैं॥
चिन्तामनरतन, कल्पवृक्ष, कामधेनु सुख के समाज सब याकी परछांही हैं।
कहें मुनि हर्षचन्द निर्प देय ग्यान दृष्टि उँकारमंत्र सम और मंत्र नाहीं हैं॥

इस प्रकार कवि ने केवल बावन पद्यों में ही अध्यात्म-रस के सागर को गागर में भर कर कमाल कर दिखाया है। कवि की भाषा सरस और परिमार्जित है। शब्दालंकार की कला के तो वे अनुपम जड़िया प्रतीत होते हैं। थोड़े से ही पद्य उपदेश-कला के योग्य एवं कण्ठस्य करने लायक हैं और जैन हिन्दी कवियों की अनुपम कविता रूपी पुष्पमाला में पिरोने के लिए तो ये कुछ मूंगे के दाने हैं।

६ **जलगालनविधि**—इसमें ३१ पद्य हैं। प्रति का कलेवर तीन पत्र हैं। प्रति से लेखक का परिचय प्राप्त नहीं होता, पर ३१वें पद्य के बाद इतना लिखा पाया जाता है—'भट्टारकशुभकीर्तिः तस्सीप्यमेघकीर्तिः लिखितम्।'

लेखक के मतानुसार ऊँच-नीच वर्ण वालों के कुंए पृथक्-पृथक् होने चाहिएँ। जहाँ स्मशान भूमि हो वहाँ का पानी नहीं लेना चाहिए। यथा—

नीर तीर जहँ होइ मसाण, सो तजि घाट भरु जल आणि।
घान जल जो रहि घट दोइ, सो जल चुनि अनगालु होइ॥

उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट है कि ग्रन्थ की भाषा राजस्थानी है। रचना साधारण है।

७ **स्वरूपस्वानुभव**—यह हिन्दी का गद्य ग्रन्थ है। लिपि सुन्दर है। पृष्ठ १४ हैं। अन्त में अन्तराय कर्म का वर्णन है, पर इससे यह पता नहीं चलता कि ग्रन्थकार ने इतना ही ग्रन्थ लिखा है या यह ग्रन्थ अधूरा है! बीच-बीच में दस सुन्दर चित्र हैं। पहला चित्र दसों दिशाओं का है, फिर क्रम से आठों कर्मो के चित्र दिखलाये गये हैं, जिनसे उस समय की चित्रकला का अच्छा परिचय मिलता है। कला-प्रेमी अन्वेषक विद्वानों को इसे अवश्य देखना चाहिए। सम्भव है, उन्हें जैन चित्रकला के सम्बन्ध में अच्छी सामग्री मिल जाय। भाषा में सुन्दर संस्कृत, तत्सम शब्दों की बहुलता है। ग्रन्थकर्ता ने मोक्षद्वार, जीवद्वार, अजीवद्वार और ध्यानद्वार—इन द्वारों से स्वानुभाव का स्वरूप समझाया है।

८ **हरिवंशपुराण चौपईबन्द**—पृष्ठ १२८। प्रति जीर्णशीर्ण दशा में है। लिपि अस्पष्ट एवं बीच में मिट गई है। ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ भी नष्ट हो गये हैं। ग्रन्थ से ग्रन्थकर्त्ता का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता है, पर ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि के अन्त में "इतिश्री हरिवंशपुरानसंग्रहे भविमंगलकरणे आचार्य जिनसेन विरचिते तस्योपदेशे चौपई श्री शालिवाहन क्रियते प्रथम नाम सन्धि।" लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण के आधार पर कवि ने प्रकृत ग्रन्थ को चौपई छन्द में लिखा है। ग्रन्थ में २१ सन्धि हैं—भाषा, भाव तथा रचना साधारण है।

९ **यशोधरचरित**—पृष्ठ १०७, पद्य ८८७ और सन्धि ५ हैं। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। लेखक का नाम पं० लक्ष्मीदास है। सकलकीर्ति विरचित संस्कृत यशोधरचरित तथा पद्मनाभ कायस्थकृत यशोधर के आधार पर यह ग्रन्थ बनाया गया है। ग्रन्थकार के अंतिम लेख से जाना जाता है कि यह ग्रन्थ सांगानेर नगर में राजा जयसिंह के राजत्वकाल में लिखा गया है।

१० प्रश्नमाला—यह गद्यग्रन्थ है। लिपि स्वच्छ और प्रति सुन्दर दशा में है। पृष्ठ ३४ हैं। ग्रन्थ के आदि और अन्त में निम्नलिखित पद्य विद्यमान हैं—

आदि—आदि अन्त चौवीस लों, वन्दौ मन वच काय।
भव्यन को उपदेश दे, करो मंगलाचार ॥१॥

अन्त—प्रश्नमाला पूरन भई, आदेश्वर गुनराय।
सम्यक्त सहित वांचत रहो, ज्ञान सुरति मन मांह ॥

इन पद्यों के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में १२२ विविध धार्मिक प्रश्नों का उत्तर सरल एवं सरस भाषा में समझाया गया है। ये प्रश्न देवांगनाओं से पूछे गये जिनमाता तथा श्रेणिक गौतम संबंधी हैं। लेखक का परिचय ग्रन्थ से नहीं मिलता है।

११ दशलक्षणधर्म—यह भी गद्यग्रन्थ है। पृष्ठ ४२ हैं। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। ग्रन्थकार पं० सदासुख जी हैं। यह ग्रन्थ सुमतिभद्राचार्य विरचित संस्कृत प्राकृत दशलक्षण धर्म का सरस भावानुवाद है। ग्रन्थ के प्रारंभ में १२ पद्य हैं। फिर गद्य में १० धर्मों का सुन्दर, सरस एवं मधुर विवेचन है, जो पर्युषण पर्व के समय पठनीय है।

१२ इष्टोपदेश—यह गद्यग्रन्थ है। केवल ४ पृष्ठ ही हैं। यह पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश का मधुर भावात्मक मनोरंजक अनुवाद है। लेखक का नाम धर्मदास छुल्लक है। यह मोक्षपद के पथिकों का पाथेय है। भाषा और लिपि साधारण है।

१३ बुद्धिप्रकाश—कविवर ने इस ग्रन्थ में धर्म, वैराग्य और नीति के विषयों का सुन्दर रूप से प्रतिपादन किया है। कर्म-सिद्धान्त जैसे कठिन विषयों की कविता करने में ग्रन्थकार ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। दाता और सूम का कितना सरस और सरल संवाद इस ग्रन्थ में कराया है—

सूम—कहे सूम सव सङ्ग भले, धर्मी सङ्ग न लाय।
ता सङ्ग तें घर धन सकल दान विषै ही जाय ॥

माल लेहें चोर के धर्यो घने जावतें तै अगनि किमि लागि भूमि गाड़ी रज डारी है।
राजा किमि नेह रह्यो रांकि की समानि होय, तन तो उघारो, खांय रोटी रज झारी है ॥
इत्यादिक में तो धनी चौकस राख्यो, खाय उघारी लाई लाज सव टारी है ॥
रूपै को रुपैया वड़े घने कष्ट तें, कमायो यार दान कैसो दियो जाय काढ़ो बहुगारी है ॥

दाता—दाता कहे सुन रे सठा, चौंकस लाख कराय।
कै धन तज के तू वसै कै देखत धन जाय ॥

राखो न माल रहे किस ही पर लाख सयानै कोय करौ जी।
खोद खड़ा धन माहि धरचो भल ऊपर लें बहु भार भयो जी ॥
जाये तवै बहु सोच करौ भल रोप करौ निज पाय हरौ जी।
लाख उपाय करो नर हे तातें भव्य यह द्रव्य दान करौ जी ॥

इस पद्य में कितने सुन्दर ढंग से कृपण के स्वभाव का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का प्रारंभ इन्दौर में हुआ और इसकी समाप्ति भाडलनगर (भेलसा) में हुई है। कवि का नाम हरिकृष्ण प्रतीत होता है। ग्रन्थ समाप्ति का काल ग्रन्थकार ने स्वयं इस भांति लिखा है।

सम्वत अष्टादश शत जोयो और छबीस मिलावो सोयो।
मास जेठ वदि आठें सारो ग्रन्थ समापति को दिन धारो ॥

अर्थात् सं० १८२६ में ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

१४ चन्द्रप्रभ पुराण—इस ग्रन्थ में सोलह अधिकार और १८१ पृष्ठ हैं। कविवर ने यह ग्रन्थ गुणभद्राचार्य विरचित उत्तर पुराण के आधार पर हिन्दी के विविध छन्दों में लिखा है। इसके श्लोकों की संख्या ३००० से अधिक है। कवि की कविता के नमूने इस भांति हैं :—

एक दिना नृप सभा मंझारे, बैठे शक्र निहारे।
मंत्री आदि सकल उमराव, बैठे मानो निर्जर राव ॥

पुत्र शोक का वर्णन—

मूर्च्छा पाय धरनि पर पर्यो, मानो चेतन ही निसरो।
अब कीनो शीतल उपचार, भयो चेत नृप करै पुकार।
हा! हा! कुंवर गयो तू काय, तो विन मो को कहूँ न सुहाय।
सिर छाती कूटे अकुलाय, सुनत सभा सब रुदन कराय ॥

पुत्र-शोक का कितना स्वाभाविक चित्र कवि ने खींचा है, जिसे पढ़ कर हृदय द्रवित हो उठता है।

पुत्र न होने का वर्णन—

विने देखि मन भया उदास, नैन नीर भर आयो जास।
जो मेरे सुत होतो ये कोय, केलि करत लखि अति सुख होय।
पुत्र विना सूनो संसार, पुत्र विना त्रिय पावे गार।
पुत्र विना सजन क्यों मिले, विना पुत्र कुल कैसे चले।
जैसे फूल विना मकरन्द, कमल-नैन संज्ञा दृग अन्ध।
पंडित विना ज्यों सभा अपार, चन्द्र विना निशि ज्यों अँधियार ॥

कवित्त

कमल विना जल, जल विन सरवर, सरवर विन पुर, पुर विन राय।
राय सचिव विन, सचिव विना बुधि, बुधि विवेक विन को सोभा न पाय ॥
विवेक विना क्रिया, क्रिया दया विन, दया दान विन, धन विन दान।
धन विन पुरुष तथा विन रामा, रामा विन सुत त्यों जग मांहि ॥

इन पद्यों में कवि ने नारी हृदय के भावों को सजीव ढंग से चित्रित किया है। ग्रन्थकार का नाम हीरासिंह प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की रचना बड़ौत नगर में हुई है। रचना काल—सं० १९१२ भादों कृष्ण त्रयोदशी।

१५ श्री गुरूपदेश श्रावकाचार—इस ग्रंथ के रचयिता पं० डालूराम हैं। ग्रन्थ की पत्र संख्या १८३ है और वह पद्यात्मक है, जिसमें ३६ सन्धियाँ हैं। पं० डालूराम जी ने विविध ग्रन्थों का पर्यालोचन कर इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय प्रधानतया श्रावकों का आचार है, किन्तु बीच-बीच में श्रावकों के चरित्र-संबंधी अन्य विषयों का भी समावेश हुआ है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वांगीण सुन्दर और सुपाठ्य हो गया है। ग्रन्थ के अन्दर दोहा, चौपाई, सवैया, पद्धरि, सोरठा, अडिल्ल, कुण्डलियाँ, आदि छन्दों का ललित भाषा में प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं द्रुतविलंबित जैसे संस्कृत छन्द भी दृष्टिगोचर होते हैं। एक नमूना :—

जिनके सुमति जागि, भोग सों भयो विरागी, परसङ्ग त्यागी, जे पुरुष त्रिभुवन सो ।
रागादि भावन सों जिनकी रहन न्यारी कवहूँ न मगन रहे धाम धन में ।।
जे सदैव आपको विचारें सव अङ्ग सुधा तिनके विकलता न व्यापें कहू मन में ।
तेई मोखमारग के साधक कहावें, जीव भावे रहो मन्दिर में, भावे रहो वन में ।।

इस पद्य में मोक्ष-साधक का कितना मनोहर और स्वाभाविक वर्णन है, जिसमें भाव और भाषा की पुट भी मन को आकर्षित करती है। ग्रन्थ ऐसे अनेक सुन्दर पद्यों से पूर्ण है। ग्रन्थकार ने अपना परिचय भी इस ग्रन्थ में अति विस्तृत रूप से लिखा है। सवाई माधोपुर में आने का कारण दिखलाया है तथा वहाँ के जिन-मंदिर, जैन समाज का जीवन और धार्मिक रुचि का अनूठा चित्र अंकित किया है। राजा और प्रजा के गाढ़ प्रेम का दिग्दर्शन भी वढ़िया ढंग से किया गया है। ग्रन्थ की लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। प्रति भी अच्छी दशा में सुरक्षित है।

१६ **हनुमच्चरित्र**—यह ग्रन्थ ब्र० रायमल्ल जी का रचा हुआ प्रतीत होता है। लेखक ने आचार्य अनन्त-कीर्ति द्वारा विरचित संस्कृत हनुमच्चरित्र का आधार लेकर इसका निर्माण किया है। पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। भाषा प्राचीन हिन्दी प्रतीत होती है। ग्रन्थ का प्राकृतिक वर्णन कितना स्वाभाविक और सजीव है—

सेमर महुआ तिन्दुक वेलु, वकायन कैथ करील।
वोच मोच नारंग सुवंग, नींवू जामुन वादाम तिलंग ।।
अमृतफल, कटहल और केलि, मण्डप चढ़ि दाख की वेलि ।।
वेर सुपारी कमरख घनी, न्योजा आम कनस विम्वनी ।।

प्रस्तुत पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का व्यावहारिक ज्ञान विशाल था तथा उसे विभिन्न प्रकार के वृक्षों का पूर्ण ज्ञान था। इसी के फलस्वरूप वाटिका के वृक्षों का ललित वर्णन कवि ने किया है।

कविराज ने वीच-वीच में सुन्दर नीति विषयक पद्य भी दिये हैं। यथा--

मित्र मित्र को करे विश्वास। मित्र विना नहिं पूरे आस।
वहुत आपदा आवे जवै। मित्र परीक्षा आवे तवै ।।
धीरें पावे राजा राज। धीरें खेती उपजे नाज ।।
वोवे वृक्ष धीरे फल खाय। धीरे मुनिवर मुक्तिहिं जाय ।।

वीर वालक का ओजस्वी वर्णन देखिये--

वालक जव रवि उदय कराय।
अन्धकार सव जाय पलाय ।।
वालक सिंह होय अति सूरो।
दन्ति घात करे चक चूरो ।।
सघन वृक्ष वन अति विस्तारो।
रत्ती अग्नि करे दह छारो ।।
जौ वालक क्षत्रिय को होय।
सूर स्वभाव न छाड़े कोय ।।

उपर्युक्त पद्यों में क्षत्रिय वालक की उपमाएं वाल-रवि, सिंह-शावक, और एक अग्नि की चिनगारी से दी गई हैं। ये उपमाएँ कवि की अनोखी सूझ की द्योतक हैं। जैसे अग्नि की चिनगारी प्रारंभ में छोटी होती है, पर अरण्य

में प्रवेश करते ही प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार ओजस्वी बालक आरंभ में शूर-वीर होते हैं। अन्त में ग्रन्थकार ने अपना परिचय इस भांति दिया है—

ब्रह्मराय मल वुधि कर हीन, हनुमच्चरित्र कियो परकाश।
तास शीश जिन चरणहि लीनो, क्रियावन्त मुनिवर को दास॥
भनियो सो मन धरि हर्ष, सोलह सौ सोलह शुभ वर्ष।
ऋतु वसन्त मास वैशाखे, नवमी तिथि अंधियारो पाखे॥

इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की सं० १६१६ वैशाख वदी नवमी को रचना की है।

१७ वृद्धिविलास—इस ग्रन्थ के रचयिता पं० वखतराम हैं। ग्रन्थ की प्रति साधारण तथा लिपि अच्छी है। ग्रन्थकार ने विशाल संस्कृत साहित्य का अध्ययन एवं मनन कर इसको रचा है। रचना मौलिक तथा कहीं-कहीं पर साधारण है।

ग्रन्थ के प्रारंभ में कवि ने जयपुर के राजवंश का इतिहास लिखा है। सं० ११६१ में मुसलमानों ने जयपुर में राज्य किया है। इसके पूर्व कई हिन्दू राजवंशों की नामावलि दी है। इतिहास-प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए। इसका वर्ण्य विषय विविध धार्मिक विषय, संघ, दिगंबर पट्टावलि, भट्टारकों तथा खंडेलवाल जाति की उत्पत्ति आदि हैं। विस्तार १५२४ पद्यों में हैं। कविवर ने राजमहल का रोचक और मधुर चित्र खींचा है—

आंगन फटि कले पर वात मनु रचे विरंचि जु करि सयान।
हैं आव सलिल सम तिह वनाय, तह प्रगट परत प्रतिविंव आय॥
कवहुं मणिमन्दिर मांझि जाय, तिय दूजी लखि प्यारी रिसाय।
तव मानवती लखि प्रिय हसाय, कर जोरि जोर लेहैं वनाय॥

इस पद्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की पुट है। इस ग्रन्थ को कविवर ने सं० १८२७ के मगसिर मास की शुक्ला १२ वृहस्पतिवार के दिन समाप्त किया।

संवत अट्ठारह शतक ऊपर सत्ताइस, मास मागिसिर पषि सुकल तिथि द्वादसी तारीख।
नखत अस्वनी वार गुरु शुभ मुहूरत के मद्धि, ग्रन्थ अनूप रच्यो पढ़े है ताको सर्वसिद्ध।

इस प्रकार जैन हिन्दी साहित्य में अनेक ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हुए हैं। यदि इन्हें हिन्दी जगत के समक्ष रक्खा जाय तो हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से यह सामग्री वड़ी मूल्यवान होगी। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो अवगत होगा कि अपभ्रंश और भक्तिकाल के साहित्य की अपूर्णता का मूल कारण जैन हिन्दी साहित्य के समुचित उपयोग का अभाव ही है।

आरा]



'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' और उसके प्रकाशन

श्री राजकुमार जैन साहित्याचार्य

श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इस वात का परिचय वहुत कम लोगों को है कि वे हिन्दी, गुजराती, मराठी और वँगला के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के भी पंडित हैं और उनके तत्त्वावधान में चलने वाली संस्थाओं में 'हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर' के अतिरिक्त 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' नाम की भी एक प्रकाशन संस्था है, जिसके वहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाशन का सर्वाधिक श्रेय श्री प्रेमीजी को ही प्राप्त है। आज 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' तथा प्रेमीजी में इतना अभेद संवंध है कि कोई भी जैन विद्वान् एक को दूसरे से भिन्न नहीं देख सकता।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला की स्थापना का इतिहास

वम्वई निवासी दानवीर सेठ माणिकचन्द्र इस वीसवीं सदी में अद्भुत व्यक्तित्व के श्रीमान् हो गये हैं। वे वड़े परोपकारी, दानी, दयालु और साहित्यप्रेमी थे। अपने जीवन में उन्होंने लगभग दस लाख रुपये का दान किया था।

१६ जुलाई १९१४ को सेठ माणिकचन्द्र जी स्वर्गवासी हो गये। १९ जुलाई को स्वर्गीय आत्मा के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए वम्वई में एक विशाल लोकसभा का आयोजन किया गया और उसमें सर सेठ हुकुमचन्द्र (इन्दौर) ने दिवंगत सेठ जी की स्मृति को चिरस्थायी वनाने के लिए एक स्मारक की योजना जनता के सामने उपस्थित की। इस अवसर पर श्रद्धेय प्रेमीजी ने प्रस्ताव रक्खा कि सेठ माणिकचन्द्र की स्मृति में उनके नाम से एक ग्रन्थमाला निकाली जाय और यह माला ही उनकी वास्तविक स्मारक वने। स्व० प० धन्नालाल जी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और वह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया।

उन दिनों जैन-समाज में छापे का विरोध कुछ-कुछ ढीला हो गया था और लोग प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। सभा में ग्रन्थमाला के लिए अपील की गई और उसी समय लगभग साढ़े चार हजार का चन्दा हो गया। ग्रन्थमाला की एक संक्षिप्त नियमावली वना दी गई। प्रेमीजी ग्रन्थमाला के मन्त्री वनाये गये और दस सज्जनों की एक प्रवन्ध-समिति भी वना दी गई।

माला के उद्देश्य और नियमावली निम्न प्रकार थी :—

१. इस ग्रन्थमाला में केवल दिगम्वर जैन सम्प्रदाय के संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। यदि कमेटी उचित समझेगी तो कभी कोई देशी भाषा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित कर सकेगी।

२. इसमें जितने ग्रन्थ प्रकाशित होंगे, उनका मूल्य लागत मात्र रक्खा जायगा। लागत में ग्रन्थ सम्पादन कराई, संशोधन, छपाई, वँधवाई आदि के सिवाय आफिसखर्च, व्याज और कमीशन भी शामिल समझा जायगा।

३. यदि कोई धर्मात्मा, किसी ग्रन्थ की तैयारी कराने में जो खर्च पड़ा है, वह अथवा उसका तीन चतुर्थांश सहायता में देंगे तो उनके नाम का स्मरण पत्र और यदि वे चाहेंगे तो उनका चित्र भी उस ग्रन्थ की तमाम प्रतियों में लगा दिया जायगा।

४. यदि सहायता करने वाले महाशय चाहेंगे तो उनकी इच्छानुसार कुछ प्रतियाँ, जिनका मूल्य सहायता की रक़म से अधिक न होगा, मुफ़्त में वितरण करने के लिए दे दी जायँगी।

५. इसमें ग्रन्थमाला की कमेटी द्वारा चुने हुए ग्रन्थ ही प्रकाशित होंगे।

तृतीय नियम इसलिए बनाना पड़ा कि ग्रन्थमाला की वर्तमान पूँजी जो चन्दे से उपलब्ध हुई थी, कम थी और ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों को लागत मूल्य पर बेचने का निश्चय हुआ था। इसलिए कुछ और सहायता मिल सके, इस विचार से यह नियम रक्खा गया और इसका प्रभाव भी पड़ा। प्रारंभ के अनेक प्रकाशन साधन-सम्पन्न बंधुओं ने अपने चित्र देकर खरीदे और इस प्रकार ग्रन्थमाला को सहायता पहुँचाई। 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' की स्थापना का संक्षेप में यही इतिहास है।

ग्रन्थमाला के प्रकाशन और उनकी उपयोगिता

इस ग्रन्थमाला द्वारा अबतक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के छोटे-बड़े ब्यालीस ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं ? जैन वाङ्मय के इन अमूल्य ग्रन्थों की शोध कर उन्हें सुसम्पादित और प्रकाशित करने का सर्वप्रथम श्रेय इस ग्रन्थमाला को ही प्राप्त है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रारम्भिक प्रकाशन आधुनिक सम्पादन-पद्धति के अनुसार सम्पादित नहीं हुए हैं, तथापि अंतिम छह ग्रन्थों का जो सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर सम्पादन हुआ है, वह बड़े ही महत्त्व का है। यही कारण है कि बम्बई यूनिवर्सिटी ने इस माला के तीन ग्रन्थों के प्रकाशन में एक सहस्र रुपये की सहायता पहुँचा कर ग्रन्थमाला के गौरव की श्रीवृद्धि की है।

प्रारंभिक प्रकाशन आधुनिक ग्रन्थ-संपादन शैली के अनुसार सम्पादित नहीं हो सके, उसके दो कारण थे। प्रथम तो प्रकाशनार्थ ग्रन्थों की विभिन्न पाण्डुलिपियाँ ही दुष्प्राप्य रहीं। फलतः कई ग्रन्थों का सम्पादन केवल एक ही प्रति के आधार पर कराना पड़ा। दूसरे उस समय विद्वान् सम्पादन नवीन पद्धति से उतने परिचित नहीं थे। फिर भी ग्रन्थमाला के प्रकाशनों की महत्ता और उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाई। इस रूप में प्रकाशित होने पर भी वे मूल्यवान और महत्वपूर्ण होने के साथ संग्राह्य और उपादेय हैं। यहाँ हम ग्रन्थमाला के सम्पूर्ण प्रकाशनों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

१. **लघीयस्त्रयादिसंग्रह** : इसमें जैन-दर्शन-संबंधी चार ग्रंथ संगृहीत हैं :—

(१) **भट्टाकलंकदेवकृत लघीयस्त्रय** : अभयचन्द्र सूरि-रचित तात्पर्यवृत्तिसहित। प्रमाण, न्याय आदि विषयक एक छोटा-सा प्रकरण।

(२) **भट्टाकलंकदेव-कृतस्वरूप संबोधन** : आत्मा के स्वरूप के बारे में पच्चीस श्लोक।

(३-४) **अनंतकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और वृहत्सर्वज्ञसिद्धिः** सर्वज्ञता के जैन-सिद्धान्त का विश्लेषण।

इस ग्रंथ का संशोधन स्व० पंडित कल्लापा भरमाप्पा निटवे ने किया है। पृष्ठ संख्या २०४। मूल्य छः आना। प्रकाशन तिथि वि० सं० १९७२।

२. **सागरधर्मामृतम्** : ग्रंथकर्ता पं० आशाधर, जो तेरहवीं शताब्दी के महान लेखक थे। इस ग्रन्थ में गृहस्थ के कर्तव्यों पर उन्होंने प्रकाश डाला है। स्व० पं० मनोहर लाल जी द्वारा संशोधित। श्री नाथूराम जी प्रेमी की आशाधर तथा उनकी रचनाओं के विषय में भूमिका भी है। पृ० २४६। मूल्य आठ आना। सं० १९७२।

३. **विक्रान्तकौरवनाटकम् या सुलोचना नाटकम्** : छ : अंकों में कुरुवंशी जयकुमार और काशी के महाराज अकम्पन की पुत्री सुलोचना के पारस्परिक अनुराग और स्वयंवर आदि का चित्रण है। ग्रंथकार उभय भाषा कवि चक्रवर्ती हस्तिमल्ल हैं। पृष्ठ १६४। मूल्य छः आना : सं० १९७२। (अप्राप्य)।

४. **पार्श्वनाथ चरितम्** : दसवीं शताब्दी के महान् कवि और तर्कशास्त्री वादिराजसूरि कृत। इस काव्य-ग्रन्थ के बारह सर्गों में भगवान पार्श्वनाथ का जीवन-चरित है। संशोधन-कर्ता स्व० पं० मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ १९८। मूल्य आठ आना। सं० १९७३।

५. **मैथिलीकल्याणनाटकम्** : पांच अंकों का एक छोटा सा नाटक। लेखक हस्तिमल्ल। पृ० ९६। मूल्य चार आना। सं० १९७२। संशोधक स्व० पं० मनोहरलाल शास्त्री।

६. आराधनासार : (सटीक) मूलकर्ता देवसेन और टीकाकार रत्नकीर्तिदेव। संशोधक स्व० पं० मनोहरलाल शास्त्री। इसमें जैन सिद्धान्त सम्मत दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप इन चार आराधनाओं से संबंधित सामग्री है। पृष्ठ १२८। मूल्य साढ़े चार आना। सं० १९७३।

७. जिनदत्त चरितम् : नौ सर्गों में जिनदत्त का जीवन-चरित है। ग्रंथकर्ता गुण भद्राचार्य। संशोधक पं० मनोहरलाल शास्त्री। पृ० ९६। मूल्य साढ़े चार आना। सं० १९७३। (अप्राप्य)

८. प्रद्युम्न चरितम् : आचार्य महासेन कृत प्रद्युम्न का जीवनचरित। संपादक पं० मनोहरलाल शास्त्री और पं० रामप्रसाद जी शास्त्री। पृ० २३०। मूल्य आठ आना। सं० १९७३।

९. चारित्र्यसार : चामुण्डराय कृत। संशोधक पं० इन्द्रलाल शास्त्री तथा उदयलाल काशलीवाल। गृहस्थ और साधु के चारित्र्य संबंधी नियमों का इसमें उल्लेख है। पृ० १०४। मूल्य छः आना। सं० १९७४। (अप्राप्य)।

१०. प्रमाण निर्णय : ग्रन्थकर्ता वादिराजसूरि। यह ग्रन्थ जैनदर्शन से संबंध रखने वाला है। इसमें जैनदर्शन सम्मत प्रमाणों की प्रबल युक्तियों के साथ प्रतिष्ठा की गई है। पं० इन्द्रलाल शास्त्री और पं० खूबचन्द्र जी शास्त्री ने इसका संशोधन किया है। पृ० संख्या ८०। सं० १९७४। मूल्य पाँच आना। (अप्राप्य)।

११. आचारसार : वीरनन्दि आचार्य कृत। संपादक पं० इन्द्रलाल शास्त्री और मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ संख्या १००। मूल्य छः आना। (अप्राप्य)

१२. त्रिलोकसार : ग्रन्थकर्ता श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती और टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य देव। इस ग्रन्थ में तीनों लोकों का जैन-सम्प्रदाय-मान्य विस्तृत विवेचन है। संशोधक पं० मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ संख्या ४५०। सं० १९७५। मूल्य एक रुपया बारह आना। (अप्राप्य)

१३. तत्त्वानुशासनादिसंग्रह : इसमें निम्नलिखित छोटे-बड़े ग्रन्थ संगृहीत हैं—

१—नागसेन मुनि-कृत तत्वानुशासन।
२—पूज्यपाद स्वामिकृत इष्टोपदेश (आशाधर कृत टीकासहित)।
३—भट्टारक इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार।
४—मोक्षपंचाशिका।
५—इन्द्रनन्दि आचार्य कृत श्रुतावतार।
६—सोमदेवकृत अध्यात्मतरंगिणी (सटिप्पण)।
७—विद्यानन्दि-कृत पात्रकेशरिस्तोत्र (सटीक)।
८—वादिराज-कृत अध्यात्माष्टक।
९—अमितगतिसूरि-कृत द्वात्रिंशतिका।
१०—श्री चन्द्रकृत वैराग्य-मणिमाला।
११—श्री देवसेन कृत तत्त्वसार।
१२—ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध-(प्राकृत)।
१३—ढाढ़सी गाथा (प्राकृत)।
१४—पद्मसिंह मुनि कृत ज्ञानसार (प्राकृत)। संशोधक पं० मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ संख्या १७६। सं० १९७५। मूल्य चौदह आना। (अप्राप्य)।

१४. अनगारधर्मामृतम् (सटीकम्) : ग्रंथकर्ता पंडितप्रवर आशाधर। इस पर ग्रन्थकार ही की स्वोपज्ञ-भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका है। संशोधक पं० वंशीधर जी न्यायतीर्थ और पं० मनोहरलाल शास्त्री। इसमें मुनिधर्म का विस्तृत निरूपण है। पृष्ठ संख्या ६९२। सं० १९७६। मूल्य साढ़े तीन रुपया। (अप्राप्य)

१५. युक्त्यनुशासनम् : ग्रन्थकर्ता स्वामी समन्तभद्र और टीकाकार स्वामी विद्यानन्दि। यह जैनदर्शन का

ग्रन्थ है। संशोधक पं० इन्द्रलाल शास्त्री तथा पं० श्री लाल शास्त्री। पृष्ठ संख्या १०२। सं० १९७७। मूल्य पन्द्रह आना। (अप्राप्य)

१६. नयचक्रसंग्रह : ग्रंथकर्ता देवसेन। संपादक पं० वंशीधर शास्त्री, शोलापुर। इसमें निम्नांकित तीन ग्रन्थ संगृहीत हैं—

(१) आलाप पद्धति, (२) लघुनय चक्रम, (३) वृहत् नयचक्रम्।

प्रत्येक ग्रन्थ में वस्तु-धर्म का कथन करने वाली समस्त संभावित शैलियों अर्थात् नयों का विवेचन है। पृष्ठ संख्या १४८। सं० १९७७। मूल्य पन्द्रह आना। (अप्राप्य)

१७. षट्प्राभृतादिसंग्रह : ग्रन्थकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द। यह जैन सिद्धान्त से संबंध रखनेवाला संग्रह ग्रन्थ है। इसमें निम्नलिखित प्राकृत ग्रन्थों का संग्रह है—

(१) दर्शन प्राभृत, (२) चारित्र्य प्राभृत, (३) सूत्र प्राभृत, (४) बोध प्राभृत, (५) भाव प्राभृत, (६) मोक्ष प्राभृत, (७) लिङ्ग प्राभृत, (८) शील प्राभृत, (९) रयणसार और (१०) द्वादशानुप्रेक्षा।

संशोधक पं० पन्नालाल जी सोनी। पृष्ठ संख्या ४४२। सं० १९७७। मूल्य तीन रुपया।

१८. प्रायश्चित्तसंग्रह : इसमें जैन सम्प्रदाय सम्मत प्रायश्चित्तों का संकलन है। इसमें निम्नांकित ग्रन्थ संगृहीत हैं—

(१) छेदपिण्ड (इन्द्रनन्दियोगीन्द्र कृत) प्राकृत

(२) छेदशास्त्र या छेदनवत्ति (प्राकृत)।

(३) गुरुदास कृत प्रायश्चित्तचूलिका (श्रीनन्दिगुरु कृत टीका सहित)।

(४) प्रायश्चित्तग्रंथ भट्टाकलंककृत।

संशोधक पं० पन्नालाल जी सोनी। पृष्ठ संख्या १७२। मूल्य एक रुपया दो आना। सं० १९७८। (अप्राप्य)

१९. मूलाचारः सटीकः (पूर्वार्द्ध)—ग्रन्थकर्त्ता आचार्य वट्टकेर। इसमें सात अधिकारों द्वारा मुनियों के आचार का वर्णन है। सम्पादक पं० पन्नालाल सोनी और पं० गजाधरलाल शास्त्री। पृष्ठ संख्या ५१६। सं० १९७७। मूल्य ढाई रुपया। (अप्राप्य)

२०. भावसंग्रहादि : सैद्धान्तिक संग्रह-ग्रन्थ। संशोधक पं० पन्नालाल सोनी। इसमें निम्नलिखित ग्रन्थ संगृहीत हैं-

(१) भावसंग्रह (देवसेनसूरिकृत)

(२) भावसंग्रह (वामदेवपंडितकृत)

(३) भावत्रिभंगी (श्रुतमुनिकृत) सं० १९७८। पृष्ठ संख्या २८३, मूल्य सवा दो रुपया।

२१. सिद्धान्तसारादिसंग्रह : यह भी एक सैद्धान्तिक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें संस्कृत-प्राकृत भाषा निबद्ध निम्नलिखित छोटे-बड़े पच्चीस ग्रंथ और प्रकरण संगृहीत हैं—

१. जिनचन्द्राचार्यकृत सिद्धान्तसार प्राकृत (ज्ञानभूषणकृत भाष्य सहित)
२. श्रीयोगीन्द्रदेवकृत योगसार, (अपभ्रंश)
३. अजितब्रह्मकृत कल्याणलोयणा (प्राकृत)।
४. योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति (संस्कृत)।
५. शिवकोटिकृत रत्नमाला (संस्कृत)।
६. श्रीमाघनन्दिकृत शास्त्रसारसमुच्चय।
७. प्रभाचन्द्राचार्यकृत अर्हत्प्रवचन।
८. आप्तस्वरूप।
९. वादिराजप्रणीत ज्ञानलोचनस्तोत्र।

१०. विष्णुसेनमुनिकृत समवशरणस्तोत्र ।
११. विजयानन्दसूरिकृत सर्वज्ञस्तवन (सटीक) ।
१२. पार्श्वनाथसमस्यास्तोत्रम्
१३. श्रीगुणभद्रकृत चित्रवन्धस्तोत्र
१४. महर्षिस्तोत्र
१५. श्रीपद्मप्रभदेवकृत श्रीपार्श्वनाथस्तोत्र
१६. नेमिनाथस्तोत्र
१७. भानुकीर्तिकृत शंखदेवाष्टक
१८. योगीन्द्रदेवकृत निजात्माष्टक (प्राकृत)
१९. अमितगतिकृत सामायिक पाठ या तत्त्वभावना
२०. पद्मनन्दिविरचित धम्मरसायण (प्राकृत)
२१. कुलभद्रकृत सारसमुच्चय
२२. श्रीशुभचन्द्रकृत अंगपण्णत्ती (प्राकृत)
२३. विवुधश्रीधरकृत श्रुतावतार
२४. शलाकानिक्षेपणनिष्कासनविवरण
२५. पंडित आशाधरकृत कल्याणमाला

पं० नाथूराम जी प्रेमी की कुछ ग्रन्थकर्त्ताओं पर भूमिका । सम्पादक पं० पन्नालाल सोनी । पृष्ठ संख्या ३२४ । मूल्य डेढ़ रुपया । सं० १९७९ ।

२२. नीतिवाक्यामृतम् (सटीकम्) : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य सोमदेव । इस ग्रन्थ में विशाल नीतिसागर का मन्थन करके सारभूत अमृत का संग्रह किया गया है । ग्रन्थ का प्रधान विषय राजनीति और सम्पूर्ण ग्रन्थ सूत्रवद्ध है । इसमें ३२ समुद्देश हैं और इस पर एक विशाल संस्कृत टीका है । सम्पादक पं० पन्नालाल सोनी । पृष्ठ संख्या ४२६ । सं० १९७९ । मूल्य पौने दो रुपया ।

२३. मूलाचारः सटीक (उत्तरार्द्ध): ग्रन्थकर्त्ता आचार्य वट्टकेर । वसुनन्दिश्रमण की संस्कृत टीका सहित। इसमें मुनियों के आचार का विवेचन है । ग्रन्थ में पाँच अधिकार हैं । पृष्ठ संख्या ३३१ । सं० १९८० । मूल्य डेढ़ रुपया ।

२४. रत्नकरण्डश्रावकाचार (सटीक) : ग्रन्थकर्त्ता स्वामी समन्तभद्र और टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र । इस ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म का विवेचन किया गया है । सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार । प्रारम्भ में मुख्तार साहव की ८४ पृष्ठों की भूमिका और २५२ पृष्ठों में स्वामी समन्तभद्र का विस्तृत जीवन-परिचय है । ग्रन्थ सात परिच्छेदों में विभक्त है । सं० १९८२ । मूल्य दो रुपया ।

२५. पंचसंग्रह : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य अमितगति । इसमें कर्म-सिद्धान्त का विवेचन है । संशोधक साहित्य-रत्न पं० दरवारीलाल जी । पृष्ठ संख्या २३९ । मूल्य तेरह आना ।

२६. लाटीसंहिता : ग्रन्थकर्त्ता राजमल्ल । इसमें सात सर्गों में जैन सिद्धान्तों का उल्लेख है । संशोधक पंडित दरवारीलाल जी । पृष्ठ संख्या १३० । सं० १९८४ । मूल्य आठ आना ।

२७. पुरुदेवचम्पू : ग्रन्थकर्त्ता महाकवि अर्हद्दास । चंम्पू ग्रन्थ है । १० स्तवकों में भगवान् ऋषभदेव का जीवन-वृत्त है । संशोधक पं० जिनदास शास्त्री । पृष्ठ संख्या २०६ । सं० १९८५ । मूल्य वारह आना ।

२८. जैनशिलालेखसंग्रह : इस ग्रन्थ में श्रवणवेलगोल के स्मारक, चन्द्रगिरि, विन्ध्यगिरि, श्रवणवेलगोल-नगर और उसके आसपास के महत्त्वपूर्ण शिलालेखों का हिन्दी अनुवाद सहित संग्रह है । सम्पादक प्रो० हीरालाल जी एम० ए०, एल-एल० वी० । पृष्ठ संख्या ४२७ । सं० १९८४ । मूल्य दो रुपया ।

२९-३०-३१. पद्मचरितम् (तीन जिल्दों में) : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य रविषेण। इसमें कवि ने जैन रामायण का रूप चित्रित किया है। २५ पर्व हैं। सं० १९८५। संशोधक पं० दरबारीलाल जी साहित्यरत्न। मूल्य तीनों भागों का साढ़े पाँच रुपया।

३२-३३. हरिवंशपुराणम् (दो जिल्दों में) : ग्रन्थकर्त्ता पुन्नाटसंघीय जिनसेनसूरि। इसमें हरिवंश के महापुरुषों का पौराणिक पद्धति के अनुसार वर्णन है। संशोधक पंडित दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ। पृष्ठ संख्या ८०६। मूल्य साढ़े तीन रुपया।

३४. नीतिवाक्यामृतम् (परिशिष्ट भाग) : इसमें 'नीतिवाक्यामृत' की खंडित टीका का अवशिष्ट अंश है। पृष्ठ संख्या ७६। मूल्य चार आना।

३५. जम्बूस्वामिचरितम् अध्यात्मकमलमार्तण्डश्च : ग्रन्थकर्त्ता पंडित राजमल्ल। इसमें अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी का जीवनचरित है। संशोधक पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए०। सं० १९९३। पृष्ठ संख्या २६३। मूल्य डेढ़ रुपया।

३६. त्रिषष्ठिस्मृतिपुराण (मराठी टीका सहित) : मूल-ग्रन्थ-कर्त्ता पं० आशाधर और मराठी-टीकाकार श्री मोतीलाल जैन। इसमें जैनपरम्परा के श्रेष्ठ महापुरुषों का संक्षिप्त परिचय है। पृष्ठ संख्या १६५, मूल्य आठ आना।

३७-४१-४२ महापुराणम् (तीन जिल्दों में) : ग्रन्थकार महाकवि पुष्पदन्त। यह अपभ्रंश भाषा का पौराणिक ग्रन्थ है। डाक्टर पी० एल० वैद्य ने आधुनिक ग्रन्थ-सम्पादनशैली से सम्पादित किया है। इसमें ६३ शलाका पुरुषों का चरित है। पृष्ठ संख्या लगभग १६००। मूल्य २६ रुपया।

३८-३९. न्यायकुमुदचन्द्रोदय (दो जिल्दों में) : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्र, जिन्होंने भट्टाकलंक के 'लघीयस्त्रय' पर विस्तृत भाष्य के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की है। यह जैनन्याय का ग्रन्थ है। सम्पादक पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य और प्रस्तावना-लेखक पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। पृष्ठ संख्या ८०५ और प्रस्तावनाओं की पृष्ठ संख्या २००। सं० १९९५। मूल्य साढ़े सोलह रुपया।

४०. वराङ्गचरितम् : महाकाव्य है। काव्यकार श्री जयसिंह नन्दि। इसमें राजकुमार वराङ्ग के जीवन का चित्रण है। सम्पादक डाक्टर ए० एन० उपाध्ये। पृष्ठ संख्या ३९५। प्रस्तावना पृष्ठ संख्या ८८। सं० १९९५। मूल्य तीन रुपया।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के प्रकाशनों का यह संक्षिप्त परिचय है। जो महाशय इन ग्रन्थों से अधिक परिचित होना चाहते हैं और जैन-साहित्य के विद्यार्थी हैं, उन्हें ग्रन्थमाला के सम्पूर्ण प्रकाशनों को एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए।

प्रेमी जी और 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला'

सेठ माणिकचन्द्र की स्मृति में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' के आयोजन का प्रस्ताव रख कर प्रेमी जी ने इस ग्रन्थमाला को जन्म ही नहीं दिया, बल्कि इसे अब तक संवर्द्धित और संरक्षित करके इसके कार्य को प्रगति दी और इसके गौरव की अभिवृद्धि भी की।

ग्रन्थमाला का प्रत्येक प्रकाशन प्रेमी जी की प्रतिभा और उनके पुण्य श्रमजल से प्रोक्षित है। अधिकांश ग्रन्थों के प्रारम्भ में जो महत्त्व की प्रस्तावनाएँ हैं, उन्हें प्रेमी जी ही ने लिखा है और उनमें जैन-इतिहास और शोध की जो सामग्री संचित है उसे देख कर कोई भी इतिहास-विशारद प्रेमी जी की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। जैन समाज में किये गये इतिहास और शोध सम्बन्धी कार्य के आदिरूप की झाँकी हमें इस ग्रन्थमाला के प्रकाशनों में ही दिखलाई पड़ती है।

पाठक आश्चर्य करेंगे कि इस प्रकार की उच्चकोटि की ग्रन्थमाला का न कोई स्वतन्त्र कार्यालय है और न कोई क्लर्क आदि। प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था और पत्र-व्यवहार का कार्य प्रेमी जी अपनी दुकान की ओर से ही करते आ रहे हैं। माला के ग्रन्थों का स्टॉक पहले प्रेमी जी की दुकान में ही रहता था, पर पुस्तकों की संख्या बढ़ जाने तथा दुकान में स्थान की कमी पड़ जाने से अब वह हीराबाग़ की धर्मशाला में रक्खा रहता है। जहाँ इस प्रकार की प्रगतिशील प्रकाशन-संस्थाओं की व्यवस्था के पीछे सैकड़ों रुपये मासिक व्यय हो जाते हैं, वहां प्रेमी जी ने इस मद में ग्रन्थमाला का कुछ भी व्यय नहीं होने दिया।

ग्रन्थमाला की इस प्रकार सर्वथा निःस्वार्थभाव से सेवा करते हुए भी प्रेमी जी को पंडित-दल का विरोध सहन करना पड़ा। बात यह थी कि प्रेमी जी ग्रन्थमाला के ग्रन्थों के प्रारम्भ में जो खोजपूर्ण भूमिकाएँ लिखते थे उनमें कुछ तथ्य इस प्रकार के रहते थे, जिनसे तत्कालीन पंडितदल की प्रचलित धारणाओं को ठेस पहुँचती थी और इस कारण वह न केवल उन्हें अग्राह्य समझता था, बल्कि समाचार-पत्रों द्वारा उनका विरोध भी किया करता था। यही नहीं, एक बार तो इस विरोध ने इतना उग्र रूप धारण किया कि परतवाड़ा (बरार) की जैन-विद्वत्परिषद् में यह प्रस्ताव पेश किया गया कि प्रेमी जी के पास से ग्रन्थमाला का कार्य छीन लेना चाहिए; क्योंकि प्रेमी जी सुधारक हैं और अपने सुधारक विचारों का ग्रन्थों में समावेश कर सकते हैं। परन्तु यह एक आश्चर्यजनक घटना थी कि इस प्रस्ताव का विरोध उस समय के पंडितदल के नेता (स्वर्गीय) पं० धन्नालाल जी ने किया और वह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। प्रस्ताव के विरोध में पंडित जी ने कहा था—"प्रेमी जी चाहे जैसे विचारों के हों, परन्तु वह जान-बूझ कर ग्रन्थों में एक अक्षर भी न्यूनाधिक नहीं कर सकते। फिर तुम लोगों में से कोई तैयार भी है, जो उस काम को उन-जैसे निःस्वार्थभाव से चला सके!"

ग्रन्थमाला की आर्थिक स्थिति

जैसा कि प्रारम्भ में लिखा जा चुका है, ग्रन्थमाला के कार्य को चलाने के लिए सेठ माणिकचन्द्र जी की शोक-सभा के अवसर पर साढ़े चार हज़ार रुपये का चन्दा एकत्र हो गया था, परन्तु जब यह द्रव्यराशि पर्याप्त प्रतीत नहीं हुई तो जैन-समाज के अन्य साहित्य-प्रेमी श्रीमानों से सहायता ली गई। स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने भी इस ग्रन्थमाला को एक बार उल्लेखनीय सहायता दिलवाई और जीवनपर्यन्त ग्रन्थमाला की कुछ-न-कुछ सहायता कराते ही रहे। ग्रन्थ जब यथेष्ट संख्या में प्रकाशित हो गये तब यह नियम बनाया गया कि कम-से-कम एक सौ एक रुपया देने वाले महानुभाव माला के स्थायी सदस्य समझे जायँ और उन्हें पूर्वप्रकाशित तथा आगामी प्रकाशित होने वाले समस्त ग्रन्थ भेंट में दिये जायँ। इस प्रकार माला के सदस्य भी बढ़ने लगे और सब प्रकार की सहायता से कुल बाईस सहस्र रुपया ग्रन्थमाला को प्राप्त हुआ, जो माला के प्रकाशन और सम्पादन आदि की व्यवस्था में लगाया गया। 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' तथा 'महापुराण' जैसे विशालकाय ग्रन्थों के प्रकाशन में तो माला का समस्त रुपया समाप्त हो चुका था तथा उसे ऋण भी लेना पड़ा था; परन्तु अब वह ऋण चुक गया है और दो-एक ग्रन्थों के प्रकाशित होने योग्य रुपया भी संचित हो चुका है।

'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला'-जैसी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण संस्था की इस प्रकार की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। आशा है, जिनवाणी के भक्तों का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।

प्रेमी जी ने जिस अध्यवसाय, श्रम, प्रामाणिकता, कुशलता और निःस्वार्थभाव से 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' का कार्य सम्पादित किया है और इससे ग्रन्थमाला के गौरव की जो श्रीवृद्धि हुई है उसका उल्लेख जैन-साहित्य के प्रकाशन के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

जब तक भारती के भव्य मन्दिर में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' का एक भी प्रकाशन विद्यमान है, सेठ माणिकचन्द्र अमर हैं, साथ ही प्रेमी जी भी।

काशी]

: ६ :

मराठी और गुजराती साहित्य

मराठी-साहित्य की कहानी

श्री० प्रभाकर माचवे एम० ए०

(१)

प्राचीन साहित्य

मराठी का प्राचीनतम आद्य कवि है मुकुन्दराज। इसके निश्चित काल के सम्बन्ध में पता नहीं चलता। साधारणतः ज्ञानेश्वर से एक शती पहले (११८८ ईस्वी) के लगभग 'विवेकसिन्धु' और 'परमामृत' इन दो ग्रन्थों की रचना मुकुन्दराज ने की। 'ओंवी' नामक मराठी के अपने अक्षरछन्द में अद्वैत-वेदान्त पर ये दोनों ग्रन्थ हैं। भाषाशैली उतनी प्राचीन नहीं जान पड़ती, जितनी ज्ञानेश्वरी की है। यह कवि नाथसम्प्रदाय का था। मछिन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ आदि शिवभक्त, हठयोगी गुरुओं की परम्परा उत्तरभारत से महाराष्ट्र में आई। इसी नाथ-सम्प्रदाय से आगे चलकर महाराष्ट्र का 'वारकरी' (भागवत-धर्म) सम्प्रदाय निकला।

जिस प्रकार एक ओर नाथसाम्प्रदायिक प्राचीन काव्य मिलता है, उसी प्रकार दूसरी ओर महानुभाव-पन्थ नामक एक पन्थ धर्मजाग्रति का कार्य कर रहा था। यह साहित्य प्राचीन भाषा-शैली के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'सकला' और 'सुन्दरी' नाम की सांकेतिक लिपियों में यह साहित्य लिखा जाने के कारण कई शतियों तक इसके सार-तत्त्व से जनता अनभिज्ञ थी। राजवाड़े, भावे, य० खु० देशपांडे, नेने आदि आधुनिक संशोधकों के प्रयत्न से वह साहित्य अब सब के लिए उपलब्ध हो सका है। गोविन्द प्रभु इस सम्प्रदाय के मूल पुरुष थे (११८८ ईस्वी)। उनके शिष्य चक्रधर हुए। कृष्ण और दत्त को महानुभावीय मुख्य आराध्य देवता मानते थे। स्त्रियों-शूद्रों तक को वे संन्यास-दीक्षा देते थे। चक्रधर को थोड़े से अवकाश में बहुत से शिष्य मिले। नागदेवाचार्य उनमें मुख्य थे। महानुभावियों की साहित्यिक-दार्शनिक कृतियों में 'सिद्धान्तसूत्रपाठ', जिसमें १६०९ सूत्र हैं और 'लीलाचरित्र' प्रमुख हैं। ये दोनों ग्रन्थ गद्य में हैं। इनके बाद 'साती ग्रन्थों' को पूज्य माना जाता है। ये पद्यबद्ध हैं। इनके नाम हैं—शिशुपालवध, एकादशस्कन्द, वत्सहरण, रुक्मिणी-स्वयंवर, ज्ञानबोध, सह्याद्रिवर्णन, ऋद्धिपूरवर्णन। प्रथम चार कृष्णचरित को लेकर हैं। मराठी की आद्य कवियित्री महदम्बा चक्रधर के मुख्यशिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थीं। विवाह-प्रसंग पर गाने योग्य कृष्ण-भक्ति-रस से भरे 'धवले' उसने लिखे हैं। 'धवले' अभंग-छन्द के समान चार चरणों का अनियमित अक्षर-संख्या का छन्द है। इन धवलों से तुकान्त कविता का मराठी में आरम्भ होता है। भावेव्यास नामक चक्रधर का दूसरा शिष्य प्रसिद्ध है। उसने 'पूजावसर' नामक चक्रधर का जीवनचरित लिखा है। महानुभाव-पन्थ की स्थापना से एक शताब्दी तक इसी पन्थ की काव्य-परम्परा साहित्य के इतिहास में सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

'१२९० ईस्वी में भगवद्गीता के अट्ठारह अध्यायों पर नौ हजार ओवियों में जो पद्यात्मक टीका मराठी-सन्त-कवियों की परम्परा के आद्यप्रणेता श्री ज्ञानेश्वर ने अपने 'ज्ञानेश्वरी' नामक ग्रन्थ द्वारा की, वह मराठी साहित्य के इतिहास की एक अपूर्व घटना है। गोदावरी नदी के किनारे आपेगांव में विट्ठलपन्त को श्री पादस्वामी की कृपा से संन्यासोत्तर जो चार सन्तानें हुई उनके क्रमवार नाम हैं—निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई। ये सभी सन्त-कवि थे; किन्तु ज्ञानदेव उनमें सबसे अधिक विख्यात हुए। केवल २२ वर्ष वे जीवित रहे। ऐसी अल्पायु में दर्शन-शास्त्र से परिप्लुत और साहित्य-सौन्दर्य से विभूषित काव्य-ग्रन्थ मराठी में ही क्या, अन्य साहित्यों में

भी वहुत कम मिलेंगे। एक उदाहरण उनकी उत्तम रचना का यों है। काव्य की महत्ता वतलाते हुए ज्ञानेश्वर कहते हैं कि 'वह उस पानी के समान है, जो एक ओर तो आँख की पुतली तक को नहीं दुखाता और दूसरी ओर कठिन चट्टानों को भी तोड़ता हुआ वन्यारूप वहता है।' ज्ञानेश्वरी के साथ ही 'अमृतानुभव' तथा कुछ स्फुट अभंग (पद) भी ज्ञानेश्वर ने लिखे। ज्ञानेश्वरी का हिन्दी और अंग्रेज़ी अनुवाद अव हो गया है।

ज्ञानेश्वर के समय में कई अन्य सन्त-कवि हुए। उनमें से अधिकांश ने तीर्थयात्रा के निमित्त भारत-भ्रमण किया और हिन्दी-पद्य में भी रचनाएँ कीं। उनमें कई हरिजन कवि भी थे। यथा नामदेव दर्जी और उसकी दासी जनावाई, गोरा कुम्हार, सावता माली, विसोवा खेचर, नरहरी सुनार, वंका महार, चोखा मेला, परसा भागवत, कान्होपात्रा (पतुरिया), सेना नाई, सजन कसाई इत्यादि। वारकरी सम्प्रदाय के प्रमुख आराध्य पंढरपुर के पंढरीनाथ थे। इस सम्प्रदाय में भक्ति गुण प्रधान था। जातिभेद को कोई अवसर नहीं दिया जाता था। इस सन्तमालिका में साहित्य के इतिहास की दृष्टि से प्रमुख हैं: नामदेव (१२७०-१३५० ईस्वी) और एकनाथ (१५३३-१५९९ ईस्वी)। नामदेव की रचना मुख्यत: पदों के रूप में थी, सूर के समान। एकनाथ ने भागवत, भावार्थ रामायण, रुक्मिणी स्वयंवर आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इन दो कवियों के वीच एक-दो शतकों में जो प्रमुख घटना हुई, वह थी मुसलमानों का दक्षिण में प्रवेश। ये सब-के-सब हिन्दू-धर्म, मराठी सन्त और भाषा पर अत्याचार करने वाले नहीं थे। वहमनी राज्य के कुछ वादशाह और कुछ सुल्तान मराठी-प्रेमी थे। कई तो सन्तों के शिष्य भी वने। १५५५ ईस्वी में इब्राहिम आदिलशाह ने वीजापूर दरवार में मराठी भाषा प्रचलित की; परन्तु ऐसे राजा थोड़े थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में नृसिंह सरस्वती और जनार्दनस्वामी नामक दो साधुओं द्वारा 'दत्त' सम्प्रदाय का प्रचलन। गंगाधर सरस्वती नामक उपरोक्त साधुओं के एक शिष्य का लिखा हुआ 'गुरुचरित्र' ग्रन्थ महाराष्ट्र में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और अभी भी वड़े-वूढ़ों को वह कंठस्थ है। पुराने घरों में उसका नित्य पाठ होता है।

ज्ञानेश्वरी के वाद प्राचीन मराठी साहित्य में एकनाथ की भागवत की टीका वंद्य और साहित्यिक गुणों में समतुल्य मानी जाती है। भागवती टीका में एकनाथ की एक वड़ी विशेषता थी संस्कृत में मात्र मुट्ठीभर पंडितों के लिए उपलब्ध वस्तु को जनता की, सर्वसाधारण की, लोकानुरंजिनी और लोकोपयोगी वस्तु वनाना। 'संस्कृत वंद्य, प्राकृत निंद्य। हे वोल काय होती शुद्ध।' यह एकनाथ 'का वचन का भाषा का संस्किरित' वाली प्रसिद्ध उक्ति की याद दिलाता है। ज्ञानेश्वर की रचना में आभिजात्य (क्लासिकल) था, एकनाथ की रचना अधिक प्रासादिक और सर्वप्रिय हुई। ज्ञानेश्वर कई स्थलों पर कठिन और रहस्यवादी हैं; एकनाथ तुलसीदास की भाँति अर्थसुलभ, साधारणीकरण-युक्त तथा अपनी सरलता से अलंकृत हैं। एकनाथ की परम्परा को नाथ-परम्परा कहते हैं, जिसमें मुख्य कवि हुए—दासोपन्त, (१५५१-१६१५ ईस्वी); त्र्यंवकराज (१५८० ईस्वी के निकट); शिवकल्याण (१५६८-१६३८?); रमावल्लभदास आदि। दासोपन्त ने ४६ ग्रन्थ और सवा लाख 'ओवियाँ' (छन्दविशेष) लिखीं। ज्ञानेश्वर पंचायतन में ज्ञानेश्वर चार भाई-वहन और नामदेव आते थे; वैसे ही एकनाथ पंचायतन में, एकनाथ, दासोपन्त, रामजनार्दन, जनीजनार्दन और विठारेणुकानन्दन नामक कवि आते हैं। त्र्यंवकराज का वालवोध ग्रन्थ वेदान्त पर और ओंकारोपासना से सम्वद्ध है। शिवकल्याण ने नित्यानन्दैक्यदीपिका, रासपंचाध्यायी, व्रह्म-स्तुति, वेदस्तुति नामक ग्रन्थ लिखे हैं। रमावल्लभदास की गीता की 'चमत्कारी टीका' प्रसिद्ध है।

(२)

मध्यकाल का साहित्य

प्राचीन साहित्यिक परम्परा की अन्तिम शृंखला के रूप में हम मुक्तेश्वर का स्मरण कर सकते हैं। निश्चित रूप से इनके जीवनचरित के विषय में सामग्री नहीं मिलती, फिर भी अनुमान है कि आप एकनाथ के भांजे होंगे।

आपका काल १६०० से १६५० ईस्वी के क़रीब रहा होगा। आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ है महाभारत। यह सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं। केवल आदि, सभा, वन, विराट, सौप्तिक ये पाँच ही पर्व उपलब्ध हैं। मराठी प्राचीन साहित्य के इतिहासज्ञ और आलोचक स्व० पांगारकर 'मुक्तेश्वर की वाणी में लोकोत्तरप्रसाद, दिव्य ओजस्विता और सृष्टि-सौन्दर्यवर्णन की अनुपम शोभा' पाते हैं। मुक्तेश्वर का भाषा, देश और धर्म का अभिमान और अनुराग अलौकिक था। मुक्तेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता है आख्यानक कविता का आरम्भ। यदि सन्त-साहित्य के ज्ञानेश्वर भित्ति-चालक थे तो मुक्तेश्वर लौकिक साहित्य की नींव डालने वालों में मुख्य थे। मध्ययुग में आकर मराठी काव्य जो अधिक लोकोन्मुख होता चला, उसके सबसे प्रमुख सहायक थे तुकाराम और रामदास।

'सन्त तुकाराम' नामक चित्रपट से और हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित डॉ० ह० रा० दिवेकर की 'तुकाराम' सम्बन्धी पुस्तक से अधिक परिचित, संक्षिप्त इस सन्तकवि की जीवनकथा है। १६०८ ई० में तुकाराम और रामदास दोनों का जन्म हुआ। पूना के पास इन्द्रायनी नदी के किनारे देहू गाँव में तुकाराम बोल्होबा आंबिले का जन्म हुआ। इनकी जाति शूद्र (कुनबी) थी और बनिये का धन्धा इनका कुल करता था। सावजी कान्होबा तुकाराम के दो भाई थे। तुकाराम ने दो बार विवाह किया—पर न अपनी दूकान और न गिरस्ती वे ठीक तरह से चला सके। दृष्टि उनकी ईश्वरभक्ति की ओर थी। तिस पर अकाल आया। तुकाराम वैराग्य की ओर पूर्णतः झुक गये।[1] तुकाराम ने अपनी सब रचना 'अभंग' नामक भजनोपयोगी छन्द में की है। वह अधिकांश स्फुट है। नामदेव के समान ही भक्ति पर, आर्तता और उपालम्भ से भरी उनकी रचना है। परन्तु जहाँ नामदेव शुद्ध सन्त थे, तुकाराम ने कबीर के समान व्यावहारिक धर्म की दाम्भिकता को भी खूब आड़े हाथों लिया है। कबीर की ही भाँति तुकाराम की रचनाएँ लोकोक्ति रूप बन गई हैं। वास्तविक जीवन के यथार्थ दृष्टांत लेकर बड़े-बड़े नीति-तत्त्व सहजता से समझाने की उनकी कुशलता बहुत ही प्रशंसनीय है। उनके जीवनकाल में उन्हें विरोधकों का कम सामना न करना पड़ा। उनका निर्याणकाल १६५० ईस्वी माना जाता है।

देशस्थ-ब्राह्मणकुल में, सूर्याजीपन्त कुलकर्णी के पुत्र रामदास, गोदानदी तीर पर जांबगांव में जनमे। बचपन से वे काफ़ी उद्धत थे। विवाह-प्रसंग में वे मंडप से भाग गये। आगे चल कर आपकी शिवाजी राजा से भेंट हुई और शिवाजी ने उन्हें गुरु माना, यह आख्यायिका प्रसिद्ध है। फिर तो आजीवन वे धर्मप्रचार करते रहे। उन्होंने कई मठ स्थापित किये। रामभक्ति इनका मुख्य जीवनध्येय था। सतारा के पास 'परली' और 'चाफल' रामदास के प्रमुख स्थान थे। आपने अपना एक सम्प्रदाय चलाया। आपका सर्वोत्तम ग्रन्थ है 'दासबोध'। पहले सात दशक और बाद के तेरह दशकों के बीच में बहुत-सा रचना-कालान्तर बीता होगा, ऐसा माना जाता है। यह ग्रन्थ निवृत्तिवादी नहीं है, निर्गुणिए सन्तों की तरह यह ब्रह्म-माया की सूक्ष्म छानबीन में नहीं पड़ता। यह ग्रन्थ ओजस्वी भाषा में पूर्णतः प्रवृत्तिवादी है। इसका कारण तत्कालीन परिस्थिति थी। शिवाजी की राज्यस्थापना का वह काल था। मुस्लिम शासकों से सीधा विरोध हिन्दू-जनता कर रही थी—उसमें धर्म एक प्रधान अस्त्र था। रामदास की वाणी ने उस अस्त्र को धार दी। रामदास की बानी अटपटी है। वह व्याकरण-दोष, भाषा-दोष, छन्द-दोष, काव्य-दोष किसी की चिन्ता न करती हुई बराबर ऊर्जस्वल वेग से बहती है। अजीब-अजीब नये शब्द-प्रयोग उसमें मिलते हैं। कई ग्रामीण शब्द भी उसमें चले आये हैं। परन्तु सम्पूर्णतः लेने पर रामदास की रचना बहुत ही प्रभावशाली है। दासबोध में मूर्ख, पंडित, कवि, भक्त, राजा सब के लक्षण गिनाये गये हैं। राजनीति पर उनका जो एक दशक है, जिसे मैंने पूरा-का-पूरा 'आगामी कल' में 'एक कार्यकर्ता को पत्र' नामक शीर्षक से शब्दशः अनुवादित कर प्रकाशित किया है, वह एक अमर सत्य से प्रज्वलित रचना है। इस 'दासबोध' के अलावा 'मनाचे श्लोक'; रामायण के 'सुन्दरकांड' और 'युद्धकांड'; 'आनन्दवनभुवन' नामक महाराष्ट्र के भूप्रदेश-सौंदर्य-वर्णनात्मक

---

[1] देखिये—मेरा 'मर्मी तुकाराम' नामक लेख, विश्वमित्र मासिक सन् '४० में प्रकाशित।

ग्रन्थ; करुणाष्टक, पंचीकरण, आरतियाँ, 'ओवियों' के १४ शतक आदि कई ग्रन्थ उनके प्रसिद्ध हैं। दासगीता नामक एक संस्कृत-काव्य-पद्य भी उन्होंने लिखा था। सज्जनगड़ पर १६८१ ईस्वी में आपने समाधि ली। आपकी शिष्य-परम्परा में प्रमुख कवि—जयराम, रंगनाथ, आनन्दमूर्ति, केशव ये चार स्वामी मिलाकर रामदास पंचायतन पूरा होता है। ज्ञान-पंचायतन, नाथपंचायतन और दासपंचायतन के साथ सन्त-कवियों की परम्परा सत्रहवीं सदी में आकर समाप्त होती है और हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार भक्तिकाल के पश्चात् रीति-काल आता है और उसका आरम्भिक रूप केशवदास जैसे भक्ति-रीति को मिलाने वाले कवियों में मिलता है; उसी प्रकार मराठी साहित्य में भी भक्तिकाल से रीतिकाल की शृंगारी-वीर-प्रवृत्तियों तक (मतिराम-भूषण जैसे 'लावणी-पोवाडे' लिखने वाले शाहीरों तक) सीधी रेखा नहीं मिलती—वह बीच-बीच में पंडित-कवियों द्वारा खंडित है। लालजी पेंडसे के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य और समाजजीवन' (जिसमें मराठी साहित्य का इतिहास समाजवादी दृष्टिकोण से दिया गया है) में इन तीन प्रकार के कवियों को, जिनके मुख्य रस थे भक्ति, शान्ति, शृंगार-वीर आदि, बहुत ही सुन्दर ढंग से तीन नामों में संक्षिप्त किया गया है—सन्त-कवि, पन्त-कवि, तन्त-कवि। पन्त पंडित का छोटा रूप है और तंतु वाद्यों के साथ ('डफ', इकतारा आदि) गाने वाले होने से 'तन्त', या कहिए 'तन्त्र' अथवा 'रीति' की उनमें प्रधानता है, इस कारण से 'तन्त'।

प्रत्येक साहित्य के इतिहास में सिद्धान्तों के उत्थान-पतन का लेखा अनिवार्य रूप से आता ही है। जो आदर्श एक युग में पूजे जाते हैं, वे दूसरे युग में निर्माल्यवत् बन जाते हैं और नये आदर्श उनका रिक्त स्थान ग्रहण करते हैं। इस एक के खंडन में से दूसरे के निर्माण के संक्रान्ति काल का साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। आज तो ऐसे काल का अध्ययन इसलिए और भी आवश्यक है कि हमारा यानी भारतीय साहित्य भी ऐसे ही बौद्धिक अराजक, मत-मतान्तरों के मन्थन में से गुज़र रहा है। अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में ऐसे काल-खंड को 'डिकेडेंट' कहते हैं, जिसका शब्दशः अर्थ होता है 'जीर्ण-शीर्ण या गलित'। 'जीवन' की उद्दाम तरल वेगमयी प्रवहमानता को यदि रूढ़ नियमों के और परिस्थितियों के कृत्रिम बन्धन से रोकने का प्रयत्न किया तो कुछ अवकाश के बाद उसमें की गतिमयता नष्ट होकर, एक विकृत स्थिरता—एक प्रकार की सड़ांध—एक प्रकार की साहित्य की आत्मा-भावना को गौणत्व देकर, उसके बाह्यवेष भाषा, टेकनीक (रीति) आदि से उलझने की प्रवृत्ति अनजाने ही साहित्य में घुस पड़ती है जो एक ओर अतिशय हानिकर तो दूसरी ओर एक अपरिहार्य बुराई के रूप में लाभप्रद भी होती है। रामदास के पश्चात् वामन पंडित और उनके पश्चाद्वर्ती कवियों का काल इसी प्रकार का था। संत-कविता जब एक भँवर में पड़ी-सी जान पड़ी तब उसे झकझोर कर तुकाराम ने पुनः उसमें सजीवता पैदा की। रामदास ने कविता की उन सजीव गति में अतिरेक निर्मित कर पुनः उसे विमूर्छा में जैसे डाल दिया। उसी विमूर्छन-काल का स्वप्न-रंजन वामन पंडित, रघुनाथ पंडित और मोरोपंत की सुघर, नक्काशी भरी, अति-अलंकृत कविता में हमें मिलता है। अंग्रेज़ी साहित्य में भी रोमेंटिक युग की आरंभिक ताजगी कुम्हलाकर जब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ऐसी ही प्रवृत्ति चल पड़ी तब 'प्री-रैफ़ेलाइट' कवियों की अलंकरण-प्रियता स्विन्बर्न आदि में अत्यधिक मात्रा में फूट पड़ी और हिन्दी में भी बिहारी देव, पद्माकर के दोहे-कवित्तों में उस सुघराई के लिए सुघराई के वर्ण-चमत्कार के अतिरिक्त और है भी क्या? क्या 'निराला' की गीत-रचना में पुनः छायावाद के अतिरेक की वैसी ही विमूर्छना, वैसी ही श्रान्ति और एकस्वरता (मोनोटोनी) नहीं मिलती? स्टीफ़ेन स्पेंडर का 'स्टिल सेंटर' मानो सभी ओर ऐसे साहित्यिक कालखंडों में अनुगुंजित है। वामन पंडित भी ऐसे ही शाब्दिक नक्कासी के लोभी कवि थे। निस्संशय उनकी रचना अतिशय नादमधुर है। जयदेव और विद्यापति की वह याद दिलाती है। परंतु कहीं-न-कहीं ऐसा जान पड़ता है कि भाव भाषा में खो गये हैं; भाषानुवर्ती भाव हो रहे हैं; जैसे कि महादेवी की उत्तरकालीन रचना में। परन्तु मराठी साहित्य की कहानी के सिलसिले में मैं कुछ व्यक्तिगत मत सावेश कह गया, जिन्हें पाठक अप्रासंगिक न मानेंगे, ऐसी आशा है।

वामन पंडित शेषे नांदेड गाँव का था। वह संस्कृत का उद्भट पंडित था। उसका बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

'यथार्थदीपिका', जो कि ज्ञानेश्वरी की ही भांति गीता की टीका है। भावार्थदीपिका उस टीका की और टीका है। गजेंद्रमोक्ष (रामदास के शिष्य रंगनाथस्वामी द्वारा लोकप्रिय बनाये गये विषय पर भावप्रचुर रचना), सीतास्वयंवर, कात्यायनीव्रत, वनसुधा और राधाविलास वामन पंडित के अन्य भावप्रधान ग्रंथ हैं। वामन पंडित की कविता से मराठी काव्य में विचार और भावना जैसे दो शैलियां ग्रहण करते हैं और संतों द्वारा परिचालित विचार भावना का मधुर ऐक्य मानों टूट जाता है। वामन पंडित के समकालीन नागेश और विट्ठल ने श्लोक-शैली में सीतास्वयंवर और रुक्मणी-स्वयंवर काव्य रचे हैं। जयराम आनंदतनय और रघुनाथ पंडित (जिनके निश्चित काल के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं) इसी प्रवृत्ति के उत्तरकालीन कवि हैं। रघुनाथ पंडित का 'नल-दमयन्ती स्वयंवराख्यान', नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित्र' की भांति रसयुक्त और प्रसंगों का यथातथ्य चित्रण करने वाला अनेक छन्दों में लिखा ग्रंथ है। कवेश्वरवापा, निरंजनमाधव, सामराज, श्रीधर, महीपति आदि अन्य कई कवियों के पश्चात् महत्वपूर्ण उल्लेखनीय कवि हैं मोरोपंत (१७२९-१७९४ ईस्वी)।

मोरोपंत रामचन्द्र पराडकर पन्हालगड पर जन्मे। केशव पाध्ये उनके गुरु थे। बाद में पेशवाओं के समधी और साहूकार नाईक के घर आपने कथा-वाचकी की। कुछेक काल मुंशी भी रहे। समग्र महाभारत, भागवत, रामायण आपने 'आर्या' वृत्त में मराठी में उतारे, परंतु रामायण, मंत्ररामायण, आदि १०८ रामायण आपने लिखे थे, ऐसा कहा जाता है। युद्ध-प्रसंग, संवादप्रेम, वात्सल्य और करुणरस के प्रसंगों का वर्णन आपने बहुत ही कमाल के साथ किया है। रचना अधिकांश संस्कृतसमासप्रचुर है। आप अपने तुकों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हैं। ईश्वरस्तुति पर पृथ्वीछन्द में 'केकावली' नामक काव्य आपकी स्वतंत्र रचना है। पेशवाओं के राज्यकाल के उत्तरकाल में अन्य कई कवि हो गये, जिनमें से मुख्य-मुख्य नाम हैं—नारायण कवि, दाजीबा जोशीराव, रामचन्द्र बड़वे, रघुनाथ पंत, कोशे, साहिरोबानाथ आंबिये आदि। इनमें अंतिम कवि सिंधिया के दरबार में थे। वह गोआ की ओर के रहने वाले थे और 'महदनुभवेश्वरी' नामक उनकी रचना रहस्यवादी है।

जब पंत-कवियों ने कविता को यांत्रिक और इतिवृत्तात्मक बना डाला तब स्वाभाविक रूप से कविता के रचनाकारों में दो वर्ग निर्मित हो गये—एक तो बड़े-बड़े विद्वान, व्युत्पन्न संस्कृत पंडित थे; दूसरी ओर थे जन-कवि। जनता का कवि वीरों की गाथा गाता सिपाहियों के मनोरंजन के लिए शृंगारपूर्ण नाटयात्मक भावगीत भी लिखता। वह कभी-कभी पंडित कवियों की नकल में तुकों का जाल बिछाता; दूसरी ओर भाषा की चिंता न करते हुए उर्दू के रंग में इश्क की शायरी का जिक्र करता, नाजुकखयाली और बंदिश में उलझता; तो तीसरी ओर महाराष्ट्र की भूमि-गत और जाति-गत रीति-रिवाजों, लोकोक्तियों-वाक्यप्रचारों, रहन-सहन की वैशिष्टयपूर्ण पद्धति का हूबहू चित्रण करता। इस कारण से शाहीर कवियों के वीरश्रीपूर्ण 'पोवाडे' (आल्हा के ढंग पर 'बैलेड्स') जहां एक ओर श्रवणीय हैं वहां दूसरी ओर उन्हीं की शृंगार से भरपूर, कभी-कभी तो अश्लील ऐसी 'लावणियां' (कजरी, होली जैसे गीत) चित्र-काव्य की सुन्दर प्रतिमाएं हैं। शाहिरों ने मराठा-पेशवा राज्य के उत्तरकाल के रण-रंग और रस-रंग का यथार्थ प्रतिबिंब कविता में उतार रक्खा है, बिना किसी लागलपेट के। ग्राम-गीतों की वह परंपरा जो पंडित कवियों के विद्वत्ता के ग्रीष्मातप में सूखती जा रही थी, उसे शाहिरों ने पुनर्जीवन दिया, पुनः हराभरा किया।

अबतक उपलब्ध ऐतिहासिक गेय वीर-काव्य 'पोवाडे'—३०० हैं। शिवाकाल से साहू तक के सात पेशवे काल के डेढ़-सौ और बाकी १८०० ईस्वी के बाद के। उनमें अज्ञानदास का 'अफ़ज़लखां-वध' और तुलसीदास का 'तानाजी मालुसरे' का पोवाडा बहुत प्रसिद्ध है। दोनों शिवाजी-कालीन हैं। दूसरे कालखंड में पानीपत के संग्राम (१८१८ ईस्वी) और खाड़ी की लड़ाई को लेकर बहुत से पोवाडे हैं। ये शाहीर भाट-चारणों की भांति गुणीजनों के आश्रित थे। उत्तर पेशवाई के जो शाहीर प्रसिद्ध हैं, उनमें प्रमुख हैं—रामजोशी (१७५८-१८१२ ईस्वी); कीर्तनकार; अनंतफंदी (१७४४-?); होनाजी बाला, ग्वाला सगनभाऊ 'तमाशा' वाले (?-१८४०) शिकलगर मुसलमान; प्रभाकर दातार (१७५४-१८४३); परशराम दर्जी। विभिन्न जातियों के ये जन-कवि आधुनिक मराठी

कविता की नींव बनानेवालों में मुख्य हैं। होनाजी की कविता में उत्तान शृंगार होने पर भी मधुरता खूब है। प्रभाकर की रचनाएँ संस्मरणीय हैं।

(३)

आधुनिक काल

१८१८ ईस्वी में पानीपत में पेशवा-राज्य का पूर्ण पराभव हुआ और महाराष्ट्र में ब्रिटिश-राज्य का सूत्रपात। ब्रिटिशों का पूर्ण परिचय होने से पहिले आरंभिक संभ्रम, सनातनी विरोध, सुधारवादियों की संपूर्ण आंग्लानुकरण की वृत्ति, परिपक्व राष्ट्रीय विरोध आदि कई अवस्थाओं में से हमारे और ब्रिटिशों के संबंध गुजरे। न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से वरन् इस सारी दुखान्त कथा की पूर्वपीठिका समझने की दृष्टि से न० चिं० केलकर की 'मराठे आणि इंग्रज' पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आरंभ में मराठी-भाषी अंग्रेजी की ओर झुकने के बजाय एकानेक कारणों से मराठी की ओर झुके थे। १८१० ईस्वी में सीरामपुर में डॉ विलियम कॅरे ने मराठी-अंग्रेजी कोष छपाया। उसी समय गणपत कृष्ण जी ने बंबई में प्रथम मुद्रणालय स्थापित किया। १८२० में बंबई-प्रांत अंग्रेजों के हाथों में आया। माउंट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन बंबई के गवर्नर बनाये गये। आपने शिक्षा का प्रसार किया। तन्निमित्त ग्रंथानुवाद कराये। मोल्सवर्थ, कँडी, जर्विस आदि अंग्रेज और जगन्नाथ शंकरशेट, सदाशिव काशिनाथ छत्रे, बालशास्त्री जांभेकर आदि विद्वान उस ग्रंथोत्पादन-संस्था में कार्य करते थे। व्याकरण, अंकगणित, भूमिति, पदार्थविज्ञान आदि विषयों पर विपुल ग्रंथरचना की गई। मराठी गद्य का और वैज्ञानिक साहित्य का इस प्रकार से आरंभ हुआ। १८५६ में बंबई विश्वविद्यालय की स्थापना तक यह अरुणोदय (रिनेसाँ) चलता रहा।

बंबई विश्वविद्यालय की स्थापना से 'निबंधमाला' नामक मासिक के उदय तक (१८५७ से १८७४ ईस्वी) का काल प्राचीन और नवीन के संघर्ष का काल है। एक ओर संस्कृत-ज्ञान-परंपरा के शास्त्री-पंडितजन; दूसरी ओर अंग्रेजी विद्या और वाङ्मय के संपर्क में आये हुए नवीन विद्वान्। १८५६ तक का साहित्य अधिकांश शालेय (स्कूलोपयोगी) था, परंतु अब साहित्यिकों के मनों में यह भावना काम करने लगी कि साहित्य का प्रचारात्मक और कलात्मक पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। फलतः जहाँ परशुरामपंत, तात्या गोडबोले ने संस्कृत नाटकों के अनुवाद किये थे, उसी परंपरा को कृष्णशास्त्री राजवाडे ने आगे चलाया। गत वर्ष जाकर कहीं हिन्दी में कालिदास के समग्र नाटकों के और काव्यप्रकाश जैसे ग्रंथों के संस्कृत से हिंदी अनुवाद हिंदी में छपे हैं। मराठी में यह कार्य पचास वर्ष पूर्व हो चुका था। गणेशशास्त्री लेले ने भी बहुत से अनुवाद संस्कृत और अंग्रेजी से किये। इस काल-खंड के सबसे प्रसिद्ध लेखक हैं पिता-पुत्र, कृष्णशास्त्री और विष्णुशास्त्री चिपलूनकर। दोनों के आविर्भाव काल में पच्चीस वर्षों का अंतर था; परंतु दोनों का आदर्श एक था। कृष्णशास्त्री ने मिशनरियों के विरोध में 'विचार-लहरी' पत्र १८५२ में शुरू किया। डॉ० जान्सन के रासेलस का अनुवाद और 'अनेकविद्यामूलतत्त्वसंग्रह' नामक स्फुट लेखों का ग्रंथ १८६१ में प्रकाशित किया। मेघदूत और जगन्नाथ पंडित के करुणविलास के पद्यानुवाद, सुकरात की जीवनी आदि अन्य कई ग्रंथ लिखे। उनका अधूरा कार्य दुगने जोश से उनके सुपुत्र विष्णुशास्त्री ने चलाया। न केवल उन्होंने पिता के अधूरे लिखे हुए 'अरेबियन नाइट्स' (सहस्र-रजनी-चरित्र, अरबोपन्यास) का अनुवाद पूरा किया, अपितु अपनी 'निबंधमाला' द्वारा मिशनरियों पर अपना शब्दशस्त्राघात और भी प्रखर रूप से व्यक्त किया। 'आमच्या देशाची स्थिति' नामक निबंध सरकार ने जब्त कर लिया था और कांग्रेस शासनकाल में उस पर के निर्बंध उठे। आप ही ने प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य के प्रकाशनार्थ 'काव्येतिहाससंग्रह' नामक मासिक; 'निबंधमाला' नामक पत्रिका; 'चित्रशाला' और 'किताबखाना' नामक प्रकाशन संस्थाएँ और तिलक, आगरकर के सहकार्य से 'केसरी' और 'मराठा' नामक मराठी-अंग्रेजी पत्रों का सूत्रपात किया। निबंधमाला के कुल ८४ अंक उपलब्ध हैं, जो कि पूरे विष्णुशास्त्री ने लिखे हैं। उनके अन्य साहित्य का सुन्दर संकलन

और संपादन नागपुर के इतिहासज्ञ और साहित्य-शिक्षक श्री० वनहट्टी जी ने 'विष्णुपदी' नामक ग्रंथ में किया है। विष्णुशास्त्री की भाषाशैली प्रौढ़, रसमय और ओजपूर्ण है। प्रतिपक्षी का विरोध करते समय व्यंग-परिहास आदि अस्त्रों का उन्होंने बहुतायत से उपयोग किया है। यह प्रभावशाली लेखक केवल ३२ वर्ष जीवित रहा; परंतु भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समान ही वह युगनिर्माता लेखक माना जाता है।

अंग्रेजों के संपर्क में वैज्ञानिक शोव के विकास-युग में मुद्रणकला की प्रगति के साथ साहित्य के प्रचारात्मक अंग की परिपुष्टि के काल में मराठी साहित्य का प्रवाह अब वेग से आगे बढ़ा। गई अर्धशताब्दी में साहित्य का ऐसा कोई अंगविशेष नहीं है, जिसमें उसने पर्याप्त कार्य न किया हो। अब आगे के काल खंडमें नामों से न चल कर प्रवृत्तियों के विचार से चलना उपयुक्त होगा; क्योंकि नाम तो इतने अधिक हैं कि सबका उल्लेख करना संभव नहीं हो सकता। अतः केवल प्रमुख नामों का ही उल्लेख करेंगे। विष्णुशास्त्री चिपलूनकर की युयुत्सु गद्य-शैली को निभाकर आगे पत्रकारिता की परंपरा चलाने वालों में प्रमुख हैं—

पत्र	पत्रकार
'सुधारक'	आगरकर
'केसरी'	बाल गंगाधर तिलक
'काल'	शि० म० परांजपे
'चाबुक'	अच्युत बलवंत कोल्हटकर

इन स्वर्गगत पत्रकारों के पश्चात् जीवितों में प्रमुख हैं। 'नवाकाल' के खाडिलकर, 'ज्ञानप्रकाश' के लिमये, 'चित्रा' के डॉ० ग० य० चिटनीस, 'महाराष्ट्र' के माडखोलकर, लोकमान्य के गाडगिल आदि।

आगरकर की मान्यता थी कि राजनैतिक आन्दोलन को गौण स्थान देकर समाज-सुधार पहिले से हो। तिलक बिलकुल इससे उलटी बात कहते थे। परिणामतः दोनों में बहुत काल तक विवाद रहा। आगरकर दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे और फ़र्ग्युसन कालिज के संस्थापक। आपका लेखन अधिकांश प्रतिपक्षी पर वार करने के हेतु से हुआ; परन्तु हिन्दू समाज की कुरीतियों को दूर करने में आपके लेखों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। तिलक 'गीतारहस्य', 'ओरायन', 'आर्क्टिक होम इन दी वेदाज' नामक ग्रंथों के लेखक के नाते साहित्य में जैसे प्रसिद्ध हैं, भारतीय राष्ट्रीयता संग्राम के एक सेनानी के नाते राजनैतिक क्षेत्र में अविस्मरणीय हैं। दोनों ने जो परंपरा पत्रसाहित्य में चलाई उसके अनुयायी आज भी साहित्य में मिल जावेंगे और उसमें यह युग तो समाचार-पत्र का साहित्य—युग ही माना जाता है।

गंभीर गद्य के अन्य क्षेत्रों में, यथा इतिहास संशोधनात्मक, जीवनी, कोश-रचनात्मक, समालोचनात्मक, वैज्ञानिक, राजनैतिक आदि मराठी ने तिलकोत्तर काल में पर्याप्त प्रगति की है। यदि जयचन्द्र विद्यालंकार और ओझा जी को हिंदी साहित्य नहीं भूलेगा तो गो० स० सर देशाई, पारसनीस, खरे, राजवाडे आदि इतिहास-संशोधकों का कार्य भी मराठी में अद्वितीय है। जीवनी-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में समृद्ध है। तिलक की केलकर लिखित जीवनी, धर्मानंद कौशांबी का निवेदन, कर्वे की आत्मकथा, लक्ष्मीबाई तिलक की 'स्मृति चित्रे', दा० न० शिखरे की 'गांधी जी की जीवनी' और अभी हाल में प्रकाशित और जब्त शि० ल० करंदीकर का 'सावरकर-चरित्र' इस विभाग के ऐसे ग्रन्थ जो किसी भी साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेंगे। कोश-साहित्य पर तो एक स्वतंत्र लेख इसी ग्रंथ में अन्यत्र है, दिया जा रहा है।

साहित्य-समालोचना संबंधी कुछ महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रंथ निम्न कहे जा सकते हैं—

ग्रंथ	लेखक

१. प्रतिभासाधन—प्रो० ना० सी० फड़के
२. छन्दो-रचना—डॉ० मा० त्रि० पटवर्धन
३. हास्यविनोदमीमांसा—न० चिं० केलकर
४. अभिनव काव्यप्रकाश—रा० श्री० जोग
५. सौंदर्यशोध व आनंदबोध—रा० श्री० जोग
६. काव्यचर्चा—अनेक लेखक
७. वाङ्मयीन महात्मता—वा० सी० मर्ढेकर
८. कलेची क्षितिजें—प्रभाकर पाध्ये
९. रसविमर्श—डॉ० के० ना० वाटवे
१०. चरित्र, आत्मचरित्र, टीका—प्रो० जोशी और प्रभाकर माचवे

साहित्य के इतिहास संबंधी कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी कोई एक पुस्तक ऐसी नहीं, जिसमें मराठी साहित्य का संपूर्ण इतिहास संक्षेप में मिल जाय। वैसे मराठी वाङ्मयाचा इतिहास (३ भाग)—ल० रा० पांगारकर; अर्वाचीन मराठी—कुलकर्णी, पारसनीस; महाराष्ट्र-सारस्वत—वि० ल० भावे; अर्वाचीन मराठी वाङ्मयसेवक—गं० दे० खानोलकर; मराठी साहित्य समालोचन—वि० ह० सरवटे आदि ग्रंथ बहुमूल्य हैं और इन्हीं की सहायता से यह लेख लिखा गया है।

इनके अतिरिक्त मराठी साहित्य में गंभीर गद्य के परिपुष्ट अंग हैं राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र तथा इतिहास संशोधन संबंधी ग्रंथ। इन सबका परिचय इस छोटे से लेख में संभव नहीं। कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ हैं आधुनिक भारत—जावडेकर; लढाऊ राजकारण—करंदीकर; पाकिस्तान—प्रभाकर पाध्ये, भारतीय समाजशास्त्र—डॉ० केलकर; ग्यानवाचे अर्थशास्त्र—गाडगील; अर्थशास्त्र की अनर्थ-शास्त्र—आचार्य जावडेकर। मनोविज्ञान व शिक्षणशास्त्र पर अठवले, मा० धों० कर्वे, वाडेकर, प्रो० फड़के, कारखानीस आदि के ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं। इतिहाससंशोधन के क्षेत्र में प्रो० राजवाडे, पारसनीस, डॉ० भांडारकर, काशीनाथ पंत, लेले और गोविन्द सखाराम, सरदेसाई ये नाम स्वयंप्रकाशी हैं। मराठी के गांधीवादी लेखकों का परिचय एक स्वतंत्र विषय होगा। फिर भी उनमें प्रमुख विनोबा, कालेलकर, आचार्य भागवत, सानेगुरुजी आदि हैं।

साहित्य के ललित अंग (काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिकादि) का विशेष रूप से विकास हुआ है। इनका विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा। नीचे मराठी के आधुनिक साहित्यप्रवाहों तथा प्रमुख लेखकों और उनकी रचनाओं (जिनके नाम ब्रैकटों में दिये जावेंगे) का एक विहंगम उल्लेख मात्र मैं कर देना चाहता हूँ, जिससे हिंदी-भाषी पाठक मराठी-साहित्य की वर्तमान श्री-वृद्धि से परिचित हो सकें।

१. काव्य :

प्रथमोत्थान

१८१८ ईस्वी तक मराठी कविता जो बहुत उन्नति पर थी धीरे-धीरे उसमें सामाजिक राजनैतिक परिपार्श्व के अनुसार पतनोन्मुखता दिखाई देने लगी। शाहीर कवि—जो कि जनता में लोकप्रिय 'तमाशे' (एक प्रकार का काव्यपाठ) करते, वे उत्तान शृंगार पर लावनियाँ अधिक लिखने लगे। 'पोवाडे'-रचना की प्रवृत्ति भी थी तो केवल अतीतोन्मुखी। राजनतिक दृष्टि से यह बहुत आन्दोलनपूर्ण काल था। अस्थिर जीवन के कारण कविता में किसी स्थिर प्रवृत्ति के दर्शन कम मिलते हैं। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् सन् १८८५ से मराठी की आधुनिक कविता का आरंभ मान सकते हैं। जैसे उर्दू में हाली या हिंदी में भारतेंदु या गुजराती में नर्मद, वैसे मराठी में

'केशवसुत' से नव जागरण का आरंभ हुआ। कृष्णाजी केशवदामले (१८६६-१९०५) 'केशवसुत' का पूरा नाम था। इनके पूर्व जो मराठी कविता हुई थी वह अधिकांश इतिवृत्तात्मक और अंग्रेजी कविता की अनुकरण पद्धति पर थी। उसमें जातीय विशेषता नहीं मिलती। केशवसुत ने अपनी 'तुतारी' ('तुरही' या 'तूर्य') नामक कविता से मराठी में राष्ट्रीय, स्वातंत्र्योन्मुखी कविता का शंखनाद किया। कवि को उन्होंने समाज में पुनर्प्रतिष्ठित किया। उनकी कई प्रसिद्ध पंक्तियाँ संदेश बन गई हैं।

यथा—

"प्राप्त काल विशाल भूधर के समान है। उसमें सुन्दर शिल्पांकन करो। उसमें अपने नाम लिखो।"
"दंभ पर हमला करो। विद्रोहियों, त्वरा करो। समता का ध्वज ऊँचा करो!"

परंतु केशवसुत के मन पर वर्डस्वर्थ आदि अंग्रेजी के आरंभिक रोमेंटिक कवियों की छाया प्रबल थी और समाजसुधार से अधिक वे अपनी कविता में कुछ विशेष न कर पाये। केशवसुत के पश्चात् दूसरे महत्वपूर्ण कार्य करने वाले कवि रेवरंड ना० वा० तिलक (१८६५-१९१९) हुए। आप ईसाई थे। फिर भी आपने 'वनवासी फूल', 'ख्रिस्तायन' आदि के द्वारा मराठी कविता की जो अमूल्य सेवा की है वह अद्वितीय है। आपकी कविता में मानवतावाद कूट-कूटकर भरा है। ईसाइयों की सी प्राणीमात्र के लिए अनुकंपा, दार्शनिक पुट लिए हुए कुछ गूढ़ रम्यता तथा आस्तिकताजन्य आशावाद उनकी विशेषताएँ हैं। मराठी काव्य के प्रथम उत्थान के तीसरे महत्वपूर्ण कवि हैं श्री चन्द्रशेखर (१८७१-१९३७)। आप बड़ौदा के राजकवि थे। कवितारति आदि संस्कृत छन्दों में रची, आपकी कई फुटकर कविताएँ 'चन्द्रिका' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। आपने मिल्टन के 'लेलेग्रो' और 'इल् पेन्सेरे सो' के अनुवाद किये हैं। एक ग्रामीण भाषा में लिखा हुआ 'काय हो चमत्कार' नामक आर्याबद्ध खंडकाव्य आपकी सर्वोत्तम रचना है। आपकी तुलना हिंदी के श्री० 'हरिऔध' से की जा सकती है। प्रथमोत्थान के चौथे कवि हैं 'विनायक' (१८७२-१९०९)। आपकी शिक्षा विशेष नहीं हुई, जीवन भी अस्थिर रहा, परंतु आपने उच्च कोटि की राष्ट्रीय रचनाएँ की हैं। सभी रचना प्रधानतः गीति-काव्यात्मक है। विशेषतः आपकी 'हतभागिनी', 'स्त्री और पुरुष', 'कवि और तोता' आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'कमला' नामक एक ऐतिहासिक काल्पनिक खंडकाव्य लिखनेवाले प्रथमोत्थान के पाँचवें उल्लेखनीय कवि श्री नारायण मुरलीधर गुप्ते हैं। आपने 'बी' (Bee) नामक अंग्रेजी उपनाम से सब कविताएँ लिखीं। आपका जन्म १८७२ में हुआ, अभी जीवित हैं। आपकी रचनाएँ १९३४ में पुस्तकरूप में प्रकाशित हुई। श्री अत्रे ने उनकी रचनाएँ संग्रहीत और संपादित की हैं। आपने बहुत कम कविताएँ लिखीं, परंतु जितनी लिखीं वे एक से एक बढ़कर हैं। एक प्रकार से आधुनिकतम कविता का आरंभ आप ही से हुआ। आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'डंका', 'दीप', 'ज्योति', 'चाफा', 'माझी कन्या' आदि।

द्वितीयोत्थान

इसके अन्तर्गत प्रमुख कवि ताँबे, गडकरी उर्फ़ 'गोविंदाग्रज', ठोंबरे उर्फ़ 'बालकवि', रेंदालकर और वें० विनायक दामोदर सावरकर हैं। भास्कर रामचन्द्र ताँबे (१८७४-१९४२) ग्वालियर के राजकवि थे। आपने कुछ बहुतही मधुर प्रेम-गीत लिखे हैं। राजस्थान तथा मालवे का प्रादेशिक प्राकृतिक रंग आपकी रचनाओं में मिलता है। रवीन्द्रनाथ की शैली पर आपने ससीम-असीम का आभास देनेवाली रहस्यवादी रचनाएँ भी की हैं। आपके कई गीत, यथा—'मरणांत खरोखर जग जगते', 'कुणि कोडे माझे उकलिल का ?', 'साम्राज्यशाही' आदि बहुत लोकप्रिय हुए हैं।

राम गणेश गडकरी (१८८५-१९१९) प्रमुखतः नाटककार के नाते प्रसिद्ध हैं। आपकी प्रतिभा अनेक रूपों में स्फुटित हुई। आपने कुछ हास्यपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं 'बालकराम' के नाम से। परन्तु आपकी सभी रचनाओं

में उनकी काव्यात्मक मनोवृत्ति का गहरा असर है। 'गोविंदाग्रज' के नाम से गडकरी ने कविता लिखी। उनमें बायरन जैसी उत्कट भावुकता, गहरी करुणा और गहरा शृंगार मिलता है। 'राजहंस माझा निजला', 'गुलाबी कोडे', 'मुरली', 'घुवड', 'दसरा', 'कवि अणि कैदी' आदि कई रचनाएँ अविस्मरणीय हैं। कहीं-कहीं ऊँची दार्शनिक उड़ान, कहीं प्रकृति का अत्यंत सजीव वर्णन और कहीं मनोभावनाओं का सूक्ष्म हृदयस्पर्शी वर्णन आपकी कविताओं मे मिलता है। प्रेम निराशाजन्य कड़ुआहट भी कई गीतों में है। अनुप्रासों की बहुत सुन्दर छटा सर्वत्र पाई जाती है।

माधुर्यप्रधान मराठी कविता की इस दूसरी धारा के तीसरे अत्यन्त कोमल कवि हैं त्र्यंबक बापू जी ठोंबरे उर्फ़ 'बालकवि' (१८९०-१९१८)। आपने प्रकृति-प्रेम की ही अधिक रचनाएँ की हैं। इन्हें मराठी का सुमित्रानंदन पंत कह सकते हैं। 'संध्यातारक', 'निर्झर', 'पाऊस', 'फुलराणी', 'श्रावणमास', 'ताराराणी', 'काल अणि प्रेम' ये आपके विषय हैं। आप सौंदर्यवादी हैं और पंत जिस प्रकार 'सुंदरतर से सुंदरतम' सारी सृष्टि को देखते हैं, वैसे ही बालकवि भी 'आनंदी आनंद गडे', 'इकडे तिकडे चोंहिकडे', सर्वत्र आनंद के दर्शन करते हैं। भारत के विषय में वे 'देहात में एक रात' कविता में कहते हैं :—

"हम्मालो का (कुलियों का) यदि कोई राष्ट्र है—तो वह हिंदभूमि है। हे मन, यह दैन्य, यह दौर्बल्य देखा नहीं जाता। हिंदभूमि की व्यथा सहन नहीं होती।"

एकनाथ पांडुरंग रेंदालकर (१८८६-१९२०) मराठी में मुक्तछंद और अतुकान्त रचना के प्रथम प्रवर्तक हैं। आपकी रचना में स्वाभाविकता विशेष है। 'रुक्मिणी पत्रिका', 'कृष्णा', 'वसंत', 'उजाड मैदान', 'गिधाड' आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। परंतु 'प्रसाद' के 'आँसू' की भांति आपकी रचनाओं में करुणरस की एक अन्तर्धारा सतत प्रवहमान है। यदि माधुर्य ताँबे और गोविंदाग्रज में मिलता है तो प्रसाद गुण बालकवि और रेंदालकर में। बचा हुआ ओजगुण बॉ० विनायक दामोदर सावरकर—जो अपने क्रान्तिकारी राजनैतिक जीवन के कारण भारत विख्यात हैं—की रचनाओं में मिलता है। सावरकर के कवि को सावरकर का राजनैतिक व्यक्तित्व खा गया और मराठी साहित्य ने एक बहुत अच्छे महाकवि को खो दिया, यह खेद से कहना पड़ता है। 'रानफुलें' और हाल में प्रकाशित उनकी संपूर्ण रचनाओं में—'युगांतरीचा घोष', 'जगन्नाथचा रथोत्सव', 'माझे मृत्युपत्र', 'सागरा, प्राण तलमलला', 'सप्तर्षि' आपकी ऐसी रचनाएँ हैं जो विश्व साहित्य में गर्व का स्थान प्राप्त कर सकती हैं। 'वैनायक' तथा 'कमला' नामक दो खंडकाव्य भी आपने लिखे हैं। आपकी प्रतिभा 'क्लासिक' अथवा 'आभजात्य' लिये हुए है। आप 'महा-समर' नामक एक और काव्य लिख रहे थे। वह पता नहीं, अभी पूरा हुआ या नहीं।

प्रथमोत्थान में जहाँ रूढ़ियों के प्रति अनावश्यक मोह अथवा निर्भयता की अतिरेकपूर्ण वृत्ति प्रदर्शित हो रही थी, द्वितीयोत्थान में अंग्रेजी रोमेंटिक कवियों की भांति एक प्रकार की ताज़गी, प्रकृति के प्रति विशेष प्रेम, जातीयता तथा स्वदेशभक्ति के दर्शन होते हैं।

तृतीयोत्थान

तृतीयोत्थान में मुख्य हाथ पूना की 'रविकिरण मंडल' नामक सात कवियों की एक मंडली का रहा। उनमें प्रमुख कवि थे और हैं—डॉ० माधव त्र्यंबक पटवर्धन उर्फ़ 'माधव जूलियन', यशवंत दिनकर पेंढारकर उर्फ़ 'यशवंत,' शंकर केशव कानिटकर उर्फ 'गिरीश,' मायदेव, घाटे आदि। 'माधव जूलियन' फ़ारसी के प्रोफेसर थे और छंदशास्त्र पर आपने बंबई विश्वविद्यालय से मराठी की पहली डाक्टरेट पाई। फ़ारसी-पद्धति के कई छंद आप मराठी में लाये—रुबाई, गजलों की कई किस्में आदि। उमर खय्याम की रुबाइयों का मूल फ़ारसी से समश्लोकी तथा फिज्जेराल्ड के अंग्रेजी अनुवाद से समश्लोकी अनुवाद मराठी में आपने प्रस्तुत किया। 'मुबारक' नामक एक व्यंगपूर्ण खंडकाव्य, 'विरहतरंग' नामक प्रेम-प्रधान खंडकाव्य, प्रगीत मुक्तकों से भरा 'तुटलेले दुवे' नामक दूसरा खंड-काव्य केवल 'सुनीतों' में ('सुनीत' अर्थात् अंग्रेजी 'सानेट' या चतुर्दशक को मराठी में रूढ़ किया हुआ शब्द)

'नकुलालंकार' नामक एक व्यंग काव्य के अलावा आपकी स्फुट कविता 'शलाका' 'गज्जलांजली', 'स्वप्नरंजन' तथा उद्बोधन 'मधुमाधवी' में संगृहीत हैं। आपने उन्मुक्त प्रेम का समर्थन, सामाजिक दंभ का परिस्फोट, राष्ट्रीय कर्तव्यों के प्रति तो किया ही, साथ ही अपनी कविता द्वारा मराठी में एक नवीन शैली, एक नवीन भाषा-संपदा को, प्रचलित किया। रविकिरणमंडल में आपकी मौलिकता सबसे अधिक प्रकाशमान थी। कई कविताओं के रेकार्ड भी बन गये हैं।

यशवंत ने भी राष्ट्रीय और समाज-सुधार पर कई कविताएँ लिखीं। 'वंदीशाला' नामक एक खंड-काव्य यरवदा के बच्चों की जेल पर और अपराधी बच्चों पर तथा 'जयमंगला' बिल्हण के प्रेमप्रसंग को लेकर लिखा। इनके अलावा हाल में बड़ौदा नरेश के राज्यारोहण प्रसंग पर 'काव्यकिरीट' खंडकाव्य लिखा, जिससे वे बड़ौदा के राजकवि नियुक्त हुए। परन्तु इन खंड-काव्यों में उनकी प्रतिभा इतनी नहीं चमक उठती जितनी कि गीत-काव्यात्मक फुटकर रचनाओं में। 'यशोधन', 'यशवंती', 'यशोनिधि' 'यशोगंध', आदि आपके कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से 'आई', 'गुलामांचे गाह्राणे', 'नजराणा,' 'भैतरणी', विगिविगी चाल', 'घर', 'प्रेमाचीदौलत' आदि आपके कई गीत बहुत लोकप्रिय हुए हैं। कुछ रचनाएँ आपने ग्रामीण भाषा में की हैं। बच्चों के मन का भी बहुत सुन्दर चित्रण कई कविताओं में किया गया है, यथा 'मालुं नको गा', 'इंदुकला', 'कल्यांचा भात' आदि।

रविकिरणमंडल के अन्य कवि इतने प्रसिद्ध नहीं हुए। 'गिरीश' (कांचनगंगा, फलभार, अभागी कमल, आंबराई, सुधा) अवश्य अपने खंड-काव्यों के कारण अधिक सफल कवि माने जाते हैं। रविकिरणमंडल के सभी कवियों ने अधिकांश प्रेम-कविताएँ लिखीं। स्वतंत्र-प्रेम की प्रशंसा उनकी रचनाओं में मिली है; परंतु जहां एक ओर उन्होंने मराठी कविता में नये-नये विषयों पर रचनाएँ करने की यथार्थवादिता बढ़ाई, वहां दूसरी ओर कविता को कुछ नई रूढ़ियों में बांध डाला। रविकिरणपरिपाटी मराठी में भावगीत के रूप में कई वर्षों तक ऐसी चलती रही कि उसकी प्रतिक्रिया में एक ओर माधवानुज, दु० आ० तिवारी, टेकाडे, वेहेरे आदि ने ओजपूर्ण ऐतिहासिक संग्राम-गीत गाना शुरू किये (जो स्पष्टतः राष्ट्रीयता प्रचार से भरे हुए अधिक थे, काव्य उनमें कम था): दूसरी ओर प्रि० प्र० के० अत्रे उर्फ़ केशवकुमार ने अपनी पैरोडियों की प्रथा चलाई, जो 'विडंबन काव्य' के नाम से बहुत ही प्रचलित हुई। 'झेंडूची फुलें' नामक एक अकेले संग्रह ने मराठी कविता में परिहासपूर्णता का वह प्रवाह बहा दिया कि एक दशक के अंदर-अंदर कविता एकदम उपेक्षित बन गई।

अब इधर महायुद्ध के कुछ पूर्व से कवियों में पुनर्चेतना जाग्रत हुई है। आ० रा० देशपांडे 'अनिल' इस नई काव्य-प्रेरणा के प्रधान उन्नायक हैं। कुसुमाग्रज (विशाखा), बोरकर (जीवनसंगीत) पु० शि० रेगे, कारे, वसंत, वैद्य, वसंत चिपड़े, ना० घ० देशपांडे, राजा बढे, शरच्चंद्र मुक्तिबोध आदि कई नये कवि आगे आ रहे हैं, जो कि मराठी के इस अनुर्वर प्रांत को संवार रहे हैं। इनकी उज्ज्वल प्रतिभा का भविष्य अभी अनिर्णीत है।

२. नाटक :

काव्य से जुड़ा हुआ साहित्य का दूसरा प्रधानांग है नाटक। सौभाग्य से मराठी का रंगमंच बहुत विकसित अवस्था में रहा है। हाल में ही उसका शतसांवत्सरिक उत्सव भी महाराष्ट्र में सर्वत्र मनाया गया। इस रंगभूमि के विकास का श्रेय जैसे सफल अभिनेता, रसिक प्रेक्षक और उत्तम गायकों को है, वैसे ही उच्च कोटि के नाटककारों को भी है। आधुनिक नाटक का आरंभ वैसे ही पौराणिक ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर हुआ, जैसे अन्य भाषाओं में। सन् १८८२ के बाद पच्चीस वर्ष तक संगीत का रंगमंच पर बहुत विकास होता रहा। अण्णा किर्लोस्कर महाराष्ट्र में रंगभूमि को सर्वाधिक लोकप्रिय करने वाले नट-नाटककार के पश्चात् देवल को यह श्रेय देना चाहिए कि उन्होंने नाटकों को उनके प्राचीन केंचुल में से बाहर निकाल कर खुली हवा में सामाजिक प्रश्नों की चर्चा में संलग्न किया। वृद्धविवाह की प्रथा पर 'शारदा' नामक उनका नाटक बहुत ही लोकप्रिय रहा। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने नाटकों

में साहित्यिकता का सूत्रपात किया। आपके 'मूकनायक', 'प्रेमशोधन', 'मतिविकार' आदि नाटकों ने अद्भुत रम्यता (रोमांस) की नाटकों में अवतारणा की, परन्तु उनके नाटकों में यथार्थ का निरूपण नहीं था। कृत्रिमता भी बहुत कुछ थी। कृष्णा जी प्रभाकर खाडिलकर ने 'कीचकवध' (जो सरकार द्वारा जब्त किया गया) से 'मेनका' तक अनेक पौराणिक-सामाजिक नाटक रचे, जिनमें 'मानापमान' (१९११ ई०) सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। इतिहास अथवा पुराण की कथा लेकर उसे आधुनिक काल और समस्याओं पर घटित करने की खाडिलकर की शैली बहुत ही तीक्ष्ण और प्रभावशाली थी। माधव नारायण जोशी ने मराठी नाटकों को सामाजिक यथार्थवाद सिखाया। परिहास के अवगुंठन में तीव्र सामाजिक व्यंग आपने लिखे, जिनमें संगीत विनोद, संगीत स्थानिक स्वराज्य अथवा म्युनिसिपैलिटी और संगीत वह्राडचा पाटील बहुत प्रसिद्ध हैं।

नाटक के क्षेत्र में वैसे तो अनेकानेक प्रयोग हुए। शेक्सपीअर के अनुवादों (त्राटिका, झुंझारराव) से लगा कर करेल कपेक की 'मदर' (आई) नाटिका और इब्सन 'डाल्स हाउस' (घरकुल) के अनुवादों तक कई चीजें यूरोपीय रंगमंच से मराठी मंच ने लीं। परंतु प्रांतीय भाषाओं में से अन्य किसी भाषा के नाटक मराठी में नहीं के बराबर अनुवादित हुए। हिंदी पर जिस प्रकार बंगला की छाया स्पष्ट है, (डी० एल० राय की नाटकों में और शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय की उपन्यास में तथा रवींद्रनाथ की काव्य में) मराठी में बंकिम, शरच्चन्द्र के अनुवाद तो हुए, परंतु नाटकों में कहीं भी बंगाली का प्रभाव नहीं दिखाई देता। महायुद्धोत्तर मराठी नाटक के इतिहास में तीन नामों का उल्लेख प्रमुख रूप से करना होगा। गडकरी, वरेरकर, अत्रे। गडकरी एक प्रकार से हिंदी के 'प्रसाद' थे। दोनों की प्रतिभा का स्वरूप रोमैंटिक था। दोनों की शैली काव्यात्मक थी। अंतर था तो इतना ही कि जहाँ 'प्रसाद' ने बौद्ध कालीन ऐतिहासिक वातावरण का विशेष आश्रय लिया, गडकरी ने सामाजिक प्रसंगों की ओर समस्याओं की ही विशेष विवेचना की। 'प्रेम सन्यास' में विधवा विवाह का, 'पुण्यप्रभाव' में सतीत्व के प्रताप का, 'एकच प्याला' में शराब और उसके दुष्परिणाम का चित्र गडकरी ने उपस्थित किया। गडकरी के बाद वैसे तो कई नाटककार हुए, जिन्होंने मराठी रंगमंच को उर्वर बनाया और इसका समस्त श्रेय केवल नाटकलेखकों को ही नहीं, अपितु नट, गायक और उस मनोरंजन में सक्रिय योग देने वाली जनता को भी दिया जाना चाहिए। फिर भी बाल गंधर्व (नारायणराव राजहंस नामक अभिनेता को स्व० लोकमान्य तिलक ने इस पदवी से विभूषित किया था) और उनकी कंपनी द्वारा खेले गये आधुनिक राजनैतिक आशय से भरे पौराणिक कथानकों वाले नाटकों को विशेष श्रेय है। वीर वामनराव जोशी और सावरकर, अच्युत बलवंत कोल्हटकर और टिपनीस तथा सं० अ० शुक्ल आदि के ओजस्वी ऐतिहासिक नाटकों ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। इस क्षेत्र में नवयुग उपस्थित करने का समस्त श्रेय भार्गवराम विट्ठल उर्फ़ मामा वरेरकर को है। आपने इब्सन की शैली को अपनाकर एक नई नारी-सृष्टि निर्मित की। राष्ट्रीय जागरण में जो सहयोग स्त्रियों से मिला उसका श्रेय मामा की 'सफ़्रेजेट' नाटिकाओं को है। आपने मिल-मजदूरों के प्रश्न, मठों के और बुवाशाही (यानी गुरुडम चलानेवाले महन्तों के) प्रश्न, अछूतोद्धार और खद्दर के प्रश्न अपने नाटकों द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया। स्पष्टतः प्रचार उनके नाटकों की आत्मा बन गई। नाटिका (एकांकी) संप्रदाय मराठी में आप ही की प्रेरणा से लोकप्रिय बना। आप समय के साथ प्रगतिशील हुए और अभी हाल में 'सिगापुरातून' नामक नाटक में साम्यवादी विचारसरणि का भी उन्होंने पोषण किया है।

जहाँ सामाजिक प्रश्नों की ओर रोमैंटिक और यथार्थवादी दृष्टिकोणों से गडकरी तथा वरेरकर ने मराठी रंगमंच को आकृष्ट किया, अत्रे ने एक बिलकुल नये ढंग से (जिसे कुछ हद तक बर्नार्ड शा का ढंग कहना चाहिए), प्रश्नों का परिहासात्मक पहलू उपस्थित किया। मा० ना० जोशी ने जो 'म्युन्सिपैलिटी' का घोर व्यंग-चित्र अपने स्थानिक स्वराज्य में उपस्थित किया था, उसी को कुछ आगे बढ़ाकर अत्रे ने अपने नाटकों में हास्य (परिस्थितिजन्य, शब्दजन्य तथा चरित्रजन्य), अतिरेक, समाजमीमांसा, विचार प्रक्षोभन का एक विचित्र 'मिक्स्चर' मराठी मंचपर प्रस्तुत किया, जिसे जनता ने वर्षों तक बहुत ही सराहा। 'साष्टांग नमस्कार' में प्रत्येक पात्र एक-एक खब्त

(फंड) का पोषक है। उन खन्तों के 'उद्याचा संसार' में वैवाहिक असंतोष के 'लग्नाची बेडी' में आधुनिक प्रेमविवाह के 'घरावाहेर' में पुरानी नई गृह-व्यवस्था के संघर्ष के बहुत ही आकर्षक चित्र उपस्थित किये गये हैं। आचार्य अत्रे ने पैरोडियाँ लिखकर जो कमाल हासिल किया था, उसमें मंचपर अपना 'अतिहसित' प्रदर्शित कर चार चाँद लगा दिये। वाद में वे सिनेमा के क्षेत्रों में उतरे, वहाँ भी चमके, मगर इधर आकर नाट्यक्षेत्र से जैसे उन्होंने सन्यास सा ले लिया है, जो दोनों मराठी नाटक के तथा अत्रे के हक में ठीक नहीं हुआ। मराठी रंगमंच उनसे अभी भी वहुत अपेक्षा कर सकता है। आधुनिकतम प्रयोगों में वर्तक अनंत काणेकर, के० ना० काले का नाट्यमन्वंतर-मंडल, 'लिटिल थियेटर और इधर लोकनाट्य के जो नये सोवियत-पद्धति के प्रयोग चल रहे हैं, इन सभी सत्प्रयत्नों ने सिनेमा से पराजित रंगभूमि को पुनरुज्जीवित और सप्राण वनाने में योग दिया है।

नाटक के ही सिलसिले में 'नाट्य-छटा' का भी उल्लेख गौरव से करना चाहिए, जो मराठी साहित्य की अपनी चीज़ है। स्व० 'दिवाकर' आदि लेखकों ने इसे अपनाया। इसमें 'एकमुखी-भाषण' द्वारा सामाजिक विरोधों को स्पष्ट किया जाता है। एक प्रकार से यह शब्दों में लिखे हुए व्यंग-चित्र ही समझिये। यद्यपि इस प्रकार के लेखन का चलन अब कम हो गया है तथापि यह एक अच्छा साहित्य-प्रकार है, जो हिंदी को भी अपनाना चाहिए।

३. उपन्यास—आख्यायिका आदि

मराठी उपन्यास का जन्म यात्रा-वृतान्तों में मिलता है। मराठी का पहिला उपन्यास 'यमुनापर्यटन' (१८४१ ईस्वी के करीव) यद्यपि नाममात्र को सामाजिक है, तथापि उसकी रचना मनोरंजनप्रधान ही अधिक है। अद्भुतरम्यता पर उनका अधिक ध्यान था। १८७० के करीव मराठी में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रथा चल पड़ी। फिर भी १८८५ के पश्चात् उल्लेखनीय उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे हैं। हिंदी के प्रेमचंद की ही भांति आपने मराठी मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्र अंकित किये। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद उनका लक्ष्य था। दोनों को ही समाचार-पत्र की सी शैली में खंडशः लिखना पड़ा। अतः दोनों की शैली में कुछ अनावश्यक लम्बे और उवा देने वाले वर्णन मिलते हैं। आपकी प्रसिद्ध और ऐतिहासिक एवं सामाजिक कादंवरियों के नाम हैं—उष:काल, सूर्योदय, सूर्यग्रहण, गडआलापण सिंह गेलामी, (यह चारों शिवा जी के राज्यकाल संबंधी हैं) यशवंतराव खरे, पण लक्षात कोण घेतो। नारायण हरि आप्टे नामक एक दूसरे उपन्यासकार ने भी इस युग में ऐसी उपन्यास आख्यायिकाएँ लिखीं, जो कि आप्टे की शैली की अनुकृति पर कौटुंबिक जीवन से संबंधित थीं, किन्तु कम लोकप्रिय हुई।

उपन्यास के क्षेत्र में दूसरा युग वामनमल्हार जोशी से आरम्भ होता है। आपने तीन-चार ही उपन्यास लिखे हैं, परन्तु सभी विचारप्रक्षोभक हैं। रागिणी, नलिनी, आश्रम-हरिणी, सुशीलेचा देव, इन्दुकाले और सरला भोले ये उनके मुख्य उपन्यास हैं। सव में किसी दार्शनिक या नीतिशास्त्रीय समस्या की विवेचना प्रमुख है। डॉ० केतकर ने अपने उपन्यासों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्राधान्य दिया और दोनों को ही मराठी के सामाजिक उपन्यास को विचार-क्षेत्र में आगे वढ़ाने का श्रेय है। ऐतिहासिक उपन्यास इस काल में भी नाथमाधव और हड़प ने शिवाजी काल और पेशवाई को लेकर वहुत से लिखे और वे वहुत लोकप्रिय भी हुए। राखालदास वनर्जी के 'शशांक', 'करुणा', 'अग्निवर्षा' आदि के अनुवाद इसी काल में हुए। श्री० शहा ने सम्राट् अशोक और छत्रसाल नामक दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित किये, जिनका अनुवाद हिन्दी में प्रेमी जी ने प्रकाशित किया है।

अव उपन्यास केवल आगे घटना-प्रधान या विचार-प्रधान न रह कर जन-जन के जीवन की आकांक्षाओं और स्वप्नों का प्रतिनिधि वन गया। आगे जिन पांच उपन्यासकारों का विस्तारपूर्वक विचार होगा, वे इसी प्रकार के लोकप्रिय और साहित्य के नवोत्थान के प्रतिनिधि उपन्यास लेखक हैं: ना० सी० फड़के, वि० स० खांडेकर, पु० य० देशपांडे, ग०

ग्रं० माडखोलकर, विभावरी शिरूरकर। फड़के उच्चवर्ग के पात्रों को चुनते हैं। उनके आरम्भिक उपन्यास अधिकांश रोमैंटिक हैं। प्रेम का त्रिकोण विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ है। परन्तु वर्णन की शैली बहुत सजीव और यथार्थवादी होने के कारण और भाषा का प्रवाह बहुत ऋजु और प्रसन्न होने से—जादूगर, दौलत, अटकेपार, आदि उनके आरम्भिक उपन्यास बहुत ही जनप्रिय बने। 'निरंजन' से आगे 'शाकुन्तल' तक फड़के ने अपने सामाजिक उपन्यासों की पार्श्वभूमि के रूप में राजनैतिक आन्दोलनों और पक्षों की मतावलियों को लिया, यथा 'निरंजन' और 'आशा' में सन् ३० का सत्याग्रह; 'प्रतिज्ञा' में राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ और हिन्दुत्वनिष्ठ राजकारण, 'समरभूमि' और 'उद्धार' में समाजवाद और साम्यवाद; शाकुन्तल में ४२ का आन्दोलन, 'माझाधर्म' में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की समस्या। प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में आचार्य जावड़कर से जो उनका लेखरूप लम्बा विवाद हुआ है, उसमें वे 'कला के लिए कला' वाले अपने पुराने उसूल से कुछ बदले हुए जान पड़ते हैं। फिर भी आनन्द-प्राधान्य उनकी रचनाओं में मिलता है। इनसे बिलकुल उलटे वि० स० खांडेकर 'जीवन के लिए कला' मान कर चले। 'हृदयांची हांक', 'कांचनमृग', 'दोनध्रुव' तक उनकी रचनाओं में कोंकण की प्राकृतिक पार्श्वभूमि पर काव्यमयी भाषा-शैली में कृत्रिम कथानक-रचना मिलती है। परन्तु 'दोनध्रुव' के बाद 'उल्का' (जो उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है), 'हिरवा चांफा', 'दोनमनें', 'रिकामा देव्हारा', 'क्रौंचवध' तक उनकी शैली सहजरम्यता ग्रहण करती जाती है और गांधीवाद तथा समाजवाद के मनोहर मिश्रण का आदर्श उनके उपन्यासों में स्थल-स्थल पर व्यक्त हुआ है। माडखोलकर ने 'मुक्तात्मा' से आरम्भ कर प्रगतिशील उपन्यासकारों में अपना क़दम रक्खा। तब से उनके नवीनतम उपन्यास 'डाकबंगला' और 'चंदनवाडी' तक वे रोमांस और राजनीति का ऐसा मज़ेदार मिलन अपने उपन्यासों में उपस्थित करते रहे हैं कि कहीं आलोचकों ने उनकी 'दुहेरी जीवन', 'नागकन्या' आदि रचनाओं को अश्लील कहा है तो कहीं 'कांता', 'मुखवटे' आदि को डा० खरे के पदत्याग के प्रकरण पर लिखी प्रचारात्मक चीज़ें। उनकी 'नवेसंसार' और 'प्रमद्वरा' ('४२ के आन्दोलन पर लिखी दीर्घकथा) सरकार द्वारा ज़ब्त किये गये दो उपन्यास हैं। आरम्भ से ही क्रांतिकारी नायकों और क्रांतिकारी आन्दोलनों का बहुत निकटतम चित्रण करते रहने के कारण उनकी शैली में सुन्दर भावोत्कटता है, यद्यपि वर्णन कहीं-कहीं यथार्थ से अति यथार्थ पर उतर आते हैं। पु० य० देशपांडे माडखोलकर की ही भाँति नागपुर के हैं; परन्तु उनकी रचनाओं में सार्वजनीनता अधिक है। 'बंधनाच्या पलीकडे'—नामक उनके विद्रोही उपन्यास ने एक समय महाराष्ट्र में खलबली मचा दी थी। उत्तरोत्तर उनकी कला 'सुकलेले फूल' और 'सदाफुली' में बहुत ही विकसित होती गई। यद्यपि 'विशालजीवन', 'काली रानी' और 'नवे जग' में कुछ दुरूहता उनकी शैली में आ गई है और पहले का सा हलका फुलकापन जाकर वह भारी हो गई है; परन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-सूक्ष्मता-क्षमता भी उतनी ही बढ़ती चली गई है। देशपांडे इस बात के दिशा-दर्शक हैं कि मराठी उपन्यास अब एक नई दिशा की ओर जा रहा है। वह खांडेकर के मानवतावाद और फडके-माडखोलकर के फ़ैशनेबुल राजनैतिक उपन्यासों से अधिक गम्भीर वैचारिक क्षितिज की ओर बढ़ रहा है। जो कमाल पश्चिम में काफ़्का (पोलंड का प्रतीकवादी उपन्यासकार) या अल्डस हक्स्ले, लारेंस या वूल्फ़ ने कर दिखाया—वह धीरे-धीरे पु० य० देशपांडे मराठी में प्रतिष्ठित करना चाह रहे हैं। इस दृष्टि से, विभावरी शिरूरकर नामक उपनाम के बुर्के में छिपी, परन्तु आठ-दस वर्ष पूर्व मराठी-कथाक्षेत्र में स्त्री का दृष्टि-कोण बहुत स्पष्टता और बुलंदगी से व्यक्त करने वाली महिला के दो उपन्यास 'हिन्दोल्यावर', और 'विरलेले स्वप्न' उल्लेखनीय हैं। टूटती हुई कुटुम्ब-व्यवस्था के वे बहुत अच्छे चित्र हैं।

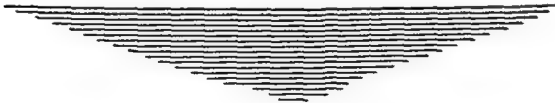
यहाँ अधिक विस्तार से उपन्यास पर लिखा नहीं जा सकता; परन्तु इस दिशा में मामा वरेरकर, गीता साने और कृष्णाबाई मोटे द्वारा चित्रित की हुई नई नारी, विद्रोही नायिका का चित्र भुलाया नहीं जा सकता। साने गुरु जी ने बच्चों के विकासशील मन पर 'श्याम', 'श्यामूकी माँ'; भारतीय संस्कृति सम्बन्धी 'आस्तिक' और 'क्रांति', 'पुनर्जन्म' आदि राष्ट्रीयता-प्रचारक बहुत लोकप्रिय उपन्यास लिखे हैं। श्री० दिघे ने महाराष्ट्र के ग्रामजीवन के सुन्दर चित्र 'पाणकला' और 'सराई' में उपस्थित किये हैं। मर्ढेकर, माधवमनोहर, रघुवीर सामंत और गं० बा० शास्त्री

ने इस दिशा में बहुत अच्छे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रयोग किये हैं। यह विभाग मराठी के आधुनिक साहित्य में सर्वाधिक परिपुष्ट है। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक चर्चा मैंने 'हंस' (१९३५) में 'तीन मराठी उपन्यासकार' और 'साहित्य-सन्देश' के उपन्यास-विशेषांक में 'मराठी के राजनैतिक उपन्यास' तथा 'औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता' के प्रथम लेखांक में की है।

आख्यायिका के क्षेत्र में पूर्वोक्त सभी उपन्यासकारों ने (पु० य० देशपांडे का अपवाद छोड़ कर) अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलाई है। इस क्षेत्र में अगणित लेखक आधुनिक काल में प्रसिद्ध हैं। फिर भी कुछ प्रमुख लघुकथा-लेखकों के नाम यहाँ देना अनुचित न होगा : वि० सी० गुर्जर, दिवाकर कृष्ण, प्र० श्री० कोल्हटकर, कुमार रघुवीर, बोकील, दौंडकर, लक्ष्मणराव सर देसाई, मुक्ताबाई लेले, य० गो० जोशी, वामन चोरघडे, ठोकल, अनन्त काणेकर शामराव ओक आदि। आख्यायिका के विषय और तंत्र (टेकनीक) में भी पर्याप्त सुधार और प्रगति होती गई। वि० स० खांडेकर ने 'रूपक-कथा' नामक खलील जिब्रान और ईसप के दृष्टान्तों जैसी काव्यमयी छोटी-छोटी कथाएँ बहु-प्रचलित कीं। उसी प्रकार से लघुतम कथाएँ भी बहुत सी लिखी गई, जिनमें व्यंग को प्रधानता दी गई है। चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान कहानियाँ घटनाप्रधान कहानियों से अधिक प्रचलित हैं। छोटी-छोटी कहानियाँ, जिनमें मोपांसा की भाँति मानव-प्रकृति के कुछ वर्णित स्थलों का अंकन हो या ओ० हेनरी की भाँति सहसापरिवर्ती अन्त से कोई चमत्कार घटित हो, या रूसी कथाकारों की भाँति वास्तविक जीवन की विषमता का कटु-कठोर चित्रण हो—मराठी में अधिक प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सरस्वती-प्रेस से प्रकाशित गल्पसंसारमाला के मराठीविभाग की भूमिका पठनीय है।

यहाँ तक संक्षेप में मैंने ढाई करोड़ मराठी-भाषियों के साहित्य के विकास और विस्तार की गत पाँच-छः शताब्दियों की कहानी प्रस्तुत की है। मेरा उद्देश्य मुख्यतः मराठी न जानने वालों को मराठी साहित्य की बहुविध प्रगति से परिचित कराना मात्र है। अतः कई स्थलों पर अधिक सूक्ष्म विवरण चाह कर भी नहीं दे पाया। स्थल-मर्यादा का ध्यान रखने से मोटी-मोटी रेखाओं में स्थूल चित्र से ही सन्तोष मान लिया है। नागरी-प्रचारिणी-सभा के अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव के प्रसंग पर गत पचास वर्षों का मराठी-साहित्य का विस्तारपूर्वक इतिहास मैंने सभा की आज्ञा से लिखा था। वह अभी अप्रकाशित रूप में सभा के पास है। यदि अवसर मिला तो हिन्दी, बंगला, गुजराती और मराठी साहित्य का तुलनात्मक इतिहास पुस्तक रूप में हिन्दी-भाषियों के लिए लिखने की मेरी इच्छा है।

उज्जैन]



मराठी में जैन-साहित्य और साहित्यिक

श्री रावजी नेमचंद शहा

१—आदि तीर्थंकर का आदिधर्म

जैनधर्म सबसे उपेक्षित धर्म है। जैनदर्शन, संस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में भयानक ग़लतफ़हमियाँ जनता में फैली हुई हैं। प्रख्यात विद्वान तक इस धर्म के सम्बन्ध में कई प्रकार के कुतर्क करते दिखाई देते हैं।

भगवज्जिनसेनकृत महापुराण में—"युगादिपुरुषः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः" जो हैं ऐसे वृषभदेव महाप्रतापी और महाप्रज्ञावान हुए हैं, ऐसा उल्लेख है। सर्वज्ञता जिससे प्राप्त हो ऐसा सन्मार्ग-रत्नत्रयपथ बतलाने वाले वीतरागी आद्य धर्मोपदेष्य ऋषभ तीर्थंकर ने तत्कालीन और बाद की जनता को सुसंस्कृत जीवनपद्धति और जीवनदृष्टिकोण बताया। इसीसे 'आदिसुविधकर्तार', 'अर्हत्', 'आदिब्रह्म' आदि सार्थक नामाभिधानों से कवींद्र ने उनकी स्तुति की है।

मोहेनजोदड़ो में प्राप्त पाँच हज़ार वर्ष पूर्व के अवशेषों में ऋषभ तीर्थंकर के कायोत्सर्ग अवस्था की नग्न मूर्तियाँ शिल्पित मिली हैं। उनपर ऋषभ के बोधचिह्न भी हैं। रा० ब० रामप्रसाद चन्दा के अनुसार ये मूर्तियाँ ऋषभतीर्थंकरों की ही हैं। औद्योगिक युग के बुद्धिप्रधान आचारादि धर्म का प्रारम्भ इसी प्रथम तीर्थंकर ने किया। इसी कारण इस कालखंड को 'कृतयुग' नाम से पुकारा जाता है।

विद्यावारिधि बै० चंपतराय जी का कथन है—"जैन कालगणना की दृष्टि से ऋषभ प्राचीनों में प्राचीनतम हैं। किसी भी धर्म को व्यवस्थित रूप प्राप्त होने से भी पहले के काल में वे हो गये।" न्यायमूर्ति रांगणेकर ने ऋषभदेव की प्राचीनता के सम्बन्ध में कहा है—"ब्राह्मणधर्म-वैदिकमत-अस्तित्व में आने से पूर्व जैनधर्म प्रचलित था, यह आजकल के ऐतिह्य संशोधन से निश्चित होता है। जैन प्रथम हिन्दुधर्मी थे। बाद में उन्होंने उस धर्म को ग्रहण किया, यह कथन भ्रमपूर्ण है।"

मथुरा के पहाड़ों में ऋषभमूर्ति, गुजरात, काठियावाड़, मारवाड़ आदि प्रान्तों के मन्दिरों में प्राचीन काल की मूर्तियाँ और उन पर खुदे प्राचीन लेखों से उसी प्रकार जैन-अजैन वाङ्मय के लेखन से भी इस धर्म की प्राचीनता निष्पक्ष सत्यभक्त संशोधकों को जँची है। सैकड़ों विश्वसनीय प्रमाणों से ऋषभदेव ही जैनधर्म के इस काल के प्रथम संस्थापक थे, ऐसा दिखाई देता है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और अन्तिम चौबीसवें महावीर आदि ने आदितीर्थंकर ऋषभप्रणीत जिनधर्म का ही प्रसार किया।

२—जैनदर्शन की विशेषताएँ

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों और समाजों की संस्कृतियाँ ज्ञानोपासना तथा ज्ञानसंवर्धन की कसौटी पर ही परखी जाती हैं, यह निर्विवाद सत्य है। उस कसौटी पर कसने से बुद्धि-प्रधान जैनदर्शन हमें वैज्ञानिक जान पड़ता है। पूर्व सूरियों ने आत्मानात्मविचार—जीव-अजीव सृष्टि का ऐसा गहरा तर्कपूर्ण विवेचन किया है कि आज के वैज्ञानिक संशोधन की कसौटी पर भी वह पूर्णतः खरा उतरता है। परमात्मपदप्राप्ति ही मानव का उच्चतम अन्तिम साध्य है। यदि आत्मा बहिरात्मावृत्ति छोड़ कर अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त करे तो इस साध्य को उपलब्ध कर सकता है। डॉ० प० ल० वैद्य के शब्दों में—"हेय, उपाय और उपेय इन तीन प्रकारों से आत्मस्वरूप का विवेचन पूज्यपाद के समाधिशतक में जितनी सुन्दरता से हुआ है उतना शायद ही अन्यत्र मिल सके। डॉ० एम० के० दे तथा पं० नाथूराम

जी प्रेमी ने भी यही अभिप्राय भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। प्रबुद्धात्मा ही सर्वज्ञता प्राप्त कर सकती है। सर्वज्ञता से अधिक श्रेष्ठ, मंगलदायक और आनन्द पद पर दूसरी कौन सी वस्तु है? इसी सर्वज्ञता के कारण तुष्टि, पुष्टि तथा शान्ति का लाभ सब कर सकते हैं। इस पृथ्वी पर दैवी सम्पदा का साम्राज्य अवतरित होकर, उच्चतम ज्ञानानन्द तथा कलाविलास में निमग्न होकर अलौकिक अनिर्वचनीय सात्त्विक आनन्द में सब सहभागी हो सकेंगे। इस कारण ज्ञान की महत्ता का जैनदार्शनिकों ने मुक्तकंठ से वर्णन किया है। जो आत्मतत्त्व 'बोधरूपम्' है वही आनन्द-दायक है, वही ज्ञानमय और मोक्षदायक भी है। ऐसे स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव में तन्मय होना ही परमात्मपद है। अमितगति आचार्य कहते हैं—"ज्ञानं विना नास्त्यहिताान्निवृत्ति स्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम्।" ज्ञान की महत्ता का वर्णन करने वाले ज्ञानार्णव जैसे सैकड़ों ग्रन्थ जैन मुनियों ने लिखे हैं।

आत्मा की अमरता भी विवेकवादीके दृष्टिकोण से न्यायशास्त्र के अनुसार जैनाचार्यों ने अपने सिद्धान्त तथा पौराणिक ग्रन्थों में सप्रमाण सिद्ध की है। सम्पूर्ण प्राणीमात्र का कल्याण करना ही जैनधर्म है और उसीके लिए तीर्थंकरों ने तथा आचार्यों ने अपना जीवन विताया। उन्होंने आत्मतत्त्व पहचान कर उससे तन्मय होने का तथा श्रेय-अभ्युदय के मार्ग से मोक्ष की ओर जाने का उपदेश दिया।

जैनधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है चारों पुरुषार्थों की सिद्धि। इस सिद्धि का उपाय मनुष्यों के हाथ में है। अपनी दुष्कृति का, क्रियाशून्यता का फल स्वयं हमें ही भोगना चाहिए। उसका दोष भी पूर्णतयः हमें ही है। भगवन्त पर या भाग्य पर दोष मढ़ना जैनधर्म सम्मत नहीं। पूजा की मिथ्या टोमटाम इस धर्म ने नहीं रची। नदी, बरगद, तुलसी, नाग आदि कीपूजा करना धर्म का परिहास करना है। यह सब मिथ्यापूजा है—यही इस उदारधर्म ने प्रतिपादित किया। मानताएँ लेना स्वार्थपूर्ण तथा निर्बोध व्यक्तियों का मार्ग है, यही इस धर्म ने सिद्ध किया। भाग्य को कोसने की वृत्ति दुर्बलता को द्योतक है। इससे आत्मबल तो नहीं बढ़ता, उलटे आलस्यादि दुर्गुणों को महत्त्व मिलता है—यही उपदेश इस धर्म ने किया है। इस धर्म में सृष्टिकर्तृत्व ईश्वर को नहीं दिया गया। इसी कारण ईश्वर को दशा अनुकम्पनीय और हास्यास्पद नहीं हुई और उसकी सर्वशक्तिमत्ता अबाधित रही।

जैनधर्म का प्रमुख सिद्धान्त है—अनेकांत। प्रो० हर्मन जैकोबी के अनुसार—"The Jainas believe the स्याद्वाद to be the key to the solution of all metaphysical questions." अर्थात्—"जैनों का विश्वास है कि स्याद्वाद समस्त आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान की कुंजी है।" महान वैज्ञानिक आइन्स्टाइन का सापेक्षतावाद इसी स्याद्वाद की भाँति है। डॉ० भांडारकर जैसे विख्यात पंडित ने आक्षेप किया है कि शंकराचार्य ने स्याद्वाद पूरी तरह न समझ कर उसकी आलोचना की।

"Ahimsa is the fulfilment of life. Killing the least is living the best" अर्थात्—"अहिंसा जीवन को परिपूर्णता है। जो जितनी कम हिंसा करेगा, उसका जीवन उतना ही उत्कृष्ट होगा।" इन दो सूत्रों से अहिंसा की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अहिंसा से अमाप धैर्य उत्पन्न हो सकता है। जिसमें त्याग, धैर्य, पराक्रम, संयम ये गुण हों, वही सच्चा महावीर है। जैनसंस्कृति ने ऐसे वीर और वीरांगनाएँ उत्पन्न की हैं। सत्य-क्षमा आदि दश धर्मों का विवेचन सद्भावनापोषक है। वह मनुष्यता निर्मित करने वाला है। कर्मसिद्धात सम्बन्धी जो विवेचन जैनागमों में मिलता है, वह किसी भी सत्यभक्त को जँचेगा ही। सम्पत्ति के असमान बँटवारे के विरोध में परिग्रह प्रमाण का मन्त्र बता कर एक ओर टॉल्स्टॉयमत और दूसरी ओर समाजसत्तावाद के सारतत्त्वों को इस धर्म में कुछ अंशों में मान्यता दी गई है।

३—प्राचीन जैन-साहित्य

डॉ० प० ल० वैद्य के कथनानुसार—"प्राचीन जैन साहित्य गुणसंभार तथा संख्या-समृद्धि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म-संस्कृति तथा जागतिक ज्ञानवृद्धि के हेतु से इस प्राचीन साहित्य का प्रकाशन कर उसे नवके

लिये उपलब्ध करा देना आवश्यक है।" इसी प्रकार के विधान अन्य प्राच्य-पाश्चात्य संशोधकों ने किये हैं। प्रो० हीरालाल कापडिया ने जैन ग्रन्थ-सूची के बारह भाग सम्पादित किये हैं। उसी प्रकार प्रो० वेलणकर ने 'जिन रत्नकोश' के दो भाग, लगभग सवा सौ स्थान के जैन-ग्रंथ भांडारादि तथा जैन-अजैन पंडितों की सहायता से १९४४ ईस्वी में प्रकाशित किये। ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक विभाग में—दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, खगोल, भूगोल, नाटक, चम्पू, साहित्य, भौतिकविज्ञान आदि विषयों पर जैनसाहित्यिकों के सहस्रविध ग्रन्थ मिलते हैं। ये सब रचनाएँ महावीरोत्तर काल की हैं। जैनों के अन्तिम तीर्थंकर की निर्वाणप्राप्ति के पश्चात् मानवी-बुद्धि की धारणाशक्ति दिन-ब-दिन कम होती गई। महावीर के प्रमुख शिष्य गौतमगणधर ने अंगपूर्व ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने वह श्रुत-आगम सुधर्मस्वामी को सिखाया। यही सुधर्मस्वामी ग्यारह ग्रन्थों के रचयिता हैं। उनके पश्चात् अंगपाठी मुनि हो गये। वीर निर्वाणकाल के पश्चात् क़रीब सात सौ बरस तक वाग्परम्परा और पाठान्तर से ही यह श्रुतज्ञान चिरस्थायी किया गया। इसके पश्चात् लेखनकला का उदय हुआ। गुरुपरम्परा से श्रवण किये हुए और मुखोद्गत धर्मशास्त्र महाकवियों ने पहले ताम्रपट, फिर भूर्ज-पत्र, ताड़पत्र आदि पर, अन्त में कई शतियों के बाद काग़ज़ पर लिखना आरम्भ किया।

श्री भूतबलि मुनि ने प्रथम षट्खंडशास्त्रों की रचना की। यह रचना ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को लिपिबद्ध की। तभी से इस शास्त्र की अवतारणा हुई। उसी दिन के उपलक्ष में अभी भी श्रुत पंचमी नामक ज्ञानोत्सव मनाया जाता है। उसके उपरान्त के काल खंड में जैनसाहित्य-आगम, दर्शन, काव्य, कथा आदि कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, समन्त-भद्र, अमृतचन्द्रसूरि, जिनसेन, गुणभद्र, पूज्यपाद, भट्ट अकलंक से लगा कर पंडित तोडरमल, आशाधर, गोपालदास तथा नाथूराम प्रेमी तक के सभी जैनसाहित्य धुरन्धरों ने रचा है। उपर्युक्त तालिका दिगम्बरपन्थीय लेखकों की है। श्वेताम्बरियों में भी स्थूलभद्र, कलिकालसर्वज्ञ, हेमचन्द्र, आत्माराम, शतावधानी महात्मा रायचन्द्र आदि दिग्गज वाग्वीरों ने चिरंतन स्वरूप का अनमोल साहित्य रचा है।

४—मराठी में जैन-साहित्य

श्रवणबेलगुल के गोम्मटेश्वर की—बाहुबलि की—जगद्विख्यात मूर्ति के चरणकमलों के एक ओर शिल्पित जो प्रसिद्ध शिलालेख है, वह मराठी का आद्य शिलालेख है। इस विशाल मूर्ति की ऊँचाई ५७ फ़ीट है। ऐसा शिल्पकार्य भारतवर्ष में अन्यत्र नहीं मिलेगा। नागरी शिलालेख के पहले लेख में—'श्री चामुंडराजें करवियलें' (अर्थात् श्री चामुंडराज द्वारा बनाया गया) यही अक्षर हैं। इनमें केवल श्री ही दो फ़ीट ऊँची है। लेख की ऊँचाई मूर्ति की ऊँचाई के अनुसार ही है। नागरी लिपि के दूसरे मराठी लेख में—"श्री गंगराजे सुत्तालें" (अर्थात् श्री गंगराज ने इस मूर्ति का कटघरा बनाया) ऐसा उल्लेख है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना का और चामुंडराय के शिलालेख का काल ९८३ ईस्वी है। वीरमार्तंड चामुंडराज तथा गंगराज जैनधर्म के बड़े प्रवर्तक तथा प्रभावक हो गये। इसी के नीचे द्राविड़ी शिलालेख में इसी आशय का लेख कन्नड़ तथा तमिल भाषा में भी खोदा गया है।

मराठी के जैनसाहित्यिकों में प्रथम बाल ब्रह्मचारी हिराचन्द अमोलिक फलटणकर नामक साधुवर्य का गौरवपूर्ण उल्लेख करना चाहिए। उन्हीं के साथ ब्रह्मचारी महतिसागर तथा कवीन्द्रसेवक इन दो त्यागियों का उल्लेख करना पड़ता है। हिराचन्द जैनों के आद्यपुराणकार हैं। आपका 'जैन रामायण' नामक काव्यग्रन्थ प्रसाद-पूर्ण है। वह आबालवृद्ध में लोकप्रिय है। इस प्रतिभासम्पन्न पंडित ने 'नलचरित्र' भी लिखा है। इसके सिवा अन्य फुटकर पद्यरचना द्वारा जैनियों की अन्धश्रद्धा तथा मूर्खताएँ नष्ट की हैं। तत्कालीन जैन समाज में कुरुढ़ियों का बोलबाला था। हिराबुवा ने अपनी पूरी आयु उन्हें दूर करने में तथा सम्यग्ज्ञान का साहित्य द्वारा तथा प्रवचन द्वारा प्रचार करने में बिताई। उनके समग्र ग्रन्थों के तथा रामायणादि ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण की आवश्यकता है। ब्र० महतिसागर के अभंग उपदेशपूर्ण हैं। उनमें व्यावहारिक दृष्टान्त, उपमा इत्यादि होने से वे अत्यन्त

प्रभावपूर्ण और मनोरंजक जान पड़ते हैं। यह अभंग और महतिसागर का चरित श्री सखाराम नेमचंद ने प्रकाशित किया है।

अब बीसवीं सदी के आद्य जैन साहित्योद्धारक दानवीर हीराचन्द नेमचन्द के ग्रन्थों की चर्चा की जाती है। आपने जैनसाहित्य का मराठी तथा हिन्दी भाषा में प्रसार करने के लिए १८८५ ईस्वी में 'जैनबोधक' नामक मासिक चलाया। उसके द्वारा जैनागमों का मराठी में सुबोध अनुवाद कर जैनधर्म का प्रसार किया जाय, ऐसा भी संचालकों का हेतु था। धार्मिक ग्रन्थ छापने का विरोध कर तत्कालीन जैनपंडितों ने जैनसाहित्य की बड़ी हानि की है। इस विरोध की परवा न कर, बम्बई के प्रसिद्ध सेठ माणिकचन्द पानाचन्द तथा हीराचन्द नेमचन्द ने जो वैचारिक सुधार किया, उसी का फल यह है कि मराठी तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में जैनसाहित्य विशाल परिमाण में प्रकाशित हो रहा है। हिराचन्द ने समन्तभद्राचार्यकृत 'रत्नकरंडश्रावकाचार' का मराठी में सुबोध यथातथ्य अनुवाद किया। इसमें १५० श्लोक हैं। उन पर पं० सदासुखदास की हिन्दी विवेचनात्मक टीका भी है। इसीमें श्रावकाचार भी दिये हैं। इस ग्रंथ को जैनियों में बहुत मान्यता दी जाती है। इस ग्रंथ से धर्म तथा नीतिशास्त्र के मुख्य-मुख्य तत्त्वों का ज्ञान होकर सद्भावनाओं का संचार होता है। आचार्य के श्रावकाचार का अनुवाद मराठी में कर उन्होंने मराठी-कवियों पर बड़ा उपकार किया है। 'षोडशकारणभावना' नामक अनुवाद भी उपदेशयुक्त बना है। इसके सिवा पार्श्वनाथचरित्र तथा महावीरचरित्र नामक दो छोटे-छोटे चरित्र भी लिखे हैं। उनमें तत्कालीन तीर्थंकरों की पूर्वभवावलि दी है। उसी से पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता आदि के सम्बन्ध में संदेह दूर होते हैं। यह चरित्र संशोधनात्मक, अद्यतन जानकारी का अन्वेषण कर नवीन पद्धति से तथा स्वतन्त्र रीति से सांगोपांग अध्ययन के उपरान्त लिखे गये होते तो अधिक उत्तम होता। 'भट्टारक चर्चा' नामक निबन्ध में जैनजगद्गुरु भट्टारक निरिच्छ तथा विद्वान हों यह आगम-सम्मत होने पर आजकल के बहुत से भट्टारक लोभीवृत्ति के स्वार्थ से लिप्त होते हैं—अतः उन्हें धर्मगुरु न माना जाय इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। 'पात्रदान तथा नवविधाभक्ति' नामक लघुनिबन्ध भी उन्होंने लिखा है। वे तेरापन्थी थे। 'क्या वेश्यानृत्य से तेरापन्थी में बाधा होगी ?' नामक निबन्ध में अपने अनुभव और विचारों का सार ग्रथित किया है। 'अहिंसापरमोधर्मः' नामक निबन्ध तथा अन्य धर्म-ग्रन्थ भी उन्होंने मराठी के ही समान हिन्दी तथा गुजराती में अनूदित कर प्रकाशित किये। उनके 'जैनकथासंग्रह' (१९०७ ईस्वी) में २४ पौराणिक कथाएँ हैं। यह ग्रन्थ विश्व के कथासाहित्य में स्थान पा सकता है। जैनकथा-साहित्य कितना ऊँचा है, इस सम्बन्ध में डॉ० जान हर्टले जैसे जर्मन संशोधक कहते हैं—"सर्वसुगम, स्वाभाविक तथा चित्ताकर्षक पद्धति से कथानिवेदन करने का गुण जैनग्रन्थकारों में मुख्यतः प्राप्त होता है।" सेठ जी ने जैनकथाओं का अनुवाद लालित्यपूर्ण रीति से किया है। 'जैनधर्म-परिचय' नामक सन् १९०१ में दिया हुआ व्याख्यान पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है, जिसकी हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आवृत्तियाँ हुई हैं। शासनदेवतापूजन, पापपुण्य के कारण, निर्माल्यचर्चा आदि अन्य निबन्ध आपने लिखे हैं।

उनके सच्छिष्य पं० कल्लप्पा निटवे द्वारा अनुवादित भगवज्जिनसेनाचार्य कृत 'महापुराण-आदिपुराण' एक बहुत मूल्यवान ग्रंथ है। निटवे जी का संस्कृत प्राकृत भाषा पर अधिकार, काव्यमर्मज्ञता तथा भाषान्तरपटुता उनके सुन्दर मराठी अनुवाद में दिखाई देती है। भांडारकर की संशोधन संस्था द्वारा जैसे महाभारत की विवेचना-पूर्ण आवृत्ति प्रकाशित हो रही है; जैन आदि पुराण की भी वैसी आवृत्ति यदि निकल सके तो बहुत अच्छा हो। इसी आदिपुराण की 'महापुराणामृत' नामक संक्षिप्त स्वतंत्र रचना प्रस्तुत लेखक ने प्रकाशित की है। निटवे जी ने उपदेशरत्नमाला, देवागमस्तोत्र, आप्तमीमांसा, पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत, पंचास्तिकाय, समयसार, प्रश्नोत्तर माणिक्यमाला, सम्यक्त्व कौमुदी, जैनधर्मामृतसार, कुंदकुंदाचार्य कृत रयणसार, अमितगति श्रावकाचार, जीवंधरचरित्र (क्षत्र चूड़ामणि ग्रंथ का अनुवाद) आदि अनेक ग्रंथों के मराठी अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। इन ग्रंथों में से अनेकों में जैनसिद्धान्त, आचारधर्म, आत्मानात्मविचार, सृष्टिकर्तृत्व की अत्यंत तर्कयुक्त मीमांसा व विवेचना मिलती है।

जीवनराज गौतमचन्द दोशी का साहित्य उल्लेखनीय है। भगवद्गीता के समान महत्वपूर्ण श्री उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा 'मोक्षशास्त्र' नामक दशाध्यायी संस्कृत ग्रंथ का मराठी में प्रसन्न शैली में उत्तम अनुवाद आपने किया है। महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा की कंकुबाई ग्रंथमाला से इसी की अगली तीन आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई हैं। इस ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद बै० जुगमंदरलाल और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने किया है (सन् १९२०)। इसी ग्रंथ का अनुवाद और टीका जर्मन भाषा में हरमन जैकोबी साहब ने की है। इस ग्रंथ पर देवनंदी उर्फ पूज्यपादाचार्य का सर्वार्थसिद्धि नामक टीकात्मक ग्रंथ पं० क० निटवे ने प्रकाशित किया है, जिसे बंबई विश्वविद्यालय ने एम० ए० और बी० ए० के पाठ्यक्रम में सन्निहित किया है। इसी जैन सिद्धान्तात्मक सूत्रमय ग्रंथ पर विभिन्न चालीस आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। आचार्यवर्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन' नामक मार्मिक अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसमें काव्य और दर्शन का मधुर समन्वय हमें मिलता है। जिनसेन और गुणभद्र आदि कवीन्द्रों की योग्यता कालिदास के समान है। 'हरिवंशपुराण' नामक ग्रंथ का अनुवाद मराठी में कर जीवराजभाई ने पर्याप्त यश संपादन किया है। संस्कृत तथा मराठी दोनों भाषाओं पर अनुवादकर्ता का प्रभुत्व होने के कारण यह अनुवाद पढ़ते समय मूलग्रंथ का ही रसास्वाद पाठकों को होता है। 'सार्वधर्म', 'जैन सिद्धांत प्रवेशिका' भी पं० गोपालदास के ग्रंथों के अनुवाद हैं। इनमें से प्रथम में जैन धर्म का विश्वकल्याणोपकारित्व तथा दूसरे में जैनागम के पारिभाषिक शब्दों की यथार्थ व्याख्या दी गई है। इनके अनुवाद किये हुए 'सार्वधर्म' तथा बाज-पाटील के 'भट्टारक' नामक निबंध दक्षिण-महाराष्ट्र जैन सभा ने प्रकाशित किये हैं। ब्रह्मचारी जी की यह साहित्यसेवा उनकी साहित्यभक्ति के अनुरूप है। जिनवाणी प्रकाशन के लिए आपका किया हुआ त्याग अत्यंत सराहनीय है। परंतु आपके ब्रह्मचारी होने के पश्चात् आपकी साहित्यसेवा स्थगित हो गई, यह देखकर हम सभी साहित्यरसिकों को खेद होता है।

धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी ने जैनवाचनपाठमाला (भाग १-४) और कीर्तनोपयोगी आख्यानादिकों का अनुवाद मराठी में किया है। आपने सौ से अधिक संस्कृत ग्रंथों को मराठी पहनावा दे कर प्रकाशित किया, यह बात आपके जैन साहित्य के प्रति अनुपम प्रेम को व्यक्त करती है। हीराचंद नेमचंद की विदुषी कन्या कंकुबाई ने दशलाक्षणिक धर्म, समयसारकलश, तत्त्वसार, मृत्युमहोत्सव, सल्लेखना आदि ग्रंथों का सरस तथा सुबोध मराठी अनुवाद कर आपने अपनी वैराग्यशील वृत्ति का परिचय दिया है। इन सभी ग्रंथों में नीति, धर्म, त्याग तथा निवृत्तिमार्ग को प्रधानता देकर विवेचन किया गया है।

कविवर्य पं० जिनदास के अनुवादित ग्रंथ हैं—स्वयंभूस्तोत्र, श्रीपात्र केसरीस्तोत्र, श्री शांतिनाथपुराण, श्री वरांगचरित्र, सुकुमारचरित, सावयधम्मदोहा, सारसमुच्चय, प्रभाचंदाचार्य कृत दशभक्ति आदि।

श्री नानचंद बालचंद गांधी, उस्मानाबाद नामक विद्वान कवि ने द्रव्यसंग्रह, श्रावकप्रतिक्रमण, रविवारव्रतकथा इत्यादि काव्य रचनाएँ की हैं। उनके बंधु तथा प्रसिद्ध साहित्यिक श्री नेमचंद बालचंद वकील ने गोमटसार जैसे कर्म-सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन करने वाले गहन ग्रंथ का सुबोध अनुवाद कर जैन-अजैन पाठकों को उपकृत किया है। आप ब्र० शीतलप्रसाद जी के शिष्य हैं। सात वर्षों की गुरुसेवा के पश्चात् आपने इन ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों के अलावा "ईश्वर कुछ करता है क्या ?", गुणस्थान चर्चा, सुभाषितावली, सामयिक पाठ, सज्जनचित्तवलय, पद्मनंदिपंचविंशत इत्यादि ग्रंथों से आपके विस्तृत व्यापक अध्ययन का परिचय प्राप्त होता है। जैनेतिहाससार के भी वे ही संचालक हैं। उसमें आपके कई मार्मिक एवं विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। उस्मानाबाद के उत्साही तरुण जैन साहित्योद्धारक कवि श्रीमान् मोतीचंद हीराचंद गांधी उर्फ 'अज्ञात' की 'साधुशिक्षा' प्रथम कलात्मक काव्य रचना है। अनंतर बृहत्कथा कोश, त्रिषष्ठिस्मृति, आत्मसिद्धि, सज्जनचित्तवलय, नामक साहित्य कृतियाँ आप ही की हैं। निरपेक्ष, उदात्त हेतु से किये गये आपके जिनवाणी प्रकाशन के लिए आपकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। आपका महावीर चरित्र के विषय में साधार जानकारी एकत्र करने का कार्य चल रहा है। आपकी यह स्वतंत्र रचना चरित्रग्रंथों में उच्च कोटि का स्थान ग्रहण करेगी। इस पुस्तक की भूमिकाएँ देशभक्त अण्णासाहब लट्ठे एम० ए० तथा

डॉ० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने लिखी हैं। जागतिक साहित्य में जिसे स्थान प्राप्त है ऐसे कुरल काव्य का सरस अनुवाद भी आपने मराठी में किया है। इस ग्रंथ की भूमिका में प्रो० चक्रवर्ती ने जैनधर्म की प्राचीनता दरसा कर अंतिम तीर्थंकर वीरप्रभु से कुंदकुंदाचार्य तक का उद्बोधक, उज्ज्वल तथा प्रभावपूर्ण इतिहास वर्णित किया है। 'पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय' नामक ग्रंथ का मराठी अनुवाद कर इसी 'अज्ञात' कवि ने मराठी काव्य साहित्य को बहुत बड़ी देन दी है। आर्यावृत्त में यह काव्य रचा गया है। इस पुस्तक को ३४ पृष्ठों की एक भूमिका अहिंसा माहात्म्य पर प्रस्तुत लेखक ने लिखी है।

श्री हीराचंद अमीचंद शहा ने जैन कथा साहित्य के सुमन चुनकर 'जैनकथा सुमनावली' नामक ग्रंथ लिखा है। पौराणिक कालीन सुसंस्कृत जैन समाज के कथा साहित्य का समाज-विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। आपकी दूसरी कलाकृति है 'यशोधर चरित्र'।

सुरस ग्रंथमाला नामक प्रसिद्ध लोकप्रिय प्रकाशन के कारण विख्यात श्री तात्याराव नेमिनाथ पांगल ने गुण-भद्राचार्य कृत उत्तरपुराण पर अत्यंत परिश्रमपूर्वक दीर्घ अध्ययन से 'तीर्थंकरों के चरित्र' मराठी में लिखे हैं। इस ग्रंथ से जैन तथा अजैन समाज की प्राचीन संस्कृति पर बहुत प्रकाश पड़ा है। आपका सन् १९१३ में पूना की वसंत-व्याख्यानमाला में दिया हुआ जैन धर्म संबंधी व्याख्यान १९२१ में श्री दी० आ० बीडकर ने प्रकाशित किया है। सभा के अध्यक्ष 'आनंद' के संस्थापक वा० गो० आप्टे का भाषण तथा आप्टे के शंका समाधानार्थ श्री हिराचंद नेमिचंद द्वारा दिये हुए प्रत्युत्तर आदि सब इसी ग्रंथ में समाविष्ट हैं। आपने अपनी माला में जैनेतिहास पर कुछ पुस्तिकाएँ तथा कुछ उपन्यास भी लिखे। पांगल जी के पिता भी अच्छे लेखक और कवि थे। आपकी रत्नत्रयमार्गप्रदीप, पद्यावली तथा अभंग आदि पुस्तकें लोकप्रिय हुई हैं।

सुरस ग्रंथमाला के कुछ उपन्यास श्री मोतिचंद गुलाबचंद व्होरा ने लिखे हैं। यहीं पर जैन साहित्यिकों में प्रमुखरूप से चमकने वाले प्रतिभासंपन्न उपन्यासकार श्री बालचंद नानाचंद शहा मोडनिंबकर का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है। आपके सम्राट् अशोक, छत्रसाल तथा उषा नामक उपन्यास प्रौढ़-प्रांजल शैली के कारण तथा चित्ताकर्षक, सालंकृत भाषा के लिए प्रख्यात हैं। 'सम्राट् अशोक' उपन्यास एम० ए० मराठी के पाठयक्रम में दूसरी बार रखते समय निष्पक्ष, रसिक आलोचक प्रा० पंगु ने इस उपन्यास की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। (इन उपन्यासों के अनुवाद प्रेमी जी ने हिंदी में उपलब्ध करा दिये—सं०) तीन उपन्यास तथा 'प्रणयी युवराज' नामक एक नाटक लिखकर श्री शहा ने साहित्यसंन्यास क्यों ले लिया, यह एक ऐसी पहेली है, जिसका उत्तर समझ में नहीं आता।

यशस्वी पत्रकार के रूप में विख्यात श्री बालचंद रामचंद कोठारी का 'गीतारहस्य' पर आलोचनात्मक प्रबंध उल्लेखनीय है। इस छोटे से आलोचनात्मक निबंध में कोठारी की विवेचनात्मक और प्रखर बुद्धि का परिचय मिलता है। इनके अलावा 'धर्मामृतरसायन' नामक अनुवादित जैनधर्म संबंधी पुस्तिका में भी उनकी भाषापटुता के दर्शन होते हैं।

पं० नाना नाग ने तत्त्वार्थ सूत्रों का मराठी अनुवाद करके तथा पंच परमेष्ठी गुण जैसे बहुत सी उपयोगी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करके जैनधर्म तथा जैन साहित्य के प्रति प्रेम व्यक्त किया है। उसी प्रकार श्री बालचंद कस्तुरचंद धाराशिवकर ने अनेक जैनग्रंथ प्रकाशित किये हैं।

श्री कृष्णा जी नारायण जोशी ने धर्मपरीक्षा, द्रव्यसंग्रह, विक्रमकविकृत नेमिदूत काव्य तथा धर्मशर्माभ्युदय काव्य का मराठी अनुवाद कर जिनवाणी की सेवा की है। धर्मपरीक्षा में पुराणों की कुछ कथाएँ कैसी हास्यास्पद तथा अश्रद्धेय हैं, इस बात का बहुत मार्मिक विवेचन मिलता है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भट्टारक नामक निबंध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर संशोधित करके परिश्रमपूर्वक लिखा है। उसका अनुवाद श्री वा० ज० पाटील ने किया है। कुंद-कुंदाचार्य कृत 'षट्पाहुड' केवल-चंद हिराचंद कोठारी बुधकर ने प्रकाशित किया। निस्वार्थी प्रकाशक श्री बालचंद कस्तुरचंद उस्मानाबाद ने उपर्युक्त कृ० ना० जोशी द्वारा अनुवादित ग्रंथ तथा आचार्य सकलकीर्तिकृत सुभाषितावली तथा मल्लिषेणाचार्यकृत

[illegible] और [illegible] मराठी अनुवाद [illegible] किये हैं। [illegible] मराठी अनुवाद [illegible] ने किया है। [illegible] 'जैनधर्म-प्रकाश' [illegible] का अनुवाद [illegible] मराठी में [illegible] किया है।

'जैनधर्म की उदारता' नामक [illegible] की रचना, [illegible] और [illegible] मराठी [illegible] प्रकाशित की। [illegible] जैन धर्म का [illegible] विचार और [illegible] का [illegible] विवेचन किया गया है। [illegible] पाठकों को [illegible] लाभ होगा।

श्री [illegible] 'जैनधर्म की [illegible]' नामक [illegible] में [illegible] अनुवाद [illegible] मराठी में [illegible] किया है।

जैनों में प्रसिद्ध इतिहास लेखक श्री प्रा० [illegible] हैं। इनके 'प्राचीन भारत', 'जैन और [illegible] धर्म का [illegible] इतिहास' (सन् १९३०) आदि ग्रन्थ [illegible] हैं। [illegible] भूमिका में '[illegible] आदि [illegible] जैनधर्म [illegible], [illegible] आदि भाषाओं में जैनधर्मानुयायियों ने [illegible] किये हैं, [illegible]," [illegible] किया है। [illegible] 'भगवान [illegible]' [illegible] है। श्री [illegible] आदि [illegible] हैं। [illegible] जैनों का इतिहास [illegible] है। [illegible] इतिहास [illegible] है। [illegible] किया है, पर भी [illegible] हुआ है। इस ग्रन्थ के [illegible] विवेचन [illegible] है। इस ग्रन्थ में जैन धर्म [illegible], [illegible] आदि [illegible] का विचार किया गया है। [illegible] और [illegible] है।

[illegible] श्री [illegible] हैं

(१) 'जैनधर्मीयांची' (सन् १९३०)।

(२) [illegible] (मराठी अनुवाद) [illegible] अनुवाद।

(३) [illegible] (मराठी अनुवाद—[illegible]) [illegible] १९२९) [illegible] है।

(४) श्री [illegible] 'जैनधर्मप्रकाश'।

(५) [illegible] है। [illegible] है।

(६) [illegible] (१९३०) [illegible] है।

(७) [illegible]।

(८) "ऋषभदेव ही जैन धर्म के संस्थापक" (प्रबंध)। चंपतराय जी के अंग्रेजी ग्रंथ के आधार पर लिखा हुआ प्रबंध।

(९) "ओरियंटल लिटरेरी डाइजेस्ट मासिक का विहंगमावलोकन", "महाकवि पुष्पदंत के अपभ्रंश भाषा के आदि पुराण ग्रंथ का परीक्षण", "अपभ्रंश भाषा के सुभाषित", "जैनधर्म तथा सुधारणा", "साहित्यक्षेत्र में सोलापुर प्रांत का कार्य", "भगवान महावीर की जनमान्यता", "विश्वोद्धारक तथा जैन धर्म संरक्षक महावीर" "चितामणराव वैद्य के जैनधर्म पर आक्षेप और उनका निरसन", "जैनधर्म—आस्तिक या नास्तिक ?" आदि स्फुट लेख।

इनके सिवा 'जैन धर्म का इतिहास' नामक ७०० पृष्ठों का ग्रंथ तथा 'महावीर और टाल्स्टाय' नामक ग्रंथ अप्रकाशित हैं।

श्री० शं० य० नाद्रे ने रा० स० दोशी तथा आचार्य शांति सागर के चरित्र प्रकाशित किये हैं। सन् १९३७ में श्री वीरग्रंथमाला नामक एक प्रसिद्ध संस्था जैनियों के ख्यातनामा कवि अप्पा साहेब भाऊ मगदुम 'वीरानुयायी' ने स्थापित की है। आजतक इस ग्रंथमाला से २० पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

सौ० कांताबाई वालचंद जी० ए० ने 'श्रमण नारद' नामक कथा का अनुवाद प्रेमीजी की मराठी कथा से किया है। यह कथा 'सत्यवादी' में १९३९ में मराठी में प्रकाशित हुई। अहमदाबाद के रामकृष्ण मिशन के उदार प्रकाशक श्री ठाकारे इसे जल्दी ही प्रकाशित करने वाले हैं।

जैनों की सुप्रसिद्ध कवियित्री सौ० सुलोचनाबाई भोकरे की 'जैन महाराष्ट्र लेखिका' तथा 'दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा का इतिहास' नामक दो पुस्तकें संदर्भ ग्रंथ के रूप में उपयोगी हैं। आपकी कविताएँ प्रसादपूर्ण हैं। आपकी काव्यसंपत्ति की प्रशंसा साधुदास ने की है।

रा० मिसीकर नरेंद्रनाथ जयवंत की 'बालबोधिनी' तथा 'जैन सिद्धान्तप्रवेशिका' उसी प्रकार दा० बा० पाटील का 'तत्त्वार्थसूत्रप्रकाशिनी' नामक ग्रंथ कठिन विषय को सुगमता से समझाने वाले ग्रंथों के उत्तम उदाहरण हैं, दे० भ० अण्णा बाबा जी लट्ठे ने दो पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी हैं—एक कै० शाहु छत्रपती, कोल्हापुर की जीवनी, दूसरी जैनिज्म।

कविवर्य तथा श्रेष्ठ उपन्यासकार कै० दत्तात्रय भिमाजी रणदिवे की साहित्यसेवा वृहत्महाराष्ट्र में विख्यात है। उन्होंने चार स्वतंत्र तथा बीस अनुवादित उपन्यास, दो प्रहसन, एक कीर्तन तथा बारह खंडकाव्य लिखे हैं। जिनमें से गजकुमार, चरितसुधार, निलोचरित्र, आर्यारत्नकरंडक, अभिनव काव्यमाला में श्री केळकर द्वारा संपादित होकर छपे हैं तथा कविता भाग १ उनके सुपुत्र प्रभाकर ने प्रकाशित किया है। दूसरा भाग भी वे जल्दी ही प्रकाशित करेंगे।

चांदवड की महाराष्ट्र-जैन-साहित्य प्रकाशन समिति ने "भारतीय प्रभावी पुरुष" नामक चरित्रात्मक ग्रंथ में श्रावक शांतिदास, हरिविजय जी सूरि तथा तेईसवें पार्श्वनाथ तीर्थंकर की तीन जीवनियाँ सुन्दर शैली में प्रकाशित कर मराठी साहित्य में नवीन योगदान किया है। र० दा० मेहता तथा शा० खे० शाह नामक दो उदीयमान लेखक भी महाराष्ट्र को जैन संस्कृति का परिचय करा रहे हैं।

कुन्थुसागर ग्रंथमाला से (१) लघुबोधामृतसार (२) लघुज्ञानामृतसार तथा आचार्य कुन्थुसागर विरचित सुधर्मोपदेशामृतसार (प्रश्नोत्तर रूप में) संस्कृत से मराठी में अनुवादित होकर प्रकाशित होने चाहिए।

काव्यप्रांगण में सोलापुर के माणिक तथा शांतिनाथ कटके नामक दो बंधुओं ने अच्छा नाम पाया है। उन्होंने मराठी में जैनपूजन की पद्यात्मक पुस्तक प्रकाशित की है। यह पुस्तक भक्तों के उपयोग की है।

इस निबंध में मराठी के जैन साहित्य तथा साहित्यकारों का परिचय वाङ्मयोद्यान में इतस्ततः विहार करने वाले भ्रमर की वृत्ति से किया गया है। यदि इसमें किन्हीं बड़े ग्रंथकारों का अथवा कलाकृतियों का नामनिर्देश रह गया हो तो उसके लिए वे क्षमा करें।

शोलापुर]

मराठी साहित्य में हास्य-रस

श्री के० ना० डांगे एम० ए०

महाराष्ट्रीयों में विनोद-बुद्धि विशेष रूप से है। अंग्रेजी साहित्य से परिचित होने के बहुत पहिले से उनमें परिहास-वृत्ति जाग्रत थी। 'पहिले शिखर, फिर नींव' का वेदान्तपूर्ण विनोद व्यक्त करने वाला संत कवि एकनाथ, 'पहिले लोगे तभी दोगे क्या हे भगवान' कहने वाले नामदेव और 'अच्छी भेट हुई—एक ठग से दूसरे ठग की' कहने वाला तुकाराम इसके उदाहरण हैं। मोरोपंत ने अपनी 'केकावली' में गांभीर्य छोड़कर 'कां ललतां अललता' में बच्चों की सी तुतलाहट ग्रहण की है। लोकगीतों में गोपियों की हास्यपूर्ण उक्तियों में, कीर्तनकारों के हास्यपूर्ण चुटकुलों में, लावनियाँ गाने वालों की प्रख्यात छेकापन्हुतियों में, घर-घरमें पहेली-बुझौवल के रूप में 'उखाणों' में वह हास्य फैला हुआ है।

यदि मायाब्रह्म का विचार करने वाले वेदाभ्यासी जड़ गुरुजनों में विनोदप्रियता इस सीमा तक है तो अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आते ही यह परिहासबुद्धि विशेष रूप से फूली-फली हो तो उसमें आश्चर्य क्या ? इस पीढ़ी के पहिले की पीढ़ी से पूर्व अनुवादित हास्य पर ही विशेष ध्यान गया था। शेक्सपीयर और गोल्डस्मिथ के नाटक, बीरबल की कहानियाँ, उत्तर रामचरित-मृच्छकटिक आदि के अनुवाद बहु प्रचलित थे। इसके पश्चात् स्वतंत्र प्रज्ञा के हास्य की रचनाएँ होने लगीं—गडकरी के नाटक में मुलक्कड 'गोकुल की गवाही' 'पण्भासिका का वादा' विदूषक मैत्रेय-शकारादि के श्लेषों से अबतक यानी अत्रे की प्रसिद्ध 'पैरोडी'—'बोबी, कब आओगे लौट !' या वामन मल्हार जोशी के काव्यशास्त्रविनोद तथा मामा वरेरकर के सुन्दर संवादों तक इस हास्य ने अनेक रूप धारण किये हैं। आज के हमारे समाजजीवन में तो इस विनोदप्रियता के दर्शन सर्वत्र होते हैं : कहानियों में, चित्रपटों में, पत्र-पत्रिकाओं में, चार महाराष्ट्रीयों की गप्पों की बैठक में। संकट सहने की आदत, कष्टमय जीवन में भी हँसमुख रहने का स्वभाव, ओजस्वी आशावाद, बुद्धिप्रधान जीवन में आनन्द मानने की टेव, स्वस्थ शरीर और आलोचनात्मक वृत्ति आदि गुणों के विचित्र समन्वय के कारण महाराष्ट्र के हाड़-मांस में हास्य भरा हुआ है। गवाह बनने वाले नापित गायकों से लगाकर इतिहाससंशोधन और साहित्यसम्मेलन जैसे गंभीर प्रसंगों तक हास्यप्रियता इनके जीवन में रमी हुई है। जब दूसरे लोग जीवन की विषमताओं को बुरा-भला कहते हैं, उसके नाम से रोते हैं, महाराष्ट्रीय हँस-खेलकर उनको भुलाने का प्रयत्न करते हैं। यह उनकी स्वभाव-गत विशेषता है।

आधुनिक साहित्य में हास्ययुग का आरंभ श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के 'सुदामा के तंदुल' से होता है। 'पानी के दुर्भिक्ष्य' में कोल्हटकर कहते हैं—"श्राद्ध के तर्पण में पानी का मितव्यय होने लगा। शुद्धोदक का कार्य पूजन-विधि में केवल अक्षताओं से होने लगा। पानी पीते समय 'हाँ, पानी नहीं, जरा मदिरा पी रहा हूँ' ऐसे असत्यविधान करने लगे। पानी की दुकान खुलने लगीं—उनमें जो प्रामाणिक थी वहीं शुद्ध पानी मिलता। अन्य दूकानों में तो पानी में दूध मिलाकर दिया जाता"। कोल्हटकर के हास्य निबंधों में लोकभ्रमों का निरसन और सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार मिलते हैं। उदाहरणार्थ विवाह में दहेज की प्रथा के संबंध में वे कहते हैं—'महारानी विक्टोरिया की जीवनी जबसे मैंने पढ़ी, उनकी अलौकिकता के विषय में मेरी श्रद्धा बढ़ती ही चली गई। वह श्रद्धा यहाँ तक बढ़ी कि मुझमें उनके चेहरे की मुद्राओं का संग्रह करने का शौक बहुत बढ़ा। रानी साहिबा तो नहीं रहीं, कम से कम उनकी रौप्य प्रतिमाओं का वियोग न हो, इसी भावना से मैं अपने पुत्र के लिए दहेज स्वीकार करूँगा।' ज्योतिष सम्मेलन के अध्यक्षपद से दिये भाषणों में भी उन्होंने अपनी विनोदप्रियता नहीं छोड़ी।

साहित्यसम्राट् न० चि० केलकर तो विनोद के अवतार हैं। आपने 'हास्यविनोदमीमांसा' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ लिखा है। साथ ही कई सुन्दर निबंधों में अपनी परिहास-प्रियता का परिचय दिया है। अपने ही जीवन की घटनाएँ, मानो हँसते-खेलते हुए वे कह रहे हों—ऐसी सहज-मनोरम उनकी शैली है। 'विलायत की सफर' में वे कहते हैं—'हिमाच्छादित आल्पसपर्वत का शिखर ऐसा जान पड़ता है जैसे खिचड़ी पर गरी का चूर बिछा दिया है। इससे मुझे खिचड़ी खाने की इच्छा हुई है, ऐसा न समझें।' हाउस ऑफ़ कामन्स का वर्णन देते हुए वे लिखते हैं——'मंत्रिमंडल जहाँ बैठता है उस कोने में अंधेरा था। जिस साम्राज्य पर सूर्य कभी अस्त नहीं होता उसका कारोबार ऐसे ही अँधेरे में चलता है।' "गीता के बहुत बड़े प्रेमी एक वकील गीताराव थे, जिन्हें दुख हुआ तो उसे वे 'विषादयोग' कहते, बीड़ी पीते हुए आरामकुर्सी पर पैर फैलाकर आँखें मूंद कर पड़े रहने को 'ध्यानयोग' कहते। जब कोई मुद्दई रुपये ला देता और वे उसे गिनते तो उसे 'सांख्ययोग' कहते। हजामत करने बैठते तो उसे 'सन्यासयोग' कहते। 'कान्फ़िडेन्शियल' कोई बात आती तो उसे वे 'राजगुह्ययोग' कहते।"

गडकरी उर्फ 'बालकराम' ने तो अपने लेख, काव्य और नाटकों में हास्य को खूब बिखेरा है। कंकण (एक नाटक का पात्र) याद किया हुआ भाषण कहता है कि 'तुम्हारे सौंदर्य का वर्णन हजार जिह्वावाला ब्रह्मा और चार मुँहवाला शेषनाग भी नहीं कर सकता। तुम्हारे नख भ्रमरों से, चरण प्रवाल से, गति कदलीस्तंभ-सी और कटि हाथी के समान है।....शायद कहीं कुछ भूल हो रही है।' उनका 'कवियों का कारखाना' और 'ठकीचे लग्न' बहुत प्रसिद्ध विनोदी निबंध हैं।

औचित्य का पूरा ध्यान रखकर, साहित्य का पवित्र उद्देश्य न बिगाड़ते हुए उच्चकोटि का हास्य वा० म० जोशी के साहित्य में मिलता है। उनके उपन्यासों में यह विनोद-बुद्धि सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर परिलक्षित होती है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' पर भय्यासाहब (एक पात्र जो कि डाक्टर हैं) कहते हैं—'मैंने कई व्यक्तियों का हृद्देश आपरेशन के समय छुरी से काट कर बहुत बारीकी से देखा है, परन्तु वहाँ कहीं ईश्वर नामक चीज दिखाई नहीं दी।' 'रागिणी' नामक उपन्यास में इस प्रकार के काव्यशास्त्रविनोद के कई सुन्दर प्रसंग मिलते हैं। 'सुशीलेचा देव' में एक पात्र को लत है कि वह बारबार कहता है—'स्पेंसर कहता है कि—।'

ऐसे अभिजात और अक्षर (क्लासिकल) विनोद का युग अब बीत गया। अब वह सर्वगामी, सर्वंकल, सार्वत्रिक और सार्वजनीन बन गया है। पहिले जो शब्दनिष्ठ विनोद बहुत प्रचलित था, उसका स्थान अब प्रसंगनिष्ठ और वातावरणनिष्ठ विनोद ने ले लिया है। कुएँ की भांति गहराई हास्य में से चाहे कम हो गई हो, परंतु सरोवर की भांति प्रसार उसमें बढ़ा है। अब हास्य ने नाना प्रकार के आकार और रूप ग्रहण कर लिये हैं—उपहास, विडंबन, उपरोध, व्यंगचित्र, अतिशयोक्ति, व्याजोक्ति आदि। 'साधनानामनेकता' इस विभाग में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। प्रा० ना० सी० फड़के कॉलेज-कुमार और कुमारियों के जीवन के चित्रकार तथा उसी वर्ग के प्रिय लेखक हैं। उनके उपन्यासों और संभाषणों में भी यह सूक्ष्म हास्य-छटाएँ बिखरी हुई हैं। वि० स० खांडेकर का विनोद अधिकांश उपमात्मक दृष्टान्तों पर निर्भर है। 'उल्का' उपन्यास में लड़की का नाम क्या रक्खा जाय इस संबंध में चर्चा चल रही है—

'तारा नाम क्यों नहीं रखते! एक चन्द्र का हाथ पकड़ कर भाग गई, दूसरी ने सुग्रीव से विवाह कर लिया।'

'परंतु हरिश्चन्द्र की तारा तो पति के साथ स्वयं भी कष्ट हुई।'

'तारा तो स्थिर रहने वाली है। अपनी लड़की कुछ आंदोलनमयी होनी चाहिए।'

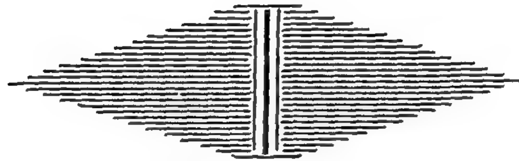
'तो उसे उल्का ही क्यों नहीं कहते!'

खांडेकर-साहित्य में इस प्रकार के श्लेष और हास्यपूर्ण संभाषण इतने अधिक हैं कि यह ऊपर का दृष्टांत तो केवल सिंधु में से बिंदु दिखाने के समान है। इस विनोद को गहन साहित्यिकता को और भी जनप्रिय बनाने का श्रेय है प्रि० अत्रे को। कई बार उनका विनोद श्लीलता की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। परंतु मराठी साहित्य में कविता की पैरोडी (विडंबन) की प्रथा उन्होंने अपने 'झेंडूची फुले' से बढ़ाई और उसके हास्य के कारण ही महाराष्ट्र

की रंगभूमि आज जीवित अवस्था में है। उनके हास्य के कुछ उदाहरण देखिये—'विवाह का शारदा-कानून जैसा विनोदी कानून और कोई नहीं होगा। गुनाह हो जाने के बाद यह कानून किसी रियासती पुलिस की भांति वहाँ अँग-ड़ाइयाँ लेता हुआ जम्हाइयाँ भरते हुए आता है। बहुत बार आता भी नहीं। चार महीने चतुर्भुज होने के (जेल जाने के) बाद अगर चाहे तो आदमी एक अनजान लड़की से जनम भर के लिए चतुर्भुज (विवाहित) हो सकता है, तो इतना साहस कोई भी आर्यपुरुष करने के लिए उद्यत होगा!' 'कविजनों का क्या कहिये। उनकी कल्पनाशक्ति इतनी उर्वरा है कि उनमें से कोई तो हिमालय के शिखर पर बैठ कर भी 'एक प्लेट आइसक्रीम' खाने की इच्छा व्यक्त कर सकता है।' गडकरी की 'अरुण' नामक वीररस की उत्प्रेक्षाओं से परिपूर्ण काव्य पर अत्रे ने एक हास्यरस की उत्प्रेक्षाओं से भरी पैरोडी लिखी है, वैसे ही माधव ज्यूलियन के 'तू' और 'मैं!' की भी।

य० गो० जोशी के लिखे हुए 'इंटर व्यू' (मुलाकातें) हास्य से भरे-पूरे हैं। वाल्टेयर का युग अब मराठी में दूर नहीं। 'पुनर्भेट' नामक उनके कहानी-संग्रहों में 'जय मग्नेशिया' में एक देशभक्त शुद्ध स्वदेशी औषधि के पुरस्कार में मग्नेशिया का भी कैसे बहिष्कार करता है, इसका वर्णन है; 'इतिहास के प्रश्नपत्र' में आधुनिक शिक्षाप्रणाली पर बहुत गहरा व्यंग है; 'ग्यानबा तुकाराम और टेकनीक' में आधुनिक लेखकों की टेकनीक-प्रियता का परिहास है। ऐसे ही और भी कई उदाहरण मिल सकेंगे। स्वतंत्र हास्यनिबंध लिखने की परंपरा क० लिमये, चिं० वि० जोशी, शाम-राव ओक, वि० मा० दी० पटवर्धन आदि लेखकों ने चलाई। ना० धों० ताम्हनकर का 'दाजी' अविस्मरणीय है। बाल-साहित्य और बोलपटों में भी हास्यरस के दर्शन अब हमें पर्याप्त और प्रचुर मात्रा में मिलने लगे हैं।

मन्दसौर]



मराठी का कोश-साहित्य

श्री प्रा० बा० ना० मुंडी

वैदिक वाङ्मय के अध्ययनार्थ जैसे निघंटु, वैसे ही होमर आदि के अध्ययन के लिए 'ग्लासरीज' की रचनाएँ ईसा पूर्व ७००-८०० के आसपास हुई। कोश निर्माण की यह वृत्ति इतनी पुरानी है। केवल संस्कृत के ही कोश लें तो ग्राफ़्ट की सूची के अनुसार तीन सौ से अधिक प्राचीन संस्कृत-कोश उपलब्ध हैं। कोश-निर्माण अत्यंत कष्टमय और शुष्क कार्य है, तथापि साहित्य के रसास्वादन के लिए वह अत्यंत उपादेय वस्तु है। साहित्य का वह एक प्रधान अंग है। साहित्य को लोकगंगा के प्रबल प्रवाह में अक्षररूप में टिकाये रखने का श्रेय सर्वांशतः इन कोशों को है। यह मान भी लें कि पहिले मनुष्य फिर नियमन, पहिले नदी, फिर घाट; उसी प्रकार से पहिले भाषा फिर कोश का निर्माण होता है—तो भी उनका मूल्य कम नहीं किया जा सकता।

अमरकोशादि संस्कृत कोशों का आदर्श सामने रखकर मराठी के आरंभिक कोश बने। 'महानुभाव' पंथ के साहित्य का क्षेत्र अभी हाल में ही खुला है और उसमें अभी संशोधन चल रहे हैं। महानुभावियों ने पद्य के समान गद्य में भी वैद्यक-ज्योतिष-व्याकरण-स्मरणिका आदि ग्रंथ लिखे थे। कुछ महानुभावों ने संकेतलिपि का बोध कराने वाले एक ग्रंथ की रचना की। यही मराठी का प्राचीनतम कोश है। श्री राजवाडे ने ज्ञानेश्वर आदि संत कवियों को सहज-सुगम बनाने के लिए यादवकाल के कुछ कोश देखे। उन कोशों में और भी प्राचीन कोशों का उल्लेख है, ऐसा कहा जाता है। परंतु ये सब कोश अभी तक अनुपलब्ध ही हैं। इन आरंभिक कोशोल्लेख के पश्चात् शिवा जी के समय के 'राज्यव्यवहारकोश' तक कोई कोश नहीं मिलता। यह मध्यम-काल धार्मिकता और श्रद्धा का होने के कारण संभव है कि वैज्ञानिक विवेचन को सहायता देनेवाले कोश जैसे साहित्य की इस काल में आवश्यकता विशेष न रही हो। शिवाजी की राजव्यवहार कुशलबुद्धि को ऐसे एक कोश की आवश्यकता जान पड़ी होगी, परंतु उनकी प्रेरणा से बने इस कोश के पश्चात् एक सदी तक कोई कोश नहीं बना। पेशवाई के अंतिम दिनों में अंग्रेजी कोशों की प्रेरणा से कोशरचना आरंभ हो गई। अंग्रेजों ने पराजित राष्ट्र को सभी अच्छाइयों को आत्मसात् करने के हेतु भारतीय भाषा और संस्कृति का अध्ययन आरंभ किया। मिशनरी इस कार्य में सर्वप्रथम अग्रसर हुआ। कलकत्ता के पास सीरामपुर मिशन के 'शिलाप्रेस' पर मराठी का व्याकरण छापा गया। १८१० में मोड़ी लिपि में मराठी-अंग्रेजी कोश बनाया गया। पं० विद्यानाथ अथवा वैजनाथ शर्मा नामक नागपुर के भोंसले के कलकत्ता निवासी वकील ने इसे तैयार किया। आधुनिक मराठी साहित्य में अंग्रेजी के संसर्ग से निर्मित यह प्रथम कोश है। डॉ० विलियम केरी ने अपना धर्महित और देशहित चाहे साध्य किया हो, परंतु मराठी भाषा उनकी ऋणी रहेगी। उनकी ही प्रेरणा से मुद्रित ग्रंथों की संख्या मराठी में बढ़ने लगी। उपरोल्लिखित प्रथम कोश के १४ वर्ष बाद १८२४ ईस्वी में कर्नल केनेडी ने एक कोश बनाया। अभी भी कोश-निर्माण में दृष्टि केवल सुविधा की ही थी। भारतीय महाराष्ट्रीय और आंग्लमिशनरियों के बीच में परस्पर व्यवहार कैसे अधिक सुगमता से हो सकेंगे, यही प्रधान उद्देश्य इन कोशों का था। संभव है कि शिवा जी काल और अंग्रेजों के अभ्युदय-काल के बीच में भी कुछ कोश बने हों, जो मराठी-फारसी, फारसी-मराठी, मराठी-पोर्चुगीज, पोर्चुगीज-मराठी इत्यादि रूप में हों और जो राजदरबारों में दुभाषिये के काम आते रहे हों और उनकी ही सहायता से ये मुद्रित कोश बनते रहे हों। परंतु इन कोशों को असंतोषजनक मान कर ई० १८२९ में पूर्णतः भारतीय विद्वानों की समिति द्वारा निर्मित एक कोश रचा गया। इस समिति में पं० छावे, फड़के, जोशी, शुक्ल और परशराम पंत गोडबोले प्रमुख थे। यह कोश पहले

के कोशों से आकार-गुणों में अधिक वितृस्त और उत्तम है। १८३१ में मोल्सवर्थ ने एक नवीन शब्दकोश बनाया, जो उसके पूर्व के सभी कोशों से अधिक वैज्ञानिक और शब्दों के चुनाव, संख्या, अर्थ आदि सभी दृष्टियों में बेहतर है। अभी भी मोल्सवर्थ का यह कोश प्रमाणभूत माना जाता है। परिश्रमपूर्वक, विवेचकबुद्धि से वह बनाया गया था। मेजर क्यांडी ने इसी कोश की दूसरी आवृत्ति में वे दोष सुधार दिये, जो पहले संस्करण में रह गये थे।

इनके बाद के कोश इस प्रकार थे—गीर्वाण लघुकोश (ज० वि० ओक—१८३७); संस्कृत प्राकृत कोश (अनंतशास्त्री तलेकर—१८५३; और माधव चन्द्रोबा—१८७०); हंसकोश (र० भ० गोडबोले—१८५३); विग्रहकोश—धातुव्युत्पत्तिकोश (वं० शा० सं० गोपालशास्त्री घाटे—शिलाल्लिखित—१८६७); संस्कृत-महाराष्ट्र धातुकोश (विष्णु परशराम पंडित—१८६५); बाबा पदम जी और वा० गो० आप्टे के कोश—१८६३; रत्नकोश—बा० भ० बीडकर—१८६६; नवीन किंवा सुपरकोश—र० भ० गोडबोले—१८७०; संस्कृत-प्राकृत कोश—ना० आ० गोडबोले—१८७२; आदि कोश निबंधमाला युग तक लिखे गये।

इसके पश्चात् कोशसाहित्य के दृष्टिकोण में विचित्र परिवर्तन होने लगा। कोशनिर्माण की ओर जिस वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति पाश्चात्यों ने प्रचलित की उसका संसर्ग इधर भी बढ़ा। पहले की संकुचित दृष्टि दूर होकर उसे व्यापक रूप मिलने लगा। इस बात का प्रमाण जनार्दन हरी आठले और राव जी केशव सांबारे का दुर्भाग्य से अधूरा पड़ा हुआ विश्वकोश है। पहिले लेखक के कोश का नाम विद्यामाला (१८७८) और दूसरे लेखक के कोश का नाम विद्याकल्पतरु है। लो० तिलक के एक सहाध्यायी माधवराव नाम जोशी ने भी एक विस्तृत कोशरचना का सूत्रपात किया था। वह प्रयत्न उनके असामयिक निधन से अपूर्ण रहा। शुद्ध मराठी कोश (वि० रा० बापट और बा० वि० पंडित—१८९१) से केवल शब्दार्थ न देते हुए कुछ अधिक जानकारी देने का प्रयत्न होने लगा ये कोश हैं: स्थल नामकोश (गो० बा० वैद्य और बा० व० भरकरे—१८९६); ऐतिहासिक स्थल सूची (गो० का० चांदारेकर); अपभ्रष्टशब्दचंद्रिका (प्र० रा० पंडित—१८७८); व्युत्पत्तिप्रदीप (गो० शं० बापट—१९०८)।

अब कोश साहित्य के अन्य क्षेत्र भी खुलने लगे और भारतवर्ष के प्राचीन ऐतिहासिक चरित्रकोश (र० भा० गोडबोले); राजकोश (अ० सी० काकेले); वाक्यप्रचार और कहावतों का कोश (सोलंकर; देशपांडे-तारलेकर; छत्रे; आपटे; वि० बा० भिडे); संख्यावाचक दुर्बोधशक कोश (रघुनाथ देवसी मुले) के साथ-साथ अन्य भाषाओं के कोश भी बनने लगे, यथा पोर्चुगीज-मराठी (सूर्याजी आनंदराव राजादिक्ष दलवी); कन्नड-मराठी (ना० मो० रुद्रे); बंगाली-मराठी (बा० गो० आपटे); फारसी-मराठी (माधवराव पटवर्धन, आदा चांदोरकर); हिंदी-मराठी (न० त० कातगडे उर्फ़ मुंडलिक और वैशंपायन) 'ट्वेंटिएथ सेंचुरी' अंग्रेजी-मराठी डिक्शनरी (श्री० रानडे); अमरकोश का मराठी भाषांतर। मराठी शब्द रत्नाकर (बा० गो० आपटे) और शब्दसिद्धिनिबंध (आठवले, आगाशे) कोश साहित्य के प्रधान स्तंभ माने गये हैं।

कोश-साहित्य की दृष्टि अब अधिक व्यापक होने लगी। ज्ञान की सीमाएँ ज्यों-ज्यों बढ़ने लगीं, इस ओर माँग भी बढ़ती गई। डॉ० केतकर का महाराष्ट्र ज्ञानकोश इसी माँग की पूर्ति है। डॉ० केतकर के कोश की तुलना में भारतीय साहित्य की अन्य भाषाओं में विरले ही ग्रंथ होंगे। वि० च० भिडे का १७ खंडों का शब्दकोश, सरस्वतीकोश; सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव का वैदिक साहित्य का अध्ययन सुलभ बनाने की दृष्टि से चरित्र-कोश; गं० र० मुजुमदार का व्यायाम-ज्ञानकोश—ग.रं.भिडे का पाँच खंडों में 'व्यवहारज्ञानकोश', इनके अलावा वनस्पतिकोश, वैज्ञानिक शब्दकोश, समाजी शासन शब्दसंग्रह, वाङ्मय सूची, पारिभाषिक शब्दकोश, रसकोश आदि कई अभिनव ग्रंथ इस दिशा में मिलते हैं। हाल में मानसशास्त्रशब्दकोश प्रा० वाडेकर ने प्रकाशित किया है। इस प्रकार से कोश साहित्य का महावृक्ष बहुत दूर-दूर तक फैलता जा रहा है।

ग्वालियर]

रासयुग के गुजराती-साहित्य की झलक

श्री केशवराम काशीराम शास्त्री

विक्रम की पंद्रहवीं सदी के अंतिम पचीस वर्षों में गुर्जर भाषा के आदि-कवि का गौरव प्राप्त करने का सौभाग्य पाने वाले जूनागढ़ के नागर कवि नरसिंह मेहता ने अपनी ओर से एक विशिष्ट प्रकार की काव्यधारा प्रवाहित की। उससे पहिले गुजराती भाषा में कुछ भी साहित्य नहीं था, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में इस विषय में जो कुछ संशोधन हुए हैं, उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष में अन्य सहोदरा भाषाओं के साहित्य का जब तक प्रारंभ भी न हुआ था, गुजरात में भाषा बहुत संस्कार पा चुकी थी। गौर्जर अपभ्रंश के संरक्षक आचार्य हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश का व्याकरण देते हुए हमें जो लोकसाहित्य का परिचय दिया है उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस भूमि में विपुल साहित्य का सृजन हो चुका था। संभवतः उस समय वह अस्त-व्यस्त रहा होगा। अपभ्रंश साहित्य तो बड़े परिमाण में ग्रंथों में आ गया था, पर उसमें केवल गुजराती भाषा ही प्रयुक्त हुई है, ऐसा कहने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। वह तो भारतवर्ष में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी पर्यंत राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत सामान्य अपभ्रंश के साहित्य का एक अंग है, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त है। जब भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' की रचना हुई तब हमें अपने साहित्य को असली रूप में देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुजरात देश की भी अपनी निजी भाषा थी, इस बात के अभी तक प्राप्त प्रमाणों में प्राचीनतम प्रमाण यही ग्रंथ है। भोज का "अपभ्रंशेन तुष्यंति स्वेन नान्येन गुर्जराः" (स० कं० २-१३) यह मधुर कटाक्ष यहाँ के लोकसाहित्य की अस्पष्ट स्मृति कराता है, यद्यपि भोज के उल्लिखित उदाहरणों में हमें प्रान्तीय भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रकार का लाभ तो हमें सर्वप्रथम आचार्य हेमचंद्र के द्वारा ही मिला। अपभ्रंश का व्याकरण देते हुए आचार्य हेमचंद्र ने लोक-साहित्य में से चुन-चुन कर अनेक दोहे हमारे लिए एकत्र कर दिये हैं। सबसे पहिले उनमें हमें इस देश की रसिकता का स्वाद मिलता है। एक प्रभावशाली चित्र देखिये—

वायसु उड्डावन्तिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥ (८-४-३५२)

विरहिणी सूख कर काँटा हो गई है। विरह के कारण वह मंगल-सूचक कौवे को उड़ाने जाती है[1] और उसकी दुबली कलाई में से आधी चूड़ियाँ निकल पड़ती हैं। इतने में वह अपने प्रियतम को आता देखती है और इस हर्षावेग से उसका शरीर प्रफुल्लित हो जाता है। आनंद के उद्रेक से उसकी दुबली कलाइयाँ रक्त से इतनी भर उठती हैं कि शेष चूड़ियाँ कलाई में न समा सकने के कारण तड़ातड़ टूट जाती हैं।

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुं वि न पूरिअ आस॥ (८-४-३८३)

हे पपीहे! तू 'पिउपिउ' चिल्लाते-चिल्लाते हताश हो गया है, किन्तु जल ने तेरी आशा पूरी नहीं की। मेरे प्रियतम ने भी मेरी आशा पूर्ण नहीं की है।

---

[1] जब गृह-प्रांगण में कौवा बोलता है तो उस दिन किसी अतिथि के आने की संभावना की जाती है। गुजरात की इसी मान्यता की ओर यहाँ संकेत है—लेखक।

पिय संगमि कउ निद्दडी पिग्रहो परोक्खहो केम्व ।
मइं विन्नि वि विन्नासिग्रा निद्द न एम्व न तेम्व ॥ (८-४-४१८)

प्रियतम साथ होते हैं तो आनंदोल्लास के कारण नींद नहीं आती । साथ नहीं होते तो विरह-दुःख के कारण आँख नहीं लगती । इस प्रकार मिलन और विछोह दोनों प्रसंगों में मेरी नींद चली गई है ।

ऐसे अनेकों शृंगार, वीर, करुण आदि रस के सारगर्भित उदाहरण आचार्य हेमचंद्र ने दिये हैं । इन्हें देखने से अनुमान होता है कि इस लोक में कितना विपुल साहित्य बिखरा हुआ पड़ा है । इस प्रकार का साहित्य निरंतर बढ़ता ही गया है । साहित्य के ग्रंथों में उसका अधिकांश सम्मिलित नहीं हुआ है, पर इस प्रदेश में वह अभी तक व्याप्त है । श्री झवेरचंद मेघाणी आदि लोक-साहित्य के प्रेमियों ने उसे पर्याप्त परिमाण में संगृहीत करके इस देश की रसिकता, वीरता आदि का हमें स्पष्ट परिचय दिया है ।

एक ओर रसिकता-पूर्ण लोक-साहित्य पनपा तो दूसरी ओर अन्य प्रकार का साहित्य भी फला-फूला । अनेक साहित्यकारों ने हैम-युग में साहित्य-सृजन किया, पर उसमें हमें भाषा के असली रूप का आभास नहीं मिलता । यह चीज़ तो हमें रासयुग के साहित्यकारों की रचनाओं में ही दिखाई देती है । सं० १२४१ में निर्मित वीररस से पूर्ण शालिभद्र सूरिकृत "भरतेश्वर बाहुबलिरास" नामक रास-काव्य अभी तक ज्ञात-कृतियों में प्राचीनतम कृति है, जिसमें इस देश की बोली असली स्वरूप में हमें मिलती है ।

जोईय मरह नरिंद कटक मूंछह वल घल्लइं,
कुण बाहूबलि जे उ वरव मइं सिउं वल बुल्लइ ।
जइ गिरिकंदरि विचरि वीर पइसंतु न छूटइ,
जइ थली जंगलि जाइ किम्हइ तु सरइ अपूटइ ॥१३०॥

इस देश का साहित्यकार भी यहाँ अपनी मूछों पर ताव देता जान पड़ता है । रासयुग के लगभग ढाई सौ वर्ष के पश्चात् जैन कवियों ने रास, फागु, बारमासी, धवलगीत, कक्का इत्यादि अनेक प्रकार का समृद्ध साहित्य इस देश को भेंट किया । इसमें से प्रकाशित तो बहुत कम हुआ है । अभी तो कई सौ की संख्या में पांडुलिपियाँ भंडारों में दबी-छुपी पड़ी हैं । फिर भी जो कुछ प्रकाशित हुआ है उससे रासयुग की भव्यता का परिचय मिलता है ।

रासयुग की कविता धार्मिक परिधि में बंधी हुई है । अतः प्रथम दृष्टि में उसमें हमें धार्मिकता का ही आभास होता है, पर उसका सूक्ष्म अध्ययन करने पर धार्मिक तत्त्व तो केवल कथा-वस्तु तक ही सीमित दीख पड़ता है । उस कथा-वस्तु की गोद में वास्तविक कवित्व ओत-प्रोत दिखाई पड़ता है । नेमिनाथ और राजिमती को लक्ष्य करके लिखे गये भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक काव्यों में हमें असली काव्य के दर्शन होते हैं ।

बारमासी विरह की महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति होती है । यह चीज़ रासयुग में पनपी है । चौदहवीं सदी के पूर्वार्ध में 'नेमिनाथ-चतुष्पदिका' नामक बारमासी-काव्य विनयचन्द्र सूरि नामक एक जैन साधु ने तैयार किया था । निर्दोष विप्रलम्भ शृंगार का ऐसा काव्य हमारी भाषा में तो शायद अपूर्व है । उसकी भाषा की समृद्धि भी सम्मान की वस्तु है ।

श्रावणि सरवणि कडुयं मेहु गज्जइ विरहि रिझिज्झइ देहु ।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नमिहि विणु सहि सहियइ केम ॥२॥

सावन की बौछार गिरती है, कटु मेघ गर्जन करता है, विरह के कारण शरीर क्षीण होता है, राक्षसी जैसी विद्युत चमकती है । हे सखि ! नेमि के बिना यह सब कैसे सहा जाय ?

फागु में वसन्त-क्रीड़ा का वर्णन मिलता है । यह भी रासयुग की बारमासी जैसी दूसरी आकर्षक वस्तु है ।

राजशेखर ने चौदहवीं सदी के सन्धिकाल में 'नेमिनाथ फागु' नामक फागु-काव्य का निर्माण किया था। इसमें भी नायक और नायिका नेमिनाथ व राजिमती हैं। कवि उसमें पूर्ण रूप से चमक उठता है—

राइमए सम तिहु भुवणि अवर न अत्यइ नारे।
मोहणविल्लि नवल्लडीय उप्पनीय संसारे ॥७॥

अह सामल कोमल केशपास किरि मोरकलाउ।
अद्धचंद सम् भालु मयणु पोसइ भडवाउ।
वंकुडियालीय भुंहडियहं भरि भुवणु भमाडइ।
लाडी लोयण लह कुडलइ सुर सग्गह पाडइ ॥८॥
किरि सिसिबिंब कपोल कन्नहिंडोल फुरंता।
नासावंसा गरुड़चंचु दाड़िमफल दंता।
अहरपवाल तिरेह कंठु राजलसर रूडउ।
जाणु वीणु रणरणइं जाणु कोइल टह कडलउ ॥९॥

सरस तरल भुयवल्लरिय सिहण पीणघणतुंग।
उदरदेसि लंकाउलि य सोहइ तिवल-तुरंग ॥१०॥

अह कोमल विमल नियंबबिंब किरि गंगा पुलिणा।
करि कर ऊरि हरिण जंघ पल्लव कर चरणा॥
मलपति चालति बेलडीय हंसला हरावइ।
संझारागु अकालि बालु नह किरणि करावइ ॥११॥

तीन लोक में राजिमती जैसी स्त्री नहीं है, मानों संसार में अद्‌भुत मोहन वेल प्रकट हुई है। उसके श्याम रंग के कोमल केश मानों मयूर के पिच्छ कलाप हैं। अर्ध-चन्द्र जैसा उसका ललाट वलवान चरणों वाले कामदेव का पोषण करता है। उसकी तिरछी भौंएँ संसार को उन्मत्त बनाती हैं और आँखों के मधुर संकेतों से वह स्वर्ग के देवों को भी आकृष्ट कर लेती है। उसके कपोल कान रूपी झूले पर झूलते हुए चन्द्रमा के बिम्ब जैसे हैं। नाक गरुड़ की चंचु जैसी और दाँत अनार के दाने जैसे। उसके ओष्ठ प्रवाल जैसे लाल और कंठ सुन्दर है, मानों वीणा बोल रही हो या कोयल गा रही हो। भुजाएँ सीधी व चपल हैं, स्तन पीन घन और तुंग है। उसके उदर प्रदेश में तीन रेखाएँ शोभा देती हैं। गंगा के किनारों जैसे कोमल विमल नितम्ब हैं। जंघाएँ हाथी की सूंड़ जैसी, घुटनों का प्रदेश मृग जैसा व हाथ-पाँव पल्लव जैसे हैं। मदभरी चाल से चलती हुई लता जैसी वह हंसों को परा-जित करती है और वह बाला अपने नखों की किरणों से सन्ध्या का रंग जमाती है।

मानों मदभरी चलती हुई उस बाला की भाँति गुजराती-कविता भी आगे बढ़ती चली जाती है।

अहमदाबाद]



ऐतिहासिक महत्त्व की एक प्रशस्ति

श्री साराभाई मणिलाल नवाब

मेरे संग्रह में संवत् १४७३ की श्री स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में धर्मघोषसूरि विरचित 'कालिकाचार्य कथा' की तेरह पृष्ठ की एक हस्तलिखित प्रति है। उसके नवें पृष्ठ की आठवीं पंक्ति से तेरहवें पृष्ठ तक अड़तालीस श्लोक की एक सुन्दर प्रशस्ति है। उसके पैंतालीसवें श्लोक में प्रति लिखवाने तथा उसे चित्रित कराने के वर्ष का और जहां वह लिखी गई थी उस नगर का उल्लेख है। सैंतालीसवें श्लोक में उस प्रति के लेखक सोमसिंह और उसके लिए पांच चित्र बनाने वाले चित्रकार देईयाक का नाम भी दिया हुआ है। चित्रकार का नामोल्लेख इस प्रति की विशेषता है।

इस प्रशस्ति में श्वेताम्बरीय जैनतीर्थ जैसे शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, अन्तरीक्ष जी, जीरावला और कुल्पाक का उल्लेख है, जो जैनतीर्थों के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जैन-भंडारों में सुरक्षित हजारों ग्रन्थों में से शायद ही किसी ग्रन्थ के अन्त में ऐसी सुन्दर एवं विस्तृत प्रशस्ति मिलती हो। अतः बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री से परिपूर्ण इस प्रशस्ति को हम यहाँ मूलरूप में उसके अनुवाद सहित देते हैं और आशा करते हैं कि पाठकों के लिए वह लाभदायक सिद्ध होगी।

मूल प्रशस्ति इस प्रकार है—

प्रशस्तिः

पदत्रयी यस्य विभोरशेषतो विष्णोरिव व्याप जगत्त्रयीमिमाम्।
सद्भूतवस्तुस्थितिदेशकः सतां श्रीवर्द्धमानः शिवतातिरस्तु ॥१॥

गुणमणि लसदब्धिर्लब्धि लक्ष्मीनिधानं
गणधरगणमुख्यः शिष्यलक्षप्रधानम्।
शम-दमकृतरंगो गौतमः श्रीगणेशः
किसश(किश)लयतु शिवश्रीसंगमं शाश्वतं वः ॥२॥

विद्वन्मनःकमलकोमलचक्रवाले
या खेलति प्रतिकलं किल हंसिकेव।
तां शारदां सकलशास्त्रसमुद्रसान्द्र—
पारप्रदां प्रणमतां वरदां च वन्दे ॥३॥

भू भू (भु)ल्लब्धप्रतिष्ठे श्रितसुजनकृतोऽनन्तपापापहारे
प्रेङ्खन्च्छाखाविशेषे विपुलपरिलसत्सर्वपर्वाभिरामे।
उकेशाऽऽह्वानवंशे समजनि सुकृती व्यक्तमुक्तायमानः
श्रीमान् धीनाऽभिधानः सुगुणगणनिधिर्नायकः श्राद्धधुर्यः ॥४॥

तस्याऽङ्गजोऽजनि जगत्त्रयजातकीर्त्ति—
र्भोजाऽभिधः सुकृतसंततिमूर्त्तमूर्त्तिः।
तस्याऽपि याचककदम्बकदत्तवित्त—
लक्षश्च लक्ष इति पुत्र उदारचित्तः ॥५॥

तस्याऽङ्गजः पोयटनामधेयः समस्तलोकाद्भुतभागधे यः।
पत्न्योऽभवन् खीमसिरिश्च मुख्या ताल्हश्च पाल्हूरिति चास्यतिस्रः ॥६॥

तासां क्रमेण गुणगौरवशालिनोऽमी
पुत्रास्त्रयः समभवन् गुरुकीर्त्तिभाजः।
गाङ्गाऽऽह्वयोऽथ प्रथमः प्रथितो द्वितीयः
श्रीकामदेव इति चाथ च वामदेवः ॥७॥

गाङ्गाऽऽह्वयस्य जननी जज्ञे गुणश्रीरिति नामतः।
कपूराईरिति ख्याता कामदेवस्य वल्लभा ॥८॥

गाङ्गाऽऽख्यस्य बभूव भूरिविभवः संघेशराजाऽऽह्वयः।
पूर्वः पुत्रवरः प्रसिद्धमहिमा नायूस्तथा चापरः।
राजा संघपतिर्वसन् सुरगिरौ भूपालमान्यो व्यधा—
न्नानापुण्यपरम्परा गुरुतराः श्रीसंघभक्त्यादिकाः ॥९॥

श्रीशत्रुञ्जय-रैवतक्षितिधर-श्रीअर्बुद-श्रीपुर—
श्री जिराउलि-कुल्यपाकप्रमुखश्रीतीर्थयात्रा मुदा।
कालेऽत्रापि कलौ कराल ललिते चक्रे स संघाधिपो
वर्षन्नर्थिजने घनाघन इव द्रव्याणि पानीयवद् ॥१०॥

एवं विधैस्तैर्वि(र्वि)विधोत्सवव्रजैः
श्रीशासनं जैनमिदं स संघपः।
उद्योतयामास तया यथा स्फुर—
त्करप्रसारैर्गगनाङ्गणं रविः ॥११॥

इतश्च—

ऊकेशाऽऽह्वे विशदजननेऽजायत श्राद्धधुर्यो
धन्यो मान्यो निखिलविबुधां जैत्रसिहो धनीशः।
श्रेयः श्रीमांस्तवनु च जयात् सिहनामा प्रभावा—
दासीद् दासीकृत खलकुलस्तस्य पुत्रः पवित्रः ॥१२॥

तस्यापि पुत्रो धितजैनधर्मो लक्ष्मीधराऽऽख्योऽभवदद्भुत श्रीः।
अमुष्य पत्नी च समस्ति नाम्ना रूपी मनोहारिगुणाम्बुकूपी ॥१३॥

हरराज-देवराजौ खीमराजस्तथाऽपरः।
इति त्रयस्तयोः पुत्राः पवित्राः पुण्यतोऽभवन् ॥१४॥

हरराजस्य जायाऽस्ति नाम्ना हांसलदेरिति।
चन्द्रोज्ज्वलकलाशीला धर्मकर्मसु कर्मठा ॥१५॥

नाम्ना नरपतिः पूर्वः पुण्यपालो द्वितीयकः।
तृतीयो वीरपालाऽऽख्यस्तुर्यः सहसराजकः ॥१६॥

पञ्चमो दशराजश्च पञ्चेति तनयास्तयोः।
आसते भूरिभाग्याऽऽढ्या देमाईर्दुहिता तथा ॥१७॥ युग्मम् ॥

राजाऽभिधस्याजनि संघपस्य
सधर्मिणी धर्मपरायणेयम् ।
यथैव लक्ष्मीः पुरुषोत्तमस्य
हरेः शचीवाऽथ हरस्य गौरी ॥१८॥

सारङ्गः प्रथमोऽर्थिनां सुरतरुप्रख्यो द्वितीयस्तथा—
वार्योदार्यरमा निरस्तधनदः श्रीरत्नसिंहाऽभिधः ।
तार्तीयीक-तुरीयकौ च सहदे-श्रीतूकदेवाऽऽह्वयौ
चत्वारश्चतुरा जयन्ति तनया एते तयोर्विश्रुताः ॥१९॥

तील्हाईः पल्हाई-रयणाईनामका च लीलाईः ।
सन्त्येताश्च चतस्रः पुत्र्यः पात्रं गुणश्रेणेः ॥२०॥

संघेशो नूनराजो जगति विजयते कामदेवस्य पुत्रः
सर्वत्रामात्रसर्पन्निजविमलयशः पूर्णविश्वत्रयीकः ।
पुत्री पात्रं गुणानां जयति च भबकूः शम्भुशीर्षस्यगङ्गा
रङ्गत्तुङ्गत्तरङ्गस्नपितसितकरोज्ज्वलयतुल्यस्वशीला ॥२१॥

नूनाऽऽह्वसंघाधिपतेः समस्ति प्रिया जयश्रीरिति धर्मनिष्णा ।
आस्ते महादेव इति प्रसिद्धः सुतस्तयोर्भूरि रमासमृद्धः ॥२२॥

पुत्रीद्वयं च कन्हाईः सोनाईरिति चापरा ।
महादेवाङ्गजः साधुरश्वधीरः सुधीवरः ॥२३॥ युग्मम् ॥

एतावता निजकुटुम्वयुतेन तेन नूनाऽऽह्वसंघपतिना वसताऽमराद्रौ
श्रीअन्तरिक्षमुखतीर्थ विचित्रयात्रा मुख्या [:] कृता विविधपुण्यपरम्परास्ताः ॥२४॥

इतश्च—

श्रीमद्दक्षिणदेशसंघसहितो नूनाऽऽह्वयः संघपः ।
श्रीशत्रुञ्जय-रैवता-ऽर्बुदगिरि-श्रीतीर्थयात्राचिकीः ।
प्राचालीन्महता महेन मतिमान् श्रीगूर्जरात्रां प्रति
श्रीमच्छासनकाननं प्रतिपदं दानाम्वुभिः सिञ्चयन् ॥२५॥

यात्रायां यस्य जात्योत्तरल तरचलद्वाजिराजिप्रभूत—
प्रोत्सर्पत्पृष्ठवाह्यप्रकर रयभरोद्धूतधूलीकलापे ।
व्याप्ताऽऽकाशाऽवकाशे स्थगितरुचिरवौ रात्रिकल्पा दिवासीद् ।
रात्रिश्चासीद् दिवेव प्रसरति परितो दीपिकानां प्रकाशे ॥२६॥

दिङ्मातङ्गास्तुरङ्गप्लवनपरिचलद् भूभरोद्भुग्नशीर्षाः
शेषेक्ष्मा पीठभारं सकलमपि ददुः सोऽपि कूर्माधिराजे ।
तद्भाराद् भङ्गुराङ्गः स च पुनरभवद् (त्) कुञ्जितस्वाङ्ग इत्थं ।
यत्र श्रीतीर्थयात्रां प्रति चलति समेऽमी विमुक्ताऽधिकाराः ॥२७॥

यात्राक्षणे यस्य रजोभिरुद्धुतैर्लेभेऽन्वयो निर्जरसिन्धुपङ्कजैः ।
श्रीतीर्थिकस्नात्र जलप्रवाहैः समुच्छलद्भिः स्थलवारिजैश्च ॥२८॥

तत्र च—

स्फूर्जद गूर्जरमण्डलाधिपसुरत्राणेन सन्मानितः
श्रीयात्राफरमाणदानविधिना चीरप्रदानैस्तदा ।
भव्याद्यैश्च तदीयशाखिभिरपि श्रीतीर्थयात्रा असौ
जीरापल्लिमुखा व्यधाप्यत पुरो भूत्वा महाप्रीतितः ॥२६॥

दुष्टेऽस्मिन्नपि दुष्यमाह्व समये श्रीतीर्थयात्रा इति
द्रव्योत्सर्जनविस्तरेण महताऽनेनाऽऽदरात् कुर्वता ।
क्ष्मापाला-ऽऽम्रकुमारपालनृपति-श्रीवस्तुपालादयः
सर्वेऽपि स्मृतिगोचरं विरचिताश्चित्रैश्चरित्रैः स्वकैः ॥३०॥

विधाय यात्राः सकला अयाऽयं श्रीपत्तनाऽऽह्वानपुरे समागात् ।
श्रीशासनं जैनमिदं प्रभावयन् प्रभूतलक्ष्मीव्ययतोऽर्थिनां व्रजे ॥३१॥

तत्राऽय चन्द्रगण पुष्करसूरकल्पाः
श्री सोमसुन्दर गुरुप्रवरा गणेशाः ।
संघेश्वरेण विनता विहिता च गुर्वी
प्रोद्दीपना जिनमतस्य महोत्सवौघैः ॥३२॥

श्रीस्तम्भतीर्थ-पुरपत्तनतीर्थ सार्य—
कर्णावती प्रमुख भूरि पुरेष्वनेन ।
संघः समश्च सकलं मुनिमण्डलं च
स्फूर्जद्दुकूलवसनैः परिधाप्यतेऽस्म ॥३३॥

इतश्च—

संघाधीशो राजमल्लस्य पत्नी देमाईः सा तीर्थयात्रामुखानि ।
कुर्वाणा श्रीपुण्यकृत्यानि नाना तेने ह्युद्यापनादीनि तत्र ॥३४॥

श्रीदानशील प्रमुखान सङ्ख्यान् गुणोत्करांश्चन्द्रकलोज्ज्वलांस्तान् ।
कः कोविदः श्लाघयितुं समर्थस्तस्याश्च संघाधिपराजपत्न्याः ॥३५॥

तथाहि—

निरीक्ष्य शीलं विमलं यदीयं स्वतः शशाङ्कः किल खिद्यमानः ।
एकैकयाऽयं कलया प्रहीयते दिने दिने तामपकर्त्तुमक्षमः ॥३६॥

श्रीसंघभक्ति-गुरु-पुस्तकलेखनाऽऽदि—
श्रीतीर्थ सार्थ करण प्रमुखाणि हर्षाद् ।
पुण्यानि या प्रतिदिनं कुरुते स्वकीय—
द्रव्यव्ययाद् बहुविधान्यपि याऽपराणि ॥३७॥

श्रीपौषधाऽवश्यकमुख्यधर्म्य कर्माणि कर्माष्टक भेदनानि ।
धर्मामृतोद्भावितसप्तधातु र्यातन्तनोति प्रवरप्रमोदात् ॥३८॥

क्षेत्रेषु सप्तस्वपि भव्यभावाद्(त्) स्वद्रव्यबीजं विपुलं मुदेति ।
या वापयामास परत्र लोके संख्याऽतिगश्रीभरवृद्धिहेतोः ॥३९॥

तत्रैवाऽथो पत्तने श्रीगुरूणां तेषां भव्यप्रार्थितस्वस्तरूणाम् ।
देमाईः सा श्राविकावर्गमुख्याऽश्रौषीद् (त्)हर्षाद् देशनावाणिमित्थम् ॥४०॥

तथाहि—

न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति न मूकतां नैव जडस्वभावम् ।
न चान्धतां बुद्धिविहीनतां च ये लेखयन्तीह जिनस्य वाक्यम् ॥४१॥

लेखयन्ति नरा धन्या ये जिनाऽऽगमपुस्तकम् ।
ते सर्ववाङ्मयं ज्ञात्वा सिद्धि यान्ति न संशयः ॥४२॥

पठति पाठयते पठतामसौ वसन-भोजन-पुस्तक-वस्तुभिः ।
प्रतिदिनं कुरुते य उपग्रहं स इह सर्व विदेव भवेन्नरः ॥४३॥
विशेषतः श्रीजिनवीरभाषितं श्रीकल्पसिद्धान्तममुं समुद्यताः ।
ये लेखयन्तीह भवन्ति ते ध्रुवं महोदयाऽऽनन्दरमानिरन्तरम् ॥४४॥

निशम्य तेषामिति देशनागिरं चिरं किरन्तीमुदयं महैनसाम् ।
विशेषतः पुस्तकलेखनादिके श्रीधर्मकृत्येऽजनि सा परायणा ॥४५॥

श्रीस्तम्भतीर्थनगरे प्रवरे ततश्च श्रीकण्ठनेत्र-मुनि-विश्वमिते च वर्षे । (१४७३) ।
श्रेयःश्रियेवहुतरद्रविणव्ययेन
श्रीकल्पपुस्तकमिमं समलीलिखत् सा ॥४६॥

यावद् विभर्त्ति धरणीं शिरसा फणीन्द्रो
यावच्च चन्द्रतरणी उदितोऽत्र विश्वे ।
तावद् विशारदवरैरतिवाच्यमानाः
श्रीकल्पपुस्तकवरो जयतादिहैषः ॥४७॥

लिखितः सोमसिंहेन देईयाकेन चित्रितः ।
आकल्पं नन्दतादेष श्रीकल्पः सप्रशस्तिकः ॥४८॥
इति श्रीकल्पप्रशस्तिः समाप्ता ॥छ॥

अनुवाद

जिस परमेश्वर की पदत्रयी (उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप) ने विष्णु की भाँति तीनों लोक को व्याप्त कर दिया है, वह यथार्थ वस्तु स्वरूप का उपदेश देनेवाले श्री महावीर स्वामी सज्जनों के लिए कल्याण की वृद्धि करने वाले हों ॥१॥

गुणरूपी रत्नों के लिए लहराते हुए समुद्र के समान, लब्धिरूप लक्ष्मी के भंडार तुल्य, गणाधीशों के समुदाय के नायक, लाख शिष्यों के प्रधान, शम-दम में जिन्हें आसक्ति है, ऐसे सम्पत्ति भंडार के स्वामी श्री गौतमस्वामी कल्याण (मोक्ष)रूप-लक्ष्मी के संयोग को सनातन करो ॥२॥

जो पंडितों के मनरूपी कमल की कोमल पंखुड़ियों में और प्रत्येक कला में हंसिनी के समान खेलती है, उस समस्त शास्त्ररूपी समुद्र एवं वन को पार कराने वाली और प्रणाम करने वालों को वरदान देने वाली सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

राजाओं से जिसे सम्मान प्राप्त हुआ है और जो सज्जनों को आश्रय देने वाला और अनन्त पाप का हरण करने वाला है, जिसकी ध्वजाएँ फहरा रही हैं, जो अनेक विशाल पर्वों से सुशोभित है, ऐसे ऊकेश नामक वंश में चमकते मोती के समान सद्गुणों के समूहों का भंडार श्रावकों में अग्रणी और पुण्यशाली श्रीमान धीना नामक महान पुरुष हुआ ॥४॥

तीन लोक में जिसकी कीर्ति व्याप्त हुई और जो पुण्य कार्यों की साक्षात मूर्तिरूप है, ऐसा भोजा नामक उसका पुत्र हुआ। उसे भी भिक्षुकों के समुदाय को लाखों का दान देने वाला उदार-हृदय लक्ष नाम का पुत्र प्राप्त हुआ ॥५॥

उसके सारे संसार में अद्भुत सौभाग्यशाली पोपट (खोखट)नाम का पुत्र हुआ। उसके तीन स्त्रियाँ थीं-- (१) खीमसिरि (मुख्य पत्नी), (२) तारु और (३) पाल्हु ॥६॥

गुण के गौरव से शोभायमान और अत्यन्त कीर्तिवान उनके तीन पुत्र हुए। (१) गाँगा, (२) कामदेव और (३) वामदेव ॥७॥

गाँगा के गुणश्री नाम की पत्नी थी और कामदेव की पत्नी का नाम कर्पूराई था ॥८॥

गाँगा के बड़ा ही वैभवशाली और प्रसिद्ध एवं महिमावान संघपति राजा नाम का पहला श्रेष्ठ पुत्र हुआ और दूसरा पुत्र नाथु नाम का हुआ। देवगिरि में रहने वाला राजाओं का मान्य यह संघपति राजा श्रीसंघ की भक्ति आदि अनेक प्रकार के पुण्य-कार्य करता था ॥९॥

इस घोर कलियुग में भी भिक्षुकों में वारीश के सदृश धन को पानी के समान बहाने वाले उस संघपति ने श्री शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, अन्तरीक्ष जी, जीरावला जी, कुलपाक जी आदि प्रमुख तीर्थों की यात्रा आनन्दपूर्वक की थी ॥१०॥

इस प्रकार के अनेकों उत्सवों के द्वारा उस संघपति ने जैन शासन को ऐसे प्रकाशमान किया जैसे सूर्य अपनी चमकती किरणों को फैलाकर आकाशमंडल को प्रकाशित करता है ॥११॥

और—

ऊकेश नामक निर्मल वंश में श्रावकों का प्रधान समस्त पंडितों का मान्य धन्यवाद का पात्र जैसिंह नाम का धनिकों में अगुआ हुआ। उसके पश्चात् अपने प्रभाव से समस्त खलपुरुषों के समूह को दास बनाने वाला जयसिंह नाम का पवित्र पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२॥

उसके अद्भुत लक्ष्मी वाला जैन धर्मानुयायी लक्ष्मीधर नाम का पुत्र पैदा हुआ। उसकी पत्नी मनोहरगुण-रूपी जल के कूप के समान रूपी नाम की थी ॥१३॥

पुण्य संयोग से उनके हरराज, देवराज और खेमराज नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥१४॥

हरराज के धर्म-कर्म में निपुण, चन्द्र की उज्ज्वल कला जैसी शीलव्रत वाली हाँसलदे नाम की पत्नी थी ॥१५॥

उसके नरपति, पुण्यपाल, वीरपाल, सहसराज और दमराज नामक पाँच बड़े भाग्यशाली पुत्र हुए और देमाई नाम की एक कन्या हुई ॥१६, १७॥

देमाई संघपति राजा की धर्मपरायणा पत्नी थी, विष्णु की लक्ष्मी, इन्द्र की शची अथवा महादेव की पार्वती के सदृश ॥१८॥

उनके माँगने वाले के लिए कल्पवृक्ष के समान (१) सारंग नाम का, (२) जिसने अविरल औदार्यरूप लक्ष्मी से कुबेर को परास्त किया है, ऐसा रत्नसिंह नाम का, (३) सहदेव और (४) श्री सूकदेव नाम के प्रख्यात चार चतुर पुत्र हुए ॥१९॥

और उनके (१) तील्हाई, (२) पल्हाई, (३) रयणाई और (४) लीलाई नाम की गुणों के समूह की भाजन चार पुत्रियाँ थीं ॥२०॥

चारों ओर निर्मर्याद फैलते हुए अपने निर्मल यश से जिसने तीनों लोकों को भर दिया है ऐसा संघपति नूनराज नाम का कामदेव का पुत्र संसार में जय पाता है, और कामदेव की झवकू नामक गुणवती और महादेव के मस्तक पर रही हुई गंगा नदी के उछलते हुए बड़े-बड़े तरंगों से घुले हुए चन्द की उज्ज्वलता के जैसा जिसका चरित्र है, ऐसी पुत्री जय पाती है ॥२१॥

संघपति नूना के धर्मपरायणा जयश्री नामक पत्नी थी। उनके बहुत लक्ष्मी वाला प्रसिद्ध महादेव नामक पुत्र और (१) कन्हाई और (२) सोनाई नामक दो पुत्रियाँ थीं। महादेव के बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अश्ववीर नामक साधुचरित पुत्र था ॥२२, २३॥

इस प्रकार अपने कुटुम्ब के साथ देवगिरि (दौलतावाद) रहते हुए संघपति नूना ने अनेक प्रकार के पुण्य की परम्परा रूप श्री अन्तरीक्ष आदि तीर्थों की अद्भुत यात्राएँ कीं ॥२४॥

और—

श्री शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू तीर्थ आदि की यात्रा के इच्छुक बुद्धिमान् संघपति नूना ने क़दम-क़दम पर दानरूपी जल से जैन-शासन रूपी वन को सींचते हुए दक्षिण देश के संघ के साथ बड़ी सजधज से गुजरात की ओर प्रयाण किया ॥२५॥

जिसकी यात्रा में उत्तम और अतीव आँखों के चलन से एवं रथों के समूह से उछली हुई धूल के समूह से आकाशमार्ग व्याप्त होने के कारण सूर्य अदृश्य हो जाने से दिवस रात्रि जैसा हो गया और दीपकों का प्रकाश चारों ओर फैल जाने से रात्रि दिवस जैसी हो गई ॥२६॥

अश्वों की दौड़ से कम्पायमान पृथ्वी के भार से जिनके सिर टूट गये हैं, ऐसे दिग्गजों ने पृथ्वी का समग्र भार शेषनाग को दे दिया, शेषनाग ने कच्छपराज को दे दिया वह भी उस भार से शरीरभग्न हो जाने से संकुचित अंग वाला हो गया। इस प्रकार सबके तीर्थयात्रा को जाते समय इन सब ने अपना अधिकार छोड़ दिया ॥२७॥

जिसके यात्रा के समय उड़े हुए धूल कणों से व उछलते हुए श्री तीर्थंकर प्रभु के स्नान के जल के प्रवाह से स्वर्गलोक के कमल और मर्त्यलोक के कमलों का मिलान हो गया ॥२८॥

उस समय—

दैदीप्यमान गूर्जर-मंडल के स्वामी सुलतान से यात्रा के फ़रमान और पोषाक के दान के द्वारा सम्मानित किये गये और उसकी जाति के भव्यजनों से भी सम्मानित किये गये उस संघपति ने अगुआ बन कर जीरावला आदि मुख्य तीर्थों की यात्राएँ कीं ॥२९॥

दुषम नामक इस दुष्ट समय में भी द्रव्य का बड़ा भारी त्याग करके इस प्रकार भावनापूर्वक तीर्थयात्राओं को करने वाले इस (संघपति) ने अपने अद्भुत चरित्र से आम्र राजा, महाराजा कुमारपाल, वस्तुपाल आदि सब को याद दिलाया है ॥३०॥

माँगने वालों के समूह में पुष्कल धन का व्यय करके भी जैनशासन की प्रभावना करता हुआ यह (संघपति) सब यात्राएँ करके श्रीपत्तन नामक नगर में आया ॥३१॥

वहाँ पर संघपति ने चन्द्रगण रूप कमल के लिए सूर्य समान गणाधीश श्री सोमसुन्दर नाम के बड़े गुरु का वन्दन किया और बड़े-बड़े उत्सवों के समूह से जिनमत की बड़ी भारी प्रभावना की ॥३२॥

श्री स्तम्भतीर्थ, (खम्भात) पाटन, अन्य तीर्थ और कर्णावती (वर्तमान अहमदाबाद) आदि अनेक नगरों में इसने समस्त संघ को और समस्त मुनिमंडल को उत्तम वस्त्र पहनाये ॥३३॥

और—

संघपति राजमल्ल की पत्नी देमाई ने भी वहाँ तीर्थयात्रा के प्रमुख पुण्यकार्य करते हुए मनोहर उद्यापन आदि किये ॥३४॥

संघपति राजमल्ल की उक्त पत्नी के चन्द्र की कला जैसे उज्ज्वल दानशील इत्यादि असंख्य उत्तम गुणों की प्रशंसा करने में कौन पंडित समर्थ है ? ॥३५॥

और—

जिसका निर्मल चरित्र देख कर उसे भ्रष्ट करने में असमर्थ चन्द्र स्वयं खेदपूर्वक प्रतिदिन एक-एक कला से क्षीण होता जाता है ॥३६॥

जो अपने धन के व्यय से संघभक्ति, गुरु-सेवा, ग्रन्थों का लिखवाना, तीर्थों का पर्य्यटन, इत्यादि पुण्यकार्य हर्षपूर्वक करती थी तथा अन्य अनेक प्रकार के पुनीत कार्यों में संलग्न रहती थी, जो बड़े आनन्द से अष्टकर्म के नाश करने वाले पौषध, आवश्यक प्रमुख धर्म-कृत्य और शरीर की सातों धातुओं में धर्मामृत का सिंचन करती थी, जो परलोक में अगणित धन प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने द्रव्य रूपी बीज को विपुल परिमाण में उत्तम भावना पूर्वक आनन्द से सातों क्षेत्रों में बोती थी, उस श्राविका वर्ग में श्रेष्ठ देमाई (श्राविका) ने वहीं पाटण में भव्यों के लिए कल्पवृक्ष रूपी उन गुरु का इस प्रकार धर्मोपदेश सुना ॥३७-४०॥

जैसे कि—

जो मनुष्य इस संसार में जिनागम लिखवाते हैं, वे दुर्गति को प्राप्त नहीं होते, न मूकता को, न जड़ता को और न अन्धेपन को, न बुद्धिहीनता को ॥४१॥

जो धन्यपुरुष जैनागम लिखवाते हैं वे सर्वशास्त्र को जान कर मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥४२॥

जो मनुष्य सर्वदा पढ़ता है, पढ़ाता है और पढ़ने वाले की पुस्तक इत्यादि चीजों से सहायता करता है, वह यहाँ सर्वज्ञ ही होता है ॥४३॥

विशेषकर जो उद्यमशील मनुष्य श्री वीर भगवान द्वारा कहे गये कल्पसूत्र के सिद्धान्त ग्रन्थ लिखवाते हैं वे अवश्य ही आनन्द स्वरूपी लक्ष्मी के समीपवर्ती होते हैं ॥४४॥

इनकी इस प्रकार की उपदेशवाणी को सुन कर चिरकालीन महापाप के उदय को काटती हुई वह आगमलेखन आदि धर्म-कृत्यों में विशेष रूप से आसक्त हुई ॥४५॥

पश्चात् श्रीस्तम्भ तीर्थ (खम्भात) नामक श्रेष्ठ नगर में संवत् १४३७ की साल में बहुत से धन का व्यय करके कल्याण रूपी लक्ष्मी के लिए देमाई ने कल्पसूत्र का ग्रन्थ लिखवाया ॥४६॥

जब तक शेषनाग सिर पर पृथ्वी को धारण करता है और जब तक सूर्य-चन्द्र संसार में उदित होते हैं तब तक श्रेष्ठ पंडितों द्वारा पढ़ा जाने वाला कल्पसूत्र का यह श्रेष्ठ ग्रन्थ जय पायेगा ॥४७॥

सोमसिंह द्वारा लिखित और देईयाक द्वारा चित्रित प्रशस्तियुक्त यह कल्पसूत्र युगपर्य्यन्त वृद्धिगन्त हो ॥४८॥

कल्पसूत्र की प्रशस्ति समाप्त

अहमदाबाद]



चौदहवीं सदी का गुजरात का राजमार्ग

श्री धीरजलाल धनजीभाई शाह बी० ए०

दिल्ली में अपना प्रभुत्व स्थापित करके अलाउद्दीन खिलजी ने धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार करना प्रारंभ किया। विक्रम् संवत् १३६९ तक सारा गुजरात उसके अधीन हो गया। इसी साल उसने जैनों के परम पवित्र तीर्थ शत्रुञ्जय के ऊपर धावा बोल दिया और मूलनायक श्री आदीश्वर प्रभु की मूर्ति को उसकी सेना ने खंडित कर दिया। इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख तत्कालीन 'समरारासु' और 'नाभिनन्दन जिनोद्धार-प्रबन्ध' में मिलता है।

'रास' और 'प्रबन्ध' में कथा-वस्तु एक ही है। उकेश वंश की पाँचवीं पीढ़ी में प्रह्लादनपुर (पालनपुर) में सल्लक्षण नामक एक जैन गृहस्थ रहता था। उसके प्रपौत्र देशल ने पाटण में स्थिर होकर धन व प्रतिष्ठा प्राप्त की। उसके तीन पुत्र थे—सहजपाल, साहणपाल और समरसिंह। शत्रुञ्जय पर्वत की मूर्ति के खंडित होने का समाचार पाकर समरसिंह को बड़ा दुख हुआ और उकेश गच्छ के आचार्य सिद्धसूरि के उपदेश से उक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने की तीव्र लालसा उसमें उत्पन्न हुई। अतः जीर्णोद्धार के लिए पाटण के सूबे की आज्ञा प्राप्त कर उसने आरासण पर्वत में से संगमर्मर की एक बड़ी शिला मँगवाई और उसमें से एक विशाल प्रतिमा का निर्माण कराया। तदनन्तर पाटण से एक विराट् संघ निकाल कर विक्रम संवत् १३७१ में शत्रुञ्जय के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा कर नवीन मूर्ति की प्रतिष्ठा की। वहाँ से गिरनार आदि स्थानों में होता हुआ संघ पाटण लौट आया।

रास-साहित्य में 'समरारासु'[1] की अनेक प्रकार की विशेषताएँ हैं। उसके रचयिता निवृतगच्छ के श्री अम्बदेव-सूरि समरसिंह के समकालीन थे। इतना ही नहीं, बल्कि समरसिंह के संघ में सम्मिलित हुए अनेक आचार्यों में से वे भी एक थे। इस दृष्टि से भी यह 'रास' उपयोगी है। इसके अतिरिक्त उस समय की भाषा, सामाजिक व राजनैतिक परिस्थिति का उल्लेख उसमें मिलता है। यह ग्रन्थ प्राचीन गुजराती भाषा में लिखा गया है।

'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके रचयिता श्री कक्कसूरि भी समरसिंह के समकालीन थे और संघ में वह भी सम्मिलित हुए थे। 'समरारासु' का रचनाकाल हमें ज्ञात नहीं है, पर ऐसा अनुमान होता है कि विक्रम संवत् १३७१के आसपास उसका निर्माण हुआ होगा, क्योंकि शत्रुञ्जय के जीर्णोद्धार के समय ग्रन्थकार वहाँ मौजूद थे। 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' की रचना विक्रम संवत् १३९३ में हुई। शत्रुञ्जय के उद्धार के पश्चात् लगभग बीस वर्ष के भीतर की कृति होने के कारण उसमें सामाजिक एवं राजकीय दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सामग्री मिल सकती है। 'प्रबन्ध' में २३४४ श्लोक हैं और उसके पाँच प्रस्तावों में से प्रथम व अन्तिम प्रस्ताव गुजरात के इतिहास और भूगोल के विषय में अच्छा प्रकाश डालते हैं।

'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' में उस समय के समूचे गुजरात का बहुत ही सजीव चित्र मिलता है। थोड़े-से शब्दों में लेखक ने उस प्रदेश का बड़ा ही सुन्दर चित्र अंकित कर दिया है। उस वर्णन में थोड़ी-बहुत कवि की कल्पना भी हो सकती है, फिर भी गुजरात का यथार्थ स्वरूप हमारे समक्ष आ ही जाता है।

उकेश वंश के वेसटकुल की चौथी पीढ़ी में सल्लक्षण नाम का एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ था। वह मारवाड़ के विराटपुर नगर की अपनी दुकान पर बैठा करता था। संयोग से गुजरात का एक सार्थवाहक अनेक किराणे लेकर उस नगर में आया। बाजार में होता हुआ जब वह जा रहा था तो सल्लक्षण ने कुतूहल से पूछा: "आप किस देश से

---

[1] देखिये 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' भाग १, पृष्ठ २७।

आये हैं और आपका वह देश कितना गुणवान व समृद्धिवान है ? उस देश के सर्वश्रेष्ठ नगर का विस्तृत वर्णन मुझे सुनाइए।"

सार्थपति ने कहा : "हे महाबुद्धिमान, मैं गुजरात से आ रहा हूँ। वास्तव में यदि मेरे मुख में एक हज़ार जिह्वा हों तभी मैं उस देश के गुणों का वर्णन कर सकता हूँ। फिर भी वहाँ के गुणों का संक्षेप में वर्णन करता हूँ।"

और सार्थपति गुजरात का निम्न शब्दों में चित्र खींचता है—

"गुजरात देश की भूमि हर प्रकार की धान्य-सम्पत्ति पैदा करने में समर्थ है। वहाँ बहुत-से पर्वत हैं। कुएँ जल से भरपूर हैं। इसी कारण उस भूमि में जल का अभाव नहीं। वहाँ नारंगी, मौसम्बी, जामुन, नीम, कदम, केल, सैंजना, कैंत, करौंदे, चिरौंजी, पीलु, आम, सीताफल, बहेड़ा, खजूर, दाख, गन्ना, मालती, खस, जूही आदि अनेक प्रकार के फल-फूल व लताएँ हैं। आपके सामने में कितने वृक्षों के नाम गिनाऊँ ? संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि संसार में जितने फल-फूल वाले वृक्ष हो सकते हैं वे सब उस देश में विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, उस देश की भूमि में एक ऐसा गुण है जिससे गेहूँ, ज्वार, बाजरा, उरद, मूंग, अरहर, धान सब तरह के अन्न पैदा होते हैं। वहाँ के निवासी समुद्र-तट पर थोड़ा-सा व्यापार करके बहुत-सा धन कमा लेते हैं। वहाँ सुपारी के टुकड़े और नागरवेल के पान मनुष्यों के मलीन मुख को रंगीन बना देते हैं। प्याऊ, कुएँ, तालाब और अन्न क्षेत्र आदि स्थलों में ठहरने वाले कोई भी यात्री अपने साथ खाने-पीने की सामग्री नहीं रखते। वहाँ बटोहियों को चलने के लिए सघन वृक्षों की पंक्ति मिलती है। इससे सूर्य का ताप कभी नहीं सताता। उस देश में शत्रुञ्जय, गिरनार आदि अनेक तीर्थ स्थित हैं, जो अपने उपासक भव्य जीवों को मोक्षपद प्राप्त कराते हैं। सोमनाथ, ब्रह्मस्थान, मूलस्थान तथा सूर्यतीर्थ आदि लौकिक तीर्थ भी वहाँ हैं। उस प्रदेश में सब लोग गहरे लाल रंग के और रेशम के वस्त्र धारण करते हैं। वहाँ मनुष्यों के उपकार सदाचार-व मिष्ट सम्भाषण से विद्वान पुरुष प्रसन्न होते हैं। यही कारण है कि उस देश को 'विवेकबृहस्पति' की उपाधि दी गई है। सचमुच संसार में जितने भी देश हैं, उनमें से कोई भी उसकी समता नहीं कर सकता। स्वर्ग तो मैंने देखा नहीं। इसलिए उसके साथ इस प्रदेश की तुलना नहीं कर सकता। वहाँ के छोटे-छोटे ग्राम भी अतुल वैभवयुक्त होने के कारण नगरों के समान हैं और नगरों की गिनती तो मैं आपके सामने कर ही नहीं सकता, क्योंकि स्तम्भतीर्थ आदि स्वर्ग जैसे असंख्य नगर उस भूमि में हैं। वहाँ पर प्रह्लादनपुर नाम का एक नगर है। मेरा अनुमान है कि स्वर्गलोक में भी उसके जैसा शायद ही कोई नगर हो। चूंकि उस नगर में धनोपार्जन के अनेक साधन मिल जाते हैं, इसलिए लोग उसे 'स्थल वेलाकूल' (ज़मीन का बन्दरगाह) के नाम से भी विभूषित करते हैं।"[1]

यह वर्णन सुन कर व्यापारी सल्लक्षण का चित्त प्रह्लादनपुर (पालणपुर) जाने के लिए चंचल हो उठा और वह थोड़े ही दिनों में वहाँ पहुँच गया।

इस संक्षिप्त वर्णन में कवि ने गुजरात के बारे में अनेक बातों का उल्लेख किया है। उस प्रदेश की धान्य-सम्पत्ति, धनवैभव, भूमि की उर्वरता आदि का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी मालूम होता है कि गुजराती लोग समुद्र के किनारों से व्यवसाय करते थे। जगह-जगह पर प्याऊ, कुएँ, तालाब और अन्नक्षेत्र थे और वहाँ का महामार्ग कैसा था। यात्री सघन वृक्षों की पंक्ति के नीचे चलते थे। इसलिए उन्हें सूर्य का ताप नहीं सताता था। इससे स्पष्ट है कि मार्ग के दोनों ओर लम्बे-लम्बे छायादार वृक्ष रहे होंगे और वह महामार्ग आबू से लेकर सौराष्ट्र तक की भूमि को सुशोभित करता चला जाता रहा होगा। इस महामार्ग की वास्तविक स्थिति का उल्लेख भी 'समरारासु' और 'प्रबन्ध' में मिलता है। सम्भवतः यही मार्ग राजमार्ग होगा और प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में मनुष्य और वाहन उसके ऊपर शान्तिपूर्वक चले जाते होंगे।

शत्रुञ्जय तीर्थ के उद्धार का निश्चय करके समरसिंह ने पाटण के सूबे अलपखान से उनके लिए आज्ञा प्राप्त

---

[1] देखिये 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' : प्रस्ताव २ : श्लोक ३७-६३।

की और मूर्ति के लिए त्रिसंगमपुर नगर के राजा महीपाल देव से आरासण की खदान से 'फलही' (विराट शिला) मँगवाई। यह शिला उपर्युक्त राजमार्ग से होकर ही शत्रुञ्जय पहुँची। सबसे पहले यह शिला खेराल नामक नगर में गई और वहाँ से भाँडु होकर पाटण पहुँची।

शिला में से मूर्ति तैयार हो जाने का समाचार शत्रुञ्जय से मिलने पर समरसिंह ने अपने पिता जी के साथ बड़ा भारी संघ निकाला, जिसमें अनेक साधू, साध्वी, श्रावक व श्राविकाएँ सम्मिलित हुईं। यह संघ पाटण से रवाना होकर आगे बढ़ता हुआ अनुक्रम से शंखारिका, सेरिसा, क्षेत्रपुर (सरखेज), धवलक्कपुर (धोलका), पिप्पलाली (पिपराली) होता हुआ शत्रुञ्जय पहुँचा।

'समरारासु' में महामार्ग में आये ग्रामों का निर्देश इस प्रकार है—

"सेरीसे पूजियउ पासु, कलिकालिहिं सकलो,
सिरखेजि थाइउ धवलकए संघु आविउ सयलो।
धंधूकउ अतिक्रमिउ ताम लोलियाणइ पहुतो,
नेमिभुवणि उछवु करिउ, पिपलालीय पत्तो। (भाषा ६ : ५)
पालीताणइ नयरे संघ भयलि प्रवेसु। (भाषा ७ : १)

शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार कर और मूल प्रतिमा की प्रतिष्ठा करके संघ सौराष्ट्र देश में प्रभासपाटण तक गया। वहाँ से शत्रुञ्जय वापस होकर पाटण लौट आया। वापसी में इन ग्रामों का उल्लेख मिलता है—अमरावती (अमरेली), तेजपालपुर, गिरनार, वामनपुरी (वंथली), देवपत्तन (प्रभासपाटन), कोडीनार, द्वीपवेलाकूल (दीवबन्दर), शत्रुञ्जय, पाटलापुर (पाटडी), शंखेश्वरपुर, हारीज, सोइला-गाम और पाटण।

'समरारासु' में भी इसी मार्ग का निर्देश है—

"सोरठदेस संघु संचरिउं मा० चउंडे रयणि विहाइ
आदिभक्तु अमरेलीयह मा० आविउ देसल जाउ" (भाषा ९ : १-२)
"ठामि ठामि उच्छव हुअई मा० गढि जूनइ संपत्तु" (भाषा ९. ३)
"तेजि अगंजिउ तेजलपुरे मा० पूरिउ संख आणंदु" (भाषा ९ : ४)
"वउणयली चेत्र प्रवाडि करे मा० तलहटी य गढ़माहि,
ऊजलि उपरि चालिया ए मा० चउव्विह संघमाहि।
दामोदरु हरि पंचमउ मा० कालमेघो क्षेत्रपालु,
सुवनरेहा नदी तहिं वहए मा० तरुवरतणउं झमालु॥" (भाषा ९ : ५)
"देवपटणि देवालउ आवइ संघह सरवो सरु पूरावई" (भाषा १० : २)
"कोडिनारि निवासण देवी अंबिक अंबारामि नमेवी
दीवि वेलाउलि आवियउ ए।" (भाषा १० : ६)

वहाँ से शत्रुञ्जय होता हुआ संघ पाटण आने के लिए रवाना हुआ—

"पिपलालीय लोलियणे पुरे राजलोकु रंजेई
छडे पयाणे संचरए राणपुरे, राणपुरे राणपुरे पहुचेई
वढवाणि न विलंबु किउ जिमिउ करीरे गामि
मंडलि होइउ पाडलए नमियऊ ए नमियऊ ए नमियऊ नेमि सु जीवतसामि
संखेसर सफलीयकरणु पूजिउ पास जिणिंदो" (भाषा १२ : ४-५)

'समरारासु' व 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' के आधार से संघ के मार्ग में आये ग्रामों को क्रमबद्ध लिया जाय तो यह राजमार्ग निम्न ग्रामों में से होता हुआ चला जाता है :

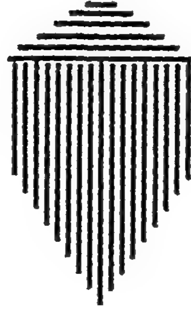
आरासण से खेरालु, मांडु, पाटण, शंखारिका (?), सेरिसा, क्षेत्रपुर (सरखेज), धवलक्कनगर (धोलका), धंधूकउ (धंधूका), लोलियाणुं, पिप्पलाली (पिपरालुं), शत्रुञ्जय (पालीताणा)।

वहाँ से चउंड (?), अमरावती (अमरेली), तेजपालपुर (तेजलपुर), जूनागढ़, वामनपुरी (वंथली), देवपट्टन (प्रभासपाटण), कोडीनार, दीवबन्दर और शत्रुञ्जय।

शत्रुञ्जय से वापस लौटते समय समरसिंह ने दूसरा बड़ा मार्ग पसन्द किया। अर्थात् शत्रुञ्जय से पिप्पलाली (पिपरालुं), लोलियाणुं, राणपुर, वढवाणि (वढवाण), पाटलापुर (पाटडी), शंखेश्वरपुर (शंखेश्वर), हारिज, सोइलागाम और पाटण।

चौदहवीं सदी का यह राजमार्ग था, ऐसा हम निःसंकोच कह सकते हैं।

अहमदाबाद]



नल-दवदन्ती-चरित्र

[अज्ञात कविकृत सोलहवीं शताब्दी का प्राचीन गुर्जर काव्य]

संपादक—प्रो० भोगीलाल जयचन्दभाई सांडेसरा एम० ए०

नल-दमयन्ती के सुप्रसिद्ध कथानक का संक्षिप्त वर्णन एक छोटे से प्राचीन गुजराती काव्य के रूप में हमें प्राप्त हुआ है। पाटन-निवासी पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक के संग्रह के एक हस्तलिखित गुटके में यह काव्य है और उसके १०५ से १०७ तक के पृष्ठों में वह लिखा हुआ है। काव्य के अंत में प्रतिलिपि करने की तिथि नहीं है, पर गुटके के अन्य काव्यों के अंत में तिथियाँ दी हुई हैं। उनसे पता चलता है कि गुटके के सब काव्यों की प्रतिलिपि संवत् १५४८ से १५६० के बीच की गई है। अतः यह मानना उचित प्रतीत होता है कि उक्त 'नल-दवदन्ती-चरित्र' की प्रतिलिपि भी उसी काल में हुई होगी।

काव्य के अंत में उसके रचयिता का नाम नहीं है और न रचना संवत्। पाटण के सागर के उपाश्रय-भंडार में इस काव्य की तीन पृष्ठ की एक हस्तलिखित प्रति है, जिसके अंत में लेखन संवत् १५३९ दिया है।[1] अतः यह काव्य संवत् १५३९ से पहले का है, यह निश्चित है। उसके रचनाकाल की पूर्वमर्यादा निश्चित करने का कोई साधन नहीं है, किन्तु उसकी भाषा के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका निर्माण विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में हुआ होगा।

इस काव्य के रचयिता जैन हैं। गुजरात की जैन व जैनेतर जनता में नल-दमयन्ती की कथा अत्यंत लोकप्रिय है। अनेकों कवियों ने इस कथानक के आधार पर काव्यों की रचना की है। जैनेतर कवियों में विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भालण ने और उत्तरार्ध में नाकर ने एवं अठारहवीं शताब्दी में प्रेमानन्द ने तद्विषयक काव्यग्रन्थ तैयार किये हैं। उनमें प्रेमानन्द कृत नलाख्यान तो अपने विशिष्ट काव्य गुणों के कारण गुजरात के साहित्य-मर्मज्ञों तथा सामान्य जन-समाज में अपूर्व लोकप्रियता का भाजन हो गया है।

जैन कवियों में प्रस्तुत काव्य के अज्ञात रचयिता के अतिरिक्त ऋषिवर्द्धन सूरि ने संवत् १५१२ में 'नल दवदन्ती रास—नलराज चउपई', वाचक नयसुन्दर ने संवत् १६६५ में 'नल दमयन्ती रास', वाचक मेघराज ने संवत् १६६४ में 'नलदमयन्ती रास', वाचक समयसुन्दर ने संवत् १६७३ में 'नल दवदन्ती रास' और पालनपुर के श्रीमाली जाति के वणिक वासण सुत भीम ने संवत् १६२७ में नलाख्यान की रचना की है। इन सब रचनाओं में भी प्राचीनता की दृष्टि से उक्त काव्य सबसे पुराना है। यद्यपि काव्य की दृष्टि से यह बिल्कुल सामान्य कृति है, पर भाषा और शैली के विचार से इसका प्रकाशन निस्संदेह लाभदायक सिद्ध होगा। इसकी हस्तलिखित प्रति के उपयोग की अनुमति के लिए हम पं० अमृतलाल भोजक के आभारी हैं।

मूल काव्य इस प्रकार है :

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

सरसति सामणि सगुरु पाय हीयडइ समरेवि,
कर जोडी सासण देवि अंबिक पणमेवि;
नल-दवदंती तणु रास भावइ पभणेई,

---

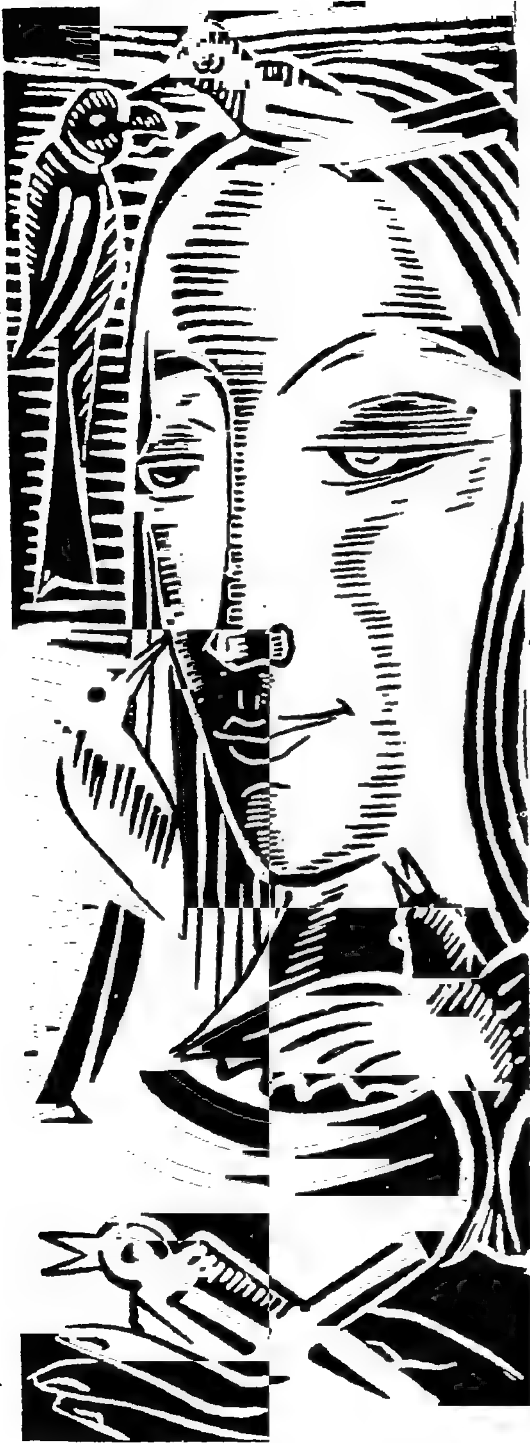
[1] देखिये उस प्रति की पुष्पिका—"इति श्री नलदमयन्ती रासः समाप्तः॥ संवत् १५३९ वर्षे लिखितं॥ पं० समयरत्नगणि शिष्य हेमसमयगणि लिपतं॥

एकमना थई भवीय लोक विगतइं निसणेइ ;
निषध नगर छइ निषधराय सुर सुंदरि राणी,
शीयल सोभागइं श्रागली ए नलराय वषाणी;
नल-कुबर बे अछइ पुत्र, गुणवन्त भणीजइ,
नल-कुबरना रूप वन्न कुण ऊपम दीजइ;
कुंडिनपुरि छइ भीमराय, भुज प्राणइ भीम,
को सोमाडउ तेह तणी नवि चांपइ सीम;
श्रति प्रीतइं गहगहीय गेलि राणी पुष्पदंती,
माय ताय मन मोहती ए बेटी दवदंती;
सोभागइं सोहामणी ए सवि विद्या जाणइ,
सहस जीभ हुइ मुखहमाहि तउ रूप वखाणइ;
प्रतिमा शांति जिणेस तणी सिद्धायक श्रापीय,
दवदंतीना मनमाहि जिणधर्म्म स थापीय;
भीमराय वर कारणिइं ए सयंवर मंडावइ,
हुंसइ तेडिउ नलहराय परणेवा श्रावइ;
लाख श्रग्यारह राय माहि रूपइ मन मोहइ,
गहगण तारा मांहि जेम पूंनमि ससि सोहइ;
पंच रूप करी देवराय वरमंडपि श्रावइ,
दवदंतीना मनह माहि एकइ नवि भावइ;
दवदंतीना मनह माहि निरमल मति सूधी,
वरमाला वेगिइ करी ए नलकंठ जि दीधी;
नल परणीनइं चितवइ ए दवदंती राणी,
'सवि बहिनर तुह्मे सांभलु, ए सवि सहीय समाणी;
गय भवि भगतिइं श्रति संभागि मइ मुनि वहिराव्या,
साहमीय वच्छल संघ सहित मइ गुरु पहिराव्या;
बंधणि बांध्या जीवडा ए कइ मइ म्हेलाव्या,
बालक मायनइं मेलव्यांए, कय दव उल्हवीश्रा;
कइ जिण पूजिया त्रिणि काल दिनप्रति मइं भगति,
बारे व्रत किइ नियमसहित मइं पालियां शक्तिइं;
कइ गुरु देव ज द्रव्य मइ ए रूडइ प्रतिपालउ,
सवि श्रभक्ष मइ परिहरियां ए समकित श्रजुश्रालिउ;
भूषियां तरस्यां सार करी, कइ मइ तप कीधउ,'
नल परणीनइ चितवइ ए, 'माण सफल लीधउं';
हरषिउ भीम नरेसु राय जोसी तेडावइ,
मंडपि माहि सोनातणी ए चउरी बंधावइ;
सासू पूंषइ मांहरइं ए वर श्राविउ जाम,
रंगिइ जोसी समइ समइ वरतावइ ताम;

प्रीति सरिसूं वरवहू ए कंसार आरोगइ,
अणूं अ सी डाढडी य गलइ ए तेणइ गंधि संजोगिइं;
लाधा लाष तुरीय, सहिस गयमर मदि माता,
मणि माणिक सोवन्न असंख्य, सउ गाम वसंतां;
सवि पहिर्या, सवि ऊढीआ ए वर जान चलावइ,
संघ देश लगइ भीमराय वउलावा आवइ;
भणइ भीम, 'दवदंती, वछि, नलसिउं नेह पाले,
सइयणि, धोवणि, अधम जाति मार्लाण संग टाले;
जीणइ प्रिय परुंसीइ ए ते वात म करजे,
सुखि दुखि आविया प्रिय तणइ ए तूं पाय अणसरजे;
वउलावी वलिउ भीमराय कुंडनपुरि पुहुतु,
नल पुहुतु दवदंती सहित निषधइं गहिगहिउ;

(ढाल वीवाहलानु)

नियरि पुरि हुइ वधांमणा ए, वर नितु नितु आवइ भेटणां ए,
आढण पाणी छांडती ए, दवदंती मंदिर आपती ए;
नव लख सोना सिउं नमइ ए, तीणइ सासूनइ वहूयर अति गमइ ए,
पाय पडती द्रव्य परखती ए, तीणइ गोत्रनी नारि सवि हरषती ए;
पुत्रवंती प्रियसिउं मिलीए, 'वहू, जीवजे कोडि दीवालडी ए !'
दस दिन हूइं दसाईया ए, तीणइ मायताय बिहु हरषीआं ए;
निषध भणइ, 'नल कहिउं कीजइ, राजनउ भार जउ उद्धरीजइ,
व्रत लेसिउं अम्हिइं सहीइ ए, तप करिवउ वन कासगि रही ए;
वलि करी राज सो आपीउ ए, नल राजनइं भार सउ थापीउ ए,
देइ सीखामण निषध तात, 'वत्स, वेसि सउं नरवर, म करि घात;
सात विसन तइं टालिवां ए, छ दरसिणि रूडी परि पालवां ए,
राषेय राज रूडी परिइं ए, नवइ करि कोइ रखे पीडीइ ए;
गुरुजन तइं न विलोपिवां ए, जिणमंदिर आघाट आरोपिवा ए,
देइ सीखामण चालीउ ए, नल राजनउ भार स आपीउ ए;
कूवर वुद्धि कूडी करइ ए, नलना पग भगतइं अणसरइ ए,
आराधइ एक कापडी ए, कूवरनइ विद्या सांपडीइ ए;
कूवर कहइ, 'नल, कहिउं य कीजइ, एह अथिर लच्छी तणु भोग लीजइ,
आलि माहिइं भव कांइं गमु ए ? हिव सार पासे सरिसा रमउ ए';
रमतलां राज हरावीउं ए, दवदंतीय विसन नवारीउं ए,
हारि आगलि सांभलइ नहीं ए, दवदंतीय तु पाछी रही ए;
कूवरि सहूइ हरावीउं ए, दवदंतीय सूय करावीउं ए,
दवदंती जीती देवरि ए; कूवर कहइ, 'जाउ अंतेउरि ए;
एक रथ मुहते अपावीउ ए, नल दवदंती सरिसउ चलावीउ ए,



प्रकृति-कन्या

[कलाकार—श्री सुवीर खास्तगीर]

मारगि चोरे रथ हरउ ए, नल नारिसिउं पालउ सांचरिउ ए.
प्रिय पूंठिइं पाली पलइ ए, श्रषा भूषइ दवदंती टलविलइ ए.
कहु, 'प्रिय पीहर केतलइ ए?' 'इणि वडि वीसामउ तेतलइ ए.'
दवदंती य पुढइ साथरइ ए, नल ऊढणउं ऊपरि पाथरइ ए.
चीतवइ नल, 'नारिसिउं ए, ह्रिव सासरइ सइं मुहि जाइसिउं ए?
सूती अबला एकली ए, जउ दोहिलउं होसइ तु मूंकिसउ ए.'
चोर चोरी पाछउ रहिउ ए, नलिइं पीहरनउ मारग कहिउ ए,
पाछिली रातइं नीसरइं ए, दवदंती य समणडउं श्रणसरइ ए.
फल षाती थई श्राकली ए, जागी तउ प्रिय-सारथि टली ए.

(सामानु वश्चनउ ढाल)

दवदंती पुहवइं पडइ, सषी अंगज मोडइ रे,
मोडइ नइं त्रोडइ हार हीश्रा तणु ए.
वरह दावानल श्राकुली, सषी 'प्रिय प्रिय' भाषइ रे,
भाषइ नइ दाषइ, 'कंत, किहां गयु ए?
वनदेव, तुम्ह वीनवउ, सषा नलवर दाषउ रे,
दाषउ नइ भाषउ कंत किहां गउ ए?
चंद सूरिज साचूं कहु मोरउ जीवन जाणउ रे,
जाणउ नइ श्राणउ वर वेगिइं करी ए.
रूप सोभागइ श्रागलु, सुरकन्या कइ लीवउ रे,
लीधउ नइ दीधउ दाघ हीइ घणु ए.
कइ वनि दाधा दव घणा, सर फोडीय पाल रे?
पालइ नइ डालि मोडी तरुयर तणी ए?
रवि संताप्या कइ घणा, कइ मइ वीया छइ श्राल रे?
श्राल नइ बालक माय विछाहीया ए?
नल वाल्हा विण हे सषी, किम यौवन जासिइ रे?
जासइ नइ थासिइं श्रंग श्रंगारुश्रा ए.
नर नइ नारी जोडि करी, सखी, सृष्ट नीपाइ रे,
पाइ नइ भाइ कांइ करी एकली ए?
किस्या उलंभा दैव दिउं? सषी मूं क्रम छइ कूडूं रे,
कूडउं नइ रूडउं शील न पालीउं ए.
एक वार मोरी वीनतडी सुणि सुंदर लाडण रे,
लाडण नइ मांढण नारि न नाहलू ए.
धणी विहूणी धरणि ढली, सषी मुषि मूंकती सास रे.
सास नइ श्रास टली जीवह तणी ए.
पीहरि पुहुती प्रिय तणी मइं वाहर जउ करवी रे,
वाहर नइ थाहर श्रने थिमूं नहीं ए.

वाघ सिंघ वितर घणा, भूइ वीहती चालइ रे,
चालइ नइ सालइ वरसारस घणु ए.
नइं नाला पूरइं व्रहइं, पटुलडी भीजइ रे,
भीजइ नइ खीजइ चींकण लपसणइ ए.
तापस परि तप छट्ठ करी प्रतिवोघ्या छइ तापस रे,
तापस नइ पाय सवे मइं निरजणियां ए.
चन्द्रयशा मासी मिली, सखी अचलपुरि पुहुती रे,
पुहुती नइ वहिती कुंडिनपुरि गइ ए.
भीमराय षोलइ लेइ अंग अतिघणु जोइ रे,
जोइ नइ रोइ , नलगुण सांभरइ ए.
'तात, जो आवु नल घणी, मूं जीवी छइ काज रे,
काज नइ आज ज दूत ज मोकलु ए.'

(हिव धुवुल)

जव छांडी नल सांचरिउ, दव परजलउ नाग
काढंतां करि अहि डसिउ, सूका छइ हाथ नइ पाग
वीला वे तस आपीयां तातिक कीउ पसाउ.
समसमापुरि तिणि मूकीउ, तिहां छइ रथपूर्ण राउ.
नित विनोद कउतिग करइ, हुंडिक नामइ सिद्ध;
सूरिज ...[1]परस केलवइ अभिनवु दा ...[1]प्रसिद्ध.
हरिमित्र वडूउ तिहां गउ, मिलिउ ते हुंउ सूयार,
लाष सोना तिणि आपीउ अनइ एकाउलि हार.
हुंडिक तेडेवा कारणि सयंवर कूडउ रचीउ;
अश्वरिदय हुंडउ जपइ, रियपूर्ण त्रिहुं पुहुरे जाइ.
रियपूर्ण मोलीयडउं पडिउं, 'कूवडा, रथ हवइ राखे'.
'पंचवीस जोयण ते छांडिउं, रथिपूर्ण, वात म करिये.'
अश्वरिदय हुंडउ जपइ, संध्या नल नइं दीधी.
राजह लेवा कारणि नलनूं काज ते सीधु,
भीमइ ऋतिपर्ण रायुनइ भलउ प्रवेस ते दीधउ.

(ढाल)

कर जोडी अवला वीनवइ, 'विरह-दवानल कांइ तू दहिइ ?
दासी तह्मारी हूं छुं नाथ, दुषि सागर पड तां दइ हाथ,
सुपुरिसनु नही ए आचार, छांडइ जे निरधारु;
नारि तणा नीसासा पडइ, घणा जन्म ते नर रडवडइ.''
रूप प्रगट करइ नल वर राउ, दमयंती नइ मनि उच्छाह.
भीमराय रलीआइत थउ, निषधइ नयरि राजा नल गयु.
नलराय जीतूं प्रथवीराज, कूवर कीधु जेणइ युवराज;
धवल मंगल परि घरि उच्छाह, नलह नरिंद हूउ पहुवी नाह.
साते षेत्र धन वावरइ, दुषीआं पीडचां नइ ऊधरइ;
निकरा करिया ते सघला लोक, पृथवी वर्त्तिउ पुण्यश्लोक.
वार घडी जिणइ उघउ लीघ, वार वरस तीणइ वरहु कीध;
पुत्र राजि वइसारी करी, नल-दवदंती संयम वरी.
क्षमा सरीसां वे तप करइ, अष्ट कर्म संवेगइं तरइ.
देवलोकि वेहू सुरवरइ, सयल संघनइ आणंद करइं.
भणइ, भणावइ, जे सांभलिइ, अष्ट महा सधि तेह घरि फलइ;
जे भणेसइ नर नइ नारि, नव नधि तेह तणइ घर वारि.
इति नलदवदंती चरित्र समाप्तः ॥ भुवनवल्लभगणि[2] लषितं ॥

अहमदावाद]

---

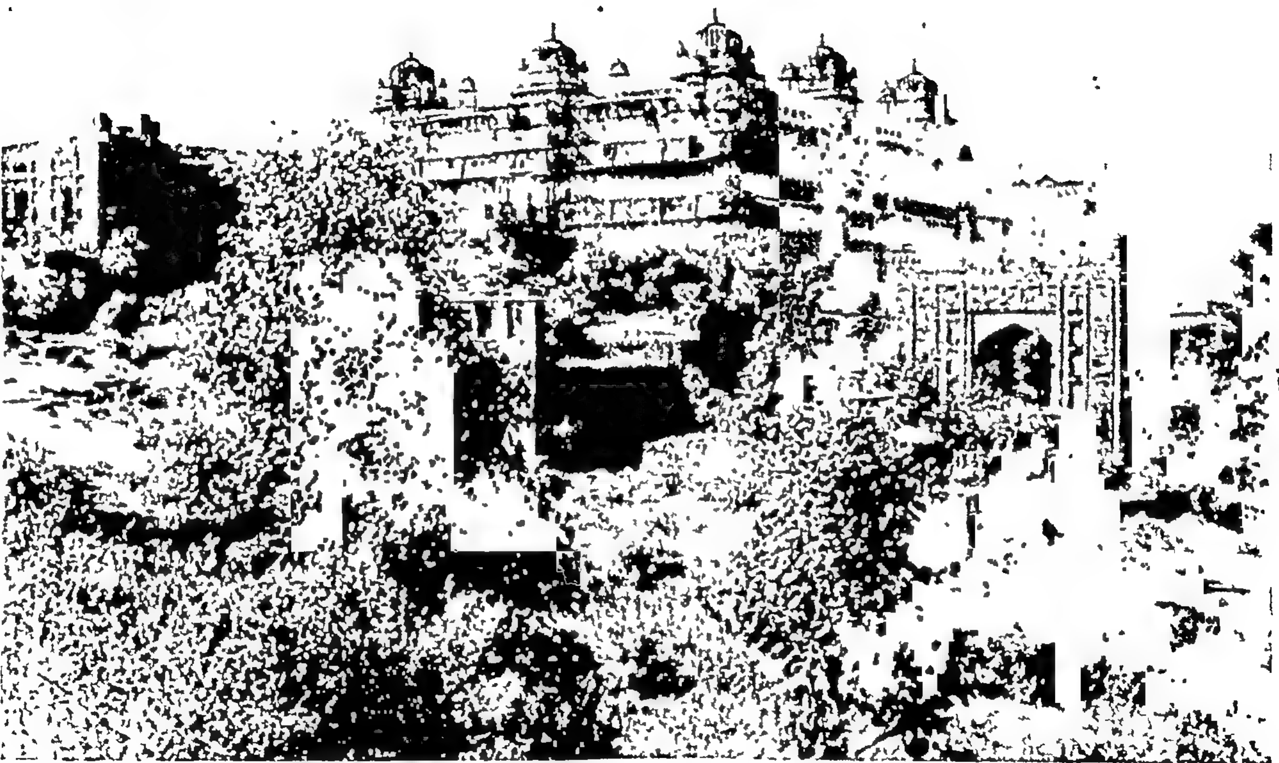
[1] इस जगह मूल प्रति का किनारा घिस जाने से एकाध अक्षर लुप्त होगया मालूम होता है।

[2] प्रतिलिपिकर्त्ता का नाम पीछे से किसी ने मिटाने का प्रयत्न किया है। फिर भी कोशिश करने पर वह पढ़ा जाता है।

: ७ :

बुन्देलखण्ड

बुन्देलखण्ड-चित्रावली—१



ओरछा का किला

बुन्देलखण्ड

स्वर्गीय मुन्शी अजमेरीजी

चंदेलों का राज्य रहा चिरकाल जहाँ पर,
हुए वीर नृप गण्ड, मदन परमाल जहाँ पर,
बढ़ा विपुल वल विभव बने गढ़ दुर्गम दुर्जय,
मंदिर महल मनोज्ञ सरोवर अनुपम अक्षय,
वही शौर्य्य सम्पत्तिमयी कमनीय भूमि है।
यह भारत का हृदय रुचिर रमणीय भूमि है॥

आल्हा ऊदल सदृश वीर जिसने उपजाये,
जिनके साके देश विदेशों ने भी गाये,
वही जुझौती जिसे बुंदेलों ने अपनाया,
इससे नाम बुंदेलखण्ड फिर जिसने पाया,
पुरावृत्त से पूर्ण परम प्रख्यात भूमि है।
यह इतिहास-प्रसिद्ध शौर्य्य संघात भूमि है॥

यमुना उत्तर और नर्मदा दक्षिण अञ्चल,
पूर्व ओर है टोंस पश्चिमाञ्चल में चम्बल,
उर पर केन धसान वेतवा सिंध वही हैं,
विकट विन्ध्य की शैल-श्रेणियाँ फैल रही हैं,
विविध सुदृश्यावली अटल आनन्द-भूमि है।
प्रकृतिच्छटा बुंदेलखण्ड स्वच्छन्द भूमि है॥

अड़े उच्च गिरि और सघन वन लहराते हैं,
खड़े खेत निज छटा छबीली छहराते हैं,
जरख, तेंदुए, रीछ, बाघ स्वच्छन्द विचरते,
शूकर, साँवर, रोझ, हिरन, चीतल हैं चरते,
आखेटक के लिए सदा जो भेंट भूमि है।
अति उदण्ड बुन्देलखण्ड आखेट-भूमि है॥

गढ़ गवालियर सुदृढ़ कोट नामी कालिंजर,
दुर्गम दुर्ग कुड़ार कठिन कनहागढ़ नरवर,
छोटे मोटे और सैकड़ों दुर्ग खड़े हैं,
मानो उस प्राचीन कीर्ति के स्तम्भ गड़े हैं,
दुर्ग-मालिकामयी दीर्घ दृढ़ अङ्ग-भूमि है।
अरि-दर्पघ्न बुंदेलखण्ड रण रङ्ग-भूमि है॥

हुए यहाँ पर भूप भारतीचन्द बुँदेला,
शेरशाह को समर सुलाया कर रण-खेला,
मधुकरशाह महीप जिन्होंने तिलक न छोड़ा,
अकबरशाह समक्ष हुक्म शाही को तोड़ा,
यह वीरों की रही अनोखी आन भूमि है।
वीर-प्रसू बुँदेलखण्ड वर बान भूमि है॥

दानवीर वृसिंह देव ने तुला दान में,
इक्यासी मन स्वर्ण दे दिया एक आन में,
जिसकी वह मधुपुरी साक्ष्य अब भी देती है,
नहीं अन्य नृप नाम तुल्यता में लेती है,
ऐसे दानी जने यही वह दान-भूमि है।
सत्त्वमयी बुँदेलखण्ड सन्मान-भूमि है॥

कवि ने कहा "नरेन्द्र, गौंड़वाने की गायें,
हल में जुत कर विकल विलपती हैं अवलायें।"
पार्थिव प्रवल पहाड़सिंह सज सुन्दर वारण,
चढ़ दौड़े ले चमू किया गौ-कष्ट निवारण,
गौ-द्विज-पालक रही सदा जो भूमि है।
सत्यमूर्ति बुँदेलखण्ड सत्कर्मभूमि है॥

हुए यहीं हिंदुवान पूज्य हरदौल बुँदेला,
पिया हलाहल न की भ्रातृ-इच्छा-अवहेला,
पुजते हैं वे देवरूप प्रत्येक ग्राम में,
है लोगों की भक्ति भाव हरदौल नाम में,
यही हमारी हरी भरी हर देव भूमि है।
वंदनीय बुँदेलखण्ड नर देव भूमि है॥

थे चम्पत विख्यात हुए सुत छत्रसाल-से,
शत्रु जनों के लिये सिद्ध जो हुए काल-से,
जिन्हें देखकर वीर उपासक कविवर भूषण,
भूल गये थे शिवावावनी के आभूषण,
यह स्वतंत्रता-सिद्ध-हेतु कटिवद्ध भूमि है।
सङ्गरार्य बुँदेलखण्ड सन्नद्ध भूमि है॥

यहाँ वीर महाराज देव से जङ्ग जोड़ना,
काल सर्प की पूँछ पकड़ कर था मरोड़ना,
मानी प्रान अमान वान पर विगड़ पड़े थे,
वना राछरा शूर सुभट जिस भाँति लड़े थे,
रजपूती में रँगी सदा जो सुभट भूमि है।
वीर्यमयी बुँदेलखण्ड यह विकट भूमि है॥

लक्ष्मीबाई हुई यहाँ झाँसी की रानी,
जिनकी वह विख्यात वीरता सब ने मानी,
महाराष्ट्र का रक्त यहाँ का था वह पानी,
छोड़ गया संसार मध्य जो कीर्ति-कहानी,
अबला सबला बने, यही वह नीर-भूमि है।
वीराङ्गना बुंदेलखण्ड वर वीर-भूमि है॥

तुलसी, केशव, लाल, विहारी, श्रीपति, गिरधर,
रसनिधि, रायप्रवीन, भजन, ठाकुर, पदमाकर,
कविता-मंदिर-कलश सुकवि कितने उपजाये,
कौन गिनावे नाम जांय किससे गुण गाये,
यह कमनीया काव्य-कला की नित्य भूमि है।
सदा सरस बुंदेलखण्ड साहित्य-भूमि है॥

ग्राम-गीत ग्रामीण यहाँ मिल कर गाते हैं,
सावन, सैरे, फाग, भजन उनको भाते हैं,
ठाकुरद्वारे यहाँ अधिकता से छवि छाजें,
मन्दिर के अनुरूप जहाँ सङ्गीत-समाजें,
यह हरिकीर्तनमयी प्रसिद्ध पुनीत भूमि है।
स्वर-सङ्कुलित बुंदेलखण्ड सङ्गीत-भूमि है॥

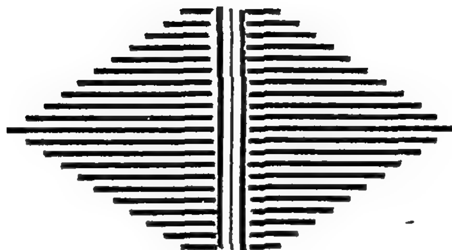
यहाँ समय अनुसार सभी रस हम पाते हैं,
वन, उपवन, बूटियाँ, फूल, फल उपजाते हैं,
गिरि-वन-भूमि-प्रदत्त द्रव्य मिलते मनमाने,
गुप्त प्रकट हैं यहाँ हेम हीरों की खानें,
यह स्वतन्त्र महिपाल-वृन्दमय मान्य भूमि है।
वसुन्धरा बुन्देलखण्ड धन-धान्य-भूमि है॥

यहाँ सेउड़ा सिंध मध्य सनकुआ जहाँ है,
वह विस्तृत ह्रद स्वतः सुनिर्मित हुआ जहाँ है,
इधर दुर्ग उत्तुङ्ग उधर विन्ध्याचल ऊपर,
वर्षा में वह दृश्य विलक्षण है इस भूपर,
सनकादिक की तीव्र तपस्या-स्थली भूमि है।
भव्य दृश्य बुंदेलखण्ड वह भली भूमि है॥

चित्रकूट गिरि यहाँ जहाँ प्रकृतिप्रभुताद्भुत,
बनवासी श्रीराम रहे सीता-लक्ष्मण-युत,
हुआ जनकजा-स्नान-नीर से जो अति पावन,
जिसे लक्ष्य कर रचा गया धाराधर-धावन,
यह प्रभु-पद-रजमयी पुनीत प्रणम्य भूमि है।
रमे राम बुंदेलखण्ड वह रम्य भूमि है॥

यहाँ ओरछा राम अयोध्या से चल आये,
और उनाव प्रसिद्ध जहाँ बालाजी छाये,
वह खजुराहो तथा देवगढ़ अति विचित्र हैं,
त्यों सोनागिरि तीर्थ जैनियों का पवित्र है,
तीर्थमयी जो सकल साधना-साध्य-भूमि है।
अति आस्तिक बुंदेलखण्ड आराध्य भूमि है॥

चिरगाँव]



बुन्देलखण्ड के इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री

श्री रघुबीरसिंह एम्० ए०, डी०लिट्०

यह देख कर किसे खेद न होगा कि अव तक बुन्देलखण्ड का कोई भी अच्छा प्रामाणिक इतिहास नहीं लिखा गया है। गोरेलाल तिवारी कृत 'बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास' इस कमी को पूरी करने का सर्व-प्रथम प्रयत्न था। अतएव ऐसे प्रारंभिक प्रयत्न में जो त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है, वे सब उक्त ग्रंथ में पाई जाती हैं। सच पूछा जाय तो हजारों वर्षों का ठीक-ठीक क्रमवद्ध इतिहास लिखना किसी भी एक इतिहासकार के बूते की वात नहीं है, विशेषतया जव कि उस इतिहासकार को प्रत्येक काल के लिए पूरी-पूरी खोज और आवश्यक गंभीर अध्ययन करना पड़े। बुन्देलखण्ड परिषद् ने बुन्देलखण्ड का इतिहास लिखने का प्रस्ताव पास किया है, परन्तु उक्त आयोजन को प्रारंभ करने में समय लगेगा। पं० वनारसीदास जी चतुर्वेदी उस युग के स्वप्न देखते हैं जव बुन्देलखंड के सव प्रसिद्ध महत्वपूर्ण व्यक्तियों की सुन्दर प्रामाणिक जीवनियाँ लिखी जा चुकी होंगी, परन्तु अभी तक किसी ने छत्रसाल बुन्देला का भी प्रामाणिक सम्पूर्ण जीवन-चरित लिखने का विचार नहीं किया है। दूरदेशी वंगाली और मलयालम भाषा के उपन्यासकारों ने छत्रसाल की जीवन-घटनाओं को लेकर अनेकानेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है, लेकिन प्रामाणिक इतिहास और जीवनियों के अभाव में वे कई एक भद्दी गलतियाँ भी कर बैठे हैं।

अकवर के शासनकाल से ही बुन्देलखण्ड का मुगल साम्राज्य के साथ पूरा-पूरा संवंध स्थापित हो गया था, परन्तु औरंगज़ेव के गद्दी पर बैठने के वाद मुग़ल साम्राज्य एवं बुन्देलों में जो विरोध उत्पन्न हुआ, वह छत्रसाल बुन्देला की मृत्यु तक निरन्तर चलता ही रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन अस्सी वर्षों का बुन्देलखण्ड का इतिहास मुग़ल साम्राज्य के इतिहास के साथ इतना सम्बद्ध हो गया है कि एक के अध्ययन के विना दूसरे का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता। यही कारण है कि बुन्देलखण्ड के तत्कालीन इतिहास की प्रचुर सामग्री मुग़ल साम्राज्य के इतिहास संवंधी आधार-ग्रंथों में हमें प्राप्त होती है। बुन्देलखंड एवं मराठों के इतिहासकार अपने चरित्र-नायक या प्रान्त-विशेष का इतिहास लिखने में प्रायः उनके विरोधी मुग़लों से सम्बद्ध ऐतिहासिक सामग्री की पूर्ण उपेक्षा करते हैं; किन्तु यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से उचित नहीं है।

औरंगज़ेव एवं उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल-संबंधी ऐसी ऐतिहासिक सामग्री हमें प्राप्त है कि उनसे बुन्देलखण्ड के तत्कालीन इतिहास पर वहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है एवं उसकी सहायता से बुन्देलखंड में होनेवाली घटनाओं का ठीक-ठीक क्रमवद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। बुन्देलखंड का तत्कालीन इतिहास लिखते समय इस ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग करना अत्यावश्यक है। यह सारी सामग्री विशेषतया फ़ारसी भाषा में ही प्राप्य है।

१—मुग़लकालीन अखवारात एवं पत्र-संग्रह

इस सामग्री में सर्व प्रथम आते हैं मुग़ल दरवार में लिखे गये 'अखवारात-इ-दरवार-इ-मुअल्ला।' औरंगज़ेव के समय में दिन भर में जव-जव दरवार होता था, वहाँ अखवार-नवीस उपस्थित रहते थे, जिनका कार्य यही होता था कि दरवार में वादशाह की सेवा में अर्ज़ किए गए साम्राज्य-शासन के वृतान्त, सुदूर प्रान्तों के हालात एवं इसी प्रकार की सारी वातें और उन पर वादशाह द्वारा दिए गए हुक्मों का पूरा-पूरा व्यौरा लिखें। इन अखवारात की नक़लें प्रायः सारे प्रधान उमरा एवं नवाव प्राप्त कर लेते थे। औरंगज़ेव के शासनकाल के ऐसे अखवारात का एक वहुत वड़ा संग्रह जयपुर राज्य के संग्रह में प्राप्त था। इस संग्रह में से कुछ वंडल कर्नल टॉड अपने साथ लेगया और ये अखवारात आजकल लंदन की रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी के संग्रह में सुरक्षित हैं।

लंदन में प्राप्य इन सब अखबारात की नक़लें सर यदुनाथ सरकार ने करवाई थीं और अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ **'हिस्ट्री ऑव औरंगज़ेब'** (जिन्द १-५) लिखते समय उन्होंने इन अखबारात का पूरा प्रयोग किया था। सर यदुनाथ सरकार के संग्रह में प्राप्य इन सब अखबारात की नक़लें मैंने अपने निजी पुस्तकालय के लिए भी करवाई हैं।

कर्नल टॉड अखबारात के सब बंडल नहीं ले जा सका। कई एक आज भी जयपुर-राज्य के संग्रह में विद्यमान हैं। बरसों के प्रयत्न के बाद मुझे इन बाकी रहे अखबारात की भी बहुत-सी नक़लें जयपुर-राज्य की कृपा तथा सहयोग से प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार औरंगज़ेब के शासनकाल के प्रायः सब प्राप्य अखबारात का संग्रह हमारे पुस्तकालय में हो गया है। हजारों पृष्ठों में संगृहीत ये अखबारात बुन्देलखण्ड के तत्कालीन इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते हैं। सब महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख हमें वहाँ मिलता है। छत्रसाल के विद्रोह, उसकी भाग-दौड़, उसके हमलों, लूट-मार और युद्धों का विस्तृत वर्णन और उल्लेख इन अखबारात में यत्र-तत्र आता है।

जयपुर-राज्य में प्राप्य अखबारात का यह संग्रह औरंगज़ेब की मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता है, अपितु उसके उत्तराधिकारियों के समय में फ़रुखशियर के अंतिम दिनों तक के अखबारात भी हमें वहाँ प्राप्त होते हैं। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों के काल के इन अखबारात की नकलें कोई तीन हजार पृष्ठों में हुई हैं। इन अखबारात का अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि इन दस बरसों में छत्रसाल प्रायः मुगलों के साथ सहयोग ही करते रहे।

इन अखबारात के अतिरिक्त हमें जयपुर-राज्य के संग्रह से कई एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र—**'हस्ब-उल-हुक्म'**—आदि भी प्राप्त हुए हैं। उनसे भी इस काल के बुन्देलखण्ड के इतिहास की कई एक महत्वपूर्ण परन्तु अब तक अज्ञात घटनाओं का पता चलता है। इस प्रकार के पत्रों आदि की कई नक़लें पहिले सर यदुनाथ सरकार ने प्राप्त की थीं, जो मोटी-मोटी इक्कीस जिल्दों में संगृहीत हैं। पिछले बरसों में इस प्रकार की और भी नई सामग्री प्राप्त हुई है, जिनकी नक़लें उसी प्रकार की दस और जिल्दों में समाप्त हुईं।

राजस्थानी या पुरानी हिंदी में लिखे गए कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र भी जयपुर-राज्य के संग्रह में हमें मिले हैं। इन पत्रों में जहाँ हमें शिवाजी की दिल्ली-यात्रा, वहाँ औरंगज़ेब के दरबार में उनका उपस्थित होना तथा दिल्ली से चुपके-से भाग खड़े होने का विशद विवरण प्राप्त होता है। छत्रसाल की बुन्देलखण्ड में धूमधाम का उल्लेख भी हम यत्र-तत्र पाते हैं। छः मोटी-मोटी जिल्दों में ये राजस्थानी पत्र संगृहीत हैं।

अखबारात तथा जयपुर-राज्य से प्राप्त इन पत्र-संग्रहों के अतिरिक्त औरंगज़ेब के शासनकाल के अन्य पत्र-संग्रह भी हमें मिलते हैं, जिनमें से कुछ में तो प्रधानतया औरंगज़ेब द्वारा लिखे हुए पत्र ही हैं। औरंगज़ेब की गणना संसार के सुप्रसिद्ध पत्र-लेखकों में की जानी चाहिए। अपने विशाल साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों और प्रदेशों के शासकों तथा सूबेदारों अथवा विभिन्न चढ़ाइयों पर जाने वाले सेनापतियों को छोटी-छोटी बातों पर भी वह विस्तृत आदेश देता था। इस कारण औरंगज़ेब के पत्रों में हमें तत्कालीन घटनाओं का बहुत ही प्रामाणिक वर्णन मिलता है। औरंगज़ेब के पत्रों के कई एक संग्रह हमें मिलते हैं। दो संग्रह **'अहकाम-इ-आलमगीरी'** तथा **'रुक्कात-इ-आलमगीरी'** नाम से छपकर प्रकाशित भी हुए हैं। परन्तु तीन महत्वपूर्ण संग्रह अभी तक दुष्प्राप्य हैं एवं उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी भारत के कुछ पुस्तकालयों में ही देखने को मिलती हैं। ये तीन संग्रह हैं:—**'आदाब-इ-आलमगीरी'**, इनायतुल्ला खाँ द्वारा संगृहीत **'अहकाम-इ-आलमगीरी'** और **'कालिमात-इ-तैय्यिबात'**। इन तीनों संग्रहों की नक़लें हमारे निजी संग्रह में विद्यमान हैं। चम्पतराय तथा छत्रसाल की जीवनियों के लेखकों को चाहिए कि इन पत्रसंग्रहों का सूक्ष्म अध्ययन कर उनसे अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करें।

२—मुहम्मद बंगश और बुन्देलखण्ड

छत्रसाल बुन्देला के जीवन के अन्तिम दस-बारह वर्ष मुहम्मद बंगश का सामना करते हुए ही बीते। मुहम्मद बंगश को सन् १७१९ ई० में पहली बार बुन्देलखंड में जागीर मिली थी। तब से बुन्देलखण्ड में इस विरोध एवं युद्ध का

प्रारंभ होता है। तत्कालीन ऐतिहासिक फ़ारसी ग्रंथों में वंगश के युद्धों का पर्याप्त विवरण मिलता है। वंगश द्वारा लिखे गए पत्रों का एक वृहत् संग्रह **'खाजिस्ता-इ-कलाम'** शीर्षक प्राप्य है। पिछले मुगलों के सुप्रसिद्ध इतिहासकार विलियम इर्विन ने उक्त फ़ारसी ग्रंथों के आधार पर वंगश के घराने का विस्तृत इतिहास लिखा था, जिसमें बुन्देलखंड में घटने वाली तत्कालीन घटनाओं का प्रामाणिक वर्णन दिया है। इर्विन कृत यह ग्रंथ **'हिस्ट्री ऑव वंगश नवाब्ज़'** कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में सन् १८७८-१८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था और उसके अलग रिप्रिंट्स भी तब प्राप्य थे। परन्तु आज यह पुस्तक अलभ्य है। बुन्देलखण्ड के इतिहास के लिए यह ग्रंथ बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि कोई परिश्रमी इतिहासकार **'खाजिस्ता-इ-कलाम'** का पूर्ण अध्ययन कर सके तो उससे बुन्देलखण्ड संबंधी कई एक छोटी-छोटी, पर महत्वपूर्ण बातों पर बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त हो सकेगी। इस फ़ारसी ग्रन्थ की केवल एक ही प्रति का अब तक पता लगा है और वह इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी, लंदन में सुरक्षित है। उसकी एक नक़ल हमने निज़ी पुस्तकालय के लिए करवाई थी और वह प्राप्य है।

३—मराठे और बुन्देलखण्ड

सन् १६७०-७१ ई० के जाड़े में छत्रसाल बुन्देला दक्षिण में जाकर शिवाजी से मिला था, परन्तु उसके बाद कोई पचास-पचपन वर्ष तक मराठों का बुन्देलखण्ड के साथ कोई विशेष संबंध नहीं रहा। सन् १७१५ ई० में तो जब सवाई जयसिंह मालवा पर आक्रमण करने वाले मराठों का सामना करने को बढ़ा तब छत्रसाल जयसिंह के साथ थे और पिलसुद के युद्ध में उन्होंने मराठों को बुरी तरह से हराया था। किन्तु सन् १७२८ ई० के अन्तिम महीनों में बाजीराव ने बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई की और वंगश का सामना करने में छत्रसाल की सहायता की। मराठों की बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई एवं वहाँ उनकी कार्यवाही का विस्तृत विवरण हमें मराठी ग्रंथों में देखने को मिलता है। तत्कालीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्रों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनका अध्ययन किए विना बुन्देलखण्ड का इतिहास संपूर्ण नहीं हो सकता। बुन्देलखण्ड के प्रति मराठों की नीति, छत्रसाल के प्रति पेशवा बाजीराव की भावना आदि को लेकर अनेकानेक दन्तकथाएँ और कपोलकल्पित कहानियाँ बुन्देलखण्ड में प्रचलित हैं। मराठी ऐतिहासिक पत्रों के पूर्ण अध्ययन के बाद इनमें से कितनी मिथ्या साबित होंगी, यह सरलतापूर्वक नहीं कहा जा सकता; परन्तु मेरा विश्वास है कि मराठी भाषा में प्राप्य इस सामग्री के पूर्ण अध्ययन के अनन्तर मराठों की नीति के संबंध में हमें अपने पुराने विश्वास एवं विचार बहुत-कुछ बदलने पड़ेंगे।

मराठों के इतिहास से सम्बद्ध जितनी सामग्री मराठी भाषा-भाषियों ने प्रकाशित की है, उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। ऐतिहासिक खोज के लिए जिस तत्परता, लगन और निस्वार्थता के साथ महाराष्ट्र के विद्वानों ने प्रयत्न किया और जिन-जिन कठिनाइयों को सहन करते हुए वे निरन्तर अपने कार्य में लगे रहे, वह अन्य प्रान्त-वासियों के लिए अनुकरणीय आदर्श है। पेशवा के दफ़्तर में प्राप्य सामग्री की कुछ जिल्दें बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में वाड, पारसनिस आदि इतिहास-प्रेमियों ने प्रकाशित की थीं। शेष सामग्री की देख-भाल कर सर देसाई जी के संपादन में कोई पैंतालीस जिल्दें बंबई की प्रान्तीय सरकार ने प्रकाशित करवाई हैं। इन जिल्दों में बुन्देलखण्ड में मराठों की कार्यवाही, उनकी नीति तथा उनकी विभिन्न चढ़ाइयों आदि संबंधी सैकड़ों पत्र प्रकाशित हुए। गोरेलाल तिवारी-कृत इतिहास के प्रकाशित होने के बाद ही यह सामग्री प्रकाश में आई थी। अतः वे इससे लाभ नहीं उठा सके।

राजवाडे द्वारा संपादित **'मराठ्यांच इतिहासांची साधनेन'** की कुछ जिल्दों में भी यत्र-तत्र बुन्देलखण्ड के इतिहास से सम्बद्ध पत्र प्रकाशित हुए हैं। पारसनिस-कृत **'श्री ब्रह्मेन्द्र स्वामी चरित्र'** में भी बाजीराव की बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई संबंधी कई पत्र छपे हैं। उसी प्रकार **'इतिहास-संग्रह'** माला में **'ऐतिहासिक फिरकोल प्रकरणें'** शीर्षक ग्रंथ में पारसनिस ने अलीबहादुर का सन् १७९० ई० तक का पत्र-व्यवहार प्रकाशित किया है। खरे द्वारा संपादित **'ऐतिहासिक पत्र संग्रह'** की चौदह जिल्दों में भी यत्र-तत्र बुन्देलखण्ड-संबंधी उल्लेख ढूंढ़ निकालने होंगे। महादजी

सिन्धिया के पत्र-व्यवहार के भी तीन विभिन्न संग्रह अवतक प्रकाशित हुए हैं। **'वकील-इ-मुतलक'** की हैसियत से उनका समस्त उत्तरी भारत से संबंध रहा है। उनके पत्रों में भी बुन्देलखण्ड के मामलों का उल्लेख मिलता है। हिम्मत-बहादुर और अली बहादुर का सिंधिया के साथ-ही-साथ बुन्देलखण्ड के साथ अभिन्न संबंध रहा है।

अंत में गुलगुले दफ़्तर का उल्लेख किये विना नहीं रह सकते। मराठों के वकीलों का यह घराना सन् १७३८ ई० से कोटा में बस गया और इस प्रदेश-संबंधी सारा कारबार करता रहा। गुलगुले घराने के इस दफ़्तर में भी बुन्देलखण्ड-संबंधी बहुत-सी उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है। ग्वालियर के सरदार आनन्दराव भाऊ साहब फालके इस दफ़्तर को क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इस दफ़्तर के सब पत्रों की नकलें हमारे निजी संग्रह में भी विद्यमान हैं।

मराठी भाषा में प्रकाशित एवं प्राप्य इस अगाध ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण अध्ययन किए बिना अठारहवीं शताब्दी का बुन्देलखण्ड का इतिहास नहीं लिखा जा सकता। यह आवश्यक है कि बुन्देलखण्ड के इतिहास के विद्यार्थी मराठी भाषा का अध्ययन कर इस सामग्री की भलीभांति छानबीन कर इस प्रदेश के तत्कालीन इतिहास को पूर्णतया क्रमबद्ध रूप में समुपस्थित करें।

४—फ़ारसी अखबार (१७७९-१८१८ ई०) और उनका महत्व

मराठी भाषा में लिखे गए पत्र एवं अन्य सामग्री का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, परंतु ज्यों-ज्यों मराठों का राज्य विशृंखलित होने लगा और जैसे-जैसे मराठा सरदार अधिक शक्तिशाली होकर अर्द्ध स्वतंत्र स्वाधीन शासक बनने लगे, पूना भेजे जानेवाले पत्रों की संख्या कम होने लगी। उन सुदूर प्रदेशों की ओर ध्यान भी प्रायः कम दिया जाता था। उत्तरी भारत में उस समय प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनैतिक केन्द्र में आसपास के स्थानों से प्राप्त खबरों को एकत्रित कर अखबार तैयार कर दूर-दूर प्रदेशों में भेजने की प्रथा चल निकली थी। सन् १७७५ ई० के बाद ऐसे अखबारों का महत्व बढ़ गया था। यही कारण था कि उन दिनों इन अखबारों के संग्रह तैयार किए जाने लगे थे। ये अखबार सन् १८१८ ई० के अंत तक प्रचलित रहे और मालवा, राजपूताना तथा इन प्रदेशों में अंग्रेजों की स्थापना होने के बाद ही इनका अंत हुआ। ऐसे अखबारों के छोटे-मोटे कोई पंद्रह-बीस संग्रह हमें युरोपीय पुस्तकालयों के हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रहों में मिलते हैं। ये अखबार फ़ारसी में लिखे जाते थे। अबतक अखबारों के जो संग्रह प्राप्त हुए हैं, वे सन् १७७९ ई० के बाद के हैं और सन् १८१८ ई० के अंत तक मिलते हैं। कोई चालीस वर्षों के इस लंबे काल में यत्रतत्र कई बरस ऐसे भी निकले हैं, जिनके कोई भी अखबार अब तक प्राप्त नहीं हो सके हैं, जैसे १७८८-१७९२, १७९८-१८०३, १८०६-१८०८ ई०। प्राप्य अखबार कोई दस हजार हस्तलिखित पृष्ठों में जाकर संपूर्ण हुए हैं। अब तक जितने भी ऐसे अखबार-संग्रहों का पता लगा है, उन सब की नक़लें की जाकर हमारे निजी संग्रह में सुरक्षित रक्खी गई हैं।

इसी प्रकार के फ़ारसी अखबारों का एक बहुत बड़ा संग्रह पूना के एलियनेशन आफ़िस में सुरक्षित है। इस संग्रह में कुल मिलाकर कोई छः-सात हज़ार फ़ारसी अखबार हैं। यद्यपि इनमें से कुछ अखबार ईसा की अठारहवीं शताब्दी के भी हैं, तथापि इस संग्रह में प्रधानतया सब अखबार सन् १८०५ ई० के बाद के ही हैं। सन् १८१८ ई० से बाद के कोई अखबार नहीं मिलते। इन सब अखबारों के फोटो हमारे संग्रह में विद्यमान हैं।

ये अखबार जो उत्तरी भारत के महत्वपूर्ण केन्द्रों या उत्तरी भारत से सम्बद्ध महत्वपूर्ण व्यक्तियों के कैम्पों से लिखे जाते थे, उन सब में उत्तरी भारत के प्रायः सब प्रदेशों से प्राप्त सारी महत्वपूर्ण खबरें लिखी जाती थीं। बुन्देलखण्ड यों तो पेशवा के अधिकार में समझा जाता था, परन्तु सिन्धिया, होलकर एवं भोंसले आदि सरदारों को भी बुन्देलखण्ड के मामलों में बहुत दिलचस्पी थी। अतएव इन अखबारों में बुन्देलखण्ड के मामलों का यत्र-तत्र उल्लेख होना स्वाभाविक ही है। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों का इतिहास लिखने में इन अखबारों से पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी।

औरंगजेब के सिंहासनारूढ़ होने के साथ ही बुन्देलखंड का एक महत्वपूर्ण काल प्रारंभ हुआ और सन् १८१८ ई० तक यह परिवर्तन-काल चलता ही रहा। यद्यपि इस काल की पिछली शताब्दी बहुत ही गौरवपूर्ण न थी, फिर भी ऐतिहासिक घटनाओं एवं निरंतर होनेवाले परिवर्तनों के कारण ही इस काल का महत्व बना रहा और इस निकट भूत का इतिहास ठीक-ठीक समझे बिना इस प्रदेश के भावी राजनैतिक मार्ग को सरलता-पूर्वक निश्चित करना संभव नहीं। बुन्देलखण्ड प्रान्त की आज की राजनैतिक परिस्थिति का स्वरूप इन्हीं एक सौ सत्तर वर्षों के इसी परिवर्तन-काल में निश्चित हुआ था और आज बुन्देलखण्ड के सम्मुख समुपस्थित होनेवाली कई एक कठिनाइयों अथवा विरोधों का बीजारोपण इन्हीं बरसों में हुआ था। यह सत्य है कि सन् १८१८ ई० के बाद इधर कोई सवा सौ वर्ष बीत चुके हैं, जगद्व्यापी महत्वपूर्ण घटनाओं, नवीन राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप अब परिस्थिति में बहुत ही फेरफार हो गया है, सारा वातावरण ही पूर्णतया बदल गया है; किन्तु फिर भी आज जो-जो कठिनाइयाँ उठ रही हैं, वे उसी परिवर्तन-युग की देन हैं और उनको सुलझाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि उन कठिनाइयों को ठीक तरह समझ कर उनको समूल नष्ट किया जाय। उस परिवर्तन-काल के प्रामाणिक इतिहास का अध्ययन इस ओर बहुत ही सहायक हो सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बुन्देलखण्ड के इतिहासकार यह न सोच लें कि इस लेख में तत्कालीन सारी ऐतिहासिक सामग्री की विवेचना की जा चुकी है। पूर्वोक्त सामग्री के अतिरिक्त और भी बहुत सी ऐसी सामग्री हैं, जो सुलभ है या जिसका बुन्देलखण्ड के इतिहास से इतना सीधा संबंध है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बुन्देलखण्ड में भी अभी तक स्थानीय ऐतिहासिक सामग्री की पूरी-पूरी खोज नहीं हुई है, जिसके बिना काम नहीं चलेगा। इस स्थानीय सामग्री की सहायता से ही हमें स्थानीय महत्व की ऐतिहासिक घटनाओं आदि का पूर्णरूपेण पता लगेगा।

इस लेख में तो केवल उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री की कुछ विवेचना की गई है, जो प्रायः सुलभ नहीं है और न जिसका बुन्देलखण्ड के इतिहास से कोई सीधा संबंध ही दीख पड़ता है। अतएव बुन्देलखण्ड के इतिहासकारों का उसकी ओर आसानी से ध्यान आकर्षित न होगा। यह यथास्थान बताया ही जा चुका है कि यों तो यह सामग्री सुलभ-साध्य न थी, किंतु बहुत सी सामग्री की नकलें हमारे निजी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वे अब इतिहासकारों को सुलभता से प्राप्त हो सकती हैं। बुन्देलखण्ड के इस काल के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्वानों से मेरा विशेष आग्रह होगा कि वे इस सामग्री का पूर्ण उपयोग करें।

बुन्देलखण्ड जैसे प्रदेश के इतिहास की सामग्री एकत्रित करना कोई सरल काम नहीं। यह प्रान्त शताब्दियों से खण्ड-खण्ड में विभक्त ही रहा है। जब कभी भी एकता स्थापित हुई, वह बहुत काल के लिए स्थायी न रही। राजनैतिक दृष्टि से या शासन के लिए भी इस प्रदेश का संगठन नहीं हुआ तथा इस प्रदेश के इतिहास की सामग्री एकत्र करने अथवा उसकी प्रान्तीय एकता को देखते हुए उस सामग्री का अध्ययन करने की ओर अब तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। गुजरात एवं मालवा जैसे प्रदेशों की राजनैतिक एकता शताब्दियों तक अक्षुण्ण बनी रही। उन प्रान्तों में भी, इस राजनैतिक एकता का अन्त होते ही, ऐतिहासिक सामग्री के अध्ययन का अभाव तथा उस सामग्री के संचित न किए जाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। उन्हीं कठिनाइयों का बुन्देलखण्ड के समान सर्वदा विभक्त रहने वाले प्रान्त के इतिहास के लिए बहुत अधिक मात्रा में अनुभव होना स्वाभाविक ही है। आशा की जाती है कि इन कठिनाइयों का सामना करते हुए बुन्देलखण्ड के इतिहासकार इस युग का वृहत् क्रमबद्ध इतिहास लिखकर भारतीय इतिहास की एक बड़ी कमी को पूरा करेंगे।

सीतामऊ]

बुन्देलखण्ड के दर्शनीय स्थल

[ऐतिहासिक, प्राकृतिक और धार्मिक]

१. प्रथम भाग

श्री राधाचरण गोस्वामी एम्० ए०

'बुन्देलखण्ड' नाम कोई तीन-चार सौ वर्ष से प्रयोग में आया है। इसके प्रथम इस प्रदेश का नाम जिजाक-भुक्ति, जीजभुक्ति या जिझौति रहा है, जो यजुर्होति का अपभ्रंश है। इस छोटे से प्रदेश में ऐतिहासिक दृष्टि से संसार को बहुत कुछ भेंट करने की सामग्री विद्यमान है, पर प्रायः वनस्थली है और अगम्य दुरूह गम्य स्थान हैं। शताब्दियों से अदूरदर्शी शासकों के द्वारा शासित रहने के कारण यह अमूल्य सामग्री नष्ट हो चुकी है। समय और मनुष्य के आघात-प्रत्याघात से जो कुछ शेष है, वह न केवल इस छोटे प्रदेश को, अपितु समस्त भारतवर्ष को विश्वकला और दर्शन की गैलरी में उच्च स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है।

(१) ऐतिहासिक स्थान

१. **देवगढ़**—झांसी से बंबई जाने वाली लाइन पर जाखलौन स्टेशन से नौ मील पर जंगल के बीच बेतवा नदी के कूल पर स्थित है। यहाँ पर हिंदू और जैन मंदिरों का समूह है। इनमें विष्णु-मंदिर कला की दृष्टि से विख्यात है। यह चतुर्थ शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर पाँचवीं के प्रारंभ के समय का माना जाता है। रायबहादुर दयाराम साहनी ने वहाँ पर १९१७ ई० में शिलालेख देखा था, जिसमें लिखा था कि 'भगवत् गोविन्द ने केशवपुर से अधिपति देव के चरणों में इस स्तंभ का दान किया था।' यह गोविन्द सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र परम भागवत गोविन्द जान पड़ते हैं। विष्णु मंदिर का विशद वर्णन इस ग्रंथ में अन्यत्र हुआ है।

२. **खजुराहो**—झांसी-मानिकपुर रेल की लाइन पर हरपालपुर या महोबा से छत्तरपुर जाना पड़ता है। वह कई मार्गों का जंकशन है। छत्तरपुर राज की वही राजधानी है। इसी के अन्तर्गत राजनगर तहसील में चन्देल-कालीन उत्कृष्ट शिल्पकला से पूर्ण मंदिरों का समूह खजुराहो में है। छत्तरपुर से सतना वाली सड़क पर बीस मील चलकर बमीठा पुलिस थाना है। वहाँ से राजनगर को, जो दस मील है, मार्ग जाता है। सातवें मील पर खजुराहो है। मोटर हरपालपुर से छत्तरपुर (तैंतीस मील) और वहाँ से खजुराहो होती हुई राजनगर जाती है। यह भी सुविधा है कि उसी समय राजनगर से वह वापिस आती है। हमारे इस छोटे से प्रदेश में खजुराहो के मंदिरों की उन्नत कला की कल्पना स्वयं देखकर ही की जा सकती है। चित्रों के खजुराहो और प्रत्यक्ष में बड़ा अन्तर है। खजुराहो की कला उस युग की है, जब हिंदू-सभ्यता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। सुख, सम्पदा और समृद्धि ने शासकों और नागरिकों को विलासप्रिय बना दिया था। यहाँ के मंदिरों में देवगढ़ के मंदिर के समान सुरुचि तो है, पर संयम नहीं। नारी के विलासप्रिय सौंदर्य की विविध भावभंगी मंदिर के अंदर और बाहरी शिलाखंडों, द्वारों, तोरणों, स्तंभों और शिखरों पर सभी जगह अंकित है। प्रत्येक मूर्ति और अभिप्राय (motif) के चित्रण में कलाकारों ने कमाल किया है। पत्थर की मूर्तियाँ दर्शकों को मोहित कर देती हैं। प्रधान मंदिर ये हैं :

(अ) **मातंगेश्वर**—शिव का मंदिर है। इसमें बड़ा भारी शिवलिंग चबूतरे पर स्थित है, जिसके चारों ओर कलामय स्तंभ हैं। उन पर ऊपर की शिखर की छत उलटे कमल की तरह बनी है।

(ब) इसके निकट **लक्ष्मणजी का मंदिर** है। लक्ष्मण जी के हाथ कटे हुए हैं। मूर्ति श्वेत पाषाण की अति सुन्दर है और विजयनगर के राजाओं का सा मुकुट पहिने है। इस मंदिर की ऊँची जगती के चारों कोनों पर छोटे-छोटे मंदिर हैं। उनमें एक में सरस्वती की-सी मूर्ति मालूम पड़ती है, जो बड़ी सुन्दर, सौम्य और भावपूर्ण है।

(स) इसी के उपरान्त कुछ दूरी पर एक मंदिर है, जो **भरतजी का मंदिर** कहलाता है। भगवतदयाल जी ने इसे सूर्य का मंदिर माना है। उन्होंने एक ग्यारह शिरवाली विष्णु की मूर्ति का भी उल्लेख किया है।

(द) एक दूसरा **शिव का मंदिर** है। यह भी सुन्दर है। इसमें शिलालेख है। संवत् १०५९ वि० का यह माना जाता है। इसमें नानुक से बंग पर्यन्त नरेशों की वंशावलि है। धंग के द्वारा मंदिर निर्माण करने का वर्णन है। बंग ने नीलम के शिवलिंग की मूर्ति की स्थापना की थी। दूसरा शिलालेख इस मंदिर का नहीं, वैद्यनाथ मंदिर का है, जो ध्वंस हो चुका है। संवत् १०५८ विक्रम का। इसमें किसी कोक्कल द्वारा ग्राम-निर्माण का उल्लेख है।

इस मंदिर के सामने **नंदी की मूर्ति** छोटे से मंदिर में है। इसको भूल से स्व० भगवतदयालजी ने मसाले की बनी माना है। वास्तव में एक जगह उसका पैर का मसाला उखड़ गया है। नीचे पत्थर निकल आया है। उससे प्रकट है कि वह पालिश अधिक गहरी नहीं। भीतर पत्थर है। मौर्यकालीन पालिश की तरह की पालिश है।

(इ) **देवी का मंदिर**, जो काली का कहलाता है। मूर्ति की अब भी पूजा होती है।

(क) **खंजरिया महादेव**—यह सबसे बड़ा शिव जी का मंदिर है। मंदिरों के पीछे की ओर है। मूर्तियों की हर जगह भरमार है।

(ख) **बाराह की मूर्ति**—जिसमें सहस्रों देवता बने हैं। पालिश सुन्दर है।

(ग) **हनुमान की एक विशाल मूर्ति** सबसे पहले सड़क के पास ही स्थित है। इसमें एक लेख होना कहा जाता है, जो ९२२ ई० का माना जाता है। यह खजुराहो में मिले लेखों में सबसे प्राचीन है।

(घ) एक जगह मूर्तियों को एक घेरे में रख दिया गया है। इसमें एक **नागकन्या की मूर्ति** विलक्षण है। यह मंदिर चंदेल-काल के हैं, जब कि यशोवर्मन और धंग का यहाँ पर राज्य था। यशोवर्मन का राज्य काश्मीर से नर्मदा तक फैला था और धंग का भी बड़ा विस्तृत राज्य था। धंग की सेना भटिंडा के राजा जयपाल के साथ थी, जब वह सुबुक्तगीन से लड़ा था और फिर महमूद गजनी ने इस जिझौति प्रान्त पर १००८ या ९ में हमला किया। उस समय अनन्दपाल (जयपाल का पुत्र) राज्य करता था। युद्ध हुआ। हिंदुओं की सेना जीत ही चुकी थी कि अनन्दपाल का हाथी बिगड़ गया, सेना में गड़बड़ मच गई। वह हाथी फिर ठीक नहीं हुआ। इस समय कालिंजर का राजा गन्ड था। चन्देल देश की धार्मिक राजधानी खजुराहो, सामरिक कालिंजर और शासनिक महोबा थी। कन्नौज के राजा ने १०१९ ई० में बारहवें आक्रमण पर महमूद का शासन स्वीकार किया। गन्ड ने अपने पुत्र विद्याधर को देशद्रोही के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजा। महमूद फिर बदला लेने आया। हमीरपुर गजेटियर में लिखा है कि धंग लाखों सेना के होते रात को उठकर भाग गया। सन् १०२२ ई० में महमूद फिर आया। कालिंजर पर, कहते हैं, धंग ने कायरता दिखाई और सब कुछ देकर पंद्रह किलों पर शासन रहने को महमूद से अभिषेक लिया।

३. कालिंजर, अजयगढ़, मनियागढ़, मरफा, बारीगढ़, मौदहा, गढ़ और मैहर या काल्पी: इन आठ गढ़ों के चन्देल जनश्रुति के आधार पर स्वामी थे। इनमें कालिंजर व अजयगढ़ प्रसिद्ध हैं।

(अ) **कालिंजर**—चन्द्रब्रह्मा ने करीब ९०० वर्ष हुए, चन्देल राज्य स्थापित करके कालिंजर व महोबा बसाया। बाँदा से नरैनी २२ मील, पक्की सड़क फिर कच्ची पड़ती है। नरैनी तक लारी चलती है। पहाड़ के ऊपर कालिंजर का किला स्थित है। वहाँ पहुँचने को कई दरवाजे पड़ते हैं, जिनका मुस्लिम काल में नाम परिवर्तन

हुआ है। कहा जाता है जब भगवान महादेव ने हलाहल पान किया और नीलकण्ठ हो गये तब इसी स्थान पर निवास किया। सीताराम के आने की भी कथा सुरक्षित है। **'सीता सेज'** एक स्थान का नाम है।

पहाड़ पर **'स्वर्गारोहाणं'** जलाशय है। उसमें गर्मियों में स्वच्छ शीतल जल मिलता है। पहले **नीलकंठ महादेव का विशाल मंदिर** था। उसके टूटे खंभे विशालता की स्मृति के स्मारक हैं। वहाँ के पुजारी चन्देल क्षत्रिय हैं। हजारों मूर्तियाँ और भी खुदी हुई हैं। स्वर्गीय कुं० महेन्द्रपाल जी के अनुसार वहां हजारों लेख हैं।

इस गढ़ का इतिहास भारतीय इतिहास में विशेष स्थान रखता है। १२०२ ई० में कुतुबुद्दीन ने यहाँ पर आक्रमण किया। परमाल को हराया। १५३० ई० में हुमायूं ने चढ़ाई की। दो वर्ष निरंतर युद्ध के बाद सफल हुए। फिर १५५४ ई० में शेरशाह चढ़ आया। युद्ध में घायल होकर भागा और मारा गया। रामचन्द्र बघेल का कुछ दिन अधिकार रहा। फिर सम्राट् अकबर के हाथ आया। और राजा बीरबल को जागीर में मिला। पन्ना के महाराज छत्रशाल ने इसे मुसलमानों से जीता और अपने पुत्र हृदयशाह को जागीर में दिया। इसी वंश में अमानसिंह और हिंदूपति हुए। हिंदूपति ने अमानसिंह को मरवाया। गृहकलह का लाभ उठाकर बेनी हजूरी और कायमजी चौबे ने अधिकार किया। फिर १८१२ ई० में अंग्रेजों के हाथ आया।

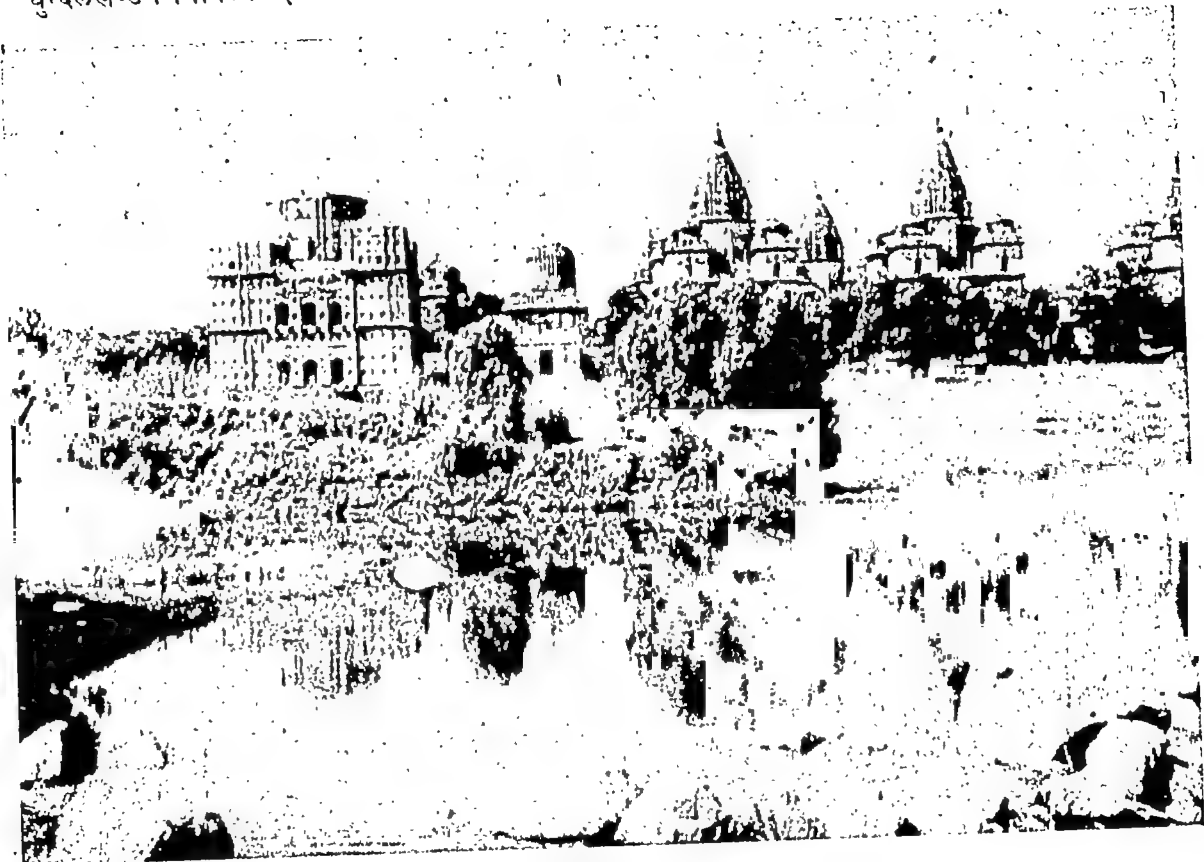
इस गढ़ के प्रत्येक पाषाण में, वहाँ की मूर्तियों में, भग्न मंदिरों में और टूटे हुए शिलालेखों में पुरातन भारत के समुज्ज्वल इतिहास की मूल्यवान सामग्री है।

(ब) **अजयगढ़**—अजयगढ़ अब भी एक अलग राज्य है। अजयगढ़ उसी की राजधानी है। उसका किला पहाड़ पर है। वह अजयपाल का बनवाया है। एक के बाद एक फाटक पार करने पड़ते हैं। पाँच फाटक पार कर दर्शक वहाँ पहुँचता है। वहाँ पर पहाड़ को काट कर दो कुण्ड बने हैं और पहाड़ खंभों पर स्थित है। यह कुण्ड **गंगा-यमुना** कहलाते हैं। जल सदा रहता है। **रंगमहल** वहाँ के दर्शनीय हैं। इनमें अच्छी कला है। **भूतेश्वर** के दर्शनों को परकोटा के नीचे-नीचे जाना पड़ता है। वहाँ भी दो कुण्ड हैं और शिलाओं से पानी टपकता रहता है। यहाँ **भूतेश्वर की गुफा** है।

इनके अतिरिक्त **गंज** (गाजरगढ़), **नचनौरा**, **चौमुखनाथ** भी प्रधान प्राचीन स्थान वहाँ हैं। शिलालेख भी हैं।

४. **दतिया के पुराने महल**—दतिया झांसी के उत्तर में जी० आई० पी० की बड़ी लाइन पर स्टेशन है। वहाँ पर राजधानी के समीप ही **लाला के ताल** पर स्थित महाराज वीरसिंह देव प्रथम ओरछा नरेश का बनाया महल है। वह ठीक चौकोर है। सात मंजिल का है। चारों कोनों पर चार गुम्बद हैं और इस चौकोर भवन के मध्य में एक भवन पांच मंजिल का है, जिसमें प्रत्येक मंजिल पर चारों ओर से आने-जाने को मार्ग-से बने हैं। उस पर पाँचवाँ गुम्बद है। हिंदू कला और पारसीक हिंदू कला के शुद्ध और कलापूर्ण सम्मिश्रण का अद्भुत उदाहरण है। उसे कुछ ऐतिहासिकों ने ईसा के क्रास के आधार पर बना कह कर पश्चिमीय कला से प्रभावित होना बताया था, पर भारतप्रेमी कलाकार स्व० डॉ० हेवेल ने इसे स्वस्तिक के आधार पर बना बताया है। उनका कथन है कि यह मध्ययुग की सर्वोत्तम कृति है। इसमें भी **रंगमहल** है और उसमें तत्कालीन चित्रकारी है, जिससे वेष-भूषा का पता लगता है।

५. **ओरछा**—ओरछा स्टेशन झांसी-मानिकपुर लाइन पर है। वहाँ से लगभग तीन मील पर ओरछा राज्य की पुरानी राजधानी है। बेतवा के तीर पर बने हुए राजप्रासाद, **रामराजा का मंदिर, जहाँगीरी महल, लक्ष्मी-मंदिर, वीरसिंह नरेश (प्रथम) की समाधि और चतुर्भुजजी का मंदिर** दर्शनीय हैं। दतिया के पुराने महल की प्रणाली का वीरसिंहदेव का महल है। मंदिर भी तभी के हैं। अब ओरछा की राजधानी टीकमगढ़ है। ओरछा राज्य बुन्देलखण्ड का सबसे पुराना राज्य है। रामराजा के मंदिर में भगवान रघुनाथ जी की मूर्ति विराजमान है। नाभाजी कथित भक्तमाल में उल्लेख है कि उसे श्री अयोध्या जी से महारानी ओरछा लाई थीं। प्रत्येक पुष्य नक्षत्र में वह चलते थे। इस तरह सालों में आये। महारानी जी जब वृद्ध हुई, उन्हें सेवा करने में कष्ट होने लगा तो वे विराज गये। भक्त और



ओरछा में वेत्रवती

[बाईं ओर वीरसिंह देव प्रथम की समाधि है

भगवान की दया की सुन्दरगाथा है। स्थान प्राकृतिक दृश्यों से सुशोभित है। देतवा (वेत्रवती) की छटा दर्शनीय है। ऊँचे-ऊँचे कगारों पर घने वृक्ष हैं। लतिकाएँ जल का स्पर्श करती हैं। वनस्थली में वन्य पशुओं का बाहुल्य है और सरिता में यहाँ-वहाँ द्वीप बने हैं। सारस और बगुला क्रीड़ा करते रहते हैं।

६. (क) **महोवा**—यह चन्देल काल का पुराना स्थान झाँसी-मानिकपुर रेल की लाइन पर ब्रिटिश भारत में है। चन्देलकाल के वड़े-वड़े **तड़ाग, आल्हाऊदल की बारादरी, कीर्तिसागर,** जिसकी प्रशंसा आल्हाचरित में वर्णित है, वहाँ की पुरातन स्मृतियों को सजीव करते हैं।

(ख) **राठ व कुल पहाड़**—में भी पुरातन-स्थान तथा **वेलाताल** और **विजयनगरताल** दर्शनीय हैं। यहाँ पर दर्जनों मन्दिर, मठ, स्मारक, प्रकृति की गोद में बिखरे पड़े हैं। जहाँ भी शिलालेख होता है, हमारे अशिक्षित ग्रामीण और शिक्षित नागरिक भी उसे बीजक समझते हैं, जिसमें गुप्त धन की प्राप्ति का साधन लिखा मानते हैं। अतः वे नष्ट कर दिये जाते हैं और इस प्रकार इस देश का अमूल्य धन नष्ट हो जाता है।

(२) हिन्दू तीर्थ

१. **चित्रकूट**—झाँसी मानिकपुर रेल लाइन पर चित्रकूट स्टेशन है। कर्वी में उतरना अधिक सुविधाजनक होता है। हिन्दुओं का यह तीर्थ सारे भारत में प्रसिद्ध है।

प्रधान दर्शनीय स्थल

(अ) **बाँकेसिद्ध**—सिद्धपुर ग्राम के पास प्रपात है। झरने का जल दो कुण्डों में एकत्र होता है।

(ब) **कोटितीर्थ**—पर्वत में दो मील पर है। कोटि मुनियों ने यहाँ तप किया था। यहाँ धर्मशाला भी है।

(स) **देवांगना**—प्रपात है। मन्दिर है।

(द) **हनुमानधारा**—सब प्रपातों से रमणीक है। हनूमान जी की मूर्ति पर जल गिरता है।

(इ) **प्रमोदवन**—उद्यान के प्रकार का वन है।

(क) **सिरसावन**—वन है।

(ख) **जानकीकुण्ड**—सिरसावन से एक मील है। पयस्विनी सरिता की शाखा मन्दाकिनी यहाँ पथरीली भूमि पर बहती है।

(ग) **अनुसूयाजी**—महर्षि अत्रि और उनकी पत्नी का स्थान है। घना जंगल है।

(घ) **स्फटिकशिला**—बड़ी भारी पत्थर की शिला पहाड़ पर है। रामायण में इसका वर्णन है।

(ङ) **गुप्तगोदावरी**—चौबेपुर से दो मील है। चित्रकूट स्टेशन से दस मील। गुप्तगोदावरी एक नदी है। पता नहीं कहाँ से पहाड़ों के भीतर-भीतर बहती हुई वह यहाँ आकर दर्शन देती है। प्रवेश करने को गुफा में जाना पड़ता है। और भी गुफाएँ हैं।

(च) **रामसैय्या**—भगवान राम सीता की शैल-सैय्या है।

(छ) **भरतकूप**—भरतकूप स्टेशन से निकट है। भरत जी ने अत्रि ऋषि की आज्ञानुसार सब स्थानों का जल यहाँ डाला था।

२. **बालाजी**—दतिया व झाँसी के पास दतिया राज्य के अंतर्गत उन्नाव तहसील में पहूज नदी के किनारे है। यहाँ सूर्य देवता के मन्त्र की पूजा होती है। हजारों नर-नारी पूजा करते हैं। चर्मरोग पीड़ित हिन्दू और अहिन्दू यहाँ आकर निरोग होने की भिक्षा माँगते हैं। दतिया में यात्रा से लौटती हुई रमणियों को गाते सुना है—

बालाजी बिरोबर देय नैय्याँ, देवता नैय्याँ। बालाजी···

३. **मैहर की शारदा देवी**—पुरातन स्थान है। मैहर, मानिकपुर कटनी लाइन पर मैहर राज्य की राजधानी है। इस स्थान की बड़ी पूजा होती है।

४. **पन्ना के प्राणनाथ**—हिन्दुओं में एक 'धामी' मत है, जिसे प्राणनाथी भी कहते हैं। पन्ना इसका प्रधान केन्द्र है। गुजरात, पंजाब, काठियावाड़ सभी जगह हज़ारों शिष्य हैं। मन्दिर के गुम्बज पर सोना लिपटा है। पुस्तक की पूजा होती है, जिसमें पुराण और क़ुरान का मिश्रण कहा जाता है। प्राणनाथ महाराज छत्रशाल के गुरु थे। कहते हैं, द्रव्य की कमी के कारण उन्होंने वरदान दिया था कि जहाँ तक घोड़े पर चढ़े जाओगे, हीरा की भूमि हो जायगी। अब भी उसी से लगी भूमि में बिजावर व चरखारी राज्य में हीरा निकलता है।

५. **कुण्डेश्वर**—टीकमगढ़ से ललितपुर की सड़क पर चार मील पर है। 'मधुकर'-कार्यालय यहीं है। जमडार नामक नदी में वर्तमान ओरछा नरेश के पितामह ने बाँध लगवा कर एक मनोरम प्रपात का निर्माण कराया था, जो आज भी अपने अनुपम सौन्दर्य से दर्शक को मुग्ध कर लेता है। प्रपात के निकट एक बड़ी कोठी तथा कुछ दूर पर दूसरी कोठी व उपवन है। प्रकृति का कमनीय स्थान है। शिवलिंग नूतन प्रणाली के मन्दिर में स्थापित है। मूर्ति प्राचीन है। यहाँ पर हर साल मेला लगता है।

६. **जटाशंकर**—छतरपुर राज्य में बिजावर निकट है। आसपास बिजावर राज्य है। दो प्रपात हैं और सुन्दर छोटे-छोटे कुण्ड। उनके जल में चर्मरोग शोधन की शक्ति है। शिवजी का स्थान है। पुरातन है। बुन्देलखण्ड में इसकी बड़ी मानता है।

७. **भीमकुण्ड**—बिजावर राज्य में बिजावर से बीस मील दक्षिण की ओर है। पहाड़ में गुहा है, जो १६५× ८५ फ़ुट है। बीच में कोई पत्थर के खम्भे नहीं हैं। उसमें जाने को अच्छा सोपान है। अगाध जल भरा है। सौ फ़ुट तक स्पष्ट दिखाई देता है। जल बड़ा हल्का और स्वास्थ्यप्रद है। संक्रान्ति को मेला लगता है। उसके कारण यहाँ पर संक्रान्ति को ही 'बुड़की' कहते हैं।

(३) जैन-तीर्थ

बुन्देलखण्ड में, विशेषकर बिजावर राज्य में, जैन-मतावलम्बी बहुत बड़ी संख्या में हैं। प्रतीत होता है कि जब हिन्दुओं ने जैनों के साथ सद्व्यवहार नहीं किया तो वे इधर जंगलों में आ गये। अथवा यह उनके वंशज हैं, जो बहुत काल से यहीं थे और आठवीं शताब्दी के पुनरुत्थान से अप्रभावित रहे।

(क) **सोनागिरि**—दतियाराज्य में जी० आई० पी० का स्टेशन है। वहाँ पर पुराने और नये मन्दिरों का पर्वत पर बाहुल्य है। धर्मशाला है। सहस्रों जैनयात्री प्रति वर्ष श्रद्धांजलि समर्पित करने आते हैं।

(ख) **द्रोणगिरि**—(सेंधपा) बिजावर राज्य में छतरपुर सागर रोड पर मलहरा से पूर्व की ओर छः मील पर है। चन्द्रभागा सरिता, जिसका वर्तमान नाम 'काठन' है, अनवरत प्रवाहित रहती है। एक पर्वत को घेर लिया है। एक ओर से एक शाखा दूसरी ओर से दूसरी आ मिलती है। अद्भुत प्राकृतिक दृश्य है। पर्वत पर जैन मन्दिर हैं। नीचे जागीरदार साहब की गढ़ी, धर्मशाला और पाठशाला है। बयालीस ग्रामों के प्रशस्त प्रदेश को इधर 'दौन' कहते हैं, जो द्रोण का अपभ्रंश है। द्रोणाचार्य को यह गुरुदक्षिणा में मिला था। उनकी यह भूमि है। यदि यह सत्य है तो द्रोणगिरि के पुरातन होने में सन्देह नहीं।

(ग) **पपौरा**—ओरछा राज्य की वर्तमान राजधानी टीकमगढ़ से तीन मील पूर्व की ओर है। दिगम्बर जैनों के ७५ मन्दिर हैं। मीलों से दीखते हैं। यहाँ पर १३वीं से अब तक भिन्न-भिन्न शताब्दियों के शिलालेख मिलते हैं। अलग-अलग प्रकार की प्रस्तरकला के अच्छे उदाहरण हैं।

(घ) **अहार**—ओरछा राज्य में है। शान्तिनाथ की यहाँ अठारह फ़ुट की बड़ी ही मनोज्ञ मूर्ति है। परमर्द्धिदेव चन्देल नरेश के काल में सं० १२३७ वि० में वह स्थापित हुई थी। मूर्ति दर्शनीय है। वहाँ पर ढाई-तीन सौ छोटी-बड़ी मूर्तियों का संग्रह है। प्राकृतिक छटा अद्भुत है।

(ङ) **अन्य जैन तीर्थ**—नयनगिरि, चन्देरी, देवगढ़, कुण्डलपुर, पवा, वालावेंट, वजरंगगढ़, पराई, सेरौन तथा खजुराहा आदि हैं।

(४) अन्य दर्शनीय स्थान

१. **विजावर के दर्शनीय स्थान**—विजावर वन प्रधान देशी राज्य है। यहाँ प्रकृति ने अपरिमित वरदान दिया है।

(क) **करैय्या के पाण्डव**—पाँच सतत् प्रवाहित सरिताएँ एकत्र होकर एक पहाड़ी-शृंखला से टकराती हैं। उसे पार न कर सकने पर अन्दर समा जाती हैं। फिर कई मील के बाद निकलती हैं। दृश्य अनुपम है।

(ख) **सलैय्या के पाण्डव**—पर्वत पर प्रकृति के विलकुल गोल कटे हुए कूप हैं। उनमें अगाध जल रहता है। फिर जल लोप सा हो जाता है। अनंतर एक प्रपात वन कर गिरता, वहता और लुप्त होता है। एक पेड़ की जड़ से जल निरन्तर वहता है और केतकी, केला को पानी देता है।

(ग) **घोघरा**—एक प्रपात है। फिर दूसरा प्रपात है, उससे झरना वहता है। उसकी कगार में गुहा है। वहाँ प्राचीन चित्रकारी है। कहीं बूंद-बूंद पानी टपकता है। कहीं पर्वत के शीर्ष पर अज्ञात स्थान से आने वाले जल का छोटा कुण्ड है। कहीं पर चन्देलकाल के पाषाण के वँधे वाँधों के तड़ाग हैं, जहाँ पक्षी क्रीड़ा करते हैं। सागौन, तेंदू, अचार, महुआ और सेजे के जंगल हैं। उनमें तेंदुआ, रीछ, सांभर, चीतल स्वच्छन्द विचरण करते हैं। एक ओर धसान और दूसरी ओर केन वहती है।

२. **झाँसी का वेतवा का वाँध**—छतरपुर पन्ना के मार्ग से वमीठा से वारह मील पर दर्शनीय स्थल है।

३. **महेवा**—छत्रसाल महाराज की समाधि और उनकी महारानी की समाधि का स्थान ओरछा राज्य की जतारा तहसील में है।

४. **वरुआसागर**—प्राकृतिक दृश्यों के लिए अक्षय कोष है। वहाँ के क़िला, तालाव, प्रपात, गुप्त झरना और उपवन दर्शनीय हैं।

५. **जगम्मनपुर का पचनदा**—यहाँ पर पाँच नदियों का संगम कंजौसा ग्राम पर होता है। अति रमणीक स्थान है।

६. **गढ़कुंडार**—श्रीयुत वृन्दावनलाल जी वर्मा के 'गढ़कुंडार' उपन्यास के पात्रों के क्रीड़ास्थल का आधार, वुन्देलों के पूर्व के खंगार (खड्गहारों) का मुख्य स्थान। पुराना गढ़ झाँसी के निकट है।

७. **पन्ना के अन्य स्थान—वृहस्पतिकुंड झरना, हीरों की खदान, वल्देव जी का मन्दिर।**

८. **सामरिक गढ़**—सामरिक दृष्टि से झाँसी, दतिया राज्यान्तर्गत सेउड़ा और समथर के मध्यकालीन गढ़ वहुत कुछ अच्छी दशा में अव भी विद्यमान हैं। दर्शनीय हैं। झाँसी का क़िला केवल शिवरात्रि को जनता के लिए खोला जाता है।

यह है हमारा वुन्देलखण्ड, जहाँ प्रागैतिहासिक युग में आर्य-अनार्य जातियों में संघर्ष हुआ और भगवान रामचन्द्र के वनगमन के विशिष्ट स्थान अव भी श्रद्धालु नर-नारियों के तीर्थ वने हैं। यहीं के प्रवल-प्रतापी, प्रचंड चेदि-नरेश शिशुपाल ने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विप्लव खड़ा कर दिया था और भगवान श्रीकृष्ण को उसे समाप्त करना पड़ा था। इसी भूमि में गुप्तकालीन देवगढ़ और चन्देलकालीन खजुराहो के अतिरिक्त मौर्य, कण्व, शुंग, कुशानकाल के स्मारक भी टीलों और वनों में विद्यमान होंगे। उत्तुंग पर्वतमालाओं, सघन वनों, निरन्तर निर्मल जल-वाहिनी सरिताओं, पर्वतीय वर्षाकालीन अल्प जीवी झरनों, भिन्न-भिन्न वर्ण-रस प्रभाव वाली भूमियों के इस प्रदेश में वहुत कुछ दर्शनीय है, जो मध्य युग की सभ्यता और संस्कृति को सुरक्षित रख सका है।[1]

विजावर]

---

[1] इस लेख के लिखने में कतिपय लेखों से सहायता ली गई है। उनके लेखकों का हम आभार मानते हैं।

२. द्वितीय भाग

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

प्रथम भाग के लेखक महोदय ने दक्षिण बुन्देलखण्ड के अंग्रेजी ज़िलों के ऐतिहासिक तथा दर्शनीय स्थानों का वर्णन लिख देने की हमें अनुमति प्रदान की है। अतएव यहाँ उनका संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है।

एरन—सागर ज़िले के बीना जंक्शन से नैऋत्य कोण पर ६ मील और खुरई स्टेशन से बारह मील वायव्य कोण पर बीना नदी के किनारे बसा है। बीना नदी इसे तीन ओर से घेरे हुए है। सौन्दर्य दर्शनीय है। सागर ज़िले का यह सबसे प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है। आज से लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पहले सम्राट समुद्रगुप्त इस स्थान के सौन्दर्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने एरन को अपना 'स्वभोग-नगर' बनाया। प्राचीन खंडहरों से मालूम होता है कि पहले यह बहुत बड़ा नगर रहा होगा।

यहाँ पर चतुर्थ शताब्दी का एक खंडावशेष विष्णुमन्दिर है। विष्णु भगवान की विशाल मूर्ति अब भी विद्यमान है। मन्दिर के प्रांगण में सैंतालीस फ़ुट ऊँचा पत्थर का एक विजय-स्तम्भ है। इसके शिरोभाग के चारों कोनों पर चार सिंह बने हुए हैं और मध्य भाग में एक दूसरे से पीठ मिलाये दो स्त्री-मूर्तियाँ खड़ी हैं। स्तम्भ की कारीगरी कलापूर्ण है। इस स्तम्भ पर लिखा है—"सन् ४८४ ई० में बुधगुप्त के राज्य में मातृविष्णु और धन्यविष्णु दो भाइयों ने जनार्दन के हेतु खड़ा किया।"[1] विष्णुमूर्ति के पास एक बहुत ही सुन्दर और विशाल वाराह मूर्ति है। यह ग्यारह फ़ुट ऊँची और साढ़े पन्द्रह फ़ुट लम्बी है। इसके वक्षस्थल पर भी एक शिलालेख है जिससे मालूम होता है कि धन्यगुप्त ने इसे हूण राजा तोरमाणशाह के राज्य के प्रथम वर्ष में बनवाया था।[1]

धामौनी—विन्ध्याचल पर्वत की ऊँची टेकड़ी, पार्वत्य शोभा-युक्त विशालकोट, रम्य वनस्थली, केतकी फूलों की मोहक-महक और खुदे हुए शिलाखंडों पर बहने वाले सुन्दर निर्झरों की छटा एवं कल-कल निनाद सहज ही धामौनी की छाप हृदय पर डाल देते हैं। यह वही धामौनी है, जो बादशाह जहाँगीर के समय उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। हाथियों का बाज़ार भी उस समय यहीं भरता था। बादशाह औरंगज़ेब ने सन् १६७६ ई० में यहाँ एक मसजिद बनवाई, जो **'औरंगज़ेब की मसजिद'** के नाम से प्रसिद्ध है। **सेसाई** और **इशाकपुर** दो गाँव अब भी मसजिद की तेल-बत्ती के खर्चे को लगे हैं। सम्राट अकबर के प्रसिद्ध वजीर अबुलफ़ज़ल को जन्म देने का सौभाग्य इसी भूमि को प्राप्त हुआ था। उनके गुरु **बालजतीशाह** और **मस्तानशाहवली** के मक़बरे अब भी उनकी स्मृति गाथा गा रहे हैं।

यह सुन्दर नगरी अब खंडहरों में परिणत हो गई है। मंडला के राजा सूरतशाह का बनवाया क़िला अब खंडहर के रूप में खड़ा है। चारों ओर की १५ फ़ुट चौड़ी और ५० फ़ुट ऊँची दीवारों का कोट और चारों कोनों की चार सुदृढ़ बुर्जें और ५२ एकड़ की अन्तस्थली वाला मज़बूत क़िला है। इसमें एक मील की दूरी के ताल से नल द्वारा पानी लेने का प्रबन्ध था। इस दुर्ग को ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जू देव प्रथम ने अपने अधिकार में कर लिया था। धामौनी की सैकड़ों मसजिदों, क़बरों और महलों के ध्वंसावशेष आज भी मौजूद हैं। यह स्थान सागर से २८ मील उत्तर की ओर बंडा तहसील में झाँसी की पुरानी सड़क पर है।

विनायका—सागर ज़िले के अन्तर्गत बंडा से १० मील पश्चिम में है। नगर और बांकरई नदी के बीच के मैदान में १७-१८वीं सदी के कई सुन्दर स्मारक बने हुए हैं। यहाँ २० फ़ुट ऊँचा पत्थर का विजय-स्तम्भ भी है। स्तम्भ का शिरोभाग चौकोण और सुन्दर कारीगरी से परिपूर्ण है। इन विजय स्तम्भों को लोग इस तरफ़ **भीमगदा** कहते हैं।

---

[1] देखिए, रायबहादुर हीरालाल कृत 'सागर-सरोज' हिन्दी गजेटियर।

स्तम्भ के पास प्रस्तर-निर्मित एक भव्य मन्दिर है। इसे **मढ़ी** कहते हैं। इसके दरवाजों और खम्भों का प्रत्येक पत्थर सुन्दर कारीगरी, वेलवूटों और देवी-देवताओं की मूर्तियों से सुसज्जित है। यह मढ़ी ही यहाँ की सर्वश्रेष्ठ, दर्शनीय इमारत है। विजय स्तम्भ से एक फ़र्लांग दूर **महावीरजी का मंदिर** है। मूर्ति ७ फ़ुट ऊँची और अपने ढंग की निराली ही है। **महिषासुरमर्दिनी का मन्दिर** यहाँ से एक फ़र्लांग दक्षिण में है। मन्दिर वहुत वड़ा और सुन्दर है। मूर्ति सफ़ेद संगमर्मर की वनी है और तीन फ़ुट ऊँची है।

यह गाँव १५वीं सदी में गढ़ा मंडला के गोंड़ राजाओं ने वसाया था। पश्चात् ओरछा नरेश वीरसिंह जू देव प्रथम ने इसे गोंड़ों से छीन लिया और सम्भवतः इस नगर की विजय-स्मृति में ही सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में उन्होंने उक्त विजय-स्तम्भ का निर्माण कराया।

खिमलासा—सागर से ४१ मील दूर खुरई तहसील में ऐतिहासिक स्थानों में से एक है। किसी राजपूत और मुसलमान के सम्मिलित प्रयास का वनवाया हुआ पुराना क़िला भी यहाँ पर है। इसके भीतर शीशमहल दर्शनीय है। इसमें दर्पण जड़े थे। कुछ अव भी मौजूद हैं। शीशमहल के अतिरिक्त **पंजपीर की दरगाह** भी है, जिसमें लगी हुई पत्थर की जाली विशेष कलापूर्ण है। प्राचीनकाल में अनूपसिंह ने जव इस पर हमला किया तव इसके चारों ओर पत्थर की एक दीवार वना दी गई थी, जो अव कुछ-कुछ गिर गई है। यहाँ पर शिलालेख भी कई हैं। क़िले के सिवाय खिमलासे में **सतीचौरों** की भी वहुतायत है। उनमें से ५१ में तिथि-संवतों के साथ-साथ भिन्न-भिन्न सतियों और वादशाहों के नाम भी अंकित हैं। औरंगजेव के समय की वनवाई एक **ईदगाह** है। मसजिद है। पूरा-का-पूरा खिमलासा पत्थरों का वना हुआ है।

यहाँ पर प्राचीन काल में संस्कृत के शिक्षण का वड़ा प्रचार था। अठारहवीं सदी में स्वयं पंचांग वना कर निर्वाह करने वाली विदुषी **अचलोवाई** यहीं रहती थीं। खिमलासे के स्मृति-चिह्न ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और देखने योग्य हैं।

राहतगढ़—यहाँ पर एक विस्तृत क़िला है, जो ऊँचे स्थान पर वना हुआ है। इसमें वड़ी-वड़ी २६ वुर्जें हैं। वहुतेरी तो रहने के काम में लाई जाती थीं। क़िले के हृदयांचल में ६६ एकड़ भूमि है। इसमें पहले महल, मन्दिर और वाजार वने हुए थे। **'वादल महल'** सवसे ऊँचा है। इसे गढ़ा मंडला के राजगोंड़ों का वनवाया वतलाते हैं। अन्य स्थल **जोगनवुर्ज** है। इस पर से प्राणदण्ड वाले क़ैदियों को वीना नदी की चट्टानों पर ढकेल दिया जाता था। लगभग तीन मील की दूरी पर नदी का ५० फ़ुट ऊँचा प्रपात भी है।

गढ़पहरा—मैदान से एकदम ऊँचे उठने वाले शिखर पर दांगी राजाओं का वनवाया एक क़िला है। शीशमहल भी है, जिसमें रंग-विरंगे काँच जड़े हुए थे। क़िला जीर्णावस्था में है। क़िले के उत्तर में टौरिया के नीचे **मोतीताल** नामक छोटा-सा तालाव है। गढ़ से सटा हुआ **हनुमान जी का मन्दिर** है। आषाढ़ मास के प्रत्येक मंगलवार को छोटा-सा मेला भरता है।

गढ़ाकोटा की धौरहर—छत्रसाल के लड़के हृदयशाह ने गाँव से दो-ढाई मील दूर रमना में १३ फ़ुट लम्बी और उतनी ही चौड़ी तथा १०० फ़ुट ऊँची धौरहर वनवाई थी। कहते हैं कि इस पर से उसकी रानी सागर के दीप देखा करती थी।

कुंडलपुर—हटा तहसील में हिंडोरिया-पटेरा सड़क पर दमोह से २३ मील की दूरी पर जैनियों का तीर्थ-स्थान है। एक पहाड़ी पर २०-२५ जैन-मन्दिर वने हैं। कुछ पहाड़ी के नीचे हैं। इनमें वर्द्धमान महावीर का मन्दिर सवसे पुराना है। मूर्ति की ऊँचाई वारह फ़ुट है। मन्दिर के द्वार पर एक शिलालेख है, जिससे पता चलता है कि ढाई सौ वर्ष पूर्व (सन् १७००) कुंडलपुर का नाम मन्दिर-टीला था। यहाँ जैनियों का मेला भरता है।

पहाड़ी के नीचे एक तालाव के किनारे दो मन्दिर हिन्दुओं के हैं। ये जैन मन्दिरों की अपेक्षा वहुत पहले वनाये गये थे।

बांदकपुर—दमोह से ६ मील पूर्व में जी० आई० पी० का एक स्टेशन है। यहाँ पर **जागेश्वर महादेव** का प्रसिद्ध मन्दिर है। प्रति वर्ष वसन्त पंचमी को वड़ा मेला भरता है। सामने पार्वती जी का मन्दिर है। महादेव और पार्वती के मन्दिरों में झंडे लगे हैं। कहते हैं, जिस वर्ष सवा लाख काँवर चढ़ जाती है उस वर्ष वसन्त पंचमी को दोनों झंडे झुक कर आपस में मिल जाते हैं। इस प्रान्त के प्रति वर्ष हज़ारों श्रद्धालु नर-नारी काँवर में नर्मदा जी का जल भर कर जागेश्वर महादेव को चढ़ाने ले जाते हैं। पास ही में एक वावड़ी है, जिसे **इमरती** कहते हैं। मन्दिर का प्रवन्ध वाला जी दीवान के खानदान वालों के सुपुर्द है। मन्दिर की आमदनी का चतुर्थ भाग पुजारी को दिया जाता है। शेष दीवान के वंशजों को मिलता है। वहुत दूर-दूर से यात्री आते हैं।

मृगन्नाथ—यह स्थान सागर-करेली रोड पर ५४-५५वें मील पर झिराघाटी से पाँच-छः मील पूर्व को है। विन्ध्या के ऊँचे पहाड़ एक मैदान को तीन ओर से घेरे हुए हैं। पहाड़ों के नीचे एक वावड़ी है, जिसके पास धर्मशाला-सी वनी है। वावड़ी के आगे पर्वत की चोटी की ओर लगभग एक मील ऊपर चढ़ने पर एक वड़ी गुफा सामने आती है। इसे **मृगन्नाथ की गुफा** कहते हैं। किसी समय इस गुहा में मृगन्नाथ नाम के सिद्ध पुरुष रहते थे। वहुतेरे मनुष्य मृगन्नाथ की गुफा के पास अपना मृगी रोग दूर करने के लिए मानता मनाने आते हैं।

मदन-महल—*गोंडराजा मदनसिंह की विभूति मदन-महल जवलपुर के इसी नाम के स्टेशन से लगभग* दो मील दूर दक्षिण में है। यह महल विन्ध्या की टेकड़ी पर काले शिला-प्रस्तरों के वीच, सघन वृक्ष-कुंजों से भरी भूमि पर एक ही अनगढ़ चट्टान पर वना हुआ है। सामने घुड़शाला आदि है।

यहाँ की चट्टानों की शोभा विशेष उल्लेखनीय है। वड़े-वड़े आकार-प्रकार की विशाल शिलाएँ एक के ऊपर एक तुलनात्मक रूप से वहुत ही छोटे आधार पर सधी हुई हैं।

गुप्तेश्वर—मदन-महल (जवलपुर) स्टेशन से डेढ़-दो मील दक्षिण-पूर्व तथा मदन-महल से लगभग एक मील पूर्व विन्ध्या की टेकड़ियों में विशालकाय काले शिलाखंडों के वीच गुप्तेश्वर महादेव का एक रमणीय देवालय है। यह टेकड़ी काट कर ही वनाया गया है। मन्दिर अंशतः छतदार और उत्तराभिमुख है। एक वड़ी शिला को काट कर उसी का शिवलिंग निर्मित किया गया है। मूर्ति के पीछे वहुत ही छोटा जल-स्रोत भी सदा वहता रहता है।

सामने सभामंडप है। फ़र्श और दीवारों पर फ़्लोर-टाइल्स लगे हुए हैं। एक कुआँ और एक वावड़ी है। दोनों का पानी दूधिया रंग का है।

भेड़ाघाट—धुआँधार—जवलपुर से नौ मील की दूरी पर है। नर्मदा का सर्वोत्तम रम्य रूप है। नर्मदा के जल-प्रपातों का शिरमौर है। रेवा की महान जलराशि यहाँ चालीस फ़ुट की ऊँचाई से एक अथाह जलकुंड में गिरती है। जलकणों के वादल के वादल उठते हैं, जिससे कुंड से दूर-दूर तक धुँआ सा छाया दीखता है। साथ ही वादलों के गर्जन-सा ज़ोर-शोर सुनाई देता है। थोड़े और नीचे की ओर संगमरमर की गगनचुम्वी चट्टानें हैं, जिनकी शोभा पूर्णिमा की रात्रि को वड़ी ही मोहक होती है।

वुन्देलखंड का मध्यप्रान्तीय विभाग भी समग्र वुन्देलखंड की भाँति ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक स्थलों से परिपूर्ण है। सव का उल्लेख इस लेख में करना असम्भव है।

देवरी]



बुन्देलखण्ड की पावन भूमि

स्व० 'रसिकेन्द्र'

उर्वरा भव्य धरा है यहाँ की, छिपे पड़े रत्न यहाँ अलवेले ;
मुण्ड चढ़े यहीं चण्डिका पै, उठ रुण्ड लड़े हैं यहीं असि ले ले।
खण्ड बुन्देल की कीर्ति अखण्ड, बना गये वीर प्रचण्ड बुँदेले ;
झेल के संकट खेल के जान पै, खेल यहीं तलवार से खेले ॥१॥
शाह भी टीका मिटा न सके, हुई ऐसे नृपाल के भाल की झांकी ;
युद्ध के पंडितों के बल-मंडित की भुजदण्ड विशाल की झांकी।
पाई यहीं पर धर्म-धुरीण प्रवीण गुणी प्रणपाल की झांकी ;
है जगती जगती में कला, करके कमला-करवाल की झांकी ॥२॥
आते रहे भगवान समीप ही, ध्यानियों का यहाँ ध्यान प्रसिद्ध है ;
पुत्र भी दण्ड से त्राण न पा सका, शासकों का नय-ज्ञान प्रसिद्ध है।
हीरक-सी मिसरी है जहाँ, वहाँ व्यास का जन्म स्थान प्रसिद्ध है ;
वंश चंदेल की आन प्रसिद्ध है, ऊदल का घमासान प्रसिद्ध है ॥३॥
स्वर्ण-तुला चढ़ वीरसिंहजू देव ने दान की आन लचा दी ;
कंध पै पालकी ले छत्रसाल ने, सत्कवि-मान की धूम मचा दी।
राग में माधुरी आ गई, 'ईसुरी' ने अनुराग की फाग रचा दी ;
काव्य-कलाधर केशव ने, कविता की कला को स-ओज जचा दी ॥४॥
स्वर्ग में सादर पा रहा आज भी, भावुक मानसों का अभिनन्दन ;
दर्शन देते रहे जिसको तन धार प्रसन्न हो मारुति-नन्दन।
पावन-प्रेम का पाठ पढ़ा दिया, प्राण-प्रिया ने किया पद-वन्दन ;
प्राप्त हुई तुलसी को रसायन, रामकथा का यहीं घिस चन्दन ॥५॥
पाये गये हरदौल यहीं, विष टक्कर से नहीं डोलने वाले ;
सन्त, प्रधान, महान यहीं हुए, ज्ञान-कपाट के खोलने वाले।
मृत्यु से जो डर खाते न थे, मिले सत्य ही सत्य के बोलने वाले ;
भाव-विहारी विहारी यहीं हुए, स्वर्ण से दोहरे तोलने वाले ॥६॥
अंचल में हरिताभ लिये तने, वेत्रवती के वितान को देखा ;
गूँज पहूज की कान में गूँजती, पंचनदी के मिलान को देखा।
कृत्रिम-रत्न-प्रदायिनी केन की, शान को देखा, धसान को देखा ;
हार में भानुजा के सजे निर्मल, नीलम-वेश-विधान को देखा ॥७॥
राम रमे वनवास में आकर, है गिरि की गुरुता को बढ़ाया ;
पादप-पुंज ने दे फल-फूल, किया शुभ स्वागत है मनभाया।
राम लला की कला ने यहीं, अचला वन के है प्रताप दिखाया ;
जीवन धन्य हुआ 'रसिकेन्द्र' का, पावन-भूमि में जन्म है पाया ॥८॥

उरई]

प्रेमीजी की जन्म-भूमि देवरी

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

सागर ज़िले की रहली तहसील में सागर से चालीस मील दक्षिण की ओर सागर-करेली रोड पर देवरी स्थित है। इसी स्थान को श्री नाथूराम जी प्रेमी को संवत् १९३८ में जन्म देने का सौभाग्य मिला। यहीं के हिन्दी मिडिल स्कूल में १ जनवरी १८८९ ई० को प्रेमी जी का विद्यारम्भ हुआ। स्कूल के दाखिल-खारिज रजिस्टर में उनका सीरियल नम्बर ९०९ है। सन् १८९८ में पाठकीय परीक्षा (टौन क्लास) पास करने के पश्चात् उनका नाम स्कूल से खारिज हो गया।

प्राचीन और वर्तमान रूप

'सुखचैन' नामक नदी बस्ती के बीच में होकर वहती है। उसके दक्षिणी किनारे पर गौंड़ राजाओं का बनवाया हुआ एक क़िला है, जो अब खंडहर मात्र रह गया है। इसी क़िले के पत्थर निकाल कर सन् १८६६ ई० में नदी का पुल बाँधा गया था। देवरी से नर्मदा नदी का 'ब्रह्माण घाट' पक्की सड़क पर दक्षिण की ओर सत्ताईस मील और करेली स्टेशन पैंतीस मील दूर है। यहाँ का भूभाग समुद्र तट से १४०८ फ़ुट ऊँचा है। पानी बरसने का औसत ५०" है।

देवरी पहले एक बड़ा नगर था। सन् १८१३ ई० में इस नगर की जन-संख्या तीस हज़ार थी। इसी साल गढ़ाकोटा के राजा मर्दनसिंह के भाई ज़ालमसिंह ने कुछ फ़ौज इकट्ठी करके देवरी घेर ली। उसी समय अकस्मात् नगर में आग लग गई। कहते हैं कि आग ज़ालमसिंह के सैनिकों ने लगाई थी। जो हो, दैव दुर्विपाक से उसी समय ज़ोर की हवा चलने लगी। देखते-देखते नगर जल कर भस्म हो गया। नगर के चारों ओर फ़ौज का घेरा था। लोगों को भागने का अवकाश कम ही मिला। बड़ी मुश्किल से पाँच-छः हज़ार आदमी बच सके। शेष सब जल मरे। कहा जाता है कि आग लगने के दिन ज़ालमसिंह के सिपाहियों ने एक आदमी को मार डाला था, जो हूँका घराने का गहोई वैश्य था। आदमी की मृत्यु होने पर उसकी साध्वीपत्नी अपने पति के शव के साथ सती होने स्मशान जा रही थी कि कुछ लोगों ने उसके सती होने की दृढ़ता पर सन्देह करके उपहास किया। इस पर वह रुष्ट होकर बोली, "मेरा उपहास क्या करते हो! देखो, चार घंटे के भीतर क्या होता है?" कहते हैं, उसी दिन चार घंटे के भीतर देवरी जल कर भस्म हो गई।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देवरी नगर गढ़ा-मंडले के गौंड़ राजाओं के अधीन था। गौंड़ों में संग्रामसिंह प्रतापी राजा हुआ। उसने अपने बाहुबल से बावन गढ़ जीते, जिन में से दस सागर ज़िले में थे। धामौनी, गढ़ाकोटा, राहतगढ़, गढ़पहरा, रहली, रानगिर, इटावा, खिमलासा, खुरई, शाहगढ़ और देवरी। संग्रामसिंह ने पचास वर्ष राज्य किया। इसने अपने नाम के सोने के सिक्के चलाये। संग्रामसिंह १५३० के लगभग मर गया। उसके मरने पर इन गढ़ों पर इनके वंशजों का अधिकार बना रहा। १७३२ ई० में सागर का अधिकांश भाग पूना के पेशवाओं के अधिकार में आ गया और सम्भवतः सन् १७५३ में देवरी इलाक़ा भी उनके अधीन हो गया।

सन् १७६७ ई० में बाला जी बाजीराव पेशवा ने अपने एक सरदार श्रीमन्त धोंडू दत्तात्रय को दक्षिण की विजय से प्रसन्न होकर देवरी पंचमहाल जागीर में दी थी। ये श्रीमन्त नाय गाँव-नासिक के निवासी थे। जागीर मिलते ही देवरी आ कर रहने लगे और यहाँ के राजा बन गये। धोंडू के पुत्रों ने अपने को सिन्धिया सरकार का आश्रित बना लिया। १८२५ में अँगरेज़ सरकार ने श्रीमन्त रामचन्द्र राव से देवरी का इलाक़ा ले लिया और इसके बदले

ग्वालियर के सिन्धिया से उन्हें इसी ज़िले का पिठौरिया इलाक़ा दिला दिया। श्रीमन्त के वंशज आज भी पिठौरिया में रहते हैं। सन् १८२५ में देवरी में अँगरेज़ी अमलदारी प्रारम्भ हुई। इस समय मेजर हार्डी क़ब्ज़ा करने आये थे। उनको इस तहसील के प्रबन्ध के लिए, जो हाल ही में अँगरेज़ी राज्य में मिलाई गई थी, एक स्थानीय सुयोग्य और अनुभवी आदमी की आवश्यकता थी। उनके विशेष आग्रह पर इन पंक्तियों के लेखक के पूर्वज, जो पुराने राजा श्रीमन्त के समय के तहसीलदार थे, पं० राव साहब चौबे देवरी तहसील के अँगरेज़ी अमलदारी के सर्व-प्रथम तहसीलदार और त्र्यम्बक राव नामक एक महाराष्ट्र सज्जन नायब तहसीलदार बनाये गये। इस तहसील में गौर-झामर, नाहरमौदेवरी, चाँवरपाठा और तेंदूखेड़ा परगने शामिल थे। इसका विस्तार दक्षिण में नर्मदा नदी तक था, परन्तु कुछ समय पश्चात् नरसिंहपुर के अँगरेज़ी राज्य में आ जाने के कारण तहसीलों में परिवर्तन हुआ और देवरी रहली तहसील में शामिल कर दी गई। सन् १८५७ में ग़दर के समय सिंहपुर के गौंड़ ज़मींदार दुर्जनसिंह ने देवरी के क़िले पर अधिकार कर लिया था, परन्तु उसे क़िला छोड़ कर शीघ्र भागना पड़ा।[1]

सन् १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार देवरी की जन-संख्या आठ हज़ार के क़रीब है। जन-संख्या के हिसाब से सागर और दमोह को छोड़ कर देवरी इस ज़िले का सबसे बड़ा क़स्बा है।

सन् १८६७ ई० में यहाँ म्युनिसिपैलिटी क़ायम की गई थी। वर्त्तमान समय में इसकी सालाना आमदनी पच्चीस-तीस हज़ार रुपया है। यहाँ म्युनिसिपैलिटी के दो मिडिल स्कूल हैं। एक हिन्दी का, दूसरा अँगरेज़ी का। एक सरकारी कन्याशाला भी है।

इन शिक्षणसंस्थाओं के अतिरिक्त यहाँ पर पुलिस स्टेशन, सिटी पुलिस चौकी, डाकखाना, अस्पताल, ढोर-अस्पताल, वन-विभाग, पड़ाव, सराय और विश्राम-बँगला (रेस्ट हाउस) भी हैं। पहले यहाँ रजिस्ट्री और तार आफ़िस भी थे, परन्तु अब टूट गये हैं। एक छोटा बाज़ार भी प्रतिदिन भरता है। साप्ताहिक बाज़ार शुक्रवार के दिन लगता है, जिसमें ग़ल्ले और मवेशियों की अधिक बिक्री होती है। सागर-करेली में रेल्वे लाइन निकलने के पहले यहाँ का व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अब भी यहाँ बहुत व्यापार होता है। सरोते यहाँ के प्रसिद्ध हैं। देवरी पहले राज-स्थान रहा है। इस कारण यहाँ वैश्य, महाजन, व्यापारी, लुहार, बढ़ई, तेली, तम्बोली, कोरी, कुस्टा, कुम्हार, सुनार, कँसेरे, तमेरे, रंगरेज, छीपा, कचेरे (काँच की चूड़ियाँ बनाने वाले), लखेरे, कुन्देरे (लकड़ी के खिलौने बनाने वाले), मोची, चित्रकार, जसौंदी, (गाने वाले), कड़ेरे (बारूद आतिशबाज़ी बनाने वाले), माली, धोबी, नाई, ढीमर आदि सभी जातियों के लोग रहते हैं। कपड़े के रोज़गार के अभाव के कारण यहाँ के बहु-संख्यक कोरी अहमदाबाद और इन्दौर में जा बसे हैं।

प्रेमीजी का घर

बस्ती के बीच से जो सड़क गुज़रती है, उसी के पश्चिम की ओर लगभग ढाई फ़र्लांग की दूरी पर प्रेमीजी का घर है। यह उनकी पैतृक-भूमि है। प्रेमीजी के छोटे भाई नन्हेलाल जी ने उस घर को फिर से बनवा लिया है और वही उसमें रहते हैं। प्रेमीजी तो वर्ष दो वर्ष में कभी आते हैं।

समारोह और महापुरुषों का आगमन

देवरी में समय-समय पर अनेक उत्सव होते रहते हैं और महापुरुषों का आगमन। सन् १९०१ से लेकर कई वर्षों तक 'मीर'-मंडल-कवि-समाज के जल्सों की धूम रहती थी। बाहर के विद्वान् भी उनमें सम्मिलित होते थे।

प्रति वर्ष दशहरे के अवसर पर यहाँ रामलीला या कृष्णलीला हुआ करती थी। सभी वर्ग के लोग उसमें भाग लेते थे। महत्त्व की बात यह है कि रामलीला में मुसलमान प्रेमपूर्वक सम्मिलित होते थे और ताजियों में हिन्दू

[1] 'सागर गज़ेटियर'।

योग देते थे। यह सन् १९०३-४ के पहले की बात है। उसके बाद समय ने पलटा खाया और हिन्दू-मुसलिम एकता की बात स्वप्न हो गई।

सन् १९०५ ई० में लार्ड कर्ज़न द्वारा वंग-भंग और उसके विरोध में वंगाल से स्वदेशी और वॉयकाट का आन्दोलन उठने के पूर्व देवरी में स्वदेशी वस्तु-प्रचार का आन्दोलन ज़ोर पकड़ गया था। सभाओं तथा जातीय पंचायतों द्वारा स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार करने, देवरी के वुने स्वदेशी वस्त्र पहनने और देशी शक्कर खाने की प्रतिज्ञा कराई जाती थी। इस हल-चल का अपूर्व प्रभाव पड़ा। देवरी के वाज़ार में वाहर की शक्कर ढूंढ़े न मिलती थी। हलवाई तो स्वदेशी शक्कर की मिठाई वनाने के लिए प्रतिज्ञावद्ध थे ही। अधिकांश लोग देवरी के वने कपड़े पहिनने लगे थे। यहाँ उत्तम रेशम किनारी के धोती जोड़े, साड़ियाँ, कुरते और कोटों के वढ़िया-वढ़िया कपड़े वुने जाने लगे थे। इन सव कामों के मुख्य प्रवर्त्तक स्थानीय मालगुज़ार लाला भवानीप्रसाद जी थे। गाँव के सभी लोगों की इनसे पूर्ण सहानुभूति थी। श्री सैयद अमीर अली 'मीर' स्वदेशी आन्दोलन में विशेष क्रियात्मक भाग लेते थे। वे अपनी दूकान द्वारा देवरी की वनी स्वदेशी वस्तुएँ वेचते थे। उन्होंने कपड़ा वुनना भी सीख लिया था। लाला भवानीप्रसाद जी और श्री नाथूराम जी प्रेमी आदि कुछ सज्जनों के प्रयत्न से वम्वई से 'शिवाजी हेण्ड लूम' मँगाई गई और उससे तथा कुछ यहाँ के वने करघों से कपड़ा वुनने का एक व्यवस्थित कारखाना खोला गया। देवरी के कुछ कोरी मीर साहव के साथ वस्त्र वुनने की कला में विशेष दक्षता प्राप्त करने के लिए वम्वई भेजे गये। हेण्ड-लूम आ जाने पर यहाँ वड़े अर्ज़ के कपड़े सुगमता से वुने जाने लगे। आज भी यहाँ कई क़िस्म के अच्छे कपड़े तैयार होते हैं। चालीस नम्वर के सूत के नामी जोड़े, रेशमी किनारी की साड़ियाँ और अनेक प्रकार के चौखाने वुने जाते हैं। पटी (स्त्रियों के लँहगा वनाने का लाल रंग का धारीदार कपड़ा, जिसके नीचे चौड़ी किनार रहती है।) यहाँ खूव तैयार होता है। सन् १९०९-१० में इन कामों की ओट में सरकार को राजविद्रोह की गन्ध आने लगी। फलतः श्री लाला भवानीप्रसाद, पं० लक्ष्मण राव, पं० श्रीराम दामले आदि छः सात आदमियों पर ताज़ीरात हिन्द के अन्तर्गत १२४ अ के मामले चलाये गये और उनसे दो-दो हज़ार रुपयों की ज़मानतें तलव की गईं। दमनचक्र ज़ोर पकड़ गया। 'मीर' साहव वाहर चले गये। प्रेमीजी पहले ही वम्वई जा चुके थे। अतः कार्य शिथिल पड़ गया।

सन् १९२० में नागपुर-कांग्रेस के प्रचार-कार्य तथा चन्दे के लिए श्री माधव राव जी सप्रे, पं० विष्णुदत्त जी शुक्ल और वैरिस्टर अभ्यंकर देवरी पधारे और उनके भाषण हुए। कांग्रेस के पश्चात् महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। देवरी में भी कांग्रेस की प्रवृत्तियाँ चल पड़ीं। सन् १९१८ से १९३३-३४ तक देवरी की प्रत्येक राजनैतिक तथा सार्वजनिक हलचल में इन पंक्तियों के लेखक का हाथ रहा है।

सन् १९३३ के दिसम्वर की पहली तारीख देवरी के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। उस दिन महात्मा गांधी देवरी पधारे। शुक्रवार वाज़ार के मैदान में सभा की आयोजना की गई। हज़ारों नर-नारी महात्मा जी के दर्शन करने और उनका भाषण सुनने के लिए इकट्ठे हुए। पूर्वाह्न में दस वजे महात्मा जी का आगमन हुआ और दो वजे सभा हुई। भाषण के पश्चात् महात्मा जी को थैलियाँ और मानपत्र भेंट किया गया। 'हरिजन-सेवक' में महात्मा जी ने देवरी के सुप्रवन्ध और मानपत्र की प्रशंसा की थी।

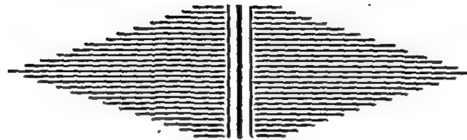
सन् १९४१-४२ में महात्मा जी के युद्ध-विरोधी आन्दोलन के समय देवरी सत्याग्रहियों की राजनैतिक हलचलों का प्रसिद्ध अखाड़ा रहा। वहुत से आदमियों ने जेल-यात्रा की।

साहित्यिक सेवा

साहित्यिक क्षेत्र में भी देवरी की सेवाएँ कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। स्व० सैयद अमीर अली 'मीर' तथा मीर-मंडल के कवियों ने, जिनमें पं० कन्हैयालाल जी 'लालविनीत', मुशी खैराती खाँ 'खान', गोरे लाल जी 'मंजुसुशील',

कामताप्रसाद 'वीरकवि', फदालीरामजी स्वर्णकार 'नूतन', नाथूराम जी 'प्रेमी', वुद्धिलाल जी 'श्रावक', पं० लक्ष्मीदत्त जी 'लालप्रताप', वारेलाल जी 'हूँका' प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखयोग्य हैं, हिन्दी-साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की है। श्री नाथूराम जी 'प्रेमी' की व्यापक और ठोस सेवाओं से तो हिन्दी-जगत् भलीभाँति परिचित ही है। उनके सुपुत्र हेमचन्द्र भी प्रतिभाशाली युवक थे और उनसे वड़ी आशाएँ थीं, लेकिन अल्पायु में ही वे स्वर्गवासी हो गये। इन पंक्तियों के लेखक से भी साहित्य की थोड़ी-वहुत सेवा वन पड़ी है। देवरी की उर्वर भूमि अनेकों 'मीर' और 'प्रेम' उत्पन्न करे, ऐसी कामना है।

देवरी]



बुन्देलखण्ड की पत्र-पत्रिकाएँ

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

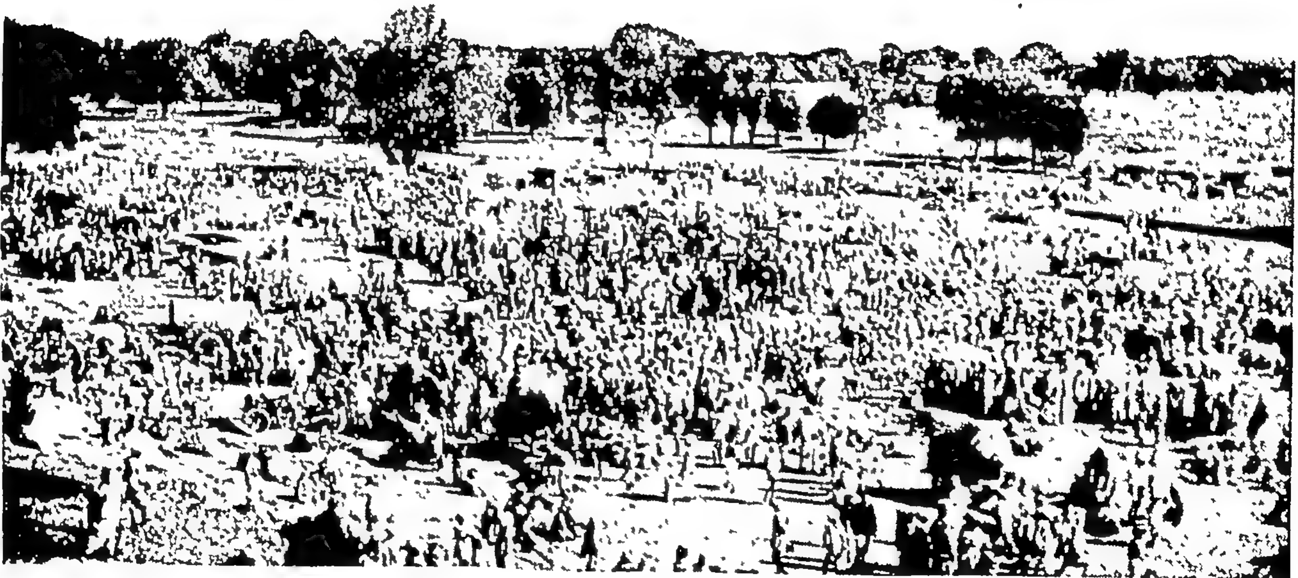
हमारे देश में आज विभिन्न प्रान्तों से अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। प्रस्तुत लेख में हम केवल बुन्देलखंड के पत्रों पर ही संक्षिप्त प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। समय-समय पर बुन्देलखंड से जो पत्र प्रकाशित हुए और समाप्त हो गये, उन सब का क्रमागत उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं। कारण, कितने ही पत्रों का आज न तो कहीं कोई इतिहास ही प्राप्य है और न उनका विवरण जानने वालों का ही अस्तित्व है; लेकिन आज के युग में हमें अपनी पत्र-पत्रिकाओं का लेखा-जोखा रखना अत्यन्त आवश्यक है, ताकि विस्मृति के गर्भ में वे भी वैसे ही विलीन न हो जायँ, जैसे कि पहले हो गए हैं।

बुन्देलखंड में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का सर्वाधिक श्रेय जबलपुर को ही दिया जा सकता है। वहाँ से समय-समय पर अनेक पत्र निकले और अपने क्षेत्र में उनकी सेवाएँ पर्याप्त उल्लेखनीय रहीं। लेकिन हम देखते हैं कि हमारे प्रान्त में अन्य प्रान्तों की पत्र-पत्रिकाएँ तो सहज ही में अपना प्रचार कर लेती हैं, ग्राहकों के रूप में जनता का सहयोग प्राप्त कर लेती हैं और उत्तरोत्तर उन्नत होने का मार्ग बना लेती हैं, लेकिन अपने ही प्रान्त के पत्रों को अपनाना और उन्हें उन्नत करना मानों यहाँ के निवासियों ने सीखा ही नहीं। छिन्दवाड़ा से इन पंक्तियों के लेखक के सम्पादकत्व में **'स्काउट-मित्र'** नामक जिस मासिक पत्र का प्रकाशन श्री रामेश्वर दयाल जी वर्मा ने प्रारम्भ किया था, उसके सिलसिले में हमने अनुभव किया कि हमारे प्रान्तवासी केवल उन पत्रों को ही अपनाने के अभ्यस्त हैं जो प्रारम्भ से ही भारी-भरकम और ऊँचे दर्जे के हों। वे कदाचित् यह नहीं जानते कि दूसरे प्रान्तों के जिन पत्रों के वे आज ग्राहक हैं, प्रारम्भ में वे भी क्षीणकाय और साधनहीन थे और अत्यन्त साधारण कलेवर लेकर प्रकाशित हुए थे। यदि हमारे प्रान्त-वासी अपने प्रान्त के पत्रों को अपनाने की उदारता दिखावें तो कोई कारण नहीं कि यहां पत्र-पत्रिकाओं को अकाल ही काल-कवलित हो जाना पड़े। खेद की बात है कि इसी त्रुटि के कारण हमारे प्रान्त के अनेकों ऐसे पत्र कुछ दिन ही चल कर खत्म हो गये, जो कुछ ही समय में भारत के सर्वश्रेष्ठ पत्रों की श्रेणी में गिने जा सकते थे। जबलपुर से अभी तक निम्नलिखित ग्यारह पत्रों का प्रकाशन समय-समय पर किया गया; लेकिन उनमें से आज दो-एक के अतिरिक्त किसी का भी अस्तित्व नहीं रहा।

१—**'शारदा-विनोद'**—सेठ श्री गोविन्ददास जी की प्रेरणा से जून १९१५ में इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया गया था। इसके सम्पादक थे मध्यप्रान्त के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी पं० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र। छोटी-छोटी कहानियों का यह सुन्दर मासिक पत्र था। वार्षिक मूल्य था डेढ़ रुपया। कुल सत्रह अंक इसके निकले। शारदा-भवन-पुस्तकालय, जबलपुर द्वारा इसका प्रकाशन हुआ था।

२—**'छात्र-सहोदर'**—मध्यप्रान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान् और इतिहासकार स्वर्गीय पं० रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी और राष्ट्रकवि श्रीयुत नरसिंहदास जी अग्रवाल 'दास' के सम्पादकत्व में यह पाक्षिक पत्र प्रकाशित होता था। छात्रों के लिए उपादेय सामग्री से पूर्ण रहता था। लेकिन कुछ समय बाद वह भी बन्द हो गया।

३—**'श्री शारदा'**—हिन्दी-संसार के श्रेष्ठ मासिक पत्रों में 'श्री शारदा' का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। हिन्दी के धुरन्धर लेखकों का सहयोग इसे प्राप्त था। इसकी सी गहन और गम्भीर सामग्री आज के कितने ही श्रेष्ठ मासिक पत्रों में खोजने पर भी न मिलेगी। मध्यप्रान्त के साहित्य में इस पत्रिका की सेवाएँ अपना सानी नहीं रखतीं। इसके सम्पादक थे पं० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र। सेठ गोविन्ददास जी के तत्वावधान में यह पत्रिका राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर द्वारा प्रकाशित होती थी। इसका वार्षिक मूल्य पाँच रुपया था।



बुन्वेलखण्ड का एक ग्रामीण मेला

'श्री शारदा' का प्रथमांक २१ मार्च सन् १६२० को प्रकाशित हुआ था। लगभग तीस अंक प्रकाशित होने के बाद पं० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र ने इसके सम्पादकत्त्व से अवकाश ग्रहण कर लिया। आपके हट जाने पर पंडित द्वारकाप्रसाद जी मिश्र इसके सम्पादक नियुक्त हुए; लेकिन मिश्र जी के सम्पादकत्त्व में यह पत्रिका मासिक न रह कर त्रैमासिक हो गई और तीन-चार अंक निकल कर वन्द हो गई।

४—'लोकमत'—सेठ गोविन्ददास जी के तत्त्वावधान में इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। पंडित द्वारका-प्रसाद जी मिश्र इसके प्रधान सम्पादक थे। इसके प्रकाशन से हिन्दी के दैनिक पत्रों में तहलका मच गया। कलकत्ते का दैनिक 'विश्वमित्र' आज जिस वृहत् रूप में प्रकाशित होता है, 'लोकमत' ऐसे ही विशाल रूप में सोलह पृष्ठ का भारी कलेवर लेकर प्रतिदिन प्रकाशित होता था। यह राष्ट्रीय जागरण का प्रवल समर्थक था। 'विन्ध्य-शिखर से' शीर्षक स्तम्भ की सामग्री पढ़ने के लिए जनता लालायित रहती थी। इस स्तम्भ में हास्य का पुट देते हुए राजनैतिक हलचलों का जो खाका खींचा जाता था, वह आज भी हिन्दी के किसी दैनिक अथवा साप्ताहिक में दुर्लभ है। इस पत्र के सम्पादकीय विभाग में भारत के विभिन्न प्रान्तों के लगभग एक दर्जन प्रतिभाशाली पत्रकार काम करते थे। इन पंक्तियों के लेखक को भी पत्रकार-कला का प्रारम्भिक पाठ पढ़ने का सौभाग्य इसी दैनिक पत्र के सम्पादकीय विभाग में प्राप्त हुआ था। लेकिन मध्यप्रान्त की अनुर्वर भूमि पर ऐसा अप्रतिम दैनिक भी जीवित न रह सका। प्रान्त के लिए यह लज्जा-जनक वात है। सन् १६३१ के राष्ट्रीय आन्दोलन में मिश्र जी और वाबू साहव के जेल चले जाने पर महीनों तक साँसें लेने के वाद 'लोकमत' का प्रकाशन वन्द हो गया।

५—'प्रेमा'—'श्री शारदा' के वाद 'प्रेमा' का प्रकाशन हुआ। सन् १६३१ में वह श्रीयुत रामानुजलाल जी श्रीवास्तव के सम्पादकत्त्व में निकली। प्रारम्भ में कुछ समय तक श्रीवास्तव जी के साथ-साथ श्री परिपूर्णानन्द जी वर्मा भी इसके सम्पादक थे और अन्तिम समय में मध्यप्रान्त के सुपरिचित कवि और 'उमरखैय्याम' के अनुवादक पं० केशवप्रसाद जी पाठक इसका सम्पादन करते थे।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं से जहाँ 'प्रेमा' का कलेवर अलंकृत रहता था, वहाँ प्रान्त के उदीयमान कवियों और लेखकों की कृतियों को भी इसमें यथेष्ट स्थान दिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि जबलपुर के अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों के निर्माण में 'प्रेमा' का बड़ा हाथ रहा।

काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित नौ रसों पर एक-एक उपादेय विशेषांक निकालने की दिशा में 'प्रेमा' का प्रयत्न स्तुत्य था। लेकिन हास्य, शृंगार और करुणरस के भी विशेषांक पारंगत साहित्यिकों के सम्पादकत्त्व में प्रकाशित करने के वाद 'प्रेमा' का प्रकाशन भी वन्द हो गया।

श्रीवास्तव जी ने 'प्रेमा' के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था, लेकिन प्रान्त इस मासिक पत्रिका को भी जीवित न रख सका।

६—'पतित-बंधु'—श्री वियोगी हरि जी और श्री नाथूराम जी शुक्ल के सम्पादकत्त्व में हरिजन-आन्दोलन के समर्थन में 'पतित-बन्धु' का साप्ताहिक प्रकाशन भी काफ़ी समय तक होता रहा। श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह जी का सहयोग इसे प्राप्त था। लेकिन 'चार दिनों की चाँदनी, फेर अँधेरी रात' वाली उक्ति इसके साथ भी चरितार्थ होकर ही रही।

७—'सारथी'—पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्त्व में सन् १६४२ में इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। हिन्दी के श्रेष्ठ साप्ताहिकों में इसकी गणना होती थी; लेकिन अगस्त १६४२ के आन्दोलन में मिश्र जी के जेल चले जाने पर श्री रामानुजलाल जी श्रीवास्तव ने कुछ महीनों तक इसका सम्पादन-भार ग्रहण कर उसे जीवित रखने का भरसक प्रयत्न किया; परन्तु परिस्थितियों ने उनका साथ नहीं दिया और यह साप्ताहिक भी वन्द हो गया।

८—'**कर्मवीर**'—हिन्दी साप्ताहिक 'कर्मवीर' जो आजकल पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी के सम्पादकत्त्व में खंडवा से प्रकाशित हो रहा है, प्रारम्भ में—शायद १९१९ में—जवलपुर से ही प्रकाशित होता था। उस समय भी चतुर्वेदी जी ही इसके सम्पादक थे। कुछ समय के वाद चतुर्वेदी जी इस पत्र को अपना निजी पत्र वना कर खंडवा ले गये और आज तक वहीं से इसे प्रकाशित कर रहे हैं। लेकिन किसी समय राष्ट्रीयता का शंखनाद करने वाला 'कर्मवीर' आज अपने प्राचीन महत्त्व को खो वैठा है।

९—'**शुभचिंतक**'—सन् १९३७ में विजयदशमी के अवसर पर इस पत्र का प्रकाशन साप्ताहिक के रूप में प्रारम्भ किया गया था। इसके सम्पादक थे जवलपुर के सुप्रसिद्ध कथाकार स्वर्गीय श्री मंगलप्रसाद जी विश्वकर्मा। लगभग तीन वर्ष तक विश्वकर्मा जी ने इसका सम्पादन योग्यता-पूर्वक किया। उनके निवन के वाद श्री नाथूराम जी शुक्ल कुछ समय तक इसके सम्पादक रहे; लेकिन इसके संचालक श्री वालगोविन्द गुप्त से मतभेद हो जाने के कारण शुक्ल जी ने उसे छोड़ दिया। इसके वाद से अव तक श्री वालगोविन्द गुप्त का नाम सम्पादक की हैसियत से प्रकाशित हो रहा है। अव यह पत्र अर्द्ध साप्ताहिक के रूप में निकलता है।

१०—'**शक्ति**'—श्री नाथूराम शुक्ल के सम्पादकत्त्व में साप्ताहिक 'शक्ति' भी पिछले कई वर्षों से प्रकाशित हो रही है; लेकिन जवलपुर के वाहर लोग इसे जानते भी नहीं। हिन्दू-महासभा के उद्देश्यों का समर्थन ही इसकी नीति है।

११—'**महावीर**'—सन् १९३९ में इन पंक्तियों के लेखक के ही सम्पादकत्त्व में इस वालोपयोगी मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। इसके संचालक थे श्री भुवनेन्द्र 'विश्व', जिनकी 'सरल जैन-ग्रन्थ-माला', जवलपुर के जैन-समाज में अपना विशेष महत्त्व रखती है। लगभग एक वर्ष तक इसका प्रकाशन सफलता-पूर्वक हुआ। वाद में सम्पादक और संचालक में मतभेद हो जाने के कारण इसके दो-चार अंक स्वयं संचालक महोदय ने अपने ही सम्पादकत्त्व में प्रकाशित किये; लेकिन पत्र को वह जीवित न रख सके।

१२—'**मधुकर**'—जवलपुर के वाद पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का जहाँ तक सम्वन्ध है, ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी के यशस्वी पत्रकार पं० वनारसीदास जी चतुर्वेदी 'विशाल भारत' का सम्पादन छोड़ कर टीकमगढ़ आये और श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् के तत्त्वावधान में टीकमगढ़ से 'मधुकर' नामक पाक्षिक पत्र का अक्तूवर १९४० से प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र ने वुन्देलखंड के प्राचीन और वर्तमान रूप को प्रकाश में लाने का सफलता-पूर्वक उद्योग किया है। श्री चतुर्वेदी जी ने समय-समय पर अनेक आन्दोलन चलाये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है। 'मधुकर' द्वारा भी उन्होंने कुछ आन्दोलन चलाये हैं जिनमें प्रमुख वुन्देलखण्ड-प्रान्त-निर्माण तथा जनपद-आन्दोलन हैं। यह पत्र चार वर्ष तक वुन्देलखण्ड तक सीमित रहा। अव इसका क्षेत्र व्यापक हो गया है।

१३—'**लोकवार्त्ता**'—'लोकवार्त्ता-परिषद्' टीकमगढ़ के तत्त्वावधान में हिन्दी के सुपरिचित लेखक श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्त्व में जून १९४४ में इसका प्रथमांक प्रकाशित हुआ था। पत्रिका त्रैमासिक है। देश के विभिन्न प्रान्तों की लोक-वार्त्ताओं पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से इस पत्रिका ने जिस दिशा में क़दम वढ़ाया है, वह वांछनीय और स्तुत्य है। पत्रिका का क्षेत्र अभी वुन्देलखण्ड तक ही सीमित है; लेकिन आगे चल कर इसका क्षेत्र व्यापक होने की आशा है।

इन पत्रों के अतिरिक्त दमोह से '**ग्राम-राम**' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन हुआ, लेकिन कुछ समय के वाद वह भी वन्द हो गया। श्री शरसौदे जी ने भी 'मोहनी' और 'पैसा' नाम के मासिक पाक्षिक पत्रों का प्रकाशन किया, किन्तु ये पत्र कुछ ही अंक प्रकाशित कर वन्द हो गए।

झाँसी से '**स्वतन्त्र**' साप्ताहिक और '**जागरण**' दैनिक प्रकाशित होते हैं और कभी-कभी '**स्वाधीन**' के भी दर्शन हो जाते हैं।

बुन्देलखण्ड में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का सर्वप्रथम प्रयास सम्भवतः सागर से ही प्रारम्भ हुआ था। सन् १८६२ ई० में पं० नारायणराव बालकृष्ण नाखरे ने ग्रालकाट-प्रेस स्थापित करके सर्वप्रथम 'विचार-वाहन' नामक मासिक पत्र निकाला था। यह पत्र थियोसोफ़ी मत का प्रवर्तक था। कुछ वर्ष चलने के पश्चात् बन्द हो गया। इसके कुछ वर्ष बाद अनुमानतः सन् १६०० ई० में नाखरे जी ने सागर से दूसरा पत्र—'प्रभात' निकाला। यह भी मासिक था। धार्मिक और सामाजिक विषयों पर इसमें लेख निकला करते थे। दो साल चल कर नाखरे जी की बीमारी के कारण कुछ समय के लिए बन्द हो गया। दो वर्ष पश्चात् उसका प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ और फिर दो-तीन वर्ष तक चलता रहा।

नाखरे जी के उक्त प्रयत्न के पश्चात् सागर में एक सुदीर्घ समय तक पूर्ण सन्नाटा रहा। बीच में किसी भी पत्र-पत्रिका का जन्म नहीं हुआ। एक लम्बी निद्रा के पश्चात् सन् १६२३ से फिर कुछ पत्रों का निकलना प्रारम्भ हुआ, किन्तु खेद है उनमें से एक भी पत्र स्थायी न हो सका। नीचे इन पत्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१४—'उदय'—(साप्ताहिक) श्री देवेन्द्रनाथ मुकुर्जी के सम्पादकत्त्व में सन् १६२३ में निकला। यह पत्र राष्ट्र-निर्माण, शिक्षाप्रचार तथा हिन्दूसंगठन का प्रबल समर्थक था। लगभग दो वर्ष चल कर क़र्ज़दार हो जाने के कारण ग्रस्त हो गया।

१५—'दैनिक प्रकाश'—सम्पादक—मास्टर बलदेवप्रसाद। सन् १६२३ में जब कि नागपुर में राष्ट्रीय झंडा-सत्याग्रह चल रहा था। इस पत्र ने इस प्रान्त में काफ़ी जाग्रति उत्पन्न की थी। झंडा-सत्याग्रह के सम्बन्ध में जेल अधिकारियों की इस पत्र ने कुछ संवाद-दाताओं के संवाद के आधार पर टीका की थी। जेल अधिकारियों ने पत्र और सम्पादक पर मान-हानि का दावा किया। परिणाम-स्वरूप पत्र को अपनी प्रकाश की किरणें समेट कर सदा के लिए बन्द हो जाना पड़ा।

१६—'समालोचक' (साप्ताहिक) संचालक—स्वर्गीय पन्नालाल रांघेलीय। सम्पादक भाई अब्दुलग़नी। यह पत्र भी सन् १६२३ में निकला और तीन साल चला। पत्र हिन्दू-मुस्लिम-एकता का हामी था। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी—सम्पादक 'प्रताप', पं० माखनलाल चतुर्वेदी—सम्पादक 'कर्मवीर' और कर्मवीर पं० सुन्दरलाल जी ने इस पत्र की नीति की यथेष्ट प्रशंसा की थी। जब देश में खुले आम हिन्दू-मुस्लिम-दंगा हो रहे थे, उस समय सागर के इस पत्र ने इन दंगों की कड़ी टीका की थी। पत्र बन्द होने का कारण सम्पादक का जबलपुर चला जाना और वहाँ से 'हिन्दुस्थान' पत्र निकालना था। 'हिन्दुस्थान' अपने यौवन-काल में फल-फूल रहा था कि अकस्मात् मेरठ-षड्यन्त्र के मामले में पत्र और सम्पादक की तलाशी हुई और उसमें कुछ आपत्तिजनक पत्र पकड़े गये। घटना-चक्र में फँस कर पत्र बन्द हो गया।

१७—'स्वदेश'—सन् १६२८ में साधुवर पं० केशवरामचन्द्र खांडेकर के सम्पादकत्त्व में निकला और सन् १६३० में देशव्यापी सत्याग्रह छिड़ जाने पर सम्पादक के जेल चले जाने और पत्र में काफ़ी घाटा होने के कारण बन्द हो गया।

१८—'देहाती दुनिया'—साप्ताहिक। सम्पादक—भाई अब्दुलग़नी। यह पत्र सन् १६३७ से देहात की जनता में जाग्रति करने और उन्हें कृषि-सम्बन्धी परामर्श देने के लिए अपना काम करता रहा। सन् १६४२ के आन्दोलन में सम्पादक के गिरफ़्तार हो जाने पर बन्द हो गया।

१६—'बच्चों की दुनिया' (पाक्षिक)। सम्पादक—मास्टर बल्देवप्रसाद। सन् १६३८-३६ में निकला। सन् १६४२ में सम्पादक के जेल जाने तथा काग़ज़ के अभाव में बन्द हो गया।

उक्त पत्रों के अतिरिक्त कई एक स्थानों से कुछ छोटे-मोटे पत्र निकलते हैं। जैसे, हमीरपुर से 'पुकार', कौंच से 'वीरेन्द्र' तथा उरई से 'आनन्द'। इस पिछड़े प्रान्त में जन-जाग्रति का कार्य करने के लिए प्रभावशाली पत्रों के प्रकाशन की आवश्यकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि राजनैतिक, सामाजिक तथा शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति

उत्पन्न करने में पत्र बड़े लाभदायक सिद्ध होंगे। अतः कुछ ऊँचे दर्जे के पत्र निकालने की दिशा में हमें शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए।

जानकारी के अभाव में, सम्भव है, कुछ पत्रों के नाम छूट गये हों। लेखक क्षमा-प्रार्थी है।

नोट—डा० रामकुमार जी वर्मा द्वारा हमें निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाओं के विवरण और प्राप्त हुए हैं।

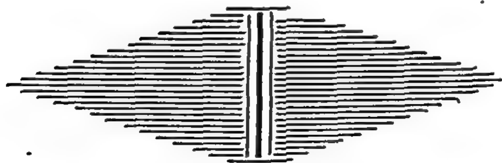
—सम्पादक

१. **हितकारिणी**—यह मासिक पत्रिका जबलपुर से हितकारिणी सभा की ओर से प्रकाशित होती थी और इसके संपादक थे स्वर्गीय श्री रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी। इस पत्रिका ने शिक्षा के प्रसार और संगठन करने में अभूतपूर्व कार्य किया। बीस वर्षों से अधिक इस पत्रिका ने मध्यप्रांत में साहित्यिक प्रेरणाएँ भी प्रदान की और शिक्षकों और विद्यार्थियों को चरित्रबल की शिक्षा दी।

२. **शिक्षामृत**—यह मासिक पत्रिका नरसिंहपुर से 'हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय' से श्री नाथूराम रेंगा के निरीक्षण और श्री आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव के सम्पादकत्व में सन् १९२० से प्रकाशित होना आरंभ हुई। यह ५ वर्षों तक प्रांत और उसके बाहर शिक्षा और साहित्य की समस्याओं पर प्रकाश डालती रही। इसमें कविताएँ उच्चकोटि की होती थीं और भारत के प्राचीन गौरव से संबंध रखने वाले चरित्रों पर अच्छी कविताएँ लिखी जाती थीं।

३. **विंध्यभूमि**—पन्ना, बुन्देलखण्ड से यह त्रैमासिक पत्र बुन्देलखण्ड के साहित्यिक और ऐतिहासिक वैभव से संबंध रखता है। यह जून सन् १९४५ से प्रकाशित हुआ। इसमें साहित्यिक सुरुचि से सम्पन्न सुन्दर लेखों का संग्रह रहता है। इसके सम्पादक हैं श्री हरिराम मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी, बी० टी०।

४. **जयहिन्द**—श्री गोविन्ददास जी के निर्देशन में जबलपुर से एक दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुखतः राजनैतिक विषयों की ही चर्चा रहती है। साहित्यिक समारोहों के विवरण देने में भी इस पत्र में विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इस पत्र का प्रकाशन इसी वर्ष (१९४६) से प्रारंभ हुआ है।





उषा-विहार

[कुण्डेश्वर के निकट जामनेर की छटा

बुन्देलखण्ड का एक महान् संगीतज्ञ

[उस्ताद आदिलखां]

श्री वृन्दावनलाल वर्मा एडवोकेट

(१)

"है तो जरा पगला, पर उसके गले में सरस्वती विराजमान है।" पं० गोपालराव घाणेकर ने एक दिन मुझसे कहा।

पं० गोपालराव वयोवृद्ध थे। मैं उन्हें 'काका' कहा करता था। सितार बहुत अच्छा बजाते थे। गाते भी बहुत अच्छा थे। दमे के रोगी होने पर भी ख्याल में बड़ी सुरीली गमकें लगाते थे। मैं उनका सितार सुनने प्रायः जाया करता था। एक दिन उन्होंने उस्ताद आदिलखां के गायन की प्रशंसा करते हुए उक्त शब्द कहे थे।

उसी दिन से आदिलखां का गाना सुनने के लिए मेरा मन लालायित हो उठा। उन्हीं दिनों अगस्त की उजली दुपहरी में एक दिन मैं डॉक्टर सरयूप्रसाद के यहां गपशप के लिए जा बैठा। छुट्टी थी। वह बैठकबाज थे और गाने-बजाने के बड़े शौक़ीन। उसी समय उनके यहां एक नवागन्तुक बड़ी तेजी से आया। मूंछ मुड़े चेहरे पर श्रमकण सवेरे की हरियाली पर ओस की बूंदों की तरह मोतियों जैसे झिलमिला रहे थे। शरीर का बारीक सफ़ेद कुर्ता पसीने से भीग गया था। नज़ाकत के साथ सारंग की तान छेड़ता हुआ वह व्यक्ति आया और बैठते ही बातचीत आरम्भ कर दी। "डॉक्टर साहब !" वह बोला, "कलकत्ते गया था। एक बंगाली बाबू ने कई दिन रोक रक्खा। कई बैठकें हुईं।" चेहरे से लड़कपन, अल्हड़पन और सरलता टपक रही थी और आंखों से प्रतिभा। मुझे सन्देह हुआ कि शायद यह आदिलखां हो, परन्तु ऐसा लड़का-सा और अल्हड़ कहीं इतना महान् संगीतज्ञ हो सकता है ! यह तो कोई चलतू गवैया होगा। मैंने डॉक्टर साहब से संकेत में प्रश्न किया।

उन्होंने आश्चर्य के साथ उत्तर दिया, "इनको नहीं जानते ? आदिलखां हैं। प्रसिद्ध गवैये !"

मैंने क्षमा-याचना की वृत्ति बना कर कहा, "कभी पहले देखा नहीं। इसलिए पहचान नहीं पाया। तारीफ़ आपकी पं० गोपालराव जी से अवश्य सुनी है।"

आदिलखां ने पूछा, "आप कौन हैं ?"

डॉक्टर साहब ने मेरा परिचय दे दिया।

आदिलखां बोले, "पं० गोपालराव जी बहुत जानकार हैं। बड़े सुरीले हैं।"

फिर उन्होंने सारंग की तानों से उस कमरे को भर-सा दिया। कोई बाजा साथ के लिए न था, परन्तु जान पड़ता था मानों आदिलखां के स्वर और गले को बाजों की अपेक्षा ही नहीं। इससे और अधिक परिचय उस दिन मेरा और उनका नहीं हुआ।

कुछ ही समय उपरान्त गोपाल की बगिया में, जहां अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन पन्द्रह वर्ष पूर्व हुआ था, गायनवादन की बैठक हुई। एक प्रसिद्ध पखावजी और आदिलखां का मुक़ाबला था। बीच-बीच में मुझे ऐसा भान होता था कि पखावजी का अनुचित पक्ष किया जा रहा है। जब बैठक समाप्त हुई तो लोग अपने पक्षपात को प्रकट करने लगे। मैंने प्रतिवाद किया और आदिलखां की जो कारीगरी ताल के सम्बन्ध में मेरी समझ में आई, अपने प्रतिवाद के प्रतिपादन में लोगों के सामने पेश की। वहां से हम लोग चले तो आदिलखां साथ थे। मार्ग में बातचीत होने लगी। आदिलखां ने पूछा, "आपने संगीत किससे सीखा ?"

मैंने उत्तर दिया, "किसी से नहीं। भारतखंडे की पुस्तकों से।"

"अजी, पुस्तकों से संगीत नहीं आता।"

"क्या करता? मन भरने योग्य गुरू न मिलने के कारण पुस्तकों का ही सहारा लेना पड़ा।"

"किसी दिन मैं अपना गाना सुनाऊँगा।"

यह वात आज से वाईस वर्ष पहले की है। तव से उस्ताद आदिलखाँ के साथ मेरा सम्वन्ध उत्तरोत्तर वढ़ता चला गया और अव तो वह मेरे छोटे भाई के वरावर हैं।

(२)

सन् १९२५ के नवम्वर की वात है। चिरगाँव से एक वरात ललितपुर गई। वरात में भाई श्री मैथिलीशरण गुप्त, स्वर्गीय मुंशी अजमेरी जी तथा प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री लक्ष्मणदास मुनीम (हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के संगीत के प्रोफ़ेसर) और वनारस के विख्यात शहनाई वजानेवाले थे। मैं आदिलखाँ को एक दिवस उपरान्त झाँसी से ले पहुँचा। सवेरे का समय था। वनारस की शहनाई वज रही थी। शहनाई वाले झूम-झूम कर टोड़ी की तानें ले रहे थे। उस्ताद आदिलखाँ को चिरगाँव के सभी वराती जानते थे, परन्तु मुनीम जी और शहनाई वाले उनकी ख्याति से थोड़े ही परिचित थे। मैंने और उस्ताद ने उनको पहले-पहल ही देखा था। हम लोग एक ओर को वैठ गए। अभी शहनाई समाप्त नहीं हुई थी कि आदिलखाँ ने मेरे कान में कहा, "अच्छी वजाते हैं, पर मेरी भी टोड़ी होनी चाहिए।"

शहनाई के समाप्त होते ही मैंने उस्ताद से गवाने का अनुरोध किया। भाई मैथिलीशरण जी तथा मुं० अजमेरी जी उस्ताद का गाना सुन चुके थे। उनका अनुमोदन होते ही आदिलखाँ का गाना आरम्भ हो गया। उस्ताद ने विलासखानी टोड़ी छेड़ी और ऐसा गाया कि हम लोग तो क्या, शहनाई वाले और प्रोफ़ेसर लक्ष्मणदास मुनीम भी मुग्ध हो गये। ग्यारह वज गये। कोई उठना नहीं चाहता था, परन्तु स्नान इत्यादि से निवृत्त होना था। इसलिए वैठक दोपहर के लिए स्थगित कर दी गई।

दुपहरी की वैठक में सारंग गाने के लिए आग्रह हुआ।

उस्ताद ने पूछा, "कौन सा सारंग गाऊँ? सारंग नौ प्रकार के हैं। जिस सारंग का हुकुम हो, उसी को सुनाऊँ।'

मुनीम जी ने प्रस्ताव किया, "पहले शुद्ध सारंग सुनाइए।"

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यह राग तानों और मीड़ मसक की गुंजाइश रखते हुए भी अच्छे गवैयों की कारीगरों की परीक्षा की कसौटी है। उस्ताद ने मुस्करा कर कहा, "वहुत अच्छा।"

मुनीम जी ने हारमोनियम लिया। वह इसके पारंगत थे। आदिलखाँ ने शुद्ध सारंग ऐसी चतुराई के साथ गाया कि श्रोता मन्त्रमुग्ध-से हो गये। मुझको ऐसा भान हुआ मानों गर्मियों के दिन हों। लू चल रही हो। कोकिलाएँ प्रमत्त होकर शोर कर रही हों। मुझ समेत कई श्रोताओं को पसीना आ गया। शुद्ध सारंग के समाप्त होते ही मुनीम जी ने कहा, "मैं पैंतीस वर्ष से हारमोनियम पर परिश्रम कर रहा हूँ और अनेक वड़े-वड़े गवैयों को सुना है, परन्तु जैसा सारंग आज सुना वैसा पहले कभी नहीं सुना।"

उस्ताद ने कहा, "अजी, मैं किस योग्य हूँ।"

उस्ताद की कोई जितनी प्रशंसा करे वह उतने ही नम्र हो जाते हैं, वास्तविक रूप में; परन्तु यदि कोई उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाये तो उसकी मुसीवत ही आई समझिए।

सन् १९२७-२८ की वात होगी। ग्वालियर से एक मराठे सज्जन तवला वजाने वाले आए। उनको अपने ताल-ज्ञान का और तवला वजाने का वहुत अभिमान था। तवला वह वजाते भी वहुत अच्छा थे। मेरे घर वैठक हुई। जगह छोटी थी, फिर भी झाँसी के लगभग सभी जानकार और संगीतप्रेमी आ गए। तवला वाले मराठा सज्जन को आदिलखाँ के गायन का साथ करना था। मराठा सज्जन अपने शास्त्र के आचार्य थे और उन्होंने अनेक

बड़े-बड़े उस्तादों के कठिन गायन के साथ तबला बजाया था। उनको अपने फ़न पर नाज़ था। पं० गोपालराव भी बैठक में थे। मैं उनके पास ही था। एक और सज्जन ने, जिन्होंने मराठे आचार्य का तबला सुना था, उनके ताल की तारीफ़ की। इस पर मराठे सज्जन ने नम्रता तो प्रकट की नहीं, ज़रा दम्भ के साथ बोले, "मैंने श्री कृष्णराव पंडित के साथ बजाया है। उन्होंने मेरा लोहा माना। और भी बहुत-से बड़े-बड़े उस्तादों के साथ बजाया है और उनको हराया है। आज उस्ताद आदिलखाँ की उस्तादी की परख करनी है।"

आदिलखाँ पहले ज़रा मुस्कराए। फिर उनकी त्यौरी बदली, होंठ फड़के और दबे। एक क्षण उपरान्त गला संयत करके बोले, "देखिए राव साहब, उस्तादों की जगह सदा से खाली है। इसलिए इतनी बड़ी बात नहीं कहनी चाहिए। आज जो यहाँ इतने लोग हैं, आनन्द के लिए इकट्ठे हुए हैं। झगड़ा-फ़साद सुनने के लिए नहीं। इसलिए मज़े को क्यों किरकिरा करते हो?"

राव साहब न माने। कहने लगे "यह तो अखाड़ा है, उस्ताद! लोगों को मुठभेड़ में ही आनन्द प्राप्त होगा।"

"तब हो।" उस्ताद ने चिनौती स्वीकार करते हुए कहा, "शुरू करिए।" उस्ताद ने तम्बूरा लिया। ध्रुवपदाङ्ग ख्याल का आरम्भ किया। इस प्रकार का ख्याल केवल उस्ताद का घराना गाता है। इनके पिता स्वर्गीय विलासखाँ बहुत बड़े गवैये थे और पितामह उस्ताद मिट्ठूखाँ का देहान्त उस समय के धौलपूर नरेश के दरबार में एक प्रतिद्वन्द्वता में तान लेते-लेते हुआ था। मिट्ठूखाँ के पिता पुरदिलखाँ और पुरदिलखाँ के पिता केसरखाँ तथा केसरखाँ के पिता मदनखाँ सब अपने ज़माने के नामी गवैये थे। इस घराने का ख्याल ध्रुवपद के अङ्ग से उठता है और उत्तरोत्तर तेज सजीव ख्याल का रूप धारण करता चला जाता है। यह परिपाटी और किसी गवैये में, श्री ओंकारनाथ और फ़ैयाज़खाँ को छोड़ कर, नहीं है। अन्य गवैयों के ख्याल की मनोहरता शुरू से ही लय की अति द्रुतगति की कारीगरी में विलीन हो जाती है। वे आरम्भ से ही तानें लेने लगते हैं और ख्याल के कण नहीं भरते। इसीलिए अनेक ध्रुवपदिये इस परिपाटी को नापसन्द करते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि ख्यालिये तो बेसुरे होते हैं। परन्तु आदिलखाँ के घराने की परिपाटी इस दोष से सर्वथा मुक्त है। आरम्भ में उनका ख्याल ध्रुवपद-सा जान पड़ता है। स्वर सीधे और सच्चे लगते हैं। कुछ क्षण उपरान्त गमकें पिरोई जाती हैं और फिर शनैः-शनैः क्रमागत अलंकार भरे जाते हैं। इसके पश्चात् तब, लय द्रुत और अति द्रुत की जाती है।

उस्ताद आदिलखाँ ने उस रात अपने घराने की परिपाटी का एक ख्याल उसी सहज ढंग से प्रारम्भ किया। परन्तु एक अन्तर के साथ—लय इतनी विलम्बित कर दी कि ताल का पता ही नहीं लग रहा था!

थोड़ी देर तक तबले के उक्त आचार्य ने परनों और टुकड़ों में अपने अज्ञान को छिपाया, परन्तु यह करामात बहुत देर तक नहीं चल सकती थी। आदिलखाँ ने टोक कर कहा, "सम पकड़िए, सम।"

सम कहाँ से पकड़ते! तबलिये की समझ में ताल ही नहीं आया था। उस्ताद हँसे और उन्होंने अपने हाथ की ताली से ताल देना शुरू किया। बोले, "अब तो समझिए। हाथ से ताल देता जा रहा हूँ।" परन्तु लय इतनी अधिक विलम्बित थी कि तबलिया न तो ताल को समझ सका और न 'खाली' 'भरी' को। सम तो अब भी उससे कोसों दूर था।

झखमार कर, खीझ कर, लज्जित होकर तबला-शास्त्री ने तबला बजाना बन्द कर दिया। कंठावरोध हो गया। हाथ जोड़ कर उस्ताद से बोला, "मैं माफ़ी चाहता हूँ। मैं नहीं जानता था कि आप इतने बड़े उस्ताद हैं। यह ताल मैंने कभी नहीं बजाया। ब्रह्मताल, लक्ष्मीताल इत्यादि तो बहुत बजाए हैं, परन्तु यह ताल नहीं। इसीलिए चूक गया।"

उस्ताद को यकायक हँसी आई। तम्बूरा रख कर और गम्भीर होकर बोले, "बहुत सीधा ताल है। आप उसे प्रायः बजाते हैं।"

तबलिया ने आश्चर्य से कहा, "एँ!"

उस्ताद बोले, "जी हाँ, परन्तु घमंड नहीं करना चाहिए। बुजुर्ग घमंड को बुरा कह गए हैं। जो लोग उनकी बात को नहीं मानते, मुँह की खाते हैं। गवैये के गले का साथ भला तबला बजाने वाले का हाथ कैसे कर सकता है ? आपका दोष नहीं, दोष घमंड का है।"

पं० गोपालराव ने भी फटकारा। तबलिया बिलकुल ढल चुका था। उसी नम्रता के साथ उसने पूछा, "उस्ताद, मैं अब भी बहुत कोशिश करने पर ताल नहीं समझा। बतलाइए, कौन-सा ताल था ? आप कहते हैं कि मैं इसको प्रायः बजाता हूँ। मैं कहता हूँ कि मैंने इसको पहले कभी बजाया ही नहीं।"

उस्ताद ने तम्बूरा हाथ में लिया। बोले, "बजाओ। तिताला है।"

"तिताला !" अचानक अनेक कंठों से निकल पड़ा। "तिताला !" आश्चर्य में डूब कर तबलिये ने भी कहा। बोला, "देखूं !"

उस्ताद ने उसी विलम्बित लय में उसी ख्याल को फिर गाया। अब तबलिये ने अच्छी तरह उनका साथ दिया।

एक बार भूतपूर्व इन्दौर नरेश (श्री तुकोजीराव होलकर) ने उस्ताद आदिलखाँ को उनके तालज्ञान के पुरस्कार में पाँच सौ रुपये भेंट किये थे।

उस्ताद के गायन का एक चमत्कार मैंने स्वयं एक बार अनुभव किया। रात का समय था। हम तीन-चार आदमी घर बैठे थे। उनमें से एक गायनवादन के प्रेमी होते हुए भी जानते कुछ नहीं थे। मैंने उस्ताद से देश गाने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने उस रात देश इतना बढ़िया गाया कि न तो उनसे ही कभी ऐसा सुना और न किसी और गवैये से। बात यों हुई। देश में तीव्र निषाद का स्वर भी लगता है। उस्ताद ने उस रात तीव्र निषाद इतना सम्पूर्ण, इतना सजग और इतना सजीव गाया कि हम लोग सब एकदम बिना किसी भी प्रयास के यकायक "ओह" चीख कर अपने आसनों से उठ गए और वैसी ही "ओह" उस्ताद के भी मुँह से निकल पड़ी। फिर उसी प्रकार की निषाद लगाने के लिए उनसे कहा, परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह सफल नहीं हुए।

मुझको लगभग एक युग पहले कविता करने का व्यसन था। उसमें अपने को नितान्त असफल समझ कर छन्दोभंग और रसविपर्यय का प्रयास सदा के लिए त्याग दिया, परन्तु दो-एक कविताएँ कहीं लिखी पड़ी थीं। उस्ताद को मालूम हो गया। "बड़े भैया !" एक दिन बोले, "इनको मैं याद करूँगा और गाऊँगा।"

मैंने विनय की, "गए-गुज़रे खंडहरों को आप क्यों आबाद करने जा रहे हैं ?" तुरन्त उत्तर दिया, "एक गवरमेंटी मुहकमा खंडहरों की मरम्मत के लिए भी है। वह क्यों ? उस मुहकमे को तुड़वा दो तो मानूंगा, नहीं तो नहीं।"

उस्ताद हिन्दी नहीं जानते। थोड़ी सी, बहुत थोड़ी, उर्दू जानते हैं। मैंने अपनी दो कविताएँ उनको उर्दू में लिखवा दीं। सन्ध्या को वह उन्हें याद करके आ गए। एक को वसन्तमुखारी राग में बिठलाया और दूसरी को देश में। इन दोनों कविताओं को वह प्रत्येक बड़ी बैठक में अवश्य गाते हैं। उनको वे बहुत प्रिय हैं, क्योंकि वे उनके 'बड़े भैया' की हैं।

एक दिन स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी (प्रताप, कानपुर) झाँसी में राजनैतिक प्रसंग पर बातचीत कर रहे थे। विद्यार्थी जी जब-कभी झाँसी आते थे, राजनैतिक मतभेद होते हुए भी ठहरते मेरे घर पर ही थे। उसी समय उस्ताद आदिलखाँ आ गए। विद्यार्थी जी उनको नहीं जानते थे, पर आदिलखाँ उनसे परिचित थे। उस्ताद इतने बेतकल्लुफ़ हैं कि परिचय इत्यादि सरीखी परिपाटियों में न तो विश्वास रखते हैं और न उन पर अपना समय ही खर्च करते हैं।

बैठते ही बोले, "यह शायद विद्यार्थी जी हैं ! कानपुर वाले।"

विद्यार्थी जी ने भी बेतकल्लुफ़ी के साथ पूछा, "आप कौन हैं ?"

मैंने दोनों प्रश्नों का उत्तर एक साथ ही दिया, "यह मेरे मित्र प्रसिद्ध नेता श्री गणेशशंकर विद्यार्थी और यह प्रसिद्ध गायनाचार्य उस्ताद आदिलखाँ !"

गणेश जी को संगीत पर परिश्रम करने का समय और अवकाश न मिला था, परन्तु मैंने उस्ताद से गाना सुनाने के लिए कहा। उस्ताद ने तुरन्त बिना बाजे-वाजे के एक ख्याल सुनाया। गणेश जी उस्ताद की कारीगरी पर अचम्भे में भर आए। बोले, "उस्ताद, आप निस्सन्देह इस कला के बहुत बड़े कारीगर हैं। आपके गले में मशीन-सी लगी जान पड़ती है; पर गाना आपका इतना मुश्किल है कि साधारण जनता नहीं समझ सकती। इसको इतना सरल बनाइए कि मामूली आदमी भी समझ सके।"

उस्ताद बड़े हाज़िर-जवाब हैं। तुरन्त बोले, "जनाब, आप नेता हैं, बहुत बड़े नेता हैं। एम० ए०, बी०ए० पास वाले लोगों के मज़मून समझने के लिए जनता को कुछ पढ़ना पड़ता है या नहीं? तब हमारी नाद-विद्या को समझने के लिए भी पहले लोगों को कुछ सीखना चाहिए।"

उस्ताद की पढ़ाई-लिखाई की बात हुई। स्वयं परिचय दिया, "मैंने तो सरसुती जी की पूजा की है। पढ़ा-बढ़ा कुछ नहीं। छुटपन में बकरियाँ चराता था और एक पैसे में पाँच चीज़ें गाकर सुना देता था। डंड पेलता था। एक पैसे की आशा पर सौ डंड पेल कर दिखला देता था।"

विद्यार्थी जी बहुत हँसे।

(३)

बहुत-से विद्वानों में एक कसर होती है। वे ठीक तौर पर विद्यादान नहीं कर सकते। ठोकपीट कर अपने विद्यार्थियों को तैयार करते हैं और फिर भी अपनी बात नहीं समझा पाते। उस्ताद आदिलखाँ में उनकी महान् विद्वत्ता के साथ यह महान् गुण भी है कि वह सहज ही अपने विद्यार्थियों को पूरा विद्यादान करते हैं। डाटते-फटकारते हैं और यदाकदा चाँटे भी लगा देते हैं, परन्तु छोटे-से-छोटे लड़के-लड़कियों को भी इतनी शीघ्रता के साथ इस कठिन विषय को इतनी आसानी से समझा देते हैं कि आश्चर्य होता है। और पुरस्कार के लिए कोई हठ नहीं करते। जो मिल जाय, उस पर सन्तोष करते हैं। बिना बुलाए कभी किसी राजा या नवाब के यहाँ भी नहीं जाते। प्रयाग में एक महती संगीत कान्फ्रेंस हुई। उस्ताद बुलाए गए। श्री पटवर्धन, श्री ओंकारनाथ, श्री नारायणराव व्यास प्रभृति भी उस बैठक में आए थे। उस्ताद को स्वर्णपदक मिला। सब बड़े-बड़े गवैयों ने उनकी सराहना की। प्रयाग की संगीत समिति के संयोजक प्रयाग-विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर थे। उन्होंने उस्ताद को अपने यहाँ गाने के लिए बुलवाया। उस्ताद के ठहरने का प्रबन्ध मैंने प्रयाग के एक अपने वकील मित्र के यहाँ किया था। उस्ताद ने उत्तर भेजा, "मैं ऐसे नहीं आ सकता। जिनका मैं मेहमान हूँ, उनको लिखिए। वह इजाज़त देंगे तो आऊँगा, नहीं तो नहीं।" संगीत-समिति के संयोजक इस पर कुढ़ गए। उस्ताद ने बिलकुल परवाह नहीं की।

झाँसी में एक संगीतसम्मेलन सन् १९४० में हुआ। यहाँ भी उनको स्वर्णपदक मिला। पुरस्कार की बात हुई। बोले, "या तो पुरस्कार की बात बिलकुल न करो, क्योंकि झाँसी का हूँ, पर यदि बात करोगे तो जो बाहर वालों को दिया है, वही मैं लूंगा। कम लेने में मेरा अपमान है।" विवाद हुआ। मेरे लिए पंचायत कर देने का प्रस्ताव उस्ताद के सामने आया। तुरन्त बोले, "बड़े भैया कह दें कि पास से कुछ चन्दा संगीत सम्मेलन को दे दो तो आपसे कुछ भी न लेकर गाँठ का और दे दूंगा।" उनका कहना ठीक था। मैंने पंचायत कर दी और उनको सन्तोष हो गया।

उस्ताद का राजनैतिक मत भी है। गवरमंट को बहुत प्रबल मानते हुए भी वह राष्ट्रवादी हैं और हिन्दू-मुस्लिम समस्या उपस्थित होते ही निष्पक्ष राय देते हैं। कितने भी मुसलमानों की मजलिस हो और कहीं भी हो, यदि हिन्दुओं की कोई भी मुसलमान, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अनुचित निन्दा करे तो उस्ताद आदिलखाँ बिगड़ पड़ते हैं और घोर प्रतिवाद करते हैं और न्याय-पक्ष की वकालत करते हैं। हिम्मत के इतने पूरे हैं कि यदि हज़ार की भी बैठक में कोई उनके किसी मित्र की बुराई करे तो तुरन्त उसका विरोध और अपने मित्र का समर्थन करते हैं। मैंने स्वयं उनको कहते सुना है, "यह बुज़दिली है। जिनकी बुराई पीठ पीछे कर रहे हो, उनके मुंह पर करो तब जानूं।"

जिन्ना साहव (मि० मुहम्मद अली जिना) हिन्दुओं और मुसलमानों को दो राष्ट्र कहते हैं। उस्ताद कहते हैं कि हम में और हिन्दुओं में मज़हव के सिवाय और क्या फ़र्क़ है ?

कुछ वर्ष हुए मेरी भान्जी का विवाह खंडवा में हुआ। प्रसिद्ध साहित्यिक और नेता व्योहार राजेन्द्रसिंह (जवलपुर) के पुत्र इस विवाह के वर थे। विवाह में शामिल होने के लिए मेरे वहनोई श्री श्यामाचरणराय ने (वह भी एक विख्यात लेखक हैं) उस्ताद को निमन्त्रण दिया। उस्ताद मुझसे पहले ही खंडवा पहुँच गए। जव वरात विदा हो गई तो उस्ताद झाँसी आने लगे और श्री राय के पास विदा माँगने गए। उन्होंने मुझसे पहले ही उस्ताद की विदाई के सम्वन्ध में वातचीत कर ली थी। मैंने श्री राय से कह दिया था कि जो जानें, दे दें। उस्ताद वहुत सन्तोषी हैं। श्री राय ने वहुत संकोच के साथ उस्ताद से अपने प्रस्ताव का प्राक्कथन किया। उस्ताद समझ गए और वोले, "राय साहव, कह डालिए, आप जो कहना चाहते हों।"

श्री राय ने पचास-साठ रुपये के नोट वहुत नम्रता के साथ उस्ताद की ओर वढ़ाए। और भी अधिक नम्रता के साथ उस्ताद ने कहा, "क्या यह विवाह मेरी भान्जी का नहीं था ? इस अवसर पर आपका पैसा लेकर कैसे मुँह दिखलाऊँगा ?"

श्री राय चुप रह गए। चलते समय उस्ताद मेरी वहन के पास गए। उस्ताद ने उनके पैर छुए और दो रुपये भेंट करते हुए हाथ जोड़ कर वोले, "वहिन जी, मै तुम्हारा ग़रीव भाई हूँ। मेरी यह छोटी-सी भेंट मंजूर करो।"

मेरी वहिन ने तुरन्त भेंट लेकर कहा, "भैया आदिल, ये दो रुपये दो सौ रुपयों से वढ़ कर हैं।" फिर वहिन ने उस्ताद की चादर में कलेवा की मोटी-सी पोटली वाँधी और हल्दी-चावल का तिलक लगाया। उस्ताद ने फिर पैर छुए और अभिमान के साथ उस तिलक को झाँसी तक लगाए आए।

(४)

उस्ताद को झाँसी वहुत प्रिय है और वुन्देलखंड से वड़ा स्नेह है। झाँसी में इनके निजी मकान भी हैं, परन्तु पिता और पितामह के घर धौलपुर में है। इनके और पहले पुरखे गोहद (ग्वालियर राज्य) में रहते थे। गोहद राजदरवार मे वे गायकी करते थे। गोहद के ग्वालियर के अधीन हो जाने पर वे गोहदनरेश के साथ धौलपुर चले आए। आप गोहद को, चम्वल इस पार होने के कारण, वुन्देलखंड में ही मानते हैं। इसलिए अपने को वुन्देलखंडी कहने में गौरव अनुभव करते हैं। झाँसी के वाहर वहुत दिन के लिए कभी नहीं टिकते। भोपाल में ढाई सौ रुपये मासिक पर जूनागढ़ की वेगम साहवा के यहाँ नौकरी मिली। केवल चौदह दिन यह नौकरी की। जहाँ वैठते थे वहाँ होकर उनके वड़े-वड़े कर्मचारी निकलते थे। कोई कहता था कि भैरवी गाइए, कोई कहता था, ईमन सुनाइए। एकाध मिनिट के वाद वह शौक़ीन वहाँ से चल देता और उस्ताद कुढ़ कर अपना तम्वूरा रख देते। सलामें जुदी करनी पड़ती थीं। एक रात उस्ताद विना चौदह दिन का अपना वेतन लिये गाँठ का टिकिट लेकर झाँसी चले आये।

दिल्ली रेडियो पर गाने के लिए वुलाए गए। कई वार गाया। स्वभावतः वहुत अच्छा ; परन्तु वहाँ के अधिकारी घर पर गाना सुनना चाहते थे और ग्रामोफ़ोन में भरना। उस्ताद ने दोनों प्रस्तावों से इनकार कर दिया और रेडियो को वता वतलाई। वहुत थोड़ा पढ़ा-लिखा होने पर भी यह कलाकार हिन्दी-हिन्दुस्तानी के झगड़े को जानता है। उसकी स्पष्ट राय है कि जो भाषा रेडियो पर वोली जाती है वह "मेरी भी समझ में नहीं आती।"

तुलसीदास के प्रति उस्ताद की वड़ी श्रद्धा है। यदि तुलसीदास के साथ किसी आधुनिक कवि की कोई तुलना करता है तो वे वेधड़क कह देते हैं, "वको मत। कहाँ राजा भोज, कहाँ भुजवा तेली !"

वुन्देलखंड में हाल ही में ईसुरी नाम का एक कवि हुआ है। इसकी चार कड़ी की फागें वहुत प्रसिद्ध हैं। अपढ़ किसान, गाड़ीवान, मल्लाह और मज़दूर से लेकर राजा और महाकवियों तक की ईश्वरी पर प्रीति है। इसकी फागें ठेठ वुन्देलखंडी में है। उस्ताद इन फागों को वड़ी मधुरता और लगन के साथ गाते हैं। वुन्देलखंड में गायन की

एक परिपाटी है जो 'लेद' कहलाती है। लेद गाने के आरम्भ में ख्याल जान पड़ती है और धीरे-धीरे दादरे में परिवर्तित हो जाती है। बहुत ही मनोमोहक है। उस्ताद इस परिपाटी के भी आचार्य हैं।

उस्ताद कभी-कभी दो सतरों की कविता का कठिन प्रयास भी करते हैं और जैसे-बने-तैसे "आदिल मियाँ की विनती सुन लो" प्रक्षिप्त करते हैं और मुझसे पूछते हैं, "भैया, इसमें अगन अक्षर तो नहीं है ?" मैं हमेशा उनसे कह देता हूँ, "इसमें सारे के सारे अगन अक्षर ही हैं।" तब वह हँस देते हैं। लोगों से मजाक़ करना-करवाना उनको बहुत प्रिय है और वह कभी बुरा नहीं मानते। पं० तुलसीदास शर्मा और पं० दत्तात्रेय रघुनाथ घाणेकर फ़ोटोग्राफ़र (पं० गोपालराव के भतीजे) इनके बड़े मित्र हैं। इनको सदा खिझाते रहते हैं और ये उनको हैरान करते रहते हैं। एक बार इन लोगों ने इनकी आँख पर आक्षेप किया। 'काना' तक कह दिया। शर्मा जी ने तो एक बार एक काने भिखारी को तुलना करने के लिए सामने खड़ा भी कर दिया। उस्ताद बहुत हँसे और बोले, "मैं सब को एक आँख से देखता हूँ।" फ़ोटोग्राफ़र मित्र से कहा, "मेरा फ़ोटू खींचो तो जैसी मेरी एक आँख है, वैसी ही बनाना।" धुनी ऐसे हैं कि कई एक बार सिर के, चेहरे के और भौंहों तक के बाल मुड़वा दिये। सिगरेट बहुत पीते थे। एक दिन आश्चर्यपूर्ण समाचार सुनाया, "भैया, मैंने सिगरिट पीना छोड़ दिया है। अब कभी नहीं पिऊँगा, चाहे आप ही हजार रुपये क्यों न दें।" मैंने कहा, "क्यों न हो उस्ताद, आप ऐसे ही दृढ़प्रतिज्ञ हैं।" फिर उन्होंने सारे शहर में दिन भर अपने सिगरेट-बीड़ी छोड़ने का ढिंढोरा पीट डाला। दूसरे दिन सवेरे मुझको मिले। वही शान, वही गुमान। "अब कभी सिगरिट नहीं पिऊँगा।" मैंने कैंची मारका सिगरेट की एक डिबिया पहले से मँगा रक्खी थी। एक सिगरेट निकाल कर पेश की। बोले, "हरगिज़ नहीं। चाहे कुछ हो जाय, प्रण नहीं तोड़ूंगा।" मैं तो जानता था। मैंने दियासलाई जलाई। सिगरेट बढ़ा कर कहा, "अच्छी है। आप इसको पसन्द भी करते हैं।"

"आपके इतना कहने पर नाहीं नहीं कर सकता। लाइए।" उस्ताद ने हँसते हुए कहा और पूरी डिब्बी उसी दिन ख़तम कर दी!

(५)

उस्ताद का व्यावहारिक संगीतज्ञान विलक्षण है। चाहे जौनसा बाजा सिखला सकते हैं, बजाते यद्यपि वह केवल सितार ही हैं। स्वर और ताल पर उनका अद्भुत अधिकार है। डेढ़सौ-दोसौ राग-रागिनियाँ जानते हैं। उनमें से कुछ राग तो वह अकेले में स्वान्तः सुखाय ही गाते हैं। दुर्गा, भोपाली, दरबारी कान्हड़ा, बिलासखानी टोड़ी, ललित, वसन्त, कामोद, छायानट, पट, बहार, केदारा, देश, बिहाग, पूरिया इत्यादि उनके विशेष प्रिय राग हैं। वह सहज ही एक-एक बोल की सैंकड़ों नई तानें लेते हैं और बनाते चले जाते हैं। एक राग के समाप्त होते ही किसी भी राग की फ़रमायश को तुरन्त पूरा करते हैं। पचास-पचास रागों तक की रागमाला बना कर सुना देते हैं।

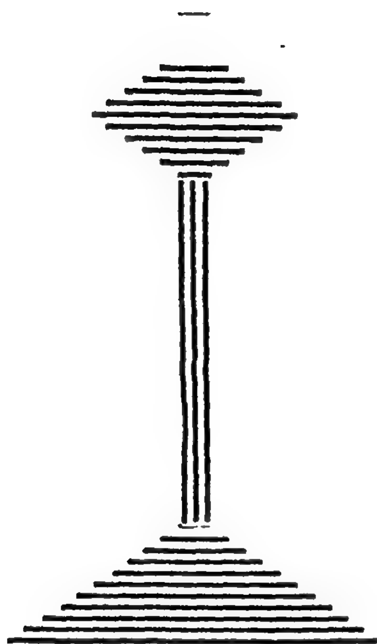
उनसे राग की प्रार्थना करते ही वह तिताला, झप, सूरफाग, चौताला या इकताले में गायन प्रारम्भ कर देते हैं और तानें भी स्वभावतः इसी ताल के विस्तार में भरते चले जाते हैं। यदि कोई उनसे कहे कि तिताला में गाए जाने वाले उन्हीं बोलों को झप या और किसी ताल में विस्तृत या संकुचित कर दीजिए तो वह सहज ही ऐसा कर देंगे और सम्पूर्ण तानें, गमक इत्यादि उसी ताल और उसकी परलों के विस्तार में भर देंगे और समग्र तानों की वर्णमाला —सरगम— गले के आलाप की तेजी के साम्य पर बना देंगे। यह कारीगरी भारतवर्ष के बहुत थोड़े गवैये कर सकते हैं। मेरी समझ में भारतवर्ष के दस-बीस ऊँचे गायकों में इनकी गिनती है। उनके संगीत-ज्ञान की गहराई उनके मधुर गायन से कानों को पवित्र करने पर ही अनुमान की जा सकती है।

उस्ताद आदिलखाँ का गला बहुत मीठा है। इतना मीठा कि पुरुष-गायकों में श्री फ़ैयाजखाँ, श्री ओंकारनाथ, श्री पटवर्द्धन, श्री रतनजनकर और नारायणराव व्यास ही उन्नीस-बीस के अनुपात में होंगे। व्यास जी की अपेक्षा मैं उस्ताद आदिलखाँ को अधिक मीठा समझता हूँ।

सच्चे यह इतने हैं कि मेरे एक बार प्रश्न करने पर कि श्री रतनजनकर की बाबत उनकी क्या राय है, वह बिना किसी संकोच के बोले, "वह बीस हैं, मैं उन्नीस हूँ। भैया, मैं झूठ नहीं बोलूंगा।"

हमारा यह महान् गवैया, विशाल कलाकार बुन्देलखंड का गौरवगर्व इस समय पैंतालीस वर्ष का है। ईश्वर इसको चिरायु करे और इसको इतनी सामर्थ्य दे कि वह अपने जैसे और कलाकार उत्पन्न करे और इस देश की कला-निधि को समृद्ध करे।

झांसी]



वर वन्दनीय बुन्देलखण्ड

स्व० घासीराम 'व्यास'

१

जाके शीश जमुन डुलावैं चौंर मोद मान,
नर्मदा पखारैं पाद-पद्म पुण्य पेखी है।
कटि कलकेन किंकिणी-सी कलधौत कांति,
बेतवा विशाल मुक्त-माल सम लेखी है॥
'व्यास' कहैं सोहैं सीस-फूल सम पुण्यावति,
पायजेब पावन पयस्विनी परेखी है।
ए हो शशि! सांची कहौ, सांची कहौ, सांची कहौ,
दिव्य भूमि ऐसी दुनी और कहूँ देखी है॥

२

चित्रकूट, ओरछौ, कालिंजर, उनाव तीर्थ,
पन्ना, खजुराहो जहाँ कीर्ति झुकि झूमी है।
जमुन, पहूज, सिंधु, बेतवा, धसान, केन,
मंदाकिनि पयस्विनी प्रेम पाय घूमी है॥
पंचम नृसिंह, राव चंपतराय, छत्रशाल,
लाला हरदौल भाव चाव चित चूमी है।
अमर अनन्दनीय असुर निकन्दनीय,
वन्दनीय विश्व में बुंदेल-खंड भूमी है॥

३

लखन, विदेहजा समेत वनवासी राम,
वास कियो ह्यांई सोच शांति सरसाय लेहु।
पाई सुख शरण अज्ञात-वास कीन्हो यहाँ,
पांडवन प्रेमसों प्रभाव उर छाय लेहु॥
पांय ना पिराने होंहि भ्रम-भ्रम लोक-लोक,
पलक विसार श्रम, चित विरमाय लेहु।
ए हो शशि! परम पुनीत पुण्य-भूमि यह,
नैनन निहार नैकु हिय सियराय लेहु॥

४

नैसुक खनत निकसत पुंज हीरन के,
जग-मग होति ज्योति जागत विभावरी।
हिम है न आतप न पंकिल प्रदेश जाहि,
विरचि विरंचि करै सुरुचि धराधरी॥
आंधी की न ऊधम न उल्का-पात घात भूमि—
कंप की भराभरी न बाढ़ की तराभरी।
कीरति अखंड धन्य धन्य श्री बुंदेलखण्ड,
ऐसो कौन देश करै रावरी बराबरी॥

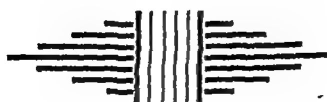
५

बाँकुरे बुंदेलन के खंगन के खेल देख,
ससक सकाय शत्रु होत रन बौना से।
धन्य भूमि जहाँ वीर आनत न शंक मन,
तंत्र से, न मंत्र से, न जादू से, न टौना से॥
छीने छत्र म्लेच्छन मलीनें कर लीने यश,
कीनें काम कठिन अनेक अनहोना से।
जाके सुत हौना सुठिलौना मृग-राजन कौं,
हँस-हँस बाँध लेत मंजु मृगछौना से॥

६

सुख-भूमि यहै, वहैं नित्य जहाँ,
नदियाँ नव नेह के नीरन की।
उपमा नहिं आवत है लखि कें,
सुखमा कल केन के तीरन की॥
हरसावै हियो हरवारन कौ,
सरसावै सुगंध समीरन की।
वर वैभव का कहैं हीरन सौं—
जहाँ छोहरीं खेलैं अहीरन की॥

मऊरानीपुर]



विन्ध्यखण्ड के वन

डा० रघुनाथसिंह

बुन्देलखंड की सीमा के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तो हमारी दृष्टि के सामने सहसा वह मानचित्र आ जाता है, जिसे राजनैतिक रूप में बुन्देलखंड कहते हैं। इस भू-खंड की ये सीमाएँ अठारहवीं सदी के मध्य या पूर्व काल में शासकों ने अपनी सुविधा या नीति के दृष्टिकोण से रची हैं और इस भू-खंड के इतिहास पर भी दृष्टि डालें तो प्रतीत होता है कि बुन्देलखंड की राजनैतिक सीमाएँ निरन्तर बदलती रही हैं। राजनैतिक सीमाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश की दो सीमाएँ और होती हैं। इनमें एक तो सांस्कृतिक है और दूसरी प्राकृतिक। सांस्कृतिक रूप में बुन्देलखंड कहाँ तक एक माना जा सकता है, इस पर प्रस्तुत लेख में विचार करना सम्भव नहीं, परन्तु यह निर्विवाद बात है कि बुन्देलखंड प्राकृतिक रूप में सदा एक ही रहा है।

बुन्देलखंड का सही नाम प्राकृतिक दृष्टि से विन्ध्यखंड है, अर्थात् विन्ध्य पर्वत का देश। यह देश भारतवर्ष के मध्य भाग में है। इसका देशान्तर ७८-८२, अक्षांश २६-२३ के लगभग है और कर्करेखा इसके निचले मध्य भाग में से जाती है। चार सरिताएं इसकी सीमाएँ मानी जा सकती हैं—चम्बल पश्चिम में, यमुना उत्तर में, टोंस पूर्व में और नर्मदा दक्षिण में। इस भूभाग का ढाल दक्षिण से उत्तर की ओर है। नर्मदा के उत्तरी कूल पर महादेव और मैकाल श्रेणियों तथा अमरकंटक से आरम्भ होकर यमुना के दक्षिणी कूल पर पहुँचता है। बीच-बीच में कई छोटी-बड़ी पर्वतश्रेणियाँ हैं। इनका नाम संस्कृत में 'विन्ध्याटवी' है। उच्चतम पृष्ठ-भाग समुद्र की सतह से तीन हज़ार फ़ुट ऊँचा है और ढाल के उत्तरी अन्तिम छोर पर लगभग पांच सौ फ़ुट रह जाता है। यही कारण है कि विन्ध्यखंड की सरिताएँ उत्तरोन्मुखी हैं।

विन्ध्यखंड का भूभाग प्राचीन चट्टानों का देश है। भूगर्भ शास्त्र बताता है कि ये चट्टानें पृथ्वी की प्राचीनतम चट्टानें हैं। जिन दिनों वर्तमान मारवाड़ और कच्छ की मरुभूमि पर समुद्र लहराता था और गंगा की भूमि, बिहार और बंगाल भीषण दलदलों से आच्छादित थे उन दिनों भी हमारा यह भूभाग बहुत कुछ लगभग ऐसा ही रहा होगा। भारत के अति प्राचीन पृष्ठ-भाग में इसकी गणना है।

एक युग था जब कि पृथ्वी के भूभाग पर वन ही वन था। मानव-समुदाय ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, वह अपने स्वार्थ के लिए वनों का नाश करने लगा। धीरे-धीरे मानव की आवश्यकताएँ भी बढ़ने लगीं। इसे लकड़ी आदि के अतिरिक्त खेती के लिए भूमि की आवश्यकता हुई। परिणामतः वन घटने लगे। वनों का यह नाश अनवरत गति से मानव के हाथों से हो रहा है। वह पृथ्वी के पृष्ठ-भाग को अ-वनी करने में लगा हुआ है। जहाँ-जहाँ मानव बढ़े और उन्नतिशील हुए वहाँ-वहाँ वनों का नामनिशान तक न रह सका। इसके उदाहरण ढूंढने के लिए हमें दूर न जाना होगा। उत्तर-पश्चिमी पंजाब को लीजिए। जहाँ इस समय सूखी और नंगी पहाड़ियाँ दिखाई देती हैं वहाँ आज से कुछ सौ वर्ष पहले वन थे। सिकन्दर ने जब सिन्धु के कूलों पर डेरे डाले थे उन दिनों वहाँ सघन वन थे। वर्तमान मुलतान और सिन्धु की उपत्यका वनों से भरी पड़ी थी। महमूद ग़जनी की चढ़ाइयों के वर्णन में काबुल से कालिंजर तक वह जहाँ पहुँचा, उसे वन मिले। हमारे पड़ोस की बृजभूमि में भी बहुत से वन थे। जहाँ गोपाल गाएँ चराते थे, अब वनों के अभाव में वृन्दावन में धूल उड़ती है और महावन में करील खड़े हैं। गंगा के दुआवे, सरयू के अंचल और बिहार में अभी-अभी एक सौ वर्ष पहले तक जहाँ वन थे, वहाँ मुर्दे जलाने को लकड़ी मिलने में कठिनाई हो रही है। सच तो यह है कि मानव से बढ़ कर वन का शत्रु और कोई नहीं है।

राजनैतिक रूप से क्षतविक्षत और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए विन्ध्यखंड की एक ही सम्पदा है और वह है वन। इसीके सहारे सरिताएँ बहती हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य दिखाई देता है और अधिकांश निवासी जीविका उपार्जन करते हैं। इस देश की निधि, ऋद्धि-सिद्धि और लक्ष्मी जो कुछ है, उसका श्रेय यहाँ के वन और वृक्षराजि को है।

विन्ध्यखंड के वनों को वनविज्ञानवेत्ता पतझड़ वाले मानसूनी वन (Deciduous) मानते हैं। ये वन वर्ष में सात-आठ मास तक हरे रहते हैं और वसन्त तथा ग्रीष्म में इनके पत्ते झड़ जाते तथा छोटे-छोटे क्षुप (पौधे) सूख जाते हैं; परन्तु यह विश्वास करने के लिए प्रमाण हैं कि पहले यहाँ सदा हरे (Ever-green) वन रहे होंगे, जैसे कि आजकल अराकान, ब्रह्मदेश आदि में हैं। हमारे यहाँ सदा हरे वृक्षों में जामुन, कदम्ब और अशोक शेष हैं, परन्तु ये वहीं पनपते हैं, जहाँ कि पानी की सुविधा हो। सदा हरे वनों के लिए ६०″ वर्षा प्रतिवर्ष होनी आवश्यक है। पहले हमारे यहाँ ऐसी वर्षा होती थी। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व तक विन्ध्यखंड के वन बहुत विस्तीर्ण और सघन थे। सम्राट अकबर चन्देरी, भेलसा और भोपाल के आसपास हाथियों का शिकार खेलने आया था।

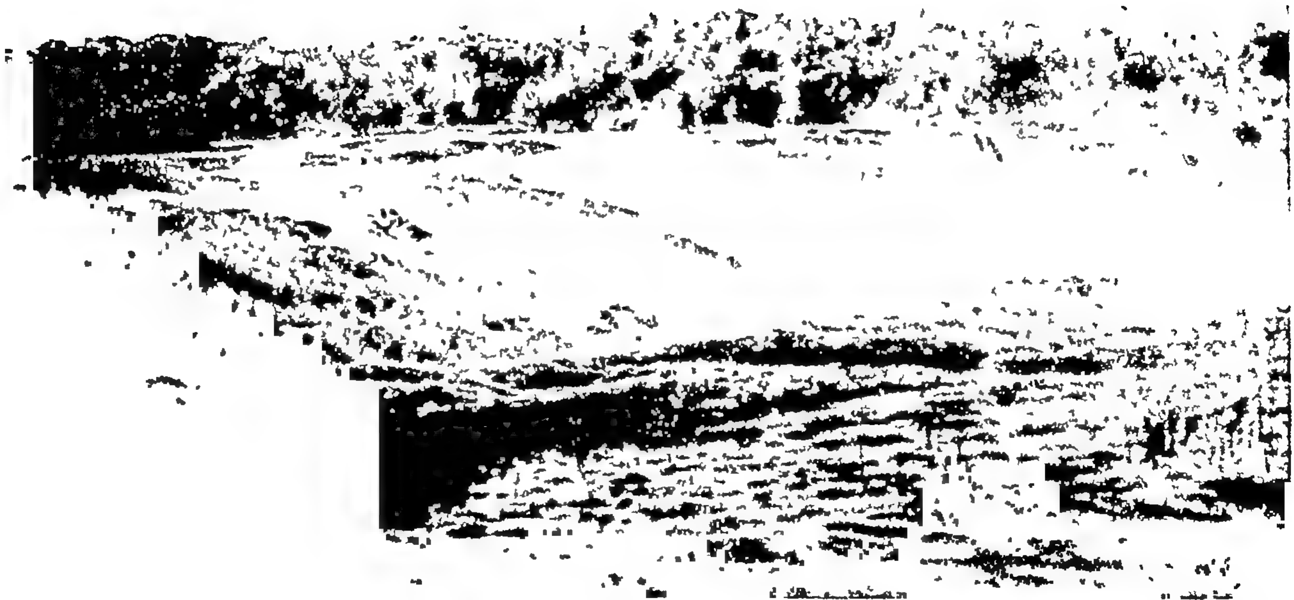
विन्ध्यखंड के वर्तमान वन प्राकृतिक वन हैं और अब जहाँ कहीं हैं, उनमें अधिकांश इस देश की सरिताओं के अंचलों में हैं। बात यह है कि वन और सरिता परस्पर आश्रित हैं। जहाँ वन होगा, वहाँ पानी होगा। जहाँ पानी होगा, वहाँ वन होगा। वन और पानी का यह सम्बन्ध एक रोचक विषय है। जहाँ वन होता है, वहाँ वायुमंडल में नमी (आर्द्रता) अधिक रहती है। वर्षा के बादल जहाँ का वायुमंडल आर्द्र पाते हैं वहाँ थमते और बरसने लगते हैं। इन्हीं मानसूनी बादलों का एक अच्छा भाग मारवाड़ को पार कर हमारे यहाँ आता और बरसता है, परन्तु मारवाड़ सूखा रह जाता है। कारण कि एक तो मारवाड़ में पर्वत नहीं और दूसरे वन नहीं। बादल थमें तो किस तरह?

वन के पास के वायुमंडल में नमी का कारण यह है कि जितना पानी वर्षा में बरसता है उसका अधिकांश भाग वन की भूमि, वृक्षों की जड़ों और पत्तों आदि में रह जाता है। वनाच्छादित भूमि से सूर्य का प्रखरताप जितने समय में वहाँ के जल का बीस या पच्चीस प्रतिशत सोख पाता है, उतने ही समय में वनहीन भूमि का ८० प्रतिशत के लगभग सोख लेता है। वृक्षों का शीर्ष-भाग सूर्य की किरणों की प्रखरता झेल लेता है और नीचे के पानी को बचा लेता है। यह पानी भूमि को आर्द्र रखता है। विशेष जल धीरे-धीरे स्रोतों और नालों के रूप में बह-बह कर सरिताओं को सूखने से बचाता है। पत्तों की आर्द्रता तथा भूमि, स्रोतों और नालों की आर्द्रता हवा में नमी पैदा करती और वहाँ के तापमान को अपने अनुकूल बना कर बादलों के बरसने में सहायक होती है।

यही कारण है कि वनों में और वन के आसपास वर्षा अधिक होती है और नदी-नाले अधिक समय तक बहते हैं। कुओं में कम निचाई पर पानी मिलता है और भूमि प्राकृतिक रूप में उपजाऊ रहती है। वृक्षों से गिरे पत्ते, टहनियाँ और सूखे पद्रुप आदि सड़ कर भूमि को अच्छी बनाते हैं।

वन की स्थिति नदियों और नालों पर एक प्रकार का नियन्त्रण रखती है। वर्षा की बौछार वन के शीर्ष-भाग पर पड़ती है और बहुत धीमे-धीमे भूमि पर वर्षा का जल आता है। ऐसा जल तीव्र वेग से नहीं बह पाता और नाले तथा ऐसी नदियाँ अपेक्षाकृत मंथर गति से बहती हैं। वन की स्थिति भूमि को न कटने देने में सहायक होती है। जहाँ नदी के किनारे वन या वृक्षराजि होगी वहाँ नदी का पूर आसपास की भूमि को ऐसा न काट सकेगा, जैसा कि वन-हीन नदी का पूर काट देता है। इसका उदाहरण चम्बल और जमुना के कूल हैं। ये नदियाँ जहाँ वन-वृक्षहीन प्रदेश में बहती हैं वहाँ इन्होंने आसपास की भूमि काट-काट कर मीलों तक गढ़े कर दिए हैं, जिन्हें 'भरका' कहते हैं। वहाँ की उपजाऊ भूमि तो ये नदियाँ बहा ले गईं, परन्तु यदि इनके कूलों पर वन होते तो नदी की धारा का पहला वेग वृक्षों के तने और मूल सहते और पानी को ऐसी मनमानी करने का अवसर न मिलता।

जिन पहाड़ियों के वन साफ़ कर दिए गए उनकी दशा देखें। वर्षा की बौछारें पहाड़ी की मिट्टी और कंकरी को नीचे बहा ले जाती हैं। घुली मिट्टी तो पानी के साथ आगे बढ़ जाती है, परन्तु कंकरी पहाड़ी के नीचे की भूमि पर जमती जाती है। पाँच-दस वर्षों में ही नीचे की उपजाऊ भूमि राँकड़ हो जाती है और पहाड़ी अधिक नग्न होती



वरी घाट

[मधुवन में जामनेर का जल-प्रपात

जाती है। वनों का प्रभाव आसपास के तापमान पर अच्छा होता है। परीक्षणों से यह पाया है कि वही या वैसा ही वनहीन स्थान अधिक सर्द और गर्म हो जाता है। वन-भूमि पर शीत का प्रभाव लगभग ४ से ६ डिग्री कम होता है और ग्रीष्म में ६ से ८ डिग्री तक कम होता है। अर्थात् वनहीन भूभाग यदि शीत में ६०° तक होता तो वन भूमि होने पर ६४ या ६६ होता और ग्रीष्म में ९० होता तो वनभूमि होने पर ८२ या ८४ ही रहता। शीत और ऊष्णता की प्रखरता को कम करने की शक्ति वनों में है। बात यह है कि एक तो वनों के कारण वायु में नमी रहती है। दूसरे शीत या ग्रीष्म की प्रखरता वनों के शीर्ष-भाग पर टकरा कर मन्द पड़ जाती है। उत्तर भारत तथा मध्य भारत के कुछ नगरों को वनहीन प्रदेश के नगर और वनवेष्टित देश के नगरों में बाँट कर अध्ययन किया जावे तो परिणाम यों मिलेगा—

१—वनहीन प्रदेश के नगर

नगर का नाम	समुद्र सतह से ऊंचाई (फुटों में)	जनवरी का औसत तापमान	जून का औसत तापमान	वर्षा इंचों में (वार्षिक)
बनारस	२६२	६०°	९०°	४०
आगरा	५५५	६०°	९३-९४°	२६
मेरठ	७३८	५६°	९०°	२९
दिल्ली	७१८	५७°	९१°	२७
बीकानेर	७०१	५९°	९५°	११

२—वनभूमि के नगर

मांडला	२५०	६८	८५	७८
रायपुर	९७०	६७	८६	५०
जबलपुर	१३२७	६१	८५	५५

बनारस और मांडला एक सी स्थिति में हैं, परन्तु तापमान और वर्षा के अन्तर का कारण वन है। यदि आगरा के पास थोड़ी बहुत वृक्षावलियाँ न हों तो वह बीकानेर की सी स्थिति में आ सकता है।

भारतवर्ष के वन वृक्षों से और वनस्पतियों से जितने सम्पन्न हैं उतने समस्त संसार के और देशों के वन नहीं हैं। हमारे देश के वनों में २५०० से अधिक जातियों के तो केवल वृक्ष ही हैं। लताएँ और क्षुप आदि अलग रहे, जब कि इंग्लैंड में केवल चालीस प्रकार के वृक्ष हैं और अमेरिका जैसे महाद्वीप में क़रीब तीन सौ। ज्यों-ज्यों खोज होती जा रही है, हमारी यह सम्पदा और प्रकाश में आती जा रही है, परन्तु इतने वृक्षों में काम में लाए जाने वाले वृक्ष उँगलियों पर गिनने योग्य हैं। विन्ध्यखंड के वन भी ऐसे ही सम्पन्न हैं। यहाँ सदा हरे वृक्षों से लगा कर अर्ध मरुस्थल के वृक्ष जैसे नीम, बबूल आदि पाए जाते हैं, परन्तु सागौन, साजा, महुआ, आम, जामुन, अशोक, बबूल, तेंदू, अचार, हल्दिया, तिन्स आदि मुख्य हैं। लताएँ और क्षुप अनगिनती हैं। वन-उपज से कितनी वस्तुएँ काम में लाई जाती और बनाई जाती हैं, इसका अनुमान करना भी सहज नहीं है। हमें पग-पग पर वन-उपज से बनी वस्तुओं की आवश्यकता और महत्त्व का अनुभव होता है।

विन्ध्यदेश के वनवृक्षों में सबसे अधिक काम आने वाला और अनेक दृष्टियों से सर्वोत्तम वृक्ष सागौन है। सागौन से अधिक मज़बूत और सुन्दर वृक्ष और भी हैं, परन्तु यह उन वृक्षों में सर्वोत्तम है, जो कि प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। विन्ध्यदेश में इसके प्राकृतिक वन भरे पड़े हैं। सबसे अच्छा सागौन ब्रह्मदेश और मलाबार का माना जाता है, परन्तु विन्ध्यप्रान्त के सागौन में कुछ कमी होने पर भी रंग और रेशे की दृष्टि से ब्रह्मदेश के सागौन से अधिक सुहावना होता है। अन्य वृक्ष धामन, सेजा, शीशम, जामुन, महुआ, तिन्स, तेंदू, हल्दीया आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं।

लकड़ी की उपादेयता निश्चित करने में लकड़ी की रचना, आकार, लम्बाई-चौड़ाई, वज़न, शक्ति, सख़्ती, लचक, सफ़ाई, टिकाऊपन, रंग, दाने, रेशे और मशीन या औज़ार से काम करने में आसानी आदि बातों पर विचार

करना होता है। अभी हमारे देश में वनों की उपज को सावधानी से काम में लाने की ओर न तो सरकार का ही ध्यान है और न जनता का। एक वृक्ष वन में काटा जाता है तो यहाँ उसका केवल ३० प्रतिशत भाग काम में आने योग्य ठहरता है, जब कि जर्मनी, नार्वे, स्वीडन, और कनाड़ा में ७० से ९० प्रतिशत तक को काम में ले आते हैं। पेड़ में से हमारे यहाँ—

१५% वन में ठूंठ के रूप में छोड़ दिया जाता है।
१०% छाल और पत्ते फेंक दिए जाते हैं।
१०% कुल्हाड़े और करवत के कारण बेकार निकल जाता है।
२०% टहनियाँ और चिराई में टेढ़ा निकला हुआ अनावश्यक अंश।
५% लकड़ी को पक्का करने में हानि।
१०% लकड़ी का दोषपूर्ण भाग।
७०%

अब यदि सावधानी से उपयोग किया जावे तो छाल, बुरादे और पत्तों से स्पिरिट या पावर अल्कोहल (Power Alcohol), टहनियों से होल्डर, पेंन्सिलें, टेढ़े-मेढ़े अंश से औज़ारों के हत्ते, बेंट आदि बन सकते हैं।

लकड़ी के अतिरिक्त और भी बहुत सी वस्तुएँ हमें वनों से मिलती हैं। सर्वप्रथम घास, जिसे चराई के काम में लिया जाता है और काग़ज़ बनता है। कई घासों से सुगन्धित और औषधोपयोगी तेल निकलते हैं। विन्ध्यखंड में लगभग ४० प्रकार के बाँस पाये जाते हैं, जिनसे चटाइयाँ, टोकनी आदि वस्तुएँ बनती हैं। कई वृक्षों से हमें गोंद, कतीरा, राल आदि मिलते हैं। महुए के फूलों से शराब और फलों से चिकना सफ़ेद तेल निकलता है। घोंट, बबूल की छाल आदि से चमड़े की रंगाई होती है और दवाइयों की तो गिनती ही नहीं। शहद, मोम, लाख, कोसे से जंगली रेशम, वन-जीवों के सींग, चमड़े आदि अनेकों पदार्थ हैं।

स्पष्ट है कि हमारे जीवन, उन्नति, आवश्यकताओं की पूर्ति, वर्षा, भूमि की उपजाऊ शक्ति आदि के लिए वनों का अस्तित्व किस प्रकार अनिवार्य है, परन्तु इसे हम अपना दुर्भाग्य ही कहेंगे कि हमारे वन अभी तक उपेक्षित ही नहीं, वरन् केवल संहार के ही पात्र हो रहे हैं। आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व सरकार का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ और वनविभाग की सृष्टि हुई। इस विभाग के द्वारा बहुत कुछ लाभ हुआ, परन्तु रचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो लगभग कुछ नहीं के बराबर काम हुआ है। फिर पिछले और हाल के महायुद्ध में तो वनों की अपार हानि हुई है और इस हानि की पूर्तिहेतु कुछ नहीं हो सका। यह काम केवल शासकगण का ही नहीं है। जनता और सार्वजनिक संस्थाओं के लिए भी विचारणीय है। वनों का नाश हमें कहाँ ले जा रहा है, इसके अनेक ज्वलन्त उदाहरण हैं। पूर्वी पंजाब के वन गत पचास वर्षों में कट गये। परिणामतः नदियों और नालों ने उपजाऊ मिट्टी बहा दी और भूमि बंजर हो चली। अब वहाँ वन लगाए जा रहे हैं। दिल्ली से इटावा तक जमुना के दोनों कूलों के वन गत सौ वर्षों में साफ़ हो गए। अब पश्चिम से उठी हवाएँ मारवाड़ से अन्धड़ के रूप में आती हैं और जहाँ थमती हैं, वहाँ मारवाड़ी रेत गिरा जाती हैं। रेत का इस तरह गिरना गत पचास-साठ वर्षों से चालू है। अब इस प्रदेश की भूमि पर तीन-तीन इंच मोटी रेत की सतह जम गई है। वह भूमि पूर्वापेक्षा ऊर्वरा नहीं रही। यदि दिल्ली से इटावा तक जमुना के दक्षिणी छोर पर चार या छः मील चौड़ी वनरेखा होती तो ये अन्धड़ जहाँ-के-तहाँ रह जाते। वर्षा भी काफ़ी होती और जमुना तथा चम्बल और उनकी सहायक नदी-नालों से भूमि न कटती। जहाँ सरकार के लिए ये प्रश्न विचारणीय और करने योग्य हैं, वहाँ प्रत्येक गृहस्थ और नागरिक का भी कर्तव्य है कि वह अपने अधिकार की भूमि में लगे पेड़ों की रक्षा करे, नए पेड़ लगावे और उनका पालन-पोषण करे। वन ही राष्ट्रीय धन है और इसकी रक्षा सरकार और प्रत्येक नागरिक को करनी चाहिए।

टीकमगढ़]

बुन्देली लोक-गीत

१

गीतों पर एक दृष्टि

श्री गौरीशंकर द्विवेदी

सुकवि और वीर-प्रसविनी बुन्देलखंड की रमणीय भूमि को प्रकृति ने उदारता-पूर्वक अनोखी छटा प्रदान की है। ऊँची-नीची विन्ध्याचल-पर्वत की शृंखला-बद्ध श्रेणियाँ, सघन वन-कुंज, कल-कल निनाद करती हुई सरिताएँ और गाँव-गाँव लहराते हुए सरोवर आदि ऐसे उपक्रम हैं, जिनकी मनोहरता से मानव-हृदय अपने आप आनन्द-विभोर हो जाता है। यहाँ की भूमि में ही कवित्व-गुण प्रदान करने की प्राकृतिक शक्ति विद्यमान है।

बुन्देलखंड का अतीत बड़ा ही गौरवमय रहा है। आदिकवि वाल्मीकि, कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास, वीर मित्रोदय ग्रन्थ के प्रणेता मित्र मिश्र, तुलसी, केशव, विहारी, लाल और पद्माकर जैसे संस्कृत और हिन्दी-साहित्य-संसार के श्रेष्ठतम कवियों को प्रसूत करने का सौभाग्य बुन्देलखंड की ही भूमि को प्राप्त है।

बुन्देलखंड का अधिकांश प्राचीन साहित्य अभी गाँव-गाँव और घर-घर में वस्तों ही में बँधा पड़ा है। उससे हम परिचित नहीं। यही कारण है कि उसको प्रकाश में लाने का हमारा सम्मिलित उद्योग नहीं होने पाता।

जन-साधारण में भी ऐसे-ऐसे मनोहर गीत प्रचलित हैं, जिनको सुनकर तबियत फड़क उठती है। ये गीत पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारे प्रान्त में प्रचलित हैं और यह हमारा सौभाग्य है कि हमारे ग्राम-वासी इस अमूल्य धरोहर को वंश-परम्परा से सुरक्षित रखते चले आ रहे हैं। उनके नवीन संस्करणों के लिए स्याही और कागज़ वांछनीय नहीं, उनकी मधुरता ही जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित किये विना नहीं रहती और वे उनकी अमूल्य निधि हैं, जिन्हें शिक्षित समुदाय निरक्षर भट्टाचार्य कृषक, ग्रामीण आदि कह कर पुकारता है।

उन गीतों में वाक्य-विन्यास, शब्दों की गठन और भावों की प्रौढ़ता खोजने का ग्रामीण बन्धुओं को अवसर नहीं। गीतों की आलोचना और प्रत्यालोचना से भी उन्हें सरोकार नहीं। वे तो उनमें तन्मयता प्राप्त करते हैं और इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त करते हैं, जितनी शिक्षित समुदाय शायद ही अपनी उत्तमोत्तम कही जाने वाली कविताओं में प्राप्त कर पाता होगा।

तन्मयता के अतिरिक्त सामाजिक जीवन का भी सच्चा प्रतिविम्ब हमें ग्राम-गीतों ही में मिला करता है। नई स्फूर्ति, नए भाव और सबसे अधिक नग्न सत्य को सीधी-सादी सरल भाषा में हम ग्राम-गीतों ही में पा सकते हैं।

ग्राम-गीतों की विजय का यह स्पष्ट चिह्न है कि शिक्षित समुदाय उनकी ओर उत्सुकतापूर्वक अग्रसर हो रहा है। यह हमारी मातृ-भाषा के लिए कितने ही दृष्टिकोणों से हितकर ही है। वैसे तो समूचा भारतवर्ष ग्रामों का देश है और उसमें सर्वत्र ग्राम-गीतों की प्रचुरता है, किन्तु बुन्देलखंड के गीत सरलता, सरसता और मिठास के कारण अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उदाहरणार्थ कुछ गीत यहाँ दिये जाते हैं।

शिक्षित समुदाय को वर्ष और महीनों में कभी कवि-सम्मेलन का सुअवसर प्राप्त होता होगा, किन्तु ग्राम-जीवन का प्रभात गीत-मय ही होता है। ऊषा से भी कुछ पूर्व स्त्रियाँ चक्की पीसते हुए ऋतु के अनुकूल कितने ही गीत गाती हैं। प्रत्येक अवसर पर वे उनको अपने सुख-दुख का साथी बनाती हैं। एक घर से बारामासी की ध्वनि सुनाई दे रही है—

चैत चितै चहुँ ओर चितै में हारी ;
बैसाख न लागी आँख बिना गिरधारी।
जेठ जलै अति पवन अग्नि अधिकारी ;
असढ़ा में बोली मोर सोर भओ भारी।
साउन में बरसै मेउ जिमी हरयानी ;
भदवां की रात डर लगै झिकी अँधयारी।
क्वार में करे करार अधिक गिरधारी ;
कातिक में आये ना स्याम सोच भये भारी।
अगना में भओ अंदेश मोय दुख भारी ;
पूषा म परत तुषार भींज गई सारी।
माव मिले नँदलाल देख छवि हारी ;
फागुन में पूरन काम भये सुख भारी।

दूसरे घर से भी दो कंठों से मिल कर दूसरी बारामासी सुनाई पड़ रही है—

'चैत मास जब लागे सजनी बिछुरे कुँअर कन्हाई,
कौन उपाय करौं या व्रज में घर अगना ना सुहाई,......

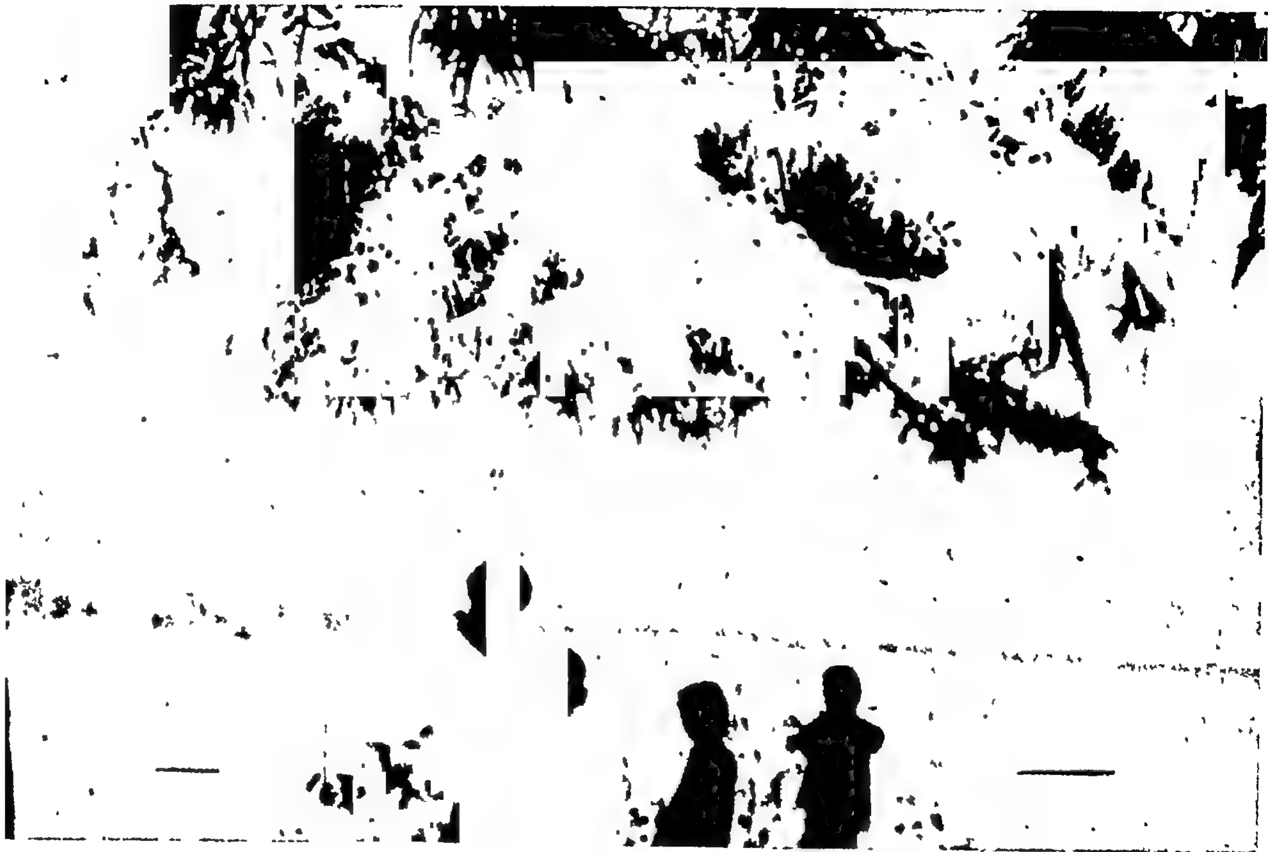
थोड़ा आगे बढ़ने पर एक ओर से बिलवाई गीत भी सुन पड़ा—

रथ ठाँड़े करो रघुवीर,
तुमारे संगै रे चलों बनवासा कों।
तुमारे काये के रथला बने,
काये के डरे हैं बुनाव ;
चन्दन के रथला बने हैं,
और रेसम के डरे हैं बुनाव।
तुमारे को जो रथ पै बैठियो,
को जो है हाँकनहार ;
रानी सीता जी रथ पै बैठियो,
राजा राम जी हांकनहार।

गाँव के छोर पर एक ओर से यह बिलवाई भी सुन पड़ी—

अनबोलें रहो ना जाय,
ननद बाई बीरन तुमारे अनबोला
गइया दुआवन तुम जइयौ,
उतै बछड़ा कौ दइयौ छोर ॥ अनबोलें ॥
भुजाई मोरी! बीरन हमारे तब बोलें।....

ग्रीष्म ऋतु की प्रखरता में जब नागरिक समुदाय बिजली के पंखों और बर्फ़ के पानी में भी ऊबता हुआ-सा जान पड़ता है, उन दिनों भी गाँवों में कितने ही गीतों द्वारा समय व्यतीत हुआ करता है। अकती, बिनरी, बिलवाई आदि कितने ही प्रकार के गीत भिन्न-भिन्न अवसरों पर गाये जाते हैं। नगर के निवासी भले ही सावन के आने का भली प्रकार स्वागत न कर सकें, किन्तु गाँवों में उसकी उपेक्षा न होगी, घर-घर बिनरी और राछरे हो रहे हैं—



जतारा (ओरछा राज्य) के सरोवर का एक दृश्य

साउन कजरियाँ जबई जे बेहैं,
अपनी बहिन को ल्याव लिवाय।
गुडवाँ पिसाय माई करौ कलेवा,
अपनी बहिन लिवावे जाँय;
कहाँ बँधे मोरे उड़न बछेरा,
कहाँ टँगी तरवार। अपनी०।
सारन बँधे भईया उड़न बछेरा;
घुल्लन टँगी तरवार।
कहाँ धरी भैया ज़ीना पलैंचा,
कहाँ धरी पोशाक,
खिरकिन टँगी तोरे जीना पलैंचा,
उतई धरी पोशाक। अपनी०।
× ×
ऊँचे अटा चढ़ हेरें बैना,
मोरे भैया लिवऊआ आये;
माई कों बेटी बिसर गई,
बाबुल की गई सुध भूल।
जाय जो कइयो उन बैन के जेठ सें,
तुमरे सारे छिके पैले पार;
छिके, छिके उनै रैन दो,
उन सारे कों दियो लौटाय,
जाय जो कइयो उन बैन के देउर सें,
तुमरे सारे छिके पैले पार;
छिके छिके उनें रोन दो,
उन सारे कों दियों लौटाय;
जाय जो कइयो उन हमरे बैनेउ सें,
तुमरे सारे छिके घर आव;
कौना सहर के बढ़ई बुला लये,
काना की नाव डराव;
भाँसी सहर के बढ़ई बुला लये,
दतिया की नाव डराव;
जाय जो कइयो उन हमरे राजा सें,
अपने सारन कों डेरा दिवाउ;
सारन जो बांधौ उड़न बछेरा,
घुल्लन टाँगो तरवार;
सुनो मोरी सासो वीरन आये,
उने कहा रचों जेउनार;
× ×

मेंहदी रचाते समय भी इन्हीं दिनों जो गीत गाया जाता है, उसे भी देखिए—

काँहाँ से माँदी आई हो सौदागिरलाल,
काँहाँ धरी विकाय माउदी राचनू मोरे लाल;
अग्गम में माउदी आई हो सौदागिरलाल,
पच्छिम धरी विकाय माउदी राचनू मोरे लाल;
काये सें माँदी वाँटियो सौदागिरलाल,
काये सें लइयो पोंछ, माउदी राचनू मोरे लाल;
सिल लोड़ा धर वाँटियो, सौदागिरलाल,
लियो कचुरलन पोंछ माउदी राचनू मोरे लाल;
कौनें रचाईं दोई छींगुरी सौदागिरलाल,
कौनें रचाये दोई हात, माउदी राचनू मोरे लाल,
देउरा रचाईं दोई छींगुरी सौदागिरलाल,
भौजी रचाये दोई हात माउदी राचनू मोरे लाल,
भौजी की रच केवली परीं, सौदागिरलाल,
देवरा की रच भईं लाल, माउदी राचनू मोरे लाल;
कियँ वताईं दोई छींगुरी, सौदागिरलाल;
कियँ वताये दोऊ हात, माउदी राचनू मोरे लाल;
देवरा वताईं अपने भाई कों, सौदागिरलाल,
कियँ वताऊँ दोऊ हाथ, माउदी राचनू मोरे लाल;

× × ×

कुछ पंक्तियाँ इन्हीं दिनों गाये जाने वाले मँगादा गीत की भी देखिये :—

साउन महना नीको लगे, गेंउड़े भई हरयाल,
साउन में भुंजरियाँ वै दियो, भादो में दियो सिराय;
ऐसो है भैया कोऊ धरमी, वहिनन को लियो है वुलाय,
आसों के साउना घर के करो, आगे के दे हैं खिलाय;
सोनें की नांदें दूध भरी सो भुंजरियाँ लेव सिराय,
कै जैहें तला की पार पै, कै जैहें भुंजरियाँ सूक,
धरीं भुजरियाँ मानिक चौक में, वीरा धरीं लुलाय,
कैसी वहिन हटै परीं, वर वट लेत पिरान;
आसों के सउंना जूझ के हैं, आगे के दे हैं कराय,

× × ×

इन्हीं दिनों टेसू, मामूलिया, हरजू झिंझिया और नारे सुअटा के गीतों में आनन्द-विभोर होकर जब वच्चों की टोली की टोली एक स्वर से गाती है—

टेसू आये वाउन वीर,
हात लिये सोने का तीर;

उस समय एक वार फिर वयोवृद्धों में भी वचपन की लहर दौड़ जाती है।

लड़कियों के उल्लासमय मधुर स्वर में जिन्होंने मामूलिया और हरजू के गीतों की निम्नलिखित पंक्तियाँ ही सुन ली होंगी, वे बिना आकर्षित हुए न रहे होंगे—

मामुलिया के आये लिवौआ,
झमक चली मोरी मामुलिया

× ×

उठो मोरे हर जू भये भुनसारे,
गौअन के पट खोलो सकारे;
उठके कनैया प्यारे गइयाँ दोईं,
झपट राधका बुहनी दीनी;
काये की दातुन काये कौ लोटा,
काये कौ नीर भर ल्याईं जसोदा;
अज्जाझारे की दातुन सोने कौ लोटा,
सो जमुना जल भर ल्याईं जसोदा।

छोटी-छोटी लड़कियों ने लीप-पोत कर अपने देवता की पूजा के लिए कितने सुन्दर उपचार किये हैं। देखिए, रंग-विरंगे बेल-बूटों और फूलों से सुशोभित चौक पूरे गये हैं, जाति-पाँत का भेद-भाव भुला कर सब कन्याएँ आज एक सूत्र में आबद्ध हो तन्मयता से गा रही हैं—

हेमांचल जू की कुँअरें लड़ायतें नारे सुअटा,
सो गौराबाई नेरा तोरा नैयो बेटी नौ दिना नारे सुअटा;
उगई न हो वारे चँदा,
हम घर हो लिपना पुतना;
सास न हो दे दे घरिया,
ननद न हो चढ़े अटरिया;
जी के फूल, तिली के दाने, चन्दा उगे बड़े भुनसारे

× ×

कार्तिक मास का पवित्र महीना आ गया है। देखिए, गाँव-गाँव प्रातःकाल ही से स्त्रियाँ सरोवर की ओर भगवान् कृष्ण की आराधना के निमित्त किस उल्लास से जा रही हैं और हिल-मिल कर कितने चाव और भक्ति-भाव से वे गा रही हैं—

सखी री मैं तो भई न ब्रज की मोर।
काँहाँ रहती काहा चुनती काना करती किलोल,
बन में राती बन फल खाती बनइँ में करती किलोल;
उड़ उड़ पंख गिरें धरनी में, बीनें जुगलकिसोर,
मोर पंख कौ मुकुट बनाओ, बाँदें नन्दकिसोर;
सखी री मैं तो भईन ब्रज की मोर।

× ×

गिरधारी मोरो वारो, गिर न परै।
एक हात पर्वत लयें ठाँड़ो, दूजे हात कें मुकट समारो,
लयें लकुटिया फिरें जसोदा, सो तन तन सब कोउ देउ सहारो;

× ×

हमें छोड़ कां जाओ ब्रजवासी।

जो तुम हमें छोड़ हरि जैहौ,
तज डारौं प्रान, गरे डारौं फाँसी;
मोर मुकुट हरि कें अधिक विराजें,
सो कलियन बीच विहारी जू की झाँकी;
नैनन सुरमा हरि कें अधिक विराजें,
सो भौंयन बीच विहारी जू की झाँकी;
कानन कुण्डल हरि कें अधिक विराजें,
सो मोतिन बीच विहारी जू की झाँकी;
मुख भर विरियां हरि के अधिक विराजें,
सो ओंठन बीच विहारी जू की झाँकी;

× ×

इन चरनन परकम्मा देऊँ, छाया गोवरधन की;
चिन्ता कब जैहै जा मन की, दुविधा कब जैहे जा मन की।
जब नँदरानी गरभ सें हू हैं, आस पुजैं मोरे मन की;
जब मोरो कान्ह कलेऊ माँगै, दध माखन सें रोटी;
जब मोरो कान्ह भँगुलिया माँगै, रतन जटित की टोपी;
जब मोरो कान्ह खिलौना माँगै, चन्द सूरज की जोटी;

× ×

फागुन का मस्त महीना तो बुन्देलखंड में गीत-मय ही हो जाया करता है। रात-रात भर चौकड़ियाऊ साखी की फाग, स्वाँग और ईसुरी की फागें गाँव-गाँव में होती हैं। दिन भर कार्यों में व्यस्त रहने वाला कृषक-समुदाय उन दिनों कितनी तन्मयता प्राप्त करता है, इसे भुक्त-भोगी ही अनुभव कर सकते हैं।

फाग साखी की

हर घोड़ा ब्रह्मा खुरी और वासुकि जीन पलान;
चन्द्र सुरज पावर भये, चढ़ भये चतुर सुजान।
भजन विन देइया सुफल होने नइयाँ;
हो चढ़ भये चतुर सुजान, भजन विन देइया सुफल होने नइयाँ;

(२)

आग लगी वन जल गये, जल गये चन्दन रूख;
उड़ जा पंछी डार से, जिन जलो हमारे साथ;
पंछी फेर जनम होने नइयाँ;
जिन जलो हमारे साथ, पंछी फेर जनम होने नइयाँ;

× ×

आग लगी दरयाव में, धुआँ न परगट होय;
कि दिल जाने आपनो, जा पर वीती होय;
काऊ की लगन कोई का जाने;

(३)

उठो पिया अब भोर भये, चकई बोली ताल;
मुख बिरियाँ फीकीं परीं, सियरी मोतिन माल;
पिया उठ जागौ कमल बिगसन लागे;

× ×

गोऊँ हते सो उड़ गये, भुस लै गई अधवार;
त्याई में टलवा गये, बाज गये खग वार;
हमारे बाकी में लिखा देउ पैंजना;
बाज गये खगवार, हमारे बाकी में लिखा देउ पैंजना।

(४)

दतिया में हतिया पजे, और पन्ना में हीरा जवार;
टीकमगढ़ सूरा पजे, रे जिनकी वेड़ी वहै तलवार;
दुश्मन पास कभऊँ नइँ आवै हो;
वेड़ी वहै तलवार, दुश्मन पास कभऊँ नइँ आवै हो।

फाग छंदयाऊ

भागीरथ ने तप कियौ, ब्रह्मा ने वर दीन;
गङ्गा ल्याये स्वर्ग सें, लये पाप सब छीन।
जग के अघ काटन कौं आई, जय श्री गङ्गामाई।
गऊ मुख से धार, है निकरी अपार,
तिन लई निहार, नर सुखकारी;
आई हरद्वार, सब फोरत पहार,
भओ जै जैकार, अघ कर छारो॥ भज लो गङ्गामाई॥

यों तो बुन्देलखंड में कितनी ही प्रकार की फागें और गीत गाये जाते हैं, किन्तु ईसुरी की फागों की सर्वप्रियता सर्वत्र ही है। स्थानाभाव के कारण उनका पूर्ण परिचय दे सकना यहाँ सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ दो-तीन फागें दी जा रही हैं—

मन होत तुमें देखत रइये,
छिन छोड़ अलग ना कउँ जइये।
मौन स्वभाव, साँवली मूरत,
इन अँखियन विच धर लइये;
जब मिल जात नैन नैनन सों,
देह धरे को फल पइये।
'ईसुर' कात दरस के लानें,
खिरकिन में ढूँकत रइये।

× ×

प्रीति-पन्थ के पथिकों की दशा का सजीव चित्रण निम्न गीतों में रसास्वादन कीजिए—

जब सें भयी प्रीत की पीरा,
खुसी नइँ जौ जीरा,

कूरा, माटी, भओ फिरत है, इतै उतै मन हीरा;
कमती आ गई रकत मांस में, वही द्रगन सें नीरा;
फूंकत जात विरह की आगी, सूकत जात सरीरा;
ओई नीम में मानत 'ईसुर', ओई नीम को कीरा।

× ×

फिरतन परे पांव में फोरा,
संग न छोड़ों तोरा;
घर घर अलख जगावत जाकें, टंगो कंदा पै झोरा;
मारी मारी इत उत जावै, गलियन कैसो रोरा;
नई रव मांस, रकत देही में, भये सूक कें डोरा;
कसकत नई 'ईसुरी' तनकउँ, निठुर यार है मोरा।

× ×

विरहिणी नायिका के मुंह से आप कहलाते हैं कि वैरिन वर्षा ऋतु आ गई है। हमारी भलाई तो इसी में है कि उसके द्वारा प्रशंसित उपादानों का हम त्याग ही करें। यथा—

हम पै वैरिन वरसा आई,
हमें, वचा लेव माई;
चढ़ कें अटा, घटा ना देखें, पटा देव अगनाई;
वारादरी दौरियन में हो, पवन न जावे पाई;
जे द्रुम कटा, छटा फुलवगियां, हटा देव हरयाई;
पिय जस गाय सुनाव न 'ईसुर', जो जिय चाव भलाई;

× ×

मोरे मन की हरन मुनैयां,
आज दिखानी नैयां;
कै कऊँ हुयै लाल के सङ्गे, पकरी पिंजरा मइयां;
पत्तन पत्तन ढूंड़ फिरे हैं, वैठी कौन डरैयां;
कात 'ईसुरी' इनके लानें, टोरीं सरग तरैयां।

× ×

मनुष्य-शरीर की असारता को लक्ष्य करके उन्होंने कहा है—

वखरी रईयत हैं भारे की,
दई पिया प्यारे की;
कच्ची भींत उठी माँटी की, छाई फूस चारे की;
वे वंदेज वड़ी वेवाड़ा, जेई में दस द्वारे की;
किवार किवरिया एकौ नइयां, विना कुची तारे की;
'ईसुर' चाये निकारी जिदनां, हमें कौन ड्वारे की;

× ×

इन गीतों के सम्वन्ध में जितना भी लिखा जाय, थोड़ा है। हर्ष है कि इनके सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विश्लेषणता के लिए शिक्षित समुदाय उद्योग कर रहा है। इससे हमारा और हमारी मातृभाषा हिन्दी का हित ही होगा, ऐसी आशा है।

झांसी]



कुण्डेश्वर का जल-प्रपात

२

सात बुन्देली लोकगीत

श्री देवेंद्र सत्यार्थी

बुन्देलखंड में पुरानी टेरी (टीकमगढ़) के नन्हे धोबी के मुख से मधुर और करुण स्वरों में 'धनसिंह का गीत' सुन कर बुन्देलखंड के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ मेरी आँखों में फिर गया था। मैं यह सोचता रह गया था कि आखिर यह कुँवर धनसिंह थे कौन, जिनकी याद में एक धोबी की नहीं, समस्त बुन्देलखंड की आँखों में आँसू आ जाते हैं ? इस गीत का लोक-कवि बताता है कि धनसिंह ने छींकते हुए पलान कसा था और मना किये जाने की भी परवा न करते हुए घोड़े पर सवार हो गया था। रास्ते में उसके बाईं ओर टिटहरी बोल उठी थी और दाईं ओर गीदड़ चिल्लाने लगा था। यहाँ हम किसी एक व्यक्ति या परिवार के नहीं, वल्कि समूचे बुन्देलखंड के पुरातन अशकुनों का परिचय पा लेते हैं। जहाँ तक गीत के साहित्यिक मूल्य का सम्बन्ध है, घर लौट आने पर धनसिंह के घोड़े का यह उत्तर कि उसका स्वामी धोखे से मारा गया और इसमें उसका कुछ अपराध नहीं, बहुत प्रभावकारी है।

एक और बुन्देली लोकगीत में बैलों के गुण-दोष आदि की परख का बहुत सुन्दरता से वर्णन किया गया है। जहाँ तक इसकी संगीतक गतिविधि का सम्बन्ध है, इसे हम बड़ी आसानी से एक प्रथम श्रेणी का नृत्य-गीत कह सकते हैं। मुझे पता चला कि यह 'छन्दियाऊ फाग' कहलाता है।

पाण्डोरी में गौरिया चमारिन से मिला 'मानो गूजरी का गीत' मुग़लकालीन बुन्देलखंड के इतिहास पर प्रकाश डालता है। उत्तर भारत के दूसरे प्रान्तों में भी इससे मिलते-जुलते गीत मिले हैं। हर कहीं मुग़ल के इश्क़ को ठुकराया गया है। भारतीय नारी मुग़ल सिपाही को खरी-खरी सुनाती है।

माता के भजनों में एक ऐसी चीज़ मिली है, जिसे हम अहिंसा का विजय-गान कह सकते हैं। यह गीत टीकमगढ़ में न्हौनी दुलइया गुसाइन से लिखा गया था। 'कविता-कौमुदी'[1] में भी इससे मिलता-जुलता एक गीत मौजूद है, जिससे पता चलता है कि यह कथा उत्तर भारत की किसी पुरातन कथा की ओर संकेत करती है।

टीकमगढ़ जेल में हलकी ब्राह्मणी से सुना हुआ एक 'सोहर' इस समय मेरे सामने है। जिस मधुर और जादू-भरी लय में हलकी ने यह गीत गाकर सुनाया था, वह अपूर्व था। उसका यह गीत मेरी आत्मा में सदा गूंजता रहेगा। जब किसी परिवार में माता की कोख से पुत्र का जन्म होता है तो सारे गाँव में हर्ष की लहर दौड़ जाती है। जन्म से पहले के नौ महीनों में समय-समय पर स्त्री की मानसिक दशा का चित्रण 'सोहर' की विशेषता है।

एक गीत में गडरियों की भाँवर का सजीव चित्र अंकित है। टीकमगढ़ जेल के समीप एक वृद्ध गड़रिये से वह गीत प्राप्त हुआ था।

अन्त में एक और गीत की चर्चा करना आवश्यक है। पुरानी टेरी की जमुनियाँ बरेठन, जिसने वह 'दादरो' लिखाया था, डरती थी कि कहीं उसका गीत उसके लिए सजा का कारण न बन जाय। यह इसी युग की रचना है, जिससे न केवल यह पता चलता है कि अभी तक लोक-प्रतिभा की कोख बाँझ नहीं हुई है, बल्कि यह भी ज्ञात होता है कि एक नये प्रकार का व्यंग्य, जो विशेषतः बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियों पर कड़ी चोट करता है, गहरी जड़ पकड़ रहा है।

नीचे वे सात गीत दिये जा रहे हैं, जिनका जिक्र ऊपर किया गया है—

[1] ग्रामगीत पृष्ठ ७७७

१—धर्नासिह का गीत

तोरी मत कौने हरी धर्नासिंघ, तोरी, मत कौनें हरी ?

छींकत बछेरा पलानियों,[१] बरजत भये असवार
जातन मारौं गौर खाँ, गढ़ एरछ के मैदान
तोरी मत कौने हरी धर्नासिंघ, तोरी मत कौनें हरी ?

माता पकरें फेंटरी[२], बैन[३], घोड़े की बाग
रानी बोलें धर्नासिंह की, मोए कौन की करके जात
तोरी मत कौने हरी धर्नासिंघ, तोरी मत कौने हरी ?

माता खों गारी[४] दई, बैंदुल[५] खों दयो ललकार
'बैठी जो रहियो रानी सतखण्डा, मोतिन से[६] भरा देऊँ मांग !'
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी मत कौनें हरी ?

डेरी[७] बोली टीटहो[८] दाइनी[९] बोली सिहार[१०]
सिर के सामें[११] तीतर बोले, 'पर भू में[१२] मरन काएँ जात ?'[१३]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी मत कौने हरी ?

कोऊ जो मेले ढेरी ढेरां, कोऊ जिल्ला के बाग
जा मेले घर्नासिंघ जू, जां ठठे कसब[१४] के पाल[१५]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी मत कौने हरी ?

पैले मते भये ओरछें,[१६] दूजे बरुया के मैदान
तीजे मते भये पाल में, सो मर गये कुंवर धर्नासिंघ
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी मत कौने हरी ?

भागन लगे भागेलुआ, उड़ रई गुलाबी धर
रानी देखे धर्नासिंह की, घोरो आ गओ उबीनी पीठ[१७]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी मत कौने हरी ?

काटों बछेरा तोरी बजखुरी[१८], मेटों कनक ओर दार[१९]
मेरे स्वामी जुझवाय कें, तें आय बँधो घुरसार
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी मत कौने हरी ?

'काय खों काटो, रानी, बजखुरी, काय मेटी कनक ओ दार ?
बगा जो होगे पाल में[२०] मो पै होनेई न पाए असवार[२१]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिंघ, तोरी[२२] मत कौनें हरी ?

---

[१] पलानकसा [२] कमरबन्द [३] बटन [४] गालियाँ [५] बहन [६] मोतियों से [७] बाईं ओर [८] टिटिहरं [९] दाईं ओर [१०] सियार [११] सामने [१२] पराई भूमि पर [१३] मरने के लिये क्यों जाते हो ? [१४] एक वस्‍ विशेष [१५] तम्बू [१६] पहली सलाह ओरछे में हुई। [१७] घोड़ा खाली पीठ के साथ आ गया। [१८] हे बछेरे, ते खुरियों के ऊपरी भाग काट डालूं। [१९] गेहूँ और दाल (दाना) देना बन्द कर दूं। [२०] तम्बू में धोखा हुआ। [२१] वे मुझ पर सवार ही न हो पाए थे। [२२] धर्नासिंह, तेरी बुद्धि किस ने हर ली ?

२—अरे जात बजारें, छैला !

अरे जात बजारें, छैला !
मोरे जात बजारें, छैला लाल !
सो लैन अनोखे बैला,
मोरे जात बजारें, छैला लाल !
कन्त बजारे जात हो, कामन कह कर जोर
एक अरज सुन लीजियो, कन्त मानियो मोर—
लीला हैं रंग
अति जबर जंग
औगन न अंग
एकऊ बा के
रौमा मुलाम
पतरो है चाम
चाहे लगें दाम
कितने हु बा के
सो लिइए असल पुखैला
मोरे जात बजारें, छैला, लाल !
भौरा रंग बांकुड़ा चंचल
ओछे कानन सैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल !
हंसा से बैल
न लिइए छैल
न विइए पैल
अगरे वा के
कजरा की शान
लै लिइए जान
दै विइए दाम
चित में दै के
पुठी उतार घींच पतरी को
न लिइए बिगरैला
सो ओछे कानन सैला
मोरे जात बजारे छैला, लाल !
करिया के दन्त
जिन गिनौ, कन्त
हठ चलौ अन्त
मानो बिनती

सींगन के वीच
भोंयन दुवीच
भौंरी हो वीच
सो हुइयें असल परैला
मोरे जात वजारें छैला, लाल !
लैन अनोखे वैला
मोरे जात वजारें छैला, लाल !

३—मानो गूजरी

काहांना सें मुगला चले, री मानो, काहाना लेत मिलान
पच्छम से मुगला चले, री मानो, अग्गम लेत मिलान
ऊँचे चढ़ के मानो हेरिओ, कोई लग गए मुगल वजार
हुक्म जो पाऊँ रानी सास को, मैं तो देखि आऊँ मुगल वजार
मुगला को का देखना, री मानो, मुगला मुगद गंवार
सास की हटकी मैं न मानों मैं तो देखि आऊँ मुगल वजार
जो तुम देखन जात हो, री मानो, कर लो सोरहो सिंगार
तेल की पटियां पार लईं मानो सिंदरन भर लई मांग
माथे वीजा अत वनो मानो वन्दिअन की छव नियार
चलीं चलीं मानो हुना गई रे कोई गई कुम्हरा के पास
अरे अरे भइया कुम्हरा के रे एक मटकी हमें गढ़ देउ
एक मटकिया का गढ़ूँ री मानो मटकी गढ़ों दो-चार
एक मटकिया ऐसी गढ़ो रे भइया जा में दहिया वने और दूघ
अरे अरे भइया कुम्हरा के तुम कर दो मटकिया के मोल
पांच टका की जाकी वोनी है, री मानो लाख टका को मोल
पांच टका घरनी धरे, कुम्हरा के, मटकी लई उठाय
दहियो-दूध जा में भर लियो, री मानो, देख आयो मुगल वजार
चली चली री मानो हुना गयो रे कोई गई मुगल के पास
पहली टेर मानो मारियो—रे कोई दहिया लेत कै दूघ
दही दूध के गरजी नहीं रे मानो घंघटा कर दो मोल
दूजी टेर मानो मारियो रे कोई मुगल लई पछिआय
लौट आयो मानो वदल आयो रे मोरी रनियां देखें आयो
रनियां को का देखना रे मुगला ऐसी रैतीं मोरि गुवरारि
लौट आयो मानो वदल आयो मेरे कुँवरन देखें जायो
कुँवरन को का देखना, रे मुगला, मेरे रैते ऐसे गुलाम
लौट आयो मानो वदल आयो मेरे हतिया देखें जायो
हतियन को का देखना रे मुगला मेरी भूंरी भैंस को मोल
घूंघटा खोलत दस मरे रे मुगला विन्दिया देख पचास

मुगला सौक जब मरे रे जब तनिक उघरि गई पीठ !
सोउत चन्द्रावल ओघके—रे तेरी ब्याही मुगल लै जाय
मुगला मारे गरद करे रे बिन ने लोथें लगा दई पार
रक्तन की नदियाँ बहीं, रे बिन ने लोथें लगा दई पार !

४—सुरहिन

दिन की ऊँघन किरन की फूटन, सुरहिन वन को जाय हो माँ
इक वन चालीं सुरहिन वुज वन चालीं, तिज वन पौंची जाय हो माँ
कजली वन माँ चन्दन हरो विरछा, जाँ सुरहिन माँ डारो हो माँ
इक माँ घालो सुरहिन दुज माँ घालो, तिज माँ सिंघा गुंजार हो माँ
अब की चूक वगस बारे सिंघा, घर बछरा नादान हो माँ
को तोरो सुरहिन लाग-लगनियाँ, को तोरो होत जमान हो माँ
चन्दा सुरज मोरे लाग लगनियाँ, वनसपति होत जमान हो माँ
चन्दा सुरज दोइ ऊँगे अथँवें, बनसपति झर जाय हो माँ
घरती के वासक मोरे लाग लगनियाँ, घरती होत जमान हो माँ
इक वन चालीं सुरहिन वुज वन चालीं, तिज वन वगर रम्हानी हो माँ
वन की हेरीं सुरहिन टगरन आईं, वछरे राम्ह सुनाई हो माँ
आयो आयो वछरा पीलो मेरो दुधुआ, सिंघा वचन हार आई हो माँ
हारे दुधुआ न पियों मोरी माता, चलों तुमारे संग हो माँ
आँगे आँगे वछरा पीछें पीछें सुरहिन, दोऊ मिल वन को जाँय हो माँ
इक वन चालीं सुरहिन वुज वन चालीं, तिज वन पौंची जाय हो माँ
उठ उठ हेरे बन के सिंघा सुरहिन आज न आई हो माँ
बोल की बाँदी वचन की साँची, एक सें गई दो से आई हो माँ
पैलो ममइयाँ हमई को भख लो, पीछे हमाई माय हो माँ
कोने भनेजा तोय सिख-बुध दीनीं, कोन लगो गुर कान हो माँ
देवी जालपा सिख बुध दीनीं, वीर लंगर लगे कान हो माँ
जो कजली वन तेरो भनेजा, छुटक चरो मैदान हो माँ
सौ गऊ आगे सौ गऊ पाछे, होइयो वगर के साँढ़ हो माँ

५—सोहर

जेठानी के भए नन्दलाल, कहो तो पिया देख आवें महाराज
सासू की हटकी न मानी, सखिन संग तिंग चलीं महाराज
पिया की हटकी न मानी, सखिन संग तिंग चलीं महाराज
सासू ने डारी पिढ़ियाँ, ननद आदर करें महाराज
लै सुनी विछिअन खनकार, जिजी ने लाला ढांपलए महाराज
इतनी के सुनतन देखत देओरानी भग आईं महाराज
मनई मन कर सोच मनई मन रो रईं, महाराज
चलो लाला हाट बजार, ललन मोल लै दिओ महाराज

कैसी भौजी मूरख अजान, ललन मोल न मिलें महाराज
गऊअन के करो भौजी दान, कन्यअन के करो विश्राउ हो महाराज
जमना के करो असनान चरइअन चुन डारो महाराज
लग गए पैले मास तो दूजे लागियो महाराज
तीजे मास जब लागे तो चौथे लागियो महाराज
चौथे मास जब लागे, जिमिरिअन मन चले महाराज
पाँचए मास जब लागे, नरंगिअन मन चले महाराज
लग गए छटएँ मास, बिहिअन पै मन चले महाराज
लग गए सातएँ मास तो निव्वू पै मन चले महाराज
लग गए आठएँ मास तो सदाफल मन चले महाराज
हो गए नौ दस मास. ललन न्हौंने हो परे महाराज
दिओरनियाँ के भए न्हौंने लाल कहो तो पिया देख आवैं महाराज
राजा की हटकी न मानी सखिन संग तिग चलीं महाराज
सासू ने डारी पिड़ियाँ, ननद आदर करे महाराज
सुनि बिछिअन ठनकार. दिओरानी ने लाल दे दये महाराज
तुम ल्हौरी हम जेठी, उदिना को बुरा जिन मानिओं महाराज

६—एक गड़रियाई भाँवर

आडर दीनी गाडर दीनी
डला भर ऊन दीनी
बम्मन मार पटा धर दीनी
रूपें की धरी सोने की माल
रौंहट चले पानी ढरे
निम थे औलाद बढ़े
कओ पंचो भांवरें परी कै नईं ?

७—दादरो

अँगरेजी परी, गोरी, गम खानें !
काहाँ बनी चौकी काहाँ बने थाने
काहाँ जो बन गए वे जेरखाने
अँगरेजी परी, गोरी, गम खानें !
अँगीत बनी चौकी, पछीत बने थाने
वाकी देरी पै बनगए जेरखाने
अँगरेजी परी, गोरी, गम खानें !

बुन्देलखंड अपने सम्बन्ध में अपनी भाषा में क्या कहता है ? किन-किन उत्सवों से उसे दिलचस्पी है ? उसके रीति-रिवाजों का वास्तविक महत्त्व क्या है ? समाज के विविध स्तरों के भीतर से आती हुई उसकी आवाज़ हमारे लिए क्या सन्देश रखती है ? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए बुन्देली लोकवार्ता का संचय तथा अध्ययन करना आवश्यक है। बुन्देली लोकगीत का वास्तविक महत्त्व बुन्देली लोकवार्ता की पृष्ठ-भूमि में ही समझा जा सकता है।

लाहौर]

बुन्देलखण्ड के कवि

श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

(१)

शस्य श्यामला, शीतल जननी,
कविवर-वीर-विभूति प्रसविनी,
है बुन्देलखण्ड की धरिणी,
धरणीतल में धन्य
कहाँ है, कोई ऐसी अन्य ?

(२)

अग्रगण्य है अति शुचिता में,
सरस सरलता में, मृदुता में,
सहिष्णुता में, सहृदयता में,
वीर-बुंदेल-प्रदेश
यही है, अनुपम जिसका वेश ।

(३)

कर्त्ता अष्टादश पुरान के,
लेखक भारत के विधान के,
अधिपति विपुल पवित्र ज्ञान के,
बल, तप, तेज निधान
यहीं थे, वेद व्यास भगवान् ।

(४)

वालमीकि वसुधा के भूषण,
कृष्णदत्त कविकुल के पूषण,
मिश्र मिश्र ने किया निरूपण,
ऐसा ग्रंथ-विशेष
पुज रहा, है जो देश-विदेश ।

(५)

मधुकरशाह भक्ति-रस रूरे,
इन्द्रजीत, विक्रम बल पूरे,
छत्रसाल नरपति रण शूरे,
वर-बुँदेल-अवतंस
हुए हैं कवि-कुल-मानस-हंस।

(६)

तुलसीदास ज्ञान-गुण-सागर,
व्यास, गोप, बलभद्र, जवाहर,
केशवदास कवीन्द्र कलाधर,
भाषा प्रथमाचार्य
हुए थे, इसी भूमि में आर्य।

(७)

सुकवि बिहारीदास गुणाकर,
हरिसेवक, रसनिधि, कवि ठाकुर,
पंचम, पुरुषोत्तम, पद्माकर,
कवि कल्याण अनन्य
हुई हैं, जिनसे वसुधा धन्य।

(८)

विष्णु, सुदर्शन, श्रीपति, मण्डन,
खङ्गराय, गङ्गाधर, खण्डन,
किङ्कर, कुंजकुँअर, कवि कुंदन,
मोहन मिश्र, व्रजेश
यहीं थे, रसिक, प्रताप, हृदेश।

(९)

हंसराज, हरिकेश, हरीजन,
फेरन, करन, कृष्ण कवि, सज्जन,
मान, खुमान, भान बंदीजन,
लोने, खेम, उदेश
हुए हैं, भौन, बोध, रतनेश।

(१०)

कोविद, कृष्णदास, कवि न्यारे,
दिग्गज, रतन, लाल प्रण वारे,
अंबुज, काली, नंदकुमारे,
नवलसिंह पजनेस
हुए थे, मंचित, द्विज अवधेस।

(११)

'प्रेम', 'व्यास', 'रसिकेन्द्र', गुणाकर,
'लाल विनीत' 'मीर' से कविवर,
काव्य-कला-कमनीय दिवाकर,
अमर कर गये नाम
प्रान्त यह है गुणियों का धाम।

× ×

(१२)

वीर पुरुष ऐसे हैं जाये,
वसुधा ने जिनके गुण गाये,
विश्व-वंद्य इसने उपजाये,
अगणित कवि शिरमौर;
गिनाएँ 'शङ्कर' कितने और।

(१३)

जग जीवन वे सफल कर गये,
अमर हुए हैं, यद्यपि मर गये,
भव्य-भारती-कोष भर गये,
कविता-कामिनि-कांत
यहीं थे, है ऐसा यह प्रांत।

झांसी]



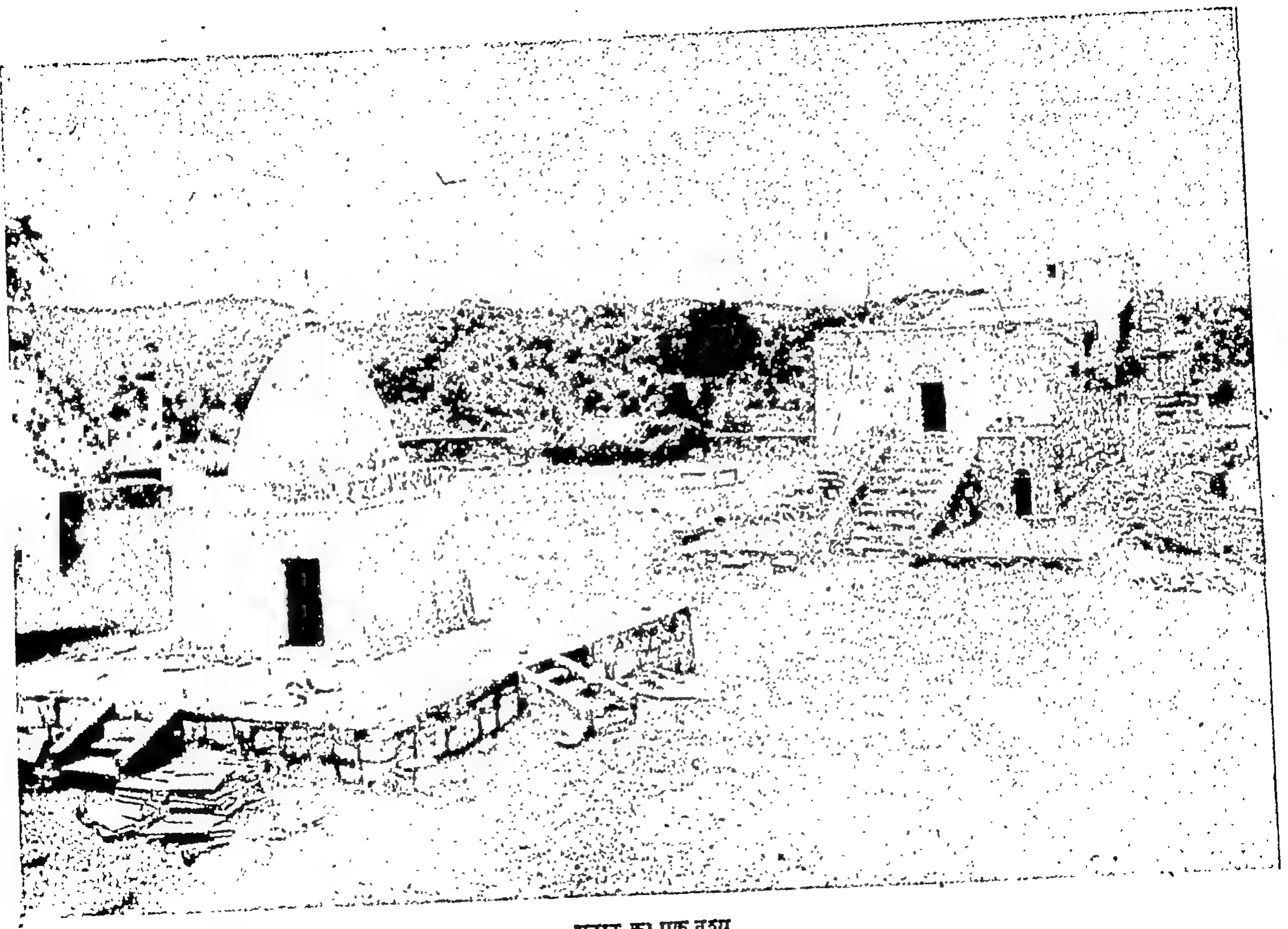
अहार और उसकी मूर्तियाँ

श्री यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०

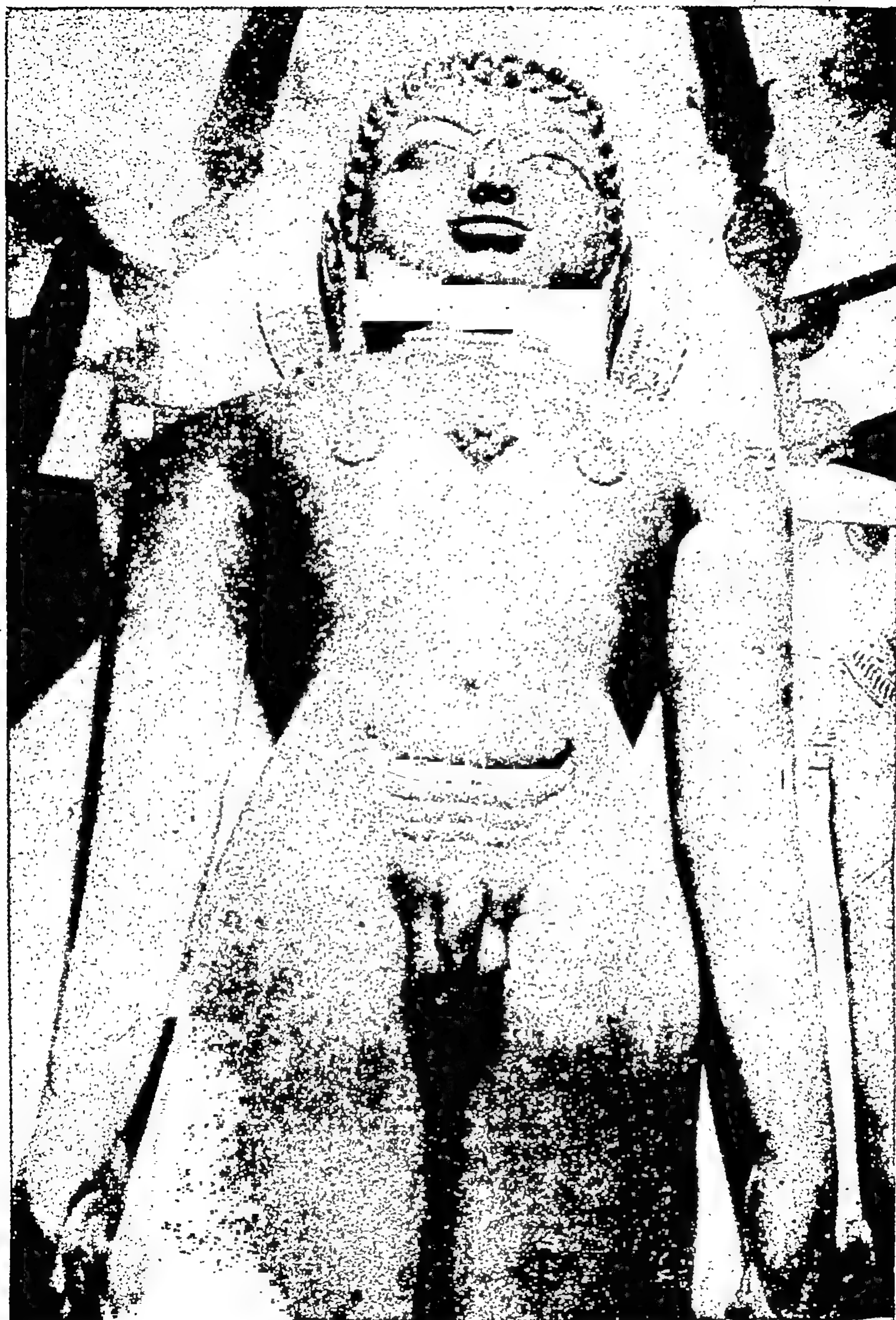
पुरातत्व की दृष्टि से बुन्देलखण्ड एक बहुत ही समृद्ध प्रांत है। स्थान-स्थान पर ऐसी सामग्री पाई जाती है, जो पुरातत्वज्ञों के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है। पुरातत्व-विभाग के युक्तप्रांतीय सर्किल के सुपरिटेण्डेण्ट श्री माधवस्वरूप जी 'वत्स' तथा डा० वासुदेवशरण जो अग्रवाल के साथ हमें देवगढ़ के गुप्तकालीन विष्णुमंदिर के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने बारीकी के साथ जब उक्त मंदिर की विशेषताएँ समझाई तो हम आश्चर्यचकित रह गये कि उस छोटे-से मंदिर में कितनी मूल्यवान सामग्री मौजूद है। इसी प्रकार खजुराहो, चंदेरी, महोबा, कालंजर, सांची आदि स्थान हैं, जिनके वर्तमान रूप को देखकर हम कल्पना कर सकते हैं कि किसी ज़माने में वे कितने गौरवशाली रहे होंगे। ऐसे स्थानों में से कई एक तो प्रकाश में आ चुके हैं; लेकिन कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी ओर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया। अहार एक ऐसा ही स्थान है। ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ से बारह मील पूर्व में वह स्थित है। वहाँ की प्राकृतिक सुषमा को देख कर प्राचीन तपोवनों का स्मरण हो आता है; लेकिन अहार का महत्व केवल उसके प्राकृतिक सौंदर्य के कारण ही नहीं, बल्कि वहाँ की मूर्तियों के कारण है। ये मूर्तियाँ बड़ी ही मनोज्ञ और भव्य हैं। अहार ग्राम के दो-ढाई मील इधर से ही मूर्तियाँ यत्रतत्र पड़ी मिलने लगती हैं। मदनसागर के बाँध पर, जिसके निकट ही अहार के मंदिर हैं, एक विशाल मंदिर के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। जिन पत्थरों से उस मंदिर का निर्माण हुआ था, उनमें से बहुत से आज भी वहाँ अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़े हुए हैं। उनकी कारीगरी का अवलोकन कर मन आनंद से भर उठता है। इधर-उधर पहाड़ियों की चोटियों पर भी बहुत से मंदिरों के अवशेष मिलते हैं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में यहाँ लगभग डेढ़ सौ मंदिरों का समुदाय था और भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा के आसन पर उत्कीर्ण शिलालेख से पता चलता है कि किसी समय वहाँ एक विशाल घेरे में 'मदनसागरपुर' नामक नगर बसा था। इधर-उधर परकोटों के जो चिह्न मिलते हैं, उनसे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

अहार में इस समय ढाई-तीन सौ प्रतिमाओं का संग्रह है, जिनमें से अधिकांश खण्डित हैं। किसी का हाथ ग़ायब है तो किसी का पैर, किसी का सिर तो किसी का धड़, लेकिन जो अंग उपलब्ध हैं, उन्हें देखने पर उनके निर्माताओं की कला-प्रियता तथा कार्य-पटुता का अनुमान लग जाता है। इन मूर्तियों को प्राचीन वास्तु-कला का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। किसी के मुखमण्डल पर अनुपम हास्य है तो किसी के गंभीरता। किसी भी प्रतिमा को देख लीजिये। उसकी सुडौलता में कहीं बाल भर का भी अंतर नहीं मिलेगा। आज के मशीन-युग में तो सब कुछ संभव है; लेकिन तनिक उस युग की कल्पना कीजिये, जब मशीनें नहीं थीं और सारा काम इनेगिने दस्ती औज़ारों की मदद से होता था। ज़रा हाथ डिगा अथवा छैनी इधर-उधर हुई कि बना-बनाया खेल बिगड़ा। सभी प्रतिमाओं की पालिश आज आठ सौ वर्ष बाद भी ज्यों-की-त्यों चमकती है।

अहार क्षेत्र के अहाते में इस समय तीन मंदिर हैं। उनमें से दो तो हाल के ही बने हुए हैं। तीसरा प्राचीन है। बाहर से देखने में वह बहुत मामूली-सा जान पड़ता है। उसके अंदर बाईस फ़ुट की शिला पर अठारह फ़ुट की भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति है। बाएँ पार्श्व में ग्यारह फ़ुट की कुन्थुनाथ भगवान की प्रतिमा है। कहा जाता है कि उसी के अनुरूप दाएँ पार्श्व में अरहनाथ भगवान की प्रतिमा थी, जिसका अब कोई पता नहीं चलता। प्रस्तुत प्रतिमाएँ अत्यन्त भव्य हैं। उनके मुखमण्डल की तेजस्विता और भव्यता को देख कर हमें अद्भुत आनंद और शांति प्राप्त हुई। श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी का कथन था कि उन्होंने जैनियों के बहुत से तीर्थ देखे हैं और भगवान शांतिनाथ



प्रहार का एक दृश्य



भगवान शांतिनाथ की मूर्ति

की इस प्रतिमा से भी विशाल प्रतिमाएँ देखी हैं; लेकिन इस जैसी भव्य, सौम्य और सुन्दर मूर्ति उन्होंने अब तक नहीं देखी। "इस महान शिल्पी ने सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति के निर्माता की कला-प्रतिभा को भी अपने से पीछे छोड़ दिया है। इस मूर्ति का सौष्ठव और अंग-प्रत्यंग की रचना हमारे सम्मुख एक जीवित सौन्दर्य-मूर्ति को खड़ी कर देती है।"[1]

इस प्रतिमा का शिलालेख सुरक्षित है। यह लेख लगभग दो फुट चार इंच की लम्वाई और नौ इंच की चौड़ाई में है। नौ पंक्तियाँ हैं। इस शिलालेख से मूर्ति का निर्माण कराने वाले श्रेष्ठि का पता तो चलता ही है, साथ ही शिल्पकार का भी। अन्य कई बातों की भी जानकारी होती है। पूरा लेख इस प्रकार है :—

पंक्ति १

ॐ नमो वीतरागाय ॥ ग्रहपतिवंशसरोरुहसहस्ररश्मिः सहस्रकूटं यः। वाणपुरे व्यधितासीत् श्रीमानि

पंक्ति २

ह देवपाल इति ॥१॥ श्रीरत्नपाल इति तत्तनयो वरेण्यः पुण्यैकमूर्तिरभवद्वसुहाटिकायां। कीर्तिर्जगत्रय

पंक्ति ३

परिभ्रमणश्रमार्त्ता यस्य स्थिराजनि जिनायतनच्छलेन ॥ २ ॥ एकस्तावदनूनबुद्धिनिधिना श्रीशान्तिचैत्याल

पंक्ति ४

यो दिष्ट्यानन्दपुरे परः परनरानन्दप्रदः श्रीमता। येन श्रीमदनेशसागरपुरे तज्जन्मनो निर्म्मिमे। सोयं श्रेष्ठिवरिष्ठगल्हण इति श्रीरल्हणाख्याद्

पंक्ति ५

भूत ॥ ३ ॥ तस्मादजायत कुलाम्बरपूर्णचन्द्रः श्रीजाहडस्तदनुजोदयचन्द्रनामा। एकः परोपकृतिहेतुकृताव-तारो धर्म्मात्मकः पुनरमो

पंक्ति ६

घसुदानसारः ॥ ४ ॥ ताभ्यामशेषदुरितौघशमैकहेतुं निर्मापितं भुवनभूषणभूतमेतद्। श्रीशान्तिचैत्यमति नित्यसुखप्रदा

पंक्ति ७

तृ मुक्तिश्रियो वदनवीक्षणलोलुपाभ्याम् ॥५॥ संवत् १२३७ मार्ग सुदि ३ शुक्रे श्रीमत्परमर्द्दिदेवविजयराज्ये।

पंक्ति ८

चन्द्रभास्करसमुद्रतारका यावदत्र जनचित्तहारकाः। धर्म्मकारिकृतशुद्धकीर्त्तनं तावदेव जयतात् सुकीर्त्तनम् ॥६॥

पंक्ति ९

वाल्हणस्य सुतः श्रीमान् रूपकारो महामतिः। पापटो वास्तुशास्त्रज्ञस्तेन विम्वं सुनिर्मितम् ॥ ७ ॥

अनुवाद

वीतरागके लिये नमस्कार (है)।

श्लोक १—जिन्होंने वानपुरमें एक सहस्रकूट चैत्यालय वनवाया, वे ग्रहपति-वंश रूपी कमलों (को प्रफुल्लित करने) के लिये सूर्यके समान श्रीमान् देवपाल यहाँ (इस नगरमें) हुए।

---

[1] 'अहार' पुस्तक में प्रेमीजी का लेख, पृष्ठ २४

श्लोक २–उनके रत्नपाल नामक एक श्रेष्ठ पुत्र हुए, जो वसुहाटिकामें पवित्रताकी एक (प्रधान) मूर्ति थे, जिनकी कीर्ति तीनों लोकोंमें परिभ्रमण करनेके श्रमसे थककर इस जिनायतनके वहाने ठहर गई।

श्लोक ३–श्री रल्हणके, श्रेष्ठियोंमें प्रमुख, श्रीमान् गल्हणका जन्म हुआ जो समग्र वुद्धिके निधान थे और जिन्होंने नन्दपुरमें श्रीशान्तिनाथ भगवान्का एक चैत्यालय वनवाया था; और इतर सभी लोगोंको आनन्द देनेवाला दूसरा चैत्यालय अपने जन्मस्थान श्रीमदनेशसागरपुरमें भी वनवाया था।

श्लोक ४–उनसे कुलरूपी आकाशके लिये पूर्ण चन्द्रके समान श्री जाहड़ उत्पन्न हुए। उनके छोटे भाई उदयचन्द्र थे। उनका जन्म मुख्यतासे परोपकारके लिये हुआ था। वे धर्मात्मा और अमोघ दानी थे।

श्लोक ५–मुक्ति-रूपी लक्ष्मीके मुखावलोकनके लिये लोलुप उन दोनों भाइयोंने समस्त पापोंके क्षयका कारण, पृथ्वीका भूपण-स्वरूप और शाश्वतिक महान् आनन्दको देनेवाला श्री शान्तिनाथ भगवानका यह प्रतिविम्व निर्मापित किया।

संवत् १२३७ अगहन सुदी ३, शुक्रवार, श्रीमान् परमर्द्धिदेवके विजय राज्यमें।

श्लोक ६–इस लोकमें जव तक चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और तारागण मनुष्योंके चित्तोंका हरण करते हैं तव तक धर्म्मकारीका रचा हुआ सुकीर्तिमय यह सुकीर्तन विजयी रहे।

श्लोक ७–वाल्हणके पुत्र महामतिशाली मूर्त्ति-निर्माता और वास्तुशास्त्रके ज्ञाता श्रीमान् पापट हुए। उन्होंने इस प्रतिविम्वकी सुन्दर रचना की।

इस शिला-लेख से कई महत्वपूर्ण वातें ज्ञात होती हैं। प्रथम पंक्ति में वानपुर का उल्लेख आया है। यह स्थान टीकमगढ़ से अठारह मील पश्चिम में अव भी विद्यमान है। तीसरी पंक्ति के 'मदनेशसागरपुर' पद से ज्ञात होता है कि उस समय इस स्थान का 'मदनेशसागरपुर' नाम रहा होगा। अहार के तालाव को आज भी 'मदनसागर' कहते हैं। सातवीं पंक्ति से मालूम होता है कि अगहन सुदी तीज, संवत् १२३७, शुक्रवार को परमर्द्धिदेव के राज्य में शिल्पशास्त्र के ज्ञाता पापट नामक शिल्पकार ने इसका निर्माण किया था।

मूर्ति पर वहुत वढ़िया पालिश हो रही है। आठ सौ वर्ष वाद भी उसकी चमक में कोई अन्तर नहीं आया।

अहार में जितनी मूर्तियाँ हैं, उनमें से अधिकांश के आसन पर शिला-लेख हैं, जिनसे जैनों के अनेक अन्वयों का पता चलता है। इतने अन्वयों का वहाँ पाया जाना इस वात का सूचक है कि प्राचीन समय में यह स्थान अत्यन्त समृद्ध रहा होगा।

ये सव मूर्तियाँ पुरातत्व और इतिहास की दृष्टि से वहुत ही मूल्यवान हैं। उनकी सुरक्षा के लिए वहाँ पर एक संग्रहालय का निर्माण हो रहा है। अव आवश्यकता इस वात की है कि अहार तथा उसके निकटवर्ती ग्रामों की भूमि की विधिवत् खुदाई हो। इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं कि वहाँ पर वहुमूल्य सामग्री प्राप्त होगी। संग्रहालय की नींव जिस समय खुद रही थी उस समय स्फटिक की एक मूर्ति का अत्यन्त मनोज्ञ सिर प्राप्त हुआ। खुदाई होने पर और भी वहुत-सी चीजें मिलेंगी। अव भी जव तालाव का पानी कम हो जाता है, उसमें कभी-कभी मूर्तियाँ निकल आती हैं। इस प्रकार की कई मूर्तियों का उद्धार हुआ है।

अहार में तपोवन वनने की क्षमता है; लेकिन उसके लिए भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति के निर्माता पापट जैसे महापुरुषों और उनकी जैसी वर्षों की तपस्या चाहिये। उस मूर्तिकार की यह अनुपम कला-कृति मानों आज भी कह रही है, "महान कार्य के लिए समान साधना की आवश्यकता होती है।"

टीकमगढ़]



कुंथुनाथ भगवान की मूर्ति

: ८ :

समाज-सेवा और नारी-जगत्

जैन संस्कृति में सेवा-भाव

जैन-मुनि श्री अमरचन्द्र उपाध्याय

जैन संस्कृति की आधारशिला प्रधानतया निवृत्ति है। अतः उसमें त्याग और वैराग्य तथा तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक जोर दिया गया है, उतना और किसी नियम विशेष या सिद्धान्त विशेष पर नहीं। परन्तु जैन धर्म की निवृत्ति साधक को जन-सेवा की ओर अधिक-से-अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक दूसरे की सेवा करे, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता हो, उसी के अनुसार दूसरों के काम आये। जैन धर्म में जीवात्मा का लक्षण[1] ही सामाजिक माना गया है, वैयक्तिक नहीं। प्रत्येक सांसारिक प्राणी अपने सीमित अंश में अपूर्ण है, उसकी पूर्णता आसपास के समाज में और संघ में है। यही कारण है कि जैन संस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम-नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम-नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को जैन साहित्य में धर्म[2] का रूप दिया है और भगवान् महावीर ने अपने धर्म प्रवचनों में ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने आध्यात्मिक क्रिया-काण्ड प्रधान जैनधर्म की साधना का स्थान ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के बाद ही रक्खा है, पहले नहीं। एक सभ्य नागरिक एवं देशभक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नहीं। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि जैनधर्म एकान्त निवृत्ति प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, यह लोक नहीं।

जैन गृहस्थ जब प्रातःकाल उठता है तो वह तीन संकल्पों का चिंतन[3] करता है। उनमें सबसे पहिला यही संकल्प है कि मैं अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूंगा। वह दिन धन्य होगा, जब मेरे संग्रह का उपयोग जन-समाज के लिए होगा, दीन-दुखितों के लिए होगा। भगवान महावीर का यह घोष हमारी निद्रा भंग करने के लिए पर्याप्त है—"**असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।**"[4] अर्थात्—मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने संग्रह के उपभोग का अधिकारी केवल अपने आप को ही न समझे, प्रत्युत अपने आस-पास के साथियों को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनों का स्वयं ही उपभोग करता है, उसमें से दूसरों की सेवा के लिए कुछ भी अर्पण नहीं करना चाहता है, उसको कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।"

जैन धर्म में माने गये मूल आठ कर्मों में मोहनीय कर्म का स्थान बड़ा ही भयंकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय के द्वारा होता है, उतना और किसी कर्म से नहीं। मोहनीय के सबसे अन्तिम उग्ररूप को महामोहनीय कहते हैं। उसके तीस भेदों में से पच्चीसवाँ भेद यह है[5]—यदि आपका साथी बीमार है या किसी और संकट में पड़ा हुआ है, आप उसकी सहायता या सेवा करने में समर्थ हैं; फिर भी सेवा न करें और यह विचार करें कि इसने कभी मेरा काम तो किया नहीं, मैं ही इसका काम क्यों करूँ? कष्ट पाता है तो पाये अपनी बला से, मुझे क्या?" भगवान महावीर ने अपने चम्पापुर के धर्म प्रवचन में स्पष्ट ही यह कहा है—"जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोटाकोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र में उलझा रहेगा, सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।"

---

[1] परस्परो पग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र।
[2] स्थानांग सूत्र, दशमस्थान।
[3] स्थानांग सूत्र, ३, ४, २१
[4] दशवैकालिक सूत्र, ९, २, २३
[5] दशाश्रुत स्कन्ध—नवम दशा।

गृहस्थ ही नहीं, साधु-समाज को भी इस सिद्धान्त का वड़ी कठोरता से पालन करना पड़ता है। भगवान महावीर ने कहा है—"यदि कोई साधू अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़ कर तपश्चरण करने लग जाता है, शास्त्र-चिंतन में संलग्न हो जाता है या और किसी अपनी व्यक्तिगत साधना में लग जाता है तो वह अपराधी है, संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे एक सौ बीस उपवासों का प्रायश्चित लेना पड़ेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।" इतना ही नहीं, एक गाँव में साथी साधू बीमार पड़ा हो और दूसरा साधू जानता हुआ भी गाँव से बाहर-ही-बाहर दूसरे गाँव में चला जाय, रोगी की सेवा के लिए गाँव में न जाय तो वह भी महान पापी है[1], उग्रदण्ड का अधिकारी है। भगवान महावीर का कहना है कि सेवा स्वयं बड़ा भारी तप है।[2] अतः जब भी कभी सेवा करने का अवसर मिले तो नहीं छोड़ना चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा आर्तों की, दीन-दुःखितों की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहता है।[3]

'स्थानांग-सूत्र' में भगवान महावीर की आठ महान् शिक्षाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। उसमें पाँचवीं शिक्षा यह है—**"असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।"**[4] अर्थात्—जो अनाश्रित है, निराधार है, कहीं भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नहीं पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो, जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रबन्ध करो। जैन गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ है।[5] वहाँ किसी जाति, कुल, देश या धर्म के भेद के बिना मानवमात्र के लिए जगह है।

एक बात और भी बड़े महत्त्व की है। इस बात ने तो सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन धर्म में सबसे बड़ा और ऊँचा पद तीर्थंकर का माना गया है। तीर्थंकर होने का अर्थ यह है कि वह जैन-समाज का पूजनीय महापुरुष देव बन जाता है। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनों तीर्थंकर हैं। भगवान महावीर ने अपने जीवन के अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है—**"वेयावच्चेणं तित्थयर नाम गोत्तं कम्मं निबंधइ।"**[6] अर्थात्—वैयावृत्त करने से—सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। साधारण जन-समाज में सेवा का आकर्षण पैदा करने के लिए भगवान महावीर का यह आदर्श प्रवचन कितना महान् है।

आचार्य लक्ष्मीवल्लभ ने भगवान महावीर और गौतम का एक सुन्दर संवाद हमारे सामने रक्खा है। संवाद में भगवान महावीर ने दुःखितों की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व दिया है। संवाद का विस्तृत एवं स्पष्ट रूप इस प्रकार है :—

श्री इन्द्रभूति गौतम ने जो भगवान महावीर के सब से बड़े गणधर थे, भगवान महावीर से पूछा—भगवन्! एक सज्जन दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-भक्ति करता है। फलतः उसे दूसरे दुःखितों की सेवा के लिए अवकाश नहीं। दूसरा सज्जन दुःखितों की सेवा करता है, सहायता करता है, फलतः उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नहीं। भन्ते! दोनों में से आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

भगवान महावीर ने बड़े रहस्यभरे ढंग से उत्तर दिया—गौतम! जो दीन दुःखितों की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है। वही मेरे धन्यवाद का पात्र है।[7]

---

[1] निशीय सूत्र।

[2] उत्तराध्ययन, तपोमार्ग अध्ययन।

[3] औपपातिक।

[4] स्थानांग सूत्र, ८, ६१

[5] भगवती सूत्र।

[6] उत्तराध्ययन २९, ४३

[7] उत्तराध्ययन, सर्वार्थसिद्धि, परिषह अध्ययन।

गौतम विचार में पड़ गये कि यह क्या ? भगवान की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दुःखित पापात्माओं की सेवा का क्या महत्त्व ? धन्यवाद तो भगवान के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासाभरे स्वर से पूछा—भन्ते ! यह कैसे ? दुःखितों की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का अधिक महत्व होना चाहिए ? कहाँ सर्वथा पवित्रात्मा आप भगवान् और कहाँ वे पामर प्राणी !

भगवान ने उत्तर दिया—मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने में ही तो है ! इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नहीं है। मेरी सबसे बड़ी आज्ञा यही है कि दुःखित जन-समाज की सेवा की जाय, उसे सुख-शान्ति पहुँचाई जाय। अतः दुःखितों की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम ! इसलिए मैं कहता हूँ कि दुःखितों की सेवा करने वाला ही धन्य है, श्रेष्ठ है, मेरी सेवा करने वाला नहीं। मेरा सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह में अधिक फँसा हुआ है।

यह आदर्श है नरसेवा में नारायण सेवा का, जन-सेवा में भगवान की सेवा का। जैन संस्कृति के अन्तिम प्रकाशमान सूर्य भगवान महावीर हैं। उनका यह प्रवचन सेवा के महत्त्व के लिए सबसे बड़ा ज्वलन्त प्रमाण है।

भगवान महावीर दीक्षित होना चाहते हैं, किन्तु अपनी संपत्ति का गरीब प्रजा के हित के लिए उपयोग करते हैं और एक वर्ष तक मुनि-दीक्षा लेने के विचार को लंबा करते हैं। एक वर्ष में अरबों की संपत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित कर देते हैं और मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति करने से पहिले उसकी भौतिक उन्नति करने में संलग्न रहते हैं।[1] दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय में दया का असीम प्रवाह तरंगित रहता है। फलस्वरूप एक गरीब ब्राह्मण के दुःख से दयार्द्र हो उठते हैं और उसे अपना एकमात्र आवरण वस्त्र भी दे डालते हैं।[2]

जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सेवा के क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं। उनके प्रजाहित के कार्य सर्वतः सुप्रसिद्ध हैं। सम्राट् संप्रति की सेवा भी कुछ कम नहीं है। जैन इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट् के हृदय में जनसेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी और किस प्रकार उन्होंने उसे कार्य रूप में परिणत कर जैन संस्कृति के गौरव की रक्षा की। महाराजा कलिंग, चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जर नरेश कुमार-पाल भी सेवा के क्षेत्र में जैन संस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखते रहे हैं। मध्यकाल में जगडूशाह, पेथड़ और भामाशाह जैसे धनकुबेर जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं और स्वयं कंगाल हो जाते हैं।

जैन समाज ने जन-समाज की क्या सेवा की है। इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिये, केवल गुजरात, मारवाड़, मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक बार भ्रमण करिये, इधर उधर खंडहरों के रूप में पड़े हुए ईंट-पत्थरों पर नजर डालिये, पहाड़ों की चट्टानों के शिलालेख पढ़िये, जहाँ-तहाँ देहात में फैले हुए जन-प्रवाद सुनिये। आपको मालूम हो जायगा कि जैन संस्कृति क्या है ? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ संबंध है ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, संस्कृति व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है और समाज की संस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमें द्वेष नहीं, प्रेम हो; द्वैत नहीं, अद्वैत हो; एक रंग-ढंग हो, एक रहन-सहन हो, एक परिवार हो। संस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन संस्कृति में पूर्णतया घट रहा है। इसके लिए इसका गौरवपूर्ण उज्ज्वल भूतकाल पद-पद पर साक्षी है। मैं आशा करता हूँ, आज का पिछड़ा हुआ जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा और भारत की वर्त्तमान विकट परिस्थिति में बिना जाति, धर्म, कुल या देश के भेदभाव के दरिद्रनारायण मात्र की सेवा में अग्रणी भाग लेगा।

---

[1] आचारांग, महावीर जीवन।

[2] आचार्य हेमचन्द्र कृत महावीर चरित्र।

समाज-सेवा

महात्मा भगवानदीन

प्रेमी जी का अभिनन्दन में उनकी मनलगती कह कर करूँ या अपनी मनलगती ? वे खरे प्रकाशक रह चुके है और औरों की मनलगती सुनने के अभ्यस्त हैं। उसको औरों तक पहुँचाने में उन्हें आनन्द आता रहा है। इसलिए मैं अपनी मनलगती ही कहूँगा।

आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम—हस्तिनापुर) का सर्वेसर्वा होने पर भी अनेक बन्धनों में जकड़े होने से मुझे अपनी जान से प्यारे ब्रह्मचारियों को वह सिखाना पड़ता था और सीखने देना पड़ता था, जिसे मैं जी से नही चाहता था। मेरे अध्यापकों मे एक से ज्यादा ऐसे थे, जिन्हें मेरी तरह उस बात के सिखाने में दुख होता था, जिसे वे ठीक नही समझते थे। उस तकलीफ ने समाज-सेवा के संबंध में मेरे मन में एक जबर्दस्त क्रान्ति पैदा कर दी और मुझे साफ-साफ दिखाई देने लगा कि समाज-सेवा और समाज-दासत्व दो अलग-अलग चीजे हैं। समाज-सेवा से समाज ऊँचा उठता और समाज-दासत्व से समाज का पतन होता है। आत्म-विकास, आत्म-प्रकाश, मौलिकता और नवसर्जन से समाज-सेवा होती है। लीक-लीक चलने से समाज की दासता हो सकती है, सेवा नही ! व्यक्ति के सुख में ही समाज का सुख है, समाज के सुख में व्यक्ति का सुख नहीं और समाज का भी नहीं ! आज जिस सुख को सुख मान कर समाज सुखी हो रहा है, वह सुख नहीं, सुखाभास है, सुख की छाया है, झूठा सुख है। सुख क्या है, वह कैसे मिलेगा, समाज सुखी कैसे होगा, यह जान लेना ही समाज-सेवा है। इसलिए उसी पर कुछ कह-सुन लूं और इस नाते लिख कर भी थोड़ी समाज-सेवा कर लूं।

खेती-युग में दुख रहा तो रहा, मशीन-युग में क्यों ? खाने के लिए बिस्कुट के कारखाने, पहनने के लिए कपड़े की मिलें, सैर-सपाटे के लिए मोटर, रेलें, हवाई जहाज, बीमारी से बचने के लिए पेटेंट दवाएँ, बूढ़े से जवान बनने के लिए ग्लेड चिकित्सा, कानों के लिए रेडियो, आँखों के लिए सिनेमा, नाक के लिए सस्ते सेन्ट, जीभ के लिए चाकलेट, लाइमजूस, क्रीम, देह के लिए मुलायम गद्दे, यहाँ तक कि मन के लिए भी किसी बात का टोटा नहीं— गुदगुदाने वाली कहानियाँ, हँसाने वाले निबंध, अचरज में डालने वाली जासूसी कहानियाँ, रुलाने वाले उपन्यास, उभारने वाली वक्तृताएँ, सभी कुछ तो है।

रुपया ?—

रुपये का क्या टोटा ! उन्तीस रुपये कुछ आने में एक लाख के रुपये वाले नोट तैयार हो जाते हैं और वे उन्तीस रुपये भी कागज के हों तो काम चल सकता है। सरकार बाजीगर की तरह घर-घर में अगर चाहे तो रुपयों का ढेर लगा सकती है। बाजीगर की हाथ की सफ़ाई से सरकार की सफ़ाई कई गुनी बढ़ी-चढ़ी है।

मतलब यह कि यह युग खपत से कहीं ज्यादा पैदावार का युग है, सुख की बाढ़ का युग है, चीजों की भरमार का युग है, जी दुखाने का नहीं, आँसू बहाने का नहीं, रोने-चिल्लाने का नहीं।

हैं ! फिर यह कौन रोता है ? क्यों रोता है ? किसलिए रोता है ? रोने का नाटक तो नहीं करता ? अगर सचमुच रोता है तो बिस्कुट, कपड़े और रुपयों की बाढ़ में डूब कर दम घुटने से ही रोता होगा !

सुख मोटा होकर ही काम का हो सके, यह नहीं, वह बढ़िया भी होना चाहिए। हलवा गालियों के साथ मीठा नहीं लगता। मुफ़्त में पाये ओवरकोट से जाड़ा नही जाता, बे पैसे की सवारी में मजा नही आता, सुख का सुख भोगने की ताकत विदेशी राज्य ने रगड़ दी, विदेशी व्यापार ने पकड़ ली, विदेशी तालीम ने जकड़ दी, विदेशी वेश-भूषा से लजा गई और विदेशी बोली से मुरझा गई।

खाने का लुत्फ बनाने के तरीकों पर निर्भर है, कपड़े की खूबसूरती उसके काट में है, आमदनी का सुख इसमें है कि वह कैसे कमाई गई है।

पाँच बार खाकर, घंटे-घंटे बाद कपड़े बदल कर, कई कमरे वाले मकान में रह कर, सुख नहीं मिलता। सुख के लिए ऐसा काम चाहिए, जिसके द्वारा मैं यह बता सकूं कि मैं क्या हूँ? जिनके लिए काम करूँ, वे माँ-बाप, वे संबंधी भी चाहिए। मेरी मर्जी की तालीम न मिली तो सब सुख बेकार, मेरी मर्जी का समाज न मिला तो सब सुख भार।

इस बाढ़-युग के मुकाबले में पहले युग का नाम आप सूखा-युग रख लीजिए; पर उस युग में ये सब चीजें मिल जाती थीं। आजकल कारखाने चीजें बनाने में जुटे हैं। सरकार परमाणु बम बनाने में। सुख उपजाने की किसी को फुरसत नहीं। चीजों की भरमार से और एटम बम की दहाड़ से सुख की परछाई देखने को मिलेगी, सुख नहीं।

हलवाई की तबिअत मिठाई से ऊब जाती है यानी उसे सुख की जगह दुख देने लगती है। रेल का गार्ड रेल की सवारी को आफ़त समझता है। खपत से उपज कुछ कम हो तो सुख मिले। खपत की बराबर हो तो हर्ज नहीं; पर खपत से ज्यादा हो तो दुख ही होगा।

डाक-बाबू को यह पता नहीं कि उसके कितने बच्चे हैं; जहाज के कप्तान को यह पता नहीं कि उसके माँ-बाप भी हैं और उसका विवाह भी हो गया है; जुलाहे को पता नहीं कि वह तरह-तरह के बेल-बूटे भी बना सकता है। सुख जिसका नाम है वह कहीं रह ही नहीं गया। खाओ-पहिनो-दौड़ो। सुख से कोई सरोकार नहीं। फटफटिया की फट-फट, धुँआ-गाड़ी की भक-भक, हवाई जहाजों की खर-खर, मिलों की घर-घर। बाहर चैन कहाँ! पंखे की सर-सर, टाइपराइटर की क्लिक-क्लिक, स्टोव की शूं-शूं, रेडियो की रूँ-रूँ, घर में आराम कहाँ! छब्बे होने चले थे, दुबे रह गये। सुख की खोज में गाँठ का सुख भी गँवा बैठे। वह मिलेगा, इसमें शक है।

सुख लोगों को आजकल कभी मिलता नहीं। इसलिए वे उसे भूल गये, अगर वह आये तो उसे पहचान भी नहीं सकते। भीतर का सुख और बाहर का सुख दोनों ही भूल गये।

सुख उस हालत का नाम है, जिसमें हम आजाद हों, कोई हमें हमारी मर्जी के खिलाफ न सताए, न भूखों मारे, न जाड़ा-गर्मी सहने को कहे। इतना ही नहीं, हमारी मर्जी के खिलाफ न हमें खिलाए, न पहिनाये, और न सैर कराये। सुख बीच की अवस्था में है, खींचतान में नहीं। मर्जी से किये सब कामों में सुख है—बर्फ़ में गलने में, आग में जलने में, डूबने में और ऊबने में भी। बेबात की मेहनत में भी सुख नहीं। लगन और उद्देश्य बिना किसी काम में सुख नहीं। सुख एक हालत तो है, पर है वह तन-मन-मस्तक तीनों की। भूखों मर कर सुख न मिलेगा और पाषाण हृदय होकर भी नहीं। पेट भरी बकरी भेड़िये के पास बाँधने से दुबली हो जाती है तो राम भजन करने वाला संत भी भूखा रह कर दुबला हो जावेगा।

सुख की पहेली का एक ही हल है। धर्म से कमाए और मौज करे (धर्म अर्थ काम)। धर्म से कमाने का अर्थ है खपत के अनुसार पैदा करना। कमाने में मौज करने की योग्यता गँवा बैठना बुद्धिमानी नहीं है। इतना थकने से फायदा, कि खा भी न सको? थककर भूखे ही सो जाओ? पैसे से बेचैनी तो देह भी नहीं चाहती, पर यहाँ तो मन और मस्तक बिक रहे हैं। तन-मन और मस्तक सभी बिक गये तो सुख कौन भोगेगा?

बिको मत, बिकना गुलामी है। गुलामी में सुख कहाँ? दुख में मीठा कड़वा हो जाता है। कपड़ा देह का भार हो जाता है। तमाशा काटने को दौड़ता है। सवारी खींचती नहीं, घसीटती-सी मालूम होती है।

बना बनाया खाने में खाने भर का मजा। बना कर खाने में दो मजे—एक बनाने का और एक खाने का। मिलों में चीजें बनती हैं। तुम्हारे लिए नहीं बनतीं। घर में चीजें बनती हैं। वे तुम्हारे लिए बनती हैं। तुम्हारी रुचि का ध्यान रखकर बनाई जाती हैं। तुम्हारे स्वास्थ्य का भी ध्यान रक्खा जाता है। अपनी चीज अपने आप बनी कुछ और ही होती है।

सभी तो बनी-बनाई काम में ला रहे हैं?

लाने दो, वे पास खड़े सुख को पहिचानते ही नहीं। अपनायें कैसे। तुम पहिचान गये हो, अपनाओ। उसके अपनाने से सोना, स्वास्थ्य, सुख तीनों हाथ आयेंगे। सुख से सुख और उस सुख से और सुख मिलेगा। सुख तुम में से फूट कर निकलने लगेगा। धीरे-धीरे सब तुम्हारे रास्ते पर आ जायेंगे, उन्होंने अब तक सुख देखा ही नहीं। अब देखने को मिलेगा तो फिर क्यों न अपनायेंगे ?

श्रम से सुख है, मेहनत में मौज है। श्रम बिका सुख गया। मेहनत बिकी, मौज गई। पैसा आया वह न खाया जाता है न पहिना जाता है। चीजें मोल लेते फिरो। भागे-भागे फिरो, जमींदार के पास, बजाज के पास, बनिये के पास, सिनेमाघरों में, स्कूलों में। लो, खराब चीजें और दो दुगने दाम। कभी सस्ता रोता था बार-बार, आज अकरा रोता है हजार बार।

सुख चाहते हो तो बड़ा न सही, छोटा सा ही घर बनाओ। चर्खा खरीदो, चाहे महँगा ही मिले। कर्घा लगाओ, चाहे घर की छोटी सी कोठरी भी घिर जाये। जरूरी औजार खरीदो, चाहे एक दिन भूखा मरना पड़े। खेत जोतो—बोओ, चाहे खून पसीना एक हो जाये। गाय-घोड़ा रक्खो, चाहे रात को नींद न ले सको।

बिक्री की चीज न बनो। बिगड़ जाओगे। अगर बिकना ही है तो काम की उपज को बिको। सुख पाओगे।

खाने भर के लिए पैदा करो, थोड़ा ज्यादा हो जाय तो उसके बदले में उन्हीं चीजों को लो, जो सचमुच तुम्हारे लिये जरूरी हैं और जिन्हें तुम पैदा करना नहीं जानते।

कमाना और बेचना, कमाना और गँवाना है। कमाना और खाना, कमाना और सुख पाना है।

काम के लिए काम करने में सुख कहाँ ? अपनों के लिए और अपने लिये काम करने में सुख है। सुख की चीजें बनाने में सुख नहीं। अपने सुख की चीजें बनाने में सुख है। जब भी तुम पैसों से अपने को बेचते हो, अपनी भलमनसियत को भी साथ बेच देते हो। उसी के साथ सच्ची भली जिंदगी भी चली जाती है। मन और मस्तक सब बिक जाते हैं। तुम न बिकोगे, ये सब भी न बिकेंगे। भलमन्सी की बुनियादी जरूरतें यानी कुटिया, जमीन, चर्खा, कर्घा वगैरह बनी रहेंगी तो तुम भी बने रहोगे और सुख भी पाते रहोगे। सुख भलों के पास ही रहता है, बुरों के पास नहीं। जो बुरों के पास है वह सुख नहीं है, सुख की छाया है।

गाड़ी में जुत कर बैल घास-दाना पा सकता है, कुछ मोटा भी हो सकता है, सुखी नहीं हो सकता। सुखी होने के लिए उसे घास-दाना जुटाना पड़ेगा, यानी निर्द्वन्द्व होकर जंगल में फिर कर घास खाना होगा। तुम पैसा कमा रोटी-कपड़ा जुटा लो, सुख-सन्तोष नहीं पा सकते। रोटी-कपड़ा कमाने से मिलेगा, पैसा कमाने से नहीं।

रोटी न कमा कर पैसा कमाने में एक और ऐब है। घर तीन-तेरह हो जाता है। घर जुटाने वाले माता-पिता और अविवाहित बच्चे अलग-अलग हो जाते हैं। बाप दफ़्तर चल देता है और अगर माँ पढ़ी-लिखी हुई तो वह स्कूल चल देती है, बालक घर में सनाथ होते हुए अनाथ हो जाते हैं। यह कोई घर है ? वासना के नाते जोड़ा झमेला है। वह वासना कुछ कुदरती तौर पर और कुछ दफ़्तरों के बोझ से पिचपिचा कर ऐसी बेकार-सी रह गई है, जैसे बकरी के गले में लटकते हुए थन।

घर को घर बनाने के लिए उसे कमाई की संस्था बनाना होगा। वह कोरी खपत की कोठरी न रह कर उपज का कारखाना बनेगी। आदमी मुँह से खाता है तो उसे हाथ से कमाना भी चाहिए। इसी तरह एक कुटुम्ब को एक आदमी बन जाना चाहिए, कोई खेत जोत-बो रहा है, कोई कात रहा है, कोई बुन रहा है, कोई खाना बना रहा है, कोई मकान चिन रहा है, कोई कुछ, और कोई कुछ। इधर-उधर मारे-मारे फिरने से यह जीवन सच्चा सुख देने वाला होगा।

आज भी गाँव शहर से ज्यादा सुखी हैं। वे अपना दूध पैदा कर लेते हैं, मक्खन बना लेते हैं, रुई उगा लेते हैं, सब्जी बो लेते हैं, अनाज तैयार कर लेते हैं और सबसे बड़ी बात तो यह कि घर को वीरान नहीं होने देते। शहर

वाले ये सब चीजें पैसे से खरीदते हैं, घर बारह बाट कर गले में गुलामी का तौक डाले सुबह-सुबह खरगोश की चाल जाते हैं और शाम को कछुए की चाल घिसटते-घिसटते घर आते हैं।

वृक्ष का अपना कोई सुख नहीं होता, जड़ों का नीचे तक जाना और खुराक खींचने के लिए काफी मजबूत होना, पीढ़ का डालियों और पत्तों के बोझ को संभाले रखने के लिए काफी मोटा होना और रस ऊपर ले जाने के लिए पूरा योग्य होना, डालों का मुलायम होना और पत्तों का हरा-भरा होना इत्यादि ही पेड़ का सुख है। ठीक इसी तरह समाज का अपना कोई सुख नहीं। वह समाज सुखी है, जिसके बच्चे, जवान, बूढ़े, औरत-मर्द सुखी हैं, भरे-बदन हैं, हँसते चेहरे हैं, ऊँची पेशानी है, खातिरदारी के नमूने हैं, समझदारी के पुतले हैं, आदमी की शकल में फरिश्ते हैं। ऐसे ही मनुष्यों की जिन्दगी के लिए देवता तरसते हैं।

जिस्म बनाने के लिए खाना, कपड़ा और मकान चाहिए। जी हाँ, चाहिए; पर उन चीजों के जुटाने में अगर आपने देह को थका मारा तो वे सुख न देकर आपको काटेंगे, खसोटेंगे, रुला देंगे। मेहनत से आप ये चीजें जुटाइये, पर ऐसी मेहनत से, जिसमें लगकर आपका जिस्म फूल उठे, आपका मन उमंग उठे, आपका जी लग सके, आपका दिमाग ताजगी पा सके, आपकी आत्मा चैन माने और जिस काम में आप अपने को दिखा रहे हों कि आप क्या हैं, जिस काम में आपका आत्म-विकास न हो, आपका आत्म-प्रकाश न हो, उसे कभी न करना। वह काम नहीं, बेगार है। बदले में ढेरों रुपये मिलें तो भी न करना। असल में जी न लगने वाले कामों में लगकर जी मर जाता है। मरे जी, मरी तबियतें सुख का आनन्द कैसे ले सकती हैं?

दोस्तो, समाज को सुखी बनाने के लिए अपना वक्त जाया न करो। वह सुखी न होगा। वह मशीन है। वह जानदार नहीं है। वह तुम सब का मिल कर एक नाम है। तुम अपने को सुखी बनाओ, वह सुखी है।

यह नहीं हो रहा।

जैसे बहुत खाने से सुख नहीं होता, भूखों मरने से भी सुख नहीं मिलता, वैसे ही बहुत कमाने से सुख नहीं मिलता और न बिलकुल बेकार रहने से। जो बेहद कमा रहे हैं, वे बिलकुल सुखी नहीं। वे असल में कमा ही नहीं रहे। उनके लिए और कमा रहे हैं और जो और कमा रहे हैं वे यों सुखी नहीं हैं कि वे अपने लिए नहीं कमा रहे। यों समाज में कोई सुखी नहीं है और इसी वजह से समाज में कहीं पहाड़ और कहीं खाई बन गई हैं। समतल भूमि नाम को नहीं रही। समता में सुख है। समता का नाम ही समाज है। अगर समता का नाम समाज नहीं है तो उस समता को पैदा करने के लिए ही उसका जन्म होता है। समता होने तक समाज चैन नहीं लेता। चैन पा भी नहीं सकता।

खाना, कपड़ा, मकान दुख पाये बिना मिल सकते हैं, जरूर मिल सकते हैं, बिला शक मिल सकते हैं और अगर नहीं मिल सकते तो सुख भी नहीं मिल सकता। फिर समाज का ढांचा बेकार। उसका पैदा होना बेसूद, उसकी हस्ती निकम्मी। अगर आराम की निहायत जरूरी चीजें जुटाने में भी हमें अपने पर शक है तो सुख हमारे पास न फटकेगा। फिर तो हम मोहताज से भी गयेबीते हैं। फिर बच्चे के माने अनाथ। जवान के माने टुकरखोर, और बूढ़े के माने जीते-जी-मुर्दा।

साँस लेकर खून की खूराक हवा, हम हमेशा से खींचते आये हैं, खींच रहे हैं और खींचते रहेंगे। फिर हाथ-पाँव हिलाने से जिस्म की खूराक रोटी, कपड़ा, मकान क्यों न पायेंगे? हम पाते तो रहे हैं, पर पा नहीं रहे हैं। कोशिश करने से पा सकते हैं और पाते रहेंगे। हवा हम खुद खींचते हैं, अनाज और कपास भी हम खुद उगायेंगे। मकान भी आप बनायेंगे।

हमने अब तक धन ढूंढ़ा, धन ही हाथ आया। अब सुख की खोज करेंगे और उसे ढूंढ़ निकालेंगे।

जर, जमीन, जबर्दस्ती की मेहनत और जरा सख्त इन्तजामी से पैसा कमाया जाता है तो चार बीघे जमीन से चार घड़ी सुबह-शाम जुट जाने से, चर्खे जैसी मशीनों के बल से और चतुराई की चींटनी जितनी चिनगारी से चैन और सुख भी पाया जा सकता है।

नये युग में नये अर्थ-शास्त्र से काम चलेगा, पुराने से नहीं।

चार वीघे ज़मीन का दूसरा नाम है घर-वार। घर वह जिसमें हम रहते हैं। घरवार वह, जिसमें हम सुख से रहते हैं, यानी उसमें हम कमा-खा भी लेते हैं।

आदमी, भूचर, थलचर प्राणी है। वह हवा में भले ही उड़ ले और सागर में भले ही तैर ले, पर जीता जमीन से है और मर कर उसी में मिल जाता है। वह जमीन से ही जियेगा और यह ही उसका जीने का तरीका ठीक माना जायगा। जमीन उसे जो चाहे करने देगी और जी चाहे जैसे रहने देगी। उसे हर तरह आज़ाद कर देगी। वह ज़मीन से हट कर ज़वर से ज़ेर हो जायेगा। आज़ादी खोकर गुलामी वुला लेगा। आज़ादी के साथ सुख का अंत हो जावेगा। दुख आ जुटेगा और वह देवता से कोरा दुपाया रह जायेगा।

जव हमारे पास ज़मीन थी हम सुखी थे और हमने वेद रच डाले। दशरथ और जनक हल चलाते थे, कौरव और पांडव खेत जोतते-वोते थे। वे आज भी जीवित हैं और हमें पाठ दे रहे हैं। सुख ज़मीन में है और वहीं से मिलेगा।

जिस दिन तुमने ज़मीन लेकर फावड़ा उठाया, उसी दिन तुम्हारा सुख तुम्हारे सामने हरी-हरी खेती वन कर लहराया और जिस दिन उसी खेती से लगी अपनी छोटी सी कुटिया में वैठ कर चर्खा चलाते-चलाते तुमने वेद से भी ऊँची ज्ञान की तान छेड़ी कि सुख अप्सरा का रूप रख तुम्हारे सामने नाचने लगेगा। फिर किस सेठ की मजाल है जो तुमसे आकर कहे कि आओ, मेरी मिल में काम करना या मेरी मिल के मैनेजर वनना। कौन राजनेता तुमको सिपाही वनाने या वज़ारत की कुर्सी पर विठाने की सोचेगा? और कौन सेनापति तुमको फौज में भर्ती होने के लिए ललकारेगा? ये सव तो तुम्हारे सामने दुज़ानू हो (दंडवत कर) सुख की भीख मांगेंगे। सच्चा गायक हुक्म पाकर राग नहीं छेड़ता, सच्चा चित्रकार रुपयों की खातिर चित्र नहीं वनाता। गायक गाता है, अपनी लहर में आकर। चित्रकार चित्र वनाता अपनी मौज में आकर। ठीक इसी तरह तुम भी वह करो, जो तुम्हारा जी चाहे, जिसमें तुम खिल उठो, जिसमें तुम कुछ पैदा कर दिखाओ, जिसमें तुम कुछ वना कर दे जाओ। ऐसा करने पर सुख तुम्हारे सामने हाथ वाँधे खड़ा रहेगा।

आजकल 'मेहनत वचाओ', 'वक़्त वचाओ' की आवाज़ चारों ओर से आ रही है। मेहनत वचाने वाली और वक़्त वचाने वाली मशीनें आयेदिन गढ़ी जा रही हैं। परम पवित्र श्रम को कुत्ते की तरह दुर्दुराया जा रहा है। समय जिसकी हद नहीं, उसके कम हो जाने का भूत सवार है। एक ओर समय के निस्सीम होने पर व्याख्यान दिया जा रहा है और दूसरी ओर गाड़ी छूट जाने के डर से व्याख्यान अधूरा छोड़कर भागा जा रहा है। यह क्या! एक ओर श्रम की महत्ता पर वड़े-वड़े भाषण हो रहे हैं, दूसरी ओर उसी से वच कर भागने की तरकीवें सोची जा रही हैं। खूब! काम के वारे में लोगों का कहना, है "काम करना पड़ता है, करना चाहिए नहीं।" उन्हीं का खेल के वारे में कथन है, "खेलने को जी चाहता है, पर वक़्त ही नहीं मिलता।" इन विचारों में लोगों का क्या दोष? समाज का दोष है। हर एक से वह काम लिया जा रहा है, जिसे वह करना नहीं चाहता और वह भी इतना लिया जाता है कि उसे काम नाम से नफ़रत हो जाती है। उसको सचमुच खेल में सुख मिलता-सा मालूम होता है।

काम में खेल की अपेक्षा हज़ार गुना सुख है, पर उस सुख को तो समाज ने मिलों को भेंट चढ़ा दिया। आदमी को मशीन वना दिया। मशीन सुख कैसे भोगे?

माली को, किसान को, कुम्हार को, चमार को, जुलाहे को, दरज़ी को, वढ़ई को, मूर्तिकार को, चित्रकार को, उनकी प्यारी-प्यारी पत्नियाँ रोज़ खाना खाने के लिए खुशामद करती देखी जाती हैं। वे काम से हटाये नहीं हटते। कभी-कभी तो इतने तल्लीन पाये जाते हैं कि वे सच्चे जी से अपनी पत्नियों से कह वैठते हैं, "क्या सचमुच हमने अभी खाना नहीं खाया?" यह सुन उनकी सहधर्मिणी मुस्करा देती हैं और उनके हाथ से काम के औज़ार लेकर उन्हें प्यार से खाना खिलाने ले जाती हैं: सुख यहाँ है। यह सुख दफ़्तर के वावू को कहाँ? मिल के मालिक को कहाँ? सिपाही को कहाँ? उनकी वीवियाँ तो वाट जोहते-जोहते थक जाती हैं। एक रोज़ नहीं, रोज़ यही होता है।

मुहब्बत इस बेहद इन्तज़ार की रगड़ से गरमा जाती है और आग की चिनगारियाँ उगलने लगती है। इसका दोष बीवी को न लगा कर समाज को ही लगाना चाहिए। कुम्हारिन, चमारिन वगैरह अपनी आँखों अपने पतियों को कुछ पैदा करते देखती हैं, कुछ बनाते देखती हैं, कुछ उगलते देखती हैं, कुछ उमंगते देखती हैं, कुछ आनंद पाते देखती हैं; पर सेठों की औरतें इन्तज़ार में सिर्फ़ घड़ियाँ गिनती हैं और अगर देखती हैं तो यह देखती हैं कि उनके पति घिसटते-घिसटते चले आ रहे हैं, या पाँव के पहिये लुड़काते आ रहे हैं, या मोटर में बैठ ओंघते आ रहे हैं। वे उनकी दया के पात्र रह जाते हैं, मुहब्बत के नहीं। कुम्हार का चेहरा काम के बाद चमकेगा, वज़ीर का मुरझावेगा। कुम्हार के जी में होगी कि थोड़ी देर और काम करता, वज़ीर के जी में होगी कि जरा जल्दी ही छुट्टी मिल जाती तो अच्छा होता। अंदर होता है, वही बाहर चमकता है। जो चमकता है, उसी हिसाब से स्वागत मिलता है।

जिसे काम में सुख नहीं, वही उसे खेल में ढूंढ़ेगा। वहाँ वह उसको मिल भी जायेगा। उसके लिये तो काम से बचना ही सुख है वह काम से तो किसी तरह बच जाता है, पर काम की चिंता से नहीं बच पाता। खेल में भी जी से नहीं लग पाता। वहाँ से भी सुख के लिहाज से खाली हाथ ही लौटता है।

'काम के घंटे कम करो'—यह शोर मच रहा है—और यह प्रलय के दिन तक मचता रहेगा। काम आठ घंटे की बजाय आध घंटे का भी कर दिया जाये तब भी सुख न मिलेगा। ऊपर नीचे हाथ किये जाने में आध घंटे में ही तबियत ऊब जायेगी। पाँच मिनट को भी मशीन बनने में सुख नहीं। एक मिनट की गुलामी दिन भर का खून चूस लेती है। काम के घंटे कम करने से काम न चलेगा। काम को बदलना होगा। काम अभी तक साधन बना हुआ है। उसे साधन और साध्य दोनों बनना होगा।

चार मील सर पर दूध रख, बाज़ार पहुँच, हलवाई को बेच और बदले में रबड़ी खाने में वह सुख नहीं है, जो घर पर उसी दूध की रबड़ी बना कर खाने में है। साधन को साध्य में बदलते ही सुख मिल सकेगा और वही सच्चा सुख होगा।

बिना समझे-सोचे पहिया घुमाये जाना, हथौड़ा चलाये जाना, तार काटे जाना, काग़ज़ उठाये जाना, उजड्डपन या पागलपन के काम हैं। इनको मिल-मालिक भला और समझदारी का काम बताते हैं और नाज, तरकारी और फल उगाने के शानदार काम को बेअक़्ली और नासमझी का बताते हैं। खूब! किया उन्होंने दोनों में से एक नहीं।

पेट भरने के लिए मेहनत की जाती है। यह सच है, पर इसमें एक-चौथाई सचाई है। तीन-चौथाई सचाई इसमें है कि हम मेहनत इसलिए करते हैं कि हम जीते रहें और आनन्द के साथ ज़िन्दगी बिता सकें और गुलामी का ग़लीज धब्बा अपनी ज़िन्दगी की चादर पर न लगने दें। हम पेट भरने के लिए हलवा बनायें, यह ठीक है; पर हम ही उसको खायें-खिलावें, यह सवा ठीक है, और हम ही उसके बनाने का आनन्द लें, यह डेढ़ ठीक है। मेहनत हमारी, उपज हमारी, तजुरबा हमारा। तब सच्चा सुख भी हमारा।

जानवर रस्सी से बंधता है, यानी जगह से बंधता है। शेर भी माँद में रह कर जगह से बंधता है। और आदमी? वह घर में रह कर जगह से बंधता है और दस बजे दफ़्तर जाकर वक्त से बंधता है। वाह रे प्राणी श्रेष्ठ! चिड़िया फुदकती फिरती है और खाती फिरती है। उसे ९-१०-११ बजने से कोई सरोकार नहीं। आदमी के अद्धे, पौवे बजते हैं, मिनटों का हिसाब रक्खा जाता है। सिकंडों की कीमत आँकी जाती है और कहा यह जाता है कि उसने जगह (Space) और वक्त (Time) दोनों पर क़ाबू पा लिया है। हमें तो ऐसा जंचता है कि वह दोनों के क़ाबू में आ गया है।

और लीजिये। हमें बाप-दादों को इज्जत रखना है और नाती-पोतों के लिए धन छोड़ जाना है, यानी स्वर्गवासियों को सुख पहुँचाना है और उनको जिन्होंने अभी जन्म भी नहीं लिया। तब हम बीच वालों को सुख कैसे मिल सकता है?

अगले-पिछलों को भूल जाना, जानवर बनना नहीं है, सच्चा आदमी बनना है। हमारे सुखी रहने में, हमारे पिछले सुखी और हमारे अगले सुखी। सुखी ही सुखी सन्तान छोड़ जाते हैं और सुखी देख कर ही स्वर्गीय सुखी होते हैं। बेमतलब की मेहनत में समय खर्च करना गुनाह है। वक़्त पूंजी है। उसे काम में खर्च करना चाहिए और ऐसे काम में जो अपने काम का हो।

सुख भोगने की ताक़त को ज़ाया करने वाले कामों में लगा कर जो वक्त जाता है, उस कमी को न गाना पूरा कर सकता है, न खेल, न बजाना पूरा कर सकता है, न तमाशा और न कोई और चीज़।

कपड़ा ख़तम कर धब्बा छुड़ाना, धब्बा छुड़ाना नहीं कहलाता। ठीक इसी तरह आदमी को निकाल कर वक़्त बचाना, वक़्त बचाना नहीं हो सकता। मिलें यही कर रही हैं। सौ आदमी की जगह दस और दस की जगह एक से काम लेकर निन्यानवे को बेकार कर रही हैं। काम में लगे एक को भी सुख से वंचित कर रही हैं। यों सौ के सौ का सुख हड़प करती जा रही हैं।

मिल और मशीन एक चीज़ नहीं। मिल आदमी के सुख को खाती है और मशीन आदमी को सुख पहुँचाती है। मशीन सुख से जनमी है, मिल शरारत से। चर्खा मशीन है, कोल्हू मशीन है, चाक मशीन है, सीने की मशीन मशीन है। मशीनें घर को आबाद करती हैं, मिलें बरबाद करती हैं। मशीन कुछ सिखाती है, मिल कुछ भुलाती है। मशीन सेवा करती है, मिल सेवा लेती है। मशीन पैदा करती है, मिल पैदा करवाती है। मशीन समाज का ढाँचा बनाती है, मिल उसी को ढाती है। मशीन चरित्र बनाती है, मिल उसको धूल में मिलाती है। मशीन गाती है, मिल चिल्लाती है। मशीन धर्मपत्नी की तरह घर में आकर बसती है, मिलें वेश्या की तरह अपने घर बुलाती हैं और खून चूस कर निकाल बाहर करती हैं। मशीन चलाने में मन हिलोरें लेता है, मिल में काम करने में मन चकराने लगता है, जी घबराने लगता है। मशीनें पुरानी हैं। हमसे हिलमिल गई हैं। मिलें नई हैं और कर्कश स्वभाव की हैं। मशीनें हमारे कहने में रहती हैं, मिलें हमारी एक नहीं सुनतीं। मतलब यह कि मशीन और मिल का कोई मुकाबला नहीं। एक देवी, दूसरी राक्षसी है।

मशीनों की पैदावार का ठीक-ठीक बटवारा होता है। मिलों का न होता है, और न हो सकता है और अगर मार-पीट कर ठीक कर दिया जाय तो तरह-तरह की दुर्गंध फैलेगी, बेकारी फैलेगी, बदकारी फैलेगी, बीमारी फैलेगी और न जाने क्या-क्या।

मशीन पर लगाया हुआ पैसा घी-दूध में बदल जाता है, मिलों पर लगाया हुआ पैसा लाठी, तलवार, बंदूक़, बम बन जाता है।

एक का सुख जिसमें है, सबका सुख उसमें है। एक को भुला कर सब के सुख की सोचना सब के दुख की सोचना है। मिलें सैकड़ों का जी दुखा कर शायद ही किसी एक को झूठा सुख दे सकती हों। झूठा सुख यों कि वे मुफ़्त का रुपया देती हैं और काफ़ी से ज्यादा धन से ऊबा देती हैं। ऊबने में सुख कहाँ ?

ऊपर बताये तरीकों से सुख मिल सकता है; पर उस सुख को वुद्धि के ज़रिये बहुत बढ़ाया जा सकता है। ज्ञान बाहिरी आराम को अन्दर ले जाकर कोने-कोने में पहुँचा देता है। अनुभव, विद्या, हिम्मत वगैरह से ज्ञान कुछ ऊँची चीज़ है। वही अपनी चीज़ है। और चीजें उससे बहुत नीची हैं। ज्ञानी आत्म-सुख खोकर जिस्मानी आराम नहीं चाहेगा। भेड़िये की तरह कुत्ते के पट्टे पर उसकी नज़र फ़ौरन पहुँचती है। उसको यह पता रहता है कि आदमी को कहाँ, किस तरह, किस रास्ते पहुँचना है। जो यह नहीं जानता वह आदमियत को नहीं जानता और फिर वह आदमी कैसा ? समझ में नहीं आता, दुनिया धन कमाने में धीरज खोकर अपने को धी-मान कैसे जाने हुए है ! वह धन की धुन में पागल बनी हुई है और उसी पागलपन का नाम उसने बुद्धिमानी रख छोड़ा है। खूब ! उसने सारे सन्त-महन्तों को महलों में ला बिठाया है, गंदी गलियों में मंदिर बना कर न जाने वे उनको क्या सिद्ध करना चाहते हैं ! ज्ञान से दुनिया इतनी दूर हट गई है कि उसके हमेशा साथ रहने वाला सुख उसकी पहचान में नहीं आता। सुख का

रूप बनाये असन्तोष उसे लुभाये फिरता है और घुमाये फिरता है। हिरन की तरह लू की लपटों को पानी मान कर दुनिया उसके पीछे-पीछे दौड़ी चली जा रही है। तुम बुद्धिमानी के साथ सुख कमाने में लगो। उसे असंतोष के पीछे दौड़ने दो।

कितना ही मूरख क्यों न हो, 'क्यों' और 'कैसे' को अपनाने से बुद्धिमान बन सकता है। अनुभव से बड़ी पाठ-शाला और कौन हो सकती है ? हाँ, दुनिया की लीक छोड़ कर अपने रास्ते थोड़ी देर भटक कर ही सीधा रास्ता मिलेगा। ध्यान रहे, आदमी को लीक-लीक चलने में कम-से-कम बुद्धि लगानी पड़ती है, पर वह लीक सुखपुरी को नहीं जाती। वह लीक असंतोष नगर को जाती है। उस ओर जाने की उसे पीढ़ियों से आदत पड़ी है। दूसरे रास्ते में ज्यादा-से-ज्यादा बुद्धि लगानी पड़ती है, ज्यादा-से-ज्यादा ज़ोर लगाना पड़ता है, वहाँ कोई पग-डंडी बनी हुई नहीं है। हर एक को अपनी बनानी पड़ती है। हाँ, उस रास्ते चल कर जल्दी ही ज्ञान-नगर दीखने लगता है और फिर हिम्मत बँध जाती है। कम ही लोग आदत छोड़ उस रास्ते पर पड़ते हैं, पर पड़ते ज़रूर हैं। जो पड़ते हैं, वे ही ज्ञान-नगर पहुँचते हैं और उसके चिर-स्थायी सुख को पाते हैं।

सुख चाहते सब हैं। बहुत पा भी जाते हैं; पर थोड़े ही उसे भोग पाते हैं। सुख ज्ञान के बिना भोगा नहीं जा सकता। असंतोष नगर की ओर जो बहुत बढ़ चुके हैं वे सुन कर भी नहीं सुनते और जान कर भी नहीं जानते। उन्हें भेद भी कैसे बताया जाय, क्योंकि वे भेद जानने की इच्छा ही नहीं रखते। भगवान बुद्ध पर उसका राजा बाप तरस खा सकता था, पाँव छू सकता था, बढ़िया माल खिला सकता था, पर भेद पूछने की उसे कब सूझ सकती थी। सेठ को स्वप्न भी आयेगा तो यह आयेगा कि अमुक साधु बिना कुटी का है। उसकी कुटी बना दी जाय। उसे स्वप्न यह नहीं आ सकता कि वह साधु सुख का भेद जानता है और वह भेद उससे पूछा जाय।

ज्ञानी कहलाने वाले लोग बाज़ार की चीज़ बने हुए हैं। अख़बार उठाओ और जी चाहे जितने मँगा लो। जो बाज़ार की चीज़ बनता है, वह ज्ञानी नहीं है। वह क्या है, यह पूछना बेकार है और बताना भी बेकार है।

पैदा हुए, बढ़े, समझ आई, दुख-सुख भोगा, बच्चे पैदा किये, बूढ़े हुए और मर गये। यह है जिन्दगी। एक के लिये और सब के लिये। इसमें सुख कहाँ ? सुखी वह है, जिसने यह समझ लिया कि कैसे जीयें ? क्यों जीयें ? पर यह कौन सोचता है ? और किसे ठीक जवाब मिलता है ? मुसलमान के लिये यह बात क़ुरानशरीफ़ सोच देता है और हिन्दू के लिये वेद भगवान। फिर लोग क्यों सोचें ? कभी कोई सोचने वाला पैदा हो जाता है, पर उसका सोचा उसके काम का। तुम्हारे किस काम का। वह तुमको सोचने को कहता है। तुम उसका सोचा अपने ऊपर थोप लेते हो। थोपने से तुम्हारा अपना ज्ञान छुप जाता है। सोचने की ताक़त जाती रहती है। इस तरह दुनिया वहीं-की-वहीं बनी रहती है। पुजारी पूजा करता रहता है, सिपाही लड़ता रहता है, सेठ पैसा कमाता रहता है, नाई-धोबी सेवा करता रहता है। सोचने का रास्ता बंद हो जाता है, रूढ़ि रोग रुके-का-रुका रह जाता है। रूढ़ि रोग से अच्छा होना चमत्कार ही समझना चाहिये। रूढ़ियों में खोट निकालने लगना और भी बड़ा चमत्कार है और उन्हें सुख के रास्ते के कांटे बता देना सबसे बड़ा चमत्कार है। जिन्दगी की अलिफ-बे-ते, यानी आ-ई, यहीं से शुरू होती है।

धर्म भले ही किसी बुद्धिमान की सूझ हो, पर हिन्दू जाति, मुसलमान जाति, ईसाई जाति, जैन जाति, सिख जाति, किसी समझदार की सूझ नहीं है। यह आप उगने वाली घास की तरह उठ खड़ी हुई हैं। इनकी खाद है—कायरता, जंगलीपन, उल्टी-सीधी बातें, उजड्डपन, दब्बूपन वगैरह। आलस के पानी से यह खूब फलती-फूलती है।

रिवाजों की जड़ में, फिर वे चाहे कैसे ही हों, मूर्खता और डर के सिवाय कुछ न मिलेगा। जब किसी को इस बात का पता चल जाता है तो वह उस रिवाज को फ़ौरन तोड़ डालता है और अपनी समझ से काम लेने लगता है।

आज ही नहीं, सदा से ज्ञान पर शक (संदेह) होता आया है। कुछ धर्म पुस्तक तो उसको शैतान की चीज़ मानती हैं। जो धर्मपुस्तक ऐसा नहीं बतातीं उसके अनुयायी ज्ञान की खिल्ली उड़ाते हैं और खुले कहते हैं कि ज्ञानी दुराचारी हो सकता है और अज्ञानी भला, पर याद रहे सुखी जीवन ज्ञानी ही बिता सकता है, अज्ञानी कदापि नहीं।

ज्ञानी बेगुनाह हो सकता है, भला नहीं। भला बनने के लिये अक्ल चाहिये। वह अज्ञानी के पास कहाँ? ईंट, पत्थर निष्पाप हैं, मंदिर के भगवान भी निष्पाप हैं, पर वे कुछ भलाई नहीं कर सकते।

सब एक बराबर ज्ञान लेकर नहीं पैदा होते। हीरा भी पत्थर है और संगमरमर भी पत्थर, पर संगमरमर घिसने पर हीरा जैसा नहीं चमक सकता। पढ़ने-लिखने से समझ नहीं बढ़ती। हाँ, पहिले से ही समझ होती है तो पढ़ने-लिखने से चमक उठती है। यों सैकड़ों पढ़े-लिखे रूढ़ियों में फँस जाते हैं, वे दया के पात्र हैं। और क्या कहा जाय?

आजकल की दुनिया अक्षर और अंकों की हो रही है, यानी बी० ए० एम० ए० की या लखपतियों-करोड़पतियों की, समझदारों की नहीं। वह **सुखी जीवन में और जीवन सुख के साधनों** में कोई अन्तर करना ही नहीं जानती। दुनिया में समझदार नहीं, ऐसी बात नहीं है। वे हैं, और काफ़ी तादाद में हैं, पर वे भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और विदुर आदि की तरह अक्षरों और अंकों को बिक गये हैं। जो दो-एक बचे हैं, वे संस्थाएँ खोल कर अपने जाल में आप फँस गये हैं और उन्हीं के यानी अक्षरों और अंकों में हो गये हैं। अपनी औलाद की खातिर और मनुष्य-समाज की खातिर वे उस गुलामी से निकलें तो दुनिया बदले और दुनिया सुखी हो। याद रहे, दुनिया समझदारों की नकल करती है, अक्षरों और अंकों की नहीं। हमेशा से ऐसा होता आया है और होता रहेगा।

दुनिया असच की ओर दौड़ी चली जा रही है। कोशिश करने से बिलकुल सम्भव है कि वह सच की ओर चल पड़े।

दुनिया बुराई में फँस रही है। ज़ोर लगाने से निकल सकती है और भलाई में लग सकती है।

दुनिया दिन-पर-दिन भोंड़ी होती जा रही है। कोशिश करने से शायद सुगढ़ हो जाय।

सत्यं, शिवं, सुन्दरं के लिये भी क्या दासता न छोड़ेगी?

पैसा रोके हुये है।

समझदारों को वह कैसे रोकेगा? वे ऐसी अर्थनीति गढ़ सकते हैं, जिससे उन्हें मनचाहा काम मिलने लगे और पराधीन भी न रहें। रोटी-कपड़े ही से तो काम नहीं चलता। आत्मानंद भी तो चाहिए। बिना उस आनंद के सुख के साधनों में डूब कर भी सुख न पा सकोगे।

समाज की सेवा इसी में है कि वर्तमान अर्थनीति का जाल तोड़ डाला जाय। ज्ञानियों को नाक रगड़ना छोड़ना ही होगा और इस जिम्मेदारी को ओढ़ना ही होगा। इस विष के घड़े को फोड़ना ही होगा। अपने को बचाना अपनी सन्तान को बचाना है। मनुष्य-समाज को बचाना है। वह कुरूपी दुनिया तुम्हारे हाथों ही सुखिया बन सकती है। और किसी के बूते सुखिया न बनेगी।

पैसा ठीकरा है। वह तुम्हें क्यों रोके?

पापी पेट रोक रहा है।

पापी पेट ने समझदारों को कभी नहीं रोका। उनका जिस्म कमजोर नहीं होता। वे भूख लगने पर खाते हैं। वे काम करते हैं और खेलते जाते हैं। वे थोड़ा खाते हैं और बहुत बार नहीं खाते। वे धीरे-धीरे खाते हैं। वे कुदरती चीजें खाते हैं। जरूरत पड़ने पर हाथ की बनी भी खा लेते हैं। वे घर पर खाते हैं। वे बीमार क्यों होंगे और क्यों कमजोर?

जिस्म तुम्हारा घोड़ा है। वह तुम्हें क्यों रोकेगा! वह तो तुम्हें आगे, और आगे, ले चलने के लिये तैयार खड़ा है।

समाज रोक रहा है।

वह क्या रोकेगा? वह घास की तरह उग खड़ा हुआ जंजाल है। वह सूख चुका है। उसमें अब दम कहाँ? उसमें रिवाजों के बट हैं सही, पर वे जली रस्सी की तरह देखने भर के हैं। अँगुली लगाते बिखर जायेंगे।

समाज समझदारों को अपने रास्ते जाने देता है।

धर्म रोकता है।

धर्म आगे ढकेला करता है, रोका नहीं करता और अगर वह रोकता है तो धर्म नहीं है। धर्म के रूप में कोई रूढ़ि या रिवाज है। जो रोकता है, वह धर्म नहीं होता। वह होता है 'धर्म का डर'। धर्म खुद तोड़खानी चीज़ नहीं। वह तो बड़ी लुभावनी चीज़ है, पर धर्म के नाम पर चली रस्में बेहद डरावनी होती हैं। अगर डराती हैं तो वे। अगर रोकती हैं तो वे। उस डर को भगाने में समझ बड़ी मददगार साबित होगी।

डर हम में है नहीं। वह हम में पैदा हो जाता है या पैदा करा दिया जाता है। जो डर हम में है, वह बड़े काम की चीज़ है। वह इतना ही है जितना जानवरों में। जिन कारणों से जानवर डरते हैं, उन्हीं कारणों से हम भी। उतना डर तो हमें खतरे से बचाता है और खतरे को बरबाद करने की ताकत देता है। अचानक बंदूक़ की आवाज़ से हम आज तक उछल पड़ते हैं। हमारी हमेशा की जानी-पहचानी बिजली की चमक हमको आज भी डरा देती है। इतना डर तो काम की चीज़ है, पर जब हम भूत-प्रेत से डरने लगें, नास्तिकता से डरने लगें, नर्क से डरने लगें, मौत से डरने लगें, प्रलय से डरने लगें, तब समझना चाहिये कि हमारा डर बीमारी में बदल गया। उसके इलाज की ज़रूरत है। तिल्ली और जिगर तो काम की चीज़ें हैं, पर बड़ी तिल्ली और बड़ा जिगर बीमारियां हैं। बड़ा डर भी बीमारी है। मामूली डर हमारी हिफ़ाज़त करता है, बड़ा हुआ डर हमारा खून चूसता है। हमें मिट्टी में मिला देता है। मिट्टी में मिलने से पहिले हम उसे ही क्यों न मिट्टी में मिला दें। भूत-प्रेत आदि हैं नहीं। हमने खयाल से बना लिये हैं। जैसे हम अँधेरे में रोज़ ही तरह-तरह की शक्लें बना लेते हैं।

डरपोक को धर्म हिम्मत देता है, तसल्ली देता है, बच भागने को गली निकाल देता है। जिन्हें अपने आप सोचना नहीं आता, धर्म उनके बड़े काम की चीज़ है। सोचने वाले ना-समझदारों के लिए ही तो सोच कर रख गये हैं। सोचने समझने वालों के लिये धर्म जाल है, धोका है, छल है। धर्म आये दिन की गुत्थियों को नहीं सुलझा सकता, कभी-कभी और उलझा देता है। धर्म टाल-मटोल का अभ्यस्त है और टालमटोल में नई उलझनें खड़ा कर देता है।

सुखी बनने और समाज को सुखी बनाने के लिये यह बिलकुल ज़रूरी है कि हमारे लिये औरों के सोचे धर्म को हम अपने में से निकाल बाहर करें—उसकी रस्में, उसकी आदतें, उसकी छूत-छात, उसका नर्क-स्वर्ग, उसकी तिलक छाप, उसकी डाढ़ी-चोटी उसका धोती-पाजामा, एक न बचने दें। सचाई, भलाई और सुन्दरता की खोज में इन सब को लेकर एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

माँ बच्चे के लिये हौवा गढ़ती है। बच्चा डरता है। माँ नहीं डरती। माँ क्यों डरे। वह तो उसका गढ़ा हुआ है। महापुरुष एक ऐसी ही चीज़ हमारे लिये गढ़ जाते हैं। हम डरते हैं, वे नहीं डरते। जो दिखाई-सुनाई नहीं देता, जो समझ में नहीं आता, जो सब कहीं और कहीं नहीं बताया जाता, ऐसे एक का डर हम में बिठा दिया जाता है। धर्म साधारण ज्ञान और विज्ञान की तरह सवाल-पर-सवाल पैदा करने में काफ़ी होशियार है, पर जवाब देने या हल सोच निकालने में बहुत ही कम होशियार। वह होनी बातों को छोड़ अनहोनी में जा दाखिल होता है। धर्म की इस आदत से आम आदमियों को बड़े टोटे में रहना पड़ता है। वे जाने अनजाने अपनी अजानकारी को कबूल करना छोड़ बैठते हैं। इस ज़रा-सी, पर बड़ी भूल से आगे की तरक्की रुक जाती है। समझदार अपनी अजानकारी जानता भी है और औरों को भी कह देता है। *समझदारी की बढ़वारी में अजानकारी भी बढ़ती है,* पर इससे समझदार घबराता नहीं। खोज में निकला आदमी बीहड़ जंगलों से घबराये तो आगे कैसे बढ़े? समझदार अपने मन में उठे सवालों का काम-चलाऊ जवाब सोच लेता है, वे जवाब काम-चलाऊ ही होते हैं, पक्के नहीं। पक्केपन की मोहर तो वह उन पर तब लगाता है जब वे तजुरबे की कसौटी पर ठीक उतरते हैं।

जो जितना ज्यादा रूढ़िवादी होगा, वह उतना ही ज्यादा धर्मात्मा होगा, उतना ही ज्यादा अजानकार होगा, उतना ही ज्यादा उसे अपनी जानकारी पर भरोसा होगा। वह स्वर्ग को ऐसे बतायेगा, मानों वह अभी वहाँ से होकर आ रहा है। वह ईश्वर को ऐसे समझायेगा, मानों वह उसे ऐसे देख रहा है, जैसे हम उन्हें।

नासमझी से समझदारी की तरफ़ चलने का पहला क़दम है 'शंका करना'। शंका करना ही समझना है, अपनी नासमझी की गहराई शंका के फ़ीते से नापी जाती है। यह नापना ही समझदारी है। 'ईश्वर है' यह कह कर सचाई की खोज से भागना है। अपनी नासमझी से इन्कार करना है।

कितना सच्चा और कितना समझदार था वह, जो मरते दम तक यही कहता रहा, "यह भी ईश्वर नहीं," "यह भी ईश्वर नहीं", "यह भी ईश्वर नहीं" (नेति, नेति, नेति) उसकी तरह तुम भी खोज में मिटा दो अपने आपको, पर अजानकारी को मत छिपाओ। 'मैं नहीं जानता' कहना जिसको नहीं आता, वह सच्चा नहीं बन सकता। समाज-सेवक तो बन ही नहीं सकता।

आस्तिकता के लिये अपनी बोली में लफ़्ज़ है 'हैपन।'[1] जो यह कहता है कि मुझमें अजानकारी है, वही आस्तिक है। जो यह कहता है, "मैं नहीं जानता कि ईश्वर है" वही आस्तिक है। जो यह नहीं जानता, "ईश्वर है" और कहता है कि "ईश्वर है" वह नास्तिक है।

क्यों ?

"जो नहीं जानता कि ईश्वर है" यह वाक्य यों भी कहा जा सकता है कि जो जानता है कि ईश्वर नहीं है। "नहीं है"—यही नास्तिकता है।

मन की ज़मीन में बेजा-डर का जितना ज्यादा खाद होगा, धर्म का बीज उतनी ही जल्दी उसमें जड़ पकड़ेगा और फले-फूलेगा ?

महा-सत्ता यानी बड़ी ताक़त से चाहे हम इन्कार न भी करें, पर बड़ी शखसियत से तो इन्कार कर ही सकते हैं। व्यक्तित्व व्यक्ति की इन्द्री और मन का योगफल ही तो है। इनके बिना व्यक्तित्व कुछ रह ही नहीं जाता। अब कोई अनन्तगुण वाली शक्ति व्यक्ति नहीं हो सकती।

मनका स्वभाव है वह डर कर शेखी मारने लगता है। कहने लगता है। "मैं अजर हूँ, अमर हूँ, और न जाने क्या क्या हूँ।" धर्म की डींगों की जड़ में भी अहंकार मिल सकता है। जीवन आप ही एक बड़ी पवित्र चीज़ है। तुम वैसा मान कर आगे क्यों नही बढ़ते ? धर्म तुम्हारे मार्ग में क्यों आड़े आवे ?

आत्मा को अजर-अमर कह कर धर्म चिंता में पड़ गया कि वह इतना समय कहाँ बितायेगा। इसलिए उसको मजबूर होकर नर्क-स्वर्ग रचने पड़े, पर इन दोनों ने दुनिया का कुछ भला न किया। धर्म के लिये आये दिन के झगड़ों ने इनको सिद्ध किया है या असिद्ध, यह वे ही जानें। हिंदू मुसलमान लड़कर हिंदू स्वर्ग चले जाते हैं और मुसलमान जिन्नत। नर्क दोज़ख किसके लिये ? हिंदू मुसलमान लड़कर हिंदू मुसलमानों को नर्क भेज देते हैं और मुसलमान हिंदुओं को दोज़ख। फिर स्वर्ग, जिन्नत किसके लिये ?

फिर एक धर्म दूसरे की बातें काटता है। एक का नैतिक विधान दूसरे को मंजूर नहीं। कहना यही होगा कि ठीक विधान किसी को भी नहीं मालूम।

असल में कुछ सवाल निहायत ज़रूरी हैं और कुछ निहायत ज़रूरी से मालूम होते हैं, पर बिलकुल ग़ैरज़रूरी हैं। दुनिया ज़रूरी सवालों को छोड़ कर ग़ैर ज़रूरी के पीछे पड़ गई है। इस लिये सुख से दूर पड़ गई है और समाज-सेवा की जगह समाज की दासता में लग गई है। अपना नुकसान करती है और समाज का।

खाने पहनने का सवाल सबसे ज़रूरी है ('भूखे भजन न होय गुपाला')। इनको तो हल करना ही होगा। न हम बग़ैर खाये रह सकते हैं, न बग़ैर पहने। रहने को मकान भी चाहिये। इसके बग़ैर भी काम नहीं चलता। इनके बिना जी ही नहीं सकते। सुख की बात तो एक ओर। जीवन नहीं तो धर्म कहाँ ?

ज़रूरी से लगने वाले ग़ैर ज़रूरी सवाल हैं—

---

[1] 'है' की भाववाचक संज्ञा।

पुनर्जन्म, ईश्वर, स्वर्ग-नर्क इत्यादि। इनके हल करने की विरले ही कोशिश करते हैं और वह भी कभी-कभी। कोई-कोई इन सवालों को बहुत जरूरी समझते हैं, पर वे समझते ही हैं। कुछ करते नहीं हैं।

ईश्वर को कोई माने या न माने, आग उसे ज़रूर जलायेगी पानी उसे ज़रूर डुवायेगा। कोई ईश्वर को माने या न माने, पानी उसकी प्यास ज़रूर बुझायेगा। आग उसकी रोटी ज़रूर पकायेगी। हाँ, धर्म के ठेकेदार मानने पर भले ही न माननेवालों को कुछ सज़ा दें। अब अगर न मानने वाले का समाज से कोई आर्थिक नाता नहीं है तो समाज का धर्म उसका क्या रोक लेगा? और वह क्यों रुकेगा?

रह गया धर्म यानी सच्चा कर्तव्य। वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा साथ रहेगा। रह गया धर्म, यानी सच्चा ज्ञान। वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा रहेगा। रह गया धर्म यानी सच्ची लगन। उसे तुमसे कौन छीनेगा? यह धर्म रोकता नहीं।

धर्म वही जो हमें सुखी करे, हमें वाँधे नहीं, हमें रोके नहीं।

अब आपकी तसल्ली हो गई होगी और समाज-सेवा के मैदान में कूदने की सारी दिक्कतें भी खत्म हो चुकी होंगी और आप हर तरह यह समझ गये होंगे कि व्यक्ति जैसे अपने पैरों पर खड़ा होता जायगा और जैसे-जैसे वह अपने खाने-पहनने और रहने के लिये दूसरों पर निर्भर रहना छोड़ता जायेगा, वैसे-वैसे ही वह सुखी होता जायेगा और समाज को सुखी बनाता जायेगा।

उसके पास ऐसी चीजें ही नहीं होंगी, जिनके लिये उसे सरकार की जरूरत पड़े। हाँ, वह समाज की कुढंगी रचना के कारण कुछ दिनों सरकारी टैक्स से न बच सकेगा, पर इस से उसके सुख में ज्यादा बाधा न पड़ेगी, लेकिन जब उसकी देखा-देखी और भी वैसा करने लगेंगे तो उसकी यह दिक्कत भी कम होकर बिलकुल मिट जायेगी।

बड़ी-बड़ी संस्थाओं का हम तजुरबा कर चुके, तरह-तरह की सरकारें बना चुके, तरह-तरह के धर्मों की स्थापना कर चुके; पर व्यक्ति को कोई सुखी न बना सका। देखने के लिये आज़ाद, पर हर तरह गुलाम।

बस अपने को पूरा स्वस्थ रखने में, सब तरह प्रसन्न रहने में, भला और समझदार बनने में, अपने नियम बना कर आज़ाद रहने में और अपने ऊपर पूरा क़ाबू रखने में ही अपनों की, अपनी और समाज की सेवा है।

दिल्ली]



संस्कृति का मार्ग—समाज-सेवा

श्री भगवानदास केला

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने संस्कृति की अलग-अलग परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जो बातें या गुण मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं और पशु से ऊँचा उठाते हैं, वे संस्कृति के अंग हैं। उनके समूह को संस्कृति कहते हैं।

ममता, प्यार और सहानुभूति आदि एक सीमा तक पशुओं में भी पाई जाती है, पर आदमी से आशा की जाती है कि वह इन गुणों का उपयोग दूर-दूर तक के क्षेत्र में करे। अपने परिवार, भाईबंदों, रिश्तेदारों या जाने-पहिचाने लोगों से ही नहीं, अपने धर्म और जातिवालों से ही नहीं, अपने देश या अपने रंग के लोगों से ही नहीं—सबसे, ग़ैर धर्म और दूसरी जाति तथा पराये आदमियों से और हाँ, शत्रु तक से भी अपनेपन का परिचय दे, अपनों का-सा व्यवहार करें। जितना अधिक आदमी यह कर सकता है, उतना ही वह अधिक सुसंस्कृत है।

सुसंस्कृत होने का उपाय शिक्षा (लिखने-पढ़ने का ज्ञान) नहीं है। हाँ, शिक्षा से हमें अपनी संस्कृति का विकास करने में मदद मिल सकती है। संस्कृति के लिए हमें धन की इतनी आवश्यकता नहीं है। हाँ, धन के सदुपयोग में हम अपनी संस्कृति का परिचय दे सकते हैं। संस्कृति के लिए शारीरिक बल भी विशेष रूप से प्राप्त करना अनिवार्य नहीं है। हाँ, स्वास्थ्य की रक्षा करने से हमारी संस्कृति के रास्ते में एक बड़ी बाधा दूर हो जाती है। संस्कृति के लिए आवश्यकता है कि हम में सहानुभूति, उदारता, परोपकार की भावना इतनी विकसित हो जाय कि हम इन्हें रोजमर्रा के, हर घड़ी के, काम में अमल में लावें। ऐसा करना हमारा स्वभाव ही बन जाय। हम दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानने लगें और उसे दूर करने के लिए स्वयं कष्ट उठाने को तैयार रहें। हमारा हृदय मानव-सेवा के वास्ते बेचैन हो। हम सब प्राणियों में अपनी आत्मा का अनुभव करें। संक्षेप में सुसंस्कृत बनने के लिए आदमी को समाज-सेवा में लगना चाहिए। यही जीवन का ध्येय हो।

जिन महानुभावों ने सेवा-व्रती होकर लोक-सेवा में जीवन बिता कर महान आदर्श उपस्थित किया है, वे धन्य हैं। लेकिन खास तौर से सेवा-कार्य में लगने वाले, सेवा-कार्य को ही अपना धन्धा बना लेने वाले आदमियों की संख्या किसी देश या समाज में, कुल मिला कर, थोड़ी-सी ही हो सकती है। ज्यादातर आदमियों के लिए यह व्यावहारिक नहीं है। साधारण लोगों के लिए तो यही उपाय है कि वे जो भी काम-धन्धा करें, उसी को सेवा-भाव से करें।

उदाहरणार्थ एक लेखक किताब लिखता है। अगर उसके सामने केवल पैसा पैदा करने का ही ध्येय है तो वह वैसी ही किताब लिखेगा, जिसके ग्राहक अधिक-से-अधिक हों, चाहे उससे लोगों में साम्प्रदायिक भेदभाव बढ़े, चाहे युवकों और युवतियों के विचारों में चंचलता और उत्तेजना पैदा हो और वे भोग-विलास के शिकार बनें या चाहे उससे ठगी-मक्कारी आदि के ढंगों की जानकारी हो। इसके विरुद्ध यदि लेखक सेवा-भाव से काम करता है तो वह पाठकों की रुचि सुधारने की कोशिश करेगा, उनके सामने अच्छे आदर्श रक्खेगा, वह बहुत परिश्रम से निश्चित किये हुए विज्ञान आदि के उपयोगी सिद्धान्तों का प्रचार करेगा। ऐसा करने से चाहे उसकी पुस्तक की माँग कम हो और इसलिए उसे आमदनी कम हो, यहाँ तक कि उसे अपना गुजारा करना भी कठिन हो।

इसी तरह एक डाक्टर (या वैद्य) का विचार करें। लोभी डाक्टर को अपनी आमदनी की चिंता रहती है। मरीज़ को जल्दी अच्छा करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं रहता। वह चाहता है कि किसी तरह मरीज़ मेरा इलाज बहुत दिन तक करता रहे और मुझे फ़ीस मिलती रहे। लेकिन जब डाक्टर सेवा-भाव से काम करेगा तो वह मरीज़

को जल्दी-से-जल्दी तन्दुरुस्त करने की कोशिश करेगा और समय-समय पर ऐसे आदमियों को भी अपनी कीमती सलाह और दवाई तक देगा, जो बेचारे अपनी गरीबी के कारण किसी तरह की फ़ीस नहीं दे सकते।

अब कारखाने वाले की बात लीजिये। जब उसका उद्देश्य केवल रुपया कमाना है तो वह ग्राहकों की आँखों में धूल झोंकने की कोशिश करेगा, घटिया माल को बढ़िया बताएगा और तरह-तरह की चालाकी करके खूब मुनाफ़ा पैदा करेगा, यहाँ तक कि जनता को नुक़सान पहुँचाने वाली और उसका धन बरबाद करने वाली चीजें बनाने और उनका प्रचार करने में तनिक भी संकोच न करेगा। लेकिन अगर कारखाने वाले में सेवा-भाव है तो वह हमेशा समाज के हित का विचार करेगा। ऐसी ही चीजें बनाएगा जो लोगों के लिए बहुत उपयोगी और टिकाऊ हों। वह बढ़िया माल बनाएगा और मामूली नफ़े से बेचेगा।

इसी तरह दूसरे कामों के बारे में भी विचार किया जा सकता है। सेवा-भाव होने से हमारी कार्य-पद्धति ही बदल जायगी और हाँ, चाहे हमारी आमदनी कम रहे, हमारे मन में आनन्द रहेगा। हमें यह सन्तोष रहेगा कि हम अपने भाई-बहिनों के प्रति अपने कर्त्तव्य का भरसक पालन कर रहे हैं। इससे हमें शान्ति और सुख मिलेगा। अच्छा हो, हर नवयुक अपने पथ-प्रदर्शन के लिए प्रति सप्ताह किसी खास आदर्श का विशेष रूप से अभ्यास करे और कुछ सिद्धान्त वाक्यों को सुन्दर और मोटे अक्षरों में लिख कर अपने काम करने के कमरे में लगा ले, जिससे समय-समय पर उनकी ओर ध्यान जाता रहे। आदर्श या सिद्धान्त-वाक्यों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. लोक-सेवा ही पूजा है।

२. दूसरों से ऐसा व्यवहार करो, जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हम से करें।

३. अगर धन गया तो कुछ नहीं गया, अगर स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, अगर सदाचार गया तो सब कुछ गया।

४. दूसरों को ठगने वाला अपनी अवनति पहिले करता है।

यह तो व्यक्तियों की बात हुई। इसी तरह हर परिवार या संस्था को अपना उद्देश्य बहुत सोच-समझ कर स्थिर करना चाहिए। यही नहीं, हर जाति या राष्ट्र को भी अपने सामने मानव-सेवा का निश्चित लक्ष्य रखना चाहिए। सबको इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि उसका हर सदस्य अच्छे-अच्छे गुणों वाला हो।—सच्चा, ईमानदार, मेहनती, स्वावलंबी और लोक-सेवी। किसी देश या राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति की पहचान ही यह है कि उसके आदमी कितने योग्य और सेवा-भावी हैं।

राष्ट्रों को सोचना चाहिए कि इस समय संसार में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का भयंकर जोर है। हरेक सभ्य देश हिंसा-काण्ड में दूसरों से बाजी मार ले जाना चाहता है। ऐसे समय क्या मानवता की सेवा के लिए कुछ राष्ट्र अहिंसा और प्रेम का आदर्श रखने वाले न हों? क्या सभ्य और उन्नत कहे जाने वाले राष्ट्रों में कुछ ऐसे न मिलेंगे, जो स्वयं निस्वार्थ भाव से काम करें और दूसरों से स्वार्थ-त्याग करने की अपील करें? क्या कुछ राष्ट्र यह आदर्श न अपनायेंगे कि पूंजीवाद का अंत करो, साम्राज्यवाद को छोड़ो, संसार का हर एक देश और जाति स्वतंत्र हो, कोई किसी भी बहाने से दूसरों को अपने अधीन न करे और दूसरों का शोषण न करे? आज दिन मानव-सन्तान वर्ण-भेद और जाति-भेद से घोर कष्ट पा रही है। राष्ट्रों का आदर्श वाक्य होना चाहिए—वर्ण-भेद दूर करो, जाति-भेद मिटाओ, काला आदमी और पीला आदमी भी उसी प्रभु की सन्तान है, जिसकी सन्तान गोरा या भूरा आदमी है। सब आपस में भाई-भाई हैं। भेद-भाव मिटाओ और सबसे प्रेम करो। सबकी सेवा करो सेवा ही उन्नति, विकास, सभ्यता और संस्कृति का मार्ग है।

प्रयाग]



समाज-सेवा का आदर्श

श्री अजितप्रसाद

श्री तत्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र (अध्याय ५ सूत्र २१) में आचार्य श्रीमद् उमास्वामी ने कहा है, **"परस्परोपग्रहोजीवानाम् ।"** समस्त देहस्थ संसारी जीवों का व्यावहारिक गुण, तद्भव-स्वभाव, पर्याय-वृद्धि, कर्त्तव्य, उनके अस्तित्व का ध्येय, उनके जीवन का उद्देश्य यही है कि एक दूसरे का उपकार करें।

'तत्वार्थसूत्र' की सर्वार्थसिद्धि टीका में इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—**"स्वामी भृत्यः, आचार्य-शिष्यः, इत्येवमादिभावेति वृतिः परस्परोपग्रहो, स्वामी तावद्वित्त-त्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते । भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च । आचार्य उभयलोक फलप्रदोपदेशदर्शनेन, तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते । शिष्या अपि तंदानुकूल्यवृत्या आचार्याणामुपकाराधिकारे ।"**

श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने इस सूत्र की अंग्रेजी में टीका लिखी है— "The function of (mundane) souls is to support each other. We all depend upon one another. The peasant provides corn; the weaver clothes; and so on."

श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, अर्थप्रकाशिका आदि अन्य टीकाओं में भी इसी प्रकार इस सूत्र का अर्थ किया है। जैनमुनि उपाध्याय श्रीमद् आत्माराम महाराज द्वारा संगृहीत 'तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' में भी ऐसी ही व्याख्या पाई जाती है। शास्त्री पं० सुखलाल संघवी ने तत्त्वार्थ सूत्र-विवेचन में लिखा है—"परस्पर के कार्य में निमित्त होना यह जीवों का उपकार है। एक जीव हित या अहित द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। मालिक पैसा देकर नौकर का उपकार करता है और नौकर हित या अहित की वात कहकर या करके मालिक पर उपकार करता है। आचार्य सत्कर्म का उपदेश करके उसके अनुष्ठान द्वारा शिष्य का उपकार करता है और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है।" तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर समाज-सेवा प्राणी-मात्र का धर्म है।

प्रस्तुत प्रकरण में समाज-सेवा का क्षेत्र मनुष्य-समाज-सेवा तक सीमित समझा गया है। महाकवि आचार्य श्री रविषेण प्रणीत महापुराण जैनागमानुसार आधुनिक अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के प्रारंभ में कर्मभूमि की रचना श्री ऋषभदेव तीर्थंकर के समय में हुई। भगवान् ऋषभदेव युगादि पुरुष थे। श्रीमद् भागवत् पुराण में ऋषि वेदव्यास ने उनको नाभिराजा और मरुदेवी के पुत्र ऋषभावतार माना है और यह भी कहा है कि विष्णु भगवान के इस अवतार ने अपने सौ पुत्रों में से ज्येष्ठतम पुत्र भरत चक्रवर्ति को राज्य सिंहासनारूढ़ करके दिगम्बरीय दीक्षा और दुर्द्धर तपश्चरण के प्रभाव से परमधाम की प्राप्ति की।

कालचक्र और संसार-रचना तो अनादि और अनन्त है, फिर भी काल के उतार-चढ़ाव के निमित्त से जगत् का रूप ऐसा बदलता रहता है कि एक अपेक्षा से; पर्यायार्थिक नयसे जगत् की उत्पत्ति और संहार भी कहा जा सकता है। चौथे काल के पहिले योगभूमि की रचना इस मर्त्यलोक में थी, जिसकी रूप-रेखा उस समय स्वर्गीय जीवन से कुछ ही कम थी। उस समय के मनुष्यों की समस्त आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों द्वारा पूरी हो जाती थीं। उनको जन्म-मरण, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग, आधि-व्याधि, जरा-रोग, विषाद-दारिद्रय आदि दुःखों का अनुभव तो दूर, उनकी कल्पना भी नहीं होती थी। योगभूमि का समय बीत जाने पर कर्म-भूमि का प्रारंभ हुआ।

समाज-संगठन या समाज-सेवा का आयोजन आदिपुरुष श्री ऋषभदेव ने किया, उनके पुत्र भरत चक्रवर्ति के राज्य में समाज-सेवा का क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ और उत्तरोत्तर व्यापक ही होता गया।

मनुष्य का गर्भ से शरीरांत तक समस्त जीवन-व्यवहार समाज-सेवा ही तो है। पूर्वाचार्यों ने भारतीय समाज का जीवनक्रम धर्म का अंग बना दिया है। तीर्थंकर भगवान के गर्भ कल्याणक के समय से माता की सेवा में देवांगना लगी रहती हैं। गर्भकाल के आचार-विचार का प्रभाव गर्भस्थ जीव पर पड़ता ही है। अतः माता-पिता का कर्त्तव्य है कि स्वतः अपने आचार-विचार-शुद्धि का ध्यान रक्खे। महाभारत का कथन है कि एक समय जब अभिमन्यु गर्भ में था, अर्जुन सुभद्रा को शत्रु के चक्रव्यूह में किस प्रकार प्रवेश किया जाता है, यह बतला रहे थे कि सुभद्रा को नींद आ गई और चक्रव्यूह से बाहर निकलने की तरकीब न सुन पाई। महाभारत युद्ध में एक अवसर पर जब वीर अर्जुन अन्य स्थान पर लड़ रहे थे, कुमार अभिमन्यु गर्भ-समय-प्राप्त-ज्ञान के बल से कौरवोंका चक्रव्यूह भेद कर उसमें घुस गये, किन्तु बाहर न निकल सके और धोखे में फँस कर मारे गये।

स्वर्गीय मोहम्मद हुसैन आज़ाद रचित 'भारतीय कहानियाँ' नामक पुस्तक में लिखा है कि जब अकबर गर्भ में था, एक दिन उसकी माता अपने तलुए में सुई गोद कर सुरमा भरकर फूल बना रही थी। हुमायूं के कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया कि मैं चाहती हूँ कि मेरे पुत्र के तलुए में ऐसा ही फूल हो। कहा जाता है कि जब अकबर पैदा हुआ तो वैसा ही फूल उसके तलुए में था।

अकलंक-निकलंक की कथा तो प्रसिद्ध ही है कि माता-पिता के सदाचार का प्रभाव उन बालकों पर ऐसा पड़ा कि जब माता-पिता ने अष्टाह्निक पर्व में आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिए तो इन बालकों ने भी ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लिया और जब इनके विवाह का प्रस्ताव हुआ तो इन्होंने कह दिया कि हम तो ब्रह्मचर्य-व्रत अंगीकार कर चुके। बाल-ब्रह्मचारी रह कर, निकलंक ने धर्मार्थ प्राणों का बलिदान किया और अकलंक की उमर जिन-धर्म-प्रचार में ही व्यतीत हुई।

जन्म दिन से आठ वर्ष तक शिशु-पालन, शिक्षण माता-पिता द्वारा होता है। माता-पिता के अच्छे-बुरे, आचार-विचार, क्रिया-वर्त्ताव का गहरा प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। माता-पिता की बोलचाल बच्चा बिना सिखाए सीख जाता है। वह उसकी मातृभाषा कहलाती है। असभ्य शब्द, गाली, सभ्यवाक्य, कटुवचन, मीठा बोल, व्यंगात्मक प्रयोग, हितकर सीधी बोलचाल, प्रहारात्मक उच्च स्वर में या जल्दी-जल्दी बोलना, अथवा धीरे-धीरे स्पष्ट मन्द स्वर में, मीठे प्यारे शब्दों में बात करने की आदत, नम्रता या उद्दण्डता, बच्चा माता-पिता से बिना सिखाये स्वतः सीख जाता है। उसी को संस्कार, आदत अथवा अभ्यास कहते हैं। यह देखा जाता है कि कुछ बच्चे माता-पिता तथा कौटुम्बिक गुरुजनों को प्रातः ही प्रणाम करते हैं। उनके सामने विनय-पूर्वक उठते-बैठते हैं। आदर-श्रद्धा-सहित व्यवहार करते हैं, चरण छूते हैं, आते देख कर खड़े हो जाते हैं, स्वयं नीचा आसन ग्रहण करते हैं, विनय भाव से बैठते हैं और शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत कुछ बच्चे बिस्तर से रोते, शोर मचाते उठते हैं, आपस में लड़ते-झगड़ते, गाली-गलौज, छोटी-छोटी बातों पर छीना-झपटी, मारपीट करते रहते हैं। मुंह उठाये चले आते हैं, ऊँचे स्थान पर आ बैठते हैं, या लेट जाते हैं, गुरुजनों की शिक्षा या कथन ध्यान से नहीं सुनते और न मानते हैं। कुछ को तो यह कुटेव पड़ जाती है कि अपने लिए सदैव 'हम' शब्द का प्रयोग करते हैं और अन्य अपने बराबर या बड़ों को अनादर भाव से संबोधन करते हैं। हमेशा चिल्लाकर बोलते हैं। अपने छोटे भाई-बहनों से भी छीना-झपटी, लड़ाई-झगड़ा, कटुवचन व्यवहार करते हैं। उन बच्चों के ये बुरे संस्कार और कुटेव उमर भर उनके लिये हानिकारक और कष्टोपकारक होते हैं। माता-पिता का धर्म है कि आत्म-संयम करें, ताकि बच्चे उनका अनुसरण करें। बच्चों को धमकाना, मारना-पीटना, बुरा कहना, गाली देना, भयभीत करना, लालच देना, धोखा देना, उनसे झूठ बोलना, कदापि किसी परिस्थिति में भी उचित या क्षम्य नहीं। **"लालयेत् पंच वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्"** की कहावत ठीक एवं अनुकरणीय नहीं है। वह चाहे चाणक्य नीति हो, किन्तु धार्मिक नीति नहीं हो सकती। यदि बच्चे से भूल हो जाय, नुकसान हो जाय तो उसे समझा देना चाहिए। बच्चे की मांग सदैव पूरी करनी चाहिए। धोखा देकर टालना ठीक नहीं। प्रायः देखा जाता है कि यदि बच्चा कोई चीज मांगता है तो उसको यह कहकर टाल

दिया जाता है कि "कल ला देंगे।" दूसरे दिन जब उसकी आशा पूरी नहीं होती और फिर कल का बहाना किया जाता है तो उसके विश्वास को ठेस लगती है और फिर भी उसकी आशा पूरी न होने पर वह समझ जाता है कि मुझे धोखा दिया गया है। उसका विश्वास उठ जाता है और वह मान लेता है कि धोखा देना, झूठ बोलना ही ठीक है।

प्राचीन भारत में आठ वरस की उमर से ग्रामीण और नागरिक, सभी को, प्राथमिक श्रेणी की धार्मिक और लौकिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। बालक-बालिका सबको लिखना-पढ़ना और जीवन-निर्वाह का काम रोज़गार, दूकानदारी, वाणिज्य, असि, मसि, कृषि सिखलाना समाज का और राज्य का धार्मिक कर्त्तव्य था। शिक्षा बाजारू बिकाऊ वस्तु न थी। गुरु दानरूप शिक्षा प्रदान करता था और शिष्य विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण कर चुकने पर अपनी शक्ति के अनुसार गुरु-दक्षिणा रूप भेंट समर्पण करता था।

प्राचीन भारत इतिहास में नालंदा विश्व-विद्यालय विख्यात विद्या-केन्द्र था। चीन देश के दो विद्वान् वहाँ आये, वरसों रहे, विद्या-अध्ययन किया और पन्द्रह वरस के आत्म-अनुभव से वहाँ का विस्तीर्ण वृत्तान्त लिखा। उसी कथन के आधार पर सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने, अपनी पुस्तक "Ancient Indian Education" में नालंदा का ऐतिहासिक वर्णन लिखा है। उस पुस्तक से संक्षिप्त उद्धरण जनवरी १९४० के "Aryan Path" में प्रकाशित हुआ। १३०० वरस गुजरे। तब नालंदा में ८५०० विद्यार्थी और पन्द्रह सौ अध्यापक निवास करते थे। भारत के विविध प्रान्तों के रहने वाले तो उनमें थे ही, परन्तु चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, बुखारा, तातार देश से आये हुए विद्यार्थी भी वहाँ शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। सौ-सौ विविध विषयों पर हर रोज विवेचन होता था और रात दिन अध्यापकों और प्रौढ़ शिष्यों में पारस्परिक चर्चा रहती थी। किसी को भोजन, वस्त्र आदि किसी आवश्यक वस्तु की चिंता न थी। विद्यार्थियों से किसी रूप में फीस नहीं ली जाती थी। राज्य ने कई सौ ग्राम नालंदा विश्वविद्यालय को समर्पण कर दिये थे। सैकड़ों मन अनाज, घी, दूध आदि प्रति दिवस वहाँ पहुँचा दिया जाता था। नालंदा के स्नातकों का दुनिया भर में अपूर्व सत्कार होता था। ऐसे उच्चतम विद्याकेन्द्र में भरती हो जाना आसान काम न था। प्रार्थी की वैयक्तिक योग्यता की कड़ी परीक्षा करके १०० में २० प्रार्थी ही प्रविष्ट होने में सफल होते थे। वहाँ किसी प्रकार की सिफ़ारिश या प्रलोभन से काम नहीं चलता था। नालंदा की गगन-स्पर्शी विहार-श्रेणियों के भग्नावशेष पावापुरी के पास अब भी मौजूद हैं। उस समय की ईंट डेढ़ फुट लंबी और एक फुट चौड़ी होती थी। नालंदा के विशाल शास्त्र-भंडार के लिखित ग्रन्थ कहीं-कहीं नेपाल और तिब्बत के ग्रन्थागारों में मिल जाते हैं।

पूर्व में नालंदा और पश्चिम में तक्षशिला नाम की लोकविख्यात विद्यापीठ थी। तक्षशिला के भी भग्नावशेष विद्यमान हैं। वहाँ का अंदाजा भी नालंदा के संक्षिप्त वर्णन से लगाया जा सकता है।

वैदिक काल की शिक्षण-पद्धति का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् (प्रथम खण्ड, अध्याय ११) से विदित होता है। उपनयन संस्कार के समय कहा जाता था, "तू आज से ब्रह्मचारी हो गया, आचार्याधीन होकर वेदाध्ययन कर।" उस दिन से शिक्षा की सम्पूर्णता तक वह गुरुकुल में ही रहता था। सामान्यतया इसकी अवधि बारह वरस होती थी, किन्तु ब्रह्मचारी की वैयक्तिक योग्यतानुसार घट-बढ़ जाती थी। गुरु का अन्तिम आदेश यह होता था, "सच बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय करते रहो, सदाचार का पालन करो, ऐहिक स्वार्थाधीन होकर परमार्थ को न भूलो।"

डाक्टर देवेन्द्रचन्द्रदास गुप्त अध्यापक कलकत्ता यूनिवर्सिटी रचित 'शिक्षा की जैन पद्धति' ('Jain system of Education') में लिखा है—जैन साधु संघ के विहार धार्मिक तथा साहित्य, कला, व्यायाम आदि सांस्कृतिक शिक्षा प्रदानार्थ मगध से गुजरात और विजयनगर से कौशल तक फैले हुए थे। भिन्न धर्मानुयायी और समस्त श्रेणी के विद्यार्थी, विविध कार्य-कला-शिक्षा प्राप्ति के अर्थ उनमें प्रविष्ट हो सकते थे। आठ वरस की उमर से बालक-बालिका एक साथ शिक्षा पाते थे। विद्यार्थी की रुचि का भले प्रकार अंदाजा करके यथोचित शिक्षा दी जाती थी। प्रजा की उन्नति और उसके जीवन को सुखी बनाने के लिये राज्य की ओर से काफी सहयोग दिया जाता था। विद्यार्थी

शिक्षा और जीवन निर्वाहार्थ व्यवसाय साथ-साथ प्राप्त करते थे। धार्मिक शिक्षा में अध्यात्म, भक्ति, चित्त-नियन्त्रण, क्रिया-कांड और दैनिक क्रिया-क्रम, सब कुछ गर्भित होता था।

उस जमाने में पढ़ाई की फीस नहीं लगती थी। अध्यापक, उपाध्याय नौकरी नहीं करते थे। अपनी विद्या को वस्त्र-भोजन-प्राप्ति धनोपार्जन का साधन नहीं बनाते थे। वैद्य भिषगाचार्य फीस या दवाई के मुँहमांगे दाम नहीं लेते थे। रोगी का इलाज करना वे धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। वकालत करने का रिवाज यूनान से चला है। वकील फीस नहीं लेते थे और अब तक यह प्रथा चली आती है कि बैरिस्टर को जो कुछ दिया जाता है वह फीस नहीं, बल्कि 'समर्पण' कहा जाता है। वह व्यापारिक मामला नहीं है, सम्मानित भेंट है। उसके लिए कचहरी में नालिश नहीं हो सकती।

धर्म के नाम पर प्रजा-प्रतिष्ठा आदि धर्मानुष्ठान कराने की फीस चुका कर लेना तो बड़ा ही निंद्य कर्म समझा जाता था। प्रजा धन-धान्य-सम्पन्न, स्वस्थ, सुखी, सदाचारी और धर्मनिष्ठ थी।

इस प्रकार समाज-सेवा या प्रजा-पालन राजा का धर्म था। खेती की उपज का केवल एक नियमित निश्चित भाग समाज सेवार्थ लिया जाता था। उर्वरा वसुन्धरा की देन में राजा-प्रजा यथोचित रीति से भागीदार होते थे। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' (प्रथम सर्ग श्लोक १६) में कहा है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणामुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ १८॥

अर्थात्—(राजा दिलीप) प्रजा के हितार्थ ही कर ग्रहण करते थे। जैसे सूरज पृथ्वी से जल खींच कर हजार गुणा वापिस कर देता है।

शकुन्तला नाटक के पांचवें अंक में लिखा है—

भानुसकृद्युक्त तुरंगएव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहित भूमिभारः
षष्ठांश वृत्तेरपि धर्म एषः॥

अर्थात्—सूर्य एक बार घोड़े जोत कर बराबर चलता रहता है; हवा रात दिन बहती है; शेषनाग निरन्तर पृथ्वी का भार वहन करता है; (जो राजा) छठा हिस्सा लेकर अपनी गुजर करता है, उसका धार्मिक (कर्त्तव्य) यही है (कि निरन्तर समाज-सेवा करता रहे)।

हिन्दू साम्राज्य में राज्य-कर पैदावार का छठा भाग था। मरहठों के राज्य में वह चौथा हिस्सा हो गया, मुगल-साम्राज्य में तीसरा भाग निश्चित किया गया। अब भी देशी रियासतों में बटाई की प्रथा जारी है।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली रूप समाजसेवा का ऊपर जिकर हो चुका है। उस प्रथा की छाया मुगल साम्राज्य में सरकारी दारुल-उलूम और ग्रामों और शहरों की गली-गली में मकतबों की सूरत में मौजूद रही। शुरू अंग्रेजी राज्य में सरकारी स्कूल इस मतलब से खुले कि सरकारी काम चलाने के लिए पढ़े-लिखे नौकरों की जरूरत पूरी हो सके। स्कूल जाने के लिए प्रलोभन दिये गये। पिता जी से मैंने सुना है कि हर बालक को पुस्तक, लिखने का सामान स्कूल से दिया जाता था; फीस कुछ नहीं ली जाती थी; पारितोषिक और छात्रवृत्ति उदारता से दी जाती थी; पढ़ जाने पर वेतन अच्छा मिलता था। किन्तु दिनोंदिन सख्ती बढ़ती गई। मेरे पढ़ाई के जमाने में एम० ए० तक फ़ीस केवल तीन रुपये और कानून पढ़ने की फ़ीस एक रुपया मासिक थी। मुझे पन्द्रह रुपये छात्रवृत्ति रूप मिलते थे और बहुमूल्य अंग्रेजी कोष आदि पुस्तकें इनाम में मिलती थीं। अब तो स्थिति ही कुछ और हो गई है। परिणाम यह कि पुरानी शिक्षण-पद्धति घटती और मिटती चली गई। ठोस विद्वता का स्थान पुस्तकों ने ले लिया। किन्तु भारत की गुरुकुल शिक्षा-पद्धति विदेशों ने ग्रहण की।

गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के विनाश और अंग्रेजी पढ़ाई के फल-रूप भारतवासियों के दैनिक जीवन-व्यवहार में गहरा उलट-फेर हो गया। समाज-सेवा का आदर्श उठ गया। शिक्षित वर्ग का सत्कार घटता गया। अध्यात्म ज्ञान, चारित्रशुद्धि, सदाचारिता का लोप-सा होता गया। विलासिता, इन्द्रियभोग की लोलुपता, ईर्ष्या, छीना-झपटी आदि दुर्गुणों का प्रभाव बढ़ता गया। विद्योपार्जन ऐहिक जीवन-निर्वाह का साधन बन गया।

ऐसी परिस्थिति में कुछ देशहितैषियों ने प्राचीन गुरुकुल प्रणाली को फिर से जारी करने का विचार किया। आर्यसमाज ने कांगड़ी (हरिद्वार) में गुरुकुल की स्थापना की। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानंद) ने अपना जीवन उसके लिए समर्पण किया, समाज ने लाखों रुपया दान दिया। किन्तु समाज के प्रतिष्ठाप्राप्त लोगों ने अपने बच्चों को वहाँ नहीं भेजा और इसी त्रुटि के कारण गुरुकुल कांगड़ी भारतवर्ष की आदर्श सर्वोच्च शिक्षा संस्था न बन सकी।

मई १९११ में जैन-समाज ने हस्तिनापुर (मेरठ) में ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की। इसके लिए महात्मा भगवानदीन तथा ब्रह्मचारी गेंदन लालजी ने आत्मसमर्पण किया। समाज ने भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त दान दिया। परन्तु दुर्भाग्यवश चार वर्ष बाद, १९१५, में ही कुछ पारस्परिक वैमनस्य ऐसे बढ़ गये कि इस आश्रम के सभी संस्थापकों और मुख्य कार्यकर्ताओं को एक-एक करके आश्रम छोड़ना पड़ा। नाम के वास्ते तो ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम अब भी चौरासी (मथुरा) में चल रहा है, किन्तु जिस उद्देश्य से वह स्थापित किया गया था उसकी गन्ध भी वहाँ नहीं है।

गुजरांवाला, (पंजाब), पंचकूला (अम्बाला) व्यावर (राजपूताना) स्थानों पर जैन गुरुकुल वर्षों से चल रहे हैं मगर उनमें भी समाज के प्रतिष्ठा प्राप्त उच्च घरों के बालक प्रविष्ट नहीं होते और गुरुकुल स्थापना का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।

महात्मा गाँधी के शब्दों में "समाज सेवा का उद्देश्य मनुष्यमात्र का सर्वोदय, जगत का उत्थान है। जॉन रस्किन ने 'सर्वोदय' ('Unto this last') में लिखा है कि थोड़ों को दुःख देकर बहुतों को सुख पहुँचाने की नीति समाज-सेवा का आदर्श नहीं है। चाणक्य राजनीति जैसी है। नैतिक नियमों को पूर्णतया पालने में ही मनुष्य का कल्याण है। नौकर और मालिक, वैद्य और रोगी, अन्याय पीड़ित मनुष्य और उसके वकील, कारखानों के मालिक और श्रमजीवी मनुष्यों के बीच धन का नहीं, प्रेम का बन्धन होना चाहिए।" नीतिमान समाज-सेवी पुरुष ही देश का धन है। अन्यान्योपार्जित धन का परिणाम दुःख ही है। भोग-विलास और दूसरों को नीचा दिखाने, दबाने, दास बनाने में धन खर्च करने से गरीबी बढ़ती है।

जैन कवि द्यानतराय जी ने भी 'अकिंचन धर्म-पूजा' में कहा है, "**बहुधन बुरा हू भला कहिये लीन पर उपकार सों।**"

समाज-सेवा का मूलमन्त्र यह है, "**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**" जो बात आप खुद नहीं पसन्द करते, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ भी मत करिए। फ़ारसी में भी कहा है, "**हरचे बरख़ुद न पसंदी, बादी गरां हम मपसन्द।**" अंग्रेजी की कहावत है "Do to others as you wish that they should do unto you." अर्थात्—लेने-देने की तराजू एक ही होनी चाहिए। आजकल समाज-सेवा-भाव के अभाव में लेने के बाट-तराजू एक और देने के दूसरे हैं। अपने पराए के लिए नियम विरोधात्मक बनाये जाते हैं। जगत् की शान्ति चाहने वाला समाज-सेवक अपनी आवश्यकता के लिए समाज से कम-से-कम लेता है और उसके बदले में समाज को अपनी शक्तिभर अधिक-से-अधिक देता है। समाज-सेवा करके उसको आनन्द होता है। वह समाज-शोषण को पाप समझता है।

जैन धर्मानुयायी का तो सारा धर्म ही जैसा प्रारंभ में कहा गया है, परोपकार पर खड़ा हुआ है। गृहस्थ, व्रती-अव्रती, श्रावक, ब्रह्मचारी, ऐलक, मुनि सभी को समाज-सेवा-धर्म का पालन पूर्ण शक्ति से करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझ लेना चाहिए। जैनधर्मानुसार प्रवृत्ति से विश्व-शान्ति स्थायी और पूर्णरूपेण स्थापित हो सकती है। किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। जैनी जैनधर्म के मूल सिद्धान्त से विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं। जैनधर्म के सिद्धान्त पुस्तकों और 'जैन हितैषी' समाचार-पत्र द्वारा श्री पंडित नाथूराम प्रेमी ने समझाए और अब भी वे इसी प्रयत्न में लगे

हैं। किन्तु मिथ्यात्व का अनादि संबंध, अज्ञान मोह की प्रबलता जैनों को सीधे रास्ते पर, समाज-सेवा की सीधी सड़क पर आने से रोक रही है। श्रावक के षट् आवश्यक कर्म रूढ़ि मात्र, दिखावे, मन समझाने और आत्मवंचना के तौर पर किये जाते हैं। श्रावकों के दान की प्रणाली का प्रवाह रेतीले, बंजर मैदानों में हो रहा है। धर्म-प्रभावना के नाम पर जो द्रव्य खर्च होता है, उसका सदुपयोग नहीं होता। धर्म की हंसी होती है। जैन रथोत्सव के अवसरों पर कहीं तो सरकारी रोक लगा दी जाती है, कहीं बाजार में दूकानें बन्द हो जाती हैं और कलकत्ता जैसे लंबे और तड़क-भड़क के जलूस पर भी मैंने देखा है कि अजैन जनता पर जैनत्व का प्रभाव अथवा महत्व अंकित नहीं होता। जनता केवल तमाशे के तौर पर जलूस देखने को उसी भाव से जमा होती है, जैसे वह किसी सेठ की बरात, किसी राजा की सवारी, किसी हाकिम या किसी फौजी पलटन के जलूस को देखने कौतूहलवश एकत्र हो जाती है। कहने को दिगम्बर-श्वेताम्बर रथोत्सव सम्मिलित होता है। वास्तव में आगे श्वेताम्बरीय जुलूस निकल जाता है, तब तक दिगम्बरीय जुलूस एक नाके पर रुका रहता है। दोनों के बीच में काफी फासला होता है। अच्छा होता यदि श्वेताम्बर-दिगम्बर मूर्ति एक ही रथ में विराजमान होती। दिगम्बर-श्वेताम्बरी उपदेशक भजन-टोलियां मिली-जुली चलतीं, उपदेशी भजन स्पष्ट स्वर में जनता को सुनाये-समझाये जाते और दोनों संप्रदाय के बाजे, झंडियां, पालकियां और भक्त-जनसमूह आदि ऐसे मिले-जुले होते कि अजैन जगत् को दोनों में भेद प्रतीत न हो पाता। दोनों जुलूस एक ही स्थान पर पहुँचते और दोनों सम्प्रदाय के पंडितों के व्याख्यान, प्रीति-भोज सम्मिलित होते।

उन स्थानों में जहाँ पर्याप्त संख्या में जिनालय मौजूद हैं, नये मंदिर बनवाने, उनको सजाने और नई मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराने का शौक भी बहुत बढ़ता जा रहा है, जिसमें जैन-समाज का लाखों रुपया खर्च हो जाता है और परिणाम यह होता है कि समाज में भेद-भाव बढ़ जाता है। लोग मंदिरों में भी ममकार बुद्धि लगा लेते हैं। अपने-अपने मोहल्ले, अपनी-अपनी पार्टी, अपने-अपने दलके मंदिर अलग हो जाते हैं। समाज संगठन का ह्रास हो जाता है।

रेल की सस्ती सवारी के कारण तीर्थ-यात्रा का शौक भी बढ़ गया है। वास्तव में तीर्थयात्रा के नाम से नगरों की सैर, क्रय-विक्रय-व्यापार, विवाहादि संबंध आदि ऐहिक कार्य मुख्यतया किये जाते हैं और भावों की विशुद्धता, वैराग्य का प्रभाव, निवृत्ति मार्ग की ओर झुकाव तो विरले ही मनुष्यों को प्राप्त होता है। मंदिरों में और संस्थाओं में जो दान दिया जाता है, उसका बदला नामवरी हासिल करके अपनी शोहरत फैला कर प्राप्त कर लिया जाता है। उस दान से पुण्यप्राप्ति या कर्म-निर्जरा समझना भुलावे में पड़ना है। स्थानीय पाठशाला, पुस्तकालय, वाचनालय, औषधालय, 'चिकित्सालय, विद्यालय, अनाथालय, धर्मशाला आदि संस्था स्थापित कर के भी लोग स्वार्थ साधन करते हैं। थोड़े दिनों की ऐहिक ख्याति प्राप्त करते हैं। इन विविध संस्थाओं में साम्प्रदायिक, स्थानीय, जातीय, आत्मीय, अहंकार, ममकार का विशेष पुट रहता है। उनके समुचित प्रबंध की तरफ बहुत कम लक्ष्य दिया जाता है। ऐसी कोई विरली ही संस्था होगी, जिसमें दलबंदी, 'अधिकार प्राप्ति की भावना के दोष प्रवेश नहीं कर गए हैं। दिगम्बरीय समाज में भी तीन संस्था, महासभा, परिषद्, संघ नाम से पृथक्-पृथक् काम कर रही हैं। वास्तविक समाज-सेवा के भाव को लिए हुए जैन-समाज यदि केन्द्रीय संगठन करके समाज-सेवा भाव से प्रेरित, आत्मसमर्पण करने वाले कार्यकर्ता निर्वाचित करके प्रान्तीय, स्थानीय समाजोद्धार और धर्म-प्रचार का कार्य प्रारंभ कर दे तो समाज के कितने ही मनुष्यों को उच्चगोत्र और शायद तीर्थंकर कर्म का बंध भी हो जावे, क्योंकि तीर्थंकर-कर्म जगत-हितकर भावना का ही फल है। साधु, उपाध्याय, आचार्य, केवली, तीर्थंकर, जगत का उत्कृष्ट और अमित उपकार करते हैं और निस्पृह होकर ऐसा करते हैं। यह सब समाज-सेवा ही तो है।

गृहस्थ श्रावक के षट् आवश्यक कर्मों में दान भी है। दान समाज-सेवा ही का पर्यायवाची शब्द है। दान का अर्थ है—पर-उपकार। अन्य का भला करना। प्रत्येक अवस्था में दान देना मनुष्य का कर्तव्य, और मुख्य कर्तव्य है।

दान समझ कर ही करना चाहिए। पात्र और वस्तु के भेद से दान का फल भला और बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। हिंसा का उपकरण, छुरी, कटारी, तलवार, बंदूक दान में या उधार मांगी देना या बेचना अशुभ

कर्म-बंध का ही कारण होगा। व्याध, वधिक, बूचड़, चिड़ीमार को या लड़ाई के चलाने के लिए धन या उपकरण या सिपाही व्याज पर, या दान में, या किसी भी प्रलोभन या भय के वश होकर देना पापबंध का ही कारण होगा।

आजकल दान देना भी श्रावक जीवन में एक प्रथापूर्ति, रूढ़िपालन, वहम, मिथ्यात्व रूप रह गया है। जैनी भाई बेटा होने, बीमारी दूर होने, मुकदमा जीतने की अभिलाषा में, व्यापार वृद्धि के प्रलोभन आदि ऐहिक स्वार्थ साधनार्थ धर्म-स्थानों में घी, केसर, छत्तर, स्वस्तिका, सोना-चाँदी द्रव्य चढ़ाते हैं। नवीन मंदिर शहरों में बनवाते हैं, जहाँ काफी जैन मंदिर मौजूद हैं। बिम्ब प्रतिष्ठा कराते, गजरथ निकलवाते, रथोत्सव करवाते हैं और बहुधा स्त्रियाँ मरण समय पर अपना जेवर मंदिरों में दान कर जाती हैं। ये लोग समझते हैं कि इस प्रकार के दान से उन्होंने पुण्यप्राप्ति की। यह तो केवल भ्रम है, आत्मप्रवंचना है। संस्थाओं में बिना समझे, संस्था की सुव्यवस्था की जाँच किये बिना दान देना व्यर्थ ही होता है। सच्ची समाज-सेवा उस दान से होती है, जिसके फलस्वरूप दुःखी, दरिद्री, सहधर्मी, सदाचारी बन्धुवर्ग को आवश्यकीय सहायता मिले। धार्मिक या लौकिक लाभदायक शिक्षा का प्रसार हो। प्राचीन जैन मूर्तियों, शिलालेखों, स्तूपों, अतिशयक्षेत्रों की सुव्यवस्था तथा सुप्रबंध हो। जैन धर्म की वास्तविक प्रभावना हो, अजैन जनता पर जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़े और जैन धर्म में उन्हें श्रद्धा उत्पन्न हो। ऐसे केन्द्रीय शिक्षणालय, गुरुकुल, उदासीनाश्रम स्थापित किये जावें, जहाँ रह कर दीक्षित ब्रह्मचारी बालक सदाचार और प्रौढ़ ज्ञान की प्राप्ति करें। जहाँ के व्युत्पन्न उत्तीर्ण विद्यार्थी धनिक वर्ग के तुच्छ सेवक बन कर उदर-पालन, धन-संग्रह, या कुछ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने को ही अपना जीवनोद्देश्य न समझें। सच्चे मुनि तो निरन्तर सदुपदेश देकर उत्कृष्ट दान करते रहते हैं। उपाध्याय और आचार्य भी सदा धर्मोपदेश और आत्मानुभव का मार्ग बतलाकर महान दान करते रहते हैं। अर्हन्त भी तो दिव्यध्वनि से क्षणिक दान देते रहते हैं।

संक्षेपतः मनुष्य जीवन गृहस्थ अवस्था से व्रती, श्रावक, क्षुल्लक, ऐलक, मुनि, साधु, उपाध्याय, अर्हंत अवस्था तक बराबर समाज-सेवा में रत रहते हैं। सिद्धप्राप्ति तक समाज-सेवा मनुष्य का भारी जन्मसिद्ध अधिकार और परम कर्तव्य है। इसमें आत्मलाभ और परोपकार एक साथ दोनों सधते हैं। युद्ध, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मायाचारी, छीना-झपटी का समूल नाश होता है। संसार में शान्ति-सुख का प्रसार, विस्तार और संचालन होता है। "वसुधैव कुटुम्बकम" की कहावत चरितार्थ हो जाती है और संसार स्वर्ग बन जाता है।

संक्षेप में समाज-सेवक मनुष्य की पहचान यह है कि वह समाज से कम-से-कम ले और समाज को अधिक-से-अधिक दे। जैन साधु का लक्षण यह है कि वह ऐसा आहार भी नहीं ग्रहण करता है जो उसके निमित्त से बनाया गया हो, या जो दया भाव से दिया जाता हो। जैन-साधु भिक्षु नहीं हैं। उनको आहार की भी चाह नहीं है। वह कर्म-नाश के लिए तपश्चरण करने के अर्थ और आत्मघात के पाप से बचने के लिए जो कोई भव्य जीव भक्तिवश, सत्कार-पूर्वक, निर्दोष भोजन में से, जो उसने अपने कुटुम्ब के वास्ते बनाया है, मुनि को भक्तिसहित समर्पण करे तो खड़े-खड़े अपने हाथ में लेकर दिन में एक बार ग्रहण कर लेता है। साधु ऐसे स्थान में भी नहीं ठहरता, जो उसके लिए तैयार या खाली कराया गया हो।

शौचार्थ जल और शरीर स्थिति के लिए शुद्ध अल्प भोजन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु औषधि आदि भी जैन-साधु ग्रहण नहीं करेगा और वह सदा प्रत्येक क्षण प्रत्येक जीव को अभयदान, ज्ञानदान, उपदेश दान देता और अपने साक्षात निर्दोष दैनिक चरित्र से मोक्ष-मार्ग प्रदर्शन करता रहता है। यह समाज-सेवा का आदर्श है। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक इस आदर्श को सदैव सामने रखता हुआ, अपनी पूरी शक्ति, साहस, उदारता से अपने जीवन निर्वाह के लिए समाज से कम-से-कम लेकर समाज को अधिक से अधिक देता रहे।

श्रद्धेय पंडित नाथूराम प्रेमीजी ने अपने आदर्श जीवन से समाज-सेवा का आदर्श जैन श्रावक के लिए उपस्थित कर दिया है।

लखनऊ]

जैन-समाज के बीसवीं सदी के प्रमुख आंदोलन

श्री परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ

जैन-समाज का भूत-काल कितना आन्दोलनमय रहा है, यह तो हम नहीं जानते; किन्तु बीसवीं शताब्दी में जो खास-खास आन्दोलन हुए हैं, उन्हीं में से कुछ का उल्लेख हम इस लेख में करेंगे। बहुत समय से हमारी यह इच्छा रही है कि जैन-समाज का बीसवीं सदी का एक प्रामाणिक इतिहास लिखा जाय, लेकिन खेद है कि हमारी वह इच्छा अभी तक पूर्ण नहीं हो सकी। वस्तुतः इस इतिहास को वे ही भलीभाँति लिख सकते हैं, जिनकी आँखों के आगे जैन-समाज के ये पैंतालीस-पचास वर्ष बीते हों। इतना ही नहीं, बल्कि जिन्होंने इन दिनों में समाज के आन्दोलनों में स्वयं भाग लिया हो।

हमारी दृष्टि में इस संबंध में सबसे अधिकारी व्यक्ति बा० सूरजभान जी वकील थे। वे बीसवीं सदी के जैन-समाज के सभी आन्दोलनों के दृष्टा थे और अनेक आन्दोलनों के जन्मदाता भी। उन्होंने उस युग में, जब कि सुधार का नाम लेना भी कठिन था, ऐसे-ऐसे आन्दोलन किये जिनके संबंध में आज भी—इस विकास-युग में बड़े-बड़े सुधारक बगलें झाँकने लगते हैं। स्व० बाबू सूरजभान जी जैन-समाज के आन्दोलन-भवन की नींव की ईंट थे। वे उच्चकोटि के लेखक भी थे। यदि उनके द्वारा जैन-समाज का बीसवीं शताब्दी का इतिहास लिखा गया होता तो वह समाज के लिए अपूर्व चीज होती; किन्तु समाज का यह दुर्भाग्य है कि लाखों रुपये का प्रति वर्ष दान होने पर भी इस ओर कोई प्रयत्न न हो सका और आन्दोलनों के आचार्य बाबू सूरजभान जी चले गये।

अब हमारी दृष्टि श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमी की ओर जाती है। इस कार्य को अब वही कर सकते हैं क्योंकि उन्होंने भी बा० सूरजभान जी की भाँति जैन-समाज के इस युग के सभी आन्दोलन देखे हैं और उनमें से अधिकांश में स्वयं भाग भी लिया है। कई आन्दोलनों के वे सृष्टा भी हैं।

इधर के पचास वर्षों में जैन-समाज में कई आन्दोलन हुए हैं, जिनमें से कुछेक का परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) छापेखाने का आंदोलन

इस शताब्दी का जैन-समाज का यह प्रारंभिक एवं प्रमुख आन्दोलन था। जब जैन-ग्रंथों की छपाई शुरू हुई तो जैन-समाज में तहलका मच गया। उसके विरोध में बड़े-बड़े आन्दोलन हुए। जैन-पुस्तकों के प्रकाशकों का बहिष्कार हुआ। उस समय छपी हुई जैन-पुस्तकों को स्पर्श करने में पाप माना जाता था और उन्हें मंदिरों में ले जाने की सख्त मनाई थी। इसके पक्ष-विपक्ष में कई वर्ष तक आन्दोलन चलते रहे। स्व० बाबू सूरजभान जी, स्व० बा० ज्योतिप्रसाद जी, पं० चंद्रसेन जी वैद्य तथा उनके कुछ साथी जैन-पुस्तकें छपा-छपा कर प्रचारित कर रहे थे और जैन-समाज का बहुभाग उनसे सख्त नाराज था। उनका बहिष्कार किया गया और जैन-धर्म के विघातक के रूप में उन्हें देखा गया।

धीरे-धीरे विरोध कम होता गया। फलतः जहाँ पहले पूजा-पाठों का छपाना भी पाप माना जाता था, वहाँ बड़े-बड़े आगम-ग्रंथ भी छपने लगे। यहाँ तक कि 'जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी' संस्था की स्थापना हुई, जिसके द्वारा गोमट्टसार और राजवार्तिक आदि बीसियों ग्रंथ छपे तथा उनका सम्पादन, अनुवाद आदि उन पंडितों ने किया, जो छापे के विरोधी थे। अब तो धवल-जयधवल आदि महान आगम-ग्रंथ भी छप गये हैं। यद्यपि अब भी कुछ नगरों के किसी-किसी मंदिर में छपा हुआ शास्त्र रखने अथवा उसको गादी पर रख कर वचनिका करने की मुमानियत है,

तथापि यह केवल निष्प्राण रूढ़ि ही रह गई है। अब तो सभी छपे हुए शास्त्रों को चाव से पढ़ते हैं और उनकी उपयोगिता को अनुभव करते हैं। जिन्होंने छापे का प्रारंभिक विरोध अपनी आँखों से नहीं देखा, वे आज कल्पना भी नहीं कर सकते कि उसका रूप कितना उग्र था। उस समय ऐसा माना जाता था कि छापे का यह आन्दोलन जैन-धर्म को इस या उस पार पहुँचा देगा।

(२) दस्साओं का पूजाधिकार

दस्सा-पूजा का आन्दोलन भी बहुत पुराना है। स्व० पं० गोपालदास जी बरैया इसके प्रधान आन्दोलन-कर्त्ताओं में से थे। जिस ज़माने में उन्होंने इस आन्दोलन को प्रारंभ किया था, दस्सा-पूजाधिकार का नाम लेना भी भयंकर पाप समझा जाता था। गुरु गोपालदास जी का समाज में बड़ा ऊँचा स्थान था। वर्तमान समय में जितने भी पंडित दिखाई देते हैं, वे सब पं० गोपालदास जी के ऋणी हैं और वे उन्हें अपना गुरु या 'गुरुणांगुरु' स्वीकार करते हैं। ऐसे प्रकाण्ड सिद्धान्तज्ञ विद्वान ने जब देखा कि जैन-धर्म की उदारता को कुचल कर अदूरदर्शी समाज एक बड़े समुदाय—दस्साओं—को पूजा से रोकती है और उन्हें अपने जन्मसिद्ध अधिकार का उपभोग नहीं करने देती तो उन्होंने उसके विरोध में आन्दोलन किया और सरेआम घोषणा की कि दस्साओं को पूजन का उतना ही अधिकार है, जितना कि दस्सेतरों को।

गुरु जी की इस घोषणा से भोली-भाली जैन-समाज तिलमिला उठी। उसे उसमें धर्म डूबता दिखाई देने लगा। पण्डितों तथा धर्मशास्त्रों से अनभिज्ञ सेठ लोगों ने जैन-सिद्धान्त के मर्मज्ञ गुरु जी का विरोध किया; किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि यह आन्दोलन बहुत व्यापक बन गया।

यह झगड़ा जैन-पण्डितों और श्रीमानों के हाथों से निकल कर अदालत में पहुँचा। जैन-समाज का करीब एक लाख रुपया बर्बाद हुआ और अन्त में जैन-धर्म के सामान्य सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ न्यायाधीशों ने फ़ैसला दिया कि चूंकि रिवाज नहीं है, इसलिए दस्साओं को पूजा का अधिकार नहीं है।

इस निर्णय के बावजूद भी आन्दोलन खत्म नहीं हुआ; क्योंकि यह फ़ैसला रिवाज को लक्ष्य करके दिया गया था और रिवाज तो मूढ़ जनता के द्वारा भी प्रचलित होते हैं। रिवाज का तभी महत्व होता है, जब उसके पीछे तर्क सिद्धान्त या आगम का बल हो; लेकिन दुख है कि रूढ़ि-भक्त जैन-समाज ने जैनागम की आज्ञा की चिन्ता न करके अपनी स्थिति-पालकता के वशीभूत होकर दस्साओं को पूजा करने से रोका और वह रोक आज भी पूर्णतया नहीं हटी है। कुछ वर्ष पूर्व अ० भा० दिगम्बर जैन-परिषद् ने इस आन्दोलन को अपने हाथ में लिया था और उसके आदेशानुसार कुछ कार्यकर्त्ताओं ने उत्तर-भारत के कई नगरों का भ्रमण करके सुधार की प्रेरणा की, जिसके परिणामस्वरूप कई स्थानों पर दस्साओं ने पूजा प्रारंभ कर दी।

दस्साओं के पूजाधिकार के सिलसिले में अनेक मुकदमे अदालतों में लड़े गये और कई स्थानों पर सिर-फुटौवल तक हुई। तंग आकर कई दस्सा-परिवार दिगम्बर जैन-धर्म का त्याग करके केवल इसलिए श्वेताम्बर हो गए कि उन्हें दिगम्बर-समाज पूजाधिकार देने के लिए तैयार नहीं था।

आन्दोलन के परिणामस्वरूप समाज की मनोवृत्ति में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है; लेकिन अभी इस दिशा में प्रयत्न आवश्यक है।

(३) अंतर्जातीय विवाह

पिछले दो आन्दोलनों की भाँति एक और आन्दोलन चला, जिसे विजातीय अथवा अन्तर्जातीय विवाह-आन्दोलन कहा जाता है। यद्यपि यह आन्दोलन इस शताब्दी के प्रारंभ से ही चल रहा है, तथापि इसने अधिक ज़ोर आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व तब पकड़ा जब पं० दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ ने इसे अपने हाथ में लिया। पं० दर-

बारीलाल जी सिद्धहस्त लेखक हैं। क़रीब पाँच वर्ष तक इसी विषय को लेकर पंडित जी लिखते रहे। उनके लेखों के कारण स्थितिपालक पण्डितों में खलबली मच गई और उन्होंने विरोध में कई लेख लिखे, लेकिन उनका विशेष परिणाम नहीं निकला।

जैन-समाज के कई पत्रों ने इस आन्दोलन में भाग लिया। कुछ ने पक्ष में लिखा, कुछ ने विपक्ष में। समाज ने दोनों प्रकार के लेखों को पढ़ा और तुलना करके अधिकांश बुद्धिजीवी जनता अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में हो गई। उसी समय हमने 'विजातीय मीमांसा' पुस्तक लिखी थी, जिसमें अपने पक्ष को युक्ति और आगम-प्रमाणों से सिद्ध किया था।

अन्तर्जातीय विवाह की संगति और उपयोगिता को देख कर अनेक लोगों ने इसे क्रियात्मक रूप में परिणत कर दिया। जैन-समाज में धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह होने लगे। गुजरात प्रान्त के दिगम्बर जैनों की प्रायः सभी उपजातियों में अन्तर्जातीय विवाह होने लगे। अधिकांश मुनिराजों ने वहाँ अन्तर्जातीय विवाह करने वालों के हाथ से आहार ग्रहण किया और वहाँ किसी प्रकार की धार्मिक या सामाजिक रोक नहीं रही। अ० भा० दिगम्बर जैन-परिषद् ने इस आन्दोलन को पर्याप्त मात्रा में गति दी। यदि परिषद् के अग्रगण्य नेता और प्रमुख कार्यकर्त्ता स्वयं अपनी संतान का अन्तर्जातीय विवाह करने का आग्रह रखते तो यह आन्दोलन और भी अधिक सफल सिद्ध होता। फिर भी गत बीस वर्ष के अल्प काल में यह आन्दोलन आशातीत सफल हुआ है।

(४) जाली ग्रंथों का विरोध

स्वामी समन्तभद्र ने शास्त्र का लक्षण करते हुए बताया है कि जो आप्त के द्वारा कहा गया हो और जिसका खंडन न किया जा सके और जो पूर्वापर विरोध रहित हो, वह शास्त्र है। किन्तु दुर्भाग्य से पवित्र जैन-शास्त्रों के नाम पर कुछ स्वार्थी पक्षपाती भट्टारकों ने पूर्वाचार्यों के नाम से अथवा अपने ही नाम से अनेक जाली ग्रंथों की रचना कर डाली और वे धर्मश्रद्धा या आगमश्रद्धा के नाम पर चलने भी लगे। इसी श्रद्धावश कई सौ वर्ष तक लोगों ने यह नहीं सोचा कि जो बातें हमारे जैनधर्म सिद्धान्तों के साथ मेल नहीं खातीं, वे जिन ग्रंथों में हैं, वे हमारे शास्त्र क्योंकर हो सकते हैं ?

ऐसी स्थिति में यह साहस कौन कर सकता था कि धर्म-ग्रंथों के आसन पर आरूढ़ उन ग्रंथों को जाली कह दे अथवा उनके बारे में आशंका प्रकट करे। यदि कभी कोई दबे शब्दों में शंका करता भी तो उसे 'जिन वच में शंका न धार' वाली पंक्ति सुनाकर चुप कर दिया जाता। किन्तु इस प्रकार के जाली ग्रंथ कब तक चल सकते थे ! श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमी का 'जैन-हितैषी' पत्र निकलना प्रारंभ हुआ। उसमें स्वतंत्र और विचारपूर्ण लेख आने लगे। कुछ लेखकों ने साहस किया और जाली ग्रंथों के विरोध में लिखना प्रारंभ कर दिया। जैन-समाज में तहलका मच गया। कट्टरपंथी घबरा गये। उन्हें ऐसा लगा कि अब जैनागम का नाश हुआ ! समालोचकों के विरुद्ध लेख लिखे जाने लगे, सभाएँ होने लगीं और उनका बहिष्कार किया जाने लगा। ज्यों-ज्यों उनका विरोध हुआ, समीक्षकों का साहस बढ़ता गया, जिसके परिणामस्वरूप जाली ग्रंथों के विरुद्ध बीसों लेख लिखे गये। उनमें से माननीय श्री प्रेमी जी और महान समालोचक-परीक्षक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है।

श्रद्धेय प्रेमी जी ने क़रीब २० वर्ष पूर्व लिखा था—"वर्षा का जल जिस शुद्ध रूप में बरसता है, उस रूप में नहीं रहता। आकाश के नीचे उतरते-उतरते और जलाशयों में पहुँचते-पहुँचते वह विकृत हो जाता है। फिर भी जो वस्तु-तत्व के मर्मज्ञ हैं ....उन्हें उन सब विकृतियों से पृथक वास्तविक जल का पता लगाने में देर नहीं लगती। ....बेचारे सरल प्रकृति के लोग इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बड़े-बड़े पूज्य मुनिराजों के नाम से भी ग्रंथ बनाकर प्रचलित कर सकते हैं।"

हर्ष और सौभाग्य की बात है कि माननीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी पैनी बुद्धि और तीक्ष्ण लेखनी से ऐसे बनावटी-जाली ग्रंथों के विरोध में आज से क़रीब तीस वर्ष पूर्व तब आन्दोलन खड़ा किया था, जब लोग

'बाबा वाक्यं प्रमाणं' को ही महत्व देते थे। श्री मुख्तार साहब ने सोमसेन त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बर), अकलंक प्रतिष्ठा-पाठ, और पूज्यपाद-उपासकाचार के विरोध में युक्त्यागम संगत बीसों लेख लिखे, (जो 'ग्रंथ-परीक्षा' तीसरा भाग के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए) जिनसे समाज की आँखें खुल गईं। इससे भी पूर्व उन्होंने 'ग्रंथ-परीक्षा' के दो भाग लिखे थे, और 'जैनाचार्यों का शासन भेद' आदि पर लेख लिखे थे तथा क़रीब बारह वर्ष पूर्व 'सूर्य प्रकाश' ग्रंथ के खंडन में 'सूर्यप्रकाश परीक्षा' लिखी थी। आपके उन लेखों और पुस्तकों ने जैन-समाज का बड़ा उपकार किया और समाज की अन्धश्रद्धा मिटाकर उसे सत्पथ दिखाया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस सोमसेन 'त्रिवर्णाचार' की जिनवाणी की भाँति पूजा हो रही थी, वह श्री मुख्तार साहब के लेखों और समीक्षा पुस्तकों (ग्रंथपरीक्षा भाग ३) से घृणास्पद माना जाने लगा। यह हाल उन सभी ग्रंथों का हुआ, जिनके विरोध में मुख्तार साहब ने कुछ भी लिखा है।

अभी-अभी कुछ मुनियों एवं भट्टारकीय परम्परा वाले जैन साधुओं द्वारा पुनः नन तथा उनसे मिलते-जुलते जाली ग्रंथों का प्रचार प्रारंभ हुआ था। स्व० मुनि सुधर्मसागर जी का इसमें काफ़ी हाथ रहा है। उन्होंने 'सूर्य-प्रकाश' और 'चर्चासागर' का प्रचार किया, 'दान-विचार' और 'सुधर्मश्रावकाचार' नामक ग्रंथों की रचना की, उन्हें छपाया और प्रचारित किया, किन्तु जब उनका डट कर विरोध हुआ, समीक्षाएँ लिखी गईं तो समाज के नेत्र खुले और उन जाली ग्रंथों के प्रति घोर घृणा हो गई।

क्षुल्लक ज्ञानसागर जी (स्व० मुनि सुधर्मसागर जी) ने 'सूर्यप्रकाश' जैसे मिथ्यात्वपोषक ग्रंथ को आचार्य नेमिचन्द्रकृत बताने का अतिसाहस किया। उसका अनुवाद किया और छपवा कर उसे प्रचारित किया। श्री मुख्तार साहब ने उस के विरोध में कई लेख लिख कर उसे बिल्कुल जाली, मिथ्यात्व-पूर्ण और जैनत्व का नाशक सिद्ध कर दिया। चर्चासागर, दानविचार, और सुधर्मश्रावकाचार आदि ग्रन्थों की समीक्षाएँ हमने लिखी थीं, जिन्हें लेकर कई वर्ष तक जैन-पत्रों में चर्चा चलती रही।

हमारी पुस्तक 'चर्चासागर-समीक्षा' की भूमिका में पं० नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा था, "हमारा विश्वास है कि स्वर्गीय पं० बनारसीदास जी और पं० टोडरमल जी आदि ने जो सद्विवेक ज्ञान की ज्योति प्रकट की थी, वह सर्वथा बुझ नहीं गई है—हज़ारों-लाखों धर्मप्रेमियों के हृदय में वह आज भी प्रकाशमान है—और इसलिए हमें यह आशा करनी चाहिए कि मलिनीकृत और निर्मल जिन-शासन के भेद को समझने में उन्हें अधिक कठिनाई नहीं पड़ेगी।"

और भी बहुत से मिथ्यात्वपोषक ग्रंथ रचे गये, जिनका इस शताब्दी में खूब विरोध हुआ।

दिल्ली]



ऋग्वेद में सूर्या का विवाह

श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

ऋग्वेद हिन्दुओं का धार्मिक ग्रंथ है अथवा आर्य सभ्यता की प्राचीनतम गाथा, दोनों ही दशाओं में यह मानना पड़ेगा कि उसमें हमारी सभ्यता का उद्गम स्रोत विद्यमान है। पुरातत्त्व के विद्वानों के लिये मानव-विकास की पहेली को समझने की दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन आवश्यक है ही, पर हमारे लिये तो वह अनिवार्य है; क्योंकि हमारे राष्ट्रीय जीवन का मूलरूप उसमें मौजूद है, जिसका समझना न केवल हमारे समाज के नव निर्माण में सहायक होगा, प्रत्युत वह हमारे जीवन के लिए नवीन स्फूर्ति का सतत श्रोत भी होगा।

हमारे पारिवारिक और सामाजिक जीवन का आधार विवाह की प्रथा है। इस प्रथा के विषय में जो कुछ भी परिचय हमें ऋग्वेद से मिलता है वह हमारे लिये कितना रुचिकर और उपयोगी होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। ऋग्वेद-जैसे विस्तृत ग्रंथ में बिखरी हुई विवाह-संबंधी जितनी बातें हैं, उन सब का संचय कर उन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना महान् कार्य है। यह लेख विवाह-संबंधी मुख्य सूक्त—'सूर्यासूक्त' (मण्डल १०, सू० ८५)—के अध्ययन तक ही सीमित है। उस सूक्त से, जहाँ तक उसका अर्थ इस समय तक समझा जा सका है, विवाह-प्रथा के विषय में हमें जो परिचय मिलता है, वही इस लेख में दिखाया जायगा। ऋग्वेद आर्यों या भारत-यूरोपीय (Indo-European) परिवार का ही नहीं, प्रत्युत सारी मानव-जाति का सब से प्राचीन ग्रंथ निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। इसलिए उसमें सूर्या के विवाह का वर्णन मानव-जाति के इतिहास में विवाह का सबसे पुराना वर्णन है और इस दृष्टि से वह हमारे लिये अत्यन्त रोचक है। उस प्रागैतिहासिक काल में जो विवाह-प्रथा की झलक दिखाई देती है, आज तक भी हिन्दुओं के विवाह में वही प्रथा लगभग उसी रूप में विद्यमान है। सच तो यह है कि सूर्या आर्य-जाति की आदि वधू है और आज भी प्रत्येक आर्यवधू, जो विवाह-मण्डप में आती है, सूर्या का ही रूप है, मानों बार-बार 'सूर्या' ही हमारे सामने आती है। युगान्तरकारी राजनैतिक परिवर्तनों के बीच भी हिन्दुओं ने अपनी सामाजिक प्रथाओं को अक्षुण्ण रक्खा है, इसका इससे बड़ा प्रमाण और क्या मिल सकता है?

ऋग्वेद में सूर्या का विवाह प्राकृतिक जगत में होने वाली एक घटना का आलंकारिक रूप है,[1] जैसा कि हम आगे देखेंगे। वस्तुतः ऋग्वेद के अधिकांश देवता प्राकृतिक घटनाओं की पुरुषविध (Anthropomorphic) कल्पना के रूप में हैं, यह बात प्रायः सभी वैदिक विद्वान् स्वीकार करते हैं[2]। आलङ्कारिक होते हुए भी उस में जो विवाह सम्बन्धी वर्णन है और विशेषकर विवाह के विषय में प्रतिज्ञा-सूचक मन्त्र हैं उनमें से अधिकांश गृह्य-सूत्रों में दी हुई विवाह की पद्धति में लिये गये हैं,[3] और वे आज तक हिन्दुओं की विवाह-पद्धति में प्रचलित हैं[4]। इन ऋचाओं में विवाह के संबंध में जैसे हृदय-स्पर्शी उदात्त भाव हैं, वैसे संसार की किसी भी विवाह-पद्धति में मिलना कठिन है।

---

[1] Winternitz : Indian literature Vol. 1. P. 107.

[2] Macdonell : Sanskrit Literature p. 67 "....Process of Personification by which natural phenomena developed into gods"

[3] पारस्कर गृह्यसूत्र काण्ड १, कण्डिका: ३-८।

[4] ऋषि दयानन्द: संस्कारविधि विवाह प्रकरण। तथा षोडश संस्कार-पद्धति गोविन्द प्रसाद शास्त्री रचित (सनातन धर्मरीत्या)—विवाह प्रकरण।

यदि इस समय हमारी विवाह-पद्धति की गौरव-गंभीरता उतनी प्रभावोत्पादक नहीं तो इसका कारण संभवतः यह है कि अनेक प्रकार की विधियों के विस्तृत जंजाल में, जो कि आधुनिक समय में नीरस, निरर्थक और बहुधा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है, इन ऋचाओं का सरल सौंदर्य बिलकुल दब जाता है। यदि समयानुसार प्रभावोत्पादक और सरल विवाह-पद्धति तैयार की जाय तो इन ऋचाओं की उदात्त, ओजस्वी और सजीव भावना में विवाह का सर्वोत्कृष्ट आदर्श मिलेगा।

सूर्यासूक्त में हमें विवाह-पद्धति का परिपूर्ण चित्र नहीं मिलता, परन्तु फिर भी उस दिशा में इस सूक्त से जो परिचय प्राप्त होता है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूर्यासूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५वाँ सूक्त है। इसमें ४१ ऋचाएं हैं। इस प्रकार यह ऋग्वेद के बड़े सूक्तों में से है। इस सूक्त की ऋषि भी स्वयं सूर्या है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ऋग्वेद के और भी अनेक सूक्तों की ऋषि स्त्रियाँ हैं। इस सूक्त के देवता, जो कि विषयसूचक होते हैं, विभिन्न हैं। पहले पाँच मंत्रों में सूर्या के पति सोम का वर्णन है। इसलिए उनका देवता सोम है। अगले ११ मंत्रों में विवाह का वर्णन है। अतः उनका देवता विवाह ही है। इसी प्रकार अगली ऋचाओं में भी विवाह-संबंधी आशीर्वाद, वस्त्र आदि का वर्णन है। इसलिए उन-उन विषयों को ही इस सूक्त का देवता कहा जायगा। इस सूक्त की ऋचाओं का क्रम, पूर्वापर भाव अभी तक स्पष्ट समझ में नहीं आ सका है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि किसी वैदिक विद्वान द्वारा इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त के विशिष्ट अध्ययन का पता लेखक को नहीं मिला है। पूर्वापर भाव स्पष्ट न होने से हमें मंत्रों पर विचार करने में सूक्त का क्रम छोड़ना पड़ा है। अनेक ऋचाओं का आशय अभी तक स्पष्ट नहीं है। इसलिए केवल ऐसी ऋचाओं पर ही इस लेख में विचार किया जायगा, जो स्पष्ट रूप से विवाह-पद्धति के विषय में प्रकाश डालती हैं।

सबसे पहले सूर्या के विवाह के अलंकार की आधारभूत प्राकृतिक घटना का समझना आवश्यक है; क्योंकि जो विद्वान ऋग्वेद को प्राचीन युग की गाथा के रूप में ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं, वे भी इस सूक्त में ऐतिहासिक गाथा न मान कर इसे प्राकृतिक घटना का ही आलंकारिक वर्णन स्वीकार करते हैं। यहाँ 'सूर्या' सूर्य या सविता की पुत्री है। बहुतों के विचार में यह सविता की पुत्री 'उषा' है, परन्तु वस्तुतः यह प्रतीत होता है कि सूर्य की किरणें ही सूर्य की पुत्री 'सूर्या' के रूप में हैं। 'सोम' ऋग्वेद में साधारणतया उस वनस्पति के लिये आया है, जिससे सोमरस निकाला जाता था, परन्तु यह सोम वनस्पतियों का राजा है और चन्द्रमा को भी वनस्पतियों का राजा माना गया है। इसलिये 'सोम' शब्द चन्द्रमा के लिये भी ऋग्वेद में तथा बाद के साहित्य में आने लगा है। इस सूक्त में भी सोम शब्द चन्द्रमा के लिये है, यह सूक्त के प्रथम पाँच मंत्रों में ही स्पष्ट कर दिया गया है। प्रश्न यह है कि चन्द्रमा का सूर्य की किरणों के साथ विवाह का क्या अर्थ है? सभी जानते हैं कि चन्द्रमा सूर्य की किरणों द्वारा ही चमकता है। वैज्ञानिक बताते हैं कि चन्द्रमा बुझे हुए कोयले का एक बड़ा पिण्ड माना गया है। सूर्य की किरणों से संयुक्त होकर वह चमक उठता है, प्रकाशक और आह्लादक होता है और कवियों की कल्पना में वह अमृत से भरा हुआ सुधासमुद्र बन जाता है। यही घटना चन्द्रमा से सूर्य की किरणों का विवाह है। कितनी हृदयङ्गम कल्पना है! इसमें कितना महत्त्वपूर्ण सत्य विद्यमान है! मनुष्य का जीवन कोयले का ढेर है, नीरस है, अन्धकारमय है, निर्जीव है, किन्तु स्त्री का संयोग उसे सरस बनाता है, प्रकाश देता है और सजीव कर देता है। स्त्री पुरुष के जीवन की ज्योति है।

सूक्त के मंत्रों पर विचार करने से पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि ऋग्वेद की नारी आधुनिक हिन्दू समाज की नारी के समान निर्बल, दलित और व्यक्तित्वहीन नहीं, प्रत्युत वह गौरवशालिनी गृह की स्वामिनी है। वह वशिनी[1] सारे घर को वश में करने वाली है। इतना ही नहीं वह घर की 'सम्राज्ञी'[2] है। इससे अधिक गौरवपूर्ण अधिकार-

---

[1] ऋग्वेद १०।८५।२६।

[2] ऋग्वेद १०।८५।४६।

सूचक शब्द क्या हो सकता है ? हमारी संस्कृति में यह भावना चली आती है कि स्त्री ही घर है—'गृहिणी गृहमुच्यते' इस भावना का स्रोत भी ऋग्वेद का यह मंत्र ही है—'जायेदस्तम्'[1] (जाया+इत्+अस्तम्) अर्थात् स्त्री ही घर है। ऋग्वेद में स्त्री का यह स्वरूप आधुनिक आलोचकों की भावना से मेल नहीं खाता, क्योंकि समझा जाता है कि वैदिक आर्यों का समाज पितृतन्त्र (Patriarchic) परिवार से बना था, जिसके अनुसार स्त्री का पद हीन है। इसके विपरीत भारत में आर्यों से पहले विद्यमान द्राविड़ सभ्यता का परिवार मातृतन्त्र (Matriarchic) था, जिसमें स्त्री का स्थान पुरुष से अधिक गौरवपूर्ण है। आर्य एक स्थान पर न रहने वाले साहसप्रिय विजेता थे। इसलिये उनके समुदाय में स्त्रियों का पद उतना गौरवशाली नहीं हो सकता था, परन्तु द्राविड़ सभ्यता स्थिर जीवन की पोषक नागरिक सभ्यता थी। अतः उसमें स्त्री का पद उच्च होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दू समाज में, जो कि वैदिक आर्यों तथा द्राविड़ जाति की संस्कृति का सम्मिश्रण है, स्त्रियों का पद वैदिक संस्कृति से कुछ उच्चतर ही होना चाहिए था, परन्तु वास्तविक स्थिति इससे ठीक उल्टी है। किन-किन संस्कृतियों के संपर्क से किन-किन परिस्थितियों में भारतीय नारी का सामाजिक पद उन्नत और अवनत हुआ है, यह इतिहास के विद्यार्थियों के लिये एक जटिल समस्या है, जिसका आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

स्त्री का पद गौरवपूर्ण होते हुए भी वैदिक संस्कृति में इस प्राकृतिक तथ्य को स्वीकार किया गया है कि स्त्री पुरुष के द्वारा रक्षा और आश्रय की उपेक्षा रखती है। विवाह से पूर्व कन्या माता-पिता के आश्रय में रहने के साथ-साथ विशेषकर अपने भाई के संरक्षण में रहती है, यह वैदिक संस्कृति के 'भ्राता' शब्द की विशेष भावना है। 'भ्राता' शब्द का धात्वर्थ न केवल संस्कृत में, प्रत्युत भारत-यूरोपीय परिवार की सभी भाषाओं में (रक्षा करने वाला) अर्थात् बहिन का रक्षक है। इस प्रकार 'भ्रातृत्व' का प्रवृत्ति निमित्तक मूल अर्थ बहिन की दृष्टि से ही है। दो सगे भाइयों के बीच 'भाई' शब्द का प्रयोग गौण रूप से ही हो सकता है। उसका मौलिक प्रयोग तो बहिन की दृष्टि से होता है। इसी लिये भाई के द्वारा बहिन की रक्षा का भाव हमारी संस्कृति में ओतप्रोत है और वह मनुष्य की उदात्ततम भावनाओं में गिना जाता है। इसी दृष्टि से भाई बहिन का स्नेह अत्यन्त निष्काम और मधुरतम है तथा भाई का बहिन के प्रति कर्तव्य अति वीरोचित भावना से भरपूर है। पंजाबी भाषा में भाई के लिए 'वीर' शब्द का प्रयोग कितना सारगर्भित है। इस प्रकार ऋग्वेद की नारी जहाँ वर्तमान हिन्दू स्त्री के समान गौरवहीन और व्यक्तित्वहीन नहीं है, वहाँ आधुनिक पश्चिम की नारी के समान पुरुष की रक्षा और छाया से पृथक् स्वच्छन्द विचरने वाली स्त्री भी नहीं है।

विवाह के संबंध में पति का चुनाव एक मौलिक प्रश्न है। यह चुनाव भी न तो वर्तमान हिन्दू समाज के समान है, जिसमें कन्या और वर का कोई हाथ ही नहीं और न पश्चिम के समान है, जिसमें युवक और युवती ही सर्वेसर्वा हैं और स्वयं ही अपने लिए साथी ढूंढते हैं। ऋग्वेद के चुनाव में तीन अंश स्पष्ट दिखाई देते हैं—

(१) वर वधू का पारस्परिक चुनाव, विशेषकर कन्या का अपनी इच्छापूर्वक पति को चुनना।

(२) माता-पिता और बन्धुओं द्वारा चुनाव में सहयोग, प्रयत्न और अनुमति।

(३) सार्वजनिक अनुमति अर्थात् साधारण पड़ोसी जनता द्वारा उस संबंध की स्वीकृति।

इन तीन बातों पर प्रकाश डालने वाले सूर्यासूक्त के दो महत्त्वपूर्ण मन्त्र निम्नलिखित हैं :

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्रः पितराववृणीत पूषा॥

(ऋ० १०।८५।१४)

---

[1] ऋग्वेद १०।५३।४।

सोमो वधूयुरभदश्विवास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसंतीं मनसा सविता ददात्॥
(ऋ० १०।८५।६)

अर्थात्—

(अ) जिस समय हे अश्विन्! तुम सूर्या के विवाह का प्रस्ताव करते हुए तीन चक्रवाले रथ से आये, सब देवों ने तुम्हारे प्रस्ताव पर अनुमति दी और पुत्र पूषा (?) ने तुमको पिता के रूप में चुना।

(आ) उस समय सोम वधुयु (वधू को चाहने वाला वर) था और दोनों अश्विन् वर (यहाँ वर दूसरे अर्थ में है जैसा कि नीचे स्पष्ट किया जायगा) थे, जब कि मन से पति को चाहती हुई सूर्या को (उसके पिता) सविता ने (सोम के लिये) दिया।

इन मंत्रों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) इस विवाह में 'सूर्या' वधू है और सोम 'वधूयु' अर्थात् वधू को चाहने वाला या वरने वाला है। यहाँ 'वधूयु' शब्द प्रचलित 'वर' के अर्थ में है।

(२) दोनों अश्विन वर हैं। यह स्पष्ट है कि यहाँ वर शब्द प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में है। यहाँ 'वर' का अर्थ विवाह करने वाला नहीं है, बल्कि विवाह करने वाले वधूयु के लिये कन्या का चुनने वाला, ढूंढ़ने वाला, विवाह का प्रस्ताव लेकर जाने वाला और विवाह को निश्चय कराने वाला 'वर' है। दोनों 'अश्विन्' वर हैं, क्योंकि वे सोम के लिए कन्या को चुनते हैं। विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते हैं। पाश्चात्य व्यवहार में उनको वर का मुख्य आदमी कहा जा सकता है।

(३) अश्विन् जिस विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते हैं, जो चुनाव उन्होंने किया है, उस पर सब देव (सब जनता) जो परिवार से सम्बद्ध हैं, अपनी अनुमति देते हैं।

(४) दोनों अश्विनों के प्रस्ताव करने पर सूर्या का पिता सविता उसे स्वीकार करता है।

(५) परन्तु पिता की अनुमति तभी संभव हो सकी जब कि वधू सूर्या ने सोम को इच्छापूर्वक पति स्वीकार किया है (पत्ये शंसंतीं मनसा)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चुनाव में तीन अंश हैं—कन्या के द्वारा चुनाव, माता-पिता की स्वीकृति और जनता की अनुमति। यहाँ पूर्वोक्त १४वें मन्त्र के अन्तिम पद—'पुत्रः पितराववृणीत् पूषा' का कुछ विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा। शब्दार्थ तो यही होगा कि "पुत्र पूषा ने तुम अश्विनों को पिता के रूप में चुना"। इसका क्या मतलब हो सकता है? इस पर सायण चुप है, पर ग्रिफ़िथ लिखता है, 'पूषा' सूर्य है। उसने अश्विनों को पिता इसलिए माना कि उन्होंने उसकी लड़की के विवाह का प्रबंध किया, परन्तु यह बिलकुल अयुक्त मालूम पड़ता है, क्योंकि अश्विन्, जैसा ऊपर कहा गया है, 'सोम' की तरफ के मुख्य पुरुष हैं। उसको लड़की का पिता सविता अपना बन्धु या भाई चुन सकता है, न कि पिता; क्यों कि सविता सोम का श्वशुर पितृस्थानीय है। वह सोम के पक्षके व्यक्ति को यदि वह (सोम का) पितृस्थानीय भी हो तो उसे 'भाई' चुन सकता है, न कि पिता। वस्तुतः सायण, ग्रिफ़िथ, या अन्य टीकाकारों को इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'पूषा' शब्द सोम के लिये है, जिसका कारण कोई भी वैदिक कल्पना हो सकती है, जो कि स्पष्ट नहीं है। चाहे किसी विशेष दृष्टि से हो, पर है यह 'पूषा' शब्द सोम के लिये। जब 'अश्विन्' सोम के लिये कन्या ढूंढ़ने चलते हैं तो यह स्वाभाविक है कि सोम उन अश्विनों को अपना पिता चुने। 'पूषा' शब्द इस सूक्त में सविता के लिये नहीं हो सकता, बल्कि सोम के लिये ही है। यह बात इस सूक्त के २६वें मंत्र से भी स्पष्ट होती है। २६वें मंत्र का पहिला भाग इस प्रकार है:—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन॥ (ऋ० १०।८५।२६)

हे सूर्या (वधू) पूषा हाथ पकड़ कर तुमको यहाँ से ले जाये और दोनों अश्विन् तुमको (पति के घर) रथ से पहुँचायें।

यह तो इस सूक्त में स्पष्ट हो जाता है कि सूर्या को रथ पर बैठा कर ले जाना अश्विनों का काम है; परन्तु 'सूर्या' को हाथ पकड़ कर ले जाने वाला 'पूषा' सोम ही हो सकता है, न कि सूर्या का पिता सविता। कुछ भी हो, 'पूषा' का वास्तविक अर्थ इस सूक्त में विचारणीय है। कन्या के द्वारा स्वेच्छापूर्वक वर के चुनाव की बात ऋग्वेद में दूसरी जगह और भी स्पष्ट और कुछ अधिक जोरदार शब्दों में पाई जाती है। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के २१वें सूक्त का मन्त्र है:—

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः
स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित् ॥ ऋ १०।२१।१२

जो मंगलस्वरूपा सुन्दर वधू है, वह मनुष्यों में अपने 'मित्र' (साथी पति) को स्वयं चुनती है। यहाँ पर 'स्वयं वनुते' यह बहुत ही स्पष्ट है।

पति के चुनाव के बाद प्रश्न आता है विवाह की तिथि के निर्णय का। इस विषय में सूर्यासूक्त का १३वाँ मन्त्र इस प्रकार है :—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृणत।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुनोः पर्युह्यते ॥१०।८५।१३

सूर्या का विवाह संबंधी दहेज (वहतु) जो सविता ने दिया, पहिले ही भेजा गया; अघा (मघा) नक्षत्रों में अर्थात् (माघ मास में) गायें चलने के लिये ताड़ित की जाती हैं और अर्जुनी नक्षत्रों में (फाल्गुनी मास में) विवाह के बाद वधू को ले जाया जाता है।

इस मन्त्र से निम्न बातें हमारे सामने आती हैं :—

(१) विवाह में कन्या का पिता[1] दहेज देता है और वह दहेज विवाह से पहिले ही भेज दिया जाता है। दहेज के विषय में अधिक विचार आगे किया जायगा।

(२) 'अघासु हन्यन्ते गावः' इसका अर्थ सायण करता है कि माघ मास में दहेज में दी हुई गायें सोम के घर जाने को ताड़ित की जाती हैं, अर्थात् प्रेरित की जाती हैं। परन्तु 'राथ' (Roth) के अनुसार एक मास पूर्व होने वाले विवाह संबंधी भोज के लिये गायें मारी जाती हैं, ऐसा अर्थ है। यहाँ पहिले भाग में स्पष्ट रूप से दहेज की चर्चा है और यह बात मानी हुई है कि दहेज की मुख्य वस्तु गायें थीं, जो प्रथा जामाता को गोदान देने के रूप में आजतक विद्यमान है। इसलिए सायण का अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

(३) गायें माघ के मास में भेजी जाती हैं और विवाह उसके बाद फाल्गुन मास में होता है। फाल्गुन मास ही विवाह का समय था, या केवल सूर्या के विवाह में ही फाल्गुन मास है, यह बात विचारणीय है।

ऊपर दहेज की चर्चा आई है। ऋग्वेद में दहेज विवाह का आवश्यक अंग प्रतीत होता है। यद्यपि आजकल दहेज की प्रथा हिन्दू समाज के लिए अभिशाप रूप हो रही है, तथापि यह याद रखना चाहिये कि दहेज की प्रथा की मौलिक भावना कन्याओं के संबंध में उच्च नैतिक आदर्श को प्रकट करती है। संसार की उन प्राचीन जातियों में, जहाँ नैतिक आदर्शों का विकास नहीं हुआ था, प्रायः कन्या के विवाह में धन लेने की या दूसरे शब्दों में कन्या को बेचने की प्रथा पाई जाती है। दहेज की प्रथा ठीक उसका उल्टा रूप है।[2]

---

[1] दहेज देने का संबंध विशेषकर भाई के साथ है, ऐसा ऋग्वेद के १।१०९।२. मन्त्र से प्रतीत होता है।

[2] कुछ आलोचकों का विचार है कि दहेज की प्रथा के साथ-साथ उससे विपरीत इस प्रथा की भी झलक ऋग्वेद में मिलती है कि वर की ओर से कन्या के माता-पिता को धन दिया जाय।

मुख्य दहेज़ 'गौ' का है, जो पहिले ही भेज दिया जाता था, जैसा कि ऊपर आया है, परन्तु उसके सिवाय अन्य दहेज़ का भी वर्णन सूर्यासूक्त के ७वें मन्त्र में है :—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात् सूर्या पतिम् ॥ (ऋ० १०।८५।१।)

चित्ति (विचार या देवता विशेष) उसका तकिया था और चक्षु ही नेत्रों मे लगाने का अञ्जन या उवटन था। द्युलोक और भूमि ही सूर्या का कोष था, जब कि वह पति के घर गई।

इस मन्त्र में तो आलंकारिक वर्णन होने से दहेज की वस्तुएँ काल्पनिक हैं, पर यह प्रकट होता है कि (१) तकिया या तकिया से उपलक्षित बिस्तर (पलंग आदि) तथा (२) शृंगार सामग्री और (३) बहुत सा धन दहेज में दिया जाता था। दहेज का बहुत कुछ यही रूप अभी तक चला आ रहा है।

विवाह के समय जिस प्रकार वर के मुख्य कार्यकर्ता पुरुष अश्विन् है, उसी प्रकार कन्या की सहेलियाँ भी होती थी, जो विवाह-संस्कार में सहायता देती थी :—

रैभ्यासीदनुदेवी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ (ऋ० १०।८५।६)

रैभी (ऋचा) उसकी सहेली (अनुदेयी) नाराशंसी (ऋचा) उसको पति-घर ले जाने वाली (न्योचनी) थी और सूर्या की सुन्दर वेशभूषा गाथा ने सजाई थी।

सूर्या के विषय में तो सहेलियाँ ऋचाओं के रूप में काल्पनिक हैं, परन्तु सहेलियों का असली रूप क्या था ? सायण के अनुसार 'अनुदेवी' का अर्थ है वह सहेली, जो वधू के साथ जाती है और 'न्योचनी' जो कि सेविका के रूप में वधू के साथ में भेजी जाती है, परन्तु इन सब का वास्तविक रूप अभी तक अस्पष्ट ही है।

इसके बाद संस्कार के समय पुरोहित क्या आदेश देता था और वर-वधू का वाग्दान किस रूप में होता था, इस पर सूर्यासूक्त क्या प्रकाश डालता है, यह देखना चाहिए।

सूर्यासूक्त का पहिला मंत्र है :—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ (ऋ० १०।८५।१)

सत्य के द्वारा पृथिवी ठहरी हुई है और सत्य के द्वारा ही सूर्य ने आकाश को संभाल रक्खा है। प्रकृति के अटल सत्य नियम से आदित्य ठहरे हुए हैं और उसी से आकाश में चन्द्रमा स्थित है।

विवाह-संस्कार और दाम्पत्य जीवन की भूमिका में क्या इससे सुन्दर भाव रक्खे जा सकते है ? सारा जगत 'सत्य' पर ठहरा हुआ है और वह सत्य ही दाम्पत्य जीवन का आधार है। मानव के अन्दर भगवान का दिव्य रूप सत्य साधना ही है। जीवन भर के लिये किसी को अपना साथी चुनना मानव-जीवन की सबसे पवित्र और सबसे महत्त्वपूर्ण सत्य प्रतिज्ञा है। यह 'सत्य' ही दो हृदयों के ग्रन्थि-बन्धन का आधार है। उस सत्य को साक्षी बना कर विवाह-संस्कार का प्रारंभ होता है। यह विचित्र सी बात है कि गृह्यसूत्रों में इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र को विवाह-संस्कार मे स्थान नहीं दिया। वस्तुतः यह एक बड़ी भूल हुई है। विवाह संस्कार की प्रस्तावना मे इस वैदिक ऋचा के द्वारा उच्च मधुर स्वर में 'सत्य' का आवाहन कितना प्रभावोत्पादक होता होगा।

इसके बाद विवाह-संस्कार का प्रारंभ होता है, जिसका मुख्य रूप पुरोहित की घोषणा है, जो इस सूक्त के विशेषकर चार मन्त्रों (२४-२७) मे है। ये चारों मन्त्र अत्यन्त सारगर्भित भावों से भरे हुए हैं। यहाँ यह कह देना अनावश्यक न होगा कि इस सूक्त के सारे मन्त्रों का संबंध विशेषकर कन्या से ही है, क्योंकि विवाह-संस्कार की

मुख्य पात्र कन्या है, वर उतना नहीं; क्योंकि विवाह-संस्कार के द्वारा कन्या अपना व्यक्तित्व वर के व्यक्तित्व में मिलाती है। मन्त्र निम्नलिखित हैं :—

प्रत्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशा द्येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वां सह पत्या दधामि ॥ (ऋ० १०।८५।२४)

हे सूर्ये, मैं तुम्हें उस वरुण के पाश से छुड़ाता हूँ, जिससे सुखद सविता ने तुम्हें बांध रक्खा था। मैं तुमको जो अक्षत (सर्वथा अदूषित) हो, इस सत्य प्रतिज्ञा (ऋत) की वेदी पर पुण्य कर्म-युक्त जगत में जाने के लिये पति के साथ जोड़ता हूँ।

वह वरुण (सत्य धर्म के अधिष्ठाता देव) का बन्धन, जिससे कन्या पिता के घर बँधी हुई है, कौमार जीवन का व्रत है। विवाह के समय तक कन्या 'अरिष्टा' है, उसका पवित्र कौमार्य अक्षत है। सत्य की वेदी पर उसे पति के साथ पुरोहित ने जोड़ा है, पुण्य कर्मों के जगत में (सुकृतस्य लोके) जाने के लिये; क्योंकि पुण्य का संचय ही दाम्पत्य जीवन का आदर्श है।

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥

(ऋ० १०।८५।२५)

मैं (पुरोहित) इस कन्या को इधर से (पितृकुल से) छुड़ाता हूँ, उधर से जोड़ता हूँ, जिससे कि हे वर्षक इन्द्र, यह कन्या पुत्रवाली और भाग्यशाली हो।

इस प्रकार कन्या पितृकुल से छूटकर दृढ़ता के साथ पतिकुल में जुड़ जाती है।

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वां प्रवहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमावदासि ॥

(ऋ० १०।८५।२६)

पूषा तुम को हाथ पकड़ कर यहाँ से ले जाये और दोनों अश्विन् तुम को (पति के घर) रथ में पहुँचाएँ। तुम पति के घर जाओ, जिससे उनके घर की स्वामिनी होकर और सारे घर को वश में कर (वशिनी) अपने अधिकार (विदथ) की घोषणा करो।

पति के घर में पत्नी की मर्यादा और स्थिति क्या है, इस बात को यह मन्त्र बताता है। इस मन्त्र के तीन शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। (१) 'गृहपत्नी' (घर की स्वामिनी) (२) 'वशिनी' (सब घर को वश में रखने वाली) (३) 'विदथमावदासि' शासन अधिकार की घोषणा करने वाली (विदथ=शासन)। सायण ने 'वशिनी' का अर्थ किया है, सब घर के लोगों को वश में लाने वाली अथवा पति के वश में रहने वाली। यह स्पष्ट है कि 'वशिनी' का पिछला अर्थ वश में रहने वाली बिलकुल असंगत है और सायण ने अपने काल की परिस्थिति के अनुसार यों ही कर डाला है।

अगला मन्त्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है :—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं संसृजस्वाधा जिव्री विदथमावदाथः ॥
(ऋ० १०।८५।२७)

इस पतिकुल में तुम्हारा प्रिय सुख-सौभाग्य सन्तानों के साथ समृद्ध हो। इस घर में तुम गृहपतित्व संबंधी कर्तव्य के प्रति सजग रहो। इस पति के साथ अपने शरीर (व्यक्तित्व) को जोड़ कर एक कर दो और फिर दोनों एक होकर वृद्ध होने तक अपने अधिकार का पालन करो।

मन्त्र के पहिले भाग में सन्तानों के साथ समृद्ध होने और अपने गृह-स्वामिनी होने के कर्तव्य और अधिकार के विषय में जागरूक रहने का आदेश है। मन्त्र के दूसरे भाग में गृहस्थ जीवन के चरमनिष्कर्ष को रख दिया है। पति के साथ अपने शरीर को जोड़ना भौतिक अर्थ में नहीं, किन्तु आत्मिक अर्थ में है। (हमारे प्राचीन साहित्य में आत्मा और शरीर दोनों शब्द एक दूसरे के लिये आ जाते हैं)। इस प्रकार पति-पत्नी एक हो जाते हैं और उनके लिये उसके साथ ही सम्मिलित द्विवचन का प्रयोग बुढ़ापे तक अधिकार-पालन के विषय में आ जाता है। जब पुरोहित ने दोनों को एक कर दिया तब वह कह सकता है :—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥(ऋ० १०।८५।३६)

मैं सौभाग्य के लिये तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ, जिससे कि तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक पहुंचे। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि इन देवों ने मुझे गृहस्थ जीवन के कर्तव्य-पालन के लिये तुझे दिया है।

यहाँ पर एक बात महत्त्वपूर्ण है। 'सौभाग्य' (सोहाग) जो स्त्री के लिये सब से बड़े गौरव के रूप में हमारी सारी पिछली संस्कृति में माना गया है, इस मन्त्र के अनुसार पति के लिये भी अपेक्षित है। पति को भी पत्नी के द्वारा अपना सौभाग्य (सोहाग) चाहिये। इसलिये वैदिक संस्कृति के अनुसार यह 'सोहाग' दुतरफा है, एकतरफा नहीं। इसके बाद दोनों दम्पत्ति मिल कर प्रार्थना करते हैं :—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥
(ऋ० १०।८५।४७)

सारे देव हम दोनों के हृदयों को जोड़ कर एक कर दें और जल के देवता जल के समान हमारे हृदयों को जोड़ दें। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री[1] (देवी) हम दोनों के हृदयों को मिलाएँ।

यह इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। इसके सिवाय कई आशीर्वादात्मक मन्त्र हैं जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। निम्नलिखित मन्त्र में पुरोहित जनता से आशीर्वाद देने के लिए प्रार्थना करता है :—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत्।
सौभाग्यमस्यै दत्वा यायास्तं विपरेतन॥
(ऋ० १०।८५।३३)

अच्छे मंगलों से युक्त यह वधू है। आओ सब इसको देखो और इसे सौभाग्य (का आशीर्वाद) देकर फिर अपने अपने घरों को लौट जाओ।

इस सूक्त के ४२वें मन्त्र में बहुत सुन्दर आशीर्वाद है, जो संभवतः सारी जनता की ओर से है :—

इहैवस्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रै र्नप्तृभि र्मोदमानौ स्वेगृहे॥
(ऋ० १०।८५।४२)

तुम दोनों यहीं बने रहो। कभी परस्पर वियुक्त मत होओ और पूरी (मनुष्य जीवन की) आयु को प्राप्त होओ—पुत्रों और नातियों के साथ खेलते हुए और अपने घर में आनन्द मनाते हुए।

पुत्रों और नातियों के साथ खेलना वृद्धावस्था का सबसे बड़ा सौभाग्य है। इसके सिवाय इसी ८५वें सूक्त में

---

[1] देष्ट्री—उपदेश देने वाली; वेद की एक देवी जो केवल यहाँ ही आई है। सायण के अनुसार देष्ट्री—'दात्री फलानाम्' फल देने वाली, सरस्वती।

चार और मन्त्र (४३-४६) आशीर्वादात्मक हैं, जो सायण के अनुसार उस समय बोले जाते हैं, जब वर वधू सहित अपने घर आकर यज्ञ करता है। वे मन्त्र इस तरह हैं :—

आनः प्रजां जनयतु प्रजापति राजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे॥
(ऋ० १०।८५।४३)

अघोर चक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे॥
(ऋ० १०।८५।४४)

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
देशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥
(ऋ० १०।८५।४५)

सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥
(ऋ० १०।८५।४६)

प्रजापति हमें सन्तान दें। अर्यमा वृद्धावस्था तक मिलाये रक्खें, अमंगलों से सर्वथा रहित (हे वधू) तुम पति के घर में प्रवेश करो और घर के द्विपदों और चतुष्पदों के प्रति, अर्थात् मनुष्यों और पशुओं के प्रति कल्याणमयी होओ॥४३॥

तुम्हारे नेत्र कभी रोषपूर्ण न होवें, तुम पति का अनिष्ट न सोचो। पशुओं के प्रति (भी) कल्याणमयी तुम 'सुवर्चा' अर्थात् ओजस्विनी पर साथ ही 'सुमना' मधुर स्वभाव वाली होओ, वीरों को जन्म देने वाली, देवताओं की पूजा करने वाली, प्रसन्न स्वभाव वाली, मनुष्यों और पशुओं के प्रति कल्याणमयी होओ॥४४॥

हे वर्षक इन्द्र, इसको सुन्दर पुत्रों से युक्त सौभाग्य वाली बनाओ। उसके दश पुत्र हों और पति ग्यारहवाँ॥४५॥

हे वधू, तुम श्वशुर के ऊपर सम्राज्ञी होओ, और सास के ऊपर भी सम्राज्ञी। ननद पर सम्राज्ञी और अपने देवरों के ऊपर भी।

इन चारों मन्त्रों से वैदिक गार्हस्य जीवन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। गृहिणी सच्चे अर्थों में घर की स्वामिनी है। शासन करने के लिये उसका 'सुवर्चा' ओजस्विनी होना आवश्यक है, पर साथ ही उसे 'सुमना' प्रसन्न मधुर स्वभाव का भी होना चाहिए। अतएव ४३ और ४४वें मन्त्र का ध्रुवपद है कि "हे गृहिणी, मनुष्यों और पशुओं के प्रति कल्याणमयी होओ।"

इस प्रकार विवाह-संस्कार-संबंधी सभी मुख्य-मुख्य मन्त्रों पर दृष्टिपात किया गया है। यह कह देना आवश्यक है कि इस सूक्त के तीन अंश हम बिना विचार किए छोड़ देते हैं, क्योंकि उनके लिए न तो इस लेख में जगह है और न उन बातों पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश ही पड़ सका है। वे अंश निम्नलिखित हैं:—

(१) सूर्या का रथ पर बैठ कर पति के घर जाना, इसका वर्णन इस सूक्त के १२, २० और ३२वें मन्त्र में है।

(२) सूर्या रूप वधू का सोम, गन्धर्व और अग्नि के द्वारा मनुष्य पति को पाना और विशेषकर विश्वावसु गन्धर्व का इस विषय में कार्य (२१-३२; ३८-४१ मन्त्रों में)।

(३) वधू के वस्त्रों के संबंध में कृत्या का वर्णन, जो कि अभी तक बिल्कुल अस्पष्ट है (२८-३१, ३४, ३५ मन्त्रों में)।

मेरठ]

भारतीय नारी की वर्तमान समस्याएँ

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

पिछले पच्चीस वर्षों में भारतीय नारी जगत में जो जाग्रति हुई है, वह बड़े महत्व की है। यह जाग्रति कुछ अंश में संसार की गतिविधि के परिवर्तन से और कुछ अंश में भारतीय जनता में राजनैतिक उत्तेजना के कारण, जिसका नारी-समाज के उत्थान में काफी हाथ है, हुई है। देश के स्वतन्त्रता-युद्ध ने स्त्रियों के उत्थान के लिये अच्छा अवसर प्रदान किया है। देश की निरंतर पुकार ने महिलाओं को अंध-विश्वास की चहारदीवारी से बाहर निकाल कर उनके लिए बहुत काल से अवरुद्ध उन नये द्वारों को खोल दिया, जिनमें उनके विचार और कर्म का क्षेत्र बहुत विशाल है। भारतीय नारियों ने भी इस अवसर को पाकर अपनी तत्परता दिखा दी। उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया कि वे किसी भी दायित्व को सफलतापूर्वक वहन कर सकती हैं। वे सब प्रकार के दमन तथा मृत्यु तक का अडिग धैर्य के साथ स्वागत करने को तैयार हो गईं। अतः यह अवश्यंभावी था कि जिन नारियों ने स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लिया, उन्हें विजय में भी यथोचित भाग प्राप्त हो। इस क्षेत्र में कांग्रेस के द्वारा मौलिक अधिकार संबंधी प्रस्ताव-योजना में पुरुषों और स्त्रियों को समानाधिकार का भागी घोषित किया गया। इस दिशा में यह पहली महत्त्वपूर्ण बात थी। फिर देश की पुर्ननिमाण-योजना-समिति में स्त्रियों की भी एक उपसमिति बनाई गई, जिसके द्वारा वे अपनी विशेष समस्याओं तथा भविष्य की स्थिति पर विचार प्रकट करें। यह उन्नति के क्षेत्र में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके बाद एक अन्य तर्क-सम्मत प्रस्ताव यह रक्खा गया कि स्त्रियों की एक विशेष उपसमिति बनाई जाय जो इस योजना को कार्यान्वित करे, क्योंकि देश के उत्थान में स्त्रियों का वैसा ही भाग है, जैसा पुरुषों का, और जब तक स्त्रियों को राष्ट्रीय क्षेत्र में बराबर भाग नहीं दिया जाता तब तक यथेष्ट प्रयोजन की सिद्धि असंभव है। राष्ट्र-निर्माण-योजना-समिति की रिपोर्ट में कहा गया कि "इस निर्माण-योजना पर न केवल आर्थिक दृष्टियों से ही विचार करना आवश्यक है, अपितु सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना और जीवन में मानवता का समावेश भी आवश्यक बातें हैं।" इससे स्पष्ट है कि गृहस्थी की सँकड़ी चहारदीवारी से बाहर का विशाल जीवन बिना स्त्री के अपूर्ण है। गांधी जी ने इस बात को 'हरिजन' के एक अंक में इस प्रकार प्रकट किया है, "मेरा निजी विचार यह है कि जिस प्रकार मूलतः स्त्री और पुरुष एक ही हैं, उनकी समस्याएँ भी एक होनी चाहिए। दोनों में एक ही आत्मा है, दोनों एक-सा जीवन-यापन करते हैं, दोनों एक-से ही विचार रखते हैं। एक दूसरे का पूरक है। बिना एक दूसरे की सहायता के उनमें से किसी का जीवन पूर्ण नहीं हो सकता. . . .स्त्री और पुरुष दोनों के लिए जिस संस्कृति और साधारण गुणों की आवश्यकता है, वह प्रायः एक से ही हैं. . . .स्त्री पुरुष की संगिनी है और उसके समान ही मानविक शक्ति रखती है। उसे अधिकार है कि वह पुरुष के छोटे-से-छोटे कर्म में भाग ले और पुरुष के साथ-साथ वह भी स्वतन्त्रता में समानरूपेण अधिकार भागिनी हो।. . . . कठोर रीतियों के बंधन में जकड़े हुए महा अनाड़ी और क्षुद्र पुरुष भी स्त्रियों के ऊपर अपनी उस श्रेष्ठता का दंभ भरते हैं, जिसके लिये वे सर्वथा अयोग्य हैं और जो उन्हें कदापि न मिलनी चाहिए। हमारी स्त्रियों की वर्तमान दशा के कारण हमारे बहुत से उत्थान-कार्य रुक जाते हैं; हमारे बहुत से प्रयत्नों का यथेष्ट फल नहीं प्राप्त होता।. . . .स्त्री और पुरुष एक महान् युगल हैं, प्रत्येक को दूसरे की सहायता की आवश्यकता है, जिससे एक के बिना दूसरे का जीवन युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। ऊपर के कथनों से यह परिणाम निर्विवाद निकलता है कि कोई भी बात जिससे दोनों में से किसी एक की स्थिति के ऊपर धक्का पहुँचेगा, परिणामतः दोनों के लिये बराबर नाशकारी होगी।"

समाज केवल उस घरेलू जीवन का एक विकसित रूप है, जिसके ऊपर समाज की स्थिति निर्भर है। घरेलू जीवन की भांति समाज के भी बड़े कार्यों में स्त्री-पुरुष का सहयोग अवश्यंभावी है। यह सहयोग वास्तव में तभी प्राप्त हो सकता है जब स्त्री को पुरुष के साथ राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा कानून-व्यवस्था के क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हों।

किंतु भारत की वर्तमान वास्तविक स्थिति इससे बहुत भिन्न है। बहुत समय से भारतीय नारी आर्थिक दृष्टि से दूसरे के अधीन समझी गई है। उसके विविध कार्यों का आर्थिक मूल्य कुछ नहीं आँका गया है, यद्यपि अपनी अनेक सेवाओं, प्रयत्नों, परिश्रम तथा सहानुभूतिमय प्रभाव के द्वारा यह घरेलू जीवन के चलाने में पुरुष के तुल्य ही योग देती है। पुरुष ही कुटुम्ब का प्रधान और जीविका चलाने वाला माना जाता है और इससे वही सर्वेसर्वा होता है। गृहिणी का परिश्रम, जो लगातार घंटों गृहस्थी के लिए जीतोड़ उद्यम करती है, महत्त्वहीन समझा जाता है, मानों उसका श्रम पुरुष की तुलना में बिलकुल नगण्य है। यह पुराना ख्याल कि केवल पुरुष ही आर्थिक नेता है और स्त्री केवल उसकी पिछलगी है, बिलकुल भुला देना चाहिए। अब यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि स्त्री भी (सर बेवरिज के शब्दों में) "बिना वेतन पानेवाली परिचारिका" है। पुरुष और सारे समाज को यह झूठी बात मस्तिष्क से निकाल देनी चाहिए कि पुरुष स्त्री का भरण-पोषण करता है, क्योंकि इसी विचार से हमारे समाज में अनेक भ्रांत धारणाओं की सृष्टि होगई है। यदि स्त्री के विषय में वास्तविक तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय तो संपत्ति पर उसका निजी अधिकार अवश्य सिद्ध होगा। ऐसा होने से स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता की भी प्राप्ति होगी, क्योंकि फिर वह कमानेवाली तथा परिवार का पोषण करने वाली समझी जाने लगेगी।

आज हमें अपने समाज में दोहरी प्रणाली देख कर परेशानी होती है। इस प्रणाली के द्वारा, जो कठोर एकांगी तथा अनैतिक कानूनों के जरिये पुष्टि पा रही है, हमारे दैनिक जीवन का हनन हो रहा है। स्त्री के ऊपर आज पतिव्रत धर्म का बोझ लाद दिया गया है, जब कि पुरुष को बहु-विवाह का अधिकार है। यह बहुत आवश्यक है कि इस प्रकार का बंधन हटा दिया जाय और स्त्री-पुरुष दोनों के लिये विवाह-संबंधी एक-सा ही नियम हो। अनुभव से ज्ञात हुआ है कि एक-पत्नी-विवाह सबसे अच्छा है, परन्तु यदि कोई गंभीर और आवश्यक समस्या उपस्थित हो जाय तो विवाह-विच्छेद का भी अधिकार होना चाहिए। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि क़ानून दो पागल या रोगी व्यक्तियों को बिना एक-दूसरे की राय के आपस में विवाह करने का अधिकार देता है। इसके द्वारा समाज के प्रति घोर अन्याय किया जाता है। परंतु यदि दो विचारशील व्यक्ति, जिन्हें अपने अधिकारों का पूरा ज्ञान है, दोनों के हित की दृष्टि से विशेष कारणवश संबंध-विच्छेद करना चाहे, तो कानून उन्हें ऐसा करने से रोकता है और इस प्रकार वे एक विचित्र परिस्थिति में रहने को बाध्य किये जाते हैं। सिविल-मैरिज कानून के अनुसार विच्छेद का अधिकार है, परंतु उस कानून के भी नियम अनुचित रूप से जटिल बना दिये गये हैं। वर्तमान दशा में संबंध-विच्छेद के लिये लोगों को अनेक प्रकार के झूठे मामले, जैसे धर्म-परिवर्तन आदि, पेश करने पड़ते हैं। संबंध-विच्छेद को लागू न करने से या उसमें इतनी अड़चनें लगाने से यह आशा करना कि इससे वैवाहिक बंधन अवश्यमेव सुखप्रद होगा एक दुराग्रह मात्र है। स्त्री और पुरुष के लिये चरित्र संबंधी पृथक्-पृथक् नियम बना कर समाज के धर्म को पालन करने का सारा भार स्त्री पर ही डाल दिया गया है और पुरुष को स्वतंत्रता दे दी गई है कि वह चरित्र-दुर्बल या व्यभिचारी होते हुए भी क्षम्य है। समाज को यह अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए कि दो जानवरों के द्वारा खींचे जाने वाली गाड़ी का यदि सारा बोझ एक ही जानवर पर लाद दिया जाय तो वह गाड़ी ठीक प्रकार से आगे न बढ़ सकेगी। इसलिये यह अतीव आवश्यक है कि हमारे समाज के सारे नियम और उपनियम एक ही आधार पर निर्मित किये जाँय। कानून और रीति-रिवाज किसी समाज विशेष की आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर यथानुकूल बनाये जाते हैं। जब इन कानूनों का यह उद्देश्य होता है कि उनके द्वारा समाज ठीक ढंग से चलता रहे और उसमें अधिक-से-अधिक शान्ति और सुख का संचार हो तब ये कानून समाज के लिये बड़े लाभप्रद होते हैं। देश-कालानुसार इन कानूनों में परिवर्तन करना अवश्यं-

भावी होता है। विवाह-संस्कार की उत्पत्ति मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिये हुई है तथा वह सामाजिक जीवन के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक संस्था है। विवाह संस्कार का मूल स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम है, न कि उनका एक दूसरे के प्रति विराग। इसमें सम्मान और अनुग्रह वांछनीय है, न कि बल-प्रदर्शन। जिस वैवाहिक संबंध में प्रेम या सम्मान नहीं है उसका कोरा दिखाऊ गँठबंधन समाज के लिये कोई शक्ति नहीं प्रदान कर सकता। वह तो केवल एक ऐसी स्थिति उपस्थित करता है, जिसमें पति का पत्नी के ऊपर वैसा ही अधिकार रहता है, जैसा कि एक विदेशी शासक का किसी उपनिवेश के ऊपर रहता है। और जब समाज इस प्रकार पुरुषों के अविच्छिन्न अधिकारों द्वारा शासित होता रहता है तब पत्नियों के ऊपर पतियों का वैसे ही साम्पत्तिक अधिकार जारी रहता है, जैसे किसी ज़मींदार का अपनी जमीन के ऊपर। गांधी जी ने इस समस्या पर निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—"कुटुम्ब में शान्ति का होना बहुत आवश्यक है, किन्तु वह इतने ही तक नहीं समाप्त हो जाती। वैवाहिक संबंध होने पर नियमानुकूल आचरण उतना ही आवश्यक है, जितना किसी अन्य संस्था में। वैवाहिक जीवन का अभिप्राय एक-दूसरे की सुख-समृद्धि को बढ़ाने के साथ-साथ मनुष्य-जाति की सेवा करना भी है। जब पति-पत्नी में से कोई एक आचरण के नियमों को तोड़ता है, तो दूसरे को अधिकार हो जाता है कि वह वैवाहिक बंधन को तोड़ दे। यह विच्छेद नैतिक होता है, न कि दैहिक. . . .पत्नी या पति उक्त दशा में इसलिए अलग हो जाते हैं कि वे अपने इस कर्तव्य का पालन कर सकें, जिनके लिये वे विवाह-संबंध में जुड़े थे। हिंदू-शास्त्रों में पति और पत्नी को समान अधिकार वाले कहा गया है, परन्तु समय के फेर से अब हिंदू समाज में अनेक बुराइयों की सृष्टि हो गई है. . . .।"

इन बुराइयों में सबसे अधिक बर्बर पर्दे की प्रथा है, जिसके द्वारा स्त्रियों को पिंजड़े में बंद-सा कर दिया जाता है और यह ढोंग प्रदर्शित किया जाता है कि इससे समाज में उनकी लज्जा की रक्षा होती है। यहाँ गांधी जी का एक कथन फिर उद्धृत करना उचित होगा—"लज्जा या सच्चरित्रता कोई ऐसी वस्तु नहीं जो एकदम से पैदा कर दी जाय। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी को पर्दे की दीवार के भीतर बिठाकर उसमें उत्पन्न कर दी जाय। इसकी उत्पत्ति आत्मा के भीतर से होती है और वही सच्चरित्रता वास्तविक है जो सभी प्रकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष लोभ का संवरण कर सके। पुरुषों को इस योग्य बनना चाहिये कि वे अपनी स्त्रियों पर वैसे ही विश्वास कर सकें जिस प्रकार स्त्रियां पुरुषों पर विश्वास रखने के लिये बाध्य रक्खी जाती है।"

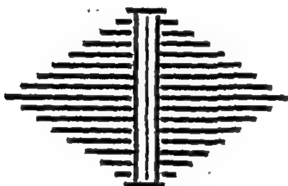
दूसरी बड़ी बुराई स्त्रियों में शिक्षा का अभाव है, जिसके कारण वे बिलकुल असमर्थ रहती हैं और उन्हें पुरुषों की नितांत अधीनता में रहना पड़ता है। यह बात बहुत जरूरी है कि जहाँ आवश्यक प्रारंभिक शिक्षा का प्रबंध है वहाँ लड़कों के साथ लड़कियों की भी शिक्षा की व्यवस्था हो। शिक्षा के होने से स्त्रियां अपने में आत्मनिर्भरता तथा स्वतंत्रता का अनुभव करेंगी और वे इस योग्य हो सकेंगी कि बड़े कार्यों और व्यवसायों के लिये भी वे अपने को दक्ष कर सकें। आज उचित शिक्षा के अभाव से अपनी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के कारण स्त्रियों का एक बहुत बड़ा समुदाय उस विशाल कार्य-क्षेत्र में भाग लेने से वंचित है, जो उनके लिये खुला हुआ है।

मातृत्व का भार, जो नारी का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है, दुर्भाग्यवश उसकी दासता का हेतु बना दिया गया है। न तो समाज ने और न राज्य ने इस बात पर समुचित विचार किया है कि माता के प्रति उनका क्या उत्तरदायित्व है। आज लाखों माताओं को बिना उनकी किसी रक्षा का प्रबंध किये हुए, इस बड़े कष्ट को वहन करना पड़ता है, जिसमें उनका तथा उनके गर्भजात शिशु का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। सहस्रों नारियाँ थोड़ी सी जीविका के लिये अपने बच्चों को बिना किसी रक्षा का प्रबंध हुए राम भरोसे घर पर छोड़ कर सारे दिन बाहर काम करती हैं। जिन देशों में मातृत्व का महत्त्व समझा जाता है वहाँ प्रत्येक स्त्री के लिये बिना उसकी आर्थिक स्थिति का विचार किये, गर्भ के समय तथा बच्चा उत्पन्न होने के बाद सभी हालतों में, अच्छे-से-अच्छे डाक्टरी इलाज का प्रबंध खास अस्पतालों में किया जाता है। बच्चों के लिये शिक्षित दाइयों तथा शिशु-शालाओं आदि की व्यवस्था की जाती है।

महिला-समाज की उन्नति का तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्री और पुरुष के लिये एक समान ढांचा गढ़ दिया जाय

और दोनों को एक ही सतह पर स्थिर कर दिया जाय, किंतु इस उन्नति का उद्देश्य जीवन को समृद्ध और बहुमुखी बनाना है और स्त्री-पुरुष में ऐसी भावनाएँ उत्पन्न कर देना है कि वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व का गौरव समझ कर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। ऐसी भावना के द्वारा समाज निश्चय ही सबल और समृद्ध बन सकेगा।

इस समय महिला-वर्ग की सभी संस्थाओं के सामने प्रमुख कार्य यह है कि वे निर्माण-योजना को कार्यन्वित कर अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करें। बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता के अन्य सारी बातें अर्थहीन हैं, परन्तु साथ-ही-साथ जब तक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष के समानाधिकार नहीं निश्चित होते तब तक राजनैतिक स्वातन्त्र्य से भी यथेष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। दोनों का गहरा अन्योन्याश्रय संबंध है। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करने के लिये गाँधीजी की निर्माण-योजना बड़ी ही व्यावहारिक और लाभप्रद सिद्ध होगी। इसके द्वारा भारतीय महिलाओं को अपना संगठन करने में, सामाजिक कार्यों के लिये अपने को शिक्षित करने में, सूत आदि कातने की घरेलू दस्तकारियों में, जन-साधारण के विचार-संवर्धन में तथा नारी-वर्ग को आत्म-निर्भर बना सकने के प्रयत्नों में बड़ी सहायता मिलेगी।



भारतीय नारी की बौद्धिक देन

श्री सत्यवती मल्लिक

सीता और सावित्री-सी सती-साध्वियों तथा भारतीय नारी के वीरतापूर्ण चरित्र की विमल गाथा, जहाँ इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से अंकित हुई है, वहाँ साहित्य, कला एवं विज्ञान आदि के क्षेत्र में उनकी गणना प्रच्छन्नाकाश में प्रायः लुप्त, तारिकाओं-सी ही रही है।

फलयुक्त वृक्ष की भांति, जिसकी विनत डालियाँ, पत्ते, फल आदि सब मूल को आच्छादित किये रहते हैं, मातृत्व एवं पत्नीत्व के आँचल तले निज व्यक्तित्व को ढके रखने में ही नारी ने अपना गौरव माना है।

चारित्रिक विकास के साथ-ही-साथ नारी के बौद्धिक विकास-संबंधी उदाहरणों को भी भावी संतति के लाभ तथा समाज-निर्माण के निमित्त प्रकाश में लाने की कितनी आवश्यकता है, चिरकाल तक जाने क्यों हमारे विद्वानों और इतिहासकारों ने इसकी उपेक्षा की!

यद्यपि न केवल स्वाभाविक प्रवृति के अनुसार रस में लीन और झूम पड़ने की क्षमता रखने, अपितु ज्योतिष, गणित, दर्शन, कला, विज्ञान, चिकित्सा आदि जहाँ भी बौद्धिक चेतना अथवा व्यक्तिगत विकास का संबंध है, युगान्तर से बाह्य-प्राचीरों द्वारा घिर कर भी इस बंदिनि की मुक्त आंतरिक निर्झरिणी को बाँध रखने की सामर्थ्य किसमें हुई है?

लीलावती, गार्गी, वाचकन्वी और पूर्व मीमांसा जैसे कठिन विषय में भाग लेने वाली कास्कृतस्नी की लेखिका कास्कृतस्ना, चिकित्सा में रुसा और चित्रकला में माणकू-सी पारंगत प्राचीन विदुषियों के नाम वर्तमान युग के लिये कितने महत्वपूर्ण हैं।

इधर साहित्य में हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के अतिरिक्त केवल संस्कृत ही में शान्तिमय वैदिक काल से मध्यकालीन भक्तियुग तथा आधुनिक डावांडोल युग तक स्त्रियों द्वारा विरचित व्यापक सृष्टि पर स्वतंत्र रूप से हिन्दी में मौलिक ग्रन्थ लिखे जाने की माँग है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य ही ऐसा पूर्ण भंडार है, जिसके यत्र-तत्र छिन्न-भिन्न बिखरे पृष्ठों में हमारे किसी भी सांस्कृतिक पक्ष को मूर्तरूप से खड़ा कर देने की चमत्कारिक क्षमता है।

उपरोक्त गुरुतर कार्य के अनुसन्धान का श्रेय कलकत्ता विश्वविद्यालय के आचार्य डा० जितेन्द्र विमल चौधरी को है, जिन्होंने कुछ ही वर्ष पूर्व पाँच-छः भाग में 'संस्कृत-साहित्य में महिलाओं का दान' (The contribution of women to sanskrit literature) नामक सीरीज प्रकाशित की थी। भारतीय नारी-समाज उनका चिर-ऋणी रहेगा। संस्कृत लेखिकाओं और कवियित्रों के संबंध में डा० चौधरी का परिचयात्मक लेख इसी विभाग में अन्यत्र दिया जा रहा है। वैदिक, प्राकृत और पाली भाषा की प्रमुख कवियित्रियों का संक्षिप्त उल्लेख, जो चौधरी महोदय के लेख में नहीं है, प्रस्तुत लेख में अभिप्रेत है।

साहित्य यदि युग का प्रतिबिम्ब और जीवन की प्रत्यालोचन है तो पलभर तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था एवं स्थिति की ओर झांकना अनिवार्य होगा।

राग उत्तरोत्तर भले ही बेसुरा होता चला गया हो, किन्तु आलाप हमारे पूर्वजों ने सभी स्वर साधकर ही लिया था। विशेषतया समाज के वाम अंग को प्रत्येक पहलू से उन्नत एवं विकासोन्मुख करने में ही जीवन-कला का मुख्य रहस्य है। इसके वे कैसे ज्ञाता थे, यह विभिन्न समय की निम्न भावनाओं द्वारा प्रकट है।

(१) समारोह-विशेष पर दम्पति कामना करते हैं—हमारे यहाँ पण्डिता और चिरायु कन्या उत्पन्न हो।

"अथ य इच्छद्दुहिता में पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति ।"
(बृहद्धारण्यक उपनिषद १, ४, १७)

(२) "कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चरित्र और विद्वता में श्रेष्ठ होती हैं"—भगवान बुद्ध

"इत्थीपि हि एकच्ची या सेय्यो पोसा, जनाधिप मेधावती सीलावती · · · · · ।"

(३) 'ललित विस्तार' में कुमार सिद्धार्थ गाथा लिखने वाली और कवियित्री कन्या की भावी वधू के रूप में कामना करते हैं :

"सा गाथ-लेख-लिखिते गुण अर्थ-युक्ता
या कन्य ईदृश भवेन्मम तां वरे थाः ।"

(ललित विस्तार अ० १२ पृ० १५८)

(४) पुरुषों की भांति ही स्त्रियाँ भी कविन्त्रियाँ हो सकती हैं। काव्य प्रतिभा नर-नारी के भेद से सर्वथा पृथक् नैसर्गिक वस्तु है, जैसा कि राजपुत्रियों, राज कर्मचारिणियों, मन्त्रि-दुहिताओं और वेश्याओं तक को प्रायः शास्त्र में प्रवीण बुद्धिमती और काव्य-मर्मज्ञ देखते-सुनते हैं। (काव्य मीमांसा पृ० ५३)।

"पुरुषवद्योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राज-पुत्र्यो महामात्य-दुहितरो गणिकाः कौतुकि-भार्याश्च शास्त्र-प्रहत-बुद्धयः कवयश्च ।"

शिक्षा एवं स्थिति के विषय में कैसा सुन्दर सरल विभाजन था ! प्रथम वे ब्रह्मवादिनी कन्याएँ स्वेच्छा से वेदाध्ययन, दर्शन, ज्योतिष आदि विषयों की शिक्षा के हेतु आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर आचार्या और उपाध्याया के पद को सुशोभित करती थीं। गार्गी, ब्रह्मवादिनी, आत्रेयी, मैत्रेयी आदि के नाम इसमें विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनके मानसिक स्तर की गहराई इस भावना से अधिक क्या होगी—

"येनाहं नामृतास्यां किं तेन, (अति प्रभुतेनापि वितेन) कुर्यामिति ।" अर्थात्—जिससे अमृतत्व को प्राप्त न कर सकूँ, ऐसे राशि-राशि धन-वैभव का क्या करूँ ?

दूसरी बहुसंख्यक 'सद्योद्वाहा' साधारण समाज की उन्नति की दृष्टि से कम-से-कम सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था तक पठन-पाठन व ललित कलाओं द्वारा उनकी अभिरुचि एवं सृजनात्मक शक्तियों को परिष्कृत करने का भरपूर प्रयत्न किया जाता था। कुलीन घरों की स्त्रियाँ, कन्याएँ राज-दरबारों में प्रायः नृत्य, संगीत-अभिनय आदि का प्रदर्शन किया करती थीं। घरों को आनन्द का केन्द्र बनाने के हेतु वे विविध कलाओं और शिल्प से पूर्ण परिचित तथा विनोद-कौतुक में पटु होती थीं। युद्ध, राजनीति, कृषि, यन्त्र एवं अस्त्र-शस्त्र आदि के निर्माण तक में समान रूप से भाग लेने के कारण आर्थिक बन्धनों से मुक्त होती थीं और इसी से सम्मान की पात्र समझी जाती थीं। अपने-अपने निजी विषय की भली भांति ज्ञाता होने और जीवन के विस्तृत क्षेत्र में कार्य करने के कारण ही उनकी लेखनी प्रत्येक विषय में प्रसूता थी। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण हाल ही में प्रकाशित हुए 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक से मिला है, जिसकी लेखिका श्री किशोरिका विज्जिका गुप्तकालीन एक राजकर्मचारिणी थीं। यह नाटक विशेषतया राजनैतिक दृष्टिकोण से ही लिखा और उस समय खेला गया था।

फिर मानव-संस्कृति को ऊंचे धरातल पर आसीन करने के लिये सर्वगुण-सम्पन्न और विवेकशील कन्या स्वयंवर द्वारा मनोनुकूल पति वरण करने में स्वतंत्र थी।

"ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दिते पतिम · · · ·"

रूढ़िवाद अथवा जातिभेद की कोई अड़चन नहीं थी, यहाँ तक कि एक स्थान पर पिता अपनी कन्या से प्रश्न करता है :—

"एषां चतुर्णां वर्णानां पुत्रि कोऽपि—मतस्तव ।" (कथा-सरित-सागर ५३, १०४)

अर्थात्—"यह चारों वर्ण तुम्हारे सामने हैं। इनमें से किसके लिये तुम्हारी इच्छा है ?"

ऐसे उन्मुक्त एवं स्वस्थ वायुमंडल की आदि नारी यदि अमर वेदमंत्रों की दृप्टा हुई हो तो इसमें आश्चर्य की क्या वात है, यद्यपि संसार के अन्य किसी भी धार्मिक व प्राचीन ग्रंथों को ऐसा श्रेय प्राप्त नहीं।

श्रवणनुक्रमणिका के अनुसार वीस और सायुनायिक के कथन से २६ ऋग्वेद की स्रष्टा ऋषि स्त्रियां हैं। इससे सर्व सहमत न हों तो भी लोपामुद्रा, घोषा, विश्वारा, सिक्ता, नीवावरी म० १, १७६; म० २८; म० ६१; म० ८१. ११. २० और ३६. ४० की निर्विवाद सृप्टा हैं ही।

रात्रि, यमी, अपाला, शची, इन्द्राणी, अदिति, दक्षिणा, सूर्या, उर्वशी, श्रद्धा, रोमासा, गोधा, श्रमा, शाश्वती, जिन्होंने प्रेम, वीरता, वात्सल्यता, सौंदर्य आदि के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च कोटि के भावों की सृष्टि की है, सायण और सायुनायिक सरीखे महापंडितों की सम्मति मे काल्पनिक नाम होते हुए भी प्रामाणिक हैं !

वेद की इन ऋचाओं में, रात्रि, अग्नि आदि प्राकृतिक विपयों की अभिव्यक्ति अति सुन्दर है। विभिन्न प्रकृति नारियों के अनन्यतम कोमल भाव जहाँ-तहाँ अनेक रूपों में वेगपूर्वक झर पड़े हैं। संस्कृत, पाली, प्राकृत कवि-यित्रियों की अपेक्षा वैदिक कवियित्रियाँ कहीं अधिक सुघड़ कलाकार हैं।

प्राकृत की कवियित्रियां

अनुलक्ष्मी, असुलधी, अवन्तीसुन्दरी, माधवी, प्रात:रेवा, रोंहा, शशिप्रभा, वदावाही, प्राचीत्यें, आदि प्रकृत भाषा की मुख्य कवियित्रियाँ हैं। इनके द्वारा रचित सोलह श्लोकों की काव्यधारा वैदिक एवं संस्कृत काल की स्त्रियों की भांति ही जीवनदायिनी, प्रेम संगीत, आनन्द-व्यथा, आशा-निराशा और उमंग से ओतप्रोत हैं। अभिव्यक्ति अनूठे ढंग की है और जीवन, प्रेम, सौंदर्य के प्रति अनन्त प्यास है।

(थेरी गाथा) पाली की कवियित्रियां

१ अञ्ञतराथेरी, २ मुक्ता, ३ पुण्णा, ४ तिस्सा, ५ अञ्ञतरा तिस्सा, ६ धीरा, ७ अञ्ञतरा धीरा, ८ मित्तां, ९ भद्रा, १० उपसमा, ११ मुत्ता, १२ धम्म दिन्ना, १३ विसाखा, १४ सुमना, १५ उत्तरा, १६ सुमना (वुड्ढपव्वजिता) १७ धम्मा, १८ सङ्घा, १९ नन्दा, २० जेन्ती, २१ अञ्ञतराथेरी, २२ अड्ढकासी, २३ चित्ता, २४ मेत्तिका, २५ मित्ता, २६ अभयमाता, २७ अभत्थेरी, २८ सामा, २९ अञ्ञतरा सामा, ३० उत्तमा, ३१ अञ्ञतरा उत्तमा, ३२ दन्तिका, ३३ उव्विरी, ३४ सुक्का, ३५ सेला, ३६ सोमा, ३७ भद्दा कापिलानी, ३८ अञ्ञतरा भिक्खुणी अपञ्ञाता, ३९ विमला पुराण गणिका, ४० सीहा, ४१ नन्दा, ४२ नन्दुत्त राथेरी, ४३ मित्तकाली, ४४ सकुला, ४५ सोणा, ४६ भद्दा पुराण-निगण्ठी, ४७ पटाचारा, ४८ तिसमत्ता थेरी भिक्खुणियो, ४९ चन्दा, ५० पञ्चसता पटाचारा, ५१ वासिट्ठि, ५२ खेमा, ५३ सुजाता, ५४ अनोपमा, ५५ महापजापती गोतमी, ५६ गुत्ता, ५७ विजया, ५८ उत्तरा, ५९ चाला, ६० उपचाला, ६१ सीसूपचाला, ६२ वड्ढमाता, ६३ किसागोतमी, ६४ उप्पलवण्णा, ६५ प्रण्णिका, ६६ अम्वपाली, ६७ रोहिणी, ६८ चापा, ६९ सुन्दरी, ७० सुभा कम्मारधीता, ७१ सुभा जीवकम्ववनिका, ७२ इसिदासी, ७३ सुमेधा ॥

उपरोक्त ७३ विदुषियाँ पाली भाषा की स्रष्टा हैं। यह साहित्य ५२२ श्लोकों में "थेरीगाथा" नाम से खुदक निकाय की पन्द्रह पुस्तकों में से एक है। इसका स्वतन्त्र अनुवाद अंग्रेजी में 'Psalms of sisters' और वंगला में 'थेरीगाथा' के नाम से भिक्षु शीलभद्र द्वारा हो चुका है।

जातक ग्रन्थों एवं अन्य वौद्ध साहित्य में, जहाँ अनेक स्थलों पर नारी के प्रति सर्वथा अवांछनीय मनोवृत्ति का उल्लेख है, वहाँ 'थेरीगाथा' का उच्च विशिष्ट साहित्य एक विस्मय एवं गौरव की वस्तु है। इससे भी अधिक आश्चर्य यह कि भगवान वुद्ध ही सर्व प्रथम ऐसे महापुरुष हैं, जिन्होंने उस युग की करुणापात्र नारी को घर के संकुचित वृत्त से वाहर संसार की सेवा और शान्ति के निमित्त सन्यास की अनुमति देकर एक नया मार्ग खोला।



पद्मांजलि

[कलाकार—श्री सुवीर खास्तगीर

इस दीक्षा की गाथा निम्न है :—सिद्धार्थ गौतम के बुद्धत्व प्राप्त करने के उपरान्त महाराज शुद्धोधन जब स्वर्गगत हुए तो उनकी पत्नी (रानी महामाया की छोटी बहन अर्थात् गौतम की विमाता व मौसी) प्रजापति गौतमी शोककातर हो भगवान बुद्ध के पास गई, जो उन दिनों नन्दन-वन में निवास करते थे और संसार-त्याग की अनुमति चाही, किन्तु उस समय बुद्ध ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी।

पुनः शाक्य वंश की पाँच सौ नारियों ने गौतमी से इसी अभिप्राय से चलने को कहा। तब गौतमी केशोच्छादन करवा, काषाय वस्त्र धारण कर, उन पाँच सहस्र स्त्रियों को ले बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द की सहायता ले दुवारा भगवान के समीप गई। दुःख, क्लेश, क्षोभ से विह्वल उनकी जीवन-कथाएँ सुन अन्ततः भगवान बुद्ध को अनुरोध स्वीकार करना पड़ा और गौतमी तथा वे पाँच सौ नारियाँ एक साथ अभिषिक्त हुई। बुद्धवचनों से प्रभावित यह भिक्षुणीसंघ उत्तरोत्तर ग्राम, नगर, राजप्रासाद की वधुओं, कुलीन स्त्रियों एवं कन्याओं की संख्या से वर्धित होता चला गया। इन्हीं में से जिन विदुषियों का अन्तर स्वकथारूप में जिस करुण छन्द द्वारा झर पड़ा, वह 'थेरीगाथा' कहलाया।

किन्तु जीवन, सौन्दर्य, प्रेम-समर्पण आदि की जो उत्कट तृषा, वैदिक, प्राकृत तथा संस्कृत कवियित्रियों में मिलती है, थेरीयाँ इसके सर्वथा प्रतिकूल हैं, जो स्वाभाविक ही है। वे ग्रहत्यागिनि हैं। सांसारिक इच्छाएँ ही उनके दुःख का मूल हैं। विश्व के चिर क्रन्दन और गहन भयानकता का उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म और अन्तर्मुख हो स्पर्श किया है। निर्वाण-पद ही अब केवल उनके एकांकी मानस-पट का आलोक है। संक्षेप में दोनों धाराओं का निरूपण इस प्रकार कर सकते हैं। एक उत्सुकता एवं उमंग से पूर्ण है तो दूसरी गम्भीर और शांत; एक जीवित है तो दूसरी परिपक्व; एक भौतिक जगत से परे की ओर नितान्तमुख है तो दूसरी विवेकशीला की दृष्टि में ऐहिक जगत में सर्वथा हेय है; यदि एक उपमा अलंकारों आदि की सौन्दर्य-पूर्ण रस-माधुरी है तो दूसरी ठोस, सरल, संयमित भाषा में कटु सत्य।

इसका स्पष्टीकरण दोनों ओर की रस धाराओं का किंचित आस्वादन किये बिना न हो सकेगा।

प्राकृत

[दूतीं प्रति नायिकोक्ति]

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहाव-थद्धे वि रुक्खम्मि॥

[ससिप्पहाए]

यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि।
वल्ली वलयत्यङ्गं स्वभाव स्तब्धेऽपि वृक्षे॥

[शशिप्रभा]

"जैसे-जैसे प्रियतम की लय ध्वनि बजती है, वैसे ही मैं चंचल प्रेमिका नृत्य करती हूँ। प्रेम भले ही उसका संदिग्ध हो, किन्तु वृक्ष यदि निश्चल सीधा खड़ा रहे तो लता का स्वभाव उसके चारों ओर लिपटना ही है।"

संस्कृत

[दूतीं प्रति स्वावस्था-कथनम्]

गते प्रेमाबन्धे हृदय-बहु-मानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः
तया चैवोत्प्रेक्ष्य प्रिय-सखि गतां स्तांश्च दिवसान्
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यत्र हृदयम्॥

विज्जाकायाः [शिखरिणी]

जव प्रेम का वंधन ही टूट गया, जव हमारे हृदयों में एक दूसरे के प्रति सद्भाव ही नहीं रहा और जिस समय वह मेरे सामने से एक अजनवी की भांति चला गया तव हे सखी ! क्यों नहीं अतीत के दिनों की स्मृति से मेरा हृदय सौ-सौ टुकड़े हो गया ?

विज्जिका की प्रतिभा के विषय में राजशेखर तथा धनदेव आदि कवियों ने उसे कालिदास के वाद स्थान दिया है और उसे साक्षात् सरस्वती स्वीकार किया है।

विरहिणीं प्रति सख्युक्तिः ।

कृशा केनासि त्वं प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
मला धूम्रा कस्माद् गुरु-जन-गृहे पाचकतया ।
स्मरस्यस्मान कच्चिन्नहि नहि नहीत्येवमगमत्
स्मरोत्कम्पं वाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता ॥

"माल्लायाः" । [शिखरिणी]

"तुम क्षीण क्यों हो रही हो ?"
"शरीर ही ऐसा है ।"
"धूल धूसरित क्यों हो रही हो ?"
"गुरुजनों की सेवा के लिए निरन्तर पाकशाला में लगे रहने से ।"
"क्या हमें पहचानती हो ?".
"नहीं ! नहीं ! नहीं !" कह पुनः स्मृति से कांपती हुई वाला मेरे वक्ष पर सिर झुका कर रोने लगी।"

"कच" ।

किं चारु-चन्दन-लता-कलिता भुजङ्ग्यः
किं यत्र-यत्र-पद्म मधु संचलिता नु भङ्ग्यः ।
किं वाननेन्दु-जित-राकंदु-रुचो विवाल्यः
किं भान्ति गुर्जर-वर-प्रमदा-कचाल्यः ॥

"पद्मावत्याः" [वसन्त-तिलकम्]

"चन्दन तरु को नागिनियों ने लपेट रक्खा है या मधुपूरित कमल को भौंरों के समूह ने ढक लिया है या कि राहु के समान यह भँवरे चन्द्रमा को ग्रसना चाहते हैं। अरे, तो नहीं ! क्या यह गुजराती रमणी की सुन्दर मुख छवि है ?"

वाहुकण्ठ, तिलक आदि पर जहाँ प्रसिद्ध पण्डिता पद्मावती ने अति अनुराग-पूर्ण शैली में लिखा है, ठीक उन्हीं भावों का दूसरी दिशा में अम्वपाली थेरी का वर्णन देखिये—

[पाली]

"कालका भमरवण्ण सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुं ।
ते जराय साण वाकसदिसा सच्च वादि वचनम नञ्चया ॥
वापितो व सुरभिकरण्डको पुप्फपूरं मयुत्तमङ्गम् ।
तं नराय सस लोम गन्धिकं सच्च वादिवचनम नञ्चया ॥" इत्यादि

[थेरीगाथा श्लोक २२५ से २७० तक]

"किसी समय भँवरे से कृष्ण वर्ण घने केश-पाश और सघन उपवन सी यही मेरी वेणी, पुष्पाभरणों तथा उज्ज्वल स्वर्णालंकारों से सुरभित एवं सुशोभित हुआ करती थी, जो आज जरावस्था में श्वेत गन्धपूर्ण, बिखरी हुई जीर्ण वल्कलों-सी भर रही है। गाढ़ नील मणियों से समुज्ज्वल, ज्योति-पूर्ण नेत्र आज शोभा-विहीन हैं।

नव-यौवन के समय सुदीर्घ नासिका, कर्णद्वय और कदली मुकुल के सदृश पूर्व की दन्त-पंक्ति क्रमशः ढुलकती और भग्न होती जा रही है।

वनवासिनी कोकिला के सदृश मेरा मधुर स्वर और सुचक्षिण शंख की भांति सुघड़ ग्रीवा आज कम्पित है।

स्वर्ण-मण्डित उंगलियां, हस्त द्वय आज अशक्त एवं मेरे उन्नत स्तन आज रस-विहीन ढुलकते चर्म मात्र हैं।

स्वर्ण नूपुरों से सुशोभित पैरों और भंकृत कटि प्रदेश की गति आज कैसी श्री-विहीन है!

आज वही स्वर्ण-मंजित पलकों के समान परम कान्तिमयी रूपवान सुखधाम देह, आज जर्जरित और दुःखों का आगार बनी है। सत्यवादी जनों के वाक्य वृथा नहीं होते! किन्तु इसी चरम वैराग्य द्वारा जो शान्ति, जिस अलौकिक परम पद की प्राप्ति उन्होंने की, उसे कितनी गहराई से सुन्दरी राजकन्या नन्दा अभिव्यक्त करती है—

"तस्मा तस्सा मे अप्प मत्ताय विचिनन्तिया योनि सो।
यथा भूतं अयं कायो दिट्ठो सत्तर बाडिरो॥
अथ निब्बिन्द इं काये अज्झतञ्च विरज्ज इं।
अप्पयत्ता विसंयुत्ता उपसन्तम्हि॥"

प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न होने पर अदम्य उत्साह-पूर्वक मैंने उत्पत्ति के कारण और देह के बाह्य अन्तर दोनों स्वरूपों को सम्यक् दृष्टि से देख लिया।

इस देह के विषय में मुझे और चिन्ता शेष नहीं। मैं अब संपूर्ण रूप से राग-मुक्त हूँ। लक्ष्यबोध, अनासक्त और शान्तचित्त हो निर्वाण-पद की शान्ति का उपभोग कर रही हूँ।

(रोहिणी)

श्रम, शील, अनालस, श्रेष्ठ कार्यों में मग्न, तृपा द्वेषहीन आज मैं व्रती हूँ, वुद्ध हूँ। इससे पूर्व मैं नाम मात्र की ब्राह्मण थी, आज सत्य ही ब्राह्मण हूँ। तीनों विद्याओं, (प्रकृतज्ञ, वेदज्ञ, और ब्राह्मणत्व) को पाकर आह! आज मैं स्नातिका हूँ।

मेरा हृदय आज आकुलता-शून्य, चित्त निर्मल और शान्ति-पूर्ण है।

ऐसे-ऐसे उल्लसित वाक्यों से यह 'थेरी गाथाएँ' भरी पड़ी हैं।

सत्य और सौन्दर्य के इस गहन क्षेत्र में से कौन-सा शिव-पथ है, यहाँ मन्तव्य नहीं। उक्त विस्तृत उपलब्ध साहित्य द्वारा भारतीय नारी के अन्तर की अद्भुत झलक संसार की प्राचीन भाषाओं में एक अद्वितीय वस्तु है।

अन्य किसी भी देश की प्राचीन स्त्रियों की सृजनता इन नाटक, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आलेखन आदि की विदुषियों की सीमा तक नहीं पहुँच सकी। इतना भी कम गौरवपूर्ण नहीं है।

नई दिल्ली]



संस्कृत-साहित्य में महिलाओं का दान

डा० यतीन्द्रविमल चौधरी

वर्तमान युग में महिलाओं की प्रगति के बारे में यों तो सभी सचेष्ट हैं; परन्तु महिलाएँ विशेषरूप से सचेष्ट हैं। वे शिक्षा, दीक्षा एवं सब विषयों में ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श को प्राप्त करना चाहती हैं और इसके लिये कितनी ही महिलाओं ने काफ़ी यत्न भी किया है। उन्होंने सिर्फ ऊँची शिक्षा ही नहीं प्राप्त की है, बल्कि नाना विषयों के ग्रन्थों की रचयित्री होने का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। स्त्री-शिक्षा का उच्च आदर्श हिन्दुस्तान में कोई नया नहीं है। वैदिक युग से ही भारतीय महिलाएँ इस आदर्श से अनुप्राणित होती आ रही हैं। वैदिक युग में महिलाओं ने सब तरह से सामाजिक जीवन में जो उच्च स्थान प्राप्त किया था, उसके बारे में कुछ-न-कुछ प्रायः सभी लोग जानते हैं। इस छोटे-से-लेख में वर्तमान युग की महिलाओं के विषय में कुछ बतलाने की कोई चेष्टा हम नहीं करेंगे। अतीत काल में भी स्त्रियाँ सिर्फ उच्च शिक्षिता ही नहीं थीं, बल्कि वे बहुत से ग्रन्थों की रचयित्री भी थीं। सम्भव है कि इसका इतिहास भी किसी को मालूम न हो।

इन सब संस्कृत ग्रन्थों की हस्त-लिखित पोथियाँ भारत के विभिन्न स्थानों—पुस्तकालयों, व्यक्ति-विशेषों के हाथों, मठों और मन्दिरों—में विक्षिप्त रूप से छिपी पड़ी हैं। इनमें से कितनी ही काल-स्रोत से नष्ट-भ्रष्ट भी हो गई हैं। इसके अलावा कुछ पोथियाँ भारत के बाहर भी चली गई हैं। फिर भी काव्य, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि विषयों में खोज करने से उनके जो पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनका भी कुछ कम मूल्य नहीं है। इन ग्रन्थों से ही प्राचीन-कालीन भारतीय महिलाओं की बहुमुखी प्रतिभा का कुछ-कुछ आभास हम पाते हैं। संस्कृतसाहित्य में भारतीय नारियों का जो दान अवशिष्ट है, उससे भी इस साहित्य में एक नवीन शाखा की सृष्टि की जा सकती है, जो आज तक अज्ञात ही पड़ी हुई है। काफी अनुसन्धान के बाद भारतीय महिलाओं की जो संस्कृत-रचनाएँ हम संग्रह कर सके हैं, उन्हें भी हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। उनके कितने ही ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण यहाँ हम देंगे।

'दृश्य-काव्य—नाटक आदि

महापण्डित घनश्याम की सुन्दरी और कमला नामक दो विदुषी पत्नियों ने कवि राजशेखर के प्रसिद्ध 'विद्धशाल-भंजिका' पर एक अत्यन्त सुन्दर और पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है। इस टीका का नाम है 'सुन्दरीकमली' या 'चमत्कारी-तरंगिणी'। उनके पति घनश्याम ने भी इसी 'विद्धशालभंजिका' पर 'प्राणप्रतिष्ठा' नामक एक संक्षिप्त टीका लिखी है। सुन्दरी और कमला की बोधशक्ति अपूर्व, भाषा शुद्ध और विचारदक्षता अतुलनीय है। उन्होंने पहले के टीकाकारों की समालोचना ही नहीं की है, बल्कि कालिदास, भवभूति, अमरसिंह, विशाखदत्त आदि महामनस्वियों की कठोर आलोचना करने से भी वे विचलित नही हुई हैं। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बहुत-सी जगहों में उनकी आलोचना उपयुक्त भी है। उक्त टीका में कितने ही स्थलों पर अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने अलंकार-ग्रन्थ, अभिधान, व्याकरण आदि से प्रमाण उद्धृत किए हैं। इन ग्रन्थों का अधिकांश भाग बहुत पहले दुनिया से लुप्त हो गया है।

श्राव्य-काव्य और महाकाव्य आदि

श्राव्य-काव्य में महिलाओं के दान के सम्बन्ध में जो कुछ पाया गया है, उसे दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—(१) विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी कविताएँ और (२) सम्पूर्ण काव्य।

(१) घोषा, विश्ववाला, अपाला आदि वैदिक ऋषियों की स्त्रियों और प्राकृत और पालि भाषाओं की कवियित्रियों के बारे में यहाँ हम कुछ नहीं कहेंगे। उनका उल्लेख इसी ग्रंथ में अन्यत्र हुआ है। इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी ऐसी कवियित्रियों के नाम हमें प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत में कविताएँ लिखी हैं। राजशेखर, घनददेव आदि जैसे प्रसिद्ध साहित्यि महारथियों ने भी उनका काफी गुणगान किया है। ऐसी महिलाओं में से आज कितनों के सिर्फ नाम ही मिलते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि उनके सुसज्जित काव्योद्यान की जरा-सी भी झांकी हमें आज नहीं मिलती। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—कामलीला, कनकवल्ली, ललितांगी, मधुरांगी, सुनन्दा, विमलांगी, प्रभुदेवी, लाटी, विजयांका इत्यादि। जिनकी छोटी-मोटी कविताएँ पाई गई उनमें से कितनों के नाम हैं—भावदेवी, गौरी, इन्दुलेखा, केरली, कुटला, लक्ष्मी, मदालसा, मधुरवर्णी, मदिरेक्षणा, मारुला, मोरिका, नागम्मा, पद्मावती, फल्गुहस्तिनी, चन्द्रकान्ता भिक्षुणी, प्रियम्वदा, सरस्वती, सरस्वतीकुटुम्बदुहिता, शीलाभट्टारिका, सीता, सुभद्रा, त्रिभुवनसरस्वती, चण्डालविद्या, विद्यावती, विज्जा, विकटनितम्बा आदि। इनमें से हमें किसी-किसी की तीस-तीस कविताएँ मिली हैं और किसी-किसी की सिर्फ दो-चार। ये कविताएँ विविध विषयों पर लिखी गई हैं—जैसे, देवस्तुति, दर्शन, धर्म, प्रेम इत्यादि का वर्णन, अंग-प्रत्यंग-वर्णन, पशु-पक्षी-वर्णन आदि। इनके भाव और भाषा मधुर हैं एवं छन्द और अलंकारों की छटा की कमी नहीं है। उनकी और भी कितनी ही कविताएँ थीं, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु आज ये सब दो-चार इधर-उधर बिखरे हुए फूलों की तरह नाना दिशाओं को सुवासित कर रही हैं। उनमें से बहुतों ने ईस्वी सन् नवीं और दसवीं शताब्दियों से पूर्व भारत को अलंकृत किया था।

(२) हमें भारतीय महिलाओं के कितने ही संपूर्ण काव्य भी प्राप्त हुए हैं।

(क) संग्रामसिंह की माता अमरसिंह की पटरानी देव-कुमारिका ने 'वैद्यनाथ-प्रसाद-प्रशस्ति' लिखी है। वैद्यनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय यह प्रशस्ति लिखी गई थी और यह मन्दिर में खुदी हुई है। यह ऐतिहासिक प्रशस्ति राजामाता-कृत है या नहीं, इस विषय में संदेह की काफी गुंजाइश है। ईस्वी सन् की अठारहवीं शताब्दी में राजपूताने में उनका जन्म हुआ था।

(ख) रानी गंगादेवी-कृत 'मधुरा-विजय' या 'वीर-कम्पराय-चरित' है। वे विजयनगर के सम्राट् वीर कम्पन की रानी थीं। ईस्वी सन् की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में अपने पति के मदुरा (मधुरा) विजय के उपलक्ष में उन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के दक्षिण-भारत के ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण है।

(ग) तांजोर के राजा रघुनाथ नायक की सभा-कवियित्री मधुरानी-कृत 'रामायण-काव्य' है। वे ईस्वी सन् की सत्रहवीं शताब्दी में हुई थीं। यह ग्रन्थ रघुनाथ-कृत तेलगू रामायण के आधार पर संस्कृत में लिखा गया है।

(घ) उपर्युक्त रघुनाथ नायक की एक दूसरी सभा-कवियित्री रामभद्राम्बा-कृत 'रघुनाथाभ्युदय-महाकाव्य' है। इस महाकाव्य में रघुनाथ राजा के रूप, गुण और विजय की कहानियों का वर्णन किया गया है। इससे हम लोग तांजोर के तत्कालीन कितने ही ऐतिहासिक तथ्यों को जान सकते हैं।

(ङ) विजयनगर के सम्राट् अच्युतदेवराय की सभा कवियित्री तिरुमलम्बा-कृत 'वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू' है। उन्होंने ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी के मध्य में इस ग्रन्थ की रचना की। इसके प्रथम भाग में अच्युत देवराय की वंशावली, उनके पिता की विजय-कहानी और उनके बाल-काल का इतिहास आदि का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध में अच्युतदेवराय का वरदाम्बिका के साथ परिणय और उनके पुत्र चिनवेंकटराय के जन्म आदि का वर्णन है। इसमें इतिहास की अपेक्षा कवित्व की ही मात्रा अधिक है।

आधुनिक संस्कृत-कवियित्रियाँ

यद्यपि आजकल संस्कृत का पठन-पाठन वहुत कम हो गया है, फिर भी अभी भारतीय महिलाएँ संस्कृत में काव्य इत्यादि की रचना करती हैं, इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं—जैसे मलावार की लक्ष्मीरानी-कृत सम्पूर्ण काव्य 'सन्तान गोपालन'। इस सम्वन्ध में और भी कितने ही नाम लिए जा सकते हैं, जैसे—अनसूया कमलावाई वापटे, वालाम्बिका, हनुमाम्वा, ज्ञानसुन्दरी, कामाक्षी, मन्दमय घाटी, आलमेलम्मा, राधाप्रिया, रमावाई, श्री देवी वाला-राज्ञी, सोनामणीदेवी, सुन्दरवल्ली, त्रिवेणी इत्यादि।

पौराणिक कर्म-पद्धति

मण्डलीक नृपति की कन्या हरसिंह राजा की महारानी वीनयागी ईस्वी सन् की तेरहवीं या चौदहवीं शताव्दी में गुजरात की शोभा वढ़ाती थीं। श्रुति, स्मृति और पुराण की वे प्रगाढ़ पण्डिता थीं। 'द्वारका-माहात्म्य' नामक उनकी पुस्तक सिर्फ कई एक विशिष्ट आदमियों की धार्मिक क्रिया की सहायता के लिए ही नहीं लिखी गई है, वल्कि सव जातियों और वर्णों की धर्म-क्रिया सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिए उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना वहुत देशों और तीर्थों के भ्रमण से ज्ञान प्राप्त करने के वाद की थी। इससे यह वात प्रमाणित होती है कि धर्म-संक्रान्त विपयों पर—खासकर लौकिक आचार के विधान के सम्वन्ध में—केवल वैदिक युग में ही स्त्रियों का अधिकार था, यह वात नहीं। उसके वाद के युगों में भी स्त्रियाँ देश के धर्म-संक्रान्त विविध विपयों पर सुव्यवस्था कर गई हैं और आचार-विचार तथा क्रिया-कलाप आदि विपयों पर नाना प्रकार के पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर गई हैं।

स्मृति-शास्त्र

स्मार्त नारियों के वीच विश्वासदेवी और लक्ष्मीदेवी पायगुण्ड के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। ईस्वी सन् की पन्द्रहवीं शताव्दी में विश्वासदेवी मिथिला के राजसिंहासन की शोभा वढ़ाती थीं। वे पद्मसिंह की पटरानी थीं। उनके राजत्व के अवसान के साथ उनका राज भवसिंह के पुत्र हरसिंह के हाथ में चला जा रहा था। वे अत्यन्त धर्मपरायणा थीं। गंगा के प्रति उनकी वहुत ज्यादा आसक्ति थी, इसलिए उन्होंने गंगा पर एक विस्तृत पुस्तक की रचना की, जिसका नाम 'गंगा-पद्यावली' है। गंगा से सम्वन्ध रखने वाले जितने भी प्रकार के धर्म, क्रिया-कर्म इत्यादि सम्भव हैं—जैसे, दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, स्नान, गंगा के तीर पर वास, श्राद्ध इत्यादि—सभी विपयों पर श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, ज्योतिष इत्यादि ग्रन्थों से अपने मत की पुष्टि में उद्धरण देकर उन्होंने अधिकार-पूर्वक प्रकाश डाला है। स्मृति के कठोर नियमों के अनुसार आत्म-नियोग करने में वे जरा भी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने पहले के सभी स्मार्तों के मतों की विवेचना करके अपने मत का निःसंदिग्ध भाव से प्रचार किया है। स्मृति-तत्त्व-सम्वन्धी उनकी वोध-शक्ति अपूर्व और विश्लेषण-शक्ति अनुपम थी। इस पुस्तक ने परवर्ती स्मार्त-मण्डली का ध्यान विशेप रूप से आकृष्ट किया था। फलस्वरूप मित्र मिश्र, स्मार्त-भट्टाचार्य रघुनन्दन, वाचस्पति मिश्र इत्यादि सभी स्मार्त-शिरोमणियोंने इस ग्रन्थ के मत का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है और उसको सव जगह माना है। इतनी युक्ति और पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक एक भारतीय महिला कैसे लिख सकती है, ऐसी शंका भी किसी-किसी सम्मानित व्यक्ति ने की है। उनके विचार से यह पुस्तक विद्यापति-कृत है। परन्तु उक्त पुस्तक में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि यह विश्वासदेवी की लिखी हुई है और विद्यापति ने इसके लिये प्रमाण संग्रह करने में थोड़ी-सी मदद दी है। सिर्फ इसलिए यह मान लेना कि यह पुस्तक विश्वासदेवी-कृत नहीं है, अत्यन्त अयुक्तिपूर्ण है।

लक्ष्मीदेवी पायगुण्ड सुप्रसिद्ध वैयाकरण वैद्यनाथ पायगण्ड की सहधर्मिणी थीं। वे अठारहवीं शताव्दी में जीवित थीं। अपनी 'कालमाधव-लक्ष्मी' नामक टीका के द्वितीय अध्याय के शेष में उन्होंने लिखा है कि सन् १७६२-

६३ में इस टीका के लिखने के पहले तेरह दिन का पक्ष हुआ था, जो हमेशा नहीं होता। लक्ष्मीदेवी एक असाधारण विदुषी रमणी थीं। विज्ञानेश्वर-कृत 'याज्ञवल्क-स्मृति-टीका-मिताक्षरा' पर उन्होंने 'मिताक्षरा-व्याख्यान' नामक टीका लिखी है। माधवाचार्य-रचित 'कालमाधव' नामक सुप्रसिद्ध स्मृति-ग्रन्थ पर भी उन्होंने बहुत ही सुन्दर टीका लिखी है और उसका नामकरण उन्होंने अपने नाम के अनुसार 'कालमाधवलक्ष्मी' किया है। लक्ष्मी पूर्ण सरस्वती ही थीं। उनकी हर एक पंक्ति में अगणित शास्त्रों का ज्ञान प्रकट रूप से विद्यमान है। उन्होंने वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, महाभारत, प्राचीन और नवीन स्मृति, पुराण और उपपुराण, ज्योतिष और विशेषत: व्याकरण आदि के अंशविशेष को यथास्थान उद्धृत करके उनकी व्याख्या अपने मत के प्रतिपादन में जिस निपुणता के साथ की है, उसे देख कर हम लोगों को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। माधवाचार्य प्रगाढ़ विद्वान और अपने सिद्धान्त-निरूपण में अकाट्य युक्ति देने में सिद्धहस्त थे। माधवाचार्य-रचित ग्रन्थ पर टीका करना असीम साहस का कार्य है। किन्तु लक्ष्मीदेवी की टीका देखने से ज्ञात होता है कि मौलिक तत्त्वों के अनुसन्धान और विश्लेषण करने में अनेक स्थानों में वे माधवाचार्य से भी आगे बढ़ गई हैं। माधव जहाँ पर अस्पष्ट हैं, वहाँ पर लक्ष्मी सुस्पष्ट; जिन पर माधव ने कुछ नहीं कहा है, उन पर लक्ष्मी ने अपनी नारी-सुलभ सरलता और सौजन्यपूर्वक प्रकाश डाला है। लक्ष्मी के समान सरस्वती की पुत्रियाँ कम ही हैं। 'कालमाधव-लक्ष्मी' के संस्करण के प्रथम खण्ड में और दो टीकाएँ साथ-ही-साथ दी हुई हैं। उनमें से एक टीका 'कालमाधव-लक्ष्मी' से पहले स्वयं माधवाचार्य के नाम पर चलती थी। देखा गया है कि उक्त टीका के हिसाब से लक्ष्मी की टीका सर्वोत्कृष्ट है। दूसरी दो टीकाएँ 'कालमाधव' पर ठीक टीकाएँ नहीं हैं। सिर्फ लक्ष्मी ने ही समूचे ग्रन्थ पर सुचारु रूप से टीका की है। उन्हीं के कल्याण, धैर्य और ज्ञान के समुद्र से जगत के कल्याण के लिए 'कालमाधव-लक्ष्मी' टीका निकली है, जो भारत की विशिष्ट निधि है।

तंत्रशास्त्र

सुप्रसिद्ध तांत्रिक प्रेमनिधि की पत्नी प्राणमंजरी शिक्षा-दीक्षा आदि सब प्रकार से अपने पति की अनुवर्तिनी थी। अठारहवीं सदी के प्रथम भाग में उनका जन्म कुमायूं में हुआ था। उनकी 'तंत्रराज-तंत्र' की टीका का प्रथम परिच्छेद ही बचा हुआ है। बहुत सम्भव है कि उन्होंने अवशिष्ट परिच्छेदों की भी टीका की हो; पर कालक्रम से अब वह लुप्त हो गई है। टीका का जितना अंश प्राप्त और प्रकाशित हुआ है, उससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने और भी कितने ही ग्रन्थों की रचना की थी। 'तंत्रराज-तंत्र' की टीका का नाम 'सुदर्शन' है। उन्होंने अपने पुत्र सुदर्शन की मृत्यु के बाद उसे अमरत्व प्रदान करने के खयाल से 'अविनाशी सुदर्शन' नामक टीका की रचना की। इसमें उन्होंने तंत्रशास्त्र-सम्बन्धी अपनी प्रगाढ़ निपुणता प्रदर्शित की है। 'तंत्र-राजतंत्र' की प्रथम कविता की पाँच प्रकार की व्याख्या उनके विशेष पाण्डित्य का द्योतक है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती 'मनोरमा' के रचयिता सुभगनाथ आदि टीकाकारों और दूसरे तांत्रिकों तथा शास्त्रों के मत उद्धृत किए हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन में उन मतों का समर्थन और कहीं-कहीं खण्डन भी किया है। उन्होंने तंत्रशास्त्र के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचारों पर अपने विचार प्रकट किए हैं और तंत्रशास्त्र के विभिन्न मतों का खंडन करके अपने मत का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार की विदुषी होने पर भी उन्होंने अभीष्ट देवता हैहयनाथ से अपने ग्रन्थ सम्पादन के कल्याणार्थ वर न माँग कर अपने पति की शुभकामना का ही वर माँगा था। तंत्रशास्त्र अत्यन्त जटिल है। उस पर इस प्रकार पाण्डित्यपूर्ण प्रकाश डालना सर्वथा प्रशंसनीय है।

युग-युग से भारतीय महिलाएँ जो ज्ञान-दीप जलाती आ रही हैं उसके आलोक का अनुसरण कर वर्तमान युग की महिलाएँ भी ज्ञान की अधिकारिणी हो सकती हैं। इस प्रकार ज्ञान के आलोक का वितरण कर वे देश का कल्याण करेंगी, इसमें सन्देह नहीं।

कलकत्ता]

भारतीय गृहों का अलंकरण

श्री जयलाल मेहता

घर को आकर्षक तथा शान्ति-प्रद बनाये रखना नारी का एक गुण है । उसकी उपस्थिति ही मानों घर की बाह्य शोभा का हेतु है और घर के अंदर माता या पत्नी के रूप में अपने आदर्श के प्रति सच्ची भक्ति-भावना रखते हुए उसका संचरण एक अनुपम सौंदर्य का बोधक है । भारतीय संस्कृति में ठीक ही नारी को 'गृह-लक्ष्मी' अर्थात् गृह की अधिष्ठात्री देवी का विरुद अर्पित किया गया है । भारतीय महिला ने इसके बदले में घर को एक आदर्श रूप प्रदान करके उसके लिये उसने अपना संपूर्ण व्यक्तित्व ही समर्पित कर दिया है ।

भारतीय समाज के द्वारा नारी को गृहलक्ष्मीत्व का जो उपयुक्त सम्मान दिया गया है उससे वह अपने दायित्व पर पूरी लगन के साथ संलग्न है । यही मुख्य मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसके कारण हमारे अंतर्गृह सौंदर्य तथा आनंद के प्रतिरूप बने हुए हैं । केवल इसी आंतरिक भावना के होने पर अनेक प्रकार के फ़र्नीचर, दरवाजों पर लटकने वाले विविध झाड़-फ़नूस आदि अनावश्यक प्रतीत होंगे । साफ़-सुथरा फ़र्श, उस पर एक सादी चटाई और आस-पास कुछ सुन्दर पुष्पों की सुगन्ध—केवल इतनी ही वस्तुओं से मानव-निकेतन का एक रमणीक चित्र उपस्थित किया जा सकता है ।

अंतर्गृह का इस प्रकार का नितांत सादा रूप किसी वैरागी महात्मा के लिये नहीं है । यह सौंदर्य का वह निखरा हुआ रूप है, जिसे जापानी तथा चीनी लोगों ने भी, जो संसार में सबसे अधिक सौंदर्य-प्रेमी विख्यात हैं, अपनाया है। इनके सर्वोत्तम सजे हुए कमरों का अर्थ है—एक साफ चटाई का फ़र्श, सुन्दर वर्णावली या किसी प्राकृतिक दृश्य से युक्त एक लटकती हुई तसवीर, भली प्रकार से की हुई पुष्प-रचना तथा (यदि संभव हुआ तो) एक छोटी काठ की मेज । बस इतना ही काफ़ी है । यहाँ तक कि धनिक वर्ग के भी घरों की सजावट ऐसी ही रहती है । केवल उनमें प्रयुक्त वस्तुएँ अधिक कीमती होती हैं । घरों की सजावट करते समय स्थान की पवित्रता का बड़ा ध्यान रक्खा जाता है और उसे अधिक वस्तुओं की भरमार करके विरूप नहीं बना दिया जाता । आजकल के फैशन को, जिसमें वैभव-प्रदर्शन के लिए कमरों को अलंकरण से बोझिल कर दिया जाता है, वे लोग भद्दा समझते हैं ।

चीन और जापान में घरों को इस प्रकार सुन्दर बनाने का उतना श्रेय वहाँ के महिला-समाज को नहीं दिया जाता, जितना हम उसे भारत में देते हैं । यहाँ तो हम स्त्री को गृहलक्ष्मी तक का पद समर्पित करते हैं । उक्त देशों में स्त्री का स्थान गौण है । अतः उसकी उपस्थिति घर के वातावरण में प्रभावपूर्ण नहीं होती । इसके प्रतिकूल घर में उसका संचरण मानो उस सुन्दर सजे हुए स्थान में किसी आपत्ति का सूचक होता है ।

उपर्युक्त बात हमारे इस कथन की सत्यता को ही प्रमाणित करती है कि जब तक नारी को पूर्ण सहायता तथा सच्ची लगन के साथ अपने दायित्व को संभालने के लिए तत्पर नहीं किया जाता तब तक घरों को चाहे जितना साज-शृंगार से भर दिया जाय, उनमें अभीष्ट सौंदर्य नहीं लाया जा सकता ।

प्राचीन हिंदू समाज-सुधारकों ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया था । उन्होंने हमारे गार्हस्थ्य जीवन तथा उनसे संबंधित सामाजिक उपांगों को एक ओर तो कुटुंब के आदर्श पुरुष के और दूसरी ओर आदर्श नारी के जिम्मे रखकर इस दिशा में यथेष्ट साफल्य प्राप्त कर लिया था । समय की गति से हम जीवन की विभिन्न गति-विधियों को अपनाने लगे और धीरे-धीरे अपने आदर्श मार्ग से च्युत हो गये । आज पुरुष नारी को उसके अधिकारपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने में असफल है । साथ ही नारी भी घर की चहारदीवारी के प्रतिबंध में रह कर

जीवन-यापन करने से इंकार करती है। जिस आधुनिक यथार्थवाद का हमें बड़ा घमंड है, उसने परिस्थिति को और भी विकृत कर दिया है। आजकल पति और पत्नी का जीवन अधिकार और माँग का जीवन है, न कि 'कर्तव्य और त्याग' का। ऐसी दशा में गार्हस्थ्य जीवन में समन्वय की आशा करना कहाँ तक संगत है!

आज हमारे घरों की सजावट की क्या हालत है? वह या तो क्षोभ पैदा करने वाली होती है, या उसमें सजावट का केवल दंभ होता है। न तो सौंदर्य का कोई उपयुक्त स्वरूप हमारे सामने है और न हममें सुन्दर वातावरण उत्पन्न करने की कोई उत्कंठा ही है। हम सौंदर्य की भावना की अपेक्षा सम्मान के भाव का अधिक आदर करते हैं। उम्दापन या आवश्यकता से अधिक न होने का विचार हमारे लिये उतना ग्राह्य नहीं, जितना कि सारहीन दिखावा। वास्तविकता की अपेक्षा हम तड़क-भड़क को पसंद करते हैं। सुहावना शान्तिभाव हमें उतना प्रिय नहीं लगता, जितना कि भड़कीले रंगों का साज।

आधुनिक घरों की सजावट में, केवल वैभव-प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है। सोफे, रेडियो, दरियाँ, कार्डबोर्ड, दरवाजों तथा दीवालों में लटकने वाले झाड़-फानूश आदि शृंगार के उपकरण होते हैं। इस अव्यवस्थित अलंकरण में न तो संयम की भावना रहती है, न सौंदर्य का ही समन्वय मिलता है। यथासंभव कीमती वस्तुओं का प्रदर्शन ही सुन्दर समझा जाता है।

हमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से अपने को प्रतिष्ठित जताने के लिए हम बिना सोचे-विचारे यूरोपीय ढंग की रहन-सहन का अनुकरण कर रहे हैं। वास्तव में रहन-सहन का रूप अधिकांश में देश की भौगोलिक स्थितियों पर अवलंबित है। जो बात ठंडी जलवायु के लिए आवश्यक है, वह गर्म के लिये नहीं। जिस प्रकार के रहन-सहन की आवश्यकता पहाड़ी प्रदेश के लिए उपयुक्त है, वैसी खुले तथा लंबे-चौड़े मैदान के लिए नहीं। फिर जो बातें किसी एक व्यक्ति के मनोनुकूल हो सकती हैं, वे दूसरे के नहीं। यूरोप की जलवायु के लिये दरी बिछे हुए बंद कमरे, गद्दीदार कुर्सियाँ तथा गर्म कपड़े आवश्यक होते हैं, परंतु ये सब बातें हमारे देश में, जो यूरोप की अपेक्षा कहीं गर्म है, क्यों अपनाई जायँ? एक यूरोप के निवासी को ऊँचे पर बैठ कर अपने पैर नीचे लटकाने में सहूलियत होती है, परंतु कोई जरूरत नहीं कि हिंदुस्तानी भी इसकी नकल करें और फर्श पर पालथी मार कर बैठने की अपनी आदत छोड़ दें। यूरोप के व्यक्ति को आग के समीप बैठना भला मालूम पड़ता है। क्या हम भी इसको देखकर अपने कमरों में अँगीठी जलाने का एक स्थान यूरोप के ढंग की तरह बनावें? कपड़ों का जो रंग गोरे लोगों के लिए बर्फीली जगह और कुहरे वाले मौसम में उपयुक्त होता है वह भूरे या काले रंग वाले मनुष्यों के लिये, जो हरे-भरे तथा धूप वाले स्थानों में रहते हैं, आवश्यक नहीं हो सकता। दूसरों की नकल कर लेने से ही शोभा नहीं आ जाती। इससे तो नकल करनेवाले के शौक का छिछलापन प्रकट होता है।

भारतीय जलवायु के लिये खुला हुआ फर्श का होना जरूरी है। गद्दीदार कुर्सियों का रखना बुरा शौक है। स्प्रिंगदार कुर्सियों का प्रयोग स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालने वाला है। उनके स्थान पर काठ या बेंत की कुर्सियों का, जिनके ऊपर अलग से गद्दियाँ रक्खी गई हों, व्यवहार करना ठीक है। यूरोप के ढंग की सोफा वाली कुर्सी की बनावट अप्राकृतिक होती है। उसे कुछ चौड़ा बनना चाहिए, जिसमें बैठने वाला अपने पैर कूलों की सीध में फैला कर बैठ सके। दुपहली सोफा-कुर्सी अनावश्यक जँचती है। कुर्सियों की अपेक्षा फर्श पर पालथी मार कर बैठना अधिक अच्छा है और इसे सम्मानप्रद मानना चाहिए।

रंगों का चुनाव प्राकृतिक आवश्यकताओं तथा लोगों के शारीरिक रूपरंग के अनुकूल होना चाहिए। भारतीयों के लिए लाल या पीले रंग, जिनमें एकाध काली त्रित्तियाँ बनी हों अधिक उपयुक्त हैं। हलके पीले तथा सफेद रंग भी, जिनके किनारे कुछ काले या गहरे हों, व्यवहार में लाये जा सकते हैं। यदि नीला रंग पसंद है तो वह इतना ही नीला हो, जितना आसमान का रंग है। काले रंग के साथ गहरे नीले रंग का प्रयोग भयावना लगता है। हरे रंग निलाई की अपेक्षा पिलाई लिये हुए होने चाहिए। हमारे चारों ओर पत्तियों की हरियाली बहुत देखने को मिलती

है। इसी रंग को घर के अंदर भी दिखाना अच्छा नहीं। लाल और नीले रंगों का साथ-साथ प्रदर्शन हमारे लिये ठीक नहीं जँचता। इन दोनों रंगों का सम्मिलित प्रभाव दर्शक को डरावना लगता है। रंगों के संबंध में हमें यह गुर ध्यान में रखना चाहिए कि एक साथ तीन रंगों से अधिक का प्रयोग करना ठीक नहीं।

बैठने के लिये कमरे की सजावट तथा रंगों की बाबत इतना कह कर अब हम सौन्दर्य की अन्य छोटी-मोटी बातों पर प्रकाश डालेंगे। उदाहरणार्थ पत्थर की मूर्तियाँ, चित्र, फ़ोटो, गमले, लैंप-स्टैंड तथा काँसे के प्याले आदि। इस संबंध में एक आवश्यक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कमरे में जो कुछ वस्तुएँ रक्खी जाँय वे किसी-न-किसी प्रयोजन को सिद्ध करती हों—जैसे पुष्प-पात्र, धूप-दान, लैम्प-स्टैंड तथा कागज दबाने के लिये प्रयुक्त वस्तुएँ। ऐसी वस्तुएँ जो किसी तत्कालीन प्रयोजन के लिये नहीं रक्खी जातीं, किंतु जिनका कुछ निजी उद्देश्य होता है, जैसे अच्छे चित्र, मूर्तियाँ या भावात्मक फ़ोटो आदि, उन्हें वे कभी-कभी और क्रमवार (एक को निकाल कर दूसरी) प्रदर्शित करना चाहिये। उनके प्रदर्शन का आधार-पृष्ठ देश कालानुसार उपयुक्त भाव होना चाहिए। तभी उन वस्तुओं का वास्तविक लाभ उठाया जा सकता है और वे प्रभावोत्पादक हो सकती हैं।

घर को पवित्रता के भाव से भरने के लिये दूसरी आवश्यक बात है फर्श की सजावट। प्रत्येक भारतीय घर में त्यौहारों या धार्मिक संस्कारों आदि के समय पर फ़र्श पर अल्पना या रंगोली की जाती है। ऐसे आँगनों या फर्शों को सजाना, जिन पर जूतों की चरमर हुआ करती है और जली हुई सिगरटों के टुकड़े फेंके जाते हैं, केवल बर्बरता है। अपनी सांस्कृतिक पवित्रता के नियमों का पालन हमें दृढ़ता के साथ करना होगा, नहीं तो वह केवल दिखाऊ और अस्वाभाविक हो जायगी।

अब हम फूलों की सजावट को लेते हैं। इस संबंध में हम जो बात जापान या यूरोप में पाते हैं या जिसकी नकल हमारे भारतीय घरों में देखी जाती है वह संतोषजनक नहीं है। फूलों को उनके डंठल सहित काट कर कमरों के भीतर गमलों में लगाना असंगत जँचता है, जब कि प्रकृति ने विस्तृत भू-क्षेत्र तथा सूर्य की प्रचुर प्रभा प्रदान की है, जो फूलों को स्वाभाविक रूप से विकसित होने में सहायक हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि घर में बगीचा खड़ा किया जाय। इसका केवल यह अभिप्राय है कि कुछ स्थायी फूलों के पौधे या लताएँ, जो मीठी सुगन्ध तथा सुन्दर रंग की हों, खिड़कियों के आसपास लगा दी जाँय। भारत में चमेली, मालती, शेफाली, मोतिया और अपराजिता आदि के पुष्प काफी पसन्द किये जाते हैं। कमरों के अंदर केवल कुछ चुने हुए पूर्ण विकसित फूलों को लाकर उन्हें निर्मल जल से भरी हुई एक बड़ी तश्तरी में तैराना बहुत सुहावना प्रतीत होगा। जल के ऊपर तैरते हुए पुष्पों का दर्शन देखने वाले की थकान को दूर करने वाला होता है, विशेषतः गर्मी की ऋतु में।

यदि ठंठलों के सहित फूल सजाये ही जाँय तो वे जापानियों के ढंग से हों। वे एक समय केवल एक या दो डंठल-युक्त उत्तमोत्तम फूलों को कमरे के एक ही स्थान पर सजाते हैं। इस प्रकार उन फूलों का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है और उसका आनंद लिया जा सकता है। फूलों का पूरा गुच्छा किसी बर्तन के भीतर रख कर उसका प्रदर्शन करना सजावट का अच्छा तरीका नहीं कहा जा सकता।

खजूर-जैसे पौधों को कमरे के अंदर रखना बिलकुल असंगत है। यदि ये पेड़ अच्छे लगते ही हों तो उन्हें घर के बाहर आसपास उनके विशाल रूप में ही क्यों न देखा जाय?

आधुनिक विज्ञान के अनेक चमत्कार—बिजली की रोशनी, पंखे, रेडियो आदि—अब भी साधारण भारतीयों की पहुँच से बाहर हैं। हममें से जिनको ये साधन प्राप्त हैं उन्हें बिजली के तारों के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वे इस प्रकार से दीवालों में फिट किये जाँय कि दृष्टि में कम पड़ें। बिजली की रोशनी को स्क्रीन से ढँक देना चाहिये, जिससे आँखों में चकाचौंध न पैदा हो। वास्तव में रोशनी को पर्दे से ढँकना स्वयं एक कला है। इसके द्वारा अनेक भांति के प्रभाव उत्पन्न किये जा सकते हैं? इतना होते हुए भी पर्दे से ढँकी हुई बिजली की रोशनी कृत्रिम ही है और हम उसकी तुलना उगते या डूबते हुए सूर्य की प्रभा से या चाँदनी रात से कदापि नहीं कर सकते?

रेडियो का खर्च अभी इतना अधिक है कि वह आम जनता की पहुँच से बाहर है। उसके स्थान पर कमरे के भीतर खिड़की के पास कुछ सरकंडे के टुकड़ों को या पतली, पोली लकड़ियों को टांग कर संगीत का मंद स्वर सुना जा सकता है। खिड़की में से जो हवा आवेगी उससे वे हिल-डुल कर एक दूसरे से लगेंगी और इस प्रकार एक धीमा मृदु स्वर उत्पन्न होगा।

ऊपर अंतर्गृह की सजावट का जो वर्णन किया गया है वह सब प्रकार के कमरों में लागू हो सकता है, केवल उसमें वैयक्तिक रुचि विशेष होगी।

हमने ऊपर यह बताया है कि घर को सुख-शान्तिमय बनाने के लिये स्त्री-पुरुष में एक मनोवैज्ञानिक अनुकूलता का होना आवश्यक है। इसके बाद अपनी नकल करने वाली आदत को कोसते हुए हमने यह बताया कि भारतीय जलवायु तथा लोगों के रुचि के अनुकूल कमरों की कैसी सजावट यहाँ वांछनीय है। अब हम एक दूसरी आवश्यक बात का कथन करेंगे और वह है अपने हाथों अपना काम करना।

घर की देखभाल और उसकी सजावट करना प्रतिदिन अपने व्यक्तित्व का एक नया चित्र उपस्थित करने के समान है। नौकरों या किसी अन्य व्यक्ति के ऊपर यह काम छोड़ देना ठीक नहीं है। दूसरे के भरोसे बैठ कर न केवल हम अपने को मौलिक रचना के आनंद से वंचित रखते हैं, अपितु हम उस वातावरण को भी खो देते हैं, जिसकी हम भविष्य के लिए प्रतीक्षा किये रहते हैं। गृहस्वामिनी तथा गृहस्वामी का तथा उसी प्रकार उनके बच्चों का यह एक आवश्यक गुण होना चाहिए कि वे घर पर अपने ही हाथों से कार्य करते रहें। हमारी दास-मनोवृत्ति ने ही हमें ऐसा बना दिया है कि हम अपने हाथों से अपना काम करना घृणित और अप्रतिष्ठित समझते हैं।

घर को सजाने के संबंध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात सफाई का होना जरूरी है। साफ-सुथरी वस्तुएँ, चाहे वे भली प्रकार सजा कर न भी रक्खी गई हों, सुन्दर लगती हैं।

अंतिम बात, जो कम महत्व की नहीं है, वैयक्तिक सजावट की है। चलते-फिरते हुए लोग भी घर के वातावरण का अभिन्न अंग हैं। 'शृंगार' स्वयं ही एक अपरिहार्य विषय है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि घर पर रहने के समय आवश्यक साफ-सुथरी तथा घरेलू कार्यों के लिए उपयुक्त वेश-भूषा ही यथेष्ट है, जो एक सुव्यवस्थित गृह की महत्ता के अनुकूल होगी।

घरों को सुन्दर-सुहावने बनाये रखना सदा से ही भारतीय ललना-समाज का एक अनुपम गुण रहा है। खेद है कि विपरीत समय के आ पड़ने से बहुतों का अपनी पुरातन संस्कृति से विच्छेद हो गया है। आधुनिक सभ्यता की क्षणिक चमक-दमक वाली वस्तुओं के लोभ में पड़कर बहुत सी भारतीय नारियों का अपनेपन से विश्वास उठ गया है। यह सब होते हुए अब भी कितनी ही महिलाएँ हैं, जिन्होंने असाधारण कठिनाइयों और प्रलोभनों का संवरण कर भारतीय गृह के सौंदर्य को स्थिर रक्खा है और यह उन्हीं के महान् त्याग का फल है कि पुरुषों की उदासीनता और अवहेलना के होते हुए भी हमारी सांस्कृतिक निधि का रक्षण हो सका है तथा उसका संवर्धन भी हो रहा है। घरों के भीतर ऐसी गृहलक्ष्मियों की उपस्थिति ही उन घरों की शोभा और सजावट के लिए अलम् है।

दिल्ली]



धर्मसेविका प्राचीन जैन देवियाँ

ब्र० चंदाबाई जैन

कुटुम्ब ही समाज और देश की नींव है। नैतिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से कुटुम्ब का समाज में विशेष महत्व है। कटुम्ब के सदस्य पुरुष एवं स्त्रियाँ इन दोनों वर्गों का आपस में इतना घनिष्ट संबंध है कि एक दूसरे को अन्योन्याश्रित समझा जाता है। अथवा यों कहना चाहिये कि ये दोनों वर्ग एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का काम चलना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है। यही कारण है कि दोनों का सदा से सर्वत्र समान भाग रहा है।

समाज एवं राष्ट्र में पुरुष वर्ग का काम अपने जीवन में संघर्ष के द्वारा अर्जन करना है, महिलाओं का काम उसे सुरक्षित रखना है। इस प्रकार पुरुष का कर्मक्षेत्र बाहर का एवं महिलाओं का भीतर का है। पुरुष बहिर्जगत के स्वामी हैं तो महिला अन्तर्जगत की स्वामिनी, लेकिन ये दोनों जगत परस्पर दो नहीं, एक और अभिन्न हैं। इसलिए एक का उत्कर्ष एवं अपकर्ष दूसरे का उत्कर्ष एवं अपकर्ष है। पुरुष वर्ग में यदि कोई कमजोरी अथवा त्रुटि आई तो उसका प्रभाव महिला वर्ग पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार महिला वर्ग के गुण-दोष पुरुष वर्ग को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते। लाला लाजपतराय ने लिखा है, 'स्त्रियों का प्रश्न पुरुषों का प्रश्न है; क्योंकि दोनों का एक दूसरे पर असर पड़ता है। चाहे भूतकाल हो या भविष्य, पुरुषों की उन्नति बहुत कुछ स्त्रियों की उन्नति पर निर्भर है।"

स्त्री-पुरुषों के कार्य का विभाजन उनके स्वभाव-गुण के अनुसार किया गया है। सबल पुरुषों के हाथ भारी कार्यों को सौंपा गया और चूंकि महिलाओं का स्वभाव सहज एवं मृदु होता है, अतः उसीके अनुरूप कार्य उन्हें दिये जाते हैं। शारीरिक बनावट के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि स्त्री में हृदय की प्रधानता है और पुरुष में मस्तिष्क की। वैज्ञानिकों का मत है कि स्त्री के हृदय में गुण अधिक होते हैं। उसमें पुरुष की अपेक्षा प्रेम, दया, श्रद्धा, सहानुभूति, क्षमा, त्याग, सेवा, कोमलता एवं सौजन्यता आदि गुण विशेष रूप से पाये जाते हैं। स्त्री का हृदय नैसर्गिक श्रद्धालु होता है। गुणवान व्यक्ति को देखकर उसे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। इसी आनन्द का दूसरा नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा कई प्रकार की होती है। जीवनोन्नति के प्रारंभ में स्त्री की श्रद्धा संकुचित रहती है। वह अपने पति, पुत्र, पिता, भाई और बहिन पर भी रागात्मक रूप से श्रद्धा करती है। इस अवस्था में श्रद्धा और प्रेम इतने मिल जाते हैं कि उनका पृथक्करण करना कठिन हो जाता है; परन्तु जब यही श्रद्धा बढ़ते-बढ़ते व्यापक रूप धारण कर लेती है तब धार्मिक श्रद्धा के रूप में परिणत हो जाती है। इस परिणमन में विशेष समय नहीं लगता। इसलिए किशोरावस्था से लेकर जीवनावसान तक स्त्री के हृदय में धार्मिक श्रद्धा की मंदाकिनी प्रवाहित होती रहती है। इसी श्रद्धा के कारण महिलाओं ने प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेक प्रकार से धर्म की सेवा की है। प्रस्तुत निबंध में प्राचीन धर्म-सेविका देवियों के संबंध में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

प्राचीन शिलालेखों एवं चित्रों से पता चलता है कि जैन श्राविकाओं का प्रभाव तत्कालीन समाज पर था। इन धर्म-सेविकाओं ने अपने त्याग से जैन-समाज में प्रभावशाली स्थान बना लिया था। उस समय की अनेक जैन देवियों ने अपनी उदारता एवं आत्मोत्सर्ग द्वारा जैनधर्म की पर्याप्त सेवा की है। श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में अनेक श्राविका एवं आर्यिकाओं का उल्लेख है, जिन्होंने तन, मन, धन से जैनधर्म के उत्थान के लिये अनेक विपत्तियों का सामना करते हुए भी प्रयत्न किया था। यद्यपि आज वे भूतल पर नहीं हैं, तथापि उनकी कीर्ति-गाथा जैन महिलाओं को स्मरण दिला

रही है कि उन्होंने माता, बहिन और पत्नी के रूप में जो जैन धर्म का बीज-वपन किया था, वह पल्लवित और पुष्पित होकर पुरुष-वर्ग को अक्षुण्ण शीतल छाया अनन्तकाल तक प्रदान करता रहेगा।

ईस्वी पूर्व छठवीं शताब्दी में जैनधर्म का अभ्युत्थान करने वाली इक्ष्वाकुवंशीय महाराज चेटक की राज्ञी भद्रा, चंद्रवंशीय महाराज शतानीक की धर्मपत्नी मृगावती, महाराज उदयन की सम्राज्ञी वासवदत्ता, सूर्यवंशीय महाराज दशरथ की पत्नी सुप्रभा, उदयन महाराज की पत्नी प्रभावती, महाराज प्रसेनजित की पत्नी मल्लिका एवं महाराज दार्फवाहन की पत्नी अभया हुई हैं। इन देवियों ने अपने त्याग एवं शौर्य के द्वारा जैनधर्म की विजयपताका फहराई थी। इन्होंने अपने द्रव्य से अनेक जिनालयों का निर्माण कराया था तथा उनकी समुचित व्यवस्था करने के लिये राज्य की ओर से भी सहायता का प्रबंध किया गया था। महारानी मल्लिका एवं अभया के संबंध में कहा जाता है कि इन देवियों के प्रभाव से ही प्रभावित होकर महाराज प्रसेनजित एवं दार्फवाहन जैन धर्म के दृढ़ श्रद्धालु हुए थे। महाराज प्रसेनजित ने श्रावस्ती के जैनों को जो सम्मान प्रदान किया था, इसका भी प्रधान कारण महारानी की प्रेरणा ही थी। इनके संबंध में एक स्थान पर लिखा है कि यह देवी परम जिनभक्ता और साधु-सेविका थी। सामायिक करने में इतनी लीन हो जाती थी कि इसे तन-बदन की सुधि भी नहीं रहती थी। इसका मुख अत्यन्त तेजस्वी और कान्तिमान था। विधर्मी भी इसके दर्शन से जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु हो जाते थे।

ईस्वी पूर्व ५वीं और ४थी शताब्दी में इक्ष्वाकुवंशीय महाराज पद्म की पत्नी धनवती, मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त की पत्नी सुपमा एवं सिद्धसेन की धर्मपत्नी सुप्रभा के नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं। ये देवियाँ जैनधर्म की श्रद्धालु एवं भक्ता थीं।

महाराज यम उड्रदेश के राजा थे। इन्होंने सुधर्म स्वामी से दीक्षा ली थी। इन्हीं के साथ महारानी धनवती ने भी श्राविका के व्रत ग्रहण किये थे। धनवती ने जैनधर्म के प्रसार के लिये कई उत्सव भी किये थे। यह जैनधर्म की परम श्रद्धालु और प्रचारिका थी। इसके संबंध में कहा जाता है कि इसके प्रभाव से केवल इसका ही कुटुम्ब जैनधर्मानुयायी नहीं हुआ था, बल्कि उड्रदेश की समस्त प्रजा जैनधर्मानुयायिनी बन गई थी। इसी प्रकार महारानी सुभद्रा ने भी जैनधर्म की उन्नति में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। प्राचीन जैन इतिहास के पन्ने उलटने पर ईस्वी सन् से २०० वर्ष पूर्व सम्राट् ऐल खारवेल की पत्नी भूसीसिंह यथा बड़ी धर्मात्मा हुई है। इस दम्पत्ति युगल ने भुवनेश्वर के पास खण्डगिरि और उदयगिरि पर जैन मुनियों के रहने के लिये अनेक गुफाएँ बनवाई और दोनों ही मुनियों की सेवा-सुश्रूषा करते रहे। सिंहयथा ने जैनधर्म की प्रभावना के लिये एक बड़ा भारी उत्सव भी किया था।

ईस्वी पूर्व ४थी शताब्दी से लेकर ईस्वी सन् की ६वीं शताब्दी तक के इतिहास में सिर्फ गंगवंश की महिलाओं की सेवा का ही उल्लेख मिलता है। यह वंश दक्षिण भारत के प्राचीन और प्रमुख राजवंशों में से था। आन्ध्रवंश के शक्तिहीन हो जाने पर गंगवंश के राजाओं ने दक्षिण भारत की राजनीति में उग्र रूप से भाग लिया था। इस वंश के राजाओं की राजधानी मैसूर थी। इस वंश के अधिकांश राजा जैन-धर्मानुयायी थे। राजाओं के साथ गंगवंश की रानियों ने भी जैन धर्म की उन्नति के लिये अनेक उपाय किये। ये रानियाँ मन्दिरों की व्यवस्था करतीं, नये मन्दिर और तालाब बनवातीं एवं धर्म-कार्यों के लिये दान की व्यवस्था करती थीं। इस राज्य के मूल संस्थापक ददिग और उनकी भार्या कम्पिला के धार्मिक कार्यों के संबंध में कहा गया है कि इस दम्पति-युगल ने अनेक जैन-मन्दिर बनवाये थे। इस काल में मन्दिरों का बड़ा भारी महत्त्व था। मन्दिर केवल भक्तों की पूजा के स्थान ही नहीं थे, बल्कि जैन धर्म के प्रसार एवं उन्नति के सच्चे प्रतीक होते थे। प्रत्येक मन्दिर के साथ एक आचार्य रहता था, जो निरन्तर धर्म-प्रचार और उसके उत्कर्ष का ध्यान रखता था। वास्तव में उस काल में जैन मन्दिर ही जैन धर्म के साहित्य, संस्कृति, कला एवं सात्विक शक्ति के पुनीत आश्रम थे। इसलिए जैनदेवियों ने अनेक जिनालय निर्माण करा कर जैन धर्म की उन्नति में भाग लिया था।

श्रवण वेलगोल के शक सं० ६२२ के शिलालेखों में आदेयरेनाडु में चितूर के मौनीगुरु की शिष्या नागमति,

पेरुमालु गुरु की शिष्या धण्णेकुत्तारे, विगुरवि, नमिलूरसंघ की प्रभावती, मयूरसंघ की अध्यापिका दमितावती, इसी संघ की सौंदर्या आर्य्या नाम की आर्यिका एवं व्रत शिलादि सम्पन्न शशिमति-गन्ति के समाविमरण धारण करने का उल्लेख मिलता है। इन देवियों ने श्राविका के व्रतों का अच्छी तरह पालन किया था। अन्तिम जीवन में संसार से विरक्त होकर कटवप्र पर्वत पर समाधि ग्रहण कर ली थी। सौन्दर्या आर्या के संवंध में शिलालेख नं० २९ (१०८) में लिखा है कि उसने उत्साह के साथ आत्म-संयम-सहित समाधि व्रत का पालन किया और सहज ही अनुपम सुरलोक का मार्ग ग्रहण किया।

इसके अनन्तर जैनधर्म के धार्मिक विकास के इतिहास में पल्लवाधिराज मरुवर्मा की पुत्री और निर्गुन्द देश के राजा परमगूल की रानी कंदाच्छि का नाम आता है। इसने श्रीपुर में 'लोकतिलक' जिनालय बनवाया था। इस जिनालय की सुव्यवस्था के लिये श्रीपुरुष राजा ने अपनी भार्या की प्रेरणा एवं परमगूल की प्रार्थना से निर्गुन्द देश में स्थित पूनल्लि नामक ग्राम दान में दिया था। ऐतिहासिक जैनधर्म-सेविका जैनमहिलाओं में इस देवी का प्रमुख स्थान है। इसके संवंध में कहा जाता है कि "यह सदा पुण्य कार्यों में आगे रहती थी। इसने कई उत्सव और जागरण भी किये थे।" इसका पता ७७६ ईस्वी की एक राजाज्ञा से चलता है कि इस काल में कंदाच्छि पूर्ण वयस्क थी। साथ ही यह भी मालूम होता है कि इस देवी का केवल अपने ही परिवार पर प्रभाव नहीं था, वल्कि गंगराज परिवार पर भी था।

इसके वाद प्रमुख जैन महिलाओं में जाक्कियव्वे का नाम आता है। श्रवण वेलगोल के शिलालेख नं० ४८९ (४००) से पता चलता है कि यह देवी शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थी और इसने एक मूर्ति की स्थापना कराई थी। इसकी व्यवस्था के लिए गोविन्द वाडि[१] की भूमि दान की थी। इस देवी के पति का नाम सत्तरस नागार्जुन था। यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के समय में हुई थी। सन् ९११ में सत्तरस नागार्जुन जो नागखण्ड ७० का शासक था, मर गया था। राजा ने उसके स्थान पर उसकी पत्नी को नियुक्त किया था। इस कथन से सिद्ध होता है कि जाक्कियव्वे राज्य-कार्य संचालन में भी निपुण था। इसके संवंध में कहा गया है[१] कि "This lady who was skilled in ability for good government faithful to the Jinendra Sasan and rejoicing in her beauty."

अर्थात्—"यह राज्यकार्य में निपुण, जिनेन्द्र के शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी।" स्त्री होने पर भी इसने अपने अपूर्व साहस और गाम्भीर्य के साथ जैन शासन और राज्य शासन की रक्षा की थी। अन्तिम समय में यह व्याधिग्रस्त हो गई। इसलिये इसने पुत्री को राज्य सौंप कर वन्दणिके नामक ग्राम की वसादि में सल्लेखना धारण की थी।

इस शताब्दी में एक और जैनमहिला के उल्लेखनीय कार्य आते हैं, जिसका नाम अतिमव्वे था। इस देवी के पिता का नाम सेनापति मल्लय्य, पति का नाम नागदेव और पुत्र का नाम पडेवल तैल था। अतिमव्वे का जैन नारियों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहा जाता है कि इस देवी ने अपने व्यय से पोन्नकृत शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियाँ और डेढ़ हजार सोने और जवाहिरात की मूर्तियाँ तैयार कराई थीं। अनेक धर्म-सेविकाओं की तुलना अतिमव्वे से की गई है।

दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वीरवर चामुण्डराय की माता कालल देवी एक बड़ी धर्म-प्रचारिका हुई हैं। 'भुजवल-चरित' से पता लगता है कि इस देवी ने जब जैनाचार्य जिनसेन के मुख से गोम्मट देव की मूर्ति की प्रशंसा सुनी तो प्रतिज्ञा की कि जब तक गोम्मट देव के दर्शन न करूँगी, दूध नहीं पीऊँगी। जब चामुण्डराय को अपनी पत्नी अजितादेवी के मुख से अपनी माता का यह संवाद मालूम हुआ तो मातृभक्त पुत्र ने माता को गोम्मटदेव के दर्शन कराने के लिये पोदेनपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने श्रवण वेलगोल की चन्द्रगुप्त वस्ति में पार्श्वनाथ के दर्शन किये

---

[१] विशेष जानकारी के लिए देखिए 'मेडीवल जैनिज्म' पृ० १५६।

और भद्रबाहु के चरणों की वन्दना की। उसी रात को पद्मावती देवी ने कालल देवी को स्वप्न दिया की कुक्कुट सर्पो के कारण पोदेनपुर की वन्दना तुम्हारे लिये असम्भव है, पर तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर गोम्मटदेव तुम्हें यहीं बड़ी पहाड़ी पर दर्शन देंगे। दर्शन देने का प्रकार यह है कि तुम्हारा पुत्र शुद्ध होकर इस छोटी पहाड़ी पर से एक स्वर्णवाण छोड़े तो भगवान के दर्शन होंगे। प्रातःकाल होने पर चामुण्ड ने माता के आज्ञानुसार नित्यकर्म से निपट कर शुद्ध हो स्नान-पूजन कर छोटी पहाड़ी की एक शिला पर अवस्थित हो दक्षिण दिशा की ओर मुंह कर एक वाण छोड़ा जो विन्ध्यगिरि के मस्तक पर की शिला में लगा। वाण के लगते ही गोम्मटस्वामी का मस्तक दृष्टिगोचर हुआ। फिर जैनगुरु ने हीरे की छेनी और मोती के हथौड़े से ज्यों ही शिला पर प्रहार किया, शिला के पाषाणखण्ड अलग हो गये और गोम्मटदेव की प्रतिमा निकल आई। इसके बाद माता की आज्ञा से वीरवर चामुण्डराय ने दुग्धाभिषेक किया।

इस पौराणिक घटना में कुछ तथ्य हो या नहीं, पर इतना निर्विवाद सिद्ध है कि चामुण्डराय ने अपनी माता कालल देवी की आज्ञा और प्रेरणा से ही श्रवण वेलगोल में ही गोम्मटेश्वर की मूर्ति स्थापित की थी। इस देवी ने जैन-धर्म के प्रचार के लिये कई उत्सव भी किये थे। चामुण्डराय के जैनधर्म का पक्का श्रद्धानी होने का प्रधान कारण इस देवी की स्नेहमयी गोद एवं बाल्यकालीन उपदेश ही था।

दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में अनेक जैन महिलाओं ने जैनधर्म की सेवा की है। इस काल में दक्षिण में राजघरानों की देवियों के अतिरिक्त साधारण महिलाओं ने भी अपने त्याग एवं सेवा का अच्छा परिचय दिया है। दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पाम्बब्बे नाम की एक अत्यन्त धर्मशीला महिला हो गई है। इसके पति का नाम पडियर दोरपय्य था। यह उनकी पत्नी बताई गई है। यह नाणब्बे कन्ति नामक धर्माचार्य की शिष्या थी। इसके संबंध में लिखा हुआ मिलता है—"Pambabbe having made her head bold (by plucking cut the hair), performed penance for thirty years, and observing the five vows expired in A. D. 971."

अर्थात्—पाम्बब्बे केशलुञ्च कर तीस वर्ष तक महान् तपश्चरण करती रही और अंत में पंचव्रतों का पालन करते हुए ९७१ ई० में शरीर-त्याग किया।

ग्यारहवीं शतांब्दी में शम्भूदेव और अकब्बे के पुत्र चन्द्रमौलि की भार्या अचलदेवी अत्यन्त धार्मिक महिला हुई है। यह चन्द्रमौलि वीरवल्लालदेव का मन्त्री था। अचलदेवी के पिता का नाम सोवण नायक और माता का नाम बाचब्बे था। यह नयकीर्त्ति के शिष्य बालचन्द्र की शिष्या थी। नयकीर्ति सिद्धान्तदेव मूलसंघ, देशीयगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयके गुणचन्द्र सिंद्धान्तदेव के शिष्य थे। नयकीर्ति के शिष्यों में भानुकीर्ति, प्रभाचन्द्र, माघनन्दी, पद्मनन्दी, बालचन्द्र और नेमिचन्द्र मुख्य थे। अचलदेवी का दूसरा नाम आचियक्क बताया गया है। इसने अक्कनबस्ति (जिनमन्दिर) का निर्माण कराया था। चन्द्रमौलि ने अपनी भार्या अचलदेवी की प्रेरणा से होयसल नरेश वीर-वल्लाल से बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम उपर्युक्त जिनमन्दिर की व्यवस्था के लिए मांगा था। राजा ने धर्म-मार्ग का उद्योत समझ कर उक्त ग्राम दान में दिया था। इसी अचलदेवी की प्रार्थना से वीरवल्लाल नृप ने बेक्क नामक ग्राम गोम्मटनाथ के पूजन के हेतु दान में दे दिया। इस धर्मात्मा देवी के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है कि यह साक्षात् धर्ममूर्ति थी। इसने धर्म-मार्ग की प्रभावना के लिए कई उत्सव किये थे। इन उत्सवों में यह रात्रि-जागरण करती रही थी।

इसके अनन्तर इसी शताब्दी में पद्मावती वक्क का नाम धर्मसेविकाओं में आता है। यह देवी अभयचन्द्र की गृहस्थ शिष्या थी। सन् १७०८ में अभयचन्द्र का देहावसान होने पर इसने उस बसादि का निर्माण-कार्य पूर्ण किया था, जिसका प्रारम्भ अभयचन्द्र ने किया था। इस देवी ने देवमन्दिर की चहारदीवारी भी बनवा दी थी। अपने समय की लब्ध-प्रतिष्ठ सेविका यह देवी थी। इसी देवी की समकालीन कोंगाल्व की माता पोचब्बरसि ने एक बसादि का निर्माण कराया था। इस बसादि में इसने अपने गुरु गुणसेन पंडित की मूर्त्ति स्थापित की थी। सन्

१०५८ में उस वसादि के निर्वाह के लिए भूमि-दान भी किया था। इसने अपने जीवन-काल में अनेक धार्मिक उत्सव किये थे।

कदम्बराज कीर्त्तिदेव की प्रथम पाणिगृहीता पत्नी मालल देवी का भी धर्मप्रचारिका जैन महिलाओं में ऊँचा स्थान है। इसने सन् १०७७ में कुप्पटूर में पद्मनंदी सिद्धान्तदेव के द्वारा पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराया था। इस देवी ने जिनालय के तैयार होने पर एक बड़ा उत्सव किया था तथा इस उत्सव में सभी ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया था और उनकी पूजा कर उन्हें धन-मानादि द्वारा सन्तुष्ट किया था। इसलिए इसी जिनालय का नाम उन्हीं आमन्त्रित ब्राह्मणों से ब्रह्मजिनालय रखवाया था। यह जिनालय एडेनाडु नामक सुन्दर स्थान पर था। इसके सम्बन्ध में उल्लेख है—"This sage belonged to the Mula Sangha and the Tintrinika gaccha. This Tinaloya she obtained from the king Siddoni the most beautiful place in Edenad."

इसके अनन्तर इसी शताब्दी की जैन महिलाओं में सान्तर परिवार की जैनधर्माराधिका चट्टल देवी का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। यह देवी रक्कस गंग की पौत्री थी। इसका विवाह पल्लवराज काडुवेट्टी से हुआ था। असमय में ही इसके पति और पुत्र का स्वर्गवास हो गया था। इसके बाद इसने अपनी छोटी बहन के तैल, गोग्गिप, ओड्डुग और बर्म इन चार पुत्रों को अपना मातृस्नेह समर्पित किया। इन्हीं की सहायता से सान्तरों की राजधानी पोम्बुच्चपुर में जिनालयों का निर्माण किया। इन जिनालयों में एक पंचकूट या पंचवसादि है जो 'ऊर्वितिलकम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इस परोपकारी देवी ने तालाब, कुएँ, मन्दिर तथा घाटों का भी निर्माण कराया। यह आहार, ज्ञान, औषधि और अभय इन चारों प्रकार के दानों से जनता की सेवा करती थी। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह लावण्यवती, स्नेह की मधु धारा और परोपकार की साक्षात् मूर्त्ति थी। इसने जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था।

श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० २२६ (१३७) से पता लगता है कि इसी शताब्दी में पोयसल सेट्टि और नेमि सेट्टि की माताओं—माचिकव्वे और शान्तिकव्वे—ने जिनमन्दिर और नन्दीश्वर निर्माण करा कर भानुकीर्ति मुनि से दीक्षा ली थी। ये दोनों देवियां जैनधर्म की प्रचारिका थीं। इन्होंने अपने समय में जैनधर्म का अच्छा प्रसार किया था। साधारण धर्मसेवी महिलाओं में श्रीमती गन्ती का नाम भी मिलता है। इस देवी के गुरु दिवाकर नन्दी मुनीन्द्र बताये गये हैं। श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० १३९ (३५१) से पता चलता है कि माङ्कब्बे गन्ती ने श्रीमती गन्ती के स्मरणार्थ उक्त लेख लिखवाया था। लेख के प्रारम्भ में बताया गया है कि देशीय गण कुन्दकुन्दान्वय के दिवाकर नन्दी और उनकी शिष्या श्रीमती गन्ती का स्मारक है। इस प्रकार अनेक साधारण महिलाएँ जैनधर्म की सेवा करती रहीं।

ग्यारहवीं शताब्दी में राजपरिवार की देवियों में गंग महादेवी को जैनधर्म प्रचारिकाओं में अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। यह भुजबल गंग हेम्माडि मान्धाता भूप की पत्नी थी। इस देवी का दूसरा नाम पट्टदमहादेवी भी मिलता है। यह देवी जिन-चरणारविन्दों में लुब्धभ्रमरी थी।

ग्यारहवीं शताब्दी में शान्तलदेवी की माता माचिकव्वे भी बड़ी धर्मात्मा एवं धर्मसेवी हुई है। इसका संक्षिप्त वंशपरिचय मिलता है कि दण्डाधीश नागवर्म और उनकी भार्या चन्दिकव्वे के पुत्र प्रतापी बलदेव दण्डनायक और उनकी भार्या बाचिकव्वे से माचिकव्वे की उत्पत्ति हुई थी। यह बचपन से ही बड़ी धर्मात्मा और रूपवती थी। इसका विवाह मारसिङ्गय्य युवक से हुआ था। इसका पति शैव धर्मानुयायी था, लेकिन यह पक्की जैन थी। इसके गुरुओं का नाम प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव, वर्द्धमानदेव और रविचन्द्रदेव था। श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० ५३ (१४३) से प्रकट होता है कि इसने बेलगोल में आकर एक मास के अनशन व्रत के पश्चात् गुरुओं की साक्षि-पूर्वक सन्यास ग्रहण किया था। इस धर्मात्मा देवी की पुत्री महारानी शान्तलदेवी हुई। यह प्रारम्भ से ही माता के समान

धर्मात्मा, रूपवती और विदुषी थी। इसका विवाह होयसलवंशी महाराज विष्णुवर्द्धन के साथ हुआ था। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह जैन धर्मावलम्बिनी, धर्मपरायणा और प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थी। श्रवण वेलगोल के शिलालेख नं० ५६ (१३२) में बताया गया है कि "विष्णुवर्द्धन की पट्टरानी शान्तलदेवी-जो पातिव्रत, धर्मपरायणता और भक्ति में रुक्मिणी, सत्यभामा, सीता-जैसी देवियों के समान थी—ने सवतिगन्धवारणवस्ति निर्माण कराकर अभिषेक के लिए एक तालाब बनवाया और उसके साथ एक गाँव का दान मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को कर दिया।" एक दूसरे शिलालेख में यह भी कहा गया है कि इस देवी ने विष्णुवर्द्धन नरेश की अनुमति से और भी कई छोटे-छोटे ग्राम दान किये थे। इन ग्रामों का दान भी मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ के मेघचन्द्र त्रैविधदेव के शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के लिए किये जाने का उल्लेख है। जैन महिलाओं के इतिहास में इस देवी का नाम चिरस्थायी है। इसने सन् ११२३ में श्रवण वेलगोल में जिनेन्द्र भगवान् की एक प्रतिमा स्थापित की, जो शान्ति जिनेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसने भक्ति, दया, दान, धर्मशीलता और सौजन्यता आदि गुणों से अपूर्व ख्याति प्राप्त की थी। अन्तिम जीवन में शान्तलदेवी विषयभोगों से विरक्त होकर कई महीनों तक अनशन और ऊनोदर व्रतों को धारण करती रही थी। सन् ११३१ में शिवगंगे नामक स्थान में सल्लेखना धारण कर शरीर त्याग किया था।

शान्तलदेवी की पुत्री हरियब्बरसि ने अनेक धार्मिक कार्य किये थे। इसने सन् ११२९ में कोडांगिनाद के हन्तिपूर नामक स्थान में एक बड़ा भारी जिनमन्दिर बनवाया था तथा इसके गोपुर की चोटियों में हीरा, रत्न एवं ज़वाहिरात आदि अमूल्य मणि-माणिक्य लगवाये थे। इस चैत्यालय के निर्वाह के लिए बहुत सी भूमि दान की है। इसके सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है कि "हरियब्बरसि की ख्याति तत्कालीन धार्मिकों में थी, मदसुन्दरी जैनधर्म की अत्यन्त अनुरागिणी थी, भगवान् जिनेन्द्र का पूजन प्रतिदिन करती थी, साधु और मुनियों को आहार दानादि भी देती थी।"

विष्णुचन्द्र नरेश के बड़े भाई बलदेव की भार्या जवक्कणब्बे की जैनधर्म में अत्यन्त श्रद्धा थी। श्रवण वेलगोल के शिलालेख नं० ४३ (११७) में बताया गया है कि देवी नित्य प्रति जिनेन्द्रदेव का पूजन करती थी।

यह चारित्र्यशील, दान, सत्य आदि गुणों के कारण विख्यात थी। यह गुरु के चरणों में रात-दिन अर्हत् गुणगान, पूजन, भजन, स्वाध्याय आदि में निरत रहती थी। इसने 'मोक्षतिलक' व्रत करके एक प्रस्तरखंड में एक जिनदेवता की प्रतिमा खुदवाई थी और वेलगोल में उसकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। इस प्रतिष्ठा का समय अनुमानतः ११२० ई० है।

जैन महिलाओं के इतिहास में नागले भी उल्लेखयोग्य विदुषी, धर्मसेविका महिला है। इसके पुत्र का नाम बूचिराज या बूचड़ मिलता है। यह अपनी माता के स्नेहमय उपदेश के कारण शक सं० १०३७ में वैशाख सुदी १० रविवार को सर्वपरिग्रह का त्याग कर स्वर्गगामी हुआ था। इसकी धर्मात्मा पुत्री देमति या देवमति थी। यह राजसम्मानित चामुण्ड नामक वणिक् की भार्या थी। इसके सम्बन्ध में उल्लेख है—

आहारं त्रिगज्जनाय विभयं भीताय दिव्यौषधम्।
व्याधिव्यापदुपेतदीनमुखिने श्रोत्रे च शास्त्रागमम्।
एवं देवमतिस्सदैव ददती प्रप्रक्षये स्वायुषा—
मर्हद्देवमर्ति विधाय विधिना दिव्या वधू प्रोदभू
आसीत्परक्षोभकर प्रतापा शेषावनी पाल कृता दरस्य।
चामुण्डनाम्नो वणिजः प्रियास्त्री मुख्यासती या भुविदेवमतीति ॥

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि देवमति आहार, औषधि, ज्ञान और अभय इन चारों दानों को वितीर्ण करती

थी। इसका समस्त जीवन दान-पुण्यादि पवित्र कार्यों में व्यतीत हुआ था। अन्त में शक सं० १०४२ फाल्गुण वदी ११ गुरुवार को सन्यासविधि से शरीर त्याग किया था। इसी समय मार और माकणब्बे के पुत्र एचि की भार्या पोचिकब्बे बड़ी धर्मात्मा और जैनधर्म की प्रचारक हुई है। इसने अनेक धार्मिक कार्य किये थे। बेल्गोल में जैन-मन्दिर बनवाने में भी इसका उल्लेख मिलता है। शक सं० १०४३ आषाढ़ सुदी ५ सोमवार को इस धर्मवती महिला का स्वर्गवास हो जाने पर उसके प्रतापी पुत्र महासामन्ताधिपति महाप्रचण्ड दण्डनायक विष्णुवर्द्धन महाराज के मन्त्री गंगराज ने अपनी माता के चिरस्मरणार्थ एक निषद्या का निर्माण कराया था।

एक अन्य जैनधर्म की सेविका तैल नृपति की कन्या और विक्रमादित्य सान्तर की बड़ी बहन सान्तर राजकुमारी का उल्लेख मिलता है। यह अपने धार्मिक कार्यों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थी। लेखों में इस महिला की प्रशंसा की गई है। इसने शासन देवते का एक मास में निर्माण कराया था। पम्पादेवी बड़ी धर्मशीला थी। यह नित्यप्रति शास्त्रोक्त विधि से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करती थी। यह अष्टविधार्चने, महाभिषेकम् और चतुर्भक्ति को सम्पन्न करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती थी। ऊर्वितिलकम् के उत्तरी पट्टशाला के निर्माण में इस देवी का पूर्ण हाथ था।

अनेकान्त मत की प्रचारिका जैन महिलाओं के इतिहास में जैन सेनापति गंगराज की पत्नी लक्ष्मीमती का नाम भी नहीं भुलाया जा सकता है। श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० ४८ (१२८) से पता लगता है कि यह देवी दान, क्षमा, शील और व्रत आदि में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। इस लेख में इसके दान की प्रशंसा की गई है। इस महिला ने सन् १११८ में श्रवण बेलगोल में एक जिनालय का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त इसने अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था। गंगराज ने इन जिनालयों की व्यवस्था के लिए भूमि-दान किया था। यह देवी असहाय और दुःखियों की अन्न वस्त्र से सहायता करती थी। इसी कारण इसे उदारता की खान कहा गया है। एक लेख में कहा गया है कि "क्या संसार की कोई दूसरी महिला निपुणता, सौन्दर्य और ईश्वर-भक्ति में गंगराज की पत्नी लक्ष्मीपाम्बिके की समानता कर सकती है? सन् ११२१ में लक्ष्मीमती ने समाधि लेकर शरीर त्याग किया था।

सुग्गियब्बरसि, कनकियब्बरसि, बोपब्बे और शान्तियक्क महिलाओं की धर्म-सेवा के सम्बन्ध में भी कई उल्लेख मिलते हैं। इन देवियों ने भी जैनधर्म की पर्याप्त सेवा की थी। श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में इच्छादेवी एचब्बे, एचलदेवी, कमलदेवी, कालब्बे केलियदेवी, गुज्जवे, गुणमतियब्बे, गंगायी, चन्दले, गौरश्री, चागल देवी, जानकी जोगब्बे, देवीरम्मणि, धनाश्री, पद्मलदेवी, (डुल्लभार्या) यशस्वती, लोकांबिका (डुल्ल की माता) शान्तल देवी, (बूचिराज की भार्या) सोमश्री एवं सुप्रभा आदि अनेक जैनधर्मसेवी महिलाओं का उल्लेख मिलता है। इन देवियों ने स्वपर-कल्याणार्थ अनेक धार्मिक कार्य किये थे।

दक्षिण भारत के अतिरिक्त उत्तर भारत में भी दो-चार धर्म-सेविकाएँ ११वीं, १२वीं और १३वीं शताब्दी में हुई हैं। सुप्रसिद्ध 'कवि कालिदास' आशाधर जी की पत्नी पद्मावती ने बुलडाना ज़िले के मेहकर (मेघंकर) नामक ग्राम के बालाजी के मन्दिर में जैन मूर्त्तियों की प्रतिष्ठादि की थी, यह एक खण्डित मूर्त्ति के लेख से स्पष्ट सिद्ध होता है। राजपूताने की जैन महिलाओं में पोरवाड़वंशी तेजपाल की भार्या सुहड़ादेवी, शीशोदिया वंश की रानी जयतल्ल देवी एवं जैन राजा आशाशाह की माता का नाम विशेष उल्लेखयोग्य मिलता है।

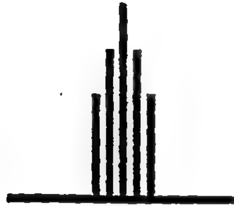
चौहानवंश की रानियों ने भी उस वंश के राजाओं के समान जैनधर्म की सेवा की थी। इस वंश का शासन विक्रम संवत् की १३वीं शताब्दी में था। इस वंश के राजा कीर्त्तिपाल की पत्नी महिबलदेवी का नाम विशेष उल्लेख-योग्य मिलता है। इस देवी ने शान्तिनाथ भगवान का उत्सव मनाने के लिए भूमिदान की थी। इसने धर्म-प्रभावना के लिए कई उत्सव भी किये थे।

इसी वंश में होने वाले पृथ्वीराज द्वितीय और सोमेश्वर ने अपनी महारानियों की प्रेरणा से विजौलिया के जैनमन्दिर को दान दिया था तथा मन्दिर के स्थायी प्रवन्ध के लिए राज्य की ओर से वार्षिक भी दिया जाता था।

परिवार (?) वंश में भी उल्लेखयोग्य धारावंश की पत्नी शृंगारदेवी हुई हैं। इस देवी ने झालोनी के शान्तिनाथ मन्दिर के लिए पर्याप्त दान दिया था तथा धर्म के प्रसार के लिए और भी अनेक कार्य किये थे।

इस प्रकार उत्तर और दक्षिण दोनों ही प्रान्तों की महिलाओं ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक कार्य किये। उत्तर में केवल बड़े घरानों की महिलाओं ने ही जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में योग दिया, पर दक्षिण में सर्वसाधारण महिलाओं ने भी जैनधर्म की उन्नति में योग-दान किया।

आरा]



काश्मीरी कवियित्रियाँ

कुमारी प्रेमलता कौल एम्० ए०

काश्मीरी कविता का आस्वादन कराने के पूर्व काश्मीरी भाषा के सम्बन्ध में कुछ बातें निवेदन कर देना आवश्यक है। यद्यपि स्थानाभाव के कारण काश्मीरी भाषा के क्रमिक विकास का सविस्तर वर्णन सम्भव नहीं, तथापि थोड़ा-सा दिग्दर्शन तो करा ही सकती हूँ।

यह सर्वमान्य है कि काश्मीर की प्राचीनतम भाषा संस्कृत थी। जिस प्रकार बोलचाल की भाषा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, काश्मीरी भाषा भी बदलती रही है। उसमें रूसी और तिब्बती भाषा के आज भी कुछ चिह्न मिलते हैं। जब से मुसलमानों के आक्रमण होने प्रारम्भ हुए तब से तो बोलचाल की भाषा में बहुत ही परिवर्तन होने लगे। जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, काश्मीर की भाषा तो संस्कृत थी। बाहर से आई फ़ारसी। यद्यपि काश्मीर-वासियों ने इस नई भाषा से दूर रहने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु फिर भी वह उन पर लादी जाने लगी। मुसलमानों ने फ़ारसी को राज्य-भाषा बनाया। आपस का सम्पर्क आवश्यक था। परिणाम-स्वरूप दोनों भाषाओं के शब्द विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त होने लगे। काश्मीर वाले फ़ारसी का और मुसलमान संस्कृत का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते थे। नतीजा यह हुआ कि एक ऐसी भाषा बन गई, जिसमें फ़ारसी और संस्कृत के अपभ्रंश शब्दों का इस्तैमाल होने लगा। इस नवीन भाषा का व्याकरण दस प्रतिशत संस्कृत व्याकरण है; किन्तु इसमें चार ऐसे स्वर आ गये हैं, जो न संस्कृत वर्णमाला में हैं और न फ़ारसी में। इनका कुछ सम्बन्ध रूसी भाषा से अवश्य पाया जाता है। हम उन्हें अपने ही स्वर-अक्षरों में कुछ चिह्न लगा कर सूचित करते हैं।

आजकल की काश्मीरी भाषा में उर्दू, फ़ारसी, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के शब्द प्रयुक्त होते हैं। फ़ारसी के अतिरिक्त यहाँ देवनागरी से मिलती-जुलती 'शारदा' नामक लिपि भी पाई जाती है, जिसका प्रयोग कुछ प्राचीन हिन्दू ही करते हैं और इसका स्थानिक प्रयोग ज्योतिष तक ही सीमित है। कोई उल्लेखयोग्य साहित्य उसमें उपलब्ध नहीं है।

इस समय जो काश्मीरी साहित्य मिलता है, उसे देखने से पता चलता है कि इस प्रदेश में अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने साहित्य की अच्छी सेवा की है। प्रस्तुत लेख में केवल कवियित्रियों पर ही प्रकाश डालूंगी।

काश्मीरी कवियित्रियों में सबसे पहला स्थान ललितेश्वरी देवी उपनाम 'ललीश्वरीदेवी' का है। इनकी रचनाएँ बहुत ही प्रभावशाली हैं और इनकी वाणी में अद्‌भुत ओज है।

उनका जन्म काश्मीर के एक गाँव में हुआ था। बड़ी होने पर पद्मपुर[1] में एक ब्राह्मण से इनका विवाह हुआ। जब ये ससुराल पहुँचीं तो इन्हें अपनी आध्यात्मिक उन्नति में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। इनकी सास का व्यवहार इनके प्रति बड़ा कटु था। फिर भी सब कुछ सहन करती हुई वे अपने मार्ग पर अग्रसर होती गईं। इनके बारे में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं; लेकिन विस्तार-भय से उनका उल्लेख करना सम्भव नहीं।

ललितेश्वरी का शास्त्रीय अध्ययन कितना था, इसका ठीक पता नहीं, लेकिन वेदान्त के सिद्धान्तों को उन्होंने गहराई से हृदयंगम कर लिया था। जैसा कि उनकी रचनाओं से विदित होता है, ब्रह्म-ज्ञान को उन्होंने व्यक्तिगत् साधना का विषय बनाया। हर स्थान पर 'बटा' (ब्राह्मण) कह कर वे जनता को सम्बोधित करती हैं। कर्मकाण्ड की उलझनों का कबीर की भाँति इन्होंने विरोध किया और साधना का सहज पथ ग्रहण करने की प्रेरणा की।

---

[1] आधुनिक पाम्पुर (केसर-भूमि)।

इनकी वाणी के कतिपय दृष्टान्त इनकी प्रवृत्ति को स्पष्टतया व्यक्त कर देते हैं। इनकी वाणी पर संस्कृत आचार्यों की छाप है। वे लिखती हैं—

अन्दर आसिय न्यबर छोडुम
पवनन रगन करनम सथ
ध्यान किञ दिए जगि कीवल जोनुम
रंग गव संगस मीलिय क्यथ

अन्दर होते हुए भी मैंने उसे (ब्रह्म को) बाहर ढूंढा। पवन ने मेरी नसों को तसल्ली दी और ध्यान से मैंने सारे संसार में केवल एक परमात्मा को जाना। यह सारा प्रपंच (रंग) ब्रह्म में लीन हो गया।

वे फिर कहती हैं—

ओंकार यलि लय ओनुम
वुहिय कुरुम पनुन पान
श्य वत त्रोविथ त सत्यमार्ग रूटुम
त्यलि ललि वोचुस प्रकाशस्थान॥

ओंकार को जब मैंने अपने आप में लय कर लिया, अपने शरीर को भस्म किया और छः रास्तों को छोड़ कर सातवें अर्थात् सत्य के रास्ते को ग्रहण किया, तब मैं—ललीश्वरी—प्रकाश के स्थान पर पहुँची।

इस पद्यांश में सत्य का सहज पथ दिखाई देता है। ब्रह्म को अपने में लय करके सत पथ पर चलने का वे आदेश देती हैं।

फिर कहती हैं—

ओर ति पानय योर ति पानय
पानय पनस छु न मेलान
पृयम अच्यस न मुलेह दानिय
सुइ हा मालि चय आश्चर जान॥३॥

उधर भी आप ही हैं और इधर भी आप ही हैं, किन्तु आप अपने को ही नहीं मिलता। इसमें ज़रा भी नहीं समा सकता। हे तात! इस आश्चर्य पर तू विचार कर।

यहाँ अपने आपको पहचाननें का प्रयत्न है। कहती हैं कि आत्मा ही ब्रह्म होते हुए माया का परदा पड़ा रहने से मिलता नहीं। आगे चलकर कहती हैं—

अछ्यान आय त गछुन गछे
पकुन गछे दिन क्योह राथ
योरय आय तूर्य गछुन गछे
कैंह न त कैंह न त कैंह न त क्याह?

अनादि से हम आये हैं और अनन्त में हमें जाना है। दिन और रात हमें इसी की ओर चलते रहना चाहिए। जहाँ से हम आये हैं, वहीं हमें जाना है। कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं। यह संसार कुछ नहीं।

गुरु की श्रेष्ठता बताते हुए कहती हैं—

गुरु शब्दस युस यछ पछ बरे
ज्ञान वहिग रटि च्यय तोरगस
इन्द्रय शोमरथि अनन्द करे
अद कुस मरियत मारन कस॥५॥

गुरु के शब्द पर जो विश्वास धरे, ज्ञान रूपी लगाम से चित्त रूपी घोड़े (तोरग—फ़ारसी शब्द) को रोके और जो इन्द्रियों का शमन करके आनन्द पाये तो भला कौन मरे और किस को मारे ?

वे कबीर की भाँति गुरु पर अधिक विश्वास करती जान पड़ती हैं। गुरु पर इतनी आस्था है कि उनकी कृपा से परमानन्द तक मिल सकता है और फिर गीता के अनुसार कोई किसी को मार नहीं सकता, न कोई मरता है। ठीक भी है जब परमानन्द प्राप्त कर लिया तो फिर मरने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। वे निरन्तर अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करती जान पड़ती हैं। कहती हैं—

छाडान लूसुम पानिय पानस
छ्यपिथ ज्ञानस वोत न कहं
लय करमस वाचस मय ख़ानस
वर्य वर्य प्याल त च्यवान न कहं ॥६॥

अपने आपको ढूंढ़ते-ढूंढ़ते मैं तो हार गई। उस गुप्त ज्ञान तक कोई न पहुँचा, पर जब मैंने अपने आपको उसमें लय कर दिया तो मैं ऐसे अमृत धाम में पहुँची, जहाँ प्याले तो भरे पड़े हैं, पर पीता कोई भी नहीं।

अपने आपको पहचान कर "मैं" और "तू" के भेद-भाव को मिटा देना चाहती हैं। कहती हैं—

नाथ ! न पान न पर जोनुम
सदा हि बुदुम अकुय देह
च्य वो वो च्य म्युल न जोनुम
च कुस वो क्वस छुह सन्देह ॥७॥

नाथ, न मैंने अपने को जाना, न पराये को। सदा शरीर की एकता को दृष्टि में रक्खा। "तू—मैं" और "मैं—तू" का एकात्म मैंने नहीं अनुभव किया। तू कौन है ? मैं कौन हूँ ? यही तो मेरे मन में सन्देह है। वे "मैं" और "तू" के भेद-भाव को मिटा देना चाहती हैं। सारे ब्रह्माण्ड को ब्रह्ममय देखते हुए कहती हैं—

गगन चय भूतल चय
चय दयन त पवन त राथ
अर्घ चन्दुन पोष पो ञ चय
चय सकल तय लगजि कस ॥८॥

आकाश तू ही है। पृथ्वी भी तू ही है। दिन, पवन और रात भी तू ही है। अर्घ, चन्दन, फूल और जल भी तू ही है। तू ही सब कुछ है। फिर भला तुझ पर चढ़ाये क्या ?

संसार की प्रत्येक वस्तु में वे प्रभु का दर्शन करती हैं। इसी प्रकार एक स्थान पर और भी कहती हैं—

दीव वटा दीवर वटा
हेरि बोन छु एक वाट
पूज कस क़रख हूत वटा
कर मनस त पवनस संघाठ ॥९॥

देव (मूर्ति) भी पत्थर का ही है। देवालय भी पत्थर का ही है। ऊपर से नीचे तक एक ही वस्तु, अर्थात् पत्थर ही पत्थर है। हे मूर्ख ब्राह्मण, तू किस को पूजेगा ? तू मन और आत्मा (पवनस) को एक कर। इसी प्रकार के भाव कबीर ने भी व्यक्त किये हैं—

पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
घर की चाकी पूजिए पीस खाय संसार ॥

मूर्ति-पूजा का कवीर ने खंडन किया है। ललितेश्वरी के लिए भी मूर्ति एक पत्थर के टुकड़े से अधिक अस्तित्व नहीं रखती। वे ज्ञान पर ही अधिक ज़ोर देती हैं। बुद्धि को प्रकाशमान करना उन्हें अभीष्ट है और ज्ञान द्वारा आत्म साक्षात्कार करना उन्हें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जगत को नश्वर मान, सांसारिक बातों को मिथ्या समझ कर कहती हैं—

कुस बब तय क्वस माजि
कमी लाजि बाजी बठ
कांल्य गछक कुंह न बब कुंह नो माजि
जानिथ क्रव लानिथ बोजी बठ ॥१०॥

कौन है बाप ? और कौन है माँ ? किस ने तेरे साथ प्रेम किया ? समय आने पर तू तो चला जायेगा। न तेरा कोई पिता होगा, न कोई माता होगी। यह सब कुछ जानते हुए भी तू क्यों प्रेम बढ़ाता है ?

ललितेश्वरी के और भी बहुत से पद्य यहाँ दिये जा सकते हैं, किन्तु पाठक इतने ही से उनके विचारों की सूक्ष्मता का अनुमान कर सकते हैं। अन्त में उनकी चार पंक्तियाँ और देना उचित समझती हूँ, जिनसे विदित होता है कि वे योग की क्रियाओं से भी पूर्णतया परिचित थीं। वे कहती हैं—

ढाद शान्त मण्डल यस देवस थजय
नासिक पवन अनाहत रव
स यस कल्पन अन्तिह चलिय
स्वयम् देव त अर्चन कस ॥११॥

ब्रह्मरन्ध्र को जिसने शिव का स्थान जाना, प्राणवायु के (प्रवाह) साथ-साथ जिसने अनाहत को सुना और जिस की वासनाएँ अन्दर-ही-अन्दर मिट गईं, वह तो स्वयं ही देव है, शिव रूप है, फिर पूजा काहे की ?

इनके पश्चात् विशेष उल्लेखनीय कवियित्री हैं 'हव्व खातून'। कहा जाता है कि वे अकबर के समय में काश्मीर के गवर्नर की पत्नी थीं। वे अत्यन्त रूपवती थीं। जब अकबर ने उनको देखा तो उनके पति से कहा कि यह स्त्री मुझे दे दो। उसने देने से इन्कार किया और खातून स्वयं भी बादशाह के हरम में जाने को राज़ी न हुईं। इस पर बादशाह ने क्रोधित हो कर उनके पति को क़त्ल करवा दिया। इस पर हव्व खातून अपने पति की याद में घर छोड़ कर वैरागी हो गईं और इसी प्रकार सारी आयु बिता दी। इनकी रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं, किन्तु जो कुछ भी हैं, प्रेम से भरी हुई हैं; चाहे उसे आध्यात्मिक प्रेम कहें, या भौतिक। हव्व खातून तथा इनकी समकालीन अथवा बाद की कवियित्रियों पर फ़ारसी साहित्य तथा कल्पना का अधिक प्रभाव है। फ़ारसी एवं उर्दू के कवियों में विरह की व्याकुलता और चिर मिलन की साध हर समय बनी रहती है। यही बात हव्व खातून की रचनाओं में पाई भी जाती है। वे कहती हैं—

१

लति थवनम दऽद फ़िराक़
कति लुगसय रसय
मस छी रऽव यऽर करनस
मच व फलवान ॥१॥

लति (अपने आपको सम्बोधित करती है), मेरे उस (प्रेमी) निष्ठुर ने मुझे विरह की वेदना ही दी है। न जाने उसका मन कहाँ रमा है ? उस प्रीतम ने मेरी मस्ती को छिन्न-भिन्न कर दिया और मैं बावली हो कर मारी-मारी फिर रही हूँ।

२

सीन मुचरित हाल वावहस
कीन म्योन क्याह छुसय
म्य छु तहन्जी मनिकामन
सुछ वे परवाय
लद न ति खाक रोयस
वद न वे कसय
मस छीरऽव यार करनस

मैं अपना दिल खोल कर अपनी दशा दिखाऊँ और बताऊँ कि मुझे क्या दुःख है। मैं तो उसी की मनोकांक्षा करती रहती हूँ, किन्तु वह निष्ठुर मेरी तनिक भी सुधि नहीं लेता। फिर उसकी निष्ठुरता पर अपने शरीर में खाक न मलूं? क्या मैं निराश हो कर न रोऊँ? उस प्रीतम ने मुझे बहुत निराश कर दिया है।

३

ननि कथ वन मनसूरन
कनि लय हसय
मनि मंज सुई नार गुंडनम
हनि हनि भ्रम रेह
तनि मुचरित हाल वावहस
तनि तन लागहसय

वचार मन्सूर ने सत्य बातें कहीं तो उसे पत्थर मारे गये। मेरे मन में भी वही अग्नि प्रज्वलित हो रही है और धीमी-धीमी लौ उठ रही है। मैं अपना दिल खोल कर दिखाती, तुम्हारे शरीर से अपना शरीर लगाती। तब तुम्हें मालूम होता कि मेरे अन्दर कैसी ज्वाला है?

४

द्रव हरकी प्याल वरसय मसय
या त द्रुपनम च त दामा
न त दामा चाव
वोजि नय दपम रोजि महशर
म्योन दावा छुसय

मैं सुरा के प्याले भरूँगी। उस (प्रीतम) से एक घूंट पीने को प्रार्थना करूँगी अथवा कहूँगी कि तुम नहीं पीते तो मुझी को एक घूंट पिला दो। यदि वह मेरी प्रार्थना न सुनेंगे तो कहूँगी कि प्रलय के दिन मैं दावेदार बनूँगी।

इन रचनाओं पर फ़ारसी का प्रभाव होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं, क्योंकि समय का प्रभाव पड़ना आवश्यक ही था।

इसके पश्चात् एक कवियित्री का नाम और आता है। उनका अपना नाम तो विख्यात नहीं। वे पति के नाम से ही जानी जाती हैं। वे मुंशी भवानीदास की स्त्री थीं। यह अपने समय की अच्छी कवियित्री थीं। चरखा इनकी विशेष प्रिय चीज़ थी। इन्होंने जितनी भी कविताएँ कीं, अधिकांश चरखा कातते हुए ही की। कहती हैं—

अरनि रंग गोम आवन हिए
कर इये दर्शुन दिए
कन्द आल्द नाबद मुतय
फन्द अकीय सु गोम कुतय
खन्द करनम वुपरन थिए—कर इए....

मेरा रंग अरनि फूल (पीला फूल) के समान हो गया है। वह (प्रीतम) कब आकर दर्शन देगा ? मैं कितने मीठे पदार्थों से उसका स्वागत करने बैठी हूँ। वह मुझे धोखा देकर न जाने कहाँ चला गया और मुझे दूसरों के सामने लज्जित कर गया। वह कब आकर दर्शन देगा ?

२

आम ताव कोताह गजस
श्याम सुन्दर पामन लजस
नाम पैग़ाम कुसनिय—
कर इये दर्शुन दिए....

मैं उसके विरह की अग्नि कहाँ तक सहूँ ! हे श्यामसुन्दर ! मेरी सखियाँ मुझे ताने देती हैं। मेरा सन्देश तुम तक कौन ले जायेगा ?

३

मुक्त पुरसे पोंवुर वशन
सोख्तगी झम न तम संजमशान
छुक लदग दवा दिए—करइए....

मैं उसकी चादर में मोती से शिल्पकारी करूँगी, किन्तु उसकी कठोरता भुलाये नहीं भूलती। मेरी पीड़ा की वही दवा कर सकता है और केवल उसके दर्शनों से ही मेरी पीड़ा दूर हो सकती है।

वे सौतों से विशेष चिढ़ती थीं, ऐसा प्रतीत होता है। एक स्थान पर कहती हैं—

स्वन छुम गेलान कुनि छुम न मेलान
पर जन सत छुम खेलानी
अश्क नाव सूर गव परवत शैलन
अश्क चूर फुर बलवीरनी
अश्क नार हनि हनि तनि छुम तेलान
पर जन सत छुम खेलानी

मेरी सौतें मेरा परिहास करती हैं और वह निष्ठुर प्रीतम दूसरी स्त्रियों के साथ रंगरेलियाँ मना रहा है। मुझे कहीं भी नहीं मिलता। प्रेम की अग्नि से मैं भस्म हो चुकी हूँ। मुझे पर्वत भी सूखे दिखाई देते हैं।[1] यह प्रेम का चोर बड़े-बड़े वीरों के घर में भी डाका डाल देता है। यह प्रेम की आँच धीरे-धीरे मेरे शरीर को भस्म कर रही है। पर वह निष्ठुर प्रीतम कहीं मिलता ही नहीं। अन्य स्त्रियों ही में मस्त है।

---

[1] काश्मीर में पर्वत का सूखा होना अशुभ-सूचक है, क्योंकि यहाँ कोई पर्वत सूखा नहीं है।

एक बार चरखा कातते हुए चरखे को ही सम्बोधित करके कहती हैं—

गूं गूं मव कर हां इन्दरो
कन्यर्यन त फुलला मलयो
योनि छु नरल त कल्म छु परान
इल्म दान लगयो हा इन्दरो.

हे चरखे ! तू 'गूं गूं' शब्द न निकाल। मैं तेरी गुम्नियों में इत्र लगाऊँगी। तेरे गले में माल (योनि—यज्ञोपवीत का धागा) है और तू कलमा (सत्य) पढ़ता है। हे चरखे, तू बड़ा ही पण्डित है।

इसके अतिरिक्त इनकी रचनाएं कम ही उपलब्ध हैं। कोई संग्रह नहीं छपा।

कुछ फुटकर पद्य हमको इधर-उधर से कुछ मनुष्यों की ज़बानी मिलते हैं, जो कि कवियित्री के ही कहे हुए प्रसिद्ध हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में अधिकतर निर्माताओं के नाम ज्ञात नहीं हैं। अनेक पद्य बहुत सुन्दर और ऊँचे दरजे के हैं, परन्तु खेद है कि अभी तक उनका प्रामाणिक संग्रह नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए निचला पद्य देखिए—

यार छुम करान असवनि हिलय
विलन्य वोज्यम मारस पान
वाद दित मदनन मुछनस शिलय
छाय जन लूसस पत लारान
वात न जमीनस आसमान पिलय
विलनय वोज्यम मारस पान.

मेरा प्रीतम मुझसे हज़ारों बहाने बनाता है। यदि वह मेरी प्रार्थना को न सुनेगा तो मैं प्राण त्याग दूंगी। मुझे वचन देकर मेरे प्रीतम ने मुझे कंकड़ की भाँति फेंक दिया (भुला दिया)। किन्तु मैं तो छाया की भाँति उसके साथ ही रहूँगी। यदि पृथ्वी पर उसे न पा सकी तो आकाश तक उसे पकड़ने जाऊँगी। यदि वह मेरी प्रार्थना नहीं सुनेगा तो मैं अपने प्राण त्याग दूंगी।

एक और सन्त स्त्री का उल्लेख आवश्यक है। इनका नाम रूपभवानी था। कहा जाता है कि यह भक्त थीं और बहुधा प्रश्नोत्तर में ही इनकी तीव्र बुद्धि का परिचय मिलता है। इनकी रचनाएँ बहुत कम लोगों में प्रचलित हैं। कारण कि इनके विचार कट्टर आध्यात्मिक हैं और जनता इन विचारों को आसानी से समझ नहीं पाती। एक छोटी-सी कथा इनके बारे में प्रचलित है। कहते हैं कि एक बार किसी ने इनसे प्रश्न किया कि आपके कुरते का क्या रंग है ? इन्होंने झट उत्तर दिया—"जाग——सुरठ—मज़ेठ।" ये तीनों शब्द तीन रंगों के नाम भी हैं और इनके भावात्मक अर्थ भी निकलते हैं :

(१) जाग—काही रंग : भावार्थ—देख।
(२) सुरठ—रंग विशेष : भावार्थ—उसे (प्रभु को) पकड़।
(३) मज़ेठ—मजीठ रंग : भावार्थ—व्यर्थ के आडम्बरों में न पड़।

इस प्रकार इन्होंने तीनों रंगों के नाम भी लिये और यह भी कहा कि "जाग कर ईश्वर को देखने का प्रयत्न करो और व्यर्थ के आडम्बरों को छोड़ दो।" इस एक ही वाक्य से इनकी तीव्र बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है।

इस लेख में अन्य कवियित्रियों के बारे में कुछ लिखना सम्भव नहीं; क्योंकि काश्मीरी साहित्य लेखबद्ध न होने के कारण उसके निर्माताओं के विषय में प्रामाणिक और विस्तृत जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। हमें यह देख कर बहुत ही खेद होता है कि इस प्रदेश के साहित्य-प्रेमी इस प्रकार की उत्कृष्ट रचनाओं के संग्रह और संरक्षण की ओर ध्यान नहीं देते। यदि प्रयत्न किया जाय तो बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त हो सकती है।

श्रीनगर]

: ९ :

विविध

कौटिल्य-कालीन रसायन

श्री० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०

जिन व्यक्तियों ने किसी भी भाषा में मुद्राराक्षस नामक नाटक पढ़ा है, वे चन्द्रगुप्त और चाणक्य के नाम से परिचित हैं। चाणक्य का ही नाम विष्णुगुप्त या कौटिल्य है। कामन्दक ने अपने 'नीतिसार' के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त के सम्बन्ध में ये शब्द लिखे हैं—

यस्याभिचार वज्रेण वज्रज्वलन तेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान्सुपर्वा नन्द पर्वतः॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यश्शक्त्या शक्ति धरोमपः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र महोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥
दर्शनात्तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामः राजविद्या विदां मतम्॥

कौटिल्य अर्थशास्त्र के कुछ उद्धरण दण्डि के 'दशकुमार चरित्र' में भी पाये जाते हैं। विष्णुगुप्त के सम्बन्ध में इसके ये वाक्य महत्त्व के हैं—

अधीष्व तावद्दण्डनीतिम् इयमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्य्यार्थे षड्भिश्श्लोक सहस्रैस्संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमेति॥

इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र ६००० श्लोक का है। यह आश्चर्य की बात है कि इतना बड़ा ग्रन्थ पुरातत्ववेत्ताओं और विद्वानों की दृष्टि में इतने दिनों छिपा कैसे रहा? हमारे देश में पाश्चात्य पद्धति पर प्राच्य ग्रन्थों के अनुशीलन का काम सर विलियम जोन्स के समय से विशेष आरम्भ हुआ, पर इस बीसवीं शताब्दी को ही इस बात का श्रेय है कि यह लुप्तप्राय ग्रन्थ हमको फिर से मिल सका। इस ग्रन्थ के कुछ उद्धरण मेधातिथि और कुल्लूक की टीका में पाये जाते हैं, पर साधारणतः यह धारणा थी कि समस्त ग्रन्थ लुप्त हो गया है। ४० वर्ष लगभग की बात है कि मैसूर राज्य की ओरियंटल लायब्रेरी को तंजोर के पंडित ने एक हस्तलिखित प्रति इस ग्रन्थ की दी, साथ में इसकी टीका की एक खंडित प्रति भी थी। उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री श्याम शास्त्री ने अत्यन्त परिश्रम से इस पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध की, और "इंडियन एंटिक्वेरी" पत्रिका में सन् १९०५ से यह ग्रन्थ मुद्रित होने लगा। मैसूर राज्य के अनुग्रह से सन् १९०९ में पूर्ण ग्रन्थ छप कर प्रकाशित हुआ। सन् १९१५ में श्री श्याम शास्त्री द्वारा किया गया अनुवाद भी छपा। पंजाब ओरियंटल सीरीज में प्रो० जॉली के सम्पादन में और ट्रावनकोर राज्य की संरक्षता में प्रकाशित होने वाली संस्कृत-सीरीज़ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व में इसके दो संस्करण और निकले। इधर हिन्दी में भी इस अर्थ-शास्त्र के दो अनुवाद (पं० गंगाप्रसाद शास्त्रीकृत महाभारत कार्यालय दिल्ली से एवं प्रो० उदयवीर शास्त्रीकृत मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास लाहौर से) छपे हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही प्राच्य-साहित्यज्ञों में एक क्रान्ति-सी आ गई, और कौटिल्य के सम्बन्ध में अनेक समालोचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए।

कौटिल्य का यह अर्थशास्त्र ईसा से ३२१ से ३०० वर्ष पूर्व के बीच में लिखा गया होगा। पर यह निश्चय है कि यह अर्थशास्त्र अपनी परम्परा का पहला ग्रन्थ नहीं है। इस अर्थशास्त्र में पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख है जैसे विशालाक्ष (१।८।३), पराशर (१।८।७), पिशुन (१।८।१२), वाहुदन्ती पुत्र (१।८।२७), कौणपदन्त (१।८।१६), वातव्याधि (१।८।२३), कात्यायन (५।५।५३), कणिङ्क भारद्वाज (५।५।५४), चारायण (५।५।५५), घोटमुख (५।५।५६), किंजल्क (५।५।५७), पिशुनपुत्र (५।५।५६)। इनके अतिरिक्त मानवों, वार्हस्पत्यों, औशनसों और आम्भीयों का भी उल्लेख है। स्पष्टतः अर्थशास्त्र की परम्परा हमारे देश में वहुत पुरानी है। अर्थवेद को वेद का एक उपवेद माना जाता रहा है। खेद का विषय है कि जिन आचार्यों का उल्लेख यहाँ किया गया है उनके ग्रन्थ हमें इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

अर्थशास्त्र की परिभाषा कौटिल्य ने स्वयं अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण में कर दी है—**मनुष्याणां वृत्तिरर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।** इस प्रकार मनुष्यों की वृत्ति को और मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। ऐसी भूमि की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का उल्लेख जिस शास्त्र में हो उसे अर्थशास्त्र कहेंगे। इस अर्थशास्त्र का उद्देश्य भी कौटिल्य के शब्दों में इस प्रकार है—

धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्त्तयति पाति च।
अधर्मानर्थ विद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च॥

अर्थात्—यह शास्त्र धर्म, अर्थ एवं काम को प्रोत्साहित करता है और इन तीनों की रक्षा करता है और अर्थ-विद्वेषी अधर्मों का नाश भी करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण, १५० अध्याय, एक सौ अस्सी प्रकरण और लगभग ६ सहस्र श्लोक हैं। इतने वड़े ग्रन्थ में अर्थ सम्वन्धी लगभग सभी विषयों का समावेश हो गया है।

मेरी धारणा यह है कि मनुष्यवती पृथिवी के लाभ और पालन का सम्वन्ध रसायन विद्या से भी घनिष्ट है और मुझे कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पारायण करते समय वड़ा सन्तोष इस वात से हुआ कि इस ग्रन्थ में रासायनिक विषयों की अवहेलना तो दूर, उनका अच्छा समावेश किया गया है। भारतीय रसायन का एक सुन्दर इतिहास आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने सन् १९०२ में लिखा था जिसमें तन्त्र और आयुर्वेद के ग्रन्थों के आधार पर विषयों का प्रतिपादन किया गया था। सर प्रफुल्ल को उस समय कौटिल्य के इस अमूल्य ग्रन्थ का पता न था। यह ठीक है कि रसायन विद्या का सम्वन्ध आयुर्वेद से भी विशेष है, पर इतना ही नहीं, इसका विशेष सम्वन्ध तो राष्ट्र की सम्पत्ति की प्राप्ति, उसकी वृद्धि और रासायनिक द्रव्यों के सर्वतोन्मुखी उपयोग से है। भारतीय रसायन के इतिहास में कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सामग्री वहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित परमाणुवाद और सांख्य का विकासवाद भारतीय रसायन के शास्त्रीय दृष्टिकोण का अभिभावक वना। पंचभूतों का शास्त्रीय विवेचन विज्ञानभिक्षु के योगवार्तिक तक में किया गया। सुश्रुत ने अपने शारीर स्थान में प्रत्येक महाभूत में अन्य महाभूतों के समावेश का भी उल्लेख किया है—**अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वान्येतानि निर्दिशेत्।** चरक और सुश्रुत दोनों ने अपने सूत्र-स्थानों में पार्थिव तत्त्व के अन्तर्गत अनेक धातुओं और रासायनिक पदार्थों का उल्लेख किया है—

पार्थिवाः सुवर्ण रजत मणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः। सुवर्णस्य इह पार्थिवत्वमेवाङ्गीक्रियते गुरुत्व काठिन्य स्थैर्य्यादिहेतुभिः। सूत्रे आदि ग्रहणात् लोहमलसिकता सुधा हरिताल लवण गैरिक रसाञ्जन प्रभृतीनाम्॥

चरक और सुश्रुत इतने प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं कि उनके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं, चरक और सुश्रुत की भी अपनी परम्परा पुरानी है। वर्त्तमान समय में प्राप्त चरक और सुश्रुत लगभग १८०० से १४०० वर्ष पुराने (ईसा की पहली शताब्दी से ५वीं शताब्दी तक के) हैं। कहा जाता है कि आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य अग्निवेश ने जो

ग्रन्थ लिखा था उसके आश्रय पर चरक ने अपने ग्रन्थ का सम्पादन किया और चरक के मूल ग्रन्थ को दृढ़वल ने जो रूप दिया वह आधुनिक चरक संहिता है। इसी प्रकार सुश्रुत धन्वन्तरि का शिष्य था जिसने वृद्ध सुश्रुत ग्रन्थ का आयोजन किया, पर जो सुश्रुत हमें प्राप्त है वह नागार्जुन द्वारा सम्पादित हुआ है। सम्भवतः नागार्जुन दृढ़वल से पूर्व का व्यक्ति है, इसलिए इस समय प्राप्त सुश्रुत दृढ़वल के सम्पादित चरक से पहले का है, पर फिर भी मूल चरक संहिता वृद्ध सुश्रुत से पूर्व की मानी जाती है। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि सुश्रुत का नागार्जुन वही है जिसे सिद्ध नागार्जुन भी कहते हैं और जो लोहशास्त्र का रचयिता भी था, और दार्शनिक के रूप में जिसने बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय की माध्यमिक सूत्रवृत्ति भी लिखी।

कहा जाता है कि धातुविद्या अर्थात् लोहशास्त्र का सवसे प्रमुख आचार्य पतंजलि है। सम्भवतः पतंजलि ने ही विड् का आविष्कार किया (विड् शोरे और नमक के अम्लों का मिश्रण है जिसमें सोना भी घुल जाता है)। पतंजलि का मूलग्रन्थ लोहशास्त्र आजकल अप्राप्य है, पर परावर्त्ती ग्रन्थों में इसके ग्रन्थ के जो उद्धरण पाये जाते हैं उनसे इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता स्पष्ट व्यक्त होती है। नागार्जुन ने पारे के अनेक यौगिकों का आविष्कार किया और धातुशास्त्र में भी नागार्जुन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह कहना कठिन है कि नागार्जुन पहले हुआ या पतंजलि पर आगे के लोहशास्त्रों पर दोनों का ही अमिट प्रभाव रहा है। नागार्जुन के ग्रन्थ रसरत्नाकर में (१) राजावर्त्त, गन्धक, रसक, दरद, माक्षिक, विमल, हेम, तार आदि के शोधन, (२) वैक्रान्त, रसक, विमल, दरद आदि सत्त्वों का उल्लेख, (३) माक्षिकसत्त्वपातन, अभ्रकादिद्रुतपातन, चारण-जारण आदि विधियों का विवरण, एवं (४) शिलायन्त्र, भूधरयन्त्र, पातनयन्त्र, धोरणयन्त्र, जालिकायन्त्र आदि अनेक यन्त्रों का प्रतिपादन—ये सव विषय ऐसे हैं जो रसायन-शास्त्र के विद्यार्थी को आज भी आकर्षित कर सकते हैं। भारतीय रसायन के इतिहास के विद्यार्थी को जिस ग्रन्थ ने आजतक विशेष प्रभावित किया है वह वैद्यपति सिंहगुप्त के पुत्र वाग्भटाचार्य का रसरत्नसमुच्चय है। आचार्य सर प्रफुल्ल ने अपने भारतीय रसायन के इतिहास के पहले भाग में इसका विशेष उल्लेख किया है।

रसायन शास्त्र का क्षेत्र वड़ा विशद है। संभवतः कोई भी शास्त्र ऐसा नहीं है जिसमें रसायन से कुछ न सहायता न मिलती हो। यह प्रसन्नता की वात है कि कौटिल्य ने अपने सर्वांगपूर्ण अर्थशास्त्र में ऐसे विषयों की मीमांसा की है जिनका सम्बन्ध रसायन से भी है। यह ठीक है कि यह ग्रन्थ रसायनशास्त्र का ग्रन्थ नहीं, पर इससे कौटिल्य के समय की रासायनिक प्रवृत्तियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कुछ ऐसे रासायनिक विषयों की भी इसमें चर्चा है जिनके सम्बन्ध के अन्य प्राचीन ग्रन्थ हमें इस समय उपलब्ध नहीं हैं। कौटिल्य के इस ग्रन्थ का रचनाकाल पूर्ण निश्चित है और इसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं है। सुश्रुत, चरक और नागार्जुन के मूलग्रन्थों का रचनाकाल उतना निर्भ्रान्त नहीं है जितना कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ के आधार पर निश्चित की गई रासायनिक प्रवृत्तियाँ हमारे इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखती हैं। यह ग्रन्थ इस देश की रासायनिक परम्परा को इतिहास में इतनी प्राचीनता तक ले जाता है जितना कि यूनान और अरव वालों के ग्रन्थ नहीं। इस दृष्टि से इसका महत्त्व और भी अधिक है। चाणक्य प्लैटो (४२७-३४७ ई० से पूर्व) और अरस्तू (३८४-३२२ ई० से० पू०) के समकक्ष समय का है। यद्यपि हमारे देश का यूनानियों से सम्पर्क आरम्भ हो गया था, फिर भी मेरी आस्था यह है कि चाणक्य का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ अपने देश की पूर्वागत परम्परा पर अधिक निर्भर है, यूनानियों का प्रभाव इस पर कम है। इसमें जिन आचार्यों का उल्लेख है वे भी इसी देश के थे। यूनानियों का अभी इतना दृढ़ प्रभाव इस देश पर नहीं हो पाया था कि हम यह कह सकें कि अर्थशास्त्र में वर्णित रासायनिक प्रवृत्तियों को यूनानी संस्कृति का आश्रय प्राप्त हो गया था।

यह तो सम्भव नहीं है कि इस लेख में कौटिल्यकालीन समस्त रासायनिक प्रवृत्तियों की विस्तृत मीमांसा की जा सके। संक्षेपतः इस ग्रन्थ में निम्न विषय ऐसे हैं जिनमें आजकल के रसायनज्ञों के लिए कौतूहल की सामग्री विद्यमान है।

(१) भवन निर्माण की सामग्री (१।२०।६-१६)
(२) विष परीक्षण (१।२१।१०-२२); (४।७।८,१२,१३)
(३) खनिज (२।६।४; २।१२।१-७; १२-१८)
(४) मौक्तिक (२।११।२-५)
(५) मणि (२।११।२६-३७)
(६) हीरा (२।११।३८-४२)
(७) मूंगा (२।११।४३)
(८) चन्दन, अगर आदि सुगन्ध काष्ठ (२।११।४४-७६)
(९) चर्म (२।११।७७-१०१)
(१०) ऊन (२।११।१०२-१११); पत्रोर्णा (२।११।११२-१२०)
(११) धातुनिर्माण (२।१२।८-११)
(१२) धातुमिश्रण और पणनिर्माण (२।१२।२५-३३)
(१३) स्वर्णशोधन और अक्षशाला (२।१३।१-६५); स्वर्ण अपहरण (२।१४।१९-६१)
(१४) तेल (२।१५।१४; ४९-५१)
(१५) बीजों की रक्षा (२।२४।३३)
(१६) सुरानिर्माण (२।२५।१७-३४)
(१७) घी-दूध (२।२९।३४)
(१८) (क) प्राणहर पदार्थ और धूमयोग (१४।१।५-१४)
(ख) नेत्रघ्न पदार्थ (१४।१।१५, १६)
(ग) मदनयोग (१४।१।१७, १८)
(घ) मूकबधिरकरयोग (१४।१।२५)
(ङ) विषूचिका कर योग (१४।१।२४)
(च) ज्वर कर योग (१४।१।२५)
(छ) दंशयोग (१४।१।३१-३३)
(ज) जलाशय भ्रष्टयोग (१४।१।३४-३६)
(झ) अग्नियोग (१४।१।३९।४२)
(ञ) नेत्रमोहन (१४।१।४३)
(ट) क्षुद्योग (१४।२।१-५)
(ठ) श्वेतीकरणयोग (१४।२।६-९)
(ड) रोम्णश्वेतीकरणयोग (१४।२।१०-१३, १४)
(ढ) कुष्ठयोग (१४।२।१५-१८)
(ण) श्यामीकरणयोग (१४।२।१९-२१)
(त) गात्रप्रज्वालनयोग (१४।२।२२-२३)
(थ) विविधज्वलनप्रयोग (१४।२।२४-३०)
(द) अंगारगमनप्रयोग (१४।२।३१-३३)
(ध) विविधयोग (१४।२।३४-४८)
(न) रात्रि दृष्टि और विविध अंजन (१४।३।१-१८) (अन्तर्धान योग)
(प) विषप्रतीकारयोग (१४।४।१-९)

यहाँ इस लेख में यह तो सम्भव नहीं है कि इन समस्त विषयों की गम्भीर आलोचना की जाय। कुछ थोड़े से ही विषय हम लेंगे।

खनिज द्रव्य

कौटिल्य के शब्दों में खनिज १२ हैं—

सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ता प्रवाल शङ्ख लोहलवण भूमिप्रस्तर रसधातवः खनिः ।।२।६।४।।

अर्थात्—सोना, चाँदी, हीरा, मरकतमणि, मोती, मूंगा, शंख, लोह, नमक, भूमि, पत्थर और रस धातुयें। साधारणतः यह वर्गीकरण सन्तोषजनक है। आगे के साहित्य में लोह शब्द का प्रयोग समस्त धातुओं के लिए होने लगा था जैसे रसरत्नसमुच्चय (वाग्भट-१३००-१५५० ई०) के अनुसार—**"शुद्धं लोहं कनक रजतं भानुलोहाश्मसारं। पूती लोहं द्वितयमुदितं नामवंगाभिधानम्"** (५।१) इसमें सोना और चाँदी को शुद्ध लोह माना गया है और सीसा और राँगा को पूतीलोह। सामान्यलोहा धातुलोह हैं। **धातुर्लोहे लुह इति मतः सोप्यनेकार्यवाची।** रसधातु शब्द से कौटिल्य का मुख्य अभिप्राय पारे से है।

कौटिल्य के ग्रन्थ में इस बात का विशद वर्णन है कि आकराध्यक्ष किस प्रकार पता लगावे कि किस स्थल पर किस-किस चीज की खान है। इतना विस्तृत वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। खानों को मिट्टी की रासायनिक परीक्षा के आधार पर खान की धातुओं का पता लगाने की ओर निश्चित संकेत किया गया है—रासायनिक परीक्षक निम्न उपकरणों से सम्पन्न रहें—**किट्ट मूषाङ्गारभस्मलिंगं वाकरं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमिप्रस्तर रसधातुमत्यर्थ वर्ण गौरवमुग्रगन्धरसं परीक्षेत** (२।१२।१)

अर्थात्—किट्ट और मूषा में खनिज द्रव्य को पका कर देखे, उसकी भस्में बनाकर देखे। भूमि, पत्थर और रस की परीक्षा उनके वर्णगौरव और उग्रगन्ध से करे। दूसरे अधिकरण के १२वें अध्याय में जहाँ खानों की पहचान के विस्तृत वर्णन दिये हैं उनसे ये बातें स्पष्ट होती हैं—(१) भूमि की अवस्था से पहचान, (२) वहाँ के वृक्षों के आधार पर पहचान, (३) वहाँ के जल के आधार पर पहचान, (४) उग्रगन्ध के आधार पर पहचान, (५) धातु की गौरव वृद्धि (घनत्व) के आधार पर पहचान, (६) तपाने पर खनिज की कैसी अवस्था हो जाती है यह देख कर पहचान और (७) तपाते समय कैसा धुआँ निकलता है यह देख कर भी खनिज की पहचान की जा सकती है।

१. **सवर्णोदकौषधी पर्य्यन्तश्चिक्कणा विशदा भारिकाश्च रसाः काञ्चनिकाः।**

२. **तत्प्रतिरूपकमुग्रगन्धरसं शिलाजतु विद्यात्।**

३. **अर्चिष्मन्तस्ताप्यमाना न भिद्यन्ते बहुफेन धूमाश्च सुवर्णधातवः....**

४. **ससीसाः साञ्जनाः विस्रा भिन्नाः श्वेताभाः कृष्णाः कृष्णाभाः श्वेताः सर्वे वा लेखाबिन्दुचित्रा मृदवो ध्मायमाना न स्फुटन्ति बहुफेन धूमाश्च रूप्यधातवः।।**

५. **सर्वधातूनां गौरववृद्धौः सत्त्ववृद्धिः।** (२।१२।२-७)

इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं का उल्लेख भी है जिनसे धातुखंड पिघल जाते हैं या मृदु पड़ जाते हैं—

(१) रसों से भावना देकर—तीक्ष्ण मूत्रक्षार भाविता।

(२) यव, माष, तिल, पीलुक्षार आदि की भावना देकर या गोले में तपा कर।

इस प्रकार के साधनों से निम्न पदार्थों की खानों का पता लग सकता है—सोना, चाँदी, ताम्र, सीस या त्रपु, तीक्ष्ण (लोह), वैकृन्तक (इस्पात) और मणिधातु।

सरकारी टकसालों (mints) में लोहाध्यक्ष मिश्र-धातुयें भी तैयार कराने की योजना करता था। शुद्ध और मिश्र-धातुओं के सिक्के (पण) बनते थे—

लोहाध्यक्षस्ताम्रसीस त्रपु वैकृन्तकारकूटवृत्तकंसताललोहकर्मान्तान्कारयेत् ॥२।१२।२५॥

लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भाग ताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषवीजयुक्तं कारयेत् पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति ॥ २।१२।२७ ॥

लोहाध्यक्ष तो समस्त धातु विभाग का अध्यक्ष होता था और लक्षणाध्यक्ष (mint master) सिक्के बनाने के विभाग पर शासन करता था। एक पण में ११ माष चाँदी, ४ माष तांवा और १ माष लोहा, सीसा, राँगा, अंजनादि होता था।

यह महत्त्व की वात है कि कौटिल्य के समय में क्षार व्यवसाय भी राज्य के नियन्त्रण में रहता था। खन्यध्यक्ष इस विभाग का अधिकारी था।

खन्यध्यक्षः शङ्खवज्रमणिमुक्ता प्रवालक्षारकर्मान्तान्कारयेत् ॥ २।१२।३४ ॥

रत्नों की परीक्षा

शुक्रनीतिसार के अनुसार वज्र (हीरा), मोती, मूंगा, इन्द्रनील, वैडूर्य, पुखराज, पाची (पन्ना) और माणिक्य ये नौ महारत्न हैं। रत्नों में वज्र श्रेष्ठतम; माणिक्य, पाची और मोती श्रेष्ठ और इन्द्रनील, पुखराज, वैडूर्य मध्यम; एवं गोमेद और मूंगा अधम वताये गये हैं। कौटिल्य ने इन रत्नों की विस्तृत विवेचना की है (२।११।२९-३३) जिसका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है।

मणि—कौट, मौलेयक, पार-समुद्रक (३ भेद)।

माणिक्य—सौगन्धिक, पद्मराग, अनवद्यराग, पारिजात पुष्पक, वालसूर्यक (५ भेद)।

वैडूर्य—उत्पलवर्ण, शिरीषपुष्पक, उदकवर्ण, वंशराग, शुकपत्रवर्ण, पुष्यराग, गोमूत्रक, गोमेदक (८ भेद)।

इन्द्रनील—नीलावलीय, इन्द्रनील, कलायपुष्पक, महानील, जाम्ववाभ, जीमूतप्रभ, नन्दक, स्रवन्मध्य (८ भेद)।

स्फटिक—शुद्ध, मूलाटवर्ण, शीतवृष्टि (चन्द्रकान्त), सूर्यकान्त (४ भेद)

इसी प्रकार मणियों के १८ अवान्तर भेद हैं और ६ भेद हीरे के हैं।

वर्तमान मणि-विज्ञान (Crystallo graphy) में मणियों के आकृति-निरीक्षण पर विशेष वल दिया गया है। यह सन्तोष की वात है कि कौटिल्य ने भी इस ओर संकेत किया है—

षडतुश्चतुरश्रो वृत्तो वा तीव्र राग संस्थानवानच्छः स्निग्धो गुरुरर्चिष्मानन्तर्गतप्रभःप्रभानुलेपी चेति मणिगुणाः। ॥ २।११।३४ ॥

मणियों के गुणों का परीक्षण करते समय चतुरश्र आदिक परीक्षण (geometrical), गुरुत्व (density), एवं अर्चिष्मान् अन्तर्गत प्रभ; और प्रभानुलेपी आदि प्रकाश सम्वन्धी (optical) गुणों का ध्यान रखना चाहिए। आजकल भी मणिपरीक्षण की वहुधा यही विधियाँ हैं।

हीरे के सम्वन्ध में भी कहा है कि अच्छा हीरा समकोटिक (regular) होना चाहिए, अप्रशस्त हीरा नष्टकोण होता है—

नष्टकोणं निरश्रिपार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम् ॥ २।११।४२ ॥

सुवर्ण और उसका शोधन

कौटिल्य ने सुवर्ण के आठ भेद वताये हैं—

जाम्बूनदं, शातकुम्भं, हाटकं, वैणवं, शृंगशुक्तिजं, जातरूपं, रसविद्धमाकरोद्गतं, च सुवर्णम् ॥ २।१३।३ ॥

ये भेद उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से हैं। सुवर्ण शोधन की विधियों में निम्न मुख्य हैं—

(१). चतुर्गुणेन सीसेन शोधयेत्—सीसा मिला कर गलाना।
(२) शुल्कपटलैर्ध्मापयेत्—कंडों के साथ पिघलाना।
(३) तैलगोमये निषेचयेत्—तेल और गोवर की भावना देना।
(४) गण्डिकासु कुट्टयेत्—धन पर कूटना।
(५) कन्दली वज्रकन्दकल्के वा निषेचयेत्—कन्दली लता और वज्रकन्द के कल्क की भावना देना।
(३।१३।८-१२)

सीसा मिलाकर शोधन की विधि आजकल भी प्रचलित है। चाँदी के साथ तो यह वहुत काम आती है (cupellation or Parkes process)। कौटिल्य ने चाँदी के शोधन के सम्बन्ध में भी इसका उल्लेख किया है—तत्सीस चतुर्भागेन शोधयेत् (२।१३।१६)।

कौटिल्य के ग्रन्थ में ताँबे और चाँदी पर सोना चढ़ाने (goldplating) का भी उल्लेख किया है। इस क्रिया को त्वष्टृकर्म कहते हैं—त्वष्टृकर्मणः शुल्वभाण्डं सम सुवर्णेन संयूहयेत् (२।१३।४६)
इस कृत्य की एक विधि इस प्रकार है—

चतुर्भागसुवर्णं वा वालुका हिंगुलकस्य रसेन चूर्णेन वा वासयेत्।(२।१३।५१)

अर्थात् ताँबे या चाँदी के आभूषण का चतुर्थांश सोना लेकर वालुका के रस और शिगरफ के चूर्ण के साथ उस पर सोने का पानी चढ़ा दे।

चाँदी साफ़ करने का काम कई प्रकार की मूषाओं (crucibles) में किया जाता था—(१) मिट्टी और हड्डी से वनी (अस्थि तुत्य); (२) सीसा मिली मिट्टी से वनी—सीस तुत्य; (३) शुष्क शर्करा मिली मिट्टी की (शुष्क तुत्य); (४) शुद्ध मिट्टी की (कपाल तुत्य); (५) गोवर मिली मिट्टी की (गोमय तुत्य)। (२।१३।५४)

रसरत्नसमुच्चय में मूषाओं का जो विवरण है उससे यह कहीं अधिक अच्छा है—विशेषतया अस्थि तुत्य और सीस तुत्य की दृष्टि से—

मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा।
चिराध्मानसहा साहि मूषार्थमतिशस्यते॥
तदभावे हि वाल्मीकी कौलाली व समीर्यते॥
या मृत्तिका दग्धतुषैः शणेन शिखित्रकैर्वा हय लद्दिना च।
लोहेन दण्डेन च कुट्टिता सा साधारणी स्यात् खलु मूषकार्यम्॥
(रसरत्नसमु० १०।५-६)

आजकल के युग में मिट्टी, पोर्सलेन, सिलिका, निकेल और प्लैटिनम की मूषाओं का अधिक प्रचार है।
यह भी महत्त्व की बात है कि कौटिल्य ने सोना अपहरण करने के ५ ढंगों का उल्लेख किया है—

तुलाविषममपसारणं विस्रावणं पेटको पिकश्चेति हरणोपायाः॥ २।१४।१६॥

अर्थात् (१) डंडी मारना (तुला विषम), (२) त्रिपुटक (२ भाग चाँदी में १ भाग ताँवा) मिला कर सोना हर लेना (त्रिपुटकापसारण), शुल्कापसारण (केवल ताँवा मिला कर), वेल्लकापसारण (चाँदी-लोहा मिला कर), हेमापसारण (ताँवा-सोना का मिश्रण मिला कर); (३) आँख वचा कर सोने के पत्रों के स्थान पर चाँदी के पत्र वदल देना विस्रावण कहलाता है। (४) पेटक पत्र चढ़ाते समय की चालाकी से सम्बन्ध रखता है। पत्र तीन प्रकार के चढ़ाये जाते हैं—संयूह्य (गाढ़े पत्र), अवलेप्य (पतले) और संघात्य (कड़ियाँ जोड़ने वाले) (२।१४।३१)। (५) अनेक प्रकार की भरतू चीजें भर देना पिक कहाता है (filling materials)।

पुराने आभूषणों से स्वर्ण चुराने के परिकुट्टन, अवच्छेदन, उल्लेखन और परिमर्दन ये चार प्रकार हैं। रसायनज्ञों की दृष्टि से परिमर्दन विशेष महत्त्व का है—

हरिताल मनःशिलाहिङ्गुलकचूर्णानामन्यतमेन कुरुविन्द चूर्णेन वा वस्त्रं संयूह्यथत् परिमृद्नन्ति तत्परिमर्दनम्
॥ २।१४।५४ ॥

इस प्रक्रिया में हरिताल (orpiment), मनःशिला (realgar), और हिंगुल (cinnabar) से रगड़ने का विधान है। संखिया और पारे के साथ सोने का छीज जाना यह साधारण बात है। कौटिल्य ने जिस कुरुविन्द चूर्ण का उल्लेख किया है, वह क्या है इसका पता नहीं।

सुगन्धित द्रव्य

कौटिल्य अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण में सुगन्धित काष्ठों का उल्लेख किया गया है। इन द्रव्यों में चन्दन विशेष है। चन्दन के उत्पत्ति स्थान के अनुसार १६ भेद हैं—सातन, गोशीर्षक, हरिचन्दन, तार्णस, ग्रामेरुक, दैवसभेय, जावक, जोंगक, तौरूप, मालेयक, कुचन्दन, कालपर्वतक, कोशकारपर्वतक, शीतोदकीय, नागपर्वतक और शाकल। इन चन्दनों में ९ प्रकार के रंग और ६ प्रकार की गन्ध होती हैं। अच्छा चन्दन निम्न गुणों वाला होता है—

लघुस्निग्धमश्यानं सर्पिस्नेहलेपि गन्ध सुखं त्वगनुसार्यनुल्बणमविराग्युष्णसहं दाह ग्राहि सुखस्पर्शनमिति चन्दनगुणाः ॥ (२।११।६०)

अर्थात् अच्छा चन्दन थोड़ा सा चिकना, बहुत दिनों में सूखने वाला, घृत के समान चिकना, देह में लिपटने वाला, सुखकारी गन्ध से युक्त, त्वचा में शीतलता देने वाला, फटा सा दीखने वाला, वर्णविकार से रहित, गरमी सहने वाला और सुखस्पर्शी होना चाहिए।

इसी प्रकार का वर्णन अगर, तैलपर्णिक, भद्रश्रीय (कपूर) और कालेयक (दारूहल्दी या पीला चन्दन) का भी दिया गया है। मुझे आशा थी कि कौटिल्य ने चन्दन के तेल का भी कहीं उल्लेख किया होता, पर मेरे देखने में नहीं आया। इत्रों का विवरण भी कहीं नहीं मिलता है यह आश्चर्य की बात है।

कौटिल्य ने चार प्रकार के स्नेहों, घृतादि, का उल्लेख किया है—

सर्पिस्तैलवसामज्जानः स्नेहाः ॥ २।१५।१४ ॥

घृत, तेल, वसा और मज्जा। यह भी लिखा है कि अलसी से तेल का छठा भाग तैयार होता है; नीमकुश, आम की गुठली और कपित्थ से पाँचवाँ भाग; तिलकुसुम्भ (कुसूम), मधूक (महुआ) और इगुदी से चौथाई भाग तेल प्राप्त होता है (२।१५।४९-५१)। यह आश्चर्य की बात है कि इस स्थल पर सरसों, तिल, बिनौला, नीम, नारियल आदि के तेलों का उल्लेख क्यों नहीं किया।

घृतों का उल्लेख करते समय कौटिल्य ने यह लिखा है—

क्षीरद्रोणे गवां घृतप्रस्थः ॥ पञ्चभागाधिको महिषीणाम् ॥ द्विभागाधिकोऽजावीनाम् ॥
(२।२९।३४-३६)

अर्थात् गाय के १ द्रोण दूध में १ प्रस्थ घी निकलता है, भैंस के इतने ही दूध में ५ गुना अधिक घी और भेड़-बकरी के दूध में एक द्रोण में दो प्रस्थ। गुप्तकाल में ४ प्रस्थ का १ आढक और ४ आढक का एक द्रोण माना जाता था अर्थात् १ द्रोण में १६ प्रस्थ होते हैं। इस दृष्टि से गाय के एक सेर दूध में १ छटाँक घी निकलता है। यह बात तो ठीक मालूम होती है। पर भैंस के एक सेर दूध से ५ छटाँक घी निकलता होगा इसमें सन्देह है। हाँ, सिद्धान्त रूप से चाणक्य के निम्न दो सूत्र महत्त्व के हैं—**मन्थो वा सर्वेषां प्रमाणम्** अर्थात् मथ कर देख लो कि कितना घी निकलता है, वही प्रमाण है। और **भूमि तृणोदक विशेषाद्धि क्षीर घृत वृद्धिर्भवति ॥** (२।२९।३७-३८) अर्थात् भूमि, तृण और जल के अनुसार दूध में घी की मात्रा की कमी या वृद्धि होती रहती है।

चर्म और ऊन

कौटिल्य की दृष्टि से **चर्मणां मृदु स्निग्धं बहुल रोम च श्रेष्ठम्** (२।११।१०१) अर्थात् श्रेष्ठ चर्म वह है जो मृदु, स्निग्ध और अधिक रोम वाला हो। स्थानादि भेद से चर्म की अनेक जातियों का विवरण दिया गया है जैसे—कान्तनावक, प्रैयक, बिसी, महाबिसी, श्यामिका, कालिका, कदलं, चन्द्रोत्तरा, शाकुला, सामूर, चीनसी, सामूली, सातिना, नलतूला और वृत्तपुच्छा। इन चमड़ों के रंग और माप का वर्णन भी दिया गया है (२।११।७७-१०१)। मुझे आशा थी कि कच्चे चमड़े को किस प्रकार पकावें इसका भी कहीं उल्लेख मिले पर यह पूर्ण न हुई। रसायन-शास्त्र की दृष्टि से यह उल्लेख अधिक महत्त्व-पूर्ण होता।

कौटिल्य ने ऊन के सम्बन्ध में लिखा है कि **पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्मं मृदु च श्रेष्ठम्**। अर्थात् चिकना, गोल सा प्रतीत होने वाला सूक्ष्म और कोमल ऊन अच्छा माना जाता है। ऊन से बने अनेक वस्त्रों का भी उल्लेख है (२।११।१०२-१११)। इसी प्रकार एक सूत्र में काशिक और पौंड्रक रेशमी वस्त्र का निर्देश है। इनसे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण निर्देश पत्रोर्णा का है। इनके तीन भेद हैं—मागधिक, पौंड्रिक और सौवर्ण कुड्यक। ये ऊनें नागवृक्ष, लिकुच, वकुल और वट वृक्ष पर होती हैं। सम्भवतः ये ऊनें इन वृक्षों पर रहने वाले कीटों द्वारा तैयार की जाती हैं। कौशेय, चीनपट्ट और चीनभूमिजा (चायना सिल्क) का भी निर्देश महत्त्व का है (२।११।११६)।

विषपरीक्षण

कूटनीति ग्रस्त राष्ट्रों में शत्रुओं पर विषप्रयोग करना साधारण घटना हो जाती है। अपने पक्ष का व्यक्ति जब सहसा अस्वाभाविक अवस्था में प्राणत्याग करता है, तब यह सन्देह हो जाता है कि उस पर किसी ने विषप्रयोग तो नहीं किया। कौटिल्य कहते हैं कि—

श्याव पाणि पाद दन्तनखं शिथिलमांसरोमचर्माणं फेनोपदिग्धमुखं विषहतं विद्यात् ॥ ४।७।८ ॥

अर्थात् जिसके हाथ, पैर, दाँत, नख काले पड़ गये हों; मांस, रोम और चर्म ढीले पड़ गई हो, मुंह झागों से भरा हो, उसे विष से मारा समझो। फिर लिखते हैं कि विषहतस्य भोजनशेषं पयोभिः परीक्षेत्—अर्थात् उस विषहत व्यक्ति का शेष भोजन दूध से जांचो (४।७।१२)। पोस्ट मार्टम परीक्षा (शव-परीक्षा) की जावे—

हृदयादुद्धृत्याग्नौ प्रक्षिप्तं चिटचिटायदिन्द्रधनुर्वर्णं वा विषयुक्तं विद्यात् ॥ ४।७।१३ ॥

अर्थात् मरे हुए व्यक्ति का हृदय अग्नि में डाला जाय। यदि उसमें चटचट शब्द और इन्द्र धनुष का रंग निकले तो उसे विषयुक्त समझे। आजकल भी तांबे और संखिये के विष की पहचान ज्वाला का रंग देख कर भी की जाती है। ज्वाला में कैसा रंग किस प्रकार के लवणों से आता है इसका विस्तृत निश्चय आधुनिक रसायनशास्त्र में हो चुका है।

पहले अधिकरण के २१वें अध्याय में कौटिल्य ने विषपरीक्षण के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है। इन प्रकारों में ज्वालापरीक्षण और धूम्रपरीक्षण विशेष महत्त्व के हैं।

अग्नेर्ज्वालाधूम नीलता शब्द स्फोटनं च विषयुक्तस्य वयसां विपत्तिश्च। (१।२१।१०)

अर्थात् यदि भोजन में विष मिला हो तो अग्नि में उसकी लपट नीली और धुआं भी नीला निकलेगा। अग्नि में चटचट शब्द भी होगा। यदि पक्षी उसे खायेगा तो वह उसी समय तड़फड़ाने लगेगा। हम जानते हैं कि तांबे के लवण ज्वाला को हरा-नीला निश्चित रंग प्रदान करते हैं और सीसा, संखिया (आर्सेनिक) और आञ्जन (एंटीमनी) के लवण ज्वाला को हलका नीला रंग देते हैं। सामान्य विषों में बहुधा इन्हीं लवणों का प्रयोग होता है। कौटिल्य के विषपरीक्षण का यह प्रकार रसायन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।

एक और प्रकार विशेषतया उल्लेखनीय है यद्यपि हम निश्चय रूप से इसकी रासायनिक व्याख्या को समझने में असमर्थ हैं—

रसस्य मध्ये नीला राजी, पयस्ताम्रा, मद्यतोययोः काली, दध्नः श्यामा च मधुनः श्वेता ॥ १।२१।१५ ॥

अर्थात् विषयुक्त भोजन के रस में नीली धारी, दूध में लाल, मद्य और जल में काली, दही में श्याम और मधु में सफ़ेद धारी विष की पहचान है।

इस सम्बन्ध में कौटिल्य का यह सामान्य विवरण महत्त्व का है—

स्नेह राग गौरव प्रभाव वर्ण स्पर्श वधश्चेति विषयुक्तलिंगानि ॥ २२ ॥

अर्थात् विष मिले पदार्थ में उसकी स्वाभाविक स्निग्धता, रंगत, उनका प्रभाव, वर्ण और स्पर्श ये नष्ट हो जाते हैं और इनके आधार पर विष का परीक्षण हो सकता है। कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में और भी कई बातें लिखी हैं जैसे भोजन में विष हो तो वे शीघ्र शुष्क हो जायँगे, क्वाथ का सा उनका आकार हो जायगा, विकृत प्रकार का झाग निकलेगा इत्यादि। इन सब का हम विस्तृत वर्णन देने में यहाँ असमर्थ हैं।

सुरा का निर्माण

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सुराध्यक्ष के कर्त्तव्यों का विशेष उल्लेख किया है और पानागारों या मदिरालयों की नियन्त्रित व्यवस्था की है।

सुरा के ६ भेद बताये गये हैं—मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु। (१) एक द्रोण जल, आधे आढक चावल और तीन प्रस्थ किण्व मिलाकर मेदक सुरा तैयार की जाती है। (२) १२ आढक चावल की पिट्ठी, ५ प्रस्थ किण्व या पुत्रक वृक्ष की त्वचा और फल से प्रसन्ना बनती है। (३) कैथे के रस, गुड़ की राब और मधु से आसव बनता है। (४) चिकित्सक अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने प्रमाण से जो बनावे वह अरिष्ट होगा—मेदकारिष्ट, प्रसन्नारिष्ट आदि। (५) मेढ़ासींगी (मेष शृंग) की त्वचा का क्वाथ, गुड़, पीपल, मिरच और त्रिफला के योग से मैरेय सुरा बनती है। (६) द्राक्षों से मधु सुरा तैयार होती है। (२।२५।१७-२५)

सुरा बनाने में किण्वों का प्रयोग विशेष महत्त्व का है। आजकल तो किण्व रसायन रसायनशास्त्र का एक स्वतन्त्र मुख्य अंग समझा जाता है। यह हर्ष की बात है कि चाणक्य ने किण्व-बन्ध की विधि भी दी है—

माषकलनीद्रोणमामं सिद्धं वा त्रिभागाधिक तण्डुलं मोरटादीनां कार्षिक भागयुक्तः किण्व बन्धः ॥ २।२५।२६ ॥

माष (उड़द) की कलनी या उसका आटा, तंडुलों की पिट्ठी, और मोरटादि औषधियों के संयोग होने पर किण्वबन्ध तैयार होता है। प्रसन्ना-सुरा के किण्व बनाने में पाठा, लोध्र, इलायची, वालुक, मुलहठी, कैसर, दारुहल्दी, मिरच, पीपल आदि पदार्थ और मिलाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्य किण्व-बन्धों का भी विवरण है।

बीजों की रक्षा

कौटिल्य की दृष्टि बड़ी व्यापक थी। उसने अपने अर्थशास्त्र में बहुत सी छोटी-छोटी बातों तक का वर्णन दिया है जैसे धोबियों को कपड़ों की धुलाई किस प्रकार दी जाय इत्यादि। इसी प्रकार बीजों की रक्षा के भी उसने कुछ उपाय बताये हैं। कृषिशास्त्र में दूसरी फ़सल तक बीजों के सुरक्षित रखने के अनेक विधानों का आजकल उल्लेख किया जाता है। अनेक रासायनिक द्रव्यों का भी उपयोग करते हैं।

कृषिकर्म के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते हैं। इसके अधिकार में राष्ट्र की खेती की देख-भाल रहती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख कर दिया है कि कैसी ऋतु में कौन से बीज बोने चाहिए, और कैसे खेत को कितना पानी मिलना चाहिए। खेत को खाद किस प्रकार की मिलनी चाहिए, इसके उल्लेख का अभाव कुछ

खटकता है। सम्भवतः उस समय भूमि इतनी उर्वरा रही हो कि उसमें खाद देने का प्रश्न ही न उठता हो। वीजों के अंकुरित होने पर गीली मछली की खाद और स्नुही के दूध से सिंचित करने का विधान अवश्य दिया है।

प्ररूढांश्चा शुष्क कटु मत्स्यांश्च स्नुहि क्षीरेण वापयेत् ॥ २।२४।३४ ॥

कौटिल्य का कथन है कि धान के वीजों को रात में ओस में और दिन में धूप में सात दिन तक रखना चाहिए। इसी प्रकार कोशीधान्य (उड़द, मूंग आदि) भी ओस और धूप में रक्खे जायें। ईख आदि काण्ड वीजों को मधु, घृत, सूकरवसा और गोवर में लपेट कर रक्खे। कन्दों को काट-काट कर मधु और घृत में रक्खे; अस्थिवीजों को (गुठली वालों को) गोवर में लपेट कर और शाखी वृक्षों के वीजों को (आम कटहलादि) गोवर या गो-अस्थि से वोने के बाद गड्ढे में सेंके। (२।२४।३३ ॥)

युद्ध में गैसों का प्रयोग

कहा जाता है कि २२ अप्रैल सन् १९१५ को गत युरोपीय महासमर में जर्मन-वासियों ने पहली बार क्लोरीन गैस का प्रयोग शत्रुसेना को कष्ट पहुँचाने के लिए किया था। १९ दिसम्बर को उसी वर्ष जर्मनों ने फ़ॉस्जीन नामक दूसरी गैस का प्रयोग किया। इसी वर्ष अश्रु-गैस (Lachrymators) जाइलील ब्रोमाइड का भी उपयोग किया गया।

जर्मनों ने अपनी सेना को अदृष्ट रखने के लिए धुओं के वादल (Camouflage gas) भी छोड़े। मस्टर्ड गैस और लेविसाइट नामक विषैली और त्वचाघातक गैसों के प्रयोग भी १९१६ में हुए। डाइफीनाइल क्लोर आर्सीन नामक पदार्थ से छींकें इतनी आती हैं कि सेना के सिपाही छींकों के मारे हैरान हो जाते हैं (Sneezing gas)। गैसयुद्ध इस युग का एक भीषण आविष्कार समझा जाता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शत्रुसेना को पीड़ा पहुँचाने के अनेक योग दिये गये हैं। १४वें अधिकरण का पहला अध्याय इस दृष्टि से महत्त्व का है। इस विषय में रुचि रखने वाले व्यक्ति को यह समस्त अध्याय पढ़ना चाहिए।

लिखा है कि चित्रभेक, कौण्डिन्यक, कृकण, शतपदी (कनखजूरा) आदि का चूर्ण भिलावा और वावची के रस में मिला कर खिलाये या इनका धुआँ दे तो शीघ्र मृत्यु होती है। **सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः ॥ १४।१।५ ॥**

शतकर्दमोच्चिदिङ्ग करवीर कटुतुम्बीमत्स्यधूमो मदनकोद्रवपलालेन हस्तिकर्ण पलाशपलालेन वा प्रवातानुवाते प्रणीतो यावच्चरति तावन्मारयति ॥ १४।१।१० ॥

अर्थात् शतावरी, कपूर, उच्चिदिंग, कनेर, कटु तुम्बी, और मत्स्य का धुआँ, धतूरा, कोदों, पलाल आदि के साथ हवा के रुख पर उड़ाया जावे तो वह जहाँ तक जावेगा वहीं तक लोगों को मार देगा।

इसी प्रकार पूतिकोटमत्स्य, कटुतुम्ब, इन्द्रगोप आदि के चूर्ण वकरे के सींग या खुर के साथ जलाये जायें तो उनसे उठा धूम्र अन्धा करने वाला होता है—"**अन्धी करो धूमः**" १४।१।११। इसी प्रकार अन्य अन्धीकर धूम भी हैं। (१२, १३)।

"नेत्रघ्न" धूम का सुन्दर उल्लेख निम्न सूत्र में है—**कालीकुष्ठनडशतावरी मूलं सर्पप्रचलाककृकण पंचकुष्ठचूर्णं वा धूमः पूर्व कल्पे नार्द्रशुष्क पलालेन वा प्रणीतः संग्रामावतरणावस्कन्दन संकुलेषु कृततेजनोदकाक्षि प्रतीकारैः प्रणीतः सर्वप्राणिनां नेत्रघ्नः ॥ १४।१।१५ ॥**

इस योग द्वारा वनाये गये धुएँ में विशेषता यह है कि यह संग्राम के समय उतरने, और वलात्कार आक्रमण की भीड़ के समय में प्रयोग किया जाता है, और सभी के नेत्रों को नष्ट कर देता है। फलतः इस धुएँ के प्रयोग करने वाले के नेत्र भी तो नष्ट हो जायेंगे जो वांछनीय नहीं है। इसलिए प्रणीता के लिए यह आवश्यक है कि वह तेजनोदक (१४।४।१) से अपने नेत्र की रक्षा करे। यह प्रतीकार रस मानो आजकल के गैसमास्कों (Gas masks) का काम करता है। कुछ विषों के प्रतीकार रसों का उल्लेख इसी अधिकरण के चौथे अध्याय में दिया गया है।

रोगोत्पादक योग

ऐसा कहा जाता है कि ऐसा विचार था कि इस महायुद्ध में रोग फैलाने वाले अनेक कृमियों का प्रयोग किया जायगा। नागरिकों के जलाशयों में ये कृमि प्रविष्ट होकर नगरवासियों को पीड़ा पहुँचायेंगे। आश्चर्य की बात है कि कौटिल्य के इस ग्रन्थ में रोगोत्पादक योगों का भी वर्णन है—

१. कृकलासगृह गोलिका योगः कुष्ठकरः।

२. दूषीविषं मदनकोद्रव चूर्णमुपजिह्विका योगः मातृवाहकाञ्जलिकारप्रचलाक भेकाक्षि पीलुक योगो विषूचिकाकरः।

३. पञ्चकुष्ठक कौण्डिन्यकराजवृक्षमधुपुष्प मधुयोगो ज्वरकरः। ((१।१४।२०-३०)

इसी प्रकार उन्मादकर, मूकबधिरकर, प्रमेहकर आदि अनेक योगों का वर्णन है।

यह कहना तो कठिन है कि अर्थशास्त्र में दिये गये योग विश्वसनीय हैं या नहीं। जब तक इन पर फिर से प्रयोग न कर लिये जायँ, तब तक कुछ निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। पर इतना तो स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य कितना सर्वतोन्मुखी है। रसायनशास्त्र का उपयोग जीवन के कितने विशद क्षेत्रों में किया जा सकता है यह भी स्पष्ट है। साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ आज भी वैसी ही हैं जैसी कौटिल्य के समय में थीं।

प्रयाग]



जैन-गणित की महत्ता

श्री नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न

भगवान् महावीर की वाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में विभाजित है। करणानुयोग में अलौकिक और लौकिक गणित-शास्त्र सम्बन्धी तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में केवल लौकिक गणित पर ही प्रकाश डाला जायगा। लौकिक जैन गणित की मौलिकता और महत्ता के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। भारतीय गणितशास्त्र पर दृष्टिपात करते हुए डा० हीरालाल कापड़िया ने 'गणित तिलक' की भूमिका में लिखा है—

"In this connection it may be added that the Indians in general and the Jainas in particular have not been behind any nation in paying due attention to this subject. This is borne out by Gaṇita Sārasangraha (V. I. 15) of Mahāvīrāchārya (850 A. D.) of the Southern School of Mathematics. Therein he points out the usefulness of Mathematics or 'the science of calculation' regarding the study of various subjects like music, logic, drama, medicine, architecture, cookery, prosody, grammar, poetics, economics, erotics etc."

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने केवल धार्मिकोन्नति में ही जैन गणित का उपयोग नहीं किया, बल्कि अनेक व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिए इस शास्त्र का प्रणयन किया है। भारतीय गणित के विकास एवं प्रचार में जैनाचार्यों का प्रधान हाथ रहा है। जिस समय गणित का प्रारम्भिक रूप था उस समय जैनों ने अनेक बीजगणित एवं मैन्स्यूरेशन सम्बन्धी समस्याओं को हल किया था।

डा० जी० थीबो (Dr. G. Thibaut) साहब ने जैन गणित की प्रशंसा करते हुए अपने "Astronomie, Astrologie and Mathematik" शीर्षक निबन्ध में सूर्यप्रज्ञप्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

"This work must have been composed before the Greeks came to India, as there is no trace of Greek influence in it."

इससे स्पष्ट है कि जैन गणित का विकास ग्रीकों के आगमन के पूर्व ही हो गया था। आपने आगे चल कर इसी निबन्ध में बतलाया है कि जैन गणित और जैन ज्योतिष ईस्वी सन् से ५०० वर्ष पूर्व अंकुरित ही नहीं, अपितु पल्लवित और पुष्पित भी थे।

प्रो० वेबर (Weber) ने इंडियन एन्टीक्वैरी नामक पत्र में अपने एक निबन्ध में बतलाया है कि जैनों का 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गणित-ग्रन्थ है। वेदाङ्ग ज्योतिष के समान केवल धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए ही इसकी रचना नहीं हुई है, बल्कि इसके द्वारा ज्योतिष की अनेक समस्याओं को सुलझा कर जैनाचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है।

मैथिक सोसाइटी के जरनल में डा० श्यामशास्त्री, प्रो० एम० विन्टरनिट्ज, प्रो० एच० वी० ग्लासेनप और डा० सुकुमाररंजनदास ने जैन गणित की अनेक विशेषताएँ स्वीकार की हैं। डा० वी० दत्त ने कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसाइटी से प्रकाशित बीसवें बुलेटीन में अपने निबन्ध "on Mahāvīra's solutions of Rational Triangles and quadrilaterals" में मुख्य रूप से महावीराचार्य के त्रिकोण और चतुर्भुज के गणित का विश्लेषण किया है। आपने इसमें त्रिभुज और चतुर्भुज के गणित की अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं।

हमें जैनागमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए गणितसूत्र मिलते हैं। इन सूत्रों में से कितने ही सूत्र अपनी निजी विशेषता के साथ वासनागत सूक्ष्मता भी रखते हैं। प्राचीन जैन गणितसूत्रों में ऐसे भी कई नियम हैं, जिन्हें हिन्दू गणितज्ञ १४वीं और १५वीं शताब्दी के बाद व्यवहार में लाये हैं। गणितशास्त्र के संख्या-सम्बन्धी इतिहास के ऊपर दृष्टिपात करने से यह भलीभाँति अवगत हो जाता है कि प्राचीन भारत में संख्या लिखने के अनेक कायदे थे— जैसे वस्तुओं के नाम, वर्णमाला के नाम, डेनिश ढंग के संख्या नाम, महावरों के संक्षिप्त नाम। और भी कई प्रकार के विशेष चिह्नों द्वारा संख्याएँ लिखी जाती थीं[1]। जैन गणित के फुटकर नियमों में उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त दाशमिक क्रम के अनुसार संख्या लिखने का भी प्रकार मिलता है। जैन-गणित-ग्रन्थों में अक्षर संख्या को रीति के अनुसार दशमलव और पूर्व संख्याएँ भी लिखी हुई मिलती हैं। इन संख्याओं का स्थान-मान वाईं ओर से लिया गया है। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञान विधि में आर्यभट के संख्याक्रम से भिन्न संख्याक्रम लिया गया है। इस ग्रन्थ में प्रायः अब तक उपलब्ध सभी संख्याक्रम लिखे हुए मिलते हैं। हमें वराहमिहिर-विरचित वृहत्संहिता की भट्टोत्पली टीका में भद्रबाहु की सूर्यप्रज्ञप्ति-टीका के कुछ अवतरण मिले हैं, जिनमें गणित सम्बन्धी सूक्ष्मताओं के साथ संख्या लिखने के सभी व्यवहार काम में लाये गये हैं। भट्टोत्पल ने ऋषिपुत्र, भद्रबाहु और गर्ग (वृद्ध गर्ग) इन तीन जैनाचार्यों के पर्याप्त वचन उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भट्टोत्पल के समय में जैन गणित बहुत प्रसिद्ध रहा था, अन्यथा वे इन आचार्यों का इतने विस्तार के साथ स्वपक्ष की पुष्टि के लिए उल्लेख नहीं करते। अनुयोग द्वार के १४२वें सूत्र में दशमलव क्रम के अनुसार संख्या लिखी हुई मिलती हैं। जैन शास्त्रों में जो कोड़ाकोड़ी का कथन किया गया है वह वार्गिकक्रम से संख्याएँ लिखने के क्रम का द्योतक है। जैनाचार्यों ने संख्याओं के २९ स्थान तक बतलाये हैं। १ का स्थान नहीं माना है, क्योंकि १ संख्या नहीं है। अनुयोग द्वार के १४६वें सूत्र में इसीको स्पष्ट करते हुए लिखा है—"से किं तं गणणासंखा ? एक्को गणणं न उवइ, दुप्पभिइ संखा"। इसका तात्पर्य यह है कि जब हम एक बर्तन या वस्तु को देखते हैं तो सिर्फ़ एक वस्तु या एक बर्तन ऐसा ही व्यवहार होता है, गणना नहीं होती। इसीको मालावारिन हेमचन्द्र ने लिखा है—"Thus the Jainas begin with Two and end, of course, with the highest possible type of infinity."

जैन गणितशास्त्र की महानता के द्योतक फुटकर गणितसूत्रों के अतिरिक्त स्वतन्त्र भी कई गणित-ग्रन्थ हैं। त्रैलोक्यप्रकाश, गणितशास्त्र (श्रेष्ठचन्द्र), गणित साठसौ (महिमोदय), गतिसार, गणितसूत्र (महावीराचार्य), लीलावती कन्नड़ (कवि राजकुंजर), लीलावती कन्नड़ (आचार्य नेमिचन्द्र) एवं गणितसार (श्रीधर) आदि ग्रन्थ प्रधान हैं। अभी हाल में ही श्रीधराचार्य का जो गणितसार उपलब्ध हुआ है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले मुझे यह सन्देह था कि यह कहीं अजैन ग्रन्थ तो नहीं है, पर इधर जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं उनके आधार से यह सन्देह बहुत कुछ दूर हो गया है। एक सबसे मज़बूत प्रमाण तो यह है कि महावीराचार्य के गणितसार में **"धनं धनर्णयोर्वर्गो मूले स्वर्णे तयोः क्रमात्। ऋर्णं स्वरूपतोऽवर्गो यतस्तस्मान्न तत्पदम्"**—यह श्लोक श्री धराचार्य के गणितशास्त्र का है। इससे यह जैनाचार्य महावीराचार्य से पूर्ववर्त्ती प्रतीत होते हैं। श्रीपति के गणिततिलक पर सिंहतिलक सूरि ने एक वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति में श्रीधर के गणितशास्त्र के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इस वृत्ति की लेखन-शैली जैन गणित के अनुसार है; क्योंकि सूरि जी ने जैन गणितों के उद्धरणों को अपनी वृत्ति में दूध-पानी की तरह मिला दिया है। जो हो, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैनों में श्रीधर के गणितशास्त्र की पठन-पाठन प्रणाली अवश्य रही थी। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञानविधि को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि इन दोनों ग्रन्थों के कर्त्ता एक ही हैं। इस गणितशास्त्र के पाटीगणित, त्रिशतिका और गणितसार भी नाम बताये गये हैं। इसमें अभिन्न गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न-समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमातृ-

---

[1] संख्या सम्बन्धी विशेष इतिहास जानने के लिए देखिये 'गणित का इतिहास' प्रथम भाग, पृ० २-५४।

जाति, त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्ड-प्रतिभाण्ड, मिश्रव्यवहार, भाव्यकव्यवहार, एकपत्रीकरण, सुवर्णगणित, प्रक्षेपकगणित, समक्रयविक्रयगणित, श्रेणीव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार एवं छायाव्यवहार के गणित उदाहरण सहित बतलाये गये हैं। सुधाकर द्विवेदी जैसे प्रकाण्ड गणितज्ञ ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"भास्करेणास्यानेके प्रकारास्तस्करवदपहृता:। अहो अस्य सुप्रसिद्धस्य भास्करादितोऽपि प्राचीनस्य विदुषोऽन्यकृतिदर्शनमन्तरा समये महान् संशय:। प्राचीना एकशास्त्रमात्रैकवेदिनो नाऽऽसन् ते च बहुश्रुता बहुविषयवेत्तार आसन्नत्र न संशय:।"

इससे स्पष्ट है कि यह गणितज्ञ भास्कराचार्य के पूर्ववर्ती प्रकाण्ड विद्वान् थे। स्वतन्त्र रचनाओं के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अनेक अजैन गणित ग्रन्थों पर वृत्तियाँ भी लिखी हैं। सिंहतिलक सूरि ने लीलावती के ऊपर भी एक बड़ी वृत्ति लिखी है। इनकी एकाध स्वतन्त्र रचना भी गणित सम्बन्धी होनी चाहिए।

लौकिक जैन गणित को अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित इन तीन भागों में विभक्त कर विचार करने की चेष्टा की जायगी।

जैन अंकगणित—इसमें प्रधानतया अंक सम्बन्धी जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल इन आठ परिकर्मों का समावेश होता है। भारतीय गणित में उक्त आठ परिकर्मों का प्रणयन जैनाचार्यों का अति प्राचीन है। आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर आदि जैनेतर गणितज्ञों ने भी उपर्युक्त परिकर्माष्टकों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया है, किन्तु जैनाचार्यों के परिकर्मों में अनेक विशेषताएँ हैं। गणितसारसंग्रह की अंग्रेजी भूमिका में डेविड यूजीन स्मिथ (David Eugene Smith) लिखते हैं—

"The shadow problems, primitive cases of trigonometry and gnomonics, suggest a similarity among these three great writers, and yet those of Mahāvīrācārya are much better than the one to be found in either Brahmagupta or Bhāskara."

इन पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने महावीराचार्य की विशेषता को स्वीकार किया है। महावीराचार्य ने वर्ग करने की अनेक रीतियाँ बतलाई हैं। इनमें निम्न मौलिक और उल्लेखनीय हैं—"अन्त्य[1] अंक का वर्ग करके रखना, फिर जिसका वर्ग किया है उसी अंक को दूना करके शेष अंकों से गुणा करके रखना, फिर जिसका वर्ग किया है उसी अंक को दूना कर शेष अंकों से गुणा कर एक अंक आगे हटा कर रखना। इस प्रकार अन्त तक वर्ग करके जोड़ देने से इष्टराशि का वर्ग हो जाता है।" उदाहरण के लिए १३२ का वर्ग करना है—

(१²)=	१				
१×२=२,२×३=		६			
१×२=२,२×२=			४		
(३²)=			९		
३×२=६,६×२=			१	२	
(२²)=					४
	१	७	४	२	४

---

[1] कृत्वान्त्यकृतिं हन्याच्छेषपदैर्द्विगुणमन्त्यमुत्सार्य।
शेषानुत्सार्यैवं करणीयो विधिरयं वर्गे॥

यहाँ अन्त्य अक्षर से तात्पर्य इकाई दहाई से है, प्रथम, द्वितीय अंक से नहीं—परिकर्म व्यवहार श्लो० ३१

इस वर्ग करने के नियम में उपपत्ति (वासना) अन्तर्निहित है, क्योंकि अ^2=(क+ग)^2=(क+ग)(क+ग)=क (क+ग)+ग(क+ग)=क^2+क·ग+क·ग+ग^2=क^2+२क·ग+ग^2। उपर्युक्त राशि में अन्त्य अक्षर (क) का वर्ग करके वर्गित अक्षर (क) को दूना कर आगे वाले अक्षर (ग) से गुणा किया गया है तथा आदि अक्षर (ग) का वर्ग करके सब को जोड़ दिया है। इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र में बीजगणित गत वासना भी सन्निबद्ध है। महावीराचार्य के उत्तरवर्त्ती गणितज्ञों पर इस सूत्र का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार **"अन्त्यौजादपहृतकृतिमूलेन"** इत्यादि वर्गमूल निकालने वाला सूत्र भी जैनाचार्य की निजी विशेषता है। यद्यपि आजकल गुणा, भाग के भय से गणितज्ञ लोग इस सूत्र को काम में नहीं लाते हैं, तथापि बीजगणित में इसके बिना काम नहीं चल सकता। घन और घनमूल निकालने वाले सूत्रों में वासना सम्बन्धी निम्न विशेषता पाई जाती है—

अ. अ. अ=अ(अ+ब) (अ—ब)+ब^2·(अ—ब)+ब^3=अ^3। इस नियम से बीजगणित में घनमूल निकालने में बहुत सरलता रहती है। आज वैज्ञानिक युग में जिस फ़ारमूला (formula) को बहुत परिश्रम के बाद गणितज्ञों ने पाया है, उसीको जैन गणितज्ञ सैकड़ों वर्ष पहले से जानते थे। वर्तमान में जिन वर्ग और घन सम्बन्धी बातों की गूढ़ समस्याओं को केवल बीजगणित द्वारा सुलझाया जाता है उन्हीं को जैनाचार्यों ने अंकगणित द्वारा सरलता-पूर्वक हल किया है। इनके अतिरिक्त जैन अंकगणित में साधारण और दशमलव भिन्न के परिकर्माष्टक, साधारण और मिश्र व्यवहार गणित, महत्तम और लघुत्तम समापवर्त्तक, साधारण और चक्रवृद्धि व्याज, समानुपात, ऐकिक नियम, त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, समय और दूरी सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी दिये गये हैं। जैन अंकगणित में गच्छ, चय, आद्य और सर्वधन संख्या आनयन सम्बन्धी सूत्रों की वासनागत सूक्ष्मता गणितज्ञों के लिए अत्यन्त मनोरंजक और आनन्दप्रद है। तिलोयपण्णति में संकलित धन लाने वाले सूत्र[१-२] निम्न प्रकार बताये हैं:—

(१) पद के वर्ग को चय से गुणा करके उसमें दुगुने पद से गुणित मुख को जोड़ देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमें से चय से गुणित पद प्रमाण को घटा कर शेष को आधा कर देने पर प्राप्त हुई राशि के प्रमाण संकलित धन होता है।

(२) पद का वर्ग कर उसमें से पद के प्रमाण को कम करके अवशिष्ट राशि को चय के प्रमाण से गुणा करना चाहिए। पश्चात् उसमें पद से गुणित आद्य को मिलाकर और फिर उसका आधा कर प्राप्तराशि में मुख के अर्द्धभाग से गुणित पद के मिला देने पर संकलित धन का प्रमाण निकलता है।

गणित—पद ५, चय ४ और मुख ८ है। प्रथम नियमानुसार संकलित धन=(५)^2=२५, २५×४=१००, ५×२=१०, १०×८=८०, (१००+८०)=१८०, ५×४=२०, (१८०—२०)=१६०, १६०÷२=८०

द्वितीय नियमानुसार संकलित धन=(५)^2=२५, २५—५=२०, २०×४=८०, ५×८=४०, (८०+४०)=१२०÷२=६०, ८÷२=४, ४×५=२०, (२०+६०)=८०। उपर्युक्त दोनों ही नियम सरल और महत्त्वपूर्ण हैं। आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर जैसे गणितज्ञ भी श्रेढ़ी-व्यवहार के चक्र में पड़कर इन सरल नियमों को नहीं पा सके हैं। वस्तुतः गच्छ, चय, आद्य और सर्वधन सम्बन्धी प्रक्रिया जैनाचार्यों की अत्यन्त मौलिक है। अंकगणित के नियमों में अर्द्धच्छेद सम्बन्धी सिद्धान्त (formula) महत्वपूर्ण और मौलिक हैं। प्राचीन

---

[१] पदवग्गं चयपहदं दुगुणिगच्छेण गुणिदमुहजुत्तम्।
वड्ढिहदपदविहीणं दलिदं जाणिज्ज संकलिदम्॥
—तिलोयपण्णत्ति, पृ० ६२

[२] 'पदवग्गं पदरहिदं' इत्यादि।
—तिलोयपण्णत्ति, पृ० ६३

जैनेतर गणितज्ञों ने इन जटिल सिद्धान्तों के ऊपर विचार भी नहीं किया है। आधुनिक गणितज्ञ अर्द्धच्छेद प्रक्रिया को लघुरिक्थ (Logarithm) के अन्तर्गत मानते हैं, पर इस गणित के लिए एक अंक टेबुल साथ रखनी पड़ती है, तभी अर्द्धच्छेदों से राशि का ज्ञान कर सकते हैं। परन्तु जैनाचार्यों ने विना बीजगणित का आश्रय लिये अंकों द्वारा ही अर्द्धच्छेदों से राशि[1] का ज्ञान किया है। (१) देयराशि—परिवर्तित राशि (Substituted) के अर्द्धच्छेदों का इष्टराशि के अर्द्धच्छेदों में भाग देने पर जो लब्ध आवे उसका अभीष्ट अर्द्धच्छेद राशि में भाग देने से जो लब्ध आये, उतनी ही जगह इष्ट राशि को रख कर परस्पर गुणा करने से अर्द्धच्छेदों से राशि का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण—देयराशि (२) इसकी अर्द्धच्छेदराशि १, इष्ट राशि १६, इसकी अर्द्धच्छेद राशि ४, अभीष्ट अर्द्धच्छेद राशि ८—इन अर्द्धच्छेदों से राशि निकालनी है। $४\div १=४$, $८\div ४=२$, $१६\times १६=२५६$ राशि आठ अर्द्धच्छेदों की है।

अर्द्धच्छेद के गणित से निम्न सिद्धान्त और भी महत्त्वपूर्ण निकलते हैं :

* $क^{२}\times क^{४}=क^{६}$, $क^{न}\times क^{म}=क^{न+म}$ गुण्य राशि के अर्द्धच्छेदों को गुणाकार राशि के अर्द्धच्छेदों में जोड़ देनेपर गुणनफलराशि के अर्द्धच्छेद आ जाते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त इसी अर्थ का द्योतक है। अंकगणित के अनुसार १६ गुण्यराशि, ६४ गुणाकार राशि और गुणनफल राशि १०२४ है। १६ गुण्यराशि$=(२)^{४}$, गुणाकार $६४=(२)^{६}$, $(२)^{४}\times(२)^{६}=(२)^{१०}$=गुणनफल राशि $१०२४=(२)^{१०}$

† $क^{६}\div क^{२}=क^{४}$, $क^{न}\div क^{म}=क^{न-म}$। भाज्य राशि के अर्द्धच्छेदों में से भाजक राशि के अर्द्धच्छेदों को घटाने से भागफल राशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। अंकगणित के अनुसार भाज्य राशि २५६, भाजक ४ और भागफल ६४ है। २५६ भाज्यराशि$=(२)^{८}$, भाजक $(२)^{२}$, $(२)^{८}\div(२)^{२}=(२)^{६}$, भागफल राशि $६४=(२)^{६}=(२)^{६}$

‡ $(क^{म})^{न}=क^{म\cdot न}$, इस सिद्धान्त को जैनाचार्यों ने अर्द्धच्छेद के गणित में लिखा है कि विरलनराशि—विभाजितराशि (Distributed number) को देयराशि—परिवर्तित राशि (substituted number) के अर्द्धच्छेदों के साथ गुणा करने से जो राशि आती है वह उत्पन्न (resulting number) के अर्द्धच्छेदों के बराबर होती है। न्यासः—विभाजितराशि ४, परिवर्तितराशि १६, उत्पन्नराशि ६५५३६ है। परिवर्तितराशि $१६=(२)^{४}$, $(२^{४})^{४}=(२)^{१६}$, उत्पन्नराशि $६५५३६=(२)^{१६}$

§ $(क)^{२}\times(क^{२})^{२}=क^{४}$, विरलन—विभाजित राशि के अर्द्धच्छेदों को देयराशि के अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेद में जोड़ने से उत्पन्न राशि की वर्गशाला का प्रमाण आता है। विभाजितराशि ४, परिवर्तितराशि १६ और उत्पन्न-राशि ६५५३६ है। *विभाजितराशि* $४=(२)^{२}$, *परिवर्तितराशि* १६, $(२^{२})^{२}=(२)^{४}$, ६५५३६ उत्पन्नराशि$=(४^{२})^{४}$।

---

[1] दिण्णच्छेदेणवहिदइट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे।
लद्धमिवइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयद धणम्॥
—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा नं० २१४

* गुणयारद्धच्छेदा गुणिज्जमाणस्स अद्धछेदजुदा।
लद्धस्सद्धच्छेदा अहियस्स छेदणा णत्थि॥—त्रिलोकसार गाथा नं० १०५

† भज्जस्सद्धच्छेदा हारद्धच्छेदणाहिं परिहीणा।
अद्धच्छेदसलागा लद्धस्स हवंति सव्वत्थ॥—त्रिलोकसार गाथा नं० १०६

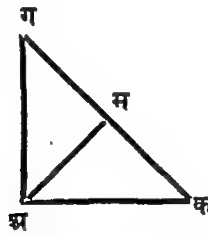
‡ विरलिज्जमाणारासिं दिण्णस्सद्धच्छिदीहिं संगुणिदे।
अद्धच्छेदा होंति दु सव्वत्थुप्पण्णरासिस्स॥—त्रिलोकसार गाथा नं० १०७

§ विरलिदरासिच्छेदा दिण्णद्धच्छेदछेदसं मिलिदा।
वग्गसलागपमाणं होंति समुप्पण्णरासिस्स॥—त्रिलोकसार गाथा नं० १०८

उत्तराध्ययन सूत्र में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठम और द्वादशम वर्गात्मक शक्तियों (powers) के लिए वर्ग, घन, वर्ग-वर्ग, घन-वर्ग और घन-वर्ग-वर्ग शब्दों का प्रयोग मिलता है। अनुयोगद्वार सूत्र १४२वें के अनुसार $(क)^२$, $(क^२)^२$ $क^४$, $(क^४)^२$, $(क^४)^४$ इत्यादि वर्गात्मक शक्तियों का विश्लेषण होता है। इसी प्रकार वर्ग-मूलात्मक $क^{१/२}$, $क^{१/४}$, $क^{१/न}$ इत्यादि शक्तियों का उल्लेख भी जैनगणित में किया गया है। गणितसार संग्रह में विचित्र कुट्टीकार एक गणित का प्रकार आया है, यह सिद्धान्त अंक गणित की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार बीजगणित के बड़े-बड़े प्रश्न सुलझाये जा सकते हैं। अन्य भारतीय गणितज्ञों ने जिन प्रश्नों को चक्रवाल और वर्ग प्रकृति के नियमों से निकाला है, वे प्रश्न इस विचित्र कुट्टीकार की रीति से हल किये जा सकते हैं। अंकगणित में जहाँ कोई भी कायदा काम नहीं करता, वहाँ कुट्टीकार से काम सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है। फुटकर गणति में त्रिलोक-सारान्तर्गत १४ धाराओं का गणित उच्चकोटि का है, इस गणित पर से अनेक बीजगणित संबंधी सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं।[१] संक्षेप में जैन अंकगणित की विशेषता बीजगणित सम्बन्धी सिद्धान्तों के सन्निवेष की है, प्रत्येक परिकर्म सूत्र से अनेक महत्त्वपूर्ण बीजगणित के सिद्धान्त निकलते हैं।

जैन रेखागणित—यों तो जैन अंकगणित और रेखागणित आपस में बहुत कुछ मिले हुए हैं, पर तो भी जैन रेखागणित में कई मौलिक बातें हैं। उपलब्ध जैन रेखागणित के अध्ययन से यही मालूम होता है कि जैनाचार्यों ने मैन्स्यूरेशन की ही प्रधानता रक्खी है, रेखाओं की नहीं। तत्त्वार्थसूत्र के मूलसूत्रों में वलय, वृत्त, विष्कम्भ एवं क्षेत्र-फल आदि मैन्स्यूरेशन सम्बन्धी बातों की चर्चा सूत्र रूप से की गई है। इसके टीका ग्रन्थ भाष्य और राजवार्तिक में ज्या, चाप, बाण, परिधि, विष्कम्भ, विस्तार, बाहु एवं धनुष आदि विभिन्न मैन्स्यूरेशन के अंगों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, एवं त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति में त्रिभुज, चतुर्भुज, आयत, वृत्त और परिमण्डल (दीर्घवृत्त) का विवेचन किया है। इन क्षेत्रों के प्रतर और घन ये दो भेद बताकर अनुयोगद्वार सूत्र में इनके सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्म चर्चा की गई है। सूर्यप्रज्ञप्ति में समचतुरस्र, विषमचतुरस्र, समचतुष्कोण, विषम-चतुष्कोण, समचक्रवाल, विषमचक्रवाल, चक्रार्धचक्रवाल और चक्राकार इन आठ भेदों के द्वारा चतुर्भुज के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार किया गया है। इस विवेचन से पता लगता है कि प्राचीनकाल में भी जैनाचार्यों ने रखागणित के सम्बन्ध में कितना सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

गणितसार संग्रह में त्रिभुजों के कई भेद बतलाये गये हैं तथा उनके भुज, कोटि, कर्ण और क्षेत्रफल भी निम्न प्रकार निकाले गये हैं।



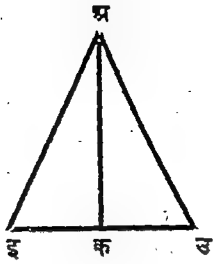
अ क ग त्रिभुज में अ क, अ ग भुज और कोटि हैं, क ग कर्ण है तथा $<$ क अ ग समकोण है; अ समकोण बिन्दु से क ग कर्ण के ऊपर अ म लम्ब गिराया गया है।

$\because$ $अक^२ = कग \cdot कम$; $अग^२ = कग \cdot गम$ $\therefore$ $अक^२ + अग^२ = कग \cdot कम + कग \cdot गम = कग\ (कम + गम) = कग \cdot कग = कग^२$, $\sqrt{कग^२} = \sqrt{अक^२ + अग^२} = \sqrt{भु^२ + को^२} = \sqrt{क^२}$; $\sqrt{क^२ - भु^२} = \sqrt{को^२}$; $\sqrt{क^२ - को^२} = \sqrt{भु^२}$

---

[१] देखिये—'श्री नेमिचन्द्राचार्य का गणित' शीर्षक निबन्ध जैनदर्शन व ४, अ० १-२ में।

क्षेत्रफल—



अ इ उ त्रिभुज में छोटी भुज=भु, बड़ी भुज=भुं, भूमि=भू

अ क=लम्ब, छोटी आबाधा इक $=\dfrac{\text{भू}^2-(\text{भुं}^2-\text{भु}^2)}{2\,\text{भू}}$

$$\text{लं}^2=\text{भु}^2-\left\{\frac{\text{भू}^2-(\text{भुं}^2-\text{भु}^2)}{2\,\text{भू}}\right\}^2$$

$$=\left\{\text{भु}+\left(\frac{\text{भू}^2-(\text{भुं}^2-\text{भु}^2)}{2\,\text{भू}}\right)\right\}\times\left\{\text{भु}-\left(\frac{\text{भु}^2-(\text{भुं}^2-\text{भु}^2)}{2\,\text{भू}}\right)\right\}$$

$$=\left(\frac{2\,\text{भू}\,\text{भु}+\text{भू}^2+\text{भु}^2-\text{भुं}^2}{2\,\text{भू}}\right)\times\left(\frac{2\text{भू}\,\text{भु}-\text{भू}^2+\text{भुं}^2-\text{भु}^2}{2\,\text{भू}}\right)$$

$$=\left(\frac{(\text{भू}+\text{भु})^2-\text{भुं}^2}{2\,\text{भू}}\right)\times\left(\frac{\text{भुं}^2-(\text{भू}-\text{भू})^2}{2\,\text{भू}}\right)$$

$$=\frac{(\text{भू}+\text{भु}+\text{भुं})\times(\text{भू}+\text{भु}-\text{भुं})}{2\,\text{भू}}\times\frac{(\text{भु}+\text{भू}-\text{भु})\times(\text{भुं}+\text{भु}-\text{भू})}{2\,\text{भू}}$$

$$=\frac{(\text{भू}+\text{भु}+\text{भुं})}{2}\times\frac{(\text{भू}+\text{भु}-\text{भुं})}{2}\times\frac{(\text{भू}+\text{भुं}-\text{भु})}{2}\times\frac{(\text{भु}+\text{भुं}-\text{भू})}{2}$$

$$=\frac{(\text{भू}+\text{भु}+\text{भुं})}{2}\times\left(\frac{\text{भू}+\text{भु}+\text{भुं}}{2}-\text{भुं}\right)\times\left(\frac{\text{भू}+\text{भुं}+\text{भु}}{2}-\text{भु}\right)\times\left(\frac{\text{भु}+\text{भू}+\text{भु}}{2}-\text{भू}\right)$$

इसका वर्गमूल त्रिभुज का क्षेत्रफल होगा। यों तो उपर्युक्त नियम[1] को प्रायः सभी गणितज्ञों ने कुछ इधर-उधर करके माना है, पर वासनागत सूक्ष्मता और सरलता जैनाचार्य की महत्त्वपूर्ण है।

वृत्तक्षेत्र के सम्बन्ध में प्राचीन गणित में जितना कार्य जैनाचार्यों का मिलता है उतना अन्य लोगों का नहीं। आजकल की खोज में वृत्त की जिन गूढ़ गुत्थियों को मुश्किल से गणितज्ञ सुलझा रहे हैं, उन्हीं को जैनाचार्यों ने संक्षेप में सरलता-पूर्वक अंकों का आधार लेकर समझाया है। वृत्त के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का प्रधान कार्य अन्तःवृत्त, परिवृत्त, वाह्यवृत्त, सूचीव्यास, वलयव्यास, समकोणाक्ष, केन्द्र, परिधि, चाप, ज्या, वाण, तिर्यक् तथा कोणीय नियामक, परिवलयव्यास, दीर्घवृत्त, सूचीस्तम्भ, वृत्ताधारवेलन, चापीयत्रिकोणानुपात, कोटिस्पर्श, स्पर्शरेखा, क्षेत्रफल और घनफल के विषय में मिलता है।[2]

---

[1] त्रिभुजचतुर्भुजबाहुप्रतिबाहुसमासदलहतं गणितम्।
नेमेर्भुजयुत्यर्धं व्यासगुणं तत्फलार्धमिह वलिन्दोः॥
—गणितसारसंग्रह-क्षेत्राध्याय श्लो० ७

[2] वृत्त सम्बन्धी इन गणितों की जानकारी के लिए देखिये—

'तिलोयपण्णत्ती' गाथा नं० २५२१, २५२५, २५६१, २५६२, २५६३, २६१७, २६१६, २८१५ से २६१५ तक। 'त्रिलोकसार' गाथा नं० ३०६, ३१०, ३१५, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६६ गणितसार एवं गणित शास्त्र का क्षेत्राध्याय। 'आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिषशास्त्र' शीर्षक निबन्ध भास्कर, भाग ६, किरण २ एवं 'आचार्य नेमिचन्द्र का गणित' शीर्षक निबन्ध जैनदर्शन वर्ष ४, अंक १-२

जैन वीजगणित—जैन अंकगणित के करणसूत्रों के साथ वीजगणित सम्बन्धी सिद्धान्त (formulas) व्याप्त रूप से मिलते हैं। जैनाचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा से अंकगणित के करणसूत्रों के साथ वीज गणित के नियमों को इस प्रकार मिला दिया है कि गणित के साधारण प्रेमी भी वीजक्रिया से साधारणतया परिचित हो सकते हैं। जैन वीज गणित में एक वर्ण समीकरण, अनेक वर्ण समीकरण, करणी, कल्पित राशियाँ, समानान्तर, गुणोत्तर, व्युत्क्रम, समानान्तर श्रेणियों, क्रम संचय, घाताङ्क और लघुगुणकों के सिद्धान्त तथा द्विपद सिद्धान्त आदि वीजक्रियाएँ हैं। उपर्युक्त वीजगणित के सिद्धान्त धवलाटीका, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, लोकविभाग, अनुयोगद्वारसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, गणितसारसंग्रह और त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में फुटकर रूप से मिलते हैं। धवला में वड़ी संख्याओं को सूक्ष्मता से व्यक्त करने के लिए घाताङ्क नियम (वर्ग-संवर्ग) का कथन किया गया है। वीजक्रिया जन्य घाताङ्क का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मौलिक है। डाक्टर अवधेशनारायण धवला की चतुर्थ जिल्द की अंग्रेजी भूमिका में लिखते हैं कि—

"The theory of the indices as described in the Dhavala is somewhat different from what is found in the mathematical works. This theory is certainly primitive and is earlier than 500 A. D. The fundamental ideas seem to be those of (i) the square, (ii) the cube, (iii) the successive square, (iv) the successive cube, (v) the raising of a number to its own power, (vi) the square root, (vii) the cube root, (viii) the successive square root, (ix) the successive cube root etc."

घाताङ्क सिद्धान्त के अनुसार $\text{अ}^{३/२}$ को अ के घन का प्रथम वर्गमूल माना जायगा। धवला के सिद्धान्तों के अनुसार उत्तरोत्तर वर्ग और घनमूल निम्न प्रकार सिद्ध होते हैं—

अ का प्रथम वर्ग अर्थात् $(\text{अ})^{२} = \text{अ}^{२}$

,, द्वितीय वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{२} = \text{अ}^{४} = \text{अ}^{२^{२}}$

,, तृतीय वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{३} = \text{अ}^{६} = \text{अ}^{२^{३}}$

,, चतुर्थ वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{४} = \text{अ}^{८} = \text{अ}^{२^{४}}$

,, पंचम वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{५} = \text{अ}^{१०} = \text{अ}^{२^{५}}$

,, छठवाँ वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{६} = \text{अ}^{१२} = \text{अ}^{२^{६}}$

इसी प्रकार $\text{अ}^{२}$ का दृष्टाङ्क वर्ग $= (\text{अ}^{२})^{\text{इ}} = \text{अ}^{२\text{इ}}$

घाताङ्क[1] के अनुसार (१) $\frac{\text{क}}{\text{अ}}, \frac{\text{व}}{\text{अ}} = \frac{\text{क}}{\text{अ}} + \text{व}$ (२) $\frac{\text{म}}{\text{अ}} \Big/ \frac{\text{न}}{\text{अ}} = \frac{\text{म}}{\text{अ}} - \text{न}$ (३) $\left(\frac{\text{म}}{\text{अ}}\right)^{\text{न}} = \text{अ}^{\text{म}\,\text{न}}$

वीजगणित के एक वर्ण समीकरण सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता अनेक विद्वानों ने जैनाचार्य श्रीधर को माना है। यद्यपि इनका नियम परिष्कृत एवं सर्वव्यापी नहीं है, फिर भी प्राचीनता के खयाल से महत्त्वपूर्ण है। श्रीधराचार्य के नियमानुसार एक अज्ञात राशि का मान निम्न प्रकार निकाला जाता है :—

---

[1] छट्ठवग्गस्स उवरि सत्तमवग्गस्स हेट्ठदोत्ति वुत्ते अत्यवत्तीण जोदत्ति . . . . धवलाटीका, जिल्द ३, पृ० २५३

$क व^2 + ख व = ग$। इस गणित में क, ख, ग ये ज्ञात राशियां और व अज्ञातराशि है। क्रिया में श्रीधराचार्य ने समगुणन और भजन का नियम निकाल कर इस प्रकार रूपान्तर किया है—$व^2 + \frac{ख}{क} व = \frac{ग}{क}$। दोनों राशियों में सम जोड़ देने से भी समत्व रहेगा।

$$\therefore \sqrt{व^2 + \frac{ख}{क} व + \frac{ख^2}{४क^2}} = \sqrt{\frac{ग}{क} + \frac{ख^2}{४क^2}} = \sqrt{\frac{ख^2 + ४गक}{४क^2}}$$

$$= व + \frac{ख}{२क} = \sqrt{\frac{ख^2 + ४गक}{४क^2}} \Big\{ \text{यहां दोनों पक्षों में } \frac{ख}{२क} \text{ घटा दिया तो}$$

$$व = \frac{ख}{-२क} + \frac{\sqrt{ख^2 + ४गक}}{२क} = ख + \frac{\sqrt{ख^2 + ४गक}}{२क},$$

इस प्रकार जैनाचार्यों ने अज्ञातराशियों का मान निकाला है। गणितसारसंग्रह में अनेक बीज गणित सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ उदाहरणार्थ मूलधन, व्याज, मिश्रधन और समय निकालने के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण नियम (formulas) दिये जाते हैं। मूलधन = स, मिश्रधन = म, समय = ट, व्याज = ई

$$१—(i)\ स = \frac{म}{\frac{१ + ई \times ट \times ई}{ट + स}} \begin{cases} म = स \times आ \\ आ = म - स \end{cases}$$

$$(ii)\ स = \frac{म}{\frac{ट \times ई}{ट \times स} + १}$$

(iii) आ = अनेक प्रकार के मूलधन

$$२—आ = \frac{म}{\frac{स \times ट}{ई \times स} + १} \Big\{ म = आ + ट$$

$$(i)\ स = \frac{\sqrt{म^2 - \frac{स \times ट}{ई} \times ४ \times आ} + - म}{२} \Big\{ म = स + ट$$

$$(ii)\ \frac{स_1 \times ट_1 \times म}{ट_1 \times ट_1 + स_1 \times ट_1 + स_1 \times ट_1 + \ldots\ldots} = आ_1$$

$$(iii)\ \frac{स_2 \times ट_2 \times म}{स_1 \times ट_1 + २स \times ट_2 + स_1 \times ट_1 + \ldots\ldots} = आ_2$$

$$म = आ_1 + आ_2 + आ_3 + \ldots\ldots$$

व्याज के लिए नियम (formula) :—

$$३—(i)\ \frac{म}{\frac{आ_1}{ट_1} + \frac{आ_2}{ट_2} + \frac{आ_3}{ट_3} + \ldots\ldots} \times \frac{आ_1}{ट_1} = स_1$$

$$\text{(ii)}\quad \frac{\text{म}}{\frac{\text{आ}_1}{\text{ट}_1}+\frac{\text{आ}_2}{\text{ट}_2}+\frac{\text{आ}_3}{\text{ट}_3}+\ldots\ldots\ldots}\times\frac{\text{आ}_2}{\text{ट}_2}=\text{स}_2$$

$$\text{म}=\text{स}_1+\text{स}_2+\text{स}_3+\ldots\ldots\ldots$$

समय निकालने के लिए नियम (formula) :—

$$\text{४—(i)}\quad \frac{\text{म}}{\frac{\text{आ}_1}{\text{स}_1}+\frac{\text{आ}_2}{\text{स}_2}+\frac{\text{आ}_3}{\text{स}_3}}\times\frac{\text{आ}_1}{\text{स}_1}=\text{ट}_1\quad \left\{\text{म}=\text{ट}_1+\text{ट}_2+\text{ट}_3+\ldots\ldots\right.$$

$$\text{(ii)}\quad \sqrt{\frac{\text{स}\times\text{ट}}{\text{ट}}\times\text{म}+\left(\frac{\text{स}\times 2}{2\times\text{ट}}\right)2}-\frac{\text{स}\times\text{ट}}{2\times\text{ट}}=\text{ई}=\text{स}$$

$$\text{५—}\quad \frac{\text{म}\times\text{ट}}{\frac{\text{स}_1\times\text{ट}_1}{\text{ई}_1}+\frac{\text{स}_2\times\text{ट}_2}{\text{ई}_2}+\ldots\ldots\ldots}=\text{आ}$$

जैन गणित में भिन्न सम्बन्धी बीजगणित की क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण और नवीन हैं। मुझे भिन्न (fraction) के सम्बन्ध में शेषमूल, भागशेष, मूलावशेष और शेष जाति के ऐसे कई नियम मिले हैं जो मेरी बुद्धि अनुसार प्राचीन और आधुनिक गणित में महत्त्वपूर्ण हैं। नमूने के लिए शेषमूल[1] का नियम नीचे दिया जाता है—

स = कुल संख्या, सं = स के वर्गमूल से गुणितराशि, व = भाजितराशि, अ = अवशेष ज्ञातराशि।

$$\text{(i)}\quad \text{स}=\left\{\frac{\frac{\text{सं}}{2}}{1-\text{व}}+\sqrt{\frac{\text{अ}}{1-\text{व}}+\left(\frac{\frac{\text{सं}}{2}}{1-\text{व}}\right)}\right\}^2$$

$$\text{(ii)}\quad \text{स}-\text{व स}=\left\{\frac{\text{सं}}{2}+\sqrt{\left(\frac{\text{सं}}{2}\right)^2+\text{अ}}\right\}^2$$

$$\text{(iii)}\quad \text{स}=\left\{\frac{\text{सं}-\text{व}}{2}+\sqrt{\left(\frac{\text{सं}-\text{व}}{2}\right)^2+\text{अ}\cdot\text{व}}\right\}^2\div\text{व}$$

$$\text{(iv)}\quad \text{स}=\left\{\frac{\text{सं}+\sqrt{\text{सं}^2+\frac{4\text{अ}}{\text{व}}}}{2}\right\}^2\times\text{व}$$

धवलाटीका में भी भिन्नों की अनेक मौलिक प्रक्रियाएँ हैं, सम्भवतः ये प्रक्रियाएँ अन्यत्र नहीं मिलती हैं। उदाहरणार्थ कुछ नीचे दी जाती हैं—

$$1-\frac{\text{न}}{\text{न}\pm(\text{न}/\text{प})}=\text{न}\mp\frac{\text{न}}{\text{प}\pm 1}$$

एक दी संख्या में दो भाजकों का भाग देने से परिणाम निम्न प्रकार आता है—

$$\frac{\text{म}}{\text{द}\pm\text{दं}}=\frac{\text{कं}}{(\text{कं}/\text{क})\pm 1}\quad\text{अथवा}=\frac{\text{क}}{1\pm(\text{क}/\text{कं})}$$

---

[1] मूलार्धाग्रे छिन्द्यादंशोनैकेन युक्तमूलकृतेः।
दृश्यस्य पदं सपदं वर्गितमिह मूलजातौ स्वम्॥

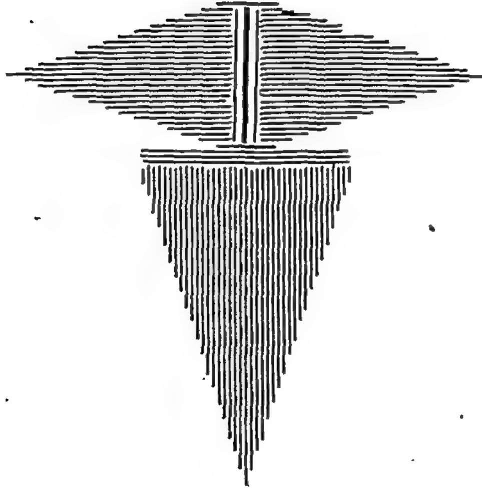
—गणितसारसंग्रह प्रकीर्णकाध्याय श्लो० ३३

यदि $\frac{म}{द} = क$, और $\frac{म'}{द} = क'$, तो $द\,(क - क') + म' = म$

यदि $\frac{अ}{व} = क$, तो $\frac{अ}{व + \frac{व}{न}} = क - \frac{क}{न + १}$ तथा $\frac{अ}{व - \frac{व}{न}} = क + \frac{क}{न - १}$,

इस प्रकार अनेक भिन्न सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियम दिये गये हैं। समीकरणों के प्रकरण में भी ऐसे कई नियम हैं जिनके द्वारा अधिक गुणा भाग के चक्र में विना पड़े ही सरलता पूर्वक समीकरण (Equation) हल किये जा सकते हैं।

धारा]



विश्व-मानव गांधी

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

"A leader of his people, unsupported by any outward authority; a politician, whose success rests not upon craft, nor mastery of technical devices, but simply on the convincing power of his personality; a victorian fighter who has always scorned the use of force; a man of wisdom and humility, armed with resolve and inflexible consistency, who has devoted all his strength to the uplifting of his people and the betterment of their lot; a man who has confronted the brutality of Europe with the dignity of the simple human being, and thus at all times risen superior.

Generations to come, it may be, will scarce believe that such a one as this ever in flesh and blood walked upon this earth."—*A. Einstein.*

गांधी जी की ७५वीं वर्षगांठ पर लिखे गये विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन के ये वचन गांधी जी के समग्र व्यक्तित्व को बड़ी ख़ूबी के साथ नपी-तुली, किन्तु सारगर्भित भाषा में व्यक्त करते हैं। आज जब कि सारी मानवता संत्रस्त भाव से कराह रही है और अपने निस्तार का कोई एक निश्चित उपाय उसके वस का नहीं रहा है, अकेले गांधी जी का ही व्यक्तित्व ऐसा है, जो उसे आश्वस्त कर रहा है। चारों ओर फैली हुई घनी निराशा के घोर अन्धकार में वही प्रकाश की एक ऐसी किरण है, जो मनुष्य को आशा के साथ जाने का बल और निश्चय दे रही है। आज विश्व की समूची मानवता की, जो मानव की ही पशुता, पैशाचिकता और वर्बरता से घिर कर जकड़ गई है, आकुल हो उठी है, निरुपाय और निस्तेज हो गई है। यदि कहीं से मुक्ति का कोई सन्देश मिलता है; आशा, विश्वास, श्रद्धा और निष्ठा का कोई जीता-जागता प्रतीक उसके सामने खड़ा होता है; दुःख, दैन्य, दारिद्र्य, दास्य और अन्याय-अत्याचार का अटल भाव से प्रतीकार करने की प्रचण्ड शान्त शक्ति का कोई स्रोत कहीं उसे नजर आता है तो वह है परतन्त्र और पराधीन भारत के इस सर्वथा स्वतन्त्र और स्व-अधीन महामानव गांधी में!

गांधी जी के विश्वव्यापी प्रभाव का और उनकी प्रचंड शक्ति का रहस्य भी इसी में है कि वे स्वयं स्वतन्त्र और स्वाधीन हैं। दूसरा कोई तन्त्र, दूसरी कोई अधीनता उन पर न लद सकती है, न लादी जा सकती है। उनकी अपनी सत्ता संसार की सभी सत्ताओं से परे है और श्रेष्ठ है। इसीलिए आज वे समूचे विश्व के आराध्य बने हुए हैं और बड़ी-से-बड़ी भौतिक सत्ताएँ भी उनके सामने हतप्रभ हैं। यों देखा जाय, तो उनके पास बाहर की कोई सत्ता नहीं—सेना नहीं, शस्त्रास्त्र नहीं, कोष नहीं, शासन के कोई अधिकार नहीं—फिर भी वे हैं कि देश के करोड़ों नर-नारियों पर और विश्व के असंख्य विचारशील नागरिकों पर उनकी अखंड सत्ता व्याप्त है। किसी सम्राट् के शासनादेश की उपेक्षा और अवहेला हो सकती है, लोगों ने की है, करते हैं और करेंगे; पर गांधी के आदेश की यह परिणति नहीं। वह तो एक प्रसाद है, एक सौभाग्य, जो ललक के साथ लिया जाता है और विनम्र भाव से, कृतार्थता के साथ, शिरोधार्य होता है। उसकी इष्टता में, उसकी कल्याणकारिता में, किसी को कोई सन्देह नहीं।

स्वतन्त्रता और स्वाधीनता! मानव की परिपूर्णता के लिए, उसके सम्यक् विकास और उत्थान के लिए, इन दोनों की उतनी ही जरूरत है, जितनी जीवन के लिए प्राणों की और प्राण के लिए श्वासोच्छ्वास की। विना

स्वातन्त्र्य और स्वाधीनता के मनुष्य अपनी शक्तियों का सम्पूर्ण विकास कर ही नहीं सकता। जन्म के क्षण से लेकर मृत्यु के क्षण तक मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की आवश्यकता स्वयं-सिद्ध है। और फिर भी हम देखते हैं कि आज की दुनिया में मानव-मात्र के लिए यही दो चीजें हैं, जो अधिक-से-अधिक दुर्लभ हैं। मनुष्य का स्वार्थ और उसकी लिप्सा कुछ इतनी बढ़ गई है कि उसने स्वस्थ मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को भुला दिया है और वह अपने निकट के स्वार्थ में इतना डूब गया है कि दूर की चीज, जो शाश्वत और सर्वकल्याणकारी है, उसे दीखती ही नहीं। अपने संकुचित स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य स्वयं बन्धनों में बँधता है और अपने आसपास भी बन्धनों का मजबूत जाल फैला देता है। संसार में आज सर्वत्र यही मूढ़ दृश्य दिखाई दे रहा है। निर्मल आर्ष दृष्टि दुर्लभ हो गई है। विश्व-कल्याण की भावना मानो विला गई है। एक का हित दूसरे का अहित बन गया है, एक की हानि, दूसरे का लाभ। शोषण, उत्पीड़न, दमन, और सर्वसंहार के भीषण शस्त्रास्त्रों से सज्ज होकर मनुष्य आज इतना बर्बर और उन्नत हो उठा है कि उसको इस मार्ग से हटाना कठिन हो रहा है। बार-बार पछाड़ें खाकर भी वह सँभलता नहीं, उसे होश नहीं आता। संसार आज ऐसे ही कठिन परिस्थिति में से गुजर रहा है। वह पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर दौड़ा चला जा रहा है। किसी की हिम्मत नहीं होती कि इस उन्मत्त को हाथ पकड़ कर रोके, इसके होश की दवा करे और इसे सही रास्ता दिखाये—उस रास्ते इसे चला दे! सब आपाधापी में पड़े हैं। अपनी चिन्ता को छोड़ विश्व की चिन्ता कौन करे?

विश्व की चिन्ता तो वही कर सकता है, जिसे अपनी कोई चिन्ता नहीं; जिसने अपना सब कुछ जगन्नियन्ता को सौंप रक्खा है और जो नितान्त निस्पृह भाव से उसकी सृष्टि की सेवा में लीन हो गया है। हम भारतीयों का यह एक परम सौभाग्य है कि हमारे देश में, आज के दिन हमारा अपना एक महामानव अपने सर्वस्व का त्याग करके निरन्तर विश्वकल्याण की चिन्ता में रत रहता है और अपने सिरजनहार से सदा, सोते-जागते, उठते-बैठते, यह मनाता रहता है कि दुनिया में कोई दुःखी न हो, कोई रोगी न हो, किसी की कोई क्षति न हो; सब सुख, समृद्धि और सन्तोष का जीवन बितायें; सब ऊर्ध्वगामी बनें; सब कल्याण-कामी बनें!

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणिपश्यन्तु माकश्चिद्दुःख माप्नुयात्॥

वह नहीं चाहता कि विश्व की सारी सम्पदा उसे प्राप्त हो, विश्व का साम्राज्य उसके अधीन हो। वह अपने लिए न स्वर्ग चाहता है, न मोक्ष चाहता है। उसकी तो अपनी एक ही कामना है—जो दीन हैं, दुखी हैं, दलित हैं, पीड़ित हैं, परतन्त्र और पराधीन हैं, उनके सब दुःख दूर हों; उनकी पीड़ाएँ टलें, उनका शोषण-दमन बन्द हो, उनके पारतन्त्र्य का नाश हो, उनकी पराधीनता मिटे!

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।

भयाकुल, परवश और संत्रस्त संसार को निर्भय, स्वतन्त्र और सुखी बनाना ही गांधी जी के जीवन का एक-मात्र ध्येय है। मानव-संसार की पीड़ा और व्यथा को जितना वे समझते और अनुभव करते हैं, उतना शायद ही कोई करता हो! यही कारण है कि उन्होंने एक निपुण चिकित्सक की भाँति विश्व को उसके भयानक रोग की अमोघ औषधि दी है और उसकी अमोघता के प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। जीवन के समग्र व्यापार में अहिंसा का पालन ही वह अमोघ औषधि है, जिसके सेवन से विश्व-शरीर के समस्त रोगों का निवारण हो सकता है। इसी अहिंसा की एकांत उपासना में से गांधीजी को उन ग्यारह व्रतों की उपलब्धि हुई है, जिनके बिना जीवन में अहिंसा की शुद्धतम सिद्धि सम्भव नहीं:

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्रभयवर्जन।
सर्वधर्मीसमानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना
ही एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

नम्रता के साथ और व्रत के निश्चय के साथ इन ग्यारह व्रतों का आजीवन पालन ही मनुष्य को उसके सब दुःखों से मुक्त कर सकता है।

आज सारे संसार में हिंसा की ही विभीषिका छाई हुई है। जहाँ-तहाँ मानव दानव बन कर जीवन में जितना कुछ संरक्षणीय है, इष्ट है, पवित्र है, उपासनीय है, उस सब को उन्मत्त भाव से नष्ट करने में लगा है। क्षणिक सुखों की आराधना ही मानो उसका जीवन-ध्येय बन गया है। ऐश्वर्य और भोग की अतृप्त लालसा ने उसे निरंकुश बना दिया है। जीवन के शाश्वत मूल्यों को वह भूल गया है। उसने नये मूल्यों की, जो सर्वथा मिथ्या हैं, सृष्टि की है और उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने में कोई कसर नहीं रक्खी! यही कारण है कि आज की दुनिया में अहिंसा की जगह हिंसा की प्रतिष्ठा बढ़ गई है; सत्य का स्थान मोहक असत्य ने ले लिया है; अपने स्वार्थ के लिए, अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य आज सत्य का सबसे पहले वध करता है। पिछले महायुद्ध का सारा इतिहास डंके की चोट यही सिद्ध कर रहा है। हमारे अपने देश में सन् '४२ के बाद जो कुछ हुआ, उसमें शासकों की ओर से असत्य को ही सत्य सिद्ध करने की अनहद चेष्टा रही। सफ़ेद को काला और काले को सफ़ेद दिखाने की यह कसरत कितनी व्यर्थ थी, कितनी हास्यास्पद, सो तो आज सारी दुनिया जान गई है, फिर भी शासकों ने इसी का सहारा लिया; क्योंकि उनका संकुचित स्वार्थ उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर रहा था। आज भी देश में और दुनिया में इसी असत्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने के अनेक संगठित प्रयत्न हो रहे हैं। ऐसी दशा में गांधी जी की ही एक आवाज़ है, जो निरन्तर उच्च स्वर से सारे संसार को कह रही है कि हिंसा से हिंसा को और असत्य से असत्य को नहीं हराया जा सकता। यही कारण है कि उन्होंने सदियों की ग़ुलामी से संत्रस्त भारतवर्ष को सत्य और अहिंसा का नया प्राणवान् सन्देश दिया है। और उनके इस सन्देश का ही यह प्रताप है कि सदियों से सोया हुआ और अपने को भूला हुआ भारत पिछले पच्चीस वर्षों में सजग भाव से जाग उठा है और उसने अपने को—अपनी आत्मा को—पा लिया है। अब संसार की कोई शक्ति उसको स्वाधीनता के पथ से डिगा नहीं सकती।

जहाँ सत्य और अहिंसा हैं, वहाँ अस्तेय तो है ही। जो सत्य का उपासक है और अहिंसा का व्रती है, वह चोर कैसे हो सकता है? चोरी को वह कैसे प्रश्रय दे सकता है? और चोर कौन है? वही, जो दूसरों की कमाई पर जीता है; जो खुद हाथ-पैर नहीं हिलाता और दूसरों से अपना सब काम करवा कर उनसे मनमाना फ़ायदा उठाता है; जो ग़रीबों और असहायों का शोषण करके अपनी अमीरी पर नाज़ करता है; जो धनकुबेर होकर भी अपनी ज़रूरतों के लिए अपने सेवकों का ग़ुलाम है; जो झूठ-फ़रेब से और धोखाधड़ी से भोले-भाले निरीह लोगों को लूट कर अपना स्वार्थ सीधा करता है और राज व समाज में झूठी प्रतिष्ठा पा जाता है। गीता के शब्दों में ये सब पाप कमाने और पाप खाने वाले हैं, जिनकी असल में समाज के बीच कोई प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिए। प्रतिष्ठा की यह जो विकृति आज नज़र आती है, उसका एक ही कारण है—कुशासन। शासन चाहे अपनों का हो, चाहे परायों का, जब वह सुशासन मिटकर कुशासन का रूप धारण कर लेता है तो लोक-जीवन पर उसका ऐसा ही अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। आज के हमारे चोर बाज़ार और काले बाज़ार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आज तो शासन का आधार ही ग़लत हो गया है। शासन का लक्ष्य आज प्रजा का संवर्द्धन, संगोपन, और संपोषण नहीं रहा। शासन तो आज लूट पर उतारू है। शोषण, उत्पीड़न, दमन उसके हथियार हैं और वह निरंकुश भाव से प्रजा पर सब का प्रयोग कर रहा है। शासन की इस उच्छृङ्खलता को रोकने का एक ही उपाय है, और वह है, समाज के बीच अस्तेय की अखंड प्रतिष्ठा।

जब प्रजा स्थूल और सूक्ष्म, सब प्रकार की चोरी से घृणा करने लगेगी, व्रतपूर्वक उससे मुँह मोड़ लेगी, तो राजा को, शासकको, शासनसत्ता को विवश भाव से प्रजा के अनुकूल बनना पड़ेगा। पुरानी उक्ति है, 'यथा राजा तथा प्रजा'। आज हमें इस उक्ति को बदलना है। नये युग की नई उक्ति होगी : 'यथा प्रजा तथा राजा।' और जब राजा ही न रहेंगे, तब तो 'यथा प्रजा, तथा प्रजा' की उक्ति ही सर्वमान्य हो जायगी। जब उद्बुद्ध प्रजा स्वयं अपना शासन करेगी तो बहुत सोच-समझ कर ही करेगी और तब वह अयथार्थ को यथार्थ की, अयोग्य को योग्य की और मिथ्या को सत्य की प्रतिष्ठा कभी न देगी। यही गांधी जी का स्वप्न है और इसीलिए वे समाज में और राज में अस्तेय को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनका यह संदेश अकेले भारत के लिये नहीं, अखिल विश्व के लिये है। आज उसकी भाषा में दुनिया के जो देश सभ्य और सम्पन्न माने जाते हैं, वे ही छद्मवेश में चोरी के सबसे बड़े पृष्ठपोषक हैं। अपने अधीन देशों का सर्वस्वापहरण करने में जिस कूट बुद्धि और कुटिल नीति से वे काम लेते हैं, संसार के इतिहास में उसकी कोई मिसाल नहीं! इस सर्वव्यापी स्तेय भावना का प्रतिकार करके विश्व में अस्तेय की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अस्तेय के व्रतधारियों की एक सेना का संगठन जरूरी है। गांधी जी आज इसी की साधना में निरत हैं।

जहाँ सत्य है, अहिंसा है और अस्तेय है, वहाँ ब्रह्मचर्य को आना ही है। गांधी जी लिखते हैं: "ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की—शोध में चर्या; अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय-संयम के अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिए।" वे आगे और लिखते हैं: "जिसने सत्य का आश्रय लिया, जो उसकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे, तो व्यभिचारी बन जाय। फिर विकार की आराधना तो की ही कैसे जा सकती है? जिसके सारे कर्म एक सत्य के दर्शन के लिए ही हैं, वह सन्तान उत्पन्न करने या घर-गिरस्ती चलाने में पड़ ही कैसे सकता है? भोग-विलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आज तक एक भी मिसाल हमारे पास नहीं है। अहिंसा के पालन को लें, तो उसका पूरा-पूरा पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जिस पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया उसके पास दूसरे के लिए क्या बच गया? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा, इससे यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब बना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। जितनी उसकी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेप होगा। सारे जगत् में हम यही होता हुआ देख रहे हैं। इसलिए अहिंसाव्रत का पालन करने वाला विवाह के बन्धन में नहीं पड़ सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?"

यह है गांधी जी की कल्पना का ब्रह्मचर्य! ब्रह्म की अर्थात् सत्य की शोध में जीवन का यह संकल्प, यह व्रत, कितना उदात्त है, कितना भव्य! देश-काल की कोई सीमा इसे बाँध नहीं सकती। मानव-जीवन का यह शाश्वत और सनातन धर्म है, जिसके भरोसे दुनिया आज तक टिकी है। गांधीजी स्वभाव से गगनविहारी हैं। असीम की, अनन्त की, अखंड और अविभाज्य उपासना उनका जीवन-ध्येय है। वे अपने को अद्वैतवादी कहते हैं और उनके अद्वैत में सारा ब्रह्मांड समाया हुआ है। अणु-परमाणु से लेकर जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, सभी कुछ उनकी चिन्ता का, उपासना का विषय है। वे सब का हित, सब का उत्कर्ष चाहते हैं। सब के कल्याण के लिए अपनी अशेष शक्तियों का विनियोग उनके जीवन की प्रखर साधना रही है। उनके लिए सब कोई अपने हैं, पराया कोई नहीं। जिस परम सत्य की शोध में उनके जीवन का क्षण-क्षण बीतता है, उसी ने उनको अजातशत्रु बनाया है। वे अपने कट्टर-से-कट्टर विरोधी को भी अपना शत्रु नहीं मानते। उसके प्रति मन में किसी तरह का कोई शत्रुभाव नहीं रखते। मनुष्य की मूलभूत अच्छाई में उनकी श्रद्धा अविचलित है, इसीलिए दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति को भी वे अपना बन्धु और

मित्र समझते हैं और अपनी ओर से सदा बन्धुत्व का ही उपहार उसे देते हैं—वह चाहे उसे ग्रहण करे, चाहे ठुकराये। इस विषय में अनासक्ति ही गांधी जी का नियम है। भगवान् कृष्ण के इस वचन में उनकी श्रद्धा कभी डिगी नहीं—**"न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति"** अर्थात् जो कुछ भी कल्याण-भावना से किया जाता है, वह कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। और कल्याण-भावना तो गांधी जी के रोम-रोम में रमी है।

अपने जीवन के ये पिछले चालीस वर्ष गांधी जी ने अखंड ब्रह्मचर्य के साथ विताये हैं। उनके ब्रह्मचर्य में जड़ता, प्रमाद, स्वार्थ, संकुचितता, अहमन्यता और कट्टर धर्मान्धता को कोई स्थान नहीं। यों दुनिया में आज नामधारी ब्रह्मचारियों की कमी नहीं है। सभी देशों में, सभी खंडों में, वे पाये जाते हैं, पर उनमें गांधी जी-सा प्रतापी, प्रखर व्रतधारी, निरन्तर विकासमान ब्रह्मचारी आज कहाँ है? और गांधी जी का यह ब्रह्मचर्य भी किसको समर्पित है? जनता-जनार्दन को, दरिद्रनारायण को, विश्व की दुर्बल, दलित मानवता को! उसी को ऊपर उठाने, उसीको सुखी बनाने के लिए ब्रह्मचारी गांधी आज सौ नहीं, सवा सौ वर्ष जीना चाहता है। पिछले पचास वर्षों की तीव्र और उग्र तपस्या ने यद्यपि शरीर को जर्जर बना दिया है, फिर भी गांधी जी जीवन से निराश नहीं, जीवन के संघर्षों से हताश नहीं। जीवन उनको आज भी कमनीय मालूम होता है। वे उससे उकताये नहीं, ऊबे नही। जैसे-जैसे वे उमर में बढ़ते जाते हैं, जीवन का मर्म उनके सामने खुलता जाता है और वे जीवन के अलौकिक उपासक बनते जाते हैं। यों हमारे देश में और दुनिया में १००, १२५, १५० साल की लम्बी उमर पाने वाले स्त्री-पुरुष दुर्लभ नहीं हैं। पर उनमें और गांधी जी में एक मौलिक भेद है। गांधी जी ने अपने लिए जीना छोड़ दिया है। वे आज विश्व-मानव की कोटि को पहुँचे हैं, विश्व के गुरुपद को प्राप्त हुए हैं, सो यों ही नहीं हो गये। विश्व के लिए जीना ही उनके जीवन की एकमात्र साध रही है और इसीलिए मानव-जीवन में उन्होंने नये अर्थों और नई भावनाओं के साथ ब्रह्मचर्य को प्रतिष्ठित किया है। उनकी व्याख्या का ब्रह्मचारी साधारण कोटि का मानव नहीं रह सकता। उसे तो निरन्तर उन्नत होना है और मानव-विकास की चरमसीमा तक पहुँचना है।

पराधीन भारत के लिए उसका ब्रह्मचर्य, उसका सत्य, सत्य के लिए उसकी चर्या, सब कुछ स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नों में समा जाता है। आज तो स्वतन्त्रता ही उसकी आराधना का एकमात्र लक्ष्य हो सकता है; स्वतन्त्रता रूपी सत्य का साक्षात्कार किये बिना वह परम सत्य की शोध में एक डग भी आगे नहीं बढ़ सकता। यही कारण है कि गांधीजी-जैसों को आज देश की स्वतन्त्रता के महान् यज्ञ का अध्वर्यु बनना पड़ा है। उनके जीवन का यह एक दर्शन है। अनुभव से उन्होंने इसे जाना-माना है कि जब तक मनुष्य अपने तई स्वतन्त्र नहीं, वह सत्य की सम्पूर्ण साधना कर ही नहीं सकता। जिसके चारों ओर बन्धनों का जाल बिछा है, जो अपने आप में जकड़ा पड़ा है, जिसे न हिलने-डुलने की स्वतन्त्रता है, न बोलने-बतलाने की, जिसके क़दम-क़दम पर रुकावटों के पहाड़ अड़े हैं, वह सत्य की शोध में कैसे लीन होगा? कैसे उसे सत्य के दर्शन हो सकेंगे? और बाहर के बन्धनों के साथ-साथ अपने अन्दर के बन्धनों से भी तो मुक्ति पाना आवश्यक है। दोनों स्वतन्त्रताएँ साथ-साथ चलनी चाहिएँ, अन्यथा काम बन ही नहीं सकता, शोध पूरी हो ही नहीं सकती। यों कहने को आज दुनिया में कई देश हैं, जो स्वतन्त्र कहे जाते हैं, बाहर की कोई सत्ता उन पर हावी नहीं, फिर भी वे सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र तो नहीं हैं; उनकी आत्मा अनेक बन्धनों से जकड़ी हुई है, विकारों से ग्रस्त है। स्वार्थ उनका आसुरी बन गया है और महत्त्वाकांक्षाओं ने हद छोड़ दी है। वे आज संसार के लिए अभिशाप बन गये हैं। उनकी वह तथाकथित स्वतन्त्रता संसार के लिए तारक नहीं, मारक बन रही है। यह स्वतन्त्रता का बड़ा कुत्सित रूप है; भयावना और घिनौना! हमें इससे बचना है। इस मृगजल से सावधान रहना है और इसका एक ही उपाय है कि हम अन्तर्बाह्य स्वतन्त्रता की सच्चे दिल से उपासना करें। एक-दो की इक्की-दुक्की उपासना से सारे विश्व की इस विभीषिका का अन्त नहीं हो सकता। करोड़ों को एक साथ सामूहिक रूप से ऊपर उठना होगा और निर्मल स्वतन्त्रता की उपासना में लगना पड़ेगा। यह कैसे हो? जीवन में स्वार्थ को गौण और परमार्थ को प्रधान पद देने से ही इसका रास्ता खुल सकता है। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब,

विवाहित-अविवाहित सभीको इस रास्ते धीरे-धीरे गति से जाना है। सत्य किसी एक की बपौती नहीं। वह सब का है और सब को उसकी उपलब्धि करनी है। बालब्रह्मचारी ही सत्यान्वेषक बने और बाल-बच्चों वाला गृहस्थ सत्य से विमुख रहे, ऐसा कोई नियम नहीं। ब्रह्मचारी, गृही, वनी, संन्यासी सभी सत्य के अधिकारी हैं और सब को उसका साक्षात्कार होना चाहिए। इसीलिए गांधी जी कहते हैं : "तब जो विवाह कर चुके हैं, उनकी क्या गति ? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकते ? हमने इसका रास्ता निकाला ही है—विवाहित अविवाहित-सा हो जाय। इस बारे में इससे बढ़कर मुझे दूसरी बात मालूम नहीं। इस स्थिति का आनन्द जिसने लूटा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जाना सारे झगड़ों से मुक्त हो जाना है। संसार भर की सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, मातायें हैं, लड़कियाँ हैं—यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊँचा ले जाने वाला है। उसे बन्धन से मुक्त कर देने वाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, उलटे अपनी पूंजी बढ़ाते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं। प्रेम भी विकार रूपी मैल को निकाल डालने से बढ़ता ही है। विकार के चले जाने से एक-दूसरे की सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है, एक दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। **जहाँ स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश है।**"

'जहाँ स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश है', इस एक वाक्य में गांधी जी ने अपने समय की मानवता को अमर सन्देश दिया है। मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में आज कलह नाम की जिस चीज़ ने तांडव मचा रक्खा है, यह **स्वार्थ** ही उसका एकमात्र सूत्रधार है और इसकी विभीषिका का कोई अन्त नहीं। घर में, समाज में, राष्ट्र में और विश्व में आज सर्वत्र इसी की तूती बोलती है और छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, ऊँच-नीच, पढ़े-अनपढ़े सभी इसके पीछे पागल हैं—इसकी मोहिनी से मुग्ध ! इसीके कारण आज का हमारा पारिवारिक जीवन छिन्न-विच्छिन्न हो गया है, समाज ने उच्छृङ्खलता धारण करली है, राष्ट्रों ने आसुरी भाव को अपना लिया है और विश्व की शान्ति, उसका ऐक्य संकट में पड़ गया है। विज्ञान ने यद्यपि दुनिया को एक कर दिया है, पर स्वार्थ अब भी उसे खंड-खंड किये हुए है और उसने विज्ञान को भी अपना चाकर बना लिया है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक आज स्वार्थ के शिकार होकर राष्ट्र-राष्ट्र के बीच शत्रुता की खाई को चौड़ा करने में लगे हैं और शुद्ध, सात्विक, सर्व-हित-कारी विज्ञान की उपासना से कोसों दूर जा पड़े हैं। ऐसे समय एक महान् वैज्ञानिक की-सी सूझ-बूझ के साथ गांधी जी विश्व को निःस्वार्थ और सर्वव्यापी प्रेम का पावन सन्देश सुना कर उसे सच्चे मार्ग पर लाने और चलाने की कोशिश में लगे हैं। विश्व की मानवता को गांधी जी की यह एक अनमोल देन है।

निःस्वार्थ और सर्वव्यापी प्रेम की इस अलौकिक उपासना ने ही गांधी जी को अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की साधना के साथ-साथ अस्वाद, अपरिग्रह, शरीरश्रम, निर्भयता, सर्वधर्मसमभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण का व्रती बनाया है और उनकी इस युगानुयुग-व्यापिनी, अविचल, और सतत व्रतनिष्ठा ने देश के लाखों उद्‌बुद्ध नर-नारियों को वैसा व्रती जीवन बिताने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। यही नहीं, दूर-पास के विदेशों में भी अनेकों ऐसे हैं, जो इस क्षेत्र में गांधी जी को अपना गुरु मानते हैं और उनके बताये जीवन-पथ पर चल कर अपने को धन्य अनुभव करते हैं। इनमें विश्वविख्यात वैज्ञानिक, विचारक, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, धर्मगुरु, महन्त, सन्त, समाज सुधारक, लोकनेता, लोक-सेवक, पंडित-अपंडित, अमीर-ग़रीब, स्वाधीन-पराधीन, सभी शामिल हैं। सब समान भाव से गांधी जी के प्रति अनुरक्त हैं और कृतज्ञ भाव से उनका पदानुसरण करने में व्यस्त।

गांधी जी के इस विराट् व्यक्तित्व का क्या कारण है ? उनमें विश्व-मानव का यह ऐसा अलौकिक विकास कैसे हुआ ? वे विश्व-पुरुष की कोटि को कैसे पहुँचे ? इन सब का एक ही उत्तर है : शून्यता। अपने को मिटा कर शून्य बना लेने की एक अद्‌भुत कला गांधी जी ने अपने अन्दर विकसित की है। शून्य की उनकी यह निःसीम उपासना ही आज उनको संसार की सर्वश्रेष्ठ विभूति बनाये हुए है। इस शून्यता ने ही उनकी महानता को इतना

उन्नत किया है। यों देखा जाय तो वे कहीं कुछ भी नहीं हैं। फिर भी उनका व्यक्तित्व इतना व्यापक हो गया है कि वे सबके सब कुछ बन बैठे हैं। कहने को वे कांग्रेस के चवन्नी सदस्य भी नहीं, पर कांग्रेस सारी उनमें समा गई है—उनके बिना कांग्रेस एक डग आगे नहीं बढ़ा पाती। यों वे स्वयं अपने को किसी का प्रतिनिधि नहीं मानते, पर संसार की दृष्टि में आज अकेले वे ही सारे भारत के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। जहाँ भी, जब कभी भी, किसी राजनैतिक या साम्प्रदायिक या अन्य किसी गुत्थी को सुलझाने का प्रश्न आता है, गांधी को आगे होना पड़ता है। उनके बिना पत्ता नहीं हिलता। किसी महान् राष्ट्र के जीवन में एक व्यक्ति की यह ऐसी अनिवार्यता अद्भुत है। इतिहास में इसकी कोई मिसाल नहीं।

इसीके कारण कुछ लोग भ्रमवश गांधी जी को भारत का निरंकुश तानाशाह कहते हैं और उनकी तानाशाही की जी भर कर निन्दा करते हैं। पर गांधी में तानाशाही की तो बू भी नहीं है। तानाशाही का सारा इतिहास कहता है कि उसकी जड़ में हिंसा भरी है। बिना हिंसा के वह कहीं टिकी, बढ़ी और पनपी ही नहीं। और गांधी जी तो हिंसा के परम विरोधी हैं। वे तो जड़-चेतन सब को परमात्मा की पवित्र कृति मानते हैं और अत्यन्त कोमल भाव से सब की रक्षा में संलग्न रहते हैं। जिसके लिए चींटी तक अवध्य है, जो उसमें भी अपने प्रभु के दर्शन करता है, वह प्रचलित अर्थ में तानाशाह कैसे हो सकता है? जो मानवता को जिलाने और तारने आया है, वह तानाशाह कैसा? जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधी जी की विश्वव्यापी लोकप्रियता ने उनके कई स्वार्थान्ध विरोधियों और आलोचकों को मूढ़ बना दिया है और वे अपने तरकश के हर तीर से गांधी को नीचे गिराने की, अपनी सतह पर लाने की कोशिश में लगे हैं। पर गांधी इन सब बातों से इतना ऊपर है कि उस तक ये कभी पहुँच ही नहीं पातीं।

गांधी जी ने मानवता को कभी खंड-खंड करके नहीं देखा। अपने समय के वे सबसे बड़े समन्वयकारी व्यक्ति हैं। जोड़ना उनके जीवन का लक्ष्य है। तोड़-फोड़ से उन्हें कोई रुचि नहीं। हाँ, जोड़ने के लिए जितनी तोड़-फोड़ ज़रूरी है, उतनी तो वे निःशंक भाव से करते ही आये हैं। इसमें उनके पैर कभी पीछे नहीं पड़े। इस दृष्टि से देखें तो गांधी जी के जैसा कोई विध्वंसक भी नहीं। पर उनका विध्वंस भी सृजनात्मक होता है। विध्वंस के लिए विध्वंस से उन्हें कोई मतलब नहीं, बल्कि वे उसके घोर विरोधी हैं। यह गांधी जी की ही प्रखर तपस्या का प्रताप है कि आज भारत का नाम विश्व के बड़े-बड़े देशों के नाम के साथ सम्मानपूर्वक लिया जाता है। यों विश्व के साथ भारत को जोड़ने में गांधी जी को यहाँ का बहुत-कुछ तोड़ना भी पड़ा है। हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गांधी जी के आगमन से पहले यहाँ का सामाजिक जीवन अनेक तंग कोठरियों में बन्द पड़ा था और इधर की हवा उधर पहुँच नहीं पाती थी। राष्ट्र के जीवन में बारह कनौजिये और तेरह चूल्हे वाली मसल चरितार्थ हो रही थी। जात-पाँत, धर्म-सम्प्रदाय, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, अमीर-ग़रीब, पढ़-अनपढ़ की अनेक अभेद्य दीवारें भारत की मानवता को सैकड़ों खंडों में विभक्त किये हुए थीं और किसी का किसी से कोई जीवित सम्पर्क नहीं था। सब एक-दूसरे के अभावों-अभियोगों के उदासीन दर्शक बने हुए थे। राष्ट्र का जीवन एक जगह बँध गया था और सड़ने लगा था। उसमें प्रवाह की ताज़गी नहीं रह गई थी। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आते ही इस असह्य परिस्थिति को भाँप लिया और वे एक दिन की भी देर किये बिना इसके प्रतीकार के यत्न में लग गये। उन्होंने अपनी आर्षदृष्टि के सहारे भारत की सारी मानवता को उसके समग्र रूप में देखा-परखा और वे उसके सामूहिक उत्थान के लिए सचेष्ट हो गये! उनकी इसी भगीरथ चेष्टा ने राष्ट्र को अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के महान् अस्त्र दिये और दिया वह चौदह-पन्द्रह प्रकार का रचनात्मक कार्यक्रम, जिसकी अमोघ शक्ति ने बेसुध भारत को सुध-बुध से भर दिया और उसकी बिखरी ताक़त को इकट्ठा करके इतना मज़बूत बना दिया कि अब संसार की कोई उद्दंड से उद्दंड शक्ति भी उसका सामना नहीं कर सकती। आज काश्मीर से कन्याकुमारी तक और द्वारिका से डिबरूगढ़ तक सारा भारत एक तार बन गया है; चालीस करोड़ नर-नारी एक साथ सुख में और दुःख में, हानि और लाभ में, एक-सा स्पन्दन अनुभव करने लगे हैं; धर्म, मत, पन्थ, जात-पाँत, प्रान्त, पक्ष, भाषा आदि की जो दीवारें एक को दूसरे से अलग किये

हुए थीं, वे बहुत कुछ ढह गई हैं और रही-सही जल्दी ही ढह जाने को हैं। इस सब के कारण देश एक प्रचंड शक्ति से भर उठा है और चूंकि वह शक्ति शान्त अहिंसा की स्निग्ध शीतल शक्ति है, सारा संसार उसकी ओर बड़े कुतूहल के साथ आश्चर्य-विमुग्ध भाव से देख रहा है। संसार की साम्राज्यवादिनी शक्तियाँ इस नई शक्ति के विकास को भय और विस्मय के साथ देख रही हैं और अपने भविष्य के विषय में चिन्तित हो उठी हैं। यह सब इन पच्चीस वर्षों में हुआ है और इसका अधिकांश श्रेय गांधी जी के दूरदर्शितापूर्ण नेतृत्व को और उनकी एकान्त ध्येयनिष्ठा को है। इससे पहले देश की सारी शक्तियाँ बिखरी हुई थीं और उनको एक सूत्र में पिरो कर अप्रतिहत शक्ति से अभिषिक्त करने वाला कोई नेतृत्व देश के सामने नहीं था। साम्राज्यवाद के चंगुल से छूटने की छुटपुट कोशिशें देश में जहाँ-तहाँ अवश्य होती थीं, लेकिन उनके पीछे सारे देश की शक्ति का संगठित बल न होने से वे या तो असफल हो जाती थीं या शासकों द्वारा निर्दयतापूर्वक विफल कर दी जाती थीं। देश सामूहिक रूप से आगे नहीं बढ़ पाता था। बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा की त्रिसूत्री ने देश में नवचेतन का संचार अवश्य किया, किन्तु उससे स्वातन्त्र्य युद्ध के लिये देश की शक्तियों का समुचित संगठन नहीं हो पाया. गांधी जी ने देश की इस कमी को तीव्रता के साथ अनुभव किया और देश में छाई हुई निराशा, जड़ता और भीरुता का नाश करने के लिए उन्होंने देश के एक ओर अहिंसक सत्याग्रह का सन्देश सुनाया और दूसरी ओर जनता को स्वावलम्बी बनाने के लिए, उसमें फैली हुई व्यापक जड़ता, आलस्य और परमुखापेक्षिता का नाश करने के लिए, उन्होंने रचनात्मक कार्य का बिगुल बजाया। देश की मूलभूत दुर्बलताओं को उन्होंने समग्र रूप से देखा और उनका प्रतिकार करने के लिए साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, मद्यनिषेध, खादी, ग्रामोद्योग, ग्राम-आरोग्य, गोसेवा, नई या बुनियादी तालीम, प्रौढ़-शिक्षण, स्त्रियों की उन्नति, आरोग्य और स्वच्छता की शिक्षा, राष्ट्रभाषा-प्रचार, स्वभाषा-प्रेम, आर्थिक समानता, आदिवासियों की सेवा, किसानों, मज़दूरों और विद्यार्थियों का संगठन आदि के रूप में देश के सामने एक ऐसा व्यापक कार्य-क्रम रक्खा कि देश की उद्‌बुद्ध शक्तियाँ उसका सहारा पाकर राष्ट्रनिर्माण के इस भौतिक काम में तन-मन-धन के साथ एकाग्र भाव से जुट गईं और देखते-देखते देश का नक़्शा बदलने में सफल हुईं। अनेक अखिल-भारतीय संस्थाओं का संगठन हुआ—चर्खा-संघ, ग्रामोद्योग-संघ, तालीमी-संघ, हरिजन-सेवक-संघ, गोसेवा-संघ, कस्तूरबा स्मारक निधि आदि के रूप में देशव्यापी पैमाने पर राष्ट्रनिर्माण का काम शुरू हुआ और कार्यकर्ताओं की एक मँजी हुई सेना इनके पोषण-संवर्धन में जुट गई। जहाँ-तहाँ यह रचनात्मक काम जम कर हुआ, वहाँ-वहाँ सर्वसाधारण जनता में एक नया प्राण प्रस्फुटित हो उठा और जनता नये आदर्श की सिद्धि में प्राणपण से जुट गई। निराशा, जड़ता और भीरुता का स्थान अदम्य आशावाद ने ले लिया। लोग सजग हो गये। उनका स्वाभिमान प्रबल हो उठा। वे साम्राज्यवाद के आतंक-चिह्नों से भयभीत रहना भूल गये और फाँसी, जेल, बन्दूक़, तोप, मशीनगन, ज़मीन-जायदाद की जब्ती, जुर्माना, ज़ुल्म, ज़्यादती, सब का अटल भाव से निर्भयता-पूर्वक सामना करने लगे। जो लोग खाकी पोशाक और कोट-पैंट-टोप से भड़कते थे, उन्हें देख कर सहम उठते थे, वे ही खादी की पोशाक में सज्ज होकर आज खाकी वालों के लिए खतरे की चीज़ बन गये हैं और दूर से दूर देहात में भी अब खाकी वालों का ग्राम-जनता पर वह पुराना आतंक नहीं रह गया। लोग अब डट कर इनकी ज्यादतियों का सामना करते हैं और इनकी चुनौतियों का मुँहतोड़ जवाब देते हैं। सदियों से सोये हुए देश की जनता का पाव सदी में, पच्चीस बरस के अन्दर, यों उठ खड़ा होना और अपने शासकों का शान्त भाव से वीरता-धीरतापूर्वक सामना करना, इस युग का एक चमत्कार ही है और इस चमत्कार के कर्ता हैं गांधी जी।

गांधी जी का जीवन आदि से अब तक चमत्कारों का जीवन रहा है। चमत्कारों की एक लड़ी-सी, एक परम्परा-सी, उनके जीवन में उतर आई है। और ये सब चमत्कार काल्पनिक या हवाई नहीं, बल्कि इस जग के प्रत्यक्ष और प्रमाणित चमत्कार हैं। कोई इनकी सचाई से इनकार नहीं कर सकता, इनकी वास्तविकता के विषय में संदिग्ध नहीं रह सकता। दक्षिण अफ़्रीका से इन चमत्कारों का श्रीगणेश हुआ और भारत में ये अपनी पराकाष्ठा को पहुँचे।

आज भी इनकी परम्परा टूटी नहीं है। एक काले कुली बैरिस्टर का विदेश में विरोधी, विद्वेषी और मदान्ध लोगों के बीच न्याय और सत्य के लिए अकेले अविचल भाव से जूझना; स्थापित सत्ता और स्वार्थ के विरुद्ध शान्त सत्याग्रह के शस्त्र का सफलता-पूर्वक प्रयोग करना; अपने हज़ारों-लाखों देशवासियों में स्वाभिमान की प्रखर भावना उत्पन्न करना; बच्चों, बूढ़ों नौजवानों और स्त्रियों तक को अहिंसक सेना का सैनिक बना कर उन्हें त्याग, बलिदान और कष्ट सहन के लिए तैयार करना, कोई मामूली चमत्कार न था। सारी दुनिया इस शान्त-क्रान्ति के समाचारों से थर्रा उठी थी और हिन्दुस्तान में तो इसने एक नई ही चेतना उत्पन्न कर दी थी। सारा देश इस नई क्रान्ति के दृष्टा का उल्लासपूर्वक जय-जयकार कर उठा और कल का बैरिस्टर गांधी आज का कर्मवीर गांधी बन गया! और सन् १९१४ में गांधी जी त्याग और तप के प्रतीक बनकर दक्षिण अफ़्रीका से हिन्दुस्तान आये। आते ही वीरमगाम का प्रश्न हाथ में लिया और विजयी बने। फिर सन् १७ में उन्होंने चम्पारन के निलहे गोरों के अत्याचारों की बातें सुनीं और वे उनका प्रतिकार करने के लिए अकेले वहाँ जा बसे! उनका जाना सफल हुआ। निलहों का अत्याचार मिटा। चम्पारन वालों ने सुख की साँस ली। देश को अत्याचारी का सामना करने के लिए एक नया और अनूठा हथियार मिला। सन् १८ में गुजरात में अहमदाबाद के मज़दूरों को न्याय दिलाने का सवाल खड़ा हुआ। गांधी जी ने उनका नेतृत्व सँभाला। उनकी टेक को निबाहने के लिए स्वयं उपवास किये। मज़दूर डटे रहे। मालिक झुके। झगड़ा निपटा। अहमदाबाद में अहिंसक रीति से मज़दूरों की सेवा का सूत्रपात हुआ और आज अहमदाबाद का मज़दूर-संघ देश के ही नहीं, दुनिया के मज़दूर-संघों में अपने ढंग का एक ही है। और अब तो सारे देश में वह अपनी शाखा-प्रशाखाओं के साथ हिन्दुस्तान मज़दूर सेवक संघ की छाया तले फैलता चला जा रहा है। अहमदाबाद के बाद उसी साल गुजरात के खेड़ा जिले में वहाँ के किसानों का लगान सम्बन्धी सवाल उठा। गांधी जी किसानों के नेता बने। उन्होंने लगान-बन्दी की सलाह दी। लोग डट गये। सरकार ने दमन शुरू किया। लोग नहीं झुके। सरकार को झुकना पड़ा। झगड़ा मिट गया। गांधी जी का अस्त्र अमोघ सिद्ध हुआ। सारे देश में उसका डंका बज गया और फिर तुरन्त ही एक साल बाद १९१९ में काले क़ानून का ज़माना आया। रौलट एक्ट बना। गांधी जी ने उसके विरोध में देशव्यापी सत्याग्रह संगठित किया। सारे देश ने विरोध में उपवास रक्खा, प्रार्थना की, हड़तालें हुईं, सभाओं में विरोध प्रस्ताव पास हुए। सविनय क़ानून भंग का सूत्रपात हुआ। और इन्हीं दिनों अमृतसर का जलियाँ वाला बाग़ शहीदों के खून से नहा लिया। सारा पंजाब सरकारी आतंक-लीला का नग्न-क्षेत्र बन गया। देश इस चोट से तिलमिला उठा। गांधी जी सहम उठे। उन्होंने अपनी हिमालय-सी भूल क़बूल की और अपने सत्याग्रह-अस्त्र को लौटा लिया। सन् '२० में दूसरा देशव्यापी अहिंसक असहयोग का आन्दोलन शुरू हुआ। 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के लेखों ने देश में नया प्राण फूंक दिया। खिलाफ़त के सिलसिले में देश ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के अनूठे दृश्य देखे। असहयोग का ज्वार आया। नौकरों ने नौकरियाँ छोड़ीं। विद्यार्थियों ने स्कूलों और कॉलेजों से सम्बन्ध तोड़ा। वकीलों ने वकालत छोड़ी। सरकारी उपाधियों का बहिष्कार हुआ। कोर्ट, कचहरी, कॉलेज, कौन्सिल सब सूने नज़र आने लगे। विदेशी वस्त्रों का बायकाट बढ़ा। होलियाँ जलीं। गांधी जी ने बारडोली में लगान-बन्दी का ऐलान किया कि इतने में चौरीचौरा का वह भीषणकांड घटित हो गया और गांधी जी ने इस सत्याग्रह को भी रोक दिया। वे गिरफ़्तार हुए और उनको छः साल की सज़ा हुई। फिर सन् चौबीस में त्रावणकोर राज्य के अछूतों को न्याय दिलाने के लिए वायकोम सत्याग्रह हुआ। शुरू में सरकार ने सनातनियों का साथ दिया। पर अन्त में वह झुकी और अछूतों को अपने अधिकार मिले। सन् '२७ में मद्रास वालों ने जनरल नील के पुतले को हटाने के लिए सत्याग्रह शुरू किया। गांधी जी उसके समर्थक बने। कुछ दिनों बाद उनकी सलाह से वह ख़तम कर दिया गया और सन् ३७ में कांग्रेस मंत्रिमंण्डल ने नील के पुतले को हटाकर उसकी पूर्ति की। सन् २८ में विजयी बारडोली का मशहूर सत्याग्रह शुरू हुआ। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उसका नेतृत्व किया। गांधी जी उनके समर्थक रहे। सरकार और किसानों के बीच जोरों का संघर्ष शुरू हो गया। सरकार ने दमन करने में कसर

न की, जनता ने सहन करने में कमी न रक्खी। आखिर सरकार को जाँच कमीशन बैठाना पड़ा और कमीशन ने जनता की माँग को उचित बताया। जनता की जीत हुई। सरकार फिर हारी। फिर सन् ३० का ज़माना आया। रावी के तट पर ३१ दिसम्बर १९२९ की रात को देश सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा कर चुका था। इस सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए गांधी जी ने देश को फिर जगाया। सत्याग्रह का बिगुल बजा। गांधी जी १२ मार्च १९३० के दिन स्वतन्त्रता का वरण करने निकल पड़े। दोसौ मील पैदल चलकर अपने अस्सी साथियों के साथ दांडी पहुँचे। वहाँ उन्होंने खुल्लमखुल्ला नमक का क़ानून तोड़ा और देश भर में नमक-सत्याग्रह की धूम मच गई। एक तरफ़ निहत्थी जनता के उमड़ते हुए जोश का ज्वार था और दूसरी तरफ़ दमन और उत्पीड़न के लिए अधीर हुई सरकार का पशुबल जनता के इस जोश को कुचलने में लगाया। लाखों जेल गये। हज़ारों घायल हुए। सैकड़ों शहीद बने। देश में एक तूफ़ान खड़ा हो गया। सरकार चौंकी। डरी। उसने समझौते का हाथ बढ़ाया। गांधी-इरविन समझौता हुआ और गांधी जी देश के प्रतिनिधि बन कर लन्दन की गोलमेज़ परिषद् में शामिल हुए। भारत की निहत्थी जनता की यह सबसे बड़ी नैतिक विजय थी। इसने भारत का नाम संसार में चमका दिया। २८ दिसम्बर '३१ को गांधी जी विलायत से लौटे और सरकार की हठधर्मी के कारण ३१ दिसम्बर को उन्हें फिर देशव्यापी सत्याग्रह की घोषणा करनी पड़ी। ४ जनवरी '३२ को सरकार ने गांधी जी को गिरफ़्तार कर लिया और देश में सत्याग्रह दावानल की तरह भड़क उठा। सरकार भी अपने पशुबल के साथ सन्नद्ध हो गई और संघर्ष तीव्र हो उठा। आखिर मई '३३ में गांधी जी ने सामूहिक सत्याग्रह को स्थगित किया और उसकी जगह व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। जुलाई '३४ के बाद यह भी समाप्त हुआ। देश ने बहुत सहा था, बहुत खोया था। उसे ज़रा सुस्ताने की, सँभलने की ज़रूरत थी। गांधी जी ने इस ज़रूरत को महसूस किया और देश को ज़रा दम लेने का मौक़ा दिया। इसके बाद १९३९ में दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ और '४० के अक्तूबर में गांधी जी ने देश को फिर व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए पुकारा। उनकी पुकार पर देश के तीस हज़ार सत्याग्रहियों ने जेल-यात्रा की और सरकार सोच में पड़ गई। १९४१ के दिसम्बर में उसने आम रिहाई कर दी और कांग्रेस ने फिर सत्याग्रह नहीं छेड़ा। इस तरह भिड़न्त पर भिड़न्त होती रही। जनता दिन-दूनी रात चौगुनी शक्तिसम्पन्न होती गई। उसका आत्मविश्वास बढ़ा। उसके तप-तेज में वृद्धि हुई और वह भीषण सत्वपरीक्षा के लिए तैयार बनी। इस बीच संसार में अनेक उथल-पुथल हुई। जर्मनी ने रूस तक धावा बोला। जापान ने पर्ल हॉर्बर से लेकर ब्रह्मा तक के सब देशों पर अपना झंडा गाड़ दिया। साम्राज्य-शाही के होश गुम हो गये। सरकार सिटपिटाई। उसने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स को भेजा। उनकी बात किसी के गले नहीं उतरी। देश में और देश के बाहर भारतवासियों की स्थिति उत्तरोत्तर विकट होने लगी। सरकारी दमन शुरू हो गया। शोषण-उत्पीड़न की अवधि हो गई। कांग्रेस यह सब चुपचाप देख न सकी। गांधी जी से रहा न गया। उन्होंने देश को नये संघर्ष के लिए तैयार किया और 'भारत छोड़ो' के नारे से सारा देश गूंज उठा। ८ अगस्त '४२ को 'भारत छोड़ो' का वह प्रसिद्ध प्रस्ताव पास हुआ और ९ अगस्त के दिन सरकार की बर्बरता देश में सर्वत्र खुल कर खेली। नेता सब बन्द कर दिये गये। दमन की चक्की चल पड़ी। देश का नया खून इस विभीषिका के लिए तैयार न था। वह इस चुनौती का मुक़ाबला करने को तैयार हो गया और तीन साल तक बिना हारे, बिना थके, बिना डरे, बराबर मुक़ाबला करता रहा। देश ने रावण-राज्य और कंस-राज्य के प्रत्यक्ष दर्शन किये। बग़ावत की एक प्रचंड आँधी ने देश को ओर-छोर से झकझोर दिया। दुनिया दहल उठी। सरकार को खुद अपनी करतूतों पर शरम आने लगी। गांधी जी इस बार भी नहीं झुके। उन्होंने इक्कीस दिन का उपवास करके देश और दुनिया की सोई हुई चेतना को जगाने का पावन प्रयास किया, सरकार के आसुरी भाव को हततेज किया, अपने महादेव और अपनी बा को खो कर भी वे अविजेय बने रहे, उनकी नीलकंठता ने देश में उनके प्रति अनुरक्ति और भक्ति की एक प्रचंड लहर उत्पन्न कर दी, सरकार ने बहुत चाहा कि लोग गांधी को भूलें, पर उसके सब हथकंडे बेकार साबित हुए और आखिर उसे परास्त होना पड़ा। उसने गांधी को जेल से छोड़ा। कांग्रेस की कार्यसमिति को बन्धनमुक्त किया और

उसके सामने सहयोग का हाथ बढ़ाया। बाद में डेलीगेशन मिशन आया और वह भी अपने उद्देश्य में असफल होकर लौट गया; फिर भी देश के शासन की बागडोर भारतीयों के हाथ में सौंपने की प्रयत्न जारी रहा और अन्ततः उसमें सफलता मिल कर ही रही। आज कांग्रेस अपनी समस्त शक्ति के साथ देश की एकमात्र प्रिय और प्रतिनिधिसंस्था बनी है और लाखों-करोड़ों उसके इशारे पर अपना सर्वस्व होमने को तैयार हैं! यह सब चमत्कार किसका है? गांधी जी का।

आज से तीस बरस पहले किसने सोचा था कि सन् '४६ का भारत इतना महान, इतना शक्ति-सम्पन्न, इतना सजग, इतना संगठित, इतना संघर्षप्रिय, इतना धीर-वीर और उदात्त बन जायगा! लेकिन आज वह ऐसा है और उसको ऐसा बनाने में गांधी जी की अलौकिक शक्ति ने अद्भुत काम किया है। अभी भी उनका मिशन सर्वांश में पूरा नहीं हुआ है, उन्हें सर्वत्र शतप्रतिशत सफलता नहीं मिलती है, कई बार उनको पीछे भी हटना पड़ जाता है, पर वे कभी पराजित नहीं हुए। उनकी अहिंसा, उनका सत्याग्रह पराजय को जानता नहीं। उनकी तथाकथित हार भी वास्तव में जीत ही होती है और जनता का बल उससे बढ़ता है, घटता नहीं। यह उनके शस्त्र की विलक्षणता है और सदा रहेगी।

गांधी जी के बारे में अब तक हमने बहुत तरह से सोचा। उनके जीवन के अनेक पहलुओं को देखा। अन्त में हमें यही कहना है कि उनमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम की मर्यादाशीलता, योगेश्वर कृष्ण की योगनिष्ठा, अहिंसावतार बुद्ध की प्रखर अहिंसा, महावीर स्वामी की निःस्पृह दिगम्बरता, ईसा की पावनता और परदुःखकातरता, एवं पैग़म्बर साहब की त्याग-वैराग्य-भरी सादगी और फ़क़ीरी ने एक साथ सामूहिक रूप से निवास किया है। उनमें मानवता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची है। वे अवतारों के भी अवतार-से हैं और आज के विश्व में पुरुषोत्तम भाव से विश्व-मानव के प्रतीक। आइये, हम सब अपने इस महामानव को विनम्र भाव से प्रणाम करें और परमात्मा से प्रार्थना करें कि वह अभी युगों तक इस देश और दुनिया के लिए हमारे बीच अपनी सम्पूर्ण शक्ति और विभूति के साथ जीने का बल-संबल दे!

बड़वानी]



एक कलाकार का निर्माण

[शिल्पगुरु श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की शिल्प-साधना]

श्री कांति घोष

"कलाकार बनने में छः महीने से अधिक की आवश्यकता नहीं, बशर्ते कि शिक्षार्थी में कला-प्रतिभा हो।" भारतीय पुनर्जागरण के आचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ने कला-भवन के विद्यार्थियों—अपने शिष्य के शिष्यों—के साथ बातचीत करते हुए ये वाक्य कहे। उस समय वे अपने पिछले जमाने के स्वानुभव का स्मरण कर रहे थे। "अध्यापक अपने विद्यार्थियों के काम में दखल दे, इसमें मुझे आस्था नहीं है। अध्यापक को केवल राह दिखानी चाहिए, अपने विद्यार्थियों को हठात् किसी ओर विनियुक्त करने का प्रयत्न न करना चाहिए। ऐसा करना बड़ा घातक सिद्ध होगा। उसे अपने विचारों और कार्य-पद्धति को विद्यार्थियों पर लादना नहीं चाहिये। विद्यार्थियों को अपने ही ढंग से शक्ति विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।" अवनी बाबू ने स्वयं भी श्री नन्दलाल और अपने अन्य शिष्यों के साथ इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया था, जिसका परिणाम आज सारी दुनिया जानती है। "लेकिन विद्यार्थियों को ऐसा आभास रहना चाहिए कि ग़लती होने पर उसे सँभालने के लिए उनके पीछे कोई और है। इसका आश्वासन स्वयं अध्यापक की ओर से मिलना चाहिए।"

उन्हें स्मरण हो आया कि किस प्रकार बहुत पहले, जब वे नवयुवक ही थे, उनके चाचा कवि ने बच्चों के लिए कहानी लिखने की सलाह देते हुए कहा था—"जैसे (कहानी) कहते हो, वैसे ही लिखो।" उन्होंने यह भी कहा था, "इन कहानियों को सुघड़ बनाने में यदि जरूरत हुई तो मैं सहायता दूंगा।" पहली कहानी लिखी गई—'शकुन्तला कथा'। रवि काका ने सारी कथा ध्यान-पूर्वक देखी। एक संस्कृत श्लोक पर उनकी सम्पादकीय क़लम रुकी और फिर बेरोक आगे बढ़ गई। कहानी सफल सिद्ध हुई और यह सफलता एक ऐसे स्थान से प्रमाणित हुई, जिससे उन्हें अपनी शक्ति पर भरोसा करने में सहायता मिली। उन्हें आत्म-विश्वास हुआ और तब से अवनी बाबू की क़लम से एक के बाद एक कहानी—निबन्ध और कविता भी—निकलते गये, जिनका बंगाली-साहित्य में अप्रतिम स्थान है।

तो भी उनकी कला-शिक्षा बहुत सरल न थी। उन दिनों 'भारतीय कला' नाम की कोई वस्तु ही नहीं थी। अजन्ता यदि कल्पना नहीं तो स्मृति का विषय ही था। दक्षिण से श्री रविवर्मा कलकत्ता आर्ट-स्टुडियो से मिलकर ग्राम्य अभिरुचि को मुग्ध करने वाली शैली द्वारा भारत की कला-क्षुधा को शान्त करने का श्रेय प्राप्त कर रहे थे। यह शैली भारतीयता से विमुख थी। इसी समय अवनी बाबू ने शिक्षण प्राप्त करने का निश्चय किया। उनका ध्यान उस समय प्रचलित युरोपीय कला की ओर आकर्षित हुआ। इसके सिवाय और कोई रास्ता ही न था।

दो यूरोपियन अध्यापकों ने, एक के बाद एक, उन्हें जीवित मॉडल का अंकन और तैल चित्र-विधान का अपना सम्पूर्ण ज्ञान दिया। उसके बाद उन्हें शरीर-विज्ञान के अध्ययन की सलाह दी गई। लेकिन एक बहुत असामान्य अनुभव के बाद उन्हें यह छोड़ देना पड़ा। अनुशीलन के लिए लाई गई मनुष्य की खोपड़ी से उन्हें बड़ा विचलित और विभीषिका-पूर्ण अनुभव हुआ। उसकी प्रतिक्रिया के कारण वे अस्वस्थ हो गए और कुछ समय के लिए उन्हें अभ्यास छोड़ देना पड़ा। अन्त में एक प्रसिद्ध नॉर्वेजियन आया, जिससे उन्होंने रंग-चित्र (Water colour) की कला सीखी।

चित्राधार (Easal) और रंग-पेटी को झोले में डाले प्राकृतिक दृश्यों की खोज में उन्होंने मुंगेर तथा अन्य स्थानों की यात्रा की। परिणामतः उन्हें यूरोपियन कला में विशेष प्रवीणता प्राप्त हुई।

शिक्षा तो पूर्ण हुई; लेकिन उनकी तूलिका ने कभी विश्राम नहीं लिया। चित्र बनते जाते थे और उन्हें प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती जाती थी, पर वे सन्तुष्ट नही थे। निराशा उनके मन में घर करने लगी। "मै बेचैन हो उठा था। अपने हृदय में मुझे एक व्याकुलता का अनुभव होता था; लेकिन मै उसका स्पष्ट निरूपण नही कर पाता था। विस्मय-विमूढ़ होकर मै कहता—आगे क्या हो?" सम्भवतः यह सर्जक प्रवृत्ति ही थी, जो अपने को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त माध्यम ढूंढ़ रही थी। लगभग इसी समय उनके हाथ में कला के दो नमूने आ पड़े, जिन्होने उनके अवरुद्ध मार्ग को खोल दिया। क्रमशः उनमें से एक तो मध्यकालीन यूरोपीय शैली में चित्रित 'आइरिश मैलॉडी' का चारों ओर से भूषित चित्र-संग्रह था और दूसरा सुनहले-रुपहले रगो से मडित उत्तर मुगलकालीन शैली मे अंकित दिल्ली का चित्र-सम्पुट। उन्हें यह जान कर आनन्द के साथ आश्चर्य भी हुआ कि दोनो के अपने विधानो के निर्वाह में आधारभूत प्रभेद कोई नही था। उन्होने इस नव प्राप्त विधान को आजमाने के लिए भारतीय विषय खोजने प्रारंभ किये। श्री रवीन्द्रनाथ के अनुरोध से वे विद्यापति और चण्डीदास के वैष्णव गीतो को अंकित करने लगे। पहला चित्र, जिसमें अभिसार को जाती हुई राधा को प्रदर्शित किया गया था, असफल रहा। उसका निर्वाह सदोष था और अनजाने ही उसमें यूरोपियन प्रभाव झलक आया था। "मैंने चित्र को ताले मे बन्द कर दिया; लेकिन मन मे कहा कि प्रयत्न करता रहूँगा।" एक प्रवीण भारतीय कारीगर को उन्होंने चित्रसज्जा-विधान सीखने के लिए बुलाया। उसके बाद काम सरल हो गया। उन्होंने वैष्णव पदावली को समाप्त कर 'बेतालपचीसी' हाथ में ली और फिर बुद्ध-चित्रावली तथा अन्य चित्रों को पूरा किया। सर्जन-प्रवृत्ति को निकलने के लिए एक राह मिल गई और अवनी बाबू को भारतीय पुनर्जागरण में श्रद्धा प्राप्त हुई।

इस शिल्प-स्वामी के जीवन में यह समय सबसे अधिक उपलब्धिपूर्ण था। "मै कैसे बताऊँ कि उस सारे समय में मै क्या अनुभव करता था। मै चित्रों से भरपूर रहता था, ऐसा ही कुछ कह सकता हूँ। चित्रो ने मेरी सम्पूर्ण सत्ता को अधिकृत कर लिया था। मै केवल अपनी आँखें बन्द करता कि चित्र मेरे मन के सामने उतराने लगते—आकृति, रेखा, रंग, छाया सम्पूर्ण रूप में। मै हाथ में तूली उठा लेता और जैसे चित्र स्वयं बनते जाते।" सर्जन के उन दिनों में भी छिद्रान्वेषी समालोचकों का अभाव नहीं था। एक प्रसिद्ध वैष्णव प्रकाशक राधाकृष्ण चित्रावली को देखने के लिए आये। चित्रों को देख कर उन्होंने स्पष्ट रूप से निराशा प्रकट की। क्या यह राधा है? क्या शिल्पी उसे ज़रा अधिक मासल और कोमल नहीं बना सकता था? "यह सुन कर मै आश्चर्य से स्तम्भित रह गया, लेकिन एक क्षण के लिए ही। ये वचन मुझ पर कोई प्रभाव नही छोड़ गये।" कुछ समय में सब यूरोपियन प्रभावों से पूरी तरह मुक्त होकर वे अपने ढंग से सावधानी के साथ चित्र बनाते गये। "ओह, वे भी दिन थे!"

लेकिन वे दिन भी सहसा समाप्त हो गये। शिल्पी के जीवन में एक बड़ा विषाद का अवसर आया। सारे परिवार की लाड़ली, उनकी दस बरस की लड़की कुछ समय से कलकत्ते में फैली महामारी में अवसन्न हो गई। उसकी मृत्यु से उन्हें बड़ा आघात पहुँचा। मन को किसी प्रकार समाधान ही नहीं मिलता था। बाह्य उपचारो से कोई भी लाभ नहीं हुआ। लाभ हुआ तो श्री० हैवल की सलाह से। हैवल उन्हें उनके चाचा श्री सत्येन्द्रनाथ के घर पहली बार मिले। उन्होने कहा, "अपने काम को हाथ में उठा लो। यही एकमात्र दवा है।" संयोग ने ही इन दो समान-धर्मी आत्माओ को मिलाया था। यह सम्मिलन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, भारत के सांस्कृतिक दृष्टिकोण मे हलचल मचाने वाला सिद्ध हुआ। आगे जाकर हैवल के विषय में वे अपने छात्रो से कहा करते थे, "उन्होने मुझे उठा लिया और घड़ दिया। उनके प्रति मेरे मन में हमेशा गुरु जैसा आदर-भाव रहा है? कभी-कभी वे विनोद में मुझे अपना सहकर्मी और कभी शिष्य कहा करते थे। सचमुच वे मुझसे अपने भाई-सा स्नेह करते थे। तुम जानते हो, नन्दलाल के प्रति मेरा कितना गहरा स्नेह है; लेकिन हैवल का स्नेह उससे भी अधिक गंभीर था।"

श्री हैवल ने अवनी बाबू से कला-शाला का उपाध्यक्ष होने को कहा, जिसे अवनी बाबू ने अस्वीकार कर दिया। उन जैसे शिल्पी को सरकारी संस्था चला कर क्या करना था! इसके सिवाय पढ़ाने की भी बात थी और



नृत्यमत्ता

[कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर

प्रारंभ कैसे करें, यह भी प्रश्न था और फिर हुक्के के वग़ैर वे काम कैसे करते ? पर हैवल ने युक्ति निकाल ही ली। सारी व्यवस्था अवनी वावू की इच्छानुसार हो गई और आखिर उन्हें यह पद स्वीकार करने के लिए मना ही लिया गया।

पद-स्वीकार के पहले दिन ही हैवल उन्हें शाला से सम्वन्वित आर्ट-गैलरी के निरीक्षण के लिये ले गए। हैवल ने पिछले कुछ वर्षों में इकट्ठे हुए कूड़े-करकट को—पुराने यूरोपियन कलाकारों की तीसरे दर्जे की कृतियों को—हटा कर उनके स्थान में मुग़ल शैली के कुछ मौलिक नमूने लगवा कर गैलरी को साफ़ करवा दिया था। इन नमूनों में एक सारस का छोटा-सा चित्र था, जिससे अवनी वावू का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने पहले आँखों से और फिर आतशी शीशे से उसकी परीक्षा की। उस चित्र के रूप-विवान और अङ्गोपाङ्गों के रचना-विन्यास की उत्कृष्टता से वे चकित रह गए। अन्य नमूनों की भी उन्होंने परीक्षा की और इन मध्य-कालीन चित्रों की उदात्तता, रेखांकन और रंगों द्वारा प्रकट होने वाली सांस्कृतिक स्वमताग्रहता से वे मुग्ध हो गये। इन चित्रों द्वारा उन पर पड़ा प्रभाव श्री हैवल के लिए अप्रत्याशित नहीं था। अवनी वावू को तो इन चित्रों ने एक सन्देश दिया। "तव मैं पहले-पहल हृदयंगम कर सका कि मध्ययुगीन भारतीय शिल्प में कैसी निधियाँ छिपी हुई हैं। मुझे मालूम हो गया कि इनके मूलहेतु—शृंगार भाव (Emotional element) —में क्या कमी थी और उसे ही पूर्ण करने का मैंने निश्चय किया। यही मेरा ध्येय है, ऐसा मुझे अनुभव हुआ।"

काम उन्होंने जहां छोड़ा था, वहीं से उठा लिया। इस काल का प्रथम चित्र मुग़ल-शैली पर वना था। चित्र का विषय था अन्तिम पुकार के लिए तैयार शाहजहाँ अपने क़ैदखाने की खिड़की की जाली से दूर—ताज को अनिमेष आँखों से निहार रहे हैं। उनकी अनुगत प्यारी लड़की जहाँनारा फ़र्श पर नीरव वैठी है। चित्र को दिल्ली दरवार और कांग्रेस प्रदर्शनी में भी दिखाया गया। उत्कृष्टतम कला-कृति के रूप में इसका समादर हुआ। समालोचकों ने इसमें खूव रस लिया और चित्र-कला से अनभिज्ञ लोग भी इसकी उदात्त करुणा से आर्द्र हो गए। "इसमें क्या आश्चर्य है कि मैंने अपनी आत्मा की पुकार इस चित्र में रख दी है।" उनकी आत्मा अव भी अपनी लड़की के लिए क्रन्दन कर रही थी। उन्होंने यह महान् दुःख रूपी मूल्य ही इस महान् कृति के लिए दिया था।

इसके वाद ही श्री हैवल ने संस्था की अवधानता में भारतीय चित्रों की प्रदर्शनी की आयोजना की। इसी प्रदर्शनी के सिलसिले में एक दिलचस्प घटना हुई। प्रदर्शन के नमूनों में वहुत से अवनी वावू के स्टुडियो से आये थे। इनमें से एक पर चित्रों के प्रसिद्ध संग्राहक लॉर्ड कर्जन की आँख लग गई। हैवल ने अपने सहकर्मी को यह चित्र वाइसराय को भेंट नहीं देने दिया, वल्कि उसे क़ीमत लेकर वेचा। मूल्य यद्यपि उचित ही था, फिर भी लार्ड कर्ज़न को यह ठीक न लगा। लॉर्ड कर्ज़न खूव धनवान थे। फिर भी अपने व्यक्तिगत खर्च पर वहुत कठोर दृष्टि रखते थे। परिणाम यह हुआ कि वाइसराय ने सौदा करने का निश्चय किया; लेकिन हैवल जरा भी विचलित न हुए। वहुत संभव है कि हैवल इन चित्रों में से किसीको भी, किसी व्यक्तिगत संग्रह में, भारत से वाहर नहीं जाने देना चाहते हों। आखिर अवनी वावू ने सम्पूर्ण चित्रावली श्री हैवल को गुरुदक्षिणा के रूप में अर्पण कर दी। हैवल शिष्य की श्रद्धांजली को पाकर वहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन चित्रों को आर्ट-गैलरी में स्थिर रूप से प्रदर्शन के लिए रखवा दिया।

तवतक नव्य-प्राच्य-स्कूल (Neo-Oriental school) अपने पथ पर भली प्रकार अग्रसर हो चुका था। इस शिल्पस्वामी के चारों ओर शिक्षार्थी जुटने लगे। अवनी वावू स्वयं अपने विद्यार्थियों को चुनते थे और उनकी आँखों ने शिल्पियों को चुनने में कभी धोखा नहीं खाया। सर्वप्रथम श्री सुरेन्द्र गांगुली आये, जो एक विरल प्रतिभासम्पन्न युवक थे। अकाल मृत्यु के कारण वे वीच में ही मुरझा गये। उनके वाद श्री नन्दलाल आये, जो इस समय अवनी वावू के शिष्यों में सवसे अधिक प्रिय हैं और जिन्हें भावी सन्तति के लिए नवज्योति ले जाने का एकान्त श्रेय प्राप्त हुआ है। श्री असितकुमार हल्दार भी अपनी चतुर्मुखी दक्षता के साथ आये। इन लोगों को अपने

पास विठाकर श्री अवनीन्द्र चित्र वनाते हुए विचित्र माध्यमों द्वारा परीक्षा करके पढ़ाई और कला-चर्या द्वारा दिन भर काम में जुटे रहते थे। स्वदेशी आन्दोलन के प्रारंभिक दिनों में अवनी वावू ने अपने चाचा श्री रवीन्द्रनाथ के पथ-प्रदर्शन में सच्चे हृदय से काम किया। अन्त में उचित कारण से ही उन्होंने अपने को आन्दोलन से अलग कर लिया। तो भी उन्होंने स्वदेशी भावना का त्याग नहीं किया था। अपने नये स्कूल में उन्होंने ऐसे माध्यम की स्थापना की, जिससे भारत के सांस्कृतिक पहलू का सम्वन्ध है। आर्ट-स्टूडियो में उन्हीं दिनों हावी हुए भारतीय देवी-देवताओं के अशुद्ध रूप से वे घवरा उठे। उन्होंने अपने शिष्यों को इस विषय में सामान्य जनता की अभिरुचि को शिक्षित करने का आदेश दिया। शिष्यों को रामायण और महाभारत के पात्रों से परिचित करवाने के लिए एक पंडित की नियुक्ति की गई और सारे देश में पौराणिक आख्यानों का निरूपण करने वाले विविध मूर्तिस्वरूपों की वड़े अध्यवसाय के साथ खोज प्रारंभ हुई। शिष्यों द्वारा इस सरणी पर तैयार किये गये चित्रों ने जन-सामान्य को उन दिनों इतना प्रोत्साहित किया कि जिसकी स्वप्न में भी कल्पना न थी। निस्सन्देह सामान्य जनता चित्रों के गुणों को समझने में असमर्थ थी तो भी उसने अनुभव किया कि आखिर 'अपनी' कहने लायक वस्तु उसे मिल गई और जिससे उसकी आत्म-प्रतिष्ठा का पुनः उद्धार हो गया। अवनी वावू द्वारा प्राचीन शिल्प-सम्प्रदाय के विषय में लिखी पुस्तकों और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दिये गये लेखों ने भी इस विषय की अच्छी भूमिका तैयार कर दी थी। चारों ओर से आशीर्वादों की वर्षा के साथ विशिष्ट जनों के आश्रय में प्राच्य कला समिति (Oriental Art Society) की स्थापना हुई। शिल्पस्वामी के शब्दों में कहें तो "कोश के पन्नों में निरुद्ध भारतीयकला अव हरेक के मुँह में वस गई।" लगभग इन्हीं दिनों अवनी वावू की शिल्प-प्रवृत्ति एक नई दिशा की ओर मुड़ी। वाहर से तो यह नवीन ही मालूम होती थी, पर वस्तुतः यह प्रवृत्ति भारतीय परम्परा को जीवन के हरेक क्षेत्र में लाने के सुसंगत विकास रूप ही थी। वे हरेक वस्तु को 'स्व-देशीय' वनाना चाहते थे। और ऐसा क्यों न हो? शिक्षित वर्ग की आदतें भद्दे ढंग से अपनाई गई पाश्चात्य संस्कृति को अपने ऊपर लादने के कारण इतनी वदल गई थीं कि यह अद्भुत मिश्रण पहचाना भी नहीं जाता था। अवनी वावू ने इन सव को वदलने का निश्चय किया। राजसी ठाठ-वाट वाले ठाकुरों के महलों से पुराना क़ीमती यूरोपीय फ़र्नीचर एकदम वाहर कर दिया गया और उसके स्थान पर भारतीय रीतिरिवाजों और प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुकूल सिद्ध होने वाले स्वयं अपने ही निरीक्षण में वनवाये फ़र्नीचर के विभिन्न नमूने लगवाये। स्थापत्य के नमूने, भवन और रंगशाला की सज्जा-वेशभूषा, चित्रों के फ्रेम छोटे से लेकर वड़े तक किसी की उपेक्षा किये विना सव पर उन्होंने व्यक्तिगत ध्यान दिया। नवजाग्रत भारतीय सौन्दर्य-ज्ञान को आत्मज्ञान के यथार्थ पक्ष पर प्रवृत्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। भारत के विभिन्न स्थलों पर अच्छे पदों पर प्रतिष्ठित उनके शिष्यों ने उनके द्वारा इस दिशा में दिखाये गये पथ का श्रद्धा और निष्ठा के साथ अनुसरण किया।

वास्तव में इस शिल्प-स्वामी की सवसे वड़ी देन ही यही है कि उन्होंने अपने सम्प्रदाय को आगे ले जाने वाले एक शिल्पी-मण्डल का सर्जन किया। इन कलाकारों में से कुछ ने (उदाहरण के लिए दो का ही नाम लेते हैं श्री नन्दलाल और श्री असितकुमार हल्दार ने) कला-स्वामी का पद अधिकार-पूर्वक ही पाया है। अवनी वावू की शिक्षण-पद्धति उन्हीं के शब्दों में यह है: "किसी वस्तु को दूसरे पर लादने की ज़रूरत नहीं। सनातन-काल से चले आये पाठों को सिखाने से भी कोई लाभ नहीं। केवल उनके पथ की वाधाओं को हटा दो, जिससे उन की प्रतिभा को निर्वाध होकर खिलने का अवसर मिल सके।" लेकिन इसके लिए प्रतिभा का होना आवश्यक है, साथ ही चतुर्मुखी संस्कारिता भी ज़रूरी है। इन थोड़े से शिल्पकारों को भारत के शिल्प-आन्दोलन का श्रेय प्राप्त है। अपनी शिक्षण-पद्धति को समझाने के लिए अवनी वावू स्वयं एक कथा कहा करते हैं कि किस प्रकार जव उन्हें नन्द वावू का 'उमा का परिताप' नामक चित्र, जो तभी से वड़ा प्रसिद्ध हो गया, दिखाया गया तो उन्होंने चित्र में थोड़े से परिवर्तन सुझाये, लेकिन घर जाने पर वे वेचैन हो गये। वे स्वयं कहते हैं, "मैं सारी रात सो नहीं सका।" दिन उगते ही अपने शिष्य के स्टुडियो में दौड़ गये और अन्त में चित्र को खराव होने से वचाया। उन्होंने स्वीकार किया है कि यथासमय ही उन्हें अपनी

ग़लती का भान हो गया था। "नन्दलाल की कल्पना के बीच में पड़ने वाला मैं कौन हूँ। नन्दलाल ने उग्रतप-निरता उमा की कल्पना की थी। इसीलिए उसका रंग-विधान कठोर होना ही चाहिए था। उसे मैं अपने सुझावों से खराब कर रहा था।"

उन्होंने अपने शिष्यों को सारे हिन्दुस्तान में इधर-उधर बिखरे हुए प्राचीन चित्रों, मूर्तियों और स्थापत्य के स्मारकों का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस अनुशीलन का हेतु था कि उन्हें प्रेरणा मिले। इसे कभी आत्मप्रकटीकरण में बाधक सिद्ध होने नहीं दिया गया। अपने शिष्यों को कला के नये प्रदेश जीतने में उन्होंने कभी अनुत्साहित नहीं किया। उन्होंने स्वयं पाश्चात्य प्रभाव से हट कर भारतीय शैली को पूर्ण रूप से अपनाया था। तो भी वे "यूरोपियन अथवा प्राचीन भारतीय कला के बन्धन को न मानने वाली वर्त्तमान स्वस्थ मानस-गति में विक्षेप करना नहीं चाहते थे", जैसा कि भारतीय कला के एक यूरोपियन अभ्यासी ने यथार्थ ही कहा है। वे इसीलिए अपने शिष्यों को इतनी स्वतन्त्रता दे सके, क्योंकि उन्हें विकासोन्मुख कलियों में, इतने समृद्ध रूप में प्रकट हुई पुनरुज्जीवित भारतीय कला की प्रसुप्त शक्ति में सम्पूर्ण विश्वास और श्रद्धा" थी। भारतीय गुरु की यह परिपाटी विश्व-भारती-कला-भवन के केन्द्र में, जिसका संचालन उनके प्रधान शिष्य श्री नन्दलाल वसु निष्ठा-पूर्वक कर रहे हैं, खूब पनप रही है।

यह तो हुआ प्रेरक और मार्गदर्शक अवनी बाबू के विषय में। शिल्पी अवनी बाबू ने अपनी प्रेरणा को रूप देने में, उन्हीं के अपने शब्दों में "एक के बाद एक असफलता" का सामना किया है। "हृदय की व्यथा से मैंने क्या-क्या दुख नहीं सहा है; और अब भी सह रहा हूँ।" पर यह सभी कलाकारों के भाग्य में होता है। जैसे आत्मा शरीर से अवरुद्ध है, उसी प्रकार प्रेरणा अपूर्णता से आबद्ध है। केवल एक या दो बार पूर्णता से होने वाले इस परमानन्द का उन्हें अनुभव हुआ है। वे कहते हैं, "चित्रावली को अंकित करते समय पहली बार मुझे इस आनन्द का अनुभव हुआ था। मुझ में और चित्र के विषय में पूर्ण एकात्मता सध गई थी। कृष्ण की बाललीला जैसे मेरे मन की आँखों के सामने हो रही हो। मेरी तूलिका स्वयं चलने लगती और चित्र सम्पूर्ण रेखा और रंगों में चित्रित होते जाते।" दूसरी बार जब वे अपनी स्वर्गीया माता के, जिनके प्रति अवनी बाबू की अनन्त भक्ति थी, मुख को याद करने का प्रयत्न कर रहे थे तब उन्हें इसी प्रकार का अनुभव हुआ था। "यह दृष्टिकोण पहले तो ज़रा धुँधला सा था और माँ का मुख मुझे बादलों से घिरे अस्तोन्मुख सूर्य-सा लगा। इसके बाद मुखाकृति धीरे-धीरे इतनी स्पष्ट हो गई कि अङ्ग-प्रत्यङ्ग के साथ उद्भासित हो उठी। फिर मुखाकृति मेरे मन पर अपनी स्थिर छाप छोड़ कर धीरे-धीरे विलीन हो गई। मेरे किये गये मुखों के अध्ययन में चित्रों में सबसे अच्छा निरूपण इसका ही है।" ऐसे अनुभव इने-गिने लोगों के लिए भी दुर्लभ होते हैं।

अवनी बाबू की उमर इस समय सत्तर से भी अधिक है। वे अब नये क्षेत्र में काम में तत्पर हैं। सर्जन की प्रेरणा उनमें विद्यमान है, नहीं तो उनका शरीर निष्प्राण हो गया होता। निस्सन्देह वे जीवन से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं, लेकिन रहते हैं अपने सर्जन के अन्तःपुर में ही। बाहर की बैठक अब उजड़ गई है। समालोचकों की चर्चाएँ बन्द हो गई हैं। अतिथि-अभ्यागत विदा ले चुके हैं, उत्सव समाप्त हो गया है और बत्तियाँ बुझ गई हैं। अन्तःपुर में जहाँ किसी का भी प्रवेश नहीं है—वे कला की देवी के साथ खेल रहे हैं। उपहार हैं खिलौने, लेकिन वे इतने बहु-मूल्य हैं कि समालोचकों अथवा अतिथियों के लिए स्तुति या आश्चर्य-मुग्ध होने के लिए बाहर की बैठक में नहीं भेजे जाते।

"माँ की गोद में वापिस जाने की तैयारी का समय आ पहुँचा है और इसलिए मैं एक बार फिर बालक बन कर खेलना चाहता हूँ।" अथवा नन्दबाबू के शब्दों में "अब वे दूरबीन के तालों को उलटा कर देखने में व्यस्त हैं।" कुछ भी हो, भगवान् करे उनकी दृष्टि (Vision) कभी धुँधली न हो और खेल निरंतर चलता रहे।

(अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार)

अभिनन्दनीय प्रेमी जी

श्री जुगलकिशोर मुख़्तार

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि श्रीमान् पंडित नाथूराम जी प्रेमी को अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। प्रेमी जी ने समाज और देश की जो सेवाएँ की हैं, उनके लिए वे अवश्य ही अभिनन्दन के योग्य हैं। अभिनन्दन का यह कार्य बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था; परन्तु जब भी समाज अपने सेवकों को पहचाने और उनकी क़द्र करना जाने तभी अच्छा है। प्रेमी जी इस अभिनन्दन को पाकर कोई बड़े नहीं हो जावेंगे—वे तो बड़े कार्य करने के कारण स्वतः बड़े हैं—परन्तु समाज और हिन्दी-जगत उनकी सेवाओं के ऋण से कुछ उऋण होकर ऊँचा ज़रूर उठ जायगा। साथ ही अभिनन्दन-ग्रंथ में जिस साहित्य का सृजन और संकलन किया गया है उसके द्वारा वह अपने ही व्यक्तियों की उत्तरोत्तर सेवा करने में भी प्रवृत्त होगा। इस तरह यह अभिनन्दन एक ओर प्रेमीजी का अभिनन्दन है तो दूसरी ओर समाज और हिन्दी-जगत् की सेवा का प्रबल साधन है और इसलिए इससे 'एक पन्थ दो काज' वाली कहावत बड़े ही सुन्दर रूप में चरितार्थ होती है। प्रेमी जी का वास्तविक अभिनन्दन तो उनकी सेवाओं का अनुसरण है, उनकी निर्दोष कार्य-पद्धति को अपनाना है, अथवा उन गुणों को अपने में स्थान देना है, जिनके कारण वे अभिनन्दनीय बने हैं।

प्रेमी जी के साथ मेरा कोई चालीस वर्ष का परिचय है। इस अर्से में उनके मेरे पास क़रीब सात सौ पत्र आए हैं और लगभग इतने ही पत्र मेरे उनके पास गए हैं। ये सब पत्र प्रायः जैन-साहित्य, जैन-इतिहास और जैन-समाज की चिन्ताओं, उनके उत्थान-पतन की चर्चाओं, अनुसंधान कार्यों और सुधारयोजनाओं आदि से परिपूर्ण हैं। इन पर से चालीस वर्ष की सामाजिक प्रगति का सच्चा इतिहास तैयार हो सकता है। सच्चे इतिहास के लिए व्यक्तिगत पत्र बड़ी ही काम की चीज़ होते हैं।

सन् १९०७ में जब मैं साप्ताहिक 'जैन-गज़ट' का सम्पादन करता था तब प्रेमी जी 'जैनमित्र', बम्बई के आफ़िस में क्लर्क थे। भाई शीतलप्रसाद जी (जो बाद को ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के नाम से प्रसिद्ध हुए) के पत्र से यह मालूम करके कि प्रेमी जी ने 'जैनमित्र' की क्लर्की से इस्तीफ़ा दे दिया है, मैंने अक्तूबर सन् १९०७ के प्रथम सप्ताह में प्रेमी जी को एक पत्र लिखा था और उसके द्वारा उन्हें 'जैनगज़ट' आफ़िस, देवबन्द में हेड क्लर्की पर आने की प्रेरणा की थी; परन्तु उस वक़्त उन्होंने बम्बई छोड़ना नहीं चाहा और वे तब से बम्बई में ही बने हुए हैं।

८ जनवरी सन् १९०८ के 'जैनगज़ट' में मैंने 'जैनमित्र' की, उसके एक आपत्तिजनक एवं आक्षेपपरक लेख के कारण, कड़ी आलोचना की, जिससे प्रेमी जी उद्विग्न हो उठे और उन्होंने उसे पढ़ते ही १० जनवरी सन् १९०८ को एक पत्र लिखा, जिससे जान पड़ा कि प्रेमी जी का सम्बन्ध 'जैनमित्र' से बना हुआ है। समालोचना की प्रत्यालोचना न करके प्रेमी जी ने इस पत्र के द्वारा प्रेम का हाथ बढ़ाया और लिखा—"जबसे 'जैनगज़ट' आपके हाथ में आया है, 'जैनमित्र' बराबर उसकी प्रशंसा किया करता है और उसकी इच्छा भी आपसे कोई विरोध करने की नहीं है। .... जो हो गया सो हो गया। हमारा समाज उन्नत नहीं है, अविद्या बहुत है, इसलिए आपके विरोध से हानि की शंका की जाती है। नहीं तो आपको इतना कष्ट नहीं दिया जाता। आप हमारे धार्मिक बन्धु हैं और आपका तथा हमारा दोनों का ध्येय एक है। इसलिए इस तरह शत्रुता उत्पन्न करने की कोशिश न कीजिए। 'जैनमित्र' से मेरा सम्बन्ध है। इसलिए आपको यह पत्र लिखना पड़ा।" इस पत्र का अभिनन्दन किया गया और १५ जनवरी को ही प्रेमपूर्ण शब्दों में उनके पत्र का उत्तर दे दिया गया। इन दोनों पत्रों के आदान-प्रदान से ही प्रेमी जी के और मेरे बीच मित्रता का प्रारम्भ हुआ, जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और जिससे सामाजिक सेवाकार्यों में एक को दूसरे का सहयोग बराबर प्राप्त होता रहा और एक दूसरे पर अपने दुख-सुख को भी प्रकट करता रहा है।

इसी मित्रता के फलस्वरूप प्रेमी जी के अनुरोध पर मेरा सन् १९२७ और १९२८ में दो बार बम्बई जाना हुआ और उन्हीं के पास महीना दो-दो महीना ठहरना हुआ। प्रेमी जी भी मुझसे मिलने के लिए दो-एक बार सरसावा पधारे। अपनी सख्त बीमारी के अवसर पर प्रेमी जी ने जो वसीयतनामा (will) लिखा था। उसमें मुझे भी अपना ट्रस्टी बनाया था तथा अपने पुत्र हेमचन्द्र की शिक्षा का भार मेरे सुपुर्द किया था, जिसकी नौबत नहीं आई। अपने प्रिय पत्र 'जैनहितैषी' का सम्पादन-भार भी वे मेरे ऊपर रख चुके हैं, जिसका निर्वाह मुझसे दो वर्ष तक हो सका। उसके बाद से वह पत्र बन्द ही चला जाता है। इनके अलावा उन्होंने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की प्रस्तावना लिख देने का मुझसे अनुरोध किया और मैंने कोई दो वर्ष का समय लगा कर रत्नकरण्ड की प्रस्तावना ही नहीं लिखी, बल्कि उसके कर्ता स्वामी समन्तभद्र का इतिहास भी लिख कर उन्हें दे दिया। यह इतिहास जब प्रेमी जी को समर्पित किया गया और उसके समर्पण-पत्र में उनकी प्रस्तावना लिख देने की प्रेरणा का उल्लेख करने तथा उन्हें इतिहास को पाने का अधिकारी बतलाने के अनन्तर यह लिखा गया कि—"आपकी समाज-सेवा, साहित्यसेवा, इतिहासप्रीति, सत्यरुचि और गुणज्ञता भी सब मिलकर मुझे इस बात के लिए प्रेरित कर रही हैं कि मैं अपनी इस पवित्र और प्यारी कृति को आपकी भेंट करूँ। अतः मैं आपके करकमलों में इसे सादर समर्पित करता हूँ। आशा है, आप स्वयं इससे लाभ उठाते हुए दूसरों को भी यथेष्ट लाभ पहुँचाने का यत्न करेंगे;" साथ ही एक पत्र द्वारा इतिहास पर उनकी सम्मति माँगी गई और कहीं कोई संशोधन की जरूरत हो तो उसे सूचना-पूर्वक कर देने की प्रेरणा भी की गई; तब इस सब के उत्तर में प्रेमी जी ने जिन शब्दों का व्यवहार किया है, उनसे उनका सौजन्य टपकता है। १५ मार्च सन् १९२५ के पत्र में उन्होंने लिखा :

"मैं अपनी वर्तमान स्थिति में भला उस (इतिहास) में संशोधन क्या कर सकता हूँ और सम्मति ही क्या दे सकता हूँ। इतना मैं जानता हूँ कि आप जो लिखते हैं वह सुचिन्तित और प्रामाणिक होता है। उसमें इतनी गुंजाइश ही आप नहीं छोड़ते हैं कि दूसरा कोई कुछ कह सके। इसमें सन्देह नहीं कि आपने यह प्रस्तावना और इतिहास लिख कर जैन-समाज में वह काम किया है, जो अब तक किसी ने नहीं किया था और न अभी जल्दी कोई कर ही सकेगा। मूर्ख जैन-समाज भले ही इसकी क़दर न करे; परन्तु विद्वान आपके परिश्रम की सहस्र मुख से प्रशंसा करेंगे। आपने इसमें अपना जीवन ही लगा दिया है। इतना परिश्रम करना सबके लिए सहज नहीं है। मैं चाहता हूँ कि कोई विद्वान् इसका सारांश अंग्रेजी पत्रों में प्रकाशित कराये। बाबू हीरालाल जी को मैं इस विषय में लिखूंगा। इंडियन एंटिक्वेरी वाले इसे अवश्य ही प्रकाशित कर देंगे।

"क्या आप मुझे इस योग्य समझते हैं कि आपकी विद्वन्मान्य होने वाली यह रचना मुझे भेंट की जाय? अयोग्यों के लिए ऐसी चीजें सम्मान का नहीं, कभी-कभी लज्जा का कारण बन जाती हैं, इसका भी आपने कभी विचार किया है? मैं आपको अपना बहुत ही प्यारा भाई समझता हूँ और ऐसा कि जिसके लिए मैं हमेशा मित्रों में गर्व किया करता हूँ। जैनियों में ऐसा है ही कौन, जिसके लेख किसी को गर्व के साथ दिखाये जा सकें?"

इस तरह पत्रों पर से प्रेमी जी की प्रकृति, परिणति और हृदयस्थिति का कितना ही पता चलता है।

निःसन्देह प्रेमी जी प्रेम और सौजन्य की मूर्ति हैं। उनका 'प्रेमी' उपनाम बिल्कुल सार्थक है। मैंने उनके पास रह कर उन्हें निकट से भी देखा है और उनके व्यवहार को सरल तथा निष्कपट पाया है। उनका आतिथ्य-सत्कार सदा ही सराहनीय रहा है और हृदय परोपकार तथा सहयोग की भावना से पूर्ण जान पड़ा है। उन्होंने साहित्य के निर्माण और प्रकाशन-द्वारा देश और समाज की ठोस सेवाएँ की हैं और वे अपने ही पुरुषार्थ तथा ईमानदारी के साथ किये गए परिश्रम के बल पर इतने बड़े बने हैं तथा इस रुतबे को प्राप्त हुए हैं। अतः अभिनन्दन के इस शुभ अवसर पर मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ।

सरसावा]

साधक प्रेमी जी

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

आज से अट्ठाईस वर्ष पहले प्रेमी जी के दर्शन इन्दौर में हुए थे। स्थान का मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं, शायद लाला जगमंदिरलाल जी जज साहब की कोठी पर हम दोनों मिले थे। इन्दौर में महात्मा गान्धी जी के सभापतित्व में सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ था, उसी के आसपास का समय था। प्रेमी जी की ग्रन्थ-माला की उन दिनों काफ़ी प्रसिद्धि हो चुकी थी और प्रारम्भ में ही उसके बारह सौ स्थायी ग्राहक बन गये थे। उन दिनों भी, मेरे हृदय में यह आकांक्षा थी कि 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से मेरी किसी पुस्तक का प्रकाशन हो, पर प्रमादवश मैं अपनी कोई पुस्तक उनकी ग्रन्था-माला में आज तक नहीं छपा सका। सुना है, जैन-शास्त्रों में सोलह प्रकार का प्रमाद बतलाया है। सत्रहवें प्रकार के प्रमाद (साहित्यिक प्रमाद) का प्रेमी जी को पता ही नहीं। इसलिए पच्चीस वर्ष तक वे इसी उम्मेद में रहे कि शायद उनकी ग्रन्थ-माला के लिए मैं कुछ लिख सकूंगा।

प्रेमी जी का यह बड़ा भारी गुण है कि वे दूसरों की त्रुटि के प्रति सदा क्षमाशील रहते हैं। अनेक साहित्यिकों ने उनके साथ घोर दुर्व्यवहार किया है, पर उनके प्रति भी वे कोई द्वेष-भाव नहीं रखते।

प्रेमी जी के जीवन का एक दर्शन-शास्त्र है। उसे हम संक्षेप में यों कह सकते हैं—खूब डट कर परिश्रम करना, अपनी शक्ति के अनुसार कार्य हाथ में लेना, अपने वित्त के अनुसार दूसरों की सेवा करना और सब के प्रति सद्भाव रखना। यदि एक वाक्य में कहें तो यों कह सकते हैं कि **प्रेमी जी सच्चे साधक हैं।**

पिछले अट्ठाईस वर्षों में प्रेमी जी से बीसियों बार मिलने का मौक़ा मिला है। सन् १९२१ में तो कई महीने बम्बई में उनके निकट रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था और विचार-परिवर्तन के पचासों ही अवसर मुझे प्राप्त हुए हैं। प्रेमी जी को कई बार कठोर चिट्ठियाँ मैंने लिखीं, कई दफ़ा वाद-विवाद में कटु आलोचना भी की और अनेक बार चाय के नशे में उनके घंटे पर घंटे बर्बाद किये, पर इन अट्ठाईस वर्षों में मैंने प्रेमी जी को कभी अपने ऊपर नाराज़ या उद्विग्न नहीं पाया! क्या मजाल कि एक भी कठोर शब्द कभी उनकी क़लम से निकला हो अथवा कभी भूल कर भी उन्होंने अपने पत्र में कोई कटुता आने दी हो! अपनी भाषा और भावों पर ऐसा स्वाभाविक नियंत्रण केवल साधक लोग ही कर सकते हैं, हाँ, कृत्रिम नियंत्रण की बात दूसरी है। वह तो व्यापारी लोग भी कर ले जाते हैं। प्रेमी जी के आत्म-संयम का आधार उनकी सच्ची धार्मिकता है, जब कि व्यापारियों के संयम की नींव स्वार्थ पर होती है।

प्रेमी जी का प्रथम पत्र

प्रेमी जी का प्रथम पत्र, जो मेरे पास सुरक्षित है, आसोज बदी १२, संवत् १९७६ का है। सत्ताईस वर्ष पूर्व के इस पत्र को मैं यहाँ कृतज्ञता-स्वरूप ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर रहा हूँ:

प्रिय महाशय,

तीन-चार दिन पहले मैं महात्मा गांधी जी से मिला था। आपको मालूम होगा कि उन्होंने गुजराती में 'नवजीवन' नाम का पत्र निकाला है और अब वे हिन्दी में भी 'नवजीवन' को निकालना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें एक हिन्दी-सम्पादक की आवश्यकता है। मुझे उन्होंने आज्ञा दी कि एक अच्छे सम्पादक की मैं खोज कर दूं। परसों उनके 'नवजीवन' के प्रबंधकर्ता स्वामी आनन्दानन्द जी से भी मेरी भेंट हुई। मैंने आपका ज़िक्र किया तो उन्होंने मेरी सूचना को बहुत ही उपयुक्त समझा। उन्होंने आपकी लिखी हुई 'प्रवासी भारतवासी' आदि पुस्तकें पढ़ी हैं।

"क्या आप इस कार्य को करना पसन्द करेंगे ? वेतन आप जो चाहेंगे, वह मिल सकेगा। इसके लिए कोई विवाद न होगा।

"मेरी समझ में आपके रहने से पत्र की दशा अच्छी हो जायगी और आपको भी अपने विचार प्रकट करने का उपयुक्त क्षेत्र मिल जायगा। गांधी जी के पास रहने का सुयोग अनायास प्राप्त होगा।

"पत्र का आफ़िस अहमदावाद में या वम्बई में रहेगा।

"गुजराती की १५ हज़ार प्रतियाँ निकलती हैं। हिन्दी की भी इतनी ही या इससे भी अधिक निकलेंगी।

"पत्रोत्तर शीघ्र दीजिए।

भवदीय
नाथूराम

यद्यपि पत्र का प्रारम्भ 'प्रिय महाशय' और अन्त 'भवदीय' से हुआ है, तथापि उससे प्रेमी जी की आत्मीयता स्पष्टतया प्रकट होती है। प्रेमी जी जानते थे कि राजकुमार कालेज इन्दौर की नौकरी के कारण मुझे अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को विकसित करने का मौक़ा नहीं मिल रहा था। इसलिए उन्होंने महात्मा जी के हिन्दी-'नवजीवन' के लिए मेरी सिफ़ारिश करके मेरे लिए **विचारों को प्रकट करने का उपयुक्त क्षेत्र** तलाश कर दिया था। खेद की बात है कि मैं उस समय 'नवजीवन' में नहीं जा सका। मैं गुजराती बिल्कुल नहीं जानता था। इसलिए मैंने उस कार्य के लिए प्रयत्न भी नहीं किया। आगे चलकर वन्धुवर हरिभाऊ जी ने, जो गुजराती और मराठी दोनों के ही अच्छे ज्ञाता रहे हैं, वड़ी योग्यता-पूर्वक हिन्दी 'नवजीवन' का सम्पादन किया। शायद मेरी मुक्ति की काललब्धि नहीं हुई थी। प्रेमी जी के उक्त पत्र के साल भर वाद दीनवन्धु ऐंड्रूज़ के आदेश पर मैंने वह नौकरी छोड़ दी और उसके सवा साल वाद महात्मा जी के आदेशानुसार मैं वम्बई पहुँच गया, जहाँ कई महीने तक प्रेमी जी के सत्संग का सुअवसर मिला।

आत्मीयता के साथ उपयोगी परामर्श देने का गुण मैंने प्रेमी जी में प्रथम परिचय से ही पाया था और फिर वम्बई में तो उन्हीं की छत्रछाया में रहा। कच्चा दूध अमुक मुसलमान की दूकान पर अच्छा मिलता है, दलिया वहाँ से लिया करो, टहलने का नियम वम्बई में अनिवार्य है, भोजन की व्यवस्था इस ढंग से करो और अमुक महाशय से सावधान रहना; क्योंकि वे उधार के रुपये आमदनी के खाते में लिखते हैं। इत्यादि कितने ही उपदेश उन्होंने मुझे दिये थे। यही नहीं, मेरी भोजन-सम्बन्धी असाध्य व्यवस्था को देखकर मुझे एक अन्नपूर्णा-कुकर भी खरिदवा दिया था। यदि अपने वम्बई-प्रवास से मैं सकुशल ही नहीं, तन्दुरुस्त भी लौट सका तो उसका श्रेय प्रेमी जी को ही है।

वम्बई में मैंने प्रेमी जी को नित्यप्रति ग्यारह-बारह घंटे परिश्रम करते देखा था। सवेरे सात से बारह बजे तक और फिर एक से छै तक और तत्पश्चात् रात में भी घंटे दो घंटे काम करना उनके लिए नित्य का नियम था। उनकी कठोर साधना को देखकर आश्चर्य होता था। अपने ऊपर वे कम-से-कम खर्च करते थे। घोड़ा-गाड़ी में भी बैठते हुए प्रेमी जी को मैंने कभी नहीं देखा, मोटर की वात तो बहुत दूर रही। वम्बई के चालीस वर्ष के प्रवास के वाद भी वम्बई के अनेक भाग ऐसे होंगे, जहाँ प्रेमी जी अव तक नहीं गये। प्रातःकाल के समय घर से टहलने के लिए समुद्र-तट तक और तत्पश्चात् घर से दूकान और दूकान से घर, वस प्रेमी जी की दौड़ इसी दायरे में सीमित थी, और कभी-कभी तो टहलने का नियम भी टूट जाता था। अनेक वार प्रेमी जी का यह आदेश मुझे भी मिला था, "चौवेजी, आज मुझे तो दुकान का बहुत-सा काम है। इसलिए आज हेम ही आपके साथ जायगा।"

प्रेमी जी प्रत्येक पत्र का उत्तर अपने हाथ से लिखते थे (इस नियम का वे अव तक पालन करते रहे हैं), प्रूफ़ स्वयं ही देखते थे, अनुवादों की भाषा को मूल से मिलाकर उनका संशोधन करते थे और आने-जाने वालों से वातचीत भी करते थे। वम्बई पधारने वाले साहित्यिकों का आतिथ्य तो मानों उन्हीं के हिस्से में आया था। मैंने उन्हें सप्ताह

के सातों दिन और महीनों के तीसों दिन विना किसी उद्विग्नता के काम करते देखा था। उम्र में और अक़ल में भी छोटे होने पर भी मैं उन दिनों प्रेमी जी का मज़ाक उड़ाया करता था, "आप भी क्या तेली के बैल की तरह लगे रहते हैं, घर से दूकान और दूकान से घर! इस चक्कर से कभी बाहिर ही नहीं निकलते।" पर उस परिश्रमशीलता का मूल्य मैं आगे चल कर आँक पाया, जब मैंने देखा कि उसी के कारण प्रेमी जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक बन गये, उसी की वजह से बीसियों लेखकों की रचनाएँ शुद्ध छप सकीं, उन्हें हिन्दी-जगत में प्रतिष्ठा मिल सकी और मातृभाषा के भंडार में अनेक उपयोगी ग्रन्थों की वृद्धि हो सकी।

प्रेमी जी प्रारम्भ से ही मितभाषी रहे हैं और बातून आदमियों से उनकी अक़ल बहुत चकराती है। हमारी कभी खतम न होने वाली—'हितोपदेश' के यमनक दमनक के क़िस्सों की तरह प्रासंगिक अथवा अप्रासंगिक विस्तार से श्रोता के मगज को चाट जाने वाली—बातों को सुनकर वे अनेक बार चकित, स्तब्ध और स्तम्भित रह गये हैं और एकाध बार बड़े दबे शब्दों में उन्होंने हमारे मित्रों से कहा भी है, "चौबे जी इतनी बातें कैसे कर लेते हैं, हमें तो इसी पर आश्चर्य होता है।"

प्रेमी जी के विषय में लिखते हुए हम इस बातपर खास तौर पर ज़ोर देना चाहते हैं कि अत्यन्त साधारण स्थिति से उन्होंने अपने आपको ऊँचा उठाया है। आज का युग जन-साधारण का युग है और प्रेमी जी साधारण-जन के प्रतिनिधि के रूप में वन्दनीय हैं।

प्रेमी जी को व्यापार में जो सफलता मिली है, उसका मूल्य हमारी निगाह में बहुत ही कम है; बल्कि नगण्य है। स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय ने हमसे कहा था, "यह असंभव है कि कोई भी व्यक्ति दूसरों का शोषण किये बिना लखपती बन जाय।" जब अर्थ-संग्रह के मूल में ही दोष विद्यमान है तो प्रेमी जी इस अपराध से बरी नहीं हो सकते। पर हमें यहाँ उनकी आलोचना नहीं करनी; बल्कि अपनी रुचि की बात कहनी है। हमारे लिए आकर्षण की वस्तु प्रेमी जी का संघर्षमय जीवन ही है। ज़रा कल्पना कीजिए, प्रेमी जी के पिता जी टूंड़ेमोदी घोड़े पर नमक-गुड़ वग़ैरह सामान लेकर देहात में बेचने गये हुए हैं और दिन भर मेहनत करके चार-पाँच आने पैसे कमा कर लाते हैं। घर के आदमी अत्यन्त दरिद्र अवस्था में हैं। जो लोग मोदी जी से क़र्ज़ ले गये थे, वे देने का नाम नहीं लेते। रूखा-सूखा जो कुछ मिल जाता है, उसी से सब घर पेट भर लेता है। इस अवस्था में भी यदि कोई संकटग्रस्त आदमी उधार माँगने आता है तो मोदी जी के मुँह से 'ना' नहीं निकलती। इस कारण वे क़र्ज़दार भी हो गये थे! स्व० हेमचन्द्र ने लिखा था :

"एक बार की बात है कि घर में दाल-चावल पक कर तैयार हुए थे और सब खाने को बैठने वाले ही थे कि साहूकार कुड़की लेकर आया। उसने वसूली में चूल्हे पर का पीतल का बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा गया कि भाई, थोड़ी देर ठहर, हमें खाना खा लेने दे, फिर बर्तन ले जाना, पर उसने कुछ न सुना। बर्तन वहीं राख में उड़ेल दिये! खाना सब नीचे राख में मिल गया और वह बर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्ब को उस दिन फ़ाक़ा करना पड़ा।"

तत्पश्चात् हम प्रेमी जी को देहाती मदरसे में मास्टरी करते हुए देखते हैं, जहाँ उनका वेतन छः-सात रुपये मासिक था। उनमें से वे तीन रुपये में अपना काम चलाते थे और चार रुपये घर भेज देते थे! उनकी इस बात से हमें अपने पूज्य पिता जी की किफ़ायतशारी की याद आ जाती है। वे पचास वर्ष तक देहाती स्कूलों में मुदर्रिस रहे और उनका औसत वेतन दस रुपये मासिक रहा।

दरअसल प्रेमी जी हमारे पिता जी की पीढ़ी के पुरुष हैं, जो परिश्रम तथा संयम में विश्वास रखती थी और जिसकी प्रशंसनीय मितव्ययिता से लाभ उठाने वाले मनचले लोग उसी मितव्ययिता को कंजूसी के नाम से पुकारते हैं! जहाँ प्रेमी जी एक-एक पैसा बचाने की ओर ध्यान देते हैं वहाँ समय पड़ने पर सैकड़ों रुपये दान करने में भी वे

नहीं हिचकिचाते। अपनी किफ़ायतशारी के कारण ही वे स्वाभिमान की रक्षा कर सके हैं। यही नहीं, कितने ही लेखकों को भी उनके स्वाभिमान की रक्षा करने में वे सहायक हुए हैं।

प्रेमी जी का सम्पूर्ण जीवन संघर्ष करते ही बीता है और जब उनके आराम के दिन आये तब घोर दैवी दुर्घटना ने उनके सारे मनसूबों पर पानी फेर दिया! दैव की गति कोई नहीं जानता! ईश्वर ऐसा दुःख किसी को भी न दे। उक्त वज्रपात का समाचार प्रेमी जी ने हमें इन शब्दों में भेजा था :

"मेरा भाग्य फूट गया और परसों रात को १२ बजे प्यारे हेमचन्द्र का जीवन-दीप बुझ गया। अब सब ओर अन्धकार के सिवाय और कुछ नहीं दिखलाई देता। कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ। बहू का न थमने वाला आक्रन्दन छाती फाड़ रहा है। उसे कैसे समझाऊँ, समझ में नहीं आता। रोते-रोते उसे ग़श आ जाते हैं। विधि की लीला है कि मैं साठ वर्ष का बूढ़ा बैठा रहा और जवान बेटा चला गया। जो बात कल्पना में भी न थी, वह हो गई। ऐसा लगता है कि यह कोई स्वप्न है, जो शायद झूठ निकल जाय।"

आज से दस वर्ष पहले यही वज्रपात हमारे स्व यि पिता जी पर हुआ था। हमारे अनुज रामनारायण चतुर्वेदी का देहान्त ६ अक्टूबर सन् १९३६ को कलकत्ते में हुआ था। अपने पिता जी की स्थिति की कल्पना करके हम प्रेमीजी की घोर यातना का कुछ-कुछ अन्दाज लगा सके।

जर्मनी के महाकवि गेटे की निम्नलिखित कविता चिरस्मरणीय है :

"Who never ate his bread in sorrow
Who never spent the midnight hours
Weeping and waiting for the morrow
He knows you not, ye heavenly powers."

अर्थात्—"ए दैवी-शक्तियो! वे मनुष्य तुम्हें जान ही नहीं सकते, जिन्हें दुःखपूर्ण समय में भोजन करने का दुर्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ तथा जिन्होंने रोते हुए और प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते हुए रातें नहीं काटीं।"

जिनके जीवन की धारा बिना किसी रुकावट के सीधे-सादे ढङ्ग पर बहती रहती है, जिनको अपने जीवन में कभी भयंकर दुःखों का सामना नहीं करना पड़ता, वे प्रेमी जी की हृदय-वेदना की कल्पना भी नहीं कर सकते।

समान अपराधी

एक बात में प्रेमी जी और हम समानरूप से मुजरिम हैं। जो अपराध हमसे बन पड़ा था, वही प्रेमी जी से। हमारे स्वर्गीय अनुज रामनारायण ने पं० पद्मसिंह जी से कई बार शिकायत की थी :

"दादा दुनिया भर के लेख छापते हैं, पर हमें प्रोत्साहन नहीं देते।" यही शिकायत हेमचन्द को अपने दादा (पिता जी) से रही। प्रेमी जी ने अपने संस्मरणों में लिखा था :

"यों तो वह अपनी मनमानी करने वाला अबाध्य पुत्र था, परन्तु भीतर से मुझे प्राणों से भी अधिक चाहता था। पिछली बीमारी के समय जब डा० करोड़े के यहाँ दमे का इंजेक्शन लेने बांदरा गया तब मेरे शरीर में खून न रहा था। डाक्टर ने कहा कि किसी जवान के खून की जरूरत है। हेम ने तत्काल अपनी बाँह बढ़ा दी और मेरे रोकते-रोकते अपने शरीर का आधा पौंड रक्त हँसते-हँसते दे दिया! मेरे लिए वह सब कुछ करने को सदा तैयार था।

"अब जब हेम नहीं रहा तब सोचता हूँ तो मेरे अपराधों की परम्परा सामने आकर खड़ी हो जाती है और पश्चात्ताप के मारे हृदय दग्ध होने लगता है। मेरा सबसे बड़ा अपराध यह है कि मैं उसकी योग्यता का मूल्य ठीक नहीं आंक सका और उसको आगे बढ़ने से उत्साहित न करके उल्टा रोकता रहा। हमेशा यही कहता रहा, "अभी और ठहरो।.... अपना ज्ञान और भी परिपक्व हो जाने दो।.... यह तुमने ठीक नहीं लिखा।.... इसमें

ये दोष मालूम होते हैं।" इससे उसे बड़ा दुख होता था और कभी-कभी तो वह अत्यन्त निराश हो जाता था। एक बार तो उसने अपना लिखा हुआ एक विस्तृत निबंध मेरे सामने ही उठा कर सड़क पर फेंक दिया था और फफक-फफक कर रोने लगा था। उस अपराध की या ग़लती की गुरुता अब मालूम होती है। काश उस समय मैंने उसे उत्साहित किया होता और आगे बढ़ने दिया होता ! अब तक तो उसके द्वारा न जाने कितना साहित्य निर्माण हो गया होता।"

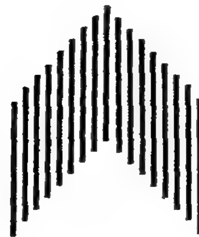
जो पछतावा प्रेमी जी को है, वही मुझे भी। इस गुरुतम अपराधों का प्रायश्चित्त भी एक ही है। वह यह कि हम लोग प्रतिभाशाली युवकों को निरन्तर प्रोत्साहन देते रहें।

प्रेमी जी ने अपने परिश्रम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश इत्यादि भाषाओं की जो योग्यता प्राप्त की है और साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अन्वेषण-कार्य में उनकी जो गति है, उनके बारे में कुछ भी लिखना हमारे लिए अनधिकार चेष्टा होगी। मनुष्यता की दृष्टि से हमें उनके चरित्र में जो गुण अपने इस अट्ठाईस वर्ष-व्यापी परिचय में दीख पड़े हैं उन्हीं पर एक सरसरी निगाह इस लेख में डाली गई है। डट कर मेहनत करने की जो आदत उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही डाली थी वही उन्हें अब तक सम्हाले हुई है। अपने हिस्से में आये हुए कार्य को ईमानदारी से पूरा करने का गुण कितने कम बुद्धिजीवियों में पाया जाता है ! अशुद्धियों से उन्हें कितनी घृणा है, इसका एक करुणोत्पादक दृष्टान्त उस समय हमारे सम्मुख आया था, जब हम स्वर्गीय हेमचन्द्र विषयक संस्मरणात्मक पुस्तक बम्बई में छपवा रहे थे। दूसरे किसी भी भावुक व्यक्ति से वह काम न बन सकता, जो प्रेमी जी ने किया। प्रेमी जी बड़ी सावधानी से उस पुस्तक के प्रूफ़ पढ़ते थे। पढ़ते-पढ़ते हृदय द्रवित हो जाता, पुरानी बातें याद हो आतीं, कभी न पुरने वाला घाव असह्य टीस देने लगता, थोड़ी देर के लिए प्रूफ़ छोड़ देते और फिर उसी कठोर कर्तव्य का पालन करते !

वृद्ध पिता के इकलौते युवक पुत्र के संस्मरण-ग्रंथ के प्रूफ़ देखना ! कैसा घोर संतापयुक्त साधनामय जीवन है महाप्राण प्रेमी जी का !

बाल्यावस्था की वह दरिद्रता, स्व० पिता जी की वह परिश्रमशीलता, कुड़की कराने वाले साहूकार की वह हृदयहीनता, छः-सात रुपये की वह मुदर्रिसी और बंबई-प्रवास के वे चालीस वर्ष, जिनमें सुख-दुःख, गार्हस्थिक आनंद और दैवी दुर्घटनाओं के बीच वह अद्भुत आत्म-नियंत्रण, बुन्देलखण्ड के एक निर्धन ग्रामीण बालक का अखिल भारत के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी प्रकाशक के रूप में आत्मनिर्माण—निस्संदेह साधक प्रेमी जी के जीवन में प्रभावोत्पादक फ़िल्म के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। उस साधक को शतशः प्रणाम !

टीकमगढ़]



चित्र-परिचय

१—श्रद्धांजलि

इस मनोहारी चित्र के निर्माता श्री सुधीर खास्तगीर हैं। इसमें चेहरे से तन्मयता और श्रद्धा के भाव स्पष्ट झलकते हैं। पद्म के रूप में मानो हृदय की समूची श्रद्धा अंजलि में भर कर आराध्य के चरणों में अर्पित की जा रही है।

२—पोशित भृत्तिका

(कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर)

यह यौवन की छटा!
घटा पावस की!
कर में कंज,
कलश में जल,
चरण शिथिल
सुयौवन-भार से।
खींच दी है दृष्टि पल में

भृत्तिके!
किस सुमोहन-मंत्र ने?
दृष्टि-बंधन में बंधी
हे बन्दिनी!
खोलती यों
लाज-बंधन
आज तुम!

३—सित्तन्नवासल की नृत्यमुग्धा अप्सरा

दक्षिण की पुद्दुकोट्टै रियासत में सित्तन्नवासल (जैन सिद्धानां वास) गुफ़ा अजन्ता की प्रसिद्ध गुफ़ाओं की तरह भित्तिचित्रों से अलंकृत है। ये चित्र लगभग सातवीं शती के हैं और राजा महेन्द्र वर्मन् पल्लव के समकालीन कहे जाते हैं।

कला की दृष्टि से चित्र बहुत उत्कृष्ट हैं। इनमें भी पद्म-वन का चित्र और देवनृत्य करती हुई एक अप्सरा का चित्र तो बहुत ही सुन्दर हैं।

नृत्यमुग्धा अप्सरा के प्रस्तुत चित्र में रेखाओं का कौशल और भाव-व्यंजना कला की चरमसीमा को प्रकट करते हैं। पूर्व मध्यकाल के जीवन में जो प्राणमय उल्लास था, जिसने कुमारिल और शंकर जैसे कर्माध्यक्ष राष्ट्र-निर्माताओं को जन्म दिया और जो एलोरा के कैलास मंदिर में प्रकट हुआ, उसकी अर्जित शक्ति इस चित्र के रेखा-कर्म में भी स्पष्ट झलकती है। आनन्द के कारण शरीर और मन की अनूठी भावोद्रेकता नाचती हुई देवांगना के रूप में प्रकट की गई है।

४—देवगढ़ का विष्णु-मंदिर

यह मंदिर गुप्त-काल की रमणीय कलाकृति है। इसके शिला-पट्टों पर जो शिल्प की शोभा है, उससे रसज्ञ दर्शक सौन्दर्य के लोक में उठ कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। चित्र, शिल्प, भाषा, वेष, आभरण आदि जीवन के सभी अंगों में सुरुचि और संयम के साथ सुन्दरता की उपासना को तत्कालीन मानव ने अपना ध्येय कल्पित किया है। कलामय सौंदर्य के अतिरिक्त इस विष्णुमंदिर की एक विशेषता और है, जिसके कारण भारतीय मूर्तिकला में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। राम और कृष्ण के जीवन की कथाओं का चित्रण भारतीय कला में सर्वप्रथम देवगढ़ के विष्णुमंदिर में ही पाया गया है। ३८० ई-४२५ ई० के बीच में इस मंदिर का निर्माण अनुमानतः सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र भागवत गोविन्द गुप्त की सत्प्रेरणा से कराया गया था।

५—विष्णु-मंदिर का प्रवेश द्वार

विष्णुमंदिर की शोभा की खान उसका पश्चिमाभिमुखी यह प्रवेश-द्वार है। उसका चौखटा ११'-२" ऊँचा और १०'-६" चौड़ा है। इस चौखटे में जो प्रवेश-मार्ग है, वह ६'-११" ऊँचा और ३'-४$\frac{१}{८}$" चौड़ा है। चारों ओर का शेष भाग अत्यन्त सुन्दर अभिप्राय (Motif) और मूर्तियों से सजा हुआ है। उपासकों के लिए देवमंदिर में जो सुन्दरता की परमनिधि देव-प्रतिमा थी, उसकी छवि का पूर्ण संकेत इस द्वार की शोभा में अंकित किया गया है। विशुद्ध कला की दृष्टि से द्वार पर उत्कीर्ण पत्रहावली एवं उसके पार्श्व-स्तंभों पर चित्रित उपासक स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। गुप्त-कालीन मानव के हृदय में सौंदर्य की जो साधना थी, उसकी यथेष्ट अभिव्यक्ति इस मंदिर के द्वार पर मिलती है।

६—शेषशायी विष्णु

यह मूर्ति काफ़ी बड़े आकार के लाल पत्थर पर (विष्णुमंदिर की दक्षिण की दीवार पर) खुदी हुई है। अनन्त या शेष पर विष्णु लेटे हुए हैं। लक्ष्मी की गोद में उनका एक पैर है। उनका एक हाथ उनके दाहिने पैर पर रक्खा हुआ है और दूसरा मस्तक को सहारा दिये हुए है। उनके नाभि-कमल पर प्रजापति विराजमान हैं। ऊपर महादेव, इन्द्र आदि देवता अपने-अपने वाहनों पर बैठे हैं। नीचे पाण्डवों समेत द्रौपदी दिखाई गई है। कुछ व्यक्तियों की राय में ये पाँच आयुध-धारी वीर पुरुष हैं। सभी मूर्तियों की चेष्टाएँ बड़ी स्वाभाविक हैं। लक्ष्मी चरण चाप रही हैं। उनकी कोमल उँगलियों के दबाव से चरण की मांसपेशी दब रही है। वस्त्रों की एक-एक सिकुड़न स्पष्ट है।

७—नर-नारायण-तपश्चर्या

विष्णुमंदिर की दीवार में पूर्व की ओर लगे इस शिला-पट्ट पर बदरिकाश्रम में नर-नारायण की तपस्या का सुन्दर दृश्य अंकित है। तापस वेषधारी नरनारायण जटाजूट बाँधे और मृगचर्म पहिने हुए हैं।

८—गजेन्द्र-मोक्ष

विष्णुमंदिर के उत्तर की ओर के इस शिलापट्ट पर गजेन्द्रमोक्ष का दृश्य अंकित है। पद्मवन के भीतर एक हाथी को दो नागों ने अपने कुण्डलों में जकड़ रक्खा है। उसकी सहायता के लिए गरुड़ पर चढ़ कर चतुर्भुजी विष्णु बड़े सम्भ्रम से पधारे हैं। यहाँ अभी तक ग्रह या मगर की मूर्ति का इस कथा के साथ संबंध नहीं दीख पड़ता, क्योंकि गज का ग्राह करने वाले नाग और नागी हैं।

९—प्रकृति-कन्या

(कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर)

इतनी ममता !
ममतामयि !
खग छोड़ मुक्त-
नभ की उड़ान,
पंखों का सुख
औ' मधुर तान,
सब खिंच आये
हो मंत्र-मुग्ध
करने को तव
मुख-सुधा पान !
लो, कोकिल, शुक, सारिका सभी
खिंच आए
अचरज यह महान् !

१०-१६—बुन्देलखण्ड-चित्रावली

अ—ओरछा का किला

ओरछा का यह क़िला भारत के प्रसिद्ध किलों में से एक है। इसके अधिकांश भागों का निर्माण ओरछा के प्रतापी नरेश वीरसिंहदेव प्रथम ने करवाया था। किले के भीतर कई इमारतें भारतीय वास्तु-कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनमें प्रमुख राजमहल और जहाँगीर-महल हैं। राजमहल तीन मंजिल का है। इसमें कहीं भी काष्ठ का प्रयोग नहीं हुआ है। महाराज वीरसिंह प्रथम की यह कला-कृति वास्तव में बड़ी सुन्दर है। जहाँगीर महल में पत्थर की कारीगरी दर्शनीय है। यह किला वेत्रवती के तट पर बना हुआ है। भीतरी भाग की तरह इसका बाहरी भाग भी कितना चित्ताकर्षक है।

आ—ओरछा में वेत्रवती

ओरछा का महत्व उसके भव्य प्रासादों के कारण तो है ही, साथ ही वहाँ का वेत्रवती का प्राकृतिक सौंदर्य भी बड़ा ही मोहक है। वेत्रवती को 'कलौ गंगा' (कलियुग की गंगा) कहा गया है। बुन्देलखण्ड की प्रमुख नदियों में से यह एक है।

ओरछा में इसके तट पर अनेक प्रतापी ओरछा नरेशों की समाधियाँ (छतरियाँ) बनी हुई हैं। चित्र में बाईं ओर वीरसिंह देव प्रथम की समाधि है, जो यहाँ के बड़े यशस्वी राजा हुए हैं। इमारतें बनवाने का इन्हें बड़ा शौक था और बहुत से किलों का इन्होंने निर्माण कराया था। दतिया के महल, ओरछा, बल्देवगढ़, जतारा, दिगौड़ा आदि के किले इन्हीं के बनवाये हुए हैं।

इ—बुन्देलखण्ड का एक ग्रामीण मेला

प्रस्तुत चित्र कुण्डेश्वर के मेले का है। यह स्थान टीकमगढ़ से चार मील के फासले पर ललितपुर जाने वाली सड़क पर स्थित है। यहाँ पर जमड़ार नामक नदी के किनारे प्रतिवर्ष शिवरात्रि के अवसर पर पंद्रह दिन तक मेला लगा करता है। दूर-दूर के दुकानदार आते हैं। सहस्रों नर-नारी एकत्र होते हैं। बुन्देलखण्ड की एक झलक इस मेले में मिल जाती है। इस मेले को इस प्रांत का प्रतिनिधि-मेला कहा जा सकता है।

ई—उषा-विहार

कुण्डेश्वर से लगभग दो मील पर जमड़ार और जामनेर नदियों का संगम है। कुण्डेश्वर पर जमड़ार की दो शाखाएँ हो जाती हैं और ये दोनों करीब मील डेढ़ मील के अन्तर से जामनेर में जाकर मिलती हैं। इन शाखाओं तथा जामनेर के सहयोग से एक द्वीप का निर्माण होता है, जिसपर घना जंगल है। इसका नाम 'मधुवन' रक्खा गया है। इसी 'मधुवन' में जामनेर के कई सुन्दर दृश्य हैं। प्रस्तुत चित्र में जामनेर मंथर गति से बहती दिखाई देती है। उनके दोनों किनारों पर घने वृक्ष हैं, जिनका प्रतिबिम्ब पानी में बड़ा भला लगता है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का कथन था कि इसे देख कर काश्मीर का स्मरण हो आता है। बाणासुर की पुत्री उषा के, जिसका मंदिर थोड़ी ही दूर पर इसी नदी के किनारे बना हुआ है, नाम पर इस स्थान का नामकरण हुआ है।

उ—बरी-घाट

इस चित्र में जामनेर का जल-प्रपात दिखाई देता है। जामनेर की पूरी धारा को एक चट्टान ने रोककर भव्य प्रपातों का निर्माण किया है। लगभग दो महीने के लिए ये प्रपात बंद हो जाते हैं। बाणासुर जिस ग्राम में निवास करता था, उस बानपुर ग्राम को यहीं होकर रास्ता है। यहाँ की प्राकृतिक छटा दर्शनीय है।

ऊ—जतारा के सरोवर का एक दृश्य

ओरछा-राज्य में लगभग नौ सौ तालाव हैं। कई तालाव तो वहुत वड़े हैं। प्रस्तुत चित्र में जिस तालाव का दृश्य दिखाया गया है, वह राज्य के वड़े तालावों में से एक है। इसके किनारे पर जतारा का विशाल किला है। उसके ऊपर चढ़ कर देखने से तालाव का दृश्य वड़ा सुन्दर दिखाई देता है। इस तालाव के जल से काफ़ी भूमि की सिंचाई होती है।

ए—कुण्डेश्वर का जल-प्रपात

इस चित्र में जमड़ार नदी से निर्मित जल-प्रपात का दृश्य उपस्थित किया है। वर्तमान ओरछा-नरेश के पितामह ने लाखों की लागत से इस प्रपात तथा इसकी निकटवर्ती कोठी का निर्माण कराया था। वड़ा ही मनोरम दृश्य है। इसके नज़दीक शिव जी का संगमरमर का मंदिर है। यह स्थान वुन्देलखण्ड का तीर्थ माना जाता है। कहा जाता है कि वाणासुर की कन्या उषा यहाँ आकर शिव जी पर जल चढ़ाया करती थी। प्राकृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से यह स्थान वड़ा महत्व- पूर्ण है।

१७—अहार का एक दृश्य

वुन्देलखण्ड का यह गौरवशाली तीर्थ अहार ओरछा-राज्य की राजधानी टीकमगढ़ से लगभग १२ मील पूर्व में स्थित है। ग्यारहवीं-वारहवीं शताब्दी की ढाई-तीन सौ प्रतिमाओं का वहाँ पर संग्रह है। भगवान शांतिनाथ की मूर्ति के शिलालेख से पता चलता है कि प्राचीन काल में वहाँ पर 'मदनेशसागरपुर' नामक नगर था, जो कई मील के घेरे में वसा था।

इस समय वहाँ पर दो मंदिर और एक मेरु है तथा पाठशाला और क्षेत्र के कुछ कमरे। प्रस्तुत चित्र में दोनों मंदिर दिखाई देते हैं। दाईं ओर का मंदिर प्राचीन है और उसमें शांतिनाथ भगवान की अठारह फुट की अत्यन्त भव्य और मनोज्ञ मूर्ति है। दूसरा मंदिर उतना पुराना नहीं है।

प्रतिमाओं को व्यवस्थित रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए वहाँ पर एक संग्रहालय का निर्माण हो रहा है। उपलब्ध मूर्तियों में ९८ फीसदी पर शिला-लेख हैं, जिनसे इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण वातों का पता चलता है। अहार प्राकृतिक सौंदर्य का भण्डार है।

१८—भगवान शांतिनाथ की मूर्ति

भगवान शांतिनाथ की इस अठारह फुट की प्रतिमा के कारण अहार का गौरव कई गुना वढ़ गया है। इस भव्य मूर्ति का निर्माण सम्वत् १२३७ में पापट नामक मूर्तिकार ने किया था। इसके आसन पर जो शिला-लेख दिया हुआ है, वह एतिहासिक दृष्टि से वड़ा महत्त्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि यह प्रतिमा चन्देल नरेश परमर्द्धिदेव के राज्यकाल में तैयार हुई थी। श्री नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि इस जैसी भव्य, सौम्य और सुन्दर प्रतिमा उन्होंने आजतक नहीं देखी। महान् शिल्पी पापट ने सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति के निर्माता की कला-प्रतिमा को भी अपने से पीछे छोड़ दिया है। इस मूर्ति का सौष्ठव और अंग-प्रत्यंग की रचना दर्शकों के सम्मुख एक जीवित सौंदर्य मूर्ति को खड़ी कर देती है। इतनी विशाल प्रतिमा को इतना सर्वाङ्ग सुन्दर वनाने का काम पापट जैसा कला-विशेषज्ञ और साधक ही कर सकता था।

१९—कुंथुनाथ भगवान की मूर्ति

यह मूर्ति शांतिनाथ भगवान के वाएँ पार्श्व में है और ग्यारह फुट की है। इसका रचना-काल भी वही है। यद्यपि इस मूर्ति की नासिका और ओष्ट खंडित हैं, तथापि उसका सौंदर्य आज भी वड़ा आकर्षक वना हुआ है। वड़ी

मूर्ति की भांति इसके भी अंग-प्रत्यंगों की रचना बहुत ही निर्दोष है। इसके आसन पर एक बड़ा मार्मिक लेख उत्कीर्ण है, जिससे पता चलता है कि अपने बंधुओं के निधन के कारण एक शोकमग्न श्रेष्ठि ने इसका निर्माण कराया था।-

ये मूर्तियाँ बुन्देलखण्ड का ही नहीं, समूचे भारतवर्ष का गौरव हैं। निस्संदेह प्रकाश में आने पर कला-प्रेमी संसार इनकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

२०—पद्माञ्जलि

(कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर)

पद्मलोचन मुँदे-से,
कर-पद्म में
पद्माञ्जली ले
अर्घ्य देती,
शीश नत
शुभ ध्यान में।
साधना साकार-सी,
आराधना जग की
सिमिट कर
मूर्तिवत् आह्वान में।
आज पलकों में जड़ित
मृदु स्वप्न को—
बाँधती हो तापसी,—
तुम कौन से ?
पर, जगत् के सामने
मत खोलना
ध्यान की पलकें,
अधर ये मौन के।

२१—नृत्य-मत्ता

(कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर)

(१)

चित्र-से हो खींचती
चित्र-से हो खींचती
यों शून्य में
देवता के हेतु किस ?
आज मतवाला बनाने को किसे
कल्पना का जाल
फैलाती मयुर ?
देह-बल्ली डोलती है
आज यों—
किस नवल ऋतुराज की
मधु-वात में ?

(२)

नृत्य-मत्ते !
छा गया भू-लोक में
लो, तुम्हारा
नृत्य माया-जाल-सा।
शून्य भी संकुल
सु-यौवन-भार से।
स्वर्ग में है खिल रहा सखि, मौन-सा
मृदुल कर-जलजात किस संकोच में ?

नोट—श्री सुधीर खास्तगीर के चित्रों के परिचय के लिए हम श्री भगवती प्रसाद चंदोला तथा देवगढ़ के चित्रों के परिचय के लिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा श्री कृष्णानंद गुप्त के आभारी हैं।

